आर्यसमाज का इतिहास

चौथा भाग

आर्यसमाज और राजनीति
(सन् १८७५ से सन् १९२६ तक)

प्रधान सम्पादक

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, विद्यावाचस्पति, विद्यामार्तण्ड, डी० लिट०
(भूतपूर्व वाइस-चान्सलर एवं प्रोफेसर इतिहास, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार)

लेखक

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, डी० लिट० (पेरिस)
(अध्याय १, २, ३, ५, २७–२९)

तथा

प्रोफेसर हरिदत्त वेदालंकार, एम० ए०
(भूतपूर्व प्रोफेसर इतिहास, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार)
(अध्याय ४, ६–२५)

तथा

डा० भवानीलाल भारतीय, एम० ए०, पी-एच० डी०
(प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, दयानन्द पीठ, पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़)
(अध्याय २६)

आर्य स्वाध्याय केन्द्र
ए-१/३२ सफदरजंग एन्क्लेव, नई दिल्ली-२९

निर्देशानुसार आर्य स्वाध्याय केन्द्र
संशोधित मूल्य 725 रुपये

वितरक
श्री सरस्वती सदन
ए-१/३२, सफदरजंग एन्क्लेव,
नई दिल्ली-११००२९
दूरभाष : ६०१५३९

इतिहास की सामग्री के प्रधान समाहर्ता (संग्रहकर्ता)
ब्रह्मचारी नन्दकिशोर, विद्यावाचस्पति, एम० ए०
उपाचार्य, सार्वदेशिक दयानन्द संन्यास-वानप्रस्थ मण्डल,
गीता आश्रम, आर्यनगर
ज्वालापुर (हरिद्वार)

दूसरा संस्करण : १९९०

मुद्रक :
चमन औफसैट प्रेस
सुईवालान
नई दिल्ली-२

निवेदन

गत डेढ़ शताब्दी में भारत में जो नवजागरण हुआ है; स्वराज्य, स्वदेशी, देशप्रेम और राष्ट्रीयता की जो भावना उत्पन्न हुई है; अपने धर्म, भाषा और संस्कृति के प्रति गौरव की अनुभूति का जो प्रादुर्भाव हुआ है, और भारत जो आज स्वतन्त्र है, उसका बहुत-कुछ श्रेय महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा आर्यसमाज को दिया जाना सर्वथा युक्तिसंगत है। शिक्षा के प्रसार, कुरीतियों के निवारण, दलितोद्धार, पाखण्ड के खण्डन, सामाजिक न्याय तथा समता की स्थापना, राष्ट्रीय भावना व देशभक्ति के विकास आदि के लिए जो ठोस कार्य गत एक शताब्दी में आर्यसमाज द्वारा किया गया, वह किसी भी अन्य संस्था व संगठन ने नहीं किया। पर खेद है कि आधुनिक इतिहास के लेखकों ने भारत के नवजागरण तथा विश्व के प्रगतिशील आन्दोलनों का वृत्तान्त लिखते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा आर्यसमाज के प्रति न्याय नहीं किया। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर यह विचार किया गया कि आर्यसमाज का एक ऐसा विस्तृत इतिहास सम्पादित व प्रकाशित किया जाए, जिसमें महर्षि तथा आर्यसमाज के कर्तृत्व पर उस शैली से प्रकाश डाला गया हो, जो आधुनिक इतिहास-लेखकों द्वारा प्रयुक्त की जाती है। पर आर्यसमाज का इतिहास तैयार करने का कार्य इतना महान् है कि कोई व्यक्ति अकेले इसे सम्पन्न नहीं कर सकता। यह कार्य जहाँ अत्यन्त श्रमसाध्य है, वहाँ साथ ही इसके लिए प्रचुर धन की भी आवश्यकता है। व्यापारिक दृष्टि से न ऐसे इतिहास की सामग्री का संकलन किया जा सकता है, और न कोई पुस्तक-प्रकाशक उसके प्रकाशन के लिए पूँजी ही लगा सकता है। ऐसे ग्रन्थों का प्रणयन प्रायः यूनिवर्सिटियों व सम्पन्न संस्थानों द्वारा ही किया जाता है। यह वस्तुतः उत्तम होता, यदि आर्यसमाज के विस्तृत इतिहास को सम्पादित व प्रकाशित करने का कार्य किसी यूनिवर्सिटी, संस्थान व साधन-सम्पन्न आर्य-संगठन द्वारा किया जाता। आर्यसमाज में साधन-सम्पन्न शिक्षण-संस्थाएँ विद्यमान भी हैं, पर जब उन द्वारा इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया, तो अपने अत्यन्त सीमित साधनों से इसे हमने शुरू कर दिया और हमें प्रसन्नता है कि अनेक आर्य नर-नारियों ने इस इतिहास के महत्त्व व उपयोगिता को अनुभव कर हमारी सब प्रकार से सहायता की। पण्डित सत्यदेव वेदालंकार ने न केवल स्वयं ही इस 'इतिहास' का संरक्षक होना स्वीकार किया, अपितु अपने बन्धुओं, पारिवारिक जनों और मित्रों को भी संरक्षक बनने के लिए प्रेरित किया। 'इतिहास' के प्रचार के लिए उन्होंने इसके सातों भागों के पूरे सैट बड़ी संख्या में खरीदकर वितरित करने का निश्चय किया, और इस प्रयोजन से साढ़े बारह हजार की धनराशि पेशगी रूप से प्रदान भी कर दी। इसी प्रकार पण्डित सत्यदेव विद्यालंकार जहाँ स्वयं इसके संरक्षक-सदस्य बने, वहाँ साथ ही उन्होंने अपने भाई, भावज तथा कितने ही मित्रों को इसका प्रतिष्ठित सदस्य बनने के लिए प्रेरणा दी। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री रामगोपाल जी वानप्रस्थ तथा परोपकारिणी सभा के प्रधान स्वामी ओमानन्द जी सरस्वती का संरक्षण, समर्थन तथा सहयोग हमें प्राप्त है। सार्वदेशिक सभा द्वारा इस 'इतिहास' के पचास सैटों का रियायती अग्रिम मूल्य बीस हजार रुपये हमें प्रदान कर

दिया गया, और डी० ए० वी० कॉलिज मैनेजिंग कमेटी के प्रधान प्रोफेसर वेदव्यास जी ने भी 'इतिहास' के पचास सैट खरीदने की घोषणा की। स्वामी ओमानन्द सरस्वती इतिहास के विश्वविख्यात विद्वान् हैं। इस 'इतिहास' के प्रचार व विक्रय के लिए उन्होंने जिस उत्साह से हमारी सहायता की, उसके प्रति शब्दों द्वारा कृतज्ञता प्रकट कर सकना सम्भव ही नहीं है। कलकत्ता के आर्य-बन्धु श्री पूनमचन्द आर्य ने इस 'इतिहास' के लिए आर्थिक साधन जुटाने के लिए जो कार्य किया है, उसकी जितनी भी सराहना की जाए, कम है। उन्होंने कितने ही सज्जनों को हमारा संरक्षक-सदस्य व प्रतिष्ठित सदस्य बनाने का सफल प्रयत्न किया और स्वयं प्रतिष्ठित सदस्य बनकर अपनी दिवंगत सहधर्मिणी की पुण्य स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए उनकी ओर से भी प्रतिष्ठित सदस्यता की धनराशि प्रदान करने की कृपा की। कलकत्ता और बम्बई के श्री गजानन्द आर्य, श्री तिलकराज अग्रवाल, सेठ भगवतीप्रसाद खेतान, श्री गणपतराय आर्य, श्री सीताराम आर्य, श्री बजरंग लाल गोयल, श्री प्रकाशचन्द मूना आदि महानुभावों ने स्वयं संरक्षक या प्रतिष्ठित सदस्य बनकर और अन्य नर-नारियों को हमारी सदस्यता स्वीकार करने के लिए प्रेरित कर जो सहयोग हमें प्रदान किया है, उसके लिए किन शब्दों में हम उन्हें धन्यवाद दें? अनेक आर्यसमाजों ने भी हमें उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता प्रदान की है। लण्डन और बम्बई (काकडवाड़ी) के समाज हमारे संरक्षक-सदस्य हैं, और बम्बई फोर्ट तथा सान्ताक्रुज के समाज प्रतिष्ठित-सदस्य। कितने ही आर्यसमाजों ने 'इतिहास' के पूरे सैट का रियायती मूल्य अग्रिम प्रदान कर हमें सहायता पहुँचाई है। सम्पन्न धनपतियों के अतिरिक्त मध्य वित्त के अनेक आर्यों द्वारा भी हमें आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। पण्डित बृजलाल शास्त्री, आचार्य यशपाल, और श्री योगीन्द्र अवस्थी आदि अनेक ऐसे आर्य सज्जन हैं, धनी न होते हुए भी जिन्होंने हमारे कार्य की उपयोगिता को अनुभव कर अपनी शक्ति से बाहर जाकर हमारे प्रतिष्ठित-सदस्य बनने की कृपा की और अन्य लोगों को भी इसके लिए प्रेरित किया।

यह हमारा सौभाग्य है, कि श्री स्वामी सर्वानन्द जी सरस्वती, श्री अमर स्वामी जी और श्री स्वामी सच्चिदानन्द जी सरस्वती सदृश वीतराग संन्यासियों का आशीर्वाद एवं समर्थन भी इस 'इतिहास' के लिए प्राप्त है। स्वामी सच्चिदानन्द जी सरस्वती ने जिस आत्मीयता तथा प्रेम से इसके संरक्षक व सहायक सदस्य बनाने के लिए प्रयत्न किया, उसके लिए हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

हमें सन्तोष है, कि धीरे-धीरे आर्य जनता इस 'इतिहास' की उपयोगिता को अनुभव करने लगी है, और कितने ही आर्य नर-नारी इसके ग्राहक बनाने के लिए उत्साह-पूर्वक प्रयत्न कर रहे हैं। हिण्डन सिटी (राजस्थान) के श्री प्रह्लादकुमार जी आर्य आदि ने इस सम्बन्ध में सराहनीय कार्य किया है। आगरा के श्री पूर्णचन्द जी आर्य ने न केवल स्वयं संरक्षक सदस्य बनकर ही हमें आर्थिक सहायता प्रदान की है, अपितु 'इतिहास' की बहुत-सी प्रतियाँ खरीदकर उन्हें पुस्तकालयों में भेंट भी किया है।

हमने आर्यसमाज के इतिहास को सात भागों में प्रकाशित करने का संकल्प किया था। उनमें से चार भाग अब प्रकाशित हो चुके हैं। हमें पूर्ण आशा है, कि सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की कृपा और आर्य नर-नारियों के सहयोग से हम इस 'इतिहास' के सातों भाग जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर सकेंगे।

—आर्य स्वाध्याय केन्द्र, नई दिल्ली

आर्यसमाज का इतिहास

(चतुर्थ भाग)

विषय-सूची

निवेदन ३

प्रस्तावना १२

पहला अध्याय—विषय-प्रवेश १७

(१) राज्य और धार्मिक समुदाय १७

(२) राज्य और अन्य मानव-समुदायों में संघर्ष १९

(३) धार्मिक समुदायों द्वारा राजनीति में हस्तक्षेप २६

(४) अन्य समुदायों से राज्य के विरोध के कारण २९

(५) आर्यसमाज और राजनीति ३३

दूसरा अध्याय—स्वाधीनता के प्राथमिक संघर्ष और उनकी विफलता ३७

(१) सन् १८५७ ई० का स्वाधीनता-संग्राम ३७

(२) उन्नीसवीं सदी के अन्य सशस्त्र संघर्ष ३९

(३) सशस्त्र संघर्षों की विफलता के कारण ४२

(४) भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए महर्षि दयानन्द सरस्वती का पथ-प्रदर्शन ४५

तीसरा अध्याय—राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना का बीजारोपण ४७

(१) राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय स्वाधीनता ४७

(२) भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता के मार्ग में कण्टकों की सफाई ५३

(३) राष्ट्रीय गौरव एवं राष्ट्रीय एकता के लिए प्रयत्न ६१

चौथा अध्याय—आर्यसमाज की राजनीति के मौलिक मन्तव्य ६९

(१) राष्ट्रीयता ६९

(२) स्वदेशी ७३

(३) स्वराज्य ७४

(४) हिन्दी और राष्ट्रीय एकता ७७

(५) लोकतन्त्र और सामाजिक न्याय ७९

(६) धर्मानुप्राणित राजनीति ८०

(७) मानसिक पराधीनता का निवारण ८४
(८) भारत की राष्ट्रीयता के विकास में आर्यसमाज की भूमिका ८७
पाँचवाँ अध्याय—भारत की स्वाधीनता के लिए आर्यसमाज के प्राथमिक प्रयत्न ९१
(१) स्वाधीनता का सर्वप्रथम जन-आन्दोलन ९१
(२) स्वदेशी आन्दोलन ९२
(३) बंग-भंग (१९०५) और स्वदेशी आन्दोलन ९६
(४) स्वदेशी (राष्ट्रीय) शिक्षा १०२
(५) पंजाब भूमि हस्तान्तरण कानून १०५
(६) इण्डियन नेशनल कांग्रेस और आर्यसमाज ११०
(७) क्रान्तिकारी आन्दोलन और आर्यसमाज ११६
छठा अध्याय—आर्यसमाज की राजनीति का आरम्भिक युग (१८८३-१९१८) ११८
(१) राजनीति के दो युग ११८
(२) राजभक्ति का आश्वासन १२४
(३) आर्यसमाजी पत्रों द्वारा राजभक्ति का प्रदर्शन १२७
(४) राजभक्ति की शपथ का प्रस्ताव और इसकी प्रतिक्रिया १३०
(५) लुईस डेन का पत्र १३४
(६) राजभक्ति की भावना के कारण और परिणाम १३६
सातवाँ अध्याय—पंजाब में कांग्रेस के विकास में आर्यसमाज की भूमिका (१८९३-१९०८) १३९
(१) पृष्ठभूमि १४०
(२) राष्ट्रीयता का समर्थन करने के कारण १४३
(३) कांग्रेस-विरोधी राजनीति-विषयक पुरानी विचारधारा १४४
(४) आर्यसमाजियों द्वारा कांग्रेस में भाग लेने के कारण १४६
(५) लाहौर कांग्रेस का अधिवेशन (१९००) १४८
(६) जापान की विजय के प्रभाव १५४
(७) स्वदेशी तथा बहिष्कार की नीति १५८
आठवाँ अध्याय—आर्यसमाज पर सरकारी प्रकोप के कारण १६०
(१) आर्यसमाज पर सरकारी प्रकोप १६०
(२) ब्रिटिश सरकार की नीति तथा गुप्तचर विभाग की रिपोर्टें १६२
(३) केन्द्रीय गुप्तचर विभाग की रिपोर्टें तथा प्रमाण १६४
(४) सैण्ड्स की रिपोर्ट १६७
(५) गोरक्षा का आन्दोलन १६८
(६) किरानी-पुरानी-कुरानी गठबन्धन १७३
(७) ईसाई पादरी १७५
(८) पौराणिकों द्वारा विरोध : आलाराम का मामला १७७
(९) मुसलमानों का प्रचार १८१
(१०) रावलपिण्डी के दंगे १८३
(११) पंजाब के उपद्रव १८८

(१२) समाचार-पत्रों की प्रतिक्रिया १९८
(१३) परिणाम तथा प्रभाव १९९
नौवाँ अध्याय—गुरुकुल काँगड़ी पर काली घटा २०४
(१) गुरुकुल काँगड़ी पर सरकार का सन्देह २०४
(२) गुरुकुल पर गुप्त सरकारी रिपोर्टें २०५
(३) देशभक्तों के चित्र २०७
(४) पण्डित सातवलेकर की गुरुकुल काँगड़ी में गिरफ्तारी २०८
(५) गुरुकुल की तलाशी २१२
(६) अन्य कारण २१४
(७) भारत-भक्त विलियम वैडरबर्न तथा सी० एफ० एण्ड्रयूज की भूमिका २१५
(८) रैम्जे मैकडानल्ड की गुरुकुल-यात्रा २२०
(९) सर जेम्स मेस्टन की गुरुकुल-यात्राएँ २२३
(१०) लार्ड चेम्सफोर्ड का गुरुकुल काँगड़ी में आगमन २२७
(११) नीति-परिवर्तन के कारण २३३
(१२) गुरुकुल काँगड़ी के छात्रों में राष्ट्रीय भावना २३७
परिशिष्ट—गुरुकुल काँगड़ी में बांधव समाज तथा क्रान्तिकारी २४२
दसवाँ अध्याय—ब्रिटिश समाचार-पत्र तथा आर्यसमाज २४५
(१) शिरोल की पुस्तक और प्रमाणों की समीक्षा २४५
(२) सिविल एण्ड मिलिटरी गजट के आर्यसमाज पर आरोप २५४
ग्यारहवाँ अध्याय—आर्यसमाज के प्रति संयुक्त प्रान्त की सरकार का दृष्टिकोण २६८
(१) देशभक्ति की भावना २६९
(२) ईसाई-विरोधी भावना २७०
(३) राष्ट्रीयता-मूलक धर्म २७१
(४) सत्यार्थप्रकाश के राजद्रोहपूर्ण अंश २७३
(५) आर्यसमाज का राजनैतिक स्वरूप २७७
(६) गुरुकुल-पद्धति तथा गुरुकुल काँगड़ी २८०
(७) संयुक्त प्रान्त में आर्यसमाज का विकास २८२
(८) संयुक्त प्रान्त में आर्यसमाज की राजद्रोही गतिविधियाँ (१९००-१९१०) २९०
(९) सैण्ड्स की रिपोर्ट का मूल्यांकन २९४
(१०) सैण्ड्स की रिपोर्ट पर भारत सरकार की कार्यवाही २९७
बारहवाँ अध्याय—सेना में आर्यसमाजियों की भरती का प्रश्न ३०३
(१) भरती पर पाबन्दी लगाने के आरम्भिक प्रयास ३०३
(२) दसवीं जाट रेजिमेण्ट का मामला : प्रेसी-काण्ड ३०५
(३) प्रेसी-काण्ड के परिणाम ३०७
(४) सेना में आर्यसमाज का प्रभाव बढ़ने के उदाहरण ३११

(५) कोहाट, बंगलौर, बड़ौदा की घटनाएँ ३१२
(६) सेना में आर्यसमाजियों की भरती पर प्रतिबन्ध का प्रस्ताव ३१६
(७) प्रधान सेनापति का निर्णय ३१८
(८) गृह-विभाग का विरोध ३२०
(९) प्रान्तीय सरकारों की सम्मति ३२१
(१०) गृह-विभाग का दृष्टिकोण ३२४
(११) निष्कर्ष तथा परिणाम ३२७
तेरहवाँ अध्याय—आर्यसमाज का राजनैतिक उत्पीड़न ३२९
(१) दमन की प्रक्रिया ३२९
(२) लक्ष्मणराव शर्मा का मामला ३३१
(३) आर्यसमाजियों को गाँव से निकाल दो ३३३
(४) 'जाट सभा' द्वारा यज्ञोपवीत पर प्रतिबन्ध का विरोध ३३४
(५) गुलाबचन्द का मामला ३३५
(६) पण्डित दौलतराम का मामला ३३७
(७) जोधपुर की घटना ३४४
(८) मुल्तान छावनी आर्यसमाज का मामला ३४५
(९) रोहतक में राजद्रोही सभाओं का कानून लागू करना ३४६
(१०) इन्द्रजित आर्य का मामला ३४८
(११) उत्पीड़न के अन्य उदाहरण ३५१
(१२) दमन के प्रभाव ३५२
चौदहवाँ अध्याय—पटियाला अभियोग ३५५
(१) ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ३५५
(२) गिरफ्तारियाँ, पुलिस की धाँधली तथा कानून की उपेक्षा ३५७
(३) अभियोग का श्रीगणेश ३५९
(४) सरकारी वकील ग्रे का अभियोग-भाषण ३६२
(५) आर्यसमाज का राजद्रोही राजनैतिक संस्था होना ३६६
(६) पटियाला राज्य की ब्रिटिश साम्राज्य से अभिन्नता ३६६
(७) सत्यार्थप्रकाश के आपत्तिजनक अवतरण ३६९
(८) लाला लाजपतराय की पुस्तकें ३७२
(९) गुरुकुल शिक्षा-पद्धति ३७४
(१०) पटियाला में समाज का आरम्भिक विकास ३७६
(११) अभियुक्तों पर आरोप ३८१
(१२) तीस अभियुक्तों की रिहाई ३८५
(१३) अभियोग का पटाक्षेप ३८८
(१४) समाचारपत्रों की प्रतिक्रिया ३९२
(१५) आर्य पत्रों की प्रतिक्रिया ३९४
(१६) उपलब्धियाँ ३९६

पन्द्रहवाँ अध्याय—आर्यसमाज के सम्बन्ध में सरकारी सन्देह दूर करने के प्रयास ३९८
(१) चतुर्मुखी नीति का स्वरूप ३९८
(२) वच्छोवाली आर्यसमाज के व्याख्यान ४००
(३) पटियाला अभियोग में महात्मा मुंशीराम का निर्भीक नेतृत्व ४१०
(४) आर्यसमाज राजनैतिक संस्था नहीं है ४१४
(५) आर्यसमाजी पत्रों की भूमिका ४१८
सोलहवाँ अध्याय—आर्यसमाज के क्षितिज पर काली घटाएँ ४२३
(१) आर्यसमाज और उसके निन्दक ४२३
(२) सत्यार्थप्रकाश में राजद्रोह के तथाकथित प्रमाण ४३०
(३) कठोर आलोचना के कारण तथा उदाहरण ४४७
(४) ईसाइयत की आलोचना ४५२
(५) भविष्य की झाँकी ४५३
(६) पुस्तक जब्त करने का विचार और कारण ४५४
(७) काली घटाएँ कैसे फटीं ? ४५७
(८) सरकार की नीति में परिवर्तन ४६०
(९) लैफ्टीनैण्ट गवर्नरों का आर्यसमाजी नेताओं से सम्पर्क ४६१
(१०) सरकारी नीति में परिवर्तन के अन्य कारण ४६९
सतरहवाँ अध्याय—राष्ट्रीय जागरण में लाला लाजपतराय का योगदान ४७३
(१) आरम्भिक जीवन ४७३
(२) आर्यसमाज में प्रवेश ४७६
(३) कांग्रेस के साथ सम्बन्ध ४७८
(४) महापुरुषों की जीवनियों द्वारा राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार ४८२
(५) अकाल-निवारण द्वारा राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार ४८५
(६) देश-निर्वासन के प्रभाव और परिणाम ४९०
(७) राजनैतिक विचार ४९५
अठारहवाँ अध्याय—विदेशों में क्रान्तिकारी संगठनकर्ता श्यामजी कृष्ण वर्मा ५०४
(१) श्यामजी कृष्ण वर्मा का आरम्भिक जीवन ५०४
(२) होमरूल लीग की स्थापना तथा पत्र का प्रकाशन ५०९
(३) ढींगरा काण्ड ५१३
उन्नीसवाँ अध्याय—वेदों के क्रान्तिकारी व्याख्याकार पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ५१९
(१) आरम्भिक जीवन ५१९
(२) क्रान्तिकारी गतिविधियाँ ५२२
(३) औंध राज्य में स्वाध्याय-मण्डल की स्थापना तथा लोकतन्त्र का प्रचार ५२८
(४) वैदिक राष्ट्रगीत ५३०
बीसवाँ अध्याय—क्रान्तिकारियों के गुरु भाई परमानन्द ५३६
(१) जीवन-परिचय ५३६
(२) आर्यसमाज का आकर्षण ५३७

(३) दक्षिण अफ्रीका की प्रचार-यात्रा और देवतास्वरूप बनना ५३८
(४) श्यामजी कृष्ण वर्मा से सम्पर्क ५४०
(५) तलाशी और गिरफ्तारी ५४३
(६) अमेरिका की यात्रा और वहाँ के भारतीयों में कार्य ५४६
(७) गदर आन्दोलन ५५०
(८) लाहौर षड्यन्त्र केस ५५३
(९) राष्ट्रीय शिक्षा का कार्य : कौमी विद्यालय ५५७
(१०) भगतसिंह तथा भाईजी ५५९
इक्कीसवाँ अध्याय—प्रमुख आर्य क्रान्तिकारी ५६३
(१) लाला हरदयाल ५६३
(२) ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में अध्ययन ५६४
(३) पण्डित परमानन्द (झाँसी) ५७७
(४) हार्डिंग बम-काण्ड ५८५
(५) मास्टर अमीरचन्द ५८७
(६) भाई बालमुकुन्द ५८९
(७) बारहठ परिवार के बलिदान ५९१
परिशिष्ट—श्री केसरीसिंह बारहठ का काव्यमय क्रान्तिकारी उद्बोधन ६०५
बाईसवाँ अध्याय—उत्तरप्रदेश के अग्रणी क्रान्तिकारी पण्डित गेंदालाल दीक्षित ६०७
(१) स्वदेशाभिमानियों के नाम सन्देश ६१०
(२) गिरफ्तारी ६१३
(३) क्रान्तिकारियों की प्रतिज्ञा ६१४
तेईसवाँ अध्याय—सरदार भगतसिंह के पूर्वज ६१६
(१) सरदार अर्जुनसिंह ६१६
(२) सिक्ख-हिन्दू धर्मों का समन्वय ६१८
(३) सरदार किशनसिंह ६२०
(४) सरदार अजीतसिंह ६२३
चौबीसवाँ अध्याय—स्वामी श्रद्धानन्द(महात्मा मुंशीराम)का राजनीति में प्रवेश ६३१
(१) महात्मा मुंशीराम की राजनैतिक विचारधारा (१९०१-१९१९) ६३१
(२) दिल्ली के राष्ट्रीय जागरण में स्वामी श्रद्धानन्द की भूमिका ६४२
(३) रॉलट एक्ट का निर्माण ६४३
(४) महात्माजी से मतभेद ६५२
(५) अमृतसर कांग्रेस (१९१९ ई०) ६५५
(६) स्वागताध्यक्ष का भाषण ६६२
पच्चीसवाँ अध्याय—पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल ६७०
छब्बीसवाँ अध्याय—स्वाधीनता संग्राम में राजस्थान के आर्यसमाज का योगदान ६८१
(१) महर्षि दयानन्द सरस्वती और राजस्थान ६८१
(२) रियासतों के स्वाधीनता-संघर्ष में आर्यसमाजी नेताओं का कर्तृत्व ६८५

सत्ताइसवाँ अध्याय—स्वराज्य-आन्दोलन और आर्यसमाज ६८९
(१) आर्यसमाज के नेताओं का स्वराज्य-आन्दोलन के प्रति रुख ६८९
(२) असहयोग और सत्याग्रह के आन्दोलन तथा आर्यसमाज ६९४
अट्ठाइसवाँ अध्याय—महात्मा गांधी और कांग्रेस की नीति से आर्य नेताओं का मतभेद ६९८
(१) हिन्दू आन्दोलन और आर्यसमाज ६९८
(२) कांग्रेस से मतभेद का प्रारम्भ ७०२
(३) महात्मा गांधी और आर्यसमाज ७०५
उनतीसवाँ अध्याय—भारत की राजनैतिक प्रगति और आर्यसमाज ७१३
(१) आर्य स्वराज्य सम्मेलन, मथुरा ७१३
(२) राजार्य सभा ७१५
(३) राजनीति में आर्यसमाज के भाग लेने के विषय में आर्य नेताओं के विचार ७१८
सहायक ग्रन्थ-सूची ७२५
शब्दानुक्रमणिका ७३१

प्रस्तावना

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने धर्म का जिस व्यापक व सर्वाङ्गीण रूप में प्रतिपादन किया है, राजधर्म भी उसका एक अंग है। सत्यार्थप्रकाश में पूरा एक समुल्लास (अध्याय) राजधर्म पर है, और वेदभाष्य आदि में भी महर्षि ने राजनीति पर अपने मन्तव्यों का निरूपण किया है। महर्षि राष्ट्रीय स्वाधीनता के प्रबल पक्षपाती थे। उनका मत था, कि 'सुराज्य' कभी 'स्वराज्य' का स्थान नहीं ले सकता। वे स्वदेशी शासन को सर्वोपरि व सर्वोत्तम मानते थे। उनकी दृष्टि में आर्यावर्त (भारत) संसार का सर्वश्रेष्ठ देश था, और इसकी दुर्दशा एवं पराधीनता से वे अत्यधिक चिन्तित थे। स्वराज्य, स्वदेशी और राष्ट्रीय संस्कृति के प्रति गौरव की भावना का संदेश उन्होंने ही सबसे पूर्व भारतीयों को दिया, और उनकी शिक्षाओं से प्रेरणा प्राप्त कर हजारों नर-नारी भारत की स्वाधीनता के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए कटिबद्ध हो गये। भारत जो आज स्वाधीन है, उसमें आर्यसमाज तथा आर्यसमाजियों का कर्तृत्व बहुत महत्त्व का है। यद्यपि आर्यसमाज ने समष्टि रूप से या एक संगठन की स्थिति में स्वराज्य-संघर्ष में भाग नहीं लिया, पर इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आर्यसमाज का सम्पूर्ण कार्यकलाप देश की स्वाधीनता के लिए सहायक हुआ, और जिन नर-नारियों ने क्रान्तिकारी आन्दोलनों तथा महात्मा गांधी के नेतृत्व में प्रारम्भ किये गये असहयोग व सत्याग्रह आन्दोलनों में सक्रिय रूप से भाग लिया, उनमें आर्यसमाजियों की संख्या सबसे अधिक थी। महर्षि के मन्तव्यों के अनुसार भारत की राजनीति को प्रभावित करने का भी आर्यसमाज द्वारा प्रयत्न किया जाता रहा है। इसी प्रयोजन से आर्य स्वराज्य सम्मेलन, राजार्य सभा और आर्य सभा सदृश अनेक संगठन बनाये गये, और सरकारी नीति का विरोध करने के लिए आर्यसमाज द्वारा अनेक बार सत्याग्रह का भी आश्रय लिया गया।

'आर्यसमाज और राजनीति' विषय पर अब तक समुचित प्रकाश नहीं डाला गया। इसका प्रधान कारण यह है, कि आर्यसमाज के राजनैतिक कार्यों तथा गतिविधियों के सम्बन्ध में सब सामग्री मुख्यतया उन सरकारी गोपनीय रिपोर्टों, पुस्तक-पुस्तिकाओं तथा पत्रावलियों में ही सुरक्षित है, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व आर्यसमाज पर शोध करने वाले विद्वानों के लिए जिन्हें प्राप्त कर सकना सुगम नहीं था। पर स्वतन्त्र भारत की सरकार ने इस सामग्री को शोधकर्त्ताओं के लिए सुलभ कर दिया है, जिसके कारण अब यह सम्भव हो गया है कि आर्यसमाज के राजनैतिक पक्ष को भी प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत किया जा सके। यह इतिहास इसी सामग्री के आधार पर लिखा गया है। बीसवीं सदी के प्रथम चरण तक पंजाब और संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) आर्यसमाज के प्रधान केन्द्र थे। इन्हीं प्रान्तों में राजनैतिक क्षेत्र में भी आर्यसमाज ने विशेष रूप से कार्य किया। महर्षि

की शिक्षाओं से प्रेरणा प्राप्त कर पंजाब के जिन अनेक आर्यसमाजियों ने विदेशी शासन के विरुद्ध क्रान्तिकारी उपायों का आश्रय लिया, या अन्य प्रकार से स्वाधीनता-संघर्ष में भाग लिया, कतिपय विद्वानों द्वारा उनके कर्तृत्व पर कुछ प्रकाश डाला भी जा चुका है। पर संयुक्त प्रान्त के आर्यसमाजियों की राजनैतिक गतिविधि पर अब तक कोई उल्लेखनीय विवरण उपलब्ध नहीं था।

यह एक तथ्य है, कि संयुक्त प्रान्त की सरकार पिछली शताब्दी के अन्तिम चरण से ही आर्यसमाज को सन्देह की दृष्टि से देखने लगी थी। आर्यसमाज की गतिविधियों को राजद्रोही एवं क्रान्तिकारी समझते हुए इस प्रान्त में आर्यसमाज के प्रमुख प्रचारकों पर कड़ी दृष्टि रखी जाती थी। सरकारी जासूस इनका छाया की तरह पीछा करते थे और विभिन्न जिलों के पुलिस-अधीक्षक अपने अधीनस्थ गुप्तचर विभाग के रिपोर्टरों द्वारा संकलित सूचनाओं और भाषणों की रिपोर्टें प्रान्तीय सरकार को नियमित रूप से भेजते रहते थे। जिन आर्यसमाजियों को ब्रिटिश सरकार खतरनाक समझती थी, उनकी गतिविधियों और भाषणों की पूरी रिपोर्ट प्रान्तीय सरकार के गुप्तचर विभाग के मुख्यालय में इसी प्रयोजन से बनायी गयी विशेष पत्रावलियों और कार्डों पर अंकित करके रखी जाती थी।

संयुक्त प्रान्त के गुप्तचर विभाग के विवरणों से ज्ञात होता है कि उस समय निम्नलिखित आर्यसमाजी नेताओं व उपदेशकों के बारे में गुप्तचर विभाग द्वारा पृथक्-पृथक् पत्रावलियाँ नियमित रूप से रखी जाती थीं—

महात्मा मुंशीराम (जालन्धर); पण्डित भोजदत्त (आगरा), पण्डित परागदत्त (हरदोई); स्वामी दर्शनानन्द, परमानन्द, ब्रह्मानन्द, हीरालाल वर्मा, नन्द किशोर (मुरादाबाद); सुन्दरलाल (मुजफ्फरनगर); शान्तिनारायण (मुजफ्फरनगर); शादीराम (मेरठ); बाबू सीताराम (मेरठ); स्वामी तुलसीराम (मेरठ); कुंवर हुक्मसिंह (मथुरा); पण्डित मुरारीलाल (सिकन्दराबाद, जिला बुलन्दशहर); तेजसिंह जाट (बुलन्दशहर); पण्डित हनुमानप्रसाद (कानपुर); बिशनदत्त (बनारस); इन्द्रदत्त (जबलपुर); बदरीदत्त (कानपुर); पूर्णानन्द, शान्तिस्वरूप (फतेहगढ़); चतुरसेन (कानपुर); बालानन्द (फतेहगढ़); भूदेव (हरदोई); स्वामी अखिलानन्द, पण्डित नित्यानन्द (लाहौर प्रतिनिधि सभा); पण्डित भीमसेन (इटावा); हनुमानदत्त, कांजीलाल, नत्थासिंह, रामप्रसाद (हरदोई); भगवानदीन (मलावा, जिला हरदोई); मशालसिंह (हरदोई); बसन्तलाल (रामपुर); जगन्नाथप्रसाद (रायबरेली); मदनमोहन शुक्ल, श्रीमती गायत्रीदेवी, अब्दुल गफ्फूर उर्फ धर्मपाल, बिशनदास, खुशालसिंह, रुद्रदत्त, सुन्दरलाल कायस्थ, सूरजप्रसाद (कानपुर); किशनदत्त (बनारस); बाबू ज्योतिस्वरूप (देहरादून); टहलराम (डेरा इस्माईल खाँ); स्वामी कृष्णानन्द, खूबचन्द्र, पण्डित ज्वालाप्रसाद (मुरादाबाद); निरंजनदेव, स्वामी ब्रह्मानन्द (फर्रुखाबाद); इन्द्रजीत, गंगाप्रसाद, पण्डित निरंजनदास (एटा); दौलतराम (आगरा); ठाकुर उदयवीरसिंह (इटावा); अवध बिहारीलाल (जिला मैनपुरी); चौ० खूबसिंह (मुजफ्फरनगर)। गुप्तचर विभाग के नियमानुसार २५-३० वर्ष की नियत अवधि के बाद ये सब फाइलें नष्ट कर दी जाती हैं। यदि ये फाइलें उपलब्ध होतीं, तो इनके आधार पर आर्यसमाज के राजनीति-विषयक कार्यकलाप का वृत्तान्त अतीव रोचक और ज्ञानवर्द्धक होता।

किन्तु सौभाग्यवश सरकारी गुप्तचरों द्वारा एकत्र की गयी गुप्त सूचनाओं और उपर्युक्त प्रमुख आर्यसमाजी उपदेशकों तथा कार्यकर्ताओं के व्याख्यानों और गतिविधियों को सुरक्षित रखने वाली पत्रावलियों के आधार पर १९१० ई० में संयुक्त प्रान्त के गुप्तचर विभाग के तत्कालीन उप-अधीक्षक श्री सी० ई० डब्ल्यू० सैण्ड्स द्वारा संयुक्त प्रान्त में आर्यसमाज के कार्यकलापों पर लिखी गयी एक गोपनीय रिपोर्ट अब तक उत्तरप्रदेश के सी० आई० डी० विभाग में सुरक्षित है। गृह-विभाग ने इस ७५ वर्ष पुरानी रिपोर्ट तथा अन्य पुराने विभागीय साप्ताहिक प्रतिवेदनों (Weekly Reports) का अवलोकन करने की अनुमति हमें प्रदान कर दी। इस महत्त्वपूर्ण सामग्री तथा उत्तरप्रदेश के गृह-विभाग की पुरानी पत्रावलियों के आधार पर इस ग्रन्थ में आर्यसमाज की राजनैतिक गतिविधि पर सर्वथा नया प्रकाश डाला गया है।

महात्मा गांधी के नेतृत्व में जब कांग्रेस द्वारा असहयोग और सत्याग्रह के रूप में स्वाधीनता के लिए व्यापक जन-आन्दोलन प्रारम्भ किया गया, तो आर्यसमाज के नेताओं तथा कार्यकर्त्ताओं ने उसके साथ सक्रिय रूप से सहयोग किया। इस समय से देश की स्वाधीनता का संघर्ष प्रधानतया कांग्रेस के नेतृत्व में किया जाने लगा। पर सन् १९१९ से पूर्व जब कांग्रेस कतिपय सम्भ्रान्त वर्ग के लोगों की संस्था थी, स्वदेशी के प्रचार, राष्ट्रीय शिक्षणालयों की स्थापना, राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना के विकास और स्वकीय संस्कृति व धर्म के प्रति गर्व की अनुभूति का प्रादुर्भाव कर आर्यसमाज ही जन-साधारण में वह जागृति उत्पन्न कर रहा था, जिसके बिना स्वराज्य की प्राप्ति सम्भव ही नहीं थी। साथ ही, महर्षि दयानन्द सरस्वती से प्रेरणा प्राप्त कर कितने ही आर्यसमाजी क्रान्तिकारी उपायों के अवलम्बन में तत्पर थे। इस 'इतिहास' में देश की राजनीति में आर्यसमाज और आर्यसमाजियों के इसी कार्यकलाप पर प्रकाश डाला गया है।

'आर्यसमाज और राजनीति' विषय पर अब इतनी अधिक सामग्री उपलब्ध हो चुकी है, कि उस सबको एक भाग में प्रस्तुत कर सकना सम्भव नहीं हुआ। अतः 'इतिहास' के इस भाग को सन् १९२६ तक सीमित रखा गया है, यद्यपि विषय को स्पष्ट करने के लिए प्रसंगवश बाद के काल का भी कुछ विवरण इसमें दे दिया गया है। सन् १९२६ के बाद आर्यसमाज की जो राजनैतिक गतिविधि रही, उस पर हम एक अन्य भाग में प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

महर्षि दयानन्द सरस्वती का भारत के स्वाधीनता-संघर्ष में क्या योगदान था, यह विषय अत्यन्त विवादग्रस्त है। अनेक विद्वानों का मत है, कि सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम में महर्षि ने सक्रिय रूप से भाग लिया था। अपने मत की पुष्टि में उन द्वारा अनेक प्रमाण भी प्रस्तुत किये गये हैं। पर अनेक विद्वान् ऐसे भी हैं, जो यह स्वीकार नहीं करते। इस 'इतिहास' के प्रथम भाग में हमने इस विषय का विवेचन किया था, और वे संकेत या प्रमाण भी निर्दिष्ट किये थे, जिनसे महर्षि का सन् १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम में भाग लेना प्रमाणित होता है। पर अभी इस विषय पर अधिक शोध की आवश्यकता है—पूर्वाग्रह से विरहित होकर शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से की गई शोध। हम इस दिशा में प्रयत्न कर रहे हैं, और यह सर्वथा सम्भव है, कि इस 'इतिहास' के सातों भाग प्रकाशित होने के समय तक हम किसी ऐसे परिणाम पर पहुँच सकें, जो सबको स्वीकार्य हो।

पर यह निर्विवाद तथा सुनिश्चित है, कि महर्षि दयानन्द सरस्वती भारत की

पराधीनता तथा दुर्दशा से अत्यधिक उद्वेग अनुभव रहते थे, और उनका यह प्रयत्न था, कि यह देश स्वतन्त्र होकर अपने प्राचीन गौरव को पुनः प्राप्त करे, और एक बार फिर संसार का शिरोमणि देश बने। भारत के पतन और पराधीनता के कारणों पर उन्होंने गम्भीरतापूर्वक विचार किया, और उन्हें दूर करने के लिए अपनी सब शक्ति लगा दी। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो प्रयत्न किये, उन पर इस 'इतिहास' में विशद रूप से प्रकाश डाला गया है। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता, कि स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा, राष्ट्रभाषा, स्वराज्य, राष्ट्रीयता और देशभक्ति के प्रचार के लिए जो प्रयास महर्षि ने किया, वह किसी भी अन्य धर्मसुधारक व राजनैतिक नेता द्वारा नहीं किया गया। आर्य-समाज ने महर्षि के इस महत्त्वपूर्ण कार्य को जारी रखा, और उसका यह निरन्तर प्रयास रहा कि भारत की दुर्दशा तथा पराधीनता के कारणों को दूर कर जनता में उस जागृति व राष्ट्रीय शक्ति का प्रादुर्भाव किया जाए, जिससे स्वराज्य की प्राप्ति सम्भव हो सकती है। भारत के स्वाधीनता-संघर्ष में आर्यसमाज का यही प्रधान योगदान है। यद्यपि कांग्रेस के समान आर्यसमाज कोई राजनैतिक संगठन नहीं है, और न ही उसकी स्थापना किसी एक राजनैतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए हुई थी, पर 'संसार का उपकार' करने के जिस महान् लक्ष्य को सम्मुख रखकर महर्षि ने आर्यसमाज स्थापित किया था, राष्ट्रीय स्वाधीनता भी उसका एक महत्त्वपूर्ण अंग था। कोई गुलाम देश जब अपना उपकार भी नहीं कर सकता, तो संसार के उपकार की उससे कैसे आशा की जा सकती है। महर्षि चाहते थे, कि आर्यसमाज द्वारा सम्पूर्ण विश्व का—मानवमात्र का हित-कल्याण सम्पादित हो। पर इसके लिए यह आवश्यक था, कि आर्यों में शक्ति का संचार हो और वे स्वयं सबल होकर संसार के उपकार में प्रवृत्त हों। इसीलिए प्रारम्भ से ही आर्यसमाज आर्या-वर्त (भारत) की उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहा, और उसकी धार्मिक व सामाजिक गतिविधि का उद्देश्य भी आर्यजाति में नवजीवन व जागृति को उत्पन्न करना बना रहा। यही कारण है, कि यद्यपि आर्यसमाज ने एक समुदाय व संगठन के रूप में देश की राज-नीति में प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लिया, पर यह ठोस सत्य है, कि भारत के स्वाधीनता-संघर्ष में आर्यसमाज के कार्यकलाप का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था।

महर्षि दयानन्द की शिक्षाओं से प्रेरणा प्राप्त करके कितने ही आर्यसमाजी क्रान्तिकारी आन्दोलनों में न केवल सम्मिलित ही हुए, अपितु उन्होंने उनका नेतृत्व भी किया। एक समय ऐसा रह चुका है, जब कि ब्रिटिश सरकार को आर्यसमाज की प्रत्येक गतिविधि में राजद्रोह की गन्ध आती थी, और उसके गुप्तचरों तथा राजपुरुषों की आर्य-प्रचारकों, उपदेशकों व नेताओं पर कोपदृष्टि थी। वे यह मानते थे, कि कोई आर्यसमाजी राजभक्त हो ही नहीं सकता। आर्यसमाज के सम्बन्ध में उनका यह विचार सर्वथा निर्मूल भी नहीं था, क्योंकि महर्षि की शिक्षाओं से प्रभावित कोई व्यक्ति विदेशी शासन का समर्थक हो ही नहीं सकता।

पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि सभी आर्यसमाजी ब्रिटिश शासन के प्रति वही रुख रखते रहे, जो श्यामजी कृष्ण वर्मा, लाला हरदयाल, भाई परमानन्द तथा पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल सदृश आर्यों का था। अनेक ऐसे आर्यसमाजी भी थे, जो ब्रिटिश सरकार की सर्विस में थे। उनके लिए सरकार का विरोध कर सकना सम्भव नहीं था। क्योंकि ब्रिटिश शासन में आर्यसमाज को वैदिक धर्म का प्रचार करने की स्वतन्त्रता थी,

अतः कांग्रेस के पुराने नेताओं के समान अनेक आर्यसमाजी भी ब्रिटिश शासन को वरदान मानते थे, और उसका गुणगान करने में भी संकोच नहीं करते थे। पर इन्हें भी आर्य-संस्कृति और आर्यावर्त से प्रेम था, और उसकी उन्नति के लिए भी ये अपने ढंग से प्रयत्न-शील थे। गुरुकुल काँगड़ी सदृश राष्ट्रीय शिक्षण-संस्था की स्थापना महात्मा मुंशीराम ने उस समय की थी, जब कि वह राजभक्त थे। ब्रिटिश शासन के प्रति अनुराग रखते हुए भी राष्ट्रीय शिक्षा, राष्ट्रभाषा के प्रचार, स्वदेशी और अछूतोद्धार आदि के लिए जो प्रयत्न उन्होंने किये, वे बहुत महत्त्व के थे। वस्तुतः, आर्यसमाज का सम्पूर्ण कार्यकलाप ही इस प्रकार का रहा है, जिससे भारत की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता में प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से सहायता प्राप्त होती रही है।

महात्मा मुंशीराम तथा आचार्य रामदेव सदृश यशस्वी आर्य नेता भी कभी ब्रिटिश सरकार के भक्त रहे थे, इस विवरण को पढ़कर कतिपय पाठक शायद आश्चर्य करेंगे। तथ्य को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करना ही इतिहास का प्रयोजन है। उनकी राज-भक्ति को प्रदर्शित करने के साथ-साथ हमने इस बात पर भी प्रकाश डाला है, कि बाद में वे कैसे राजद्रोही एवं स्वाधीनता-संघर्ष के प्रमुख सेनानी बन गये।

इस पुस्तक को लिखने के लिए आवश्यक ग्रन्थों का संग्रह करने तथा गुप्त सरकारी रिपोर्टों को प्राप्त करने में कुछ व्यक्तियों से बहुमूल्य सहायता मिली है। राष्ट्रीय गांधी संग्रहालय नई दिल्ली के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री हरिशंकर माथुर ने आवश्यक पुस्तकें बड़ी तत्परता एवं उदारता से सुलभ कराने में प्रशंसनीय सहयोग दिया है। लखनऊ के श्री हरिश्चन्द्र सेठ उत्तरप्रदेश के गृह-विभाग से पुरानी गोपनीय रिपोर्टों के अवलोकन की आवश्यक अनुमति प्राप्त कराने तथा गुप्तचर विभाग के पुराने अध्यक्ष श्री नरेशचन्द्र मिश्र आदि से मिलाने और बहुमूल्य जानकारी एकत्र कराने में बड़े सहायक सिद्ध हुए हैं। उत्तर-प्रदेश के राजकीय अभिलेखागार के निदेशक डा० श्यामनारायण सिन्हा एवं सहायक निदेशक श्री राजेन्द्रबहादुर से अभिलेखागार में सुरक्षित सामग्री का अवलोकन करने में बड़ी मदद मिली है। श्री रणवीर पुरी ने स्वामी श्रद्धानन्द जी से सम्बन्ध रखने वाली और अन्यत्र उपलब्ध न हो सकने वाली बहुमूल्य सामग्री हमें प्रदान की है। श्री क्षितीश वेदालंकार ने आर्यसमाज के क्रान्तिकारियों के विषय में बहुमूल्य जानकारी तथा पुस्तकें प्रदान कर हमारी बहुत सहायता की है। लेखक इन सब महानुभावों तथा संस्थाओं के प्रति आभार प्रकट करते हैं।

सत्यकेतु विद्यालंकार
हरिदत्त वेदालंकार

आर्यसमाज के संस्थापक

महर्षि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

(१) राज्य और धार्मिक समुदाय

आर्यसमाज राजनीति में भाग ले या नहीं, यह प्रश्न बहुत विवादग्रस्त रहा है। महर्षि दयानन्द सरस्वती जहाँ महान् धर्मसुधारक थे, वहाँ प्रगतिशील चिन्तक भी थे। राज्य-संस्था का स्वरूप किस प्रकार का हो, और वह समाज के हित-कल्याण के लिए किस नीति का अनुसरण करे—इस सम्बन्ध में भी महर्षि ने अपने विचार प्रतिपादित किये हैं। उन्हें क्रियान्वित करना भी आर्यसमाज का कर्त्तव्य है, इस मत को अनेक आर्य नेताओं ने जनता के सम्मुख रखा है। पर अभी तक आर्यसमाज ने एक संस्था की स्थिति में राजनीति में भाग नहीं लिया, और न ही महर्षि के मन्तव्यों के अनुसार देश की राजनीति को प्रभावित करने का प्रयत्न ही किया। यह होते हुए भी ऐसे अवसर आये हैं, जब आर्यसमाज को सामूहिक रूप से किसी सरकारी आदेश व नीति का विरोध करने की आवश्यकता हुई है, और अनेक बार तो उनके विरुद्ध गम्भीर संघर्ष भी करना पड़ा है।

राजनीति के प्रति आर्यसमाज का क्या रुख होना उचित है, इस प्रश्न पर विचार करते समय राज्य और धार्मिक समुदायों के स्वरूप पर ध्यान देना उपयोगी है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसकी यह प्रकृति है कि वह समुदाय बनाकर रहे, और समुदायों द्वारा ही अपनी उन्नति करे। मनुष्यों के ये समुदाय अनेक प्रकार के होते हैं, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि। राजनैतिक रूप से संगठित मानव-समुदाय को 'राज्य' कहते हैं। पर राज्य में मनुष्यों के सम्पूर्ण सामुदायिक जीवन का समावेश नहीं हो जाता। उसका सामुदायिक व सामाजिक जीवन धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि अन्य समुदायों से भी प्रकट होता है। रोमन कैथोलिक चर्च, शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी, अंजुमन-इस्लामिया आदि धार्मिक समुदाय हैं, और ट्रेड यूनियन कांग्रेस, रेलवेमेन्स फेडरेशन आदि आर्थिक समुदाय। मनुष्य इन समुदायों को भी उतना ही उपयोगी व महत्त्वपूर्ण समझता है, जितना कि राज्यरूपी समुदाय को। इनके प्रति भी उसकी वैसी ही निष्ठा व भक्ति होती है, जैसी कि राज्य के प्रति। इसी कारण ऐसे अवसर भी उपस्थित हो जाते हैं, जबकि कतिपय मनुष्य अपने धार्मिक व आर्थिक समुदायों को राज्य की तुलना में अधिक महत्त्व दें, और इन समुदायों की खातिर राज्य का विरोध करने को भी तत्पर हो जायें। अनेक बार मनुष्य राज्य के प्रति भक्ति की अपेक्षा अपने धार्मिक सम्प्रदाय, चर्च व श्रमी संघ के प्रति भक्ति को अधिक महत्त्व देता है, जिसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इतिहास में मनुष्यों के अनेक धार्मिक समुदाय ऐसे रहे हैं, जो राज्य-संस्था के प्रतिद्वन्द्वी थे और जनता की दृष्टि में जिनका

महत्त्व राज्य की तुलना में कहीं अधिक था। मध्य युग का रोमन कैथोलिक चर्च इसी प्रकार का धार्मिक समुदाय था। चर्च के अनुयायी अपने धार्मिक समुदाय के आदेश से राजा के विरुद्ध विद्रोह तक कर देने के लिए उद्यत हो जाते थे। मध्यकाल की आर्थिक श्रेणियाँ (गिल्ड) ऐसे आर्थिक समुदाय थे, जिनके अपने कानून होते थे और उन कानूनों का पालन मनुष्यों के लिए उतना ही आवश्यक था, जितना कि राजकीय आदेशों का पालन। आधुनिक युग के श्रमी संघ (ट्रेड यूनियन) भी ऐसे आर्थिक समुदाय हैं, जो समय-समय पर राज्य-संस्था के विरुद्ध उठ खड़े होते हैं, और उसकी नीति को अपने मन्तव्यों के अनुरूप बना सकने में सफलता प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार क्रिश्चिएनिटी, इस्लाम, सिक्ख पन्थ आदि के धार्मिक समुदाय भी इस प्रकार के हैं, जिसकी इच्छा व मन्तव्यों की उपेक्षा कर सकना राज्य-संस्था के लिए सुगम नहीं होता।

यद्यपि राज्य भी मनुष्यों का एक समुदाय है, पर प्रभुता (Sovereignty) उसकी एक ऐसी विशेषता है, जो किसी अन्य समुदाय में नहीं होती। राज्य की भूमि पर जो भी मनुष्य व प्राणी रहते हों, या जो भी पदार्थ उसके क्षेत्र में विद्यमान हों, उन सब पर राज्य का शासन व अधिकार होता है। राज्य में निवास करने वाले मनुष्यों के जो भी अन्य धार्मिक, आर्थिक, साहित्यिक व सांस्कृतिक समुदाय हों, उन सबके लिए यह आवश्यक होता है कि वे राज्य की प्रभुता व सर्वोपरिता को स्वीकार करें और उसके नियन्त्रण में रहें। अन्य समुदाय भी ऐसे हो सकते हैं, जिनका अपना संगठन हो, जो किन्हीं निश्चित नियमों का पालन करते हों, और अपनी सामूहिक इच्छा को नियमों के रूप में प्रकट करते हों। पर ये जन-समुदाय प्रभुत्वशक्ति-सम्पन्न (Sovereign) नहीं होते। इनके पास वह शक्ति नहीं होती, जिससे कि वे अपनी इच्छा या आदेशों को मानने के लिए लोगों को विवश कर सकें। यदि उनके पास ऐसी शक्ति होती भी है, तो वह अन्य अधिक ऊँची शक्ति के अधीन होती है। यदि कभी राज्य की इच्छा और किसी अन्य जन-समुदाय की इच्छा में विरोध हो, तो राज्य की इच्छा के सम्मुख उस जन-समुदाय को झुक जाना पड़ता है। इसी कारण राज्य इस स्थिति में होता है कि वह अन्य सब समुदायों के कार्यों, नीतियों व गतिविधियों को नियन्त्रित कर सके और उनके सम्बन्ध में कानून बना सके। इसका कारण यही है कि राज्यरूपी समुदाय में प्रभुता व सर्वोपरिता होती है, जो अन्य किसी भी समुदाय में नहीं होती।

राज्य और अन्य समुदायों में एक और भी भेद है। अन्य समुदायों को किन्हीं सुनिश्चित उद्देश्यों व कतिपय निश्चित प्रयोजनों से संगठित किया जाता है। पर राज्य-रूपी समुदाय किन्हीं सुनिश्चित उद्देश्यों व प्रयोजनों से संगठित नहीं हुआ है, वह मनुष्यों की सामाजिक व सामूहिक भावना तथा प्रकृति का परिणाम है। मानव-जीवन के लिए उसकी सत्ता अनिवार्य है, और उस द्वारा यह यत्न किया जाता है कि मनुष्यों के सर्व-सामान्य हितों का सम्पादन हो और उसके द्वारा मनुष्य उत्कृष्ट जीवन बिता सकने में समर्थ हों। यही कारण है, जो राज्य का कार्यक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होता है। मनुष्यों के सब प्रकार के वैयक्तिक एवं सामूहिक हितों व कल्याण के सम्पादन का वह प्रयत्न करता है, और कोई भी विषय ऐसा नहीं रहता, जिसे उसके कार्यक्षेत्र से बाहर समझा जा सके या जिसमें हस्तक्षेप कर सकना उसके लिए सम्भव न हो। यही कारण है कि अन्य सब समुदाय राज्य के नियन्त्रण में रहते हैं। बालकों को शिक्षा प्रदान करने के लिए स्कूलों,

कॉलिजों और यूनिवर्सिटियों का संगठन किया जाता है। ये ऐसे समुदाय होते हैं, जिनका उद्देश्य व प्रयोजन शिक्षा की व्यवस्था करना होता है। पर ये किस ढंग से शिक्षा दें, शिक्षा के लिए किस नीति को अपनायें, और किस प्रकार का पाठ्यक्रम निर्धारित करें, राज्य इन सब बातों पर अपना नियन्त्रण रखता है। स्कूल और कॉलिज जन-समुदाय अवश्य हैं, पर वे प्रभुत्वशक्ति-सम्पन्न नहीं होते। इसीलिये उन्हें राज्य की उस इच्छा के अधीन होकर कार्य करना पड़ता है, जिसका निर्माण मनुष्यों के सार्वजनिक हित को दृष्टि में रखकर किया जाता है। ट्रेड यूनियन (श्रमी संघ) मनुष्यों के आर्थिक समुदाय होते हैं, जिन्हें 'श्रमिक लोग' अपने हितों की रक्षा के लिए बनाते हैं। मजदूरी की दर बढ़वाने, काम करने के घण्टों में कमी करने और कारखानों में दुर्घटना हो जाने पर क्षतिग्रस्त मजदूरों को समुचित मुआवजा आदि दिलवाने के प्रयोजन से श्रमी संघ मिल-मालिकों से संघर्ष करते हैं, और अपनी माँगों को मनवाने के लिए हड़ताल सदृश उपायों का भी आश्रय लेते हैं। पर यह भी सम्भव है कि मजदूरों द्वारा की जाने वाली हड़ताल जनता के सार्वजनिक हित में न हो। रेलवे, वाटरवर्क्स, बिजलीघर, चिकित्सालय आदि के श्रमिक यदि अपनी माँगों को स्वीकार कराने के लिए हड़ताल का आश्रय लें, तो उससे नागरिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। इस दशा में राज्य द्वारा हस्तक्षेप किया जाता है और श्रमी संघ को राज्य के आदेश को मानना पड़ता है। श्रमी संघ और राज्य दोनों ही मनुष्यों के समुदाय हैं। पर राज्य प्रभुत्वशक्ति-सम्पन्न है, और किसी एक वर्ग के हितों की तुलना में सार्वजनिक हित का साधन करता है। इसीलिये श्रमी संघ को राज्य के अधीन एवं उसके नियन्त्रण में अपने कार्य करने होते हैं। यही बात धार्मिक समुदायों के सम्बन्ध में भी सही है। मुसलमान ईद के अवसर पर गाय की कुर्बानी दिया करते थे, और कुर्बानी की गाय को जुलूस में ले जाया जाता था। मुसलमानों के धार्मिक समुदाय इसे अपना धार्मिक अधिकार मानते थे। पर भारत की बहुसंख्यक हिन्दू जनता की भावना को दृष्टि में रखकर सरकार ने गाय की कुर्बानी को नियन्त्रित किया, और बाद में उसे सर्वथा निषिद्ध कर दिया। त्यौहारों के अवसर पर धार्मिक समुदायों द्वारा निकाले जाने वाली रथ यात्राओं, नगर-कीर्तनों व जुलूसों पर सरकार जो प्रतिबन्ध लगाती है, या उनके मार्ग को जो निर्धारित करती है, उसका कारण भी यही है कि राज्य प्रभुत्व-शक्ति-सम्पन्न समुदाय है, और अन्य समुदायों की गतिविधि व कार्यकलाप को व्यापक सार्वजनिक हित की दृष्टि से नियन्त्रित करना उसका अधिकार व कर्त्तव्य है।

वर्तमान समय में राज्य-संस्था का जो स्वरूप विकसित हो गया है, उसमें राज्य सब मानव-समुदायों में सर्वोपरि व सर्वोत्कृष्ट है, और अन्य सब समुदाय उसके अधीन हैं। आर्यसमाज का राज्य-संस्था के साथ क्या सम्बन्ध हो, इस पर विचार करते हुए राज्य के इस स्वरूप को दृष्टि में रखना चाहिए, क्योंकि आर्यसमाज भी एक धार्मिक समुदाय ही है।

(२) राज्य और अन्य मानव-समुदायों में संघर्ष

पिछले प्रकरण में राज्य के जिस स्वरूप का उल्लेख किया गया है, वह सदा से नहीं चला आ रहा। राज्य-संस्था की प्रभुत्वशक्ति-सम्पन्नता इतिहास में एक नयी बात है। मध्य युग में प्रभुता राज्य की अनिवार्य विशेषता नहीं होती थी। इस काल में मनुष्यों

के अनेक ऐसे समुदायों की सत्ता थी, जो न केवल एक-दूसरे के समकक्ष थे, अपितु एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी भी थे। राज्य भी इन्हीं में एक था। रोमन कैथोलिक चर्च, पवित्र रोमन साम्राज्य, राजा, सामन्त, आर्थिक श्रेणियाँ (गिल्ड) आदि कितनी ही ऐसी सत्ताएँ थीं, जो मनुष्यों को अपना वशवर्ती बनाकर रखने के कार्य में एक-दूसरे से संघर्ष करती रहती थीं। मनुष्यों के लिए जहाँ यह आवश्यक था कि वह राजा के आदेशों का पालन करें, वहाँ साथ ही रोमन कैथोलिक चर्च के आदेशों का पालन करने के लिए भी वे विवश हुआ करते थे। चर्च का अधिकार-क्षेत्र केवल धार्मिक ही नहीं था, अपितु शिक्षा, विवाह, तलाक आदि के विषय में भी उसके नियम व आदेश सर्वमान्य थे। यही नहीं, राजकीय व राजनैतिक क्षेत्र में भी चर्च हस्तक्षेप किया करता था, और न केवल सर्वसाधारण लोग ही, अपितु राजा भी उसके आदेशों का पालन करने के लिए विवश होते थे। आर्थिक श्रेणियाँ भी उस समय बहुत शक्तिशाली होती थीं। आर्थिक उत्पादन में लगे हुए शिल्पी, कारीगर और श्रमिक श्रेणियों (गिल्ड) में संगठित थे। इन श्रेणियों के अपने नियम थे, अपनी परम्पराएँ थीं। श्रेणी के नियमों का अतिक्रमण करने का साहस उसके किसी सदस्य में नहीं होता था। राज्य-संस्था के लिए भी यह सुगम नहीं था कि वह श्रेणियों के कार्यों में हस्तक्षेप कर सके। मनुष्यों की भक्ति (Allegiance) उस समय राजा (राज्य-संस्था), चर्च और आर्थिक श्रेणी आदि में विभक्त थी, और ये सब समुदाय उन्हें अपना आज्ञानुवर्ती बनाकर रख सकने की स्थिति में होते थे। मध्य युग में यूरोप में राज्य-संस्था का जो स्वरूप था, उसमें वह अन्य समुदायों की तुलना में उच्चतर न होकर उनके सम-कक्ष ही थी, और कभी-कभी उनसे हीन भी हो जाती थी। विशेषतया, चर्च के रूप में उस समय एक ऐसा धार्मिक समुदाय विद्यमान था, जिसकी स्थिति राज्य-संस्था की अपेक्षा भी अधिक ऊँची थी।

मध्यकालीन यूरोप का रोमन कैथोलिक चर्च बहुत समृद्ध व शक्तिशाली था। यह आवश्यक था कि प्रत्येक मनुष्य चर्च के अधीन हो, और उसकी आज्ञाओं का पालन करे। जिस प्रकार आधुनिक युग में सब मनुष्य राज्य के अधीन होते हैं, और उसके कानून-कायदों व आदेशों को मानते हैं, वैसे ही मध्यकाल में यूरोप का प्रत्येक व्यक्ति चर्च के अधीन था और उसके कानून-कायदों को स्वीकार करता था। राज्य के समान चर्च भी लोगों से बाकायदा टैक्स वसूल करता था। चर्च से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति, पुरोहित व पुजारी आदि राजकीय करों से मुक्त होते थे। चर्च की सम्पत्ति पर राज्य कर नहीं ले सकता था। इसके विपरीत चर्च के टैक्स सबको देने होते थे। चर्च के अपने कानून थे, अपने न्यायालय थे, अपनी पुलिस थी और अपनी दण्ड-व्यवस्था थी। चर्च का संगठन ठीक राज्यों के सदृश था। चर्च की अपनी सरकार होती थी। प्रत्येक मनुष्य चर्च की सरकार के अधीन होता था, चाहे वह राजपुरुष हो या सामान्य जन। परन्तु चर्च के आदमियों पर राजा का कानून लागू नहीं होता था। उन्हें राजकीय न्यायालय दण्ड नहीं दे सकते थे। चर्च की स्थिति राज्यों और राजाओं से ऊपर थी। राजा भी उसके अधीन होते थे। यदि चर्च चाहे, तो किसी भी राजा को पदच्युत कर सकता था। राजा से अपने आदेशों का पालन कराने के लिए चर्च के पास चार बड़े साधन थे—(१) धर्म-बहिष्कार—यदि कोई राजा या अन्य मनुष्य चर्च के आदेश को न माने, तो चर्च उसे धर्म-बहिष्कृत कर देता था। वर्तमान समय में धर्म से बहिष्कृत हो जाना कोई बड़ी बात नहीं

है, पर मध्यकाल में यूरोप के लोग धर्मप्राण होते थे। धर्म से बहिष्कृत हो जाने पर उन्हें इहलोक और परलोक में अपने कल्याण का मार्ग अवरुद्ध प्रतीत होने लगता था। धर्म-बहिष्कार के डर से वे तुरन्त चर्च के काबू में आ जाते थे, और उसके आदेशों का पालन करने लगते थे। (२) धार्मिक हड़ताल—यदि कोई राजा धर्म-बहिष्कार से काबू में न आये, तो चर्च उसके राज्य में हड़ताल कर देता था। पादरी वहाँ काम करना बन्द कर देते थे। बच्चों का बपतिस्मा नहीं होता था, मृतकों का अन्त्येष्टि-संस्कार नहीं होता था, विवाह सम्पन्न नहीं हो पाते थे, चर्च के घण्टे सुनाई देने बन्द हो जाते थे और पादरी लोग श्रद्धालु भक्तों के पाप श्रवण करना बन्द कर देते थे। धर्मप्राण जनता चिन्ताकुल हो किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाती थी। सारे राज्य में हाहाकार मच जाता था। इस दशा में राजा को विवश होकर चर्च के सम्मुख झुकना पड़ता था। (३) पदच्युत करना—यदि इन दो उपायों से भी कोई राजा चर्च के काबू में न आये, तो पोप उसे पदच्युत कर उसके स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति को राजा बनाने की घोषणा कर देता था और धर्मप्राण जनता को आदेश देता था कि पदच्युत किये गये राजा का साथ छोड़कर नये राजा का अनुगमन करे। उस समय की यूरोपियन जनता पोप की आज्ञा का उल्लंघन करने का साहस नहीं करती थी। (४) यदि किसी प्रदेश व राज्य में चर्च के विरुद्ध भावना हो, और वहाँ के लोग पोप व उसके अधिकारियों के आदेशों का पालन न करें, तो उसके खिलाफ क्रूसेड (धर्मयुद्ध या जिहाद) की घोषणा कर दी जाती थी। भक्त ईसाइयों के दल-के-दल उस प्रदेश पर हमले करना शुरू कर देते थे, और वहाँ की जनता पर भयंकर-से-भयंकर अत्याचार कर उसे पोप का वशवर्ती होने के लिए विवश कर देते थे। पोप की आज्ञा से केवल विधर्मियों के खिलाफ ही क्रूसेड नहीं हुए, अपितु क्रिश्चियन राज्यों में भी उन प्रदेशों के विरुद्ध धर्मयुद्ध की घोषणा की गयी, जिन्होंने किसी भी प्रकार पोप व चर्च के आदेशों को न मानने का साहस किया था।

मध्यकालीन यूरोप के प्रायः सभी राजा रोमन कैथोलिक चर्च एवं पोप के वशवर्ती थे। पर कुछ राजाओं ने उनका विरोध करने का भी साहस किया। इस प्रकार के राजाओं में फ्रेडरिक द्वितीय का नाम उल्लेखनीय है। इस सम्राट् का बचपन सिसली में व्यतीत हुआ था। यह द्वीप पहले अरबों के अधीन रह चुका था। अरब विचारधारा और सभ्यता का वहाँ के निवासियों पर बहुत प्रभाव था। फ्रेडरिक की शिक्षा के लिए जो अध्यापक नियुक्त किये गये थे, उनमें अनेक अरब के भी थे। इस युग में अरब लोग यूरोप के ईसाइयों के समान संकीर्ण, धर्मान्ध व असहिष्णु नहीं थे। उनके सम्पर्क में रहने के कारण फ्रेडरिक के हृदय में भी धर्म के उदात्त व उदार विचार बद्धमूल हो गये थे, और वह चर्च एवं पोप के प्रभुत्व को सहने के लिए तैयार नहीं था। सन् १२१२ ई० में वह पवित्र रोमन सम्राट् के पद पर नियुक्त हुआ था, और इस पद पर आरूढ़ पूर्ववर्ती सम्राटों के समान उससे भी यह अपेक्षा की जाती थी कि वह पोप के वशवर्ती होकर रहेगा। पर उसने पोप की शक्ति एवं सत्ता की उपेक्षा की।

हमने अभी 'पवित्र रोमन सम्राट्' के पद का उल्लेख किया है। पवित्र रोमन सम्राट् के पद पर आरूढ़ हो जाने पर फ्रेडरिक द्वितीय का पोप से जो संघर्ष हुआ, उसे भलीभाँति समझने के लिए यह उपयोगी होगा कि पहले 'पवित्र रोमन सम्राट्' के पद के सम्बन्ध में कुछ परिचय दे दिया जाय। मध्य युग में यूरोप में राजनैतिक एकता का

अभाव था। बहुत-से छोटे-बड़े राज्यों की सत्ता थी, जिनके राजा परस्पर लड़ते रहते थे और अन्य राजाओं को अधीन कर अपनी शक्ति को बढ़ाने में तत्पर रहा करते थे। पर प्राचीन रोमन साम्राज्य की स्मृति अभी शेष थी। रोम के शक्तिशाली सम्राटों ने प्रायः सम्पूर्ण यूरोप को जीतकर अपने अधीन कर लिया था, और वहाँ राजनैतिक एकता स्थापित कर दी थी। पर यह दशा चौथी सदी के पश्चात् कायम नहीं रह सकी थी। यूरोप के विविध प्रदेशों पर विविध राजाओं के राज्य स्थापित हो गये थे, और ये राजा परस्पर लड़ते रहते थे। इस दशा में यदि यूरोप में किसी प्रकार की एकता कायम थी, तो उसका आधार रोमन कैथोलिक चर्च ही था, जिसके पोप को सर्वत्र आदर व सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। पर पोप के गौरवमय तथा शक्तिसम्पन्न पद के लिए भी प्रायः झगड़े होते रहते थे, और इसके विविध प्रत्याशी राजाओं की शक्ति का इस पद की प्राप्ति के लिए उपयोग करने में भी संकोच नहीं करते थे। इसी परिस्थिति में पवित्र रोमन सम्राट् (होली रोमन एम्परर) के पद की सृष्टि हुई थी। सन् ७९५ ई० में पोप के प्रभावशाली पद पर लिओ तृतीय आरूढ़ हुआ था। पर उसके विरोधियों की कमी नहीं थी। जब प्रतिद्वन्द्वियों के विरोध के कारण लिओ के लिए रोम में रह सकना कठिन हो गया, तो उसने अपनी रक्षा के लिए शार्लमेगन का आश्रय लिया। उस समय के यूरोप के राजाओं में शार्लमेगन सबसे अधिक शक्तिशाली था। जिन प्रदेशों में वर्तमान समय में फ्रांस, बेल्जियम, हालैण्ड, आस्ट्रिया और जर्मनी के राज्य विद्यमान हैं, वे सब उसके अधीन थे। यह अभिप्राय नहीं कि शार्लमेगन इन सब प्रदेशों का एकमात्र राजा था। इन प्रदेशों में बहुत-से छोटे-बड़े राजाओं का शासन था, पर ये सब राजा शार्लमेगन का आधिपत्य स्वीकार करते थे। अपनी शक्ति का विस्तार करते हुए उसने इटली को भी जीत लिया था, और रोम भी उसके अधिकार में आ गया था (७७५ ई०)। लिओ तृतीय ने पोप के पद पर आरूढ़ रहने के लिए शार्लमेगन जैसे प्रतापी राजा की शरण ली, और उसी की सहायता से वह ८०० ई० में रोम में पुनः प्रवेश करने तथा पोप के पद को सँभाल सकने में समर्थ हुआ। शार्लमेगन के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए लिओ तृतीय ने उसे रोम का सम्राट् घोषित कर दिया। रोम शार्लमेगन के आधिपत्य में था ही। एक दिन जब वह रोम के सेण्ट पीटर के गिरजे में प्रार्थना करके उठ रहा था, पोप लिओ तृतीय ने उसके सिर पर राजमुकुट धर उसे 'सीजर' और 'आगस्टस' कहकर सम्बोधित किया। 'सीजर' और 'आगस्टस' प्राचीन रोमन सम्राटों के विरुद थे। रोमन साम्राज्य का अन्त हुए तीन सदियों से अधिक समय बीत चुका था। चिरकाल से कोई रोमन सम्राट् नहीं था। शार्लमेगन को सीजर और आगस्टस बनाकर लिओ तृतीय ने रोमन साम्राज्य का पुनरुद्धार किया। शार्लमेगन का साम्राज्य इतना विस्तृत भी था कि वह पुराने रोमन साम्राज्य का स्मरण दिलाता था। क्योंकि शार्लमेगन ने पोप से अभिषिक्त होकर सम्राट्-पद प्राप्त किया था, अतः उसे 'पवित्र रोमन सम्राट्' कहा गया, और उसके साम्राज्य को 'पवित्र रोमन साम्राज्य'।

शार्लमेगन के समय पवित्र रोमन सम्राटों की जिस परम्परा का प्रारम्भ हुआ, वह उसके पश्चात् चिरकाल तक कायम रही। यद्यपि अब यूरोप में 'रोमन साम्राज्य' की पुनः स्थापना हो गयी थी, पर उसके सम्राटों की शक्ति और स्थिति वह नहीं थी जो पुराने रोमन सम्राटों की होती थी। यूरोप में इस समय बहुत-से छोटे-बड़े राजा थे, जो

परस्पर युद्ध में व्यस्त रहते थे। सबका यह यत्न होता था कि अन्य राजाओं को परास्त कर अपनी शक्ति में वृद्धि करें। साथ ही, उनकी यह भी आकांक्षा रहती थी कि अपने को चक्रवर्ती सम्राट् बनाकर रोम जाएँ, और पोप द्वारा अपना अभिषेक कराके शार्लमेगन के समान 'पवित्र रोमन सम्राट्' का गौरवशाली पद प्राप्त करें। यह स्वाभाविक था कि ये शक्तिशाली सम्राट् पोप एवं चर्च के आदेशों का पालन करें, और उसके वशवर्ती बनकर रहें। फ्रेडरिक द्वितीय भी इसी प्रकार का 'पवित्र रोमन सम्राट्' था। जैसाकि ऊपर लिखा जा चुका है, फ्रेडरिक की शिक्षा-दीक्षा जिस वातावरण में हुई थी, अरबों के उदात्त विचारों का उस पर प्रभाव था। अपने उदार विचारों के कारण चर्च व पोप के प्रभुत्व को स्वीकार कर आँख मींचकर उनके आदेशों का पालन करते रहना फ्रेडरिक द्वितीय के लिए सम्भव नहीं हुआ। शीघ्र ही, पोप के साथ उसका झगड़ा हो गया, और उसे धर्म-बहिष्कृत करं दिया गया। पोप और फ्रेडरिक के इस संघर्ष में अन्त में पोप की विजय हुई; फ्रेडरिक को उसके सम्मुख झुक जाना पड़ा। वस्तुतः, इस युग में यूरोप में पोप और चर्च का सामना कर सकने की शक्ति विशाल साम्राज्यों के अधिपतियों में नहीं थी। तब राज्य सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न (Sovereign) नहीं थे।

पर धीरे-धीरे यूरोप के शक्तिशाली राजा पोप का मुकाबिला करने के लिए कटिबद्ध होने लग गये थे। चौदहवीं सदी के अन्त तक यह स्थिति आ गयी थी कि जब फ्रांस के राजा को धर्मबहिष्कृत करने के लिए पोप ने मन बनाया, तो फ्रांस के राजा की आज्ञा से कुछ सैनिकों ने रोम में ही पोप को कैद कर लिया। सोलहवीं सदी में पोप और चर्च के प्रभाव में स्पष्ट रूप से कमी आने लग गयी थी। इसका कारण यह था कि पोप और अन्य पादरी अपने कर्त्तव्य से विमुख होकर भोग-विलास में मस्त रहने लगे थे। पोप वैभवशाली सम्राटों के समान जीवन व्यतीत करने लग गये थे, और उनके बिशपों एवं एबटों की स्थिति बड़े-बड़े सामन्तों और मनसबदारों के समान हो गयी थी। धर्मगुरु की अपेक्षा वे सम्भ्रान्त राजपुरुषों के समान रहने लगे थे। उनमें तथा राजाओं में कोई विशेष भेद नहीं रह गया था। इस दशा में यह अस्वाभाविक नहीं था कि राजा लोग उनका मुकाबिला करने तथा उनके आदेशों की अवहेलना करने के लिए उद्यत हो जायें। सर्वसाधारण जनता में भी चर्च के प्रभुत्व के विरुद्ध आवाज उत्पन्न होनी प्रारम्भ हो गई थी। वाल्डो, जान हस्स और विक्लिफ सदृश अनेक महानुभावों ने चर्च की आलोचना करते हुए ईसाई धर्म में सुधार के लिए आन्दोलन शुरू किये। पोप की आज्ञा से इन पर घोर अत्याचार किये गये, और जिन प्रदेशों पर इनका प्रभाव था, उनके विरुद्ध धर्म-युद्ध (क्रूसेड) की भी घोषणा की गयी। पर इस सबके बावजूद पोप और चर्च के प्रभाव में कमी आती गयी। राजा उनकी उपेक्षा कर अपनी शक्ति को बढ़ाने में तत्पर हो गये, और सोलहवीं-सत्रहवीं सदियों तक यह स्थिति आ गयी कि फ्रांस, रशिया और इंग्लैण्ड के राजाओं ने अपने-अपने राज्यों में पूर्णतया निरंकुश रूप से शासन करना शुरू कर दिया। ये राजा अपने को सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न मानते थे, और किसी भी अन्य (चर्च व पोप) के प्रभुत्व को स्वीकार करने को उद्यत नहीं थे। राज्यरूपी समुदाय अन्य सब जनसमुदायों से अधिक उत्कृष्ट है और अन्य सब समुदायों को उसका वशवर्ती होकर रहना है, यूरोप में यह मन्तव्य उस समय विकसित होना प्रारम्भ हुआ, जबकि वहाँ के प्रायः सभी राज्यों में ऐसे राजा शासन करने लगे थे, जो पूर्णतया निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी थे, और जो

अपनी इच्छा को ही कानून मानते थे। मध्य युग में रोमन कैथोलिक चर्च न केवल राज्यों का प्रतिद्वन्द्वी ही था, अपितु उनकी तुलना में अधिक शक्तिशाली भी था। प्रभुता उस समय राज्य-संस्था की विशेषता नहीं थी।

भारत के इतिहास में भी एक ऐसा समय था, जबकि बौद्ध संघ बहुत शक्तिशाली था, और राजाओं को अपना वशवर्ती बनाने के लिए प्रयत्नशील रहता था। या यूं कहना अधिक उपयुक्त होगा कि अपने अनुपम संगठन के कारण बौद्ध भिक्षु व स्थविर सर्व-साधारण जनता पर इस प्रकार अपना प्रभाव स्थापित करने में समर्थ हो गये थे कि राजाओं के लिए भी संघ की उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं रहा था। संघ के स्थविर देश की राजनीति में खुलकर हस्तक्षेप करते थे, और राजशक्ति को अपना वशवर्ती बनाने के लिए प्रयत्नशील रहा करते थे।

वर्तमान समय की राज्य-संस्थाओं का कार्यक्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। उनका कार्य केवल बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं से देश की रक्षा करना और शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित करना ही नहीं है, अपितु लोकहित एवं सार्वजनिक कल्याण के सम्पादन के लिए यत्न करना भी है। इसीलिए शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की व्यवस्था राज्य-संस्था द्वारा की जाती है और कृषि, पशुपालन व उद्योग आदि की उन्नति व विकास के लिए भी राज्य प्रयत्न करता है। पर पहले ये सब कार्य राज्य-संस्था द्वारा सम्पन्न नहीं किये जाते थे। शिक्षा का कार्य मुख्यतया धार्मिक समुदायों के हाथों में था, और आर्थिक उन्नति एवं उत्पादन-कार्य को नियन्त्रित करने के लिए श्रेणियों (गिल्ड) की सत्ता थी। आर्थिक क्षेत्र में ये श्रेणियाँ ही प्रधान स्थिति रखती थीं, और राज्य-संस्था द्वारा उनके कार्य व अधि-कार-क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। शिक्षा का कार्य आधुनिक युग में भी धार्मिक समुदायों द्वारा सम्पन्न किया जाता है। यूरोप में ईसाई चर्चों की ओर से अनेक कन्वेण्ट स्कूल स्थापित हैं, और भारत में भी कितने ही क्रिश्चियन मिशन शिक्षणालयों के संचालन में तत्पर हैं। आर्यसमाज सदृश धार्मिक समुदायों द्वारा भी कितने ही स्कूल व कालिज आदि चलाये जा रहे हैं। अंग्रेजी शासन के काल में धार्मिक समुदायों द्वारा संचालित ये शिक्षणालय बहुत अंश तक स्वतन्त्र व स्वायत्त थे और सरकार का हस्तक्षेप इन्हें स्वीकार्य नहीं था। स्वराज्य के पश्चात् इस दशा में परिवर्तन अवश्य आया है, पर अब भी बहुत-से ऐसे शिक्षणालय विद्यमान हैं, जो सरकारी नियन्त्रण से मुक्त रहकर स्वतन्त्र रूप से शिक्षा के कार्य में संलग्न हैं। ऐसे भी अवसर आये हैं, जब इन शिक्षणालयों को शिक्षा की सरकारी नीति का विरोध करने के लिए विवश होना पड़ा है। इस बात में बहुत-कुछ सचाई है कि राज्य-संस्था सभी क्षेत्रों में सर्वोपरि नहीं है। मनुष्यों के अन्य समुदायों के समान राज्य भी एक समुदाय ही है। यद्यपि आधुनिक समय में इसके कार्य-क्षेत्र, प्रभाव एवं शक्ति में बहुत वृद्धि हो गयी है, पर प्रभुत्वशक्ति-सम्पन्नता की उसकी स्थिति सदा से नहीं चली आ रही। वह कतिपय ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज है, और उन परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ उसकी इस स्थिति में भी परिवर्तन हो जाना सर्वथा सम्भव है।

आर्थिक समुदाय भी बहुधा राज्य-संस्था का विरोध करने के लिए तत्पर हो जाते हैं, और उनके सम्मुख राज्य अपने को असहाय अनुभव करने लगता है। श्रमी संघ (ट्रेड यूनियन) वर्तमान समय के महत्त्वपूर्ण आर्थिक समुदाय हैं। सन् १९१५ ई० में संयुक्त-

मनुष्यों की सामुदायिक व सामूहिक इच्छा के अनुसार हों, तो उनके विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता। पर ऐसी भी परिस्थितियाँ हो सकती हैं, जिनमें कानूनों या आदेशों द्वारा प्रकट की गई सामूहिक इच्छा मनुष्यों के किसी वर्ग या समुदाय की सामूहिक इच्छा के अनुकूल न हो। स्वेच्छाचारी एकतन्त्र शासनों में तो ऐसे अवसर बहुधा उपस्थित होते रहते हैं। पर आधुनिक युग के लोकतन्त्र-राज्य भी सम्पूर्ण जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते। धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक आदि दृष्टियों से जनता में अनेक वर्गों की सत्ता होती है। पूंजीपति और मजदूर, जमींदार और किसान, किसान और भूमिहीन श्रमिक सदृश कितने ही वर्ग हैं, जो आर्थिक क्षेत्र में जनता में विद्यमान हैं। इसी प्रकार सामाजिक दृष्टि से हरिजनों का पृथक् वर्ग है और सवर्णों में भी जात-पाँत के आधार पर अनेक सामाजिक वर्ग हैं। जिन राज्यों में एक से अधिक धर्म व सम्प्रदाय के अनुयायियों का निवास हो, उनमें अनेक धार्मिक समुदायों की सत्ता होती है, जिनके हित सदा एकसदृश नहीं होते। लोकतन्त्र राज्यों के विधानमण्डलों में सर्वसाधारण मतदाताओं द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि इन सब वर्गों का प्रतिनिधित्व नहीं करते। चुनाव बहुमत द्वारा किया जाता है, और विधानसभाओं व संसद् के सदस्य बहुसंख्यक वर्ग का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। यह भी सर्वथा सम्भव है कि बहुत-से मतदाताओं के चुनाव में भाग न लेने के कारण या अनुचित तरीकों से वोटों को प्रभावित वा प्राप्त कर लेने के परिणामस्वरूप विधान-मण्डल के सदस्य बहुसंख्यक वर्ग का भी प्रतिनिधित्व न करते हों। इस दशा में राज्य-संस्था द्वारा जो भी कानून बनाये जाएँगे या जो राजकीय नीति अपनायी जाएगी, जनता के सब वर्ग उससे सहमत नहीं होंगे। वे उसका विरोध करेंगे, और कतिपय परिस्थितियों में उसके विरुद्ध संघर्ष करने को भी तत्पर हो जायेंगे।

श्रमी संघों (ट्रेड यूनियनों) द्वारा रेलवे आदि में जो हड़ताल की जाती है, उसका यही कारण है। आधुनिक युग में औद्योगिक उत्पादन प्रायः ऐसी कम्पनियों द्वारा किया जाता है, जिनका स्वामित्व पूंजीपतियों के हाथों में होता है। मिल-मालिक मजदूरों के हितों पर ध्यान नहीं देते और उपभोक्ताओं के हितों की भी उपेक्षा कर मुनाफे के लिए ही आर्थिक उत्पादन करते हैं। मिल-मालिकों और मजदूरों तथा उत्पादकों और उपभोक्ताओं के हित-विरोध के निवारण के लिए जो कानून राज्य-संस्था द्वारा बनाये जाते हैं, उनसे भी सब वर्गों को सन्तोष नहीं होता। असंतुष्ट वर्ग के लोग आन्दोलन व संघर्ष के मार्ग का आश्रय ग्रहण करने के लिए विवश होते हैं, और राज्य-संस्था की सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्नता की कोई परवाह न कर उसका विरोध करने को तत्पर हो जाते हैं।

ठीक यही बात धार्मिक समुदायों के सम्बन्ध में भी होती है। संसार में शायद ही कोई ऐसा राज्य हो, जिसके सब निवासी एक ही धर्म या सम्प्रदाय के मानने वाले हों। क्रिश्चिएनिटी, इस्लाम, हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म आदि जो अनेक धार्मिक समुदाय वर्तमान समय में हैं, उन सबके अनुयायी कम या अधिक संख्या में प्रायः सभी राज्यों में निवास करते हैं। इस दशा में ऐसे अवसर उपस्थित हो सकते हैं, जबकि कोई धार्मिक समुदाय राज्य के किसी कानून व नीति से असंतुष्ट हो और उसके विरुद्ध संघर्ष में तत्पर हो जाए। मध्यकालीन यूरोप के क्रिश्चियन राजाओं ने इस समस्या का समाधान करने के लिए यह उपाय अपनाया था कि विरोधी धार्मिक समुदाय का समूल नाश कर दिया जाए। मध्यकाल में यूरोप के क्रिश्चियन दो प्रमुख सम्प्रदायों में विभक्त थे—रोमन कैथोलिक

देव के पास शरण ली थी। अर्जुनदेव जी को मुगलों के पारस्परिक झगड़ों से कोई प्रयोजन नहीं था। वे एक धर्मगुरु थे, और शरणार्थी को आश्रय देना उनका धार्मिक कर्त्तव्य था। जहाँगीर इससे बहुत नाराज हो गया और उसके आदेश से गुरु अर्जुनदेव को गिरफ्तार कर लिया गया। खुसरो के अन्य सहायकों के समान उन्हें भी प्राणदण्ड दिया गया। उनपर यह अपराध लगाया गया था कि उन्होंने एक राजद्रोही की सहायता की। खुसरो को शरण देने में गुरु अर्जुनदेव का कोई राजनैतिक उद्देश्य नहीं था। उन्हें प्राणदण्ड देकर जहाँगीर ने भारी भूल की थी। इससे सिक्ख उसके विरुद्ध हो गये, और उन्होंने बदला लेने का निश्चय किया। अर्जुनदेव जी के बाद हरगोविन्द सिक्खों के छठे गुरु हुए। उन्होंने गुरु अर्जुनदेव की हत्या का प्रतिशोध करने के लिए सिक्खों को सैनिक ढंग से संगठित करना शुरू कर दिया। अमृतसर में उन्होंने एक किला बनवाया, और वे सशस्त्र सिक्ख सैनिकों के साथ वहाँ निवास करने लगे। लोग उन्हें 'सच्चा बादशाह' कहा करते थे। जहाँगीर उनकी इस गतिविधि से चिन्तित हुआ, और उन्हें कैद कर लिया गया। वे बारह साल तक ग्वालियर के किले में कैद रहे। सन् १६२८ ई० में वे कैद से मुक्त हुए, और उन्होंने मुगलों के विरुद्ध संघर्ष शुरू कर दिया। इस प्रकारसिक्खों के राजनीति में हस्त-क्षेप का जो सिलसिला प्रारम्भ हुआ, वह निरन्तर प्रगति करता गया। गुरु हरगोविन्द के पश्चात् हरराय सिक्खों के सातवें गुरु हुए थे। वे दारा के मित्र थे। मुगल बादशाह शाहजहाँ के बाद राजसिंहासन के लिए जो घोर संघर्ष हुआ, उसमें औरंगजेब दारा को परास्त कर बादशाह बनने में समर्थ हुआ। क्योंकि गुरु हरराय की दारा से मित्रता थी, अतः औरंगजेब की उनपर भी कोपदृष्टि हुई, और वे भी राजनीति में हस्तक्षेप करने के लिए विवश हुए। सिक्खों के नौवें गुरु श्री तेगबहादुर थे। औरंगजेब की हिन्दू-विरोधी नीति को वे सहन नहीं कर सके, और दशनामी तथा सतनामी सम्प्रदायों के समान सिक्ख पन्थ ने भी गुरु तेगबहादुर के नेतृत्व में औरंगजेब का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। औरंगजेब द्वारा गुरु तेगबहादुर को प्राणदण्ड दिया गया। उनके पश्चात् गोविन्दसिंह सिक्खों के दसवें गुरु बने। उन्होंने सिक्खों को सैनिक ढंग से संगठित कर मुगल राजशक्ति से संघर्ष करने का निश्चय किया, और सिक्ख धार्मिक समुदाय को एक सैनिक शक्ति बना दिया। गुरु गोविन्दसिंह ने सिक्खों में शक्ति का जो संचार किया, उसके कारण वे धार्मिक समुदाय के साथ-साथ राजनैतिक समुदाय भी बन गये, और भारत के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में अपना पृथक् व स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर सकने में समर्थ हुए।

दशनामी, सतनामी और सिक्ख पन्थ के ये उदाहरण यह बात स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं कि परिस्थितियों के कारण धार्मिक समुदायों को राजनीति में भाग लेने के लिए या स्वयं राजशक्ति हस्तगत करने के लिए विवश हो जाना पड़ता है, और उन द्वारा राज्य की प्रभुत्व-शक्ति-सम्पन्नता के सम्मुख एक प्रश्नचिह्न उपस्थित कर दिया जाता है।

(४) अन्य समुदायों से राज्य के विरोध के कारण

राज्य द्वारा मनुष्यों की सामूहिक इच्छा की अभिव्यक्ति होती है, और राज्य-संस्था इसी सामूहिक इच्छा को क्रियान्वित करती है। इसी प्रयोजन से राज्य द्वारा कानूनों का निर्माण किया जाता है। यदि तो वे कानून या राजकीय आदेश सर्वांश में

को रणक्षेत्र में परास्त कर उन्होंने भगवान् विश्वनाथ के मन्दिर की रक्षा करने में सफलता प्राप्त की। जब मुगल साम्राज्य की शक्ति में क्षीणता आ गई, और औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् विविध सूबेदार और सामन्त अपनी-अपनी पृथक् सत्ता को स्वतन्त्र रूप से स्थापित करने में तत्पर हो गये, तो दशनामी संन्यासियों के समुदाय ने भी इस दशा से लाभ उठाकर अपने प्रभाव व शक्ति में वृद्धि करना प्रारम्भ कर दिया। इस समय तक दशनामी संन्यासियों के दो पृथक् वर्ग विकसित हो चुके थे—शास्त्रधारी और अस्त्रधारी। शास्त्रधारी संन्यासी वेदशास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन में तत्पर रहते थे और संन्यासियों के प्राचीन आदर्श का अनुसरण करते हुए सर्वसाधारण जनता को धर्म का उपदेश देने में अपना समय व्यतीत करते थे। अस्त्रधारी संन्यासी देश की राजनीति में खुलकर भाग लेने लगे थे। इसी कारण पानीपत के तीसरे युद्ध (सन् १७६०) में उनकी सेनाएँ रण-क्षेत्र में गईं, और बक्सर के युद्ध में भी उन्होंने भाग लिया। इस बात के संकेत भी विद्यमान हैं कि सन् १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम में भी दशनामी संन्यासी सक्रिय थे, और उन्हीं से प्रेरणा प्राप्त कर नाना साहब पेशवा, तात्या टोपे, अजीमुल्ला खाँ आदि ने अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया था। इससे पूर्व अठारहवीं सदी में भी संन्यासियों के समुदाय ने बंगाल में अंग्रेजी प्रभुत्व के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष किया था। बंगाल के प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री बंकिमचन्द चट्टोपाध्याय ने 'आनन्द मठ' नामक उपन्यास इसी संन्यासी विद्रोह को दृष्टि में रखकर लिखा था। इसमें सन्देह नहीं कि शंकराचार्य द्वारा स्थापित दशनामी सम्प्रदाय के संन्यासी भारत की राजनीति में स्पष्ट रूप से हाथ बँटाते रहे, और उन्होंने राज्य-संस्था को सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न (Sovereign) न मानकर उसकी अनुचित गतिविधि का प्रतिरोध करने का प्रयत्न किया।

जिस प्रकार औरंगजेब की हिन्दू-विरोधी नीति के कारण दशनामी सम्प्रदाय के संन्यासियों ने काशी के विश्वनाथ मन्दिर की रक्षा के लिए संघर्ष किया था, वैसे ही सतनामी सम्प्रदाय के लोग भी उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए थे। सतनामी सम्प्रदाय एक धार्मिक समुदाय का नाम था, जिसके अनुयायी नारनौल के समीपवर्ती क्षेत्र में निवास करते थे। औरंगजेब की नीति से उन्हें भी विरोध था और उन्होंने मुगलों के शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। औरंगजेब द्वारा उन्हें परास्त करने के लिए सेनाएँ भेजी गईं, पर वे असफल होकर वापस लौट आईं। सतनामी सम्प्रदाय के लोगों की वीरता को देखकर मुगल शासक यह समझने लगे कि वे जादू जानते हैं। औरंगजेब ने उन्हें परास्त करने के लिए कुरान की आयतें कागजों पर लिखीं, और उन्हें मुगल सेना के झण्डों के साथ बँधवा दिया। सतनामियों के विद्रोह को शान्त करने के लिए मुगल राज्य-संस्था को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा।

मध्यकालीन भारत में जिन अनेक धार्मिक समुदायों का गठन हुआ था, सिक्ख पन्थ भी उनमें एक था। सिक्ख पन्थ का प्रारम्भ गुरु नानक देव (१४६८-१५३८ ई०) द्वारा किया गया था। शुरू में सिक्ख पन्थ विशुद्ध रूप से एक धार्मिक समुदाय था, पर समय की परिस्थितियों के कारण उसका विशुद्ध धार्मिक रूप देर तक कायम नहीं रह सका। उसे राजनीति में हस्तक्षेप करना पड़ा, और समयान्तर में वह भी दशनामी सम्प्रदाय के समान एक प्रबल राजशक्ति के रूप में परिवर्तित हो गया। मुगल बादशाह जहाँगीर के विरुद्ध विद्रोह कर शाहजादा खुसरो ने पंजाब भागकर सिक्खों के गुरु अर्जुन-

(Reformation) प्रारम्भ होने पर जब यूरोप के राजाओं और रोमन कैथोलिक चर्च में संघर्ष शुरू हुआ, तो पोप के मुकाबिले में अपनी सत्ता को स्थापित करने के लिए राजाओं ने भी दैवी अधिकार के सिद्धान्त का आश्रय लिया। उन्होंने प्रतिपादित करना प्रारम्भ किया कि राजा पृथिवी पर परमेश्वर का प्रतिनिधि है, और वह परमेश्वर द्वारा शक्ति प्राप्त करके ही राज्य का शासन करता है। प्राचीन और मध्य कालों में राजा के दैवी होने का जो विचार प्रचलित था, वही कुछ परिवर्तित रूप में आधुनिक युग की राज्य-संस्थाओं के सम्बन्ध में भी विद्यमान है। राज्य सर्वोपरि है, और सब मनुष्यों तथा मानव-समुदायों को उसकी इच्छा के अधीन व वशवर्ती होकर रहना चाहिये, यह मन्तव्य राजा के दैवी अधिकार के सिद्धान्त का ही प्रतिबिम्ब है। वस्तुतः, राज्य-संस्था में कोई अमानव शक्ति नहीं होती। उसकी सब शक्ति इस बात पर निर्भर करती है, कि उस द्वारा मनुष्यों की सामुदायिक इच्छा की अभिव्यक्ति होती है, और वही उसे क्रियान्वित करने का प्रयत्न करती है। पर जब कभी मनुष्यों के किसी अन्य समुदाय की सामूहिक इच्छा राज्य की इच्छा के प्रतिकूल हो, तो उनमें परस्पर विरोध व टकराव हो जाना स्वाभाविक है।

यही कारण है कि इतिहास में अनेक बार धार्मिक समुदायों द्वारा राजकीय नीति का विरोध किया जाता रहा है, और वे राजनीति को प्रभावित करने के लिए प्रयत्न-शील रहे हैं। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए भारतीय इतिहास से दशनामी साधुओं के सम्प्रदाय का उदाहरण पर्याप्त है। इस सम्प्रदाय की स्थापना श्री आदिशंकराचार्य द्वारा की गई थी। भारत के प्राचीन आर्यों में संन्यासियों की सत्ता तो होती थी, पर वे उस ढंग से संगठित नहीं हुआ करते थे, जैसे कि बौद्ध संघों में बुद्ध के अनुयायी भिक्षु व स्थविर अपने संगठन बनाकर कतिपय सुनिश्चित नियमों का पालन किया करते थे। जैन मुनि भी 'सन्दोह' बनाकर रहते थे। साधु-संन्यासियों के बौद्ध भिक्षुओं और जैन मुनियों के समान संगठन बनाने की परम्परा प्राचीन भारत में नहीं थी। पर शंकराचार्य द्वारा यह परम्परा प्रारम्भ की गई। उन्होंने जहाँ चारों दिशाओं में चार मठों (दक्षिण में श्रृंगेरी मठ, पूर्व में गोवर्धन मठ, उत्तर में जोशी मठ और पश्चिम में शारदा मठ) की स्थापना की थी, वहाँ साथ ही संन्यासियों के दस सम्प्रदाय (सरस्वती, पुरी, भारती, वन, अरण्य, गिरि, पर्वत, सागर, तीर्थ और आश्रम) भी स्थापित किये थे। इन सब सम्प्रदायों का सुदृढ़ संगठन था और सुनिश्चित नियम थे, जिनका पालन करना उनके सब सदस्यों के लिए अनिवार्य था। यद्यपि ये संसार से विरक्त संन्यासियों के संगठन थे, पर अपने चारों ओर की घटनाओं तथा परिस्थितियों की पूर्णतया उपेक्षा करते रहना इनके लिए सम्भव नहीं था। विशेषतया, जब राज्य-संस्था ने धर्म में अनुचित रूप से आक्षेप किया, तो ये धर्म की रक्षा के लिए तत्पर हो गये। राज्य के कार्यों व गतिविधियों पर नियन्त्रण रखने के लिए इन्हें शस्त्र-धारण के लिए भी विवश होना पड़ा। तुर्क-अफगानों और मुगलों के शासनकाल में कतिपय धर्मान्ध मुसलिम सुलतानों व बादशाहों के ऐसे कृत्यों के विरुद्ध इन्होंने शस्त्र-शक्ति का भी प्रयोग किया जो हिन्दू-धर्म के लिए हानिकारक थे। हिन्दू मन्दिरों के ध्वंस का प्रतिरोध करने के लिए ये सम्प्रदाय शस्त्र धारण कर युद्धक्षेत्र में उतर आये। औरंगजेब द्वारा जब काशी के विश्वनाथ मन्दिर को तोड़ने का आदेश दिया गया, तो दशनामी संन्यासियों ने उसके सैनिकों का डटकर मुकाबिला किया (सन् १६६४)। मुसलमान सेनापति मिरजा अली, तुरुंग खाँ और अब्दुल अली की सेनाओं

हों। आधुनिक काल में राज्य-संस्था का जो महत्त्व है, और प्रभुत्वशक्ति-सम्पन्नता को जो उसकी विशेषता मानी जाने लगी है, आधुनिक युग के ही अनेक विचारकों ने उसके विरुद्ध आवाज भी उठायी है। इन विचारकों ने जिस बहुसमुदायवाद (Pluraslim) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, उसके अनुसार बहुत-से मानव-समुदायों में राज्य भी अन्यतम है। मनुष्यों के राजनैतिक दृष्टि से संगठित समुदाय को 'राज्य' कहा जाता है। पर राज्य में मनुष्य के सम्पूर्ण सामुदायिक जीवन का समावेश नहीं हो जाता। वह जो धार्मिक, आर्थिक आदि अनेकविध समुदाय बनाता है, वे राजनैतिक समुदाय (राज्य) के समकक्ष होते हैं, उससे हीन नहीं। इसी कारण ऐसे अवसर उपस्थित हो सकते हैं, जबकि मनुष्य अपने धार्मिक व आर्थिक समुदायों को राज्य की तुलना में अधिक महत्त्व दे, और इन समुदायों की खातिर राज्य का विरोध करने के लिए उद्यत हो जाए। जिस प्रकार मनुष्य की राज्य के प्रति भक्ति होती है, वैसी ही अपने धार्मिक व आर्थिक समुदायों के प्रति भी होती है। इस दशा में कभी-कभी मनुष्य राज्य के प्रति भक्ति की अपेक्षा अपने सम्प्रदाय, चर्च व ट्रेड यूनियन के प्रति भक्ति को अधिक महत्त्व देने लगता है। आर्थिक व धार्मिक समुदाय जो राज्य का विरोध करने में तत्पर होते रहे हैं, उसका यही कारण है।

(३) धार्मिक समुदायों द्वारा राजनीति में हस्तक्षेप

इतिहास में एक ऐसा समय रह चुका है, जबकि राजा को दैवी माना जाता था। उस काल में राज्य-संस्था और धार्मिक समुदाय में विरोध उत्पन्न होने या किसी धार्मिक समुदाय द्वारा राजनीति में हस्तक्षेप किये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता था। ईजिप्ट के प्राचीन लोग राजा को साक्षात् भगवान् मानते थे। यहूदियों का विश्वास था कि ईश्वर ही राजा की नियुक्ति करता है और सब सार्वजनिक कार्य जहोवा द्वारा ही नियन्त्रित व संचालित होते हैं। रोमन लोग भी राजा को दैवी व देवरूप मानते थे। उनका मन्तव्य था कि राजा भी एक देवता होता है। उस काल के रोमन अनेक देवी-देवताओं में विश्वास करते थे। वे यह समझते थे कि देवताओं की इच्छा के सम्मुख सिर झुका देने में ही मनुष्यों का हित है। क्योंकि राजा भी एक देवता है, अतः उसकी इच्छा का विरोध करना या उसे न मानना सर्वथा अनुचित है। जीसस क्राइस्ट बहुत-से देवी-देवताओं को न मानकर एक ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन करते थे। वह रोमन सम्राट् को भी ईश्वर मानने के लिए तैयार नहीं थे। इसी कारण उन्हें गिरफ्तार कर सूली पर चढ़ाया गया था। प्राचीन भारत में भी राजा के दैवी होने का विचार विद्यमान था। मनुस्मृति में यह विचार पाया जाता है कि राजा का निर्माण इन्द्र, मित्र, वरुण, यम आदि देवताओं के अंश को लेकर होता है; वह मनुष्य के रूप में एक 'महती देवता' है। इस कारण यदि राजा बालक हो, तो भी उसका अवमान नहीं करना चाहिये। मध्यकालीन यूरोप के अनेक विचारक भी राजा के दैवी अधिकारों और उसके दैवी स्वरूप की पुष्टि करते थे। क्रिश्चियन चर्च के संगठन के कारण जब मध्यकालीन यूरोप में राजाओं और चर्च में विरोध हुआ, तो चर्च के नेताओं ने यह दावा करना शुरू किया कि चर्च ही एक ऐसी संस्था है, जो अपनी शक्ति प्रत्यक्ष रूप से परमेश्वर द्वारा प्राप्त करती है। सब शक्तियों का मूल स्रोत परमेश्वर है, और सभी शक्तियाँ दैवी हैं। पर राजा या सम्राट् जो भी शक्ति रखते हैं, उसे वे परमेश्वर से सीधे प्राप्त न कर पोप की मार्फत परोक्ष रूप से प्राप्त करते हैं। धार्मिक सुधारणा

राज्य अमेरिका की रेलवे यूनियनों ने अपने देश की सरकार को इस बात के लिए विवश किया था कि वह मजदूरों के काम करने का समय आठ घण्टा प्रतिदिन नियत करे। ऐसा न करने की दशा में उन्होंने सार्वजनिक हड़ताल करने की धमकी दी थी। अमेरिका की कांग्रेस (संसद) रेलवे मजदूरों की इस माँग को स्वीकार करने के विरुद्ध थी, पर उसे रेलवे यूनियनों के सम्मुख झुकना पड़ा। १९१४-१८ ई० के महायुद्ध के समय ग्रेट ब्रिटेन के अन्यतम प्रदेश वेल्स की खानों में काम करने वाले मजदूरों ने ब्रिटिश पार्लियामेण्ट को अपनी माँगें स्वीकार करने के लिए विवश किया था। सरकार के पास यह कानूनी शक्ति विद्यमान थी कि वह वेल्स के मजदूरों के विरुद्ध कार्यवाही कर सकती, पर ब्रिटिश सरकार वेल्स के मजदूरों को अपने आदेशों का पालन करने के लिए विवश नहीं कर सकी, यद्यपि उन दिनों महायुद्ध की परिस्थिति विद्यमान थी। ये दो उदाहरण यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं, कि आर्थिक समुदाय भी चर्च-सदृश धार्मिक समुदाय के समान राज्य-संस्था से संघर्ष करते रहे हैं और उनके सम्मुख राज्य को झुकना भी पड़ा है। ग्रेट ब्रिटेन में श्रमी संघों की शक्ति बहुत अधिक है। वहाँ की सरकार उनकी इच्छा के विरुद्ध कार्य करने का साहस नहीं करती। इसका कारण यही है कि जिस प्रकार राज्य मनुष्यों का समुदाय है, वैसे ही श्रमी संघ भी है। मनुष्यों की सामूहिक व सामुदायिक इच्छा राज्य के समान अन्य समुदायों द्वारा भी अभिव्यक्त होती है। राज्य के पास कोई ऐसी उच्चतर शक्ति नहीं होती, जिसका प्रयोग कर वह अन्य समुदायों द्वारा अभिव्यक्त हुई मानव-इच्छा के विरुद्ध आचरण कर सके। यदि वह ऐसा करने का यत्न करता है, तो अन्य समुदाय उसका प्रतिरोध करने के लिए उद्यत हो जाते हैं, और ऐसे अवसरों पर राज्य को प्रायः नीचा देखना पड़ जाता है। बीसवीं सदी के प्रथम चरण में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट द्वारा आयरिश समस्या को हल करने के अनेक प्रयत्न किये गये थे। उसने आयरलैण्ड को स्वशासन देने के सम्बन्ध में एक कानून भी स्वीकृत कर दिया था, पर इसे क्रियान्वित नहीं किया जा सका, क्योंकि अल्स्टर (उत्तरी आयरलैण्ड) के लोग उसके विरोधी थे, और वे उसके विरोध में विद्रोह तक के लिए उद्यत हो गये थे। ब्रिटिश पार्लियामेण्ट सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न (Sovereign) थी, पर अपने बनाये हुए कानून को वह आयरलैण्ड पर लागू नहीं करा सकी, क्योंकि उस देश का एक अच्छा बड़ा भाग उसका विरोध करने में तत्पर था। ये सब उदाहरण यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं, कि अन्य जन-समुदाय राज्य के विरुद्ध संघर्ष करते रहे हैं, और प्रभुता व सर्वोपरिता के उसके दावे को उन द्वारा सफलता के साथ चुनौती दी जाती रही है। इतिहास में जो अनेक राज्यक्रान्तियाँ हुई, उनका प्रमुख कारण यही था कि उस समय की राज्य-संस्था मनुष्यों की सामुदायिक इच्छा को न केवल अभिव्यक्त ही नहीं करती थी, अपितु उसके विरुद्ध आचरण भी करती थी। जब कभी राज्य-संस्था मनुष्यों की किसी भी प्रकार की सामूहिक इच्छा—चाहे वह धार्मिक समुदायों द्वारा अभिव्यक्त की गयी हो, या आर्थिक समुदायों द्वारा—के विरुद्ध आचरण करने लगती है, तब उसके विरुद्ध विद्रोह या क्रान्ति का प्रादुर्भाव हो जाना अवश्यम्भावी हो जाता है।

जो तथ्य ऊपर प्रस्तुत किये गये हैं उनसे यह स्पष्ट है कि राज्य कोई ऐसा समुदाय नहीं है जो निर्भ्रान्त हो और जिसमें ऐसी प्रभुता व सर्वोपरिता विद्यमान हो कि कोई अन्य समुदाय उसका प्रतिद्वन्द्वी न हो सके और सब उसके आदेशों के पालन के लिए विवश

और प्रोटेस्टेण्ट। इनमें विरोध रहता था, और वह भी उग्र रूप से। जिस देश का राजा रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय का अनुयायी होता था, वहाँ प्रोटेस्टेण्टों पर क्रूरता के साथ अत्याचार किये जाते थे, और प्रोटेस्टेण्ट राजा के राज्य में रोमन कैथोलिक चर्च के अनुयायियों को अत्याचार का शिकार बनना होता था। भिन्न सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए अपने देश में रह सकना भी सम्भव नहीं रहता था। न उनकी जान सुरक्षित थी और न सम्पत्ति। राजकीय पद प्राप्त कर सकने का तो उनके लिए प्रश्न ही नहीं था। आधुनिक काल में इस दशा में परिवर्तन आ गया है। धार्मिक सहिष्णुता की भावना के कारण विविध धर्मों व सम्प्रदायों के अनुयायी प्रायः सभी देशों में एक-साथ निवास करते हैं, और अल्पसंख्यक धार्मिक समुदायों के लोगों को जान-माल की सुरक्षा की समस्या का सामना नहीं करना पड़ता, यद्यपि कभी-कभी ऐसे अवसर आ जाते हैं जबकि मध्ययुग की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। राज्यों के विधानमण्डलों में स्वाभाविक रूप से उस धार्मिक समुदाय के व्यक्ति बहुसंख्या में होते हैं, जिसके निवासी देश में बहु-संख्या में हों। किसी धार्मिक प्रश्न पर वे ऐसे कानून स्वीकृत कर सकते हैं, जो अल्प-संख्यक धार्मिक समुदायों को अपने धार्मिक मन्तव्यों के अनुकूल न होने के कारण स्वीकार्य न हों। भारत में मुसलमानों की अल्प संख्या है। यदि इस देश की पार्लियामेण्ट कानून द्वारा सब नागरिकों को एकपत्नी-विवाह के लिए विवश करे, तो मुसलमान उसे अपने धर्म के विपरीत समझेंगे और उसका विरोध करने को तत्पर हो जाएँगे। कानून द्वारा गोवध को रोकने और गोमांस के विक्रय पर प्रतिबन्ध लगाने पर मुसलमान, क्रिश्चियन और पारसी वर्ग में विरोध की भावना उत्पन्न हो सकती है। जब कतिपय राज्य-सरकारों ने शराब पर प्रतिबन्ध लगाया था, तो पारसियों ने इसका इस आधार पर विरोध किया था कि उनके धार्मिक कर्मकाण्ड में शराब की भी आवश्यकता होती है। कृपाण का धारण करना सिक्ख समुदाय के व्यक्तियों के लिए धर्म द्वारा विहित है। यदि हवाई जहाज की यात्रा में भी सरकार उनके कृपाण-धारण के अधिकार को नियन्त्रित करने का प्रयत्न करती है, जो सिक्ख लोग उसका विरोध करते हैं। अनेक ऐसे भी धार्मिक समुदाय रहे हैं, नरबलि देना जिनके धार्मिक अनुष्ठानों का अंग था। कतिपय सम्प्रदाय पूजा की ऐसी पद्धति को अपनाते थे, जिसकी अनेक क्रियाएँ नैतिकता के प्रतिकूल थीं। अब से एक सदी पूर्व तक कुलीन हिन्दुओं में सती-प्रथा प्रचलित थी, और विधवा का पति के शव के साथ चिता पर आरूढ़ हो जाना धार्मिक कृत्य माना जाता था। राज्य द्वारा जब इन सबको रोकने का प्रयत्न किया गया, तो कुछ लोगों ने उसका विरोध किया और कहा कि ऐसा करना धार्मिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध है और राज्य संस्था को इन मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। सती-प्रथा, नरबलि सदृश बातें तो ऐसी हैं, जिनके विरुद्ध राजशक्ति को प्रयुक्त करना वर्तमान समय में सभी लोग समुचित मानेंगे। पर मुसलमानों के बहुविवाह के अधिकार को कानून द्वारा उस ढंग से नियन्त्रित करना सुगम नहीं है, जैसे कि सती-प्रथा, बाल-विवाह आदि को किया जा चुका है। इसका कारण यही है कि जैसे राज्य मनुष्यों का एक समुदाय है, वैसे ही मुसलिम सम्प्रदाय भी एक मानव-समुदाय है। यद्यपि प्रभुता व सर्वोपरिता राज्य की एक विशेषता मानी जाती है, पर उसके लिए भी यह सुगम नहीं होता कि वह अपने क्षेत्र के अन्तर्गत एक धार्मिक समुदाय की सामूहिक इच्छा के विपरीत कानून का निर्माण कर सके।

यह सही है, कि अन्य समुदायों के समान राज्य के उद्देश्यों व प्रयोजनों को सीमित व सुनिश्चित कर सकना सम्भव नहीं है। राज्यरूपी समुदाय का संगठन मनुष्यों के हित-कल्याण व सुरक्षा के निमित्त हुआ है। पर 'हित' इतना व्यापक शब्द है कि उसमें बहुत-सी बातें अन्तर्गत हो जाती हैं। यही कारण है कि राज्य के कार्यक्षेत्र व अधिकार-क्षेत्र में वृद्धि होती जाती है। जहाँ बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं से जनता की रक्षा करना उसकी उत्तरदायिता है, वहाँ साथ ही उसकी सर्वतोमुखी उन्नति के लिए भी वह प्रयत्न करता है। यही कारण है कि वह शिक्षा, स्वास्थ्य आदि लोकहित के कार्यों को हाथ में लेता है और उन्हें मानव-हित-कल्याण को दृष्टि में रखकर उद्योग, व्यवसाय और व्यापार को भी नियन्त्रित करता है। इसीलिए वह मनुष्यों के सब प्रकार के कार्यों में हस्तक्षेप कर सकता है, और उन्हें इस ढंग से नियन्त्रित करता है कि उनसे जनता का सामूहिक हित सम्पादित हो। पर मनुष्यों की उन्नति और हित-कल्याण का कार्य केवल राज्य द्वारा ही नहीं किया जाता, अन्य समुदाय भी इस उद्देश्य को सम्मुख रखकर अनेकविध कार्य सम्पन्न करते हैं। शिक्षा का कार्य धार्मिक समुदाय भी करते हैं। भारत में आर्यसमाज, क्रिश्चियन मिशन आदि धार्मिक समुदायों ने कितने ही शिक्षणालय स्थापित किये हुए हैं। यह सर्वथा सम्भव है कि इन समुदायों की शिक्षा-नीति और राज्य की शिक्षा-नीति में विरोध के अवसर उपस्थित हो जाएँ, और इसी विरोध के कारण धार्मिक समुदाय राजनीति में हस्तक्षेप करने के लिए विवश हो जाएँ।

वास्तविकता यह है कि मनुष्यों का सामुदायिक जीवन इतना व्यापक है और उसके विविध अंग एक-दूसरे से इतने अधिक जुड़े हुए हैं कि उनको सुनिश्चित विभागों में विभक्त कर सकना क्रियात्मक नहीं है। यह निर्धारित कर सकना कठिन है कि आर्थिक समुदायों का कार्यक्षेत्र इतना है, धार्मिक समुदायों का इतना और राज्य का इतना। अन्य समुदायों द्वारा भी मनुष्यों की सामुदायिक इच्छा उसी प्रकार अभिव्यक्त होती है, जैसे कि राज्य द्वारा। इस दशा में इन विविध समुदायों द्वारा अभिव्यक्त सामूहिक इच्छा सदा और सब बातों के सम्बन्ध में एकसदृश हो, यह सम्भव ही नहीं है। बहुधा विभिन्न समुदायों द्वारा परस्पर-विरोधी सामूहिक इच्छा की अभिव्यक्ति होती है, और सब समुदाय अपनी सामूहिक इच्छा को क्रियान्वित करने के लिए प्रयत्न करने लगते हैं। अन्य समुदायों से राज्य के विरोध का यही प्रधान कारण है।

अनेक विचारकों का मत है कि धार्मिक समुदायों को राजनीति से पृथक् रहना चाहिए। धार्मिक समुदायों का कार्यक्षेत्र राज्य के कार्यक्षेत्र से भिन्न होता है। धार्मिक समुदाय मनुष्यों के जीवन में नैतिकता, सचाई और पवित्रता लाने का प्रयत्न करते हैं और परलोक में सुख-प्राप्ति के उपायों का भी निरूपण करते हैं। उन्हें राजनीति से प्रयोजन ही क्या है? पर जो विवेचन ऊपर किया गया है, उसके अनुसार शिक्षा आदि कितने ही ऐसे कार्य हैं जिन्हें धार्मिक समुदाय और राज्य समान रूप से करते हैं। जैसे राज्य-संस्था मनुष्यों के हित-कल्याण के लिए प्रयत्न करती है, वैसे ही धार्मिक समुदायों द्वारा भी किया जाता है। पर हित-कल्याण किन बातों में है, और उन्हें कैसे सम्पादित किया जाए—इस पर राज्य और धार्मिक समुदायों में मतभेद हो सकता है। इस कारण यह सर्वथा स्वाभाविक है कि धार्मिक समुदाय मनुष्यों के हित-कल्याण-विषयक अपने मन्तव्यों से राज्य की नीति व कार्यविधि को प्रभावित करने का प्रयत्न करें, और यदि

उनकी दृष्टि में राज्य-संस्था के कोई कार्य व नीति मनुष्यों के लिए अहितकर हों, तो उनका प्रतिरोध करने के लिए भी तत्पर हो जाएँ।

(५) आर्यसमाज और राजनीति

आर्यसमाज भी एक धार्मिक समुदाय है। उसका संगठन कतिपय सुनिश्चित उद्देश्यों से किया गया है। "संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना" आर्यसमाज के दस नियमों में यह एक है, जिसमें इस समाज की स्थापना के उद्देश्य व प्रयोजन को पूर्णतया स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया गया है। संसार का उपकार करने के लिए आर्यसमाज को मनुष्यों की शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति के लिए प्रयत्न करना होगा, यह भी इस नियम से स्पष्ट है। 'सामाजिक' का अभिप्राय यहाँ सामूहिक से है। आर्यसमाज को जहाँ मनुष्यों की व्यक्तिगत उन्नति उनके शरीर और आत्मा की उन्नति द्वारा करनी है, वहाँ साथ ही उनकी सामूहिक उन्नति पर भी ध्यान देना है। इसीलिए एक अन्य नियम में कहा गया है कि "प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।" व्यक्तिगत और सामूहिक उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि "अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि" की जाय। आर्य-समाज के इन नियमों व उद्देश्यों के कारण उसका क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। वह कोई ऐसा पन्थ नहीं है, जो केवल भगवान् की पूजा-उपासना की किसी विशिष्ट विधि का प्रतिपादन करता हो। उसे अविद्या के विनाश और विद्या की वृद्धि के लिए प्रयत्न करना है, और मनुष्यों की वैयक्तिक तथा सामूहिक उन्नति के साधनों को क्रियान्वित करना है। ये साधन क्या हैं, और मनुष्यों की वैयक्तिक व सामाजिक उन्नति किस प्रकार की जा सकती है, इसका सुविशद व सुस्पष्ट रूप से प्रतिपादन आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में किया है। इस ग्रन्थ में धर्म के सब अंगों का निरूपण है। प्राचीन आर्य शास्त्रों में धर्म का लक्षण इस प्रकार किया गया है—"जिससे अभ्युदय (सांसारिक उन्नति) और निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि हो, वह धर्म है" (यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः)। धर्म द्वारा मनुष्यों को ऐसा मार्ग प्रदर्शित किया जाना चाहिए, जिससे कि वे अपनी सांसारिक उन्नति भली-भाँति कर सकें, पर उसे ही मानव-जीवन का एकमात्र लक्ष्य न मानकर मोक्षप्राप्ति के चरम उद्देश्य को भी दृष्टि में रखें और उस तक पहुँचने के लिए प्रयत्न भी करें। अतः धर्मग्रन्थ के लिए यह आवश्यक है कि उस द्वारा भौतिक अभ्युदय तथा मोक्ष, दोनों के साधन प्रतिपादित किये जायँ। सत्यार्थप्रकाश में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने यही किया है। मनुष्य के अभ्युदय के लिए आवश्यक है कि उसका आचरण धर्मानुकूल हो, वह सदाचारी हो, इन्द्रियों पर उसका वश हो और वह अपने कर्त्तव्यों के पालन के लिए तत्पर रहे। यह सब कैसे किया जाय, यह सत्यार्थप्रकाश में प्रतिपादित है। साथ ही, मनुष्यों के सामाजिक या सामुदायिक जीवन के जो विभिन्न रूप परिवार, बिरादरी, ग्राम, राज्य आदि हैं, उनमें मनुष्य एक-दूसरे के साथ कैसे सम्बन्ध रखें और किस प्रकार एक-दूसरे के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करें—इन सब विषयों पर भी सत्यार्थप्रकाश में सुनिश्चित रूप से मार्ग-प्रदर्शन किया गया है। आर्यसमाज के दस नियमों में संसार का उपकार करना जो समाज का

मुख्य उद्देश्य बताया गया है, उसे सम्पन्न करने का वही मार्ग आर्यसमाज को अपनाना है, जिसे महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश में प्रतिपादित किया है। शिक्षा की क्या पद्धति हो, शिक्षणालयों को कहाँ स्थापित किया जाय, उनमें अनुशासन व रहन-सहन का क्या स्वरूप हो, शिक्षा-काल में ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन व्यतीत कर जब युवक-युवतियाँ गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें तो उनका पारिवारिक जीवन किस प्रकार का हो, समाज में मनुष्य परस्पर किस प्रकार के सम्बन्ध रखें, राज्य-संस्था का संगठन कैसे किया जाय—इन तथा इस प्रकार की सब बातों के सम्बन्ध में महर्षि के विचार व मन्तव्य सत्यार्थ-प्रकाश से जाने जा सकते हैं और मनुष्यों की व्यक्तिगत व सामूहिक उन्नति के लिए आर्यसमाज को उन्हीं के अनुसार प्रयत्न करना है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि मनुष्यों के वैयक्तिक व सामूहिक जीवन का कोई भी अंग ऐसा नहीं है, जिसके सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द सरस्वती के सुनिश्चित मन्तव्य न हों। अतः आर्यसमाज का कार्यक्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो जाता है। उसे महर्षि की शिक्षाओं के अनुसार जहाँ मनुष्यों को सदाचारी एवं धार्मिक बनाना है, वहाँ साथ ही समाज का संगठन भी इस ढंग से करना है कि सबके प्रति न्याय हो सके, सबको शिक्षा प्राप्त करने का समान अवसर प्राप्त हो, और सब कोई अपनी योग्यता व क्षमता के अनुरूप आर्थिक आमदनी तथा सामाजिक स्थिति प्राप्त कर सकें। आधुनिक युग की सबसे बड़ी समस्या ऊँच-नीच, सवर्ण-हरिजन और निर्धन-धनी के भेदभाव को मिटाकर एक वर्ग-विहीन समाज का निर्माण करना है। यह सही है कि पाँचों अंगुलियाँ बराबर नहीं होतीं, मनुष्यों की अन्तर्निहित शक्तियों में भी भेद होता है, सबकी योग्यता एक समान नहीं होतीं। अतः उनकी सामाजिक स्थिति और आर्थिक आमदनी में भेद का रहना अवश्यम्भावी है। विषमता को पूर्ण रूप से दूर कर सबको एक बराबर नहीं किया जा सकता। पर आर्थिक और सामाजिक स्थिति में भेद का आधार मनुष्यों की योग्यता और कार्यक्षमता में अन्तर के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं होना चाहिये। साथ ही न्याय पर आधारित समाज का निर्माण तभी हो सकेगा, जबकि अमीर-गरीब सब परिवारों के बालक-बालिकाओं को एक-सदृश परिस्थितियों में समान शिक्षा मिले। शिक्षा प्राप्त करने का एक-समान अवसर मिलने पर मनुष्यों की योग्यता में जो भेद होगा और उसके अनुरूप उनकी सामाजिक स्थिति व आर्थिक आमदनी में जो अन्तर होगा, उसे अन्याय्य व अनुचित नहीं कहा जा सकेगा, और उससे किसी को शिकायत करने का भी मौका नहीं होगा। राज्यरूपी जन-समुदाय को अपने सब नागरिकों के हित-कल्याण के लिए प्रयत्न करना है, इस उद्देश्य को सम्मुख रखकर उसे शिक्षा-पद्धति, आर्थिक उत्पादन, सम्पत्ति के वितरण, शोषण के प्रतिरोध आदि के लिए कानून बनाने हैं, और उन्हें क्रियान्वित करने के लिए शक्ति का भी उपयोग करना है। मनुष्यों की सामाजिक (सामूहिक) उन्नति व हित-कल्याण आर्यसमाज का भी उद्देश्य है, और उसे सम्पादित करने के लिए उसे महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करना है। यह सर्वथा सम्भव है कि ऐसा करते हुए उसे राज्य-संस्था के विरोध का सामना करना पड़े। ऐसे अवसर आ भी चुके हैं, और भविष्य में भी आ सकते हैं। इस 'इतिहास' में ऐसे अनेक संघर्षों का उल्लेख किया जाएगा, जो कि ब्रिटिश युग की भारतीय सरकार तथा स्वराज्य-काल की सरकार के विरुद्ध आर्यसमाज द्वारा किये गये थे।

वर्तमान समय में भारत में कोई विदेशी सरकार नहीं है। देश का शासन जनता

द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के हाथ में है। पर उस द्वारा शिक्षा तथा सामाजिक ऊँच-नीच आदि के सम्बन्ध में जिस नीति का अनुसरण किया जा रहा है, वह महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों के अनुरूप नहीं है। प्रचलित शिक्षा-पद्धति में सबको शिक्षा प्राप्त करने का एक-सदृश परिस्थितियों में समान अवसर नहीं मिलता। सम्भ्रान्त वर्ग के शिक्षणालय अलग हैं, और सर्वसाधारण लोगों के अलग। इससे वर्गभेद में वृद्धि हो रही है। इसी प्रकार जन्म के आधार पर करोड़ों लोगों को हरिजन मान लेना महर्षि के मन्तव्यों के विपरीत है। कितने ही उच्च शिक्षाप्राप्त प्रोफेसर, सरकारी अफसर तथा व्यापारी आज जन्म के कारण हरिजन (अछूत) माने जा रहे हैं। हिन्दुओं में हरिजनों के रूप में एक पृथक् वर्ग बन गया है। महर्षि के मन्तव्यों के अनुसार हजारों ऐसे व्यक्ति जिन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य माना जाना चाहिए, सदा के लिए हरिजन वर्ग में सम्मिलित कर लिये गये हैं। आर्यसमाज को सरकार की इन नीतियों के विरुद्ध आवाज उठानी होगी। इस प्रयोजन से उसे यह प्रयत्न करना होगा कि राजशक्ति पर उसका सशक्त प्रभाव हो। महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश में जिस शिक्षा-पद्धति का प्रतिपादन किया है, उसे क्रियान्वित करने के लिए उन्होंने जाति-नियम और राजनियम दोनों को आवश्यक माना है। केवल जातिनियम या लोकमत को अपर्याप्त समझ उन्होंने अपनी शिक्षा-पद्धति को लागू करने के लिए राजनियम की भी आवश्यकता बतायी है। राजनियम(कानून)का निर्माण राज्य-संस्था द्वारा किया जाता है, अतः सरकार या राज्य-संस्था पर अपना प्रभाव रखना आर्यसमाज के लिए अनिवार्य है। ट्रेड यूनियन आदि आर्थिक समुदाय राजकीय नीति और कानूनों को अपने सदस्यों के हितों के अनुरूप एवं उनका साधन करने वाले बनाने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं। पूँजीपतियों, व्यापारियों और उद्योगपतियों ने भी अपने आर्थिक हितों के साधन के प्रयोजन से अनेकविध समुदायों का निर्माण किया हुआ है। गन्ना-उत्पादकों के अपने समुदाय हैं, और गन्ने के रस से खांड या चीनी बनाने वाले उद्योगपतियों के अपने। इन सब विविध प्रकार के आर्थिक समुदायों का यह प्रयत्न रहता है कि वे राज्य-संस्था को अपने प्रभाव में रखें। इसके लिए वे विधानमण्डलों के चुनाव में उन राजनैतिक पार्टियों की सहायता करते हैं, जो उनकी माँगों का समर्थन करती हों। अनेक आर्थिक समुदाय विधानमण्डलों के चुनाव में अपने उम्मीदवार भी खड़े करते हैं। हड़ताल या कारखानों की तालाबन्दी आदि उपायों से तो वे राजनीति में भाग लेते ही हैं, आर्थिक समुदायों के समान धार्मिक समुदाय भी विधानमण्डल के चुनाव में किन्हीं पार्टियों की सहायता कर या स्वयं अपने उम्मीदवार खड़े कर राजनीति में भाग लेते हैं, भारत में अकाली दल, मुसलिम लीग, हिन्दू महासभा, जनसंघ, रामराज्य परिषद् आदि का संगठन इसी प्रयोजन से किया गया था कि अपने विशिष्ट धार्मिक समुदाय के हितों का साधन करें। आर्यसमाज के भी ऐसे हित हो सकते हैं, जिनके लिए उसे अपना पृथक् राजनैतिक मंच बनाने की आवश्यकता हो। जो बहुत-सी शिक्षण-संस्थाएँ आर्यसमाज द्वारा चलायी जा रही हैं, सरकार उनमें इस ढंग से हस्तक्षेप कर सकती है जिसका विरोध करना वांछनीय समझा जाय, और उसके लिए राज्य-संस्था को प्रभावित करने के प्रयोजन से राजनीति में भाग लिया जाय।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने विविध ग्रन्थों में राजधर्म का भी प्रतिपादन किया है। सत्यार्थप्रकाश में तो पूरा एक समुल्लास ही राजधर्म पर है। राज्य-संस्था का

क्या स्वरूप हो, शासन का संचालन किनके हाथों में हो, राजकीय नीति का किस प्रकार निर्माण व प्रयोग किया जाय और शासक वर्ग पर कैसे अंकुश रखा जाय—इन सब बातों पर महर्षि ने अपने मन्तव्य स्पष्ट रूप से प्रकट किये हैं। महर्षि की शिक्षाओं का प्रसार करना और उनके अनुसार मनुष्यों के व्यक्तिगत व सामूहिक जीवन को ढालना आर्य-समाज का कर्त्तव्य है। यदि देश की सरकार कोई ऐसे कानून बनाये, जो महर्षि के मन्तव्यों व धर्म के अनुसार न हों, तो आर्यसमाज को उनका भी विरोध करना होगा। शराब का सेवन आर्यसमाज की दृष्टि में अत्यन्त हानिकर है। यदि कोई सरकार शराब के प्रचार व उसकी बिक्री में वृद्धि के लिए प्रयत्न करती है, तो आर्यसमाज के लिए उसे चुपचाप देखते रहना सम्भव नहीं होगा। गोवध के विरुद्ध आर्यसमाज द्वारा आन्दोलन किया जाता है। अनेक बार उसे रुकवाने के लिए आर्यसमाज ने सत्याग्रह का भी आश्रय लिया है। शराब के सेवन और गोवध को रोकने के लिए केवल धर्मप्रचार के उपाय को पर्याप्त नहीं समझा गया। इसी कारण आर्यसमाज द्वारा शराब की इकाइयों पर धरना देने का आयोजन किया गया, और गोवध को रोकने के लिए सत्याग्रह का। यद्यपि आर्यसमाज एक धार्मिक समुदाय है, पर वह सरकार की उन नीतियों तथा कार्यों का विरोध करता रहा है, जो उसकी दृष्टि में हानिकारक व धर्मविरुद्ध थे। वस्तुतः, कोई भी समुदाय ऐसा नहीं हो सकता, जो राजकीय नीतियों व कार्यों के प्रति पूर्णतया उदासीन रह सके। क्योंकि राज्य का कार्यक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है, मनुष्यों के हित-कल्याण के सभी क्षेत्रों में उसे कार्य करना है, अतः वह उन विषयों के सम्बन्ध में भी कानून बनाता है या अपने आदेश जारी करता है, जो मुख्यतया आर्थिक, धार्मिक या सामाजिक हैं। यह सर्वथा स्वाभाविक है, कि ऐसे कोई कानून या आदेश अन्य समुदायों की सम्मति में समुचित न हों। उन्हें उनका विरोध करना होगा, और साथ ही इस बात के लिए जागरूक होना होगा कि भविष्य में राज्य-संस्था ऐसे कानून न बना सके। इसके लिए उन्हें अपनी ऐसी शक्ति भी विकसित करनी होगी, जिससे सक्षम रूप से सरकार को प्रभावित किया जा सके।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवनकाल में भारत अंग्रेजों के अधीन था। आर्य-समाज को स्थापित हुए अब ११० वर्ष हो चुके हैं। इनमें से ७२ वर्ष विदेशी शासन के थे, और शेष ३८ वर्ष स्वराज्य के। महर्षि दयानन्द सरस्वती राष्ट्रीय स्वाधीनता के प्रबल पक्षपाती थे। उनका मन्तव्य था, कि "कोई कितनी ही करे, परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत-मतान्तर के आग्रहरहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायी नहीं है।" स्वराज्य का मन्त्र सबसे पूर्व महर्षि ने ही फूंका था, और उन्हीं द्वारा सबसे पहले स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग के लिए प्रेरणा दी गयी थी। भारत के प्रति उनके मन में अनुपम ममता थी, इसे वे विश्व का सर्वश्रेष्ठ देश मानते थे। महर्षि की शिक्षाओं व मन्तव्यों को क्रियान्वित करने के प्रयोजन से स्थापित हुए आर्यसमाज ने राष्ट्रीयता, स्वदेशी, राष्ट्रभाषा और स्वराज्य की भावना जनता में उत्पन्न की, और उससे प्रेरणा प्राप्त कर कितने ही आर्यसमाजियों ने स्वाधीनता-संग्राम में सक्रिय रूप से भाग लिया। आर्यसमाज और राजनीति के विषय पर विचार करते हुए हमें स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए आर्यसमाज एवं आर्यसमाजियों के कर्तृत्व पर भी प्रकाश डालना है।

दूसरा अध्याय

स्वाधीनता के प्राथमिक संघर्ष और उनकी विफलता

(१) सन् १८५७ ई० का स्वाधीनता-संग्राम

उन्नीसवीं सदी के मध्य तक सम्पूर्ण भारत ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रभुत्व एवं शासन में आ गया था। भारत की जनता विदेशी शासन से अत्यधिक असन्तुष्ट थी और उसके असन्तोष के अनेकविध कारण थे। अंग्रेज लोग भारतीयों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। भारतीयों के प्रति उनका क्या भाव था, इसे स्पष्ट करने के लिए आगरा के एक मजिस्ट्रेट का यह कथन पर्याप्त है—"प्रत्येक भारतीय को, चाहे उसकी तथाकथित स्थिति कुछ भी हो, इस बात के लिए बाध्य किया जाना चाहिये कि मार्ग में उसे यदि कोई अंग्रेज मिल जाय, तो वह सलाम करे, और यदि कोई भारतीय घोड़े पर या गाड़ी में जा रहा हो, तो अंग्रेज को देखते ही सवारी से नीचे उतर जाय और तब तक खड़े रहकर उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित करता रहे जब तक कि अंग्रेज वहाँ से गुजर न जाय। इस आदेश का पालन कराने के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की जाय।" यही नहीं, अंग्रेज जब चाहे किसी भी भारतीय पर हाथ उठा दिया करते थे, और उसकी जान लेने में भी हिचक अनुभव नहीं करते थे। उन्हें दण्ड का कोई भय नहीं था, क्योंकि अंग्रेजों के विरुद्ध दावों का फैसला अंग्रेज न्यायाधीशों द्वारा ही किया जाता था। ये गोरे न्यायाधीश काले भारतीयों को मारना-पीटना कोई गम्भीर अपराध नहीं मानते थे। अंग्रेज शासकों के इस रुख से सर्वसाधारण भारतीय जनता में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह की भावना का प्रादुर्भूत होना सर्वथा स्वाभाविक था।

अंग्रेज भारतीयों को ईसाई बनाने के लिए भी प्रयत्नशील थे: क्रिश्चियन मिशनरी अपने धर्म के प्रचार में तत्पर थे, और अंग्रेज शासकों का संरक्षण व सहयोग उन्हें प्राप्त था। ईसाई पादरियों और सरकार द्वारा जो शिक्षणालय स्थापित किये गये थे, उनमें क्रिश्चियन धर्म की शिक्षा अनिवार्य रखी गई थी। ईसाई अध्यापक हिन्दू देवी-देवताओं का खुले तौर पर मजाक उड़ाया करते थे। क्रिश्चियन मिशनरी मन्दिरों और मसजिदों में जाकर हिन्दू धर्म और इस्लाम के विरुद्ध प्रचार किया करते थे, और किसी को यह साहस नहीं होता था कि उन्हें ऐसा करने से रोके, क्योंकि पुलिस के सिपाही उनके साथ होते थे। वे अत्यन्त आपत्तिजनक शब्दों में भारतीय धर्मों पर आक्षेप करते थे, और अपने श्रोताओं की भावनाओं की उन्हें जरा भी परवाह नहीं होती थी। अंग्रेजों ने भारतीय सिपाहियों की सहायता से ही इस देश पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था,

पर वे इन सिपाहियों के धार्मिक विश्वासों का भी कोई आदर नहीं करते थे। उन्होंने आदेश जारी किया था कि कोई सिपाही माथे पर तिलक न लगाये और सब दाढ़ियाँ मुंडवा दें। इसी प्रकार के कितने ही अन्य ऐसे आदेश थे, जिन्हें स्वीकार कर सकना सिपाहियों के लिए सुगम नहीं था। उनमें अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह की भावना निरन्तर बढ़ती जा रही थी, और अवसर पाते ही भारतीय पलटनों में विद्रोह की ज्वाला प्रदीप्त हो जाती थी। सन् १८५७ ई० से पहले ही नेल्लोर (१८०६ ई०) और बैरकपुर (१८२४ ई०) आदि में सैनिकों ने विद्रोह किये, जिनका दमन करने में अंग्रेजों को विशेष कठिनाई नहीं हुई। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में असैनिक भारतीय जनता द्वारा भी अनेक स्थानों पर अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह हुए। इनके कारण आर्थिक, राजनैतिक और धार्मिक तीनों प्रकार के थे। भारत में अंग्रेजों की आर्थिक नीति यह थी कि इस देश के उद्योगों और व्यवसायों का अन्त कर दिया जाय। यहाँ के लोग केवल कृषिजीवी होकर रह जायँ, ताकि इस देश की कपास आदि कच्चा माल सस्ती कीमत पर प्राप्त किया जा सके। कच्चे माल को सस्ते भाव से खरीदकर इंग्लैण्ड के कल-कारखानों में कपड़ा आदि जो तैयार माल बनाया जाय, उसे भारत में ऊँचे मूल्य पर बेचकर प्रभूत मात्रा में मुनाफा कमाया जाय। इसी नीति के अनुसार ब्रिटिश सरकार ने भारत के शिल्पों को नष्ट किया, और तैयार माल की प्राप्ति के लिए भारतीयों को ब्रिटेन के कल-कारखानों पर निर्भर बना दिया। इस नीति के कारण लाखों भारतीय बुनकर तबाह हो गये, और उनके लिए पेट तक भर सकना सम्भव नहीं रहा। यही दशा अन्य कारीगरों की भी हुई। भारत के पुराने राजकुलों से उनके राज्य व जागीरों को छीन लेने के लिए ब्रिटिश शासक जिन उपायों का अवलम्बन कर रहे थे, उनसे भी लोगों में असन्तोष उत्पन्न हो रहा था। मध्यकाल की जागीरदारी प्रथा पर आधारित समाज में सर्वसाधारण जनता में जागीरदारों व सामन्त-राजाओं के कुलों के प्रति एक प्रकार का सम्मान का भाव होता है, और उनके अपमान को वे सहन नहीं कर पाते। अंग्रेजी शासन के विरुद्ध असन्तोष का यह भी एक कारण था।

सन् १८५७ ई० का स्वाधीनता-संग्राम या विस्फोट इसी असन्तोष या विद्रोह की भावना का परिणाम था, जो उन्नीसवीं सदी के शुरू से ही या उससे भी पहले अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विकसित होनी प्रारम्भ हो गई थी। इस विस्फोट के कारणों पर विशद रूप से प्रकाश डाल सकना तथा इसके स्वरूप का निरूपण कर सकना यहाँ सम्भव नहीं है। पर इसे सिपाही-विद्रोह नहीं कहा जा सकता, यह सर्वथा स्पष्ट है। शुरू-शुरू में इतिहास-लेखक सन् १८५७ ई० के विस्फोट को सिपाही-विद्रोह की ही संज्ञा दिया करते थे। ज्यों-ज्यों नये तथ्य सम्मुख आते गये, इसके स्वरूप के सम्बन्ध में धारणा बदलती गयी, और अब यह मत प्रायः सर्वमान्य हो गया है, कि यह विस्फोट एक सुनियोजित षड्यन्त्र का परिणाम था, और असैनिक तत्त्वों का भी इसमें महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व था। लोगों में यह विचार घर कर गया था कि ब्रिटिश सरकार राजशक्ति का प्रयोग हिन्दुओं और मुसलमानों को ईसाई बनाने के लिए करने पर कटिबद्ध है। इसीलिए कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले समाचार पत्र 'फ्रेण्ड आफ इण्डिया' ने २ जुलाई १८५७ के अंक में लिखा था कि हिन्दू और मुसलमान दोनों के प्रमुख धार्मिक नेता अपने धर्मों की रक्षा के लिए तड़प रहे हैं। अंग्रेजी सरकार हिन्दू धर्म और इस्लाम का अन्त करने के लिए तुली हुई है,

यह बात हिन्दुस्तानी सैनिकों और सर्वसाधारण लोगों में कतिपय व्यक्तियों द्वारा प्रचारित की जा रही थी, और इन्हीं के प्रचार का यह परिणाम था कि सर्वत्र विद्रोह की भावना व्याप्त हो गयी थी। ये व्यक्ति हिन्दू साधु-संन्यासी और मुसलिम पीर व फकीर थे, और इन्हीं से प्रेरणा व बल प्राप्त कर नाना साहब तथा अजीमुल्ला खाँ आदि राजपुरुषों ने अंग्रेजों के शासन के विरोध में विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया था। सन् १८५७ ई० के स्वाधीनता-संग्राम के स्वरूप एवं उसके साधु-संन्यासियों, मौलवियों, पीरों तथा ब्राह्मणों के कर्तृत्व पर इस 'इतिहास' के प्रथम भाग (तेईसवाँ अध्याय) में प्रकाश डाला जा चुका है। वहीं हम इस बात की सबल सम्भावना पर भी विचार कर चुके हैं कि १८५७ के विस्फोट के आयोजकों एवं पुरोधाओं में महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा उनके गुरु दण्डी स्वामी विरजानन्द का भी प्रमुख स्थान था।

पर सन् १८५७ ई० का स्वाधीनता-संग्राम सफल नहीं हो सका। शस्त्र-शक्ति द्वारा ब्रिटेन के आधिपत्य को दूर कर सकना भारतीयों के लिए सम्भव नहीं हुआ।

(२) उन्नीसवीं सदी के अन्य सशस्त्र संघर्ष

यद्यपि ब्रिटिश सरकार सन् १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम में विजयी हो गयी थी, पर इसके कारण भारतीयों में देश को स्वतन्त्र कराने की उत्कट आकांक्षा का अन्त नहीं हो गया। इसी का यह परिणाम हुआ कि सन् १८५७ के बाद भी भारत में अनेक बार विदेशी शासन के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह हुए, यद्यपि इनका रूप बहुत व्यापक नहीं था। ऐसा प्रथम विद्रोह वलीउल्लाही लोगों का था। अठारहवीं सदी में वलीउल्लाह (१७०२-१७६२ ई०) नाम का एक सूफी साधु दिल्ली में हुआ था, जिसके विचार बहुत प्रगतिशील थे। वह इस्लाम के उस विशुद्ध स्वरूप की पुनर्स्थापना के लिए आन्दोलन में तत्पर था, जो पैगम्बर हजरत मुहम्मद के समय में विद्यमान था। धर्म के शुद्ध एवं सरल स्वरूप की ओर मुसलमानों का ध्यान आकृष्ट करने के साथ-साथ शाह वलीउल्लाह आर्थिक विषमता को दूर करना भी आवश्यक समझता था। उसका कहना था कि अपनी आरामतलबी के लिए शासकवर्ग ने कारीगर लोगों पर इतना अधिक बोझ डाल रखा है कि "वे गधों और बैलों की तरह सिर्फ रोटी कमाने का काम करते हैं।" धीरे-धीरे बहुत-से लोग वलीउल्लाह के अनुयायी हो गये। उसकी शिष्य-परम्परा में सैयद अहमदशाह (१७८६-१८३१ ई०) बहुत प्रसिद्ध है। वह बरेली का निवासी था, और भारत में मुसलमानों की दुर्दशा को बहुत तीव्र रूप से अनुभव करता था। उसके समय में इस्लाम का भाग्य-सूर्य भारत में अस्ताचल को जा चुका था। पंजाब पर सिक्खों का आधिपत्य हो गया था, और दक्षिण-पश्चिमी भारत में मराठों का। देश का बड़ा भाग अंग्रेजों के शासन में आ चुका था। मुगल बादशाहत अभी कायम थी, पर उसकी सत्ता नाममात्र को ही थी। सैयद अहमदशाह ने शस्त्र-शक्ति का प्रयोग कर इस्लाम के लुप्तप्राय गौरव का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया। बरेली (रुहेलखण्ड) के क्षेत्र से सैनिकों को एकत्र कर उसने पहले पंजाब से सिक्खों की सत्ता का अन्त करने के लिए संघर्ष शुरू किया। उसे कुछ सफलता भी प्राप्त हुई। पर सन् १८३१ ई० में सिक्खों से युद्ध करते हुए उसकी मृत्यु हो गयी। सन् १८५७ ई० के स्वाधीनता-संग्राम में सैयद अहमदशाह के अनुयायी अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर रहे और १८५७ के विस्फोट की विफलता के पश्चात् भी

उन्होंने अपने संघर्ष को जारी रखा। भारत में अनेक स्थानों पर उन्होंने अपने गुप्त केन्द्र स्थापित किये। इनमें प्रधान केन्द्र पटना में था, जहाँ से इनके गुप्त आन्दोलन का संचालन किया जाता था। सैयद अहमद के अनुयायियों का उद्देश्य था कि शस्त्र-शक्ति का प्रयोग कर भारत में मुसलिम शासन को पुनः स्थापित किया जाय। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक सम्पूर्ण भारत अंग्रेजों की अधीनता में आ चुका था। न पंजाब में सिक्खों का स्वतन्त्र राज्य रहा था, और न महाराष्ट्र आदि में मराठों का। अतः अब सैयद अहमद के अनुयायियों की दृष्टि में अंग्रेज ही ऐसे विधर्मी व काफिर थे, जिनके खिलाफ उन्हें जिहाद की घोषणा करनी थी। उनकी गुप्त समितियों द्वारा सैनिक भरती करके उत्तर-पश्चिमी सीमा पर भेजे जाते, जहाँ वे उस क्षेत्र के पठानों और सीमा-पार के अफगानों के साथ मिलकर ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ षड्यन्त्र करते। सन् १८६४ तक अहमदशाह के अनुयायी (जो बहाबी कहाते थे) काफी जोर पकड़ चुके थे। अंग्रेज अफसर उनके गुप्त केन्द्रों के पता करने में तत्पर थे, और उनके नेताओं की गिरफ्तारियाँ की जा रही थीं। सन् १८६४ ई० से १८६९ ई० तक षड्यन्त्र के अनेक मुकद्दमे उनके खिलाफ चलाये गये, और उन्हें कठोर दण्ड दिये गये। सैयद अहमद के अनुयायियों का जिहाद इतना व्यापक हो चुका था कि केवल रुहेलखण्ड और बिहार में ही नहीं, अपितु पंजाब, बंगाल, मद्रास और उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त—सर्वत्र उनके केन्द्रों की सत्ता थी। पर अंग्रेज उन्हें भी कुचल डालने में समर्थ हुए और अंग्रेजी शासन के विरुद्ध प्रारम्भ किया गया यह संघर्ष भी सफल नहीं हो सका। पर सैयद अहमदशाह के अनुयायियों के संघर्ष का उद्देश्य भारत की स्वतन्त्रता न होकर इस्लाम की शक्ति को पुनः स्थापित करना ही था। सिक्ख और मराठे भी उनकी दृष्टि में वैसे ही काफिर थे, जैसे कि अंग्रेज।

सन् १८५७ ई० के स्वाधीनता-संग्राम की विफलता के पश्चात् अंग्रेजी शासन के विरुद्ध एक अन्य संघर्ष पंजाब में कूका लोगों द्वारा किया गया। कूका-आन्दोलन का प्रारम्भ उन्नीसवीं सदी के चतुर्थ दशक में भगत जवाहरमल द्वारा किया गया था। उस समय पंजाब पर अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित नहीं हुआ था, और वहाँ अनेक सिक्ख राज्य विद्यमान थे। भारत के अन्य धर्मों के समान सिक्ख पन्थ में भी तब अनेकविध विकृतियाँ आ गयी थीं। अन्धविश्वासों और सामाजिक कुरीतियों ने सिक्खों में घर कर लिया था। भगत जवाहरमल ने सिक्ख पन्थ के विशुद्ध स्वरूप को पुनः स्थापित करने के लिए आन्दोलन किया। वह जात-पाँत के विरोधी थे, अन्तर्जातीय विवाहों का समर्थन करते थे, और मांस-मद्य के सेवन के विरुद्ध थे। जब सन् १८४९ ई० में अंग्रेजों ने पंजाब को विजय कर सिक्ख राज्यों की स्वतन्त्रता का अन्त कर दिया तो कूका लोगों का कार्य-क्षेत्र केवल धार्मिक सुधार तक ही सीमित नहीं रह गया। सिक्खों की राजशक्ति के पुनः-उद्धार को उन्होंने अपना लक्ष्य बना लिया। भगत जवाहरमल के बाद उनके प्रधान शिष्य बालकसिंह कूका लोगों के नेता थे। सन् १८६३ ई० में उनकी मृत्यु के पश्चात् रामसिंह उनके नेता बने। वह एक सैनिक थे, और सिक्ख सेना में सिपाही रह चुके थे। उन्होंने सिक्खों की एक नयी सेना संगठित करना शुरू किया, और शस्त्र-शक्ति द्वारा पंजाब से अंग्रेजी शासन का अन्त करने के लिए संघर्ष करने की तैयारी प्रारम्भ कर दी। उन्होंने अपने अनुयायियों को अंग्रेजी सरकार की नौकरी न करने, बच्चों को सरकारी

स्कूलों में न पढ़ाने, विदेशी वस्तुओं का प्रयोग न करने तथा अपने मुकद्दमों के फैसले के लिए सरकारी अदालतों में न जाने का आदेश दिया। सरकार के प्रति जिस असहयोग-नीति का महात्मा गांधी ने सन् १९२० ई० में अवलम्बन किया था, रामसिंह ने उन्नीसवीं सदी के छठे दशक में उसी को अंग्रेजों के विरुद्ध प्रयुक्त करने का प्रयत्न किया था। रामसिंह ने लुधियाना के समीप भैनी को केन्द्र बनाकर कूकों को सैनिक शिक्षा देनी शुरू कर दी, और पंजाब में स्थान-स्थान पर अपने केन्द्र स्थापित किये। कहा जाता है कि उन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध नैपाल के महाराजा से भी सम्पर्क किया, और ब्रिटिश सरकार के भारतीय सैनिकों में विद्रोह की भावना के प्रसार के लिए भी प्रयत्न किया। कूका लोगों की यह गतिविधि अंग्रेजों से छिपी न रही। पर उन्होंने अपना संघर्ष जारी रखा। सन् १८७१-७२ में कूका लोगों ने अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह कर दिया। अंग्रजों ने उसका दमन करने के लिए क्रूर साधन अपनाये। रामसिंह को कैद करके बरमा भेज दिया गया, और बहुत-से कूके तोपों के मुँह पर बाँधकर उड़ा दिये गये। सन् १८८५ में बरमा में रामसिंह की मृत्यु हो गयी। कूका विद्रोह भी अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सका।

शस्त्र-शक्ति का प्रयोग कर अंग्रेजी शासन का अन्त करने के अन्य भी अनेक प्रयत्न उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में होते रहे। ऐसा एक प्रयत्न महाराष्ट्र में वासुदेव बलवन्त फड़के द्वारा किया गया था। सन् १८७६-७७ ई० में पश्चिमी भारत में एक भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था, जिसके कारण जनता अत्यधिक दुःखी हो गयी थी। फड़के का विचार था कि यह दुर्भिक्ष विदेशी शासन का परिणाम है, और जनता के सब कष्टों के लिए अंग्रेजी सरकार ही उत्तरदायी है। अतः उसने नवयुवकों का एक ऐसा दल संगठित करना शुरू किया, जो शस्त्र-संचालन का अभ्यास कर अंग्रेजों के खिलाफ उठ खड़ा हो। रेल की पटरियाँ उखाड़कर रेलगाड़ियों का आ-जा सकना असम्भव बना देना, तार-विभाग की तारें काटकर संचार के साधनों को पंगु बना देना और जेलखानों पर हमले कर कैदियों को छुड़वा देना भी फड़के के कार्यक्रम के महत्त्वपूर्ण अंग थे। उसका विचार था कि इन उपायों से अंग्रेजी शासन को असम्भव बनाया जा सकता है, और फिर हथियारों के प्रयोग में सुशिक्षित युवकों द्वारा अंग्रेजों के विरुद्ध सफल विद्रोह कर सकना सर्वथा सम्भव है। पर फड़के को भी अपने प्रयत्न में सफलता नहीं प्राप्त हुई। उसे गिरफ्तार कर लिया गया, और आजन्म कारावास की सजा दी गयी। फरवरी १८८३ ई० में जेल में ही फड़के की मृत्यु हो गयी।

ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीति और शोषण के विरुद्ध भी भारतीयों ने अनेक सशस्त्र संघर्ष किये। बंगाल, बिहार में अंग्रेजों ने बड़े पैमाने पर नील की खेती शुरू की थी। उन दिनों भारत में बेरोजगारी बहुत अधिक थी। अंग्रेजों की नीति के कारण शिल्पी, कारीगर और किसान बहुत बड़ी संख्या में बेरोजगार हो गये थे। वे किसी भी शर्त पर मजदूरी करने के लिए तैयार रहते थे। नील की खेती के गोरे मालिकों ने इस स्थिति से लाभ उठाया, और बहुत सस्ती मजदूरी पर श्रमिकों को प्राप्त कर नील की खेती से भरपूर मुनाफा कमाने लगे। गोरे मालिक इन खेती-मजदूरों पर पाशविक अत्याचार किया करते थे, जिसे सह सकना उन असहाय व गरीब लोगों के लिए भी सम्भव नहीं हुआ। सन् १८५९-६० ई० में उन्होंने विद्रोह कर दिया, जिसका सरकार ने क्रूरता के साथ

दमन किया। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक विद्रोह उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में हुए, पर उन्हें अपने उद्देश्यों में सफलता प्राप्त नहीं हो सकी।

(३) सशस्त्र संघर्षों की विफलता के कारण

सन् १८५७ ई० का स्वाधीनता-संग्राम तथा अन्य सशस्त्र संघर्ष जो अपने लक्ष्य की पूर्ति में सफल नहीं हो सके, उसके सब कारणों पर प्रकाश डाल सकना यहाँ सम्भव नहीं है। पर इस विफलता का एक मुख्य कारण भारत की जनता के विविध वर्गों में एकता का अभाव था। सन् १८५७ ई० में भारत की जनता का एक बहुत बड़ा भाग अंग्रेजों के विरुद्ध अवश्य उठ खड़ा हुआ था, पर तब भी ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो विस्फोट के दमन के कार्य में अंग्रेजों की सहायता कर रहे थे। पंजाब के सिक्ख तब ब्रिटिश सरकार के साथ थे, और उनके सैनिकों ने स्वाधीनता-संग्राम के सिपाहियों के विरुद्ध अपनी शक्ति का निःसंकोच उपयोग किया था। गुरखे और तैलंगी सिपाही भी इस संग्राम में या तो तटस्थ रहे, या उन्होंने अंग्रेजों का साथ दिया। ग्वालियर, इन्दौर, भरतपुर और टोंक आदि के कितने ही राजा भी इस स्वातन्त्र्य संग्राम से पृथक् रहे। इन रियासतों की जनता मार्ग-प्रदर्शन तथा नेतृत्व के लिए अपने राजाओं की ओर ही दृष्टिपात कर रही थी। पर अवध के नवाब, दिल्ली के मुगल बादशाह, पेशवा नाना साहब और झांसी की रानी लक्ष्मीबाई के समान यदि देशभर के राजा-महाराजा और नवाब इस अवसर पर स्वाधीनता संग्राम में जुट जाते, तो अंग्रेजों की कभी विजय न हो पाती। इस देश के न राजाओं में एकता थी, न सिपाहियों में और न जनता में। स्वातन्त्र्य की भावना सबमें न्यूनाधिक रूप से विद्यमान थी, पर वे एक-साथ मिलकर, एक सुनिश्चित उद्देश्य को सम्मुख रखकर और एक सुनिर्धारित योजना के अनुसार कार्य कर सकने में असमर्थ रहे। इस दशा का मूल कारण यह था कि अभी भारत में राष्ट्रीय भावना का समुचित रूप से विकास नहीं हुआ था। भारत एक देश है, और उसके सब निवासी एक भारतीय राष्ट्र के अंग हैं, यह विचार उस समय बीजरूप में तो था, पर उसे अंकुरित व पल्लवित होने का अवसर अभी नहीं मिला था। राष्ट्रीय एकता के अनेक तत्त्व भारत में विद्यमान थे। इसकी सांस्कृतिक परम्पराएँ एक थीं। उत्तर से दक्षिण तक और पूर्व से पश्चिम तक कितनी ही ऐसी नदियों, पर्वत-श्रेणियों तथा पुरियों की सत्ता थी, जिन्हें सब हिन्दू समान रूप से पवित्र मानते थे। दक्षिण के हिन्दू के लिए गंगा जितनी पवित्र थी, उतनी ही उत्तर के हिन्दू के लिए गोदावरी और कावेरी नदियाँ पवित्र थीं। हिन्दुओं के तीर्थ एवं पवित्र मन्दिर उत्तर में अमरनाथ और केदारनाथ से लगाकर दक्षिण में रामेश्वरम् तक तथा पूर्व में जगन्नाथपुरी से लगाकर पश्चिम में द्वारिका तक सर्वत्र फैले हुए थे। इस कारण भारत-भर के हिन्दू इस देश के सब प्रदेशों व भागों के प्रति एक प्रकार ही ममता व अपनेपन की अनुभूति रखते थे। भाषा तथा नसल की भिन्नताओं के होते हुए भी सब हिन्दुओं में एक आधारभूत एकता की सत्ता थी जो इस देश की राष्ट्रीय भावना को एक ठोस आधार प्रदान कर सकती थी। भारत के मुसलमानों का बहुत बड़ा भाग हिन्दुओं से ही इस्लाम का अनुयायी बना था। भाषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज एवं परम्पराओं की दृष्टि से वह हिन्दुओं से भिन्न नहीं था। मुसलमानों के तीर्थस्थान भी भारत में सर्वत्र फैले हुए थे, जिनके कारण उनमें

भी इस देश के प्रति एक प्रकार की धार्मिक भावना की सत्ता थी। पर राष्ट्रीय एकता के इन तत्त्वों की सत्ता के बावजूद सम्पूर्ण भारत के एक राष्ट्र होने का विचार अभी तक अविकसित दशा में ही था। यही कारण है कि जब अवध, बिहार, मध्यभारत, रुहेलखण्ड, आगरा, दिल्ली, मेरठ आदि के सैनिक तथा सर्वसाधारण लोग अंग्रेजी शासन को उखाड़ फेंकने के लिए उठ खड़े हुए, तो पंजाब, राजस्थान और सुदूर दक्षिण क्रान्ति की लहर से प्रायः अप्रभावित रहे। पंजाब के सैनिकों ने तो उस समय अंग्रेजों का साथ देने में भी संकोच नहीं किया। राष्ट्र एक शरीर के समान होता है। यदि उसके एक अंग में पीड़ा हो, तो अन्य अंग भी बेचैनी अनुभव करते हैं, और पीड़ित अंग के स्वास्थ्य-लाभ में ही अपना हित समझते हैं। पर उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में सम्पूर्ण भारत एक शरीर के समान नहीं था। जब अंग्रेज़ सन् १८५७ के विस्फोट को दबा देने के लिए अत्यन्त क्रूर व अमानुषिक उपायों का अवलम्बन कर रहे थे, तो भारत के कितने ही प्रदेश ऐसे थे, जिनके लोगों को उनसे कोई विशेष उद्वेग नहीं हुआ। यदि सम्पूर्ण भारत राष्ट्रीय भावना से प्रेरित हो राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए एकजुट हो संघर्ष करता, तो सन् १८५७ ई० का स्वाधीनता-संग्राम कदापि विफल न होता। अंग्रेजों की रणनीति भी भारतीय सेना-नायकों की रणनीति की तुलना में अधिक उत्कृष्ट थी। उनके पास आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्र थे, जो भारतीय सैनिकों के पास नहीं थे। उस समय ग्रेट ब्रिटेन सदृश पाश्चात्य देश विज्ञान के क्षेत्र में भारत से कहीं आगे थे। इसीलिए वे भारत तथा अन्य एशियन व अफ्रीकन देशों को अपने प्रभुत्व में ला सकने में समर्थ हुए थे, और इसी कारण ब्रिटेन को भारतीयों के सशस्त्र संघर्षों को कुचल डालने में सफलता प्राप्त हुई थी।

भारत में अनेक धर्मों की सत्ता है। इस्लाम के अनुयायी भी इस देश में बड़ी संख्या में निवास करते हैं। अंग्रेजी शासन से हिन्दू और मुसलमान समान रूप से असन्तुष्ट थे। राजशक्ति का साहाय्य प्राप्त कर क्रिश्चियन मिशनरी जिस ढंग से भारतीयों को ईसाई बनाने में तत्पर थे, उससे दोनों धर्मों के धर्माचार्य समान रूप से आशंकित थे। यही कारण है कि साधु-संन्यासी, ब्राह्मण, पुरोहित, मौलवी और पीर-फकीर सब अंग्रेजी शासन के विरुद्ध जनता को उभाड़ने के लिए परस्पर सहयोग से प्रयत्न में लगे थे। धर्म पर संकट की अनुभूति ने उस समय उन्हें एक-दूसरे का साथ देने के लिए विवश कर दिया था। पर उस समय की यह धार्मिक व साम्प्रदायिक एकता स्थायी रूप प्राप्त कर सकने में असमर्थ रही। धर्म राष्ट्रीयता का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। जिन लोगों के धार्मिक मन्तव्य भिन्न हों, उनके लिए एक राष्ट्रीयता का अंग हो सकना सुगम नहीं होता। ईसाइयों के दो मुख्य सम्प्रदाय रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट हैं। यूरोप में इन दो ईसाई सम्प्रदायों के अनुयायी भी एक देश में एक-साथ नहीं रह सके। भारत इसके लिए सचमुच गर्व कर सकता है कि यहाँ हिन्दू और मुसलमान सदियों से एक-साथ निवास करते रहे हैं। पर दो धर्मों की सत्ता भारत की राष्ट्रीयता में एक बाधा अवश्य रही है, और अब तक भी वह बाधा दूर नहीं हुई है। महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वाधीनता के लिए जो संघर्ष हुआ, उसमें भी हिन्दू और मुसलमान सामयिक रूप से एक हो गये थे, पर उनकी यह एकता देर तक कायम नहीं रह सकी थी। इसी कारण भारत का विभाजन हुआ, और पाकिस्तान के रूप में एक पृथक् मुसलिम राष्ट्र का निर्माण हुआ। सन् १८५७ ई० के स्वाधीनता-संग्राम में भी हिन्दुओं और मुसलमानों ने परस्पर सहयोग से

अंग्रेजी शासन का अन्त कर देने के लिए प्रयत्न किया था, पर यह सहयोग भारत की राष्ट्रीयता को स्थायी आधार नहीं दे सका। कुछ वर्ष बाद ही सहयोग की यह भावना समाप्त हो गयी। वलीउल्लाही या सैयद अहमदशाह के अनुयायी अंग्रेजी शासन के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर अवश्य हुए, पर इस्लाम की भावना से प्रेरित होकर और इस्लाम की शक्ति को पुनः स्थापित करने के लक्ष्य को सम्मुख रखकर। इसी प्रकार पंजाब में कूका लोगों ने अंग्रेजों के खिलाफ जो संघर्ष किया, उसका उद्देश्य सिक्खों की राजशक्ति की पुनर्स्थापना करना था। भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता का विचार न वलीउल्लाही लोगों के सामने था, और न कूकों के। इसी प्रकार जो अन्य अनेक सशस्त्र संघर्ष उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत के विभिन्न प्रदेशों में होते रहे, उनकी प्रेरणा कतिपय स्थानीय परिस्थितियों से प्राप्त की गयी थी—भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता का व्यापक लक्ष्य इन संघर्षों के संचालकों व नेताओं के सम्मुख विद्यमान नहीं था।

जात-पाँत, ऊँच-नीच और छूत-अछूत के भेदों के कारण भी भारतीय जनता के विविध वर्गों में एकानुभूति या एक समाज के अंग होने के विचार का अभाव था। एक धर्म के अनुयायी भी एक होने की अनुभूति नहीं रखते थे। केवल हिन्दू समाज ही नहीं, अपितु मुसलिम समाज भी जातिवाद का शिकार था। सैयद, पठान और शेख के रूप में उनमें भी जातिभेद की सत्ता थी, और हिन्दुओं से मुसलमान बने लोग अपनी जाति को भुला नहीं सके थे। राजपूत मुसलमान अपने को वैसे ही ऊँचा मानते थे, जैसे हिन्दू राजपूत। मुसलिम नाइयों, धोबियों और जुलाहों आदि की सामाजिक स्थिति हिन्दू नाइयों आदि की स्थिति से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं थी। यदि हिन्दुओं में अछूतों का एक वर्ग था, तो मुसलमानों में भी था। जो समाज इस प्रकार के उच्च व नीच वर्गों में विभक्त हो, उसमें राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास सुगम नहीं होता। मध्यकाल की जागीरदारी पद्धति का भी अभी देश से पूर्णतया अन्त नहीं हुआ था। देसी रजवाड़ों की सामाजिक रचना अभी तक भी जागीरदारी (सामन्त) पद्धति पर आधारित थी। रियासत के राजाधिराज के अधीन अनेक राजा-महाराजा और उनके अधीन बहुत-से राव-राजा व ठाकुर हुआ करते थे। भूमि पर स्वामित्व इन्हीं लोगों का था। खेती करने वाले किसान इन्हीं से जमीन प्राप्त किया करते थे, और खेत पर उनका कोई भी अधिकार नहीं होता था। जो प्रदेश सीधे अंग्रेजों के शासन में थे, उनमें भी बहुत-से छोटे-बड़े जमींदार विद्यमान थे, जो स्वेच्छापूर्वक किसानों को जमीन से बेदखल कर सकते थे। किसान संख्या में बहुत अधिक थे, पर न उनकी सामाजिक स्थिति सम्मानित थी, और न उनकी आर्थिक दशा ही सन्तोषजनक थी। शिल्प उन्नत दशा में अवश्य थे, पर शिल्पियों की स्थिति हीन मानी जाती थी। बढ़ई, लुहार, जुलाहे आदि कारीगरों को समाज में वह सम्मानास्पद स्थान प्राप्त नहीं था, जोकि भूमिपतियों, ब्राह्मणों, राजपूतों, महाजनों व व्यापारियों को प्राप्त था। ऐसे समाज में लोगों में एकता की अनुभूति का हो सकना भी सुगम नहीं है, राष्ट्रीय भावना की सत्ता का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। जब समाज में एक वर्ग अत्यन्त समृद्ध हो और उसके पास अपार धन संचित हो जाय, तो उसमें भोग-विलास की प्रवृत्ति विकसित होने लगती है। उसका चरित्र ठीक नहीं रह पाता और उसमें अनेकविध दुर्गुण घर कर जाते हैं। किसानों, कारीगरों और श्रमिकों के अत्यन्त गरीब होने के कारण उनमें हीन भावना उत्पन्न होने लगती है और आत्म-

सम्मान का अभाव हो जाता है। धनियों का भोग-विलास एवं विषयासक्ति और गरीबों की असहायता—दोनों ही राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य-पालन में बाधाएँ होती हैं, और उनके कारण भी राष्ट्रीय भावना का समुचित रूप से विकास नहीं होने पाता।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए जो भी संघर्ष हुए, उनके नेताओं का ध्यान इन बातों की ओर नहीं गया। भाषा, धर्म, संस्कृति तथा परम्पराओं की दृष्टि से भारत को उन अर्थों में एक राष्ट्र नहीं कहा जा सकता था, जिनमें कि फ्रांस व ब्रिटेन सदृश पाश्चात्य देश राष्ट्र थे। यहाँ अनेक धर्मों की सत्ता थी, और बहुत-सी भाषाओं की भी। केवल धर्म या भाषा के आधार पर भारत में राष्ट्रीय भावना को विकसित कर सकना सम्भव नहीं था। पर भारतभूमि को सबकी माता या मातृभूमि मानकर उसके प्रति ममता के भाव को विकसित करने पर इस देश की राष्ट्रीयता को एक ठोस आधार दिया जा सकता था, और इस दशा में विभिन्न धर्मों तथा भाषाओं में ऐसा समन्वय स्थापित कर सकना भी सम्भव था जिससे कि इनकी विभिन्नता देश की राष्ट्रीयता में बाधक न बन सके। पर इसकी ओर न स्वाधीनता-संघर्षों के संचालकों ने ध्यान दिया, और न राजा राममोहन राय आदि उन सुधारकों ने, जो कि उन्नीसवीं सदी में नवजागरण के अग्रदूत थे, और जिन द्वारा इस देश के धर्म तथा समाज में सुधार का प्रयत्न किया जा रहा था।

राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए कतिपय परिस्थितियों का होना आवश्यक है। जिस देश के निवासी अज्ञान और अन्धविश्वासों से ग्रस्त हों, जिनमें सामाजिक कुरीतियाँ बद्धमूल हों, जिसके नेता व प्रमुख व्यक्ति दुश्चरित्र व विषयासक्त हों, जिसकी सर्व-साधारण जनता अत्यधिक निर्धनता तथा हीन सामाजिक स्थिति के कारण आत्म-गौरव से सर्वथा शून्य हो चुकी हो और जहाँ के लोगों में अपनी संस्कृति, साहित्य तथा परम्पराओं के प्रति हीन भावना उत्पन्न हो गयी हो, उसके लिए राष्ट्रीय स्वाधीनता का स्वप्न लेना निरर्थक है। पाश्चात्य संसार के लोग जो पराधीनता की जंजीरों को तोड़कर अपने स्वाधीन राष्ट्रीय राज्य स्थापित कर सकने में समर्थ हुए, उसका प्रधान कारण वे आन्दोलन थे, जिनसे कि उनमें उपरिलिखित दोषों का निराकरण हुआ। यूरोप में राष्ट्रीय स्वाधीनता की स्थापना की इस प्रक्रिया पर अगले अध्याय में संक्षेप के साथ प्रकाश डाला गया है। जब तक भारत में भी इन दोषों को दूर नहीं किया गया, वह स्वाधीनता प्राप्त नहीं कर सका। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के स्वाधीनता-संघर्षों की विफलता का प्रधान कारण यही था कि उस समय तक इन दोषों व कमियों को दूर कर वे परिस्थितियाँ उत्पन्न नहीं की जा सकी थीं, जिनमें कि राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति सम्भव होती है। इस सम्बन्ध में जो कार्य महर्षि दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज ने किया, वह वस्तुतः अत्यन्त महत्त्व का है, और यथार्थ में वही भारत की स्वाधीनता में महर्षि तथा उनके अनुयायियों का महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व है।

(४) भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए महर्षि दयानन्द सरस्वती का पथ-प्रदर्शन

सन् १८५७ ई० के स्वाधीनता-संग्राम में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भाग लिया था या नहीं, इस प्रश्न पर मतभेद है। पर यह निर्विवाद है कि महर्षि ने इस संग्राम को

अपनी आँखों से देखा था। सन् १८५७ ई० में तथा उसके पश्चात् कई वर्षों तक वे उन्हीं प्रदेशों में विचरण करते रहे थे, जो स्वाधीनता-संग्राम के प्रधान क्षेत्र थे। महर्षि जैसे संवेदनशील तथा प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति पर सन् १८५७-५८ ई० की घटनाओं ने कोई प्रभाव न डाला हो, यह असम्भव है। इस काल में अंग्रेजों ने जिस बर्बरता से हिन्दू मन्दिरों को ध्वंस कर उनकी मूर्तियों को तोड़ा था, उसे देखकर जो दारुण वेदना और आक्रोश के भाव उनके मन में उत्पन्न हुए थे, वे उनके निम्नलिखित शब्दों से प्रकट हैं—"जब सम्वत् १९१४ (सन् १८५७ ई०) के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर की मूर्तियाँ अंग्रेजों ने उड़ा दी थीं तब मूर्ति कहाँ गयी थीं? प्रत्युत बाघेर लोगों ने जितनी वीरता दिखाई और लड़े, शत्रुओं को मारा, परन्तु मूर्ति मक्खी की टाँग भी नहीं तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता, तो इनके धुर्रे उड़ा देता और यह भागते फिरते। भला यह तो कहो जिसका रक्षक मार खावे, उसके शरणागत क्यों न पीटे जायें?" मूर्ति-पूजा के खण्डन के प्रसंग में महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश में अपने उस आक्रोश को भी स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर दिया है, जिसकी अनुभूति उन्हें अंग्रेजों द्वारा मन्दिरों व मूर्तियों को तोड़ते देखकर हुई थी। सन् १८५७-५८ के स्वाधीनता संग्राम को महर्षि ने केवल देखा ही नहीं, अपितु उसकी विफलता के कारणों का भी उन्होंने विवेचन किया। उन्होंने इस संग्राम में चाहे सक्रिय रूप से भाग न भी लिया हो (यद्यपि ज्ञात तथ्यों के अनुसार उनका भाग लेना प्रायः सुनिश्चित है) पर उनकी इससे सहानुभूति थी, और वे इसकी सफलता की कामना भी करते होंगे, यह तो सभी स्वीकार करेंगे। साधारण मनुष्य विफल हो जाने पर हिम्मत हार बैठते हैं, पर मनीषी व सशक्त व्यक्ति विफलता के कारणों पर विचार कर अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए पुनः प्रयत्न प्रारम्भ कर देते हैं। यदि आवश्यकता समझें, तो अपनी कार्य-नीति को परिवर्तित कर देने में भी वे संकोच नहीं करते। महर्षि दयानन्द सरस्वती उन व्यक्तियों में थे, जो स्वाधीनता-संग्राम की विफलता से निराश नहीं हुए, और विफलता के कारणों पर गम्भीरता से विचार कर उन्हें दूर करने तथा अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने प्रयत्न को जिन्होंने जारी रखा। महर्षि के इस प्रयत्न पर अगले अध्याय में प्रकाश डाला गया है।

तीसरा अध्याय

राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना का बीजारोपण

(१) राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय स्वाधीनता

जिन लोगों की नस्ल, भाषा, धर्म, रीति-रिवाज और ऐतिहासिक परम्पराएँ एक हों, उनमें यह प्रवृत्ति रहती है कि वे परस्पर मिलकर एक संगठन में संगठित हो जाएं। इसी प्रवृत्ति के कारण मनुष्य कबीलों के रूप मे संगठित हुए। जब कोई ऐसा जनसमूह, जिसकी भाषा, धर्म, नस्ल आदि एक हों, किसी निश्चित भूखण्ड पर बसकर अपने को एक शासन में संगठित कर लेता है, तब वह 'राष्ट्र' कहाने लगता है। इस प्रकार के जनसमूह (राष्ट्र) की यह स्वाभाविक आकांक्षा होती है कि वह अपनी पृथक् स्वतन्त्र सत्ता को कायम रखे, पड़ोसी राज्यों व किसी शक्तिशाली सम्राट् द्वारा अपनी पृथक् सत्ता व स्वतन्त्रता पर आँच न आने दे, और अपनी भाषा, धर्म तथा रीति-रिवाज को कायम रखे। इसी आकांक्षा से राष्ट्रीयता या राष्ट्रीय भावना का प्रादुर्भाव होता है। जो लोग नस्ल, भाषा, धर्म, रीति-रिवाज और ऐतिहासिक परम्पराओं के अनुसार एक हों, उनका अपना पृथक् राज्य होना चाहिये, और इस राज्य का शासन किसी बाह्य व्यक्ति व देश के अधीन न होकर उन लोगों के अपने हाथों में होना चाहिये, इसी भावना को 'राष्ट्रीयता' कहा जाता है।

पर मध्यकाल में राष्ट्रीयता की भावना के अनुसार राज्यों का निर्माण नहीं हुआ था। भारत आदि एशियाई देशों का तो प्रश्न ही क्या, यूरोप के बहुसंख्यक देश भी तब अनेक ऐसे राज्यों में विभक्त थे, जिनका आधार राष्ट्रीयता नहीं थी। आस्ट्रिया के हाप्सबुर्ग वंश के सम्राटों ने बहुत-से देशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया हुआ था, और यही दशा स्पेन के सम्राटों की थी। आस्ट्रिया के अतिरिक्त हंगरी, चेकोस्लावाकिया (बोहेमिया) और मोरेविया आदि), मिलान (उत्तरी इटली) और बेल्जियम हाप्सबुर्ग वंश के सम्राटों के अधीन थे (सन् १७१२)। स्पेन के साम्राज्य में भी नीदरलैण्ड सदृश अनेक देश अन्तर्गत थे। इटली और जर्मनी तब अनेक छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त थे। यद्यपि जर्मनी के लोग भाषा, धर्म, नस्ल, रीति-रिवाज आदि की दृष्टि से एक थे, पर उनमें राष्ट्रीयता की भावना का समुचित रूप से विकास नहीं हुआ था, और अपना एक राज्य न होने कारण उन्होंने राष्ट्र (जर्मन राष्ट्र) का रूप प्राप्त नहीं किया था। यही बात इटली के सम्बन्ध में भी थी। यद्यपि सत्रहवीं सदी तक फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन राष्ट्रीय राज्यों का रूप प्राप्त कर गये थे, पर पहले वहाँ भी राष्ट्रीय एकता का अभाव था।

अभिप्राय यह है कि मध्यकाल में न राष्ट्रीय भावना का भली-भाँति विकास हुआ था और न राज्यों का निर्माण ही राष्ट्रीयता के अनुसार था।

मध्यकाल में राज्यो के शासन का आधार सामन्त-पद्धति थी। उस समय के राज्य बहुत-सी जागीरों में विभक्त होते थे, जिनके स्वामी या शासक सामन्त कहाते थे। ये किसी शक्तिशाली राजा या सम्राट् की अधीनता स्वीकार करते थे, पर अपनी जागीर या राज्य या प्रदेश के पूरे स्वामी होते थे। अपने क्षेत्र (जागीर या राज्य) का शासन पूर्णतया इन्हीं की अधीनता में रहता था। राजा के साथ इनका यह सम्बन्ध रहता था कि जब राजा को आवश्यकता हो, वे अपने सैनिकों के साथ राजा की सहायता करें। कौन सामन्त कितने सैनिक लाये, यह रिवाज पर निर्भर था। इस सैनिक सहायता के अतिरिक्त ये सामन्त विशेष अवसरों पर राजा की सेवा में विविध उपहार भी भेंट किया करते थे। कोई निश्चित टैक्स इन्हें नहीं देने होते थे। जब तक ये राजा के विरुद्ध विद्रोह न करें, उसके प्रति अनुरक्त रहें, तब तक जागीर पर इनका व इनकी सन्तान का अधिकार रहता था। सामन्त लोग भी अपनी जागीर को अपने साथियों व सहायकों में बाँट देते थे। इस प्रकार सामन्तों के भी सामन्त होते थे। उनका सम्बन्ध अपने स्वामी से ठीक उसी प्रकार का होता था, जैसा कि बड़े सामन्त का अपने राजा से। सामन्त-पद्धति एक पिरामिड के समान थी, जिसमें सबसे ऊपर एक प्रतापी राजा, राजाधिराज या सम्राट् होता था, उसके नीचे कुछ बड़े-बड़े सामन्त, उनके नीचे बहुत-से राव-राजा और सबसे नीचे अनगिनत जागीरदार या ठाकुर होते थे। सर्वसाधारण जनता (किसान, कारीगर, दुकानदार आदि) का सम्बन्ध अपने क्षेत्र (जागीर) के सामन्त के साथ होता था, राजा या राजाधिराज से नहीं। उस समय राज्य-संस्था का स्वरूप ऐसा था कि राष्ट्रीय भावना की सत्ता सम्भव ही नहीं थी। ग्रामों में पंचायतें विद्यमान थीं, और ग्राम-सम्बन्धी सभी मामलों की व्यवस्था पंचायतों द्वारा ही की जाती थी। किसानों से भूमिकर (मालगुजारी) भी यही वसूल करती थीं, और ये ही अपने क्षेत्र के सामन्त को प्रदान किया करती थीं। इस दशा में सर्वसाधारण लोगों को इस बात से कोई विशेष वास्ता नहीं होता था कि देश का शासन किसके हाथों में है, राजाधिराज (सम्राट्, सुलतान या बादशाह) किस नस्ल या जाति का है, किस धर्म का अनुयायी है, और कौन-सी भाषा बोलने वाला है। जो प्रतापी व्यक्ति देश के जागीरदारों (सामन्तों) को अपना वशवर्ती बनाकर 'प्रणतसामन्त' हो जाय, या पूर्ववर्ती जागीरदारों को विनष्ट कर नये सामन्त बनाने में समर्थ हो जाए, वही देश का राजाधिराज बन जाता था। प्राचीन भारत के गुप्तवंशी राजा, पूर्व-मध्यकाल के गुर्जर-प्रतिहार और पालवंशी राजा तथा मध्य युग के तुर्क-अफगान सुलतान व मुगल बादशाह इसी प्रकार के राजाधिराज थे। देश पर उनका सीधा शासन नहीं था। उनके अधीन कितने ही बड़े सामन्त राजाओं की सत्ता थी, जो उनके प्रभुत्व को स्वीकार करते थे। जोधपुर, जयपुर, बीकानेर आदि के राजपूत राजा अपने-अपने राज्य में स्वतन्त्र होते हुए भी मुगल बादशाहों की अधीनता स्वीकार करते थे, और इन प्रतापी राजपूत राजाओं के राज्य भी कितनी ही जागीरों में विभक्त थे, जो शक्तिशाली सामन्तों के अधीन थे।

सामन्त-पद्धति के समय में विविध सामन्त राजाओं में परस्पर संघर्ष चलता रहता था। सामन्त अपने अधिपति के विरुद्ध विद्रोह के लिए भी तत्पर रहते थे। राजाधिराज

की निर्बलता का लाभ उठाकर वे उसके प्रभुत्व के जुए को उतार फेंकने और अन्य सामन्तों को हराकर स्वयं राजाधिराज बन जाने के लिए संघर्ष करते रहते थे। इस दशा में सामन्त-पद्धति के युग में शान्ति व व्यवस्था कायम नहीं रह पाती थी। साथ ही, इस काल में राष्ट्रीयता की भावना का विकास भी सम्भव नहीं था। जब किसी देश के एक ही भाषा बोलने वाले, एक ही धर्म का अनुसरण करने वाले और एक ही नस्ल के लोग बहुत-से छोटे-बड़े सामन्तों के अधीन हों, और ये सामन्त परस्पर संघर्ष करने तथा अपनी शक्ति को बढ़ाने के प्रयोजन से दूसरों को दबाने में तत्पर हों, तो जनता में अपने को एक समझने या अपने को एक राष्ट्र का अंग मानने की प्रवृत्ति उत्पन्न ही कैसे हो सकती है। उस काल में यह सर्वथा सम्भव था कि स्पेन या आस्ट्रिया का कोई शक्तिशाली राजा अपनी सैन्य शक्ति का प्रयोग कर नीदरलैण्ड, बेल्जियम, चेकोस्लोवाकिया सदृश ऐसे देशों को भी जीत ले जिनके निवासी भाषा, नस्ल और धर्म आदि की दृष्टि से अपने देशवासियों से सर्वथा भिन्न हों, और इन विजित प्रदेशों को अनेक जागीरों में विभक्त कर अपने सहायक सेनापतियों में बाँट दे, या विजित प्रदेशों के ऐसे व्यक्तियों को ही वहाँ का शासन करने दे, जो उसकी अधीनता तथा प्रभुत्व को स्वीकृत करने के लिए उद्यत हों। मध्ययुग के बहुत-से राज्य इसी ढंग से सामन्त-पद्धति पर आधारित थे। धर्म, भाषा और नस्ल आदि की दृष्टि से न उनकी सम्पूर्ण प्रजा एक थी, और न शासन-वर्ग में ही एकानुभूति के वे तत्त्व विद्यमान थे। लोगों की भक्ति अपने क्षेत्र के सामन्त के प्रति होती थी। सामन्त की अपनी सेना होती थी, जिसके सैनिकों की भरती वह अपनी जागीर के लोगों में से किया करता था। सामन्त जिस राजा के विरुद्ध चाहे, इस सेना का प्रयोग कर सकता था। यदि मुगल या अफगान आक्रान्ता ने किसी राजपूत राजा पर आक्रमण किया हो, तो सामान्यतया उस राजा के अधीनस्थ सभी सामन्त आक्रान्ता के विरुद्ध अपने राजा की सहायता के लिए आ जाते थे। पर यह भी सम्भव था कि कोई सामन्त मुगल या अफगान आक्रमण को अपनी शक्ति बढ़ाने का उपयुक्त अवसर मानकर अपने अधिपति राजपूत राजा के विरुद्ध आक्रान्ता के पक्ष में लड़ने को उद्यत हो जाए। इस दशा में इस सामन्त की सेना के सैनिक भी अपने देश के राजपूत राजा के विरुद्ध लड़ने में कोई संकोच नहीं करते थे। यद्यपि आक्रान्ता धर्म, भाषा, नस्ल आदि की दृष्टि से उनसे सर्वथा भिन्न था, पर वे इस कारण उसके लिए अपना खून बहा देते थे, क्योंकि उनके स्वामी सामन्त ने उस आक्रान्ता का पक्ष लिया था। यथार्थ बात यह है, कि सामन्तपद्धति के उस युग में धर्म, भाषा आदि पर आधारित राष्ट्रीयता की भावना का प्रादुर्भाव ही नहीं हुआ था। सामन्तपद्धति की परिस्थितियों में यह सम्भव भी नहीं था कि राज्य के निर्माण का आधार राष्ट्रीयता की भावना हो। इस युग के विविध महत्त्वाकांक्षी राजा अपने वशवर्ती सामन्तों की सहायता से अपनी शक्ति व प्रभुत्व के क्षेत्र का विस्तार करने में तत्पर रहते थे। इन शक्तिशाली मध्यकालीन राजाओं के राज्य-क्षेत्र का आधार राष्ट्रीयता न होकर उनकी अपनी शक्ति तथा विविध सामन्तों को वशवर्ती एवं सहायक बना सकने की क्षमता ही होती थी।

ब्रिटिश शासन से पूर्व उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक भारत की भी यही दशा थी। अकबर और उसके उत्तराधिकारी भारत के बड़े भाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में समर्थ हुए थे। उन्होंने जिस राज्य या साम्राज्य का निर्माण किया था, उसका

आधार उनकी अपनी शक्ति ही थी। उनके प्रभुत्व को स्वीकार करने वाले सामन्तों की संख्या सैकड़ों में थी, और ये मुगल सम्राट् अपनी बुद्धिमत्ता एवं शक्ति द्वारा उन्हें अपना वशवर्ती व सहायक बना सकने में सफल हुए थे। पर औरंगजेब की हिन्दू-विरोधी नीति के कारण जब अनेक हिन्दू सामन्त राजा उसके विरुद्ध हो गये, तो मुगल साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लग गयी, और उसके राज्यक्षेत्र में निरन्तर कमी आती गई। मराठों का राज्यक्षेत्र केवल महाराष्ट्र तक ही सीमित नहीं था, पेशवाओं की शक्ति और योग्यता के अनुसार उनका आकार घटता-बढ़ता रहता था। बाजीराव सदृश प्रतापी पेशवा तो उत्तरी भारत के भी बड़े भाग को मराठा साम्राज्य के अन्तर्गत करने में समर्थ हो गया था, पर इस मराठा राज्य का आधार भी राष्ट्रीयता नहीं थी। यही बात राजा रणजीत सिंह के सिक्ख राज्य के सम्बन्ध में भी सत्य है। अंग्रेजों ने भारत में जिस विशाल साम्राज्य का निर्माण किया था, उसका आधार उनकी शक्ति व नीति-निपुणता ही थी, राष्ट्रीयता नहीं। अंग्रेज कुमायूं के राजा को जीतकर अपने अधीन करने में समर्थ हुए थे, पर नेपाल के राजा को नहीं। धर्म, भाषा, नस्ल आदि की दृष्टि से नेपाल और कुमायूं व गढ़वाल में विशेष भेद नहीं है। जो नेपाल भारत का अंग नहीं बन सका, उसका कारण राष्ट्रीय रूप से उसकी भिन्नता न होकर वे परिस्थितियाँ थीं, जिनमें अंग्रेजों ने उसे जीतकर अपने अधीन न करना ही समुचित समझा। यही बात अफगानिस्तान के सम्बन्ध में भी हुई। अंग्रेजों ने उत्तर-पश्चिमी भारत के उस सीमावर्ती प्रदेश को जीतकर अपने भारतीय राज्य के अन्तर्गत कर लिया, जिसमें अफगान या पठान लोगों का निवास है। इस सीमाप्रान्त और अफगानिस्तान में राष्ट्रीयता व संस्कृति की दृष्टि से कोई भी भेद नहीं है। पर ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण ब्रिटिश युग में अफगानिस्तान एक पृथक् व स्वतन्त्र राज्य रहा, जबकि उसके साथ लगा हुआ पठानों का अन्य प्रदेश ब्रिटिश भारत का अंग बन गया।

विश्व के आधुनिक राज्यों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उनका आधार राष्ट्रीयता की भावना है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति (सन् १७८९) ने जिन नई प्रवृत्तियों को जन्म दिया था, राष्ट्रीयता की भावना उनमें प्रमुख थी। जो लोग धर्म, भाषा, नस्ल, संस्कृति, रीति-रिवाज और ऐतिहासिक परम्परा की दृष्टि से एक हों, उनका अपना पृथक् राज्य होना चाहिये, और इस राज्य में किसी एक स्वेच्छाचारी राजा का निरंकुश शासन न होकर सर्वसाधारण जनता का शासन होना चाहिये, यह सिद्धान्त फ्रांस की राज्यक्रान्ति की मुख्य देन है। धीरे-धीरे सब देशों ने इसे अपनाना शुरू कर दिया, और यूरोप के राज्यों का निर्माण राष्ट्रीयता के आधार पर होने लगा। पर बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक यूरोप में भी यह सिद्धान्त पूर्ण रूप से क्रियान्वित नहीं हो पाया था। प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) तक यूरोप में चेक, स्लोवाक, पोल, स्लाव, आयरिश आदि कितनी ही ऐसी राष्ट्रीयताओं की सत्ता थी, जिनके अपने राज्य नहीं थे। इनके प्रदेशों पर पड़ोस के शक्तिशाली राजाओं का शासन था। पर फ्रांस की राज्यक्रान्ति द्वारा प्रादुर्भूत प्रवृत्तियों के कारण इनमें यह भावना उत्पन्न हो चुकी थी कि हमारा अपना पृथक् राज्य होना चाहिये और इस भावना को क्रियान्वित करने के लिए उन्होंने संघर्ष भी प्रारम्भ कर दिये थे।

भारत अब एक राष्ट्र या राष्ट्रीय राज्य है। सन् १९४७ में यह इस स्थिति को

प्राप्त करने में समर्थ हुआ। यूरोप के कितने ही राज्यों को राष्ट्र या राष्ट्रीय राज्य की स्थिति को प्राप्त हुए अभी केवल २५-३० वर्ष ही हुए थे। एशिया और अफ्रीका के तो कितने ही देश ऐसे हैं, जिन्हें राष्ट्र की स्थिति भारत के भी बाद प्राप्त हुई। आज भी कतिपय देश ऐसे हैं, जिनके निवासी अपना पृथक् राज्य नहीं बना सके हैं। राष्ट्रीयता की भावना तो उनमें विकसित हो चुकी है, पर उसे राष्ट्र के रूप में अभिव्यक्त कर सकने में अभी वे समर्थ नहीं हुए हैं।

इस प्रकरण में राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय स्वाधीनता के सम्बन्ध में जो विवेचन किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता के आधार पर निर्मित राज्यों की मध्य-काल में तो सत्ता थी ही नहीं, और आधुनिक युग में भी उनका निर्माण धीरे-धीरे हुआ। यूरोप तक में बीसवीं सदी के प्रारम्भ में भी बहुत-से ऐसे राज्य विद्यमान थे, जिनका आधार राष्ट्रीयता नहीं थी। साथ ही, ऐसे राज्य भी उस समय अधिक नहीं थे, जिनमें लोकतन्त्र-शासनों की सत्ता हो। वस्तुतः, राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय स्वाधीनता के विचार फ्रांस की राज्यक्रान्ति द्वारा प्रादुर्भूत प्रवृत्तियों के परिणाम हैं, और आधुनिक युग के राज्यों की ये अनुपम विशेषताएँ हैं।

संसार के इतिहास में मध्य युग को अन्धकार का काल कहा जाता है। इस काल में सर्वसाधारण जनता स्वशासन के अधिकार एवं राजनैतिक स्वतन्त्रता से वंचित तो थी ही, पर साथ ही धर्म की दृष्टि से भी वह पराधीन थी। यूरोप के क्रिश्चियन लोग चर्च के आदेशों का पालन करने के लिए विवश थे, और उनके विश्वास एवं आचरण—सब चर्च द्वारा नियन्त्रित थे। धर्म के मामलों में भी मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं कर सकते थे। उस युग की जनता में तरह-तरह के अन्ध-विश्वास प्रचलित थे। बीमारी का इलाज दवाई से कराना अनुचित समझा जाता था। लोगों का विचार था कि रोग ईश्वर के कोप के परिणाम होते हैं। अतः उनके निवारण का उपाय केवल पूजा व प्रार्थना है। विज्ञान का उस समय अभाव था। लोग समझते थे—पृथिवी स्थिर है, सूर्य उसके चारों ओर घूमता है; जमीन गोल नहीं, अपितु चपटी है। उस समय न बुद्धि-स्वातन्त्र्य था, और न परीक्षणों द्वारा वैज्ञानिक तथ्यों का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा। विद्वान् लोग सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए युक्ति व तर्क का सहारा न लेकर प्रमाणवाद पर निर्भर रहा करते थे। यूरोप में जो अन्धकार-काल का अन्त होकर नवयुग का प्रारम्भ हुआ, उसमें उन चिन्तकों का प्रमुख कर्तृत्व था, जिन्होंने कि प्रमाणवाद के विरुद्ध आवाज उठाई, और लोगों को बुद्धि का प्रयोग कर सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए प्रेरित किया। बेकन, देकार्त आदि ऐसे ही विचारक यूरोप में हुए। बेकन का कहना था कि सत्य तक पहुँचने के लिए हमें प्रमाणवाद का परि-त्याग कर अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिये। देकार्त का मन्तव्य था कि वैज्ञानिक तथ्यों के ज्ञान के लिए हमें प्राचीन ग्रन्थों का आश्रय न लेकर निरीक्षण और परीक्षण द्वारा उनका पता करना चाहिये। कोपर्निकस (१४७२-१५४३) और गेलीलियो (१५६४-१६४२) सदृश अनेक विद्वानों ने खगोल-विषयक ऐसे मन्तव्यों का प्रतिपादन किया, जो उस युग के धार्मिक विश्वासों के विपरीत थे। उस समय के क्रिश्चियन पादरी इन्हें धर्म-द्रोही और काफिर समझते थे। इन्हें चर्च ने कठोर दण्ड दिये, और गेलीलियो को तो जीते जी आग में जला दिया गया। पर चर्च के इन अत्याचारों के बावजूद बुद्धि-स्वातन्त्र्य

और वैज्ञानिक खोज की प्रवृत्ति जोर पकड़ती गई। यह प्रवृत्ति यूरोप के पुनर्जागरण और नवयुग के सूत्रपात में बहुत सहायक हुई।

अज्ञान और अन्धविश्वासरूपी अन्धकार का अन्त होकर जब यूरोप में नवयुग का प्रकाश फैलने लगा, तो वहाँ के विचारशील लोगों ने यह भी सोचना प्रारम्भ किया, कि देश में किसी वंशक्रमानुगत राजा का स्वेच्छाचारी व निरंकुश शासन उचित नहीं है और वहाँ जनता का शासन स्थापित होना चाहिए। फ्रांस में जो बूर्बो राजवंश के निरंकुश शासन के विरुद्ध क्रान्ति हुई, उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण क्रान्ति की वह भावना थी जिसका प्रादुर्भाव वहाँ के प्रगतिशील विचारकों द्वारा किया गया था। वहाँ मांतेस्क्यू, वाल्तेयर और रूसो सदृश अनेक ऐसे चिन्तक हुए, जिन्होंने राज्यसंस्था के सम्बन्ध में नये विचारों का प्रतिपादन किया। रूसो का कहना था कि राज्य में जनता की इच्छा ही सर्वोपरि है, सरकार की न्याय्यता जनता की इच्छा पर ही आश्रित है। मांतेस्क्यू का मत था कि राज्य किसी दैवी विधान की कृति नहीं है, वह इतिहास की उपज है और घटनाओं के एक ढंग से विकास के कारण राज्यसंस्था का प्रादुर्भाव हुआ है। ये और इस प्रकार के विचार थे, जिन्होंने सर्वसाधारण जनता में राजाओं के एकतन्त्र शासन के विरुद्ध विद्रोह की भावना को विकसित किया, और वह लोकतन्त्र-शासनों की स्थापना के लिए कटिबद्ध हो गयी।

लोकतन्त्रवाद और क्रान्ति की भावना के प्रसार के साथ ही इस विचार का भी प्रादुर्भाव हुआ कि यदि एक धर्म, एक भाषा, एक नस्ल, एक संस्कृति और एक ऐतिहासिक परम्परा के लोगों को अपना पृथक् राज्य बनाने का अधिकार है, तो इस राज्य (राष्ट्र) को सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न भी होना चाहिए। इस पर किसी अन्य देश या विदेशी राजा का शासन सर्वथा अनुचित है। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध तक यूरोप के बहुत बड़े क्षेत्र में ऐसे राज्य विद्यमान थे, जो राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुरूप नहीं थे। जर्मनी और इटली जैसे पाश्चात्य यूरोप के देश भी तब अनेक छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त थे, यद्यपि उनमें राष्ट्रीय एकता की स्थापना के लिए आन्दोलन चल रहे थे। पूर्वी यूरोप के देशों पर आस्ट्रिया और तुर्की के सम्राटों का शासन था। अभी न इनमें राष्ट्रीयता की भावना ही समुचित रूप से विकसित हुई थी, और न राष्ट्रीय स्वाधीनता की ही। पर नये युग की वे प्रवृत्तियाँ सर्वत्र बल पकड़ने लग गयी थीं, जिनका प्रादुर्भाव फ्रांस की राज्यक्रान्ति द्वारा हुआ था। इसी का यह परिणाम हुआ कि प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८ ईसवी) के बाद यूरोप की प्रायः सभी राष्ट्रीयताओं ने पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त कर अपने सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों का निर्माण कर लिया, और द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५ ई०) की समाप्ति पर एशिया और अफ्रीका में भी सर्वत्र राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना प्रारम्भ हो गयी। भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता भी इसी विश्वव्यापी प्रवृत्ति का एक अंग थी। राष्ट्रीय भावना के विकास में जो तत्त्व यूरोप में सहायक हुए, उन्होंने ही भारत में भी राष्ट्रीयता को उत्पन्न किया और इस देश को इस योग्य बनाया कि अंग्रेजों के विदेशी शासन का अन्त कर स्वाधीनता प्राप्त कर सके और अपनी राष्ट्रीय विशेषताओं के अनुरूप स्वतन्त्र भारतीय राष्ट्र का निर्माण करने में समर्थ हो। इस अध्याय में हमने यूरोप के इतिहास का जो उल्लेख किया है, उसका प्रयोजन इन तत्त्वों को ही प्रकाश में लाना था। मध्य युग के अन्धकार से निकलकर यूरोप जो प्रकाश में

आया और जो लोकतन्त्रवाद पर आधारित राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हुई, उसका प्रधान श्रेय उन सुधारकों एवं विचारकों को है जिन्होंने जनता में बद्धमूल अन्धविश्वास, धार्मिक पाखण्ड, अज्ञान और सामाजिक ऊँच-नीच व कुरीतियों को दूर कर सब राष्ट्रीयताओं के लिए स्वभाग्य-निर्णय के सिद्धान्त क्रियान्वित हो सकने के मार्ग को प्रशस्त किया। भारत में भी अनेक ऐसे सुधारक एवं प्रगतिशील विचारक हुए, जिनके प्रयत्न से यह देश भी मध्ययुग के अन्धकार से निकलकर प्रकाश की ओर अग्रसर हुआ, और यहाँ राष्ट्रीय भावना का प्रादुर्भाव होकर स्वराज्य की स्थापना हुई। महर्षि दयानन्द सरस्वती इन सुधारकों व विचारकों में मूर्धन्य थे।

(२) भारत में राष्ट्रीय स्वाधीनता के मार्ग में कण्टकों की सफाई

महर्षि दयानन्द सरस्वती विद्या के प्रचार को बहुत महत्त्व देते थे। इसीलिए आर्यसमाज के नियमों में भी उन्होंने एक नियम यह निर्धारित किया था—"अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।" मध्यकाल में स्त्रियों और शूद्रों के लिए विद्या पढ़ना निषिद्ध था। "स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्" यह उस युग का सर्वमान्य मन्तव्य था। पर महर्षि ने इसका विरोध किया, और विद्याप्राप्ति का अधिकार मनुष्यमात्र को है, यह मत प्रतिपादित किया। इसी कारण उन्होंने सबके लिए अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान किया। उनका कथन था—"इसमें राज-नियम और जाति-नियम होना चाहिए कि पाँचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़के और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवें; जो न भेजें वह दण्डनीय हों।" पाठशाला में विद्या-अध्ययन करते हुए सब विद्यार्थियों को एक-समान भोजन, वस्त्र, निवास और शिक्षा दी जानी चाहिए। महर्षि के शब्दों में—"सबको तुल्य वस्त्र, खान-पान, आसन दिये जायें, चाहे वह राजकुमार हो और चाहे दरिद्र की सन्तान।" महर्षि दयानन्द का यह मन्तव्य अत्यधिक प्रगतिशील व क्रान्तिकारी है। इसे क्रियान्वित करने का अभी तक आर्यसमाज द्वारा कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया है, यद्यपि बीसवीं सदी के प्रथम चरण में इस मन्तव्य के अनुरूप कतिपय शिक्षण-संस्थाएँ स्थापित अवश्य की गयी थीं। पर महर्षि का यह विचार भी कि बालक-बालिका, ब्राह्मण-शूद्र, स्त्री-पुरुष—सबको वेद पढ़ने और अन्य विद्याओं की शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है, इस युग के लिए कम क्रान्तिकारी नहीं था। मध्य युग में न केवल भारत में ही, अपितु यूरोप में भी बाइबल की शिक्षा केवल पुरोहित-वर्ग (पादरियों) तक सीमित थी। सर्वसाधारण क्रिश्चियन जनता स्वयं अपने धर्मग्रन्थों को नहीं पढ़ पाती थी। बाइबल तब यूरोप में लैटिन भाषा में ही उपलब्ध थी, अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन आदि भाषाओं में नहीं। इन लोकभाषाओं में बाइबल का अनुवाद करना तब उचित भी नहीं समझा जाता था। भारत में भी तब वेदशास्त्रों की शिक्षा प्राप्त करने का सर्वसाधारण लोगों को कोई भी अवसर नहीं था। सनातनी लोग तो यह मानते थे कि शूद्रों के लिए वेदमन्त्रों का सुनना भी निषिद्ध है। यदि कोई शूद्र वेदमन्त्र सुन ले तो उसके कान में पिघला हुआ सीसा डाल देना चाहिए, यह विधान करते हुए भी पौराणिक पण्डितों और धर्माचार्यों को संकोच नहीं था। उच्च वर्ग के लोगों में भी तब शिक्षा का बहुत कम प्रचार था। इस दशा में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदशास्त्रों के अध्ययन का मार्ग मनुष्यमात्र के लिए प्रशस्त कर एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

यूरोप के क्रिश्चियन धर्म में सुधारणा की जो प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई और जिसके परिणामस्वरूप अनेक प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ, उसका प्रधान श्रेय मार्टिन लूथर (१४८३-१५४६ ई०) को प्राप्त है। लूथर एक क्रिश्चियन भिक्षु था, और जर्मनी के विटनबर्ग विश्वविद्यालय में धर्मशास्त्र का प्रोफेसर था। क्रिश्चियन धर्मशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन करते हुए उसके मन में रोमन कैथोलिक चर्च के अनेक मन्तव्यों तथा ईसाई धर्मगुरु पोप के धर्मविषयक अधिकारों के सम्बन्ध में अनेक शंकाएँ उत्पन्न हुईं। उसने अपनी शंकाओं को जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया। साथ ही, उसने यह कहा कि क्राइस्ट की शिक्षाओं के प्रतिपादन का अधिकार केवल पोप तथा उसकी कौंसिल को ही नहीं है। प्रत्येक मनुष्य को अधिकार है कि वह बाइबल का स्वयं अध्ययन कर क्रिश्चिएनिटी की शिक्षाओं के सम्बन्ध में अपना मत स्वयं बना सके। अब तक बाइबल केवल लैटिन भाषा में ही उपलब्ध थी, जिसका ज्ञान केवल बड़े-बड़े विद्वानों को ही होती थी। लूथर ने जर्मन भाषा में बाइबल का अनुवाद किया, जिसके कारण जर्मनी के सर्वसाधारण ईसाई लोगों के लिए अपने धर्मग्रन्थ का अध्ययन करना और उसकी शिक्षाओं को जान सकना सुगम हो गया। बाद में अंग्रेजी, फ्रेंच आदि अन्य यूरोपियन भाषाओं में भी बाइबल के अनुवाद हुए, जिन द्वारा यूरोप में धार्मिक सुधारों के कार्य में बहुत सहायता मिली। सोलहवीं सदी तक जो दशा यूरोप में थी, वही भारत में उन्नीसवीं सदी के मध्य तक थी। वेदशास्त्र तब केवल संस्कृत में उपलब्ध थे। हिन्दी आदि जनसाधारण की भाषाओं में उनके अनुवाद नहीं हुए थे। संस्कृत के पण्डितों के लिए भी वेदों को समझ सकना सुगम नहीं था, क्योंकि वैदिक संस्कृत लौकिक संस्कृत भाषा से भिन्न है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदों का आर्य भाषा (हिन्दी) में भाष्य किया और ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका, सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थ हिन्दी में लिखे, जिनके कारण सर्वसाधारण लोगों के लिए वेद-शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर सकना सम्भव हो गया। सत्य सनातन आर्य-(हिन्दू)धर्म के क्या मन्तव्य हैं, क्या शिक्षाएँ हैं और क्या धर्म-अधर्म हैं, यह जानने के लिए अब लोगों को पण्डितवर्ग पर निर्भर करने की आवश्यकता नहीं रह गयी।

यूरोप में मध्यकाल के अन्धकार-युग का अन्त होकर नवजागरण का जो सूत्रपात हुआ, उसमें बुद्धि-स्वातन्त्र्य के आन्दोलन का कर्तृत्व महत्त्व का था। मानव-समाज तभी उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होता है, जब मनुष्य अन्धविश्वासों का परित्याग कर मौलिक रूप से स्वतन्त्र चिन्तन करने लगे, और अपनी बुद्धि का प्रयोग कर सत्य-असत्य का स्वयं निर्णय करने के लिए प्रवृत्त हो। सोलहवीं-सत्रहवीं सदियों में यूरोप में अनेक ऐसे विचारक उत्पन्न हुए, जिन्होंने अपने समय की मान्यताओं और विश्वासों के प्रति सन्देह व्यक्त किया, और लोगों को तर्क और बुद्धि द्वारा सचाई का पता करने के लिए प्रेरणा दी। ऐसा एक विचारक फ्रान्सिस बेकन(१५६१-१६२६ ई०) था। उसने यह प्रतिपादित किया कि प्रमाणवाद ने दर्शन और चिन्तन को ऐसी जंजीरों में जकड़ा हुआ है कि मनुष्य स्वतन्त्रता के साथ विचार कर ही नहीं सकते। परम्पराओं और रूढ़ियों का दास होकर मनुष्यों ने अपनी बुद्धि व तर्क का उपयोग करना बन्द कर दिया है। प्रमाणवाद एक महा-मारी के समान है। मनुष्य को चाहिए कि अपनी बुद्धि व तर्क का उपयोग कर सत्य का पता करे। इसी प्रकार के विचार रने दस्कार्ते (१५९६-१६५० ईसवी) और स्पिनोजा (१६३२-१६७७ ई०) आदि चिन्तकों द्वारा प्रतिपादित किये गये। यह स्वाभाविक था,

कि इन विचारों के कारण यूरोप के तत्कालीन धार्मिक मन्तव्यों के प्रति भी लोगों की आस्था में कमी आने लगी। दस्कार्ते का कथन था कि मध्यकाल के दार्शनिक मन्तव्यों का आधार ऐसे विचार हैं, जिन्हें बुद्धि व तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। तथ्य तक पहुँचने के लिए तर्क का आश्रय लिया जाना चाहिए। स्पिनोजा के अनुसार तर्क ही एक ऐसा साधन है, जिससे सत्य-असत्य का निर्णय कर सकना सम्भव है। प्रकृति के सब क्षेत्रों में ऐसे नियम काम कर रहे हैं, जो शाश्वत और अनुल्लंघनीय हैं। मनुष्यों के लिए आवश्यक है कि वे इन प्राकृतिक नियमों का परिज्ञान प्राप्त करें और उन्हीं के अनुसार कार्य करें। यूरोप में जो नवजागरण हुआ, उसमें बुद्धि-स्वातन्त्र्य के ये विचार अत्यन्त सहायक हुए। इन्हीं की विचारधारा का अनुसरण कर धर्म के सम्बन्ध में यह प्रतिपादित किया जाने लगा कि जैसे प्रकृति के अन्य क्षेत्रों में कतिपय शाश्वत नियम विद्यमान हैं, वैसे ही धर्म के क्षेत्र में भी हैं। अत: धर्म अन्धविश्वासों पर आश्रित नहीं हो सकता। मनुष्य बुद्धि और तर्क से धर्म के शाश्वत नियमों का पता कर सकता है, और उनका अनुसरण कर सुख की प्राप्ति कर सकता है। अठारहवीं सदी में वाल्तेयर (१६९४-१७७८ ई०) नामक एक विचारक फ्रांस में हुआ, जिसने तर्क पर आधारित धर्म का प्रबल रूप से समर्थन किया। उसका कथन था कि यूरोप में क्रिश्चियन चर्च ने मनुष्यों के मस्तिष्क को जिस ढंग से जकड़ा हुआ है, वह सर्वथा अनुचित है।

यूरोप में जो कार्य बेकन, दस्कार्ते, स्पिनोजा और वाल्तेयर सदृश विचारकों ने किया, वही भारत में महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा किया गया। उनका मन्तव्य था कि "सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।" और "सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य का विचार करके करने चाहियें।" महर्षि की दृष्टि में कौन-से कार्य समुचित हैं, और कौन-से कार्य 'धर्म के अनुसार' हैं, इसका निर्णय 'सत्य और असत्य के विचार' द्वारा किया जाना ही सम्भव है। बुद्धि-स्वातन्त्र्य के पक्षपाती यूरोपियन विचारक प्रमाणवाद के विरोधी थे। वे किसी बात को केवल इस कारण मानने को उद्यत नहीं थे, क्योंकि वह किसी धर्मग्रन्थ (बाइबल आदि) में लिखी है, या धर्माचार्य उसे सत्य बताते हैं। तर्क की कसौटी पर कसकर जो बात खरी उतरे, उसे ही वे स्वीकार्य मानते थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने बुद्धि और तर्क को समुचित महत्त्व देते हुए भी प्रमाणवाद का पूर्णरूप से विरोध नहीं किया, पर उन्होंने केवल चार वैदिक संहिताओं को प्रमाणरूप से स्वीकार किया, अन्य स्मृतियों, सूत्रग्रन्थों व ब्राह्मण आदि शास्त्रों को नहीं। ये ग्रन्थ भी उन्हें प्रमाणरूप से स्वीकार्य थे, पर उसी अंश तक जहाँ तक कि इनका वेदों से विरोध न हो। महर्षि से पहले पौराणिक पण्डित प्राय: सभी प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों को प्रमाण मानते थे। न केवल उपनिषदें, ब्राह्मणग्रन्थ, स्मृतियाँ और सूत्रग्रन्थ ही उनकी दृष्टि में प्रमाण थे, अपितु रामायण, महाभारत, पुराण आदि सभी को वे प्रमाणरूप से स्वीकार करते थे। संस्कृत का कोई भी श्लोक वे अपने पक्ष की पुष्टि में पेश कर दिया करते थे। इसका परिणाम यह था कि हिन्दू धर्म में बहुत-से ऐसे अन्धविश्वासों और मिथ्या मन्तव्यों का समावेश हो गया था, जो बुद्धि और तर्क के सर्वथा विपरीत थे। महर्षि ने तर्क द्वारा यह प्रतिपादित किया कि वेद ईश्वरकृत और स्वत:प्रमाण हैं। वेदों की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए उन्होंने जहाँ प्राचीन शास्त्रों के वचन उद्धृत किये, वहाँ साथ ही तर्क द्वारा भी उनके प्रामाण्य को सिद्ध किया।

सत्यार्थप्रकाश के सप्तम समुल्लास में उन्होंने वेदों की अपौरुषेयता और स्वतःप्रामाण्य पर विशद रूप से विचार किया है। मध्यकालीन यूरोप के प्रमाणवाद और महर्षि दयानन्द सरस्वती के प्रमाणवाद में मौलिक अन्तर यह है, कि क्रिश्चियन धर्माचार्य बाइबल की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए तर्क का आश्रय नहीं लेते थे। उनका मत था कि सबको इस धर्मग्रन्थ की प्रामाणिकता में विश्वास करना ही चाहिये, और साथ ही चर्च के आदेशों का पालन भी—चाहे वे कितने ही असंगत व तर्कविरुद्ध भी क्यों न हों। पर महर्षि ने केवल वेदों की प्रामाणिकता का प्रतिपादन किया, और वह भी तर्क द्वारा। पुराण आदि की प्रामाणिकता का खण्डन कर उन्होंने हिन्दुओं के मस्तिष्कों को प्रमाणवाद की जकड़ से स्वतन्त्र करने के सम्बन्ध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्नीसवीं सदी में भारत में बहुत-से मत-मतान्तर विद्यमान थे। क्रिश्चिएनिटी और इस्लाम के समान विदेशी धर्मों के अतिरिक्त हिन्दू धर्म में भी बहुत-से सम्प्रदायों की सत्ता थी, जिनके मन्तव्य न केवल परस्पर-विरोधी थे, अपितु विज्ञानसम्मत भी नहीं थे। महर्षि ने सत्यार्थ-प्रकाश के अन्तिम चार समुल्लासों में इन मत-मतान्तरों के मन्तव्यों का विवेचन कर सत्य-असत्य का निर्णय करने का प्रयत्न किया है। इन मतों में जो बातें असत्य थीं, उनका उन्होंने युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। यह करते हुए उनका क्या उद्देश्य था, यह महर्षि के इन शब्दों से स्पष्ट है—"जब तब मनुष्य जाति में परस्पर मिथ्या मत-मतान्तर का विरुद्धवाद न छूटेगा, तब तक अन्योऽन्य को आनन्द नहीं होगा। यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्या-द्वेष छोड़ सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना-कराना चाहें तो हमारे लिए यह बात असाध्य नहीं है।" "जब तक वादी-प्रतिवादी होकर प्रीति से वाद वा लेख न किया जाए, तब तक सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता।...इसलिए सत्य के जय और असत्य के क्षय के अर्थ मित्रता से वाद या लेख करना हमारी मनुष्य जाति का मुख्य काम है। यदि ऐसा न हो, तो मनुष्यों की उन्नति कभी न हो।" "यही सज्जनों की रीति है कि अपने या पराये दोषों को दोष और गुणों को गुण जानकर गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग करें।" इन्हीं विचारों को दृष्टि में रखकर महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश के अन्तिम चार समुल्लासों में बुद्धि, युक्ति और तर्क का आश्रय लेकर विविध मत-मतान्तरों के अनेक विश्वासों को असत्य एवं विज्ञान-विरुद्ध प्रतिपादित किया था। इन समुल्लासों में (विशेषतया अन्तिम तीन समुल्लासों में) सत्यासत्य के निर्णय के लिए महर्षि ने वेदों की प्रामाणिकता का सहारा न लेकर केवल तर्क एवं बुद्धि का प्रयोग किया। बौद्ध, जैन, क्रिश्चियन और मुसलिम सम्प्रदायों के अनेक मन्तव्यों का खण्डन करते हुए उन्होंने यह नहीं कहा कि ये मन्तव्य वेदविरुद्ध हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इन मन्तव्यों को इसी आधार पर अस्वीकार्य माना, क्योंकि ये तर्क की कसौटी पर खरे नहीं उतरते, और विज्ञान के सर्वमान्य सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जहाँ तर्क द्वारा वेदों की प्रामाणिकता प्रतिपादित की, और सत्यासत्य के निर्णय के लिए उनका सहारा लिया, वहाँ साथ ही तर्क की उस पद्धति को भी प्रतिपादित किया, जिस द्वारा यथार्थ तथ्य का परिज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। सत्य की परीक्षा के साधनों का निरूपण करते हुए उन्होंने एक साधन यह भी लिखा है—"जो-जो सृष्टिक्रम के अनुकूल वह-वह सत्य और जो-जो सृष्टिक्रम के विरुद्ध

है वह असत्य है। जैसे कोई कहे 'बिना माता-पिता के योग के लड़का उत्पन्न हुआ' ऐसा कहना सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने से सर्वथा असत्य है।" सृष्टिक्रम से महर्षि को सृष्टि या प्रकृति के वे शाश्वत नियम ही अभिप्रेत थे, जिनका अतिक्रमण सम्भव ही नहीं है। इन शाश्वत नियमों का परिज्ञान बुद्धि और तर्क से ही सम्भव है। न्यायशास्त्र के प्रथम और द्वितीय अध्यायों में प्रत्यक्ष, अनुमान आदि जिन आठ प्रमाणों का प्रतिपादन किया गया है, महर्षि ने उन्हें भी सत्यासत्य के निर्णय के लिए सहायक स्वीकार किया है। न्यायशास्त्र के इन 'प्रमाणों' का अभिप्राय वह 'प्रमाणवाद' नहीं है, जिससे किसी बात को आँख मींचकर स्वीकार कर लिया जाता है। ज्ञान को प्राप्त करने के ये आठ विविध साधन हैं। इनमें एक प्रमाण 'शब्द' भी है। पर 'शब्द' के अभिप्राय को महर्षि ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"जो आप्त अर्थात् पूर्ण विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकारप्रिय, सत्यवादी, पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय पुरुष जैसा अपने आत्मा में जानता हो और जिससे सुख पाया हो, उसी के कथन की इच्छा से प्रेरित सब मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेष्टा हो अर्थात् जितने पृथिवी से ले के परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होकर उपदेष्टा होता है। जो ऐसे पुरुष और पूर्ण आप्त परमेश्वर के उपदेश हैं, उन्हीं को शब्द-प्रमाण मानो।" स्पष्ट है कि 'शब्द' प्रमाण से भी महर्षि को उन विद्वानों के उपदेश व कथन अभिप्रेत थे, जो सत्य के निरूपण में रत हों, और जिन्होंने पृथिवी से लेकर परमेश्वर तक सब सत्ताओं का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लिया हो।

उन्नीसवीं सदी में लोगों की जो बहुत-सी मान्यताएँ थीं, और जिन अनेक बातों पर वे विश्वास रखते थे, महर्षि ने युक्ति और तर्क द्वारा उनकी सचाई के सम्बन्ध में विवेचन किया, और बहुत-सी ऐसी बातों का खण्डन किया, जिन्हें उन्होंने तर्क से असत्य पाया। सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में महर्षि ने हिन्दू धर्म में प्रचलित बहुत-से अन्ध-विश्वासों पर विशद रूप से विचार किया है, और उन्हें असत्य पाकर उनका खण्डन किया है। उदाहरण के लिए सोमनाथ के मन्दिर की उस मूर्ति को लीजिये, जिसके विषय में लोगों का यह विश्वास था कि वह भूमि पर स्थित न होकर अधर में लटकी रहती थी। महर्षि ने यह प्रश्न उठाया—"देखो, सोमनाथ जो पृथिवी के ऊपर रहता था और बड़ा चमत्कार था, क्या यह भी मिथ्या बात है?" महर्षि ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया—"हाँ, मिथ्या है। सुनो! ऊपर-नीचे चुम्बक पाषाण लगा रक्खे थे; उसके आकर्षण से वह मूर्ति अधर खड़ी थी। जब महमूद गजनवी आकर लड़ा, तब यह चमत्कार हुआ कि उसका मन्दिर तोड़ा गया और पुजारी भक्तों की दुर्दशा हो गयी।" सोमनाथ के मन्दिर में मूर्ति के अधर में लटके रहने का कैसा विज्ञानसम्मत कारण महर्षि ने प्रतिपादित किया है! गंगा में स्नान करने से पापों का विनाश, ज्वालामुखी के मन्दिर में साक्षात् ज्वाला-देवी का प्रकट होना, विन्ध्याचल में विन्ध्येश्वरी देवी द्वारा प्रतिदिन तीन रूप बदलना आदि कितने ही अन्ध-विश्वास उस समय प्रचलित थे, जिनका महर्षि ने युक्तिपूर्वक निरा-करण किया। इसी प्रकार भूत-प्रेत के सम्बन्ध में जो मिथ्या विश्वास जनता में प्रचलित थे, उनको महर्षि ने इस ढंग से असत्य प्रतिपादित किया है—"जब कोई प्राणी मरता है तब उसका जीव पाप-पुण्य के वश होकर परमेश्वर की व्यवस्था से सुख-दुःख के फल भोगने अर्थ जन्मान्तर धारण करता है। क्या इस अविनाशी परमेश्वर की व्यवस्था को कोई भी नाश कर सकता है? अज्ञानी लोग वैद्यक शास्त्र या पदार्थ-विद्या के पढ़ने, सुनने

और विचार से रहित होकर सन्निपात ज्वरादि शारीरिक और उन्मादादि मानस रोगों का नाम भूत-प्रेतादि धरते हैं। उनका औषध-सेवन और पथ्यादि उचित व्यवहार न करके उन धूर्त, पाखण्डी, महामूर्ख, अनाचारी, स्वार्थी, भंगी, चमार, शूद्र, म्लेच्छादि पर भी विश्वासी होकर अनेक प्रकार के ढोंग, छल-कपट और उच्छिष्ट भोजन, डोरा, धागा आदि मिथ्या मन्त्र-यन्त्र बाँधते-बँधवाते फिरते हैं, अपने धन का नाश, सन्तान आदि की दुर्दशा और रोगों को बढ़ाकर दुःख देते फिरते हैं। जब आँख के अन्धे और गाँठ के पूरे उन दुर्बुद्धि पापी स्वार्थियों के पास जाकर पूछते हैं कि 'महाराज इस लड़का, लड़की, स्त्री और पुरुष को न जाने क्या हो गया है?' तब वे बोलते हैं कि इसके शरीर में बड़ा भूत, प्रेत, भैरव, शीतला आदि देवी आ गयी हैं, जब तक तुम इसका उपाय न करोगे तब तक ये न छूटेंगे और प्राण भी ले लेंगे। जो तुम मलीदा या इतनी भेंट दो तो मन्त्र-जप-पुरश्चरण से झाड़ के इनको निकाल दें। तब वे अन्धे और उनके सम्बन्धी बोलते हैं कि महाराज! चाहे हमारा सर्वस्व ले जाओ, परन्तु इनको अच्छा कर दीजिये। तब तो उनकी बन पड़ती है। वे धूर्त कहते हैं—अच्छा, लाओ इतनी सामग्री, इतनी दक्षिणा, देवता को भेंट और ग्रह-दान कराओ। झांझ, मृदंग, ढोल, थाली ले के उसके सामने गाते-बजाते और उनमें से एक पाखण्डी उन्मत्त होके नाच-कूद के कहता है—मैं इसका प्राण ही ले लूँगा। तब वे अन्धे उस भंगी, चमार आदि नीच के पगों में पड़ के कहते हैं—आप चाहे जो लीजिये, इसको बचाइये। तब वह धूर्त बोलता है, मैं हनुमान हूँ, लाओ पक्की मिठाई, तेल, सिन्दूर, सवा मन का रोट और लाल लंगोट। मैं देवी या भैरव हूँ। लाओ पाँच बोतल मद्य, बीस मुर्गा, पाँच बकरे, मिठाई और वस्त्र। जब वे कहते हैं कि जो चाहो सो लो। तब तो वह पागल बहुत नाचने-कूदने लगता है। परन्तु जो कोई बुद्धिमान् उसकी भेंट पाँच जूता, डण्डा या चपाटे-लातें मारे, तो उसके हनुमान, देवी और भैरव झट प्रसन्न होकर भाग जाते हैं, क्योंकि यह उनका केवल धनादि हरण करने के प्रयोजनार्थ ढंग है।" सत्यार्थप्रकाश से यह सुदीर्घ उद्धरण केवल यह प्रदर्शित करने के लिए दिया गया है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती को अन्धविश्वास और पाखण्ड से कितना विरोध था। उन्हें न ग्रह-फल पर विश्वास था, और न जन्मपत्री पर। उनका मन्तव्य था कि "जैसी यह पृथिवी जड़ है, वैसे ही सूर्यादि लोक हैं। वे ताप और प्रकाशादि से भिन्न कुछ भी नहीं कर सकते। क्या वे चेतन हैं, जो क्रोधित होके दुःख और शान्त होके सुख दे सकें?" सुख और दुःख को महर्षि ग्रहों का फल न मानकर पाप-पुण्य का फल मानते थे। जन्मपत्री बनवाकर मनुष्य के भाग्य का पता कर सकना उनकी दृष्टि में असम्भव था। तन्त्र-मन्त्र को वे ढोंग समझते थे। जो कोई मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि की लीला करते थे, महर्षि की दृष्टि में वे महापामर थे। ग्रह, नक्षत्र, जन्मपत्र, राशि, मुहूर्त आदि के फल के विधायक ग्रन्थों को महर्षि झूठ समझते थे, और उनके पढ़ने-पढ़ाने के वे विरुद्ध थे। क्योंकि वे युक्ति और तर्क द्वारा सृष्टि के मूलभूत नियमों का परिज्ञान प्राप्त करने को आवश्यक समझते थे, अतः उन्होंने पाठविधि में विज्ञानों को समुचित स्थान दिया। गणित, भूगोल, खगोल, भूगर्भ-विद्या, चिकित्साशास्त्र, राजधर्म, भौतिक विज्ञान आदि सभी ज्ञान-विज्ञानों का अध्ययन-अध्यापन उनकी दृष्टि में उपयोगी था। भारत की अवनति का एक बड़ा कारण यह था कि यहाँ के विद्वानों ने भौतिक ज्ञान-विज्ञान की सर्वथा उपेक्षा कर दी थी। इस देश में जो भी शिल्प था, वह उस वर्ग के हाथों

में था जो शिक्षित नहीं था। इसी कारण यहाँ नये वैज्ञानिक आविष्कारों का सिलसिला बन्द हो गया था, और शिल्प में भी भारत अन्य देशों की तुलना में पिछड़ने लग गया था। इस देश के विद्वानों, शिल्पियों और चिकित्सकों आदि में यह भी प्रवृत्ति थी कि वे अपने ज्ञान को अपने तक ही सीमित रखा करते थे उसे जनता तक पहुँचाना वे उचित नहीं समझते थे। पर महर्षि दयानन्द सरस्वती का कहना था कि "इस संसार के विद्वानों को चाहिये कि जो उन्होंने पुरुषार्थ से शिल्पक्रिया प्रत्यक्ष कर रक्खी हैं उनको सब मनुष्यों के लिए प्रकाशित करें कि जिससे बहुत मनुष्य शिल्पक्रियाओं को करके सुखी हों।" हिन्दू-समाज में शिल्पियों की स्थिति सम्मानास्पद नहीं थी। उन्हें नीची दृष्टि से देखा जाता था, और कतिपय शिल्पियों की गिनती तो शूद्रों में की जाती थी। पर महर्षि का मन्तव्य था कि "जो क्रियाकुशल शिल्पीजन ऐश्वर्य को प्राप्त हों वे सबको सत्कार करने योग्य हों। जैसे-जैसे विद्या आदि अच्छे गुण अधिक हों वैसे-वैसे अभिमानरहित हों।" भौतिक उन्नति एवं सांसारिक सुख के लिए महर्षि शिल्प तथा विज्ञान को प्रयुक्त करने में विश्वास रखते थे। दरिद्रता को वे एक दुःख मानते थे, और दारिद्र्यरूपी दुःख से छुटकारा पाने के लिए शिल्प, विज्ञान तथा उद्योगों का उनकी दृष्टि में बहुत महत्त्व था। उस समय के हिन्दू समुद्र-यात्रा को पाप माना करते थे। पर महर्षि के मत में देश की आर्थिक समृद्धि के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत उपयोगी है। उन्होंने लिखा है कि "क्या बिना देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में राज्य वा व्यापार किये स्वदेश की उन्नति कभी हो सकती है?" सत्यार्थप्रकाश के दसवें समुल्लास में उन्होंने प्रश्न उठाया कि "आर्यावर्त देश-वासियों का आर्यावर्त देश से भिन्न-भिन्न देशों में जाने से आचार नष्ट हो जाता है या नहीं?" और उसका उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया—"यह बात मिथ्या है। क्योंकि जो बाहर-भीतर की पवित्रता करनी, सत्यभाषाणादि आचरण करना है वह जहाँ कहीं रहेगा आचार और धर्मभ्रष्ट कभी न होगा।" इसके बाद श्रीकृष्ण और अर्जुन के पाताल देश जाने और पाण्डवों की यात्रा का उल्लेख कर महर्षि ने लिखा है—"आर्यावर्तदेशीय लोग व्यापार, राजकार्य और भ्रमण के लिए सब भूगोल में घूमते थे, और जो आजकल छूत-छात और धर्मभ्रष्ट होने की शंका है वह केवल मूर्खों के बहकावे और अज्ञान बढ़ने से है। जो मनुष्य देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में जाने-आने में शंका नहीं करते, वे देश-देशान्तर के अनेकविध मनुष्यों के समागम, रीति-भाँति देखने, अपना राज्य और व्यवहार बढ़ाने में निर्भय शूरवीर होने लगते हैं और अच्छे व्यवहार का ग्रहण बुरी बातों को छोड़ने में तत्पर होके, बड़े ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं।...पाखण्डी लोग यह समझते हैं कि जो हम इनको विद्या पढ़ावेंगे और देश-देशान्तर में जाने की आज्ञा देवेंगे तो ये बुद्धि-मान् होकर हमारे पाखण्ड-जाल में न फँसने से हमारी प्रतिष्ठा और जीविका नष्ट हो जावेगी। इसीलिए भोजन-छादन में बखेड़ा डालते हैं कि वे दूसरे देश में न जा सकें।" यूरोप की आधुनिक उन्नति का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि वहाँ के साहसी मल्लाहों ने महासमुद्रों को पार कर अन्य देशों में जाना-आना प्रारम्भ किया था, और इस प्रकार व्यापार के नये क्षेत्र प्राप्त करने में वे सफल हुए थे। प्राचीन समय में भारत के आर्य लोग भी दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा पश्चिम के देशों में दूर-दूर तक समुद्र-मार्ग से यात्राएँ किया करते थे, और न केवल व्यापार द्वारा धन कमाते थे, अपितु वहाँ अपनी बस्तियाँ भी बसाते थे। पर मध्यकाल में यह परम्परा बन्द हो गयी थी, और लोग

विदेश-यात्रा को पाप तक समझने लगे थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस दकियानूसीपन के विरुद्ध आवाज उठाई, और स्वयं भी पण्डित श्यामजी कृष्ण वर्मा सदृश अपने शिष्य को विदेश जाने की प्रेरणा दी।

समाज में जात-पाँत, ऊँच-नीच और छूत-अछूत के भेद को मिटाने के लिए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जो प्रयत्न किये, उनका विशद रूप से उल्लेख इस 'इतिहास' के प्रथम भाग में किया जा चुका है। मध्य युग में यूरोप का समाज भी अनेक वर्गों में विभक्त था। ये वर्ग निम्नलिखित थे—कुलीन, पादरी, किसान (स्वतन्त्र और अर्धदास), मध्य श्रेणी और मजदूर। विभिन्न वर्गों के लोगों में केवल अमीर और गरीब का ही भेद नहीं था, अपितु उनके अधिकार और स्थिति आदि में भी अन्तर था। कुलीन वर्ग के लोग समाज में सर्वोच्च स्थान रखते थे। इन्हें अनेक ऐसे विशेषाधिकार प्राप्त थे, जो सर्व-साधारण जनता को प्राप्त नहीं थे। पादरी लोग दो प्रकार के थे—उच्च स्थिति के पादरी और साधारण भिक्षु (Monk)। इस युग में क्रिश्चियन चर्च के पास अपार सम्पत्ति थी और उसके बड़े पदाधिकारी आर्कबिशप, कार्डिनल, बिशप और एबट बड़े कुलीन जागीरदारों के समान सुख-वैभव का जीवन बिताया करते थे। छोटे पादरी चर्च के इन महन्तों की तुलना में अत्यन्त हीन स्थिति रखते थे। व्यापारियों के रूप में एक मध्य श्रेणी भी इस समय यूरोप में विकसित हो गयी थी। इस श्रेणी के लोग सम्पन्न होते हुए भी सामाजिक दृष्टि से उच्च स्थिति नहीं रखते थे। मजदूरवर्ग के लोग शिल्पी व कारीगर थे। जनता का सबसे बड़ा भाग किसानों का था। स्वतन्त्र किसानों की तुलना में अर्धदासों की संख्या बहुत अधिक थी। अर्धदास जागीरदार की जमीन पर बिना कोई उजरत लिये खेती किया करते थे। पारिश्रमिक के रूप में उन्हें थोड़ी-सी जमीन दे दी जाती थी, जिस पर खेती करके वे अपना व अपने परिवार का पालन-पोषण कर सकते थे। सामाजिक समता की भावना ही तब यूरोप में उत्पन्न नहीं हुई थी। नवजागरण की प्रवृत्ति के कारण इस दशा में परिवर्तन आया, और यूरोप के लिए उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो सकना सम्भव हो गया। अठारहवीं सदी तक भारत की सामाजिक दशा और भी अधिक बुरी और शोचनीय थी। जनता का एक अच्छा बड़ा भाग अछूत माना जाता था। इस वर्ग के लोगों को मानवता के न्यूनतम अधिकार भी प्राप्त नहीं थे। न इनके लिए पढ़-लिख सकना सम्भव था और न सम्मानपूर्वक रह सकना। गाँव या नगर के कुओं व जलाशयों से ये पानी तक नहीं भर सकते थे। न इनके पास खेती के लिए भूमि होती थी, और न कोई रोजगार कर सकने के लिए पूँजी। शिल्पियों व कारीगरों को भी नीची दृष्टि से देखा जाता था। जुलाहे, कुम्हार, बढ़ई, लुहार आदि कारीगरों को समाज में सम्मानित स्थिति प्राप्त नहीं थी। भूमि पर जागीरदारों व जमींदारों का स्वत्व था, और किसान भूमि के मालिक न होकर जमींदारों की इच्छा व कृपा पर खेती के लिए जमीन प्राप्त किया करते थे। पुरानी क्षत्रिय श्रेणी भी विदेशी शासन में पंगु हो गयी थी। वेदशास्त्रों के पठन-पाठन का अधिकार केवल ब्राह्मणों को था, पर बहुसंख्यक ब्राह्मण भी निरक्षर थे। जब किसी देश की जनता की यह दशा हो, तो यदि उसे विदेशियों द्वारा पराधीन बना लिया जाए, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है! जब तक इस दशा में सुधार न कर लिया जाए, देश की स्वाधीनता का स्वप्न भी लेना व्यर्थ था। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इसी कारण समाज-सुधार और सामाजिक कुरीतियों के निवारण पर

ध्यान दिया। उन्होंने जात-पाँत, छुआछूत और नीच-ऊँच के भेदभाव के विरुद्ध आवाज उठाई और यह प्रतिपादित किया कि चातुर्वर्ण्य (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) का आधार जन्म न होकर गुण व कर्म हैं। ब्राह्मण माता-पिता की सन्तान होने के कारण ही किसी व्यक्ति को ब्राह्मण नहीं माना जा सकता। कोई व्यक्ति ब्राह्मण तभी होगा, जब वह सुशिक्षित, सदाचारी और धार्मिक जीवन बिताने वाला हो, और जो अध्ययन-अध्यापन, पौरोहित्य आदि द्वारा जीवनयापन करता हो। इसी प्रकार वे उस व्यक्ति को शूद्र मानते थे, जो शिक्षा पाने के सब अवसर प्राप्त होने पर भी विद्यारहित रह गया हो, विज्ञान-सम्बन्धी (शिल्प, कारीगरी आदि) कार्य करने की भी जिसमें योग्यता न हो, किन्तु जो शरीर से सब काम कर सके। क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में भी उन्हीं लोगों के अन्तर्गत करने की शिक्षा महर्षि ने प्रदान की, जिनमें इन वर्णों के कार्यों के लिए आवश्यक योग्यता विद्यमान हो। महर्षि के ये मन्तव्य अत्यन्त क्रान्तिकारी व प्रगतिशील थे। आर्यसमाज ने इन्हें क्रियान्वित करने का प्रयत्न किया, जिसके परिणामस्वरूप जात-पाँत और छुआछूत के भेदभाव में शिथिलता आने लगी। अछूतों व शूद्रों को भी विद्या पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ, और सामाजिक जीवन में एक नयी स्फूर्ति व साम्य की भावना का संचार होने लगा।

बाल-विवाह, अनमेल विवाह और बहुविवाह के विरुद्ध भी महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आवाज उठाई। ये प्रथाएँ न केवल व्यक्तियों के लिए ही हानिकारक थीं, अपितु देश की जनता में भी इनके कारण निर्बलता आती जाती थी। बाल्यावस्था में विवाह का यह परिणाम था कि ब्रह्मचर्य के अभाव में युवकों और युवतियों की शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों का समुचित विकास नहीं होने पाता था, और यह देश की उन्नति में बहुत बड़ी बाधा थी। महर्षि ने विधवा-विवाह का समर्थन किया। उन्होंने वृद्ध-विवाह, दहेज-प्रथा और मृतक-भोज सदृश सामाजिक बुराइयों का विरोध किया, और इन सब बातों का यह परिणाम हुआ कि देश में एक स्वस्थ तथा सबल समाज के निर्माण के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया। भारत की उन्नति तथा राष्ट्रीय स्वाधीनता के मार्ग में जो बाधाएँ थीं, महर्षि ने उन्हें पहचाना और उन्हें दूर करने में अपनी सब शक्ति लगा दी। समाज-सुधार के लिए उन्होंने जो प्रयत्न किया, स्वतन्त्र एवं प्रगतिशील भारत के निर्माण में वह बहुत सहायक सिद्ध हुआ।

(३) राष्ट्रीय गौरव एवं राष्ट्रीय एकता के लिए प्रयत्न

मध्य युग में राष्ट्रीयता की भावना का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। यही कारण है जो उस समय के राज्य राष्ट्रीयता पर आधारित नहीं थे। आस्ट्रिया और तुर्की सदृश राज्यों में अनेक राष्ट्रीयताओं की सत्ता थी, और जर्मनी तथा इटली के राष्ट्र अनेक राज्यों में विभक्त थे। मध्यकाल में जर्मनी में राज्यों की संख्या ३६० थी, जो बाद में कम होती गयी। पर उन्नीसवीं सदी के मध्य तक भी यह राष्ट्र ३८ राज्यों में विभक्त था। यद्यपि जर्मनी के इन सब राज्यों की भाषा, धर्म तथा संस्कृति एक-सदृश थी, पर वहाँ राजनैतिक एकता का अभाव था। यही दशा इटली की भी थी। इटालियन लोगों की भाषा, धर्म और संस्कृति आदि सब एक-समान थे, पर 'इटली' नाम से कोई एक राष्ट्र व राज्य नहीं था। वहाँ पीडमाण्ट, टस्कनी, जिनोआ, वेनिस, मोडेना, लोम्बार्डी

और परमा आदि अनेक राज्यों की सत्ता थी, जिनके कारण इटली में राजनैतिक एकता का अभाव था। यूरोप के राज्यों का राष्ट्रीयता के आधार पर किस प्रकार निर्माण हुआ, इसका वृत्तान्त यहाँ लिख सकना असम्भव है, और उसकी आवश्यकता भी नहीं है। जिन अनेक तत्त्वों के कारण जर्मनी और इटली आदि में राजनैतिक एकता स्थापित होकर उनके राष्ट्रीय राज्य बने, उनमें एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व इस तथ्य का बोध था कि जब भाषा, धर्म, संस्कृति, परम्परा आदि की दृष्टि से उनमें आधारभूत एकता की सत्ता है, तो उनका अपना एक पृथक् राज्य भी होना चाहिये। जर्मनी के विविध राज्यों के राजा जर्मनी की राष्ट्रीय एकता के विरोधी थे। पर जनता में राष्ट्रीयता की प्रवृत्तियाँ प्रबल होने लग गयी थीं। अनेक समितियाँ जर्मन राष्ट्र के निर्माण के लिये प्रयत्नशील थीं। जर्मनी के शिक्षणालयों में राष्ट्रीय एकता की चर्चा होती रहती थी, और विद्यार्थियों के दिमागों में नये विचार घर करने लगे थे। संगीत, कविता, व्याख्यान, नाटक तथा साहित्य द्वारा राष्ट्रीयता का विचार प्रचारित किया जा रहा था। इसी का यह परिणाम हुआ कि प्रिंस बिस्मार्क जर्मनी को एक सुसंगठित राष्ट्र का रूप दे सका। इटली में राष्ट्रीय एकता की स्थापना में नैपोलियन की विजयों से बहुत सहायता प्राप्त हुई थी। नैपोलियन ने इटली के विविध राज्यों को जीतकर एक 'इटालियन राज्य' की स्थापना की थी। इस विदेशी शासन से चाहे कितनी ही अन्य हानियाँ हुई हों, पर यह लाभ भी हुआ था कि इटालियन लोग यह भलीभाँति अनुभव करने लग गये थे कि हम सब एक देश के निवासी हैं, और हमें एक राष्ट्र में संगठित होना चाहिये। धर्म, भाषा, संस्कृति आदि की एकता इटली में पहले भी विद्यमान थी, पर देश के अनेक राज्यों में विभक्त होने के कारण इस एकता की राष्ट्र के रूप में अभिव्यक्ति नहीं हुई थी। जब नैपोलियन ने सम्पूर्ण इटली को जीतकर अपने अधीन कर लिया, और शासन के प्रयोजन से उसे एक राज्य का रूप दे दिया, तो इटालियन लोगों को अपने देश की राष्ट्रीय एकता का आभास होने लगा; और वे न केवल फ्रेंच साम्राज्य की अधीनता से मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील हुए, अपितु राजनैतिक एकता द्वारा एक सुसंगठित इटालियन राष्ट्र के निर्माण में भी उन्होंने सफलता प्राप्त की। इटली के लोगों में अपने प्राचीन गौरव की स्मृति अभी शेष थी। किसी समय विशाल रोमन साम्राज्य की स्थापना कर इटली ने सभ्य संसार के बहुत बड़े भाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। विद्या, विज्ञान, कला, संगीत, धर्म आदि सभी क्षेत्रों में इटली पाश्चात्य संसार का शिरोमणि था। इटालियन लोगों को अपने लुप्त गौरव का आभास कराया गया, जिससे उन्हें अपने देश की राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए बहुत प्रेरणा प्राप्त हुई।

मध्यकाल में भारत भी राजनैतिक दृष्टि से एक नहीं था। इस विशाल देश में बहुत-से छोटे-बड़े राज्यों की सत्ता थी। भारत की सांस्कृतिक परम्पराएँ एक अवश्य थीं, और इस देश के निवासियों में अपने एक होने का विचार भी विद्यमान था, पर राजनैतिक एकता के अभाव में भारत की सांस्कृतिक एकता राष्ट्र के रूप में अभिव्यक्त नहीं हो पायी थी। जब अंग्रेजों ने भारत को जीतकर यहाँ अपना शासन स्थापित कर लिया, तो उसे राजनैतिक दृष्टि से भी एक होने का अवसर मिला—ठीक उसी प्रकार से, जैसे कि नैपोलियन की विजयों के कारण इटली राजनैतिक रूप में एक हो गया था। पर भारत में राष्ट्रीय एकता की भावना के विकास और राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए

विदेशी शासन की सत्ता पर्याप्त नहीं थी। आवश्यकता इस बात की थी, कि इस देश की जनता में राष्ट्रीयता की भावना का संचार किया जाए, और साथ ही भारत के प्राचीन गौरव की ओर देशवासियों का ध्यान आकृष्ट कर उन्हें राष्ट्रीय पुनरुत्थान के लिए प्रेरणा प्रदान की जाए। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस महत्त्वपूर्ण बात की ओर ध्यान दिया, और देश में राष्ट्रीय गौरव तथा स्वाधीनता के लिए चेतना उत्पन्न की।

महर्षि दयानन्द सरस्वती को भारतभूमि से सच्चा प्रेम था। वे इस देश को 'आर्यावर्त' कहते थे, और इस देश के निवासियों को 'आर्य'। आर्यावर्त से उन्हें हिमालय से रामेश्वरम्-पर्यन्त यह सम्पूर्ण भारतभूमि अभिप्रेत थी। "उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पूर्व और पश्चिम में समुद्र तथा सरस्वती, पश्चिम में अटक नदी, पूर्व में दृषद्वती जो नेपाल के पूर्वभाग पहाड़ से निकल के बंगाल में असम के पूर्व और ब्रह्मा के पश्चिम ओर होकर दक्षिण में समुद्र से मिली है जिसको ब्रह्मपुत्र कहते हैं और जो उत्तर के पहाडों से निकलकर दक्षिण के समुद्र की खाड़ी में मिली है। हिमालय की मध्य रेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वरम्-पर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने देश हैं, उनको आर्यावर्त कहते हैं।" उनका मन्तव्य था कि "आर्यावर्त देश इस भूमि का नाम इसलिए है कि इसमें आदिसृष्टि से आर्य लोग निवास करते हैं।" उनके विचार में आर्य किसी नस्ल, जाति या धर्म की संज्ञा न होकर इस देश के निवासियों (ऐसे निवासी जिनके पूर्वज सृष्टि के आदि से यहाँ बसते आये हैं) का नाम था। 'आर्यों' की भाषा को उन्होंने 'आर्य भाषा' की संज्ञा दी थी। वे चाहते थे कि भारत की राष्ट्रीय एकता को आर्य जाति, आर्य भाषा और आर्यावर्त द्वारा एक ठोस आधार प्राप्त हो सके। जिस देश में बंगाल, पंजाब, कश्मीर, गुजरात आदि अनेक प्रदेश हों, उनकी बंगाली, पंजाबी आदि अपनी-अपनी भाषाएँ हों, और जिनके निवासी अपने को पंजाबी, बंगाली, कश्मीरी आदि कहें, उनमें राष्ट्रीय दृष्टि से एक होने का विचार उत्पन्न कर सकना सुगम नहीं था। प्राचीन संस्कृत-साहित्य में इस देश के लिए 'भारतवर्ष' शब्द प्रयुक्त हुआ है, और मध्य युग के मुसलिम बादशाह व सुलतान इसे 'हिन्दुस्तान' कहते थे। अंग्रेजों ने इसे 'इण्डिया' कहना शुरू किया और उनके शासनकाल में भारत के शिक्षित वर्ग के लोग भी इसे 'इण्डिया' कहने लगे और अपने को 'इण्डियन'। पर महर्षि दयानन्द सरस्वती से पहले उन्नीसवीं सदी में जो भी अन्य व्यक्ति इस देश में पुनर्जागरण व राष्ट्रीय पुनरुत्थान के लिए प्रवृत्त हुए, वे इसे कोई स्वदेशी नाम नहीं दे सके, और न इसके निवासियों को कोई स्वदेशी संज्ञा। स्वतन्त्र भारत के संविधान में इस देश के दो नाम प्रयुक्त किये गये हैं, इण्डिया और भारत। पर स्वराज्य को हुए तिहाई सदी से भी अधिक समय बीत जाने पर भी अब तक इस देश के निवासियों के लिए कोई एक ऐसी स्वदेशी संज्ञा नहीं हुई, जो सर्वमान्य हो और सब कोई जिसे प्रयुक्त करते हों। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग चाहे वे हिन्दू, मुसलमान या ईसाई हों, अपने को 'इण्डियन' तो कहते हैं, पर 'भारतीय' न कहकर वे अपने को बंगाली, पंजाबी आदि ही कहते हैं। 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग भी मुख्यतः हिन्दी क्षेत्र के लोगों के लिए ही किया जाता है। भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए यह बहुत बड़ी बाधा है। हमारे राष्ट्रीय नेता अपने देश की राष्ट्रीय एकता के लिए कोई ठोस आधार दे सकने में अब तक भी असमर्थ रहे हैं। पर महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस सम्पूर्ण देश को आर्यावर्त कहा, और इसके निवासियों को आर्य। राष्ट्रीय एकता के लिए उनकी यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन है।

महर्षि को इस देश (आर्यावर्त) के प्रति अगाध ममता थी। उन्होंने लिखा है—"यह आर्यावर्त देश ऐसा है, जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं है। इसीलिए इस भूमि का नाम सुवर्णभूमि है, क्योंकि यही सुवर्णादि रत्नों को उत्पन्न करती है। इसलिए सृष्टि के आदि में आर्य लोग इसी देश में आकर बसे।···आर्य नाम उत्तम पुरुषों का है, और आर्यों से भिन्न मनुष्यों का नाम दस्यु है। जितने भूगोल में देश हैं, वे सब इसी देश की प्रशंसा करते और आशा रखते हैं कि पारसमणि पत्थर सुना जाता है, यह बात तो झूठी है, परन्तु आर्यावर्त देश ही सच्चा पारसमणि है कि जिसको लोहे रूपी दरिद्र विदेशी छूने के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।" महर्षि ने भारत के प्राचीन गौरव की ओर भी जनता का ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने लिखा है कि "सृष्टि से लेके पाँच सहस्र वर्षों से पूर्वसमय पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था। अन्य देश में माण्डलिक अर्थात् छोटे-छोटे राजा रहते थे, क्योंकि कौरव-पाण्डव-पर्यन्त यहाँ के राज्य और राजशासन में भूगोल के सब राजा और प्रजा रहते थे।···महाराजा युधिष्ठिर जी के राजसूय यज्ञ में और महाभारत युद्ध-पर्यन्त यहाँ के राज्याधीन सब राज्य थे। सुनो! चीन के भगदत्त, अमेरिका का बभ्रुवाहन, यूरोप देश का विडालाक्ष अर्थात् मार्जार के सदृश आँख वाले, यवन जिसको यूनान कह आये और ईरान का शल्य आदि सब राजा राजसूय यज्ञ और महाभारत-युद्ध में आज्ञानुसार आये थे। जब रघुगण राजा थे, तब रावण भी यहाँ के अधीन था। जब रामचन्द्र के समय में विरुद्ध हो गया, तो उसको रामचन्द्र ने दण्ड देकर राज्य से नष्ट कर उसके भाई विभीषण को राज्य दिया था।" प्राचीन काल में आर्यावर्त की राजशक्ति बहुत अधिक थी, और उसका साम्राज्य रोमन साम्राज्य के समान केवल यूरोप और पश्चिमी एशिया तक ही विस्तृत न होकर सम्पूर्ण भूमण्डल में व्याप्त था, इस बात को ऐतिहासिक प्रमाणों से पुष्ट कर महर्षि ने आर्यों को अपने लुप्त गौरव की पुनर्स्थापना के लिए प्रेरित किया था। महर्षि ने यह भी प्रतिपादित किया कि प्राचीन समय में आर्यावर्त सम्पूर्ण संसार का गुरु था—"इसी आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मण अर्थात् विद्वानों से भूगोल के मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, दस्यु, म्लेच्छ आदि सब अपने-अपने योग्य विद्या, चरित्रों की शिक्षा और विद्याभ्यास करें।" "जितनी विद्या भूगोल में फैली है वह सब आर्यावर्त देश से मिस्र वालों, उनसे यूनानी, उनसे रूस और उनसे यूरोप देश में, उनसे अमेरिका आदि देशों में फैली है।" महर्षि का यह भी मन्तव्य था कि विज्ञान में भी प्राचीन आर्यों ने अत्यधिक उन्नति की थी। तोप, बन्दूक आदि जिन अस्त्र-शस्त्रों, यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले जिन यानों और तार, टेलीफोन आदि संचार के साधनों पर पाश्चात्य लोग अभिमान करते हैं, वे सब और उनसे भी उत्कृष्ट उपकरण प्राचीन आर्यावर्त में विद्यमान थे। महर्षि ने लिखा है—"तोप और बन्दूक नाम अन्य देश-भाषा के हैं, संस्कृत और आर्यावर्तीय भाषा के नहीं। किन्तु जिसको विदेशी जन तोप कहते हैं, संस्कृत और भाषा में उसका नाम 'शतघ्नी' और जिसको बन्दूक कहते हैं, उसको संस्कृत और आर्य भाषा में 'भुषुण्डी' कहते हैं।" आग्नेयास्त्र, वारुणास्त्र, नागपाश, मोहपाश और पाशुपत्यस्त्र सदृश जिन अस्त्र-शस्त्रों के नाम प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों में आये हैं, महर्षि ने युक्तिपूर्वक यह प्रतिपादित किया कि ये अत्यन्त वैज्ञानिक उपकरण थे जिनका उपयोग युद्ध में शत्रुओं के संहार के लिए किया जाता था। महर्षि का यह भी मन्तव्य था कि वेदों में सब ज्ञान-

विज्ञान मूल रूप में विद्यमान है, और उनके अध्ययन से सृष्टि के सब आधारभूत नियमों व रहस्यों का परिज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। कतिपय वेदमन्त्रों की व्याख्या करते हुए उन्होंने अनेक ऐसे वैज्ञानिक तथ्य भी प्रकट किये, जो उनके समय में अज्ञात थे। ब्रिटिश शासन के जिस काल में अपने धर्म, साहित्य, अतीत काल और संस्कृति आदि के प्रति भारतीयों में हीन भावना घर कर गयी थी, और वे अंग्रेजों के शासन को अपने देश के लिए वरदान समझने लगे थे, महर्षि दयानन्द सरस्वती के ये मन्तव्य क्रान्ति के प्रचण्ड घोष के समान थे। इटली के पुनरुत्थान, राष्ट्रीय एकता और स्वतन्त्रता के लिए जिस प्रकार रोमन साम्राज्य के प्राचीन गौरव की स्मृति सहायक हुई, उसी प्रकार आर्यावर्त के गौरवपूर्ण अतीत का स्मरण दिलाने से भारतीयों में उस हीन भावना का अन्त हुआ, जो ब्रिटिश शासन और अंग्रेजी शिक्षा के कारण इस देश में उत्पन्न हो गयी थी। भारत की राष्ट्रीय एकता और स्वराज्य के लिए महर्षि का यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान था। जब भारत प्राचीन काल में विश्व का सर्वाधिक समुन्नत देश रह चुका है, और वह कतिपय कारणों से कुछ समय के लिए उन्नति की दौड़ में पीछे रह गया, और विदेशियों द्वारा पादाक्रान्त कर लिया गया, तो इसमें निराशा या हीन भावना की क्या बात है? महर्षि ने उन कारणों का भी विवेचन किया है, जिनसे इस देश की अवनति प्रारम्भ हुई। उन्होंने लिखा है कि "यह संसार की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जब बहुत-सा धन असंख्य प्रयोजन से अधिक होता है तब आलस्य, पुरुषार्थ-रहितता, ईर्ष्या, द्वेष, विषयासक्ति और प्रमाद बढ़ता है। इससे देश में विद्या, सुशिक्षा नष्ट होकर दुर्गुण और दुष्ट व्यसन बढ़ जाते हैं, जैसे कि मांस-मद्य-सेवन, बाल्यावस्था में विवाह और स्वेच्छाचार आदि दोष बढ़ जाते हैं, और जब युद्ध-विभाग में युद्ध-विद्या-कौशल और सेना इतनी बढ़े कि जिसका सामना करने वाला दूसरा न हो तब उन लोगों में पक्षपात, अभिमान बढ़कर अन्याय बढ़ जाता है। जब ये दोष आ जाते हैं, तब आपस में विरोध होकर अथवा उनसे अधिक दूसरे छोटे कुलों में से कोई ऐसा समर्थ पुरुष खड़ा होता है कि उनको पराजय करने में समर्थ होवे।" राज्यों, राजवंशों और राष्ट्रों के पतन के कारणों का महर्षि ने कितना सुन्दर व युक्ति-युक्त विवेचन किया है! परमप्रतापी रोमन सम्राटों के पतन का भी यही कारण था। साम्राज्य के विभिन्न प्रदेशों से जो कोटि-कोटि धनराशि उन्हें प्राप्त होती थी, उससे वे न केवल निरंकुश व स्वेच्छाचारी ही हो गये थे, अपितु भोग-विलास में फँसकर अपने शासन-कार्यों के प्रति भी विमुख हो गये थे। भारत में मुगल साम्राज्य की शक्ति के क्षीण होने का भी यही कारण था। मुगल सेनापति युद्ध के लिए अभियान करते समय भी रेशम के तम्बुओं में रहने लगे थे। उनके पटमण्डपों में भोगविलास के सब साधन उपलब्ध रहा करते थे। इसके विपरीत मराठे सैनिक भुने हुए चनों की थैली पीठ पर बाँधकर रणक्षेत्र में उतरा करते थे। आराम व भोगविलास में जीवन बिताने वाले मुगल सैनिक उनका क्या मुकाबला करते! अत्यन्त प्राचीन काल में कुरुदेश की राजशक्ति कुरुवंश के जिन सम्राटों के हाथों में थी, वे भी अत्यधिक सम्पन्नता के कारण अपने राजकीय कर्त्तव्यों से विमुख हो गये थे। द्यूत-क्रीड़ा में अपनी सब धन-सम्पत्ति और राज्य आदि सबको दाँव में लगा देने में भी उन्हें अनौचित्य प्रतीत नहीं होता था। राजा युधिष्ठिर ने तो अपनी पत्नी तक को दाँव पर लगा दिया था। ऐसे राजाओं के कारण यदि आर्यावर्त की राजशक्ति का पतन होने लगा, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

महर्षि का मन्तव्य था, कि—"विदेशियों के आर्यावर्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ाना, बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या-भाषण व वेदविद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं।" "जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है। क्या तुम लोग महाभारत की बातें, जो पाँच सहस्र वर्ष पूर्व थीं, उनको भूल गये ? देखो, आपस की फूट से कौरव, पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया, सो तो हो ही गया, परन्तु अब तक भी यही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःखसागर में डुबा मारेगा। इसी दुष्ट दुर्योधन गोत्र-हत्यारे, स्वदेश-विनाशक नीच के दुष्ट मार्ग में आर्य लोग अब तक भी चलकर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे यह राजरोग हम आर्यों में से नष्ट हो जावे।" कौरव-पाण्डवों की फूट का उदाहरण सम्मुख रखकर महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भारत पर विदेशियों के राज्य के स्थापित होने के कारणों का यह कितना सही विवेचन किया है ! अंग्रेज जो भारत में अपना शासन स्थापित करने में समर्थ हुए थे, उसका कारण आपसी फूट का वह राज-रोग था जिसका प्रारम्भ महाभारत के युद्ध के समय में हो चुका था। भारत के विविध राज्यों की राजगद्दी के सम्बन्ध में राजकुलों के व्यक्तियों में विवाद तथा झगड़ों से लाभ उठाकर ही अंग्रेज इस देश में अपना प्रभुत्व स्थापित कर सके थे। वे व्यापार के लिए भारत में आये थे। इसीलिए उन्होंने समुद्रतट पर विद्यमान अनेक नगरों में व्यापारिक कोठियाँ कायम की थीं। अपने व्यापारिक संस्थानों की रक्षा के लिए वे सैनिक भी रखा करते थे। जब उन्होंने देखा कि इस देश के अनेक राज्यों में राजगद्दी के लिए झगड़े चल रहे हैं, तो एक प्रत्याशी की सहायता कर उसे उन्होंने अपना वशवर्ती बना लिया। जो व्यक्ति अंग्रेजों की मदद से राजगद्दी प्राप्त करता था, वह उनके प्रभुत्व को स्वीकारता था और उनके कहे के अनुसार ही कार्य करता था। इसी प्रक्रिया से अंग्रेजों ने कुछ ही समय में सम्पूर्ण भारत को अपने अधीन कर लिया था। जैसे प्राचीन-काल में आपस की फूट के कारण कौरव-पाण्डवों और यादवों का सत्यानाश हुआ था, वैसे ही आधुनिक काल में बंगाल के नवाबों और महाराष्ट्र के पेशवाओं आदि के राज्यों का अन्त हुआ था। भारत की पराधीनता के जिन कारणों का महर्षि दयानन्द सरस्वती ने प्रतिपादन किया है, वे पूर्णतया सत्य हैं। पतन के इन कारणों को दूर कर देने पर भारत स्वतन्त्र होने के साथ-साथ अपने विलुप्त गौरव को भी पुनः प्राप्त कर सकता है, यह महर्षि का मन्तव्य था। आपस की फूट, विषयासक्ति आदि दोषों के कारण यदि कोई देश पराधीन हो जाये, तो यह स्वाभाविक ही है। इसीलिए महर्षि ने लिखा था—"सृष्टि से लेकर महाभारतपर्यन्त चक्रवर्ती, सार्वभौम आर्यकुल में ही हुए थे। अब इनके सन्तानों का अभाग्योदय होने से राजभ्रष्ट होकर विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहे हैं।" भारत की पराधीनता के कारणों का महर्षि ने बार बार उल्लेख किया है—"अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी किन्तु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है सो भी विदेशियों से पादाक्रान्त हो रहा है।"

भारत की पराधीनता तथा दुर्दशा के इन कारणों को दूर करने का भी महर्षि द्वारा सफल प्रयत्न किया गया। इसीलिए उन्होंने मनुष्यों को सच्चरित्र, पुरुषार्थी और

इन्द्रियजयी बनाने पर बहुत बल दिया। आश्रम-व्यवस्था को पुनः स्थापित करते हुए ब्रह्मचर्य की महिमा का उपदेश दिया और भारत के सामाजिक जीवन में जो बहुत-सी बुराइयाँ आ गयी थीं, उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया। यद्यपि महर्षि भारत की दुर्दशा को बहुत गम्भीर रूप से अनुभव करते थे, पर इस देश की संस्कृति की उत्कृष्टता पर उन्हें अगाध विश्वास था। अंग्रेजी शासन के कारण भारतीयों में जो हीन भावना आ गयी थी और सुशिक्षित वर्ग के लोग अंग्रेजों के आधिपत्य को जो वरदान मानने लगे थे, महर्षि ने उसके विरुद्ध आवाज उठायी। यह सही है कि ब्रिटिश शासन के कारण भारत में शान्ति और व्यवस्था स्थापित हुई थी, और पाश्चात्य देशों में जिस नये ज्ञान-विज्ञान का विकास हो रहा था, उससे परिचय प्राप्त करने का भी भारतीयों को अवसर मिला था, पर महर्षि का मत था, कि "कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है; अथवा मत-मतान्तर के आग्रहरहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायी नहीं है।" महर्षि इस तथ्य को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करना चाहते थे कि चाहे अंग्रेज भारत में एक ऐसा शासन स्थापित करने में समर्थ भी हो जायें, जो न्याय पर आधारित तथा पक्षपात से शून्य हो, पर वह स्वराज्य का स्थान कदापि नहीं ले सकता। राष्ट्रीय स्वाधीनता और स्वराज्य का यह उदात्त स्वरूप आधुनिक युग में सबसे पूर्व महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ही प्रतिपादित किया था। 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग भी सबसे पहले उन्होंने ही किया था। सत्यार्थप्रकाश में उन्होंने 'स्वदेशी राज्य' शब्द प्रयुक्त किया है, और आर्याभिविनय में 'स्वराज्य' का। परमेश्वर की प्रार्थना करते हुए वे कहते हैं—"हमको भी सत्य विद्या से युक्त सुनीति देके साम्राज्याधिकारी सद्यः कीजिये। हम पर सहाय करो, जिससे सुनीतियुक्त होके हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढ़े।" सत्यार्थप्रकाश के छठे समुल्लास में 'मौलान् शास्त्रविदः शूरान्लब्धलक्ष्यान् कुलोद्भवान्" (मनुस्मृति) श्लोक में 'मौलान्' का अर्थ महर्षि ने 'स्वराज्य स्वदेश में उत्पन्न हुए' किया है। इस प्रकार सत्यार्थप्रकाश में भी 'स्वराज्य' शब्द आया है। इसमें सन्देह नहीं कि इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा ही किया गया था, और उन्होंने ही भारत में सर्वप्रथम स्वराज्य का उद्घोष किया था। कतिपय वेदमन्त्रों का अर्थ करते हुए महर्षि ने यह प्रार्थना की है—"हे महाराजाधिराज परब्रह्म···अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों तथा हम लोग पराधीन कभी न हों।" एक मन्त्र का अर्थ करते हुए उन्होंने कहा है—"मनुष्यों को चाहिए कि पुरुषार्थ करने से पराधीनता छुड़ा के स्वाधीनता निरन्तर स्वीकार करें।" महर्षि ने इन विचारों का प्रचार उस समय किया था, जब इण्डियन नेशनल कांग्रेस के नेता अंग्रेजी शासन को भारत के लिए वरदान मानते थे।

परन्तु स्वदेशी शासन निरंकुश व स्वेच्छाचारी भी हो सकता है। यह आवश्यक नहीं कि अपने देश में उत्पन्न हुए शासक जनता का हित-सम्पादन करने वाले ही हों। इस कारण महर्षि ने स्वदेशी राज्य या स्वराज्य के स्वरूप का भी प्रतिपादन किया। उनका मन्तव्य था कि—"मनुष्यों को चाहिए कि सभा और सभापतियों से ही राज्य की व्यवस्था करें। कभी एक राजा की अधीनता में स्थिर न हों, क्योंकि एक पुरुष से बहुतों के हिताहित का विचार कभी नहीं हो सकता।" "जहाँ एक मनुष्य राजा होता है, वहाँ

प्रजा का पीड़न अवश्यम्भावी है। जहाँ राज-प्रबन्ध सभा के हाथों में हो, वहाँ सम्पूर्ण प्रजा का हित सम्पादित होता है।" "जो प्रजा के स्वतन्त्र-स्वाधीन राजवर्ग रहे, तो राज्य में प्रवेश करके प्रजा का नाश किया करे। जिस लिए अकेला राजा स्वाधीन व उन्मत्त होके प्रजा का नाशक होता है; अर्थात् वह राजा प्रजा को खाये जाता है, इसलिए किसी एक को राज्य में स्वाधीन न करना चाहिए।" मनुस्मृति, वेद आदि में आये 'राजा' शब्द का अर्थ महर्षि ने निर्वाचित सभापति किया है, वंशक्रमानुगत राजा उनकी दृष्टि में सर्वथा अवांछनीय था। महर्षि ने जहाँ स्वराज्य की उपयोगिता का प्रतिपादन किया, वहाँ साथ ही राज्य-शासन के ऐसे स्वरूप का भी निरूपण किया, जो यथार्थ में जनता के हित-कल्याण का साधक हो सकता है। मध्यकाल के अन्धकारमय युग का अन्त करने में आधुनिक यूरोप के जो चिन्तक सहायक हुए, वे जहाँ बुद्धि-स्वातन्त्र्य एवं युक्ति व तर्क के प्रयोग के पक्षपाती थे, वहाँ साथ ही राजाओं के निरंकुश स्वेच्छाचारी शासन के स्थान पर लोक-तन्त्रवाद का भी प्रतिपादन करते थे। जो यूरोपियन देश विदेशियों के अधीन थे, उनके लिए वे स्वशासन तथा राष्ट्रीय एकता के आन्दोलन के पोषक थे। ठीक यही कार्य भारत (आर्यावर्त) के लिए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने किया। अन्ध प्रमाणवाद का परित्याग कर बुद्धि व तर्क से सत्यासत्य का निर्णय करने, विज्ञान का विकास करने, पाखण्ड और अन्धविश्वास को दूर करने, सामाजिक कुरीतियों का निवारण करने तथा विद्या के प्रचार पर जोर देकर उन्होंने इस देश से अन्धकार-युग की समाप्ति करने के सम्बन्ध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया, और इस प्रकार देश की उन्नति व विलुप्त गौरव की पुनर्स्थापना के मार्ग के सब कण्टकों व बाधाओं को दूर कर उसे स्वराज्य के लिए तैयार कर दिया। साथ ही, उन्होंने विदेशी शासन की हानियों की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट कर लोक-तंन्त्र व लोकहितकारी स्वशासन का आदर्श उसके सम्मुख उपस्थित किया। भारत के स्वाधीनता संघर्ष में महर्षि का यह योगदान अत्यन्त महत्त्व का था। आर्यसमाज ने भी उन द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण कर भारत की स्वाधीनता में सक्रिय रूप से हाथ बँटाया।

चौथा अध्याय

आर्यसमाज की राजनीति के मौलिक मन्तव्य

आर्यसमाज को प्रायः धार्मिक और समाज-सुधार करने वाली संस्था माना जाता है। किन्तु इसके सस्थापक महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में न केवल धार्मिक सिद्धान्तों का विवेचन किया है, अपितु एक पूरे छठे समुल्लास में राजनीति के मौलिक मन्तव्यों का प्रतिपादन किया है। अन्य समुल्लासों में भी उत्कट देशभक्ति की भावनाओं को अभिव्यक्त किया है। वे भारत में राष्ट्रीयता के अग्रदूत थे, जातीय गौरव और राष्ट्रीय अस्मिता के प्रबल प्रचारक थे। उनका समूचा धार्मिक चिन्तन राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत था। वे छुआछूत, खानपान, जातिभेद आदि सामाजिक कुरीतियों का और मूर्तिपूजा का खण्डन इस दृष्टि से भी करते थे कि ये कुप्रथाएँ समाज को नाना मत-मतान्तरों तथा वर्गों में बाँटने वाली थीं और भारत की राष्ट्रीय एकता को छिन्न-भिन्न करने वाली थीं। १९०५-६ ई० में स्वदेशी आन्दोलन शुरू होने से ३० वर्ष पहले उन्होंने स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार पर बल दिया था। स्वराज्य की महिमा को उन्होंने उस समय प्रबल शब्दों में स्पष्ट किया था जब भारतीय राष्ट्रीय महासभा के नेता ब्रिटिश शासन को भारत में ईश्वरीय वरदान और दैवी व्यवस्था समझ रहे थे। स्वामी जी ने ब्रिटिश शासन के दोषों को उजागर किया, पराधीनता की पीड़ा को मार्मिक शब्दों में अभिव्यक्ति प्रदान की और मानसिक दासता के विरुद्ध प्रबल जिहाद किया, भारतीयों में अपने देश के प्रति गौरव की भावना सुदृढ़ बनाई, उज्ज्वल अतीत और स्वर्णिम भविष्य में विश्वास उत्पन्न किया। महर्षि के आर्यसमाज की राजनीति एवं राष्ट्रीय आन्दोलन पर, और भारतीय जनता पर प्रभाव डालने वाले प्रमुख विचार राष्ट्रीयता, स्वदेशी, स्वराज्य थे, जिन पर क्रमशः यहाँ प्रकाश डाला जायेगा। महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा आर्यसमाज के राजनीति-विषयक इन मन्तव्यों का पिछले अध्याय में भी उल्लेख किया जा चुका है, परन्तु उन पर पुनः विशद रूप से प्रकाश डालना विषय के स्पष्टीकरण के लिए उपयोगी होगा।

(१) राष्ट्रीयता

जिस समय महर्षि कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे उस समय भारत में राष्ट्रीयता की भावना का सर्वथा अभाव था। यह एक सर्वथा आधुनिक विचार है। इसका अभिप्राय एक राष्ट्र में पायी जाने वाली चेतना एवं सांस्कृतिक और आध्यात्मिक भावना है। इस भावना के कारण एक राष्ट्र के व्यक्ति आपस में एक-दूसरे के साथ आत्मीयता और एकता

अनुभव करते हैं, अन्य राष्ट्रों से अपने को पृथक्, अच्छा और ऊँचा समझते हैं और उनका यह विश्वास होता है कि राष्ट्रीय राज्य ही सर्वोत्तम प्रकार का राजनैतिक संगठन है। एक विचारक एबेन्स्टाइन के शब्दों में—"राष्ट्रीयता ऐसा विश्वास है जिसके अनुसार एक व्यक्ति अपने देश को विश्व में सर्वोत्तम देश और अपनी राष्ट्रीय इकाई को सर्वोत्तम राज्य मानता है।"

यदि इस दृष्टि से देखा जाये तो १९वीं शताब्दी के भारत में न तो राष्ट्रीय एकता थी और न ही यहाँ के निवासी अपने देश के प्रति भक्ति और गौरव का भाव रखते थे। उस समय भारत के विभिन्न प्रदेशों में रहने वाले व्यक्ति अपने को पंजाबी, हिन्दुस्तानी, मराठी, गुजराती, बंगाली और मद्रासी के रूप में समझते थे। भारतीय होने की उनमें कोई कल्पना नहीं थी। हिन्दू जाति कई हजार जातियों, उप-जातियों तथा वर्गों में बँटी हुई थी। धार्मिक दृष्टि से वे शैव, वैष्णव, शाक्त आदि नाना देवी-देवताओं के उपासक थे; एक-दूसरे से किसी प्रकार की एकता का अनुभव नहीं करते थे, अपितु उनमें कई बार तीव्र साम्प्रदायिक विद्वेष और वैमनस्य की भावना पायी जाती थी। उस समय इन सब विभिन्न जातियों और मत-मतान्तरों को एक सूत्र में आबद्ध करने वाला और एक सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित करने वाला कोई तत्त्व नहीं था। स्वामी जी की यह विशेषता थी कि उन्होंने विभिन्न मत-मतान्तरों को वेद के आधार पर एक सूत्र में संगठित करने का प्रयास किया, और इस उद्देश्य से आर्यावर्त के प्राचीन गौरवपूर्ण अतीत की स्वर्णिम उपलब्धियों के आधार पर भारतवासियों में देश के प्रति अभिमान और देशप्रेम की भावना को उत्पन्न किया, एवं भारत में राष्ट्रीयता की भावना का सृजन करने में बहुमूल्य सहयोग दिया। यहाँ स्वामी जी के कुछ राष्ट्रीय विचारों का उल्लेख किया जायेगा।

सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में उन्होंने इस देश की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है कि "यह आर्यावर्त देश ऐसा है जिसके सदृश भूगोल (विश्व) में दूसरा कोई देश नहीं है। इसलिए इस भूमि का नाम सुवर्ण भूमि है, क्योंकि यही सुवर्ण आदि रत्नों को उत्पन्न करती है···जितने भूगोल में देश हैं वे सब इसी देश की प्रशंसा करते हैं और आशा रखते हैं। पारसमणि पत्थर सुना जाता है, वह बात तो झूठी है, परन्तु आर्यावर्त देश ही सच्चा पारसमणि है जिसको लोहेरूप दरिद्र विदेशी छूते के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।"

जिस समय महर्षि अपना प्रचार-कार्य कर रहे थे, उस समय हमारा देश अंग्रेजों की पराधीनता के पाश में जकड़ा हुआ था और विदेशियों की दासता से हमारा आत्म-गौरव बिल्कुल नष्ट हो चुका था। ऐसे समय में पराधीनता की निराशा और पीड़ा को दूर करने के लिए महर्षि ने भारतीयों को यह बताया कि उस समय हम भले ही पराधीन हों, किन्तु प्राचीन काल में हमारा देश-देशान्तर, द्वीप-द्वीपान्तर में शासन था, सम्पूर्ण भू-मण्डल में आर्यों का शासन, वर्चस्व और प्रभुत्व था। उस समय भारत सबसे बड़ा राज्य था। सब देशों के व्यक्ति भारतीयों से सब प्रकार की कलाओं और विद्याओं की शिक्षा ग्रहण करने के लिए यहाँ आया करते थे और अपने नैतिक जीवन के लिए उत्तम आदर्श यहीं से ग्रहण करते थे। इस विषय में महर्षि ने लिखा है—

"सृष्टि से लेकर पाँच सहस्र वर्षों से पूर्व समय-पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती अर्थात् भूगोल (भूमण्डल) में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था। अन्य देश में माण्डलिक

अर्थात् छोटे-छोटे राजा रहते थे, क्योंकि कौरव-पाण्डव-पर्यन्त यहाँ के राज्य और राज-शासन में सब भूगोल के सब राजा और प्रजा चले थे, क्योंकि यह मनुस्मृति जो सृष्टि की आदि में हुई है उसका प्रमाण है। इसी आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मण अर्थात् विद्वानों से भूगोल के मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, दस्यु, म्लेच्छ आदि सब अपने-अपने योग्य विद्या, चरित्रों की शिक्षा और विद्याभ्यास करें···स्वायंभुव राजा से लेकर पाण्डवपर्यन्त आर्यों का चक्रवर्ती राज्य रहा। तत्पश्चात् आपस के विरोध से लड़कर नष्ट हो गये।"

महर्षि के समय अंग्रेजी पढ़े-लिखे व्यक्ति यूरोप को समूचे ज्ञान-विज्ञान का स्रोत समझने लगे थे, और इसके कारण अपने देश के प्रति उनमें हीन भावना उत्पन्न हो रही थी। महर्षि ने इसका खण्डन करते हुए यह बताया कि भारतवर्ष जगत् गुरु है। संसार के अन्य देशों ने सभ्यता और संस्कृति का पाठ भारत से पढ़ा है। सब प्रकार की कलाओं और विद्याओं का जन्म पहले भारत में हुआ और यहाँ से ये दूसरे देशों में फैलीं। इस विषय में ११वें समुल्लास में उनके ये शब्द उल्लेखनीय हैं—

"और जितनी विद्या भूगोल में फैली है, वह सब आर्यावर्त देश से मिस्र वालों, उनसे यूनानी, उनसे रोम, और उनसे यूरोप देश में, उनसे अमेरिका आदि देशों में फैली है। अब तक जितना प्रचार संस्कृत विद्या का आर्यावर्त देश में हुआ उतना किसी अन्य देश में नहीं है।···यह निश्चय है कि जितनी विद्या और मत भूगोल में फैले हैं, वे सब आर्यावर्त देश से ही प्रचलित हुए हैं।···देखो कि एक जकालियट साहब पेरिस अर्थात् फ्रांस देश निवासी अपनी **बाइबल इन इण्डिया** में लिखते हैं कि सब विद्या और भलाइयों का भण्डार आर्यावर्त देश है और सब विद्या तथा मत इसी देश से फैले हैं, और परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि हे परमेश्वर, जैसी उन्नति आर्यावर्त देश की पूर्वकाल में थी, वैसी ही हमारे देश की कीजिये।"

स्वामी जी का यह कथन भारत से बाहर के देशों में विभिन्न यूरोपियन विद्वानों द्वारा की गयी गवेषणाओं से प्रमाणित हो चुका है। प्राचीनकाल में भारतीय धर्मदूतों, प्रचारकों और व्यापारियों ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के बड़े भाग को सभ्यता और संस्कृति का पाठ पढ़ाया था। प्राचीनकाल में यह भूभाग भारत का ही अंग समझा जाता था। उस समय यूनानी इसे 'गंगा पार का हिन्द' कहते थे, आजकल यह परला हिन्द कहलाता है। मध्य-एशिया से भारतीय सभ्यता के इतने अवशेष मिले हैं कि भारत के उत्तर में बसे इस प्रदेश को उपरले हिन्द का नाम दिया जा सकता है। साइबेरिया से सिंहल (श्रीलंका) और ईरान तथा अफगानिस्तान से प्रशान्त महासागर के बोर्नियो और बाली टापुओं तक के विशाल प्रदेश में भारतीय संस्कृति के अवशेष बड़ी मात्रा में मिले हैं। **बृहत्तर भारत** के नाम से प्रसिद्ध इस विशाल प्रदेश में की गयी खोज स्वामी जी की उपर्युक्त कल्पना को पुष्ट करती है।

महर्षि अपने समय में देश की दुर्दशा और पराधीनता से खिन्न थे और इसका मूल कारण आपसी फूट समझते थे। उन्होंने लिखा है "जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है। क्या तुम लोग महाभारत की बातें जो पाँच सहस्र वर्ष के पहले हुई थीं उनको भी भूल गये? देखो, महाभारत-युद्ध में सब लोग लड़ाई में सवारियों पर खाते-पीते थे। आपस की फूट से कौरव-पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया सो हो गया, पर अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर

राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःखसागर में डुबा मारेगा। उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्र-इत्यारे स्वदेश-विनाशक नीच के दुष्ट मार्ग में आर्य लोग अब तक भी चलकर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे कि यह राजरोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाय।"

फूट के रोग को नष्ट करने के लिए महर्षि ने राष्ट्रीयता के प्रमुख तत्त्वों—धर्म, भाषा और समान लक्ष्य की प्राप्ति पर बल दिया। उनका यह विचार था कि सब प्रकार की उन्नति का मूल तत्त्व एकता की भावना है। यदि भारत में धर्म तथा भाषा की एकता हो जाती है तो भारत का सुधार अपने-आप हो जायेगा। स्वामी जी ने मोहनलाल पंड्या को एक प्रश्न के उत्तर में कहा था—"एक धर्म, एक भावना और एक लक्ष्य की प्राप्ति ही भारत की पूर्ण उन्नति में सहायक है।" इस दृष्टि से महर्षि ने भारतीय समाज को अनेक छोटे-छोटे वर्गों में बाँटने वाले जातिभेद और छुआछूत की कड़ी निन्दा की और खान-पान में अलग-अलग चौकों की व्यवस्था की कटु आलोचना करते हुए उन्होंने बड़े मार्मिक शब्दों में लिखा था—"इसी मूढ़ता से उन लोगों ने चौका लगाते-लगाते, विरोध करते-कराते सब स्वातन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगाकर हाथ-पर-हाथ धरे बैठे हैं और इच्छा करते हैं कि कुछ पदार्थ मिले तो पकाकर खावें। परन्तु वैसा न होने पर जानो सब आर्यावर्त देशभर में चौका लगा के सर्वथा नष्ट कर दिया है।"

महर्षि के सभी ग्रन्थ, चाहे वे वेदभाष्य हों, प्रार्थनाएँ हों, खण्डनपरक ग्रन्थ हों, स्वदेश-प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत हैं। आर्याभिविनय में यजुर्वेद के एक (मन्त्र ३६।२४)के 'अदीनाः स्याम शरदः शतम्' की प्रार्थना में वे लिखते हैं—"हम सौ वर्ष की आयु में कभी पराधीन न हों और स्वाधीन ही रहें।" इस सम्बन्ध में उनके वचन स्मरणीय हैं—"अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों। हम लोग पराधीन कभी न हों।" यजुर्वेद-भाष्य (१५।५) में उन्होंने कहा है कि—"मनुष्यों को चाहिए कि पुरुषार्थ करने से पराधीनता छुड़ाकर स्वाधीनता निरन्तर स्वीकार करें।"

महर्षि देशभक्ति की भावना को कितना अधिक महत्त्व देते थे, यह उनकी ब्राह्म-समाज और प्रार्थनासमाज की आलोचना से स्पष्ट है। ये दोनों आर्यसमाज की भाँति सुधारक सम्प्रदाय थे, और उनके अधिकांश सिद्धान्त और मन्तव्य आर्यसमाज से मिलते थे, फिर भी स्वामी जी ने इनकी आलोचना राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण से की है। उनके मतानुसार "इन लोगों की स्वदेश भक्ति न्यून है। ईसाइयों के आचरण बहुत-से लिये हैं। खानपान, विवाह आदि के नियम बदल दिये हैं। अपने देश की प्रशंसा या पूर्वजों की बड़ाई करनी तो दूर रही, उसके बदले पेटभर निन्दा करते हैं। व्याख्यानों में ईसाई आदि अंग्रेजों की प्रशंसा भरपेट करते हैं। ब्रह्मादि महर्षियों का नाम भी नहीं लेते। प्रत्युत ऐसा भी कहते हैं कि बिना अंग्रेजों के सृष्टि में आज पर्यन्त कोई भी विद्वान् नहीं हुआ। आर्यावर्ती सदा से मूर्ख चले आये हैं। इनकी उन्नति कभी नहीं हुई···भला जब आर्यावर्त में उत्पन्न और इसी देश का अन्न-जल खाया-पिया, अब भी खाते-पीते हैं, अपने माता-पिता-पितामहादि के मार्ग को छोड़कर दूसरे विदेशी मतों पर अधिक झुक जाना, ब्राह्मसमाजी और प्रार्थनासमाजियों को एतद् देशस्थ संस्कृत विद्या से रहित अपने को विद्वान् प्रकाशित करना, इंग्लिश भाषा पढ़कर पण्डिताभिमानी होकर झटिति एक मत चलाने में प्रवृत्त होना मनुष्यों का स्थिर और बुद्धिकारक काम क्योंकर हो सकता है?"

महर्षि ने मूर्तिपूजा की आलोचना भी कई राष्ट्रीय कारणों के आधार पर की है। सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में मूर्तिपूजा के १६ बड़े दोषों में एक बड़ा दोष यह बताया गया है कि प्रतिमा-पूजन राष्ट्र को अकर्मण्य और परावलम्बी बना देता है। मनुष्य भगवान् की प्रतिमा में अगाध विश्वास करके उसे अपना रक्षक और त्राता मान लेता है, उस पर अपनी रक्षा का भार डालकर निश्चिन्त हो जाता है। इस मिथ्या धारणा में विश्वास करने के साथ वे मानने लगते हैं कि मूर्ति में निवास करने वाले देवता इतने शक्तिशाली हैं कि शत्रु का आक्रमण होने पर ये उसे तुरन्त ध्वंस कर देंगे, अतः उन्हें देश की रक्षा के लिए कोई पुरुषार्थ या प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है। इस अन्धविश्वास से हमारी राष्ट्र की जो दुर्दशा हुई है, इस विषय में उन्होंने सोमनाथ के मन्दिर पर महमूद गजनवी के हमले का वर्णन करते हुए कहा है—"हाय, क्यों पत्थर की पूजा कर सत्यानाश को प्राप्त हुए ! देखो, जितनी मूर्तियाँ हैं उनके स्थान पर शूरवीरों की पूजा करते तो देश की कितनी रक्षा होती !" मूर्तिपूजा को स्वामी जी भारत की राजनैतिक पराधीनता और अधोगति का कारण समझते थे। उनके शब्दों में प्रतिमा-पूजक मूर्ति पर भरोसा करके शत्रु की पराजय और अपनी विजय मान बैठते हैं—"उनका पराजय होकर राज्य, स्वातन्त्र्य और धन का सुख उनके शत्रुओं के स्वाधीन होता है और आप पराधीन भटियारी के टट्टू और कुम्हार के गदहे के समान शत्रु के वश में होकर अनेकविध दुःख पाते हैं।"

(२) स्वदेशी

भारत में वर्तमान शताब्दी के पहले दशक में बंग-भंग के समय स्वदेशी आन्दोलन प्रबल हुआ, और इसके अनुसार अपने देश में उत्पन्न वस्तुओं के प्रयोग पर बल दिया जाने लगा। स्वामी जी ने इससे बहुत पहले अपने देश की वस्तुओं के उपयोग पर बल दिया। उनका यह विचार था कि भारतीयों को अपने देश की वस्तुओं पर गौरव और गर्व का अनुभव करना चाहिये और अपनी भाषा, अपने धर्म, और परम्पराओं का पालन करना चाहिए। उन्हें अंग्रेजों की स्वदेशी की भावना बड़ी अनुकरणीय वस्तु जान पड़ती थी। इसकी प्रशंसा करते हुए उन्होंने लिखा है—

"देखो, अपने देश के बने हुए जूते को आफिस और कचहरी में जाने देते हैं, इस देशी जूते को नहीं। इतने ही में समझ लो कि अपने ही देश के बने हुए जूतों का भी जितना मान-प्रतिष्ठा करते हैं, उतना भी अन्य देशस्थ मनुष्यों का नहीं करते। देखो, कुछ सौ वर्ष से ऊपर इस देश में आये यूरोपियनों को हुए, आज तक ये लोग मोटे कपड़े आदि पहिनते हैं जैसा कि स्वदेश में पहनते थे। परन्तु उन्होंने अपने देश का चाल-चलन नहीं छोड़ा और तुममें से बहुत-से लोगों ने उनका अनुकरण कर लिया। इसी से तुम निर्बुद्धि और वे बुद्धिमान् ठहरते हैं। अनुकरण करना किसी बुद्धिमान् का काम नहीं, और जो जिस काम पर रहता है उसको यथोचित करता है। आज्ञानुवर्ती बराबर रहते हैं। अपने देशवासियों को व्यापार आदि में सहायता देते हैं। इत्यादि गुणों और अच्छे-अच्छे कर्मों से उनकी उन्नति है; मुंडे जूते, पतलून, होटल में खाने-पीने आदि साधारण और बुरे कामों से नहीं बढ़े हैं।"

स्वामी जी अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों को निरन्तर स्वदेशी वस्तुओं

के उपयोग की प्रेरणा देते रहते थे। १४ अगस्त १९७९ ई० के 'स्टेट्समैन' की रिपोर्ट के अनुसार लाहौर आर्यसमाज के सब सदस्यों ने समाजमन्दिर में इकट्ठा होकर यह निर्णय किया था कि वे विदेशी वस्त्रों को नहीं पहनेंगे, और केवल ऐसे वस्त्रों का उपयोग करेंगे जो भारत में बने हों। सम्भवतः भारत में पहली बार यह किसी संस्था द्वारा विदेशी वस्त्रों के बायकाट और स्वदेशी कपड़ों को अपनाने का सामूहिक प्रयास था। स्वामी जी के समय में ही वर्तमान समय की भाँति ऐसे नवयुवकों की कमी नहीं थी जो विदेशी वस्त्रों को पहनने में गौरव का अनुभव करते थे। जब स्वामीजी ने ऊधोसिंह नामक नवयुवक को विदेशी कपड़े पहने हुए देखा तो उन्होंने उनसे कहा था—"क्या तुम विदेशी कपड़े से बने नये वेष से विभूषित होकर अपने पिता से अधिक सुसंस्कृत हो गये हो? उद्धव, अपने ही देश के वेष को अपनाने में शोभा है।"

स्वामी जी 'स्वदेशी' शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक रूप में करते थे। इसमें वे अपनी भाषा और संस्कृति को भी समझते थे और इन्हें अपनाने पर बल देते थे।

(३) स्वराज्य

स्वामी दयानन्द वर्तमान भारत में स्वराज्य के पहले मन्त्रदाता और उद्गाता थे। उन्हें इस बात का श्रेय प्राप्त है कि कांग्रेस की स्थापना से पहले ही उन्होंने स्वराज्य के महत्त्व का प्रतिपादन किया था और उसके लिए प्रार्थनाएँ लिखी थीं। आर्याभिविनय में परमेश्वर की प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि "हमें भी शक्ति-विद्या से युक्त सुनीति देकर साम्राज्याधिकारी सद्यः कीजिये। हमारी सहायता करो जिससे सुनीतियुक्त होकर हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढ़े।" ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका में भी 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। स्वामी जी ने इस शब्द का प्रयोग अपने शासन के लिए किया है और इसे सर्वोत्तम शासन बताया है। सत्यार्थप्रकाश में यद्यपि उन्होंने 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग नहीं किया है, फिर भी इसकी उत्कृष्टता का प्रबल प्रतिपादन किया है। इस विषय में उनका निम्नलिखित अवतरण उल्लेखनीय है—"अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की कथा ही क्या कहना, किन्तु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखंड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है, सो भी विदेशियों के पादाक्रांत हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है; कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत-मतान्तर के आग्रहरहित, अपने और पराये का पक्षपातपूर्ण, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय, और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।" इससे यह स्पष्ट है कि स्वामी जी अनेक कमियों के होते हुए भी स्वदेशी शासन को सर्वोत्तम मानते थे और उनकी दृष्टि में अच्छे-से-अच्छे विदेशी शासन से स्वराज्य की तुलना नहीं हो सकती थी। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि यहाँ स्वामी जी ने विदेशी शासन के साथ न्याय-दया आदि का जो उल्लेख किया है, उससे कुछ लेखकों ने यह परिणाम निकाला है कि यहाँ स्वामी जी का अभिप्राय १८५७ के स्वतन्त्रता-संग्राम की समाप्ति पर की गयी महारानी विक्टोरिया की उस घोषणा से था जिसमें भारत के सभी धर्मों और वर्गों के साथ समान व्यवहार करने की बात कही गई थी। अतः यहाँ स्पष्ट रूप से विदेशी राज्य से उनका

अभिप्राय अंग्रेजी राज्य से है।

इस विषय में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि सत्यार्थप्रकाश के पहले संस्करण में उन्होंने ब्रिटिश शासन के गुण-दोषों का विस्तृत विवेचन किया था। इसके छह पृष्ठों में ब्रिटिश शासन का मूल्यांकन करते हुए पहले यह स्वीकार किया गया है कि इससे भारत को अनेक लाभ प्राप्त हुए हैं। इस शासन ने सर्वत्र शान्ति स्थापित की है, बार-बार होने वाली लड़ाइयों को समाप्त कर दिया है, कृषि-योग्य भूमि का क्षेत्रफल बढ़ाकर और सड़कों का जाल बिछाकर आर्थिक समृद्धि का सम्वर्धन किया है। ब्रिटिश शासन की एक अन्य बड़ी विशेषता यह है कि इसने भारतीयों को धार्मिक तथा अन्य विषयों में स्वतन्त्रता प्रदान की है। अब राज्य की ओर से धार्मिक मामलों में कोई जोर-जबर्दस्ती नहीं की जाती है। शिक्षा के क्षेत्र में ऐसे स्कूल स्थापित किये गये हैं जिनमें शिक्षा पाने की सुविधा है और छात्रों के लिए मुद्रणालयों से मुद्रित होकर पुस्तकें बड़ी संख्या में उपलब्ध होती हैं। एक अन्य विशेषता न्याय-पद्धति की है। अमीर-गरीब अदालत में जाकर समान रूप से न्याय प्राप्त कर सकते हैं।

किन्तु इन लाभों के साथ-साथ भारत को ब्रिटिश शासन से बड़ी हानियाँ भी हुई हैं। ब्रिटिश शासन में भारतीयों को न्याय नहीं प्राप्त होता है। ईसाई लोग ईसाइयों का बहुत पक्षपात करते हैं। किसी गोरे ने काले (हिन्दुस्तानी) को मार दिया हो, तो भी (न्यायाधीश) बहुत पक्षपात करके उसे निरपराध कह कर छोड़ देते हैं। इसी प्रकार नमक कर और जंगल से लकड़ी लाने पर लिये जाने वाले करों की उन्होंने कटु आलोचना करते हुए लिखा था—"एक तो यह बात है कि नोन और पौन रोटी में जो कर लिया जाता है मुझको अच्छा मालूम नहीं होता, क्योंकि नोन बिना दरिद्र का भी निर्वाह नहीं। सबको नोन आवश्यक होता है और वह मेहनत-मजदूरी से जैसे-तैसे करते हैं। उनके ऊपर भी यह नोन का कर दण्डतुल्य रहता है। इससे दरिद्रों को क्लेश पहुँचता है, अतः कर (टैक्स) लवणादि के ऊपर न चाहिए। पौन रोटी से भी गरीबों को बहुत क्लेश होता है, क्योंकि गरीब लोग कहीं से घास-छेदन करके ले जायं या लकड़ी का भार, तो उनके ऊपर कौड़ियों के लगने से उनको अवश्य क्लेश होता होगा। इससे पौन रोटी का जो कर स्थापन करना है, सो भी हमारी समझ से अच्छा नहीं है।"

स्वामी दयानन्द सम्भवतः भारत में नमक-कानून का विरोध करने वाले पहले नेता थे। महात्मा गांधी ने १९३० ईसवी में भारत को स्वाधीन कराने के लिए जो अवज्ञा-आन्दोलन छेड़ा था उसमें नमक-कानून को तोड़कर इसे बनाने पर बल दिया गया था, क्योंकि नमक बनाने पर लगाये गये कर का बोझ भारत की गरीब जनता पर सबसे अधिक पड़ता था। गांधी जी के इस आन्दोलन से लगभग आधी शताब्दी पहले स्वामी दयानन्द ने १८७५ ईसवी में प्रकाशित अपने सत्यार्थप्रकाश में नमक-कर की कड़ी आलोचना की थी।

ब्रिटिश सरकार के द्वारा सरकारी अदालतों में आवेदन-पत्र देते समय और मुकद्दमे दायर करते हुए जो स्टाम्प पेपर लगाना होता था, उसकी स्वामी जी ने आलोचना करते हुए कहा था—"सरकार कागज को बेचती है और कागजों पर बहुत-सा धन बढ़ा दिया है। इससे गरीब लोगों को बहुत क्लेश पहुँचता है···सो यह बात राजा को कभी उचित नहीं, क्योंकि इसके होने से गरीब लोग दुःख पाकर बैठे रहते हैं। कचहरी में बिना

धन के कुछ बात होती नहीं। इससे कागजों पर जो बहुत धन लगाया जाता है वह मुझको अच्छा मालूम नहीं देता।" स्वामी जी का यह भी विचार था कि अदालतें चोरों, जुआरियों तथा व्यभिचारियों को बहुत हल्का दण्ड देती हैं। उनका विचार था कि यदि मनुस्मृति के अनुसार ऐसे अपराधों के लिए दागने, अंग-भंग, वध आदि के दण्ड दिये जायें तो उनसे ऐसे अपराधों में भारी कमी होगी। यदि न्यायाधीश कोई भूल करें तो उन्हें भी दण्ड दिया जाना चाहिए। पुलिस में अच्छे आदमियों को भरती किया जाना चाहिये। स्वामी दयानन्द का यह भी विचार था कि "राज्य द्वारा गौ, बैल आदि उपयोगी पशुओं का संरक्षण किया जाना चाहिए। एक गौ अपने दूध से १ लाख व्यक्तियों का पोषण कर सकती है, जबकि उसके मांस से बड़ी मुश्किल से ८० व्यक्तियों का पेट भर सकता है।"

किन्तु सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण में स्वामी जी ने यह सारा प्रकरण निकाल दिया है। हमारे पास निश्चित रूप से यह जानने के कोई साधन नहीं हैं कि स्वामीजी ने किन कारणों से प्रेरित होकर अपने ग्रन्थ का ऐसा संशोधन किया। किन्तु सत्यार्थप्रकाश के पहले और द्वितीय संस्करणों का तुलनात्मक अध्ययन यह स्पष्ट कर देता है कि अपने जीवन के अन्तिम ६-७ वर्षों में कई कारणों से स्वामी जी अंग्रेजों के उग्र विरोधी होते चले गये थे। इसीलिए सत्यार्थप्रकाश के दूसरे संस्करण में उन्होंने ब्रिटिश शासन के प्रशंसा-परक सभी संदर्भों को हटा दिया और तत्कालीन वातावरण में संयत शब्दों में ब्रिटिश साम्राज्य की जितनी अधिक-से-अधिक आलोचना कर सकते थे वह उन्होंने उपर्युक्त संदर्भ में इस रूप में की है कि अच्छे-से-अच्छा विदेशी शासन स्वदेशी शासन की तुलना में कभी अच्छा नहीं हो सकता।

स्वामी जी द्वारा ब्रिटिशविरोधी दृष्टिकोण अपनाने के तीन बड़े कारण थे। अपनी पंजाब-यात्रा में स्वामी जी ने यह देखा था कि ईसाई कितनी प्रबलता से हिन्दू धर्म पर कुत्सित आक्षेप कर रहे थे, अतः सत्यार्थप्रकाश के तेरहवें समुल्लास में उन्होंने ईसाइयों को उसी शैली और भाषा में मुँहतोड़ उत्तर दिया जिसमें ईसाई हिन्दू धर्म पर आक्षेप कर रहे थे। उनका यह विश्वास था कि यदि मिशनरी प्रचारक भारत को ईसाई बनाने में सफल हुए तो भारत में स्थायी रूप से ब्रिटिश राज्य बना रहेगा; उसके स्वाधीन होने की आशा नहीं रहेगी। स्वामी जी की दृष्टि में ईसाई और ब्रिटिश शासन अभिन्न थे। दूसरा कारण यह था कि स्वामी जी ने शनैः-शनैः यह अनुभव किया कि उस समय अंग्रेजों में जातीय अहंकार और गर्व की भावना पराकाष्ठा पर पहुँच गई है। वे भारतीयों को जंगली तथा घृणित पशु समझते थे और अपने भारतीय नौकरों को इतना पीटते थे कि कई बार उनकी मृत्यु हो जाती थी। किन्तु अदालत में मामला चलने पर वे बरी कर दिये जाते थे। भारतीयों के साथ यह अन्याय स्वामी जी को सह्य नहीं था। अतः बाइबल की आलोचना में उन्होंने तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति का संकेत करते हुए बड़े व्यंग्यपूर्ण शब्दों में लिखा है—"अनुमान होता है कि ईसाई लोग ईसाइयों का बहुत पक्ष-पात कर किसी गोरे ने काले को मार दिया हो, तो भी बहुधा पक्षपात से निरपराधी (बना) कर (गोरे को) छोड़ देते हैं। ऐसा ही ईसा के स्वर्ग का भी न्याय होगा।"

तीसरा कारण अंग्रेजों द्वारा भारत का आर्थिक शोषण था। पहले यह बताया जा चुका है कि स्वामी जी ने नमक पर लगाये जाने वाले कर की कड़ी आलोचना की थी। अगले एक अध्याय में यह स्पष्ट किया जायेगा कि नमक के कर से एक सामान्य खेती करने

वाले किसान को अपनी गाढ़े पसीने की आधी कमाई सरकार को देने के लिए विवश होना पड़ता था। उन दिनों अंग्रेज भारत को आर्थिक दृष्टि से बुरी तरह लूट रहे थे। ब्रिटिश शासन व्यवस्था की तुलना एक ऐसे स्पंज से की जाती थी जो भारत की समृद्धि को सोखकर इंग्लैण्ड में उँडेलने का सफल प्रयास कर रहा है। अंग्रेजों द्वारा भारत के शोषण पर कटु व्यंग्य करते हुए स्वामी जी ने लिखा है—"वाह, तभी तो ईसाई लोग परदेशियों के माल पर ऐसे झुकते हैं कि जानो प्यासा जल पर, भूखा धन पर।"

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि स्वामी जी ने ईसाइयत के सिद्धान्तों की धार्मिक आलोचना करने के साथ-साथ भारत की तत्कालीन परिस्थितियों के आधार पर अंग्रेजों की राजनैतिक आलोचना करने में भी कोई संकोच नहीं किया है। उनकी ईसाइयत की आलोचना इस्लाम की आलोचना से कहीं अधिक उग्र एवं कठोर है। इस कारण स्वामी जी के नवीनतम जीवनी-लेखक जे० टी० एफ० जोर्डन्स ने तेरहवें समुल्लास की आलोचना को स्वामी जी के नवीन आक्रमणात्मक राष्ट्रवाद (Militant Nationalism) का प्रदर्शन माना है और यह कहा है कि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उनमें यह प्रवृत्ति पंजाब में उत्पन्न हुई जहाँ वे ईसाइयों द्वारा प्रचारित साहित्य के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। थियोसोफिस्ट भी ईसाइयों के कट्टर विरोधी थे और उन्होंने भी स्वामी जी के विचारों को सम्भवतः प्रभावित किया होगा। इसके अतिरिक्त एक अन्य कारण मुंशी इंद्रमणि का मामला था। अन्यत्र (आर्यसमाज का इतिहास, भाग १, पृ० ७१) इसकी विस्तार से चर्चा की जा चुकी है। स्वामी जी इस विषय में किये गये ब्रिटिश न्यायाधीश के निर्णय से सन्तुष्ट नहीं थे, उन्होंने अपने एक पद्यबद्ध संस्कृत-पत्र में श्यामजी कृष्ण वर्मा से अनुरोध किया था कि वे ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में इस प्रश्न को उठायें। इस मामले से भारत के ब्रिटिश शासकों की न्यायपरायणता से उनका विश्वास उठ गया था। उनमें राष्ट्रीयता की भावना प्रबल होने का यह भी एक उल्लेखनीय कारण था। उनकी रचनाओं में राष्ट्रीयता का ऐसा प्रबल स्वर सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण से पहले मुखर नहीं होता है।

(४) हिन्दी और राष्ट्रीय एकता

१९वीं शताब्दी में ब्रिटिश शासकों ने यह नीति बनायी थी कि शिक्षणालयों में अंग्रेजी भाषा को प्रमुख स्थान दिया जाय, शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी का प्रयोग किया जाय और सरकारी कार्य के लिए यही भाषा काम में लायी जाय। महर्षि दयानन्द इसे सर्वथा अवांछनीय और अनुचित समझते थे। उन्होंने सम्भवतः सबसे पहले इसके विरुद्ध आवाज उठायी और हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने पर तथा सरकारी कार्यों के लिए प्रयोग में लाने पर बल दिया। वे हिन्दी के लिए आर्यभाषा का प्रयोग करते थे, क्योंकि इसे वे सम्पूर्ण आर्यावर्त की भाषा मानते थे। सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय समुल्लास में उन्होंने शिक्षा में इसे महत्त्वपूर्ण स्थान देते हुए लिखा था कि बच्चों की शिक्षा का प्रारम्भ देवनागरी लिपि से कराया जाय। उनके पठन-पाठन की विधि में संस्कृत और हिन्दी का प्रमुख स्थान है। राजकीय कार्यों और आपसी व्यवहार में वे इसी भाषा का प्रयोग करने पर बल देते थे। उनकी प्रेरणा से सरकार को इस आशय का एक ज्ञापन या मैमोरियल देने की तैयारी की गयी थी। इसमें इस बात पर बल दिया गया था कि

राजकाज में हिन्दी का प्रयोग किया जाय। उन्होंने लाला कालीचरण, रामचरण और बाबू दुर्गाप्रसाद को इस बारे में पत्र लिखते हुए बताया था कि पंजाब आदि के राज-कार्य में आर्यभाषा के प्रयोग के लिए सरकार को मैमोरियल भेजे गये हैं; किन्तु फर्रुखाबाद, कानपुर, बनारस आदि स्थानों से नहीं भेजे गये हैं। यहाँ से भी मैमोरियल भिजवाए जाने चाहिएँ। इस प्रकार महर्षि ने हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा तथा सरकारी कामकाज की भाषा के लिए आन्दोलन चलाया था।

वे बच्चों की शिक्षा में प्रथम और प्रधान स्थान आर्यभाषा को देते थे। उन्होंने जोधपुर-नरेश को एक पत्र में लिखा था कि महाराजकुमार को २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कराते हुए पहले देवनागरी भाषा की, पुनः संस्कृतविद्या की शिक्षा दी जानी चाहिए और इसके बाद समय हो तो अंग्रेजी पढ़ाई जाय।

स्वामी जी देश की उन्नति के लिए हिन्दी का प्रचार तथा प्रसार आवश्यक समझते थे। उनकी प्रबल इच्छा थी कि कश्मीर से कन्याकुमारी तक सभी भारतीय एक भाषा बोलने लगें। उनकी मातृभाषा गुजराती थी। इसके साथ ही वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। गुजराती भाषा-भाषी होते हुए भी १८७४ ई० तक वे तत्कालीन विद्वन्मंडली में समादृत संस्कृत भाषा में ही अपने उपदेश देते रहे। हिन्दी का प्रयोग उन्होंने ब्राह्मसमाज के नेता श्री केशवचन्द्र सेन के सुझाव पर आरम्भ किया। श्री सेन का यह विचार था कि संस्कृत को केवल इने-गिने पण्डित ही समझ सकते हैं। यदि स्वामी जी भारत में सामान्य जनता द्वारा बोली और समझी जाने वाली लोकभाषा हिन्दी में अपने भाषण दें तो उनके उपदेशों से अधिक लोग लाभ उठा सकेंगे।

स्वामी जी द्वारा हिन्दी के प्रयोग को आरम्भ करने का दूसरा कारण यह भी था कि जब उनके संस्कृत भाषा में दिये गये भाषण का अनुवाद स्थानीय लोकभाषा में जनता को समझाने के लिए किया जाता था तो अनुवादक इसमें अपनी ओर से बहुत-सी बातें जोड़ देते थे। इस कारण स्वामी जी के विचार शुद्ध रूप में जनता तक नहीं पहुँच सकते थे। कलकत्ता में छपने वाले 'इण्डियन मिरर' नामक पत्र के २२ फरवरी १८७३ ई० के अंक में यह समाचार छपा था कि स्वामी जी के एक संस्कृत भाषण का जब पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न ने बंगला में अनुवाद किया तो उन्होंने इसमें बहुत-सी ऐसी नयी बातें जोड़ दीं, जो स्वामी जी ने नहीं कही थीं। इसके बाद से स्वामी जी ने हिन्दी में भाषण देने और लिखने का निश्चय किया। इस कार्य में उन्हें दो बंगलाभाषियों — भूदेव मुखोपाध्याय और राजेन्द्रलाल मित्र से बड़ा प्रोत्साहन मिला। ये दोनों बंगाली हिन्दी को सारे भारत की राष्ट्रभाषा बनाने के प्रबल समर्थक थे।

उपर्युक्त दोनों कारणों के अतिरिक्त स्वामी जी द्वारा हिन्दी के प्रयोग पर बल दिया जाने का बड़ा कारण राष्ट्रीय एकता की भावना को सुदृढ़ बनाने का आकांक्षा थी। इसे स्पष्ट करते हुए स्वामी जी की जीवनी के नवीनतम लेखक आस्ट्रेलिया के राष्ट्रीय विश्वविद्यालय केनबरा के प्राध्यापक जोर्डन्स ने यह ठीक ही लिखा है—बनारस से लाहौर तथा बम्बई तक वे जहाँ भी गये उन्होंने हिन्दी का व्यवहार किया। यह केवल सुविधा-जनक नीति ही नहीं थी क्योंकि हिन्दी समूचे उत्तर भारत में समझी जाती थी, किन्तु यह सिद्धान्त की भी बात थी। गुजरात में स्वामी जी अपनी मातृभाषा गुजराती में उपदेश दे सकते थे और इस प्रकार वे वहाँ साधारण जनता तक अपना सन्देश अधिक अच्छी

तरह पहुँचा सकते थे; किन्तु हिन्दी उनके लिए भारत में फूट डालने वाली प्रवृत्तियों पर विजय पाने का कारण थी। इससे विभिन्न राज्यों और जातियों तथा वर्गों में एकता को पुष्ट किया जा सकता था। उनसे जब एक बार पूछा गया था कि हमारा देश कब अपनी पुरानी गरिमा और समृद्धि को प्राप्त करेगा तो उन्होंने उत्तर दिया था कि जब धर्म, भाषा तथा उद्देश्यों की एकता होगी। इससे यह स्पष्ट है कि स्वामी जी राष्ट्रीय एकता के लिए भाषा की एकता को आवश्यक समझते थे।

स्वामी जी की यह प्रबल इच्छा थी कि सब भारतीय हिन्दी का अध्ययन करें ताकि राष्ट्र की एकता पुष्ट हो सके। इस दृष्टि से वे सभी के लिए हिन्दी भाषा पढ़ना आवश्यक समझते थे। जब कभी उनके सामने उनके ग्रन्थों को दूसरी भाषा में अनुवाद करने का प्रस्ताव रखा गया तो वे इसका विरोध करते रहे। एक बार एक पंजाबी भक्त ने स्वामी जी से उनके समस्त ग्रन्थों का उर्दू भाषा में अनुवाद करने की अनुमति माँगी। स्वामी जी ने बड़े प्रेम से इस भक्त को उत्तर देते हुए कहा—"भाई, मेरी आँखें तो उस दिन को देखने के लिए तरस रही हैं, जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक सब भारतीय एक भाषा को समझने और बोलने लग जायेंगे; जिन्हें सचमुच मेरे ग्रन्थों को जानने की इच्छा होगी, वे आर्यभाषा का सीखना अपना कर्त्तव्य समझेंगे। अनुवाद तो विदेशियों के लिए हुआ करते हैं।"

(५) लोकतन्त्र और सामाजिक न्याय

आजकल भारतीय संविधान के आधारभूत तत्त्वों में प्रजातन्त्र और सामाजिक न्याय की गणना प्रमुख रूप में की जाती है। स्वामी जी ने अपने ग्रन्थों में इन दोनों सिद्धांतों पर बहुत बल दिया है। स्वामी जी ने राज्य के प्रमुख अधिकारी के लिए 'राजा' शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु उनका राजा वंशपरम्परागत स्वेच्छाचारी शासक नहीं, अपितु जनता द्वारा निर्वाचित किया गया ऐसा व्यक्ति है जो सभा के सहयोग एवं परामर्श से राज्य का शासन करता है। वे इसे इतना अधिक महत्त्व देते थे कि ऋग्वेद-भाष्य में उन्होंने प्रायः सर्वत्र राजा का अर्थ सभापति और सभाध्यक्ष किया है। राजा होने के लिए वे यह आवश्यक समझते थे कि प्रजाजन आपस में सम्मति करके किसी उत्कृष्ट गुणयुक्त व्यक्ति को सभापति या राजा बनाएँ(यजुर्वेद १२।११); वही राजा होने योग्य है जिसको समस्त प्रजाजन स्वीकार करें (ऋक्० २।१।८)। वे भारत के इक्ष्वाकु आदि प्राचीन आर्य राजाओं को प्रजा द्वारा निर्वाचित समझते थे।

स्वामी जी का यह विश्वास था कि एकतन्त्र की व्यवस्था प्रजा के हित की दृष्टि से बड़ी घातक है। ऐसा राजा प्रायः निरंकुश और उच्छृङ्खल हो जाता है और प्रजा पर नाना प्रकार के अत्याचार करने लगता है। इस सम्बन्ध में छठे समुल्लास के प्रारम्भ में उन्होंने लिखा है—"जैसे सिंह वा मांसाहारी हृष्ट-पुष्ट पशु को मारकर खा लेते हैं, वैसे स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश करता है, अर्थात् किसी को अपने से अधिक नहीं होने देता। श्रीमान को लूट-खसोट अन्याय से दण्ड देकर अपना प्रयोजन पूरा करेगा।" राजा पर सभा का नियन्त्रण होना चाहिए। जहाँ ऐसा नहीं होता है, वहाँ प्रजा सदा पीड़ित होती है। एक पुरुष को कभी राजा नहीं बनाना चाहिए। सभा द्वारा ही राज्य का प्रबन्ध किया जाना चाहिए।

राज्य के संचालन के लिए महर्षि दयानन्द ने तीन सभाओं का प्रतिपादन किया है। राजा को इन सभाओं के परामर्श से ही शासन का संचालन करना चाहिए। ये सभाएँ राजा की निरंकुशता पर प्रतिबन्ध लगाने का काम करती थीं। ये तीन सभाएँ हैं—(१) राज्य की व्यवस्था और प्रबन्ध के लिए आर्य राज्य सभा या राजार्य सभा। (२) सब प्रकार की विद्याओं के प्रचार का कार्य करने वाली आर्य विद्या या विद्यार्य-सभा। (३) धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि का कार्य करने वाली आर्य धर्म सभा या धर्मार्य सभा। ये तीनों सभाएँ अपने विशेष कार्य करने के अतिरिक्त सामान्य विषयों के लिए परस्पर मिलकर कार्य करती हैं।

स्वामी जी आदर्श लोकतन्त्र की प्रणाली का अनुसरण करते हुए सब व्यक्तियों को गुण-कर्म और स्वभाव के अनुसार समाज में स्थान देने की व्यवस्था करते हैं। जब वे कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए, उस समय भारतीय समाज में जातिप्रथा बद्धमूल थी। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का स्थान समाज में उसके जन्म से निश्चित होता है। यदि वह ब्राह्मण या क्षत्रियकुल में उत्पन्न हुआ है तो उसके लिए राज्य के उच्चतम पद प्राप्त करने की सब सुविधाएँ हैं। किन्तु यदि दुर्भाग्यवश वह एक शूद्र के घर में जन्म लेता है तो उसके लिए उन्नति के सब द्वार बन्द हैं और वह अपनी उन्नति के अवसरों से वंचित है। यह व्यवस्था बड़ी अन्यायपूर्ण है। समाज में सभी व्यक्तियों को समान रूप से शिक्षा प्राप्त करने और ऊँचा उठने के अवसर प्राप्त होने चाहिएँ। वर्तमान लोकतन्त्रों का यह एक प्रधान लक्ष्य होता है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में इस बात को बड़े स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है। यह स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज की बड़ी विशेषता है कि उसने समाज के सभी व्यक्तियों को न्याय प्रदान करने वाली लोकतन्त्रीय पद्धति का अनुसरण किया।

लोकतन्त्रकी प्रणाली को स्वामी जी इतना महत्त्वपूर्ण मानते थे कि उन्होंने आर्य-समाज का संगठन इसी पद्धति के आधार पर किया। आर्यसमाज के सभी पदाधिकारी सदस्यों द्वारा प्रतिवर्ष निर्वाचित किये जाते हैं।

(६) धर्मानुप्राणित राजनीति

वर्तमान युग में लोकतन्त्रों में बड़ा भ्रष्टाचार पाया जाता है और यह माना जाता है कि धर्म का राजनीति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। चुनाव जीतने के लिए सभी प्रकार के नैतिक-अनैतिक उपायों का अवलम्बन किया जाता है। राजनीति और नैतिकता सर्वथा भिन्न वस्तुएँ मानी जाती हैं। प्रतिदिन समाचारपत्रों में राजनीतिज्ञों तथा मन्त्रियों के भ्रष्टाचार के मामलों के विवरण प्रकाशित होते रहते हैं।

स्वामी जी राजा एवं राज्य की महत्त्वपूर्ण सभाओं के सभासदों के लिए उच्च-चरित्र-सम्पन्न होना अतीव आवश्यक समझते हैं। वे निरन्तर इस बात पर बल देते हैं कि राज्य के पदों पर सद्गुणी व्यक्तियों को ही निर्वाचित किया जाना चाहिए। ऋग्वेद-भाष्य (३।३५।७) में उन्होंने लिखा है कि—"राज्य की विभिन्न सभाओं के सभासद् ऐसे होने चाहिएँ जो कुटिलता का विनाश करने वाले हों, दुष्टों के प्रति कठोर और श्रेष्ठों के प्रति कोमल हों, शास्त्रों के ज्ञाता हों और राजभक्ति को बढ़ाने की सामर्थ्य रखते हों, ईश्वर से भय खाते हुए वे सदा अधर्म की पराजय तथा धर्म की विजय के लिए

प्रयत्नशील रहने वाले हों।

राज्य की सभाओं के सभासदों की भाँति राज्य के नागरिकों का चरित्र भी ऊँचा होना चाहिए। स्वामी जी ने जिस धर्मार्य सभा की व्यवस्था की है, उसका प्रधान कार्य जनता को धार्मिक गुणों से युक्त, सच्चरित्र और कर्त्तव्यनिष्ठ बनाना है। राज्य की वृद्धि और समृद्धि उसके नागरिकों के चरित्र पर अवलम्बित होती है। अतः महर्षि यह आवश्यक समझते हैं कि नागरिकों में सब गुणों के विकास का प्रयत्न किया जाय। जनता को सच्चरित्र बनाने का कार्य ऐसे उपदेशकों द्वारा किया जाय जो धर्मार्य सभा के तत्त्वावधान में नियुक्त हों। यजुर्वेद के एक मन्त्र (१२।५९) के भाष्य में स्वामी जी ने लिखा है—"राजा और प्रजाजनों को चाहिए कि जो जितेन्द्रिय, धर्मात्मा और परोपकार में प्रीति रखने वाले विद्वान् होवें, उनको प्रजा में धर्मोपदेश के लिए नियुक्त करें और उपदेशकों को चाहिए कि प्रयत्न के साथ सबको अच्छी शिक्षा दें। एक धर्म में निरन्तर विरोध को छोड़कर स्तुति करें।" धर्मार्य सभा के व्यक्तियों का कार्य प्रजाजनों को धार्मिक दृष्टि से श्रेष्ठ बनाना और धर्म का उपदेश करना था। स्वामी जी 'धर्म' शब्द का प्रयोग किसी संकीर्ण अथवा विशिष्ट धर्म के लिए नहीं करते हैं, अपितु धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य व अक्रोध के दस नैतिक गुणों के लिए करते हैं।

इस प्रसंग में यह बात उल्लेखनीय है कि स्वामी जी मनुष्य उसी को कहते हैं जो सर्वथा निर्भय हो और अतीव शक्तिशाली, अन्यायकारी से भी न डरता हो। उन्होंने अपने **स्वमंतव्यामंतव्य-प्रकाश** में लिखा है—"मनुष्य उसी को कहना जो मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे, और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं, किन्तु अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं की, चाहे वे महाअनाथ निर्बल और गुणरहित क्यों न हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण; और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती सनाथ महाबलवान् और गुणवान् भी हों तथापि उसका नाश, अवनति, अप्रिय आचरण सदा किया करें। अर्थात् जहाँ तक हो सके वहाँ तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करें। इस काम में चाहे कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भले ही चले जायँ, परन्तु इस मनुष्यपन रूप धर्म से पृथक् कभी न होवें।[1]

स्वामी जी भारत की पराधीनता का प्रधान कारण चरित्र का नैतिक अधःपतन समझते थे। अन्यत्र यह उल्लेख किया जा चुका है कि सत्यार्थप्रकाश में दो स्थलों पर इन कारणों की विवेचना करते हुए उन्होंने बताया है, कि आपसी फूट, धार्मिक मतभेद, शिक्षा की कमी, बाल-विवाह, स्वयंवर-पद्धति का न होना, विषयभोग में लिप्त होना, असत्य-भाषण, वेदाध्ययन की उपेक्षा भारत के विदेशियों से पादाक्रान्त होने के प्रधान कारण हैं।[2]

अतः वे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए चरित्र की शुद्धि और नैतिक उन्नति को आवश्यक समझते थे और यह चाहते थे कि भारत में वैदिक युग की उच्च आध्यात्मिकता और नैतिकता का वातावरण होना चाहिये। जब तक ऐसा वातावरण नहीं होता है तब

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ५८२-८३

२. सत्यार्थप्रकाश, दशम समुल्लास, पृष्ठ २२८-२२९

तक भारतीय स्वाधीनता प्राप्त नहीं कर सकते और यदि स्वाधीनता प्राप्त भी हो जाय तो उसकी अच्छी तरह रक्षा नहीं कर सकेंगे। स्वतन्त्रता-प्राप्ति की पहली शर्त नैतिक दुर्बलताओं को दूर करना है।

इसके साथ ही वे इस बात को मानते थे कि वर्तमान समय में अंग्रेजों का जो राजनैतिक उत्कर्ष हो रहा है और विश्व में चारों ओर साम्राज्य फैल रहा है, उसका बड़ा कारण और भारत को जीतने का प्रमुख हेतु उनके उत्कृष्ट चारित्रिक गुण हैं। भारतीयों की तुलना में नैतिक दृष्टि से अंग्रेज तथा यूरोपियन लोग अधिक उत्कृष्ट हैं। उनमें भारतीयों जैसी बुराइयाँ—बचपन में विवाह करना, बच्चों को सुशिक्षित न करना, आलस्य, प्रमाद, विदेशी वस्तुओं से प्रेम, स्वदेशी वस्तुओं से घृणा आदि के दुर्गुण नहीं हैं। अपनी नैतिक उत्कृष्टता के कारण वे आर्यावर्त पर शासन कर रहे हैं। यूरोपियनों की उन्नति के कारणों की विवेचना करते हुए स्वामीजी ने ११वें समुल्लास में लिखा है—"जो यूरोपियनों में बाल्यावस्था में विवाह न करना, लड़का-लड़की को विद्या और सुशिक्षा करना-कराना, स्वयंवर-विवाह होना, बुरे-बुरे आदमियों का उपदेश नहीं होता, वे विद्वान् होकर जिस किसी के पाखण्ड में नहीं फँसते। जो कुछ करते हैं, वह सब परस्पर विचार और सभा से निश्चित करके करते हैं। अपने स्वजातीय की उन्नति के लिए तन-मन-धन व्यय करते हैं। आलस्य को छोड़ उद्योग किया करते हैं। देखो! अपने देश के बने हुए जूते को आफिस और कचहरी में जाने देते हैं, इस देशी जूते को नहीं। इतने में ही समझ लेओ कि अपने देश के बने हुए जूतों का भी कितना मान-प्रतिष्ठा करते हैं, उतना भी अन्य देशस्थ मनुष्यों का नहीं करते···जो जिस काम पर रहता है उसको यथोचित करता है, आज्ञानुवर्ती बराबर रहते हैं। अपने देश वालों को आदि व्यापार में सहायता देते हैं, इत्यादि गुणों और अच्छे-अच्छे कर्मों से उनकी उन्नति है।"

इस उद्धरण से तथा इस समूचे प्रकरण से यह स्पष्ट है कि स्वामी जी अंग्रेजों की उन्नति का मूल कारण कर्त्तव्यपालन की भावना, कर्मठता, स्वदेशप्रेम, देशाभिमान, शिक्षा, बड़ी आयु में विवाह करना, पाखण्ड में न फँसना, बुरे आदमियों से बचे रहना, परस्पर विचार और सभा से निश्चित किए हुए निर्णयों का अनुसरण करना समझते थे। उनका यह विश्वास था कि भारतीय जब तक इन गुणों को नहीं अपनायेंगे, देश के हित को व्यक्तिगत स्वार्थ से अधिक महत्त्व नहीं देंगे, आलस्य, फूट, अशिक्षा, अज्ञान, बालविवाह आदि भीषण दुर्गुणों को दूर नहीं करेंगे, चरित्र को शुद्ध-पवित्र और निर्मल नहीं बनाएँगे तब तक वे उन्नति नहीं कर सकेंगे, स्वतन्त्र नहीं हो सकेंगे। सामाजिक एवं राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन के लिए और विदेशी दासता से मुक्त होने के लिए चरित्र की शुद्धि और पवित्रता अतीव आवश्यक है।

चारित्रिक गुणों में उन्होंने निर्भयता को असाधारण महत्त्व दिया है। उनका यह विश्वास था कि व्यक्ति को अपने सिद्धान्त पर अटल रहना चाहिए और बड़े-से-बड़े अत्याचार का सामना साहसपूर्वक करना चाहिए। **स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश** में उन्होंने इस विषय में भर्तृहरि के नीतिशतक के एक सुप्रसिद्ध श्लोक को उद्धृत करते हुए कहा है कि मनुष्य को चाहे कितना ही भयंकर कष्ट क्यों न हो, उसके प्राण भी क्यों न चले जायँ,

---

१. सत्यार्थप्रकाश, ११वाँ समुल्लास, पृ० ३४४-४५

उसकी कितनी ही निन्दा क्यों न की जाय, उसे न्यायपूर्ण मार्ग से कभी पदच्युत नहीं होना चाहिए। इस प्रसंग में उनका यह वाक्य उल्लेखनीय है कि—"मनुष्य को अन्यायकारी बलवान् से भी नहीं डरना चाहिए।"

इसमें इस बात का स्पष्ट संकेत है कि अंग्रेज यद्यपि बलवान् और अत्याचारी हैं फिर भी स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए निर्भयतापूर्वक संघर्ष करने में कोई संकोच नहीं करना चाहिए। आगे यह बताया जायेगा कि आर्यसमाज के नेताओं ने स्वामी दयानन्द के नैतिक चरित्र के विकास पर बल देने को इतना महत्त्वपूर्ण माना कि वे इस बात पर बल देने लगे कि आर्यसमाज को राजनैतिक संघर्ष और स्वाधनीता-संग्राम में भाग लेने से पहले भारतीयों के नैतिक चरित्र को सुधारने का प्रयास करना चाहिए। महात्मा मुंशीराम जी ने भी इस बात पर बहुत बल दिया।

राजनीति को प्रायः कूटनीति और कपटनीति समझा जाता है। इसमें सब प्रकार के नैतिक साधनों का प्रयोग अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए वांछनीय माना जाता है। सब प्रकार की धोखाधड़ी और छल के साधनों का उपयोग बुरा नहीं माना जाता है। किन्तु महात्मा मुंशीराम ने अपने गुरु का अनुसरण करते हुए राजनीति में साध्य एवं साधन—दोनों की पवित्रता पर बल दिया। उनकी दृष्टि में स्वराज्य का अर्थ अपने मन, इन्द्रियों तथा वासनाओं पर नियन्त्रण रखना था। स्वराज्य न केवल राजनैतिक, अपितु आध्यात्मिक भावना थी। राजनैतिक क्षेत्र में भारत तभी स्वराज्य प्राप्त कर सकता था, जब भारतवासियों का नैतिक चरित्र इतना ऊँचा उठ चुका हो कि उन्हें अपनी इन्द्रियों तथा मन पर पूरा **स्वराज्य** प्राप्त हो। सूरत-कांग्रेस के अधिवेशन की घटनाओं के सम्बन्ध में उन्होंने टिप्पणी करते हुए 'सद्धर्म प्रचारक' में लिखा था—

"आज तुम्हारी अपनी इन्द्रियाँ तुम्हारे वश में नहीं हैं। जब अपने मन पर तुम्हारा अधिकार नहीं है, तब तुम दूसरों से क्या अधिकार प्राप्त कर सकते हो? ···जिस कांग्रेस का आधार अधर्म है, उसका प्राप्त कराया स्वराज्य कभी भी फलदायक न होगा, कभी भी सुख-शान्ति का राज्य फैलाने वाला न होगा।···एक ऐसे धार्मिक दल की आवश्यकता है जो विरोधी को धोखा देना भी वैसा ही पाप समझता हो, जैसाकि अपने भाई को, जो सरकारी अत्याचारों को प्रकट करते हुए अपने भाइयों की दुष्टता तथा उनके अत्याचारों को भी न छिपाने वाला हो, जो मौत के भय से भी न्याय के पथ को छोड़ने तक का विचार मन में न लाने वाला हो। पोलिटिकल जगत् में ऐसे अग्रणी की आवश्यकता है। क्या कोई महात्मा आगे आने का साहस करेगा? और क्या उसके पीछे चलने वाले पाँच पुरुष भी निकलेंगे? यदि इतना भी नहीं हो सकता तो स्वराज्य-प्राप्ति के प्रोग्राम को पचास वर्षों के लिए तह करके रख दो।"[1]

इस अवतरण से स्पष्ट है कि महात्मा मुंशीराम उदात्त नैतिक आदर्शों का अनुसरण करने वाली नीति को ही सच्ची राजनीति मानते थे। उपर्युक्त उद्देश्य में उन्होंने किसी ऐसे चरित्र सम्पन्न महात्मा के राजनीति में आने की आकांक्षा प्रकट की थी। १९१९ ई० में जब महात्मा गांधी ने कांग्रेस का नेतृत्व सम्भाला तो उनकी इच्छा पूरी हुई। भारतीय राजनीति धर्म से अनुप्राणित हुई और इसीलिए वे राजनैतिक स्वतन्त्रता के संग्राम में

---

१. इन्द्र विद्यावाचस्पति द्वारा उद्धृत, आर्यसमाज का इतिहास, दूसरा भाग, पृ० १०९

सम्मिलित हुए तथा उन्होंने अपने अनुयायियों को भी इसमें भाग लेने के लिए कहा।

(७) मानसिक पराधीनता का निवारण

राष्ट्रीय दृष्टि से स्वामी दयानन्द का एक अतीव महत्त्वपूर्ण कार्य भारतीयों को मानसिक दासता की मनोवृत्ति से मुक्त करना था। मानसिक पराधीनता शारीरिक पराधीनता से भी अधिक दुःखदायी और घातक है। जब तक व्यक्ति अपने को पराधीन समझता है, तब तक वह उससे मुक्त होने का प्रयत्न करता है। किन्तु यदि वह मानसिक दृष्टि से हताश हो जाय तो अपनी पराधीनता को वरदान समझने लगता है। दासता की शृंखलायें उसे सोने की जंजीरें प्रतीत होने लगती हैं और उसके उद्धार की कोई आशा नहीं रहती है। ब्रिटिश सरकार ने पिछली शताब्दी में अंग्रेजी शिक्षा द्वारा भारतीयों में आत्महीनता की ऐसी भावना उत्पन्न कर दी थी कि वे मानसिक दासता का शिकार होकर प्रत्येक भारतीय वस्तु को तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगे थे। उन्हें अपनी संस्कृति व सभ्यता पर कोई अभिमान नहीं रहा था। भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रबल पोषक लार्ड मैकाले ने लिखा था—"किसी अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय की किसी अलमारी के एक ताक पर रखी हुई पुस्तकें समूचे संस्कृत व अरबी वाङ्मय से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं··· संस्कृत भाषा में लिखी पुस्तकों से संगृहीत इतिहास इंग्लैंड की प्रारम्भिक पाठशालाओं में उपयोग में आने वाले संक्षिप्ततम इतिहासों से भी अधिक निकृष्ट है···क्या हम सच्चे दर्शन शास्त्र और इतिहास का संरक्षण करें या सार्वजनिक व्यय से चिकित्सा शास्त्र के वे सिद्धान्त पढ़ाएँ जिन्हें सुनकर अंग्रेजी बोर्डिंग स्कूल की छात्राएँ हँस पड़ें, या वह इतिहास पढ़ाएँ जिसमें ३० फीट ऊँचे और ३० हजार वर्ष राज्य करने वाले राजाओं का वर्णन हो, या वह भूगोल पढ़ाएँ जिसमें मधु व नवनीत के समुद्रों का उल्लेख हो?" शिक्षित भारतीयों ने मैकाले पर विश्वास कर लिया और अपनी संस्कृति और साहित्य से अनास्था करने लगे। इसी प्रकार मैक्समूलर ने जब वेदों को गडरियों का गीत कहा तो भारतीय समाज ने श्रद्धाभाव से यह बात स्वीकार कर ली।

अंग्रेजों ने राष्ट्रीय शिक्षा तथा संस्कृत और अरबी वाङ्मय के अध्ययन का इसलिए विरोध किया कि इनके अनुशीलन से भारतीयों में स्वदेश-भक्ति उत्पन्न होगी और ब्रिटिश शासन की स्थिरता खतरे में पड़ जायेगी। मैकाले के सम्बन्धी व मद्रास के गवर्नर चार्ल्स ट्रेवेलियन ने १८५३ ई० में लन्दन में एक संसदीय समिति के समक्ष मैकाले की शिक्षा-नीति का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा था—"मुसलमान गैर-मुसलमानों को काफिर समझते हैं और हिन्दू अपनी जाति वालों को म्लेच्छ व अस्पृश्य मानते हैं। सौभाग्य-वश इनके ग्रन्थ क्लिष्ट भाषाओं में लिखे हुए हैं। यदि इन भाषाओं के पुनरुज्जीवन के आधार पर राष्ट्रीय शिक्षा की योजना बनायी जाय तो वह मुसलमानों को हमेशा यह स्मरण करायेगी कि हम काफिर हैं और हिन्दुओं को यह याद दिलायेगी कि हम अस्पृश्य पशु हैं, जिनके साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध रखना लज्जाजनक पातक है। हमारे तीव्रतम विरोधी भी शिक्षा की ऐसी पद्धति को नहीं चाहते जिससे हमारे विरुद्ध घृणा के प्रबल भाव उत्पन्न हों···भारतीयों के लिए अपनी दशा सुधारने का एक ही प्रभावशाली उपाय है और वह है अंग्रेजी शिक्षा का फौरन पूर्ण बहिष्कार···।" इसके बाद आगे चलकर उसने अंग्रेजी शिक्षा के सुपरिणामों का उल्लेख करते हुए कहा कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे युवक ब्रिटेन

के महापुरुषों का मान हमारी तरह करते हैं और वे हिन्दू की अपेक्षा अंग्रेज अधिक होते हैं। इन अंग्रेज-हिन्दुओं में अंग्रेजी शिक्षा से स्वदेशाभिमान और जातीय गौरव की भावना बिल्कुल नष्ट हो चुकी थी और वे सब बातों में अंग्रेजों को तथा पश्चिम की जातियों को उन्नत एवं उत्कृष्ट समझते थे।

इस मानसिक दासता का एक अन्य कारण यह भी था कि अंग्रेजों ने अपना शासन सुदृढ़ बनाने तथा व्यापार की सुविधा के लिए रेलगाड़ियों को चलाया, टेलीफोन और तार की व्यवस्था की। इन सब बातों से भारतीयों पर यह प्रभाव पड़ा कि सब प्रकार के नवीन वैज्ञानिक आविष्कार यूरोप में होने के कारण इंग्लैंड आदि पश्चिमी देश और उनकी सभ्यता सर्वश्रेष्ठ है। मैकाले ने भारतीय साहित्य के थोथेपन और हीनता के बारे में जो विचार प्रकट किए थे, वे सर्वथा सत्य हैं। भारतीयों के पास अपने साहित्य और संस्कृति में अभिमान करने योग्य कोई वस्तु नहीं है।

ऐसे विकट समय में स्वामी दयानन्द ने भारतीयों में अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के प्रति अनुराग जगाया। उसकी उत्कृष्टता, गौरव और महत्ता में विश्वास कराकर उनकी मानसिक दासता को दूर किया। भारतीय मैकाले की माया से जिस मोहनिद्रा के वशीभूत थे, उससे उन्हें जागृत किया। स्वामी जी ने यह कार्य एक अनोखे ढंग से सम्पन्न किया। उन्होंने वेदों के सम्बन्ध में एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण के प्रतिपादन के माध्यम से मानसिक दासता को दूर किया।

१८७५ ई० में जिस समय महर्षि दयानन्द ने बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की थी, उस समय भारतीयों में अपनी संस्कृति और सभ्यता को गौरवपूर्ण समझने तथा स्वदेशाभिमान की भावना इतनी क्षीण हो चुकी थी कि अधिकांश अंग्रेजों को यह पूरा विश्वास हो गया था कि शीघ्र ही भारतीय संस्कृति का कोई नामलेवा या पानीदेवा अवशिष्ट नहीं रहेगा। यह प्रतीत होता था कि मैकाले की वह भविष्यवाणी पूरी होने वाली थी जो उसने १८३५ ई० में अपने पिता को लिखे एक पत्र में की थी कि बंगाल में तीस वर्ष बाद कुलीन एवं संभ्रान्त श्रेणियों में एक भी मूर्तिपूजक (हिन्दू) शेष नहीं रहेगा।[1] १८५६ ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेवा आरम्भ करने वाले तथा १८८२-८७ ई० तक नार्थ वैस्टर्न प्रोविंसिज (वर्तमान उत्तर प्रदेश) के लेफ्टीनेंट गवर्नर के पद को सुशोभित करने वाले महान् ब्रिटिश प्रशासक ए० सी० लायल ने अगस्त १८८७ ई० में **फोर्टनाइटली रिव्यू** के अंक में लिखा था—"मेरी यह कल्पना है कि हिन्दू धर्म के पुराने देवी-देवता पश्चिम के बौद्धिक आलोक की नवीन परिस्थितियों में उसी प्रकार उतनी तेजी से समाप्त हो जायेंगे, जिस तेजी से जाल में पकड़ कर पानी से बाहर निकाली मछलियाँ नष्ट हो जाती हैं।"[2] इससे पहले १८६५ ई० में **कलकत्ता रिव्यू** नामक पत्रिका में एक ब्रिटिश लेखक ने लिखा था—"रेलों तथा शिक्षा के सम्मिलित प्रभाव का यह चिरप्रतीक्षित परिणाम होगा कि हिन्दू धर्म और संस्कृति का लोप हो जायगा।"[3] एक अन्य ब्रिटिश लेखक तथा कलाकार

---

१. रमेशचन्द्र मजूमदार-ब्रिटिश पैरामाऊंसी भाग २, पृष्ठ ३६

२. फोर्टनाइटली रिव्यू, १ अगस्त १८७२, पृष्ठ १०७

३. कलकत्ता रिव्यू १८६५, 'दि कनेक्शन आफ इण्डिया विद इंग्लैंड' नामक लेख, खण्ड ४१, संख्या ८१, पृष्ठ ८९

आइज़क टेलर ने १८६२ ई० में लिखा था कि पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से भारतीय अपनी पुरानी संस्कृति से मुँह मोड़ लेंगे और इन चार हजार वर्षों में भारत में जो कुछ हुआ है, उसके लिए लज्जित होंगे।"[१] इससे स्पष्ट है कि पिछली शताब्दी के आठवें दशक में अंग्रेज प्रशासक और ईसाई मिशनरी यह कल्पना करने लगे थे कि हिन्दू धर्म और संस्कृति शीघ्र ही पश्चिमी शिक्षा और ईसाइयत के प्रभाव की बाढ़ में पूरी तरह बह जायगी।

ऐसे संकटपूर्ण समय में स्वामी दयानन्द ने भारतीयों में अपनी प्राचीन सभ्यता व संस्कृति के प्रति अनुराग उत्पन्न किया; उसकी उत्कृष्टता, गौरव और महत्ता में विश्वास पैदा करके उनकी मानसिक दासता को दूर किया। भारतीय मैकाले की जिस माया से मुग्ध होकर मोहनिद्रा के वशीभूत थे, उससे उन्हें जागृत किया। स्वामी जी ने यह कार्य एक अनोखे ढंग से सम्पन्न किया। उन्होंने वेद के सम्बन्ध में एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण के माध्यम से मानसिक दासता को दूर किया। इसके अनुसार वर्तमान काल में पश्चिमी जगत् में होने वाले नूतन वैज्ञानिक आविष्कार और सिद्धान्त पहले से ही वेदों में प्रतिपादित थे। रेल, तार, वाष्प संचालित जलयान, वायुयान, टेलीफोन आदि के जो आविष्कार पश्चिमी जगत् में १९वीं शताब्दी में हो रहे थे, वे भारत में हजारों साल पहले हो चुके थे। अतः भारत की सभ्यता पश्चिमी सभ्यता से कहीं अधिक उत्कृष्ट थी।

स्वामी जी से पहले वेदों के पुराने भाष्यकार सायण, महीधर, उव्वट आदि वेद-मन्त्रों को याज्ञिक कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करने वाला समझते थे। उनकी दृष्टि में इन मन्त्रों का उपयोग यज्ञों की विधियों के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं था। स्वामी दयानन्द ने ज्ञान का अर्थ देने वाली 'विद्' धातु से 'वेद' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए उसे सभी विद्याओं का मूल स्रोत और अगाध भण्डार माना। आर्यसमाज के तीसरे नियम के अनुसार 'वेद सब विद्याओं का पुस्तक है'। आधुनिक परिभाषा में कहा जाय तो वह न केवल याज्ञिक कर्मकाण्ड का, अपितु सब प्रकार के ज्ञान-विज्ञान का विश्वकोष है। उसमें सृष्टि-विषयक सभी विद्याओं तथा वैज्ञानिक विषयों का सूत्ररूप में उल्लेख है। वेदों में अंकगणित, रेखागणित, बीजगणित, गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त, आयुर्वेद, दूरसंचार के तथा यातायात के आधुनिक साधनों—वाष्प-संचालित रेल गाड़ियों और जलयानों का संक्षिप्त उल्लेख है। ये सभी साधन प्राचीन भारत में विद्यमान थे। भारतीय ऋषि-मुनियों ने इनका आविष्कार और निर्माण पश्चिमी विद्वानों और वैज्ञानिकों के आविष्कारों से हजारों वर्ष पहले कर लिया था, अतः भारतीय सभ्यता और संस्कृति इस दृष्टि से अतीव उत्कृष्ट है और भारतीयों को किसी प्रकार के मानसिक दैन्य से पीड़ित होकर अपने को हीन समझने की आवश्यकता नहीं है। ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में स्वामी दयानन्द ने इन विषयों को प्रतिपादित किया और इसका तत्कालीन शिक्षित भारतीयों पर बड़ा चमत्कारपूर्ण प्रभाव पड़ा। वे मानसिक दासता और आत्महीनता की ग्रन्थि से मुक्त हो गये और अपने को अंग्रेजों से अधिक उत्कृष्ट समझने लगे।[२]

---

१. बंगाल हरकारु, २४ जनवरी १८६२ के अंक से उद्धृत

२. विस्तार के लिए देखिये—मानव, जुलाई-दिसम्बर १९८३ ई०, भारत का सांस्कृतिक पुनर्निर्माण अंक, पृ० १६०-६४

(८) भारत की राष्ट्रीयता के विकास में आर्यसमाज की भूमिका

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत में विभिन्न प्रकार के कारणों से देश में राष्ट्रीय भावना का विकास हुआ और राष्ट्रीय आन्दोलन प्रबल हुआ। हमारे देश के राष्ट्रीय जागरण का एक प्रमुख कारण महर्षि दयानन्द की रचनाएँ, आर्यसमाज और स्वामी जी के प्रचार-कार्य से प्रेरित होने वाले तथा राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने वाले आर्यसमाजी नेता और आर्यसमाज की विचारधारा से अनुप्राणित भारतीय जनता थी। १९३५ ई० में देश के राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने वाली प्रमुख संस्था—राष्ट्रीय महासभा की अर्द्ध-शताब्दी के महोत्सव पर कांग्रेस की ओर से प्रकाशित तथा आन्ध्र के सुप्रसिद्ध कांग्रेसी नेता बी० पट्टाभि सीतारमैया द्वारा लिखित **कांग्रेस का इतिहास** के आरम्भ में ही इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को स्वीकार किया गया है कि आर्यसमाज भारत में राष्ट्रीयता की भावना को उत्पन्न करने वाला आन्दोलन था। इस इतिहास के अनुसार—"स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रवर्तित आर्यसमाज अतीव उग्र राष्ट्रीय आन्दोलन था। यह महान् स्वामी जी की प्रेरणा से प्रादुर्भूत हुआ था और अपने देश-भक्तिपूर्ण उत्साह में इसका स्वरूप आक्रमणात्मक था। इसने एक ओर तो वेदों की निर्भ्रान्तता और वैदिक संस्कृति की सर्वोत्कृष्टता पर बल दिया और दूसरी ओर यह व्यापक समाज-सुधार का समर्थक था। इस प्रकार इसने राष्ट्र में एक ऐसी पौरुषपूर्ण भावना वाले समुदाय का विकास किया जो परम्परा से प्राप्त सर्वोत्कृष्ट तत्त्वों का तत्कालीन परिस्थितियों के सर्वोत्कृष्ट अंशों के साथ सुन्दर समन्वय था।"[1]

बंग-भंग के बाद भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रमुख भाग लेने वाले बाल-पाल-लाल की त्रिमूर्ति के एक सदस्य श्री विपिनचन्द्र पाल ने कांग्रेस के आरम्भिक राष्ट्रीय आन्दोलन की समूची प्रक्रिया को अपनी आँखों से देखा था और इसमें आर्यसमाज के व्यापक प्रभाव को अनुभव किया था। वे बंगाल में राजा राममोहन राय द्वारा संचालित ब्राह्मसमाज के आन्दोलन से सुपरिचित थे। उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध आत्मकथा में राष्ट्रीयता के विकास के बारे में दोनों आन्दोलनों के तुलनात्मक प्रभाव का मूल्यांकन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि आर्यसमाज ने वर्तमान समय में राष्ट्रीय चेतना के विकसित करने में ब्राह्मसमाज की अपेक्षा अधिक भाग लिया। इस विषय में उनके निम्नलिखित शब्द उल्लेखनीय हैं—

"इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि आर्यसमाज के रूप में दयानन्द सरस्वती द्वारा संगठित किये गये आर्यसमाज ने आधुनिक युग के हिन्दुओं, विशेष रूप से पंजाबियों में एक नयी राष्ट्रीय चेतना विकसित करने में राजा राममोहन राय के ब्राह्म-समाज के आन्दोलन की अपेक्षा अधिक योगदान दिया है। यह वस्तुतः भारतीय हिन्दुओं में उस धार्मिक और सामाजिक पुनरुज्जीवन का श्रीगणेश था जिससे बहुत बड़े अंशों में हमारी वर्तमान राष्ट्रीय चेतना का जन्म हुआ।" इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—"वास्तविक बात तो यह है कि पंजाब के हिन्दुओं की नयी पीढ़ी

---

१. बी० पट्टाभि सीतारमैया—दि हिस्टरी ऑफ दि इण्डियन नेशनल कांग्रेस, १८८५-१९३५ ई०, मद्रास, १९३६ ई०, पृ० २१

मुसलमान मौलवियों और ईसाई मिशनरियों के आक्षेपों का उत्तर देने में असमर्थ होने के कारण तीव्र अपमान अनुभव कर रही थी। ये विधर्मी प्रचारक उनके धर्म की मूर्ति-पूजा और बहुदेववाद की कड़ी निन्दा कर रहे थे। पण्डित दयानन्द के उपदेशों से पहली बार ऐसे शक्तिशाली तथा अपनी रक्षा करने में समर्थ हथियार मिले, जिनसे वे अपने राष्ट्रीय हिन्दू धर्म पर की गयी आलोचना का निवारण और ईसाइयत तथा इस्लाम की उत्कृष्टता के दावों का खण्डन कर सकते थे। इसके साथ ही दयानन्द ने अपने सत्यार्थ-प्रकाश में पंजाब के हिन्दुओं को न केवल अपनी रक्षा के लिए शस्त्र प्रदान किये, अपितु उन्होंने ईसाई और मुस्लिम धर्मों पर ऐसे भीषण आक्षेप किये जिनमें इन दोनों विदेशी धर्मों की तर्क-विरुद्ध बातों पर और उनकी नैतिक न्यूनताओं पर प्रकाश डाला गया था। इन बातों से पंजाबी हिन्दुओं में अपना जातीय गौरव विकसित हुआ, क्योंकि इससे पहले तक ईसाई तथा मुस्लिम प्रचारकों के आक्षेपों की वाण-वर्षा में वे अपने को पूर्ण से असमर्थ और असहाय पाते थे।"[१]

इस प्रकार आरम्भ से आर्यसमाज एक योद्धा सम्प्रदाय था। उसकी राष्ट्रीयता रणारूढ़ थी। वे इस सिद्धान्त में विश्वास रखते थे कि रक्षा का सर्वोत्तम उपाय हमला करना है। इस दृष्टि से उन्होंने हिन्दू धर्म और समाज पर आक्षेप करने वाले मुसलमानों और ईसाइयों पर बड़ी प्रबलता से हमले किये। इस समय उनका उद्देश्य हिन्दू समाज की रक्षा करना और उसे विरोधियों के हमलों से बचाना ही नहीं, अपितु विरोधियों को विध्वंस करना था। श्री विपिनचन्द्र पाल ने इस प्रवृत्ति का विश्लेषण करते हुए कहा है कि स्वामी दयानन्द की प्रेरणा का प्रधान स्रोत उत्कट देश-भक्ति थी। इसमें यदि अन्य धर्मों विशेषतः इस्लाम के प्रति उग्र विरोध नहीं तो असहिष्णुता की भावना अवश्य थी। शीघ्र ही इसमें विदेशियों के प्रति विरोध की प्रबल भावना उत्पन्न हो गयी। यह नव-युवक-वर्ग में विशेष रूप से अधिक मात्रा में पायी जाती थी। उस समय के नौजवान आर्यसमाजी खुल्लमखुल्ला यह घोषणा किया करते थे कि वे उस अवसर की प्रतीक्षा में हैं जब उन्हें मुसलमानों और अंग्रेजों से हिसाब साफ करने का अवसर मिलेगा।

सुप्रसिद्ध इतिहासविद् डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार ने स्वतन्त्रता-संग्राम के इतिहास में आर्यसमाज के योगदान का मूल्यांकन करते हुए पहले श्री हरविलास शारदा के इस कथन को उद्धृत किया है—"स्वामी दयानन्द का एक प्रधान उद्देश्य भारत की राजनैतिक स्वतन्त्रता थी। वस्तुतः वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया। वे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने जनता से इस बात का आग्रह किया कि वे केवल भारत में बनी स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करें और विदेशी वस्तुओं का परित्याग करें। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में सर्वप्रथम स्वीकार किया।" इस पर डॉ० मजूमदार ने यह टिप्पणी की है कि "इन दावों के बारे में भले ही कोई व्यक्ति कुछ भी कहे, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आर्यसमाज ने समूचे भारत में एक सामान्य धर्म और संस्कृति के प्रसार द्वारा भारतीय राष्ट्र के सृजन का लक्ष्य बनाया था और इसने उन सब व्यक्तियों को हिन्दू धर्म में पुनः दीक्षित करने के लिए शुद्धि की विधि

---

१. विपिनचन्द्र पाल—मेमायर्स ऑफ माई लाइफ एण्ड टाइम्स, खण्ड, पृष्ठ ३१०-१४, खण्ड दो, पृष्ठ ६३-७०

का अवलम्बन किया जो स्वेच्छापूर्वक अथवा दबाव से विधर्मी बनाये गये थे।"[1]

आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी जी के समकालीन और कुछ समय तक उनके सहयोगी रहने वाले और बाद में थियोसोफी सम्प्रदाय के संस्थापक कर्नल अल्काट को स्वामी जी के घनिष्ठ सम्पर्क में आने का अवसर मिला था। वे स्वामी जी की देशभक्ति की भावना से बहुत प्रभावित हुए थे, और उन्होंने यह लिखा है कि स्वामी जी ने अपने अनुयायियों को राष्ट्रीय भावना से अनुप्राणित करने का प्रबल प्रयास किया। उनके कथनानुसार स्वामी जी से पहले भारतीयों में देशभक्ति का भाव बिल्कुल नहीं था। उन्होंने आर्यावर्त के प्राचीन गौरव के सुनहले चित्र के साथ वर्तमान हृदयद्रावक दारुण दशा की तुलना करते हुए भारतवासियों में अपनी मातृभूमि के प्रति अभिमान की तथा देशप्रेम की भावनाओं को उत्पन्न किया।

स्वामी दयानन्द से प्रभावित होकर कर्नल अल्काट ने भी कुछ स्थानों पर स्वामी जी की भाँति आर्यावर्त के प्राचीन गौरव और वर्तमान शोचनीय स्थिति के बारे में व्याख्यान दिये। इनका श्रोताओं पर बड़ा असर पड़ा। अपनी डायरी में उन्होंने यह लिखा है कि १८८१ ई० में अमृतसर में प्राचीन हिन्दू धर्म पर व्याख्यान देने का प्रत्यक्ष प्रभाव उन्होंने स्वयमेव श्रोताओं पर देखा। इसका वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—"जो लोग हिन्दुओं को देशभक्ति की भावना से शून्य समझते हैं, उन्हें मेरे श्रोताओं को उस समय देखना चाहिए था जब मैं वर्तमान समय में आधुनिक भारत की दुरवस्था का और प्राचीन भारत के उज्ज्वल भविष्य का उल्लेख कर रहा था। श्रोता भारत के प्राचीन वैभव के वर्णन से आनन्दविभोर और पुलकित हो रहे थे तथा वर्तमान दुर्दशा पर द्रवित होकर आँसू बहा रहे थे। किसी समय वे प्रसन्न होकर करतल-ध्वनि करते थे और कभी वर्तमान दुर्दशा पर उनके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती थी।"[2]

ब्रिटिश सिविल सर्विस के अनेक उच्च अधिकारियों ने पिछली शताब्दी में ही आर्यसमाज के राष्ट्रीय और राजनैतिक स्वरूप को भली-भाँति पहचान लिया था। १९०१ ई० की भारतीय जनगणना के अधीक्षक सर हर्बर्ट रिजली ने यह लिखा था कि—"आर्यसमाज में राष्ट्रीय धर्म के बीज निहित हैं।" इण्डियन सिविल सर्विस के एक अन्य कर्मचारी वर्नी लवेट का यह मत था कि भारत में धर्म का बहुत प्रभाव है। पश्चिमी बुद्धिवाद जब कुछ भारतीयों का मन धर्म से विमुख कर रहा था तो एक हिन्दू संन्यासी स्वामी दयानन्द ने मूर्ति-पूजा का खण्डन करते हुए आरम्भिक आर्यों के उस एकेश्वरवादी धर्म तथा उस स्वर्ण युग की ओर लौटने का उपदेश दिया जब यह देश समृद्ध और सब प्रकार के धन-धान्य से पूरित था और यहाँ विदेशी नहीं आये थे। इससे हिन्दू राष्ट्रीयता को बड़ा प्रोत्साहन मिला। मैक्समूलर द्वारा ऋग्वेद के नये संस्करण से हिन्दू साहित्य की गरिमा एवं भारतीय दर्शन की उड़ान के परिचय से भारतीयों को अपने उज्ज्वल

---

१. डॉ० आर० सी० मजूमदार—हिस्टरी ऑफ फ्रीडम मूवमेण्ट इन इण्डिया, खण्ड एक, पृ० ३३६

२. सर वर्नी लवेट—दि हिस्टरी ऑफ इण्डियन पॉलिटिक्स, इलाहाबाद, १९१९ ई०, पृ० ३२ पर उद्धृत

अतीत पर विश्वास हुआ और उनमें देशभक्ति की भावना पुष्ट हुई।"[1]

इस प्रसंग में नोबेल पुरस्कार-विजेता सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी साहित्यकार रोमैं रोलां द्वारा लिखित रामकृष्ण परमहंस की जीवनी के उस सन्दर्भ का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है जिसमें उन्होंने स्वामी दयानन्द को सन् १९०५ ई० से पहले के समूचे राष्ट्रीय जागरण का महत्त्वपूर्ण कारण मानते हुए लिखा है—"स्वामी दयानन्द जनता के महान् उद्धारक थे। वस्तुतः राष्ट्रीय चेतना के पुनर्जागरण और पुनर्जन्म के वर्तमान भारतीय आन्दोलन की वे सबसे अधिक ओजस्वी शक्ति थे। उनके आर्यसमाज ने चाहते या न चाहते हुए भी, १९०५ ई० में बंगाल के विद्रोह का पक्ष प्रशस्त किया। वे भारत के पुनर्निर्माण और राष्ट्रीय संगठन के सबसे अधिक उत्साही पैगम्बरों में से एक थे।"[2] इस सन्दर्भ में रोमैं रोलां ने आर्यसमाज के चाहने या न चाहने का प्रश्न इसलिए उठाया है कि आर्यसमाज प्रायः इस बात का दावा करता था कि वह राजनैतिक संस्था नहीं है और राजनैतिक विषयों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु ऐसा होते हुए भी अंग्रेज ऐसा नहीं समझते थे और वे इसे राष्ट्रीय राजद्रोही संस्था ही मानते थे। अगले अध्यायों में इसका विस्तृत वर्णन किया जायगा।

---

१. सर वर्नी लवेट—ए शॉर्ट हिस्टरी ऑफ इण्डियन पॉलिटिक्स, गवर्नमेण्ट प्रेस, इलाहाबाद, १९१९ ई०

२. रोमैं रोलां—दि लाइफ ऑफ रामकृष्ण, अल्मोड़ा, १९४४ ई०, पृ० १५७-५८

पाँचवाँ अध्याय

भारत की स्वाधीनता के लिए आर्यसमाज के प्राथमिक प्रयत्न

(१) स्वाधीनता का सर्वप्रथम जन-आन्दोलन

भारत में अंग्रेजी शासन का सूत्रपात सन् १७५७ ई० में प्लासी के युद्ध द्वारा हुआ था। सन् १७५७ ई० से १८४९ ई० तक का एक सदी का समय अंग्रेजों को भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए संघर्ष में लगाना पड़ा। अठारहवीं सदी के मध्य तक भारत में अंग्रेजी शासन की नींव भलीभाँति सुदृढ़ हो गयी थी। पर भारतीयों में विदेशी व विधर्मी ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विरोध व विद्रोह की भावना का सर्वथा अभाव नहीं था। इसी कारण सन् १८५७ ई० में भारत में प्रथम स्वाधीनता-संग्राम हुआ, जिसमें अंग्रेज विजयी हुए। पर विद्रोह व क्रान्ति की जिन प्रवृत्तियों ने १८५७ ई० के स्वाधीनता-संग्राम को प्रारम्भ किया था, उनका सर्वथा अन्त नहीं हो गया था। वलीउल्ला और कूका लोगों के विद्रोहों व आन्दोलन के रूप में ये प्रवृत्तियाँ बाद में भी प्रकट हुईं; समय-समय पर किसानों के जो विद्रोह उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में होते रहे, वे इन्हीं प्रवृत्तियों के परिणाम थे। अंग्रेजी शासन में ज्ञान-विज्ञान की नई शिक्षा के कारण भारत के सुशिक्षित वर्ग ने भी देश की उन्नति के सम्बन्ध में विचार करना प्रारम्भ किया, और पाश्चात्य देशों की आधुनिक विचारधाराओं के सम्पर्क में आकर उन्होंने भी अपनी राजनैतिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए आवाज उठानी प्रारम्भ की। इसी प्रयोजन से कलकत्ता में "इण्डियन एसोसियेशन", पूना में "सार्वजनिक सभा", बम्बई में "बाम्बे प्रेसीडेन्सी एसोसियेशन" और मद्रास में "महाजन सभा" सदृश सभाओं का संगठन किया गया। पर ये सभाएँ केवल उच्च सुशिक्षित वर्ग के व्यक्तियों तक ही सीमित थीं, सर्व-साधारण जनता के साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं था। पर इनका यह लाभ अवश्य था कि इन द्वारा सुशिक्षित वर्ग की आवाज विदेशी शासकों तक पहुँचती रहती थी। इसी क्रम में सन् १८८५ ई० में इण्डियन नेशनल कांग्रेस का संगठन किया गया। यह एक अखिल भारतीय संस्था थी, पर यह भी केवल उच्च वर्ग तक ही सीमित थी। भारत की अत्यधिक बहुसंख्या उस समय अशिक्षित व निरक्षर थी। विदेशी शासन के दुष्परिणामों के कटु फल सबसे अधिक उसे ही भोगने पड़ते थे। पर सर्वसाधारण जनता में न कोई संगठन था, और न कोई ऐसा जन-आन्दोलन ही था, जो उसे जागृत व उद्बुद्ध कर सके। महात्मा गांधी के कांग्रेस का नेतृत्व ग्रहण करने से पूर्व कांग्रेस ने भी जन-आन्दोलन का रूप प्राप्त नहीं किया था। ब्राह्मसमाज, प्रार्थनासमाज सदृश जो संस्थाएँ समाज-सुधार के

लिए स्थापित हुई थीं, उनका कार्यक्षेत्र भी सुशिक्षित वर्ग तक ही सीमित था, और वह भी देश के किसी विशिष्ट प्रदेश तक ही। उस काल में केवल आर्यसमाज ही एकमात्र ऐसा संगठन था, जिसे यथार्थ में जन-आन्दोलन कहा जा सकता था। आर्यसमाज न केवल अत्यन्त व्यापक रूप में समाज-सुधार, अन्धविश्वास और पाखण्ड के खण्डन, विद्या के प्रचार और धर्म के वास्तविक स्वरूप के प्रतिपादन के लिए प्रयत्न कर रहा था, अपितु साथ ही जनता में राष्ट्रीय भावना के संचार एवं स्वराज्य के लिए उत्कट अभिलाषा का प्रादुर्भाव करने में भी संलग्न था। इसी कारण उसने भारत में सर्वप्रथम स्वदेशी-आन्दोलन का सूत्रपात किया, राष्ट्रीय शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना की और राष्ट्र-भाषा हिन्दी को अपनाने पर जोर दिया। आर्यसमाज से प्रेरणा प्राप्त कर कितने ही नर-नारी क्रान्तिकारी समितियों में सम्मिलित हुए, और देश के स्वाधीनता-संग्राम में सक्रिय रूप से भाग लेने को प्रवृत्त हुए।

(२) स्वदेशी आन्दोलन

भारत के आधुनिक इतिहास में स्वदेशी आन्दोलन के प्रथम प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती थे। सन् १९०५ ई० के बंग-भंग से तीस-पैंतीस वर्ष पूर्व उन्होंने स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग के लिए जनता को प्रेरित किया था, और उनसे प्रेरणा प्राप्त कर आर्यसमाज ने स्वदेशी का प्रचार प्रारम्भ कर दिया था। महर्षि का मन्तव्य था कि भारतीयों को अंग्रेजों का अनुकरण कर स्वदेशी वस्तुओं का ही उपयोग करना चाहिये। अंग्रेजों के स्वदेशी प्रेम की उन्होंने बड़े मार्मिक शब्दों में प्रशंसा की है—"देखो! अपने देश के बने हुए जूते को आफिस और कचहरी में जाने देते हैं, इन देशी जूतों को नहीं, इतने ही में समझ लेओ कि अपने देश के बने हुए जूतों का भी कितना मान-प्रतिष्ठा करते हैं, उतना भी अन्य देशस्थ मनुष्यों का नहीं करते। देखो! कुछ सौ वर्ष से ऊपर इस देश में आये यूरोपियों को हुए, आज तक यह लोग मोटे कपड़े आदि पहिरते हैं क्योंकि स्वदेश में पहिरते थे, परन्तु उन्होंने अपने देश का चाल-चलन नहीं छोड़ा और तुममें से बहुत-से लोगों ने उनकी नकल कर ली। इसी से तुम निर्बुद्धि और वे बुद्धिमान् ठहरते हैं। अनुकरण करना किसी बुद्धिमान् का काम नहीं और जो जिस काम पर रहता है उसको यथोचित करता है। आज्ञानुवर्ती बराबर रहते हैं। अपने देश वालों को व्यापार आदि में सहायता देते हैं, इत्यादि गुणों और अच्छे-अच्छे कर्मों से उनकी उन्नति है; मुण्डे जूते, पतलून, कोट, होटल में खाने-पीने आदि साधारण और बुरे कामों से नहीं बढ़े हैं।" भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना हो जाने पर इस देश के पढ़े-लिखे और सम्पन्न लोग रहन-सहन और खान-पान आदि में अंग्रेजों का अन्धानुकरण करने लगे थे, और अंग्रेजी वस्तुओं का उपयोग करने में शान समझने लगे थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती से पहले ब्राह्मसमाज आदि के रूप में जिन सुधार-आन्दोलनों का प्रारम्भ हुआ था, वे भी इस प्रवृत्ति के शिकार थे और समाज-सुधार आदि की प्रेरणा पाश्चात्य जगत् से ही प्राप्त किया करते थे। उनकी आलोचना करते हुए महर्षि ने लिखा था—"इन लोगों में स्वदेश-भक्ति बहुत न्यून है। ईसाइयों के आचरण बहुत-से लिये हैं। खान-पान, विवाहादि के नियम भी बदल दिये हैं।...भला जब आर्यावर्त में उत्पन्न हुए हैं और इसी देश का अन्न-जल खाया-पिया है, अब भी खाते-पीते हैं। अपने पिता-माता-पितामहादि के मार्ग को

छोड़कर दूसरे विदेशी मतों पर झुक जाना ब्राह्मसमाजी और प्रार्थनासमाजियों का एतद्देश एवं संस्कृत विद्या से रहित अपने को विद्वान् प्रकाशित करते हैं।" उस युग के शिक्षित भारतीयों में अपने देश की संस्कृति का परित्याग कर विदेशियों का अन्धानुकरण करने की जो प्रवृत्ति विकसित हो रही थी, महर्षि की दृष्टि में वह नितान्त अनुचित थी। इसी कारण उन्होंने अपने अनुयायियों को जहाँ अपने प्राचीन धर्म, संस्कृति और परम्पराओं पर स्थिर रहने के लिए प्रेरित किया, वहाँ साथ ही स्वदेशी के लिए भी प्रेरणा प्रदान की। उनका कथन था, कि "हम और आपको उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है और आगे भी होगा, उसकी उन्नति तन, मन, धन मे सब मिलकर प्रीति से करें।" स्वदेश की उन्नति का एक अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण उपाय महर्षि की दृष्टि में यह था कि सब लोग अपने देश में बनी हुई वस्तुओं का ही उपयोग किया करें। इसी का यह परिणाम था कि आर्यसमाजों ने स्वदेशी के प्रचार पर विशेष ध्यान देना शुरू किया। सन् १८७९ ई० में लाहौर आर्यसमाज के सदस्यों ने समाज-मन्दिर में एकत्र होकर यह निर्णय किया था कि वे अंग्रेजी वस्त्रों को धारण नहीं करेंगे और केवल ऐसे वस्त्र ही प्रयोग में लाएँगे जो भारत में बने हों। लाहौर आर्य-समाज द्वारा किये गये इस निर्णय की सूचना १४ अगस्त, १८७९ ई० के 'स्टेट्समैन' में प्रकाशित एक पत्र में दी गई है। इस "इतिहास" के प्रथम भाग में इस पत्र को अविकल रूप से उद्धृत किया जा चुका है। उस समय भारत में विदेशी वस्तुओं का किस हद तक प्रचार हो चुका था, इस पर द फो (De Foe) के इन वाक्यों से बहुत उत्तम प्रकाश पड़ता है, जिन्हें 'स्टेट्समैन' के उक्त पत्र में उद्धृत किया गया है—"भारत के निवासी प्रायश: मान्चेस्टर में बने सूती वस्त्र धारण करते हैं, बच्चे इंग्लिश और फ्रेंच खिलौनों से बाजार में खेलते हैं, मुंशी लोग विदेशी कागज को लिखने के काम में लाते हैं, बीमार विदेशी दवाओं का सेवन करते हैं, भारतीय महिलाएँ पेरिस के बने नकली मोतियों की मालाएँ पहनती हैं, शराबी लोग विलायती गिलास से ब्रिटिश और फ्रेंच ब्राण्डी पीते हैं, और शिकारी स्ट्राण्ड से खरीदी हुई राइफल को शिकार के काम में लाते हैं।" जिस समय भारत में विदेशी वस्तुओं का इतना अधिक प्रचार था, महर्षि दयानन्द सरस्वती ने स्वदेशी के लिए लोगों को प्रेरणा दी। भारत के आधुनिक इतिहास में विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार और स्वदेशी कपड़े को अपनाने का यह प्रथम सामूहिक प्रयत्न था, जिसका प्रारम्भ लाहौर आर्यसमाज द्वारा किया गया था और जिसका सम्पूर्ण श्रेय महर्षि दयानन्द सरस्वती को दिया जाना चाहिये। महर्षि के जीवन के अन्तिम वर्ष राजस्थान में व्यतीत हुए थे; वहाँ के राजाओं के साथ उनका घनिष्ठ सम्पर्क था। उन्हें आशा थी, कि इन राजाओं को सन्मार्ग पर लाकर देश की उन्नति के लिए प्रेरित किया जा सकता है। इसी कारण उन्होंने जोधपुर-नरेश महाराजा जसवन्तसिंह को अपने राज्य में सुधार करने और स्वयं अपने चरित्र को सुधारने के सम्बन्ध में अनेक परामर्श दिये थे। इनमें एक परामर्श या उपदेश यह भी था, कि महाराजा और उनकी प्रजा केवल स्वदेशी वस्त्रों का ही प्रयोग किया करें। इसे महाराजा ने स्वीकार भी कर लिया था। और स्वयं महाराजा तथा उनके राजपदाधिकारी, कर्मचारी व सेवक मारवाड़ में तैयार हुए कपड़े प्रयुक्त करने लग गये थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती से प्रेरणा प्राप्त कर लाहौर आर्यसमाज के सदस्यों ने स्वदेशी वस्त्रों के उपयोग का जो व्रत लिया था, अन्य आर्य-

समाजियों ने भी उसका अनुकरण किया, और पंजाब में स्वदेशी आन्दोलन ने शीघ्र ही एक सुस्पष्ट रूप प्राप्त कर लिया।

महर्षि दयानन्द सरस्वती की प्रेरणा से लाहौर के आर्यसमाजियों ने जो स्वदेशी वस्त्र पहनने का निश्चय किया था, उसी का यह परिणाम था कि लाला साईंदास, जो आर्यसमाज के नेता और डी० ए० वी० मैनेजिंग कमेटी के प्रधान थे, केवल स्वदेशी वस्त्र ही धारण किया करते थे और स्वदेशी का प्रचार भी किया करते थे। महर्षि के निर्वाण से पूर्व सन् १८८१ ई० में ही उन्होंने स्वदेशी का प्रचार प्रारम्भ कर दिया था। लाला मूलराज भी स्वदेशी के पक्षपाती थे और प्रायश: स्वदेशी कपड़े ही धारण किया करते थे। लाला लाजपतराय ने अपने आत्मचरित (Autobiographical Writings) में स्पष्ट रूप से इस तथ्य का उल्लेख किया है। आर्यसमाज द्वारा ही लाहौर में सबसे पहले एक स्वदेशी दुकान खोली गई थी, और डी० ए० वी० कालिज लाहौर स्वदेशी आन्दोलन का प्रमुख केन्द्र बन गया था। सन् १८८३ ई० में लाहौर के इण्डियन नेशनल एसोसियेशन ने इस आशय का प्रस्ताव किया था कि जहाँ तक सम्भव हो, भारत में बनी वस्तुओं का ही उपयोग किया जाये। इस एसोसियेशन की स्थापना सन् १८७० ई० में हुई थी, और यह पंजाब का पहला राजनैतिक संगठन था। यद्यपि इसकी स्थापना में बंगालियों का प्रमुख हाथ था, पर शीघ्र ही पंजाब के अनेक प्रमुख आर्यसमाजी इसमें सम्मिलित हो गये थे, और उनके प्रयत्न से ही एसोसियेशन ने सन् १८८३ ई० में स्वदेशी-विषयक प्रस्ताव स्वीकृत किया था। आर्यसमाज के जो महानुभाव इस समय स्वदेशी के प्रचार में संलग्न थे, उनमें लाला गंगाराम, लाला मुन्शीराम, श्री गोकुलचन्द नारंग, भगत ईश्वरदास और लाला लाजपतराय उल्लेखनीय हैं। इसी समय पंजाब में अनेक स्थानों पर स्वदेशी वस्तु प्रचारिणी सभाओं की स्थापना की गई, और लोगों को स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग के लिए प्रेरणा दी जानी शुरू हुई। आर्यसमाज के नेताओं ने केवल यही पर्याप्त नहीं समझा कि जनता को स्वदेशी के लिए प्रेरित किया जाये, उन्होंने देश में कल-कारखाने स्थापित कर आर्थिक उत्पादन की ओर भी ध्यान देना प्रारम्भ किया। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भारत की वर्तमान गरीबी और प्राचीन युग की समृद्धि की ओर ध्यान आकृष्ट किया था। उन्होंने इस देश को "पारसमणि" की संज्ञा प्रदान की थी, जिसके सम्पर्क से अन्य देशों के लोग भी धनी हो गये थे। शिल्प और विज्ञान को वह बहुत महत्त्व देते थे। उन्हीं की शिक्षाओं का यह परिणाम हुआ कि पंजाब के आर्यों का ध्यान व्यापार, व्यवसाय और उद्योगों की उन्नति की ओर भी गया, और उन्होंने अपने स्वदेशी व्यावसायिक संस्थान स्थापित करने के लिए आन्दोलन करना प्रारम्भ कर दिया। लाहौर से प्रकाशित होने वाली "आर्य पत्रिका" के जनवरी, सन् १८८८ ई० के अंकों में "भारत की गरीबी" (The Poverty of India) शीर्षक से चार अंक प्रकाशित हुए, जिनमें भारत की निर्धनता को दूर करने के लिए स्वदेशीय अध्यवसाय पर जोर दिया गया था। सन् १८९० ई० तक यह स्थिति आ गई थी कि पंजाब के डी० ए० वी० शिक्षणालयों में सबसे अधिक स्वदेशी की चर्चा हुआ करती थी, और वहाँ के आर्य-युवक अपने व्यावसायिक संस्थान स्थापित कर देश की आर्थिक उन्नति की योजनाएँ बनाने लग गये थे। इसी का यह परिणाम हुआ कि सन् १८९१ ई० में "पंजाब मैटीरियल इम्प्रूवमेण्ट सोसायटी" की स्थापना की गई जिसके संस्थापकों में अनेक ब्राह्मसमाजी

एवं सिक्ख भी आर्यसमाजियों के सहयोगी थे। अगले वर्ष सन् १८९२ ई० में "पंजाब बैंकिंग कार्पोरेशन" स्थापित किया गया, क्योंकि व्यापार और व्यवसाय की उन्नति के लिए पूंजी की सुविधा बैंकों द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। कुछ समय पश्चात् सन् १८९५ ई० में पंजाब नेशनल बैंक की स्थापना हुई। इसके संस्थापकों में लाला लाजपतराय और लाला मूलराज प्रमुख थे। आर्यसमाज के ये मूर्धन्य एवं प्रतिष्ठित नेता थे। लाला लाजपतराय के भाई लाला धनपतराय को इस बैंक का मैनेजर नियुक्त किया गया था। पंजाब नेशनल बैंक की स्थापना स्वदेशी की उसी लहर के परिणामस्वरूप हुई थी, जिसे महर्षि दयानन्द सरस्वती ने प्रारम्भ किया था, और आर्यसमाज द्वारा जिसे बल प्राप्त हुआ था। शुरू में इस बैंक के संचालकों में कुछ व्यक्ति ऐसे भी थे जो आर्यसमाजी नहीं थे। इनमें लाला हरकिशनलाल मुख्य थे। वह मुजफ्फरगढ़ जिले के रहने वाले थे, और उन्होंने इंग्लैण्ड में उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। वह भी पंजाब नेशनल बैंक के अन्यतम डायरेक्टर थे। वह न केवल आर्यसमाजी नहीं थे, अपितु उसके विरोधी भी थे। आर्य-समाजी डायरेक्टरों के साथ वह देरतक मिलकर काम नहीं कर सके। लाला लाजपतराय को उनके स्थान पर बैंक का डायरेक्टर चुन लिया गया, जिस पर उन्होंने पीपल्स बैंकिंग एण्ड कार्मशियल एसोसियेशन नाम से एक अन्य बैंक की स्थापना कर ली (सन् १९०२ ई०)। इस समय से पंजाब नेशनल बैंक पूरी तरह आर्यसमाजियों के हाथों में आ गया, उसके अन्यतम डायरेक्टर सरदार दयाल सिंह, जो आर्यसमाजी नहीं थे, की अब मृत्यु हो चुकी थी, और एक अन्य डायरेक्टर बाबू कालीप्रसन्न राय, जो ब्राह्मसमाजी थे, लाहौर छोड़कर कलकत्ता चले गये थे। उनके स्थान पर भगत ईश्वरदास और लाला जैसीराम डायरेक्टर चुने गये। ये दोनों सज्जन आर्यसमाजी थे। एक बैंक की स्थापना के कारण पंजाब के आर्यों को उद्योगों और व्यवसायों के संचालन में बहुत सहायता मिली, और वहाँ अनेक कल-कारखाने खोले जा सके। इन कारखानों में अनेक ऐसे भी थे, जिनमें उत्कृष्ट किस्म के कपड़े तैयार किये जाते थे। शीघ्र ही, अमृतसर और लुधियाना सदृश शहर वस्त्र-उद्योग के केन्द्र के रूप में ख्याति प्राप्त करने लगे, और उनमें तैयार हुए कपड़े की बाजार में अच्छी मांग होने लगी। स्वदेशी आन्दोलन का यह महत्त्वपूर्ण परिणाम था।

सन् १८८५ ई० में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हो गयी थी, और उसके अधिवेशन प्रतिवर्ष नियमपूर्वक होने लगे थे। पर कांग्रेस का स्वदेशी की ओर कोई ध्यान नहीं था। सबसे पूर्व पंजाब के आर्यसमाजियों द्वारा ही कांग्रेस में स्वदेशी के लिए आवाज उठाई गयी। सन् १८९१ ई० में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन श्री आनन्द चार्लू की अध्यक्षता में नागपुर में हुआ था। पंजाब से लाला मुरलीधर भी इस अधिवेशन में प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए थे। लाला जी ने कांग्रेस में भाषण देते हुए विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार और स्वदेशी को अपनाने पर जोर दिया। लाला मुरलीधर आर्य-समाजी थे और उन्हीं द्वारा कांग्रेस में सबसे पहले स्वदेशी की आवाज बुलन्द की गयी थी। सन् १८९४ ई० में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन श्री एल्फ्रेड वेब की अध्यक्षता में मद्रास में हुआ था। लाला मुरलीधर इस अधिवेशन में भी सम्मिलित हुए थे, और वहाँ उन्होंने एक बार फिर स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन किया था। इस समय तक भारत में वस्त्र-उद्योग का पर्याप्त विकास हो गया था, और अनेक सूती मिलें कायम हो गयी थीं।

इन मिलों में तैयार हुआ सूती कपड़ा सस्ता बिकता था, जिसके कारण लंका शायर और मांचेस्टर की मिलों में तैयार हुए सूती कपड़े की बिक्री में कमी आने लग गयी थी। इंग्लैण्ड के वस्त्र-उद्योग की मांग पर भारत सरकार ने भारतीय मिलों में तैयार होने वाले कपड़े पर उत्पादन-कर (Excise duty) लगाने की व्यवस्था की थी, जिसके कारण भारत के वस्त्र-उद्योग को भारी नुकसान पहुँचने लगा था। इस उत्पादन-कर का मद्रास कांग्रेस ने प्रबल विरोध किया, क्योंकि लाला मुरलीधर सदृश आर्यसमाजियों के प्रयत्न से कांग्रेस में भी स्वदेशी आन्दोलन ने प्रवेश पा लिया था।

पंजाब में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग का आन्दोलन केवल वस्त्रों तक ही सीमित नहीं रहा। विदेशी चीनी के विरुद्ध भी वहाँ आन्दोलन प्रारम्भ किया गया। उस समय तक चीनी की बड़ी मिलें भारत में स्थापित नहीं हुई थीं। यहाँ तो गुड़ बनता था और या देशी खाँड। दानेदार श्वेत चीनी विदेशों से भारत में आयात की जाती थी और इससे विदेशी मिल-मालिक अच्छा मुनाफा प्राप्त किया करते थे। विदेशी चीनी के विरुद्ध आन्दोलन का एक कारण यह भी था कि उसे साफ करने के लिए हड्डी का चूरा प्रयोग में लाया जाता था। हिन्दुओं की धार्मिक भावना यह सहन करने को तैयार नहीं थी कि ऐसी चीनी खाने के काम में लायी जाय, जिससे हड्डी का स्पर्श हो चुका था। अनेक डाक्टरों ने यह कहकर भी विदेशी चीनी का विरोध किया कि इसके सेवन से प्लेग सदृश महामारियों के फैलने की आशंका रहती है। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक स्वदेशी आन्दोलन ने पंजाब में बहुत उग्र व व्यापक रूप प्राप्त कर लिया था, वहाँ के प्रायः सभी नगरों में स्वदेशी वस्तु प्रचारिणी सभाएँ या स्वदेशी सभाएँ स्थापित हो गयी थीं। विद्यार्थी इनमें उत्साहपूर्वक भाग लिया करते थे। इस युग में पंजाब में डी० ए० वी० शिक्षण-संस्थाओं का जाल-सा बिछना शुरू हो चुका था। सरकारी और क्रिश्चियन स्कूल-कालिजों के अतिरिक्त जो अन्य शिक्षणालय वहाँ थे, वे प्रायः डी० ए० वी० स्कूलों और कालिजों के रूप में थे, जिनका संचालन आर्यसमाजियों के हाथों में था। ये आर्य-शिक्षणालय स्वदेशी आन्दोलन के प्रधान केन्द्र थे। इनके विद्यार्थी राष्ट्रीयता, देश-प्रेम और स्वदेशी की भावना से ओत-प्रोत होकर राजनीति में भाग लेने लग गये थे। बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों के समाचार-पत्रों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि इस काल में स्थान-स्थान पर विद्यार्थियों द्वारा स्वदेशी के प्रचार के लिए सार्वजनिक सभाएँ आयोजित की जाती थीं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि विद्यार्थियों द्वारा संचालित स्वदेशी आन्दोलन में किसी बड़े नेता का हाथ नहीं था। स्वदेश-प्रेम की जो भावना उन्होंने महर्षि दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज से प्राप्त की थी, उसी से प्रेरणा प्राप्त कर वे इस आन्दोलन का संचालन कर रहे थे।

(३) बंग-भंग (१९०५) और स्वदेशी आन्दोलन

बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक बंगाल का प्रान्त बहुत बड़ा था। उसमें बंगाल, बिहार, उड़ीसा और छोटा नागपुर के प्रदेश सम्मिलित थे। सन् १९०१ ई० में उसकी जनसंख्या आठ करोड़ के लगभग थी, जिसमें २३ प्रतिशत के लगभग मुसलमान थे। सरकार के सम्मुख यह प्रश्न पहले से ही विद्यमान था कि शासन की सुविधा की दृष्टि से इस प्रान्त का नये सिरे से संगठन किया जाय। यह बात अनुचित भी नहीं थी, क्योंकि न

केवल बंगाल प्रान्त बहुत बड़ा था, अपितु उसमें हिन्दी और उड़िया भाषाओं के प्रदेश भी सम्मिलित थे। यदि इन प्रदेशों को बंगाल से पृथक् कर दिया जाता, और बंगाल में केवल उन्हीं प्रदेशों को रहने दिया जाता जिनकी भाषा बंगला थी, तो लोगों को विशेष विप्रतिपत्ति न होती। पर इस काल में लार्ड कर्जन भारत के वायसराय व गवर्नर-जनरल थे। वह सन् १८९९ ई० में इस पद पर नियुक्त हुए थे। कर्जन कट्टर साम्राज्यवादी थे और भारतीयों की राष्ट्रीय भावनाओं एवं आकांक्षाओं का उनकी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं था। उन्होंने बंगाल प्रान्त के पुनर्निर्माण की जो योजना बनाई, उसके अनुसार बंगला भाषा बोलने वाले लोग दो प्रान्तों में विभक्त हो जाते थे। इस योजना द्वारा पूर्वी बंगाल और असम का एक प्रान्त और पश्चिमी बंगाल, बिहार, उड़ीसा और छोटा नागपुर का दूसरा प्रान्त बनाया गया था। इस विभाजन का आधार केवल शासन की सुविधा ही नहीं थी, इसमें दो अन्य ध्येय भी सम्मुख रखे गये थे—(१) बंगाल में राष्ट्रीय जागृति बहुत तेजी के साथ हो रही थी। आधुनिक शिक्षा का प्रारम्भ सबसे पूर्व वहीं पर हुआ था, और वहाँ ऐसे साहित्य का विकास भी बड़ी तेजी के साथ हो रहा था जिसके द्वारा जनता में राजनैतिक चेतना उत्पन्न की जा रही थी। अन्य प्रान्तों की तुलना में बंगाल में राष्ट्रीय भावना बहुत प्रबल थी। कलकत्ता इस भावना का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। लार्ड कर्जन चाहता था कि बंगला भाषा के क्षेत्र दो भागों में विभक्त हो जायँ, और पूर्वी बंगाल तथा असम के नये प्रान्त को कलकत्ता के राष्ट्रवादियों के प्रभाव से मुक्त रखा जाय। (२) पूर्वी बंगाल में मुसलमानों की बहुसंख्या थी। असम में भी मुसलमान पर्याप्त संख्या में थे। एक ऐसा प्रान्त बनाकर, जिसमें मुसलमानों की बहुसंख्या हो, कर्जन मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन से पृथक् कर देना चाहता था। लार्ड कर्जन ने अपनी इस नीति को छिपाने का प्रयत्न नहीं किया। पूर्वी बंगाल और असम की कुल जनसंख्या ३,१०,००,००० थी, जिसमें १,८०,००,००० मुसलमान थे। इस प्रान्त में मुसलमान यह अनुभव कर सकते थे कि यह एक मुसलिम प्रान्त है, और इसमें उनका अपना सांप्रदायिक शासन होना चाहिए। बंग-भंग की योजना द्वारा बंगाल की विकसित होती हुई राष्ट्रीयता पर भारी आघात पहुँचता था। सब बंगालियों की भाषा, संस्कृति और परम्पराएँ एक-समान थीं, धर्म का भेद होते हुए भी उन्हें अपनी बंगला संस्कृति पर गर्व था। यही कारण है कि सब बंगाली मिलकर बंग-भंग की योजना का विरोध करने के लिए उठ खड़े हुए।

२० जुलाई १९०५ ई० को बंग-भंग की घोषणा कर दी गयी थी, और १६ अक्टूबर को इस योजना को क्रियान्वित किया जाना था। उस दिन बंगाल में सर्वत्र शोक मनाया गया। बहुत-से लोगों ने इस दिन उपवास रखा, और वन्दे मातरम् के नारे लगाये। सर्वत्र देशभक्ति से ओतप्रोत गीत गाये गये, सभाएँ की गयीं और जुलूस निकाले गये। बंगाल के विभाजन का प्रतिरोध करने के प्रयोजन से बंगाली लोगों ने अंग्रेजी माल के बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने के उपाय का आश्रय लिया। स्थान-स्थान पर अंग्रेजी माल की होली की गयी, और अंग्रेजी माल की दुकानों पर धरना दिया गया। लोगों से यह प्रतिज्ञा करायी गयी कि जहाँ तक सम्भव व व्यावहारिक होगा हम विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करेंगे और स्वदेशी वस्तुओं का ही उपयोग करेंगे। शीघ्र ही इस आन्दोलन ने अत्यन्त व्यापक रूप प्राप्त कर लिया।

बंगाल में स्वदेशी का जो आन्दोलन उग्र रूप से प्रारम्भ हुआ था, भारत के अन्य प्रान्तों पर भी उसका प्रभाव पड़ा। पंजाब में यह आन्दोलन पहले से चल रहा था और इसका नेतृत्व आर्यसमाजियों के हाथों में था। पर बंग-भंग के विरोध में बंगाल से जिस राष्ट्रीय लहर का प्रारम्भ हुआ था, उसने पंजाब के स्वदेशी आन्दोलन को इस रूप से प्रभावित किया कि वह डी० ए० वी० शिक्षण-संस्थाओं तथा आर्यसमाजियों के क्षेत्र तक ही सीमित न रहकर अधिक व्यापक हो गया, और पंजाब के सभी वर्गों के लोग उसमें उत्साहपूर्वक भाग लेने लग गये। रावलपिण्डी, अमृतसर आदि नगरों में सितम्बर १९०५ ई० में अनेक सार्वजनिक सभाओं का आयोजन किया गया, जिनमें जनता को सब विदेशी वस्तुओं का परित्याग कर स्वदेशी को अपनाने की अपील की गयी। ११ सितम्बर सन् १९०५ ई० के 'पंजाबी' पत्र के अंक में यह कहा गया था कि यदि कोई ऐसी वस्तु हो जो भारत में न बनती हो, तो एशिया के किसी अन्य देश में बनी उस वस्तु का उपयोग किया जाय; और यदि कोई ऐसी वस्तु हो जो एशिया में कहीं न बनती हो, तो उसे फ्रांस, जर्मनी या अमेरिका से प्राप्त किया जाए, पर ग्रेट ब्रिटेन में बनी वस्तु का किसी भी दशा में उपयोग न किया जाए। लाहौर से प्रकाशित होने वाले 'ट्रिब्यून' (२ सितम्बर १९०५ ई०) में लोगों से यह प्रण लेने की अपील की गयी थी कि वे अंग्रेजी वस्तुओं को छुएँगे भी नहीं। इसी समय लुधियाना के 'आर्मी न्यूज' पत्र में यह लिखा गया था कि यदि भारत का प्रत्येक निवासी यह प्रतिज्ञा कर ले कि वह कोई भी विदेशी वस्तु प्रयोग में नहीं लाएगा, तो केवल चार या पाँच वर्षों में देश से गरीबी का नाम-निशान भी नहीं रहेगा। २३ सितम्बर १९०५ ई० के दिन लाहौर में एक सार्वजनिक सभा हुई, जिसके वक्ताओं में लाला बालकराम, लाला हरिकिशन और श्री रामनारायण गुप्ता के अतिरिक्त वजीर मुहम्मद नामक एक मुसलिम सज्जन भी थे। आर्यसमाज द्वारा प्रारम्भ किया गया स्वदेशी आन्दोलन कितना व्यापक रूप प्राप्त कर चुका था, इसका यह स्पष्ट प्रमाण है। इस सभा में विद्यार्थी बड़ी संख्या में उपस्थित थे। उन्होंने सार्वजनिक रूप से स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग की शपथ ली, जिससे जनता में बहुत उत्साह उत्पन्न हुआ। लाहौर के गवर्नमेण्ट कालिज के प्रिंसिपल ने यह आज्ञा जारी की थी कि कालिज के विद्यार्थी अंग्रेजी कपड़े का ब्लेजर पहनकर ही कालिज में आया करें। विद्यार्थियों में इस समय स्वदेशी के लिए जो जोश था, उसके कारण उन्होंने प्रिंसिपल की इस आज्ञा के विरोध में हड़ताल कर दी। यह हड़ताल तब तक जारी रही, जब तक कि प्रिंसिपल ने अपनी आज्ञा को वापस नहीं ले लिया।

पंजाब में स्वदेशी का आन्दोलन लाहौर तक ही सीमित नहीं था। अक्टूबर १९०५ ई० में स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार के लिए फीरोजपुर में एक सभा हुई, जिसमें निम्नलिखित आशय के प्रस्ताव स्वीकृत किये गये—(१) यह वांछनीय है कि जहाँ तक सम्भव हो, भारत में बनी हुई वस्तुओं को ही उपयोग में लाया जाय, और इस विचार का अन्यत्र भी प्रचार किया जाए। (२) स्वदेशी आन्दोलन को क्रियान्वित करने के लिए फीरोजपुर में एक 'स्वदेशी को-ओपरेटिव स्टोर' खोला जाए और इस प्रयोजन से एक कमेटी बना दी जाए। इसी प्रकार की सभाएँ गुजराँवाला, भेरा, रोहतक, लायलपुर, चिन्योट, रावलपिण्डी आदि नगरों में भी हुईं। लायलपुर की सभा में यह निर्णय किया गया था, कि स्वदेशी के प्रचार के लिए २५,००० रुपयों की पूँजी से एक कम्पनी का गठन

किया जाए। रावलपिण्डी में स्त्रियों की एक सभा आर्य-पुत्री पाठशाला में आयोजित की गयी थी, जिसमें महिलाओं ने विदेशी मलमल का प्रयोग न करने के प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर किये थे। पंजाब की स्त्रियों में इस समय तक हिन्दी भाषा का पर्याप्त रूप से प्रचार हो चुका था। इस कारण ये हस्ताक्षर प्रायः हिन्दी भाषा में ही किये गये थे। भेरा आदि अन्य नगरों की सार्वजनिक सभाओं में भी स्वदेशी के लिए मुद्रित प्रतिज्ञापत्रों पर लोगों ने उत्साह के साथ हस्ताक्षर किये थे। ये सभाएँ प्रायः शिक्षण-संस्थाओं में आयोजित की जाती थीं, और आर्य-विद्यार्थी इनमें अत्यधिक उत्साह से भाग लिया करते थे।

स्वदेशी आन्दोलन पंजाब में जो व्यापक रूप धारण कर रहा था, उसके कारण यह आवश्यकता अनुभव की गयी कि एक ऐसे संगठन का निर्माण किया जाए जो सारे प्रान्त में स्वदेशी की भावना की वृद्धि और स्वदेशी आन्दोलन की सफलता के लिए प्रयत्न कर सके। १७ अक्टूबर १९०५ ई० को लाहौर में एक सार्वजनिक सभा द्वारा 'पंजाब स्वदेशी एसोसियेशन' के संगठन का निश्चय किया गया। इसका उद्देश्य यह था कि स्वदेशी को अपनाने के लिए जनता को प्रेरित करने के साथ-साथ यह भी यत्न किया जाय, कि स्वदेशी वस्तुएँ अच्छी किस्म की बनने लगें और कौन-सी स्वदेशी वस्तु कहाँ से प्राप्त की जा सकती है, इस बात की जानकारी लोगों को मिलती रहे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एसोसियेशन द्वारा लोगों से स्वदेशी की शपथ लिवायी जाती थी, भारतीय वस्तुओं की दुकानें खुलवायी जाती थीं, स्वदेशी वस्तुओं की उपलब्धि के सम्बन्ध में जानकारी देने के लिए साहित्य प्रकाशित किया जाता था और व्याख्यान आयोजित किये जाते थे। एसोसियेशन ने स्वदेशी वस्तुओं को तैयार करने के लिए कल-कारखाने खुलवाने का भी विचार किया। इस विचार को क्रियान्वित करने के लिए कंपनी बनाने का निश्चय किया गया। इस कंपनी द्वारा हाथकरघों से कपड़ा तैयार करवाकर उसकी बिक्री की व्यवस्था की जाती थी। महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने खादी के प्रचार की जो योजना २०वीं सदी के तृतीय दशक में स्वीकृत की थी, पंजाब स्वदेशी एसोसियेशन ने उसका श्रीगणेश सन् १९०५ ई० में ही कर दिया था। एसोसियेशन के तत्त्वावधान में स्वदेशी के प्रचार के लिए बड़े पैमाने पर काम शुरू कर दिया गया। २१ अक्टूबर १९०५ ई० को अम्बाला के हिन्दू हॉल में एक सार्वजनिक सभा की गयी, जिसकी अध्यक्षता स्थानीय आर्यसमाजी नेता लाला मुरलीधर ने की थी। लाला बेनीप्रसाद और लाला द्वारकादास सदृश आर्यों ने इस सभा में भाग लिया था। २२ अक्टूबर १९०५ ई० को एसोसियेशन की ओर से एक सभा लाहौर में हुई, जिसमें ८,००० की उपस्थिति थी। प्रोफेसर रुचिराम साहनी इसके अध्यक्ष थे। इस सभा में जिन महानुभावों के व्याख्यान हुए, उनमें डाक्टर गोकुलचन्द नारंग भी थे। एसोसियेशन की योजना थी कि इस अवसर पर एक जुलूस भी निकाला जाय, पर सरकार ने उसकी अनुमति नहीं दी। ऐसी ही सभाएँ कपूरथला, होशियारपुर, भेरा, चकवाल, अम्बाला छावनी, हवेली आदि अन्य नगरों में भी आयोजित की गयीं, जिनमें आर्यसमाजियों के अतिरिक्त अन्य लोगों ने भी उत्साहपूर्वक भाग लिया। सन् १९०५ ई० में बंग-भंग के समय तक स्वदेशी के आन्दोलन ने पंजाब में जो व्यापक रूप प्राप्त कर लिया था, वह आर्यसमाज के कर्तृत्व का ही परिणाम था। इसके लिए आर्यसमाज ने बंगाल के क्रान्तिकारी व राष्ट्रवादी व्यक्तियों से प्रेरणा प्राप्त नहीं की थी। उसकी प्रेरणा के स्रोत

महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाएँ ही थीं। पंजाब में स्वदेशी का आन्दोलन बंगाल के विभाजन के कारण उत्पन्न हुए जन-आक्रोश से प्रभावित नहीं था। यह कहना असंगत नहीं होगा कि बंगाल के राष्ट्रीय नेताओं ने बंग-भंग का विरोध करने के लिए स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने और विदेशी माल के बहिष्कार के जिन उपायों को अपनाया था, उनकी प्रेरणा उन्होंने पंजाब के उस स्वदेशी आन्दोलन से ही प्राप्त की थी, जिसका प्रवर्तक आर्यसमाज था।

नवम्बर १९०५ ई० में लाला लाजपतराय ग्रेट ब्रिटेन से भारत वापस लौट आये थे। उनके भारत पहुँचने के समय तक बंग-भंग के विरुद्ध आन्दोलन उग्र रूप धारण कर चुका था। दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में इण्डियन नेशनल कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन बनारस में हुआ। श्री गोपालकृष्ण गोखले इसके अध्यक्ष थे। लाला लाजपतराय भी बनारस कांग्रेस में शामिल हुए। बंग-भंग के कारण कांग्रेस में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया था, जो उग्र राष्ट्रवादी था और कांग्रेस की तत्कालीन नीति से असंतुष्ट था। बंगाल में इस वर्ग के नेता विपिनचन्द्र पाल थे, और महाराष्ट्र में बालगंगाधर तिलक। पंजाब में लाला लाजपतराय के विचार भी वही थे, जो विपिनचन्द्र पाल और लोकमान्य तिलक के थे। कांग्रेस के बनारस अधिवेशन में भाषण करते हुए लाला लाजपतराय ने कहा था—"अंग्रेजों को भिखारी से बहुत घृणा और विरक्ति होती है। मेरा विचार है कि भिखारी होता ही इस योग्य है कि उससे घृणा की जाए। अतः हमारा कर्त्तव्य है कि हम अंग्रेजों को यह जता दें कि हम भिखारी नहीं हैं।" इस समय तक कांग्रेस की नीति अनुनय-विनय कर भारतीयों को शासन में कुछ अधिकार दिलाने तक ही सीमित थी। कांग्रेसी नेता अंग्रेजी सरकार से भीख माँगकर शासन में कुछ हिस्सा प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किया करते थे। लाला लाजपतराय भारतीयों को भिखारी के रूप में नहीं देखना चाहते थे। लोकमान्य तिलक का कहना था कि "हमारा ध्येय दया की भिक्षा मांगनी नहीं, अपितु आत्मनिर्भरता है।" विपिनचन्द्र पाल ने अपने एक भाषण में कहा था कि "यदि सरकार मेरे पास आकर कहे कि तुम स्वराज्य ले लो, तो मैं इस उपहार के लिए धन्यवाद देते हुए उससे कहूँगा कि मैं उस वस्तु को स्वीकार नहीं कर सकता, जिसे प्राप्त करने की सामर्थ्य मेरे हाथों में नहीं है।" कांग्रेस के लिए यह एक नयी विचारधारा थी, जो कि देश में विकसित होती हुई राष्ट्रीय जागृति व चेतना की परिचायक थी। लाला लाजपतराय, लोकमान्य तिलक और बाबू विपिनचन्द्र पाल जैसे नये नेता अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए स्वदेशी को अपनाने, अंग्रेजी माल का बहिष्कार करने, सार्वजनिक सभा करने और जुलूस निकालने सदृश उपायों में विश्वास रखते थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती की प्रेरणा से आर्यसमाजियों ने स्वदेशी की जिस नीति को अपनाया था, सन् १९०५ ई० में बंग-भंग द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों के कारण देश के प्रगतिशील राष्ट्रीय नेताओं ने उसका अनुसरण करना ही श्रेयस्कर समझा था।

नवम्बर १९०५ में भारत वापस आकर लाला जी बनारस अधिवेशन में सम्मिलित हुए, और फिर पंजाब में स्वदेशी के प्रचार में इन्होंने अपनी सब शक्ति लगा दी। स्कूलों और कॉलिजों को उन्होंने अपने काम के लिए चुना, और विद्यार्थियों तथा युवकों को स्वदेशी के साथ-साथ भारत की राष्ट्रीय उन्नति के लिए प्रेरित करना शुरू किया। लाला जी चाहते थे कि पंजाब के विद्यार्थी देश की राजनैतिक समस्याओं पर ध्यान दें,

और देश के लिए अपना खून बहाने में भी संकोच न करें। विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुए एक व्याख्यान में उन्होंने कहा था—"नवयुवको, तुम्हारा खून गरम है। देश-रूपी वृक्ष को सींचने की आवश्यकता है।...संसार के इतिहास को विद्यार्थियों ने ही अपने खून से लिखा है। जो काम युवक कर सकते हैं, उसे बड़े नहीं कर सकते। आओ, हम अपने राष्ट्रीय और स्वदेशी आन्दोलनों को बलिदान का गौरव प्रदान करें, जिससे कि वह समय शीघ्र आ सके जबकि हमारी गिनती भी विश्व के राष्ट्रों में की जाने लगेगी। यदि नवयुवक यह निश्चय कर लें, तो हमें कोई मार नहीं सकेगा, और हम भी जिन्दा रहेंगे।" युवकों और विद्यार्थियों को इस ढंग से बलिदान की प्रेरणा देते हुए लाला लाजपतराय सन् १९०६ और १९०७ ई० में पंजाब तथा उत्तरी भारत के अन्य प्रदेशों का भ्रमण करते रहे। मार्च १९०७ ई० में वह इलाहाबाद गये, और वहाँ उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन को अधिक व्यापक रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा, हमें अंग्रेजी वस्तुओं के साथ-साथ अंग्रेजी आन्दोलनों का बहिष्कार करना चाहिये। हमें देश में स्वदेशी पंचायतों की स्थापना कर उन्हीं से अपने विवादों व मुकद्दमों का निर्णय कराना चाहिये। अंग्रेजी कोर्टों के बहिष्कार की जो बात महात्मा गांधी ने असहयोग आन्दोलन के समय देश के सम्मुख रखी थी, लाला लाजपतराय ने इसे चौदह वर्ष पहले ही इलाहाबाद में प्रस्तुत कर दिया था। सन् १९०७ ई० में सूरत में अखिल भारतीय स्वदेशी कान्फरेन्स का आयोजन किया गया था। लाला लाजपतराय ने उसके सभापति का आसन ग्रहण किया था। जनवरी १९०८ ई० में स्वदेशी का प्रचार करते हुए लालाजी कानपुर गये थे। वहाँ उन्होंने तीन प्रकार की स्वदेशी का प्रतिपादन किया था, राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक। उनका कहना था, आर्थिक दृष्टि से भारत तभी आत्मनिर्भर हो सकता है, जबकि कल-कारखानों तथा उद्योगों के विकास पर समुचित ध्यान दिया जाये। देश की गरीबी के निवारण तथा दुर्भिक्ष पड़ने की सम्भावना को दूर करने का यही उपाय है कि व्यापार, व्यवसाय तथा उद्योगों की उन्नति कर देश को समृद्ध बनाया जाये। आर्थिक आत्मनिर्भरता को वह आर्थिक स्वदेशी के लिए आवश्यक मानते थे। इसमें सन्देश नहीं, कि उत्तरी भारत में स्वदेशी आन्दोलन के प्रधान नेता लाला लाजपतराय थे, और उनकी प्रेरणा से आर्य-समाज की शक्ति भी इस आन्दोलन की सफलता के लिए प्रयुक्त की जाने लगी थी।

कितने ही अन्य आर्यसमाजी भी इस काल में स्वदेशी के प्रचार में तत्पर थे। लाला लाजपतराय के अन्यतम प्रतिनिधि श्री सुन्दरलाल ने २१ जुलाई १९०९ ई० के दिन इलाहाबाद में एक व्याख्यान दिया था, जिसमें उन्होंने कहा था—"ये विदेशी शुरू में व्यापार के लिए भारत में आये थे। पर बाद में ये यहाँ के शासक बन गये। देश की धन-दौलत को लूटकर ये इंग्लैण्ड ले गये। देश का सोना-चाँदी कहाँ गया? सोमनाथ मन्दिर के हीरे-जवाहरात अब कहाँ हैं? सब विदेशियों द्वारा अपहरण कर लिये गये। अब हिन्दुओं के सम्मुख केवल यही उपाय है कि वे विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करें और अपने देश में निर्मित वस्तुओं का उपयोग करें।" स्वदेशी का प्रचार जहाँ व्याख्यानों द्वारा किया जा रहा था, वहाँ साथ ही पर्चे छपवाकर भी स्थान-स्थान पर भेजे जा रहे थे। इन पर्चों में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के साथ-साथ लोगों को स्वशासन के लिए जी-जान से प्रयत्न करने की प्रेरणा भी दी जाती थी। ऐसे कितने ही पर्चे सरकार के खुफिया विभाग ने जब्त किये थे। यह सब काम आर्यसमाजियों द्वारा किया जा रहा था। सन् १९०७ ई०

की एक सरकारी रिपोर्ट के अनुसार वीरेन्द्रनाथ ब्रह्मचारी और स्वामी आनन्दानन्द नामक दो आर्यसमाजी प्रचारक बम्बई गये थे, और वहाँ उन्होंने स्वदेशी का प्रचार किया था। इसी समय (१९०७ ई०) कानपुर के आर्यसमाजियों ने इस प्रयोजन से एक दूकान खोलने का निश्चय किया था, ताकि उस द्वारा स्वदेशी चीनी का प्रचार किया जा सके। दिसम्बर १९०७ ई० में दीनानाथ नामक एक आर्यसमाजी ने जेहलम में स्वदेशी की एक दूकान खोली थी, और विदेशी कपड़े बेचना बन्द कर दिया था। सन् १९०८ ईसवी के दिसम्बर मास में लाहौर आर्यसमाज का जो वार्षिकोत्सव हुआ, उसमें २०० आर्य-युवकों ने विदेशी के बहिष्कार और स्वदेशी के प्रयोग व प्रचार की शपथ ली थी। तथ्य यह है कि स्वदेशी के लिए बंगाल में जो कार्य उग्र राष्ट्रवादियों द्वारा किया जा रहा था, उत्तरी भारत के हिन्दी के क्षेत्र में वही कार्य आर्यसमाज कर रहा था। आर्यसमाज के समाचार-पत्र भी स्वदेशी के प्रचार में संलग्न थे। महात्मा मुंशीराम द्वारा सम्पादित सद्धर्मप्रचारक में स्वदेशी के पक्ष में लेख प्रकाशित हुआ करते थे। २१ सितम्बर १९०५ ई० के आर्य-गजट के अंक में डी० ए० वी० कॉलिज लाहौर के विद्यार्थी नानकचन्द ने एक लेख लिखा था, जिसमें यह विचार प्रकट किया गया था कि देश की स्वतन्त्रता के लिए स्वदेशी एक सशक्त अस्त्र है। उस युग में 'पंजाबी' नाम का एक अंग्रेजी पत्र प्रकाशित हुआ करता था जिसके संचालकों में आर्यसमाजियों का प्रमुख हाथ था। २१ सितम्बर सन् १९०५ ई० के 'पंजाबी' के अंक में स्वदेशी का जोरदार समर्थन किया गया था जिसके अनुसार देश की समस्याओं का समाधान स्वदेशी द्वारा ही किया जा सकता था।

(४) स्वदेशी (राष्ट्रीय) शिक्षा

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'स्वदेशी' का जिस रूप में प्रतिपादन किया था, उससे उन्हें केवल स्वदेश में निर्मित वस्तुओं का प्रयोग ही अभिप्रेत नहीं था, अपितु स्वदेशीय संस्कृति भी उसके अन्तर्गत थी। भारत के सुशिक्षित व्यक्तियों द्वारा अंग्रेजी रहन-सहन, खान-पान और चाल-चलन का अपनाया जाना उनकी दृष्टि में बहुत अनुचित था। ब्राह्म-समाजियों द्वारा पाश्चात्य संस्कृति को अपनाते देखकर उन्होंने दुःख के साथ कहा था—"इन लोगों में स्वदेश-भक्ति बहुत न्यून है, ईसाइयों के आचरण बहुत-से लिये हैं; अपने देश की प्रशंसा वा पूर्वजों की बड़ाई करनी तो दूर रही, उसके बदले भरपेट निन्दा करते हैं; व्याख्यानों में ईसाई आदि अंग्रेजों की प्रशंसा भरपेट करते हैं, ब्रह्मादि महर्षि के नाम भी नहीं लेते। ब्रह्मा से लेकर आर्यावर्त में बहुत-से विद्वान् हो गये हैं, उनकी प्रशंसा न करके यूरोपियन की ही स्तुति में उतर पड़ना पक्षपात और खुशामद के बिना क्या कहा जाय!" ब्राह्मसमाजियों की इस मनोवृत्ति के लिए अंग्रेजी शिक्षा मुख्य रूप से उत्तरदायी थी। ब्रिटिश शासकों ने जब शिक्षा के कार्य को अपने हाथों में लिया, उससे पहले ही क्रिश्चियन मिशनरियों ने इस देश में अनेक शिक्षण-संस्थाएँ स्थापित कर दी थीं। इन द्वारा जहाँ ईसाई-धर्म के प्रचार का प्रयत्न किया जाता था, वहाँ साथ ही अंग्रेजी सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति उच्चता की भावना भी प्रादुर्भूत की जाती थी। इनमें शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी अपनी भाषा, साहित्य, कला, रहन-सहन तथा परम्पराओं के प्रति हीन भावना रखने लगते थे, और उनमें यह विचार बद्धमूल हो जाता था कि ब्रिटिश लोग सब दृष्टियों से उनकी तुलना में उत्कृष्ट हैं, और भारत पर अंग्रेजी शासन ईश्वरीय विधान

का परिणाम है। जब सरकार ने अपनी ओर से शिक्षणालय स्थापित करने शुरू किये, तो उनका वातावरण भी प्रायः वही होता था, जो क्रिश्चियन स्कूलों का था। इन सब (सरकारी और क्रिश्चियन) शिक्षण-संस्थाओं में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा थी, और पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का पाठविधि में प्रमुख स्थान था। इनमें शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को न अपनी सभ्यता और संस्कृति से कोई प्रेम होता था, और न अपनी मातृभाषा का समुचित ज्ञान। यह शिक्षा उसी प्रकार विदेशी थी, जैसे कि लंकाशायर और मांचेस्टर में बने हुए सूती कपड़े। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग के समान स्वदेशी शिक्षा के लिए भी प्रयत्न किया, और उनकी शिक्षाओं के अनुसार आर्यसमाज ने बहुत-से ऐसे शिक्षणालयों की स्थापना की, जो वस्तुतः स्वदेशी व राष्ट्रीय थे।

आर्यसमाज के शिक्षा-विषयक कार्यकलाप पर इस 'इतिहास' के तृतीय भाग में विशद रूप से प्रकाश डाला जा चुका है। उसका पुनः उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं है। पर क्योंकि आर्यसमाज द्वारा स्थापित शिक्षण-संस्थाओं का भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, और देश के स्वाधीनता-संघर्ष में उनका योगदान अत्यन्त महत्त्व का था, अतः उनका यहाँ संक्षेप से उल्लेख करना उपयोगी है। लाहौर के डी० ए० वी० कॉलिज की स्थापना महर्षि दयानन्द सरस्वती के स्मारक रूप में की गयी थी। लाला लाजपतराय के शब्दों में इस शिक्षण-संस्था का उद्देश्य यह था कि "संस्कृत और हिन्दी की तालीम को अंग्रेजी तालीम के साथ लाजमी करार देकर वह उन नक़ायस को दूर कर सके जो एक महज संस्कृत की तालीम से और दूसरी तरफ महज अंग्रेजी की तालीम से पैदा होते हैं।

...तालीमयाफ्ता जमायत और अवाम के दरमियान जो दीवार होती जाती है, उसको दूर किया जाये। ऐसी तालीम दी जाये जिससे तालीमयाफ्ता और अवाम के साथ ऐसे गहरे ताल्लुकात पैदा कर सकें कि उनके खयालात का असर आम हो।" डी०ए० वी० शिक्षण-संस्थाओं में पाठविधि तो वही रखी गयी थी, जो सरकारी स्कूल-कॉलिजों में थी, पर उसके साथ संस्कृत और मातृभाषा हिन्दी की शिक्षा पर भी उनमें समुचित ध्यान दिया था, और उनका वातावरण भी भारतीय संस्कृति के अनुरूप था। उनमें शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को अपने धर्म, संस्कृति और परम्पराओं से परिचित होने का अवसर प्राप्त होता था। क्रिश्चियन पादरियों के प्रभाव में आने का तो उनके लिए प्रश्न ही नहीं था। सरकारी शिक्षणालयों में अंग्रेजों को उच्च तथा अपने को हीन समझने की जो प्रवृत्ति विकसित होती थी, उससे भी डी०ए०वी० संस्थाओं के विद्यार्थी बचे रहते थे। धर्म की शिक्षा इन शिक्षणालयों में अनिवार्य रूप से दी जाती थी। कुछ समय पश्चात् स्कूल के विद्यार्थियों के लिए संस्कृत भी एक अनिवार्य विषय कर दिया गया था। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि डी० ए० वी० संस्थाओं में राष्ट्रीयता का वातावरण प्रादुर्भूत हो गया, और उनके विद्यार्थी स्वदेशी आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लेने लगे। देश के किसी भाग में जब दुर्भिक्ष पड़ता, महामारियाँ फैलतीं, बाढ़ें आतीं या भूकम्प आदि प्राकृतिक विपत्तियाँ आतीं, तो डी० ए०वी० शिक्षण-संस्थाओं के प्राध्यापक और विद्यार्थी इन अवसरों पर जनता की सेवा के लिए मैदान में आ जाते। जब पंजाब और उत्तर-प्रदेश में क्रान्तिकारियों ने सशस्त्र क्रान्ति द्वारा विदेशी सरकार को पलट देने के प्रयोजन

से गुप्त समितियों का संगठन किया, तो डी० ए० वी० संस्थाओं में भी उनके अनेक केन्द्र स्थापित हुए। इस सबका कारण यही था कि इन संस्थाओं को पर्याप्त अंश तक स्वदेशी या राष्ट्रीय कहा जा सकता था। इनका वातावरण क्रिश्चियन व सरकारी शिक्षणालयों से बहुत भिन्न था। राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना के विकास के अनुकूल सब परिस्थितियाँ इनमें विद्यमान थीं।

पर स्वदेशी (राष्ट्रीय) शिक्षा के सम्बन्ध में आर्यसमाज का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयत्न गुरुकुल संस्थाओं की स्थापना था। इन संस्थाओं में महर्षि दयानन्द सरस्वती के शिक्षा-विषयक मन्तव्यों को अविकल रूप से क्रियान्वित करने का प्रयत्न किया गया था। संस्कृत, वेदशास्त्र और प्राचीन दर्शन को इनके पाठ्य विषयों में प्रमुख स्थान प्राप्त था। पर आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की भी इनमें उपेक्षा नहीं की गयी थी। गणित, इतिहास, भूगोल, राजनीति शास्त्र, भौतिक विज्ञान, रसायन आदि विभिन्न आधुनिक विषय भी इनमें पढ़ाये जाते थे, पर शिक्षा का माध्यम हिन्दी भाषा थी। अंग्रेजी भाषा को भी इनके पाठ्यक्रम में समुचित स्थान दिया गया था। महर्षि के मन्तव्यों के अनुसार गुरुकुलों की स्थापना नगरों से दूर एकान्त प्रदेश में की गयी थी, जहाँ विद्यार्थी माता-पिता से पृथक् होकर गुरुजनों के सान्निध्य में रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे। पाश्चात्य संस्कृति से ये संस्थाएँ पूर्ण रूप से अप्रभावित थीं, और इनका वातावरण पूरी तरह से भारतीय था। अध्यापक, विद्यार्थी और कर्मचारी—सबका रहन-सहन पूर्णतया भारतीय और राष्ट्रीयता व देश-भक्ति से ओतप्रोत था। ये संस्थाएँ सरकार से कोई आर्थिक सहायता व अनुदान प्राप्त नहीं करती थीं। इनका खर्च जनता द्वारा स्वेच्छापूर्वक दिये गये दान से चलता था। इसी-लिए सरकार का इन पर न कोई प्रभाव था, और न कोई नियन्त्रण। आर्यसमाज द्वारा स्थापित गुरुकुल संस्थाओं में गुरुकुल काँगड़ी प्रमुख था। अंग्रेजी सरकार शुरू से ही उसे आशंका की दृष्टि से देखती थी। डी० ए० वी० संस्थाओं से उसे वह भय नहीं था, जो गुरुकुल काँगड़ी से था। डी० ए० वी० स्कूलों और कॉलिजों में वही पाठविधि प्रचलित थी, जो सरकारी संस्थाओं में थी, पर गुरुकुल सब दृष्टियों से स्वतन्त्र शिक्षणालय थे। बीसवीं सदी के प्रथम दशक में जब पंजाब तथा उत्तरप्रदेश में स्वदेशी आन्दोलन जोर पकड़ रहा था, और उसका नेतृत्व प्रधानतया आर्यसमाजियों के हाथों में था, आर्यसमाज की इन शिक्षण-संस्थाओं के प्रति विदेशी सरकार का सशंक होना सर्वथा स्वाभाविक था। गुरुकुल काँगड़ी के प्रति सरकारी रुख के सम्बन्ध में उस समय की गुप्त सरकारी रिपोर्टों से अच्छा प्रकाश पड़ता है। एक रिपोर्ट में गुरुकुल को "अत्यन्त भयंकर और रहस्यमय खतरे का स्रोत" (Source of infinite terrible and unknown danger) बताया गया है। सरकार को यह समझ में नहीं आता था कि जंगल के बीच मे स्थापित इस संस्था का वास्तविक स्वरूप क्या है। एक सरकारी रिपोर्ट में लिखा गया था कि "विचारणीय विषय यह है कि गुरुकुल से निकले हुए इन संन्यासियों का राजनीति के साथ क्या सम्बन्ध होगा। इस सम्बन्ध में महाशय रामदेव की लिखी हुई गुरुकुल की एक रिपोर्ट की भूमिका बड़ी रोचक है। उसके अन्त में लिखा है कि गुरुकुल में दी जाने वाली शिक्षा सर्वांश में राष्ट्रीय है। आर्यसमाजियों का बाइबल 'सत्यार्थप्रकाश' है, जो देशभक्ति के भावों से ओतप्रोत है। गुरुकुल में इतिहास इस प्रकार पढ़ाया जाता है, जिससे ब्रह्म-चारियों में देशभक्ति की भावना उद्दीप्त हो। उनमें उपदेश और उदाहरण दोनों से देश

के लिए उत्कट प्रेम पैदा किया जाता है। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि गुरुकुल में यत्नपूर्वक ऐसे राजनैतिक संन्यासियों को तैयार किया जा रहा है, जिनका मिशन सरकार के अस्तित्व के लिए भयानक संकट पैदा कर देगा।" "गुरुकुल की दीवारों पर ऐसे चित्र लगे हुए हैं, जिनमें अंग्रेजी राज्य से पहले की भारत की अवस्था और अंग्रेजों के कलकत्ता आने की अवस्था दिखायी गयी है। लखनऊ के सन् १८५७ ई० के राजद्रोह के चित्र भी लगाये गये हैं। बिजनौर के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट मिस्टर एफ० फोर्ड ने जोन ऑफ आर्क का भी वह बड़ा चित्र गुरुकुल में लगा हुआ देखा था, जिसमें वह अंग्रेजों के विरुद्ध सेना का संचालन कर रही है।" "इस पद्धति से (गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली) से जो युवक तैयार होंगे, वे सरकार के लिए अत्यन्त भयानक होंगे।"

सरकारी रिपोर्टों की ये कुछ पंक्तियाँ गुरुकुलों के राष्ट्रीय स्वरूप के स्पष्ट प्रमाण हैं। वस्तुतः, गुरुकुलों के रूप में आर्यसमाज ने ऐसी शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना की थी, जिनमें यथार्थ में स्वदेशी या राष्ट्रीय शिक्षा का सूत्रपात किया गया था। बाद में गुरुकुलों के अनुकरण में अनेक शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित हुईं। जिनमें कवि-सम्राट् रवीन्द्र-नाथ ठाकुर का 'शान्ति निकेतन' उल्लेखनीय है। महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन का एक अंग सरकारी शिक्षणालयों का बहिष्कार तथा राष्ट्रीय स्कूल-कालेजों की स्थापना भी थी। इनकी प्रेरणा भी गुरुकुलों से ही प्राप्त की गई थी। आर्यसमाज द्वारा स्थापित गुरुकुल किस प्रकार भारत के स्वाधीनता-आन्दोलन में सहायक हुए, और वहाँ से शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों ने कैसे देश के विविध सार्वजनिक क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया, इसका उल्लेख इस 'इतिहास' में यथास्थान किया गया है।

स्त्री-शिक्षा के लिये भी आर्यसमाज ने बहुत कार्य किया। उसी के द्वारा सबसे पूर्व ऐसी पुत्री-पाठशालाओं व कन्या-विद्यालयों की स्थापना की गई, जिनमें भारतीय वाता-वरण में शिक्षा दी जाती थी। जालन्धर का कन्या महाविद्यालय, हाथरस का कन्या गुरुकुल आदि ऐसी शिक्षा-संस्थाएँ थीं, जिन्हें सच्चे अर्थों में स्वदेशी या राष्ट्रीय कहा जा सकता है। आर्यसमाज के शिक्षणालयों की एक विशेषता यह भी थी कि उनमें जात-पाँत, छूत-अछूत आदि के भेदभाव के बिना सबको शिक्षा का समान रूप से अवसर प्राप्त होता था। वहाँ शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों में सामाजिक ऊँच-नीच का विचार रह ही नहीं जाता था। ये सब बातें भारत में सुशिक्षित लोगों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न करने में सहायक हुईं, जो स्वदेशभक्ति व राष्ट्रीयता की भावनाओं से पूर्णतया ओतप्रोत था, और जिसमें देश की स्वाधीनता के लिये उत्कट आकांक्षा विद्यमान थी।

(५) पंजाब भूमि-हस्तान्तरण कानून

बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों तक उत्तरी भारत का सार्वजनिक जीवन प्रधान-तया आर्यसमाजों में केन्द्रित था। उस समय तक इण्डियन नेशनल कांग्रेस प्रारम्भिक दशा में थी, और सर्वसाधारण जनता के साथ उसका सम्पर्क नाममात्रको ही था। इस दशा में सरकार द्वारा निर्मित किसी ऐसे कानून, जो जनता के हित में न हो, का विरोध मुख्यतया आर्यसमाजियों द्वारा ही किया जाता था। सन् १९०० ई० में पंजाब में 'पंजाब भूमि-हस्तान्तरण कानून' (Punjab Land Alienation Act) का निर्माण

किया गया। इसका प्रयोजन यह था कि किसानों की जमीनें गैर-किसान महाजनों के हाथों में न जाने पाएँ। इससे पहले किसान अपनी जमीन को जिसके पास चाहें गिरवी रखकर ऋण ले सकते थे और आवश्यकता पड़ने पर जिसे चाहे बेच सकते थे। इसका परिणाम यह था कि देहातों की भूमि किसानों के हाथों से निकलकर शहरों के ऐसे साहूकारों व महाजनों के स्वत्व में जाने लग गयी थी, जो देहातों में नहीं रहते थे और जिनका खेती के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं था। ये भूमि को बँटाई पर या लगान पर खेती के लिए किसानों को दे दिया करते थे, जिसके कारण खेतिहरों की आर्थिक दशा निरन्तर हीन होती जाती थी और खेती की उपज का बड़ा भाग शहरी महाजनों के पास चला जाता था। जहाँ तक 'भूमि-हस्तान्तरण कानून' के उद्देश्य का प्रश्न है, उसके औचित्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। पर एतराज की बात यह थी कि इस कानून में किसान की यह परिभाषा नहीं थी कि जो वस्तुतः खेती करे या जिसकी आजीविका का मुख्य आधार खेती हो, वह किसान है। इस कानून में कतिपय जातियों, कबीलों व फिरकों को किसान मान लिया गया था, चाहे उनके सदस्य खेती न भी करते हों। पंजाब की सारी आबादी दो वर्गों में विभक्त कर दी गयी थी—किसान (कृषिजीवी) और गैर-किसान। सब सिक्ख, मुसलमान और ईसाई किसानवर्ग के अन्तर्गत मान लिये गये थे, चाहे कोई वकील, अध्यापक, महाजन, दुकानदार या धर्माचार्य भी क्यों न हो। हिन्दुओं की कुछ ही जातियों को 'किसान' माना गया था। हिन्दुओं का एक बड़ा वर्ग, जिसे अछूत समझा जाता था, खेतों में मजदूरी करके अपना निर्वाह किया करता था। इस वर्ग के लोगों का खेती के साथ सीधा व घनिष्ठ सम्बन्ध था, पर इन्हें किसान नहीं माना गया था। यह सर्वथा अनुचित बात थी, और इसके प्रति हिन्दुओं में आक्रोश व विरोध का उत्पन्न होना सर्वथा स्वाभाविक था। सिक्ख, मुसलमान और ईसाई किसानों को भी इससे हानि थी। इस कानून के बन जाने पर हिन्दू महाजन उन्हें कर्ज नहीं देते थे, क्योंकि कर्ज की वसूली के लिए वे जमीन को अपने पास गिरवी नहीं रख सकते थे, और न ही किसान की जमीन को स्वयं खरीदकर अपना कर्ज वसूल कर सकते थे। यदि किसी किसान को कर्ज की आवश्यकता हो, तो वह उसे केवल उन जातियों के महाजनों से प्राप्त कर सकता था, जो स्वयं किसान-वर्ग के अन्तर्गत हों। इस प्रकार के महाजन संख्या में अधिक नहीं थे, और न ही उनके पास पूँजी की प्रचुरता थी। परिणाम यह था कि किसानों को कर्ज लेने में बहुत कठिनाई होने लगी और उनके सूद की दर भी बहुत बढ़ गयी।

जिस समय सरकार पंजाब भूमि हस्तान्तरण कानून के निर्माण की योजना बना रही थी, तभी पंजाब के हिन्दू आशंकित होकर उसके विरुद्ध आन्दोलन करने में तत्पर हो गये थे। उन्होंने इसके विरोध में सभाएँ आयोजित की, प्रार्थनापत्र तैयार किये, और संगठित रूप से प्रचार प्रारम्भ कर दिया। इस समय तक इण्डियन नेशनल कांग्रेस का निर्माण हो चुका था, और पंजाब के प्रतिनिधि भी उसके वार्षिक अधिवेशनों में सम्मिलित होने लग गये थे। सन् १८९९ के लखनऊ के कांग्रेस अधिवेशन में पंजाब से २६ प्रतिनिधि शामिल हुए। इनमें लाला मुरलीधर भी थे। उन्होंने पंजाब भूमि-हस्तान्तरण कानून के विरोध में एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया, जिसे कांग्रेस द्वारा स्वीकृत कर लिया गया। अब इस कानून का विरोध केवल पंजाब तक ही सीमित न रहकर बहुत बड़े क्षेत्र में विस्तृत हो गया था। पंजाब के उन हिन्दुओं की यह महत्त्वपूर्ण विजय थी, जिनका नेतृत्व कतिपय आर्य सज्जनों

द्वारा किया जा रहा था। पंजाब भूमि-हस्तान्तरण कानून के विरोध में प्रस्ताव स्वीकृत कर लेने के कारण पंजाब में कांग्रेस के लिए बहुत उत्साह हुआ, और सन् १९०० का कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन लाहौर में निमन्त्रित किया गया। आर्यसमाज के अन्यतम नेता बख्शी जैशीराम ने इस अधिवेशन की सफलता के लिए उत्साहपूर्वक कार्य किया। कांग्रेस के अधिवेशन में सम्मिलित कुल ५७७ प्रतिनिधियों में ४२१ पंजाबी थे, जिनमें आर्य-समाजियों की बहुसंख्या थी। इस समय आर्यसमाज कांग्रेस के बहुत समीप आ गया था, और उसे इस अखिल भारतीय राष्ट्रीय संगठन से बहुत आशाएँ थीं। पर ये आशाएँ पूरी नहीं हुई और आर्यसमाजी लोगों का कांग्रेस के प्रति कोई लगाव नहीं रह गया।

सन् १९०० के भूमि-हस्तान्तरण कानून के कारण पंजाब के हिन्दुओं में सरकार के विरोध की जो भावना उत्पन्न हो गयी थी, सन् १९०६ ई० में उसमें और भी अधिक वृद्धि हो गयी। इस वर्ष पंजाब सरकार ने भूमि-हस्तान्तरण कानून में कतिपय ऐसे संशोधन किये थे, जिनके कारण गैर-काश्तकार वर्ग के लोगों के हितों का और भी अधिक व्याघात होता था। इन संशोधनों के विरोध में आन्दोलन उग्र रूप धारण कर ही रहा था कि सरकार ने दो अन्य ऐसे कानून प्रस्तावित किये, जिन्हें देहात के काश्तकारवर्ग के लोग भी अपने लिये हानिकारक समझते थे। इनमें से एक "पंजाब कोलोनाइजेशन ऑफ लैण्ड बिल" था, जिसे चनाब नदी के जल से सिंचित कृषियोग्य भूमि के सम्बन्ध में बनाया गया था। यह भूमि पहले बंजर थी, सिंचाई के अभाव में यह खेती के काम नहीं आती थी। सन् १८८७ ई० में चनाब नदी से नहरें निकालकर इस भूमि को कृषियोग्य बनाया गया, और उसे खेती के लिए किसानों में विभक्त कर दिया गया। इस प्रकार से कृषि योग्य बनायी गयी भूमि का रकबा बीस लाख एकड़ से भी अधिक था। इस भूमि के कृषियोग्य बन जाने पर वहाँ बहुत-सी बस्तियाँ बस गयी थीं, जिनके निवासी खेती द्वारा अच्छे समृद्ध हो गये थे। यह भूमि प्रायः उन लोगों को दी गयी थी, जिन्होंने सन् १८५७ ई० के स्वा-धीनता-संग्राम का दमन करने में अंग्रेजों की सहायता की थी। इन काश्तकारों की स्थिति सरकार के मुजेरों की थी। उनकी सन्तान जमीन को उत्तराधिकार में तो प्राप्त कर सकती थी, पर उसे बेचा नहीं जा सकता था। उन्हें कतिपय नियमों व शर्तों का भी पालन करना पड़ता था, जिनका उल्लंघन करने पर उन पर जुर्माने किये जाते थे। काश्तकार या मुजेरा जमीन के सम्बन्ध में सरकारी नियमों का सही ढंग से पालन कर रहे हैं, यह निर्णय करना नहर के अफसरों के हाथों में था। इससे काश्तकारों में बहुत असन्तोष था, और वे चाहते थे कि स्पष्ट रूप से यह निर्धारित कर दिया जाए कि जमीन पर उनका स्वत्वाधिकार किस अंश में व किस रूप में है। अपने दृष्टिकोण एवं शिकायतों को सरकार तथा जनता के सम्मुख प्रस्तुत करने के लिए 'जमींदार' नाम से एक समाचारपत्र भी चनाब कालोनी के काश्तकारों द्वारा प्रकाशित किया जाना शुरू हुआ। काश्तकारों के आन्दोलन को दृष्टि में रखकर पंजाब सरकार ने पहले सन् १९०३ ईसवी में एक कानून बनाया, और फिर सन् १९०६ ई० में "पंजाब कोलोनाइजेशन ऑफ लैण्ड बिल" प्रस्तावित किया गया। यह बिल केवल चनाब कालोनी के काश्तकारों के लिए ही नहीं था, अपितु जेहलम नदी से नहर निकालकर जो नयी कृषियोग्य भूमि उस समय तैयार की जा रही थी, उसके काश्तकारों पर भी लागू होता था। चनाब और जेहलम नदियों

द्वारा सिंचित भूमि के मुजेरों के सम्बन्ध में नहरों के पदाधिकारी जिस रुख को अपना रहे थे, और जिस मनमाने ढंग से उनपर जुर्माने किया करते थे, उस सबको इस बिल द्वारा कानूनी रूप प्रदान कर दिया गया था। अब इन कालोनियों के काश्तकार नहर के पदाधिकारियों द्वारा किये गये जुर्मानों के विरुद्ध अदालत में अपील नहीं कर सकते थे। यदि उन्हें कोई शिकायत हो, तो उसका अन्तिम निर्णय करने का अधिकार कलेक्टर को प्रदान किया गया था। इस व्यवस्था से काश्तकारों की स्थिति पूर्णतया सरकारी अफसरों की कृपा पर निर्भर हो जाती थी, और जमीन पर उनके कोई ऐसे अधिकार नहीं रह जाते थे, जिनकी रक्षा के लिए वे अदालत की शरण ले सकें। इससे पंजाब के किसान वर्ग में बहुत असन्तोष उत्पन्न हुआ। भूमि-हस्तान्तरण कानून के कारण शहरी लोग तो सरकार के विरुद्ध आन्दोलन करने में तत्पर थे ही, अब देहाती लोग भी "कोलोनाइजेशन ऑफ लैण्ड बिल" के कारण उनका साथ देने को तत्पर हो गये। इसी समय (सन् १९०६ ई०) सरकार ने नहरों के पानी की कीमत में भी वृद्धि कर दी। खेतों की सिंचाई के लिए किसान नहरों से जो पानी लेते थे, उसकी दर में वृद्धि हो जाने के कारण उनके अनाज का उत्पादन-व्यय बहुत बढ़ गया, जिससे उनमें और भी अधिक असन्तोष हुआ। इस प्रकार पंजाब के शहर और देहात दोनों की जनता को सरकार के विरुद्ध जो शिकायतें थीं, उन्होंने शीघ्र ही एक व्यापक व उग्र आन्दोलन का रूप प्राप्त कर लिया। स्थान-स्थान पर इन नये कानूनों का विरोध करने के लिए सार्वजनिक सभाओं का आयोजन किया गया। क्योंकि इस समय आर्यसमाज ही एक ऐसी संस्था थी, जो भलीभाँति सुसंगठित थी और शहरी और देहाती दोनों वर्गों के लोग जिसके सदस्य थे, अतः स्वाभाविक रूप से इस नये सार्वजनिक आन्दोलन का नेतृत्व प्रधानतया आर्यसमाजियों द्वारा किया गया। ७ फरवरी सन् १९०७ ई० के दिन लायलपुर आर्यसमाज में एक सभा हुई, जिसमें उपस्थिति दस हजार के लगभग थी। लाला लाजपतराय अपने कतिपय साथियों के साथ इस सभा में व्याख्यान देने के लिए लाहौर से लायलपुर गये थे। इसी दिन लाहौर में एक सार्वजनिक सभा हुई, जिसके मुख्य वक्ता श्री रामभज दत्त थे। वह भी लाला लाजपतराय के समान आर्यसमाज के प्रतिष्ठित नेता थे। पंजाब के अन्य भी कितने ही नगरों में इसी ढंग से सार्वजनिक सभाओं का आयोजन किया गया, और उनमें नये कानूनों के विरुद्ध आवाज उठायी गयी। आन्दोलन को सुव्यवस्थित रूप देने के लिए अनेक जिलों में 'जिला एसोसियेशन' भी संगठित किये गये। इन एसोसियेशनों का नेतृत्व भी प्रायः आर्यसमाजियों के हाथों में था। उदाहरणार्थ, रावलपिण्डी एसोसियेशन के नेता लाला हंसराज साहनी थे, जिनका आर्यसमाज में प्रतिष्ठित स्थान था। सन् १९०७ ई० के पूर्वार्ध में पंजाब में यह आन्दोलन निरन्तर अधिक-से-अधिक उग्र तथा व्यापक होता गया। लाला लाजपतराय, सरदार अजीतसिंह पण्डित रामभज दत्त और बख्शी टेकचन्द इस आन्दोलन के प्रधान नेता थे। इस आन्दोलन के कारण पंजाब की जनता में कितनी उत्तेजना फैल गयी थी, इसका अनुमान करने के लिए वह कविता ही पर्याप्त है, जिसे लाला बाँकेदयाल ने लाहौर की एक सार्वजनिक सभा में गाकर सुनाया था। इस कविता की पहली पंक्ति थी—"पगड़ी सँभाल जट्टा, पगड़ी सँभाल ओए!" २२ मार्च १९०७ ई० के दिन लायलपुर में एक मेला था। समीप के देहातों से बहुत-से किसान उसमें शामिल होने के लिए लायलपुर आये हुए थे। सरकार के प्रस्तावित कानूनों के विरुद्ध आन्दोलन

करने के लिए इस अवसर का उपयोग किया गया, और ८००० देहातियों की सार्वजनिक सभा में लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह ने सरकार के खिलाफ व्याख्यान दिये। इस समय तक यह आन्दोलन इतना उग्र हो चुका था कि सरदार अजीतसिंह ने अपने व्याख्यान में जनता को अपना खून तक बहा देने की खुलकर अपील की, और अन्य भाषणों में भी खूब गरमागरमी रही। मेले के बाद सरदार अजीतसिंह और लाला लाजपतराय ने पंजाब के देहातों में जाकर सरकार के विरुद्ध प्रचार शुरू किया। इस काल में पंजाब की जनता में शहरी और देहाती का भेदभाव नहीं रह गया था। महाजन और काश्तकार दोनों सरकार के खिलाफ मिलकर एक हो गये थे, क्योंकि दोनों को ही अपने-अपने कारणों से सरकारी नीति और कानूनों से सख्त शिकायत थी। सरकार का प्रतिरोध करने के लिए लाला लाजपतराय आदि आर्य नेताओं ने स्वदेशी के प्रचार के उपाय को अपनाया, और सार्वजनिक सभाओं तथा पत्र-पत्रिकाओं द्वारा जनता को अंग्रेजी माल का बहिष्कार कर स्वदेशी को अपनाने की अपील की जाने लगी। प्रारम्भ में सरकार ने इस आन्दोलन को गम्भीरता से नहीं लिया। उसका विचार था कि यह सब-कुछ शिक्षित बनियों व बाबुओं द्वारा पैदा की गयी हलचल है; सर्वसाधारण जनता इसके साथ नहीं है, अतः इसकी उपेक्षा की जा सकती है। इसकी गम्भीरता का सरकार को तब बोध हुआ, जबकि लाहौर के अनारकली बाजार में जनता और पुलिस में मुठभेड़ हो गयी। १० एप्रिल सन् १९०७ ई० को कुछ जोशीले नवयुवक एक सार्वजनिक सभा से वापस आ रहे थे। अनारकली बाजार में इनको देखकर घुड़सवार पुलिस के जवान उत्तेजित हो गये। उन्होंने युवकों पर हमला बोल दिया, और कितने ही युवक घोड़ों के पैरों के नीचे रौंद दिये गये। पुलिस ने दुकानदारों पर भी हमले किये, और कितनी ही दुकानें लूट ली गयीं। वस्तुतः इस समय तक सरकार द्वारा प्रस्तावित व निर्मित नये कानूनों के विरुद्ध इतना अधिक आक्रोश उत्पन्न हो चुका था कि जनता के सभी वर्ग विद्रोह के लिए उद्यत प्रतीत होते थे। अनारकली बाजार की घटना इसी स्थिति का परिणाम थी। इस काल में पंजाब में सरकार के विरुद्ध आन्दोलन के लिए स्थान-स्थान पर जो सार्वजनिक सभाएँ हुईं, जो प्रदर्शन किये गये, उन सबका यहाँ उल्लेख कर सकना न सम्भव है, और न उसकी आवश्यकता ही है। इतना लिख देना ही पर्याप्त है कि सन् १९०७ ई० में पंजाब का वातावरण सरकार के विरुद्ध भावना से परिपूर्ण हो गया था, और सरकार इससे उद्वेग भी अनुभव करने लग गयी थी। सरकार समझती थी कि इस सबके लिए आर्यसमाज उत्तरदायी है। ३० एप्रिल १९०७ ई० के दिन रावलपिण्डी में एक सार्वजनिक सभा की घोषणा की गयी थी, जिस पर लाला गुरुदास साहनी, लाला अमोलकराम वकील, लाला हंसराज वकील, पण्डित जानकीनाथ कौल बैरिस्टर और श्री खजानसिंह बैरिस्टर के हस्ताक्षर थे। ये सब आर्यसमाज से सम्बद्ध थे। रावलपिण्डी के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट मिस्टर पी०डी०-एग्न्यू ने इस सभा में दिये गये भाषणों को राजद्रोह से पूर्ण समझा, और उसके वक्ताओं को जो सब वकील थे, यह नोटिस दिया कि २ मई को अदालत में पेश होकर वे इस बात का जवाब दें कि उनका वकालत का लाइसेन्स क्यों न छीन लिया जाए। १२ मई के दिन उनका मामला अदालत में पेश हुआ। आर्य नेताओं की गिरफ्तारी से जनता इतनी उत्तेजित थी कि बीस हजार से भी अधिक लोग अदालत के कम्पाउण्ड में एकत्र हो गये। सरकार के लिए स्थिति को सँभाल सकना कठिन हो गया। विवश होकर मि० एग्न्यू ने

घोषित किया कि इस मामले में कोई और कार्यवाही करना सरकार उचित नहीं समझती, और प्रान्तीय सरकार के निर्देश के अनुसार इस मुकदमे को वापस ले लिया जाता है। पर जनता को इससे सन्तोष नहीं हुआ। विद्यार्थियों की उत्तेजना में कमी नहीं आयी, और उन्होंने डिस्ट्रिक्ट सुपरिण्टेण्डेण्ट के निवास-स्थान और दफ्तरों में तोड़फोड़ शुरू कर दी। उनका फर्निचर नष्ट कर दिया गया, डाकखाने को लूट लिया गया, और क्रिश्चियन मिशन चर्च को आग लगा दी गयी। सरकार ने स्थिति को सँभालने के लिए सख्ती से काम लिया, और सेना की सहायता से विद्रोह को शान्त कर दिया गया। रावलपिण्डी की सार्वजनिक सभाओं पर रोक लगा दी गयी, और अनेक आर्य-नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। इसी प्रकार की घटनाएँ पंजाब में अन्यत्र भी हुईं। इस समय पंजाब के लेफ्टिनैण्ट गवर्नर सर डेंजिल इब्बटसन थे। उन्होंने पंजाब के जिला मजिस्ट्रेटों से परामर्श किया और इस परिणाम पर पहुँचे कि पंजाब की स्थिति अत्यन्त गम्भीर और अत्यधिक खतरनाक हो गयी है, और शीघ्र ही ऐसे उपाय किये जाने चाहियें, जिनसे वहाँ शान्ति स्थापित हो सके। उन्होंने पंजाब की स्थिति के सम्बन्ध में एक रिपोर्ट तैयार कर, भारत के गवर्नर-जनरल व वायसराय लार्ड मिण्टो की सेवा में भेज दी। इस रिपोर्ट में पंजाब की अशान्त स्थिति के लिए मुख्यतया आर्यसमाज को दोषी ठहराया गया। सर इब्बटसन की सम्मति में आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य अंग्रेजों के प्रति घृणा और विरोध की भावना भड़काकर सरकार की मशीनरी को निष्क्रिय बना देना था। यह सम्मति प्रकट करते हुए सर इब्बटसन ने लाला लाजपतराय को पंजाब के उग्र आन्दोलन का केन्द्र व स्रोत बताया था, और उनके सम्बन्ध में इस बात का भी उल्लेख किया था कि उनका अफगानिस्तान के अमीर के साथ पत्र-व्यवहार हुआ है, और वे सेना में अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह फैलाने के लिए प्रयत्नशील हैं। सर इब्बटसन ने सरकारी अफसरों को सावधान किया था कि आर्यों को सरकारी सेवा में भरती न किया जाए, और जो आर्य सरकारी सेवा में हैं, राजभक्ति में शिथिलता का कोई भी चिह्न प्रकट होने पर उन्हें सरकारी नौकरी से बर्खास्त कर दिया जाए। भूमि-हस्तान्तरण कानून को लेकर पंजाब में जो आन्दोलन शुरू हुआ था, उसमें आर्यसमाजियों का कितना अधिक हाथ था, यह सर इब्बटसन के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है।

(६) इण्डियन नेशनल कांग्रेस और आर्यसमाज

सन् १८८५ ई० में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई थी, और उसका पहला अधिवेशन बम्बई में हुआ था। इस समय तक भारत में नवजागरण का प्रारम्भ हो चुका था, और महर्षि दयानन्द सरस्वती सदृश विचारकों ने विदेशी शासन के अनौचित्य को प्रतिपादित करते हुए स्वराज्य की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करना भी प्रारम्भ कर दिया। सन् १८७६ से १८८० ई० तक भारत के गवर्नर जनरल व वायसराय के पद पर लार्ड लिटन विराजमान थे। उनकी शासन-नीति बहुत दमनकारी थी। उनके शासन-काल में अनेक ऐसे कानून जारी किये गये थे, जिनसे जनता में बहुत असन्तोष था। इस बात की सम्भावना थी कि यह असन्तोष किसी भी समय विद्रोह या क्रान्ति के रूप में फूट सकता है। अनेक समझदार अंग्रेज अफसर इस आशंका से ब्रिटिश शासन के लिए खतरा अनुभव करने लगे थे। मि० एलन आक्टेवियन ह्यूम इनमें प्रमुख थे। वह इण्डियन

सिविल सर्विस के सदस्य थे, और अनेक उच्च सरकारी पदों पर रह चुके थे। भारत की राजनैतिक गतिविधि से उनका अच्छा परिचय था। उन्होंने विचार किया कि जनता के असन्तोष व क्षोभ को क्रान्ति के रूप में परिणत न होने देने के लिए कोई उपाय किया जाना चाहिए। उनकी दृष्टि में इसका सर्वोत्तम उपाय यह था कि भारत की राष्ट्रीय जागृति को वैधानिक मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया जाय। इसी प्रयोजन से उन्होंने देश के सुशिक्षित लोगों का एक ऐसा संगठन बनाने का प्रयत्न किया, जिसका उद्देश्य संवैधानिक उपायों से भारत के शासन में सुधार कराने के लिए प्रयत्न करना हो। मि० ह्यूम ने अपने मित्र सर आकलैण्ड काल्विन से कहा था कि—"ब्रिटिश साम्राज्य के भविष्य को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए और भारतीय जनता में बढ़ती हुई साम्राज्य-विरोधी शक्तियों को निकाल देने के लिए सुरक्षा-कपाटी (Safety Valve) का काम करने वाली एक संस्था की इस समय बहुत आवश्यकता है।" इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर लाला लाजपतराय ने यह प्रतिपादित किया था कि कांग्रेस की स्थापना का उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य को खतरे से बचाना था, भारत की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न करना नहीं।

सन् १८८५ से १९०५ ई० तक कांग्रेस केवल सुशिक्षित, सम्पन्न व उच्च वर्ग की संस्था थी। उसमें जो लोग शामिल थे, वे अंग्रेजी शासन को भारत के लिए वरदान समझते थे। वे चाहते थे कि भारत अंग्रेजों के शासन व आधिपत्य में रहे, पर शासन में ऐसे सुधार करा दिये जायें, जिनसे भारतीयों को सरकार में हाथ बँटाने का अवसर मिले और देश का शासन आधुनिक युग के सर्वमान्य राजनैतिक सिद्धान्तों के अनुरूप हो जाये। इस युग में कांग्रेस न तो किसी उग्र सार्वजनिक आन्दोलन का सूत्रपात करने की आवश्यकता समझती थी, और न ही कोई ऐसा कार्य करना चाहती थी, जिससे ब्रिटिश सरकार को शिकायत का मौका मिले। कांग्रेस के अधिवेशनों में जो व्यक्ति सम्मिलित होते थे, वे अंग्रेजी वेशभूषा में रहते थे, और अंग्रेजों की शैली में अंग्रेजी भाषा में व्याख्यान देना गौरव की बात समझते थे। प्रस्ताव स्वीकार करना और कभी-कभी सरकार की सेवा में डेपुटेशन भेजना—ये ही दो कार्य थे, जो इस युग में कांग्रेस द्वारा किये जाते थे। ब्रिटिश सरकार कांग्रेस की गतिविधि एवं कार्यकलाप को भय व आशंका की दृष्टि से न देखकर सुशिक्षित भारतीय लोगों के विचारों से परिचय प्राप्त करने के लिए उसके उपयोग को स्वीकार करती थी।

यह सही है कि कांग्रेस के रूप में इस काल में एक ऐसा राजनैतिक संगठन स्थापित हो गया था, जिसके द्वारा भारत की राजनैतिक आकांक्षाएँ अभिव्यक्त की जाती थीं। पर यह नहीं समझना चाहिए कि इस समय भारत में जो कोई भी प्रगतिशील विचार थे, विदेशी सरकार की शासन-नीति से जो भी असंन्तोष था या जनता की जो भी राजनैतिक आकांक्षाएँ थीं, वे केवल इण्डियन नेशनल कांग्रेस में ही केन्द्रित थीं। अन्य भी अनेक ऐसे संगठन इस काल में विद्यमान थे, जो भारत के सार्वजनिक जीवन का प्रतिनिधित्व करते थे और जिन्हें जनता के हित व कल्याण का बहुत ध्यान था। आर्यसमाज इनमें प्रमुख था। उस द्वारा सद्धर्म के प्रचार के साथ-साथ जनता की सेवा के लिए जो अनेकविध प्रयत्न किये जा रहे थे और स्वदेशी तथा राष्ट्रीय भावना के प्रचार द्वारा देश की स्वाधीनता के लिए जिस ढंग से मैदान तैयार किया जा रहा था, उसका उल्लेख इस 'इतिहास' में यथास्थान किया गया है। पर आर्यसमाज में सुशिक्षित व उच्च वर्ग के

व्यक्तियों की भी कमी नहीं थी। यह सर्वथा स्वाभाविक था, सुशिक्षित व सम्भ्रान्त आर्य-समाजी कांग्रेस के कार्यकलाप में भाग लें और उसे महर्षि दयानन्द सरस्वती के विचारों से प्रभावित करने का प्रयत्न करें। यही कारण है कि सन् १८८५ ई० की पहली कांग्रेस (बम्बई) में पंजाब से जो दो व्यक्ति प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए थे, उनमें एक आर्यसमाजी थे। उस समय तक पंजाब में ब्राह्मसमाज का भी प्रभाव था। अतः दो प्रतिनिधियों में एक ब्राह्मसमाजी भी थे। आर्यसमाजी प्रतिनिधि श्री मुरलीधर थे, जो अम्बाला में वकालत करते थे। सन् १८८६ ई० की कांग्रेस में पंजाब से १४ प्रतिनिधि गये थे, और १८८७ ई० की कांग्रेस में ९। इनमें भी अनेक आर्यसमाजी थे। बाद के कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में भी आर्यसमाजी सम्मिलित होते गये। लाला लाजपतराय अभी युवक ही थे। वह भी कई अधिवेशनों में शामिल हुए। पर आर्यसमाज में एक ऐसा वर्ग भी था, जो कांग्रेस में सम्मिलित होने के पक्ष में नहीं था। इस वर्ग के नेताओं का कहना था कि कांग्रेस की स्थापना मि० ह्यूम और उनके साथी अंग्रेजों द्वारा की गयी है। भारत से अंग्रेजों को अनेक प्रकार के लाभ पहुँच रहे हैं। वे यह चाह ही कैसे सकते हैं कि भारत स्वतन्त्र हो जाय और ब्रिटेन का उस पर आधिपत्य न रहे? कांग्रेस का उद्देश्य ही यह है कि उसके सदस्य अंग्रेजी शासन को देश के लिए वरदान समझते हुए कतिपय शासन-सुधारों की माँग करते रहें, और भारत के सुशिक्षित व उद्बुद्ध लोगों को एक ऐसा काम मिल जाय जिसमें अपने को व्यस्त रखकर वे सन्तोष अनुभव करते रहें। आवश्यकता इस बात की है कि भारत के निवासी अपने को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न करें, जिसके साधन हैं शिक्षा का प्रचार और स्वदेशी आन्दोलन। साथ ही, अस्त्र-शस्त्रों को मँगाने और उनका प्रयोग सिखाने पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। हमें उस समय की प्रतीक्षा करनी होगी, जब इन उपायों से भारतीयों में समुचित रूप से शक्ति का संचार हो जायेगा, और ब्रिटिश शासन से छुटकारा पा सकना सम्भव हो जायेगा। इन आर्य-समाजी नेताओं को हिन्दू-मुसलिम एकता पर भी विश्वास नहीं था। उनका कहना था कि हिन्दुओं में न धार्मिक जोश है, न जातीय गौरव है और न ही आन्तरिक ऐक्य है। इस्लाम में जहाँ धार्मिक जोश, अपने मजहब के प्रति गौरव की भावना तथा ठोस एकता है, वहाँ साथ ही वे अफगानिस्तान और तुर्की आदि के मुसलमानों के साथ भी ऐक्य की अनुभूति रखते हैं। एकता समानों में हुआ करती है, निर्बल तथा बलवान् में नहीं। अतः हिन्दुओं को चाहिये कि वे अपने को शक्तिशाली एवं संगठित बनाने का प्रयत्न करें। हिन्दू-मुसलिम एकता का प्रयत्न उन्हें एक गलत मार्ग पर डाल देगा। इस विचार के मुख्य प्रतिपादक लाला मूलराज थे, जो आर्यसमाज के प्रतिष्ठित नेता थे। लाला साईंदास और लाला लालचन्द जैसे आर्यसमाजियों के भी यही विचार थे। इन सबका यही मत था कि पहले हिन्दुओं को अपने पैरों पर खड़े होने का यत्न करना चाहिए। आर्यसमाज का यही प्रयत्न है कि हिन्दुओं में आत्मविश्वास, आत्म-गौरव और राष्ट्रीय भावना का विकास हो। इसी प्रयोजन से उसने डी० ए० वी० तथा अन्य आर्य शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना की है, स्वदेशी आन्दोलन चलाया है, जात-पांत, छूत-अछूत आदि के भेदभाव को दूर करने का प्रयत्न किया है, और देश के प्राचीन गौरव की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट कर उन्हें भावी उन्नति के लिए प्रेरणा प्रदान की है। आर्यसमाज को अपने इस कार्यक्रम पर ही दृढ़ रहना चाहिए। कांग्रेस आदि से सहयोग करने का कोई लाभ नहीं

है। देश की उन्नति के लिए आर्यसमाज द्वारा जो कार्य किये जा रहे थे, ब्रिटिश शासक उनसे पहले ही सशंकित थे। अनेक उच्च सरकारी अफसर आर्यसमाज को एक भयंकर आन्दोलन समझते थे। जिस ढंग से इस समाज की जनता पर प्रभाव में वृद्धि हो रही थी, और जिस प्रकार इस द्वारा हिन्दुओं में आत्म-गौरव की भावना उत्पन्न की जा रही थी, सरकार उसे आशंका की दृष्टि से देखने लगी थी। यही कारण है कि लाला मूलराज और लाला साईंदास सदृश प्रतिष्ठित आर्य-नेता भी सरकार की कोपदृष्टि से बचे नहीं रह सके, और अनेक बार उन्हें पुलिस द्वारा बुलाया भी गया। आर्यसमाजी नेता, जो कांग्रेस व अन्य राजनैतिक संगठनों से पृथक् रहने का विचार रखते थे, उसका कारण सरकार से भय नहीं था। उनका विचार था कि हिन्दुओं में आत्म-गौरव की भावना तथा शक्ति-संचार करने के उनके प्रयत्न में राजनैतिक संगठनों से सहयोग करने व राजनैतिक आन्दोलनों में भाग लेने से बाधा उत्पन्न होगी। आर्यसमाजियों के इस रुख का ही यह परिणाम था कि पंजाब में कांग्रेस के प्रति उत्साह में निरन्तर कमी आती गयी, और १८९१ ई० के कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में केवल ५ प्रतिनिधि पंजाब से सम्मिलित हुए।

इस काल में राजनीति के प्रति आर्यसमाज का क्या रुख था, इसे स्पष्ट करने के लिए 'आर्य पत्रिका' के ८ मार्च १८८६ ई० के अंक के निम्नलिखित वाक्य उद्धृत करना पर्याप्त है—"जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आर्यसमाज के आन्दोलन का प्रारम्भ किया गया था, प्रधानतया धार्मिक और सामाजिक हैं।...यदि उत्साह-सम्पन्न देशभक्त आर्य-समाजी आर्यावर्त के राजनैतिक पुनरुत्थान के लिए प्रयत्न करते हैं, तो इस विषय में कोई भ्रम नहीं रहना चाहिए कि उनका यह प्रयत्न देशभक्त नागरिकों की स्थिति में है; आर्य-समाज के सदस्यों की स्थिति में नहीं।" यद्यपि बहुत से सरकारी अफसर भारत के पुनः-जागरण के प्रयत्नों को आशंका की दृष्टि से देखते थे, और उसे एक खतरनाक संगठन समझते थे, पर उन्नीसवीं सदी के अन्त तक ब्रिटिश सरकार इस बात को स्वीकार करती थी कि आर्यसमाज कोई राजनैतिक संगठन नहीं है। इसीलिये सन् १८९१ ई० की जन-गणना की रिपोर्ट में आर्यसमाज के विषय में यह मत प्रकट किया गया था—"यद्यपि देश में स्वशासित संस्थाओं की वृद्धि के सम्बन्ध में आर्यसमाज कांग्रेस के आन्दोलन का समर्थन करती है, पर यथार्थ में यह समाज कोई राजनैतिक संगठन न होकर एक विशुद्ध धार्मिक समुदाय है।" पर साथ ही, सरकार यह भी भलीभाँति समझती थी कि भारत में जो राजनैतिक जागृति हो रही है, उसमें आर्यसमाज का कर्तृत्व महत्त्व का है और देश के राजनैतिक पुनरुत्थान के प्रयत्न में संलग्न सुशिक्षित हिन्दुओं में आर्यसमाजियों की सर्वाधिक संख्या है।

सन् १८९३ ई० में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन लाहौर में हुआ। श्री दादाभाई नौरोजी इसके अध्यक्ष थे। आशा की जाती थी, पंजाब के लोग इस अधिवेशन में उत्साह-पूर्वक भाग लेंगे, क्योंकि अधिवेशन लाहौर में होना था, अतः स्वाभाविक रूप से पंजाबी लोग उसमें बड़ी संख्या में सम्मिलित हुए। इस अधिवेशन में प्रतिनिधियों की कुल संख्या ८०७ थी, जिनमें से ४०१ पंजाबी थे। लाला लाजपतराय सदृश अनेक आर्य-नेताओं ने इस कांग्रेस में भाग लिया था, और लाला मुंशीराम एवं लाला रुचिराम साहनी भी इसमें उपस्थित थे। बख्शी जैशीराम इस कांग्रेस के मन्त्री थे। ये सब महानुभाव आर्यसमाजी

ही थे। पर कांग्रेस का लाहौर अधिवेशन आर्यसमाजियों में समुचित उत्साह प्रादुर्भूत करने में असमर्थ रहा। सन् १८९४ ई० के कांग्रेस अधिवेशन में केवल चार व्यक्ति पंजाब से सम्मिलित हुए। बाद में भी प्रायः यही दशा रही। सन् १८९५ ई० में तीन, सन् १८९६ ई० में सात और सन् १८९७ ई० एवं १८९८ ई० में केवल एक-एक प्रतिनिधि पंजाब से कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में सम्मिलित हुए थे। कांग्रेस के प्रति पंजाब की उपेक्षा का कारण यह था कि आर्यसमाजी नेता उसकी उपयोगिता में सन्देह करते थे, और यह उचित समझते थे कि अपनी सब शक्ति स्वदेशी के प्रचार और हिन्दुओं में शक्ति का संचार करने में ही लगायी जाए।

पर यह स्थिति देर तक कायम नहीं रही। पंजाब सरकार द्वारा जिस "पंजाब भूमि-हस्तान्तरण कानून" के निर्माण की योजना बनायी गयी थी, उसका उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। हिन्दुओं को इस कानून से जो हानि पहुँचती थी, उसके कारण उनके लिए राजनीति में भाग लेना आवश्यक हो गया, और इस कानून के विरोध के लिए उन्होंने देशभर के प्रबुद्ध वर्ग का समर्थन प्राप्त करना उपयोगी माना। इसीलिए सन् १८९९ ई० के लखनऊ अधिवेशन में पंजाब से २६ प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इनमें बहुसंख्या आर्यसमाजियों की थी, और अम्बाला के आर्य-वकील श्री मुरलीधर द्वारा ही कांग्रेस के सम्मुख भूमि-हस्तान्तरण कानून के विरोध में प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया था। इस कानून से पंजाब के किसानों को लाभ पहुँचता था, और वहाँ के बहुसंख्यक किसान मुसलमान थे, अतः अन्य प्रान्तों के मुसलमान भी इस कानून के पक्ष में थे। पर उनके विचारों की परवाह न कर कांग्रेस ने जो श्री मुरलीधर के प्रस्ताव को स्वीकृत कर लिया था, इससे पंजाब के हिन्दुओं को बहुत प्रसन्नता हुई, और उन्होंने कांग्रेस के अगले (सन् १९०० ई०) के अधिवेशन को लाहौर में आमन्त्रित किया। इस अधिवेशन के सभापति श्री नारायण गणेश चन्दावरकर थे। पंजाबियों ने इसमें उत्साहपूर्वक भाग लिया था। उसके ५६७ प्रतिनिधियों में पंजाबियों की संख्या ४२१ थी। आर्यसमाजी इनमें प्रमुख थे। अब उनका झुकाव कांग्रेस की ओर होने लग गया था। वे समझते थे कि स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा के कार्य में कांग्रेस भी सहायक हो सकती है, और इस प्रकार देश के पुनरुत्थान के लिए आर्यसमाज द्वारा अपनाये हुए इन कार्यों को अधिक व्यापक रूप दिया जा सकता है। पर आर्यसमाजियों की यह आशा पूरी नहीं हुई। लाहौर में कांग्रेस के अधिवेशन की तैयारी के समय में ही पंजाब में दो दल हो गये थे, एक दल आर्यसमाजियों का था और दूसरा लाला हरकिशनलाल का। इन दोनों दलों के विचारों में कोई मौलिक भेद नहीं था। दोनों ही यह मानते थे कि राजनैतिक उत्थान से पहले देश के धर्म, शिक्षा तथा आर्थिक जीवन में नवजीवन का संचार आवश्यक है। आर्य-समाज के नेता लाला मूलराज चाहते थे कि अपना एक ऐसा बैंक स्थापित किया जाए, जिसकी पूंजी का उपयोग देश के व्यापार, व्यवसाय और कल-कारखानों के विकास के लिए किया जा सके। लाला हरकिशनलाल का भी यही विचार था। इसीलिए पंजाब-नेशनल बैंक कायम किया गया था, जिसके संचालकों में अनेक आर्यसमाजी नेताओं के नाम थे, और लाला हरकिशनलाल का भी। पर लाला हरकिशनलाल आर्यसमाज को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे। उनका विचार था कि इस समाज के विचार बहुत संकीर्ण हैं, और समय के अनुकूल नहीं हैं। इसी कारण वह पंजाब नेशनल बैंक में आर्य-

समाजियों के साथ मिलकर वह काम नहीं कर सके और जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, उन्होंने अपना पृथक् बैंक खोल लिया। कांग्रेस के सम्बन्ध में भी आर्यसमाजी दल और लाला हरकिशनलाल का दल परस्पर सहयोग से काम नहीं कर सका। कांग्रेस के हिसाब के विषय में उनमें मतभेद हो गया, और इस राजनैतिक संगठन के प्रति आर्य-समाजी दल की कोई विशेष रुचि नहीं रह गई। पंजाब के आर्यों ने अनुभव कर लिया कि कांग्रेस एक बेकार का संगठन है, और उसमें देश का हित सम्पादित नहीं हो सकता। लाला मुन्शीराम ने इस समय (२५ अक्तूबर सन् १९०१ ई०) अपने उर्दू पत्र "सद्धर्म प्रचारक" में कांग्रेस के विषय में ये शब्द लिखे थे—यह एक ऐसा संगठन है, जिसके वार्षिक अधिवेशनों में शिक्षित वर्ग के लोग केवल मौज उड़ाने के लिए एकत्र होते हैं।" सन् १९०० ई० की लाहौर कांग्रेस से आर्यसमाजी इतने निराश हो गये थे, और उन्होंने यह समझ लिया था कि राजनीति के पचड़े में न पड़कर उन्हें अपनी सब शक्ति समाज-सुधार, स्वदेशी और शिक्षा के प्रचार पर ही लगानी चाहिये। इसी से देश का हित सम्पादित हो सकता है।

उस समय इण्डियन नेशनल कांग्रेस की गतिविधि से सरकार जरा भी आशंकित नहीं थी। उसे वह राजभक्तों का संगठन मानती थी। उसकी दृष्टि में कांग्रेस का कोई भी कार्य आपत्तिजनक नहीं था। इसके विपरीत आर्यसमाज सरकार की आँखों में काँटे की तरह चुभा करती थी। कांग्रेस के प्रति आर्यसमाज की भावना को भी सरकार ने इस अर्थ में लिया, कि यह संस्था विदेशी शासन के विरोध में होने के कारण ही कांग्रेस के साथ तालमेल नहीं बिठा सकी है। इससे अंग्रेजी सरकार आर्यसमाज के प्रति और भी अधिक विरोध भाव रखने लगी। इस काल की सरकारी रिपोर्टों में आर्यसमाज को 'हिन्दुओं की बदनाम पार्टी' (Notorious Party of Hindus) कहा गया है, और उसका नेतृत्व ऐसे व्यक्तियों के हाथों में होना बताया गया है, जिनका चरित्र संदिग्ध था। आर्यसमाज के प्रति सरकार के इस रुख का कारण समाज का वह कार्यकलाप था, जिससे यथार्थ में देश के उत्थान में सहायता प्राप्त होती थी और वह स्वाधीनता के मार्ग पर अग्रसर हो सकता था।

लाहौर के कांग्रेस अधिवेशन के पश्चात् आर्यसमाज की कांग्रेस के प्रति उपेक्षा-वृत्ति का ही यह परिणाम हुआ कि सन् १९०१ ई० के कलकत्ता अधिवेशन में पंजाब से केवल ३० प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। अगले वर्ष अहमदाबाद में कांग्रेस का जो वार्षिक अधिवेशन हुआ, उसमें पंजाब से कोई भी प्रतिनिधि नहीं गया, और सन् १९०३ के मद्रास अधिवेशन में पंजाब के ५ प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। यद्यपि आर्यसमाज की शक्ति इस समय प्रधानतया समाज-सुधार, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा के लिए प्रयुक्त हो रही थी, पर राजनीति से अपने को पूर्णतया पृथक् रख सकना उसके लिये सम्भव नहीं हुआ। अनेक आर्यसमाजी नेताओं ने इस बात की आवश्यकता अनुभव की कि उनका भी अपना एक समाचारपत्र होना चाहिये, जो सार्वजनिक विषयों के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण को सशक्त रूप से प्रस्तुत कर सके। इसी प्रयोजन से अक्तूबर १९०४ ई० में 'पंजाबी' नाम के एक अंग्रेजी समाचारपत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। इसके संस्थापकों में रायबहादुर लाला लालचन्द, लाला ईश्वरदास, लाला हंसराज साहनी, लाला गुरुदास-राम साहनी, सेठ चूहड़मल, लाला काशीराम, बख्शी टेकचन्द और लाला लाजपतराय

प्रमुख थे। ये सब आर्यसमाजी थे। पंजाबी के प्रकाशन के परिणामस्वरूप आर्यसमाजियों ने भी राजनीति में फिर दिलचस्पी लेनी प्रारम्भ कर दी, जिसके कारण सन् १९०४ ई० के बम्बई कांग्रेस अधिवेशन में पंजाब से २८ प्रतिनिधि सम्मिलित हुए।

सन् १९०५ ई० में भारत की राजनीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। बंग-भंग के विरोध में बंगाल में जिस उग्र आन्दोलन का सूत्रपात हुआ था, उससे देश की राजनीति में एक नया मोड़ आया। जो नये नेता भारत के राजनैतिक क्षितिज में इस समय प्रकट हुए, उनमें लाला लाजपतराय भी एक थे, जो पंजाब आर्यसमाज के एक प्रमुख नेता थे। इस समय से स्वदेशी आन्दोलन केवल आर्यसमाज तक सीमित न रहकर अधिक विशाल क्षेत्र में व्याप्त होने लगा। बंग-भंग द्वारा स्वदेशी आन्दोलन को जो बल मिला और भारत की राजनीति में जो नया मोड़ आया, इसी अध्याय में उनका उल्लेख किया जा चुका है।

(७) क्रान्तिकारी आन्दोलन और आर्यसमाज

शस्त्र-शक्ति का प्रयोग कर हिंसात्मक उपायों से भारत को विदेशी शासन से मुक्त किया जा सकता है, १८५७ ई० के स्वाधीनता-संग्राम की असफलता के साथ यह विचार सदा के लिए समाप्त नहीं हो गया था। वलीउल्लाह और कूके लोगों ने इस विचार को सीमित क्षेत्रों में जीवित भी रखा हुआ था। उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही क्रान्तिकारी प्रवृत्तियाँ भारत में फिर जोर पकड़ने लगीं। इस दिशा में सर्वप्रथम पग श्यामजी कृष्ण वर्मा ने उठाया, जो महर्षि दयानन्द के शिष्य थे। महर्षि से प्रेरणा प्राप्त कर उन्होंने यह विचार किया कि भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए विदेश जाकर सामरिक ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और एक ऐसा संगठन बनाना चाहिये जो शस्त्र-शक्ति द्वारा देश की स्वाधीनता के लिए प्रयत्न करे। श्यामजी कृष्ण वर्मा स्वयं यूरोप गये, और वहाँ उन्होंने भारत के क्रान्तिकारी संगठन की नींव डाली। उन्होंने पहले लण्डन में और फिर पेरिस में रहकर उच्च शिक्षा के लिए यूरोप गये भारतीय विद्यार्थियों में अपने क्रान्तिकारी विचारों का प्रसार प्रारम्भ किया। विदेशी क्रान्तिकारी संगठनों से भी उन्होंने सम्पर्क स्थापित किये। पर यूरोप जाने से पूर्व भी श्यामजी कृष्ण वर्मा क्रान्ति के उपायों का अवलम्बन करने के लिए प्रयत्नशील थे।

भारत का क्रान्तिकारी आन्दोलन सबसे पहले महाराष्ट्र व पश्चिमी भारत में प्रकट हुआ था। सन् १८९९ ई० में पूना में श्री रैण्ड और श्री एयर्स्ट नाम के अंग्रेज अफसरों की हत्या की गई। ये विदेशी अफसर भारतीय जनता की भावनाओं की जरा भी परवाह न कर पूना के क्षेत्र में प्लेग को नष्ट करने के लिए ऐसे उपायों को प्रयुक्त कर रहे थे, जिनसे लोगों की धार्मिक व सामाजिक भावनाओं को आघात पहुँचता था। इन हत्याओं के समय श्यामजी कृष्ण वर्मा भारत में ही थे, और महाराष्ट्र आदि में क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए संगठन बनाने का बीजारोपण कर चुके थे। इसी से कतिपय लोगों का मत है कि पूना की हत्याओं में उनका भी हाथ था। उन्हीं से प्रेरणा प्राप्त कर सावरकर बन्धुओं ने "अभिनव भारत समाज" की स्थापना की थी। यह एक क्रान्तिकारी संस्था थी। यूरोप जाकर सन् १९०५ में श्यामजी कृष्ण वर्मा ने "इण्डिया होम-रूल सोसायटी" संगठित की, और उसकी ओर से एक समाचारपत्र भी प्रकाशित करना

प्रारम्भ किया। पर वह देर तक लण्डन नहीं रह सके। बाद में वह पेरिस चले गये। वहाँ उन्हें सरदारसिंह राणा और श्रीमती कामा का सहयोग प्राप्त हुआ। श्री राणा एक व्यापारी थे, जो पेरिस में बसे हुए थे। उनके सहयोग से इण्डिया होमरूल सोसायटी ने कतिपय ऐसी छात्रवृत्तियों की स्थापना की, जिनसे भारतीय नवयुवक उच्च शिक्षा के साथ-साथ क्रान्ति की कला भी सीख सकते थे। श्यामजी कृष्ण वर्मा से छात्रवृत्तियाँ पाकर विनायक सावरकर और लाला हरदयाल यूरोप गये, और उनके कारण वहाँ क्रान्तिकारी आन्दोलन को बहुत बल मिला। यूरोप से इन क्रान्तिकारियों ने भारत में क्रान्तिकारी साहित्य और अस्त्र-शस्त्र भेजकर भारतीय क्रान्तिकारी संगठनों की क्रियात्मक रूप से सहायता की। शीघ्र ही, भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन ने बहुत व्यापक व उग्र रूप धारण कर लिया। लाला हरदयाल ने भारत वापस आकर पंजाब में क्रान्तिकारी गुप्त समितियों का संगठन किया। सरदार अजीतसिंह, भाई परमानन्द और श्री बालमुकुन्द पजाब में लाला हरदयाल के प्रमुख साथी थे। ये सब आर्यसमाजी थे या आर्यसमाज की शिक्षाओं से प्रभावित थे। बाद में आर्यसमाज के नेता लाला लाजपतराय से भी क्रान्तिकारियों का सम्पर्क हुआ। भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन में आर्यसमाजियों के कर्तृत्व पर इस इतिहास में आगे चलकर विशद रूप से प्रकाश डाला गया है। यहाँ इसका संक्षिप्त रूप से उल्लेख करने का यही प्रयोजन है कि भारत को स्वाधीनता के मार्ग पर अग्रसर करने के जो भी प्रयत्न उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में किये जा रहे थे, उनमें आर्यसमाज के महत्त्वपूर्ण योगदान का कुछ आभास दिया जा सके। पर साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि भारत के स्वाधीनता-संघर्ष के प्रति आर्यसमाज का क्या रुख होना चाहिये, और आर्यसमाज के सभासदों व महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुयायियों को देश की राजनीति में भाग लेना चाहिये या नहीं—इस प्रश्न पर आर्य-समाजियों में बहुत मतभेद था। कितने ही ऐसे भी आर्यसमाजी थे, जो ब्रिटिश शासन को भारत के लिए वरदान मानते थे, और अंग्रेजी सरकार को चिरस्थायी बनाये रखने के लिए प्रार्थनाएँ करने में भी संकोच नहीं करते थे। पर ऐसे व्यक्ति अपवादरूप ही थे, और बाद में उनके विचारों में भी परिवर्तन हुआ, और वे भी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए संघर्ष में सक्रिय रूप से भाग लेने लग गये। इसका कारण यही था कि स्वदेश और स्वराज्य की जिस भावना का संचार करने का महर्षि ने प्रयत्न किया था, सर्वसाधारण आर्य-जनता ने उसे भलीभाँति ग्रहण कर लिया था और किसी भी आर्यसमाजी के लिए उससे अप्रभावित रह सकना सम्भव ही नहीं था। आर्यसमाज के राजनीति के प्रति रुख में जिस ढंग से परिवर्तन आते रहे; अगले अध्यायों में उन पर विशद रूप से प्रकाश डाला जायेगा।

छठा अध्याय

आर्यसमाज की राजनीति का आरंभिक युग

(१८८३-१९१८)

(१) राजनीति के दो युग

यह कहा जाता है कि सब पराधीन देशों की राजनीति लगभग एक-जैसी होती है, क्योंकि इसका प्रधान लक्ष्य विदेशी पराधीनता के पाश से देश को मुक्त कराना होता है। स्वतन्त्रता का संघर्ष करने के लिए प्रायः दो प्रकार के साधनों का अवलंबन किया जाता है—शान्तिपूर्ण और क्रान्तिपूर्ण। शान्तिपूर्ण साधनों का आशय वैध उपायों से राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए प्रयास करना है। सशस्त्र विद्रोह तथा आतंकवादी साधन क्रान्तिपूर्ण उपाय हैं। आयरलैंड, रूस, इटली आदि देशों में जनता ने दोनों प्रकार के उपायों का अवलंबन किया था। भारत में भी यही स्थिति रही है। यहाँ १९४७ ई० तक दोनों प्रकार के उपायों से स्वाधीनता प्राप्त करने के प्रयास किये गये। आर्यसमाज ने स्वतन्त्रता के संघर्ष में वैयक्तिक रूप से हिस्सा लिया। लाला लाजपतराय, महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) जैसे नेता शान्तिपूर्ण उपायों से स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करते रहे। श्यामजी कृष्ण वर्मा, भाई परमानन्द, होतीलाल वर्मा, गेंदालाल दीक्षित, रामप्रसाद बिस्मिल, पण्डित परमानन्द (झाँसी), सरदार भगतसिंह जैसे व्यक्तियों ने आर्यसमाजी विचारधारा से प्रभावित होकर क्रान्तिकारी और हिंसक उपायों से देश की स्वतन्त्रता प्राप्त करने के प्रयास किये। अगले अध्यायों में इनका विस्तार से विवेचन किया जायेगा। यहाँ केवल आर्यसमाज की राजनीति के आरम्भिक युग की चर्चा संक्षेप से की जायेगी।

राजनीति के दो युग—१८८३ ईसवी में स्वामी दयानन्द के निर्वाण के बाद से स्वतन्त्रता-प्राप्ति के संघर्ष के ६४ वर्षों के काल को आर्यसमाज की प्रवृत्तियों और गतिविधियों के दृष्टिकोण से दो बड़े युगों में बाँटा जा सकता है। पहला युग १८८३ ई० से १९१८ ई० तक का है। इसे **तटस्थता और राजभक्ति** का युग कहा जा सकता है। इसे भी दो उपयुगों में विभक्त किया जा सकता है। पहला १९०७ ई० तक का युग और दूसरा १९०७ ई० से १९१८ ई० तक का युग। दूसरा युग १९१९ ई० से १९४७ ई० तक का है। इसमें आर्यसमाजियों ने स्वामी श्रद्धानन्द के उदाहरण का अनुसरण करते हुए १९१९; १९२०, १९३० और १९४२ ई० के स्वतन्त्रता-आन्दोलनों में व्यक्तिगत रूप से बड़ी संख्या में भाग लिया।

पहले युग की दो विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—राजनैतिक आन्दोलनों से पृथक् रहना और ब्रिटिश सरकार का राजभक्त बना रहना। इस समय आर्यसमाज की नीति

राजनीति से सर्वथा तटस्थ और पृथक् रहने की थी। वह अपना कार्यक्षेत्र केवल धार्मिक और सामाजिक सुधार समझती थी; राजनैतिक विषयों के प्रति वह सर्वथा उदासीन और तटस्थ थी। इसका सर्वोत्तम उदाहरण लाहौर आर्यसमाज की अन्तरंग सभा द्वारा पास १२ नवम्बर १८८६ ई० को पास किया गया प्रस्ताव है। १८८५ ई० में राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) की स्थापना हुई तथा देश में राजनैतिक आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। उस समय इसका प्रधान रूप ब्रिटिश सरकार से वायसराय तथा गवर्नरों की परिषदों में भारतीय सदस्यों की संख्या बढ़ाना तथा शासन में भारतीयों को अधिकाधिक अधिकार देने की प्रार्थना करना होता था। पंजाब में इस प्रकार के वैधानिक अधिकारों की मांग का आन्दोलन करने वाली एक संस्था **नेशनल लीग** थी। इसने वायसराय की परिषद् में भारतीयों का प्रतिनिधित्व बढ़ाने के लिए एक आवेदन-पत्र (मेमोरियल) तैयार किया था। इसे वायसराय की सेवा में भेजा जाना था। नेशनल लीग यह चाहती थी कि प्रान्त की अधिक-से-अधिक सामाजिक संस्थायें उसकी मांग का समर्थन करें ताकि सरकार पर इसका अधिकतम प्रभाव पड़े। आर्यसमाज उन दिनों बड़ी महत्त्वपूर्ण संस्था थी। अतः अपने आवेदन-पत्र के बारे में उसका सहयोग पाने के लिए नेशनल लीग ने लाहौर आर्य-समाज के मन्त्री को पत्र लिखा। यह विचार के लिये अन्तरंग सभा में पेश हुआ। इस पर विचार करने के बाद समाज ने इस आशय का प्रस्ताव पास किया कि यह एक राजनैतिक विषय है, राजनीति आर्यसमाज के कार्यक्षेत्र में नहीं आती है। अतः सर्वसम्मति से यह निर्णय किया जाता है कि नेशनल लीग के सेक्रेटरी को चिट्ठी लिखी जाय कि आर्यसमाज इस मामले में कुछ नहीं कर सकती है। इस विषय में उर्दू में लाहौर आर्यसमाज की अन्त-रंग सभा द्वारा पास किये प्रस्ताव का मूल रूप निम्नलिखित है—

"चिट्ठी सेक्रेटरी नेशनल लीग वास्ते देने मेमोरियल बहुजूर नव्वाब गवर्नर जनरल व वायसराय हिन्द विनावर भेजने प्रतिनिधियों के कौन्सिल गवर्नर जनरल हिन्द में पेश हुई। चूँकि यह मुआमला पुलिटिकल है और पुलिटिकल मुआमलात में दखल देना अगराजे समाज से बाहिर है। इसलिये इत्तफाक राय से तजवीज हुआ कि बजवाब सेक्रेटरी नेशनल लीग को लिखा जाये कि—यह समाज इस मुआमले में कुछ कार्रवाई नहीं कर सकती।"[1]

लाहौर की आर्यसमाज उस समय भारत की प्रमुख आर्यसमाज थी। अतः इस निर्णय एवं नीति को भारत की सभी आर्यसमाजों की सामान्य नीति समझा जा सकता है।

संयुक्त प्रान्त में आर्यसमाजियों द्वारा राजनीति में भाग लेने का प्रश्न एक अन्य रूप में उठा। १८८५ ई० में कांग्रेस की स्थापना होने के बाद प्रतिवर्ष दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में भारत के प्रमुख नगरों में उसके अधिवेशन नियमित रूप से होने लगे। इनमें भाग लेने के लिए विभिन्न संस्थाओं की ओर से हर साल प्रतिनिधि मनोनीत और निर्वाचित किये जाते थे। १८८८ ई० में यू० पी० की एक आर्यसमाज ने उस वर्ष के कांग्रेस के अधि-वेशन के लिए प्रतिनिधि निर्वाचित किये। उस साल यह अधिवेशन संयुक्त प्रान्त की राजधानी अलाहाबाद में हो रहा था। इसमें आर्यसमाज के कुछ सदस्यों के भाग लेने की

---

१. मुंशीराम जिज्ञासु तथा रामदेव—आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स पृष्ठ १७

इच्छा थी। उस समय तक आर्यसमाज के नियमों में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी जो आर्यसमाज को कांग्रेस के लिए प्रतिनिधि बनाने का निषेध करती हो। किन्तु यू० पी० आर्य-प्रतिनिधि सभा के अधिकारियों को ऐसा प्रतिबन्ध लगाने वाला नियम बनाना आवश्यक प्रतीत हुआ। इस विषय में स्पष्ट नियम बनाकर राजनीति में भाग लेने का निषेध करने की सुनिश्चित व्यवस्था की गई। उस वर्ष संयुक्त प्रान्त की आर्य-प्रतिनिधि सभा ने आर्यसमाजों के लिए निम्नलिखित नियम बनाया--

"कोई भी आर्यसमाज संस्था के रूप में किसी भी राजनैतिक गतिविधि या आन्दोलन से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखेगी और न ही ऐसे किसी आन्दोलन में भाग लेगी।"

अगली आधी शताब्दी तक यह नियम आर्यसमाज द्वारा सामूहिक रूप से राजनीति में भाग न लेने की आधारशिला बना रहा। यह राजनैतिक आन्दोलनों से पृथक् और तटस्थ रहने की आर्यसमाज की नीति को बड़े स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करता है और सामान्य रूप से आर्यसमाज इसका पालन करता रहा है। १८९१ ई० में परोपकारिणी सभा ने राजनीति में तटस्थ रहने का इसी प्रकार का एक नियम बनाया। इसमें कहा गया था कि– "समाज के किसी भी प्रचारक के लिए यह उचित नहीं है कि वह(अपने भाषण में) किसी राजनैतिक विषय की चर्चा करे या उस पर भाषण दे या किसी ऐसी संस्था से सम्बन्ध रखे या उसकी बैठकों में सम्मिलित हो जिसके द्वारा राजनैतिक आन्दोलन किया जाता हो।"

पहले युग की दूसरी विशेषता ब्रिटिश सरकार के प्रति निष्ठा और राजभक्ति पर बल देना था। आजकल भले ही स्वतन्त्रता के वातावरण में उत्पन्न हुए आर्यसमाजियों को यह अतीव आश्चर्यजनक और अटपटा प्रतीत हो, किन्तु उस समय यह सर्वथा स्वाभाविक समझा जाता था। महात्मा गांधी के नेतृत्व में पूर्ण स्वाधीनता के लिए संघर्ष करने वाली कांग्रेस के आरम्भिक अधिवेशन पिछली शताब्दी में महारानी विक्टोरिया की जयजयकार के नारे से समाप्त हुआ करते थे। नरम दल के नेता भारतभूषण गोखले जैसे राष्ट्रीय नेता अंग्रेजों का शासन भारत के लिए भगवान् का वरदान समझते थे और उसे सदा बनाये रखने के प्रबल समर्थक थे। कांग्रेस के पहले अध्यक्ष श्री उमेशचन्द्र बैनर्जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में इन वरदानों का विस्तार से उल्लेख किया था। श्री गोखले ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति रखना भारतीयों के लिए अपने हित की दृष्टि से एक आवश्यक कर्त्तव्य समझते थे। उन्होंने एक बार वायसराय की परिषद् में दिये गये एक भाषण में राजभक्ति की व्याख्या करते हुए कहा—"जब भारत में कोई व्यक्ति राजभक्ति के शब्द का प्रयोग करता है तो इसका आशय उस भावना से नहीं होता, जो सामन्तकालीन यूरोप में अथवा राजपूत-युग के भारत में थी, किन्तु यह ब्रिटिश शासन के प्रति अनुरक्ति की भावना है। यह प्रबुद्ध स्वार्थ की भावना (Enlightened self-interest) पर आधारित है। यह भावना सदैव इस शासन को इस कारण स्थायी बनाये रखना चाहती है कि इसने अतीत में भारतीय जनता का अमित कल्याण किया है और यह भविष्य में हमारी उन्नति करने की परिस्थितियों को सुनिश्चित बनाती है।"[1]

---

१. मदनमोहन सेठ—आर्यसमाज : ए पोलिटिकल बाडी, पृष्ठ १४

आर्यसमाज में आजकल अधिकांश विद्वानों की यह मान्यता है कि स्वामी दयानन्द १८५७ ई० के स्वतन्त्रता-संग्राम के महान् योद्धा थे। किन्तु स्वामी दयानन्द के पुराने जीवनी-लेखकों ने उन्हें ब्रिटिश सरकार का समर्थक और राजभक्त बताया है और इसका एक विशेष कारण प्रतीत होता है। आर्यसमाज का प्रभाव प्रधान रूप से शिक्षित भारतीयों में अधिक था। इसमें काफी बड़ी संख्या सरकारी कर्मचारियों की थी। ऐसे व्यक्तियों के लिए यह स्वाभाविक था कि वे राजभक्त बने रहें। संयुक्त प्रान्त की सरकार के पुलिस अधीक्षक सैण्ड्स द्वारा किये गये विश्लेषण से स्पष्ट है कि संयुक्त प्रान्त में सिंचाई विभाग के कर्मचारियों में आर्यसमाज बड़ा लोकप्रिय था। पश्चिमी संयुक्त प्रान्त में नहरों का जाल बिछा हुआ था, अतः यहाँ आर्यसमाजियों की संख्या अधिक थी। ज्यों-ज्यों संयुक्त प्रान्त के पूर्वी जिलों में सिंचाई-सुविधाओं का विस्तार होता चला गया, त्यों-त्यों वहाँ आर्यसमाज का प्रसार होता गया। सिंचाई विभाग के अतिरिक्त सार्वजनिक निर्माण, राजस्व, डाक-तार, चिकित्सा और शिक्षा-विभाग में तथा अदालतों के कर्मचारियों में भी आर्यसमाजियों की पर्याप्त संख्या थी।

जब आर्यसमाज पर राजद्रोह के आरोप लगाये जाने लगे, उस समय इस बात का प्रयास किया गया कि आर्यसमाज में राजभक्ति की परम्परा के पुराने प्रमाण एकत्र किये जायँ। संयुक्त प्रान्त की आर्य-प्रतिनिधि सभा के तत्कालीन मन्त्री, तथा प्रान्त के न्यायिक विभाग के उच्च पदों पर चिरकाल तक सरकारी सेवा करने वाले श्री मदन मोहन सेठ ने अपनी पुस्तक (आर्यसमाज : ए पोलिटिकल बाडी) में इस विषय में कई प्रमाण प्रस्तुत किये हैं।[1] इनमें निम्नलिखित प्रमाण उल्लेखनीय हैं —

पहला प्रमाण थियोसोफी की संस्था का निर्माण करने वाली मदाम ब्लैवेट्स्की द्वारा लिखित एक पुस्तक—फ्राम दि केव्स एण्ड जंगल्स आफ हिन्दुस्तान (हिन्दुस्तान की गुफायें और वन) से लिया गया है। इसमें कहा गया है कि—"स्वामी दयानन्द मूर्तिपूजा का उग्र विरोध और घोर खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि वेदमन्त्रों की झूठी व्याख्यायें करके ब्राह्मणों ने प्रतिमापूजन का बड़ा पाखण्ड फैला दिया है और इस कारण हिन्दू-समाज अनेक प्रकार की कुरीतियों और हानिकर रूढ़ियों से ग्रस्त होकर वर्तमान शोचनीय दशा में पहुँच चुका है। हमारी पराधीनता का कारण भी यही कुरीतियाँ हैं। वस्तुतः ये कुरीतियाँ भारत को पराधीन बनाये रखने में सहायक होने के कारण ब्रिटेन के लिए बड़ी उपयोगी हैं। अंग्रेजों ने यद्यपि हमारे देश को गुलाम बना रखा है, फिर भी उन्होंने देश को धार्मिक स्वतन्त्रता का बहुमूल्य वरदान दिया है, और इसी कारण मूर्तिपूजा जैसी देश के लिए हानिकर कुरीतियों का इस समय खण्डन किया जा सकता है।" ब्लैवेटस्की के शब्दों में स्वामी दयानन्द स्पष्ट रूप से कहा करते थे—"यदि आप अंग्रेजों को निकाल देते हैं तो कल ही लोग मूर्तिपूजा का विरोध करनेवाले आपका और मेरा गला भेड़-बकरियों के गले की भाँति काट देंगे।[2] यह भी कहा जाता है कि स्वामी जी अपने व्याख्यानों में प्रायः ब्रिटिश शासन के वरदानों और लाभों का प्रतिपादन किया करते थे।

---

१. मदनमोहन सेठ—आर्यसमाज : ए पोलिटिकल बाडी, गुरुकुल काँगड़ी, १९१२, पृष्ठ १४-१९

२. मदनमोहन सेठ—आर्यसमाज : ए पोलिटिकल बाडी, पृष्ठ १४ पर उद्धृत

अंग्रेजी भाषा में उनके पहले जीवनी-लेखक बाबा छज्जूसिंह ने लिखा है कि स्वामी जी वर्तमान युग में अपने उपदेशों में शिक्षा के प्रसार पर विस्तार से प्रकाश डालते थे और ब्रिटिश राज के गुणों का संक्षेप में उल्लेख करते थे और यह बताया करते थे कि अंग्रेजों ने भारतीयों को भाषण की स्वतन्त्रता का महत्त्वपूर्ण वरदान प्रदान किया है।[1]

अन्यत्र इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश के १८७५ ई० में प्रकाशित प्रथम संस्करण में ब्रिटिश शासन के गुण-दोषों का छः पृष्ठों में विस्तृत विवेचन किया था जो बाद में सम्भवतः विचारों में परिवर्तन आने के कारण दूसरे संस्करण में से हटा दिया है। किन्तु स्वामी जी के बाद उनके भक्तों ने राजभक्ति की परम्परा को बनाये रखा। आर्य-मुसाफिर पण्डित लेखराम ने १८९७ ई०में अपनी उर्दू पुस्तक **तहजीबे बरहिनी अहमदिया** में ब्रिटिश शासन की प्रशंसा करते हुए लिखा था कि—"इंग्लैंड की रानी और भारत की साम्राज्ञी ने भारत के शासन की बागडोर सँभालने के बाद विद्या और शिक्षा का प्रसार करने का प्रयास किया है। उनकी कृपा और कीर्ति से सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य है। चोर-डाकुओं का दमन कर दिया गया है। देश बदमाशों के आतंक से मुक्त हो चुका है और सर्वत्र दशा को सुधारने के प्रयत्न किये जा रहे हैं।"[2]

उन दिनों आर्यसमाजी ब्रिटिश सम्राटों के राज्यारोहण, स्वर्ण जयन्ती आदि के अवसरों पर बड़ी प्रसन्नता प्रकट किया करते थे और निधन पर अपने शोकोद्गार अभिव्यक्त करते थे।

आर्यसमाज की ब्रिटिश सम्राट् के प्रति राजभक्ति के प्रदर्शन का पहला उदाहरण १८८७ ई० का है। इस वर्ष समूचे ब्रिटिश साम्राज्य में रानी विक्टोरिया के राजगद्दी पर बैठने के पचास वर्ष पूरे होने पर इसकी स्वर्ण-जयन्ती बड़ी धूमधाम से मनाई गयी थी। उस अवसर पर लन्दन की आर्यसमाज ने महारानी को मानपत्र प्रस्तुत किया। इसमें भारत में ब्रिटिश शासन की स्तुति की गई थी, महारानी के दीर्घायुष्य की कामना की गयी थी। श्री लक्ष्मीनारायण तथा समाज के कुछ अन्य कार्यकर्ताओं ने महारानी के राजभवन में जाकर महारानी को बड़ी श्रद्धा के साथ मानपत्र अर्पण किया।[3]

जब रानी विक्टोरिया दिवंगत हुई तो इस अवसर पर शोक प्रकट करने के लिए आर्यसमाजों ने सैकड़ों प्रस्ताव पास करके सरकार के पास भेजे। आर्यसमाजी पत्रों में दिवंगत महारानी को श्रद्धाञ्जलि प्रस्तुत करने वाले लम्बे लेख छापे गये। इसका एक सुन्दर उदाहरण लाहौर से अंग्रेजी में छपने वाली 'आर्य पत्रिका' में मिलता है। इस अवसर पर इस पत्रिका ने लिखा था—

"भारत में महारानी के शासन ने अतीव लाभदायक परिणाम उत्पन्न किये हैं। इनके शासनकाल की पिछली आधी शताब्दी में कुछ बहुत बड़ी शिक्षा-संस्थायें स्थापित हुई हैं। इस समय (धर्म)सुधार और पुनरुज्जीवन के वे आन्दोलन शुरू हुए, जिनका भारत पर गहरा प्रभाव पड़ा है। आर्यसमाज का जन्म एवं पालन-पोषण विक्टोरिया के शासन-

---

१. बाबा छज्जू सिंह द्वारा लिखित 'दी लाइफ एण्ड टीचिंग्स आफ स्वामी दयानन्द सरस्वती, लाहौर, १९०५, पृष्ठ ३७६

२. मदनमोहन सेठ— वही पुस्तक, पृष्ठ १५

३. भीमसेन विद्यालंकार—आर्य-प्रतिनिधि सभा, पंजाब का इतिहास, ३६-३७

काल में हुआ, और इसे जो सफलता मिली है उसका प्रधान कारण रानी द्वारा दी गयी विचार और भाषण की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त है।[1]

महारानी की मृत्यु के बाद जब एडवर्ड सप्तम का राज्याभिषेक हुआ तो इस अवसर पर भी आर्यसमाज की पत्रिकाओं ने अंग्रेजी शासन का बड़ा गुणगान किया। इस अवसर पर 'आर्य पत्रिका' ने लिखा था—"आर्यसमाज ने ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति के पर्याप्त प्रमाण दिये हैं। लगभग हर समाज में इस अवसर पर प्रसन्नता प्रकट करने के लिए बैठकें की गयी हैं। समाज-मन्दिरों में दिवाली की रोशनी की गयी है। नगर-कीर्तन के जुलूस निकाले गये हैं। वस्तुतः इस समय हर प्रकार से यह प्रदर्शित किया गया है कि आर्यों को राजा के राज्याभिषेक से बड़ी प्रसन्नता हुई है। विभिन्न समाजों में राज्याभिषेक के बारे में होने वाली बैठकों के जो विवरण पत्रों द्वारा हमें मिले हैं, वे बहुत अधिक हैं और हम उन सबको इस पत्रिका में छापने में असमर्थ हैं।"

आर्यसमाज द्वारा इतनी अधिक प्रसन्नता और राजभक्ति प्रकट किये जाने का प्रधान कारण यह था कि आर्यसमाजियों का विश्वास था कि वे ब्रिटिश सरकार की कृपा पर ही जीवित हैं। यदि उन्हें ब्रिटिश सरकार का संरक्षण न मिले तो वे अपना प्रचार-कार्य कभी नहीं कर सकते हैं। यह सर्वविदित है कि पौराणिकों और मुसलमानों का खण्डन करने के कारण स्वामी जी को कई बार विष देकर हत्या करने के प्रयास किये गये थे। यदि ब्रिटिश शासन का वरदहस्त उन्हें प्राप्त न होता तो वे वैदिक धर्म का प्रचार नहीं कर सकते थे। यद्यपि उपनिषदों में कहा गया है—सत्यमेव जयते—वैदिक धर्म की अन्त में विजय होगी, किन्तु इसे सफल बनाने के माध्यम के रूप में ब्रिटिश सरकार ने बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इसलिए आर्यसमाजियों का यह कर्तव्य समझा जाता था कि वे ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्त बने रहें। **आर्य पत्रिका** ने अपने १० जनवरी १९०३ ई० के अंक में यहाँ तक लिखा था कि—"शास्त्रों में आदर्श शासक के जो गुण बताये गये हैं, वे सब अंग्रेजों में विशेष रूप से पाये जाते हैं।"

कर्जन को मानपत्र— वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में आर्यसमाजियों में ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति के भाव कितने प्रगाढ़ थे, इसका कुछ अनुमान हमें उस अभिनन्दन पत्र से होता है जो हैदराबाद दक्खन की आर्यसमाज के सदस्यों ने लार्ड कर्जन की सेवा में १९०२ ई० में प्रस्तुत किया था। इसमें आर्यसमाज की ब्रिटिश सरकार के प्रति अविचल निष्ठा और अटूट राजभक्ति अभिव्यक्त करते हुए यह बताया गया था कि दोनों आर्यावर्त (भारत) के पुनरुज्जीवन के महान् प्रयास में लगे हुए हैं। एक का उद्देश्य पुनरुद्धार है और दूसरे का धार्मिक तथा सामाजिक पुनरुज्जीवन। इस मानपत्र का अविकल रूप निम्नलिखित है—

"महामहिम लार्ड तथा लेडी कर्जन की सेवा में,

आपको यह जानकर अतीव प्रसन्नता होगी कि दक्खन हैदराबाद आर्यसमाज के हम सब सदस्य भारत की एक प्रमुख रियासत की राजधानी में आपके आगमन के शुभ-अवसर का लाभ उठाते हुए आपके प्रति इस बात के लिए अपना हार्दिक आभार प्रकट करते हैं कि आप ब्रिटिश शासन का अध्यक्ष होने के नाते भारत के 'करोड़ों मूक देश-

---

१. 'आर्य पत्रिका' लाहौर, २६ जनवरी १९०१

वासियों' के कल्याण के कार्य में लगे हुए हैं और आपकी सुयोग्य अर्धांगिनी लेडी कर्जन इस अभागे देश की नारियों के कल्याण के प्रति गहरी चिन्ता प्रकट कर रही हैं।

"जब हम ब्रिटिश राज तथा आर्यसमाज को परस्पर एक विशिष्ट और पवित्र बंधन में बाँधनेवाले तत्त्वों पर विचार करते हैं तो हमारी कृतज्ञता की भावना अधिक गम्भीर हो जाती है और राजभक्ति के भाव अधिक प्रगाढ़ हो जाते हैं। आप भारतमाता को राजनैतिक दृष्टि से ऊँचा उठाने का और आर्यसमाज इसे प्रेम, पवित्रता, सत्य, न्याय, सरलता और ईमानदारी के वैदिक आदर्शों के अनुसार आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत करने का प्रयास कर रहा है। एक ओर ब्रिटिश शासन उदार शिक्षा के विस्तार और उपयोगी कानूनों के निर्माण, न्याय के अनुसार शासन, चिकित्सालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों का निर्माण करने वाली धर्म-निरपेक्ष कार्य करने वाली संस्था है। दूसरी ओर आर्यसमाज एक ऐसी धार्मिक संस्था है जो गुरुकुलों की स्थापना से चरित्र-निर्माण के कार्य में लगी हुई है, अनाथालयों का संचालन कर रही है, लड़कियों और विधवाओं की शिक्षा के लिए कन्या विद्यालय बना रही है, एंग्लो-वर्नाकुलर स्कूलों का निर्माण कर रही हैं और सबसे बढ़कर मनुष्यों को परमेश्वर के प्रति और अन्य मनुष्यों के प्रति वेदानुमोदित कर्तव्यों का बोध करा रही है। एक संस्था बाह्य उदार अभिकर्ता के रूप में समूचे भारत में शान्ति और व्यवस्था बनाने में लगी हुई है और दूसरी इस प्रिय आर्यावर्त में प्राचीन सौन्दर्य, सुदृढ़ता और बुद्धिमत्ता को बनाये रखने के महान् प्रयास कर रही है। एक ओर ब्रिटिश राज एक मित्र के रूप में राजनैतिक क्षेत्र में भारत को अनेक युगों की गहरी नींद से उठा रहा है, दूसरी ओर आर्यसमाज के पवित्र संस्थापक महर्षि दयानन्द ने धार्मिक क्षेत्र में काम किया है और आर्यावर्त को पुनः इस उद्देश्य से जागृत किया है कि वह एक बार फिर भगवान् और ऋषियों के आदर्शों के अनुसार अनुपम वैदिक धर्म का सारे विश्व में प्रसार करे।

इस प्रकार आर्यसमाज और ब्रिटिश राज्य में परस्पर सहानुभूति का बन्धन दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक सुदृढ़ होता चला जा रहा है, क्योंकि दोनों का पवित्र लक्ष्य एक ही है, और वह है आर्यावर्त का पुनरुज्जीवन।

हम भगवान् से आपके दीर्घ जीवन और समृद्धि के लिए तथा ब्रिटिश राज्य के भारत में वर्षों तक शान्तिपूर्ण रीति से बने रहने के लिए प्रार्थना करते हैं।

हम हैं

महामहिम के परम हितैषी और अधिकतम राजभक्त प्रजाजन

केशवराव—प्रधान

राजागोविन्दप्रसाद—उपप्रधान तथा अन्य सदस्य[1]

इस मानपत्र के प्रत्येक शब्द से प्रगाढ़ राजभक्ति प्रकट होती है।

(२) राजभक्ति का आश्वासन

मई १९०७ ई० में जब पंजाब में राजनैतिक आन्दोलन प्रबल हुआ और पंजाब-सरकार ने सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता लाला लाजपतराय तथा अजीतसिंह को बिना

---

१. मदनमोहन सेठ—वही पुस्तक, पृ० १७-१८

मुकदमा चलाये मांडले में निर्वासित कर दिया तो लाला जी के आर्यसमाजी नेता होने के कारण पंजाब सरकार ने सभी आर्यसमाजियों को राजद्रोही समझना शुरू किया और उनपर प्रबल सन्देह किया जाने लगा। इस समय आर्यसमाजियों को इस बात की प्रबल आवश्यकता प्रतीत हुई कि वे ब्रिटिश सरकार को अपनी राजभक्ति का पूरा विश्वास दिलायें और अपने बारे में किये जाने वाले सन्देह को दूर करें। इस उद्देश्य से २२ मई १९०७ को आर्यसमाजियों का एक शिष्टमण्डल पंजाब के लेफ्टीनैण्ट गवर्नर डेंजिल इब्बटसन से मिला। इस शिष्टमण्डल के नेता डी० ए० वी० कॉलिज के प्रिन्सिपल लाला हंसराज थे। उन्होंने गवर्नर के सम्मुख यह घोषणा की कि आर्यसमाजों का सामूहिक रूप से हाल में पंजाब में हुए उपद्रवों से कोई सम्बन्ध नहीं है। आर्यसमाज का एकमात्र उद्देश्य अपने सदस्यों की धार्मिक उन्नति करना है, लाहौर में पिछले उपद्रवों के दिनों में डी० ए० वी० कॉलिज को बन्द कर दिया गया था। उनका पूरा विश्वास है कि डी० ए० वी० कॉलिज के विद्यार्थियों ने उपद्रवों में कोई भाग नहीं लिया है।[1]

गवर्नर महोदय को आर्यसमाजियों के इस आश्वासन से तनिक भी सन्तोष नही हुआ। उन्होंने इसका बड़ा रूखा दो टूक जवाब देते हुए कहा—"प्रान्त के प्रत्येक डिप्टी कमिश्नर ने उन्हें यह सूचना दी है कि जहाँ कहीं आर्यसमाज है, वहाँ यह राजद्रोही बातचीत का केन्द्र (Centre of Sedious talk) है। उन्हें यह देखकर और यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई है कि आर्यसमाजी पिछले उपद्रवों में अपने किसी भी सम्बन्ध से इनकार कर रहे हैं। किन्तु उनका यह मत है कि इस प्रकार के प्रतिवाद बहुत पहले होने चाहिए थे। अन्त में उन्होंने यह चेतावनी दी कि आर्यसमाज का यह कर्तव्य है कि वह अभी हाल की घटनाओं से अपने पृथक् होने की सार्वजनिक घोषणा करें।"[2]

गवर्नर के इस उत्तर से डी० ए० वी० कालेज के आर्य-नेताओं को बड़ी निराशा हुई, फिर भी उन्होंने गवर्नर महोदय की इच्छा के अनुसार तुरन्त कार्यवाही करने का निश्चय किया। अगले दिन, २३ मई १९०७ को आर्य-प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा की कार्य-कारिणी की बैठक बुलायी गयी। इसमें यह घोषणा की गयी कि आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा और इसके साथ सम्बद्ध ९५ आर्यसमाजों ने इस बात का निर्णय किया है कि—"आर्यसमाज सदैव एक अराजनैतिक संस्था रही है, अब भी वह ऐसी संस्था है। इस तथ्य की सार्वजनिक घोषणा आर्यसमाज पहले कर चुकी है, और विभिन्न लेखों में भी इसे प्रकट किया जा चुका हैं, किन्तु कुछ शरारती लोगों ने अब इसके राजनैतिक संस्था होने की पुनः अफवाहें उड़ा दी हैं, अतः आर्य-प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा की कार्यकारिणी की यह बैठक इस अवसर पर पुनः अपने पुराने मन्तव्य को दोहराती है और यह घोषणा करती है कि इसका किसी भी प्रकार की राजनैतिक संस्था से अथवा किसी राजनैतिक आन्दोलन से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है।"[3]

इस समय ब्रिटिश सरकार के सन्देहों और आशंकाओं को दूर करने और अपनी

---

१. ट्रिब्यून, १८ मई १९०७, पृ० १
२. ट्रिब्यून, २८ मई १९०७
३. पंजाबी, २९ मई १९०७, पृ० ४

राजभक्ति के प्रदर्शन का कार्य केवल कॉलिज पार्टी के नेताओं ने ही नहीं किया, अपितु गुरुकुल पार्टी के लोगों ने भी इसमें काफी भाग लिया। लाला मुंशीराम ने 'पंजाबी' पत्र में एक चिट्ठी प्रकाशन के लिये भेजी। इसमें आर्यसमाज के अराजनैतिक संस्था होने पर बहुत अधिक बल दिया गया था। यह स्पष्ट था कि उस समय पंजाब में होने वाले राजनैतिक आन्दोलन में कई आर्यसमाजी सम्मिलित थे। इस आरोप का उत्तर देते हुए उन्होंने अपने पत्र में यह लिखा था कि इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि सिक्खों, मुसलमानों, ईसाइयों आदि अन्य समुदायों के साथ आर्यसमाज के कुछ व्यक्तियों ने इस आन्दोलन में भाग लिया है।...विभिन्न वर्गों के कुछ कट्टर मतान्ध व्यक्ति राजद्रोह का प्रचार करते रहे हैं, और उन्होंने इस बारे में कई लेख भी लिखे हैं और इस प्रकार उन व्यक्तियों को मुसीबत में डाल दिया है जो वैधानिक राजनैतिक आन्दोलन चलाना चाहते थे। किन्तु कुछ व्यक्तियों के कार्यों के आधार पर किसी समूचे समुदाय को दोषी नहीं ठहराया जा सकता है।[1]

लाला मुंशीराम जी के पत्र की यह विशेषता थी कि उन्होंने इसमें आर्य नेताओं की निन्दा नहीं की, अपितु उन्हें बचाने का प्रयास किया। उनका कहना था कि—"यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि लाला लाजपत राय, (रावलपिण्डी के) लाला हंसराज, और गुरुदासराम तथा अन्य कुछ प्रमुख आर्यसमाजियों पर अवैधानिक आन्दोलन अथवा क्रान्तिकारी कार्य करने का सन्देह किया जा रहा है। हमारा विश्वास है कि ये सब महानुभाव वैधानिक आन्दोलन के समर्थक हैं, और उनके मन में राजद्रोह की कोई बात नहीं है।" लाला मुंशीराम की यह विशेषता थी कि वे लाला लाजपतराय का समर्थन इसी आधार पर करते रहे कि उन पर राजद्रोह का आरोप सर्वथा मिथ्या है; वे शान्तिप्रिय नागरिक हैं और शान्तिपूर्ण वैधानिक उपायों से ही राजनैतिक आन्दोलन चलाना चाहते हैं। किन्तु अन्य आर्यसमाजी नेता इस विषय में स्वामी जी की भाँति उदार एवं विवेकशील नहीं थे। उन्होंने लाला लाजपत राय की बड़ी कटु आलोचना की और डी० ए० वी० कॉलिज ने लाला लाजपतराय से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। अन्य सभी आर्यनेता इस समय ब्रिटिश सरकार के प्रति उग्र राजभक्ति और पूर्ण निष्ठा का प्रदर्शन कर रहे थे। अन्यत्र इस बात का उल्लेख किया जायेगा कि किस प्रकार भारत-मन्त्री के दबाव के कारण नवम्बर १९०७ ई० में लाला लाजपतराय और अजीतसिंह को पंजाब सरकार ने रिहा कर दिया। इससे राजनैतिक वातावरण में तनाव कम हो गया।

इन नवीन परिस्थितियों से लाभ उठाने के लिए पंजाबी हिन्दुओं का एक दूसरा शिष्टमण्डल पंजाब के लेफ्टीनैण्ट गवर्नर सर डेंजिल इब्बटसन से मिला। इसके नेता जस्टिस चैटर्जी थे। इस शिष्टमण्डल ने भी ब्रिटिश सरकार को अपनी राजभक्ति और निष्ठा का पूरा विश्वास दिलाया। इस बार इब्बटसन के उत्तर में पहले की अपेक्षा कुछ नरमी थी। उन्होंने कहा कि—"विदेशों में निस्सन्देह यह भावना जोर पकड़ रही है चूंकि अभी हाल के आन्दोलन का समर्थन कुछ शिक्षित हिन्दुओं ने किया था, अतः सरकार उन्हें सन्देह और नाराजगी की दृष्टि से देखती है। अब मैं आपको लेफ्टीनैण्ट गवर्नर के रूप में यह बता देना चाहता हूँ कि यह बात पूर्ण रूप से निराधार और गलत

१. पंजाबी, १२ जून १९०७

है। यह किसी भी समुदाय के लिए बहुत अधिक अन्यायपूर्ण होगा कि कुछ व्यक्तियों के गलत कार्यों के कारण समूचे समाज को बदनाम किया जाय। पिछले मई महीने में कालका में जब मैं कुछ व्यक्तियों से मिला था तो मैंने उन्हें यह कहा था कि मैं इस बात के लिए तैयार हूँ कि मैं उन पर विश्वास करूँ। मुझे इस बात की बड़ी प्रसन्नता है कि पंजाब में ऐसे हजारों शिक्षित हिन्दू हैं जो ब्रिटिश सम्राट् के सच्चे और स्वामिभक्त प्रजाजन हैं।"[1] उस समय पंजाब में प्रायः यह कहा जाता था कि ब्रिटिश सरकार के निम्न स्तर के अधिकारी आर्यसमाज के प्रति विरोधी दुर्भावना और पूर्वाग्रह रखते हैं, और उन्हें यह विश्वास है कि आर्यसमाज राजद्रोही संस्था है और ऐसा मानकर वे आर्यसमाजियों के साथ दुर्व्यवहार करते हैं। इब्बटसन ने इस बार की भेंट में शिष्टमण्डल के सदस्यों को यह कहा कि—"मैंने इस विषय में समाचारपत्रों में कुछ रिपोर्टें देखी हैं। इस बारे में कुछ अफवाहें भी फैली हुई हैं। हम यह सब जानते हैं कि अफवाहें सच्ची बातों को किस प्रकार विकृत कर देती हैं। मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इस मामले में ऐसा हुआ है। किन्तु मैं आपको यह बताना चाहता हूँ कि अभी हाल में मैंने इस मामले में अपने अधिकारियों को सब बातें निश्चित रूप से बता दी हैं और उन्हें इसके अनुसार कार्य करने पर बल दिया है।" गवर्नर के इस आश्वासन से पंजाब के हिन्दुओं तथा आर्यसमाजियों को बड़ा सन्तोष और धैर्य मिला। अब उन्हें यह विश्वास होने लगा कि आर्यसमाज का सामूहिक रूप से उत्पीडन बन्द हो जायेगा। इससे यह प्रकट हुआ कि अब सरकार के दृष्टिकोण में कुछ परिवर्तन आने लगा है।[2]

इसी बीच में सरकार ने रावलपिण्डी में हुए मई के उपद्रव के मामले में पकड़े गये आर्यसमाजियों को रिहा करने के आदेश जारी किये। इस प्रकार आर्यसमाजियों के प्रति दमन की सरकारी नीति में परिवर्तन आ गया।[3]

(३) आर्यसमाजी पत्रों द्वारा राजभक्ति का प्रदर्शन

इस समय सरकार आर्यसमाजियों पर जितना अधिक सन्देह कर रही थी, आर्यसमाजी पत्र उतनी ही अधिक मात्रा में अपनी राजभक्ति का प्रदर्शन करने लगे और ऐसा करने के लिए अनेक तर्क भी उपस्थित किया करते थे। १९०७ ई० में सम्राट् एडवर्ड के जन्मदिन को आर्यसमाज की ओर से धन्यवाददिवस के रूप में मनाया गया। इस अवसर पर सम्राट् के दीर्घायुष्य के लिए विभिन्न आर्यसमाजों की बैठकों में प्रार्थनाएँ की गयीं। इस बात की उस समय के कुछ राष्ट्रीय पत्रों ने आलोचना की। किन्तु लाला मुंशीराम ने सम्राट् के जन्म-दिवस मनाने की पद्धति को उचित ठहराया और इसका कारण स्पष्ट करते हुए 'सद्धर्म प्रचारक' में लिखा—"आर्यसमाज का प्रचार ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के राज्य में ही सम्भव हुआ है, अन्य राज्य में कठिन होता। हिन्दुओं तथा मुसलमानों की रियासतों में जो बर्ताव आर्य-उपदेशकों के साथ होता है, वह छिपा नहीं है। हम ब्रिटिश गवर्नमेण्ट द्वारा रक्षा का लाभ उठाते हैं। उसके लिए साल में एक बार धन्यवाद अवश्य

---

१. पंजाबी, २७ नवम्बर १९०७

२. पंजाबी, ७ दिसम्बर १९०७; ११, १४ और २१ दिसम्बर १९०७

३. पंजाबी, ४ दिसम्बर १९०७

देना चाहिए। यदि ब्रिटिश प्रजा होने के कारण कुछ अधिकार हैं तो कुछ कर्तव्य भी हैं··· भारतवर्ष मात्र के आर्यसमाजों को एकमत होकर गवर्नमेण्ट के धन्यवाद के लिए एक दिन नियत करना चाहिए।[1]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि लाला मुंशीराम ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति और उसे धन्यवाद देना आर्यसमाजियों का एक धार्मिक कर्तव्य मानते थे। जिन दिनों लाला जी ने यह लेख लिखा था, उसी वर्ष हैदराबाद की मुसलिम रियासत ने आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध उपदेशक स्वामी नित्यानन्द तथा पण्डित बालकृष्ण शर्मा को हैदराबाद में आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में भाषण की अनुमति नहीं दी थी और वहाँ से निर्वासित कर दिया था। ऐसी घटनाएँ उन दिनों प्रायः हुआ करती थीं। अतः लाला जी का विश्वास था कि अंग्रेजों ने हमें धर्मप्रचार की जो स्वतन्त्रता दी है, उसके लिए हमें उनका अत्यन्त आभारी होना चाहिए। ब्रिटिश सम्राट् के जन्मदिवस को धन्यवाद-दिवस के रूप में मनाना चाहिए जिसकी कृपा से भारत में उनके राज्य में हमें वैदिक धर्म के प्रचार का सुअवसर मिला है। दिल्ली-दरबार के समय १९११ में सम्राट् जार्ज को लक्ष्य करके उन्होंने 'सद्धर्म प्रचारक' में एक लेख लिखा था जिसका शीर्षक था—"सम्राट्, तुम यहीं रहो।" १९१२ में लार्ड हार्डिंग के नई राजधानी दिल्ली में प्रवेश के समय चाँदनी चौक में उनके शुभागमन के अवसर पर आर्यसमाज की ओर से वायसराय के भव्य स्वागत का जो विशेष आयोजन किया गया था, उसका अन्यत्र उल्लेख किया जायेगा।

गुरुकुल काँगड़ी से प्रकाशित होने वाली सुप्रसिद्ध अंग्रेजी पत्रिका **वैदिक मैगजीन** में जार्ज पंचम के राज्याभिषेक पर एक विस्तृत सम्पादकीय टिप्पणी श्रावण १९६८ वि० के अंक में प्रकाशित हुई थी। यह उस समय के आर्यसमाजियों की ब्रिटिश साम्राज्य में अविचल भक्ति, अटूट निष्ठा और अगाध राजभक्ति को भली-भाँति प्रदर्शित करती है। इसमें राजभक्ति के कारणों पर भी विस्तृत प्रकाश डाला गया है। इसमें यह कहा गया था—"राज्याभिषेक के मंगल अवसर पर महामहिम ब्रिटिश सम्राट् तथा साम्राज्ञी को हम अपनी सच्ची बधाई अतीव विनम्रतापूर्वक प्रस्तुत करते हैं। आर्यसमाज अतीव उग्र सुधारकों की संस्था है। इसकी उन्नति ऐसी सरकार के शासनकाल में सम्भव नहीं हो सकती जो संगीनों की नोक पर किसी विशेष धर्म को स्थापित करने को तुली हुई हो। ब्रिटिश शासन की स्थापना से भारत को जो अनेक असन्दिग्ध वरदान मिले हैं, उनमें कोई भी इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना धार्मिक स्वतन्त्रता का वरदान है। भारत धर्मप्राण देश है। मुगल-युग के इतिहास में जिन विद्रोहों का वर्णन हम पढ़ते हैं, उनमें अधिकांश धार्मिक कारणों से हुए थे। यदि उस समय धार्मिक अत्याचार न हुए होते तो मराठा साम्राज्य स्थापित न हुआ होता, पंजाब में सिक्खों की शक्ति का विकास नहीं होता। ···लाखों बहादुर भारतीयों पर मुट्ठीभर अंग्रेजों का शासन ऐसी घटना है जिस पर सभ्य जगत् को अत्यधिक एवं उचित आश्चर्य है। किन्तु सभ्य जगत् इस बात का अनुभव नहीं करता है कि दार्शनिक विचारों में मग्न स्वप्निल भारत, भौतिक लाभों तथा राजनीति को अधिक महत्त्व नहीं देता है। यदि इसे अपने विचार प्रकट करने तथा अपने ढंग से भगवान् की उपासना करने की अनुमति दी जाय तो यह किसी भी प्रजा-कल्याणकारी

---

१. सत्यदेव विद्यालंकार—स्वामी श्रद्धानन्द, पृ० ४६६

शासन-पद्धति को मौनभाव से स्वीकार कर लेता है।

"समूचे भारत की आर्यसमाजों में राजभक्ति के भाव अद्वितीय स्वतःप्रेरणा, विलक्षण एकता तथा अत्यधिक उग्र उत्साह से प्रकट हो रहे हैं। ब्रिटिश नौकरशाही का एक वर्ग आर्यसमाज को अच्छी दृष्टि से नहीं देखता है। समाज के अनेक सदस्यों की यह शिकायत ठीक है कि राजकीय वचनों के बावजूद उन्हें अपने धार्मिक विश्वासों के लिए परेशान और पीड़ित किया जाता है। तो क्या राजभक्ति का यह प्रदर्शन केवल दिखावे के लिए है? हम पूरे बल के साथ यह कहना चाहते हैं कि ऐसा नहीं है। देश में एक भी ऐसा आदमी नहीं है जिसके मन में राजभक्ति के भावों की गहरी जड़ न जमी हुई हो तथा जो सम्राट् के प्रति अगाध भक्ति-भाव न रखता हो। महामहिम सम्राट् जब युवराज (प्रिंस ऑफ वेल्स) के रूप में भारत पधारे थे तो उन्होंने भारतीय जनता के दिल जीत लिये थे। उस समय उन्होंने कई विषयों में भारतीयों से वास्तविक सहानुभूति प्रकट की थी। आर्यों का दृढ़ विश्वास है कि सम्राट् सहानुभूति और न्याय का मूर्तिमान अवतार हैं। भले ही उनके अदूरदर्शी अराजभक्त सेवक कुछ भी कहें, वे सम्राट् द्वारा दिये वचनों की उपेक्षा करके ब्रिटिश सरकार को बदनाम करते हैं।

"भारतीयों में भले ही कितने ही मतभेद क्यों न हों, ब्रिटिश नौकरशाही के एक वर्ग के विरुद्ध जनता को भले ही कितनी शिकायतें क्यों न हो, हमें कुछ बदनाम एंग्लो-इण्डियन पत्रों के विरुद्ध कितने ही शिकवे क्यों न हों, हिन्दू, मुसलमान, आर्य, सिक्ख, ईसाई, राजभक्त और राष्ट्रवादी नौकरशाह और भारतीय, सभी ब्रिटिश सरकार के प्रति राज-भक्ति के मामले में एकमत और संहत हैं।

"विभिन्न जातियों तथा धार्मिक विश्वास रखने वाले देश में राज-भक्ति की भावना में यह विलक्षण समानता इस बात को प्रदर्शित करती है कि महामहिम ने एक रहस्यमय तथा निगूढ़ तरीके से सब जातियों तथा वर्गों के व्यक्तियों के हृदय जीत लिये हैं और उस विशाल साम्राज्य के प्रत्येक नर-नारी के हृदय में अपना स्थान बना लिया है, जिस साम्राज्य का सूर्य कभी अस्त नहीं होता है। गुरुकुल काँगड़ी के सब विभागों में राज्याभिषेक के दिन अवकाश रखा गया। सम्राट् चिरंजीवी हो!"[1]

इस लेख से यह स्पष्ट है कि आर्यसमाजी धार्मिक स्वतन्त्रता के वरदान के कारण ब्रिटिश साम्राज्य की सत्ता को भारत में स्थायी रूप से बनाये रखना चाहते थे। इसी कारण से वे ब्रिटिश साम्राज्य के प्रबल समर्थक और प्रचण्ड राजभक्त थे। इस समय के अन्य आर्यसमाजी पत्रों में भी राज-भक्ति की यही भावना दृष्टिगोचर होती है, यह बात निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगी।

आगरा से पण्डित भोजदत्त के संपादकत्व में उर्दू में प्रकाशित 'मुसाफिर' नामक पत्र में पन्द्रह फरवरी १९१० के अंक के संपादकीय में आशंका प्रकट की गयी थी "कि यदि ब्रिटिश शासन के प्रति असन्तोष की वर्तमान स्थिति जारी रहती है तो हमारी हालत उससे भी बुरी हो जायेगी; अंग्रेज कठोर दमन की कार्यवाही के लिए बाधित होंगे और इससे अन्त में हमें ही हानि होगी। यदि दुर्भाग्यवश अंग्रेजों की हालत बुरी होती है, भारत पर उनका अधिकार शिथिल होता है तो इसका सबसे बुरा प्रभाव

---

१. 'वैदिक' मैगजीन गुरुकुल काँगड़ी, श्रावण १९६८ वि० सं०

आर्यसमाज के सदस्यों पर पड़ेगा। वर्तमान युग के हिन्दू स्वराज्य के योग्य नहीं हैं। यदि अंग्रेज भारत से चले गये तो ईरान और काबुल के मुसलमान यहाँ हमला करेंगे और भारतीयों पर अगणित अत्याचार करेंगे। कोई भी हिन्दू ऐसी भयावह स्थिति की कल्पना नहीं कर सकता है। चूँकि आर्यसमाज का उद्देश्य विद्या का प्रसार और अविद्या का नाश है, अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत में ब्रिटिश शासन का बना रहना पूर्ण रूप से आवश्यक है। इस कारण आर्यसमाजियों को भारत में ब्रिटिश शासन को सुदृढ़ बनाये रखने में पूरी सहायता देनी चाहिए और इसके निन्दकों तथा आलोचकों से मुँह फेर लेना चाहिए। इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि आर्यसमाज के सदस्यों में स्वाभिमान है और वे भद्दे ढंग की चापलूसी नहीं कर सकते हैं। यद्यपि सरकार और इसके अधिकारी इस समय आर्यसमाज को सन्देह की दृष्टि से देख रहे हैं, फिर भी आर्यसमाज को चाहिए कि वह सरकार की सहायता करे। अन्त में सरकार को यह स्वयं ही पता चल जायेगा कि आर्यसमाजी कितने राजभक्त हैं।"

इस सन्दर्भ से उस समय के आर्यसमाजियों की सामान्य मनोवृत्ति पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है। उस समय तक अंग्रेजों ने भारत का जो इतिहास स्कूलों में पढ़ाने के लिए तैयार किया था, उसमें इस बात पर बहुत बल दिया जाता था कि अंग्रेजों के आने से पहले भारत पर उत्तर-पश्चिमी दिशा से तुर्कों, अफगानों, मुगलों के हमले निरन्तर होते रहे हैं और उनसे देश बुरी तरह बरबाद होता रहा है। यदि अंग्रेज इस देश को छोड़कर चले जायेंगे तो पुनः यहाँ पुरानी अव्यवस्था, अन्धेरगर्दी, अराजकता और कुशासन का साम्राज्य स्थापित हो जायेगा। अंग्रेजों ने उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त पर छावनियाँ स्थापित करके मध्य एशिया से होने वाले मुसलिम आक्रमणों की बाढ़ को पूरी तरह से रोक दिया है। यदि दुर्भाग्यवश अंग्रेज हमारे देश से चले गये तो फिर उत्तर-पूर्वी सीमा से मुसलिम आक्रांता टिड्डी दल की भाँति भारत पर हमले करने लगेंगे और उस समय हमारी दशा बड़ी शोचनीय होगी। मुसलमानों के शासन में हिन्दुओं पर भीषण अत्याचार हुआ करते थे और इस्लाम न स्वीकार करने के लिये जो भीषण दण्ड दिये जाते थे, वे सब अब पुनः दिये जाने लगेंगे। अतः भारतवासियों की रक्षा के लिए अंग्रेजी शासन का भारत में चिरकाल तक स्थायी रूप से बना रहना अतीव आवश्यक है। यह शासन भारतीयों को धार्मिक स्वतन्त्रता का बहुमूल्य वरदान प्रदान कर रहा है, इसीलिए सब भारतीयों तथा आर्यसमाजियों का यह पावन धार्मिक कर्त्तव्य है कि वे भारत में ब्रिटिश सत्ता का प्रबल पृष्ठपोषण करें।

(४) राजभक्ति की शपथ का प्रस्ताव और इसकी प्रतिक्रिया

इस समय आर्यसमाजी सरकार से कितने भयभीत और संत्रस्त थे, इस बात का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि लाहौर आर्यसमाज के प्रधान मुंशी दुर्गा-प्रसाद ने १९०९ ई० के अन्त में पंजाब के तत्कालीन गवर्नर लुईस डेन को एक पत्र में यह लिखा कि "आर्यसमाज विशुद्ध रूप से धार्मिक संस्था है। उसका राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। पटियाला में सर्वथा निर्दोष आर्यसमाजियों पर मुकदमा चलाया जा रहा है। कुछ मुसलमान और एंग्लो-इण्डियन पत्रों के घातक प्रचार के प्रभाव में आकर पटियाला के महाराज ने यह मुकदमा ब्रिटिश सरकार की प्रेरणा से चलाया है। इसे

वापिस लिया जाय और आर्यसमाज के राजद्रोही न होने की सरकार द्वारा घोषणा की जाय। इसके साथ ही उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि आर्यसमाजियों को अपने राजभक्त होने की शपथ लेनी चाहिए और इसे सरकार के पास भेजा जाना चाहिए, ताकि ब्रिटिश सरकार को यह पूर्ण विश्वास हो जाए कि आर्यसमाज राजद्रोही राजनैतिक संस्था नहीं है।''

श्री दुर्गादास के पत्र की बड़ी कड़ी आलोचना न केवल आर्यसमाजी पत्रों द्वारा अपितु आर्यसमाज के विरोधी मुसलिम पत्रों और राष्ट्रीय विचारों के पत्रों द्वारा भी की गयी। आर्यसमाजी इसे स्वाभिमान का हनन एवं नैतिक पतन की पराकाष्ठा समझते थे। यह कहा जाता था कि आर्यसमाज को इस हद तक निम्न स्तर की चाटुकारिता और खुशामद पर नहीं उतर आना चाहिए। सरकार को आर्यसमाज द्वारा अराजनैतिक संस्था होने की घोषणा ही पर्याप्त समझनी चाहिए। इस विषय में आर्यसमाजियों के अपने स्वाभिमान को बनाये रखना चाहिए और उसे तिलांजलि नहीं देनी चाहिए। मुंशी दुर्गाप्रसाद ने उपर्युक्त शपथ का सुझाव किन परिस्थितियों में दिया था, इसे भी इस प्रसंग में देख लेना उचित है।

१९०९ ई० के अन्त में नासिक जिले में वहाँ के कलेक्टर जैक्सन की क्रान्तिकारियों ने हत्या कर दी थी। इससे ब्रिटिश सरकार का भयभीत होना और संभावित क्रान्तिकारियों पर संदेह करना स्वाभाविक था। पंजाब में आर्यसमाजियों को यह आशंका थी कि सरकार उनके विरुद्ध कोई कड़ी कार्यवाही न करे। एक जनवरी, १९१० ई० को आर्यसमाजियों तथा हिन्दुओं का शिष्ट-मण्डल पंजाब के लेफ्टिनेंट गवर्नर लुईस डेन से मिला। उसने उसे अपनी राज-भक्ति का पूरा विश्वास दिलाया। इस पर गवर्नर ने शिष्टमण्डल के सदस्यों को बताया कि "क्रान्तिकारियों द्वारा अंग्रेज अधिकारियों की हत्याओं पर उन्हें बड़ा क्षोभ है। यदि आर्यसमाजी राजभक्त हैं तो उन्हें अपराधियों को पकड़वाने में सरकार को सहयोग देना चाहिए। इसके साथ ही उन्होंने यह धमकी भी दी कि यदि यही स्थिति जारी रही तो सरकार ने मार्ले-मिण्टो की जो सुधार-योजना भारतीयों को दी है, वह उसे वापिस ले लेगी। हिन्दू-नेताओं को अपने कार्यों से यह सिद्ध करना चाहिए कि वे वैधानिक उपायों से ही राजनैतिक अधिकार लेना चाहते हैं। हिन्दू केवल मौखिक रूप से ही अपनी राजभक्ति का दावा करते हैं। वे उसे वास्तविक रूप से प्रदर्शित नहीं करते हैं।" अन्त में, उन्होंने इस बात पर बल दिया कि जो "हमारे साथ नहीं हैं, वे हमारे विरोधी हैं।"[1]

लुईस डेन की घोषणा का स्पष्ट आशय था कि जो व्यक्ति खुल्लमखुल्ला क्रान्तिकारियों को पकड़वाने में सरकार का साथ नहीं देते हैं, वे सब सरकार के विरोधी हैं। आर्यसमाज द्वारा बार-बार राजभक्ति की जो घोषणा की जाती है, उस पर ब्रिटिश सरकार को कतई विश्वास नहीं है। आर्यसमाजी यद्यपि ऊपर से तो राजभक्त होने का दावा करते हैं, किन्तु भीतर-ही भीतर क्रान्तिकारियों और सरकार के विरोधियों से मिले रहते हैं। इस विषय में सरकार का बड़ा कड़ा रुख होने के कारण लाहौर आर्यसमाज के मन्त्री ने यह समझा कि अब सरकार को सन्तुष्ट करने का एकमात्र उपाय यही है कि आर्यसमाजी

---

१. सिलेक्शन्स फ्राम वर्नाकुलर न्यूजपेपर्स, यू० पी०, १९१०, पृष्ठ ३५

अपने राजभक्त होने की शपथ लें।

इस अवसर पर आर्यसमाज के विरोधी मुसलिम पत्रों ने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और लुईस डेन के भाषण की बड़ी सराहना की। इटावा के उर्दू पत्र 'अलबशीर' ने २५ जनवरी १९१० के अंक में पंजाब के गवर्नर लुईस डेन को उनके स्पष्टवादिता के लिए बधाई देते हुए लिखा कि लाटसाहब को ऐसे व्यक्तियों से सावधान रहना चाहिए जो ऊपर से तो बादशाह के प्रति वफादारी का प्रदर्शन करते हैं, किन्तु भीतर से विद्यार्थियों को राजनैतिक आन्दोलनों में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। इसके साथ ही इस पत्र ने २५ जनवरी और पहली फरवरी १९१० के अंकों में मुंशी दुर्गाप्रसाद के गवर्नर को लिखे पत्र की कड़ी आलोचना करते हुए लिखा कि यह अतीव आपत्तिजनक दस्तावेज है, गलत बयानियों से भरा हुआ है। इसमें तथ्यों को मोड़-तोड़कर विकृत रूप में प्रदर्शित किया गया है। इसकी भाषा अपमानजनक और असंयम है। आर्यसमाज जैसी शिक्षासंस्था के प्रधान के लिए यह शोभनीय नहीं है। इसमें यह माँग की गयी है कि सरकार आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था न समझे जाने की घोषणा करे; किन्तु सरकार को कभी ऐसी घोषणा नहीं करना चाहिए। १० फरवरी के अंक में इसी पत्र ने लिखा था कि आर्यसमाज के प्रधान का यह पत्र छोटे लाट के प्रति अवज्ञासूचक होने के कारण रद्दी की टोकरी में डाल दिया जाना चाहिए। इस पर कोई कार्यवाही नहीं करनी चाहिए थी। किन्तु अब सरकार ने इसका जो उत्तर दिया है उससे आर्यसमाज को खुश नहीं होना चाहिए। उन पर राजद्रोह का संदेह पूर्ववत् बना हुआ है। गवर्नर ने अपने पत्र में आर्यसमाज को उन सन्देहों से मुक्त नहीं किया है जो ब्रिटिश अधिकारियों को इसके बारे में थे। यह भी स्वीकार नहीं किया है कि आर्यसमाज राजनैतिक संस्था नहीं है।

साम्प्रदायिक भावना से प्रेरित होकर उर्दू के प्रमुख मुस्लिम पत्रों अलबशीर आदि ने यद्यपि लुईस डेन के कथन का पूरा समर्थन किया, किन्तु उस समय छपने वाले सभी राष्ट्रीय विचार रखने वाले पत्रों ने इस मामले में गर्वनर की कड़ी आलोचना की। इलाहाबाद के 'लीडर' ने २० जनवरी १९१० के अंक में लिखा था कि "गवर्नर ने आर्य-समाज के शिष्टमण्डल के साथ जो व्यवहार किया है, उससे समूचा हिन्दू-समाज विक्षुब्ध है। राजनैतिक बुद्धिमत्ता इसी बात में है कि आर्यसमाज के नेताओं पर विश्वास अधिक और संदेह कम किया जाय। कालाकांकर (जि० प्रतापगढ़) से छपने वाले **सम्राट्** नामक पत्र ने अपने १९ जनवरी के अंक में लिखा था—"प्रान्त के उच्चतम अधिकारी के मुख से निकलने वाले ऐसे शब्द न केवल अनुचित, अशिष्ट, किन्तु वर्तमान अवसर के प्रतिकूल हैं और उनके औचित्य का समर्थन किसी प्रकार नहीं किया जा सकता है। समूचे शिक्षित हिन्दू-समुदाय को यह आशंका है कि सरकार का रवैया मुसलमानों के प्रति पक्षपातपूर्ण है। इसके साथ ही यह उचित नहीं प्रतीत होता है कि कुछ गुमराह युवकों के हत्यापूर्ण कार्यों के लिए एक समूचे समाज को बदनाम कर दिया जाय। यह बात बिलकुल बेहूदा और अयुक्तियुक्त है। इस समय हिन्दुओं की स्थिति बड़ी विचित्र है। यदि वे जघन्य अपराधों की निन्दा करते हैं तो उन पर यह सन्देह किया जाता है कि वे अन्दर से अपराधियों के साथ मिले हुए हैं और ऊपर से दूसरों को धोखे में रखने के लिए ऐसी कल्पना कर रहे हैं। यदि वे ऐसे कार्यों पर मौन रहते हैं तो उनकी स्वीकृति की मिथ्या कल्पना कर ली जायगी। सरकार को यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि अविश्वास से अविश्वास

उत्पन्न होता है और उत्तम शासन का रहस्य न्यायपरायणता, सहयोग और विश्वास में निहित है।"

श्री सुन्दरलाल द्वारा सम्पादित इलाहाबाद के साप्ताहिक पत्र **कर्मयोगी** ने २५ फरवरी और ४ मार्च १९१० ई० के पत्रों में आर्यसमाजियों द्वारा राजभक्ति की शपथ लेने का घोर विरोध करते हुए इस बात पर दुःख प्रकट किया कि "अब आर्यों में नैतिक साहस नहीं रहा है। नेताओं में स्वामी दयानन्द जैसी लगन और शूरवीरता नहीं है। शासकों को प्रसन्न करने के लिए वे अपने सिद्धान्तों को तिलांजलि देने के लिए तैयार हो गये हैं, और सरकार से वफादारी के प्रमाणपत्र लेने पर बल दे रहे हैं। आर्यसमाज धार्मिक संस्था है। उसका कार्य अपने सिद्धान्तों का प्रचार व प्रसार करना है, न कि राजनीति से पृथक् होने की घोषणा करना। वे दमन से बचने के लिए सरकार और जनता को यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि आर्यसमाज राजनैतिक संस्था नहीं है, किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि धर्म का पथ बड़ा कंटकाकीर्ण है। धार्मिक उन्नति के लिए बड़े अत्याचार सहने पड़ते हैं। पंजाब में सिक्ख-मत इसका सुन्दर उदाहरण है। हकीकतराय, लूथर और इरेस्मस द्वारा उठाये गये कार्यों के इतिहास से आर्यसमाजियों को यह शिक्षा लेनी चाहिए कि धर्म पुष्पमण्डित शय्या नहीं, अपितु कंटकाकीर्ण पथ है। लुईस डेन से बातचीत के बाद आर्यसमाज के राजनैतिक संस्था न होने की चर्चा बन्द हो जानी चाहिए।"

इस पत्र ने राजभक्ति की शपथ की निरर्थकता प्रतिपादित करते हुए लिखा, "राजभक्ति की शपथ लेने की क्या आवश्यकता है? वस्तुतः धर्म का यह अधिकतम विकृत रूप है जिसमें सदस्यों को धर्म के प्रति पूरी निष्ठा रखने के स्थान पर राजा के प्रति भक्ति रखने को कहा जाता है। राजनीति सांसारिक मामला है। इसको धर्म के साथ नहीं मिलाना चाहिए। ईसा ने बाइबल में ठीक ही कहा था—सीजर या राजा की वस्तुयें सीजर को दे दो और जो भगवान् की वस्तुयें हैं, वे उसे प्रदान करो।"

आर्यसमाजी पत्रों ने भी मुंशी दुर्गाप्रसाद द्वारा दिये राजभक्ति की शपथ के सुझाव की कड़ी आलोचना की। गुरुकुल काँगड़ी से प्रकाशित होने वाली सुप्रसिद्ध अंग्रेजी पत्रिका 'वैदिक मैगजीन' ने मार्च १९१० ई० के अंक में राजभक्ति की शपथ की घोषणा का विरोध करते हुए लिखा था कि "यह बड़ी कमजोर बनाने वाली घबराहट की मनोवृत्ति की सूचक है। आर्यसमाजियों को ऐसी कोई शपथ नहीं लेनी चाहिए और स्पष्ट रूप से इस बात पर बल देना चाहिए कि राजनैतिक आन्दोलन और गतिविधियाँ आर्यसमाज का क्षेत्र नहीं हैं। इसकी शक्ति राजनीति से कहीं ऊँचे, उदात्त, धार्मिक और आध्यात्मिक कार्य में लगी हुई है। वह राजनीति का विरोधी इसलिए नहीं है कि शिक्षित भारतीयों की ऐसी वैध आकांक्षाओं का विरोधी है जो अंग्रेजों द्वारा भी समुचित समझी जाती हैं। राजनैतिक सुधारों के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि इन सबका एक सामान्य मंच होना चाहिए जिसमें सभी धर्मों के व्यक्ति एकत्र होकर आन्दोलन कर सकें। आर्य-समाज का उद्देश्य भारतीयों की धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति करना है, और वह उसी पुनीत कार्य में लगा रहना चाहता है। उसे ऐसी शपथ लेने की कोई आवश्यकता नहीं है।"

आगरा से निकलने वाले साप्ताहिक 'आर्यमित्र' ने अपने १ मार्च १९१० के अंक में

शपथ का विरोध करते हुए लिखा था कि आर्यसमाजी सदैव राजभक्त रहे हैं, अतः उन्हें ऐसी घोषणा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि कोई आर्यसमाजी राजद्रोही है तो उस पर सरकार द्वारा मुकदमा चलाया जाना चाहिए।"

इससे यह स्पष्ट है कि श्री दुर्गाप्रसाद के सुझाव का आर्यसमाज द्वारा इतना अधिक विरोध किया गया कि कोई आर्यससाजी ऐसी शपथ लेने के लिए तैयार नहीं हुआ। कानपुर के उर्दू पत्र 'जमाना' ने यह ठीक ही लिखा था कि "आर्यसमाज को धार्मिक संस्था बना रहना चाहिए, राजनीति के पचड़े में पड़कर अपना अधःपतन नहीं करना चाहिए।[1] ऐसा प्रस्ताव क्रियान्वित करने पर गवर्नर से मिलने वाले शिष्टमण्डलों का जैसा उल्टा प्रभाव पड़ेगा, जिस प्रकार वे सरकार को आर्यों की राजभक्ति का विश्वास दिलाने में विफल रहे हैं, उसी प्रकार राजभक्ति के प्रस्ताव भी सरकार को आर्यसमाज की वफादारी का विश्वास कराने में सफल नहीं हो सकेंगे!

(५) लुईस डेन का पत्र

बच्छोवाली आर्यसमाज लाहौर के प्रधान लाला दुर्गाप्रसाद के शपथ के प्रस्ताव की तथा पंजाब के लेफ्टिनैण्ट लुईस डेन के नाम लिखे पत्र की कटु आलोचना हुई थी। इसे ब्रिटिश सरकार के सम्मुख साष्टांग दण्डवत् प्रणाम समझा गया। महात्मा मुंशीराम जैसे नेता इस हद तक अपना स्वाभिमान खोने के लिए तैयार नहीं थे, फिर भी उनके पत्र का सरकार पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। इससे आर्यसमाज के प्रति सरकारी नीति में परिवर्तन आने लगा। सरकारी नौकरियों में उनके साथ कठोर भेदभावपूर्ण व्यवहार की नीति कुछ-कुछ बदलने लगी। यह बात पंजाब सरकार के मुख्य सचिव एन० डब्ल्यू० फेण्टन द्वारा १२ जनवरी १९१० ई० को लेफ्टिनैण्ट गवर्नर लुईस डेन की ओर से लाला दुर्गाप्रसाद को उनके २१ दिसम्बर के पत्र के उत्तर में लिखी गयी थी।[2]

इस पत्र में यह कहा गया था कि "आप यह चाहते हैं कि सरकार द्वारा इस बात का आश्वासन दिया जाय कि सरकार का इरादा सामूहिक रूप से आर्यसमाज पर अभियोग चलाने का नहीं है, अपितु वह केवल उन्हीं व्यक्तियों के विरुद्ध कार्यवाही करेगी जो राजद्रोही होंगे, चाहे वे कहीं भी क्यों न पाये जायँ। आपके पत्र में यह भी कहा गया है कि पटियाला राज्य की ओर से एक अभियोग चलाया गया है, इससे आर्यसमाज के सदस्यों में बड़ी आशंका उत्पन्न हो गयी है और ऐसी अफवाहें फैल गयी हैं कि इसी प्रकार की कार्यवाही ब्रिटिश प्रदेश में भी करने की बात सोची जा रही है।

"इसके उत्तर में मुझे यह कहना है कि सर लुईस डेन इस तथ्य को आपसे छिपाना नहीं चाहते हैं कि अनेक सरकारी अधिकारी आर्यसमाज के बारे में प्रतिकूल सम्मति रखते हैं। महामहिम इस बात को स्वीकार करते हैं कि यह एक ऐसा संगठन है जिसका पथप्रदर्शन यदि बुद्धिमत्तापूर्वक न किया जाय तो यह बड़ी गड़बड़ी पैदा कर सकता है।

---

१. जमाना—मई, १९१० सिलेक्शन्स फ्राम वर्नाकुलर न्यूजपेपर्स—यू० पी०, पृ० ५३२ तथा ५४०

२. इसके अविकल रूप के लिए देखिये—होम पोलिटिकल डिपार्टमेण्ट, डिपाजिट, अगस्त १९१०, सं० ७, पृ० ३२४-३२६

यह बात विशेष रूप से उस समय घटित हो सकती है जब समाज की कुछ स्थानीय शाखायें ऐसे सदस्यों के नियन्त्रण में आ जायें जिनका झुकाव राजद्रोह की ओर हो। किन्तु सर लुईस डेन को इस बात का विश्वास नहीं है कि इस समय आर्यसमाज राज-निष्ठाहीन (Disloyal) और राजद्रोही (Seditious) है और उनका यह विश्वास है कि इसके अनेक सदस्य केवल धार्मिक सुधार की आकांक्षा से प्रेरित होकर ही कार्य करते हैं।

"पटियाला के अभियोग के बारे में यह स्थिति है कि सर लुइस डेन इस तथ्य को नहीं जानते हैं कि वहाँ गिरफ्तार किये गये व्यक्तियों अथवा आर्यसमाज के विरुद्ध क्या साक्षी प्रस्तुत की जायेगी। महामहिम का विचार है कि उनके लिए यह सम्भव और उचित नहीं है कि वे न्यायालय में विचाराधीन मामले के बारे में कोई बात कहें।

"आर्यसमाज के बारे में कुल मिलाकर महामहिम का जो दृष्टिकोण ऊपर बताया जा चुका है, उसमें अधिक कहने की कोई बात नहीं है। उन्हें यह विदित है कि आर्य-समाज में एक बड़ी संख्या में ऐसे ईमानदार और समर्पण की भावना से काम करने वाले व्यक्ति हैं, जिन्होंने शिक्षा और समाजसुधार के लिए बड़ा काम किया है। अधिकांश रूप में ऐसे व्यक्ति सरकार की सेवा में हैं, जहाँ उनके कार्य की पूर्ण रूप से सराहना की गई है और उन्हें सरकारी पदोन्नति में पूरा हिस्सा दिया गया है। सर लुईस डेन को इस बात का निश्चय है कि आर्यसमाज के साथ सम्बन्ध होने के आधार पर किसी व्यक्ति के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जायेगी और उनके तथा आर्यसमाज के अन्य सदस्यों के विरुद्ध जो आरोप कभी लगाये जायेंगे, उनके बारे में आर्यसमाज का सदस्य होने मात्र से ही उनका पूर्वनिर्णय नहीं किया जायेगा। महामहिम को यह विश्वास है कि प्रत्येक मामले का निर्णय उसके गुण-दोष के आधार पर ही किया जायेगा। सरकार सदैव आर्यसमाज के राजभक्त सदस्यों द्वारा इस विषय में दी जाने वाली सहायता का स्वागत करेगी कि आर्यसमाज जिसका उद्देश्य सदा धार्मिक और सामाजिक उन्नति करना है—वह कभी अपने उचित उद्देश्य से विचलित न हो सके और ऐसे राजनैतिक संगठन के रूप में अधः-पतित न हो, जिसके उद्देश्य सरकार के प्रति समुचित राजभक्ति के साथ मेल न खाते हों।

इस पत्र से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

(१) यद्यपि इस समय पंजाब में कुछ अधिकारी आर्यसमाज को राजद्रोही समझते थे, किन्तु लेफ्टिनैंट गवर्नर का ऐसा विचार नहीं था। उसका यह विश्वास था कि पंजाब में ब्रिटिश सरकार के कुछ बहुत अच्छे सरकारी कर्मचारी आर्यसमाजी हैं और वे ब्रिटिश सरकार के प्रति पूर्ण निष्ठा रखते हैं। गवर्नर की यह सम्मति आर्यसमाज की दृष्टि से इसलिए विशेष महत्त्वपूर्ण थी कि अन्यत्र यह बताया जायेगा कि भारत सरकार ने आर्यसमाज के बारे में आवश्यक कार्यवाही करने और उन्हें राजभक्ति के पथ पर आरूढ़ बनाये रखने का सारा उत्तरदायित्व गवर्नरों को सौंप दिया था। लुईस डेन का आर्यसमाज के प्रति ऐसा दृष्टिकोण होने के कारण अब पंजाब में आर्यसमाज को सरकारी दमन का शिकार होने की आशंका कम हो गयी थी। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि पंजाब का गवर्नर बनने से बहुत पहले लुईस डेन अपनी यह सम्मति बना चुके थे। १९०४ में उन्होंने यह लिखा था —"मुझे इस बात का निश्चय नहीं है कि आर्यसमाज ऐसा आन्दोलन है जिसे दबाया या निरुत्साहित किया जाना चाहिए। उत्तर भारत में हमारे सर्वोत्तम योग्यतम

अधिकारी आर्यसमाजी हैं। यद्यपि इस आन्दोलन में कुछ राजनीतिज्ञ भी सम्मिलित हो गये हैं, फिर भी मेरा विश्वास है कि इसका वास्तविक उद्देश्य हिन्दू-धर्म की भीषण कुरीतियों का सुधार करना है और ऐसा होने के कारण हमें सुधारकों के साथ सहानुभूति रखनी चाहिए।"[1]

(२) लुईस डेन ने आर्यसमाज के प्रति अनुकूल सम्मति रखने के कारण यह स्पष्ट कर दिया था कि अब मात्र आर्यसमाजी होने के कारण किसी सरकारी कर्मचारी की पदोन्नति नहीं रोकी जायेगी। उनकी यह बात भूतपूर्व गवर्नर सर डेंजिल इब्बटसन की १९०७ ई० में अपनायी उस नीति के सर्वथा प्रतिकूल थी, जब सामूहिक रूप से आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था माना गया और उन्होंने सरकारी अधिकारियों को यह चेतावनी दी थी कि राजद्रोही होने के कारण आर्यों को सरकारी नौकरियों में न लगाया जाय और राजद्रोह का न्यूनतम चिह्न या सबूत मिलने पर उन्हें पदच्युत कर दिया जाय।[2]

(३) इस पत्र में आर्यसमाज को यह चेतावनी भी दे दी गई थी कि उसे अपना कार्यक्षेत्र धार्मिक और सामाजिक सुधार तक ही सीमित रखना चाहिए, और इसके सदस्यों को इन उद्देश्यों के अनुसार काम करते रहना चाहिए। आर्यसमाज के नेताओं को बड़ा दूरदर्शी और बुद्धिमान् होना चाहिए तथा समाज का नेतृत्व इस ढंग से करना चाहिए कि उसमें सरकार-विरोधी विद्रोही तत्त्व कभी प्रबल न हो सकें क्योंकि उन का यह विचार था कि कई बार स्थानीय समाजों में ऐसे विद्रोही तत्त्व प्रबल होकर अवैध और अनुचित कार्यवाहियाँ कर सकते हैं। यह पत्र इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि इससे आर्यसमाज को सरकार की ओर से यह अभय-वचन मिल गया था कि यदि वे राजद्रोही कार्यकलापों और गतिविधियों में कोई भाग नहीं लेंगे तो उनके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जायेगी। राजभक्ति समाज के लिए अतीव आवश्यक है। यदि उसे सरकारी प्रकोप से बचना और जीवित रहना है तो उसके लिये कोई अन्य मार्ग नहीं है।

(६) राजभक्ति की भावना के कारण और परिणाम

आर्यसमाज ने इस बात को जल्दी ही अच्छी तरह समझ लिया था कि विदेशी शासक भारत की जनता को केवल धार्मिक क्षेत्र में ही स्वतन्त्रता देने को तैयार हैं। किन्तु राजनैतिक क्षेत्र में देशभक्ति की भावनाओं के प्रसार को राजद्रोह समझते हैं और उनके दमन करने का पूरा प्रयास करने के लिए सक्रिय हैं। पंजाब में डी०ए०वी० कॉलेज की संस्थाओं का प्रसार बड़ी तेजी से हुआ। इसका प्रधान कारण महात्मा हंसराज तथा लाला लाजपतराय जैसे आर्यसमाजी नेताओं का भगीरथ परिश्रम, अद्वितीय एवं अनवरत पुरुषार्थ तथा महर्षि के प्रति अनन्य भक्ति और अपूर्व निष्ठा थी। इनसे सारे पंजाब में डी० ए० वी० स्कूलों और महाविद्यालयों का जाल-सा बिछ गया और अब जब

---

१. होम पब्लिक डिपार्टमेण्ट प्रोसीडिंग्स (डिपाज़िट), एप्रिल १९०४, सं० ३

२. गोपनीय सरकुलर ७१५, मई १९०७, पी० जी० पी० १०/डी, जोन्स द्वारा आर्यधर्म, पृ० २७३ में उद्धृत।

१९०७ ई० में आर्यसमाज को सरकार स्पष्ट रूप से राजद्रोही समझने लगी और पंजाब के गवर्नर सर डेंजिल इब्बटसन ने घोषणा की कि जहाँ-जहाँ आर्यसमाज है, वहाँ-वहाँ बगावत की चर्चा होती है तो आर्यसमाज के नेताओं को यह आशंका उत्पन्न हुई कि सरकार डी० ए० वी० संस्थाओं के बारे में कोई कड़ी कार्यवाही न करे। अतः उन्होंने इससे रक्षा करने के लिए राजभक्ति की नीति का अवलम्बन करना शुरू किया। डी० ए० वी० स्कूल में पढ़ने वाले एक छात्र तथा सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्री यशपाल ने इस समस्या का सुन्दर विश्लेषण करते हुए लिखा है—

"अपनी संस्थाओं और उनके कोषों के प्रति मोह ने आर्यसमाज का नैतिक और राजनैतिक पतन किस सीमा तक कर दिया, यह बात आर्यसमाज की एक प्रमुख संस्था डी० ए० वी० कॉलेज के संस्थापक महात्मा हंसराज के जीवन की एक घटना से स्पष्ट हो जाती है। महात्माजी का पुत्र बलराज १९१४ ई० के राजद्रोह के लाहौर षड्यन्त्र केस की लपेट में आकर काले पानी की सजा पा गया था। उस समय आर्यसमाज के नेता इस भय से व्याकुल हो गये कि अंग्रेज सरकार कहीं पूरे आर्यसमाज और उसकी संस्थाओं को भी सन्दिग्ध न मान बैठे। कॉलिज पार्टी को यह भय सदा ही व्याकुल किये रहता था कि अंग्रेज सरकार उसकी शिक्षण-संस्थाओं को सन्दिग्ध मानकर अपनी यूनिवर्सिटी से उनका सम्बन्ध न तोड़ दे। ऐसी अवस्था में विद्यार्थियों के लिए सरकारी नौकरी की आशा न रहती और जीविका के लिए ही शिक्षा पाने वाली जनता का आकर्षण इन संस्थाओं की ओर से घट जाता। इसलिए आर्यसमाज के नेताओं ने अपनी राजभक्ति का प्रचार करना और राजनैतिक प्रश्नों से अलग रहने का ऐलान कर दिया। महात्मा हंसराज ने अपने पुत्र से किसी प्रकार का सम्बन्ध और लगाव न होने की घोषणा कर दी। आर्य-समाजियों ने अपने नेता की इस कायरता को आर्यसमाज के लिए महान् त्याग और बलि-दान का रूप दे दिया। महात्मा हंसराज ने अपने पुत्र को स्वामी दयानन्द के राजनैतिक आदर्श पर चलने के कारण घृणित अपराधी की भाँति त्याग दिया। एक समय तो राज-कीय कोप की आशंका से भयभीत, सरकार के कृपाकांक्षी आर्यसमाजी यह भी प्रस्ताव करने लगे थे कि सत्यार्थप्रकाश में से स्वामीजी के अपनी जाति के स्वतन्त्र राज्य (स्वराज्य) की प्रशंसा करने वाले शब्द भी निकाल दिये जायँ। परन्तु बहुमत ने इसे स्वीकार नहीं किया।"[1]

"आर्यसमाज में संगठनात्मक रूप से दो बड़े दल रहे हैं—एक कॉलिज पार्टी और दूसरा गुरुकुल पार्टी। कॉलिज पार्टी में सरकारी नौकरों, वकीलों और सरकारी विश्व-विद्यालयों से सम्बन्धित शिक्षण-संस्थाओं के लोगों की अधिकता रही है। यह पार्टी राज-भक्ति की दृष्टि से विदेशी सरकार के अधिक समीप थी। लाला लाजपतराय को जब १९०७ ई० में ब्रिटिश सरकार द्वारा देश-निर्वासन का दण्ड दिया गया तो इस पार्टी ने उनसे सम्बन्ध-विच्छेद की घोषणा करते हुए पंजाब में गवर्नर को अपनी राजभक्ति का विश्वास दिलाया। १९१० ई० में जब डी० ए० वी० कॉलेज की सेवा करने वाली संस्था के आजीवन सदस्य इतिहास के प्रोफेसर भाई परमानन्द पर राजद्रोह का मुकद्दमा चलाने के लिए उन्हें गिरफ्तार किया गया तो पुनः डी०ए०वी० कॉलेज ने उनसे सम्बन्ध-विच्छेद

---

१. यशपाल—सिंहावलोकन, पृ० २९-३०

करके ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति राजभक्ति में अविचल अवस्था प्रकट की। डी० ए० वी० कॉलिज के लिए आत्मरक्षा की दृष्टि से उस समय ऐसा करना सर्वथा उचित समझा गया। आर्यसमाज की गुरुकुल पार्टी की शिक्षण-संस्थाओं पर तत्कालीन यूनिवर्सिटियों से तथा सरकार के शिक्षा-विभाग से कोई सम्बन्ध नहीं था। इनका पाठ्यक्रम सर्वथा स्वतन्त्र था, इनकी उपाधियाँ अपनी थीं और सरकार द्वारा स्वीकृत नहीं थी। अतः इन्हें सरकारी प्रकोप का भय तुलनात्मक दृष्टि से डी० ए० वी० कॉलिज के नेताओं की अपेक्षा कम था। अतः इस दल से सम्बद्ध लोगों में विदेशी सरकार के प्रति घृणा और विरोध का भाव अपेक्षाकृत अधिक था। फिर भी इस दल के नेता राजद्रोह के दुष्परिणामों की आशंका से सर्वथा मुक्त नहीं थे और सरकारी सन्देहों को दूर करने के लिए उन्होंने ब्रिटिश सरकार के उच्चतम अधिकारियों, गवर्नरों तथा वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड को अपनी संस्था में निमन्त्रित किया और उनका भव्य स्वागत करके उन्हें अपनी राजभक्ति का विश्वास दिलाया।"[1] संयुक्त प्रान्त के लेफ्टिनैण्ट गवर्नर सर जेम्स मेस्टन ने ८ अगस्त १९१३ ई० को गुरुकुल वृन्दावन में स्पष्ट रूप से गुरुकुल के ब्रह्मचारियों और अध्यापकों को राजभक्त बने रहने का पाठ पढ़ाया।

१९१९ ई० में महात्मा गांधी भारत के राजनैतिक रंगमंच पर अवतरित हुए। इसके साथ ही न केवल कांग्रेस एवं राष्ट्रीय आन्दोलन के अपितु आर्यसमाज के राजनैतिक इतिहास में नवयुग का श्रीगणेश हुआ, पुराने राजनैतिक तटस्थता के युग की समाप्ति हुई। स्वामी श्रद्धानन्द के नेतृत्व में उन आर्यसमाजियों ने रौलट एक्ट के राजनैतिक आन्दोलन में वैयक्तिक रूप से भाग लिया, जो पहले आर्यसमाज द्वारा राजनीति में भाग लेने के कट्टर विरोधी थे। इसका प्रधान कारण महात्मा गांधी की आध्यात्मिकता और नैतिकता पर बल देने वाली नयी राजनीति थी। यह बताया जा चुका है कि आर्यसमाज धर्मानुप्राणित राजनीति में विश्वास रखता था। जब गांधी जी ने मौलिक मानवीय अधिकारों की रक्षा के लिए सत्याग्रह-आरम्भ करने की घोषणा की तो आर्यसमाज के मूर्धन्य नेता स्वामी श्रद्धानन्द ने उसे धर्मयुद्ध समझा और वे इसमें अपने प्रमुख सहयोगियों के साथ कूद पड़े और राजनैतिक क्षेत्र से सर्वथा पृथक् रहने पर बल देने वाले आर्यसमाज की राजनीति आरम्भिक युग का अवसान हो गया।

---

१. मदनमोहन सेठ—हाई आफिशियल्स ऑन आर्यसमाज एण्ड इट्स वर्क, पृ० ८-९

सातवाँ अध्याय

पंजाब में कांग्रेस के विकास में आर्यसमाज की भूमिका

(१८९३-१९०८)

आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द यद्यपि संयुक्त प्रान्त की तुलना में पंजाब में बहुत कम समय तक रहे थे, फिर भी उन्होंने इस प्रान्त के शिक्षित वर्ग पर गहरा प्रभाव डाला और शीघ्र ही पंजाब आर्यसमाज का गढ़ माना जाने लगा। इसके कारणों की विवेचना पहले की जा चुकी है।[1] पंजाब में आर्यसमाज ने हिन्दू धर्म के सुधार, संशोधन और शिक्षा-प्रसार एवं वैदिक धर्म के प्रचार का जो कार्य किया वह सुविदित है, किन्तु इस संस्था ने इस प्रान्त में कांग्रेस के आन्दोलन के विकास में जो भाग लिया वह अविदित है। इसका प्रधान कारण यह है कि अब तक भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन और कांग्रेस को अभिन्न एवं एक ही समझा गया है, भारतीय राष्ट्रीय महासभा के अध्ययन को ही राष्ट्रीय जागरण का अनुशीलन माना जाता है। इससे राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने वाली विभिन्न प्रदेशों की अन्य संस्थाओं की उपेक्षा होती रही है। इसलिए इस क्षेत्र में आर्य-समाज का योगदान अब तक उपेक्षित रहा है।

इस विषय में अमरीकी विद्वान् नार्मन जी० बैरियर ने यह सत्य ही लिखा है कि "अतीतकाल में भारतीय ऐतिहासिक इस महाद्वीप में राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय क्रिया-शीलता के मूल स्रोतों की खोज या तो भारतीय राष्ट्रीय महासभा जैसे अखिल भारतीय संगठनों में करते रहे हैं या महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय महापुरुषों के राजनैतिक विचारों और पृष्ठभूमि के आधार पर इसका विवेचन करते रहे हैं। फिर भी, ज्यों-ज्यों आधुनिक भारतीय इतिहास में अधिकाधिक शोध होता चला जा रहा है, उससे यह स्पष्ट हो रहा है कि भारत के राजनैतिक इतिहास के लिए यह सीमित व्याख्या पर्याप्त नहीं है।..... उत्तर भारत की राजनीति में आर्यसमाज की महत्त्वपूर्ण भूमिका इस बात का समर्थन करती है।...प्रान्तीय तथा राष्ट्रीय राजनीति में आर्यों की भूमिका पर बहुत ही कम ध्यान दिया गया है।" श्री बैरियर ने यह प्रदर्शित किया है कि आर्यसमाज के गुरुकुल तथा कालिज पार्टी के दो दलों में १८९३ में बँट जाने के समय से १९०८ में मार्ले-मिन्टो-सुधार योजना शुरू होने की अवधि में इसने पंजाब की राष्ट्रीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। १८९९ के बाद वे कुछ समय तक आर्य पंजाब की कांग्रेस में हावी हो गये। १९०७ ई०

---

१. सत्यकेतु विद्यालंकार—आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम खण्ड, प्रथम भाग, पृ० ७०७

के लायलपुर, रावलपिंडी के उपद्रवों के बाद आर्यसमाज की राजनीति में कुछ परिवर्तन आने लगा। इन सब तथ्यों का विवेचन तत्कालीन प्रमुख समाचार-पत्रों 'ट्रिब्यून पंजाबी' आदि के आधार पर श्री बैरियर ने बड़े सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है।[1] यहाँ कुछ अन्य नवीन सामग्री तथा साक्षी के साथ इस विषय का संक्षिप्त उल्लेख किया जायेगा।

(१) पृष्ठभूमि

महर्षि दयानन्द द्वारा वेदों की और भारत के प्राचीन इतिहास की पुनर्व्याख्या पंजाब के शिक्षित वर्ग में बड़ी लोकप्रिय हुई। उनकी इस बात ने पंजाबियों को बड़ा प्रभावित किया कि प्राचीनकाल में जब अन्य पश्चिमी देश सभ्यता की आरम्भिक दशा में थे, उस समय भारत धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक दृष्टि से समस्त संसार का शिरोमणि देश था और अन्य सभी देशों को सभ्यता और संस्कृति का पाठ पढ़ाने के लिए जगद्गुरु कहलाता था। मनस्मृति ने इसकी स्पष्ट घोषणा की है। यह भारत का स्वर्ण-युग था। भारत की अवनति उस समय से शुरू हुई, जब उसने वैदिक शिक्षाओं को तिलांजलि दे दी और भारतीय अकर्मण्य, प्रमादी तथा आलसी हो गये। कौरव-पाण्डवों की गृह-कलह, फूट तथा महाभारत से भारत का अधःपतन हुआ। ब्राह्मणों ने वैदिक धर्म को अपनी स्वार्थ-सिद्धि का साधन बना लिया।

भारत वैदिक धर्म के सिद्धान्तों का पालन और आचरण करके तथा मूर्तिपूजा आदि के पाखण्डों का निराकरण करके पुनः उन्नति के चरम उत्कर्ष पर पहुँच सकता है। इस स्थिति को फिर से लाने के लिए केवल एक निराकार ईश्वर की उपासना करनी चाहिए, वैदिक युग की व्यवस्था के अनुसार बाल-विवाह आदि कुरीतियाँ बन्द होनी चाहिएँ और जाति-भेद की व्यवस्था गुण-कर्मों के आधार पर होनी चाहिए और ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए आर्ष ग्रन्थों के अध्ययन पर बल दिया जाना चाहिए, स्वामीजी का यह सन्देश पंजाब के शिक्षित वर्ग में इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि उनके निर्वाण के बाद उनकी स्मृति में पहले लाहौर में तथा बाद में पंजाब के अन्य स्थानों में संस्थापक के नाम पर दयानन्द एंग्लो वैदिक स्कूल और कालिज बड़ी तेजी से स्थापित किये जाने लगे। आर्यसमाज का यह कार्यक्रम बड़ा लोकप्रिय हुआ, क्योंकि इन स्कूलों में प्राचीन धर्मशास्त्रों की और आर्यसमाज के सिद्धान्तों की शिक्षा के साथ-साथ अंग्रेजी की शिक्षा भी दी जाती थी और इसे पाने वालों के लिए उस समय सरकारी नौकरियों के द्वार खुले थे। वे वकालत, चिकित्सा, इंजीनियरिंग आदि के क्षेत्रों में भी आगे बढ़ सकते थे। उस समय आर्यसमाज ने डी० ए० वी० स्कूलों के माध्यम से लोगों की इस आवश्यकता को पूरा किया। किन्तु स्वामी दयानन्द के पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी, महात्मा मुंशीराम जैसे कुछ अनुयायी डी०ए०वी० स्कूलों की शिक्षा से सन्तुष्ट नहीं थे। उन्होंने वेद-वेदांगों की शिक्षा के लिए गुरुकुलों की स्थापना पर बल दिया। शिक्षा-पद्धति एवं मांस-भक्षण के प्रश्न पर आर्यसमाजियों में गहरा मतभेद उत्पन्न हो गया। इस मतभेद के कारण १८९३ ई० में पंजाब का आर्यसमाज दो दलों में विभक्त हो गया। डी०ए०वी० कालेज के समर्थकों के दल के नेता महात्मा हंसराज और दूसरे दल के नेता महात्मा मुंशीराम थे।

---

१. जर्नल आफ एशियन स्टडीज शिकागो, xxvii, सं० ३, मई १९६८, पृ० ५२९

पहले दल को महात्मा या घास पार्टी तथा दूसरे को सुसंस्कृत पार्टी या मांस-पार्टी कहा जाता था।[1] इसके नेता महात्मा मुंशीराम थे। दोनों दलों, विशेषत: कालिज पार्टी ने पंजाब के कांग्रेस आन्दोलन में काफी भाग लिया। इसमें इनके राजनैतिक नेतृत्व और प्रभाव को समझने के लिए समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह जान लेना आवश्यक है कि उस समय आर्यसमाज पंजाब के किन वर्गों में और किन कारणों से अधिक लोकप्रिय हुआ।

लाहौर आर्यसमाज की स्थापना १८७७ ई० में हुई थी और पहले पन्द्रह वर्षों में इसके अनुयायियों में अधिकांश संख्या उन हिन्दू व्यापारिक जातियों की थी जिन्होंने अंग्रेजी शिक्षा से पूरा लाभ उठाते हुए सरकारी नौकरियां तथा वकालत, डाक्टरी आदि के पेशों पर अपना विलक्षण प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। उस समय तीन ऐसी व्यापारिक जातियाँ थीं—खत्री, अरोड़े तथा अग्रवाल। आर्यसमाज के अधिकांश सदस्य इन्हीं जातियों के थे।[2] शिक्षा का प्रसार पंजाब में सबसे अधिक इन्हीं जातियों में हुआ था।

---

१. लाला लाजपतराय ने अपनी आत्मकथा में दोनों दलों के नामकरण का कारण स्पष्ट करते हुए यह लिखा है कि लाला हंसराज के समर्थक लाला मुंशीराम तथा मास्टर दुर्गाप्रसाद को चिढ़ाने के लिए 'महात्मा' कहते थे, क्योंकि वे सदा धार्मिक विषयों की चर्चा किया करते थे। इसके विपरीत महात्मा पार्टी वाले इन्हें कल्चर्ड कहने लगे क्योंकि वे अपनी उच्च शिक्षा और संस्कृति पर अभिमान करते थे। (विजयचन्द्र जोशी—लाजपतराय, पृ० ४६)। मुंशीराम के साथ 'महात्मा' का विशेषण इतना लोकप्रिय हुआ कि बाद में लाला हंसराज को तथा गांधीजी को 'महात्मा' कहा जाने लगा। शिक्षा-पद्धति विषयक विभिन्न दृष्टिकोण के आधार पर इन्हें गुरुकुल तथा कालिज-पार्टी और आहार-विषयक मतभेद के कारण घास और मांस पार्टी कहा जाता था।

२. यह बात १८९३ ई० में दोनों दलों का मतभेद होने पर इनके नेताओं के नामों की सूची से स्पष्ट है। उन दिनों ब्राह्मणों के पूर्वपद 'पंडित' की भाँति खत्रियों के नाम के आगे 'लाला' का प्रतिष्ठा-सूचक उपसर्ग जोड़ा जाता था। यह सूची विजयचन्द्र जोशी द्वारा सम्पादित लाला लाजपतराय की आत्मकथा (लाजपतराय—आटोबायोग्राफिकल राइटिंग्स) से ली गई है (पृष्ठ ५९ तथा ६६-६७)। महात्मापार्टी में लाहौर के प्रमुख व्यक्ति थे—लाला मुंशीराम, महाशय आत्माराम, लाला तोलाराम, लाला केदारनाथ, लाला सीताराम आर्य, लाला जयचन्द, लाला जीवनदास, मास्टर दुर्गाप्रसाद, रायसाहब प्याराराम, लाला लद्दाराम साहनी। लाहौर से बाहर के प्रमुख आर्यसमाजी थे—पेशावर के डा० सीताराम, लाला सर्जनराम, लाला मूलचन्द लाम्बा; रावलपिण्डी के लाला गंगाराम, वैद्य सीताराम, लाला कृपाराम साहनी; गुजरात—लाला रलियाराम; मियानी—लाला ज्वाला प्रसाद; गुजरांवाला—लाला केवलकृष्ण, लाला नारायण किशन; अमृतसर—पं० धर्मचन्दकौल; जालन्धर—लाला मुंशीराम, लाला देवराज, लाला रामकिशन, लाला रायजादा भगतराम; लुधियाना—लाला उमरावसिंह; अम्बाला छावनी—लाला गुरांदित्तामल; मुल्तान—लाला काशीराम। कालिज पार्टी लाहौर के—लाला लालचन्द, भगत ईश्वरदास, लाला शौकतराय, लाला हंसराज, मूलराज, लाजपतराय, बावा छज्जूसिंह, मेहता राधाकिशन, बावा तेजसिंह, लाला अमीरचन्द, लाला सुखदयाल, लाला हरनामदास, लाला रामसहाय;

१८९१ ई० तक यह स्थिति थी कि पंजाब के कुल साक्षर हिन्दुओं में पूर्वोक्त जातियों का अनुपात ८९ प्रतिशत और अंग्रेजी जानने वालों की संख्या ८२ प्रतिशत थी। मुसलमानों तथा हिन्दुओं के अन्य वर्गों की तुलना में इनकी संख्या अधिक होने से सरकारी नौकरियों में भी इनको इनकी जनसंख्या के अनुपात की अपेक्षा कहीं अधिक स्थान प्राप्त थे। शनैः-शनैः मुसलमानों तथा हिन्दुओं की अन्य जातियों में भी शिक्षा का प्रसार होने लगा। फिर भी १९११ ई० तक उपर्युक्त जातियों एवं आर्यसमाजियों का न केवल शिक्षा के, अपितु आर्थिक क्षेत्र में भी प्रभुत्व और वर्चस्व बना रहा।[1]

श्री केनेथ जोन्स ने इसका सुन्दर विश्लेषण करते हुए यह बताया है कि इस समय आर्यसमाज को अपनाने वाली तीन जातियों—खत्रियों, बनियों, अरोड़ों के पास पंजाब प्रान्त की खेती की जमीन के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति का आधा भाग था।[2] खत्री व्यावसायिक एवं औद्योगिक क्षेत्र में हावी थे। पिछली शताब्दी के नवें दशक के मध्य में सरकार की ऊँची नौकरियों में अस्सी प्रतिशत पद इनके पास थे और चिकित्सा, कानून, इंजीनियरी के क्षेत्रों में में भी इनका प्रभुत्व था। किन्तु अगली दो दशाब्दियों में मुसलमानों, राजपूतों,जाटों तथा अन्य जातियों में शिक्षा का प्रसार होने से इस स्थिति में कुछ परिवर्तन आने लगा। फिर भी अन्य वर्गों की तुलना में इनकी प्रमुख स्थिति बनी रही। १९११ में पंजाब में राजपत्रित कर्मचारियों की कुल संख्या १०३२ थी। इनमें लगभग आधे ५८९ पदों पर यूरोपियन तथा ईसाई काम कर रहे थे, किन्तु शेष पदों में से २१ प्रतिशत पद खत्रियों के पास थे। इसके बाद ब्राह्मणों, अरोड़ों, बनियों और पठानों तथा राजपूतों के पास ये पद थे। न केवल सरकारी नौकरियों में, अपितु व्यावसायिक और आर्थिक क्षेत्र में भी इनकी स्थिति बहुत अच्छी थी। १८८५ ई० में पंजाब में पहले दर्जे के ४८ वकीलों में २९ हिन्दू, ४ मुसलमान और ७ बंगाली थे। दूसरे दर्जे के वकीलों में यह संख्या क्रमशः १२९, २० और ४ थी। १९११ तक कानून के क्षेत्र में यही स्थिति बनी रही। उस समय खत्री वकीलों की संख्या ४१२ थी, किन्तु मुसलमानों में अब यह बढ़कर ३३३ हो गयी थी।

आर्थिक क्षेत्रों में आर्यसमाज के सिद्धान्त उपर्युक्त जातियों की उन्नति में बड़े सहायक सिद्ध हुए। आर्यसमाज जाति को जन्ममूलक नहीं, अपितु गुण-कर्ममूलक मानता था। इससे सामाजिक दृष्टि से निम्न समझी जाने वाली जातियों को बड़ा लाभ हुआ। वे अपनी शिक्षा और योग्यता से अपनी आर्थिक स्थिति सुधार करके उच्च पद और स्थान

पेशावर—बख्शी गोकुलचन्द, बख्शी रलियाराम, लाला गज्जूमल; रावलपिण्डी—लाला हंसराज साहनी, लाला हरिराम सेठी, लाला मायादास साहनी; एबटाबाद—सेठ चूहड़मल; जेहलम—लाला हरभगवानदास, मास्टर बोधराज; अमृतसर—लाला गोपालदास भंडारी, पं० शिवदत्तराम; होशियारपुर—मास्टर मुरलीधर, मास्टर रामचंद्र, लाला ठाकुरदास; फिरोजपुर—चौधरी विशनसहाय, पं० मूलराज, लाला दीनदयाल; हिसार—पं० लखपतराय, अम्बाला—लाला द्वारका दास; मुल्तान—लाला चेतन आनन्द।

१. केनेथ जोन्स—आर्यधर्म, पृ० १७५-७६

२. पंजाब जनगणना रिपोर्ट १९११, भाग १, पृ० २६

प्राप्त कर सकते थे। पंजाब में ब्रिटिश शासन स्थापित होने के साथ दूसरे प्रान्तों के साथ आर्थिक सम्बन्ध स्थापित हुआ; उद्योग, व्यवसाय तथा व्यापार के क्षेत्र में उन्नति होने लगी। इसमें भी पूर्वोक्त जातियाँ शिक्षा एवं धन-सम्पन्न होने के कारण आगे बढ़ीं। १९११ ई० की पंजाब की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार उस समय तक खत्रियों की ७८, अरोड़ों की ५२ तथा शेख मुसलमानों की ३४ फैक्टरियाँ थीं। व्यापार के क्षेत्र में पहले वैश्यों का प्रभुत्व था। १८९० ई० के बाद सुशिक्षित आर्य तथा ब्राह्मण एवं सरदार दयालसिंह मजीठिया जैसे व्यक्ति इसमें प्रवेश करने लगे। मूलराज के नेतृत्व में कालिज-पार्टी का आर्यसमाजी वर्ग स्वावलम्बन और स्वदेशी उद्योगों की स्थापना पर बहुत बल देता था। लाला लाजपतराय आदि आर्यसमाजियों के प्रयास से १८९५ ई० में पंजाब नेशनल बैंक की स्थापना हुई। इसके संस्थापकों में न केवल लाला लालचन्द, मूलराज जैसे आर्यसमाजी, अपितु काली प्रसन्न राय, सरदार दयालसिंह मजीठिया, लाला हरकिशन लाल जैसे ब्राह्मसमाजी भी थे। इसके मैनेजर लाला लाजपतराय के भाई लाला दलपतराय थे। अगले वर्ष १८९६ ई० में इन्हीं लोगों ने भारत इंशोरेन्स कम्पनी की स्थापना की। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि इन दिनों हरकिशनलाल, सरदार दयालसिंह मजीठिया के साथी ब्राह्मसमाज के अनुयायी और आर्यसमाज के कट्टर विरोधी थे। कांग्रेस की राजनीति में सदा इनका आर्यसमाज से टकराव रहता था।

(२) राष्ट्रीयता का समर्थन करने का कारण

पंजाब के शिक्षित, व्यापारिक तथा औद्योगिक वर्गों में अग्रणी होने के कारण इस समय पंजाब का नेतृत्व उपर्युक्त जातियों के हाथ में था। इनके लिए दो कारणों से आर्यसमाज में प्रबल आकर्षण था। पहला कारण स्वामी दयानन्द द्वारा ईसाइयों तथा मुसलमानों के आक्रमणों से हिन्दू धर्म की रक्षा करना था और दूसरा उसे पश्चिमी शिक्षा तथा विचारों से प्रभावित व्यक्तियों के लिए अतीव सुग्राह्य और मनोरम रूप में प्रस्तुत करना था। ईसाई और मुसलमान मौलवी हिन्दू देवी-देवताओं की खिल्ली उड़ाते थे; स्वामी दयानन्द ने उनका खण्डन करके हिन्दू धर्म को ब्राह्मणों तथा पुरोहितों के कर्म-काण्ड के जंजाल से मुक्त किया तथा उसे बड़ा सरल और सीधा धर्म बना दिया। यदि ईसाइयों का धर्म बाइबल पर तथा मुसलमानों का कुरान पर प्रतिष्ठित था तो स्वामी दयानन्द ने हिन्दू धर्म का आधार वेदों को बनाया, जो उनसे कहीं अधिक प्राचीन थे, उच्चतर आध्यात्मिकता, नैतिकता और धार्मिक विचारों का प्रतिपादन करते थे। इस समय पंजाब के बुद्धिजीवी वर्ग को आर्यसमाज द्वारा पौराणिक रूढ़ियों, सामाजिक कुरीतियों और मूर्तिपूजा का विरोध बड़ा अच्छा लगा।

आर्यसमाज के सिद्धान्तों में पूर्व और पश्चिम का सुन्दर समन्वय था। पश्चिम की अच्छी बातों—बुद्धिवाद, उदारता, लोकतन्त्र और समानता के उत्कृष्ट तत्त्वों का अंगीकार तथा बाल-विवाहादि कुरीतियों का परित्याग था।[1] हिन्दू इसमें अपनी प्राचीन संस्कृति को छोड़े बिना पश्चिमी संस्कृति की अच्छी बातों का अनुसरण कर सकते थे और अपने देश के पुराने गौरव पर अभिमान कर सकते थे। इसकी ओर आकृष्ट होने वाले

१. प्रकाश टण्डन—पंजाबी सेंचुरी, लन्दन, १९६१, पृ० ३३

पंजाबियों के लिए यह धर्म-सुधार तथा समाज-संशोधन में अग्रणी था, अतः राष्ट्रीय क्षेत्र में उनके लिए आगे बढ़ना सर्वथा स्वाभाविक था। १८९३ ई० तक आपसी विवाद में उलझे रहने के कारण आर्यसमाजियों को राजनीति की ओर उन्मुख होने का अवसर और अवकाश नहीं था, किन्तु दोनों दलों के पृथक् हो जाने पर अब राजनीति में रुचि रखनेवाले आर्यसमाजी इस ओर अधिक ध्यान दे सकते थे। राजनैतिक कार्यों में भाग लेने का विरोध करने वाले लाला साईंदास जैसे पुराने नेता १८९३ ई० तक दिवंगत हो चुके थे। सर्वश्री लालचंद, ईश्वरदास, लाजपतराय जैसे नये नेता उभर रहे थे। डी. ए. वी. शिक्षा-संस्थाओं का प्रबन्ध करने से इन नेताओं को सार्वजनिक कार्यों का समुचित प्रशिक्षण मिल चुका था। उनमें पंजाब का नेतृत्व करने तथा जन-जागरण एवं राष्ट्रीय आन्दोलन चलाने की सामर्थ्य पंजाब में कांग्रेस के अन्य तत्कालीन नेताओं से अधिक थी। उन दिनों इस प्रान्त में कांग्रेस के नेता कुछ ब्राह्मसमाजी बंगाली तथा पंजाबी थे। इनमें उल्लेखनीय नाम थे—जे० सी० बोस, रुचिराम साहनी तथा दयालसिंह मजीठिया। इनका पंजाब के जनसाधारण पर कोई विशेष प्रभाव नहीं था, क्योंकि ये अंग्रेजी भाषा में ही अपने भाषण दिया करते थे, जिसे साधारण जनता समझने में सर्वथा असमर्थ थी, अतः ब्राह्मसमाज पंजाब के शिक्षित वर्ग में बहुत अधिक लोकप्रिय नहीं हो सका था।

(३) कांग्रेस-विरोधी राजनीति-विषयक पुरानी विचारधारा

१८९३ ई० से पहले कांग्रेस के आन्दोलन में आर्यसमाज के नेताओं द्वारा भाग न लेने का एक प्रधान कारण यह था कि उस समय के नेताओं में कांग्रेस के प्रति गहरा अविश्वास था। आर्यसमाजी नेता यद्यपि कट्टर देशभक्त थे, फिर भी वे कुछ कारणों से कांग्रेस को भारत की राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए उपयुक्त संस्था नहीं समझते थे। इस प्रकार के एक प्रमुख नेता रायबहादुर मूलराज थे। उनके विचारों का विस्तृत विश्लेषण तथा परिचय देते हुए लाला लाजपतराय ने लिखा है कि वे कांग्रेस के कट्टर विरोधी थे और उनके विरोध के प्रमुख कारण ये थे—(१) कांग्रेस की नींव कुछ अंग्रेजों ने डाली है। क्योंकि वे अपने देश से प्रेम रखते हैं, अतः यह सम्भव नहीं है कि कांग्रेस भारतवर्ष के लिए राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त कर सके। अंग्रेजों को भारत के शासन से महान् लाभ प्राप्त हैं, अतः यह सम्भव नहीं है कि वे सहर्ष भारत को स्वाधीन कर दें। वे इस बात से भयभीत हैं कि भारत का शिक्षित वर्ग इंग्लैण्ड के प्रभुत्व के विरुद्ध एक गहरा राजनैतिक आन्दोलन न संगठित कर ले। उन्होंने शिक्षित वर्ग के लिए कांग्रेस के रूप में एक ऐसा निर्दोष काम मुहैया कर दिया है जिससे वह व्याख्यानबाजी (गला फाड़ने) द्वारा वर्ष में दो-तीन दिन अपने-आपको सन्तुष्ट कर सकें और समाचार-पत्रों में उनकी प्रशंसा छप जाय। उन दिनों वे प्रत्येक अंग्रेज को भारत का शत्रु समझते थे। कांग्रेस को वह केवल निरर्थक ही नहीं मानते थे, वरन् भारत के कल्याण के प्रतिकूल समझते थे। उन दिनों वह जिसे आवश्यक समझते थे, वह कार्यक्रम यह था कि भारतवासी शिक्षा द्वारा, स्वदेशी के प्रचार द्वारा तथा विदेश से अस्त्र-शस्त्र गुप्त रूप से मँगवाकर अपने को बलवान् बनायें और उस समय की प्रतीक्षा करें जब वे बलवान् और समर्थ होकर अंग्रेजों को खदेड़ सकें।

(२) श्री मूलराज को हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य में कोई विश्वास नहीं था। उनका

यह मत था कि एकता के लिए किये गये प्रयत्न हिन्दुओं के लिए हानिकर सिद्ध होंगे। हिन्दुओं में आन्तरिक दृढ़ता, धार्मिक जोश तथा साम्प्रदायिक आत्मविश्वास का अभाव है और मुसलमानों में ये गुण अत्यधिक हैं। अतः एकता के प्रयत्नों से मुसलमानों को ही लाभ पहुँचेगा। इसके अतिरिक्त अफगानिस्तान, टर्की आदि में मुस्लिम प्रभुत्व है। अतः एकता के प्रयत्नों द्वारा मुसलमान राजनैतिक रूप से अधिक बलवान् तथा प्रभावशाली बन जायेंगे। उनके विचार में मुख्य आवश्यकता हिन्दुओं को बलशाली बनाने तथा संगठित करने की है जिससे राष्ट्रीयता के भाव उनमें पुष्ट किये जा सकें। उनकी यह मान्यता थी कि कांग्रेस आन्दोलन का परिणाम यह होगा कि हिन्दू संगठन या हिन्दू सुधार के कार्य में लगने वाली शक्ति एक निरर्थक कार्य में व्यय होने लगेगी।

(३) एक अन्य युक्ति यह थी कि राजनैतिक आन्दोलन के कारण अंग्रेज हिन्दुओं पर सन्देह करने लग जायेंगे और वे न केवल हिन्दुओं की उन्नति में रोड़े अटकायेंगे, प्रत्युत प्रत्येक उपाय से उन्हें हानि पहुँचायेंगे।

उस समय के अन्य प्रमुख आर्यसमाजी नेता साईंदास और बाद में पंजाब चीफ कोर्ट के जज बनने वाले लाला लालचन्द रायबहादुर मूलराज के विचारों से सहमत थे। ये तीनों सरकारी नौकर थे। स्वदेशी में दृढ़ आस्था रखते हुए भी कांग्रेस के विरोधी थे। लाला साईंदास और लाला मूलराज देशभक्ति की उत्कट भावना से ओतप्रोत थे। वे इस बात पर खेद प्रकट करते थे कि सर्वश्रेष्ठ शिक्षित भारतवासी विदेशी शासन को बलशाली बनाने का साधन बनते हैं। वे योग्यतम हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों को सरकारी नौकरी में प्रवेश करने से रोका करते थे। लाला साईंदास को इस बात को बड़ा दुःख था कि लार्ड रिपन की गाड़ी खींचकर काशी के पण्डितों ने हिन्दू धर्म को कलंकित किया है। उनके विचार में हिन्दुओं का सर्वोच्च कर्त्तव्य यह था कि वे अपने धार्मिक, समाज-सुधार तथा शिक्षा-सम्बन्धी मामलों में अंग्रेजों से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखें और उनसे धन, परामर्श व आदेश आदि किसी रूप में भी उनकी सहायता ग्रहण न करें। हिन्दू जो कुछ भी करना चाहें उन्हें अपने प्रयत्नों से करना चाहिए, स्वावलम्बी बनना चाहिए और अपने में आत्मविश्वास की भावना पैदा करनी चाहिए। कांग्रेस आदि संगठनों से उन्हें सर्वथा पृथक् रहना चाहिए।

इस प्रकार की विचारधारा प्रबल होने के कारण आरम्भ में आर्यसमाजियों ने कांग्रेस के राजनैतिक आन्दोलन में कोई भाग नहीं लिया। किन्तु १८९३ ई० के बाद कुछ ऐसी नयी परिस्थितियाँ उत्पन्न होने लगीं जिनसे आर्यसमाजी कांग्रेस में अधिकाधिक भाग लेने लगे। लाहौर में कांग्रेस का पहला अधिवेशन १८९३ ई० में हुआ था। इसमें आर्यसमाजियों ने पहली बार भाग लिया। बक्शी टेकचन्द्र के पिता बक्शी जैशीराम उस समय के आर्यसमाजियों में कांग्रेस के कट्टर समर्थक थे। वे इस अधिवेशन की स्वागत-समिति के मन्त्री और सरदार दयालसिंह मजीठिया अध्यक्ष थे। क्योंकि बक्शी जैशीराम लाहौर बार एसोसियेशन तथा आर्यसमाज के प्रमुख सदस्य एवं डी० ए० वी० कालिज दल के प्रमुख नेता थे, अतः उन्होंने अनेक आर्यसमाजियों को इसमें भाग लेने के लिए प्रेरित किया। वस्तुतः यह कांग्रेस बक्शी जैशीराम के निमन्त्रण तथा सुझाव पर ही लाहौर में बुलायी गयी थी। उनकी प्रेरणा से लाला लाजपतराय, हरकिशनलाल और ब्राह्मसमाजी नेता योगेशचन्द्र ने इसमें प्रमुख भाग लिया था। गुरुकुल पार्टी के लोग इस

अधिवेशन के लाहौर में किये जाने के और इसमें आर्यसमाजियों द्वारा भाग लेने के घोर विरोधी थे। लाला लाजपतराय ने अपनी आत्म-कथा में लिखा है कि "उन्होंने कुछ अधिकारियों को इस आशय के पत्र लिखे थे कि कालिज पार्टी अन्दर से ब्रिटिश शासन की विरोधी है और वह आर्यसमाज का प्रयोग राजनैतिक उद्देश्यों के लिए करती है।"[1]

इस अधिवेशन की आर्यसमाज की दृष्टि से दो विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं : पहली विशेषता यह थी कि श्री रायबहादुर मूलराज यद्यपि कांग्रेस के कट्टर विरोधी और सरकारी नौकरी में थे, फिर भी उन्होंने इसमें प्रमुख भाग लिया। सरकारी कर्मचारी होने के कारण वे इसके प्रतिनिधि नहीं बन सकते थे। किन्तु उन्होंने इसकी विषय-समिति की बैठकों में तथा अन्य समारोहों में अनौपचारिक रूप से भाग लिया और इस बात पर बल दिया कि कांग्रेस को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए यह अतीव आवश्यक है कि इसका एक संविधान बनाया जाय। दूसरी विशेषता लाला लाजपतराय द्वारा इस सम्मेलन में भाग लेना और दो-तीन भाषण देना था। उन्होंने शिक्षा-सम्बन्धी प्रस्ताव पर बोलते हुए इस बात पर बल दिया कि देश में तकनीकी शिक्षा के विकास पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए, ताकि यहाँ उद्योग-धन्धों का विकास हो सके और देश की सम्पत्ति में वृद्धि हो।

(४) आर्यसमाजियों द्वारा कांग्रेस में भाग लेने के कारण

लाहौर में कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन १९०० ईसवी में हुआ। इस समय तक पंजाब में कुछ ऐसी नई परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयी थीं कि आर्यसमाजियों ने इसमें बड़े उत्साह से भाग लिया। इसका पहला कारण सरकार द्वारा भूमि-हस्तान्तरण के कानून (Land Alienation Act) का बनाया जाना था। उस समय पंजाब में नहरों के विकास से सिंचाई की सुविधायें बढ़ जाने तथा अन्य आर्थिक एवं कृषि-सम्बन्धी परिवर्तनों के कारण भूमि का मूल्य बड़ी तेजी से बढ़ने लगा था और इसके आधार पर भूमि पर स्वामित्व रखने वाले किसान ऋण प्राप्त कर सकते थे। उन दिनों पश्चिमी पंजाब में खेती करने वाले किसान अधिकतर मुसलमान थे और इन्हें प्रायः खेती-सम्बन्धी कार्यों के लिए सम्पन्न हिन्दू साहूकारों से ऋण लेना पड़ता था। अंग्रेजों द्वारा की गयी नवीन कानूनी व्यवस्था से साहूकार लाभ उठाने लगे। वे किसानों को उनकी जमीन गिरवी रखकर कर्ज दिया करते थे और ऋण अदा न किये जाने की दशा में कानूनी अनुबन्ध-पत्रों के आधार पर अदालत की सहायता से किसानों की जमीन प्राप्त कर लेते थे। इससे पिछली शताब्दी के अन्तिम चरण में मुस्लिम किसानों की भूमि बड़े पैमाने पर हिन्दू खत्रियों, अरोड़ों, बनियों के हाथ में आने लगी। इस पर सरकारी अधिकारी चिन्तित होने लगे। उनको यह डर था कि इस प्रकार अपनी पैतृक भूमि से बेदखल किये जाने वाले असन्तुष्ट किसान ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध विद्रोह कर सकते हैं। उन दिनों ब्रिटिश शासक अपने को निर्धन किसानों का पिता की तरह से पालन और संरक्षण करने वाला माई-बाप समझते थे। उन्होंने किसानों की जमीनों की बेदखली को रोकने के लिए कानून बनाने का निश्चय किया। २७ सितम्बर १८९९ ई० को लेफ्टीनेंट गवर्नर चार्ल्स रिवाज ने शाही

---

१. विजयचन्द्र जोशी—लाजपतराय : आटोबायोग्राफिकल रायटिंग्स, पृष्ठ ८९

धारा सभा में पंजाब भूमि हस्तान्तरण के बिल को प्रस्तुत किया।[1]

यह बिल पिछले आठ-दस वर्ष तक अधिकारियों में गम्भीर विचार-विमर्श के बाद किसानों की जमीनों को साहूकारों के हाथ में जाने से रोकने के लिए बनाया गया था। इसमें पंजाबियों को कृषक और कृषकेतर जातियों में बाँट दिया गया था। इन जातियों की सूची इस बिल में लगा दी गयी थी और यह व्यवस्था की गयी थी कि कोई कृषकेतर जाति का व्यक्ति किसान जाति वाले की भूमि को नहीं खरीद सकता। कृषकेतर जातियाँ खत्री, अरोड़ा और बनिया आदि वही सामाजिक वर्ग थे जिनमें आर्यसमाज लोकप्रिय था। इससे उनके आर्थिक हितों को गहरी चोट पहुँचती थी। अब वे किसानों की जमीनों को खरीदकर जमींदार नहीं बन सकते थे और न ही पहले की भाँति अपने पैसों को इसमें लगाकर लाभ कमा सकते थे। अतः इस कानून से पंजाबी हिन्दू और आर्यसमाजी बड़े रुष्ट और भयभीत हुए। उन्होंने इसे हिन्दुओं को हानि पहुँचाने वाली और उनके साथ अनुचित भेदभाव करने वाली नीति समझा और इसका उग्र विरोध करने का निर्णय किया।

दुर्भाग्यवश इसी समय शिक्षा का प्रसार होने से और शिक्षितों की संख्या बढ़ने से सरकारी नौकरियों के लिए होड़ अधिक तीव्र हो गयी थी। मुसलमान अपनी संख्या के अनुपात में अधिक नौकरियों की माँग करने लगे थे। लेफ्टीनेंट गवर्नर जेम्स लायल (१८८७-१८९२) के समय से ब्रिटिश सरकार ने सरकारी नौकरियों में मुस्लिम पक्षपाती नीति का श्रीगणेश किया। हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों की अधिक भर्ती की जाने लगी, क्योंकि वे इस समय सरकारी सेवा में शिक्षित हिन्दुओं की संख्या और प्रभुत्व को अधिक नहीं बढ़ने देना चाहते थे और दोनों धार्मिक सम्प्रदायों में सन्तुलन बनाये रखना चाहते थे। यद्यपि शुरू में इस नीति को गुप्त रखा गया, केवल यूरोपियन अधिकारी को ही इसका पालन करने के लिए बताया गया, किन्तु लायल के अवकाश ग्रहण करने के कुछ वर्षों के भीतर यह रहस्य खुल गया। 'ट्रिब्यून' में यह प्रकाशित हुआ कि अब सरकार के प्रत्येक विभाग में इस गुप्त नीति का अनुसरण किया जा रहा है कि मुसलमानों की नियुक्ति अधिक संख्या में की जाय और हिन्दुओं की संख्या को घटाया जाय। इन्हीं दिनों सरकारी अधिकारियों द्वारा मुसलमानों के साथ नौकरियों में भेदभाव और पक्षपात करने के अनेक समाचार छपने लगे और इससे अबतक सरकारी नौकरियों से लाभ उठाने वाले हिन्दुओं को अपना भविष्य अन्धकारमय प्रतीत होने

तीसरा कारण

की गयी थी। जब १८९५ में भारतीय सरकार ने भारत की कपड़ा मिलों द्वारा बनाये जाने वाले सूती वस्त्रों पर निर्माण-कर लगाया तो पंजाब के आर्यों ने स्वदेशी के दृष्टि-कोण से इसका घोर विरोध किया। उनके विचार में इसका उद्देश्य उस समय शैशव दशा में विद्यमान भारत के सूती उद्योग को हानि पहुँचाना था। इस विषय में आन्दोलन करने के लिए उन्होंने स्वदेशी एसोसियेशनों की स्थापना की। इसमें यह प्रतिज्ञा ली जाती थी कि इसके सदस्य केवल देशी वस्त्र ही पहनेंगे और इस समय आर्यसमाजियों ने छोटे-छोटे उद्योग-धन्धे भी स्थापित करने शुरू किये (ट्रिब्यून, १९ फरवरी १८९५; १ जनवरी १८९६ तथा लालचन्द्र—एन एस्से आन दी डिक्लाइन आफ नेटिव इंडस्ट्रीज़, बेरियर द्वारा उद्धृत)। सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी लालचन्द्र इस स्वदेशी आन्दोलन के नेता थे और इस विषय में उन्होंने १५ दिसम्बर १८९५ को होशियारपुर में प्रान्तीय सम्मेलन की अध्यक्षता सफलतापूर्वक की थी और इसमें ईश्वरदास और द्वारकादास जैसे प्रमुख आर्यसमाजियों ने स्वदेशी उद्योग-धन्धों के विकास पर भाषण दिये थे। १८९६ तथा १८९८ में भी इसी प्रकार के सम्मेलन किये गये। जब १८९९ में पंजाब-भूमि-हस्तांतरण क़ानून बना तो आर्य-समाजियों ने इसके विरोध में आन्दोलन चलाया और कांग्रेस की इस विषय में सहायता पाने के लिए इसके कामों में अधिक गहरी दिलचस्पी ली। इस बिल के प्रति पूरे भारत के विरोध को प्रबल रूप से अभिव्यक्त करने की दृष्टि से सुप्रसिद्ध आर्य कांग्रेसी नेता जैशीराम और ब्राह्मसमाजी उद्योगपति हरकिशनलाल ने १८९९ में अगले वर्ष की कांग्रेस लाहौर में बुलाने का निमन्त्रण दिया।

इस अधिवेशन की तैयारी के समय कुछ पुराने कांग्रेसियों की बीमारी और अकाल मृत्यु के बाद कार्यकर्ताओं की बड़ी कमी अनुभव की गयी। इस समय नवीन कांग्रेसी कार्यकर्ताओं की अधिवेशन को सफल बनाने के लिए बड़ी आवश्यकता थी। जैशी-राम ने इन कार्यकर्ताओं को प्राप्त करने के लिए अपने आर्य बन्धुओं से प्रार्थना की और लाला लालचन्द, लाला लाजपतराय तथा अन्य अनेक प्रमुख आर्यसमाजी नेताओं ने इस कांग्रेस की स्वागत समिति में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया।

(५) लाहौर कांग्रेस का अधिवेशन (१९००)

यह आर्यसमाजियों के सहयोग से बड़ी धूमधाम, सफलता और उत्साह के साथ [illegible] प्रतिनिधियों में ४२१ पंजाबी प्रतिनिधि थे।[1] [illegible] में पहले कभी पंजाबियों

लाल, द्वारकादास, लालचन्द और लाजपतराय थे।

र ने कांग्रेस की वार्षिक रिपोर्टों, ट्रिब्यून तथा पंजाब के कांग्रेसियों

न के बाद कांग्रेस के प्रतिनिधियों में आर्यसमाजियों की जो संख्या

म्नलिखित तालिकाओं में प्रदर्शित है—

तालिका सं० १

स अधिवेशनों में आर्यसमाजी प्रतिनिधि

के कुल प्रतिनिधियों की संख्या	इनमें आर्यसमाजियों की संख्या	प्रतिशत
२६	१०	३९%
११	१५१	३६%
०	१०	३०%
	९	५०%
	५१	४९%
	६५	४७%

ालिका नं० २

-समिति में पंजाब के प्रतिनिधियों में

जियों की संख्या

	ध	आर्यसमाजियों की संख्या	प्रतिशत
	४६	२५	५४%
००	५	३	६०%
१९०५	२९	१८	६२%
१९०६	३२	२०	६३%

(स्रोत—नार्मन बैरियर—दि आर्यसमाज एण्ड कांग्रेस पालिटिक्स इन दि पंजाब)

यह उल्लेखनीय है कि १९०० ई० की कांग्रेस में विषय-समिति की बैठक में आर्यसमाजियों का पूरा नियन्त्रण था और अब उन्होंने चिरकाल से सँजोये हुए अपने विचारों को कांग्रेस के माध्यम से मूर्त्त रूप देना चाहा। लाला लाजपतराय और हरकिशनलाल ने यह प्रस्ताव रखा कि कांग्रेस अपने प्रत्येक अधिवेशन में आधा दिन शिक्षा और उद्योग के विषयों की चर्चा करने के लिए सुरक्षित रखे। उन दिनों कांग्रेस पर बंगालियों और बम्बईवासियों का अधिकार था। बंगालियों ने इस पर आपत्ति उठाई, किन्तु विषय-समिति ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और इसके लिए दो नयी समितियाँ बनाई गईं : पहली शिक्षा के लिए और दूसरी उद्योग-धन्धों के लिए। इनका प्रधान कार्य ऐसे सुझाव देना था जिनसे देश इन दोनों क्षेत्रों में शीघ्रातिशीघ्र उन्नति कर सके। लाला हरकिशनलाल को इन समितियों को सचिव बनाया गया।

इस समय आर्यसमाज के पंजाबी प्रतिनिधि कांग्रेस में एक बड़ा मौलिक परिवर्तन और सुधार चाहते थे—यह था कांग्रेस का संविधान बनाना। यह बात आर्यसमाज जैसी संस्था वालों को बड़ी आश्चर्यजनक प्रतीत होती थी कि उस समय तक कांग्रेस का कोई

स्वदेशी का प्रचार करते थे। महात्मा हंसराज ने तो आरम्भिक जीवन में ही स्वदेशी का व्रत ले लिया था। आर्यसमाज के अधिकांश प्रमुख व्यक्तियों ने बंगाल तथा महाराष्ट्र के स्वदेशी आन्दोलन के जन्म से बहुत दिन पहले स्वदेशी का प्रचार प्रारम्भ कर दिया था। स्वदेशी उद्योग-धन्धों को विकसित करने के लिए प्रमुख आर्यसमाजियों के सहयोग से १८९५ ई० में पंजाब नैशनल बैंक की और उसके बाद भारत इन्शोरेंस कम्पनी की स्थापना

आर्यसमाजियों के स्वदेशी और औद्योगिक उन्नति के विचार थे। ...लगा। ...ह है कि उस समय के प्रमुख आर्यसमाजी नेता स्वदेशी में इतने ...प्रमुख आर्यसमाजी कपड़े ही पहनते थे और १८८१ में भी

आर्यधर्म, पृ० १८२-८३

निश्चित संविधान नहीं बना हुआ था। शायद इसका यह कारण था कि इसके उद्देश्य गोल-मोल रहें और इसमें अधिक-से-अधिक भारतीयों को सम्मिलित किया जा सके। कांग्रेस का सुचारु रूप से कार्य-संचालन करने और साल-भर नियमित रूप से इसके विभिन्न कार्यक्रम चलाने की कोई वैधानिक व्यवस्था नहीं थी। उस समय तक यह हर साल दिसम्बर मास के अन्त में बड़े दिनों की छुट्टियों में होने वाला अंग्रेजी पढ़े-लिखे वकीलों, अध्यापकों तथा अन्य व्यावसायिक वर्गों का एक तमाशा-सा होता था। वर्ष-भर यह कांग्रेस कुम्भ-कर्णी नींद में सोयी रहती थी, केवल तीन दिन जागकर शब्दाडम्बरपूर्ण लच्छेदार बढ़िया अंग्रेजी में उच्चकोटि की भाषण-कला का प्रदर्शन करने वालों का एक सभामंच बन जाती थी। ब्रिटिश सरकार से शासन में कुछ सुधार करने के लिए प्रस्ताव पारित करके इसकी इतिश्री हो जाती थी। कांग्रेस की क्रियाशीलता साल-भर में केवल इन्हीं तीन-चार दिनों में दिखाई देती थी।

आर्यसमाजियों ने स्वामी दयानन्द से निरन्तर उद्योग, अनवरत पुरुषार्थ और कर्मठता का पाठ पढ़ा था। वे अपनी शिक्षा-संस्थाओं, गुरुकुलों और वैदिक धर्म के प्रचार के लिए साल-भर निरन्तर प्रयास करते रहते थे। उनका यह विश्वास था कि राष्ट्रीय महासभा का भी संविधान इस प्रकार का बनाया जाना चाहिए कि यह अपने निर्धारित उद्देश्य की पूर्ति के लिए लगातार काम करती रहे। कांग्रेस के इन दोषों को स्पष्ट करते हुए लाला लाजपतराय के एक जीवनी लेखक ने लिखा है कि—"कांग्रेस अभी पुराने ढर्रे पर ही चली जा रही थी। अभी तक इसमें अधिकारों की प्राप्ति के लिए संग्राम की प्रवृत्ति नहीं पैदा हुई थी और वह किसी प्रकार का रचनात्मक कार्य भी नहीं करती थी। वह एक वार्षिक मेला अवश्य लगा देती थी और उसके वक्ता शानदार भाषण झाड़ दिया करते थे। उनका मुख्य उद्देश्य वर्ष-भर के दुखड़ों तथा शिकायतों को प्रकट करना होता था। अपने सार्वजनिक कार्यों में सुव्यवस्था और सुसंगठन का आदी होने के कारण आर्यसमाजियों को कांग्रेस के ये रंग-ढंग जरा भी पसन्द नहीं थे।...वे वर्ष-भर इसे निरन्तर कार्य करने वाली संस्था बनाना चाहते थे।"[1]

लाहौर अधिवेशन में उपर्युक्त कारणों से आर्यसमाजी प्रतिनिधियों ने इस प्रश्न को बड़ी उग्रता के साथ उठाया। किन्तु इस समय कांग्रेस का नेतृत्व बम्बई और बंगाल के ऐसे राजनीतिज्ञों के हाथ में था जो कांग्रेस के लिए संविधान बनाना सर्वथा अनावश्यक समझते थे और इसके वर्तमान स्वरूप को ही बनाये रखना चाहते थे। वे सभी राज-नीतिज्ञ अतीव व्यस्त वकील, पत्रकार और अन्य धंधों में लगे व्यक्ति थे। कांग्रेस के कामों के लिए साल-भर समय निकाल सकना उनके लिए सम्भव नहीं था। उस समय राष्ट्रीय महासभा उनके वाग्विलास एवं भाषण-पटुता के प्रदर्शन का मंच और मनोरंजन का क्लब बना हुआ था। उस समय ऐसे राजनीतिज्ञों का कांग्रेस पर प्रभुत्व था। उनको यह आशंका थी कि यदि इसका कोई संविधान बना दिया गया, इसमें कर्मठ पंजाबियों का प्रवेश हो गया तो वे उनके वर्चस्व को चुनौती देने लगेंगे। नार्मन बैरियर के शब्दों में "इस प्रकार विधान बनाये जाने से शक्ति का वह एकाधिकार समाप्त हो जाता जो इस समय कांग्रेस पर बंगाल और बम्बई के प्रमुख राजनीतिज्ञों ने स्थापित किया हुआ था। इससे पंजाब

१. अलगूराय शास्त्री—लाला लाजपतराय, पृ० १०४

को कांग्रेस के मामले में लगातार आवाज उठाने का अवसर मिल जाता।"

यद्यपि लाहौर कांग्रेस में पंजाबी प्रतिनिधियों का प्रबल बहुमत था, वे अन्य प्रांतों से आये प्रतिनिधियों की तुलना में पौने तीन सौ से अधिक थे, फिर भी वे कांग्रेस की राजनीति में नौसिखिया थे। उन्हें कांग्रेस के महारथियों की बात लाचार होकर माननी पड़ी और संविधान के प्रस्ताव को टाल दिया गया। फिर भी विषय-समिति ने पंजाबियों को सन्तुष्ट रखने के लिए बड़ी अनिच्छा से यह प्रस्ताव स्वीकार किया कि भारतीय राष्ट्रीय महासभा में पंजाबियों को अधिक संख्या में सीटें दी जायें। अब तक इसमें पंजाब के प्रतिनिधियों की संख्या ४ थी, अब इसे बढ़ाकर ६ कर दिया गया और बम्बई, मद्रास तथा बंगाल के प्रतिनिधियों की संख्या ८ से घटाकर ७ कर दी गयी।

यद्यपि लाहौर के अधिवेशन से आर्यसमाजियों की आशाएँ और आकांक्षाएँ पूरी नहीं हुईं, फिर भी उन्हें इस बात से बड़ी प्रसन्नता थी कि कांग्रेस ने पंजाब के प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ा दी है, उसे संगठन में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है, आर्थिक और शिक्षा-सम्बन्धी हितों के लिए और स्वावलम्बन के प्रस्तावों पर विचार करने के लिए समितियाँ बना दी हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य समितियों में भी पंजाब के लाला लाजपतराय जैसे व्यक्तियों को लिया गया और उनकी बातों को ध्यान से सुना गया।[1] आर्य बन्धुओं तथा शिक्षित पंजाबियों को इस बात पर गर्व था कि इस अधिवेशन के दौरान कुछ दिनों तक वे राष्ट्रीय स्तर के कांग्रेसी नेताओं के घनिष्ठ सम्पर्क में आते रहे थे। लाहौर कांग्रेस के अधिवेशन से कुछ समय पहले इसे पंजाब में बुलाने वाले प्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता जैशीराम की मृत्यु हो गयी थी। फिर भी उनके आर्यसमाजी मित्रों के सहयोग से यह अधिवेशन सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ।

इस समय आर्यसमाजियों ने इस बात पर बल दिया कि प्रतिवर्ष कांग्रेस अधिवेशन के लिए विशाल पण्डाल बनाने पर जो धनराशि बरबाद की जाती है, उससे लाहौर में सार्वजनिक सभाओं के लिए एक स्थायी सभा भवन बना लिया जाय। लाला लालचन्द तथा उनके आर्यसमाजी मित्रों ने इस भवन को बनाने के लिए धन-संग्रह करने का बीड़ा उठाया और शीघ्र ही आवश्यक राशि एकत्र कर कांग्रेस अधिवेशन के लिए एक विशाल भवन तैयार कर लिया गया। यह विशुद्ध रूप से आर्यसमाजियों की सूझ थी। इस भवन का नाम उन दिनों ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में प्रस्तुत करने के लिए भारत के शासन-सुधारों की योजना बनाने वाले एक ब्रिटिश सांसद चार्ल्स ब्रैडला के नाम पर 'ब्रैडला हॉल' रखा गया। सम्भवतः यह उत्तर भारत का पहला विशाल व्याख्यान भवन था। उस समय यद्यपि आर्यसमाजियों को एक अंग्रेज के नाम पर हॉल का नाम रखा जाना पसन्द नहीं था, उन्होंने इसका विरोध भी किया, किन्तु कांग्रेस के महारथियों ने उनकी यह बात नहीं मानी।

लाहौर कांग्रेस से पंजाबियों में उत्पन्न हुआ उत्साह देर तक नहीं बना रह सका। आर्यसमाजी प्रतिनिधियों तथा इसके मन्त्री हरकिशनलाल में कांग्रेस के अधिवेशन के हिसाब-किताब के बारे में मतभेद उत्पन्न हो गया। आर्यसमाजी संस्थाओं में शुरू से ही

---

१. १९०० ई० की कांग्रेस की रिपोर्ट, लाहौर, १९०१, पृ० ए-एच, ७९ तथा ट्रिब्यून १९ जनवरी १९०१ ई०

यह परम्परा डाली गयी थी कि चंदे से प्राप्त धनराशि का अधिकतम सदुपयोग किया जाय, उसका विस्तृत हिसाब-किताब रखा जाय और उसकी लेखा-परीक्षा करायी जाय। अर्थ-शुचिता की दृष्टि से सार्वजनिक जीवन में आर्यसमाज को आदर्श समझा जाता था। अपनी इस प्रकृति के कारण आर्यसमाजी लाहौर के कांग्रेस अधिवेशन के लिए एकत्र की गयी धनराशि के आय-व्यय का पूरा विवरण माँगते थे और स्वागत-समिति के सचिव लाला हरकिशनलाल उसे देने को तैयार नहीं थे। अतः कांग्रेस के लिए भवन-निर्माण पर लगायी गयी तथा अधिवेशन पर व्यय की गयी राशि के बारे में मतभेदों का उत्पन्न होना सर्वथा स्वाभाविक था। यदि बक्शी जैशीराम जीवित होते तो शायद यह समस्या सुलझ जाती। किन्तु अब यह निरन्तर उलझती चली गयी और लाहौर कांग्रेस की स्वागत समिति के अध्यक्ष बाबू काली प्रसन्न रे ने भी इस झगड़े में आर्यसमाजियों का साथ दिया। वे प्रायः आर्यसमाजियों की तथाकथित संकीर्ण साम्प्रदायिक मनोवृत्ति की निन्दा किया करते थे, किन्तु इस विषय में उनका यह पूरा विश्वास था कि कांग्रेस के हिसाब-किताब में बड़ी अनियमितताएँ हैं। इन विवादों को बिना सुलझाए हुए बाबू काली प्रसन्न कलकत्ता चले गये और आर्यसमाजी इन बातों से खिन्न होकर कांग्रेस से उदासीन होने लगे।

इस स्थिति का चित्रण करते हुए लाला लाजपतराय ने लिखा है कि—"१९०० ईसवी के कांग्रेस अधिवेशन के पश्चात् पंजाब में राजनैतिक जीवन का सर्वथा लोप हो गया। उससे पहले भी उसका अस्तित्व नाममात्र था। परन्तु जब तक योगेन्द्रचन्द्र बसु लाहौर रहे और जब तक बक्शी जैशीराम जीवित रहे, इण्डियन एसोसियेशन तथा पंजाब कांग्रेस कमेटी किसी-न-किसी प्रकार काम करती रही। यह कार्य भी कोई अधिक महत्त्व-पूर्ण नहीं था, परन्तु भारत के अन्य प्रान्तों में जो कुछ होता था उसी की प्रतिमूर्ति यहाँ भी दिखलाई पड़ती थी। जब कभी नया लेफ्टीनैण्ट गवर्नर आता था, इण्डियन एसो-सियेशन उसके स्वागतार्थ उसे मानपत्र पेश करने को उद्यत रहता। परन्तु बक्शी जैशीराम की मृत्यु के पश्चात् इण्डियन एसोसियेशन तथा पंजाब की कांग्रेस कमेटी सो गयी। कांग्रेस की नीति से मतभेद के कारण तथा हरकिशनलाल से न पटने के कारण आर्यसमाजी उदासीन हो गये। १९०० ई० के कांग्रेस अधिवेशन के हिसाब-किताब के झगड़ों का फैसला होने में ही नहीं आता था। जब कभी सभा होती, वही विवाद छिड़ जाता। अन्त में लाला हरकिशनलाल ने सभा बुलाना ही बन्द कर दिया···इण्डियन एसोसियेशन पहले ही कुम्भ-कर्णी नींद में था। पंजाब में राजनैतिक जीवन का दीप बुझ-सा गया।"[1]

१९०० ई० की लाहौर कांग्रेस में आर्यसमाजियों ने राष्ट्रीय महासभा का विधान बनाने में जो उत्साह दिखाया था और शिक्षा एवं उद्योग विषयक कार्यक्रम तैयार करने के लिए जो समितियाँ बनायी थीं, उससे कांग्रेस के महारथी अप्रसन्न थे और उन्होंने १९०१ ई० का कांग्रेस अधिवेशन पंजाब से बहुत दूर कलकत्ता में बुलाया। इसमें नियम-अनुसार पिछले अधिवेशन में बनायी गयी समितियों के सुझावों और प्रस्तावों की रिपोर्टों पर विचार किया जाना था। पिछले अधिवेशन के निर्णय के अनुसार शिक्षा एवं उद्योग-सम्बन्धी विषयों पर विचार के लिए आधा दिन रखा जाना चाहिए था, किन्तु कलकत्ता की विषय-समिति ने इसे नहीं माना और इन समितियों की रिपोर्टों पर चर्चा

---

१. अलगूराय शास्त्री, वही पुस्तक, पृष्ठ ९९-१००

करने की अनुमति नहीं दी। १९०१ ई० की कांग्रेस की विषय-समिति में बंगाली प्रतिनिधियों का बहुमत था और उनका यह विचार था कि कांग्रेस को शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं एवं औद्योगिक विकास के पचड़ों में नहीं पड़ना चाहिए, अतः इन दो विषयों पर चर्चा करने के लिए पृथक् रूप से समय देने की कोई आवश्यकता नहीं है। फिर भी इस कांग्रेस ने इस विषय पर ऐसी एक समिति बनाने का निर्णय किया जो अगले अधिवेशन में इस बात पर रिपोर्ट दे कि क्या उद्योगों के विकास के प्रस्ताव के बारे में कांग्रेस अधिवेशन में कोई चर्चा की जानी चाहिए ? इस प्रकार इस विषय को अगले अधिवेशन पर टाल दिया गया।

कलकत्ता कांग्रेस के निर्णय से पंजाब के आर्यसमाजियों को बड़ी निराशा हुई। पुराने पंजाबी कांग्रेसियों ने तो इसे अनिच्छापूर्वक स्वीकार कर लिया, किन्तु लाला लाजपतराय जैसे नये पीढ़ी के नेताओं ने कांग्रेस की डटकर आलोचना करनी शुरू की। उन्होंने कांग्रेस पर यह आरोप लगाया कि यह संस्था लोकतन्त्रीय विधि-विधानों की प्रक्रियाओं में और भारत की समस्याओं में कोई दिलचस्पी नहीं रखती है। उन्होंने कांग्रेस-नेताओं पर आक्षेप करने वाले लेख भी लिखे और समाचार-पत्रों में कांग्रेस की निष्क्रियता पर पत्र भी प्रकाशित किये।[1] १९०१ ई० के अधिवेशन में अपने लाहौर अधिवेशन के प्रस्तावों को, विशेष रूप से संविधान वाले प्रस्ताव को रद्द होते देखकर पंजाबी प्रतिनिधियों में इतना रोष उत्पन्न हुआ कि उन्होंने कांग्रेस अधिवेशन से उठकर बाहर चले आने की धमकी दी। इस समय बड़ी कठिनाई से कांग्रेस के सचिव वाचा ने उन्हें यह आश्वासन देकर सन्तुष्ट किया कि अगले साल वे अध्यक्ष का चुनाव करेंगे और कांग्रेस में लोकतन्त्रीय पद्धति और प्रक्रिया को अपनाया जायेगा।

इस आश्वासन के वावजूद स्थिति वैसी ही बनी रही और सचिव ने १९०२ ई० के लिए श्री सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी को सभापति नियुक्त कर दिया। इस पर पंजाब के आर्यसमाजी प्रतिनिधियों ने आरोप लगाया कि कांग्रेस एक राष्ट्रीय संगठन नहीं है, अपितु एक विशेष गुट के हाथ के कठपुतली बन गयी है। पंजाबियों ने अपना प्रतिवाद प्रदर्शित करने के लिए १९०२ की अहमदाबाद कांग्रेस में अपना एक भी प्रतिनिधि नहीं भेजा। इस समय कांग्रेस की राजनीति में पंजाबियों की दिलचस्पी कितनी कम हो रही थी—यह इससे स्पष्ट है कि १९०१ ई० में तीस प्रतिनिधि भेजने के बाद १९०२ ई० में उन्होंने एक भी प्रतिनिधि नहीं भेजा और १९०३ में केवल ५ प्रतिनिधि भेजे। आर्यसमाजियों को इस कांग्रेस से कितनी निराशा थी, यह महात्मा मुंशीराम के २५ अक्तूबर १९०१ ई० के **सद्धर्म प्रचारक** में लिखे गये इस लेख से स्पष्ट है कि—"जब राष्ट्रीय कांग्रेस का समर्थन ह्यूम तथा कुछ अन्य अंग्रेज कर रहे थे तो यह एक जीवित-जागृत आन्दोलन था। किन्तु भारतीयों के हाथ में पड़कर इसकी दुर्दशा हो गयी है और शिक्षित भारतीय अब इसके वार्षिक अधिवेशनों में केवल आनन्द मनाने के लिए ही एकत्र होते हैं।"[2]

---

१. ट्रिब्यून, २३ अप्रैल १९०२

२. सिलेक्शन्स फ्राम पंजाब वर्नाकुलर पेपर्स, पृ० ७१८

(६) जापान की विजय के प्रभाव

पंजाब के आर्यसमाजियों की कांग्रेस के प्रति यह उदासीनता १९०४ ईसवी तक बनी रही। किन्तु इस वर्ष कई घटनाओं के कारण फिर से कांग्रेस के कार्यक्रम में दिलचस्पी ली जाने लगी। पहली घटना १९०४ ईसवी के आरम्भ में लार्ड कर्जन द्वारा शिक्षा पर सरकारी नियन्त्रण बढ़ाने की नीति थी। उन दिनों सरकार शिक्षा-संस्थाओं को विश्व-विद्यालयों से सम्बद्ध करने के बारे में नये कठोर कानून बना रही थी। बंगाल में इस नीति के कारण कुछ स्कूल बन्द हो गये थे और नये स्कूल खोलने की प्रवृत्ति को निरुत्साहित किया जा रहा था। पंजाब में आर्यसमाज की डी० ए० वी० संस्थाओं का विशाल जाल फैला हुआ था, उस पर इस नयी नीति का प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। अतः पंजाबी बंधु शिक्षा-संस्थाओं पर बढ़ते हुए सरकारी नियन्त्रण और स्वतन्त्र रूप से चलायी जाने वाली शिक्षा-संस्थाओं के प्रति सरकार की विरोधी नीति से बड़े चिन्तित थे।[1]

इसी बीच में रूस-जापान के युद्ध में जापान के विजय की खबरें आने लगीं। रूस यूरोप का विशाल देश था और जापान उसकी तुलना में एशिया का छोटा-सा पिद्दी देश, किन्तु जुलाई १९०४ ई० तक मास्को पर टोकियो की विजयके समाचारों ने भारतीयों को न केवल स्तब्ध अपितु आश्चर्यचकित कर दिया। वे अब तक गौरांग जातियों को अजेय समझते थे। अंग्रेज इसी रोब के कारण मुट्ठी-भर ब्रिटिश कर्मचारियों और सेना के साथ भारत पर शासन कर रहे थे। अब एक पीली जाति ने समूचे एशिया में पश्चिम की इस धाक को और गौर वर्ण की अजेयता के विचार को गहरा धक्का पहुँचाया। भारतीयों में स्वतन्त्रता की सम्भावना की आशा उत्पन्न हुई। पंजाब की राजनीति पर और भारतीयों पर इसका बड़ा चमत्कारपूर्ण प्रभाव पड़ा। वे यह सोचने लगे कि हम यदि जापानियों की भाँति अपने देश में उद्योग-धन्धे स्थापित करते हैं और उनकी देश-भक्ति और स्वावलम्बन का अनुसरण करते हैं तो हम भी ब्रिटिश शासन और शक्ति का उसी प्रकार मानमर्दन कर सकते हैं जैसे जापानियों ने रूसी भालू को पराजित किया है। उस समय भारत में जापान को विश्व का सर्वोत्तम आदर्श और अनुकरणीय देश समझा जाने लगा। आर्य बन्धुओं ने जापान की सहानुभूति में सभाएँ करनी शुरू कीं। भारतीय पत्रों में इस बात पर लेख प्रकाशित होने लगे कि जापान की उन्नति का क्या रहस्य है।[2] आर्यसमाज ने डी० ए० वी० कालिज में जापानी भाषा के पाठ्यक्रम को शुरू किया। इसका यह उद्देश्य था कि भारतीय छात्र जापानी भाषा का अध्ययन करें, वहाँ जायें और वहाँ रह-कर उद्योग-धन्धों और कलाओं का प्रशिक्षण प्राप्त करें, और लौटकर भारत में नये उद्योगों की स्थापना करें। इस उद्देश्य से कुछ विद्यार्थी जापान भी भेजे गये।[3] देश के अन्य भागों के समान पंजाब में भी देश-भक्ति की भावना उत्कट हुई। आर्यसमाज ने राजनीति में स्वावलंबन के पुराने सिद्धान्त में नयी दिलचस्पी लेनी शुरू की। राष्ट्रीय महासभा

---

१. ट्रिब्यून, २४ नवम्बर १९०४ ई०

२. ट्रिब्यून, १५ जुलाई १९०४, दीनानाथ--जापान की उन्नति का राज (लाहौर १९०५)

३. नार्मन जी० बैरियर—पूर्वोक्त लेख

की इस बात के लिए पुनः आलोचना की जाने लगी कि वह शिक्षा और उद्योग-धन्धों की ओर ध्यान क्यों नहीं देती है। एक पत्र **'वकील'** ने कांग्रेस को यह सलाह दी कि उसे राजनीति को छोड़कर व्यापार तथा उद्योग के विकास का प्रयास करना चाहिए। किन्तु कांग्रेस इन समस्याओं की ओर कोई ध्यान देने को तैयार नहीं थी, इसलिए महात्मा मुंशीराम ने **सद्धर्म प्रचारक** के ७ अक्तूबर १९०४ ई० के अंक में यह लिखा था कि "कांग्रेस अब केवल एक ऐसा कागजी घोड़ा है जिसे प्रतिवर्ष क्रिसमस की छुट्टियों में आठ दिन दौड़ाया जाता है।"

इस समय पंजाब का एकमात्र प्रमुख अंग्रेजी पत्र 'ट्रिब्यून' आर्यसमाज के कट्टर विरोधी लाला हरकिशनलाल की उँगली के इशारे पर नाच रहा था। उसकी नीति कांग्रेस का कट्टर समर्थन करने की थी जो आर्यसमाजियों को देशहित के लिए उपयोगी नहीं प्रतीत होती थी। अतः अब आर्यसमाजियों के आगे अपने विचारों के प्रचार के लिए अपना एक नया पत्र चलाने के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं रह गया था। अक्तूबर १९०४ ई० में इस दृष्टि से लाला लाजपतराय ने दस व्यक्तियों के सहयोग से एक नये साप्ताहिक अंग्रेजी पत्र **पंजाबी** का प्रकाशन आरम्भ किया। लोकमान्य तिलक के सुझाव पर के० के० अठावले को पत्र का सम्पादक बनाया गया और एक व्यवसायकुशल नवयुवक जसवन्त राय इसके मैनेजर बने। इस पत्र में लाला लाजपतराय प्रति सप्ताह सामयिक विषयों पर बड़े जोशीले लेख लिखते थे और स्थानीय शिकायतों, दुखड़ों, पुलिस के अत्याचारों, अंग्रेजों द्वारा जातीय अभिमान में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार, लार्ड कर्जन के विश्वविद्यालय-बिल जैसे विषयों की चर्चा होती थी। आरम्भ से ही **पंजाबी** में इस बात पर बड़ा बल दिया गया कि रूस पर जापान की विजय से क्या शिक्षा ग्रहण की जा सकती है। इस पत्र ने पंजाब में नवीन राष्ट्रीय जागरण उत्पन्न किया।

१९०४ ई० के अन्त में उपर्युक्त नवीन परिस्थितियों के कारण कांग्रेस ने पंजाबी आर्यसमाजियों द्वारा संविधान वाले प्रस्ताव को लम्बे विवाद के बाद स्वीकार करने के लिए पग उठाया और इस बारे में यह निश्चय किया कि विषय-समिति इस पर विचार कर एक विशेष उपसमिति बना दे। पंजाब के आर्यसमाजियों को इससे बड़ा सन्तोष हुआ। ट्रिब्यून और पंजाबी दोनों पत्रों ने इस समझौते की सराहना की और पंजाबियों से बड़ी संख्या में कांग्रेस में सम्मिलित होने को कहा। लाला लाजपतराय ने पंजाबी पत्र में इसके तथा कांग्रेस के समर्थन में कई लेख लिखे और ६ मार्च १९०५ ई० के पंजाबी के अंक में उन्होंने इस बात पर बल दिया कि अब पंजाब के राजनीतिज्ञों को कांग्रेस से बाहर रहने की नीति छोड़ देनी चाहिये। इस अधिवेशन में लाला लाजपतराय ने अपनी भाषणकला से कांग्रेस के श्री गोपालकृष्ण गोखले जैसे नेताओं को बहुत प्रभावित किया। बम्बई-अधिवेशन में एक प्रस्ताव यह भी पास हुआ था कि इंग्लैण्ड में पार्लियामेण्ट के आगामी चुनाव के अवसर पर कांग्रेस की माँगों को स्वीकार कराने के लिए आवश्यक प्रचार करने के लिए एक शिष्टमण्डल भेजा जाय। गोखले की यह इच्छा थी कि इंग्लैण्ड को जाने वाले प्रस्तावित मंडल में लाजपतराय भी सम्मिलित हों। किन्तु पंजाब की राजनीति में उनके प्रतिस्पर्द्धी लाला हरकिशनलाल भी प्रतिनिधि बनकर जाना चाहते थे। वे आर्यसमाजी

---

१. वकील, ६ अप्रैल १९०४ ई०

राजनीतिज्ञों के कट्टर विरोधी थे। उनका विचार था कि "आर्य धर्मान्ध है, वे एक पिछले काल्पनिक अतीत काल की ओर देखते हैं। उनका दृष्टिकोण आगे की ओर देखने वाला और प्रगतिशील नहीं है।" उनका आर्यसमाजियों से इसलिए भी विरोध था कि उन्होंने उन्हें पंजाब नेशनल बैंक के डायरेक्टर का पद छोड़ने के लिए विवश किया था। अतः श्री हरकिशनलाल ने इस बात का पूरा प्रयत्न किया कि लाला लाजपतराय कांग्रेसी शिष्टमंडल के प्रतिनिधि के रूप में इंग्लैण्ड न जा पायें। किन्तु उनकी समस्त विघ्न-बाधाओं के बावजूद मई १९०५ में लाला लाजपतराय गोखले के साथ इंग्लैण्ड चले गये।

इसी बीच में लार्ड कर्जन द्वारा बंग-भंग की सरकारी घोषणा किये जाने के बाद अक्तूबर १९०५ ईसवी में सारे देश में इसे रद्द कराने के लिए एक प्रबल आन्दोलन शुरू हो गया और इसका एक महत्त्वपूर्ण अंग स्वदेशी का आन्दोलन था। लाला लाजपतराय जब ३० नवम्बर को इंग्लैण्ड से भारत लौटे तो लाहौर में उनका अपूर्व स्वागत हुआ। आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में आपके भाषण में इतनी अधिक जनता एकत्र हुई कि इसके लिए विशेष प्रबन्ध करना पड़ा। इसमें आपने यह घोषणा की थी कि—"मुझमें जो भी गुण हैं वे आर्यसमाज की कृपा से हैं।" किन्तु वे इस समय यह समझ गये थे कि अब शीघ्र ही देश में एक प्रबल राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू होने वाला है। इसकी पूर्व-सूचना देते हुए उन्होंने अपने भाषण के अन्त कहा था—"मुझे भारत के राष्ट्रीय आकाश से रक्त की वर्षा होती दिखलाई पड़ती है। प्रकट में तो आकाश निर्मल दिखता है, किन्तु लहू के छोटे-छोटे टुकड़े तो दृष्टिगोचर हो रहे हैं।"[1]

इस समय बंगाल में बंग-भंग के विरुद्ध आन्दोलन चलाने वालों का भीषण दमन किया जाने लगा। इसके विरोध में बारीसाल में आयोजित जब एक सम्मेलन में पुलिस द्वारा लाठी चलायी गयी तो उसके विरुद्ध देश में पहली सभा लाहौर में हुई। इसी बीच में पंजाब सरकार ने १८९९ ई० के भूमि हस्तान्तरण कानून (Land Alienation Act) में कुछ संशोधन करके इसे और कड़ा बनाया। इससे भी पंजाब के शिक्षित नागरिक वर्गों में असन्तोष बढ़ने लगा। १९०५ ई० के अन्त में बनारस में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इसमें लाला जी ने बड़े उत्साह के साथ भाग लिया। इसके १०४ पंजाबी प्रतिनिधियों में ५१ आर्यसमाजी थे और विषय-समिति में तो आर्यसमाजी पंजाबी प्रतिनिधियों की संख्या ६२ प्रतिशत थी। इस अधिवेशन के अध्यक्ष गोपालकृष्ण गोखले थे।

कांग्रेस की विषय-समिति में इसके पहले प्रस्ताव पर ही उग्र संघर्ष आरम्भ हो गया। इस प्रस्ताव में युवराज (प्रिन्स आफ वेल्स जो बाद में सम्राट जार्ज पंचम बने), के भारत-आगमन पर स्वागत करने का संकल्प प्रकट किया गया था। पंजाब के प्रमुख प्रतिनिधि लाला जी ने इसका डटकर घोर विरोध करते हुए कहा—"देश में भीषण दुर्भिक्ष है। त्राहि-त्राहि मची हुई है। लोग भूखे मर रहे हैं। इसके अतिरिक्त लार्ड कर्जन के शासन ने भारी असन्तोष पैदा किया है। ऐसे अवसर पर युवराज को आमन्त्रित करना ब्रिटिश नौकरशाही की चालाकी है। उनका वास्तविक उद्देश्य यह है कि जनता का ध्यान राजनैतिक असन्तोष से हटकर जुलूसों तथा तमाशों की ओर चला जाय।" लाला जी के इस उग्र विरोध का समर्थन महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध नेता बालगंगाधर तिलक ने किया।

---

१. अलगूराय शास्त्री—लाला लाजपतराय, पृ० १११

किन्तु कांग्रेस के सभी पुराने नेता इस प्रस्ताव के विरुद्ध थे। इन्होंने विषय-समिति में हेरा-फेरी से अपना प्रस्ताव पास करा लिया। किन्तु लाला जी और उनके साथी इस प्रस्ताव का विरोध करने पर तुले हुए थे। यह पुरानी और नई पीढ़ी का, नरम और गरम दल का संघर्ष था। लाला जी की ओर से घोषणा की गयी कि खुले अधिवेशन में नये सिरे से लड़ाई लड़ी जायगी। इस पर संयुक्त प्रान्त के वयोवृद्ध कांग्रेसी नेता भयभीत हो गये। उन्होंने बनारस के पुलिस सुपरिंटेण्डेण्ट को सूचना दे दी और अगले दिन कांग्रेस-अधिवेशन में पुलिस का पूरा पक्का प्रबन्ध किया गया, क्योंकि उस समय दंगा हो जाने की बड़ी आशंका प्रकट की जा रही थी।

लाला जी को तथा उनके साथियों को बड़ी धमकियाँ दी गयीं। यह कहा गया कि वे संयुक्त प्रान्त को कलंकित कर रहे हैं; इस झगड़े में कांग्रेस समाप्त हो जायेगी। किन्तु लाला जी का निश्चय अटल था। ११ बज गये थे, कांग्रेस-अधिवेशन का समय हो चुका था। किन्तु कांग्रेस-अध्यक्ष गोखले वहाँ नहीं आये और उन्होंने लाला लाजपतराय को अलग बुलाकर समझाया और व्यक्तिगत अनुरोध किया कि मेरी खातिर आप विरोध छोड़ दें। श्री गोखले से घनिष्ठ वैयक्तिक सम्बन्ध होने के कारण लालाजी इस पर सहमत हो गये और उन्होंने यह वचन दिया कि "विषय-समिति में जब तक इस प्रस्ताव पर विचार चलेगा, हम सभा से अनुपस्थित रहेंगे जिससे हमें उनका विरोध न करना पड़े।" इस विषय में यह भी समझौता हुआ कि कार्यवाही में यह नहीं लिखा जायेगा कि प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ। सम्भवतः वाक आउट या सभा से उठकर चले जाने द्वारा राजनैतिक विरोध को प्रकट करने की परिपाटी का भारत में यह पहला उदाहरण था। लाला लाजपतराय ने अपनी तर्कशक्ति और व्यक्तिगत अपील द्वारा तिलक को समझाया और वे भी सहमत हो गये। किन्तु कुछ बंगाली प्रतिनिधि किसी भी दशा में इसे मानने को तैयार नहीं हुए। उन्हें बलात् सभा से बाहर रखा गया और इस प्रकार युवराज के स्वागत वाला प्रस्ताव पास हुआ।

बनारस की कांग्रेस में गरम दल की ओर से लाला लाजपतराय का एक प्रमुख भाषण उल्लेखनीय है। इसमें उन्होंने जनता को नवीन राष्ट्रीय आन्दोलन करने का पाठ पढ़ाया था और इससे कांग्रेस के इतिहास की वक्तृताओं में एक नवीन युग का श्रीगणेश हुआ। लाला जी के शब्दों में "मेरा भाषण कांग्रेस-अधिवेशन के अन्तिम दिन हुआ। मुझे केवल पाँच ही मिनट दिये गये, परन्तु मैं बीस मिनट बोला। अधिकांश जनता मेरे साथ थी। कहा जा सकता है कि इसके द्वारा ही उग्र दल की नींव पड़ी। भाषण में बार-बार करतल-ध्वनि होती रही और लोग कह रहे थे, बोलते जाओ, बोलते जाओ। किन्तु प्रधान के दोनों ओर बैठे हुए वयोवृद्ध नेता, विशेषकर बम्बई के प्रतिनिधियों ने काँपना शुरू कर दिया और डर से उनके मुख पीले पड़ गये। वे बार-बार गोखले से अनुरोध कर रहे थे कि मेरा भाषण बन्द करा दें तथा मुझे बैठ जाने की आज्ञा दें।"[1] इस प्रकार आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध नेता पंजाब-केसरी ने कांग्रेस को उग्र राष्ट्रीय नीति की ओर अग्रसर करने व गरम दल का निर्माण करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

---

१. अलगूराय शास्त्री—लाला लाजपतराय, पृ० ११३

(७) स्वदेशी तथा बहिष्कार की नीति

बंग-भंग के बाद राष्ट्रीय आन्दोलन में स्वदेशी और बहिष्कार की नीति पर बल दिया गया। इस प्रश्न पर कांग्रेस में नरम और गरम दल मे मौलिक मतभेद था। गरम दल के नेता बालगंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल और लाला लाजपतराय थे। इन्हीं को बाल-पाल-लाल की त्रिमूर्ति के नाम से अब तक स्मरण किया जाता है। इनका युग हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वर्णिम अध्याय है। यहाँ केवल पंजाब और लाला जी की आर्यसमाज से प्रभावित नीति का ही उल्लेख किया जायेगा। १९०५ ई० के बनारस के पूर्वोक्त अधिवेशन में पंजाबी प्रतिनिधिमण्डल के नेता लाला लाजपतराय थे और उन्होंने तिलक की उग्र नीति का समर्थन किया था। जब पंजाबी प्रतिनिधियों ने और बंगाल तथा बम्बई के प्रतिनिधिमण्डलों ने कांग्रेस के पुराने नेताओं से कहा कि यदि स्वदेशी और बहिष्कार के प्रस्ताव विषय-समिति में पास नहीं किये जाते तो वे कांग्रेस का बहिष्कार कर देंगे, तो कांग्रेस को अशोभनीय विघटन से बचाने की दृष्टि से नरम दल के नेताओं ने इस बात को मान लिया।

नरम दल के नेता स्वदेशी के समर्थक होते हुए भी बहिष्कार के विरोधी थे। वे इसे ब्रिटिश विरोधी कार्य समझते थे और इससे ब्रिटेन को रुष्ट नहीं करना चाहते थे। लाजपतराय १९०६ के आरम्भ में इस बात पर निरन्तर बल देते रहे कि विदेशी माल का बहिष्कार एक वैध राजनैतिक हथियार है। उन्होंने पंजाब में अपने भाषणों और साहित्य के प्रचार और प्रसार से इस विषय में प्रबल जागरण उत्पन्न किया। उनका पत्र 'पंजाबी' नरम दल वालों की नरम नीति का घोर विरोध करता रहा। पंजाब में आर्यसमाजी इस बात से अत्यन्त प्रसन्न थे कि उनके स्वदेशी के पुराने सन्देश को बंगालियों ने स्वीकार कर लिया है और धीरे-धीरे अन्य प्रदेश भी इस नीति को स्वीकार कर रहे हैं। पहले यह बताया जा चुका है कि आर्यसमाज के पुराने नेता साईंदास तथा मूलराज स्वदेशी के कट्टर समर्थक थे। ट्रिब्यून ने ३१ अगस्त १९०५ ईसवी के अंक में लिखा था--"इस संकट के समय में पंजाब का उदाहरण बड़ी प्रेरणा देने वाला है। बीस वर्ष पहले लाहौर में आर्यसमाज से सम्बन्ध रखने वाले कुछ शिक्षित पंजाबी सज्जनों ने इस बात का संकल्प किया था कि वे स्वदेशी वस्तुओं का ही प्रयोग करेंगे और विदेशों में बनी वस्तुओं का बहिष्कार करेंगे। महर्षि दयानन्द ने लाहौर में स्वदेशी का सन्देश सुनाया था। शुरू में स्वदेशी कपड़ा इतना अच्छा बना हुआ नहीं होता था और उसका मजाक उड़ाया जाता था, किन्तु शनैः-शनैः लुधियाना और गुजरात के जुलाहों ने ऐसे कपड़े बनाने शुरू किये जो यूरोप से आयात किये जाने वाले वस्त्रों की तुलना में किसी प्रकार कम नहीं होते थे।"

पंजाब में आर्यसमाजी राजनीतिज्ञों द्वारा स्वदेशी के प्रचार का कार्य बड़े उत्साह से चलाया गया। इस विषय में आन्दोलन करने के लिए **स्वदेशी वस्तु प्रचारिणी सभा** नामक पुराने संगठन को पुनरुज्जीवित किया गया। प्रत्येक प्रान्त के प्रत्येक कस्बे और शहर में स्वदेशी सभा की स्थापना की गयी। स्वदेशी केवल वस्त्रों तक ही सीमित नहीं थी। पंजाब में यह औद्योगिक स्वावलम्बन के रूप में ली गयी और नये-नये उद्योग स्थापित करने का प्रयास किया गया। स्वदेशी आन्दोलन के कारण राष्ट्रीय महासभा पंजाब में अधिक लोकप्रिय हुई। इसमें पंजाबी आर्य अधिक दिलचस्पी लेने लगे।

इस समय लाजपतराय ने स्वदेशी के प्रचार के लिए विभिन्न जिलों में कांग्रेस की शाखाएँ स्थापित करने का उल्लेखनीय कार्य किया। वे अतीव उग्र एवं गरम दल के विचारों के व्यक्ति समझे जाते थे। उन्होंने यह अनुभव किया कि उनके अनुयायी बहुत-से वकील और व्यापारिक नेता स्वभाव से रूढ़िवादी और अनुदार हैं और वे बहिष्कार के कार्यक्रम को बंगालियों की भाँति उग्रतापूर्वक नहीं चला सकते हैं। वे न तो सरकारी सेवा छोड़ने को तैयार हैं, न अदालतों का बहिष्कार कर सकते हैं और न ही जेल जा सकते हैं। अतः उन्होंने इस विषय में एक अतीव व्यावहारिक कार्यक्रम बनाया जिसमें सब वर्ग और जातियाँ समान रूप से सहमत हो सकती थीं। इसमें आयकर के सुधार, ब्रिटिश अत्याचार (जुल्म) और बेगार जैसे प्रश्न थे। इस विषय में उनका कार्यक्रम बड़ा सफल सिद्ध हुआ और फजली हुसेन के नेतृत्व में प्रमुख मुसलमानों ने भी उनको इसमें सहयोग दिया। इस समय कांग्रेस के संगठन का पंजाब में बड़ी शीघ्रता से विकास हुआ। फरवरी १९०७ ईसवी तक २० जिलों में पंजाब-कांग्रेस की शाखाएँ स्थापित हो चुकी थीं।

कांग्रेस की राजनीति में आर्यसमाज के योगदान का मूल्यांकन करते हुए नार्मन बैरियर ने लिखा है कि "१८९९ ई० से १९०७ ई० के बीच में पंजाब के आर्यसमाजियों ने पंजाब प्रान्तीय कांग्रेस की शाखाओं के विकास और विस्तार में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। आर्यों का प्रधान लक्ष्य भारत के पुनरुज्जीवन के लिए प्रभावशाली साधनों का विकास करना था और इस उद्देश्य से पंजाब-कांग्रेस में लाजपतराय जैसे उग्र विचार रखने वाले नेताओं और उनके सहयोगियों से आर्यसमाज का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ और १९०७ ई० में ऐसा प्रतीत होता था कि आर्यसमाजी पंजाब में एक शक्तिशाली राष्ट्रीय दल का निर्माण करने में सफल होने वाले हैं।"[1] किन्तु इसी समय १९०७ ई० के पूर्वार्ध में पंजाब में लाहौर, रावलपिण्डी, लायलपुर आदि स्थानों में उपद्रव शुरू हो गये। सरकार ने इनका दमन करने के लिए कठोर नीति का अवलम्बन किया। साम्प्रदायिक तत्त्वों को समर्थन प्रदान किया। मुहम्मद अली के शब्दों में—"सरकारी आदेश से मुसलमानों का शिष्ट-मण्डल वायसराय लार्ड मिंटो से मिला" और उसने मुसलमानों के लिए भावी शासन-सुधार-योजना में पृथक् निर्वाचन-क्षेत्रों की माँग की। मुस्लिम लीग का निर्माण हुआ। सरकार ने आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था मानते हुए उन्हें सरकारी नौकरियों में न लिये जाने के आदेश प्रसारित करने शुरू किये। इससे पंजाब के आर्यसमाजी और हिन्दू भयभीत हो गये। उन्होंने अपने हितों की सुरक्षा के लिए हिन्दू महासभा और शुद्धि-सभाओं के साम्प्रदायिक संगठन बनाने शुरू किये और कांग्रेस की राजनीति में भाग लेना बन्द कर दिया।[2]

---

१. नार्मन जी० बैरियर—पूर्वोक्त लेख

२. केनेथ डब्ल्यू जोन्स—आर्यधर्म, अ० १०, पृ० २८०-३१२

आठवाँ अध्याय

आर्यसमाज पर सरकारी प्रकोप के कारण

(१) आर्यसमाज पर सरकारी प्रकोप

आर्यसमाज के इतिहास में सबसे अधिक संकटपूर्ण काल वर्तमान शताब्दी का पहला दशक था। इसमें १९०७ ई० से १९१० ई० तक आर्यसमाज की सत्ता के लिए जो खतरा पैदा हुआ, वह अभूतपूर्व था। इस अवधि में ब्रिटिश सरकार के गुप्तचर विभाग की रिपोर्टों में आर्यसमाज को देश में बगावत फैलाने वाली राजनैतिक संस्था बताया गया और उसके राजद्रोहपूर्ण कार्यों का बार-बार उल्लेख किया गया। इन रिपोर्टों से उच्च अधिकारियों को इसके बागी होने में तनिक भी सन्देह न रहा और ब्रिटिश सरकार इसके भीषण दमन के लिए कटिबद्ध हो गयी। आर्यसमाज का पंजाब में अधिक प्रचार था और यहाँ की सरकार इसे अपना सबसे बड़ा शत्रु और सबसे अधिक खतरनाक आन्दोलन (The greatest enemy and the most dangerous movement) समझने लगा।[1] इस प्रान्त में सभी राजद्रोही कार्यों के लिए आर्यसमाज को उत्तरदायी समझा जाता था। १९०७ ई० में पंजाब के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर सर डेंजिल इब्बटसन ने यह घोषणा की थी कि उन्हें पंजाब के लगभग सभी जिलों के मैजिस्ट्रेटों ने यह सूचना दी थी कि जहाँ कहीं आर्यसमाज है, वह राजद्रोह की चर्चा का केन्द्र है (Wherever there was Aryasamaj, it was the centre of sedious talk)।[2] पंजाब के एक अन्य लेफ्टीनेण्ट गवर्नर सर माइकेल ओडवायर ने भी अपनी आत्म-कथा में इस मत की पुष्टि की है।[3] १९०७ ई० में लाला लाजपतराय के पंजाब से निर्वासन के बाद आर्यसमाज के नेताओं ने बार-बार यह घोषणा की थी कि आर्यसमाज का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है, वह राजनैतिक संस्था नहीं है।[4] किन्तु सरकार इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं थी। वह लगभग एक दशक तक आर्यसमाज को बगावत फैलाने वाली राजद्रोही संस्था

---

१. होम डिपार्टमेंट, पोलिटिकल डिपोजिट, गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया प्रोसीडिंग्ज़, २ अप्रैल १९१२, सं० ४

२. दि पंजाबी, २१-६-१९०७, २२-६-१९०७, १६-१०-१९०७ के अंक

३. ओडवायर—इण्डिया एज़ आई न्यू इट, पृ० २६, विपिनचन्द्र पाल—बिगिनिंग्स ऑफ फ्रीडम मूवमेंट इन माडर्न इण्डिया, पृ० २५

४. मुंशीराम जिज्ञासु तथा रामदेव—दि आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स, गुरुकुल कांगड़ी, १९१०, पृ० ९२-१२१

समझती रही, उसका भीषण दमन करती रही।

यद्यपि आर्यसमाज को ब्रिटिश सरकार द्वारा १९०७ ई० से विशेष रूप से राजद्रोही माना जाना लगा, किन्तु सामान्य रूप से उसके जन्म के समय से ही उसके विरोधियों द्वारा उसे ब्रिटिश शासन-विरोधी के रूप में बदनाम किया जाने लगा था। ऐसा प्रायः नये धार्मिक आन्दोलनों के साथ होता ही है। वे सरकार और शासन-सत्ता के विरोधी समझे जाते हैं। ईसाइयत के आरम्भिक इतिहास से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है कि नवीन धार्मिक आन्दोलन अपनी पृथक् सत्ता बनाये रखने के कारण प्रायः राजसत्ता-विरोधी समझ लिये जाते हैं और इन आन्दोलनों के विरोधी भी सरकारी अधिकारियों के मनों में इनके राजद्रोही होने की भावना भरते रहते हैं। महात्मा मुंशीराम ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'आर्यसमाज और उसके निंदक' (आर्यसमाज एण्ड इट्स डिटैक्टर्स) में यह बात बड़े विस्तार से प्रतिपादित की है कि आर्यसमाज ने चूँकि ईसाइयत की कड़ी आलोचना की थी, इसीलिए ईसाई मिशनरी आर्यसमाज से इसका बदला लेना चाहते थे। शास्त्रार्थों में जब वे आर्यसमाज को पराजित न कर सके तो उन्होंने सरकारी अधिकारियों के कृपापात्र बनकर इसे हानि पहुँचाने का प्रयत्न किया और उनके दिमाग में यह बात भर दी कि आर्यसमाज विभिन्न धर्मों के मतावलम्बियों में वैमनस्य पैदा करने वाली तथा सरकार के विरुद्ध राजद्रोह की भावनाओं को भड़काने वाली संस्था है और इस कारण इसका दमन किया जाना चाहिए।

आर्यसमाज के विरोधियों ने इस प्रकार के प्रयत्न आर्यसमाज की स्थापना के समय से ही आरम्भ कर दिये थे। इस विषय में पहला प्रयास ईसाई मिशनरियों द्वारा स्वामी जी के निर्वाण के वर्ष १८८३ ई० में किया गया था। इस समय एक ईसाई प्रचारक संस्था ने आर्यसमाज पर ऐसी राजनैतिक संस्था होने का आरोप लगाया जिसका उद्देश्य भारत में ब्रिटिश शासन का तख्ता पलटना था। उस समय आर्यसमाज लाहौर की ओर से छपने वाली प्रमुख अंग्रेजी पत्रिका **आर्य मैगजीन** ने इस निराधार, निन्दापूर्ण आरोप का प्रबल खण्डन करते हुए दिसम्बर १८८३ ई० के अंक में लिखा था कि "यह सूचना हमारे लिए सर्वथा नवीन है और ऐसा लगता है कि यह किसी दैवी इलहाम से प्राप्त हुई है। यह संस्था (आर्यसमाज) धार्मिक और सामाजिक सुधार करने वाली संस्था है। इसकी राजनैतिक मामलों में कोई दिलचस्पी नहीं है। जो व्यक्ति इसके मुद्रित और विस्तृत रूप से प्रचारित सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल इस बात का दावा करता है कि यह एक राजनैतिक संस्था है तो वह व्यक्ति या तो इसके प्रति दुर्भावना रखने वाला है अथवा उसे किसी मानसिक चिकित्सालय में होना चाहिए।"[1]

चूँकि आर्यसमाज ने न केवल ईसाइयों, अपितु सनातनी पण्डितों और मुसलमान मौलवियों के धर्म-ग्रन्थों का भी समान रूप से खण्डन किया था, अतः वे सभी लोग आर्यसमाज को इस प्रकार बदनाम करने का प्रयास करने लगे। आर्यसमाज पर विरोधी यह भी आरोप लगाया करते थे कि वह अन्य धर्मों के खण्डन और गो-रक्षा पर बल देकर विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में तनातनी, विरोध और वैमनस्य पैदा करता है। उस समय ब्रिटिश सरकार द्वारा अनुसरण की जाने वाली प्रशासन की नीति भी इसमें

---

१. मुंशीराम जिज्ञासु तथा रामदेव—आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स १/६

बड़ी सहायक थी। बंग-भंग के बाद हमारे देश में जो नव-जागरण हुआ, उसके कारण सरकार उग्र राष्ट्रीय विचार रखने वाली आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था मानने लगी। उस समय के कुछ राष्ट्रीय नेता लाला लाजपतराय, श्याम जी कृष्ण वर्मा, भाई परमानन्द आर्यसमाजी थे। अतः इस भ्रान्ति को बड़ी पुष्टि मिली। सरकार से सर्वथा स्वतन्त्र रहते हुए शिक्षा-क्षेत्र में एक अभिनव प्रयोग करने वाली आर्यसमाज की सुप्रसिद्ध शिक्षा-संस्था गुरुकुल काँगड़ी तथा एंग्लो-इण्डियन पत्रों के आर्यसमाज-विरोधी प्रचार के द्वारा इस भावना को और भी अधिक पोषण मिला। इस प्रकार आर्यसमाज को राजद्रोही समझे जाने के अतीव विभिन्न प्रकार के और जटिल कारण थे। १९०७ ई० में पंजाब के उपद्रवों के सम्बन्ध में सरकार के मन में विरोधियों ने यह धारणा पैदा कर दी थी कि इसकी जड़ आर्यसमाज है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस समय आर्यसमाजी नेताओं ने राष्ट्रीय आन्दोलन एवं जन-जागरण में प्रमुख भूमिका अदा की थी। इस प्रकार आर्य-समाज को विद्रोही समझे जाने के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे—सरकारी नीति, गुप्त-चर विभाग की रिपोर्टें, गो-रक्षा, किरानी-पुरानी-कुरानी गठबन्धन, पौराणिक पण्डित, मौलवी, पंजाब के उपद्रव, रावलपिण्डी के दंगे, गुरुकुल कांगड़ी तथा एंग्लो-इण्डियन पत्रों का आर्यसमाज-विरोधी प्रचार। पिछले दो कारणों का अगले अध्यायों में पृथक् रूप से विवेचन किया जाएगा, किन्तु अन्य कारणों की संक्षिप्त चर्चा इस अध्याय में की जा रही है।

(२) ब्रिटिश सरकार की नीति तथा गुप्तचर विभाग की रिपोर्टें

सरकार द्वारा आर्यसमाज को राजद्रोही समझे जाने का एक बड़ा कारण १८५७ ई० के स्वतंत्रता-संग्राम के बाद संयुक्त प्रान्त में सरकार द्वारा अपनायी गयी नीति थी। ब्रिटिश सरकार का यह विश्वास था कि इस विद्रोह को पैदा करने और भड़काने वाले मंगल पाण्डे जैसे संयुक्त प्रान्त के सिपाही थे, अतः उन्होंने सेना में संयुक्त प्रान्त के हिन्दुओं की भर्ती बन्द कर दी। पुलिस की नौकरियों से भी उनको बहिष्कृत किया जाने लगा। सरकार की नीति इस समय न केवल हिन्दू-द्वेषी थी, अपितु मुसलमानों पर विशेष कृपा-दृष्टि रखने वाली थी। इसका यह परिणाम हुआ कि पुलिस-विभाग में हिन्दुओं की संख्या कम होने लगी और मुसलमानों की संख्या उनके अनुपात से कहीं अधिक बढ़ने लगी। उत्तरप्रदेश में मुसलमान १२ प्रतिशत थे, किन्तु पुलिस-विभाग के कर्मचारियों में उनकी संख्या ८८ प्रतिशत तक पहुँच गयी। ब्रिटिश अधिकारियों में हिन्दुओं के प्रति अविश्वास इतना अधिक था कि पुलिस-विभाग के उच्च पदों पर हिन्दू बहुत कम रखे जाते थे। सर महाराज सिंह से पहले संयुक्त प्रान्त में गृह-विभाग किसी हिन्दू को नहीं सौंपा गया था। मुसलमानों का उत्तरप्रदेश के पुलिस-विभाग में चिरकाल तक एकछत्र साम्राज्य और पूरा वर्चस्व बना रहा।

ब्रिटिश शासन की एक अन्य विशेषता यह थी कि इसके कान थे, आँखें नहीं थीं। कौटिल्य ने लिखा है कि 'चारचक्षुषः हि राजानः'—राजाओं के नेत्र उनके गुप्तचर होते हैं। वे उन्हीं की दृष्टि से देखते हैं, उनके द्वारा लायी गयी रिपोर्टों पर पूरा विश्वास कर लेते हैं, इनके भरोसे पर सारे शासन-कार्य का संचालन करते हैं। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में ब्रिटिश शासन के बारे में यह बात बिल्कुल सही थी। वे अपने खुफिया विभाग की रिपोर्टों, खानसामों और बैरों पर अधिक भरोसा करते थे। ये उनके नाक का बाल बने

हुए थे—उनके कान में जैसा मन्त्र फूंक देते थे, उसी को ब्रिटिश अधिकारी सच मान लेते थे। इन दिनों पुलिस और गुप्तचर विभाग मुसलमानों से भरे हुए थे। अधिकांश खानसामे और बैरे मुसलमान होते थे। इन्हें हिन्दुओं से चिढ़ थी। इन्होंने सन् सत्तावन के स्वाधीनता-संग्राम के बाद अंग्रेजों के मन में पुष्ट हुई हिन्दू-विद्वेषी धारणा का पूरा लाभ उठाया और सरकारी अधिकारियों को यह पट्टी पढ़ानी शुरू की कि आर्यसमाजी बागी हैं, अपनी सभाओं तथा सत्संगों में लोगों को बगावत का पाठ पढ़ाते हैं। तत्कालीन वातावरण में अंग्रेजों ने इस बात पर सहज में इसलिए विश्वास कर लिया कि ईसाई पादरी भी उन्हें ऐसी बातें बता रहे थे। वे भी आर्यसमाजियों को ईसाइयत के प्रचार में कड़ी बाधा समझकर उन्हें अपने रास्ते से हटाना चाहते थे। इन दोनों के सम्मिलित सहयोग एवं प्रयत्नों से ब्रिटिश सरकार की आर्यसमाज-विरोधी भावना पुष्ट होने लगी, सरकारी जासूसों की रिपोर्टें इसे सुदृढ़ बनाने लगीं।

वर्तमान शताब्दी की प्रथम दशाब्दी के समकालीन पत्रों में बार-बार इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि सी० आई० डी० के कर्मचारी किस प्रकार आर्यसमाज-विरोधी रिपोर्टों से सरकारी अधिकारियों के कान भर रहे हैं। मुंशी डालचन्द कायस्थ के संपादकत्व में पीलीभीत से प्रकाशित होने वाले साप्ताहिक **रियाज़े फैज़** ने अपने ४ फरवरी १९१० ई० के अंक में लिखा था कि "आर्यसमाज पर सरकार के सन्देह का कारण वे अविवेकी, कर्त्तव्य-बुद्धिहीन (Unscruplous) पुलिस अधिकारी हैं, जिनका प्रधान उद्देश्य अपनी वैयक्तिक पदोन्नति है और जो इसे सब प्रकार की नैतिकता से अधिक महत्त्व देते हैं, और निरन्तर यूरोपियन कर्मचारियों के कान गुप्त रिपोर्टों से भरते रहते हैं और हिन्दू इनका खण्डन करने का प्रयास नहीं करते हैं।" इस पत्र की टिप्पणी के अन्तिम भाग से यह स्पष्ट था कि इस समय आर्यसमाजी सरकारी अधिकारियों से अधिक मेल-जोल नहीं रखते थे। संभवतः अपने धर्म-कार्य में अधिक व्यस्त होने अथवा विधर्मी, विदेशी म्लेच्छों से दूर रहने की भावना से प्रेरित होने के कारण वे ऐसा कर रहे थे। किन्तु इससे उन्हें अधिक घाटा उठाना पड़ रहा था। मुस्लिम गुप्तचरों की रिपोर्टों का आर्यसमाजियों द्वारा खण्डन न होने के कारण सरकारी अधिकारी इन पर अधिक विश्वास करने लगे थे और आर्यसमाज के प्रति उनकी शंकायें और सन्देह अधिक सुदृढ़ होने लगे थे। अतः कुछ आर्यसमाजी पत्रों ने इस विषय में उन्हें अधिक सक्रिय होने तथा सरकारी अधिकारियों से मिल-जुलकर भ्रान्तियों को दूर करने का परामर्श दिया।

फर्रुखाबाद से छपने वाले **भारत सुदशा प्रवर्तक** ने फरवरी १९१० ईसवी के अंक में लिखा कि "आर्यसमाज पर राजद्रोह का आरोप धार्मिक कारणों से लगाया जा रहा है। यह आर्यसमाज से मतभेद और दुर्भावना रखने वाले व्यक्तियों के षड्यन्त्रपूर्ण प्रयासों का परिणाम है। पटियाला-अभियोग ऐसे व्यक्तियों की दुरभिसन्धि से हुआ था। अतः अब आर्यों के लिए चुप बैठने का समय नहीं है, उन्हें अफसरों से मिलना चाहिए, उन्हें अपनी सभाओं तथा वार्षिकोत्सवों में बुलाना चाहिए। अधिकारियों को आर्यसमाजों के कार्यों का स्वयमेव अवलोकन करना चाहिए। उनके साहित्य का अध्ययन करना चाहिए तथा अपने अधीनस्थ कर्मचारियों द्वारा भेजी झूठी रिपोर्टों पर निर्भर भी नहीं रहना चाहिए।"[1]

१. सिलेक्शन्स फ्राम वर्नाकुलर न्यूजपेपर्स, यू० पी०, १९१०, पृ० २४७

मुरादाबाद से प्रकाशित होने वाले **'रहबर'** नामक पत्र के २१ जनवरी १९१० के अंक में लाला रामप्रसाद ने 'क्या आर्यसमाज बागी संस्था है ?' के शीर्षक से एक लेख लिखा। इसमें उन्होंने इसके कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा था—"आर्यसमाज के विद्रोही संस्था होने का सन्देह आर्यसमाज की आलोचना से पीड़ित ईसाइयों और मुसलमानों द्वारा पैदा किया गया है। वे इस विषय में अफसरों के कान भरते रहे हैं और उन्हें यह बताते रहे हैं कि इसका उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य का तख्ता पलटना है। यह आरोप बिल्कुल निराधार है, क्योंकि आर्यसमाज की सत्ता बनाए रखने के लिए ब्रिटिश सरकार का स्थायी रूप से बना रहना अतीव आवश्यक है।"

आर्यसमाज के मूर्धन्य नेता लाला मुंशीराम **सद्धर्म प्रचारक** में प्राय: इस समस्या की चर्चा करते रहते थे। वे इसका प्रधान कारण खुफिया विभाग की झूठी रिपोर्टों को मानते थे। उन्होंने 'गुरुकुल में सरकारी जासूस' के शीर्षक से १६ फरवरी १९१० ई० के अंक में लेख प्रकाशित किया था—"खुफिया विभाग के कर्मचारियों में अधिकांश मुसलमान हैं। वे इस बात की हर तरह से कोशिश करते रहते हैं कि सामान्य रूप से आर्यसमाज को तथा विशेष रूप से गुरुकुल को सरकार की निगाहों में अधिक-से-अधिक नीचा गिराया जाय, फिर भी यह संस्था विभिन्न बाधाओं के होते हुए भी आगे बढ़ जाएगी।" इसमें लालाजी ने झूठी रिपोर्टों के प्रचार के प्रतिवाद के किसी उपाय का निर्देश नहीं किया था किन्तु मई १९१० ई० के अंक में उन्होंने एक आर्यसमाजी द्वारा लिखा पत्र अपने अखबार में प्रकाशित करते हुए सरकारी अधिकारियों से घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करके इस सन्देह को दूर करने पर बल दिया था। पत्र में यह शिकायत की गयी थी कि "पुलिस के कर्मचारी और जासूस आर्यसमाज के उपदेशकों का पीछा करते रहते हैं, उनके कार्यक्रमों तथा व्याख्यानों की सूचना उच्च अधिकारियों को देते रहते हैं। यह कहना कठिन है कि आर्यसमाज से सरकार क्या चाहती है, किन्तु यह स्पष्ट है कि जहाँ आर्यसमाज का सरकारी अधिकारियों से घनिष्ठ सम्पर्क है वहाँ पुलिस समाजियों का पीछा नहीं करती है। किन्तु जहाँ आर्यसमाजी सरकारी अधिकारियों से पृथक् रहते हैं वहाँ समाज पर निश्चित रूप से अत्याचार होते हैं।" लेखक का दृढ़ विश्वास था कि घनिष्ठ सम्पर्क से भ्रान्तियाँ और सन्देह दूर हो सकते हैं तथा आर्यसमाज पर अत्याचार बन्द हो सकते हैं। सम्पादक ने पत्र-लेखक के विचारों से सहमति प्रकट करते हुए लेफ्टीनैण्ट गवर्नर से इस विषय में आवश्यक कार्यवाही करने का अनुरोध किया था।

(३) केन्द्रीय गुप्तचर विभाग की रिपोर्टें तथा प्रमाण

भारत सरकार के अपराध अन्वेषण विभाग (Criminal Intelligence Department) के निदेशक श्री सी० जे० स्टीवेन्सन मूर के निरीक्षण में १९१२ ई० में आर्यसमाज के राजनैतिक स्वरूप को सिद्ध करने के लिए एक रिपोर्ट तैयार की गयी थी। इसमें प्राय: उन सभी प्रमाणों को एकत्र किया गया था जो सरकार की ओर से इस संस्था को राजद्रोही सिद्ध करने के लिए दिये जाते थे। इनमें काल-क्रमानुसार महत्त्वपूर्ण प्रमाण अग्रलिखित थे[1]—

१. होम पोलिटिकल (गोपनीय) डिपार्टमेंट प्रोसीडिंग्स, पार्ट ए, अप्रैल १९१२, सं० ४

(१) स्वामी दयानन्द सदैव **आर्यावर्त के पुनरुज्जीवन** पर बल दिया करते थे। देशभक्ति और राष्ट्रीयता के शब्दों का लगातार प्रयोग करते रहते थे। एक बार उन्होंने एक ईसाई पादरी को कहा था कि मुझे यह दिखाई दे रहा है कि पुराने आर्यों की भाँति अब आपके पतन के दिन निकट आ रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि उनके विचार प्रधान रूप से राजनैतिक थे।

(२) १८७९ ई० में लाहौर आर्यसमाज ने धार्मिक और सामाजिक प्रश्नों की चर्चा की थी और इस बात पर बल दिया था कि—'सामान्यतया तकनीकी शिक्षा की' तथा सबसे बढ़कर **राष्ट्रीय एकता और स्वावलम्बन** की इस समय बड़ी आवश्यकता है। तीन साल बाद १८८२ ई० में इस आर्यसमाज के वार्षिक कार्यक्रम के अनुसार लाहौर में आर्यसमाज के मन्त्री द्वारा राष्ट्रीयता पर एक व्याख्यान दिया गया था। १८९९ ई० में कॉलेज पार्टी की आर्यसमाज की एक बैठक में एक प्रमुख वक्ता ने आर्यसमाज द्वारा प्रतिपादित धर्म के "उदार और राष्ट्रीय स्वरूप" पर बल दिया था।

(३) १८९७ ई० में पंजाब के लेफ्टीनैण्ट गवर्नर सर मैक्वर्थ यंग ने वायसराय लार्ड एल्गिन को अपने प्रान्त में असन्तोष के विकास के कारणों पर प्रकाश डालते हुए एक पत्र में लिखा था कि "समाचार-पत्रों के अतिरिक्त इस प्रान्त में कुछ अन्य ऐसी एजेन्सियाँ भी हैं, जो सरकार के विरुद्ध मिलकर संगठन बनाने की प्रवृत्ति रखती हैं। कांग्रेस तथा इसके नीचे के विभिन्न संगठनों का उद्देश्य ऊपरी तौर से तो राजनैतिक और धार्मिक विचारों का प्रसार है, किन्तु अनेक संगठनों में ऐसे व्यक्ति हावी हैं जो ब्रिटिश सरकार के प्रति विरोध का भाव रखने वाले हैं। पंजाब की ऐसी संस्थाओं में आर्यसमाज उल्लेखनीय है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पिछले वर्षों में हिन्दुओं तथा मुसलमानों के पारस्परिक विद्वेष और वैमनस्य की भावना में जो वृद्धि हुई है, उसके लिए आर्यसमाज उत्तरदायी है। यद्यपि आर्यसमाज में सरकार की सेवा करने वाले अनेक व्यक्ति हैं, फिर भी इसकी प्रवृत्ति सामान्य रूप से विद्रोहपूर्ण है।"[1]

(४) केन्द्रीय गुप्तचर विभाग के सर डेनिस फिट्ज़पैट्रिक ने यह सूचना दी थी कि आर्यसमाज की मांस-पार्टी घास-पार्टी की तुलना में अधिक राजनैतिक कार्य करती है।

(५) १८९९ ई० के लगभग पंजाब में आर्यसमाजी खुले रूप से अपने सार्वजनिक भाषणों में राजद्रोह की चर्चा करने लगे थे। पण्डित रामभजदत्त तथा मुंशीराम ने गुजरात, सियालकोट और गुजराँवाला में गुरुकुल की स्थापना के लिए धन-संग्रह करते हुए जो भाषण दिये थे, इनमें सरकार की कड़ी आलोचना करते हुए कहा गया था कि सिपाही बड़े बेवकूफ हैं, जो सात-आठ रुपये मासिक वेतन पर जान देने के लिए सेना में भर्ती होते हैं; किन्तु जब इन्हें गुरुकुल में शिक्षा दी जायेगी तो वे इन बातों को अच्छी तरह समझ लेंगे। १९०३ में झंग में गुरुकुल कांगड़ी के लिए व्याख्यान देते हुए लाला मुंशीराम ने इसी तरह की बातें कही थीं।

(६) मई १९०६ में राष्ट्रीय कांग्रेस के डेपूटेशन में प्रतिनिधित्व करने के लिए इंग्लैण्ड जाने से पहले मई १९०६ में लाला लाजपतराय ने एक व्याख्यान दिया था।

---

१. होम पोलिटिकल डिपार्टमेंट प्रोसीडिंग्स, पार्ट बी, जनवरी १९०८, संख्या १९-२६

इसमें अतीव आपत्तिजनक बातें कही गयी थीं। उन्होंने ब्रिटिश सरकार की आलोचना करते हुए कहा था कि सरकार बीमारियों, महामारियों और अकालों को रोकने के लिए कोई प्रयास नहीं कर रही है। उन्होंने सरकार की शिक्षा और शासन-सम्बन्धी नीतियों की भी आलोचना की। भारत से बाहर जाने पर बोस्टन में उनके द्वारा दिये गये भाषण भी आपत्तिजनक थे। इनमें भारत के अकालों और बीमारियों का सारा दोष सरकार पर डाला गया था और यह कहा गया था कि भारत सरकार की वित्तीय नीति भारतीय उद्योग-धन्धों को चौपट करनेवाली है। मांडले से लौटने के बाद भी उन्होंने कहा कि उनके आदर्श और विश्वास वैसे ही हैं। पहली दिसम्बर १९०७ ईसवी को लाहौर में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था—'यद्यपि वे समाज के लिए पिछले २५ वर्ष से काम कर रहे हैं, इसकी सहायता और सेवा करने के लिए तैयार हैं, फिर भी उनका इसके प्रबन्ध में कोई भाग लेने का इरादा नहीं है। यद्यपि वे उस धर्म को नहीं छोड़ सकते हैं, जिसमें वे विश्वास रखते हैं, फिर भी यदि कोई ऐसा नेता है जो उन्हें यह कहे कि उनके राजनैतिक विचारों के कारण आर्यसमाज को हानि उठानी पड़ी है तो वे आर्यसमाज से सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिए फौरन तैयार हैं। उनकी आशाएँ और आदर्श वही हैं जो छः महीने पहले थीं। आर्यसमाज के पास करने के लिए पर्याप्त कार्य है और यदि यह अपनी वर्तमान सीमाओं से बाहर जाना चाहता है तो वह सफल नहीं होगा।' इस भाषण की रिपोर्ट देने वाले गुप्तचरों ने इसकी यह व्याख्या की थी कि इस व्याख्यान में समाज के नेताओं को इस बात की चेतावनी दी गयी है कि उन्हें धार्मिक सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी कामों में लगा रहना चाहिए और आर्यसमाज को राजनैतिक कार्यों में नहीं उलझना चाहिए। इससे गुप्तचर विभाग ने यह परिणाम निकाला था कि इस प्रकार समाज के नेताओं ने इस बात को स्वीकार कर लिया है कि वे पहले राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेते रहे हैं।

(७) पंजाब के लेफ्टिनेंट गवर्नर सर डेंजिल इब्बटसन का विश्वास था कि मई १९०७ ई० के रावलपिंडी के दंगों के मुखिया आर्यसमाजी थे। उन्होंने पंजाब के उपद्रवों के बारे में आर्यसमाजियों के कार्यकलापों की गहरी छानबीन की थी। यद्यपि लाला हंसराज ने उन्हें यह विश्वास दिलाया था कि आर्यसमाज ने सामूहिक रूप से पिछले दंगों में कोई भाग नहीं लिया है और समाज का एकमात्र उद्देश्य इसके सदस्यों की धार्मिक और शिक्षा-सम्बन्धी उन्नति करना है, फिर भी इब्बटसन ने इस बात को इसलिए नहीं माना था कि प्रान्त के सभी डिप्टी कमिश्नरों ने उसे इसके सर्वथा विपरीत सूचना दी थी। इसके आधार पर उसने भारत सरकार को यह सूचित किया था कि समाज राजद्रोह की चर्चा का केन्द्र है और डी०ए०वी० कॉलेज के विद्यार्थियों ने पिछले दंगों में बड़ा भाग लिया है।

(८) खुफिया विभाग के कर्मचारियों ने ऐसी अनेक राजद्रोहपूर्ण सभाओं की सूचना सरकार को भेजी थी जिनमें आर्यसमाजी बड़ी संख्या में सम्मिलित होते थे और बोला करते थे। आर्यसमाज ने गुप्तचरों की रिपोर्ट के अनुसार सरकार के विरुद्ध प्रचार करने के लिए वेतनभोगी प्रचारक रखे हुए थे। अप्रैल १९०८ ई० में लायलपुर आर्यसमाज के तीसरे वार्षिकोत्सव पर दिये गये व्याख्यानों में इस बात पर बल दिया गया था कि विदेशी चीनी का प्रयोग न किया जाय और हिन्दू तथा मुसलमान अपने स्वाभाविक शत्रु

(ब्रिटेन) के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए एक हो जाएँ। १० जून १९०६ ईसवी को एक प्रमुख आर्यसमाजी भगत ईश्वरदास के घर पर लाहौर आर्यसमाज के नेताओं ने एक गुप्त बैठक की। इसमें यह कहा गया था कि सरकार सिक्खों को हिन्दुओं से अलग करने की कोशिश कर रही है। अमृतसर आदि केन्द्रों में सिक्ख प्रचारकों को इस दृष्टि से भेजने का निश्चय किया गया कि सिक्खों को सरकार की नीति समझाई जाय और यह बताया जाय कि हिन्दुओं के साथ मिले रहने में बड़ा लाभ है।

२५ मार्च १९०७ ई० को महाशय रामचन्द्र ने ब्रिटिश सरकार के अत्याचारों का सफल प्रतिशोध करने के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल दिया। २६ अप्रैल को जेहलम जिले के संगोही नामक स्थान पर सर्वश्री हुक्मसिंह और बोधराज ने अपने व्याख्यानों में वर्तमान सरकार के अत्याचारों पर प्रकाश डाला और उन्होंने वहाँ इस विषय में राजनैतिक आन्दोलन करने के लिए एक पार्टी बनाने का निश्चय किया। २६ से २८ अप्रैल १९०७ ई० को सम्पन्न हुए गुजराज आर्यसमाज के जलसे में वक्ताओं ने हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल दिया। ३ मई १९०७ ई० को गुरुदासपुर में गुरुदितसिंह बी० ए० की अध्यक्षता में एक सभा हुई, इसमें देशभक्तों की संस्था **अंजुमने मुहिब्बाने वतन** की शाखा स्थापित करने का निर्णय किया गया। इसके बाद इसमें सरदार अजीतसिंह ने अपने एक भाषण में सरकार की शिक्षा-सम्बन्धी नीति की आलोचना की। ५ मई १९०७ ई० को होशियारपुर के दसुआ नामक स्थान में हुई एक बैठक में आर्यसमाजियों ने देशभक्ति पर व्याख्यान दिये।

(४) सैंड्स की रिपोर्ट

केन्द्रीय गुप्तचर विभाग की रिपोर्टों के साथ इस विषय में संयुक्त प्रान्त के गुप्तचर विभाग के उपपुलिस अधीक्षक श्री सैण्ड्स की रिपोर्ट का भी उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। इसके संयुक्त प्रान्त सम्बन्धी प्रमाणों का विवेचन एक पृथक् अध्याय में किया गया है, यहाँ केवल पंजाब-विषयक निम्नलिखित प्रमाणों का निर्देश पर्याप्त होगा।

(१) २८ फरवरी १८९६ को पेशावर में आर्यसमाजियों द्वारा एक ऐसा नाटक खेला गया जो पेशावर डिवीजन के कमिश्नर की सम्मति में शासन-सत्ता के विरुद्ध विद्रोह को भड़काने वाला था। किन्तु इसमें यह स्पष्ट नहीं था कि यह समाज की ओर से सामूहिक रूप से खेला गया था या इसके सदस्यों द्वारा वैयक्तिक रूप में।

(२) सरकार के प्रति लाला लाजपतराय का रवैया १९०५, १९०६ तथा १९०७ में आपत्तिजनक था। जनवरी १९०६ में लाहौर में तथा मार्च १९०७ में लायलपुर में लालाजी द्वारा दिये गये भाषण विशेष रूप से आपत्तियोग्य थे। उनकी लिखी पुस्तकें छात्रों का चरित्र भ्रष्ट करने वाली अर्थात् उन्हें राजद्रोही बनाने वाली थीं।

(३) १९०६ ई० की समाप्ति पर सियालकोट के कुछ प्रमुख आर्यसमाजियों ने नगरपालिका के विरुद्ध आन्दोलन किया। इसमें सरकार एवं स्थानीय अधिकारियों के खिलाफ बड़े हिंसापूर्ण भाषण दिये।

(४) लायलपुर में नहरी बस्तियों के विधेयक (Colonization Bill) के विरुद्ध आन्दोलन चलाने वालों के प्रमुख नेता आर्यसमाजी थे।

(५) पंजाब की आर्य प्रतिनिधि सभा ने लाहौर के घसीटाराम तथा डेरागाजी खाँ

के टहलराम को वेतनभोगी उपदेशक के रूप में रखा हुआ है और ये अपने व्याख्यानों में राजनीति की ही चर्चा करते रहते हैं।

(६) दयानन्द एंग्लो वैदिक कालिज के प्रोफेसर भाई परमानन्द के घर की तलाशी में कलकत्ता के माणक टोला बमकाण्ड में बम-निर्माण की विधि बताने वाली एक पुस्तिका मिली है तथा लाला लाजपतराय को डी० ए० वी० कालेज के व्यय पर इंग्लैण्ड भेजे जाने और वहाँ अजीतसिंह के लिए चन्दा इकट्ठा करने के कुछ प्रमाण मिले हैं। इनको लाहौर के मुकद्दमे में प्रमाणों से पुष्ट किया जायेगा।

(७) १९०७ ई० में आर्यसमाज की ओर से लाला हंसराज के नेतृत्व में पंजाब के लेफ्टिनैंट गवर्नर सर डेंजिल इब्बटसन को आर्यसमाजियों का एक शिष्टमंडल मिला था और उसने यह बताया था कि पंजाब के उपद्रवों में आर्यसमाज का सामूहिक रूप से कोई भाग नहीं है तो गवर्नर ने यह जवाब दिया था कि उसे पंजाब के हर डिप्टी कमिश्नर ने यह सूचना दी है कि जहाँ कहीं आर्यसमाज है, वह राजद्रोह की चर्चा का केन्द्र बना हुआ है।

सरकार के गुप्तचर विभाग द्वारा संकलित और प्रस्तुत उपर्युक्त सभी प्रमाण राजद्रोह की कानूनी परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आते हैं। इसके अनुसार सरकार के विरुद्ध विद्रोह के लिए लोगों को भड़काना और सशस्त्र क्रान्ति करने को उकसाना राजद्रोह समझा जाता है। ऐसी कोई भी बात उपर्युक्त प्रमाणों में नहीं है। गुप्तचरों की अधिकांश रिपोर्टों में यह कहा गया है कि आर्यसमाजों में राष्ट्रीयता, देश की एकता, उन्नति, स्वदेशी के प्रचार, विदेशी चीनी के परित्याग आदि विषयों पर भाषण दिये जाते हैं। वस्तुतः १९०७ ई० की घटनाओं के बाद जो वातावरण उत्पन्न हुआ, उसमें अपने देश की उन्नति और भक्ति की चर्चा करना भी उत्साही गुप्तचरों द्वारा राजद्रोह का प्रमाण मान लिया जाता था। देशभक्ति के प्रचार को किसी भी प्रकार कानूनी दृष्टि से ऐसा नहीं समझा जा सकता है।

उपर्युक्त प्रमाणों में से कुछ लाला जी से, कुछ पंजाब के उपद्रवों और दंगों से तथा भाई परमानन्द के मामले से सम्बन्ध रखते हैं। ये अवश्यमेव राजद्रोह के गम्भीर आरोप थे। किन्तु इन्हें सरकार किसी भी प्रकार न्यायालय में सिद्ध नहीं कर सकी। लाला लाजपतराय को बिना मुकद्दमा चलाये १८१८ के रेग्यूलेशन ३ के अन्तर्गत देश-निर्वासन का दण्ड दिया गया था क्योंकि उनके विरुद्ध अदालत में राजद्रोह के आरोपों को सिद्ध नहीं किया जा सकता था। इसी अध्याय में पंजाब की घटनाओं का इस दृष्टि से विस्तार से प्रतिपादन किया गया है कि इनके लिए आर्यसमाजों को किसी प्रकार उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है।

(५) गोरक्षा का आन्दोलन

आर्यसमाज को राजद्रोही समझा जाने का एक बड़ा कारण यह भी था कि इस पर यह आरोप लगाया जाता था कि यह गोरक्षा के लिए प्रचण्ड आन्दोलन करने वाली संस्था है; गोवध को समूचे भारत में बन्द कराना चाहती है; गोवध का प्रधान कारण गोभक्षक विदेशी शासकों को समझती है और उनका शासन भारत से हटाना चाहती है।

यह आरोप बड़ा विचित्र-सा प्रतीत होता है, किन्तु कुछ परिस्थितियों के कारण इसे पिछली शताब्दी की अन्तिम दशाब्दी में विशेष महत्त्व दिया गया। १८९३ ई० में

संयुक्त प्रान्त के कुछ हिस्सों में गोवध के प्रश्न को लेकर हिन्दुओं ने एक प्रबल आन्दोलन चलाया और आजमगढ़ आदि कुछ स्थानों पर इस प्रश्न को लेकर कुछ दंगे भी हुए। इन दंगों के कारण सरकार का ध्यान इस प्रश्न की ओर गया और इस समय आर्यसमाज के विरोधियों ने सरकार को यह कहना शुरू किया कि आर्यसमाज राजनैतिक संस्था है और वह गोरक्षा सभाओं के माध्यम से इन दंगों को करा रही है। श्री आर० बर्न्स ने तत्कालीन पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध की १९०१ ई० की जनगणना-रिपोर्ट में इस प्रश्न के बारे में यह लिखा था—"आर्यसमाज के राजनैतिक संस्था होने के आरोप का आधार एक यह तथ्य है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती गोरक्षा-आन्दोलन के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने इस आन्दोलन को पुष्ट करने के लिए गोकरुणानिधि नामक पुस्तक लिखी है।"[1]

स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में भारत के पतन के कारणों की विवेचना करते हुए यह लिखा है—"भारत की दुर्दशा गो-हत्यारे विदेशी शासकों के कारण हो रही है।" दशम समुल्लास के भक्ष्याभक्ष्य-प्रकरण में उन्होंने गौ आदि उपकारी पशुओं के मांस को अभक्ष्य बताया है। उनकी हिंसा का निषध आर्थिक कारणों के आधार पर है और इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया गया है कि एक गौ का पालन करने से उसके दूध से कितने अधिक व्यक्तियों का पालन-पोषण होता है। उनके विचार में "एक गाय की एक पीढ़ी में ४,७५,६०० मनुष्य एक बार पालित होते हैं और पीढ़ी-दर-पीढ़ी बढ़ाकर लेखा करें तो असंख्यात मनुष्यों का पालन होता है। जब आर्यों का राज्य था तब महोपकारक गाय आदि पशु नहीं मारे जाते थे। तब आर्यावर्त व अन्य भूगोल देशों में बड़े आनन्द में मनुष्यादि प्राणी बरतते थे, क्योंकि दूध-घी, बैल आदि पशुओं की बहुतायत होने से अन्य रस पुष्कल प्राप्त होते थे। जब से विदेशी मांसाहारी इस देश में आकर गौ आदि पशुओं को मारने वाले मद्यपानी राज्याधिकारी हुए हैं, तब से क्रमशः आर्यों के दुःख की बढ़ती होती जा रही है।"[2]

इस संदर्भ के अन्तिम वाक्य में स्वामीजी ने विदेशी शासक मुसलमानों तथा अंग्रेजों को मांसाहारी और मद्यपानी लिखा था और यह कहा था कि जब से इनका शासन हुआ है तब से इस देश में रहने वाले आर्यों के दुःखों में निरन्तर वृद्धि हो रही है। सरकारी अधिकारियों की दृष्टि में यह वाक्य स्पष्ट रूप से अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह की भावना को उत्पन्न करने वाला था और १८९३ ई० में गो-वध के प्रश्न को लेकर जो दंगे हुए उनमें सरकारी अधिकारियों ने आर्यसमाज को दोषी ठहराया और इस कारण आर्य-समाज पर बगावत का आरोप लगाया। अतः इन दंगों के स्वरूप को जान लेना अतीव आवश्यक है।

ये दंगे आजमगढ़ जिले में हुए थे और उस समय के एक सुप्रसिद्ध कांग्रेसी नेता और प्रान्त के एक प्रमुख बैरिस्टर श्री विशन नारायण दर ने इनकी पूरी जाँच करने के बाद यह परिणाम निकाला था कि इसके लिए उत्तरदायी स्थानीय सरकार ही है। उन्होंने इस बारे में यह लिखा था कि—"मैं उस महान् उत्तरदायित्व को बड़ी अच्छी तरह से समझता हूँ जो इस मामले पर विचार करने वाले व्यक्तियों पर है। मैं खूब तोल-

---

१. सेन्सस ऑफ इण्डिया १९०१, उत्तर-पश्चिमी प्रान्त तथा अवध, भाग १, पृष्ठ ९१

२. सत्यार्थप्रकाश, दशम समुल्लास—स्वामी दयानन्द कृत संस्करण, पृष्ठ २३०

कर और सोच-विचारकर बोल रहा हूँ, क्योंकि मेरे वचनों का आधार ऐसे स्थानीय व्यक्तियों से एकत्र की गयी सूचनायें और तथ्य हैं जिन व्यक्तियों की सचाई और ईमानदारी में कोई अविश्वास नहीं किया जा सकता है और आगे मैं यह प्रदर्शित करूँगा कि सर चार्ल्स क्रास्थवेट ने अपने भाषणों में तथा गवर्नमेण्ट द्वारा प्रकाशित प्रस्तावों में इन तथ्यों का खण्डन नहीं किया है। आजमगढ़ के दंगों का एकमात्र दोष स्थानीय सरकार का है। (ईसामसीह को दण्डित करने वाले) पायलेट की भाँति जनता के सामने (वर्तमान शासक) अपनी निर्दोषिता को प्रमाणित करने के लिए इस मामले में भले ही वे अपने हाथ धो लें, किन्तु वे इंग्लैण्ड और भारत की प्रबुद्ध एवं निष्पक्ष जनता द्वारा उन पर लगाये गये इस मामले में दोषी होने के आरोप से बच नहीं सकते हैं, क्योंकि जब इस मामले के सभी तथ्य सच्चे रूप से प्रस्तुत किये जायेंगे, उसी समय उनके आचरण के लिए उन्हें दोषी ठहराया जायगा।"

किन्तु बर्न्स ने उपर्युक्त जनगणना-रिपोर्ट में संयुक्त प्रान्त के अन्य सरकारी अधिकारियों की भाँति इस मामले में गोरक्षिणी सभाओं तथा आर्यसमाज को दोषी ठहराया था। इस आरोप का खण्डन करते हुए श्री दर ने अपनी अपील में लिखा था—"इसमें कोई सन्देह नहीं है कि चार्ल्स क्रास्थवेट इन दंगों का मूल कारण गोरक्षिणी सभाओं की कार्यपद्धति और प्रभाव को समझते हैं, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति गोरक्षणी सभाओं के उद्देश्यों को अच्छी तरह से जानता है, वे बिलकुल हानिरहित, मानवीय एवं व्यावहारिक उद्देश्यों से प्रेरित होकर कार्य करती हैं; फिर भी हम सर चार्ल्स क्रास्थवेट की भाँति यह मान लेते हैं कि ये सभायें ऐसे संगठन हैं जो अपने सदस्यों से अनुरोध करते हैं कि वे सभाओं के उद्देश्य का दृढ़तापूर्वक पालन करें और यह समझें कि यह उन हिन्दुओं को दण्ड भी देती हैं जो इसके नियमों का पालन नहीं करते हैं। फिर भी इस बात को सिद्ध करने का कोई भी प्रमाण नहीं है कि इन सभाओं ने कभी भी शक्ति का प्रयोग करने या अव्यवस्था और गड़बड़ी पैदा करने की प्रेरणा दी है। वे बड़ी कट्टर संस्थायें हैं, इसलिए उनके उपदेश और मन्तव्य शिक्षित वर्ग की तुलना में अधिक असहिष्णुतापूर्ण हैं। फिर भी उनकी असहिष्णुता कितनी भी घृणित क्यों न हो, यह नैतिक दृष्टि से किसी भी प्रकार से अवैध या कानून का विरोध करने वाली नहीं है। जो अधिकारी सॉल्वेशन आर्मी (मुक्ति फौज) को सहन करते हैं, उनको गोरक्षा-सभाओं को भी सहन करना चाहिए। इनमें कौन-सी ऐसी बात है जिसके लिए स्थानीय सरकार उनसे क्रुद्ध है? क्या यह सिद्ध किया गया है कि इन सभाओं के सदस्यों ने दंगों में भाग लिया था? क्या इन सभाओं के अधिकारी दंगों के कुख्यात नेता थे? क्या किसी न्यायालय के समक्ष यह सिद्ध किया गया है कि इन सभाओं ने कोई ऐसा पत्र प्रसारित किया था जिसमें विभिन्न जिलों के हिन्दुओं को इस बात की प्रेरणा दी गयी थी कि मुसलमानों को गौओं की कुर्बानी न करने के लिए बलपूर्वक बाधित करें? सर चार्ल्स क्रास्थवेट द्वारा इन सभाओं पर सन्देह करने का यह कारण है कि ये सभायें सुदृढ़ रूप से संगठित हैं, इनके नियम बड़े कठोर हैं और इनका प्रभाव दूर-दूर तक फैला हुआ है। किन्तु सर चार्ल्स क्रास्थवेट को यह मालूम होना चाहिए कि इन सभाओं का प्रभाव मध्यप्रदेश में सबसे अधिक प्रबल है। फिर भी वहाँ कोई धार्मिक दंगे नहीं हुए हैं। यहाँ संयुक्त प्रान्त में दंगों का सारा दोष इन पर डाला गया है। सरकार ने इन दंगों का दमन करने के लिए कठोर

उपायों का अवलम्बन किया है। सच्ची बात तो यह है कि सरकार इन अपराधों के लिए किसी को दण्ड देना चाहती है। किन्तु असली अपराधियों को दण्ड नहीं देना चाहती है इसलिए इसने इसके लिए गोरक्षिणी सभाओं पर तोहमत लगाने का बहाना ढूंढ लिया है।[1]

इस प्रसंग में यदि हम स्वामी जी द्वारा बनाये गये गोकृष्यादिरक्षिणी प्रचार सभाओं के नियमों पर दृष्टिपात करेंगे तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि सरकार द्वारा इन दंगों को भड़काने का आरोप सभा और समाज पर लगाना कितना गलत और भ्रान्ति-पूर्ण था। इस सभा के प्रमुख नियम निम्नलिखित थे—

(१) यह सभा समूची मानव-जाति के कल्याण और सुख को बढ़ाने का पूरा प्रयास करेगी और ऐसा कार्य नहीं करेगी जिससे किसी व्यक्ति को कोई हानि पहुँच सके।

(२) यह सभा प्रकृति के नियमों के अनुसार सब व्यक्तियों की भलाई के लिए प्रत्येक वस्तु का उचित रूप में प्रयोग करेगी।

(३) यह सभा कोई ऐसा काम न करेगी जिससे लाभ कम और हानि अधिक हो।

(४) यह सभा ऐसे सभी व्यक्तियों को सम्मानित करेगी जो अपना समय और धन इस प्रकार के उपयोगी कार्य की सहायता देने में लगायेंगे।

(५) यह सभा अपने मन में सदैव सम्पूर्ण मानव-जाति के कल्याण को बढ़ाने का ध्यान रखेगी और इसकी पूर्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति से आवश्यक सहायता देने की आशा रखेगी।

(६) यह सभा ऐसी सब सभाओं को अपना सहायक समझेगी जिनका लक्ष्य इसकी सहायता करते हुए मानव-जाति के हित का संवर्द्धन करना होगा।[2]

उपर्युक्त उद्देश्यों से यह स्पष्ट है कि इस सभा का उद्देश्य मानवमात्र के कल्याण और हित को बढ़ाने के लिए प्रयास करना और इस उदात्त कार्य में सब व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त करना और शान्तिपूर्ण उपायों से उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति करना था। यह किसी भी प्रकार के हिंसापूर्ण कार्य को पसन्द नहीं करती थी। अतः ऐसी संस्था का नाम दंगों के साथ जोड़ना और उसे राजद्रोह के लिए प्रेरित करने का आरोप लगाना सर्वथा हास्यास्पद और मिथ्या था।

ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा गोरक्षा के कारण होने वाले दंगों के लिए आर्यसमाज को उत्तरदायी ठहराना इसलिए भी विचित्र प्रतीत होता है कि यह उनकी घोषित परम्परागत नीति के सर्वथा प्रतिकूल था। भारत में मुगल सम्राटों के समय से गोवध-निषेध की नीति चली आ रही थी। अकबर और शाह आलम ने इस विषय में सरकारी आदेश प्रसारित किये थे। शाह आलम ने महाराजा सिन्धिया की प्रेरणा से इस प्रश्न पर गम्भीर विचार किया था। उस समय के प्रसिद्ध मौलवी कुतुबुद्दीन और अपने धर्मगुरु मौलवी साबिर बख्श से परामर्श किया था। इसके बाद १३ जिल हिज्जा, हिजरी १२३१ को यह आदेश प्रचारित किया गया था—

"सब व्यक्तियों को यह विदित हो कि यह आदेश उस समय प्रसारित किया जा

---

१. बिशन नारायण दर—एन अपील टू इंगलिश पीपल, १८९३, पृ० २-३, श्री मदन-मोहन सेठ द्वारा—आर्यसमाज, ए पोलिटिक बॉडी से उद्धृत, पृ० २२

२. सेठ—वही पुस्तक, पृ० २३

रहा है जब सब व्यक्तियों के साथ न्याय किया जा रहा है। गौएँ तथा बैल भगवान् के बनाये आश्चर्यजनक प्राणियों में से हैं। हम उनसे बहुमूल्य वस्तुएँ तथा सेवायें लेते हैं। मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों का जीवन, अनाज और सब्जियाँ इनपर निर्भर हैं। अनाज तथा अन्य कृषिजन्य वस्तुयें पूर्णरूप से खेती पर निर्भर हैं और खेती पूरी तरह बैलों पर अवलम्बित है। अतः वैयक्तिक सुख पाने के लिए इन प्राणियों का मारा जाना उचित नहीं है। हमें इनका पूरा उपयोग करना चाहिए और इनकी सेवाओं से पूरा लाभ उठाना चाहिए। अतः यह आदेश दिया जाता है कि गौओं को नहीं मारा जायेगा। यदि कहीं यह पद्धति प्रचलित है तो इसे फौरन बन्द कर दिया जायेगा। इस आदेश की तनिक भी अवहेलना करने पर कठोर दण्ड दिया जायेगा।"[1]

अंग्रेजों ने जब मुगल बादशाहों से इस देश की प्रभुसत्ता और दीवानी प्राप्त की तो उन्होंने अपने राज्य में गोवध-निषेध की पुरानी परम्परा जारी रखी। पिछली शताब्दी के आरम्भ में जब ब्रिटिश सेनापति लार्ड लेक ने मथुरा का तथा ब्रजभूमि का प्रदेश जीता तो ३ जुलाई १८०५ को अंग्रेजों की ओर से मथुरा में गोवध-निषेध की निम्नलिखित आज्ञा प्रसारित की गयी थी—

"चूँकि ब्रजभूमि (मथुरा) हिन्दुओं का पवित्र तीर्थ-स्थान है, अतः यह उचित एवं वांछनीय है कि गोवंश को किसी भी प्रकार की कोई हानि पहुँचाने की अनुमति किसी व्यक्ति को न दी जाय। इसके प्रतिकूल उन पर सब प्रकार की दया दिखाई जाय। अतः महामाननीय (राइट आनरेबल), विजेता, महान् सेनानी, ब्रिटिश फौजों के सेनापति लार्ड लेक को अपनी उदारता, भगवत्कृपा एवं दयालुता से यह आदेश प्रसारित करने में बड़ी प्रसन्नता है कि मथुरा की सीमाओं के भीतर न तो कोई बूचड़, न सेनायें, न विदेशी व्यक्ति और न ही विदेशी यात्री गौओं की हत्या कर सकेंगे।

"इसी कारण सार्वजनिक रूप से यह घोषणा की जाती है कि कोई भी व्यक्ति ब्रजभूमि के भीतर गोहत्या न करे। यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार का अपराध करता है तो उसे कठोर दण्ड दिया जायेगा।"[2]

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने पंजाब को जीतने के बाद वहाँ भी सिक्ख शासकों की गोवध-निषेध की पुरानी नीति जारी रखी। इस विषय में १० अप्रैल १८४९ को प्रसारित एक सरकारी आज्ञा में कहा गया था—"ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाये गये नवीन प्रदेश के सभी नागरिक अधिकारियों का यह कर्त्तव्य है कि वे अपने जिलों में गोवध का नियन्त्रण इतनी सावधानी और दृढ़तापूर्वक करें कि हिन्दू जनता को यह तनिक भी उद्वेगजनक न हो। उदाहरणार्थ, जहाँ हिन्दुओं तथा मुसलमानों की आबादी मिली-जुली है, वहाँ शहरों, कस्बों, गाँवों की सीमाओं के भीतर गोवध की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। ऐसा करने वाले को कड़े दण्ड दिये जाने चाहियें। यह कार्य शहरों से ३०० गज दूर किया जाना चाहिए। किसी भी दशा में बाहर मारे गये पशुओं के गो-मांस को शहरों की दुकानों में बिक्री के लिए खुले रूप में प्रदर्शित नहीं किया जाना चाहिए। यदि

---

१. इस आदेश के मूल फारसी रूप के लिए देखिए—मदन मोहन सेठ की वही पुस्तक, पृ० २५-२६

२. वही पुस्तक, पृ० २६-२७

मुसलमान हिन्दू पड़ोसियों की धार्मिक भावनाओं को आघात पहुँचाने के लिए खुले रूप में इसका प्रदर्शन करें तो उन्हें इसके लिए कठोर दण्ड दिया जाना चाहिए।"[1]

उपर्युक्त आदेशों से स्पष्ट है कि पहली शताब्दी के मध्य तक ब्रिटिश सरकार की नीति गोवध-निषेध को प्रोत्साहन देने की थी। वे इस विषय में अतीव सावधान थे कि यदि मुसलमान गोवध करते हैं तो वह भी इस प्रकार से नहीं होना चाहिए जिससे हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचे। किन्तु पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में सरकार की मुस्लिमपरस्त नीति से इसमें परिवर्तन आने लगा। मुसलमान उस गोवध को अपना धार्मिक अधिकार समझने लगे जिसे अकबर और शाह आलम जैसे मुगल बादशाहों ने बन्द किया था। वे इस अधिकार को सम्पन्न करने के लिए आग्रह करने लगे और शासकों से इसके संरक्षण के लिए प्रार्थना करने लगे। शासकों द्वारा सुरक्षा का अभय वचन पाने पर इसे ऐसे ढंग से किया जाने लगा जो हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं को आघात पहुँचाने वाला था। इससे कई बार बड़ी तनावपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो जाती थी और साम्प्रदायिक दंगे होते थे।

वस्तुतः इन दंगों पर नियन्त्रण करना सरकार का एवं स्थानीय अधिकारियों का कार्य था। उनकी उपेक्षा एवं प्रमाद से ऐसे शोचनीय उपद्रव होते थे और स्थानीय सरकार इसकी पूरी जिम्मेदारी हिन्दुओं, विशेषतः आर्यसमाजियों पर डालती थी। श्री बिशन नारायण दर ने अपनी अपील में यह सिद्ध किया था कि दंगे सरकार की शिथिलता, उपेक्षा, उदासीनता और मुस्लिम-पक्षपात की नीति का परिणाम हैं। स्वामी दयानन्द ने आर्थिक कारणों के आधार पर गोरक्षा का समर्थन किया। गोकृष्यादि-रक्षिणी सभा बनाई थी। इनका राजद्रोह से कोई सम्बन्ध नहीं था। किन्तु आगे चलकर हम देखेंगे कि सर वेलेण्टाइन शिरोल जैसे ब्रिटिश पत्रकारों ने स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज पर यह आरोप लगाया था कि वे गौ के प्रति सब हिन्दुओं में सामान्य रूप से प्रचलित अवध्यता की भावना का लाभ उठाते हुए हिन्दुओं को अंग्रेजों के विरुद्ध राज-द्रोह के लिए गोवध-निषेध के माध्यम से एक मंच पर संगठित करना चाहते थे।

(६) किरानी-पुरानी-कुरानी गठबन्धन

आर्यसमाज के बारे में राजद्रोही संस्था होने की भ्रान्ति को उत्पन्न करने वाला एक बड़ा कारण ईसाइयों (किरानियों), पौराणिकों (पुरानियों) तथा कुरानशरीफ के अनुयायी मुसलमानों (कुरानियों) के सम्मिलित प्रयास थे। ये सब आर्यसमाज के विरोधी थे और इनका सामूहिक प्रयत्न आर्यसमाज को बदनाम करना था। स्वामी दयानन्द ने अपने जीवन में इस बात का पूरा प्रयास किया था कि विभिन्न धर्मावलम्बियों में शान्ति, सद्भाव और मैत्री की भावना बढ़े, सब धर्मों के भीतर पाये जाने वाले उदात्त तत्त्वों तथा सचाइयों का पता लगाया जाय। मार्च १८७७ में शाहजहाँपुर जिले में डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट की अनुमति से चाँदपुर में एक धार्मिक मेला वहाँ के एक जमींदार ने स्वामीजी की अध्यक्षता में बुलाया था जिसमें मौलवी मुहम्मद कासिम ने मुसलमानों के और रेवरेण्ड स्काट, रेवरेण्ड नोअल, रेवरेण्ड पार्कर ने ईसाइयों के और स्वामी दयानन्द ने

---

१. वही पुस्तक, पृ० २८

वैदिक मत के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इस मेले से पहले कुछ व्यक्ति स्वामी जी के पास आये थे और उन्होंने यह कहा था कि हिन्दुओं और मुसलमानों को मिलकर पादरियों के धर्म का खण्डन करना चाहिए। किन्तु स्वामी जी ने तब यह उत्तर दिया था कि मेले में किसी के साथ कोई पक्षपात नहीं होना चाहिए और मेरी सम्मति में यह अधिक अच्छा होगा कि "हम, मौलवी और पादरी मिलकर प्रेमपूर्वक सत्य की खोज करें और किसी व्यक्ति के साथ विरोध की भावना से कोई कार्य न करें।" इस पर कुछ हिन्दू और मुसलमान स्वामी जी से चिढ़ गये और उन्होंने लोगों में इस बात का प्रचार करना शुरू किया कि स्वामी दयानन्द ब्रिटिश सरकार के गुप्तचर हैं, उनका उद्देश्य हिन्दुओं तथा मुसलमान को ईसाई बनाना है और इसीलिए वे इनके धर्मों की आलोचना कर रहे हैं कि उनका विश्वास अपने धर्म में कम हो जाय और वे आसानी से ईसाई बन सकें। आर्यसमाज और स्वामी जी को बदनाम करने का सम्भवतः यह पहला प्रयास था।

स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश के उत्तरार्ध के चार समुल्लासों में हिन्दू-धर्म के विभिन्न मत-मतान्तरों और ईसाइयत तथा इस्लाम की उनके धर्म-ग्रन्थों के आधार पर विस्तृत समीक्षा की है। ऐसा करने में उनका आशय इन धर्मों की विद्वेषवश कटु आलोचना करना नहीं था, अपितु निष्पक्ष भाव से सत्य के अन्वेषण के लिए प्रयास करना था। यह बात सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में लिखे उनके इन शब्दों से स्पष्ट हो जाती है—"इसमें यह अभिप्राय रखा गया है कि जो-जो सब मतों में सत्य-सत्य बातें हैं, वे-वे सबमें अविरुद्ध होने से उनको स्वीकार करके जो-जो मत-मतान्तरों में मिथ्या बातें हैं, उन सबका खण्डन किया है। इसमें यह भी अभिप्राय रखा है कि सब मत-मतान्तरों की गुप्त व प्रकट बुरी बातों का प्रकाश कर विद्वान् अविद्वान् सब साधारण मनुष्यों के सामने रखा है जिससे सबका सबसे विचार होकर परस्पर प्रेमी होकर एक सत्य मतस्थ होवें।"[1]

इस्लाम की आलोचना करने वाले चौदहवें समुल्लास की भूमिका में अपने उद्देश्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा था—"यह लेख केवल मनुष्यों की उन्नति और सत्यासत्य के निर्णय के लिए, सब मतों के विषयों का थोड़ा-थोड़ा ज्ञान होवे, इससे मनुष्यों को परस्पर विचार करने का समय मिले और एक-दूसरे के दोषों का खण्डन कर गुणों का ग्रहण करें। न किसी अन्य मत पर, न इस मत पर झूठमूठ बुराई व भलाई लगाने का प्रयोजन है। किन्तु जो-जो भलाई है, वही भलाई है और जो बुराई है वही बुराई सबको विदित होवे। न कोई किसी पर झूठ चला सके और न सत्य को रोक सके।"[2]

उपर्युक्त अवतरणों से स्वामी जी द्वारा विभिन्न धर्मों की आलोचना का मूल कारण भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। इसके साथ ही इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि स्वामी जी परमहंस थे और हंस की भाँति सब धर्मों के सत्य का नीरक्षीर-विवेक करना चाहते थे। उन्होंने न केवल इस्लाम और ईसाइयत की समीक्षा की, अपितु भारत-वर्ष में प्रचलित विभिन्न सम्प्रदायों की संभवतः उनसे भी अधिक कड़ी समीक्षा की और

---

१. सत्यार्थप्रकाश, सम्पादक स्वामी वेदानन्द, भूमिका, पृष्ठ ३

२. वही पुस्तक, पृष्ठ ५११

इसका प्रयोजन बताते हुए उन्होंने यह लिखा था कि—"यद्यपि मैं आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूँ, तथापि इस देश के मत-मतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर यथातथ्य प्रकाशित करता हूँ। वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मतोन्नति वालों के साथ भी बर्तता हूँ; जैसे स्वदेश वालों के साथ, मनुष्योन्नति के बारे में बर्त्तता हूँ वैसा विदेशियों के साथ भी तथा सज्जनों को भी ऐसा बर्त्तना योग्य है।" यह अवतरण इस बात को बिलकुल स्पष्ट कर देता है कि स्वामी जी ने पूर्ण निष्पक्ष वृत्ति से सत्यासत्य के निर्णय के लिए ही विभिन्न मतों की समीक्षा की थी।

किन्तु दुर्भाग्यवश सदुद्देश्य से प्रेरित इस समीक्षा को ईसाइयों, मुसलमानों और पौराणिकों ने बहुत बुरा माना। वे स्वामी जी के कट्टर विरोधी बन गये और आर्यसमाज पर प्रबल आक्षेप करने लगे। उनके समाज के साथ शास्त्रार्थ होने लगे। इन शास्त्रार्थों में निरुत्तर हो जाने से आर्यसमाज के प्रति उनका प्रकोप बढ़ता चला गया और आर्यसमाज के शुद्धि के कार्यक्रम ने मुसलमानों और ईसाइयों द्वारा हिन्दुओं को अपना धर्मानुयायी बनाने की योजनायें विफल कर दीं। इससे भी इन धर्मों का आर्यसमाज के प्रति रोष बढ़ा और उन्होंने आर्यसमाज को राजद्रोही के रूप में बदनाम करने का प्रबल अभियान चलाया। इनके सम्मिलित प्रयत्नों से ब्रिटिश सरकार शनैः-शनैः यह समझने लगी कि आर्यसमाज राजद्रोही संस्था है।

आर्यसमाज को इस रूप में बदनाम करना इन सम्प्रदायों के लिए कुछ कारणों से अधिक सुविधाजनक और अच्छा था। पहला कारण यह था कि स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज में राष्ट्रीयता और देशभक्ति के भावों पर बल दिया था और उस जमाने में देश-भक्ति अंग्रेजों की दृष्टि में राजद्रोह था। यदि ब्रिटिश शासक आर्यसमाज को बागी समझने लग जाएँ और इसका उन्हें दृढ़ विश्वास हो जाए तो वे इस संस्था को अवैध एवं राजद्रोही घोषित करके इसका पूरी तरह दमन कर सकते हैं। इस प्रकार आर्यसमाज के विरोधियों का उसे नष्ट करने का उद्देश्य बड़ी आसानी से पूरा हो सकता था। अतः उद्देश्य की समानता के कारण आर्यसमाज के सभी विरोधी उसे राजद्रोही सिद्ध करने के लिए एक हो गये। अतः यहाँ क्रमशः इन धर्मों द्वारा आर्यसमाज को राजद्रोही सिद्ध करने वाले प्रयासों का उल्लेख किया जायेगा।

(७) ईसाई पादरी

आर्यसमाज के राजद्रोही राजनैतिक संस्था होने का विषैला प्रचार करने वालों में ईसाई मिशनरी प्रमुख स्थान रखते हैं। पिछली शताब्दी में उनका प्रधान लक्ष्य भारत में ईसा के अनुयायियों की संख्या अधिक बढ़ाना और समूचे भारत को शीघ्र ही वेद के स्थान पर बाइबल पर श्रद्धा रखने वाला बनाना था। पहले यह विस्तार से बताया जा चुका है कि मिशनरियों ने इस उद्देश्य के लिए किन साधनों का अवलम्बन किया।[1] मिशनरियों द्वारा स्थापित किये जाने वाले स्कूल इसका प्रमुख साधन थे। इनमें बाइबल और ईसाइयत की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती थी। १८३० से १८५७ ई० तक मिशनरी स्कूलों का स्वर्ण युग था।[2] इससे भारतीय शिक्षा के क्षेत्र पर मिशनरियों का वर्चस्व

१. सत्यकेतु विद्यालंकार—आर्यसमाज का इतिहास, खण्ड ३, पृ० ७८
२. वही, पृ० ७८

स्थापित हो गया और वे शीघ्र ही भारत को ईसाई बनाने का सपना लेने लगे। मैकाले का यह विचार था कि उसके द्वारा स्थापित पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति से अगले तीन दशकों में १८६५-७० ई० तक सब बंगाली ईसाई हो जायेंगे। उसने अपने पिता को एक पत्र में लिखा था कि—"मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि शिक्षा की हमारी योजना को क्रियान्वित किया गया तो बंगाल में तीस वर्ष बाद कुलीन एवं सम्भ्रान्त श्रेणियों में एक भी मूर्तिपूजक (हिन्दू) नहीं रहेगा।"[1] जो कार्य मुस्लिम शासक कई शताब्दियों के अपने शासन में तलवार के जोर से नहीं कर पाये थे, उसे ब्रिटिश शासक और मिशनरी चौथाई शताब्दी में मिशनरी स्कूलों के माध्यम से पूरा कर लेना चाहते थे। राजा राममोहन राय द्वारा ब्राह्मसमाज भारतीय समाज का सुधार करने तथा उसे ईसाइयत के आक्रमणों से रक्षा करने के लिए स्थापित किया गया था; यह शीघ्र ही ईसाइयत की बाढ़ में बह गया।

किन्तु आर्यसमाज ईसाइयत के प्रबल प्रवाह को रोकने और हिन्दू धर्म की रक्षा करने में समर्थ हुआ। यह उसके लिए चीन की दीवार सिद्ध हुआ। एक लेखक के शब्दों में "आर्यसमाज के साथ टकराते ही ईसाई मिशनरियों का समूचे भारत को शीघ्र ही ईसाई बनाने का सुख-स्वप्न टूटा और उन्होंने देखा कि उनकी स्वप्न-सृष्टि की उमंगों का पूरा होना सम्भव नहीं है।...ईसाई आर्यसमाज से घबरा उठे और उनके भरोसे भारत में अपने साम्राज्य की जड़ें पाताल में पहुँचाने की आशा लगाये हुए अंग्रेज भी व्याकुल हो गये। अतः एंग्लो-इण्डियनों तथा ईसाई मिशनरियों को आर्यसमाज के हर काम में राजद्रोह दीखने लगा। ईसवी सन् १८८३ से ही ईसाई पादरियों ने आर्यसमाज को राजनैतिक संस्था कहना शुरू कर दिया था।" इस विषय का विवेचन करते हुए महात्मा मुंशीराम ने यह सत्य ही लिखा था—"आर्यसमाज के पोलिटिकल जमात होने का सारा सन्देह ईसाई मिशनरियों ने ब्रिटिश कर्मचारियों के दिलों में डाला था। गरीब हिन्दुओं को वाग्युद्ध में सदा पछाड़ने के अभ्यासी पादरियों को जब आर्यसमाज के वातावरण में पले बालकों तक से पटकनी-पर-पटकनी मिलने लगीं तब वे ओछी करतूतों पर उतर आये और उन्होंने सरकारी अधिकारियों को विश्वास दिलाना आरम्भ किया कि आर्यसमाज से क्रिश्चियन मत को तो कम भय है, अधिक भय सरकार को है।"[2]

इस प्रकार का भय और सन्देह सिद्ध करने के लिए ईसाई मिशनरियों को स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों से बड़ी सहायता मिली, क्योंकि इनमें प्रचण्ड देश-भक्ति के भावों का प्रतिपादन था, आर्यावर्त के प्राचीन गौरव की महिमा का बखान था, लुप्त गौरव के पुनरुद्धार की उत्कट अभिलाषा और प्रबल आकांक्षा अभिव्यक्त की गयी थी। महर्षि के मिशन का लक्ष्य भले ही सारे संसार में वैदिक धर्म और संस्कृति का प्रसार था, किन्तु इसके साथ ही उनके लिए देश की दुर्दशा, दरिद्रता और दासता भी असह्य थी। वे राष्ट्रीयता के अग्रदूत थे। अपने देश के लिए स्वराज्य, साम्राज्य और चक्रवर्ती राज्य की भावना रखने वाले वे सम्भवतः आधुनिक भारत के पहले महापुरुष थे। उनके लेख राजनैतिक दृष्टि से मृतप्राय व्यक्ति में नूतन प्राण संचार करने वाले थे। उनका धर्म देश-प्रेम, देश-भक्ति, देश-सेवा तथा स्वदेशाभिमान की भावनाओं से ओत-प्रोत था। ईसाई

---

१. रमेशचन्द्र मजूमदार—ब्रिटिश पैरामाउन्सी, भाग २, पृ० ३६

२. सत्यदेव विद्यालंकार—स्वामी श्रद्धानन्द, पृ० ३८७

पादरियों ने स्वामी दयानन्द के ऐसे सब कथनों तथा लेखों को अंग्रेजों के विरुद्ध भारतीयों में राजद्रोह की भावनायें भड़काने वाला सिद्ध करने का प्रयास किया और ऐसे वाक्यों और वचनों के आधार पर ब्रिटिश सरकार आर्यसमाज को राजद्रोही राजनैतिक संस्था मानने लगी।

(८) पौराणिकों द्वारा विरोध : आलाराम का मामला

मूर्ति-पूजा, पौराणिक रूढ़ियों और कुरीतियों का प्रबल खण्डन करने के कारण कट्टरपंथी हिन्दू आर्यसमाज के उग्र विरोधी थे। इस विषय में आलाराम का मामला उल्लेखनीय है। इसमें ब्रिटिश न्यायालय में सम्भवतः पहली बार आर्यसमाज को राजद्रोही सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण सत्यार्थप्रकाश से प्रस्तुत किये गये थे। अतः इस मामले का कुछ विस्तार से उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है।

आलाराम के मामले में सम्भवतः पहली बार एक ब्रिटिश न्यायाधीश ने विस्तार-पूर्वक आर्यसमाज को राजद्रोही सिद्ध करने के लिए दिये जाने वाले प्रमाणों की समीक्षा की थी। आलाराम सागर संन्यासी पहले किसी समय आर्यसमाजी प्रचारक था। बाद में कट्टर सनातनी उपदेशक और संन्यासी बन गया। उसका वाणी पर संयम बिलकुल नहीं था। वह आर्यसमाज के प्रति गालियों से भरी बड़ी उत्तेजक भाषा का प्रयोग करता था और इसके संस्थापक पर अनेक प्रकार के भद्दे आक्षेप किया करता था। १९०२ ई० में इलाहाबाद में उसने भाषणों तथा विज्ञापनों में आर्यसमाजियों पर बागी या राजद्रोही होने का आरोप लगाया और दावा किया कि सत्यार्थप्रकाश राजद्रोह के विचारों से परिपूर्ण है। उसके भाषण साधारण कट्टरपन्थी हिन्दू जनता को आर्यसमाज के विरुद्ध इतने अधिक भड़काने वाले थे कि उस पर भारतीय दण्ड विधान के अनुच्छेद १०८ के अनुसार सरकार की ओर से अभियोग चलाया गया और यह पूछा गया कि उससे एक वर्ष के लिए नेक-चलनी की जमानत देने के लिए क्यों न कहा जाय; क्योंकि उसने ऐसे साहित्य का प्रचार किया है, जिसका प्रकाशन भारतीय दण्ड विधान की धारा १५३ 'ए' के अनुसार दण्डनीय अपराध है। इस धारा के अनुसार दो समुदायों या सम्प्रदायों में शत्रुता, कटुता और विरोध भड़काने वाली मौखिक या लिखित सामग्री का प्रचार दण्डनीय है।

आलाराम सनातन धर्म सभा की ओर से ऐसा प्रचार-कार्य कर रहा था। इस सभा का उद्देश्य हिन्दू धर्म में किये जाने वाले क्रान्तिकारी सुधारों तथा परिवर्तनों का विरोध करना था। आर्यसमाज और उसके संस्थापक स्वामी दयानन्द ने ऐसे सुधारों का समर्थन किया था। आलाराम का प्रधान उद्देश्य हर अवसर पर आर्यसमाज पर आक्षेप करना था। उसने इलाहाबाद, कानपुर, शाहजहाँपुर जिलों में ऐसे साहित्य का वितरण किया और इस प्रकार के व्याख्यान न केवल उपर्युक्त जिलों में, अपितु सहारनपुर, मुजफ्फरनगर जिलों में भी दिये। उसने अदालत में अपने बचाव के लिए यह तर्क उपस्थित किया कि स्वामी दयानन्द राजद्रोही (बागी) थे। उनका उद्देश्य भारतीय जनता को ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध भड़काना था। आर्यसमाजी प्रचारक राजद्रोह का प्रचार करते हैं, वह उनका प्रतिकार कर रहा है, अतः उस पर यह अभियोग नहीं चलाया जाना चाहिए।

इलाहाबाद के जिलाधीश श्री पी० हैरिसन ने इस मुकद्दमे को सुना और इसमें

अभियुक्त द्वारा अपनी सफाई के लिए आर्यसमाज के देशद्रोही होने की युक्तियों और प्रमाणों की अपने निर्णय में विस्तृत समीक्षा करते हुए इनको सर्वथा निराधार पाया। उन्होंने आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था सिद्ध करने के लिए दिये प्रमाणों के बारे में अपने फैसले में लिखा था—

"इस मामले में यह दलील दी गयी है कि आर्यसमाजियों अथवा कम-से-कम स्वामी दयानन्द ने आलाराम की भाषा से भी अधिक बुरे नहीं तो ऐसे बुरे शब्दों वाला साहित्य प्रकाशित किया है। इस मुकद्दमे में कुछ ऐसे (आर्यसमाजी) प्रकाशनों के उदाहरण विभिन्न ग्रन्थों से दिये गये हैं। मैंने इन अवतरणों को तथा इनके अनुवादों को मूल ग्रन्थों से मिलाया है। इन अवतरणों के एक समूह (एग्ज़िबिट जैड) का उद्देश्य आलाराम द्वारा कही गयी इस बात को प्रमाणित करना है कि आर्यसमाजी राजद्रोही होते हैं। इसके प्रथम अवतरण में एक ऐसा सन्दर्भ है जिसका अर्थ निम्नलिखित है—'हमारे देश में किसी विदेशी का शासन न हो और हम कभी किसी दूसरे देश के अधीन न हों।' अवतरण सं० २, ३, ४ और ५ में साम्राज्य के लिए प्रार्थनायें की गयी हैं। अवतरण ६ में इस बात पर दुःख प्रकट किया गया है कि भारत में स्वदेशी शासन नहीं है और यह परिणाम निकाला गया है कि अपने देशवासियों द्वारा किया जाने वाला शासन सब शासनों में सर्वोत्तम होता है और विदेशी लोगों द्वारा किया गया शासन भले ही धार्मिक पक्षपात से मुक्त और देशवासियों के कल्याण का ध्यान रखने वाला, न्यायपूर्ण तथा दयालुतापूर्ण क्यों न हो, फिर भी वह अधिकतम सुख देने वाला नहीं हो सकता है।

"अवतरण सं० ८ मुझे अप्रासंगिक प्रतीत होता है। अवतरण सं० ८ में यह कहा गया है कि 'गोरे न्यायाधीश शासक लोगों का पक्षपात करते हैं और ऐसे गोरे व्यक्तियों को भी छोड़ देते हैं जो भारतवासियों की हत्या कर चुके होते हैं। यह निश्चित है कि ईसा मसीह के स्वर्ग में इसी प्रकार का न्याय किया जाता होगा।' यह बात ब्रिटिश सरकार के नहीं, अपितु ईसाइयत के विरुद्ध दी गयी युक्ति प्रतीत होती है।

"अवतरण सं० ९ में विदेशी शासन का कारण आपसी फूट को बताया गया है और भगवान् से प्रार्थना की गयी है कि आर्यों में यह घातक बीमारी न रहे। सं० १४ तक के अन्य अवतरण इस मामले में महत्त्व नहीं रखते हैं। अवतरण सं० १४ में कहा गया है कि जब विदेशी किसी देश पर शासन करते हैं और साथ ही उस देश में व्यापार भी करते हैं तो निश्चित रूप से इसका परिणाम उस देश की गरीबी और दुःख के सिवाय कुछ नहीं हो सकता है। अवतरण सं० १५ में आर्यों की पराधीन दशा का कारण अनेक दुर्गुणों और बुराइयों को बताते हुए यह परिणाम निकाला गया है कि उनके दुर्भाग्य से आर्यों के वंशजों को विदेशी शासन के जूए में पीड़ित होना पड़ रहा है।

"अवतरण सं० १६ में मांसभक्षी और मद्यपान करने वाले विदेशियों को आर्यों के दुःखों के बढ़ने का कारण बताया गया है।

"कुछ अवतरणों में आदर्श राजा अथवा शासक का स्वरूप बताते हुए गोरक्षा का तथा गोहत्यारों के विध्वंस का प्रबल समर्थन किया गया है। अवतरणों का अन्तिम समूह (एग्ज़िबिट वाई) में प्रधान रूप से एक्जीबिट जैड में बताये गये अवतरणों की ही पुनः-आवृत्ति मात्र है।

"इन सब अवतरणों में मुझे विद्रोह को भड़काने का कोई संकेत प्रतीत नहीं

होता है, किन्तु ये अवतरण इस बात पर दुःख प्रकट करते हैं कि विभिन्न धार्मिक और नैतिक कारणों से हिन्दू पराधीन हो गये हैं। दयानन्द के उपदेशों की सामान्य भावना मुझे सुधार के लिए प्रेरणा देने वाली प्रतीत होती है। इसमें यह भी दृष्टिकोण सम्मिलित है कि अन्तोतगत्वा शासन का सूत्र इन देशवासियों को पुनः प्राप्त होगा। स्वामी दयानन्द ने इस बात को स्पष्ट रूप से माना है कि वर्तमान हिन्दुओं में कुछ ऐसे दुर्गुण हैं, जिनके कारण वे अपना शासन करने में समर्थ नहीं हैं।

"दयानन्द के उपदेश और प्रार्थनायें विदेशी शासन को तुरन्त उलट देने के लिए नहीं, अपितु ऐसा सुधार करने के लिए हैं जिनसे हिन्दू भविष्य में अपना शासन करने में समर्थ हो सकें। गोरक्षा के बारे में दिये जाने वाले अवतरण भी अपने-आप में मुझे बगावत के लिए भड़काने वाले नहीं प्रतीत होते हैं, अपितु इनका उद्देश्य ऐसे शासक की प्रशंसा करना है जो गोहत्या को बन्द करेगा। **इसमें कहीं भी विदेशी शासन के विरुद्ध हथियार उठाने का अथवा लड़ाई छेड़ने का आह्वान नहीं किया गया है।**

"आलाराम द्वारा प्रस्तुत किये गये अवतरणों के सारांश पर विचार करने के बाद अब मैं उनके प्रभाव की परीक्षा करूँगा। विस्तृत रूप से इस विषय पर विचार करते हुए मैं यह परिणाम निकाले बगैर नहीं रह सकता हूँ कि आर्यसमाज के विरुद्ध दीवारों पर चिपकाये जाने वाले पोस्टरों और गली-मुहल्लों में बाँटे गये पैम्फ्लेटों द्वारा आर्यसमाज पर जो निरन्तर हमले किये जा रहे हैं, वे न केवल आर्यसमाज के विरुद्ध कट्टरपन्थी हिन्दुओं में, अपितु इन्हें पढ़ने वाले ब्रिटिश सम्राट् के कानून-पालक राजभक्त प्रजाजनों के मन में भी आर्यसमाज के प्रति विद्वेष और घृणा की भावना को बढ़ाने वाले हैं। प्रस्तुत की गयी साक्षी में यह भी बताया गया है कि आलाराम के व्याख्यानों में कई बार कट्टर हिन्दुओं के अतिरिक्त इस्लाम और ईसाइयत के अनुयायी भी उपस्थित होते हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि ये आक्षेपपूर्ण व्याख्यान न केवल आर्यसमाज के सिद्धान्तों के खण्डन से सम्बन्ध रखने वाले कट्टरपन्थी हिन्दुओं को सम्बोधित किये जाते हैं, अपितु सामान्य रूप से (विश्व के) सभी व्यक्तियों को सम्बोधित किये जाते हैं।

"अन्त में मैं एग्जिबिट ए का उल्लेख करूँगा। इसमें यह कहा गया है कि आर्य-समाज के विद्रोही और बगावत करने वाले स्वरूप के बारे में सरकार के अधिकारियों को गुप्त रूप से सूचना दी जाती है। आलाराम ने यह स्वीकार किया है कि यह नोटिस उसके द्वारा लिखा गया है और वह इसे सरकारी अधिकारियों में प्रचारित करता रहा है। यह प्रधान रूप से वही अवतरण है जो एग्जिबिट जैड में संगृहीत किया गया है और जिस पर पहले टिप्पणी की जा चुकी है। इस प्रकार की सूचना देने का अभिप्राय कभी भी धार्मिक नहीं हो सकता है। इसका उद्देश्य आर्यसमाज को हानि पहुँचाना और सरकार के अधि-कारियों को उसका विरोधी बनाना है।

"यह उल्लेखनीय है कि आलाराम ने शाहजहाँपुर तथा कानपुर में चेतावनियाँ देने के बावजूद व्याख्यान दिये हैं। इन सब परिस्थितियों पर विचार करते हुए मैं इस बात पर विश्वास नहीं कर सकता हूँ कि उसके कार्य विद्वेषपूर्ण नहीं हैं। पहले वह स्वयमेव आर्यसमाज का प्रचारक था, किन्तु किन्हीं कारणों से इस कार्य से हटा दिया गया था। उसके हटाने के कारणों को स्पष्ट नहीं किया गया है। फिर भी यह तथ्य इस बात की व्याख्या करता है कि उसके मन में आर्यसमाज के प्रति विद्वेष है, इससे उसकी दुर्भावना

के बारे में सन्देह होता है तथा इसकी पुष्टि उसके आर्यसमाज-विरोधी प्रचार में प्रदर्शित किये जाने वाले जिद्दीपन से होती है।

"अतः मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि आलाराम से जाब्ता फौजदारी की धारा १०८ के अनुसार उत्तम व्यवहार के लिए जमानत ली जानी चाहिए। वह ऐसा आदमी है कि उसे गलत रास्ते पर ले जाने वाले तथा खतरनाक मार्ग से हटाने के लिए पर्याप्त दबाव की आवश्यकता होगी। अतः उससे काफी ठोस जमानत ली जानी चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके पास जीविकोपार्जन के अपने साधन नहीं हैं, अतः उसका अपना बाण्ड (बन्धपत्र) नाममात्र का होगा। मैं आदेश देता हूँ कि आलाराम २५/- रुपये का बाण्ड भरे और एक वर्ष तक उसके सद्व्यवहार के लिए १०००/- रुपये के दो ऐसे जामिन हों जो इलाहाबाद के प्रतिष्ठित निवासी हों। ऐसी जमानत न देने की दशा में उसे एक वर्ष की सादी कैद की सजा दी जाती है अथवा जब तक वह जमानत नहीं देता है तब तक उसे सादे कारावास का दण्ड दिया जाता है।"[1]

श्री हैरिसन के उपर्युक्त निर्णय से कई महत्त्वपूर्ण बातें सूचित होती हैं। आलाराम आर्यसमाज से निकाला हुआ प्रचारक था, अतः उसके मन में स्वाभाविक रूप से समाज के प्रति विद्वेष और घृणा की भावना थी, वह निष्कासन का बदला लेने के लिए समाज को बदनाम करने पर तुला हुआ था, अपने भाषणों में समाज के विरुद्ध विष वमन करता रहता था तथा समाज को गालियाँ देने में कोई कोर-कसर नहीं रखता था। वह इस प्रकार का प्रचार निरन्तर करता रहता था। इस मामले में वह इतना जिद्दी था कि मैजिस्ट्रेट ने उसे कड़ी सजा देने का निश्चय-किया और उसके सद्व्यवहार के लिए दो प्रतिष्ठित व्यक्तियों की जमानत लेना आवश्यक समझा। समाज को बदनाम करने के लिए सार्वजनिक व्याख्यानों के अतिरिक्त, वह सरकारी अधिकारियों के कान भी समाज के विरुद्ध भरता रहता था। वह यह कार्य गुप्त रूप से करता था और अफसरों को यह बताया करता था कि आर्यसमाज एक राजद्रोही और बगावत करने वाली संस्था है। इस प्रकार का प्रचार करने के लिए उसने कुछ साहित्य तैयार कर रखा था। यह सम्भवतः स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों के वही उद्धरण थे, जिन पर माननीय न्यायाधीश ने कानूनी दृष्टि से विचार किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इनमें राजद्रोह की कोई बात नहीं है। किन्तु सरकार के सामान्य अधिकारी इस प्रकार का कानूनी ज्ञान रखने वाले नहीं होते हैं, अतः उनका आलाराम के भ्रान्तिपूर्ण प्रचार के बहकावे में आकर आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था समझना स्वाभाविक था। आर्यसमाज की सफलता से ईर्ष्या करने वाले अन्य भी अनेक व्यक्ति सरकारी अधिकारियों को आर्यसमाज के विरुद्ध बहकाते रहते होंगे, इसकी सहज में ही कल्पना की जा सकती है। इस निर्णय से ब्रिटिश अधिकारियों तथा न्यायाधीशों की निष्पक्ष प्रवृत्ति का पता लगता है। आलाराम ने यद्यपि सरकारी अधिकारियों में आर्यसमाज के विरुद्ध प्रचार किया था, इसमें उसका उद्देश्य आर्यसमाज को हानि पहुँचाना था, किन्तु हैरिसन उसके प्रचार से प्रभावित नहीं हुए, उन्होंने इस मुकद्दमे में उपस्थित किये गये प्रमाणों पर सर्वथा स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष मनोवृत्ति से विचार किया

---

१. मुंशीराम जिज्ञासु तथा रामदेव—दि आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स, प्रथम सं० १९१०, पृ० १२५-२६

और आर्यसमाज पर राजद्रोह के झूठे आरोप लगाने वाले को कठोर दण्ड दिया। इस मामले से यह स्पष्ट है कि रूढ़िवादी कट्टरपन्थी पौराणिक किस प्रकार आर्यसमाज को राजद्रोही सिद्ध करने का प्रयास कर रहे थे।

सनातनी पत्रों की भूमिका—आर्यसमाज को बदनाम करने में सनातनी पत्रों की भूमिका भी उल्लेखनीय है। ये प्रायः सरकार को आर्यसमाज के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए लिखा करते थे। बनारस से प्रकाशित होने वाले **भारत जीवन** ने एक जुलाई १९०७ ईसवी के अंक में लिखा था कि "पंजाब के समाजी राजनीति से पृथक् होने की घोषणा कर रहे हैं और इसे सिद्ध करने की चेष्टा कर रहे हैं। किन्तु उनके द्वारा दिये गये प्रमाणों से उनकी निर्दोषिता सिद्ध नहीं होती है और वे राजनीति में भाग ले रहे हैं।"[1] एक अन्य पत्र **कन्नौज पंच** ने ८ जुलाई के अंक में लिखा था कि आर्यसमाजी पत्रों में राजद्रोहपूर्ण लेख प्रकाशित होते रहते हैं। इन्होंने सरकार की आलोचना में संयम और विवेक का त्याग कर दिया है।" उसने **सनातन धर्म गजट** के इस सुझाव का समर्थन किया था कि सरकार को आर्य विद्रोहियों को समुचित रूप से दण्ड देकर शीघ्रातिशीघ्र इस विषय में अच्छा सबक सिखाना चाहिए।[2] इसी प्रकार के लेख मुरादाबाद से छपने वाली **सनातन धर्म पताका** और **निगमागम चन्द्रिका** आदि पत्रिकाओं में छपते रहते थे। हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक बालकृष्ण भट्ट **हिन्दी प्रदीप** निकाला करते थे। वे आर्यसमाज के कट्टर विरोधी थे। जब आर्यसमाजी यह कह रहे थे कि वे राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं रखते हैं उस समय २४ फरवरी १९१० के अंक में उन्होंने लिखा था—स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज के समूचे भवन का निर्माण राजनीति के आधार पर किया है।[3]

(९) मुसलमानों का प्रचार

सत्यार्थप्रकाश में सदुद्देश्य से प्रेरित इस्लाम की आलोचना से मुसलमान बहुत क्षुब्ध थे। पंजाब में कादियाँ (जिला गुरुदासपुर) में अपने को पैगम्बर बताने वाले मिर्जा गुलाम अहमद का बड़ा जोर था। उसके अनुयायी आर्यसमाज पर निरन्तर आक्षेप कर रहे थे। आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध नेता आर्य मुसाफिर पण्डित लेखराम महर्षि दयानन्द के कट्टर अनुयायी और अरबी-फारसी के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने मुस्लिम साहित्य का गम्भीर अध्ययन करके न केवल आर्यसमाज के विरुद्ध मुसलमानों द्वारा किये जाने वाले आक्षेपों का समुचित उत्तर दिया, अपितु उनके धर्म पर प्रबल आक्षेप किये। इससे मुसलमान तिलमिला उठे। मिर्जा गुलाम अहमद ने घोषणा की कि पैगम्बर के प्रति अवज्ञा प्रकट करने के कारण शीघ्र ही उनकी अस्वाभाविक मृत्यु होगी। उनको धमकी-भरे पत्र भेजे जाने लगे। फिर भी वे स्वधर्म की रक्षा के कार्य से विरक्त नहीं हुए और अन्त में एक धर्मान्ध मुसलमान ने उनके पेट में छुरा भोंककर उनकी हत्या कर दी। यह आश्चर्य की बात है कि ब्रिटिश सरकार उस मुसलमान को नहीं पकड़ सकी।

मुस्लिम पत्र आर्यसमाज की कटु आलोचना करने लगे और उन्होंने इस बात का

---

१. सिलेक्शन्स फ्राम वर्नाकुलर न्यूजपेपर्ज यू० पी०, १९०७, पृ० ७९७

२. वही, पृ० ८४४

३. वही, १९१०, पृ० २४४

पूरा प्रयास किया कि ब्रिटिश सरकार आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था समझे। जब आर्य-समाजियों ने ब्रिटिश सरकार को अपनी राजभक्ति का विश्वास दिलाना चाहा तो मुसलमानों ने इसका उग्र विरोध किया। दिसम्बर १९०९ में लाहौर आर्यसमाज के प्रधान दुर्गाप्रसाद ने पंजाब के लैफ्टिनेंट गवर्नर के नाम लिखे एक पत्र में आर्यसमाज को राजभक्त बताते हुए पटियाला में आर्यसमाजियों पर चलाये जाने वाले मामलों की ओर ध्यान खींचते हुए आवश्यक कार्यवाही करने के लिए लिखा तो इटावा से छपने वाले उर्दू साप्ताहिक पत्र **अलबशीर** ने इसका उग्र विरोध किया। २५ जनवरी और पहली फरवरी १९१० ई० के अंकों में इस विषय पर दो लम्बे लेख लिखते हुए उसने कहा कि—"यह अतीव आपत्तिजनक दस्तावेज है। गलत बयानियों और विकृत तथ्यों से भरा हुआ है। इसकी भाषा अपमानजनक और असंयत है और आर्यसमाज जैसी शिक्षित संस्था के प्रधान के लिए शोभनीय नहीं है। इसमें कहा गया है कि पटियाला में अभियुक्तों को न्याय मिलने की आशा कम है। यह महाराजा पटियाला और उनके विशेष न्यायालय पर लांछन है। सरकार द्वारा आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था न समझे जाने की कोई घोषणा नहीं की जानी चाहिए, वह राजद्रोही संस्था है।"[1]

इसी पत्र ने पहली फरवरी १९१० ई० के अंक में लिखा था—मास्टर दुर्गाप्रसाद का पत्र छोटे लाट के प्रति अवज्ञासूचक है, अतः यह रद्दी की टोकरी में डाल दिया जाना चाहिए। सरकार को इस पर कोई विचार या कार्यवाही नहीं करनी चाहिए थी। खैर' अब इस पत्र का उत्तर देने से यह स्पष्ट हो गया है कि आर्यसमाजियों पर सरकार का सन्देह पूर्ववत् बना हुआ है। छोटे लाट ने अपने उत्तर में आर्यसमाज को उन सन्देहों से मुक्त नहीं किया है जो ब्रिटिश अधिकारियों को इसके बारे में हैं और यह भी स्वीकार नहीं किया है कि आर्यसमाज राजनैतिक संस्था नहीं है।[2]

जब मई १९०७ ई० के मध्य में लाला लाजपतराय की गिरफ्तारी के बाद कालका रेलवे स्टेशन पर आर्यसमाजियों का एक डेपुटेशन पंजाब के लेफ्टिनेंट गवर्नर डेंजिल इब्बटसन से मिला और उसे आर्यसमाज की राजभक्ति का विश्वास दिलाया तो एक मुस्लिम पत्र **रियाजुल अखबार** ने ४ जून के अंक में लिखा, "सरकार को आर्यसमाज के शिष्टमण्डल की बातों पर तब तक विश्वास नहीं करना चाहिए जब तक यह राजद्रोह के मामलों से अपना पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर लेता है और अन्य धर्म वालों को भारत से बाहर निकालने के संकल्प का परित्याग नहीं करता है।"

अलीगढ़ से छपने वाले **अलइस्लाम** ने आर्यसमाज के शिष्टमण्डल के इस कथन एवं वक्तव्य की आलोचना की कि आर्यसमाज का पंजाब में हुए हाल के उपद्रवों से कोई सम्बन्ध नहीं है। सम्पादक की दृष्टि में इस विषय में आर्यसमाज द्वारा दिये गये तर्क और युक्तियाँ हास्यास्पद और लंगड़ी हैं। यदि आर्यसमाजी सरकार से सीधे तौर से माफी माँग लेते तो उनकी प्रतिष्ठा अधिक बढ़ती। इसके बजाय वे अपने को निर्दोष सिद्ध करने का वृथा प्रयास कर रहे हैं। यह बड़ी विचित्र और मजेदार बात है कि आर्यसमाजी पहले मुसलमानों की शान्त, दूरदर्शितापूर्ण नीति का विरोध करते रहे, उसे स्वार्थ, झूठ,

---

१. सिलेक्शन्स फ्राम वर्नाकुलर न्यूजपेपर्स, १९१०, पृ० ८१

२. वही, पृ० १०४

खुशामद और कायरता पर आधारित बताते रहे और अब स्वयं उसका अनुसरण कर रहे हैं।[1]

अलबशीर ने ९ जुलाई १९०७ ई० के अंक में बड़े विचित्र तर्क से आर्यसमाजियों को राजद्रोही सिद्ध करते हुए लिखा कि "आर्यसमाजी दूसरे धर्मों पर जानबूझकर इसलिए आक्षेप करते हैं कि जब सरकार उन पर राजद्रोह का सन्देह करे तो वे यह कह सकें कि उनके विरोधी अन्य धर्मों ने उसके विरुद्ध सरकार के कान भर दिये हैं। किन्तु अब सरकार आर्यसमाज की इस चाल को समझ गई है। आर्यसमाजी उसकी आँखों में धूल नहीं झोंक सकते हैं।"[2]

(१०) रावलपिण्डी के दंगे

आर्यसमाज के राजनैतिक और राजद्रोही स्वरूप को सिद्ध करने के लिए भारत-सरकार के गुप्तचर विभाग के निदेशक श्री सी०जे० स्टीवेंसन मूर के निरीक्षण में खुफिया विभाग ने जिन प्रमाणों, कारणों तथा आधारों की सूची तैयार की थी उनमें एक प्रमुख स्थान रावलपिण्डी के दंगों का था।[3] इसमें यह कहा गया था कि १९०७ ई० में रावलपिण्डी में जो दंगे हुए, उनके नेता आर्य लोग थे। किन्तु इस मामले के प्रत्यक्षदर्शियों ने इसका जो विवरण प्रस्तुत किया और न्यायालय में इस मामले का जो निर्णय हुआ, उससे यह बात भली-भाँति प्रमाणित हो जाती है कि आर्यसमाज पर लगाया गया यह आरोप सर्वथा निराधार था।

लाला लाजपतराय इस मामले की घटनाओं के समय रावलपिण्डी में थे। उन्होंने अपनी आत्मकथा में इसका बड़ा विस्तृत विवरण लिखा है।[4] १९०७ ई० में पंजाब में जो उपद्रव हुए उनमें तूफान का एक बड़ा केन्द्र रावलपिण्डी था। यहाँ २ मई १९०७ ई० को दंगे हुए। इसका प्रमुख कारण यह था कि नगरपालिका ने करों में असाधारण वृद्धि कर दी थी जिससे नागरिक जनता बड़ी असन्तुष्ट और रुष्ट थी।[5] इसके साथ ही देहाती क्षेत्रों में भूमि-कर को बढ़ा दिया गया था, इसलिए किसानों में व्यापक असन्तोष था। उन दिनों पंजाब में कृषक-असन्तोष के प्रमुख प्रचारक और प्रवक्ता सरदार भगतसिंह के चाचा सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी सरदार अजीतसिंह थे। लायलपुर में किसानों की बड़ी बैठक होने से पहले अजीतसिंह रावलपिण्डी आये थे और उन्होंने यहाँ एक सार्वजनिक सभा में भाषण दिया था। इस सभा की अध्यक्षता रावलपिण्डी के प्रसिद्ध बैरिस्टर लाला गुरदासराम साहनी ने की थी। इस बैठक के लिए जो नोटिस जारी किया गया था, उस पर हस्ताक्षर करने वालों में एक प्रमुख स्थानीय वकील लाला अमोलकराम थे। इस बैठक में भाषण देने वालों में उल्लेखनीय व्यक्ति रावलपिण्डी के प्रतिष्ठित नागरिक लाला

---

१. वही, १९०७, १/६८४
२. वही, १/६९८
३. होम पोलिटिकल कन्फिडेंशल डिपार्टमेंट प्रोसीडिंग्स पार्ट ए, अप्रैल १९१२, संख्या ४
४. विजयचन्द्र जोशी (सं०)—लाजपतराय : आटोबायोग्राफिकल रायटिंग्स, दिल्ली १९६५, पृ० १२३-२६ तथा पृ० १४०-५३; अलगूराय शास्त्री— लाला लाजपतराय की जीवनी
५. अमृतबाजार पत्रिका, ११-५-१९०७

हंसराज वकील, पण्डित जानकीनाथ कौल बैरिस्टर और खजानसिंह बैरिस्टर थे। रावलपिण्डी के स्थानीय नेताओं में हंसराज साहनी और उनके भाई गुरुदासराम साहनी प्रमुख स्थान रखते थे।[1] दोनों ही नगर के प्रतिष्ठित वकील और आर्यसमाज के बड़े कर्मठ नेता थे। देश-प्रेम की भावनाओं से अनुप्राणित होकर साहनी बन्धु राजनीति में अतीव उत्साहपूर्ण भाग लिया करते थे; स्वदेशी के प्रबल प्रचारक थे, अपने क्षेत्र में राष्ट्रीय चेतना जागृत करने में उनका विशिष्ट योगदान था। ये इण्डियन नेशनल कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में नियमित रूप से सम्मिलित हुआ करते थे। उन दिनों लाहौर से अंग्रेजी में लाला लाजपतराय द्वारा **पंजाबी** नामक पत्र निकाला गया था और ये दोनों उसके दस संचालकों में प्रमुख स्थान रखते थे। इस कारण 'पंजाबी' पत्र में रावलपिण्डी के समाचार विशेष रूप से प्रकाशित होते थे। इन दिनों रावलपिण्डी के डिप्टी कमिश्नर मि० एग्न्यू थे। उनके अवैध कार्यों की आलोचना पंजाबी के सम्पादकीय स्तम्भों में विशेष रूप से होती थी और इसमें उन्हें काफी आड़े हाथों लिया जाता था। डिप्टी कमिश्नर इस आलोचना से बहुत क्रुद्ध थे और वे किसी ऐसे अवसर की तलाश में थे जब इन वकीलों के विरुद्ध सरकारी कार्यवाही की जा सके। श्री अजीतसिंह द्वारा सम्बोधित सार्वजनिक सभा ने इस बात का स्वर्ण अवसर प्रदान किया, क्योंकि इसमें इन सभी प्रमुख वकीलों ने भाग लिया था।

डिप्टी कमिश्नर ने उपर्युक्त सार्वजनिक सभा होने के बाद पाँचों व्यक्तियों को बुलाया और उनसे यह पूछा कि इस प्रकार की सरकार-विरोधी सभा में भाग लेने के कारण उनके वकालत के लाइसेंस क्यों न छीन लिये जायें। उन्हें एक निश्चित तिथि २ मई १९०७ ई० तक इस विषय में अपना उत्तर देने के लिए कहा गया। ३० अप्रैल को दिये गये डिप्टी कमिश्नर के इस नोटिस से न केवल रावलपिण्डी में, अपितु समूचे पंजाब में जबरदस्त खलबली मच गयी, क्योंकि लाला हंसराज और अमोलकराम पंजाब के विख्यात सर्वप्रिय नेताओं में से थे। लाला लाजपतराय इनके घनिष्ठ मित्र थे। उन्हें ज्योंही इस बात की सूचना मिली; उन्होंने इनकी पैरवी करना अपना कर्त्तव्य समझा। जिस दिन अदालत में इनके नोटिस की सुनवाई होनी थी, उससे एक दिन पहले ही पहली मई को लाला लाजपतराय रावलपिण्डी पहुँच गये। लाला गुरुदासराम साहनी से उनका बहुत स्नेह था। वे रेलवे स्टेशन पर उनके स्वागत के लिए पहुँचे और वहाँ से अपनी गाड़ी में एक बैरिस्टर के घर पर ले गये जहाँ अगले दिन की जाने वाली कानूनी कार्यवाही की योजना पर विचार किया गया। इस बैठक में रावलपिण्डी के लगभग सभी प्रतिष्ठित वकील—रायबहादुर मायादास साहनी, लाला बोधराज बैरिस्टर(लाला हंसराज साहनी के सुपुत्र), लाला हंसराज साहनी, लाला अमोलकराम, पण्डित जानकीराम तथा कुछ अन्य वकील मौजूद थे।

लाला लाजपतराय ने इन घटनाओं का विवरण देते हुए लिखा है[2] कि इस बैठक में मुझे यह पता लगा कि रावलपिण्डी की स्थानीय जनता में इस मुकद्दमे से बड़ा आक्रोश और रोष है और उन्होंने यह फैसला किया है कि जिस समय अदालत में मुकद्दमा

१. वही अंक, पृ० ७ का लेख—हीरोज़ आफ रावलपिण्डी
२. विजयचन्द्र जोशी, लाजपतराय : आटोबायोग्राफिकल रायटिंग्स, दिल्ली १९६५ ई०, पृष्ठ १२३

सुना जाय उस समय सारे शहर में हड़ताल की जाय। यह हड़ताल मुकम्मल होनी थी, यहाँ तक कि रेलवे के गोदाम, मण्डी की तथा अन्य स्थानों पर सब दुकानें बन्द रखी जानी थीं। यह कार्य सरकार द्वारा दिये गए अनुचित और अवैध नोटिस के प्रति प्रभावशाली विरोध के प्रदर्शन के रूप में किया जा रहा था। लालाजी के शब्दों में, "मुझे यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई, किन्तु मैंने यह टिप्पणी की कि यदि यह हड़ताल प्रस्तावित की जाय तो इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि यह पूर्ण रूप से सफल हो और जो कार्य लिया जाय और निश्चय किया जाय, उसे अमल में लाया जाय। इस बैठक में इसकी पूरी योजना बना ली गयी और इसके बारे में एक वक्तव्य भी तैयार कर लिया गया।

"१० बजे हम सब लोग न्यायालय में गये और यह देखा कि पूरी अदालत का हाता लोगों से इतना अधिक खचाखच भरा हुआ है कि उसमें इधर-उधर चलना भी सम्भव नहीं है। डिप्टी कमिश्नर कोर्ट में बहुत विलम्ब से पहुँचे। प्रतिक्षण भीड़ बढ़ती जा रही थी। यह अनुमान किया जाता था कि बीस हजार या इससे भी अधिक व्यक्ति उस समय अदालत के परिसर में एकत्र हो चुके थे। अन्त में लगभग १२ बजे डिप्टी-कमिश्नर अदालत में आये। उन्होंने फौरन बैरिस्टर अजीज अहमद को तथा अभियुक्तों को बुलाया और उन्हें यह कहा कि पंजाब सरकार द्वारा दिये गये आदेशों के अनुसार इस मामले की अगली कार्यवाही रोक दी गयी है। यह समाचार सुनते ही भीड़ हर्ष से पागल हो उठी। उसने तालियाँ बजाना और प्रसन्नता प्रकट करना शुरू किया और यह समाचार सब ओर बिजली की तरह से फैल गया।

"इस समय बाररूम (वकीलों का कमरा) में बहुत-से व्यक्ति मेरे पास आए और उन्होंने मुझे भाषण देने के लिए कहा। मैंने इनकार कर दिया। इसके बाद उन्होंने मुझे जुलूस बनाकर शहर में ले जाना चाहा, लेकिन मैंने यह भी नहीं माना।

"कुछ समय बाद यह समाचार आया कि जनता की विशाल भीड़ डिप्टी-कमिश्नर और जिला जज की कोठियों में घुस गई है और वहाँ तोड़-फोड़ कर रही है। तत्काल ही उनको इस काम को रोकने के लिए आदमी भेजे गये ताकि अधिक दंगा-फसाद न हो। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पुलिस ने जनता की भीड़ में अपने कुछ ऐसे एजेण्ट छोड़ रखे थे जो जनता को उत्तेजना दे रहे थे। कुछ रास्ता चलने वाले गोरे लोगों को भी पीटा गया था। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि अब दंगा होने वाला है।

"शीघ्र ही हमें ज्ञात हुआ कि भीड़ बूटासिंह के कारखाने में घुस गयी है। लोग बूटासिंह को देशद्रोही कहकर पुकारते थे और उसी को सारे फसाद की जड़ समझते थे। जनता के भारी आग्रह और अनुरोध से मैंने शाम को पहले मण्डी में भाषण देना स्वीकार कर लिया था; किन्तु उपद्रवों के बाद मैंने भाषण देने का विचार छोड़ दिया।

"हम अभी कचहरी में ही थे कि हमें ज्ञात हुआ कि उपद्रव को शान्त करने तथा दंगा करने वालों को गिरफ्तार करने के लिए सेना बुलायी गयी है। हमें यह भी पता लगा कि एक पठान फौजी रेजिमेंट ने इस कार्य के लिए तैयार होने में अनिच्छा प्रकट की है। एक पठान मेरे पास आया और कहने लगा कि अमुक टुकड़ी मेरे आदेश की प्रतीक्षा कर रही है। मैं हँस पड़ा और उसे टाल दिया। मुझे सन्देह था कि वह सरकारी गुप्तचर है।

"सेना ने उपद्रव शान्त कर दिया और बहुत-से लोगों को गिरफ्तार कर लिया

जिनमें कुछ प्रमुख नागरिक तथा कुछ शिक्षित युवक भी थे। यह सभी समाचार हम सुन रहे थे, परन्तु हम क्या कर सकते थे। लाला हंसराज कुछ बीमार-से थे, इसलिए वे घर चले गये। जब सभा का समय निकट आने लगा तो हम लाला हंसराज के मकान पर एकत्र हुए। यद्यपि आरम्भ में हमारा विचार सभा में जाने का नहीं था, किन्तु लाला हंसराज कहने लगे कि इस समय न जाना कायरता होगी। इसके अतिरिक्त यह एक उत्तम अवसर है, जब हम जाकर उपद्रवों के लिए खेद प्रकट करें और जनता को शान्त रखने का प्रयत्न करें। हमें ज्ञात हुआ कि डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट एग्न्यू तथा सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस सभा-स्थल पर पुलिस के दल के साथ हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। हम सभी चल पड़े और मार्ग में ही पुलिस के एक दूत ने हमें सन्देश दिया कि डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट हमसे बातचीत करना चाहते हैं। हमने आज्ञा मान ली और उनके पास जा पहुँचे। वह कुर्सी पर बैठे थे और सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस पास ही खड़ा था। बहुत-से भारतीय पुलिस अधिकारी उनके चारों ओर खड़े थे। मैजिस्ट्रेट ने आज्ञा दी कि कोई सार्वजनिक सभा न की जाय और न कोई भाषण दिया जाय, यदि सभा की गयी तो हम उत्तरदायी होंगे। लाला हंसराज ने कहा कि हम आज्ञा का पालन करेंगे और हमें उपद्रवों के लिए खेद तथा दुःख है। सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस मेरी ओर मुड़कर कहने लगा कि यदि सभा हुई तो उसके लिए मेरा व्यक्तिगत उत्तरदायित्व होगा। मैंने उत्तर दिया कि मुझे कानून का कुछ ज्ञान है और मैं अपना उत्तरदायित्व भली प्रकार समझता हूँ। इसलिए आपका उपदेश अनावश्यक है। इस पर एग्न्यू क्रुद्ध होकर बोला कि चले जाओ, मैं इस प्रकार की बातें नहीं सुनना चाहता। हम सब वापस आ गये और हम सबने जनता को कहला भेजा कि अधिकारियों ने सभा करने का निषेध कर दिया है, अतः यह ठीक होगा कि सब लोग अपने घरों को लौट जायें। इस पर सब व्यक्ति शान्तिपूर्वक अपने घरों में चले गये और उस रात को और कोई घटना नहीं घटी।"

अगले दिन दोपहर को तीन मई के दिन जब लाला लाजपतराय गुरुदासराम के मकान पर दोपहर को आराम कर रहे थे तो उन्हें एक नौकर ने आकर सूचना दी कि गुरुदासराम गिरफ्तार हो गये हैं। लालाजी तुरन्त कपड़े पहनकर कचहरी चले गये। वहाँ उन्हें यह खबर मिली कि लाला हंसराज और लाला अमोलकराम भी गिरफ्तार कर लिये गये हैं और पण्डित जानकीनाथ तथा मलिक खजानसिंह के मकानों की तलाशी ली जा रही है। गिरफ्तारी के लिए गोरे सैनिक बुला लिये गये हैं। शीघ्र ही पकड़कर सभी को कचहरी लाया गया। उनकी जमानत के प्रार्थना-पत्र अस्वीकृत कर दिये गये। इस दशा में केवल एक ही उपाय शेष रह गया था कि लाहौर के चीफ कोर्ट में उनकी जमानत के लिए प्रार्थना-पत्र दिये जायें। इसके लिए ३ मई की शाम को लाला लाजपतराय लाहौर चले गये।

अगले दिन चार मई को उन्होंने चीफ कोर्ट में रावलपिण्डी में गिरफ्तार किये गये अभियुक्तों की जमानत के लिए आवेदन-पत्र दिया। साधारणतः ऐसे मामलों में एक ही जज सुनवाई करता है और आज्ञा जारी करता है, किन्तु वहाँ उसका विरोध करने के लिए एक वकील भी उपस्थित था। जज ने फैसला किया कि प्रार्थना-पत्र की सुनवाई डिविजनल बैंच करे, इस बीच में सरकारी वकील रावलपिण्डी के जिलाधीश से मालूम करे कि इस प्रार्थना-पत्र को क्यों स्वीकार न किया जाय! प्रार्थना-पत्र की

सुनवाई से पहले ही डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट रावलपिण्डी की सेना की कमान के अफसर का पत्र चीफ कोर्ट के जजों का नाम लेकर स्वयं अदालत में पहुँचा जिसमें सम्भवत: यह कहा गया था कि यदि इन बन्दियों को छोड़ा गया तो भारतीय सेनाओं में विद्रोह हो जायेगा। अभियुक्तों के वकील को वह पत्र देखने की आज्ञा नहीं दी गयी, यद्यपि उसकी प्रतिलिपि प्राप्त करने की प्रार्थना की गयी थी। इस मामले में ज़मानत की सुनवाई के बाद जज ने ज़मानत की प्रार्थना रद्द कर दी।

इसके कुछ समय बाद लाला लाजपतराय को सरकार ने ९ मई को गिरफ्तार करके माण्डले में निर्वासित कर दिया। रावलपिण्डी के वकीलों पर मुकद्दमा काफी समय तक चलता रहा, किन्तु उन पर कोई अभियोग नहीं प्रमाणित हो सका और अन्त में उन्हें छोड़ दिया गया।

इस मामले के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यसमाज के साथ संस्था के रूप में इस झगड़े का कोई भी सम्बन्ध नहीं था। यह विशुद्ध रूप से सरकार द्वारा की गयी गलत कार्यवाहियों का परिणाम था। प्रत्येक देश में प्रजा को सरकार से अपने असन्तोष को शान्तिपूर्ण ढंग से व्यक्त करने का पूरा अधिकार होता है। किन्तु जब उससे यह अधिकार छीन लिया जाता है और उनके शान्तिपूर्ण प्रदर्शनों में बाधा डाली जाती है तभी इस प्रकार की घटनाएँ होती हैं। इस मामले में पहली ध्यान देने योग्य बात यह है कि ३० अप्रैल १९०७ को रावलपिण्डी के वकीलों को डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट पी० डी० एग्न्यू द्वारा जो नोटिस दिया गया था, उसके बारे में लाला लाजपतराय ने यह लिखा है कि यह इस बात को भली-भाँति सूचित करता है कि एक ही अधिकारी को शासन तथा न्याय के अधिकार देने के कितने भीषण दुष्परिणाम हो सकते हैं। इस नोटिस में यह कहा गया था कि अजीतसिंह ने अपने भाषण में अत्यधिक राजद्रोहपूर्ण बातें कही हैं। लाला गुरुदासराम का भाषण भी इसी प्रकार का था और इसमें सेटलमैंट कलेक्टर और मैजिस्ट्रेट किचन के विरुद्ध कुछ बड़ी आपत्तिजनक बातें कही गयी थीं। इसकी जाँच दो मई को ११ बजे की जायेगी। इस जाँच के दो उद्देश्य हैं—पहला तो यह कि यदि इसमें राजद्रोह के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हुए तो सरकार से आप लोगों पर भारतीय दण्ड विधान की १२४ ए (राजद्रोह) तथा ५०५ धारा के अनुसार मुकद्दमा चलाने की अनुमति ली जायेगी। दूसरा, यह कि इस जाँच से प्राप्त एवं सिद्ध होने वाले तथ्यों के आधार पर वित्तीय आयुक्त और चीफ कोर्ट से यह कहा जायेगा कि वे रेवन्यू एजेण्ट के रूप में आप-के लाइसेन्स स्थगित कर दें और लीगल प्रैक्टीशनर्स एक्ट की धारा ४१ तथा ३७ के अनुसार आपके वकालत करने का लाइसेन्स रद्द कर दें।

यह नोटिस इस दृष्टि से सर्वथा अनुचित और अवैध था कि इसमें जाँच का आदेश देने और आरोप लगाने वाला तथा जाँच करके निर्णय करने वाला एक ही व्यक्ति डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट एग्न्यू था। लाला लाजपतराय ने यह नोटिस इस दृष्टि से भी पूर्ण रूप से अवैध बताया कि जाब्ता फौजदारी और लीगल प्रैक्टीशनर्स एक्ट के अनुसार डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट को इस प्रकार का नोटिस निकालने का कोई अधिकार नहीं था। भारत में ब्रिटिश कानून के प्रचलित होने के बाद कभी ऐसा नोटिस नहीं निकाला गया था। ऐसा करने में डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट का उद्देश्य जनता में अतीव लोकप्रिय एवं प्रतिष्ठित वकीलों का अपमान करना था और साथ ही इससे जिलाधीश जनता के मन

में सरकार का बड़ा जबर्दस्त आतंक बिठा देना चाहता था।

इस प्रकार का आतंक बिठाने का एक विशेष कारण था। यह नोटिस ३० अप्रैल १९०७ ई० को दिया गया था। १० मई १९०७ ई० को १८५७ ई० के संग्राम की स्वर्ण-जयन्ती थी; ठीक ५० साल पहले इसी दिन मेरठ से सैनिक विद्रोह शुरू हुआ था जिसने उस समय भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ों को हिला दिया था। एंग्लो-इण्डियन पत्रों ने उन दिनों इस बात का प्रचार कर रखा था कि भारतीय पुनः इस विद्रोह की पुनरावृत्ति करना चाहते हैं। इससे यूरोपियन इतने भयभीत हो गये थे कि लाहौर में प्रायः सभी गोरों ने अपने बच्चों को सुरक्षा की दृष्टि से लाहौर के किले में भेज दिया था। इन घटनाओं की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए सरकारी अधिकारी भारतीय जनता के मन पर ऐसा भीषण आतंक भली-भाँति पहले से ही अंकित कर देना चाहते थे कि वे दुबारा १८५७ ई० जैसा विद्रोह करने का साहस न कर सकें।

उपर्युक्त मामले में जिन वकीलों को गिरफ्तार किया गया, उन्होंने अपनी ओर से इस बात का पूरा प्रयास किया था कि वे जनता द्वारा किये जाने वाले उपद्रवों को रोकने का पूरा प्रयास करें। लाला जी के कथनानुसार यह उपद्रव भीड़ में सरकारी एजेण्टों द्वारा कराये जा रहे थे। नेताओं ने जनता को अपनी ओर से शान्त रखने का पूरा प्रयास किया। लाला हंसराज ने यह सुझाव दिया था कि हम अधिकारियों के सामने जाकर उपद्रवों के लिए खेद प्रकट करें; उन्होंने सभा न करने के बारे में सरकारी आदेश को मान लिया था और लाला हंसराज ने जिलाधीश को स्पष्ट शब्दों में यह कहा था कि हम सरकारी आदेश का पालन करेंगे और हमें उपद्रवों के लिए खेद तथा दुःख है। इससे यह स्पष्ट है कि ये वकील बिल्कुल कानून के अनुसार सारी कार्यवाही वैध रीति से कर रहे थे। इन पर राजद्रोह का दोषारोपण सर्वथा निराधार था और इस मामले का आर्य-समाज से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं था एवं इस आधार पर आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था बताना सर्वथा मिथ्या और भ्रान्तिपूर्ण था। इस विषय में यह भी उल्लेखनीय है कि पंजाब के चीफ कोर्ट ने इस मामले के सभी अभियुक्तों को रिहा कर दिया था।

(११) पंजाब के उपद्रव

आर्यसमाज को राजद्रोही समझे जाने के दो अन्य बड़े कारण १९०७ ई० में पंजाब में होने वाले उपद्रव तथा कृषक-असन्तोष थे। इनका उत्तरदायित्व ब्रिटिश सरकार द्वारा पंजाब के सुप्रसिद्ध आर्य नेता लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह पर डाला गया था। इस बारे में भारत के वायसराय मिण्टो ने तत्कालीन भारत-सचिव मार्ले को मई महीने के प्रथम सप्ताह में तार द्वारा यह सूचित किया था कि "तीन दिन हुए, हमें पंजाब की राजनैतिक स्थिति पर वहाँ के लेफ्टीनैण्ट गवर्नर इब्बटसन की एक अत्यन्त आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट प्राप्त हुई है···यह बड़ी भयंकर स्थिति बतलाती है। उग्रवादी प्रान्त-भर में सर्वत्र खुले तौर पर और निरन्तर लेखों द्वारा तथा जनसभाओं द्वारा राजद्रोह फैला रहे हैं। राजभक्त वर्ग के लोग हमारी अकर्मण्यता पर स्तब्ध हो रहे हैं। इब्बटसन की सम्मति में ये लोग शीघ्र ही उस सरकार को घृणा की दृष्टि से देखना शुरू कर देंगे, जो अबाधरूप से राजद्रोह के प्रचार की आज्ञा देती है

और खुले तौर पर अपमानित हो रही है।

"राजद्रोह का कार्य दो मुख्य रीतियों से होता है। लाहौर, अमृतसर, रावलपिंडी, फिरोजपुर तथा मुलतान आदि नगरों में तो उसका एक रूप उच्च अधिकारियों की हत्या करने का खुला प्रचार है। जनता को विद्रोह के लिए खड़ा होने, अंग्रेजों पर आक्रमण करने तथा स्वतन्त्र हो जाने को प्रोत्साहित किया जाता है। उसका दूसरा रूप यह है कि देहात में संगठित प्रयत्न द्वारा उन वर्गों को बिगाड़ा जा रहा है, जिनमें से सेना भरती की जाती है। सिक्खों तथा पेन्शनप्राप्त सैनिकों की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। सिख ग्रामों में राजद्रोहात्मक पर्चे बाँटे जा रहे हैं। फिरोजपुर की एक सार्वजनिक सभा में, जहाँ आपत्तिजनक विचारों का प्रचार निःसंकोच रूप से किया गया, स्थानीय सिक्ख पलटनों को सभा में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया गया और वे कई सौ की संख्या में वहाँ उपस्थित हुए। सिक्खों को बतलाया गया कि १८५७ ई० के विद्रोह में तुम्हीं ने अंग्रेजों के लिए भारत को बचाया था। अब वे तुम्हारे साथ दुर्व्यवहार कर रहे हैं। स्वतन्त्रता-संग्राम में अपने देश के प्रति विश्वासघात करने का तुमको फल मिल रहा है···

"कहा जाता है कि हम रुई तथा गन्ने के देशी उद्योग-धन्धों को नष्ट करना चाहते हैं। यह भी प्रचार किया जाता है कि हमने जनता का धन अपहरण कर लिया है और उसके बदले में उन्हें कागज के नोट दे दिये हैं। देहातियों से प्रश्न किया जाता है कि जब अंग्रेज यहाँ से चले जायेंगे तो उन नोटों का रुपया हमें कौन देगा? जनता को सरकारी कर, भूमि कर, सिंचाई कर तथा अन्य कर अदा न करने के लिए संगठित करने का प्रोत्साहन दिया जा रहा है। जनता से अनुरोध किया जा रहा है कि वह सरकारी अधिकारियों को दौरा करते समय न तो किसी प्रकार की कोई रसद सामग्री दे, न गाड़ियाँ दे तथा न अन्य किसी प्रकार से उनकी सहायता करे। देशी सैनिकों तथा पुलिस वालों को देशद्रोही तथा 'गद्दार' के नाम से पुकारा जा रहा है और उन्हें सरकारी नौकरी त्यागने की प्रेरणा की जा रही है।"

इसके बाद इस समूचे आन्दोलन का उत्तरदायित्व आर्यसमाज और उसके नेताओं पर डालते हुए यह कहा गया था कि "इस समस्त प्रचार का संगठन और संचालन आर्यसमाज की एक गुप्त समिति द्वारा होता है। यह संस्था (आर्यसमाज) आरम्भ में तो धार्मिक थी, परन्तु पंजाब में इसकी प्रबल राजनैतिक प्रवृत्ति है। समस्त आन्दोलन का केन्द्र तथा आदिस्रोत एक खत्री वकील लाला लाजपतराय है जो पंजाब के कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में इंग्लैण्ड भी हो आया है। वह क्रान्तिकारी है और उसके हृदय में अंग्रेजी राज्य के प्रति घृणा कूट-कूटकर भरी गयी है।" इसके बाद इस तार में यह भी लिखा था कि "वह (लाला लाजपतराय) स्वयं तो चतुराई से पीछे-पीछे रहता है, परन्तु सभी भारतीय सज्जनों ने लेफ्टीनैण्ट गवर्नर को विश्वास दिलाया है कि इसका मुख्य संचालक वही है। राजद्रोह के प्रसार में उसका मुख्य सहायक अजीतसिंह है जो पहले अध्यापक था और जिसे गत वर्ष से एक रूसी गुप्तचर लस्सेफ द्वारा इस कार्य में लगाया गया है। राजनैतिक सभाओं में वही सबसे उग्र वक्ता है। उसने बहुधा सरकार के सक्रिय विरोध का प्रचार किया है। वह अपने भाषणों द्वारा कृषक वर्गों तथा सैनिकों में असन्तोष उत्पन्न करता है। देश के साधारण कानून के अधीन इन लोगों पर मुकद्दमा चलाने की

कठिनाइयों तथा वर्तमान परिस्थिति में उनके विरुद्ध सन्तोषजनक साक्षी प्राप्त करने की सम्भावना को सामने रखते हुए उनके विरुद्ध १८१८ की रेग्यूलेशन ३ के अधीन वारण्ट जारी करने की प्रार्थना की जाती है। यह कार्यवाही शीघ्रातिशीघ्र की जानी चाहिये क्योंकि परिस्थिति सुधरने के स्थान पर दिन-प्रतिदिन बिगड़ती जा रही है।

"मेरी सम्मति में तथा मेरी समस्त कौंसिल की सम्मति में लाला लाजपतराय और अजीतसिंह को माण्डले निर्वासित किये जाने के आज्ञापत्र जारी करने की कार्यवाही का पग उठाना नितान्त आवश्यक था। परिस्थिति इतनी नाजुक है कि १८६१ ई० के ए कानून की धारा २३ के अधीन सार्वजनिक सभाओं के नियन्त्रण के लिए मुझे आर्डिनेन्स जारी करने पड़े। इसके द्वारा वक्ताओं के भाषणों की पूर्ण तथा शुद्ध रिपोर्ट प्राप्त हो सकेगी और कहीं-कहीं आवश्यकता पड़ने पर सभाओं को बन्द भी किया जा सकेगा।

"भारतीय भाषाओं में शार्टहैंड-रिपोर्ट की व्यवस्था के अभाव में भारतीय भाषाओं के भाषणों की शुद्ध रिपोर्ट प्राप्त करना असम्भव है। हमें गुप्तचरों की मौखिक रिपोर्ट पर विश्वास करना पड़ता है। असंख्य साक्षियों के होते हुए भी उन गुप्तचरों का खण्डन किया जा सकता है। अतः राजद्रोह के अभियोग में दण्ड देना काफी कठिन कार्य है। आज के समाचारों से ज्ञात होता है कि रावलपिण्डी-स्थित सेनाओं के बिगाड़ने के संगठित प्रयत्न हो रहे हैं। परन्तु सेनाओं की स्थिति सन्तोषजनक है।" उपर्युक्त लम्बे तार के अतिरिक्त लार्ड मिण्टो ने आठ मई को भारत-मन्त्री को इस संकटपूर्ण स्थिति के बारे में कुछ अन्य समाचार देते हुए इसके मूल कारण—भारत में बसे अंग्रेजों की घबराहट पर प्रकाश डालते हुए यह लिखा था "मेरा विचार यह है कि अशान्ति का प्रधान कारण १८५७ के विद्रोह की वर्षगाँठ है। ८ तथा ११ मई के बीच में ही हमें गड़बड़ी की प्रतीक्षा करने को कहा गया है। मेरा विचार है कि विद्रोह का सूत्रपात मेरठ में १० को तथा दिल्ली में ११ को हुआ था और मेरा प्रबल विश्वास है कि १८५७ ई० की स्मृतियाँ ही वर्तमान वर्ष को असाधारण बना रही हैं।"[1]

असन्तोष के मूल कारण—लार्ड मिण्टो के उपर्युक्त तार में उस समय पंजाब में होने वाले उपद्रवों की सारी जिम्मेवारी आर्यसमाज पर डालकर उसे राजद्रोही संस्था ठहराने का पूरा प्रयास किया गया था। वस्तुतः यह सरकार का भ्रम था। लाला लाजपतराय ने ९ मई को अपनी गिरफ्तारी से कुछ घण्टे पहले 'पंजाबी' पत्र के लिए जो लेख लिखा था, उसके अध्ययन से और इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस समूची परिस्थिति के लिए अंग्रेज जिम्मेवार थे और उन्होंने भारतीयों को तथा आर्यसमाज को व्यर्थ में ही बदनाम करने का प्रयत्न किया। लाला लाजपतराय द्वारा लिखा गया लेख ११ मई १९०७ ई० के **'पंजाबी'** में छपा था और इसमें पंजाब की तत्कालीन परिस्थिति का सुन्दर विश्लेषण है। इसमें उस समय के असन्तोष के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। इसके आरम्भ में ही यह कहा गया है कि "वर्तमान समय में चारों ओर जो भय का वातावरण है, वह गुप्तचर विभाग और सरकार द्वारा कृत्रिम रूप से उत्पन्न किया गया है। इसके लिए किसी एक इस या उस व्यक्ति को दोष देना मूर्खतापूर्ण होगा। यह बात भी बेहूदा है कि यह असन्तोष एक, दो या तीन

१. अलगूराय शास्त्री—लाला लाजपतराय, पृ० १३७-१४०

व्यक्तियों द्वारा पैदा किया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस समय उग्र असन्तोष है, किन्तु यह एंग्लो-इंडियन लोगों द्वारा स्वयमेव पैदा किया गया है और कालक्रम से इसके कारण संक्षेप में निम्नलिखित हैं[1]—

१. गत वर्ष जुलाई तथा अगस्त में 'समय के संकेत' (साइन्स आफ द टाइम्स) शीर्षक के अन्तर्गत सिविल एण्ड मिलिटरी गजट नामक गोरे पत्र में प्रकाशित होने वाले पत्र तथा लेख।

२. 'पंजाबी' पत्र पर मुकद्दमा चलाना तथा इसी प्रकार की कार्यवाही सिविल एण्ड मिलिटरी गजट के विरुद्ध करने के लिए सरकार द्वारा इनकार करना।

३. नहरी आबादियों का बिल।

४. भूमि हस्तान्तरण कानून का संशोधन बिल।

५. बारी दोआब नहर में नहरी पानी के रेट में वृद्धि करना।

६. रावलपिण्डी जिले में भूमिकर में असाधारण वृद्धि।

७. प्लेग की महामारी जिससे मजदूरों की संख्या कम हो गयी है और मजदूरी की दर बहुत बढ़ गयी है।

इनमें पहले छः कारणों के लिए पूर्णरूप से सरकार उत्तरदायी थी। अन्तिम कारण दैवी प्रकोप था। यहाँ उपर्युक्त कारणों में से केवल वर्तमान विषय से सम्बद्ध बातों की ही संक्षिप्त चर्चा की जायेगी।

लाला लाजपतराय का यह कथन बड़ा महत्त्वपूर्ण था कि वर्तमान संकट के लिए अंग्रेजों की मनोवृत्ति और उनके द्वारा चलाये जाने वाले सिविल एण्ड मिलिटरी गजट जैसे समाचारपत्रों में छपने वाले समाचारों और लेखों ने इस संकट को उत्पन्न किया था। १८५७ ई० की भीषण सैनिक विद्रोह की स्मृतियाँ अंग्रेजों को प्रायः बहुत परेशान किया करती थीं। एडवर्ड जे० थामसन ने इस विषय में लिखा था कि "१८५७ ई० के विद्रोह के कारण भारत में रहने वाले यूरोपियन समाज पर महान आतंक छाया रहता है। उन्हें ये दुःस्वप्न आते रहते हैं कि उनकी स्त्रियों और बच्चों की हत्या के लिए भारतीय अपने दानवी हाथ उठा रहे हैं। इससे वे सदा उद्विग्न और चिन्तित बने रहते हैं···इससे उनकी दशा दयनीय तथा सहानुभूति के योग्य हो जाती है। १८५७ ई० की घटनाओं का चित्र अंग्रेजों के मस्तिष्क पर ऐसा जम गया है कि वे इस कारण ऐसे-ऐसे कार्य करने को तैयार हो जाते हैं जिसे कोई दिमाग वाला व्यक्ति कभी नहीं करेगा।"

१९०७ ई० में १८५७ ई० के सैनिक विद्रोह की अर्द्धशताब्दी पूरी हो रही थी, अतः उस समय अंग्रेजों को पुनः विद्रोह का भूत सताने लगा। वे सोचने लगे कि इसे भारतीय कहीं उस पुराने रूप में न मनायें। वे इस सम्भावना से संत्रस्त थे और सोचते थे कि भारतीय सेनाओं में पुनः विद्रोह की ज्वाला भड़क उठेगी और सैनिकों तथा नागरिकों, स्त्रियों और बच्चों पर पुनः अवर्णनीय नृशंस अत्याचार किये जायेंगे। सब अंग्रेजों की हत्या कर दी जायेगी। एंग्लो-इण्डियन पत्रों में इन बातों की प्रायः चर्चा की जाती थी। सभाओं में और क्लबों में भी इस विषय पर नाना प्रकार के वाद-विवाद चलते रहते थे। लाहौर के एंग्लो-इण्डियन पत्र सिविल एण्ड मिलिटरी गजट ने इस विषय में

---

१. विजयचन्द्र जोशी—लाजपतराय, पृ० २२३-२७

ऐसी अनर्गल चिट्ठियाँ प्रकाशित कीं जिनमें इस विद्रोह की सम्भावना को बड़े उग्र तथा भयावह रूप में चित्रित किया गया था और राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेने वाले भारतीयों को कोड़ों से पीटने के प्रस्ताव सुझाये गये थे।

दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रयूज इन्हीं दिनों दिल्ली के सेंट स्टीफन कालेज में प्रोफेसर होकर भारत आये थे। उन्हें भारत में रहने वाले अंग्रेजों की पुरानी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि का कोई परिचय नहीं था। अतः उन्हें ये पत्र और ऐसे लेख भारतीयों के लिए अतीव अपमानजनक प्रतीत होते थे। उन्हें इन बातों से अत्यन्त दुःख हुआ। उन्होंने इसके विरोध में एक पत्र लिखा। इसके कुछ दिन बाद लाहौर के बिशप रेवरेण्ड लीफाय ने एंग्लो-इण्डियन पत्रों की इस कार्यवाही के प्रति अपना विरोध व्यक्त किया। भारत के वायसराय लार्ड मिण्टो ने भी ह्वाइट हाल को भेजे जाने वाले गुप्त खरीते में यह स्वीकार किया कि इन लेखों की शैली अत्यन्त नीचतापूर्ण है। प्रतिदिन इस प्रकार के जातीय घृणा और विद्वेष फैलाने वाले लेखों से प्रभावित होकर अंग्रेजों को यह विश्वास हो गया कि १८५७ ई० के सैनिक विद्रोह की पुनरावृत्ति की पूर्ण योजना तैयार है और इसके लिए पूरे एक लाख सैनिक लाला लाजपतराय के आदेश की प्रतीक्षा कर रहे हैं। सन् १८५७ ई० के विद्रोह का श्रीगणेश १० मई को हुआ था, अतः उनका विश्वास था कि अब इसकी ५०वीं वर्षगाँठ की तिथि पर फिर कुछ-न-कुछ अवश्य होगा। ज्यों-ज्यों १० मई निकट आने लगी, त्यों-त्यों अंग्रेजों में विद्रोह का भय पराकाष्ठा पर पहुँच गया और उस तिथि पर लाहौर के अंग्रेजों ने अपने परिवारों को विद्रोह के नृशंस हत्याकाण्ड से बचाने के लिए लाहौर के किले में भेजने का प्रबन्ध कर लिया।

इस समय पंजाब में अंग्रेज कितने अधिक घबराये हुए थे, यह १५ मई १९०७ ई० को शिमला से वायसराय लार्ड मिण्टो द्वारा अपनी पत्नी को इंग्लैण्ड भेजे गये पत्र के इस अवतरण से स्पष्ट होता है—'घबराहट की कार्यवाहियाँ तो गोरों तथा अधगोरों के विवेक के अभाव से हुई हैं। वे सर्वत्र ही शस्त्र खरीद रहे हैं और मैंने सुना है कि मैदानों में सैनिक अपनी बन्दूकें अपने बिस्तरों पर रखकर सोते हैं और राइफलों वाले अपनी राइफलों को बगल में दबाकर। यह मैं आपको (प्रचलित) गप्प के रूप में बता रहा हूँ, परन्तु इस गप्प से प्रचलित भावनाओं का पूरा अनुमान हो सकता है। (१८५७ ई० के) विद्रोह की स्मृतियों ने गोरों तथा देसी लोगों को बहुत प्रभावित कर रखा है।'[1]

गोरे पत्र जब इस प्रकार की अफवाहें उड़ा रहे थे और भारतीयों के विरुद्ध विष-वमन कर रहे थे, उस समय पंजाब सरकार ने उनके विरुद्ध तो कोई कार्यवाही नहीं की, किन्तु लाला लाजपतराय द्वारा निकाले जाने वाले **पंजाबी** पत्र के विरुद्ध फौरन कार्यवाही की। इस कार्यवाही ने भी इस परिस्थिति को विषम एवं जटिल बनाने में बड़ा सहयोग दिया। **'पंजाबी'** पत्र पहले सप्ताह में एक बार निकलता था और बाद में तीन बार निकलने लगा। इसमें लाला लाजपतराय के ओजस्वी लेखों में देश की राजनैतिक परिस्थितियों का गम्भीर विवेचन किया जाता था। यह पत्र उस समय पंजाब में बड़ा लोकप्रिय था और इसके ग्राहक निरन्तर बढ़ रहे थे। यह सरकार की जनता-विरोधी

---

१. अलगूराय शास्त्री—लाला लाजपतराय, पृ० २११

नीतियों का प्रबल आलोचक था, अतः सरकार की इस पर वक्र दृष्टि थी और वह किसी प्रकार इसके विरुद्ध कड़ी कार्यवाही करना चाहती थी। लाजपतराय विधि-विशेषज्ञ थे; कानून की बारीकियों को अच्छी प्रकार समझते थे। वे इसके प्रूफ प्रायः स्वयं देखते थे और इसमें कानूनी दृष्टि से आपत्तिजनक बात नहीं छपने देते थे। अतः सरकार काफी समय तक इस पर कोई कार्यवाही नहीं कर सकी। किन्तु एक बार इसके एक अंक में एक पुलिस कांस्टेबुल की रहस्यमय मृत्यु के बारे में एक समाचार छपा। लाजपतराय उस दिन पत्र के प्रूफ न देख सके थे। यदि वे इसे देखते तो लेख में अवश्य कुछ परिवर्तन कर देते। सरकार को इस समाचार के आधार पर पत्र के विरुद्ध कार्यवाही करने का मौका मिल गया। उसने **पंजाबी** के संपादक ए० के० अथोले, मुद्रक जसवन्त राय के विरुद्ध मामला चलाया। जनता यह समझती थी कि यह मामला जानबूझकर पत्र में प्रकाशित होने वाली सरकारी आलोचनाओं का प्रतिशोध लेने के लिए चलाया जा रहा है। अतः जब इस मामले में डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट ने लाला जसवन्त राय को दो वर्ष के कठोर कारावास तथा मि० अथोले को ६ मास के दण्ड की आज्ञा सुनाई तो अदालत में उनके स्वागत के लिए विशाल जनसमूह एकत्र था, उन पर पुष्पवर्षा की जा रही थी, वे जनता के लिए वीर महापुरुष बन चुके थे। इस निर्णय से उत्तेजित जनता ने डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट के बंगले में तोड़-फोड़ की; सिविल लाइन्स में आतंक पैदा किया। नौजवानों ने कुछ गोरों को गालियाँ दी। कुछ की गाड़ियों पर कीचड़ फेंका। सिविल एण्ड मिलिटरी गजट के रिपोर्टर अंग्रेज पर हमला किया। अंग्रेजों की दृष्टि में यह विद्रोह की पुनरावृत्ति हो रही थी। किन्तु इस विषय में यह उल्लेखनीय है कि लाला लाजपतराय ने इस अवसर पर उत्तेजित भीड़ को नियन्त्रित और संयत करने का पूरा प्रयत्न किया। उन्होंने लोगों को समझाया कि इतने भारी जनसमूह द्वारा अकेले व्यक्ति पर आक्रमण करना कायरता है। उनके हस्तक्षेप से सिविल एण्ड मिलिटरी गजट के रिपोर्टर की प्राणरक्षा हुई और लाहौर में शीघ्र ही शान्ति स्थापित हो गयी।

इस मामले की जब चीफ कोर्ट में अपील की गयी तो जसवन्त राय का दण्ड घटा दिया गया। किन्तु उस समय अंग्रेजों की जो स्थिति थी, वह लाला लाजपतराय के इस वर्णन से स्पष्ट है—"जिस दिन (अदालत द्वारा दण्ड की) आज्ञा सुनाई गयी, न्यायाधीश भय से काँप रहा था। न्यायालय के हॉल में पुलिस दल खड़ा कर दिया गया। न्यायालय से जेल तक सड़क पर भी पुलिस नियुक्त कर दी गयी। जस्टिस रीड ने दो बार अपने चपरासी को अपनी कोठी पर यह जानने के लिए भेजा कि क्या वहाँ सब कुशल है।"[1]

पंजाब में यह स्थिति पैदा होने का कारण ब्रिटिश सरकार की भेद-भावपूर्ण नीति थी। उसने एक छोटा-सा समाचार प्रकाशित करने के लिए **पंजाबी** पत्र पर तो मुकद्दमा चलाया और सिविल एण्ड मिलिटरी गजट पर भारतीयों के विरुद्ध बीसियों अनर्गल प्रलापपूर्ण पत्र छापने के लिए कोई कार्यवाही नहीं की। सरकार के इस रवैये से उस समय जनता अतीव क्षुब्ध थी, अतः इसकी सारी जिम्मेदारी सरकार पर थी।

इसके अतिरिक्त इस समय पंजाब में सरकार द्वारा बनाये जा रहे कुछ नये कानूनों से किसानों में असन्तोष भीषण विद्रोह का रूप धारण कर रहा था। इनमें **नहरी बस्तियों**

---

१. अलगूराय शास्त्री—लाला लाजपतराय

का कानून(न्यू कालोनीज एक्ट)विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पिछली शताब्दी के अन्तिम चरण में सरकार ने चनाब नदी से नहरें निकालकर वहाँ के बियाबान, उजाड़ सूखे प्रदेशों में सिंचाई की व्यवस्था की और लायलपुर, मिंटगुमरी जैसी बस्तियाँ बसाईं। उस समय लोग उन उजाड़ प्रदेशों में जाने को तैयार नहीं होते थे, अतः जालंधर, अमृतसर, होशियारपुर आदि के किसानों को सरकार ने अनेक सुविधाओं का प्रलोभन देकर इस क्षेत्र में बुलाया और इन्हें बड़े सस्ते दामों पर जमीनें खेती के लिए दी गयीं। ये लोग अपनी पुरानी जमीन-जायदाद छोड़कर आये थे, बरसों तक अपना खून-पसीना एक करके उजाड़ बियाबान जंगलों को हरे-भरे खेतों में बदलते रहे। किन्तु इसी समय सरकार ने एक नया कालोनी एक्ट या नहरी आबादी कानून बनाया। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की संपत्ति का अधिकारी उसका बड़ा लड़का हो सकता था। छोटे पुत्रों को इसमें कोई हिस्सा नहीं दिया गया था। बड़े लड़के के मरने पर भी वह जमीन-जायदाद छोटे लड़कों को नहीं मिल सकती थी, बल्कि उस पर सरकार का अधिकार हो जाता था। इस प्रकार सरकार किसानों को उनके परिश्रम से वंचित करके उनकी जमीनें पुनः अपने हाथ में लेना चाहती थी। इसके साथ ही कोई व्यक्ति अपनी जमीन पर खड़े वृक्षों को नहीं काट सकता था। भगतसिंह के शब्दों में उनसे एक दातून तक नहीं तोड़ सकता था। जो जमीनें उनको मिली थीं, उन पर वह केवल खेती कर सकते थे। किसी प्रकार का मकान या झोंपड़ा यहाँ तक कि पशुओं को चारा डालने के लिए खुडली (नाँद) तक नहीं बना सकते थे। कानून का थोड़ा-सा भी उल्लंघन करने पर सरकार चौबीस घण्टे का नोटिस देकर तथाकथित अपराधी की जमीन जब्त कर सकती थी।[१]

उस समय यह विश्वास किया जाता था कि ऐसा कानून बनाकर सरकार उपजाऊ बनायी गयी सारी भूमि को अपने अधिकार में लेना चाहती है ताकि वह उसे बड़े-बड़े जमींदारों में बाँट दे जो हमेशा सरकार का साथ देते रहें। इस कानून से मध्य पंजाब के लायलपुर, झंग आदि जिलों में बड़ा असन्तोष उत्पन्न हुआ और वहाँ के जमींदारों ने इस कानून के विरुद्ध आन्दोलन शुरू किया। इसके नेता लायलपुर के वकील चौधरी शहाबुद्दीन थे जो बाद में पंजाब असेम्बली के स्पीकर बने। उन्होंने लायलपुर में जमींदार एसोसियेशन बनाया और मार्च १९०७ के अन्त में लाला लाजपतराय को लायलपुर में इस आन्दोलन के लिए पशु-मेले के अवसर पर आयोजित सभा में भाग लेने का निमन्त्रण भेजा।

२१ अप्रैल को लालाजी बख्शी टेकचन्द्र, रामभज दत्त चौधरी, राय बहादुर रघुबरदयाल के साथ जब लायलपुर की सभा में पहुँचे तो अमरशहीद भगतसिंह के चाचा सरदार अजीतसिंह का भाषण हो रहा था। लालाजी ने इस अवसर पर नये कानून के विरुद्ध बड़ा प्रभावशाली भाषण दिया और यह घोषणा की कि "भारत-भूमि के स्वामी हमारे पूर्वज थे और अब हम उसके स्वामी हैं। अंग्रेजों को हमें उससे वंचित करने का कोई अधिकार नहीं है।" इससे जनता में बड़ा उत्साह और जोश उत्पन्न हुआ और इसी समय बाँकेदयाल ने इस सभा में स्वरचित प्रसिद्ध गीत 'पगड़ी सम्भाल जट्टा' गाया

---

१ इस कानून पर आपत्तियों के लिए देखिये डिपार्टमेंट आफ रेवेन्यू एण्ड एग्रीकल्चर प्रोसीडिंग्स २३ मई १९०५ ई०; वीरेन्द्र सिन्धु—युगद्रष्टा भगतसिंह, पृ० ६५

जिसने श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर दिया और जो शीघ्र ही 'वन्देमातरम्' की भाँति पंजाब का राष्ट्रीय गीत बन गया और इसने उस समय जन-जागृति में बड़ा प्रबल भाग लिया।[1]

पंजाब में खेती करनेवाले को 'जट्ट' (जाट) कहा जाता है। यह शब्द इस गीत में किसान का वाचक है। पश्चिमी पंजाब में जाट कृषक मुसलमान, मध्य पंजाब में सिक्ख और पूर्वी पंजाब में हिन्दू थे। इस गीत में इन सबको अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध करने की प्रेरणा देते हुए कहा गया है कि नये कानूनों से जाटों की सारी इज्जत मिट्टी में मिल रही है; उन्हें अपने पगड़ी अर्थात् सम्मान की रक्षा के लिए तैयार हो जाना चाहिए। कीड़ों ने उनकी फसलें खा ली हैं। उनके शरीर पर कोई चीथड़े तक नहीं हैं। भूख ने उनका खून पूरी तरह निचोड़ दिया है। बच्चे रोटी के लिए तरस रहे हैं। हे किसान, जागृत और सावधान हो! अपनी इज्जत की रक्षा के लिए उठ खड़ा हो! भारत तेरा मन्दिर है, तू इसका पुजारी है। तू इन अपमानों को कब तक सहन करेगा? लड़ने-मरने के लिए तैयार हो जा। हे कृषक बन्धु, तुम उठ खड़े होओ और अपने सम्मान की रक्षा करो!

इस गीत के बाद शहाबुद्दीन और रामभज दत्त के भाषण हुए और अन्त में लाला लाजपतराय ने सभा की ओर से नहरी आबादी कानून के विरुद्ध अपनी शिकायतों को बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया था। इस सभा में अजीतसिंह का भाषण सबसे अधिक जोशीला था। इस जलसे में सरकारी अधिकारी भी उपस्थित थे, किन्तु उन्होंने किसी प्रकार कोई हस्तक्षेप नहीं किया। इस सभा के बाद दिन-प्रतिदिन लायलपुर का कृषक-आन्दोलन प्रबल होने लगा।

लगभग इसी समय लाहौर के आसपास के प्रदेश में बारी दोआब नहर से सिंचित प्रदेश में सरकार ने नहरी पानी के कर में भारी वृद्धि कर दी। इससे लाहौर और उसके आसपास के जिलों में असन्तोष उत्पन्न हुआ, क्योंकि उन दिनों कीड़ों से फसलों का पहले ही नुकसान हो चुका था और प्लेग की महामारी के कारण मजदूरों की बड़ी कमी थी।

---

१. इसका अविकल रूप निम्नलिखित है—

पगड़ी सँभाल जट्टा, पगड़ी सँभाल ओए!
लुट्ट लिआ माल तेरा, हालों बेहाल ओए!

फसला नूँ खा गये कीड़े,
तन ते नहीं तेरे लीड़े,
भुक्खाँ ने खूब नपेड़े,
रोन्दे ने बाल ओए!
पगड़ी सँभाल जट्टा, पगड़ी सँभाल ओए!

हिन्द है मन्दिर तेरा
इस दा पुजारी तू
कद तक झल्लेंगा तू
एहदी ख्वारी नूँ,
लड़न ते मरन दी
कर ले तैयारी तू

सरदार अजीतसिंह ने लाहौर और उसके आसपास के प्रदेशों में ग्रामीण जनता में ब्रिटिश सरकार की खुल्लमखुल्ला आलोचना शुरू की। इस समय उन्होंने **अन्जुमने मुहिब्बाने वतन** (मातृभूमि-प्रेमियों की संस्था) नामक संगठन बनाया और इसकी ओर से लाहौर और उसके आसपास के प्रदेशों में सरकार-विरोधी सभाओं का आयोजन किया जाने लगा। पहले लालाजी द्वारा संचालित **पंजाबी** पत्र के मुकद्दमे का वर्णन किया जा चुका है। १६ अप्रैल को चीफ कोर्ट ने जब इस मामले में निचले न्यायालय द्वारा पत्र के सम्पादक और प्रबन्धक को दिये गये कठोर दण्ड को सम्पुष्ट किया तो लाहौर के नवयुवकों की एक उत्तेजित भीड़ ने अनारकली से सिविल लाइन की ओर बढ़ते हुए अंग्रेजों पर हमले किये। इसके दो सप्ताह बाद ही रावलपिण्डी में उपद्रव हुए जिनका पहले इसी अध्याय में वर्णन किया गया है। पंजाब के तत्कालीन लेफ्टीनेण्ट गवर्नर डेन्जिल इब्बटसन इन उपद्रवों से इतने उत्तेजित हो उठे कि उन्होंने वायसराय से अनुमति प्राप्त की और तुरन्त इस विषय में कड़ी कार्रवाई करने के लिए इस आन्दोलन के नेता लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह को बिना मुकद्दमा चलाये देश-निर्वासन का दण्ड देकर माण्डले भिजवा दिया।

इस निर्वासनदण्ड ने आग में घी का काम किया। न केवल पंजाब प्रान्त में, अपितु सारे देश में इससे भीषण असन्तोष उत्पन्न हुआ। अम्बाला के एक अखबार **जनरतन** ने बड़ी काव्यमयी भाषा में लिखा था, "अंग्रेज भारत के बगीचे से हंसों को उड़ाकर ले गये हैं।" बंगाल के **'संध्या'** की टिप्पणी थी कि "लालाजी मातृभूमि के यज्ञ में पहली आहुति हैं।" **युगान्तर** ने १२ मई १९०७ ई० के पत्र में लिखा था, "जो लोग मातृभूमि के लिए अपने प्राणों की बलि देना चाहते हैं वे अब इसके लिए पूरी तैयारी कर लें।" **अमृत-बाजार पत्रिका** के संवाददाता ने लाहौर से रिपोर्ट दी थी कि "शहर की गलियों में घुड़-सवार सेना चक्कर काट रही है। जनता के सभी वर्गों में बड़ी सनसनी और असन्तोष है।"[1]

लाजपतराय की गिरफ्तारी के बारे में भारत सरकार के गोपनीय रिकार्डों की कुछ बातों का उल्लेख इस प्रसंग में आवश्यक प्रतीत होता है। पंजाब के लेफ्टीनैण्ट गवर्नर का लाला लाजपतराय पर यह आरोप था कि वे भारतीय सेनाओं में विद्रोह पैदा करना चाहते थे। उस समय एंग्लो-इण्डियन पत्रों ने यह अफवाह उड़ा दी थी कि लालाजी ने एक लाख व्यक्तियों की सेना ब्रिटिश साम्राज्य का उन्मूलन करने के लिए तैयार की हुई है। किन्तु वायसराय की परिषद् के दो सदस्य एच० ई० रिचर्ड्स और ई० एन० बेकर लेफ्टीनैण्ट गवर्नर के कथन को बड़ा अत्युक्तिपूर्ण समझते थे। उनका यह कहना था कि लाला लाजपतराय के भाषण बहुत नरम हैं, वे नरम दल के सदस्य हैं, जिसकी नीति वैध आन्दोलन को चलाना है। उनकी गिरफ्तारी से बहुत अधिक अशान्ति और हलचल मचेगी और इस समय गोखले और उसके जो अनुयायी हमारे साथ हैं, वे हमारे विरुद्ध हो जायेंगे। लाजपतराय के विरुद्ध मामला केवलमात्र सन्देह का है।[2]

---

१. अमृत बाजार पत्रिका, कलकत्ता, १०-५-१९०७ का अंक

२. (मिनट्स—डिपार्टमेंट आफ होम) पब्लिक (पोलिटिकल ए, प्रोसीडिंग्स) १४८-२३५, अगस्त १९०७, गोपनीय।

ये विचार लालाजी की गिरफ्तारी से चार दिन पहले पाँच मई को प्रकट किये गये थे, किन्तु वायसराय की कौंसिल के अन्य सदस्य और वायसराय इससे सहमत नहीं थे। लार्ड मिण्टो ने बाद में यह स्वीकार किया कि "मैं पंजाब सरकार द्वारा दी गयी सूचना से बँधा हुआ था। यद्यपि मुझे उस समय फौरन कार्यवाही करनी पड़ी, फिर भी मैं इस मामले को कमजोर समझता था।"

इस विषय में ३० अप्रैल १९०७ ई० का लिखा हुआ पंजाब के लेफ्टीनैण्ट गवर्नर डेंजिल इब्बटसन का एक नोट उल्लेखनीय है।[1] इसमें उन्होंने नेताओं के देश-निर्वासन की प्रस्तावित अपनी कार्यवाही को उचित ठहराते हुए लिखा था कि पंजाब में इस समय अत्यधिक खतरनाक स्थिति उत्पन्न हो गयी है। वर्तमान आन्दोलन ने बड़ा भयंकर रूप धारण कर लिया है। यह निश्चित रूप से ब्रिटिश विरोधी प्रचार है और ग्रामवासियों में निरन्तर किया जा रहा है। इसमें नहरी बस्तियों के बिल और बारी दोआब में आबियाने की वृद्धि को उचित ठहराते हुए 'पंजाबी' पत्र के मामले की चर्चा की गयी थी और यह स्वीकार किया गया था कि इन दिनों यूरोपियन भारतीयों के साथ बड़ा दुर्व्यवहार करते हैं और कई बार पीटते हुए उन्हें जान से मार डालते हैं। **पंजाबी** में प्रकाशित समाचार एक अंग्रेज अफसर द्वारा भारतीय के जानबूझकर हत्या करने का मामला था (पृ० २३३)। इस मामले में 'पंजाबी' पत्र पर धारा १२४-ए के अन्तर्गत राजद्रोह के लिए मुकद्दमा चलाना एक महाविपदा लाने वाली भूल (Disastrous mistake) थी। पंजाब में इस समय सर्वत्र ब्रिटेन की सरकार के विरोध में **नयी हवा** चल रही है। ऐसे समय में हमारे द्वारा इस आन्दोलन को रोकने की प्रभावशाली कार्यवाही की जानी चाहिए, अन्यथा हम हास्य के पात्र बन जायेंगे। इस समय मुसलमान और सनातनधर्मी हमारे राजभक्त हैं, किन्तु निष्क्रिय निर्भीक हैं, वे अपने पर ईंटें-पत्थर नहीं गिरवाना चाहते हैं, जैसा एक व्यक्ति ने कहा है।...इस आन्दोलन के नेता लाला लाजपतराय और अजीतसिंह हैं, किन्तु उन पर मुकद्दमा चलाना ठीक न होगा। **'पंजाबी'** पत्र के मुकद्दमे से यह बात स्पष्ट हो गयी है। यदि मुकद्दमा सफल न हो तब भी यह एक भयंकर भूल होती है (पृ० २३७) और यदि यह सफल हो तो अखबारों द्वारा इसका व्यापक रूप से प्रचार हो जाता है। ऐसे मामले में अदालत में अपराध को प्रमाणित करना बड़ा कठिन होता है। इस विषय में सारी प्रमुख गवाही खुफिया पुलिस के जासूसों और सरकार को सूचना देने वालों की होती है। यह गवाही उनकी स्मृति पर आधारित होती है (पृ० २३८), इसलिए अदालत में पूर्णरूप से विश्वसनीय और प्रामाणिक नहीं समझी जा सकती। इन सभी कारणों से बिना मुकद्दमा चलाये देश-निर्वासन का दण्ड दिया जाना उचित है। वायसराय ने इसी आधार पर पंजाब सरकार को आन्दोलन के नेताओं को दण्ड देने की अनुमति दे दी।

इस समय भारत-मन्त्री लार्ड मार्ले बड़े उदार विचारों के व्यक्ति थे। लाला लाजपतराय कांग्रेस के एक शिष्टमण्डल के सदस्य के रूप में इंग्लैण्ड हो आये थे। वहाँ पार्लियामेण्ट के अनेक सदस्यों से उनका अच्छा परिचय था, उन्होंने इस प्रश्न को बार-बार

---

१. इस नोट के अविकल रूप के लिए देखिये—विजयचन्द्र जोशी—लाजपतराय : आटोबायोग्राफिकल राइटिंग्स, दिल्ली १९६५, पृ० २२८-२४०

पार्लियामेण्ट में उठाया और यह कहा कि बिना मुकद्दमा चलाये लालाजी को दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए था। लार्ड मार्ले को पार्लियामेण्ट में जवाब देना मुश्किल हो गया।[1] उनका यह कहना था कि यह एक अतीव असाधारण कार्यवाही है और हमारी बद्धमूल राजनैतिक धारणाओं और शासन के सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल है। उन्होंने भारत सरकार के इस कार्य को बड़ा नापसन्द किया और लालाजी को रिहा करने पर बल दिया। २४ अगस्त १९०७ को मार्ले ने विम्बलडन में एच०एच० रिजली से कहा था कि "मैं लालाजी के गिरफ्तार रहते हुए पार्लियामेण्ट के अगले अधिवेशन का सामना नहीं कर सकता।"[2]

इन दिनों भारत सरकार एक नया दमनकारी कानून बनाकर राजनैतिक सभाएँ करने पर पाबन्दी लगाना चाहती थी। वायसराय इस सभा-कानून (मीटिंग एक्ट) को पास करना आवश्यक समझते थे। और भारत-मन्त्री से उसकी अनुमति प्राप्त करने के लिए अतीव उत्सुक थे। इस पर भारत-मन्त्री ने ३० अक्तूबर १९०७ ई० को भेजे गये तार में यह आदेश भेजा—"लाला लाजपतराय को छोड़ दिया जाय। मैं आपसे आग्रह करता हूँ कि आप मीटिंग्स एक्ट को पास कर दें और इस अवसर पर लाजपतराय को बन्धनमुक्त कर दिया जाय।" किन्तु पंजाब के गवर्नर अब भी लाजपतराय को बन्दी बनाये रखने पर तुले हुए थे। २ नवम्बर १९०७ ई० को उन्होंने वायसराय को तार दिया कि "मैं तत्काल रिहाई का अधिकतम उग्रता से विरोध करता हूँ।" फिर भी भारत-मन्त्री के आग्रह से लाजपतराय को नवम्बर १९०७ ईसवी में छोड़ दिया गया और उनके लाहौर पहुँचने पर जनता ने बड़ा हर्षोल्लास और दिवाली मनायी।

(१२) पत्रों की प्रतिक्रिया

इस अवसर पर सरकार द्वारा अवैध रूप से लालाजी की गिरफ्तारियों पर जो टिप्पणियाँ और लेख लिखे गये, वे उस समय की मनोभावना को भली-भाँति स्पष्ट करते हैं। इलाहाबाद से निकलने वाले **सिटीजन** नामक पत्र ने १७ जून के अंक में पूना के एक अखबार के कार्टून का उल्लेख किया जिसमें लालाजी की सरकार द्वारा गिरफ्तारी को क्रिकेट के कार्टून के रूप में चित्रित किया गया था। इसमें यह दिखाया गया था कि रैयत (कृषक) विकेट की रक्षा कर रही है। सर डेंजिल जोरदार गेंदबाजी से विकेट गिराने की कोशिश में हैं। किन्तु जब रैयत को आउट नहीं कर सके तो उन्होंने अपने कप्तान को इशारा किया कि इसे गले में रूमाल बाँधकर और खींचकर खेल के मैदान से निकाल दो। इस चित्र में एक ओर उदार दल के नेता बालफोर मार्ले से कह रहे हैं कि "क्या यही क्रिकेट है?" इस पर मार्ले का उत्तर है—"जी हाँ। मौके पर मौजूद व्यक्ति इस बारे में अच्छी तरह से जानते हैं।"[3]

---

१. अलगूराय शास्त्री—लाला लाजपतराय, अध्याय २९, इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट में लाला लाजपतराय का प्रश्न, पृ० १८६-२०५

२. २१-१०-१९०७ ई० का एच० एच० रिजली का नोट, डिपार्टमेण्ट आफ होम, पोलिटिकल ए, प्रोसीडिंग्स ४-७ नवम्बर १९०७ ई०, गोपनीय।

३. सिलेक्शन्स फ्राम वर्नाकुलर न्यूजपेपर्स, यू०पी०, १/७०४

'हिन्द' नामक पत्र ने यह लिखा था कि लालाजी की गिरफ्तारी के समय यह अफवाह उड़ायी गयी थी कि उन्होंने एक लाख जाटों की सेना एकत्र कर ली है। १० मई को वह लाहौर के किले पर हमला करके उस पर कब्जा कर लेंगे। यह बिल्कुल झूठी निराधार कहानी थी; खुफिया पुलिस द्वारा गढ़ी गयी और सरकार के चापलूसों द्वारा पोषित की गयी थी। इस विषय में पंजाब सरकार ने हद दर्जे का भोलापन (Credulity) प्रदर्शित किया है। यदि यह सच हो तो पंजाब के अफसर बड़े लापरवाह और निकम्मे थे। लाला जी ने इतनी बड़ी सेना इकट्ठी कर ली, हमले की तैयारी की और सरकारी अधिकारियों को पहले से कुछ भी पता न चला। यदि वास्तव में उनके पास एक लाख फौज थी तो वे तनिक भी मुकाबला किये बिना हार क्यों मान गये ? सरदार अजीतसिंह और उनके साथियों के लिए यह बड़ी शर्म और हँसी की बात है कि वे अपनी सेना की सहायता से लड़ने की बजाय अपनी जान बचाने के लिए भाग गये···इस सब बातों पर विचार करने से निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह सारा मामला इस बात का सुन्दर उदाहरण है कि पंजाब की खुफिया पुलिस झूठी रिपोर्ट गढ़ने में कितनी कुशल है।[1]

लखनऊ से छपने वाले **आनन्द** पत्र ने ६ जून के अंक में लिखा था कि लालाजी तथा अजीतसिंह को निर्वासन से अनुचित महत्त्व मिल गया है। यदि ये अपराधी थे तो उन पर मुकद्दमा चलाना चाहिए था। चूहा मारने के लिए तोप के गोले की आवश्यकता नहीं थी। लखनऊ के **सिटीजन** पत्र ने २० मई के अंक में लिखा था "ओ सर इब्बटसन, ओ जासूस होम्ज, लाजपतराय के एक लाख सैनिकों का क्या हुआ जिनको वे नियमित रूप से कवायद कराते थे, जिनकी सहायता से वे १० मई को विद्रोह कराना चाहते थे ? लालाजी के मित्रों, बच्चों, उनसे सम्बन्ध रखने वाले सभी व्यक्तियों के लिए यह नयी खबर होनी चाहिए कि वे शान्तिप्रिय और कानून का पालन करने वाले नागरिक नहीं, अपितु नाना साहब की भाँति ब्रिटिश नारियों और बच्चों के रक्तपिपासु हैं।"[2]

(१३) परिणाम तथा प्रभाव

पंजाब तथा रावलपिण्डी के दंगों तथा उपर्युक्त अन्य कई कारणों से राजद्रोही समझे जाने के कारण आर्यसमाज के संगठन पर बड़े महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़े तथा कई परिणाम उत्पन्न हुए। पहला प्रभाव यह था कि सरकार का आर्यसमाज पर निरन्तर सन्देह बढ़ता चला गया और पंजाब की सरकार ने आर्यसमाज के दमन का निश्चय कर लिया। चूँकि आर्यसमाज के सदस्य काफी बड़ी संख्या में सरकारी नौकरियों में थे, अतः सरकार के लिए उनका उत्पीड़न करना आसान था। लाहौर और रावलपिण्डी के शान्तिप्रिय आर्यों पर मुकद्दमे चलाये गये। सरकारी सेवा करने वाले आर्यसमाजियों पर प्रतिबन्ध लगाये जाने लगे। पंजाब के लेफ्टीनैण्ट गवर्नर इब्बटसन ने ऐसे परिपत्र निकाले जिनमें सरकारी अधिकारियों को यह निर्देश तथा चेतावनी दी गयी थी कि हिन्दुओं तथा आर्यों को सामूहिक रूप से राजद्रोही समझा जाय, उन पर कड़ी निगाह रखी जाय, बड़ी सावधानी, जाँच और परीक्षा के बाद ही उन्हें नौकरियों पर लगाया जाये। महत्त्वपूर्ण

१. सिलेक्शन्स फ्राम वर्नाकुलर न्यूजपेपर्स यू० पी०, १/६९४।
२. सिलेक्शन्स फ्राम वर्नाकुलर न्यूजपेपर्स यू० पी०, पृ० ६१४।

पदों पर विद्यमान आर्यों को राजद्रोही या बागी होने का तनिक भी सन्देह होने पर पदच्युत कर दिया जाय। इब्बटसन ने यह परिपत्र ७ मई १९०७ ई० को जारी किया था।[1]

लाला लाजपतराय ने सरकार के दमन के बारे में यह लिखा था कि "पिछले १२ महीने के अनुभवों से बहुत-से व्यक्तियों का मानसिक सन्तुलन नष्ट हो गया है। विद्रोह करने वाले खतरनाक तत्त्वों का पता लगाने के लिए बड़े भारी प्रयत्न किये जा रहे हैं।··· इन परिस्थितियों में आर्यों को अपने विचारों पर दृढ़ रहना चाहिए और सरकार से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए, और अपने सिद्धान्तों के साथ कोई समझौता नहीं करना चाहिए।"[2]

दूसरा प्रभाव सरकारी जासूसों की गुप्त रिपोर्टों का झूठा समझा जाना तथा इनकी प्रामाणिकता से जनता का विश्वास उठ जाना था। पहले बताया जा चुका है कि इब्बटसन ने स्वयमेव इस बात को स्वीकार किया था कि हमारे पास विभिन्न जिलों के पुलिस अधिकारियों की जो रिपोर्टें आती हैं वे पूर्ण रूप से इसलिए विश्वसनीय नहीं हैं कि हिन्दी-उर्दू के भाषणों की रिपोर्ट लेने के लिए शार्टहैण्ड-पद्धति का विकास अभी नहीं हुआ है और ये रिपोर्टें स्मृति के आधार पर लिखी जाती हैं।[3] यह स्पष्ट था कि इनमें बड़ी भूलें होना सम्भव था। कई बार ये रिपोर्टें जान-बूझकर गुप्तचर विभाग के कर्मचारियों द्वारा किसी विशेष प्रयोजन से, किसी व्यक्ति या संस्था को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से गढ़ी जाती थीं। ऐसी मनगढ़न्त एक घटना का वर्णन ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के सदस्य केर हार्डी ने अपने लेख में किया था।[4] इसका सम्बन्ध लाला लाजपतराय से था और उद्देश्य कुछ विशेष व्यक्तियों को सरकार की दृष्टि में नीचे गिराना था। यह आगे चलकर **इटावा की गप्प** के नाम से प्रसिद्ध हुई और इससे १९०७ ई० की एंग्लो-इण्डियन मनोवृत्ति का पता चलता है। यह घटना इस प्रकार थी। संयुक्त प्रान्त के इटावा जिले के हिन्दू तथा मुस्लिम सरकारी कर्मचारियों में कुछ समय से अनबन-सी चली आ रही थी। हिन्दुओं ने कोशिश करके वहाँ के मुसलमान कोतवाल का तबादला करवा दिया और वे उसके स्थान पर ब्राह्मण डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्ट को नियुक्त कराने के प्रयास में सफल हुए। जिन विभागों में मुसलमानों की प्रधानता थी वहाँ उनका अन्य हिन्दू विभागों से इस प्रकार

---

१. कन्फिडेंशल सरकुलर नम्बर ७१५, ७ मई १९०७, ई० पी० जी० पी० १०/बी०

२. इस प्रकार के अत्याचारों के उदाहरण के लिए देखिए—इन्दर, जनवरी १९०९ ई०, सिलेक्शन्स फ्राम पंजाब वर्नाकुलर पेपर्स, १९०९ ई०, पृष्ठ १३७-३९; आर्य मुसाफिर मार्च १९०९ ई०, पृष्ठ ७३-८०; आर्य गजट, मार्च १९०९ ई०; सिलेक्शन्स १९०९ ई०, पृष्ठ २४४; प्रकाश, मार्च २३ १९०९ ई०, पृष्ठ २९५-९६; इन्दर मार्च तथा अप्रैल १९०९ ई०; सिलेक्शन्स फ्राम वर्नाकुलर न्यूजपेपर्स आफ पंजाब, १९०९ ई०, पृष्ठ २१७-१८; प्रकाश, मई १९०० ई०; सिलेक्शन्स १९०९ ई०, पृष्ठ ४६६; प्रकाश, ४ मई १९०९ ई०; सिलेक्शन्स १९०९ ई०, पृष्ठ ४२२-२३; पंजाबी, सितम्बर ३०, १९०९,ई०; पृष्ठ १, जौन्स द्वारा आर्य धर्म, पृष्ठ २६३ से उद्धृत

३. विजयचन्द्र जोशी—लाला लाजपतराय : आटोबायोग्राफिकल राइटिंग्स, दिल्ली, १९६५ ई०, पृ० २५८; अलगूराय शास्त्री—लाला लाजपतराय पृ० १३९

४. अलगूराय शास्त्री—लाला लाजपतराय : जीवनी, पृ० १३४-३५

का संघर्ष चला आता था। "पंजाब में लाजपतराय के मामले से पूर्व इटावा में कोई घटना नहीं घटी थी। कुछ दिन बाद वहाँ के मैजिस्ट्रेट मि० रोज को गुप्त रूप से मुसलमान तहसीलदार द्वारा यह सूचना मिली कि स्थानीय हिन्दू अधिकारीगण, मुख्यत: श्यामबिहारी मिश्र (डिप्टी सुपरिटेण्डेण्ट पुलिस), मि० पुत्रीप्रसाद (डिप्टी कलेक्टर) और कुछ वकील जैसे मि० जसवन्तसिंह, इटावा में वकालत करने वाले कुछ अन्य पंजाबी वकील लाला लाजपतराय की सहायता के लिए चन्दा जमा कर रहे हैं। ये लोग आर्यसमाज के विभिन्न दलों के साथ राजद्रोहात्मक पत्र-व्यवहार करते रहते हैं।" यह भी कहा गया कि ऐसे पत्र-व्यवहार को रोक लेना सम्भव है। इसके लिए शीघ्र ही उचित कार्यवाही की गयी। यथासमय एक मुसलमान गुप्तचर खलील द्वारा १९ ऐसे पत्र पकड़े और पेश किये गये जिसका अधिकांश भाग अत्यन्त उत्तेजना फैलाने वाला और राजद्रोहात्मक था। इनमें कुछ पत्र निजी थे, किन्तु उन पर किसी-न-किसी उपर्युक्त हिन्दू अफसर के हस्ताक्षर अवश्य थे। डिविजनल कमिश्नर मि० काबेल ने इस मामले की पूरी जाँच की और इन सब कागजों की सत्यता को प्रमाणित किया। प्रान्तीय सी० आई० डी० के डायरेक्टर मि० शॉर्प को बुलाया गया। वे भी सहमत थे कि मामला बड़ा गम्भीर है। तीन अन्य केन्द्रों—उन्नाव, खेड़ी तथा अमृतसर में एक ही समय में तलाशी तथा जाँच की आज्ञा जारी कर दी गयी।

"इतने में एक अत्यन्त असाधारण घटना हो गयी। मि० रोज स्थानीय वालण्टियरों के कमाण्डेण्ट कप्तान आदमसन के साथ परिस्थिति पर विचार कर रहे थे। स्थानीय अधिकारी मामले को भीषण समझते थे और सबका यही विचार था कि नगर में विद्रोह होने वाला है। वे समझते थे कि पुलिस विश्वसनीय नहीं है।

कुछ भी हो, वालण्टियरों के कमाण्डेण्ट कप्तान के साथ बात करने का यही उद्देश्य था कि वह टूण्डला तथा कानपुर की सेनाओं को चेतावनी दे दे कि जब तार मिले, वह चलने को प्रस्तुत रहें। उसने ऐसा ही किया। इतने में मि० काबेल, मिस्टर शार्प तथा इन्स्पेक्टर जनरल पुलिस सभी घटनास्थल पर पहुँच गये। किसी अज्ञात कारण से इन्स्पेक्टर जनरल का विचार सर्वथा भिन्न बन गया। उसने सरसरी जाँच करते ही कह दिया कि ये सभी चिट्ठियाँ जाली हैं और जाँच करने वाले इन्स्पेक्टर से यह स्वीकार करा लिया कि खलील निश्चित रूप से एक बदमाश आदमी है, इलाके-भर में वह प्रसिद्ध धोखेबाज है। परन्तु अभी तक उसे कहीं दण्ड नहीं मिला है। जालसाजी इतनी सफलता से की गयी थी कि जिन लोगों के हस्ताक्षर बनाये गये थे, उनके लिए भी यह अस्वीकार करना कठिन था। वे यह नहीं कह सकते थे कि वे हस्ताक्षर उनके नहीं हैं। जाँच करने वाले अधिकारियों में घोर मतभेद पैदा हो गया। मिस्टर रोज तो अपना पक्ष पुष्ट करने के लिए न्यायालय तक जाने को इच्छुक थे। सरकार ने इन्स्पेक्टर जनरल का मत स्वीकार कर लिया और खलील की गिरफ्तारी का वारण्ट जारी कर दिया। वह भाग गया। सरकार ने मिस्टर ब्राडली को फटकार दी और मिस्टर रोज को दण्ड दिया।"[1] इस उदाहरण से स्पष्ट है कि पुलिस किस प्रकार झूठी रिपोर्टें और गवाहियाँ तथा प्रमाण तैयार किया करती थी।

---

१. अलगूराय शास्त्री—लाला लाजपतराय, पृष्ठ १३४-३५

तीसरा प्रभाव उपर्युक्त घटनाओं से आर्यसमाज की नीति में भी बड़ा परिवर्तन आना था। उसके नेताओं ने सरकार से दूर, तटस्थ एवं उदासीन रहने की पुरानी नीति को छोड़ दिया, गवर्नरों से मिलकर आर्यसमाज की राजभक्ति का और उसके राजनैतिक संस्था न होने का पूरी तरह से आश्वासन दिया। शनैः-शनैः १९१३ ई० के बाद सरकारी नीति में भी परिवर्तन हुआ। इसका वर्णन अगले अध्यायों में किया जायगा, किन्तु इससे पहले आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध शिक्षणालय गुरुकुल काँगड़ी के बारे में सरकारी सन्देहों का तथा एंग्लो-इण्डियन पत्रों के आर्यसमाज-विरोधी प्रचार का उल्लेख किया जायेगा।

उपसंहार—आर्यसमाज को राजद्रोही सिद्ध करने के लिए ऊपर जितने प्रमाण दिये गये हैं, उनमें से अधिकांश सरकार को अपने गुप्तचर विभाग द्वारा प्राप्त हुए थे। इन गुप्तचरों की रिपोर्टें कितनी विश्वसनीय हो सकती हैं, यह इस बात से स्पष्ट है कि रावलपिण्डी के दंगे के मामले में पंजाब के चीफ कोर्ट ने न केवल इस मामले के सभी प्रमुख तथाकथित आर्यसमाजी अभियुक्तों को निर्दोष कहकर छोड़ दिया था, प्रत्युत जस्टिस मार्टिनो ने तो स्पष्ट शब्दों में घोषित किया था कि अभियोग-पक्ष ने झूठी साक्षी तैयार की है और इस विषय में उसने इस केस से सम्बन्धित अधिकारियों की भी कड़ी आलोचना की थी।[1] अतः यह स्पष्ट है कि रावलपिण्डी के दंगे कराने में आर्यसमाज का कोई हाथ नहीं था और सरकार इसे अदालत में किसी प्रकार प्रमाणित नहीं कर सकी।

पंजाब के उपद्रवों के लिए सरकार ने लाला लाजपतराय को प्रधान रूप से दोषी ठहराया था। किन्तु पहले यह बताया जा चुका है कि स्वयं पंजाब के गवर्नर इब्बटसन को यह सन्देह था कि अदालत में उन पर आरोप प्रमाणित करना बड़ा कठिन है और इसीलिए उन्हें १८१८ ई० के एक पुराने कानून के अन्तर्गत अदालत में अभियोग चलाये बिना ही देश-निर्वासन का दण्ड दे दिया गया। इस विषय में माण्डले में निर्वासित लाला जी के मन में जो विचार उठते रहे, उनसे यह स्पष्ट है कि उन्हें इस बात का पूरा विश्वास था कि सरकार उनके विरुद्ध अदालत में कोई अपराध सिद्ध नहीं कर सकती थी। इस विषय में उन्होंने यह लिखा था, "मेरा विश्वास था कि चाहे झूठी साक्षियाँ गढ़ने, राजद्रोह की कहानियाँ बनाने, बलात् झूठी बातें स्वीकार करवाने अथवा उपद्रवों और दंगों में मुझे फँसाने की कितनी ही कोशिश क्यों न की जाय, मेरे विरुद्ध कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। मुझसे अधिक कोई भी नहीं जानता था कि मैंने क्या किया है अथवा क्या नहीं किया है···यद्यपि मुझे इस बात का पूर्ण ज्ञान था कि इस देश की पतित तथा नीच पुलिस सब-कुछ सिद्ध करने में समर्थ है—यहाँ तक कि वे बातें भी जिनका कोई अस्तित्व नहीं है, परन्तु मेरी आत्मा मुझे यही कहती थी कि अन्त में सत्य की विजय होगी।"[2]

पंजाब के उपद्रवों तथा दंगों में आर्यसमाज का कोई हाथ नहीं था। फिर भी गुप्तचरों की झूठी रिपोर्टों तथा एंग्लो-इण्डियन पत्रों के प्रचार से आर्यसमाज को इसके लिए उत्तरदायी समझा जाने लगा और सरकारी अधिकारी उसे राजद्रोही संस्था मानने लगे। ये उपद्रव वस्तुतः उस समय नहरी बस्तियों का बिल बनाने, कुछ क्षेत्रों में सिंचाई-कर की मात्रा बढ़ा देने से किसानों में उत्पन्न असन्तोष का परिणाम थे। जब

---

१. अलगूराय शास्त्री—लाला लाजपतराय : जीवनी, पृ० २०७

२. वही पुस्तक, पृ० २०६

लार्ड मिण्टो ने पंजाब सरकार द्वारा प्रस्तावित बिल को मई १९०७ ईसवी में रद्द कर दिया, नहरी पानी की सिंचाई के करों में वृद्धि रोक दी तो यह आन्दोलन शान्त हो गया। इसके आधार पर आर्यसमाज को राजद्रोही ठहराना वास्तविक तथ्यों के सर्वथा प्रतिकूल था, किन्तु सर डेंजिल इब्बटसन जैसे उच्च ब्रिटिश अधिकारी एंग्लो-इण्डियन पत्रों के प्रचार के कारण काफी समय तक ऐसा समझते रहे, इस कारण आर्यसमाज पर सरकार की वक्र दृष्टि अगले चार-पाँच वर्ष तक बनी रही और उसका भीषण दमन होता रहा। अगले अध्यायों में इसका प्रतिपादन किया जायगा।

नौवाँ अध्याय

गुरुकुल काँगड़ी पर काली घटा

(१) गुरुकुल काँगड़ी पर सरकार का सन्देह

आर्यसमाज पर राजद्रोह के सन्देह करने का एक बड़ा कारण गुरुकुल काँगड़ी का सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय शिक्षणालय था। इसकी स्थापना लगभग उसी समय हुई जब वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में आर्यसमाज पर राजद्रोह के सन्देह के काले बादलों की घटा छाना आरम्भ हुई थी। इन दोनों घटनाओं में या तो घुणाक्षर-न्याय था अथवा इसे विधि का विचित्र संयोग समझना चाहिए। महात्मा मुन्शीराम ने यजुर्वेद का स्वाध्याय करते हुए यह विचार बनाया था कि गुरुकुलों की स्थापना पर्वतों एवं नदियों के एकान्त सुरम्य प्रदेश में की जानी चाहिए। अतः गुरुकुल काँगड़ी को शहरों के दूषित वातावरण से दूर हिमालय की वनाच्छादित रमणीय उपत्यका में गंगा के तट पर ऐसे स्थान पर स्थापित किया गया था जो सर्वथा एकान्त, शान्त और बाह्य जगत् के सम्पर्क से सर्वथा विच्छिन्न था और यह सरकार से किसी प्रकार की कोई आर्थिक सहायता नहीं लेता था। चौमासे में गंगा नदी में प्रचण्ड बाढ़ आ जाने पर यहाँ पहुँचना अत्यन्त दुस्साध्य कार्य था। इस निर्जन, एकान्त और दुनिया से अलग-थलग स्थान के बारे में नाना प्रकार की आशंकायें और कल्पनायें उत्पन्न होना सर्वथा स्वाभाविक था।

जब आर्यसमाज पर राजद्रोह का सन्देह किया जाने लगा तो उसकी प्रमुख शिक्षण-संस्था के बारे में गुप्तचर विभाग के जासूसों ने सरकार को बड़ी भयंकर और भीषण रिपोर्टें देने शुरू कीं। इनके अनुसार गुरुकुल ब्रिटिश शासन का तख्ता पलटने वाले राजद्रोही कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित करने का एक महान् केन्द्र था। इसका उद्देश्य ऐसे राजनैतिक कार्यकर्ताओं को उत्पन्न करना था जो देशभक्ति की प्रबल भावना से अनुप्राणित हों, अपना जीवन देश की स्वतन्त्रता के लिए समर्पित कर दें और देश को विदेशी शासन के अभिशाप से मुक्त करें। सरकारी जासूस संन्यासी, साधु, बाबा, बाबू आदि के नाना प्रकार के गुप्त वेशों में गुरुकुल का भेद लेने आया करते थे और वे इस बारे में सरकार को बड़ी अतिरंजित रिपोर्टें और भयावह विवरण प्रस्तुत किया करते थे। इन्हें गुरुकुल की हर दीवार के पीछे से राजद्रोह की गन्ध आती थी। यज्ञशाला के नीचे उनकी दृष्टि में एक बड़ा तहखाना बना हुआ था जिसमें उनकी समझ के अनुसार ब्रह्मचारियों को गोला-बारूद और बमों को बनाने की शिक्षा दी जाती थी। उस समय गुरुकुल को सरकार किन कारणों से राजद्रोह की संस्था समझती थी, यह गुप्तचर विभाग की रिपोर्टों से स्पष्ट हो जाता है।

गुरुकुल सरकार से सर्वथा स्वतन्त्र संस्था थी। इसका सरकारी शिक्षा-विभाग से

कोई सम्बन्ध नहीं था और यह किसी प्रकार का सरकारी अनुदान नहीं लेता था। इससे गुरुकुल पर राजद्रोही होने के सन्देह को विशेष पुष्टि मिली। श्री पं० इन्द्र ने गुरुकुल पर सरकारी सन्देह का कारण इसके सरकारी नियन्त्रण से स्वतन्त्र होने तथा गुरुकुल के अधिकारियों की स्वाधीन मनोवृत्ति का विश्लेषण करते हुए लिखा है—"गंगा के उस पार, दुनिया से अलग-थलग, सर्वथा स्वतन्त्र-उपनिवेश के रूप में गुरुकुल सिर उठाये खड़ा था। गुरुकुल विश्वविद्यालय भारतवर्ष में उस समय एकमात्र ऐसा शिक्षणालय था जो किसी प्रकार भी सरकार के नियन्त्रण में नहीं था। गुरुकुल के अधिकारी सरकारी अफसरों की खुशामद नहीं करते थे और गुरुकुल के छात्र अंग्रेजों को सलाम करना नहीं जानते थे।··· नौकरशाही शासन में जो झुकना या सलाम करना नहीं जानता है, वह सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। गुरुकुल के अधिकारियों तथा ब्रह्मचारियों का सबसे बड़ा दोष यही था कि कि वे न सरकार से कुछ मांगते थे और न अफसरों की दहलीज पर सिर झुकाना आवश्यक समझते थे।"[1] इन परिस्थितियों में गुरुकुल काँगड़ी पर सरकार का सन्देह होना सर्वथा स्वाभाविक था।

(२) गुरुकुल पर गुप्त सरकारी रिपोर्टें

उस समय ब्रिटिश सरकार के गुप्तचर विभाग के उच्च अधिकारी इस शिक्षणालय को सरकार के लिए कितना अधिक खतरनाक समझते थे, इसका विस्तृत विवरण हमें संयुक्त प्रान्त के गुप्तचर विभाग के डिप्टी सुपरिंटेण्डेण्ट पुलिस श्री सी० ई० डब्ल्यू० सैण्ड्स द्वारा लिखित एक गोपनीय रिपोर्ट से मिलता है जो संयुक्त प्रान्त के विभिन्न जिलों के पुलिस-अधीक्षकों द्वारा अपने गुप्तचरों द्वारा प्राप्त की गई रिपोर्टों के आधार पर संकलित की गई थी। इसका नाम था—**आर्यसमाज इन दि युनाइटिड प्रोविन्सेज** (संयुक्त प्रान्त में आर्यसमाज)[2]। इसमें गुरुकुल की स्थापना द्वारा सरकार के लिए उत्पन्न होने वाले खतरे का भीषण चित्र प्रस्तुत करते हुए कहा गया था—

"आर्यसमाज के संगठन में अभी जो महत्त्वपूर्ण विकास हुआ है, वह वास्तव में सरकार के लिए बहुत संकट का स्रोत है। वह विकास है गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली। इस प्रान्त में गुरुकुल की उत्पत्ति के इतिहास का विवेचन अगले अध्याय में किया जाएगा, किन्तु आर्यसमाज की धर्म के रूप में आलोचना करते हुए भी उसकी ओर निर्देश करना आवश्यक है। इस प्रणाली में चाहे कितने ही दोष क्यों न हों, किन्तु स्वदेश भक्ति और बलिदान की उच्च भावना से प्रेरित जोशीले धर्मपरायण व्यक्तियों का दल तैयार करने का यह सबसे सुगम और उपयुक्त साधन है, क्योंकि यहाँ आठ बरस की ही आयु से बालकों को माता-पिता के प्रभाव से बिलकुल दूर रखकर त्याग, तपस्या और भक्तिभाव के वायु-मण्डल में उनके जीवन को कुछ निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार ढाला जाता है, जिससे

---

१. इन्द्र विद्यावाचस्पति—मेरे पिता, पृ० १३०, १३३

२. उत्तर प्रदेश के गृह-विभाग ने मुझे इस गोपनीय रिपोर्ट का अवलोकन करने की अनुमति प्रदान की है। इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। गुप्तचर विभाग के अधिकारियों के निर्देशानुसार यहाँ रिपोर्ट की पृष्ठ-संख्या आदि के प्रतीक नहीं दिये गये हैं।

उनकी रग-रग में श्रद्धा और आत्मोत्सर्ग की भावना घर कर जाती है।"

"यदि इस प्रकार की शिक्षा का क्रम आर्यसमाज के सुयोग्य और उत्साही नेताओं की सीधी देख-रेख में बालकों को सत्रह वर्ष की उस आयु तक बराबर जारी रखा गया, जो कि मनुष्य के जीवन में सबसे अधिक प्रभावग्राही समय है, तो इस पद्धति से जो युवक तैयार होंगे, वे सरकार के लिए अत्यन्त भयानक होंगे। उनमें वह शक्ति होगी, जो इस समय के आर्यसमाजी उपदेशकों में नहीं है। उनमें पैदा हुआ व्यक्तिगत दृढ़ विश्वास और अपने सिद्धान्त के लिए कष्ट सहन करने की भावना, तथा समय आने पर प्राणों तक को न्यौछावर कर देना, साधारण जनता पर बहुत गहरा प्रभाव डालेगा। इससे उनको अनायास ही ऐसे अनगिनत साथी मिल जायेंगे, जो उनके मार्ग का अवलम्बन करेंगे और उनसे भी अधिक उत्साह से काम करेंगे। यह याद रखना चाहिए कि उनका उद्देश्य सारे भारत में एक ऐसे जातीय धर्म की स्थापना करना होगा, जिससे सारे हिन्दू एक भ्रातृभाव की शृंखला में बँध जायेंगे। वे सब दयानन्द के सत्यार्थ प्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास की इस आज्ञा का पालन करेंगे कि श्रद्धा और प्रेम से अपने तन, मन, धन तथा सर्वस्व को देशहित के लिए अर्पण कर दो।"[1]

इसके बाद इस रिपोर्ट में इस बात पर बड़ी चिन्ता प्रकट की गयी थी कि यहाँ से शिक्षा प्राप्त करके निकलने वाले व्यक्ति एक निराले ढंग के होंगे और उनका जनता पर गहरा प्रभाव पड़ेगा। इस रिपोर्ट के अनुसार सरकार के लिए सबसे अधिक विचारणीय प्रश्न यह है कि इस समय गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करने वाले उपदेशकों का शिक्षा समाप्त करने के बाद सरकार के प्रति क्या रुख होगा। वे इस समय के उपदेशकों की अपेक्षा और ही किसी साँचे में ढले हुए होंगे। जिस धर्म का वे प्रचार करेंगे, उसका आधार व्यक्तिगत विचार और श्रद्धा होगी, जिसका जनता पर सहज में बहुत प्रभाव पड़ेगा। उनके प्रचार में मक्कारी, सन्देह, समझौता और भय की गन्ध भी न होगी और सर्वसाधारण के मन पर उसका सीधा असर पड़ेगा। इसके बाद इस रिपोर्ट के लेखक ने गुरुकुल के बारे में राजद्रोह की धारणा को पुष्ट के लिए महात्मा मुंशीराम द्वारा गुरुकुल की स्थापना से पहले इसके लिए ३० हजार रुपया एकत्र करने के दौरे में दिये गये भाषणों के कुछ अंशों को उद्धृत करते हुए लिखा है—"पंजाब की पुलिस के रिपोर्टों में यह दर्ज है कि सन् १८९९ में जब लाला मुंशीराम अमृतसर के पं० रामभजदत्त के साथ गुजरात, सियालकोट और गुजरांवाला का दौरा करते हुए धन-संग्रह कर रहे थे, तब उन्होंने सरकार की निन्दा शरारत से भरे शब्दों में अन्य बातों के साथ यह कहते हुए की थी सिपाही कितने मूर्ख हैं जो सत्रह-अठारह रुपयों पर भर्ती होकर अपना सिर कटवाते हैं। गुरुकुल में शिक्षित होने के बाद ऐसा करने वाले आदमी सरकार को नहीं मिलेंगे।"[2]

इसी रिपोर्ट में इस बात पर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया गया था कि गुरुकुल काँगड़ी में हर साल जो वार्षिकोत्सव मनाये जाते हैं, उनमें सारा प्रबन्ध गुरुकुल के अधिकारियों और ब्रह्मचारियों द्वारा किया जाता है। इसकी भय-मिश्रित प्रशंसा करते हुए

---

१. सी० ई० डब्ल्यू० सैण्ड्स—आर्यसमाज इन दि युनाइटिड प्रोविन्सेज, १९१२
२. वही

कहा गया था कि काँगड़ी में मनाये जाने वाले वार्षिकोत्सव पर करीब ६०-७० हजार आदमी प्रतिवर्ष इकट्ठा होते है। कई दिनों तक यह उत्सव होता है। पुलिस, स्वास्थ्य, रक्षा आदि का सब प्रबन्ध गुरुकुल के अधिकारी स्वयं करते हैं। बंगाल के मेलों पर जिस प्रकार स्वयंसेवक सब प्रबन्ध करते हैं, वैसे ही ब्रह्मचारी-स्वयंसेवक सब काम करते हैं। संगठन की दृष्टि से सब काम बिलकुल त्रुटिरहित है। उत्सव पर इकट्ठा होने वाले लोगों का उत्साह भी आश्चर्यजनक होता है। बड़ी-बड़ी रकमें दान में दी जाती हैं और अच्छी संख्या में उपस्थित होने वाली स्त्रियाँ अपने शरीर पर धारण किये आभूषण तक दे देती हैं।" इस संदर्भ में बंगाल के स्वयंसेवकों से गुरुकुल के ब्रह्मचारियों की तुलना विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है, क्योंकि उस समय बंगाल ब्रिटिश भारत में राजद्रोह का प्रधान केन्द्र समझा जाता था। अन्य प्रान्तों के क्रान्तिकारी देशभक्त उसकी परम्पराओं का अनुसरण करते थे। रिपोर्ट का लेखक इस तुलना से यह बताना चाहता था कि गुरुकुल के ब्रह्मचारी बंगाल के क्रान्तिकारियों की भाँति संगठित होकर कार्य करने की शिक्षा इन उत्सवों में प्राप्त करते हैं।

उस समय गुरुकुल की प्राचीन परम्पराओं के अनुसार बड़े कठोर तपस्यामय जीवन को ब्रह्मचारियों के लिए आदर्श माना जाता था। इस पर भी सरकारी अधिकारी बड़े चिन्तित थे और गुप्तचर विभाग की रिपोर्ट में कहा गया है कि ऐसा जीवन बिताने वाले देशभक्त ब्रह्मचारी स्नातक बनने के बाद सरकार के लिए संकट सिद्ध होंगे। इस विषय में सरकारी रिपोर्ट का यह अवतरण उल्लेखनीय है—"विचारणीय विषय यह है कि गुरुकुल से निकले हुए इन संन्यासियों का राजनीति के साथ क्या सम्बन्ध रहेगा? इस सम्बन्ध में गुरुकुल के महाशय रामदेव की लिखी हुई एक रिपोर्ट की भूमिका बड़ी रोचक है। उसके अन्त में लिखा है कि गुरुकुल में दी जाने वाली शिक्षा सर्वांश में राष्ट्रीय है। आर्यसमाजियों की बाइबिल 'सत्यार्थप्रकाश' है, जो देशभक्ति के भावों से ओत-प्रोत है। गुरुकुल में इतिहास इस प्रकार पढ़ाया जाता है, जिससे ब्रह्मचारियों में देशभक्ति की भावना उद्दीप्त हो। उनमें उपदेश और उदाहरण दोनों के माध्यम से देश के लिए उत्कट प्रेम पैदा किया जाता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि गुरुकुल में यत्नपूर्वक ऐसे राजनैतिक संन्यासियों का दल तैयार किया जा रहा है, जिसका मिशन सरकार के अस्तित्व के लिए भयानक संकट पैदा कर देगा।"

(३) देशभक्तों के चित्र

खुफिया पुलिस ने गुरुकुल काँगड़ी के बारे में सरकारी अधिकारियों को यह सूचना दी थी कि इस संस्था में विद्यार्थियों के मन में अंग्रेजों के प्रति घृणा और विद्वेष की भावना भरने के लिए गुरुकुल की दीवारों पर ऐसे चित्र लगाये जाते हैं, जिनमें यह दिखाया जाता है कि अंग्रेजों के कुशासन से भारत किस दुरवस्था में पहुँच गया है। अंग्रेजी शासन से पहले भारत में सभी व्यक्ति सब प्रकार की सुख-समृद्धि का उपभोग कर रहे थे, किन्तु ब्रिटिश शासन ने भारत का ऐसा भीषण आर्थिक शोषण किया कि यहाँ चारों ओर गरीबी और निर्धनता छा गई है। ब्रिटिश शासन में भारत की आर्थिक दुर्दशा को गुरुकुल में प्रभावशाली चित्रों द्वारा छात्रों को दिखाया जाता है और अंग्रेजों के शासन के विरुद्ध विद्रोह करने वाले १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेने वाले नेताओं

तथा सेनानियों के चित्र भव्य रूपों में प्रदर्शित किये जाते हैं। फ्रान्स में ब्रिटिश सत्ता को चुनौती देने वाली और अपने देश को अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त कराने वाली फ्रान्सिसी वीरबाला जोन आफ आर्क (१४१२-१४३१ ई०) का चित्र भी छात्रों को प्रेरणा देने के लिए बड़े आकर्षक ढंग से प्रदर्शित किया गया है ताकि छात्रों के मन में उसे देखकर अपने देश को स्वाधीन बनाने की उमंग उत्पन्न हो।

गुरुकुल के ऐसे चित्रों के बारे में एक सरकारी जासूस ने यह रिपोर्ट अपनी डायरी में लिखी थी—"गुरुकुल की दीवारों पर ऐसे चित्र लगे हैं जिनमें अंग्रेजी राज्य से पहले की भारत की अवस्था और अंग्रेजों के कलकत्ता आने की अवस्था दिखाई गई है। लखनऊ के सन् १८५७ के राजविद्रोह के चित्र भी लगाये गये हैं। बिजनौर के डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट मि० फोर्ड ने जोन आफ आर्क का भी वह बड़ा चित्र गुरुकुल में लगा हुआ देखा था जिसमें वह अंग्रेजों के विरुद्ध सेना का संचालन कर रही है।"

ब्रिटिश अधिकारियों ने जब गुरुकुल में ऐसे चित्रों पर आपत्ति प्रकट की और ग्रेट ब्रिटेन के सम्राट् और साम्राज्ञी के चित्र गुरुकुल के अधिकारियों को प्रदर्शन के लिए भेंट किये तो तत्कालीन सरकारी संदेह के वातावरण को दूर करने के लिए गुरुकुल के अधिकारियों को बड़ी अनिच्छा से ये चित्र पुस्तकालय में टाँगने पड़े। किन्तु गुरुकुल के उग्र राष्ट्रीय देशभक्तिपूर्ण विचार रखने वाले छात्रों तथा अध्यापकों को ये चित्र बिलकुल पसन्द नहीं थे, अतः इन चित्रों को महत्त्वहीन और अपदस्थ करने के लिए यह उपाय सोचा गया कि धार्मिक और राजनैतिक नेताओं के बड़े भव्य और सुन्दर चित्र बनाकर पुस्तकालय में टाँगे जायँ ताकि दर्शकों और छात्रों का ध्यान स्वतः उनकी ओर खिंच जाए, सम्राट् और महारानी के चित्रों की ओर किसी का ध्यान न जाए।

यह कार्य उस समय गुरुकुल में चित्रकला का विषय पढ़ाने वाले वेदों के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीपाद दामोदर सातवलेकर को सौंपा गया। उन्होंने बड़े उत्साह से महर्षि दयानन्द, स्वामी विरजानन्द, महात्मा मुंशी राम और लोकमान्य तिलक के बृहदाकार तैलचित्र बनाये। ये चित्र इतने भव्य, सजीव, सुन्दर, विशाल और आकर्षक थे कि पुस्तकालय में प्रवेश करते ही प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान सहसा उनकी ओर चला जाता था। इन चित्रों ने राजा-रानी के चित्रों को उपेक्षा का पात्र बना दिया। अकबर-बीरबल की सुप्रसिद्ध कथा के अनुसार बिना हाथ से छुए ही बड़ी रेखा को छोटा करने का काम यहाँ बड़ी कुशलता और सफलता के साथ सम्पन्न किया गया। श्री सातवलेकर जी के हाथ से बने ये चित्र ७५ वर्ष से अधिक अवधि बीत जाने पर अब भी गुरुकुल काँगड़ी के पुस्तकालय की शोभा बढ़ा रहे हैं—यद्यपि राजा-रानी के चित्र भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के साथ लुप्त हो चुके हैं। श्री सातवलेकर जी राजनीति में लोकमान्य तिलक के कट्टर अनुयायी थे। उन्होंने अपने गुरु का चित्र इतना जीवन्त और भव्य बनाया है कि यदि इसे कुर्सी पर रख दिया जाय तो दूर से प्रत्येक व्यक्ति यह समझेगा कि साक्षात् लोकमान्य सशरीर कुर्सी पर विराजमान हैं।

(४) पं० सातवलेकर की गुरुकुल काँगड़ी में गिरफ्तारी

१९०८ ई० में ब्रिटिश सरकार ने वेदों के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीपाद दामोदर सातवलेकर को गुरुकुल काँगड़ी से राजद्रोह के अपराध में गिरफ्तार किया। सरकार की

दृष्टि में गुरुकुल काँगड़ी के राजद्रोही संस्था होने का यह बहुत बड़ा प्रमाण था कि उसने एक भीषण अपराधी को अपने यहाँ शरण दी हुई थी। ये उस संस्था में ब्रह्मचारियों को चित्रकला सिखाने के अध्यापक रह चुके थे। इससे सरकार को यह संदेह होना स्वाभाविक था कि गुरुकुल काँगड़ी में ऐसे अध्यापक रखे जाते थे जो क्रान्तिकारी होते हैं एवं ब्रिटिश सरकार का तख्ता पलटने का संकल्प रखते हैं और क्रान्ति तथा राजद्रोह की भावनाएँ छात्रों के मन में भरते रहते हैं। गुरुकुल में सातवलेकर जी के आने और गिरफ्तार होने की कथा बड़ी रोचक है। इसका यहाँ संक्षिप्त उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है।

श्री सातवलेकर महाराष्ट्र के रहने वाले थे। अन्यत्र उनके कार्यों का परिचय देते हुए यह बताया जायेगा कि उन्होंने १८९० ई० में बम्बई के जे० जे० स्कूल आफ आर्ट्स में चित्र बनाने की शिक्षा प्राप्त की थी। वे बड़े होनहार तथा योग्य छात्र थे और शीघ्र ही चित्रकला में प्रवीणता प्राप्त करने के बाद वे आजीविका के लिए हैदराबाद में आकर चित्रकला का कार्य करने लगे। यहाँ श्री विनायक राव विद्यालंकार के पिता श्री केशवराव कोरटकर से मैत्री के कारण वे आर्यसमाज के सम्पर्क में आये और इनके मन में देश, धर्म और जाति के उद्धार की प्रबल आकांक्षा उत्पन्न हुई। ये महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों से तथा लोकमान्य के विचारों से बड़े प्रभावित थे। हैदराबाद में क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में भी आये और इन्होंने बम आदि बनाने की कला भी सीखी।

पण्डित सातवलेकर चित्रकला के आचार्य होने के साथ-साथ संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित और वेदों के अद्वितीय विद्वान् थे। इसी समय पण्डित सातवलेकर ने वैदिक मन्त्रों के आधार पर एक लेख लोकमान्य तिलक के सुप्रसिद्ध मराठी पत्र **केसरी** में प्रकाशन के लिए भेजा। अथर्ववेद (१२/१) के पृथिवी सूक्त पर मराठी में **विश्ववृत्त** नामक मासिक पत्र में "वैदिक राष्ट्रगीत" नामक लेख लिखा। इसकी ओर सरकार का कोई ध्यान नहीं गया, किन्तु जब वैदिक राष्ट्रगीत को पुस्तकाकार छपवाया गया तो सरकार ने इस पर ध्यान दिया। वेदमन्त्रों की देशभक्ति-पूर्ण व्याख्या पढ़ने के बाद सरकार को यह पुस्तक राजद्रोह के विचारों को फैलाने वाली प्रतीत हुई। इस पुस्तक को पहले बम्बई में मराठी में छापा गया था और बाद में उसका हिन्दी-अनुवाद प्रयाग में छपा। इस पुस्तक की कुछ ही प्रतियाँ लेखक के पास पहुँच पायी थीं कि सरकार ने इसे जब्त कर लिया। इस पुस्तक के बाद मार्च १९०८ ई० में पण्डित सातवलेकर का दूसरा लेख 'वैदिक प्रार्थनाओं की ओजस्विता' कोल्हापुर के "विश्ववृत्त" में प्रकाशित हुआ। इसके छपते ही बम्बई सरकार का ध्यान इस ओर गया। सरकार इस बात को भूली नहीं थी कि पहले इसी लेखक की "वैदिक राष्ट्रगीत" नामक पुस्तक जब्त की जा चुकी है। यह लेख एक रियासत में छपा था। अतः ब्रिटिश सरकार इसके लेखक और प्रकाशक पर सीधा मुकद्दमा नहीं चला सकती थी। इस लेख में बड़ौदा के महाराजा सर सयाजी राव गायकवाड़ का कुछ उल्लेख था, इसलिए बम्बई सरकार ने महाराजा का ध्यान इस ओर खींचा और उनसे लेखक के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही करने को कहा। किन्तु जब बड़ौदा के महाराजा ने ऐसी कोई कार्यवाही करने से इन्कार कर दिया तो बम्बई सरकार ने कोल्हापुर-नरेश शाहू महाराज को इस बारे में लिखा कि वे अपने यहाँ से छपने वाले विश्ववृत्त में प्रकाशित लेख के लिए लेखक, सम्पादक, मुद्रक और प्रकाशक पर राजद्रोह का अभियोग चलायें।

शाहू महाराज दब्बू और डरपोक प्रकृति के थे। इसके अतिरिक्त उनकी रियासत में क्रान्तिकारियों की हलचल जिस तेजी से बढ़ रही थी, उससे भी वे परेशान थे। इस कारण उन्होंने बम्बई सरकार के अनुरोध को स्वीकार किया तथा उपर्युक्त लेख के लेखक, पत्र के सम्पादक, मुद्रक तथा प्रकाशक के नाम चार वारण्ट जारी करवा दिये। सम्पादक थे बीजापुरकर, मुद्रक विनायक नारायण जोशी राव और प्रकाशक थे श्री वामन मल्हार जोशी। लेखक को छोड़कर बाकी तीनों व्यक्ति अदालत मे हाजिर हो गये और उन पर अभियोग आरम्भ हो गया। लेखक का पता-ठिकाना किसी को मालूम नहीं था और न ही उक्त तीनों व्यक्तियों में से किसी ने पण्डित सातवलेकर का पता बताया। जब पण्डित सातवलेकर को पता चला कि उनके लेख के कारण तीन व्यक्ति हवालात में बन्द हैं, उन पर मुकदमा चल रहा है तो उनकी आत्मा को बड़ा क्लेश पहुँचा। उन्होंने सोचा कि अदालत में हाजिर हो जाना चाहिए। यह सोचकर सातवलेकर कोल्हापुर की ओर चले। परन्तु जाते-जाते भी शाहू महाराज को शंखासुर सिद्ध करते हुए एक लेख लिखा जो बम्बई के "इन्दु प्रकाश" में छपा। इससे शाहू महाराज और चिढ़ गये। बम्बई सरकार ने इन्हें फरार घोषित कर दिया। रास्ते में अहमदनगर, पूना और बेलगाँव में ये अपने पुराने परिचित मित्रों से मिले और इन्होंने मित्रों को बताया कि "मैं कोल्हापुर में स्वयं हाजिर होने के लिए जा रहा हूँ।" इस पर मित्रों ने इस बात का विरोध किया और कहा कि " 'आ बैल मुझे मार' की तरह ऐसा करने में कौन-सी बुद्धिमानी है ? इस समय जैसी अँधेर नगरी का राज्य चल रहा है, उसमें क्या मालूम तुम्हें कितने वर्षों के लिए जेल में सड़ा-सड़ाकर मारा जाय ? जनता में जीवन और जोश बनाये रखने के लिए भी तुम्हारा जेल से बाहर रहना बहुत आवश्यक है।" अतः मित्रों के परामर्श के अनुसार सातवलेकर पहले फरारी की दशा में बेलगाँव के पास अंगोला गाँव में एक जमींदार के यहाँ नाम बदलकर रहने लगे। इस बीच में इनके साथियों—बीजापुरकर आदि पर छः मास तक मुकद्दमा चला और उन्हें तीन-तीन वर्ष की सजा हो गयी।

इसके बाद मद्रास और कलकत्ता होते हुए दूसरी बार पण्डित सातवलेकर गुरुकुल काँगड़ी पहुँचे और यहाँ ब्रह्मचारियों, अध्यापकों और महात्मा मुंशीराम ने इनका हार्दिक स्वागत किया। पहली बार ये कुछ समय पूर्व हैदराबाद से गुरुकुल आये थे। उन्हें नागरिक सभ्यता की चकाचौंध और छल-कपट की दुनिया से दूर यहाँ आश्रम का सुसंस्कृत जीवन तथा छात्रों की साहसी मनोवृत्ति और स्वाधीनता का प्रेम बहुत अच्छा लगा था। उन्होंने अपने पुत्र नारायण को भी गुरुकुल में प्रविष्ट करा दिया और वह नरदेव के नाम से यहाँ शिक्षा प्राप्त करने लगा था। वे यहाँ ब्रह्मचारियों को चित्र बनाने की कला सिखाने लगे। इन्हीं दिनों बम बनाने वाले क्रान्तिकारियों के दल देश के विभिन्न भागों में फैल रहे थे। इनमें से अधिकांश बंगाली नौजवान थे। इनका एक अड्डा हरिद्वार में भी था। इस अड्डे से क्रान्तिकारियों का साहित्य ब्रह्मचारियों के पास पहुँच गया। महाविद्यालय के पाँच-दस विद्यार्थी इस दल में सम्मिलित हुए। उनके पास बम बनाने का समस्त साहित्य पहुँच गया। पण्डित सातवलेकर क्रान्तिकारी कार्यों में गहरी दिलचस्पी लेते थे। पुलिस को इसका सुराग मिल गया और गुरुकुल पर छापा मारने का निश्चय किया गया। इस पर गुरुकुल के हितैषी खुफिया पुलिस के एक व्यक्ति ने समय पर ब्रह्मचारियों को इस छापे की सूचना दे दी। ब्रह्मचारियों ने अपने कमरों की सफाई करके समस्त आपत्ति-

जनक साहित्य तथा बमों को जमीन में गाड़ दिया। इसी समय से श्री सातवलेकर पर सरकार द्वारा सन्देह किया जाने लगा था। गुरुकुल में विद्यमान क्रान्तिकारी विचार रखनें वाले अध्यापकों की काली सूची में उनका नाम जुड़ गया और कुछ समय बाद वे गुरुकुल से चले गये। किन्तु गुरुकुलवासियों के मनों में उनकी स्नेहपूर्ण स्मृति सदा बनी रही और जब दूसरी बार कोल्हापुर राज्य में चलने वाले मुकद्दमे में गिरफ्तारी से बचने के लिए वे गुरुकुल काँगड़ी आये तब लोग बड़े प्रसन्न हुए, उन्होंने अपने परिवार के पुराने सदस्य की भाँति उनका स्वागत किया।

यह प्रसन्नता देर तक नहीं रही। गुरुकुल काँगड़ी की सरकार-विरोधी हलचलों का पता लगाने के लिए वहाँ अनेक सरकारी जासूस रहा करते थे। उन दिनों गुरुकुल में पत्र बांटने वाला डाकिया सरकारी भेदिया था। उसने पण्डित सातवलेकर के गुरुकुल आने की सूचना बिजनौर के कलेक्टर को दे दी थी। कलेक्टर द्वारा जारी किये वारण्ट को लेकर सहसा एक दिन ३०० सिपाही, १० घुड़सवार और ५० बन्दूकधारी पुलिस के व्यक्ति वहाँ पहुँच गये। इन लोगों ने गुरुकुल को चारों ओर से घेर लिया। इनके इतनी बड़ी संख्या में आने से यह स्पष्ट था कि सरकार पण्डित सातवलेकर को कितना खतरनाक अपराधी समझती थी। स्टेशन की ओर जाने वाले रास्ते पर दूर तक सिपाही खड़े कर दिये गये। दोपहर में लगभग एक बजे चारों ओर की नाकाबन्दी पूरी करके पुलिस कप्तान घोड़े पर बैठकर गुरुकुल के अन्दर आया और उसने संस्था के संचालकों से पण्डित सातवलेकर को पुलिस के हवाले कर देने को कहा। यह सब काण्ड इतनी जल्दी हुआ कि गुरुकुलवासी हक्के-बक्के रह गये।

जब गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को इस स्थिति का पता चला तो सबने एक स्वर से कहा कि हम पण्डित सातवलेकर को किसी भी हालत में पुलिस को नहीं सौंपेंगे। पण्डित सातवलेकर को इन सब घटनाओं के बारे में कुछ भी पता नहीं था। वे ऊपर की मंजिल के एक कमरे में आराम कर रहे थे। वहाँ से उन्होंने पुलिस और घुड़सवारों को देखा। जब उन्हें पता लगा कि पुलिस उनकी गिरफ्तारी के लिए आयी है तो नीचे उतरकर उन्होंने ब्रह्मचारियों से कहा कि "मैं स्वयमेव पुलिस को आत्मसमर्पण करता हूँ। तुममें से कोई भी पुलिस को न रोके और न ही कुछ कहे।" वे यह नहीं चाहते थे कि उनके कारण संस्था पर कोई आंच आये या वह सरकार की कोपदृष्टि की शिकार बने। ब्रह्मचारियों ने श्रद्धालु शिष्यों की तरह अपने गुरु के आदेश का पालन किया। सब एक ओर खड़े हो गये। पुलिस ने पण्डित सातवलेकर के हाथ में हथकड़ी और भुजाओं में रस्सी डाल दी और उन्हें बिजनौर में कलक्टर के दफ्तर में ले गये। उन पर कत्ल और राजद्रोह का आरोप लगाया गया। रात-भर थाने में रखकर अगले दिन बिजनौर की सेंट्रल जेल में ले जाया गया और वहाँ पाँवों में बेड़ियाँ डालकर बंद कर दिया गया। पण्डित सातवलेकर की शिनाख्त के लिए कोल्हापुर से एक आदमी बुलाया गया। पहचान होने के बाद उन्हें कोल्हापुर ले जाने की तैयारी होने लगी। बेड़ियाँ पाँवों से निकाल दी गयीं, पर हथकड़ी और पाँवों में रस्सी पड़ी रही। तीन सिपाही साथ चले। हवा की तरह जनता में यह खबर फैल गयी कि गुरुकुल काँगड़ी का एक अध्यापक राजद्रोह के अभियोग में पकड़ा गया है। हर स्टेशन पर लोग फूलमालायें लेकर उसके स्वागत के लिए आगे लगे। पता नहीं आगे के स्टेशन पर खबर कैसे पहुँच जाती थी। सभी स्टेशनों पर

स्वागतार्थ भीड़ उपस्थित रहती थी। सिपाही एक खूनी अपराधी जैसे खतरनाक व्यक्ति का इतना स्वागत देखकर चकित रह गये। कोल्हापुर में पण्डित सातवलेकर पर हत्या और राजद्रोह के लिए अभियोग चलाये गये। किन्तु उन पर दोनों आरोप प्रमाणित नहीं हो सके। सेशन जज पण्डित राव ने न केवल सातवलेकर को सर्वथा निर्दोष करार दिया बल्कि प्रो० बीजापुरकर को सख्त कैद की सजा देने वाले अंग्रेज न्यायाधीश किंकेड के निर्णय की भी आलोचना की। इस अवसर पर पण्डित सातवलेकर ने अदालत में अपने बचाव में बयान देते हुए कहा था—"न्यायमूर्ति, मैं वेदों का पुजारी हूँ। वेदों की आज्ञा है कि यदि देश परतन्त्र हो जाय तो क्षत्रिय को जागृत करना, देश को परतंत्रता से मुक्त करना ही सच्चे ब्राह्मण का कर्त्तव्य है। मैं ब्राह्मण हूँ। आप जो कहते हैं, वह सब मैंने लिखा है, पर ऐसा मैंने क्षत्रिय को जागृत करने के लिए ही किया है। अतः उसे लिखने के बारे में न मुझे पश्चात्ताप हुआ, न है और न होगा। अतः आप मेरे बारे में जो उचित निर्णय हो खुशी से दें।"[1] सेशन जज पण्डित राव ने पण्डित सातवलेकर को इस अभियोग से बरी कर दिया। चूंकि वे इस मामले में गुरुकुल काँगड़ी से गिरफ्तार किये गये थे, अतः ब्रिटिश सरकार को इस बात का निश्चय हो गया कि गुरुकुल काँगड़ी में राजद्रोह के अपराधियों को शरण दी जाती है और यह संस्था गुप्त क्रान्तिकारी गतिविधियों का एक प्रमुख केन्द्र है।

राजद्रोह का सन्देह होने के कारण इस शताब्दी के प्रथम दशक में न केवल साधारण गुप्तचर, अपितु बड़े-बड़े सरकारी अधिकारी भी लुक-छिपकर गुरुकुल का भेद लेने का बराबर प्रयास करते रहे। इस सम्बन्ध में एक रोचक उदाहरण का उल्लेख प्रासंगिक प्रतीत होता है। एक डिप्टी कलेक्टर अपने को वकील बताकर गुरुकुल में जासूसी करने के उद्देश्य से आये। सौभाग्यवश महात्मा मुंशीराम को उनके आने का पहले ही पता लग गया। उनके पीछे गुरुकुल के गुप्तचर छोड़ दिये गये। आधी रात को वे छद्मवेशी वकील घिरे हुए अहाते वाली उस व्यायामशाला में जा पहुँचे, जहाँ ब्रह्मचारियों को गतका-फरी आदि के खेल सिखाये जाते थे। महात्मा जी सूचना मिलने पर उनके पीछे वहाँ पहुँच गये और उनसे पूछने लगे—"क्या आपने हमारे सब गुप्त भेदों का पता लगा लिया है?" बेचारे डिप्टी कलेक्टर पानी-पानी हो गये। उन्होंने स्वीकार किया—गुरुकुल में राजद्रोह के संदेह की कोई बात नहीं है।[2]

(५) गुरुकुल की तलाशी

पंजाब में १९०७ ई० की घटनाओं और लाला लाजपतराय तथा सरदार अजीत-सिंह की गिरफ्तारी तथा देश-निर्वासन के बाद गुरुकुल पर राजद्रोही संस्था होने का सन्देह सरकारी गुप्तचरों की रिपोर्टों के कारण पराकाष्ठा पर पहुँच गया। इसी समय सरकार को यह सूचना दी गई कि गुरुकुल में हथियारों का बहुत बड़ा भण्डार है और वहाँ ब्रह्मचारियों को शस्त्रास्त्र चलाने की शिक्षा दी जाती है। कुछ उर्वर मस्तिष्क वाले जासूसों ने यहाँ बम बनाने के कारखाने की भी सूचना दी थी। कुछ समय बाद यह

---

१. क्षितीश वेदालंकार—सातवलेकर अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३१

२. मुंशीराम जिज्ञासु—आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स, पृ० २/१११

सूचना मिली कि गुरुकुल के निकट चण्डी पहाड़ की तलहटी में बिजनौर के कलेक्टर का शिविर लगा हुआ है और वे जल्दी ही गुरुकुल की तलाशी लेने के लिए स-दलबल आ रहे हैं ताकि यहाँ हथियारों के गुप्त भण्डार का पता लगाया जा सके। यह सूचना मिलते ही महात्मा मुन्शीराम स्वयमेव कलेक्टर से मिलने चले गये। उन्होंने इस विषय में सारी स्थिति स्पष्ट की और उन्हें स्वयमेव गुरुकुल आने का निमंत्रण दिया। यह कहा जाता है कि उन्होंने गुरुकुल आकर ब्रह्मचारियों के कुर्ते उतरवाकर छाती और भुजाओं के पुट्ठों की परीक्षा की। इसके बाद उनके चेहरे के भाव देखने लायक थे। उनसे यह कहे बिना न रहा गया कि 'मुझको बताया गया था कि आपके ब्रह्मचारी धनुर्विद्या में प्रवीण हैं और आपका मुख्य उद्देश्य उनको पहलवान बनाना है। अब मुझको पता लग गया कि यह सब झूठ है। निस्सन्देह खुली वायु में रहने के कारण उनका डीलडौल बाहर के स्कूलों के लड़कों की अपेक्षा अच्छा है। मुझको यह भी बताया गया था कि वे बहुत कुशल घुड़सवार हैं और आकाश में उड़ते पक्षी को अचूक निशाना मारकर नीचे गिरा देते हैं।'[1]

महात्मा मुंशीराम ने बच्छोवाली आर्यसमाज के १९०९ ई० के वार्षिकोत्सव के अवसर पर दिये गये अपने भाषण में कहा था कि उन्होंने इस अवसर पर कलेक्टर से पूछा था कि आप गुरुकुल के बारे में ऐसी झूठी मनगढ़न्त बातों पर विश्वास क्यों कर लेते हैं तो जिलाधीश ने इसका बड़ा मार्मिक उत्तर देते हुए कहा था—"लगभग प्रतिदिन हमारे सामने अपराधियों के मामले आते रहते हैं, अतः हम स्वाभाविक रूप से संशयालु हो जाते हैं। इसके साथ ही, मैंने इस देश में इतनी अधिक बार धोखा खाया है कि अब मेरे लिये किसी पर विश्वास करना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असम्भव हो गया है।' इसके बाद उन्होंने एक ऐसे ताल्लुकेदार की कहानी सुनाई, जो हमेशा अपनी सचाई और ईमानदारी की डींगें हाँका करता था। उन्होंने उस पर विश्वास कर लिया और उसकी मृत्यु के बाद ही उन्हें पता चला कि वह बड़ा बेईमान रक्तशोषक (Vanipire) था। फोर्ड का यह कहना था कि आर्यसमाजी सरकारी अधिकारियों से दूर रहते हैं, इसलिए ऐसी भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं।[2] इसके बाद ही महात्मा मुंशीराम ने सरकारी अधिकारियों से संपर्क बढ़ाने की नीति शुरू की।

बिजनौर के कलेक्टर फोर्ड की गुरुकुल-यात्रा और महात्मा मुंशीराम से यह मुलाकात गुरुकुल और आर्यसमाज के बारे में गुप्तचरों की झूठी रिपोर्टों का पर्दाफाश करने तथा भ्रान्तियाँ दूर करने की दिशा में पहला महत्त्वपूर्ण पग था। इस विषय में यह सत्य ही कहा गया है कि 'उस दिन की बातचीत में जो बीजपात हुआ, वह कुछ वर्षों में भारत के वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड द्वारा गुरुकुल काँगड़ी की तीर्थ-यात्रा के रूप में फलीभूत हुआ।"[3]

---

१. मुंशीराम जिज्ञासु तथा रामदेव—आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स, भाग, २ पृ० ११०

२. वही पुस्तक, भाग २, पृ० ११०

३. इन्द्र विद्यावाचस्पति—मेरे पिता, पृ० १३६-३७

(६) अन्य कारण

गुरुकुल को इस समय राजद्रोही संस्था समझे जाने के कुछ अन्य कारण भी थे। पहला कारण **धनुर्वेद की शिक्षा** था। गुरुकुल का उद्देश्य वेद-वेदान्तों की शिक्षा प्रदान करना था। इसमें जहाँ एक ओर ब्रह्मचारियों को वैदिक साहित्य की बौद्धिक शिक्षा दी जाती थी, वहाँ दूसरी ओर इसके व्यावहारिक पक्ष की भी उपेक्षा नहीं की जाती थी। वेद का एक महत्त्वपूर्ण उपवेद धनुर्वेद है। इसकी पुरानी परम्परा के अनुसार ब्रह्मचारी को धनुषबाण चलाने तथा शारीरिक प्रशिक्षण के लिए कुश्ती, गतका, फरी आदि के खेल सिखाये जाते थे। एक गुरुकुल-प्रेमी जमींदार ने गुरुकुल को कुछ घोड़े दान दिये थे। इन पर ब्रह्मचारियों को घुड़सवारी की शिक्षा दी जाती थी। इसके आधार पर गुरुकुल आने वाले सरकारी जासूसों द्वारा यह कल्पना कर लेना कठिन न था कि यहाँ गुप्त रूप से रिवाल्वर आदि से निशाना लगाने तथा बम बनाने की शिक्षा दी जाती होगी। भारत-सरकार के गृहमन्त्रालय के पास ऐसी रिपोर्टें पहुँची थीं जिनमें यह कहा गया था कि गुरुकुल में सैनिक प्रशिक्षण भी दिया जाता है।[1]

दूसरा कारण यहाँ गुप्त क्रान्तिकारी संगठनों की सत्ता थी। सुप्रसिद्ध भारतीय क्रान्तिकारी पाण्डुरंग सदाशिव खानखोजे के कथनानुसार यहाँ **बांधव समाज** नामक गुप्त क्रान्तिकारी संगठन इस शताब्दी के शुरू में काम कर रहा था। उन्होंने 'गदर की गूँज' नामक पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि—"बांधव समाज की स्थापना किसी गुप्त संस्था के द्वारा, युद्ध करके भारत की स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए हुई थी। उसकी शाखायें महाराष्ट्र, बंगाल और पंजाब में फैली हुई थीं। वर्धा की तरफ से हनुमंत नायडू, लक्ष्मण शर्मा आदि बांधव लाहौर गये थे। लाहौर में प्राध्यापक पूरनसिंह से उन्होंने बम बनाना सीखा था। लाहौर में तथा गुरुकुल काँगड़ी में भी गुप्त बांधव-समाज स्थापित हुए थे।[2]

तीसरा कारण क्रान्तिकारियों का शरण-स्थल बनना था। बाह्य जगत् से सर्वथा पृथक् होने के कारण यह राजद्रोहियों तथा क्रान्तिकारियों के लिए सर्वथा सुरक्षित होने से एक आदर्श शरण-स्थल था। उन दिनों शिक्षा के क्षेत्र में आमूलचूल परिवर्तन करने के कारण गुरुकुल काँगड़ी देशभक्त शिक्षा-शास्त्रियों तथा स्वतंत्रता का संघर्ष करनेवालों के आकर्षण का केन्द्र बना हुआ था। अतः यहाँ कई बार ऐसे व्यक्ति आ जाते थे जिन पर सरकार की संदेहपूर्ण व वक्रदृष्टि होती थी या जिनके नाम गिरफ्तारी के वारंट निकले होते थे। इनमें से उल्लेखनीय नाम लाला हरदयाल और पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर हैं। श्री पण्डित इन्द्र जी के शब्दों में—"बहुत-से ऐसे राष्ट्र-भक्त जो सर्वतोमुखी क्रान्ति के समर्थक थे, गुरुकुल में आकर विश्राम करते थे क्योंकि वहाँ वे अपने-आप को सरकार की दृष्टि से ओझल समझते थे। प्रसिद्ध देशभक्त लाला हरदयाल कई सप्ताह तक गुरुकुल में रहे। ईसाइयत और सरकारी शिक्षा के विरुद्ध उन्होंने जो लेखरूपी अग्निबाण

---

१. होम डिपार्टमेंट प्रोसीडिंग्स, अप्रैल १९१२ सं० ८

२. प्रीतम सिंह पंछी—गदर की गूँज और कामागाटामारू का रोमांच, दिल्ली १९७७, पृ० ६

छोड़े थे, उनमें से बहुत-से गुरुकुल में ही तैयार किये गये थे। (इन्द्र विद्यावाचस्पति—आर्यसमाज का इतिहास, द्वितीय भाग, पृ० २७) श्री सातवलेकर जी की गुरुकुल काँगड़ी से गिरफ्तारी का वर्णन पहले (पृ० २०८-१२) किया जा चुका है।

कई बार बालचापल की घटनाएँ भी अज्ञानवश इस सन्देह को बढ़ाती थीं। एक बार जब कुछ ब्रह्मचारियों ने एक घुड़सवार अंग्रेज को अपनी शिक्षा-संस्था के पास की सड़क से जाते देखा तो उसे रोक लिया और उसका घोड़ा पकड़ लिया। थोड़ी देर बाद उसे छोड़ दिया। यह घोड़ा बिजनौर के कलेक्टर का था। यद्यपि यह कार्य बच्चों की शैतानी के रूप में भी किया गया था किन्तु इसे राजद्रोहपूर्ण कार्य समझा गया।[1]

(७) भारत-भक्त विलियम वैडरबर्न तथा सी० एफ० एण्ड्रयूज़ की भूमिका

महात्मा मुंशीराम बिजनौर के कलेक्टर से मिलने के बाद देहरादून में संयुक्त-प्रान्त के तत्कालीन लैफ्टीनेण्ट गवर्नर जान हिवेट से मिले। यह भेंट बड़े सौहार्दपूर्ण वातावरण में हुई। फिर भी स्वामी जी इस समय गुरुकुल पर सरकारी प्रकोप के संकट को भली-भाँति समझते थे और वे इस विषय में भारत सरकार के उच्चतम अधिकारियों तथा वायसराय तक से सम्पर्क स्थापित करने और गुरुकुल की रक्षा के लिए कटिबद्ध थे। इस विषय में गुरुकुल काँगड़ी के राजद्रोही संस्था होने के सरकारी सन्देहों का निराकरण करने में महात्मा जी को दो भारतभक्त अंग्रेजों से बहुमूल्य सहायता मिली। इनमें पहले श्री विलियम वैडरबर्न (१८३८-१९१८) थे। ये उन इने-गिने आई० सी० एस० अंग्रेजों में थे, जिनके बारे में कहा जाता था कि उनका तन ब्रिटिश और मन भारतीय था। उनके पिता ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी में १८०७ से ३७ तक सेवा की थी, बड़ा भाई जान हिसार का कलेक्टर तथा जिलाधीश था और १८५७ ई० के विद्रोह में मारा गया था। छः वर्ष की आयु में यूरोप की यात्रा करते हुए आस्ट्रिया की पराधीनता के पाश में जकड़े इटली वासियों के स्वाधीनता संघर्ष का विलियम के बाल-मानस पर गहरा प्रभाव पड़ा। १८५९ ई० में वे इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा में बैठे और अगले वर्ष भारत आकर धार-वाड़ में असिस्टेण्ट कलेक्टर बने और २५ वर्ष तक विभिन्न उच्च सरकारी पदों में कार्य करते हुए बम्बई प्रान्त के मुख्य सचिव के पद से सेवा-निवृत्त हुए। अपने सेवाकाल में वे भारतीयों की दरिद्रता, दुर्भिक्ष-कृषि-ऋण और पंचायत की समस्याओं में गहरी दिलचस्पी लेते रहे और अवकाश ग्रहण करने के बाद उन्होंने अपना सारा समय भारतीयों के कल्याण तथा कांग्रेस के आन्दोलन को सबल बनाने में लगाया। जब उनके ब्रिटिश साथियों ने इस कार्य के लिए उनकी आलोचना की तो उन्होंने कहा था कि—"मैंने भारतीय जनता का नमक खाया है, मैं उनकी सेवा करता हूँ।" वे इंग्लैण्ड जाकर भी वहाँ कांग्रेस का प्रचार कार्य करते रहे। १८९३ ई० में वे उदार-दल की ओर से पार्लियामेंट के सदस्य चुने गये और ब्रिटिश संसद में भारतीय प्रश्नों को उठाते रहे। वे पहली बार बम्बई की चौथी कांग्रेस (१८८९) ई० के तथा दूसरी बार इलाहाबाद की कांग्रेस (१९१०) ई० के अध्यक्ष

---

१. यह घटना ८८ वर्षीय गुरुकुल काँगड़ी के पुराने स्नातक स्वामी श्रद्धानन्द जी के हत्यारे अब्दुल रशीद को पकड़ने वाले पं० धर्मपाल विद्यालंकार ने लेखक को बताई।

चुने गये। श्री गोखले ने कहा था कि सेवा-निवृत्त होने के बाद उन्होंने पिछले २५ वर्षों में प्रत्येक कार्य भारतीयों के हित के लिए किया है। उनका विलियम वैडरबर्न के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था।

इलाहाबाद में १९१० ई० में कांग्रेस का अधिवेशन होने से पहले ही महात्मा मुंशीराम भारतभूषण गोखले से बार-बार पत्रों में इस बात पर बल दे रहे थे कि वे आर्यसमाज तथा गुरुकुल के बारे में राजद्रोही संस्था होने के सरकारी भ्रम का निवारण करने में उनकी सहायता करें।

श्री गोखले उन दिनों भारत के उन सुप्रतिष्ठित एवं गण्यमान्य नेताओं में थे जिनकी ब्रिटिश सरकार के उच्चतम अधिकारियों तक पहुँच थी। वे वायसराय की शाही व्यवस्थापिका परिषद् के सदस्य थे। अतः महात्मा मुंशीराम श्री गोखले को उपर्युक्त कार्य के लिए सर्वथा उपयुक्त समझते थे। इस काम के लिए महात्मा जी श्री गोखले से कई बार मिले। १९१० ई० में जब इलाहाबाद में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ और उसके अध्यक्ष भारतभक्त वयोवृद्ध अंग्रेज सर विलियम वैडरबर्न चुने गये तो श्री गोखले ने महात्मा मुंशीराम को कांग्रेस के अधिवेशन के अवसर पर तुरन्त इलाहाबाद आने का अनुरोध किया। प्रयाग पहुँचने पर श्री गोखले ने महात्मा मुंशीराम की वैडरबर्न से भेंट करायी। महात्मा जी ने कांग्रेस-अध्यक्ष के सम्मुख सब स्थिति विस्तारपूर्वक प्रस्तुत की। वैडरबर्न ने सब बातें सुनकर कहा—"बस, अब आप मेरे साथ कलकत्ता चलिये। वायसराय लार्ड हार्डिंग को आर्यसमाज के डेपुटेशन से मिलना ही पड़ेगा।" इस पर गोखले ने यह सुझाव दिया—"यह अधिक अच्छा होगा कि आप पहले वाइसराय से मिलकर उनसे सारी स्थिति स्पष्ट कर दें और उन्हें इस बात के लिए तैयार कर लें कि वे आर्यसमाज के शिष्टमण्डल से मिलें।" वैडरबर्न ने इसके अनुसार कलकत्ता लौटकर वायसराय से काफी बात की और आर्यसमाज के बारे में उनकी भ्रान्तियाँ दूर करने का पहला सफल प्रयास किया। श्री गोखले ने इस विषय में महात्मा जी को अपने २४ मार्च १९११ के पत्र में यह सूचित किया था—"आर्यसमाज के बारे में सरकारी अधिकारियों को जो सन्देह है, उनपर सर विलियम वैडरबर्न की नये वायसराय (लार्ड हार्डिंग) के साथ बहुत-सी बातें हुई हैं। मैं आपसे मिलने पर उसका सारांश आपको बताना चाहता था, लेकिन आप नहीं आ सके। फिर भी मैं आपको यह बताना चाहता हूँ कि सर विलियम ने वायसराय पर बहुत जोर डाला है कि सन्देह के कारण समस्त आर्यसमाज को जो शिकायतें हैं, वे अवश्य दूर की जानी चाहिएँ। वायसराय ने बड़े ध्यान से सब बातें सुनीं हैं और वचन दिया है कि वे शीघ्र ही जैसा सुझाया गया है, वैसी कार्यवाही करेंगे। इसलिए मेरा यह विचार है कि यदि आर्यसमाज के शिष्टमण्डल की ओर से वायसराय के सामने सब बातें रखी जा सकें तो अच्छा होगा।"[1] इस पत्र से यह स्पष्ट होता है वैडरबर्न ने आर्यसमाज के सम्बन्ध में भारत में ब्रिटिश सरकार के सर्वोच्च अधिकारी की गलतफहमी दूर करने का बड़ा सराहनीय प्रयास किया था। किन्तु इस समय वैडरबर्न ७२ वर्ष के हो चुके थे। वे कांग्रेस के कामों में अतीव व्यस्त थे। उनसे यह कार्य बहुत आगे नहीं बढ़ सका।

---

१. सत्यदेव विद्यालंकार—स्वामी श्रद्धानन्द, दिल्ली, १९३३, पृ० ४०३

इस विषय में आर्यसमाज की ओर से लार्ड हार्डिंग पर अनुकूल प्रभाव डालने वाले दूसरे व्यक्ति भारत-भक्त दीनबन्धु चार्ल्स फ्रियर एण्ड्रयूज़ थे। कैम्ब्रिज में उच्चतम धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद ईसाइयत के प्रचार और सेंट स्टीफन्स कालेज दिल्ली में अध्यापन के लिए मार्च १९०४ में वे भारत आये थे और उन्हें शीघ्र ही भारत-भूमि से इतना प्यार और लगाव हो गया कि उन्होंने अपने भारत-आगमन को दूसरा जन्म माना। पहले वे सामान्य ईसाई मिशनरियों की भाँति अपना प्रचार करते रहे, किन्तु भारतीय परिस्थितियों का गम्भीर अध्ययन करने के बाद उनके विचारों में परिवर्तन आने लगा। वे ईसाइयत के क्षेत्र को विशाल बनाना चाहते थे। उनके साथी बड़े संकीर्ण विचार के थे। उन्हें उनकी उदारता बड़ी नापसन्द थी। उस समय एण्ड्रयूज़ एक विचित्र मानसिक उलझन और संघर्ष में थे। एक ओर उनके साथी उन्हें ईसाई चर्च के संकुचित क्षेत्र में बनाये रखना चाहते थे, दूसरी ओर एण्ड्रयूज़ की आत्मा ईसाइयत के बन्धन से उन्मुक्त होकर मानवमात्र के कल्याण के लिये अपने को समर्पित करने के लिये उत्सुक थी। उनको भारतीय विचारों और आकांक्षाओं के साथ बड़ी सहानुभूति थी। उन्होंने १९१४ ई० में भारत की राजधानी कलकत्ता के स्थान पर दिल्ली को बनाने का स्वागत किया। १२ दिसम्बर १९११ ई० को जब ब्रिटिश सम्राट् जार्ज पंचम ने दिल्ली-दरबार में राजधानी-परिवर्तन की अपनी सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक घोषणा की तो वे वहाँ उपस्थित थे।[1] वे भारतीयों की आकांक्षाओं से बड़ी सहानुभूति रखते थे। इस कारण उस समय के प्रसिद्ध राष्ट्रवादी भारतीयों के साथ उनके सम्बन्ध बढ़ने लगे। ऐसे समय में जनवरी १९१३ ई० में उनका परिचय पहली बार महात्मा मुंशीराम से हुआ और शीघ्र ही यह इतना घनिष्ठ हो गया कि मिस्टर एण्ड्रयूज़ पत्र-व्यवहार में महात्मा जी को माई डियर राम और योर डियर चार्ली तथा महात्मा जी एण्ड्रयूज़ को माई डियर चार्ली और योर डियर राम लिखने लगे।

इन दोनों के पत्र-व्यवहार से यह स्पष्ट है कि एण्ड्रयूज़ को ईसाई पादरियों के संकीर्ण वर्ग से निकालकर भारतभक्त और दीनबन्धु बनाने का श्रेय गुरुकुल एवं महात्मा मुंशीराम को है। प्रिटोरिया (दक्षिण अफ्रीका) से एक पत्र में दीनबन्धु ने महात्माजी को लिखा था—"मुझको इलहाम हुआ है कि भारत पहले से भी अधिक गहरे अर्थों में मेरी मातृ-भूमि है और भारत माता के प्रति अपने प्रेम के द्वारा मैं अपनी स्वर्गीया माता को सन्तुष्ट कर सकूँगा। मैं पिताजी से मिलने इंग्लैण्ड जा रहा हूँ और वहाँ अपनी माता की कब्र पर फूल चढ़ाऊँगा, परन्तु उसकी आत्मा तो वहाँ न होगी, वह तो भारत में है जो भारत लौटने पर बड़े प्रेम के साथ मेरा स्वागत करेगी।"

महात्मा मुंशीराम से परिचय होने से पहले ही श्री एण्ड्रयूज़ आर्यसमाज के ईसाई विरोधी रुख से भली-भाँति परिचित थे। उनका यह विश्वास था कि सत्यार्थ प्रकाश में ईसाई धर्म की जो आलोचना की गई है, वह पक्षपातपूर्ण है। किन्तु १९१० में जब स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके सत्यार्थ प्रकाश पर ईसाइयों की ओर से बड़े प्रबल आक्षेप किये गये तो अपनी न्यायपरायण शालीन वृत्ति से उन्होंने इन आक्षेपों का विरोध किया

१. बनारसी दास चतुर्वेदी तथा मारजोरी साइक्स—चार्ल्स फ्रियर एण्ड्रयूज़, दिल्ली १९४९, पृ० ५०

और कुछ बातों में स्वामी जी का समर्थन किया। इसी समय उन्होंने महात्मा मुंशीराम और हरिद्वार के निकट गुरुकुल काँगड़ी के शिक्षणालय की चर्चा सुनी और महात्मा जी से परिचय होते ही वे १९१२ ई० के आरम्भ में कुछ सप्ताहों के लिए गुरुकुल चले गये। वहाँ स्वामी जी की कुटिया में रहे, शनैः-शनैः दोनों में इतनी घनिष्ठता बढ़ गयी कि एण्ड्रयूज़ स्वामी जी को अपना बड़ा भाई समझने लगे। वे उनके भव्य पौरुष, ऊर्जा और सरल जीवन के परम प्रशंसक एवं गंगा, गुरुकुल और भारतभूमि के प्रेमी बन गये। इस समय मार्च १९१३ ई० के **माडर्न रिव्यू** में उन्होंने 'हरिद्वार एण्ड इट्स गुरुकुल' नामक लेख में लिखा था—"यहाँ गुरुकुल में नवीन भारत की और तरुण भारतीय जीवन की पवित्र सरिता का अपने विशुद्ध, अनाविल उद्गम के निकट दर्शन होता है।"[1]

श्री एण्ड्रयूज़ शीघ्र ही गुरुकुल, आर्यसमाज और भारतभूमि के इतने प्रशंसक बने कि दिल्ली में उनके साथी ईसाई पादरियों को अपने कट्टर विरोधी आर्यसमाजियों के साथ उनकी यह प्रीति और घनिष्ठता बड़ी नागवार प्रतीत होने लगी। इसके साथ ही कुछ कट्टर आर्यसमाजियों तथा क्रान्तिकारी विचारधारा रखने वाले व्यक्तियों को एक अंग्रेज का गुरुकुल आना खलने लगा। वे लोग एण्ड्रयूज़ को मिशनरी जासूस कहा करते थे। एण्ड्रयूज़ को इस विशेषण से बड़ी मर्मान्तिक वेदना हुई और उन्होंने एक पत्र में मुंशीराम से जब इस पर अपनी आन्तरिक मनोव्यथा प्रकट की तो महात्मा जी ने उनको सांत्वना देने के लिए एक पत्र लिखा। इससे एण्ड्रयूज़ को इतना आनन्द और शान्ति मिली कि उन्होंने २५ अप्रैल १९१३ ई० के पत्र में लिखा कि "हम दोनों अपने साथियों की दृष्टि में पापी हैं, किन्तु मुझे विश्वास है कि अन्त में हम अपने साथियों को यह विश्वास दिलाने में समर्थ होंगे कि जगन्माता किसी एक देश या सम्प्रदाय की नहीं होती है और उसकी प्यारभरी भुजायें अपने सब बच्चों को अपनी गोद में लेने के लिए खुली होती हैं।"[2] इसी पत्र में एण्ड्रयूज़ ने यह अनुरोध किया कि महात्मा जी उन्हें भाई नहीं, किन्तु चार्ली के नाम से सम्बोधित करें, क्योंकि चार्ली का अर्थ है बहुत ही प्रिय व्यक्ति।

गुरुकुल तथा महात्मा जी के प्रति अद्भुत स्नेह-भावना के कारण एण्ड्रयूज़ ने गुरुकुल की सभी समस्याओं के समाधान में महात्मा जी का साथ दिया। उन्होंने न केवल गुरुकुल में गुलाब के पौधे दिल्ली से भेजे, गुरुकुल के लिये अंग्रेजी के पाठ्यक्रम का पुनर्निर्माण किया, अपितु सरकारी सन्देह तथा राजद्रोह की उस काली घटा को हटाने में भी सहायता की जो गुरुकुल तथा आर्यसमाज के लिए सबसे बड़ी चिन्ता का विषय बनी हुई थी। वे इस बारे में कितने चिन्तित थे, यह उनके इंग्लैण्ड से महात्मा जी को लिखे एक पत्र से सूचित होता है। इसमें उन्होंने लिखा था—"श्रीयुत गोखले से मिलकर मुझे बड़ी चिन्ता हुई। उनको भय है कि गुरुकुल पर पुलिस की नजर है और वहाँ तलाशी आदि होने की सम्भावना है। सर वैलेण्टाइन शिरोल ने भी इस ओर संकेत किया है। मैंने उससे कुछ विस्तार में जानना चाहा, पर वह चुप साध गया। परमात्मा से मेरी यह प्रार्थना है कि आप पर कोई आपत्ति न आये और पुलिस आप के जीवन तथा कार्य को संकटमय न बना सके।"[3]

---

१. वही २. वही

३. सत्यदेव विद्यालंकार—स्वामी श्रद्धानन्द, पृ० ४३६

श्री एण्ड्रयूज़ को गुरुकुल तथा आर्यसमाज के प्रति सरकारी सन्देहों को दूर करने के इस प्रयास में सफलता मिलने का बहुत बड़ा कारण यह था कि इस समय विधि के एक अद्भुत संयोग से तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिंग के साथ उनकी घनिष्ठ मित्रता स्थापित हुई और इसका लाभ उठाते हुए उन्होंने सरकारी सन्देहों के निवारण में महत्त्व-पूर्ण भूमिका अदा की। यह इस बात को स्पष्ट करता है कि वे किस प्रकार अपने धार्मिक प्रभाव से एक राजनैतिक प्रश्न का समाधान करने में सफल हुए।

मई १९११ में लार्ड तथा लेडी हार्डिंग क्राइस्ट चर्च, शिमला के एक सत्संग में सम्मिलित हुए। श्री सी० एफ० एण्ड्रयूज़ ने इसमें अपना धार्मिक प्रवचन दिया। इस समय वायसराय और उनकी पत्नी अपने एक निजी मानसिक दुःख से व्यथित थे। उन्हें इस धर्मोपदेश से बड़ी शान्ति और सान्त्वना मिली। वे इनसे इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने चार्ली को अपने यहाँ भोजन के लिये निमन्त्रित किया। इसके बाद दोनों में मित्रता आरम्भ हुई और इसे प्रगाढ़ बनाने वाली घटना थी। २३ दिसम्बर १९१२ को चाँदनी चौक में हाथी पर सवार लार्ड हार्डिंग पर फैंका जाने वाला बम। इससे वायस-राय बुरी तरह आहत हुए थे, फिर भी उन्होंने इसके लिए भीषण दमन तथा बदले की सरकारी कार्यवाही करने का निषेध किया और भारतीयों के प्रति मित्रता और विश्वास की नीति अपनाने में दृढ़ विश्वास प्रकट किया। उस समय अधिकांश ब्रिटिश अधिकारियों ने इनकी इस उदार नीति का उग्र विरोध किया, किन्तु एण्ड्रयूज़ ने उनकी बड़ी सराहना की तथा उनकी रुग्णावस्था की परिचर्या में लेडी हार्डिंग को बहुमूल्य सहायता प्रदान की। स्वास्थ्य-सुधार के लिये देहरादून जाने पर फरवरी १९१२ में वायसराय ने एण्ड्रयूज़ को राजनैतिक स्थिति पर बातचीत करने के लिये आमन्त्रित किया। इस समय लार्ड हार्डिंग को बम-विस्फोट की दुर्घटना से प्राणरक्षा तथा स्वास्थ्य-लाभ के अवसर पर धन्यवाद-समारोह मनाने के लिये भारत में एक धनराशि एकत्र की गयी थी।

लेडी हार्डिंग ने एण्ड्रयूज़ के देहरादून आने पर उनसे इस राशि के सर्वोत्तम रीति से व्यय करने के बारे में परामर्श किया। उनका सुझाव था कि २० जून १९१२ को हार्डिंग का जन्मदिन हस्पतालों तथा अनाथालयों में भर्ती भारतीय बच्चों के आमोद-प्रमोद के महोत्सवों के रूप में मनाया जाय और उनमें मिष्टान्न वितरण किया जाय। उनका कहना था कि गरीब से गरीब हिन्दुस्तानी अपने बच्चों से प्यार करते हैं और इसका उनपर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ेगा। लेडी हार्डिंग को यह विचार बहुत पसन्द आया। उन्होंने इसे क्रियान्वित करने के लिए एण्ड्रयूज़ को अपने पास रहने को कहा। मई और जून में वे शिमला रहे और उनके प्रयास से लार्ड हार्डिंग का जन्म-दिवस गाँव-गाँव में बाल-दिवस के रूप में बड़ी सफलतापूर्वक मनाया गया।

इससे एण्ड्रयूज़ वायसराय के घनिष्ठ सम्पर्क में आ गये। वायसराय उनसे राज-नैतिक मामलों में सलाह लेने लगे। ऐसे मैत्री और सौहार्दपूर्ण वातावरण में चार्ली ने महात्मा मुंशीराम की वायसराय से दो बार भेंट करायी। यह भेंट आर्यसमाज के प्रति सरकारी सन्देह दूर करने में सफल हुई। उन दिनों संयुक्त प्रान्त के लेफ्टीनेण्ट गवर्नर सर जेम्स मेस्टन थे। गुरुकुल काँगड़ी उनके क्षेत्र में आता था। एण्ड्रयूज़ ने सर जेम्स मेस्टन को इस बात के लिए प्रेरणा दी कि वे गुरुकुल काँगड़ी जाकर स्वयमेव उस शिक्षा-संस्था

का निरीक्षण करें और यह देखें कि इसके बारे में सरकारी रिपोर्टों में कही जाने वाली बातों में कितनी सचाई है।

सरकारी अधिकारियों के लिये यह सुझाव बड़ा क्रान्तिकारी था। वे इसके कट्टर विरोधी थे। उनका कहना था कि जहाँ बम बनाये जाते हों, वहाँ छोटे लाट साहब का जाना खतरे से खाली नहीं है और ऐसा खतरनाक काम कभी नहीं किया जाना चाहिए। किन्तु एण्ड्रयूज़ इस समय तक गुरुकुल कई बार जा चुके थे। उन्हें यहाँ की स्थिति भली-भाँति मालूम थी। उनका यह विश्वास था कि "सरकार को गुरुकुल तथा आर्यसमाज जैसे सुधारवादी आन्दोलनों का संरक्षण ही नहीं करना चाहिए, अपितु उन पर पूरा भरोसा रखना चाहिए। यह पुलिस द्वारा की जाने वाली सुरक्षा से बढ़कर होगी।"[1] एण्ड्रयूज़ की बात मानकर सर जेम्स मेस्टन ने गुरुकुल काँगड़ी जाना स्वीकार कर लिया। इसका एक अन्य कारण भारत सरकार की आर्यसमाज-सम्बन्धी नीति में परिवर्तन आना था। मेस्टन की यात्राओं से पहले मजदूर दल के नेता रैम्जे मैकडानल्ड की गुरुकुल-यात्रा का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। उनके लेखों से भी गुरुकुल के सम्बन्ध में राजद्रोह की भ्रान्तियों के निवारण में बड़ी सहायता मिली।

(८) रैम्जे मैकडानल्ड की गुरुकुल-यात्रा

ग्रेट ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री बनने वाले मजदूर दल के नेता श्री रैम्जे मैकडानल्ड १९१४ में एक शाही कमीशन के सदस्य बनकर भारत आये थे। इस आयोग के अध्यक्ष लार्ड इस्लिंगटन थे। महात्मा मुंशीराम की प्रेरणा और प्रभाव से भारत-बन्धु श्री सी० एफ० एण्ड्रयूज़ ने इस बात का प्रयास किया कि इस आयोग के सदस्यों को गुरुकुल बुलाया और दिखाया जाय और इसके बारे में सरकारी भ्रान्तियों को दूर करने में उनसे सहायता ली जाय। उन दिनों मजदूर दल का विकास आरम्भ हुआ था और मैकडानल्ड उसके बड़े प्रभावशाली नेता थे। इनसे गुरुकुल के लिए अनुकूल वातावरण बनाने में सहायता मिल सकती थी। आठ नवम्बर १९१४ को श्री मैकडानल्ड रेवरेण्ड एण्ड्रयूज़ और प्रोफेसर लारेंस के साथ गुरुकुल पधारे। इस समय एण्ड्रयूज़ गुरुकुल के इतने प्रेमी और भक्त हो चुके थे कि वे कुलभूमि में आकर भारतीय परिधान में रहा करते थे। यद्यपि उनके लिए धोती बाँधना बड़ा कठिन था, फिर भी वे ब्रह्मचारियों की भाँति इस अवसर पर पीली धोती धारण किये हुए थे। उनके साथी प्रोफेसर लारेंस भी भारतीय वेष में थे। इन दोनों के साथ रैम्जे मैकडानल्ड को समूचे गुरुकुल का परि-भ्रमण कराया गया था। आचार्य रामदेव ने उन्हें पुस्तकालय तथा विज्ञान की विभिन्न प्रयोगशालाएँ दिखायीं और इसके बाद उन्हें पुस्तकालय-भवन में छात्रों को सम्बोधित करने की प्रार्थना की।

उस समय तक मैकडानल्ड श्रमिक नेता के रूप में तथा पत्रकार के रूप में काफी प्रसिद्ध हो चुके थे। भारत की जागृति पर उनकी पुस्तक 'अवेकनिंग आफ इण्डिया' छप चुकी थी। उन्होंने अपने भाषण में विनम्रतापूर्वक कहा—"मैं यहाँ भाषण देने से बचने के लिए और गुरुकुल देखने के लिए आया था। यह बड़ी गलत बात है कि मुझे यहाँ बोलने

---

१. बनारसीदास चतुर्वेदी—पूर्वोक्त पुस्तक पृ० १३७

के लिए कहा जा रहा है। **आपका गुरुकुल हमारी पार्टी जैसा है। हम दोनों के विषय में बहुत अधिक चर्चा की जाती है, किन्तु ऐसी चर्चा करने वालों को इसका वास्तविक ज्ञान नहीं होता है।** यद्यपि मैंने आपकी संस्था के बारे में बहुत-सी बातें सुन रखी हैं, किन्तु मैं यहाँ पहली बार इसे देखने आया हूँ। इसका बड़ा कारण रेवरेण्ड एण्ड्रयूज का प्रेमपूर्ण उत्साह है। वे प्रायः आपके बीच में आते रहते हैं और आपके पक्ष के प्रबल समर्थक हैं। मुझे विश्वास है कि मैं यदि यहाँ कुछ अधिक समय तक रहूँ तो मैं उनकी भाँति इस संस्था का भक्त बन जाऊँगा जो एक शाही कमीशन से सम्बन्ध रखने वाले सदस्य के लिए गलत बात होगी।

"यहाँ चारों ओर की दृश्यावली मुझे इंग्लैण्ड अथवा स्काटलैण्ड का स्मरण कराती है। यदि आप कभी इंग्लैण्ड या स्काटलैण्ड आयें तो आपको वहाँ गंगा जैसी ही नदियाँ दिखायी देंगी, यद्यपि गंगा हमारी नदियों से कुछ बड़ी है। मैं यह नहीं जानता हूँ कि शिक्षा के बारे में मैं आपसे क्या कहूँ, किन्तु एक बात निश्चित है कि आप भारत के नव-युवकों को अधकचरे अंग्रेज बनाने की गलती नहीं कर रहे हैं। मैं जब (स्काटलैण्ड से) इंग्लैण्ड आया था तो मुझे उस समय एक उत्तम परामर्श दिया गया था और वह मुझे अभी तक याद है। उस समय मुझे एक कृपालु मित्र ने कहा था कि'—अंग्रेज बनने की कोशिश मत करो। हमेशा स्काटलैण्डवासी बने रहने का प्रयास करो। तभी तुम अच्छी तरह से जीवन में संघर्ष कर सकते हो।'···आप अपनी पुरानी परम्पराओं के आधार पर वर्तमान समस्याओं का समाधान करें। पश्चिमी देशों में रहने वाले हम लोगों की अपेक्षा आप जीवन के वास्तविक मूल्यों को अधिक अच्छा समझते हैं। यही कारण है कि गुरुकुल शिक्षा-पद्धति का उद्देश्य न केवल विद्वान् व्यक्ति, अपितु अच्छे मनुष्य पैदा करना है। इसीलिए यह संस्था इतनी महत्त्वपूर्ण है। यह इस बात पर बल देती है कि भारत की प्रगति भारतीय परम्पराओं के अनुरूप होनी चाहिए। यह बड़ी उपयोगी बात है। आप यहाँ वे सभी बातें सीखते हैं जो आपकी पुरानी संस्कृति का सर्वोत्तम अंश हैं और आप यहाँ से सीखी बातें अन्य व्यक्तियों को सिखाते हैं। इस प्रकार आप एक महान् कार्य मे लगे हुए हैं। पश्चिमी जगत् में हममें से कुछ व्यक्ति ऐसी चीजों के पीछे भाग रहे हैं जैसे वैभव धन-सम्पत्ति जो कुछ समय बाद जंग खा जाती है, नष्ट हो जाती है और जिन्हें चोर चुरा ले जाते हैं; आपका लक्ष्य आध्यात्मिक सम्पत्ति प्राप्त करना है। यहाँ का आध्यात्मिक वातावरण आपको वास्तविक महत्त्व रखने वाली बातें सिखाता है। मैं ईमानदारी से यह कामना करता हूँ कि आप इस संस्था के सच्चे शिष्य बनें। मैं अन्त में आपको एक बात कहकर अपना कथन समाप्त करूँगा। इस अवसर पर मैं अपने कृपालु मित्र तथा इस संस्था के अध्यक्ष महात्मा जी को अपने हार्दिक स्वागत के लिए और इस संस्था के द्वार हमारे लिए बगैर किसी संकोच के साथ खोल देने के लिए धन्य-वाद देता हूँ। इस यात्रा की मधुर स्मृतियाँ, यहाँ के चारों ओर के सुन्दर दृश्य और शिक्षा के क्षेत्र में आपके आश्चर्यजनक परीक्षण मुझे सदैव स्मरण रहेंगे।"

इसके बाद महात्मा मुंशीराम ने इसका उत्तर देते हुए कहा कि इस भाषण में सबसे अच्छी बात यह थी कि इसमें हमें श्री मैकडानल्ड के मानव के रूप का दर्शन हुआ है, शाही कमीशन के सदस्य के रूप का नहीं। मैं इस बात से प्रभावित हुआ हूँ कि उन्होंने मेरे लिए मित्र के शब्द का प्रयोग किया है। मेरा विचार है कि इस एक शब्द ने

हमको भ्रातृत्व और सहानुभूति के प्रबल बन्धनों से बाँध दिया है। मैं वृद्ध हो रहा हूँ और संस्था की उन्नति के लिए मेरी बड़ी आवश्यकता है। मैं इसे छोड़कर कभी एक क्षण के लिए भी बाहर नहीं जा सकता हूँ। किन्तु यदि इनमें से कोई ब्रह्मचारी आपके देश में आये तो मुझे आशा है कि आप अपने बहुमूल्य परामर्श से उसकी सहायता करेंगे। हमारा यह विश्वास है कि सारी दुनिया एक विशाल भाईचारे की भावना से बँधी हुई है। पूर्व और पश्चिम का भ्रातृत्व के बन्धन में संगम होना चाहिए। इसी कारण स्वामी जी ने आर्यसमाज की स्थापना की थी और इस संस्था का यही उद्देश्य है। हम सब इस बात का प्रयास कर रहे हैं कि समूची मानव-जाति में एक-दूसरे के प्रति सामान्य भ्रातृत्व भाव की भावना उत्पन्न हो। मुझे आशा है कि जब कभी आवश्यकता होगी तो आप हमें विस्मृत नहीं करेंगे।"[1]

रैम्जे मैकडानल्ड उस दिन रात को गुरुकुल में ही रहे और उन्होंने ब्रह्मचारियों के दैनिक कार्यों, सन्ध्या-हवन आदि का बड़ी सूक्ष्मता से अवलोकन किया। सायंकालीन अग्निहोत्र की ज्वालाओं का बड़ा सरस और काव्यमय चित्रण उन्होंने अपने एक लेख में किया है। रैम्जे मैकडानल्ड के जाने के एक सप्ताह बाद गुरुकुल में शाही कमीशन के अध्यक्ष लार्ड हर्सिलगटन और शिक्षा-शास्त्री सर थियोडोर मोरीसन तथा मिस्टर स्काट भी हरिद्वार तक मोटर से आये और वहाँ से हाथियों पर सवार होकर गुरुकुल पधारे। इन्हें गुरुकुल में लाने के लिए विशेष रूप से उसी वर्ष स्नातक हुए इन्द्र वेदालंकार को भेजा गया था। शिक्षा-शास्त्री होने के कारण थियोडोर मोरीसन ने गुरुकुल की शिक्षा-पद्धति के बारे में बड़े गम्भीर और गूढ़ प्रश्न किये और उन्होंने मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने की पद्धति का गम्भीर अध्ययन किया। वे इस बात से प्रभावित हुए कि अर्थशास्त्र, वनस्पति-शास्त्र आदि की कक्षाओं में सभी चार्ट हिन्दी भाषा में बने हुए हैं और संस्कृत भाषा एक मृत भाषा न होकर वहाँ वाद-विवाद और सम्भाषण की जीवित-जागृत भाषा है; इस गुरुकुल में सारा ध्यान शिक्षा-सम्बन्धी बातों की ओर ही दिया जाता है। श्री मैकडानल्ड इस संस्था से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने गुरुकुल पर कई लेख लिखे और इनमें इस बात पर बल दिया गया था कि यहाँ राजद्रोह की की तथाकथित कोई प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर नहीं होती हैं।

विलायत लौटने पर रैम्जे मैकडानल्ड का 'डेली क्रानिकल' में लिखा एक लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस लेख का श्रीगणेश इन पंक्तियों से किया गया था—"भारत के राजद्रोह के सम्बन्ध में जिन्होंने थोड़ा-सा भी पढ़ा है, उन्होंने गुरुकुल का नाम अवश्य सुना होगा, जहाँ आर्यसमाजियों के बालक शिक्षा ग्रहण करते हैं। आर्यों की भावना और सिद्धान्तों का यह अतीव उत्कृष्ट मूर्त्तरूप है। इस उन्नतिशील धार्मिक संस्था आर्यसमाज के बारे में जितने भी सन्देह किये जाते हैं, वे इस गुरुकुल पर लाद दिये जाते हैं। इसी-लिए सरकार की इसपर तिरछी नजर है। पुलिस अफसरों ने इसके सम्बन्ध में गुप्त रिपोर्ट की है और अधिकांश एंग्लो-इण्डियन लोगों ने इसकी निन्दा की है।"

सरकार की तिरछी नजर के कारणों की मीमांसा करते हुए इस लेख में कहा गया था—"सरकारी लोगों के लिए गुरुकुल एक पहेली है। अध्यापकों में एक भी अंग्रेज

---

१. वैदिक मैगजीन, दिसम्बर १९१२, पृ० ५६७-७४

नहीं है। अंग्रेजी साहित्य की पढ़ाई और उच्चशिक्षा के लिये पंजाब यूनिवर्सिटी द्वारा नियत पुस्तकें भी यहाँ काम में नहीं लायी जातीं हैं। सरकारी विश्वविद्यालय की परीक्षा के लिये यहाँ से किसी भी विद्यार्थी को नहीं भेजा जाता और विद्यार्थियों को विद्यालय से अपनी ही उपाधियाँ दी जाती हैं। सचमुच यह सरकार की अवज्ञा है। घबराये हुए सरकारी अधिकारी के मुँह से इसके लिए पहली बात यही निकलेगी कि यह स्पष्ट राजद्रोह है। परन्तु गुरुकुल के विषय में यह अन्तिम राय नहीं हो सकती। सन् १८३५ के प्रसिद्ध लेख में भारत की शिक्षा के सम्बन्ध में मैकाले के सम्मति प्रकट करने के बाद भारत के शिक्षा के क्षेत्र में यह पहला ही प्रशस्त यत्न किया गया है। उस लेख के परिणामों से प्राय: सभी भारतवासी असन्तुष्ट हैं, किन्तु जहाँ तक मुझको मालूम है गुरुकुल के संस्थापकों के सिवाय किसी और ने इस असन्तोष को कार्यरूप में परिणत करते हुए शिक्षा के क्षेत्र में नया परीक्षण नहीं किया है।" लेख के अन्त में उन्होंने लिखा था—"मैं स्वप्न में किसी को यह कहते हुए सुन रहा हूँ—"हम केवल यह चाहते हैं कि शान्ति से हमको ईश्वर का भजन करने दो। क्या यही राजद्रोह है?" भावी ब्रिटिश प्रधानमन्त्री मिस्टर मैकडानल्ड का यह लेख सम्भवत: गुरुकुल के सम्बन्ध में लिखे गये लेखों में सर्वोत्तम है और उसने गुरुकुल के बारे में राजद्रोह की भ्रान्ति को दूर करने में उल्लेखनीय योगदान किया।

(९) सर जेम्स मेस्टन की गुरुकुल-यात्राएँ

भारत सरकार ने १९१० ई०में संयुक्त प्रान्त के उप पुलिस अधीक्षक श्री सी०ई०-डब्ल्यू० सैण्ड्स की संयुक्त प्रान्त में आर्यसमाज की स्थिति पर लिखी गयी विस्तृत रिपोर्ट (Aryasamaj in the United Provinces) पर वह निर्णय किया था कि आर्यसमाज को राजद्रोही कार्यों से विरत करने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि प्रान्तों के लेफ्टिनैण्ट गवर्नर आर्यसमाज के नेताओं से सम्पर्क बढ़ायें, उनपर अपना प्रभाव डालें और उनके माध्यम से आर्यसमाज के उग्रवादी तत्त्वों को नियन्त्रण में रखें। प्रमुख आर्यसमाजी नेताओं के मन पर इस प्रकार का असर डाला जाय कि वे ब्रिटिश-विरोधी प्रवृत्तियों पर बगावत की भावना रखने वाले आर्यसमाजियों को स्वयमेव काबू में रखें।[1]

इस नयी नीति को संयुक्त प्रान्त के गवर्नर सर जेम्स मेस्टन ने बड़ी तत्परता से क्रियान्वित किया। वे सितम्बर १९१२ में संयुक्त प्रान्त के गवर्नर बने। उन्होंने अपने प्रदेश में विद्यमान आर्यसमाज की सुप्रसिद्ध संस्थाओं में जाना और आर्यसमाजी नेताओं से मिलना-जुलना शुरू किया और इस प्रकार उनके प्रभाव से शनैः-शनैः जहाँ एक ओर ब्रिटिश अधिकारियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन आने लगा, वहाँ दूसरी ओर आर्यसमाज के नेताओं में भी यह भावना बलवती होने लगी कि भले ही ब्रिटिश सरकार के निम्न स्तर के अधिकारी आर्यसमाज के विरुद्ध सरकार के कितने ही कान क्यों न भरें और कितनी ही झूठी रिपोर्ट क्यों न दे, आर्यसमाजी नेता ब्रिटिश सरकार के उच्च अधिकारियों से मिलकर भ्रान्तियों का निवारण कर सकते हैं और आर्यसमाज के यथार्थ स्वरूप को ब्रिटिश सरकार के सम्मुख प्रस्तुत कर सकते हैं। मेस्टन के प्रयासों तथा

---

१. होम पोलिटिकल डिपाजिट, प्रोसीडिंग्स, अप्रैल १९१२, सं० ४, पृ० ५

आर्यसमाजी संस्थाओं की निरीक्षण-यात्राओं से उन्हें इसके बहुमूल्य अवसर मिले।

इस प्रसंग में यह भी कहा जाता है कि महात्मा मुंशीराम के एक मित्र पण्डित दामोदरदास मिश्र जब इस शताब्दी के दूसरे दशक के आरम्भ में रुड़की में सब डिवीजनल आफिसर थे तब उन्होंने मुंशीराम जी को यह परामर्श दिया कि "सरकार का सन्देह दूर करने के लिए आप लेफ्टिनेण्ट गवर्नर को गुरुकुल में बुलाइये। भगवान् की भाँति अंग्रेज भी आरती उतारने से प्रसन्न होते हैं। उन्हें अभिनन्दन-पत्र दो, स्तोत्र-पाठ करो, सब सच्ची बातें बताकर उनका भ्रम दूर करो।"[1] दूसरी ओर वे लेफ्टिनेण्ट गवर्नर के प्राइवेट सेक्रेटरी कैप्टन वाटसन स्माइथ के भी मित्र थे, क्योंकि पुराने सिक्के संग्रह करने में वे उनकी सहायता करते थे। उनके माध्यम से मेस्टन को गुरुकुल जाने के लिये तैयार कर लिया गया। अतः जब मेस्टन को महात्मा मुंशीराम की ओर से गुरुकुल आने का निमन्त्रण दिया गया तो वे उसके लिए सहर्ष तैयार हो गये। उनकी तीन यात्राओं ने गुरुकुल के बारे में सरकारी भ्रान्तियों के निवारण में बहुमूल्य भूमिका अदा की। अतः यहाँ मेस्टन की इन यात्राओं और कार्यकलापों का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है।

सर जेम्स मेस्टन की पहली यात्रा आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध शिक्षा-संस्थान गुरुकुल काँगड़ी की थी। इसे प्रान्त के गुप्तचर विभाग के कर्मचारी राजद्रोहपूर्ण गतिविधियों का एक प्रमुख केन्द्र समझते थे। सं० प्रान्त के गुप्तचर विभाग के उपाधीक्षक श्री सी० ई० डब्ल्यू० सैण्ड्स ने विभिन्न जिलों ले प्राप्त खुफिया रिपोर्टों के आधार पर 'आर्यसमाज इन दि यूनाइटिड प्राविन्सिज' नामक जो पुस्तक लिखी थी उसमें पूरा सातवाँ अध्याय गुरुकुल की विद्रोही प्रवृत्तियों के बारे में था। इसमें बड़े विस्तार से यह बताया गया था कि गुरुकुल काँगड़ी को किन कारणों तथा प्रमाणों के आधार पर राजद्रोही संस्था समझा जाना चाहिए। यह पुस्तक जब भारत सरकार के गुप्तचर विभाग के कार्यालय में पहुँची, उस समय भारत सरकार के सी० आई० डी० विभाग के निदेशक चार्ल्स क्लीवलैण्ड ने इस पर टिप्पणी लिखी कि इसमें गुरुकुल काँगड़ी के बारे में न्यूनोक्ति से काम लिया गया है। भारत सरकार के कार्यालय में जो गुप्त सूचनाएँ विद्यमान हैं, उनमे यह पता चलता है कि यहाँ इस प्रकार की गतिविधियाँ बहुत अधिक मात्रा में हैं और छात्रों को सैनिक प्रशिक्षण (फिजिकल फोर्स ट्रेनिंग) भी दिया जाता है और विद्रोही सेना तैयार करने के प्रयास किये जाते हैं।[2] इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था कि मेस्टन सर्वप्रथम अपने प्रान्त में इस शिक्षा-संस्था की यात्रा करें और यहाँ ब्रिटिश सरकार के अनुकूल वातावरण तैयार करें।

६ मार्च १९१३ को संयुक्त प्रान्त सरकार के चीफ सेक्रेटरी श्री बर्न, सहारनपुर और बिजनौर जिलों के जिलाधीशों और अन्य अनेक उच्च अधिकारियों के साथ सर जेम्स मेस्टन ने गुरुकुल काँगड़ी की पहली यात्रा की। इस अवसर पर संस्था को बड़े कलात्मक ढंग से सजाया गया था। मान्य अतिथियों के स्वागत के लिए तोरण द्वार बनाये

---

१. यह सूचना लेखक को संयुक्त प्रान्त के गुप्तचर विभाग के अवकाशप्राप्त महा-निरीक्षक पण्डित नरेशचन्द्र मिश्र से प्राप्त हुई।

२. होम पोलि० डिपाजिट प्रोसीडिंग्स, अप्रैल १९१२, सं० ४, पृ० १

गये थे। सर्वत्र झंडियाँ और वन्दनवारें लगायी गयी थीं। विभिन्न भवनों को वेदमन्त्रों के मोटो तथा फूल-पत्तियों से अलंकृत किया गया था। अनेक स्थानों पर ओ३म् की ध्वजायें और ग्रेट ब्रिटेन की राष्ट्रीय-पताका यूनियन जैक को फहराया गया था। गुरुकुल के प्रवेश-द्वार पर संस्था के गवर्नर मुंशीराम तथा संयुक्त प्रान्त की आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री श्री मदनमोहन सेठ तथा अध्यापकों ने मान्य अतिथियों का महामहिम गवर्नर के हाथी से उतरने पर स्वागत किया। पीतशाटिकाधारी ब्रह्मचारियों ने मार्ग के दोनों ओर पंक्तियों में खड़े होकर करतल-ध्वनि से उनका अभिनन्दन किया, उनपर पुष्प-वर्षा की। मुख्य अतिथि को फूलमालाओं से लाद दिया गया।

सर्वप्रथम महामहिम ने कालिज और विद्यालय का निरीक्षण किया। उन्होंने मातृभाषा के माध्यम से रसायन शास्त्र, वनस्पति शास्त्र, अर्थशास्त्र आदि आधुनिक विज्ञानों की उच्चतम शिक्षा दिये जाने के परीक्षण में गहरी दिलचस्पी दिखाई। ब्रह्मचारियों ने रसायन शास्त्र की प्रयोगशाला में उन्हें कुछ परीक्षण करके दिखाये और लेडी मेस्टन के लिए विशेष रूप से इस प्रयोगशाला में तैयार किया गया सुनहला पानी चढ़ा एक ताम्रपत्र लार्ड मेस्टन को भेंट किया गया। इसपर सोने का पानी इसी प्रयोगशाला में चढ़ाया गया था। सर मेस्टन ने इसे लेडी मेस्टन की ओर से धन्यवादपूर्वक स्वीकार किया। उन्होंने ब्रह्मचारियों द्वारा की जाने वाली विविध गतिविधियों और कार्यकलापों का निरीक्षण किया और वे इनसे बड़े प्रसन्न हुए। गवर्नर और उनकी पार्टी को भारतीय व्यंजन, मिठाइयाँ, आलू के पकोड़े परोसे गये और तुलसी की चाय प्रस्तुत की गयी।

इसके बाद उन्हें विशेष रूप से बनाये गये भव्य विशाल पंडाल में ले जाया गया और संस्कृत में लिखा गया एक मानपत्र पढ़ा गया। इसे पंडित गौरीशंकर भट्ट ने बड़े कलात्मक ढंग से सुललित अक्षरों में लिपिबद्ध किया था। इस अभिनन्दन-पत्र को हाथी-दाँत की बनी कलात्मक कारीगरी वाली मंजूषा में रखकर भेंट किया गया। अभिनन्दन-पत्र में गुरुकुल के उद्देश्यों का वर्णन करते हुए कहा गया था कि इस संस्था का लक्ष्य ऐसे सच्चे ब्राह्मण पैदा करना है जो अपनी सारी शक्ति और समय मानव-जाति के कल्याण में लगायें। इसमें यह भी बताया गया था कि ब्रह्मचारियों को आयुर्वेद की शिक्षा देने के लिए शीघ्र ही एक महाविद्यालय स्थापित किया जायेगा। अन्त में महामहिम सर जेम्स-मेस्टन की तुलना प्राचीन भारत के उन राजर्षियों से की गयी थी जो ऐसी शिक्षा संस्थाओं में आने में विशेष गौरव अनुभव किया करते थे।

अपने अभिनन्दन-पत्र के उत्तर में महामहिम ने आरम्भ में ही संस्कृत भाषा में उत्तर न दे सकने के लिए खेद प्रकट किया और यहाँ आने का निमन्त्रण देने, स्वागत एवं आतिथ्य करने के लिए धन्यवाद दिया और कहा कि 'जब मैं हरिद्वार में था तो मैंने कई कारणों से गुरुकुल आना आवश्यक समझा। गुरुकुल न केवल संयुक्त प्रान्त में, अपितु समूचे भारत में शिक्षा-क्षेत्र में अतीव मौलिक और रोचक परीक्षण कर रहा है। यह इस प्रान्त का एक अधिकतम सुन्दर स्थान है। इसके अतिरिक्त मैं यहाँ उन व्यक्तियों को भी मिलना चाहता था जिन्हें सरकारी कागजों में अनन्त दुःखों और अज्ञात संकटों का स्रोत बताया जाता है, (करतल ध्वनि)। इस समस्या के समाधान का सर्वोत्तम उपाय यह था कि मैं स्वयमेव इस संस्था में आऊँ। मैंने यहाँ आकर बहुत ही आश्चर्यजनक, रोचक और

प्रेरणा देने वाली शिक्षा-संस्था देखी है। यहाँ ऐसे तपस्वी व्यक्तियों का समुदाय है जो प्राचीन ऋषि-मुनियों की परम्पराओं का पालन करते हुए इस वन्य भूमि में अधिकतम आधुनिक वैज्ञानिक विषयों और विधियों का ज्ञान छात्रों को नाममात्र का वेतन लेते हुए दे रहा है। यहाँ ऐसे ब्रह्मचारी हैं जो आज्ञापालक, शारीरिक दृष्टि से सुदृढ़, राजभक्त, सत्यपरायण, अपने ध्येय के प्रति समर्पण की भावना रखने वाले, अत्यधिक प्रसन्न और पुष्ट हैं। एक बात मैंने यहाँ विशेष रूप से देखी है। दुर्भाग्यवश "ब्रिटिश सरकार द्वारा चलाये जाने वाले स्कूलों-कालिजों में प्रति तीन छात्रों में से एक छात्र चश्मा लगाता है, किन्तु यहाँ यह संख्या २० में केवल एक है।

"जहाँ राजनीति की कोई चर्चा नहीं है, ऐसी संस्था में मैं राजनैतिक प्रश्नों के बारे में कोई बात नहीं कहूँगा। यदि मुझे कुछ बातें पूछनी होंगी या सुझाव देने होंगे तो मैं इसके लिए आपके मानवीय गवर्नर महोदय से निजी तौर से परामर्श और बातचीत करूँगा। उन्होंने अगले महीने लखनऊ में मुझसे मिलने का वायदा किया है। मुझे अब इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कहना है कि मैं अपने हार्दिक स्वागत और आतिथ्य केलिए एक बार पुनः आपका धन्यवाद करता हूँ।"

यह भाषण न केवल गुरुकुल कांगड़ी के, अपितु आर्यसमाज के इतिहास के लिए अतीव महत्त्वपूर्ण है। इसमें पहली बार ब्रिटिश सरकार के एक उच्चतम अधिकारी और संयुक्त प्रान्त के लेफ्टिनैण्ट गवर्नर ने बड़े स्पष्ट और खुले शब्दों में न केवल गुरुकुल की सराहना की, अपितु गुप्तचर विभाग द्वारा इस संस्था की राजद्रोहपूर्ण गतिविधियों की रिपोर्ट को बड़े संयत शब्दों में अविश्वसनीय और अप्रामाणिक ठहराया और गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को राजभक्त कहा था। इस यात्रा से गुप्तचर विभाग द्वारा उत्पन्न की गयी भ्रान्तियों के उन्मूलन में बड़ी सहायता मिली और सरकार तथा गुरुकुल और आर्यसमाज के बीच में मधुर सम्बन्ध के एक नवयुग का श्रीगणेश हुआ।

श्री मेस्टन की इस यात्रा के बाद संयुक्त प्रान्त के सुप्रसिद्ध नेता बाबू गंगाप्रसाद वर्मा ने संयुक्त प्रान्त की विधान परिषद् में लेफ्टिनेण्ट गवर्नर महोदय की गुरुकुल-यात्रा की चर्चा करते हुए कहा था—"मैं श्रीमान् को उस राजनीतिज्ञतापूर्ण और साहसिक कार्य के लिए बधाई देना चाहता हूँ, जो आपने उन देशभक्त शिक्षकों को दर्शन देकर किया है जो महात्मा मुंशीराम के नेतृत्व तथा संरक्षकता में राष्ट्रीय ढंग पर शिक्षा के क्षेत्र में अलौकिक परीक्षण कर रहे हैं और जिन्होंने पश्चिम की अच्छाइयों तथा पूर्व आदर्शों को मिलाकर एक कर दिया है। मैं श्रीमानों के गुरुकुल पधारने को इसलिए साहसपूर्ण कार्य कहता हूँ कि मुझे मालूम है कि इस प्रान्त के अधिकतर अफसर झूठी और स्वार्थपूर्ण रिपोर्टों के आधार पर आपके हृदय में यह संदेह पैदा कर रहे थे कि गुरुकुल भारत के शान्त विकास में विघ्न पैदा करने वाले लोगों को उत्पन्न करने में लगा हुआ है। आपके गुरुकुल पधारने और वहाँ की गई घोषणा से आशा है कि ऐसे लोगों के विचार गुरुकुल के सम्बन्ध में बदल जायेंगे। आपने उन लोगों को सचमुच प्रोत्साहन दिया है जो जनता की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति में लगे हुए हैं। इससे वे लोग गवर्नमेंट के अधिक समीप आ जायेंगे जिनके हृदय अपनी मातृभूमि के लिए फिर से पुरातन गौरव प्राप्त किया हुआ देखने को उतावले हैं।"

१९ फरवरी १९१४ को सर जेम्स मेस्टन ने गुरुकुल कांगड़ी की दूसरी बार यात्रा

की। इस बार उनकी पत्नी लेडी मेस्टन भी उनके साथ थी। गवर्नर-दम्पती का गुरुकुल में बड़ा भव्य स्वागत किया गया। इस अवसर पर सर जेम्स मेस्टन गुरुकुल के कार्यकलापों से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने यह टिप्पणी की कि "गुरुकुल मेरे आदर्श के अनुरूप शिक्षा-संस्था है।" (This is my ideal of an educational institution.)

(१०) लार्ड चेम्सफोर्ड का गुरुकुल काँगड़ी में आगमन

सर जेम्स मेस्टन की दो यात्राओं से गुरुकुल और आर्यसमाज-विषयक राजद्रोह की भ्रान्तियाँ और सन्देह लगभग दूर हो गये। फिर भी दो वर्ष बाद २१ अक्टूबर १९१६ ई० को भारत के वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड तथा उनकी पत्नी लेडी चेम्सफोर्ड की गुरुकुल यात्रा से इन सन्देहों का अन्तिम रूप से निराकरण हो गया। इनसे पहले लार्ड हार्डिंग श्री सी० एफ० एंड्रयूज़ की प्रेरणा से गुरुकुल काँगड़ी की यात्रा करने के लिए सहमत हो गये थे, किन्तु दुर्भाग्यवश अपने परिवार में स्वजनों की मृत्यु के दुःख से तथा प्रथम विश्व-युद्ध छिड़ जाने पर व्यस्तता बढ़ जाने से वे गुरुकुल आने के लिए समय नहीं निकाल सके थे। गुरुकुल के अधिकारियों की बड़ी इच्छा थी कि भारत में ब्रिटिश सरकार के सर्वोच्च अधिकारी इस शिक्षा-संस्थान में अवश्य आयें ताकि गुरुकुल-सम्बन्धी भ्रांतियाँ पूरी तरह दूर की जा सकें। वे अपने इन प्रयत्नों में लगे रहे।

सर जेम्स मेस्टन भी वायसराय की गुरुकुल-यात्रा के लिए बड़े उत्सुक थे और उनके प्रयत्नों से यह यात्रा सम्पन्न हुई। श्री पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति के शब्दों में "सर जेम्स ने (गुरुकुल के अधिकारियों को) इशारा किया, क्यों न आप वायसराय को भी निमन्त्रित करें, क्योंकि लार्ड चेम्सफोर्ड शिक्षा के बहुत प्रेमी हैं। वे गुरुकुल आना पसन्द करेंगे। यह इशारा पाकर पिताजी (महात्मा मुंशीराम) ने लार्ड चेम्सफोर्ड को गुरुकुल आने का निमन्त्रण भेजा जो तत्काल स्वीकार कर लिया गया।" वैदिक मैगजीन (खंड १०, अंक-संख्या ५६, अक्तूबर-नवम्बर १९१६ ई०) के अंक में इस यात्रा का विशद विवरण प्रकाशित हुआ था। यहां इसके आधार पर इस यात्रा का संक्षिप्त उल्लेख किया जायेगा।

गुरुकुल में वायसराय के आगमन की तिथि निश्चित होते ही इसे सफल बनाने के लिए अधिकारियों की ओर से पूरे जोर-शोर के साथ सभी प्रकार के प्रयास आरम्भ किये गये। प्रकृति ने गुरुकुल को अद्वितीय प्राकृतिक सौन्दर्य प्रदान किया था। पुण्यसलिला भागीरथी के तट पर हिमालय की छाया में तथा शिवालक की उपत्यका में अवस्थित यह तपोवन अतीव सुरम्य स्थल था। फिर भी ब्रह्मचारियों ने इसे इस अवसर के अनुरूप सुसज्जित करने में कोई कोर कसर बाकी नहीं रखी। हरे पत्तों और बंदनवारों से अलंकृत दो तोरण द्वार इस अवसर के लिए विशेष रूप से बनाये गये थे। सारी सड़क पर झंडियाँ लगायी गयीं और शिक्षाशास्त्री लार्ड चेम्सफोर्ड के स्वागत, लेडी चेम्स फोर्ड के स्वागत, भगवान् के प्रति भक्ति, सरकार के प्रति निष्ठा, धर्म के प्रति प्रेम के बड़े-बड़े आकर्षक मोटो सब प्रमुख स्थानों पर लगाये गये थे। वायसराय की पार्टी २१ अक्टूबर १९१६ ई० की मध्याह्न में हरिद्वार से हाथियों पर सवार होकर जब गुरुकुल के द्वार पर पहुँची तो वहाँ स्वागतार्थ महात्मा मुंशीराम अपने सहयोगियों के साथ उपस्थित थे। इनमें गुरुकुल की स्वामिनी सभा के प्रधान एवं सदस्य, गुरुकुल के कुछ हितैषी आर्यसमाजी नेता, पीले दुपट्टे

पहने महाविद्यालय के प्राध्यापक अपने नीलाम्बर परिधान में गुरुकुल के स्नातक उल्लेखनीय थे। गुरुकुल के भीतर मार्ग के दोनों ओर पीली धोती पहने ब्रह्मचारी पुष्पवर्षा के लिए खड़े थे। वायसराय के हाथी से उतरते ही उनका भव्य स्वागत किया गया। स्वामिनी सभा के सदस्यों तथा विश्वविद्यालय के अध्यापकों से उनका परिचय करवाया गया।

पाँच ब्रह्मचारियों ने संस्कृत श्लोकों में वायसराय का स्वागत-गान गाया और मानपत्र पढ़ा। इसमें यह कहा गया था कि "हमारे यशस्वी प्रतापी सम्राट् के महान् प्रतिनिधि के रूप में इस शांतिधाम पुण्याश्रम की उस पावनभूमि में हम आपका स्वागत करते हैं, जो गंगा माता के जलों से प्रक्षालित है, जिसपर हिमालय के तुषार-मण्डित गिरिशृंगों की छाया है और जो वनश्री की अतुल शोभा से अलंकृत है। आप उस शक्तिशाली एवं गौरवशाली सम्राट् के प्रतिनिधि हैं जिनके साम्राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता है। हम आपका ऐसे गुरुकुल में स्वागत कर रहे हैं जो विद्या और भलाई का प्रतीक एवं श्रद्धा-स्थल है और जिसका महान् लक्ष्य समस्त मानवजाति की सेवा करना है।

"हमारी कामना है कि आपका यह भव्य आगमन हमारे गुरुकुल को स्वर्णजटित हीरकमणि सदृश और सूर्य की किरणों से प्रफुल्लित कमल जैसा बनाये।

"आप उस सम्राट् के प्रतिनिधि हैं, जिसके कानून के भीषण दण्ड से सब लोग शान्तिपूर्ण मार्गों का अनुसरण करते हैं और सर्वत्र सुख एवं शान्ति है, और ऐसी स्थिति में यह आश्चर्य की बात नहीं है कि आपमें एक शासक की भव्य गरिमा तथा एक विद्वान् के गम्भीर पांडित्य का सुन्दर समन्वय हुआ है।

"हम इस बात के लिए आपके अत्यन्त आभारी हैं कि आप हमारे बीच में आये हैं। हम सब मिलकर आपको अत्यन्त आदर और प्रेम के साथ नमन करते हैं और आपके प्रति हार्दिक कृतज्ञता के भाव प्रकट करते हैं। इसके साथ ही हम महामहिम लेडी चेम्सफोर्ड का भी हार्दिक स्वागत करते हैं जिन पर देश के सभी व्यक्तियों की आँखें लगी हुई हैं। उनकी स्निग्ध दृष्टि सब प्रकार के दुःख और शोक को वैसे ही समाप्त करने वाली है, जैसे प्रकाश अन्धकार को दूर कर देता है। आपका सदा साथ देने वाली अर्द्धांगिनी के रूप में हम आपका इस आश्रम में स्वागत करते हैं।"

यह स्वागत-गान सुललित अक्षरों में लिपिबद्ध करके लार्ड तथा लेडी चेम्सफोर्ड को एक सुन्दर नक्काशीदार मंजूषा में रखकर समर्पित किया गया। इसी समय वायसराय ने यह देखा कि कुछ ब्रह्मचारियों की आयु बहुत कम है। उन्होंने यह प्रश्न किया कि "क्या इन्हें अपने माता-पिता से अलग होने का दुःख नहीं सताता?" किन्तु इसी समय उनके चेहरे पर प्रसन्नता के भावों को देखते हुए उन्होंने स्वयमेव इसका उत्तर देते हुए कहा—"ऐसा प्रतीत होता है कि वे यहाँ इतने अधिक सुखी और संतुष्ट हैं कि उन्हें माता-पिता से विछोह की कोई अनुभूति ही नहीं होती है।"

इसके बाद वायसराय गुरुकुल वाटिका में से होते हुए आश्रम की ओर बढ़े और उन्होंने यह पूछा कि क्या विद्यार्थी इस बगीचे में काम करते हैं? उन्हें यह बताया गया कि पहले विद्यार्थी यहाँ काम करते थे, किन्तु अब उन्हें अपना काम और प्रयोग करने के लिए एक अलग बगीचा दे दिया गया है और यहाँ ब्रह्मचारियों के लिए आवश्यक सब्जियाँ और फल उगाये जाते हैं। तत्पश्चात् वायसराय को गुरुकुल विद्यालय आश्रम के प्रवेश-द्वार पर ब्रह्मचारियों द्वारा बनाया गया भारतवर्ष का एक विशाल मानचित्र दिखाया

गया। इसमें हरिद्वार और स्वामी दयानन्द के जन्मस्थान विशेष रूप से प्रदर्शित किये गये थे। आश्रम के बीच में बनी हुई यज्ञशाला में लेजाकर उन्हें यह बताया गया कि यहाँ प्रतिदिन प्रातःकाल तथा सायंकाल ब्रह्मचारी सन्ध्या तथा हवन करते हैं। इसके बाद विद्यालय-भंडार का निरीक्षण करने के बाद वायसराय उस स्थान पर पहुँचे जहाँ सिलाई की कुछ सिंगर मशीनें पड़ी हुई थीं। इसपर वायसराय ने टिप्पणी की कि "ऐसा प्रतीत होता है कि आप समय के साथ चल रहे हैं, आप अपने ब्रह्मचारियों को आवश्यक कलायें, हुनर और दस्तकारियाँ भी सिखाते हैं।"[1]

इसके पश्चात् वायसराय की पार्टी ने आयुर्वैदिक औषधालय का निरीक्षण किया और उन्हें यह बताया गया कि ये सब दवाइयाँ यहाँ आयुर्वेद की पुरानी पद्धति के अनुसार तैयार की जाती हैं। इसके साथ ही उन्हें एलोपैथिक औषधालय भी दिखाया गया। इसपर वायसराय की टिप्पणी थी कि "आपने पश्चिमी पद्धति का पूर्ण परित्याग नहीं किया है।" एलोपैथी के औषधालय के डाक्टर ने उन्हें बताया—"ऐसी बात नहीं है। हमारे यहाँ आपरेशन करने के यन्त्र तथा नेत्र-परीक्षा के आवश्यक चार्ट भी विद्यमान हैं।" इसपर वायसराय ने कहा कि "इस विषय में आप अप-टू-डेट प्रतीत होते हैं।"

तत्पश्चात् मान्य अतिथि को वनस्पतिशास्त्र की प्रयोगशाला में ले जाया गया। जहाँ अनेक प्रकार के पत्तों, फूलों, जड़ों के रेखाचित्र टंगे हुए थे, बड़ी संख्या में माइक्रोस्क्रोप तथा अन्य उपकरण-सामग्री विद्यमान थी। प्रो० महेश चरण सिन्हा रसायन, वनस्पतिशास्त्र और विद्युत्शास्त्र पर अपनी हिन्दी में लिखी पुस्तकों के साथ उपस्थित थे। इससे यह स्पष्ट था कि गुरुकुल कोई पुरानी दकियानूसी, केवल संस्कृत पढ़ाने पर बल देने वाली मध्यकालीन पाठशाला नहीं है, अपितु आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देने वाली संस्था है। प्रो० सिन्हा ने वायसराय को बताया कि गुरुकुल आधुनिक विज्ञानों की उच्चतम शिक्षा हिन्दी भाषा के माध्यम से दे रहा है और इन विषयों पर हिन्दी में पाठ्य पुस्तकें तैयार कर रहा है। इसके साथ ही उन्होंने हिन्दी में वैज्ञानिक विषयों पर अपनी लिखी पुस्तकें वायसराय को अनुमति प्राप्त करने के बाद उन्हें भेंट की।

इसके बाद वायसराय ने गुरुकुल के ब्रह्मचारियों द्वारा संचालित संस्कृत में विभिन्न विषयों पर वाद-विवाद करने वाली सभाओं का निरीक्षण किया। इनमें छात्रों ने आधुनिक विषयों पर संसार की सबसे पुरानी संस्कृत भाषा में धारा-प्रवाह भाषण देते हुए वक्तृत्व कला का जो कौशल दिखाया, उससे यह स्पष्ट हो गया कि गुरुकुल में नवीन और प्राचीन भाषाओं एवं विज्ञानों का उत्तम ज्ञान दिया जाता है। वायसराय जटिल आर्थिक प्रश्नों पर ब्रह्मचारियों के वाद-विवाद से बड़े प्रभावित हुए।

इस समय तक विभिन्न विभागों को देखते हुए वायसराय तथा उनकी पत्नी काफी थक गये थे। थोड़ी देर तक विश्राम के लिए विशाल शाल्मलि तरु की छाया में बनाये गये सुन्दर चबूतरे पर लार्ड चेम्स फोर्ड अपनी पत्नी के साथ रुके रहे। उन्होंने यह समय गुरुकुल से प्रकाशित होनेवाली अंग्रेजी मासिक पत्रिका 'वैदिक मेगजीन' का अंक देखने में बिताया।

विश्राम के उपरान्त वे पुस्तकालय में पहुँचे। यहाँ उन्होंने महात्मा मुन्शीराम

---

१. मदनमोहन सेठ—वही पुस्तक

द्वारा दान की हुई कानून की पुस्तकों का एक विशाल संग्रह देखा और आश्चर्यचकित होकर पूछा कि—"यहाँ आप क्या विधिशास्त्र की पुस्तकें रखते हैं ?" इसपर उन्हें बताया गया कि "उत्तम नागरिक बनने के लिए छात्रों को कानून का ज्ञान देना अतीव आवश्यक है।" पुस्तकालय की अलमारियों को अंग्रेजी और संस्कृत की किताबों से भरा हुआ देखकर महामहिम ने यह टिप्पणी की कि ऐसा प्रतीत होता है कि शीघ्र ही आपको अपने पुस्तकालय-भवन का विस्तार करना पड़ेगा, क्योंकि अब इन अलमारियों में अधिक पुस्तकें रखने का स्थान नहीं बचा है। महात्मा जी ने उन्हें उत्तर दिया कि हम शीघ्र ही विज्ञान की कक्षाओं के लिए पृथक् भवन बनवाना चाहते हैं। उसके बनने पर प्रयोगशालायें वहाँ चले जाने से पुस्तकालय में हमें लगभग दुगुना स्थान मिल जायेगा। पुस्तकालय में मँगाये जाने वाले लगभग साठ दैनिक, साप्ताहिक और मासिक हिन्दी तथा अंग्रेजी के पत्र गोल मेजों पर सुन्दर ढंग से प्रदर्शित किये गये थे और इनसे यह प्रतीत होता था कि सभी प्राचीन और नवीन विषयों से सम्बद्ध पत्रिकायें छात्रों के अध्ययन के लिए यहाँ मंगाई जाती हैं। एक अलमारी में गुरुकुल काँगड़ी द्वारा प्रकाशित प्रकाशन प्रदर्शित किये थे। इनका एक पूरा सेट, सत्यार्थ प्रकाश और पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी के ग्रन्थों सहित महामहिम को भेंट किया गया।

पुस्तकालय-भवन में ही वायसराय ने रसायन एवं भौतिक शास्त्र की प्रयोगशालाओं में छात्रों को नाना प्रकार के वैज्ञानिक परीक्षण करते हुए देखा। कुछ देर देखने के बाद उन्होंने यह कहा कि "आपके पास शिक्षा-सम्बन्धी नवीनतम उपकरण-सामग्री है, किन्तु मैं यहाँ अतिसूक्ष्म भार नापने वाली रासायनिक तुलाओं को कहीं नहीं देख रहा हूँ।" इसपर उन्हें यह बताया गया कि ऐसी तुलायें पास के एक छोटे कमरे में पृथक् रूप से रखी गयी हैं। इस तुला-भवन को दिखाने के बाद उन्हें गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक पण्डित विश्वनाथ विद्यालंकार द्वारा रसायनशास्त्र पढ़ाने के व्याख्यान-कक्ष में ले जाया गया और हिन्दी में रसायनशास्त्र की उच्च शिक्षा देने का सफल परीक्षण दिखाया गया। वायसराय को यह बताया गया कि यहाँ विद्यार्थियों को हिन्दी में शिक्षा दी जाती है। किन्तु इसके साथ ही हम उन्हें अंग्रेजी की पाठ्यपुस्तकों और सन्दर्भ-ग्रन्थों का उपयोग करना भी सिखाते हैं। तत्पश्चात् वे छात्रों के अंग्रेजी, संस्कृत-साहित्य, इतिहास, चित्रकला आदि विषयों में शिक्षा देने की पद्धति को बड़ी दिलचस्पी के साथ देखते रहे। चित्रकला की कक्षा में एक ब्रह्मचारी ने तत्काल वायसराय को अपने हाथ से बनाया चित्र प्रस्तुत किया। इसे देखकर महामहिम ने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। छोटे बच्चों की श्रेणियों का निरीक्षण करने के बाद महाविद्यालय की दर्शन और गणित की कक्षाओं का और एक छोटे-से संग्रहालय का भी उन्होंने निरीक्षण किया। यहाँ अनेक प्राणियों के अस्थिपंजर पड़े हुए थे। इन पर वायसराय की यह टिप्पणी थी कि "मैंने इन प्राणियों को जीवित रूप में आस्ट्रेलिया में देखा है।" यहाँ विद्यार्थियों द्वारा बनाये गये टेलीफोन और सूखी बैटरियाँ तथा संग्रहालय के अन्य विलक्षण पदार्थ उन्हें दिखाये गये। इन्हें देखने के बाद जब वे छत पर बाहर आये तो वहाँ से उन्होंने गुरुकुल का एक विहंगम दृश्य देखा। उत्तर दिशा में एक चतुष्कोण में गुरुकुल के अध्यापकों तथा प्राध्यापकों के निवासगृह थे। दूसरी ओर ब्रह्मचारियों का कृषि एवं बागवानी सीखने का प्रयोगात्मक बगीचा था। इसे देखने के बाद जब वायसराय ने डेरी के बारे में जिज्ञासा प्रकट की तो उन्हें बताया गया कि यहाँ

ब्रह्मचारियों को शुद्ध घी-दूध देने के लिए एक बड़ी अच्छी गोशाला स्थापित की गई है। दक्षिण की ओर हिमालय की पर्वतमाला से निकलकर अनेक धाराओं में बँटकर घने जंगलों में बहती हुई गंगा नदी का भव्य दृश्य था। वायसराय ने महात्माजी से पूछा कि आपका निवासस्थान कहाँ है तो उन्होंने एक अकेले खड़े खटुए के पेड़ की ओर इशारा करते हुए बताया कि वहाँ गंगा नदी के तट पर मेरा शान्ति-आश्रम है।

इसके बाद वायसराय के जलपान का आयोजन हुआ; उन्हें भारतीय व्यंजन और तुलसी की चाय प्रस्तुत की गयी। इस अवधि में वायसराय ने इस शिक्षा-संस्था की परीक्षा-पद्धति के बारे में जिज्ञासा प्रकट की। उन्हें यह बताया गया कि गुरुकुल में इस विषय में अमरीकी पद्धति का अनुसरण किया जाता है। वार्षिक परीक्षा में यदि कोई छात्र एक या दो विषयों में अनुत्तीर्ण होता है तो उसे कक्षा से फेल नहीं किया जाता है; किन्तु जिस विषय में वह फेल हुआ है, केवल उसी विषय की दुबारा परीक्षा ली जाती है। परीक्षायें लेने वाले परीक्षक इस विश्वविद्यालय द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। इसके बाद वायसराय को विभिन्न महाविद्यालयों में पढ़ाये जाने वाले पाठ्यक्रम और परीक्षा पास करने के बाद दी जाने वाली उपाधियों का विवरण बताया गया। इसपर महामहिम की यह टिप्पणी थी कि यहाँ आप अपना स्वतन्त्र विश्वविद्यालय बना रहे हैं। इस पर अधिकारियों ने यह उत्तर दिया कि हमारे पास इसके अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं है, क्योंकि हमारे पाठ्य विषय और शिक्षा के लक्ष्य अन्य विश्वविद्यालयों से सर्वथा भिन्न हैं और वहाँ संस्कृत को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता है। अतः हमें यहाँ शिक्षा की समूची व्यवस्था स्वयमेव अन्य विश्वविद्यालयों से पृथक् रूप में करनी पड़ती है।

छात्रों की अध्ययन-विषयक गतिविधियों को दिखाने के बाद उनमें शारीरिक विकास के लिए गुरुकुल की ओर से की गयी व्यवस्था को प्रदर्शित करने के लिए उन्हें संस्था के क्रीडांगण में ले जाया गया। इस समय तक वायसराय की पत्नी काफी थक चुकी थीं, अतः उन्हें खेल के मैदान तक डांडी में ले जाया गया। यहाँ एक ओर ब्रह्मचारी गतका फरी चलाना सीख रहे थे, दूसरी ओर मैदान में नंगे पैर फुटबाल और हाकी खेल रहे थे। इससे वायसराय कुछ स्तब्ध रह गये। उन्होंने कहा कि "मैं तो नंगे पैर फुटबाल नहीं खेल सकता। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि बगैर जूता पहने ब्रह्मचारी कितनी जोर से किक लगा रहे हैं! हाकी में भी उनका खेल विलक्षण प्रतीत होता है और वे किसी भी अच्छी हाकी टीम का मुकाबला कर सकते हैं!"

अब वायसराय का संस्था से विदा होने का समय आ गया था। उन्होंने गुरुकुल से चलते समय कहा कि "मैं ब्रह्मचारियों का स्वास्थ्य देखकर बड़ा प्रभावित हुआ हूँ। मुझे इस विषय में कोई कमी नहीं प्रतीत होती है। मुझे स्मरण है कि जब कभी मैं स्कूलों के निरीक्षण के लिए जाया करता था तो वहाँ बच्चों को आधे दिन की छुट्टी देने की घोषणा किया करता था। मैं समझता हूँ कि यहाँ वायसराय के रूप में मैं आपको यह आदेश दे सकता हूँ कि आप छात्रों को अवकाश दें।" इस पर गुरुकुल के अधिकारियों ने उनकी ओर से अगले पूरे दिन के लिए अवकाश की घोषणा कर दी। इस पर वायसराय ने परिहास में कहा कि "यद्यपि आपने (आधे की बजाय पूरे दिन का अवकाश देकर) आदेश का उल्लंघन किया है, फिर भी मैं आपको इसका कोई कठोर दण्ड नहीं दूँगा।" चलते समय वायसराय ने यह टिप्पणी की कि इस संस्था में आकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और

वे इसे वे कभी नहीं भूलेंगे।

वायसराय की इस यात्रा ने गुरुकुल के बारे में सभी प्रकार के सरकारी सन्देहों को समूलोन्मूलन किया। इस अवसर पर भारत सरकार के सर्वोच्च अधिकारी द्वारा इस संस्था का इतना व्यापक और सूक्ष्म निरीक्षण किया गया था कि गुरुकुल की प्रवृत्तियों तथा गतिविधियों की कोई भी वस्तु सरकार की तीव्र दृष्टि से छिपी नहीं रही। गुप्तचर-विभाग ने गुरुकुल में जिन क्रान्तिकारी गतिविधियों का और आपत्तिजनक सामग्री का उल्लेख किया था, वह उच्च अधिकारियों को कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुई। उन्होंने स्वयमेव इस संस्था को देखकर राजद्रोह-विषयक सन्देह दूर कर लिये। इसके साथ ही गुरुकुल के पुस्तकालय, संग्रहालय, रसायन-शास्त्र और भौतिक-शास्त्र की प्रयोगशालाओं को तथा हिन्दी माध्यम से शिक्षा देने के विलक्षण कार्य को देखकर ब्रिटिश अधिकारियों को इस बात का पूरा निश्चय हो गया कि यह संस्था शिक्षा-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण परीक्षणों और प्रयोगों में लगी हुई है और यहाँ पश्चिम और पूर्व के ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा दी जाती है। मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने के परीक्षण का भी अधिकारियों पर गहरा प्रभाव पड़ा। वायसराय की पत्नी को यहाँ यह देखकर प्रसन्नता हुई कि बड़े भवनों पर पैसा बर्बाद नहीं किया जा रहा है, अपितु उसका सदुपयोग पुस्तकालय, प्रयोगशालाओं और प्रशिक्षण-कार्य पर किया जा रहा है। ब्रिटिश सरकार के उच्चत्तम अधिकारी की इस यात्रा से यह भी स्पष्ट हो गया कि अब सरकार गुरुकुल तथा आर्यसमाज को सन्देह की दृष्टि से नहीं देखती है। इस प्रकार गुरुकुल पर सरकारी कोप के जो काले बादल पिछले १० वर्षों से छाये हुए थे वे छिन्न-भिन्न हो गये और गुरुकुल प्रगति-पथ पर तेजी से अग्रसर होने लगा।

इस विषय में श्री पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने यह ठीक ही लिखा है कि—"एक ऐसी संस्था में, जिसकी राजद्रोहियों में गिनती थी, वायसराय का आना और उस संस्था की प्रशंसा करना एक बहुत बड़ी राजनैतिक छलाँग थी, जिसने लोगों को आश्चर्य में डाल दिया। आर्यसमाज के भक्तों तथा गुरुकुल-प्रेमियों का आश्चर्य सन्तोषमिश्रित था। उन्होंने इस घटना का स्वागत किया क्योंकि इससे एक विकट गुत्थी सुलझ गई और संस्था पर जो काले बादल छा रहे थे वे कम-से-कम उस समय उड़ गये।"[1]

सरकारी अधिकारियों, लेफ्टिनैंट गवर्नर और वायसराय को गुरुकुल में लाने और सन्देह का वातावरण दूर करने में दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रयूज़ की भूमिका अति महत्त्वपूर्ण है।[2] ये लाला मुन्शीराम के घनिष्ठ मित्र थे; प्रायः गुरुकुल आया करते थे और स्वयं इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि गुरुकुल के बारे में किस तरह की अफवाहें उड़ाई जा रही हैं और झूठी रिपोर्टें दी जा रही हैं। वे दिल्ली में सेंट स्टीफन्स कॉलिज में पढ़ाते थे। उनका उच्च सरकारी अधिकारियों से अच्छा परिचय था, अतः उन्होंने गुरुकुल-वासियों तथा सरकारी अधिकारियों में उपर्युक्त सेतुबन्ध का कार्य किया। दोनों का एक-दूसरे के साथ सम्पर्क स्थापित किया। सरकारी अधिकारियों की गुरुकुल-यात्राओं का आयोजन किया गया और इससे गुरुकुल तथा आर्यसमाज के प्रति सरकारी सन्देह दूर

---

१. इन्द्र विद्यावाचस्पति—मेरे पिता

२. चतुर्वेदी—पूर्वोक्त पुस्तक

होने में बहुमूल्य सहायता मिली।

किन्तु तत्कालीन क्रान्तिकारियों को वायसराय की गुरुकुल-यात्रा बड़ी नागवार प्रतीत हुई। उनका यह विचार था कि इससे गुरुकुल का स्वतन्त्र राष्ट्रीय रूप और भविष्य संकटापन्न हो गया है। सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी नेता लाला हरदयाल ने इस समय दीनबन्धु के बार-बार गुरुकुल आने-जाने और वायसराय की गुरुकुल-यात्रा पर एक कटु टिप्पणी करते हुए कहा था—"दिल्ली के कबूतर(सी० एफ० एण्ड्रयूज)के बार-बार गुरुकुल जाने का समाचार जब हमें मिला था, तभी हम समझ गये थे कि गुरुकुल पर कोई मुसीबत आने वाली है। हमारी आशंका सत्य सिद्ध हुई है।" संभवतः इस समय गुरुकुल में उच्च अधिकारियों के आने का एक प्रयोजन यह भी था कि गुरुकुल को सरकारी सहायता की सुनहरी जंजीरों में जकड़ लिया जाय। उस समय यदि गुरुकुल ने सरकारी अनुदान के लिए रंचमात्र भी इच्छा प्रकट की होती तो उसे यह सहायता अनायास और पुष्कल मात्रा में मिल जाती। इससे सरकार इस संस्था पर अपना पूरा नियन्त्रण स्थापित कर लेती। किन्तु महात्मा जी अपने आदर्श पर दृढ़ रहे। वे केवल गुरुकुल के बारे में राजद्रोह की भ्रान्तियों का ही निवारण करना चाहते थे, सरकार से कोई अन्य लाभ नहीं उठाना चाहते थे। इस विषय में लाला हरदयाल जैसे क्रान्तिकारी के सन्देहों को निर्मूल सिद्ध करते हुए उन्होंने 'सद्धर्म प्रचारक' में लिखा था—"गुरुकुल अपने जन्म से अबतक नौकरशाही के जाल से बचा हुआ अपना काम करता आया है। इसके संचालकों को क्या-क्या प्रलोभन नहीं दिये गये! जिन सुनहरी जंजीरों को जातीयता का अभिमान करने वाले शिक्षणालयों ने बड़ी खुशी से वहन किया, मन लुभाने वाली वे जंजीरें न जाने कितनी बार उनके सामने पेश की गईं। परमेश्वर ने उसको ऐसी दासता से बचने की बुद्धि दी।" इस प्रकार गुरुकुल की स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए महात्मा मुन्शीराम ने आर्यसमाज को भी राजद्रोह के सन्देहों से मुक्त करने में सफलता प्राप्त की और आर्यसमाज अपने प्रचार-कार्य को अधिक सफलतापूर्ण सम्पन्न करने लगा।

(११) नीति-परिवर्तन के कारण

वायसराय का गुरुकुल में आगमन गुरुकुल और ब्रिटिश सरकार की एक-दूसरे के प्रति अब तक बरती जाने वाली नीति में मौलिक परिवर्तन का द्योतक था। दस वर्ष पहले दोनों एक-दूसरे से बहुत दूर तथा कट्टर विरोधी समझे जाते थे। १९०६-७ में इस बात की कभी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी कि उनमें कभी इस प्रकार के घनिष्ठ सम्बन्ध विकसित हो सकते हैं। गुरुकुल काँगड़ी वालों का रुख शुरू से ही सरकार की उपेक्षा करना था। उन्होंने अपनी संस्था का सरकार से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं रखा था और सरकारी अधिकारियों से दूर रहने की नीति अपनायी थी। उनके पाठ्यक्रम सरकारी शिक्षा-संस्थाओं के पाठ्यक्रमों से सर्वथा भिन्न थे। सर जेम्स मेस्टन और लार्ड चेम्सफोर्ड की यात्राओं में इस नीति के सर्वथा विपरीत उनका भव्य स्वागत किया गया, उन्हें अभिनन्दनपत्र समर्पित किये गये। श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति ने इस महान् अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"कहाँ तो गुरुकुल वालों का यह रुख था कि वे किसी सरकारी अफसर से बात नहीं करते थे और कहाँ यह हालत कि अफसर पर अफसर चले आ रहे हैं और प्रसन्न होकर चले जाते हैं! उनकी आवभगत होती है—

उन्हें आलू के पकौड़ों के साथ तुलसी की चाय पिलायी जाती है और संस्कृत में अभिनन्दन-पत्र पेश किये जाते है। ये यात्रायें गुरुकुल के अधिकारियों में क्रांतिकारी मानसिक परिवर्तन को प्रकट करती हैं।"[1]

दूसरी ओर सरकार के व्यवहार में भी बड़ा आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ। संयुक्त प्रान्त की सरकार गुरुकुल को सब प्रकार की क्रांतिकारी गतिविधियों का प्रमुख अड्डा समझती थी। पहले बताया जा चुका है कि गुप्तचर विभाग के पुलिस अधीक्षक श्री सैण्ड्स ने आर्यसमाज पर लिखी अपनी पुस्तक के एक पूरे अध्याय में इस संस्था के खतरनाक होने के विस्तृत प्रमाण पेश किये थे और भारत सरकार के पास भी इसे क्रान्तिकारियों का अड्डा समझने की पर्याप्त गुप्त रिपोर्टें थीं। ऐसी संस्था में संयुक्त प्रान्त के और भारत के उच्चतम अधिकारियों का आना एक बड़ी विलक्षण घटना थी, क्योंकि ब्रिटिश सरकार का संचालन प्रायः निम्न स्तर के कर्मचारियों के द्वारा दी गयी रिपोर्टों के आधार पर होता था। किन्तु गुप्तचर विभाग की प्रतिकूल रिपोर्टें होने के बावजूद उच्च अधिकारियों का गुरुकुल आना वस्तुतः विस्मयावह था। इस बारे में इन घटनाओं के साक्षी पण्डित इन्द्र ने ठीक ही लिखा है—"दूसरी ओर सरकार के व्यवहार में भी कुछ कम परिवर्तन नहीं हुआ। कहाँ तो तलाशी की तैयारी हो रही थी और कहाँ राज्य का सबसे बड़ा अधिकारी निःशंक होकर गुरुकुल में घूम रहा था और प्रायः सभी चीजों की मुक्तकंठ से प्रशंसा करता जाता था! ऐसा दृष्टि में आता था कि एक अधिकारी का आगमन उससे बड़े अधिकारी के आगमन की भूमिका मात्र होता था। एक मसखरे के कथनानुसार बस अब इतनी सी कसर रह गयी थी कि महात्मा मुंशीराम इंग्लैण्ड के किंग जार्ज को गुरुकुल आने का निमन्त्रण भेजें। निमन्त्रण तो स्वीकार हो ही जायेगा।"[2]

गुरुकुल के अधिकारियों की मनोवृत्ति में परिवर्तन का प्रधान कारण महात्मा मुन्शीराम का विलक्षण मानसिक परिवर्तन था। वे अंग्रेजों की किसी प्रकार की खुशामद करना जरा भी पसन्द नहीं करते थे। उन्होंने गुरुकुल को सरकारी नियन्त्रण से सर्वथा स्वतन्त्र संस्था बनाया था। अंग्रेजी सरकार से उसका कुछ लेना-देना नहीं था और खुशामद करना गुरुकुल के अधिकारियों, विशेषतः महात्मा मुंशीराम के स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल बात थी। इन कारणों से लगभग एक दशाब्दी तक गुरुकुल के सम्बन्ध में महात्मा मुंशीराम ने सरकार के प्रति सर्वथा उदासीनता का भाव रखा। न तो गुरुकुल में सरकार की खुशामद सिखायी जाती थी और न ही राजद्रोह का प्रचार होता था। "विशाल हाथी की तरह गुरुकुल अपने निर्दिष्ट मार्ग पर चला जा रहा था। न दायें देखता था, न बायें। इसी बीच में देश का वातावरण राजनैतिक दृष्टि से विक्षुब्ध हो गया। संसार-भर के विदेशी शासनों की यह विशेषता होती है कि उनका मन चोर की तरह सन्देहशील हो जाता है। उन दिनों भारत सरकार बेतरह सन्देहशील हो गयी थी। पेड़ से पत्ता गिरता था तो सरकार को बम की आहट मालूम होती थी। ऐसे समय में गुरुकुल का उपेक्षाभाव सरकार को गुप्त राजद्रोह के रूप में दिखायी दिया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।"

"महात्मा मुंशाराम ने इस परिस्थिति को भाँप लिया। उन्हें प्रतीत हो गया

---

१. इन्द्र विद्यावाचस्पति—मेरे पिता, दिल्ली, पृ० १४६-४७

२. इन्द्र विद्यावाचस्पति—मेरे पिता, पृ० १४७

कि मानसिक निर्बलता और झूठी रिपोर्टों के आधार पर सरकार के अधिकारी व्यर्थ में ही गुरुकुल पर सन्देह करने लगे हैं। इससे गुरुकुल को क्षति पहुँच सकती है। गुरुकुल की रक्षा को वे अपना धर्म समझते थे। उन्होंने निश्चय कर लिया कि गुरुकुल की रक्षा के लिए अधिकारियों के मन में से निराधार सन्देह की भावना को निकाल फेंकना अत्यन्त आवश्यक है। अधूरापन उनकी तबीयत में नहीं था। कोई कार्य वे आधे दिल से नहीं करते थे। जब उन्होंने निश्चय कर लिया कि अधिकारियों के मन में से गुरुकुल के प्रति सन्देह को दूर करना है तो फिर वह बिजनौर के कलेक्टर तक रुकने वाले नहीं थे। कलेक्टर से कमिश्नर, कमिश्नर से गवर्नर और गवर्नर से वायसराय तक पहुँचने में अधिक देर नहीं लगी। परिणाम यह हुआ कि जिस गुरुकुल पर ताले लगाने के लिए वारंटों पर हस्ताक्षर हो चुके थे, उसे देखने आकर सब अधिकारियों ने उसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की।"[1]

स्वामी जी द्वारा उपर्युक्त निश्चय इतनी शीघ्रता से किया गया था कि उनके सहयोगी और साथी इसे समझने में उस समय सर्वथा असमर्थ रहे और उन्हें स्वामी जी का यह निर्णय बड़ा अटपटा-सा लगा। इसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए उनके पुत्र पण्डित इन्द्र ने लिखा है कि—"कुछ लोग मस्तिष्क से सोचते और निश्चय करते हैं, उन्हें बुद्धिवादी कहा जाता है। कुछ लोग हृदय से अनुभव करते हैं और अनुभूति के आधार पर ही इतिकर्तव्यता का निश्चय करते हैं। वे भावुकता-प्रधान समझे जाते हैं। पिता जी उन व्यक्तियों में से थे जो निश्चय का अवसर आने से पूर्व और निश्चय हो जाने के पश्चात् मस्तिष्क का पूरा उपयोग करते हैं; परन्तु निश्चय मस्तिष्क से नहीं करते, अपितु हृदय से करते हैं जिसका दूसरा नाम अन्तरात्मा है। ऐसे महानुभाव विवेचन के लिए तर्क का प्रयोग करते हैं, परन्तु निश्चय के लिए केवल श्रद्धा को पथ-पदर्शक मानते हैं। साधारण व्यक्ति ऐसे लोगों को पूरी तरह समझने में अपने-आपको सर्वथ असमर्थ पाते हैं। साधारण व्यक्ति सोचता है कि इस भलेमानस को चिरकाल की विचार-परम्परा के अनुसार ही तो किसी निश्चय पर पहुँचना था। परन्तु उसे क्या मालूम वह भलामानस एकदम श्रद्धा के विमान पर आरूढ़ होकर कहीं का कहीं पहुँच गया है। पिताजी ने संन्यास लेने के समय यही घोषणा की थी कि मैंने अपने जीवन के सब निर्णय केवल श्रद्धा के आधार पर किये हैं। इसी कारण मैं अपना नाम श्रद्धानन्द रखता हूँ।"[2]

श्रद्धा की इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से स्वामी जी के मन में ब्रिटिश सरकार के प्रति नीति में परिवर्तन हुआ और उदासीनता की पुरानी परम्परागत नीति को तिलांजलि दे दी गयी। दूसरी ओर सरकार के रुख में परिवर्तन आने के कई कारण थे। पहला कारण महात्मा मुन्शीराम द्वारा सरकारी अधिकारियों से वैयक्तिक सम्पर्क स्थापित करना था। बिजनौर के कलेक्टर फोर्ड से मिलने के बाद वे कमिश्नर और लेफ्टिनेण्ट-गवर्नर सर जेम्स मेस्टन से मिले और तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिंग से भी दो बार भेंट की। स्वामी जी का व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था। उच्च अधिकारियों पर उनकी बातचीत और व्यक्तित्व का अनुकूल प्रभाव हुआ। "उनकी विशाल मूर्ति, खुली तबीयत

---

१. वही पुस्तक, पृष्ठ १५०-५१

२. वही पुस्तक, पृष्ठ १४९

और आदर्श प्रेम के साथ-साथ विरोध या कड़वेपन के सर्वथा अभाव को अनुभव करके अधिकारियों ने यह मानने में देर न लगायी कि गुरुकुल पर और उनके मुख्याधिष्ठाता पर सन्देह करना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त सरकार इस समय कुछ आर्थिक प्रलोभन देकर भी गुरुकुल को अपने नियन्त्रण में लाना चाहती थी। इस विषय में उस समय गुरुकुल में काम करने वाले तथा इन घटनाओं के प्रत्यक्ष साक्षी पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति ने लिखा है—

"मेरी कल्पना है कि उन लोगों (सरकारी अधिकारियों) ने और आगे बढ़कर गुरुकुल को अपने असर में लेने का संकल्प किया। उन्होंने सोचा होगा कि जो व्यक्ति हमसे इतनी अच्छी तरह मिलता है और जिसके हृदय में अंग्रेज जाति के प्रति अणुमात्र भी कटुता नहीं है, उसे यह समझा लेना क्या कठिन है कि सरकार का सहयोग प्राप्त करने से गुरुकुल को लाभ ही होगा! सम्भव है अत्यन्त सद्भावना से प्रेरित होकर ही अधिकारियों ने ऐसा विचार किया हो। परन्तु यह असंदिग्ध है कि एक समय ऐसा आ गया था जब सरकार गुरुकुल को बहुत-सी आर्थिक सहायता देने के अतिरिक्त गुरुकुल विश्वविद्यालय को चार्टर-प्राप्त यूनिवर्सिटी मानने को तैयार हो गयी थी। इस सम्बन्ध में काफी स्पष्टता से एक बहुत ऊँचे अधिकारी ने पिता जी को इशारा भी दिया था। जिस तीव्र उत्सुकता से सरकार ने गुरुकुल की ओर हाथ बढ़ाया, उसका एक मुख्य कारण सरकार की यह भावना अवश्य प्रतीत होती थी कि गुरुकुल का और सरकार का स्थिर गठजोड़ हो जाय।"[1]

"सरकार को इसमें सफलता नहीं हुई। उसका कारण यह था कि जिसे उन्होंने केवल बर्फ की तह समझा था, उसके नीचे कठोर चट्टान थी। पिताजी की सामाजिकता और सरलता के पीछे दृढ़ विश्वास की जो दीवार थी उसे ऊँचे अधिकारी तब तक नहीं समझ सके, जब तक पिताजी ने सरकार द्वारा पेश किये हुए दोनों उपहारों को ग्रहण करने से कोरा इनकार नहीं कर दिया। बुद्धि और श्रद्धा दोनों के सहारे पर चलने वाले व्यक्तियों के स्वभाव की यह विशेषता होती है कि वे गौण बातों में समझौते के लिए जिस शीघ्रता से तैयार हो जाते हैं, मुख्य सिद्धान्त के विषय में उससे भी अधिक शीघ्रता से समझौता करने से सर्वथा इनकार कर देते हैं। जो लोग गम्भीर दृष्टि से इसमें मनोवैज्ञानिक कारणों पर विचार नहीं करते, वे प्रायः उन व्यक्तियों को 'अस्थिर, परिवर्तन-शील, दुर्बोध' आदि शब्दों से विशेषित करने लगते हैं। वस्तुतः बात यह होती है कि सिद्धान्तवादी मनुष्य गौण और मुख्य में भेद करना जानते हैं। गौण में समझौता करने में सदा उद्यत रहते हैं, किन्तु मुख्य सिद्धान्त को आँच नहीं आने देते हैं। पिताजी ने सरकार के हाथ में हाथ तबतक रहने दिया, जब तक उन्होंने यह अनुभव नहीं किया कि गुरुकुल की अन्तरात्मा पर आघात नहीं पहुँच सकता है। ज्यों ही उन्होंने ऐसी सम्भावना का अनुभव किया, त्यों ही अपना हाथ खींच लिया; उपहार लेने से इन्कार कर दिया और इस आशंका से कि निरन्तर सम्पर्क से कभी परिस्थिति अधिक न उलझ जाय, (सरकारी अधिकारियों के) निमन्त्रणों का क्रम भी वहीं समाप्त कर दिया। लार्ड चेम्सफोर्ड के गुरु-कुल-आगमन के साथ अधिकारियों के आगमन का तांता समाप्त हो गया।"[2]

---

१. मेरे पिता, पृष्ठ १५२-५३

२. वही पुस्तक, पृष्ठ १५३-५४

गुरुकुल के विषय में सरकारी सन्देह दूर होने का एक अन्य बड़ा कारण इस समय भारत सरकार की आर्यसमाज के प्रति नीति में एक बड़ा परिवर्तन आना था। अन्यत्र यह विस्तार से बताया जा चुका है कि आर्यसमाज के सम्बन्ध में १९१२ ई० में सरकार ने एक बड़ा महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया था। यह संयुक्त प्रान्त की सरकार के गुप्तचर विभाग द्वारा संकलित रिपोर्टों के आधार पर श्री सैण्ड्स द्वारा लिखी गयी पुस्तक 'संयुक्त प्रान्त में आर्यसमाज' (Aryasamaj in the United Provinces) के बारे में था। इस पुस्तक में दिये गये तथ्यों पर सब दृष्टियों से विचार करने के सरकार ने यह निर्णय किया था कि आर्यसमाज को सामूहिक रूप से अवैध संस्था घोषित करने की नीति ठीक नहीं है। विभिन्न प्रान्तों के गवर्नरों को आर्यसमाजों के प्रमुख नेताओं से सम्पर्क स्थापित करना चाहिए और उनके माध्यम से आर्यसमाज की राजद्रोही गतिविधियों पर अंकुश लगाया जाना चाहिए।[1] उत्तर प्रदेश में सर जेम्स मेस्टन ने और पंजाब में सर माइकेल ओडवायर ने इस नीति के अनुसार आर्यसमाज की प्रमुख संस्थाओं में जाने और आर्य नेताओं से मिलने-जुलने का कार्यक्रम शुरू किया और आर्यसमाज पर राजद्रोही राजनैतिक संस्था होने का सन्देह करने वाली पुरानी नीति में मौलिक परिवर्तन हो गया। इस कारण गुरुकुल के प्रति भी सरकारी नीति पूर्ण रूप से बदल गयी।

(१२) गुरुकुल काँगड़ी के छात्रों में राष्ट्रीय भावना

जब सरकारी अधिकारी गुरुकुल काँगड़ी पर सन्देह करने लगे और गुप्तचर इसके विषय में भीषण रिपोर्ट देने लगे, उस समय महात्मा मुंशीराम ने गुरुकुल की रक्षा के लिए विशेष प्रयास किये। सरकारी अधिकारियों, विशेष रूप से संयुक्त प्रांत के गवर्नर सर जेम्स मेस्टन और वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड को संस्था में आमन्त्रित किया गया और भव्य स्वागत एवं मानपत्र देकर इस बात को प्रदर्शित किया गया कि गुरुकुल एक राजभक्त संस्था है। किन्तु इस समय भी वहाँ विद्यार्थियों में प्रबल राष्ट्रीय भावना बनी हुई थी। इसका एक सुन्दर चित्र गुरुकुल काँगड़ी में उन दिनों (१९११-१७ ई० तक) शिक्षा प्राप्त करने वाले सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी यशपाल ने अपनी आत्मकथा 'सिंहावलोकन' में बड़े सुन्दर शब्दों में प्रस्तुत किया है—

"बचपन में मैं स्वयं लगभग सात वर्ष गुरुकुल में रहा हूँ। मुझे याद है कि गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के संस्थापक महात्मा मुंशीराम जी जो बाद में संन्यास ग्रहण करने पर स्वामी श्रद्धानन्द कहलाने लगे थे, गवर्नरों और वायसराय को गुरुकुल में आमन्त्रित करके उनका प्रेमपूर्वक सत्कार करने का पाखण्ड करते रहते थे। जब दिल्ली में लार्ड हार्डिंग पर बम फेंका गया और वायसराय बाल-बाल बच गये तो गुरुकुल में ईश्वर की इस कृपा पर धन्यवाद देने के लिए एक सभा की गयी थी। लार्ड और लेडी हार्डिंग के चित्र विद्यार्थियों को बाँटे गये थे। उनके दीर्घजीवन के लिए ईश्वर से प्रार्थना की गयी थी। पाखण्ड शब्द का उपयोग मैंने इसलिए किया है कि वास्तव में गुरुकुल काँगड़ी के वातावरण में अंग्रेज और विदेशी शासन के प्रति उत्कट घृणा थी। विदेशी शासन के

---

१. होम पोलि० डिपाजिट प्रोसीडिंग्स, एप्रिल १९१२, सं० ४, पृष्ठ ३-४, जे० एल० जे० एनकिन्स की टिप्पणी।

प्रति वहाँ परवशता का भाव था, प्रेम का नहीं।"[1]

उस समय गुरुकुल में ब्रिटिश-विरोधी भावना इतनी अधिक प्रबल थी कि गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को यह विश्वास था कि वे अंग्रेजों को अपने देश से जल्दी ही मार भगाने में और स्वतन्त्र बनाने में समर्थ होंगे। वे न केवल भारत को स्वाधीन बनायेंगे, अपितु इंग्लैण्ड पर भी अपना शासन स्थापित करेंगे और उनमें वैदिक धर्म का प्रचार करके उन्हें भारतीय विधि-विधान के अनुसार उपासना करने की पद्धति सिखाने में समर्थ होंगे। इस विषय में गुरुकुल के एक तत्कालीन छात्र के कुछ रोचक प्रसंग निम्नलिखित हैं—

"मुझे सबसे उग्र स्मृति है गुरुकुल के वातावरण में अंग्रेज तथा विदेशी शासन से विरोधी भावना की। उस उम्र में ही जाने किस प्रेरणा से हम लोगों (गुरुकुल के विद्यार्थियों) को यह दृढ़ विश्वास था कि हम अंग्रेजों को अपने देश से मार भगायेंगे।

"अंग्रेजों को मार भगाने के कार्यक्रम की कोई रूपरेखा हमारे दिमाग में नहीं थी। हमारी कल्पना में यह बात जीवन का वैसा ही निश्चित क्रम थी जैसे हमारे शरीर का बढ़कर युवा हो जाना। इतना ही नहीं, यह भी कल्पना थी कि भारतवासी एक दिन इंग्लैण्ड में जाकर शासन करेंगे। अल्हड़पन की ऐसी कल्पनाओं का आधार गुरुकुल में दी जाने वाली शिक्षा का यह तत्त्व था कि संसार के सम्पूर्ण ज्ञान का मूल वेद है। वेदों का गायन करने वाले भारत के आर्यों से श्रेष्ठ संसार के किसी देश की कोई जाति नहीं हो सकती। अतीत काल में सम्पूर्ण संसार पर आर्यों का राज्य था। वैदिक धर्म में शिथिलता आ जाने के कारण आर्यों का पतन हो गया। इसी कारण इस देश में मुसलमानों का और फिर अंग्रेजों का राज्य हो गया। परन्तु आर्य लोग शीघ्र ही उन्नति करके संसार पर फिर अपना साम्राज्य कायम कर लेंगे। हमारी दृष्टि में वेदों के उद्धार का उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति के साथ-साथ अपनी सूझबूझ के अनुसार राजनैतिक भी था। उस आयु में आध्यात्मिक लक्ष्य क्या समझ में आता? अपने शत्रु अंग्रेजों से लड़ने की बात जरूर समझ में आती थी और आध्यात्मिक भावना जीवन की परिस्थितियों से स्वतन्त्र भी नहीं हो सकती है।

"इस भावना की और बचकाने दिमाग की एक अत्यन्त अल्हड़ और निरर्थक कल्पना की स्मृति अब तक खूब स्पष्ट है। हम लोगों को प्रातः-सायं नियम से सन्ध्या और हवन कराने के लिए पंक्तियों में या वृत्ताकार बैठा दिया जाता था। सन्ध्या पालथी मारे आँखें मूँदे उच्च स्वर से मन्त्रोच्चारण द्वारा होती थी, तब वैदिक मन्त्रों का अर्थ तो जानते नहीं थे। केवल तोते की तरह रटने का ही पुण्य होता था···यह तोतारटन्त सन्ध्या करते समय मन बालसुलभ कल्पनाओं में खेलता रहता। प्रायः अंग्रेजों के विरुद्ध बातें करते रहने के कारण मैं आँखें मूँदे-मूँदे कल्पना में देखा करता कि इंग्लैण्ड में आर्यों का राज्य हो गया है। उस समय की कल्पना में इंग्लैण्ड कुछ-कुछ गुरुकुल के वातावरण जैसा ही दिखाई देता था। कल्पना में देखता कि अंग्रेजों को धोती-कुर्ता पहनना पड़ रहा है। अंग्रेज ब्रह्मचारी चुटिया में गाँठ लगाये, जनेऊ और खड़ाऊँ पहने घूम रहे हैं और मैं उनका अधिष्ठाता बन गया हूँ। इस कल्पना की विशेष असंगत बात यह थी कि अंग्रेजों को तो मैं कुर्ता-धोती में देखता और स्वयं को कोट-पतलून में। इस अद्भुत कल्पना का

---

१. यशपाल— सिंहावलोकन भाग-१, इलाहाबाद, १९७८ ई०, पृष्ठ ३०

विश्लेषण यही हो सकता है कि प्रभुता और शक्ति-सम्पन्न अंग्रेजों की पोशाक के प्रति आदर होने से उसे अपनाने की इच्छा और साथ ही दासता की प्रतिहिंसा में अंग्रेजों से अपना अनुसरण कराने की भी इच्छा।

"इस कम उम्र में हम विदेशी शासन के विरुद्ध किस प्रकार की राजनैतिक बातें किया करते थे, उसका भी एक उदाहरण याद है। प्रथम महायुद्ध के दिन थे। सन्ध्या-भोजन के बाद कुछ दूर टहलने जाने का नियम था। गर्मियों या बरसात में रात के समय पठन-पाठन नहीं हो सकता था। इस मौसम में सन्ध्या के भोजन के बाद की सैर काफी लम्बी हो जाती थी। एक दिन इसी प्रकार की सैर के समय अपने किसी सहपाठी से बातचीत करता हुआ मैं युद्ध में जर्मनी से अंग्रेजों की पराजय की कामना कर रहा था। पीछे से सहसा कन्धे पर हाथ आ पड़ा। घूमकर देखा—आचार्य रामदेव थे। महात्मा मुंशीराम जी के संन्यास ले लेने के बाद रामदेव जी ही गुरुकुल विश्वविद्यालय के प्रिंसिपल या आचार्य बने थे। आर्यसमाज की गुरुकुल पार्टी के क्षेत्र में वे बहुत ही बड़े नेता रहे हैं। उनकी लिखी हुई पुस्तक 'आर्य सभ्यता का इतिहास' हमें गुरुकुल में पढ़ाई जाती थी। पाँचवीं कक्षा में उस पुस्तक को समझ पाना कठिन था, परन्तु उससे इतना अवश्य समझ में आता था कि हमारे पूर्वज आर्य लोग दिग्विजयी थे। उनके पास हवाई जहाज आदि सभी वैज्ञानिक साधन थे। वेदों के अधिकारी समाज का दिग्विजयी होना अनिवार्य है।

"आचार्य जी का हाथ अपने कन्धे पर देख सकपका गया। परन्तु उन्होंने मेरा उत्साह बढ़ाते हुए प्रश्न किया—'क्यों तुम चाहते हो कि जर्मनी जीत जाय ?'

'अंग्रेजों के हार जाने पर हमारा देश स्वतन्त्र हो जायेगा।'

'अंग्रेजों के हार जाने से ही हिन्दुस्तान का स्वतन्त्र हो जाना आवश्यक नहीं। यहाँ जर्मनी का राज्य हो जायेगा। जर्मन लोग अंग्रेजों की अपेक्षा अधिक कड़ा और अनुदार शासन करेंगे।' आचार्य जी ने समझाया।

'यदि जर्मन लोग अधिक दमन करेंगे तो हमारा देश उनसे लड़ने के लिए तैयार हो जायेगा। अधिक दमन होने से क्रान्ति हो जायेगी।' मैंने उस समय के ज्ञान के अनुसार कहा।

'नहीं, यह आवश्यक नहीं कि दमन से क्रान्ति हो जाय। नादिरशाह और औरंगजेब ने कितना दमन और अन्याय किया था, उससे तो क्रान्ति नहीं हुई। बिना समझे-बूझे ऐसी बातें नहीं करनी चाहिएँ। तुम्हें अभी पढ़ना-लिखना और समझना चाहिए।' आचार्य जी ने समझाया, परन्तु अंग्रेज-विरोधी भावना के लिए मुझे धमकाया नहीं। उस काल में इस प्रकार की बातचीत यदि लाहौर के किसी स्कूल अथवा सरकारी यूनिवर्सिटियों से सम्बद्ध किसी संस्था का कोई विद्यार्थी करता तो परिणाम काफी सख्त हो सकता था।"[1]

इस अवतरण से यह स्पष्ट है कि उस समय गुरुकुल के अधिकारी संस्था के हित की दृष्टि से भले ही ब्रिटिश अधिकारियों को अपनी संस्था में बुलाकर सम्मानित करते हों, किन्तु छात्रों में ब्रिटिश शासन का विरोध करने की और उसे समाप्त करने की प्रबल राष्ट्रीय भावना थी। वे प्रथम महासमर में दिल से यह चाहते थे कि अंग्रेज इसमें पराजित

---

१. यशपाल—सिंहावलोकन, १, पृष्ठ ४४-४५

हो जायँ ताकि भारत को स्वतन्त्रता पाने का अवसर मिले। उस समय के अधिकारी छात्रों की इन भावनाओं को खूब अच्छी तरह से समझते थे और वे इन पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाते थे। यही कारण है कि इस समय गुरुकुल में शिक्षा पाने वाले अधिकांश स्नातकों ने बाद में महात्मा गांधी द्वारा छेड़े गये सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा के आन्दोलनों में तथा राष्ट्रीय जागृति के कार्य में बड़ा भाग लिया।

उपर्युक्त घटना अक्टूबर १९१६ ई० में लार्ड चेम्सफोर्ड के गुरुकुल में आने तथा अप्रैल १९१७ ई० में महात्मा मुंशीराम द्वारा संन्यास लेने के बाद की है और इस बात को सूचित करती है कि वायसराय की सरकारी यात्रा का छात्रों की राष्ट्रीय मनोभावनाओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था और वे उस समय भी देशभक्ति और स्वदेशाभिमान के भावों से प्रेरित एवं अनुप्राणित थे।

इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि सरकारी अधिकारियों को बुलाने और उनके साथ सम्पर्क रखने पर भी गुरुकुल के अधिकारियों ने राष्ट्रीय शिक्षा-विषयक अपने मौलिक मन्तव्यों में कोई परिवर्तन नहीं किया। गुरुकुल में सरकारी विश्वविद्यालयों और स्कूलों के लिए तैयार की गयी पाठ्यपुस्तकें नहीं पढ़ाई जाती थीं। इसके दो बड़े कारण थे। पहला तो यह कि गुरुकुल में शिक्षा का माध्यम हिन्दी था और सरकारी स्कूलों तथा महाविद्यालयों में सभी विषय अंग्रेजी के माध्यम से पढ़ाये जाते थे। अतः गुरुकुल ने पाठ्य-पुस्तकों की कमी को पूरा करने के लिए हिन्दी में पहली वैज्ञानिक पुस्तकों का निर्माण किया। दूसरा कारण यह था कि सरकारी विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाने वाली इतिहास की पुस्तकें सरकारी दृष्टिकोण से लिखी गयी होती थीं। उनमें प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति की बहुत ही कम तथा पूर्णरूप से विकृत और गलत जानकारी दी जाती थी। ब्रिटिश इतिहास में अंग्रेजों की गौरव-गाथाओं का बड़े विस्तार से प्रतिपादन होता था और भारतीयों को बदनाम करने के लिए झूठी अनैतिहासिक घटनाओं का प्रतिपादन होता था। इसका सर्वोत्तम उदाहरण सिराजुद्दौला की काल-कोठरी अथवा ब्लैकहोल की घटना है। यह कहा जाता था कि बंगाल के नवाब द्वारा दिये गये आदेश से मई मास की भीषण गर्मी के दिनों में एक छोटी-सी कोठरी में नवाब की सेना ने १४६ अंग्रेजों को बन्द कर दिया, जिनमें से १२३ व्यक्ति अगले दिन भयंकर गर्मी और प्यास से तड़पकर मरे हुए पाये गये। गुरुकुल में इतिहास पढ़ाते समय ऐसी बातों की अनैतिहासिकता पर विशेष रूप से चर्चा की जाती थी। उन दिनों गुरुकुल में अध्ययन करने वाले श्री यशपाल ने लिखा है कि गुरुकुल में कोई व्यक्ति कलकत्ते की ब्लैकहोल की घटना पर विश्वास नहीं करता था और बताया जाता था कि वह प्रपंच भारत में रहने वाले अंग्रेजों ने अपनी सरकार को ब्रिटेन से यहाँ सेना भेजने के लिए प्रेरित करने के लिए गढ़ा था। इसी प्रकार बंगाल के जगत् सेठ उत्तमचन्द्र के (अमीचन्द) के साथ धोखा, नन्दकुमार को फाँसी, चेतसिंह के साथ अन्याय और वारेन हेस्टिंग्ज के अत्याचारों को सही-सही बताने का भी साहस गुरुकुल में किया जाता था। यह भावना गुरुकुल के वातावरण में सदा छाई रहती थी कि गुरुकुल विदेशी सरकार से स्वतन्त्र शिक्षा देता है और अंग्रेज गुरुकुल को सदा शंका और सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। कभी-कभी ऐसी सनसनी भी फैल जाती थी कि कोई जासूस भेद लेने के लिए वेष बदलकर आया था और अमुक जिम्मेदार व्यक्ति ने उसे मार-मारकर भगा दिया।

"गुरुकुल के अधिकारी सरकार के सन्देह के विषय में जरूर सतर्क रहते थे। सरकारी अफसरों, गवर्नरों और वायसराय तक को निमन्त्रित करके वे यह दिखाने की चेष्टा करते रहते थे कि वे राजद्रोही नहीं हैं। इन लोगों के आने पर काफी सजावट प्रकट करने के लिए विद्यार्थियों को पंक्तियों में मार्ग के दोनों ओर खड़ा कर दिया जाता था परन्तु इससे भी विद्यार्थियों के मन में अंग्रेजों के प्रति आदर की कोई भावना कभी उत्पन्न नहीं होती थी। विद्यार्थी इसे अपने अधिकारियों की मजबूरी और नीति ही समझते थे।"[1] इससे यह स्पष्ट है कि गुरुकुल के ब्रह्मचारियों की राष्ट्रीय भावना में सरकारी अधिकारियों के आगमन का कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

---

१. यशपाल—सिंहावलोकन, पृष्ठ ४७-४८

परिशिष्ट

गुरुकुल काँगड़ी में बांधव-समाज तथा क्रान्तिकारी

सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी पाण्डुरंग सदाशिव खानखोजे ने 'गदर की गूँज' नामक पुस्तक की भूमिका में गुरुकुल काँगड़ी में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक द्वारा क्रान्तिकारी कार्य करने वाली एक गुप्त संस्था बांधव-समाज की स्थापना का उल्लेख किया है—"लाल-बाल-पाल ने भारत के स्वातन्त्र्य युद्ध की कल्पना भारतीयों को सिखलाई। 'सभी तरीकों से भारत की स्वाधीनता प्राप्त करना' यह गुरुवर तिलक महाराज का गदरी जवानों के लिए मन्त्र था। रैंड के ऊपर आक्रमण करने वाले वीर चाफेकर के कृत्य का समर्थन करने के कारण लोकमान्य को कड़ी कैद भुगतनी पड़ी। चाफेकरजी के पराक्रम को भारतीय स्वतन्त्रता सम्पादन करने वाली गुप्त संस्था का प्रथम कार्य माना जाना चाहिए। बांधव-समाज की स्थापना किसी गुप्त संस्था के द्वारा युद्ध करके भारत की स्वाधीनता सम्पादन करने के लिए ही हुई थी। उसकी शाखायें महाराष्ट्र, बंगाल और पंजाब में फैली हुई थीं। वर्धा की तरफ से हनुमन्त नायडू, लक्ष्मण शर्मा आदि बांधव लाहौर गये थे। लाहौर में प्राध्यापक पूरनसिंह से उन्होंने बम बनाना सीखा था। लाहौर में तथा गुरुकुल काँगड़ी में भी गुप्त बांधव-समाज स्थापित हुए थे।"[1]

गुरुकुल काँगड़ी के बहुत पुराने स्नातकों से भी पता करने पर इस संस्था की कोई जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकी है। चूँकि यह संस्था सर्वथा गुप्त रूप से काम करती थी, अतः सामान्य व्यक्तियों को इसके कार्यकलापों का पता लगना सम्भव न था। किन्तु अन्य प्रमाणों के अभाव में भी इसे सर्वथा कपोल-कल्पना कहना उचित नहीं प्रतीत होता है क्योंकि खानखोजे बड़े पुराने और विश्वस्त क्रान्तिकारी हैं।[2] उनके उपर्युक्त स्पष्ट कथन की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

---

१. प्रीतमसिंह पंछी—गदर की गूँज, दिल्ली १९७७, पृष्ठ ६

२. डॉ० खानखोजे नागपुर-निवासी थे। जब वे तिलक जी के पास गये तो उन्होंने इस नवयुवक को विदेश जाकर शस्त्रों तथा सैन्य-शास्त्र की शिक्षा प्राप्त करने को कहा। जापान जाकर इन्होंने विस्फोटक द्रव्य बनाने की कला सीखी, इसके बाद अमरीका की सैनिक अकादमी में प्रवेश पाकर युद्ध-कला का ज्ञान प्राप्त किया। पोर्टलैण्ड में काशीराम आदि की सहायता से 'इण्डिया इण्डिपैण्डेन्स लीग' स्थापित की, गदर पार्टी में काम किया। प्रथम विश्व-युद्ध में इन्होंने बिलोचिस्तान में स्वतन्त्र भारत-सरकार की स्थापना की। युद्ध के बाद मिट्टी के रसायन-शास्त्र पर पी-एच० डी० करने के बाद वे मेक्सिको में कृषि-विभाग के निदेशक रहे। (धर्मवीर—लाला हरदयाल, पृष्ठ २०८ तथा २२२)

इस बात की पुष्टि इस बात से भी होती है कि गुरुकुल क्रान्तिकारियों के लिए आकर्षण का केन्द्र था। यहाँ की भौगोलिक परिस्थिति—एकान्त-शान्त निर्जन स्थान, चौमासे में गंगा की बाढ़ से चारों ओर के बाह्य जगत् के सम्पर्क से विच्छिन्न होना, घने जंगल और पहाड़—क्रान्तिकारियों की गुप्त मन्त्रणा के लिए आदर्श स्थान थे। यहाँ वे अपनी कार्यवाही निर्बाध रूप से कर सकते थे। यहाँ के छात्र और अध्यापक देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत थे। अतः यहाँ क्रान्तिकारियों का कार्य सुचारु रूप से चल सकता था। सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी यहाँ आते रहते थे। लाला हरदयाल के बारे में श्री पं० इन्द्र ने लिखा है —"लालाजी गुरुकुल काँगड़ी में कई सप्ताह रहे। ईसाइयत और सरकारी शिक्षा के विरुद्ध उन्होंने जो लेखरूपी बाण छोड़े थे, उनमें से बहुत-से गुरुकुल में ही तैयार किये गये थे। बहुत-से ऐसे राष्ट्रभक्त जो सर्वतोमुखी क्रान्ति के समर्थक थे, गुरुकुल में आकर विश्राम करते थे क्योंकि यहाँ वे अपने-आपको सरकार की दृष्टि से ओझल समझते थे। अतः सरकार का इन कारणों से गुरुकुल पर सन्देह होना सर्वथा स्वाभाविक था।"[1]

इस समय गुरुकुल काँगड़ी में अध्यापन कराने वाले कुछ व्यक्तियों का लाला हरदयाल आदि सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारियों से गुप्त सम्पर्क था। श्री महेशचरण सिन्हा आरम्भिक युग में महाविद्यालय विभाग में पढ़ाया करते थे। उन्होंने हिन्दी में वनस्पति-शास्त्र की सम्भवतः महाविद्यालयों में पढ़ाई जाने वाली पहली पाठ्य-पुस्तकें लिखी थीं। वे संयुक्त राज्य अमरीका से शिक्षा ग्रहण करके आये थे। सम्भवतः वहाँ से अथवा लाला हरदयाल के सम्पर्क से अपने साथ क्रान्तिकारी विचार लाये थे और क्रान्तिकारियों को सहयोग दिया करते थे। इनके बारे में एक घटना का उल्लेख सहारनपुर के सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी चैटर्जी ने किया है। यह अगस्त १९०८ ई० में लाला हरदयाल द्वारा भारत छोड़ने से पहले की है। उस समय विदेश जाने से पहले लालाजी अपने बाद भारत में क्रान्तिकारी कार्य को संगठित करने का गुरुतर उत्तरदायित्व सँभालने से पहले श्री चैटर्जी का परिचय उन सभी व्यक्तियों से करा देना चाहते थे, जो भारत में उनके सहयोगी थे। उस समय इसी दृष्टि से लाला जी ने श्री सिन्हा के नाम एक परिचय-पत्र देते हुए श्री चैटर्जी से कहा कि वे प्रयाग जाकर उनसे मिल लें। इसमें सम्भवतः सिन्हा से चटर्जी को सहायता देने के लिए कहा गया था। इस घटना का वर्णन करते हुए श्री चैटर्जी ने लिखा है—

"भारत छोड़ने से पूर्व लालाजी ने मुझे श्री महेशचरण सिन्हा के नाम से परिचय-पत्र दिया। उन्होंने प्रयाग में लोहे के ट्रंक बनाने की फैक्टरी खोल रखी थी। मैं उनसे मिलना चाहता था। एक दिन प्रयाग की गाड़ी पकड़ी। फैक्टरी के फाटक के बाहर मैं जा बैठा। ख्याल था कि ताराचन्द (चैटर्जी के मित्र) शायद मिल जायँ। दो घण्टे पहरा देने के बाद वे मिल ही तो गये। वे ही मुझे श्री महेशचरण के पास ले गये। उन्होंने लालाजी का पत्र पढ़कर हर प्रकार की सहायता देने का विश्वास दिया। इस सज्जन ने अमरीका के किसी विश्वविद्यालय से एम० एस० की डिग्री प्राप्त की थी। मैं उनके सम्बन्ध में कुछ न जानता था। परन्तु लालाजी के मित्र साधारण व्यक्ति नहीं हो सकते हैं।"

इस विषय में यह स्मरणीय है कि लालाजी से इनका परिचय श्यामजी कृष्ण वर्मा ने करवाया था। लालाजी का आक्सफोर्ड से लिखा हुआ पत्र (२१ जून १९०७ ई०) यही

---

१. इन्द्र विद्यावाचस्पति—आर्यसमाज का इतिहास, द्वितीय भाग, दिल्ली

बताता है—"श्री महेशचरण सिन्हा को मेरा नमस्कार कहिये। मैं व्यक्तिगत रूप से उन्हें नहीं जानता परन्तु आक्सफोर्ड के इस सत्र में कब उनसे परिचय होगा, इस बात की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।" इस पर लाला हरदयाल की महत्त्वपूर्ण जीवनी के लेखक श्री धर्मवीर ने टिप्पणी की है—"उनकी ट्रंक-फैक्टरी के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यह भी वैसी ही थी, जैसा लाहौर में भाई (परमानन्द) जी का औषध-निर्माण का दवाघर। इसके बारे में पंजाब के छोटे लाट सर माइकेल ओडवायर का विचार था कि यहाँ दवाओं की आड़ में बम बनाये जाते हैं। सम्भवतः इसी प्रकार का कार्य इस ट्रंक-फैक्टरी में होता होगा।"[1]

गुरुकुल काँगड़ी में बांधव-समाज जैसे गुप्त क्रान्तिकारी संगठन की पुष्टि १९०८-९ ई० में यहाँ ब्रह्मचारियों को चित्रकला की शिक्षा देने वाले, वेदों के सुप्रसिद्ध विद्वान् पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर की जीवनी से भी होती है। इसे उनसे प्राप्त की गयी सूचनाओं और संस्मरणों के आधार पर श्री क्षितीश वेदालंकार ने लिखा है। इसमें यह बताया गया है कि दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रयूज़ यद्यपि कहने को ऊपर से ब्रह्मचारियों को दिन में अंग्रेजी पढ़ाते थे, पर रात को छिपे-छिपे जब चाहे ब्रह्मचारियों के आश्रम का चक्कर लगाया करते थे। दीनबन्धु गुरुकुल में साल-भर रहे, इस अवधि में उनके सामने ब्रह्मचारियों की कोई राजद्रोहात्मक गतिविधि सामने नहीं आयी। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में सरकार को यह सूचित किया कि गुरुकुल राजनैतिक गतिविधियों से शून्य धार्मिक तथा शिक्षा देने वाली संस्था है।

किन्तु यह स्थिति देर तक नहीं रही। इन्हीं दिनों खुदीराम बोस द्वारा किंग्स-फोर्ड पर मुजफ्फरपुर में बम फैंकने के बाद सरकार द्वारा किये जाने वाले भीषण दमन के बावजूद, देश के विभिन्न भागों में बम बनाने वाले क्रान्तिकारियों के दल फैल गये। इनमें अधिकांश बंगाली नौजवान थे। इनका एक अड्डा हरिद्वार में भी था। इस अड्डे से क्रान्तिकारियों के संकेत और साहित्य ब्रह्मचारियों के पास भी पहुँच गये। गुरुकुल के सब विद्यार्थी नहीं, किन्तु महाविद्यालय के पाँच-दस विद्यार्थी इस दल में शामिल थे और उन तक बम बनाने का समस्त साहित्य पहुँच गया। पुलिस को किसी तरह इस बात का पता लग गया। उसने गुरुकुल पर अचानक छापा मारकर तलाशी लेने का निश्चय किया। किन्तु गुरुकुल के हितैषी एक गुप्तचर ने ब्रह्मचारियों को समय पर इस छापे की सूचना दे दी, अतः ब्रह्मचारियों ने अपने कमरों की सफाई करके समस्त आपत्तिजनक साहित्य जमीन में गाड़ दिया।[2] यह कार्य करने वाले व्यक्ति सम्भवतः बांधव-समाज के ही सदस्य थे। अतः वर्तमान शताब्दी के पहले दशक में गुरुकुल काँगड़ी में क्रान्तिकारी कार्य करने वाली गुप्त संस्था की सभा की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

---

१. धर्मवीर—लाला हरदयाल, पृष्ठ ११३-१४

२. सातवलेकर अभिनन्दन ग्रन्थ, दिल्ली १९६८ ई०, पृष्ठ २७-२८

राजनैतिक संगठन में परिवर्तित नहीं होने देना चाहिए, जिसके उद्देश्य विधिवत् स्थापित सरकार के प्रति समीचीन निष्ठा पैदा न करने वाले हों।" इस उक्ति पर टिप्पणी करते हुए शिरोल ने यह लिखा है कि इस विषय में न तो स्वामी दयानन्द की शिक्षायें और न ही उसके शिष्यों के कार्य, विशेषतः गुरुकुल में काम करने वालों के कार्यकलाप उत्साह-वर्द्धक हैं।[1] इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि शिरोल के मतानुसार गुरुकुल ब्रह्मचारियों को राजद्रोह की शिक्षा देने वाली संस्था थी।

आर्यसमाज पर शिरोल का तीसरा बड़ा गम्भीर आरोप यह है कि यह भारतीय सैनिकों में राजद्रोह की भावना को भड़काता है। इस बारे में उसने लिखा है कि "आर्यसमाज की सबसे बुरी बात यह है कि यह भारतीय सेना के सिपाहियों में, विशेष रूप से आर्यसमाज के (विचारों के) साथ समानता रखने वाले जाटों और सिक्ख सैनिकों में अपना (राजद्रोहपूर्ण) प्रचार कर रहा है। आर्यों का प्रयास मुख्य रूप से इस उद्देश्य से किया जाता है कि सैनिकों की भर्ती को रोका जाय। कई बार उन्होंने कुछ विशेष सेनाओं की बैरकों में जाकर सैनिकों को राजभक्ति से विरत करने का भी प्रयास किया है और उसके दूत देशी सिपाहियों की बैरकों में भी पाये गये हैं।"[2]

श्री शिरोल ने अपने उपर्युक्त कथनों की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने तथ्यों की छानबीन के लिए भी कोई विशेष प्रयास नहीं किया। वे लाहौर में केवल आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान बैरिस्टर रोशनलाल से मिले। इसके अतिरिक्त उन्होंने समाज के किसी अन्य व्यक्ति से सम्पर्क नहीं किया। जिस गुरुकुल काँगड़ी के सम्बन्ध में उन्होंने इतनी बातें लिखी हैं उसे वे रैम्जे मेक्डानल्ड जैसे अन्य अंग्रेज प्रेक्षकों की भाँति स्वयं देखने तक नहीं गये। उनका वर्णन सुनी-सुनायी बातों पर आधारित है और जो बड़ा अत्युक्तिपूर्ण है, एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। गुरुकुल काँगड़ी के उत्सवों का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि इन जलसों पर तीन लाख (पृ० ११५) से अधिक दानराशि एकत्र होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन उत्सवों पर आर्य जनता बड़ी उदारता से प्रचुर मात्रा में धनराशि गुरुकुल के लिए दान देती थी, किन्तु शिरोल ने इसे अपनी कल्पनापूर्ण अतिशयोक्ति से कई गुणा अधिक बढ़ा दिया है। इस दृष्टि से उनका विवरण अप्रामाणिक और अविश्वसनीय प्रतीत होता है। किन्तु उस जमाने में 'टाइम्स' की प्रतिष्ठा इतनी अधिक थी कि उसमें छपी बात को वेदवाक्य की तरह प्रामाणिक माना जाता था और शिरोल की आर्यसमाज के विरुद्ध लिखी सर्वथा असत्य बातों को भी इसीलिये पूर्ण सत्य और प्रामाणिक मान लिया गया।

शिरोल ने अपनी पुस्तक में इस बात पर बल दिया है कि यद्यपि आर्यसमाजी इस बात से इन्कार करते हैं कि उनका राजनीति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी इसकी पर्याप्त साक्षी है कि वे राजद्रोहपूर्ण कार्यकलापों में काफी भाग लेते हैं। इस बारे में शिरोल का यह कथन उल्लेखनीय है—"वस्तुतः अनेक आर्य प्रयत्नपूर्वक इस बात का खंडन करते हैं कि समाज राजनैतिक असन्तोष की भावना से ग्रस्त नहीं है। इसका राजनीति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है और लाहौर आर्यसमाज के प्रधान मिस्टर रोशनलाल ने मुझे

---

१. शिरोल—इण्डियन अनरेस्ट, पृ० ११६

२. वही, पृ० ११७

पदों पर काम करते रहे। उन्हें अनेक उच्च ब्रिटिश अधिकारियों का विश्वास प्राप्त था। श्री वर्मा ने स्वयमेव इस बात से इन्कार किया है कि वे कभी भी आर्यसमाज के नियमित सदस्य थे। यह बात सुविदित है कि भारत छोड़ने से पहले उनके सम्बन्ध आर्यसमाजों और आर्यसमाजियों के साथ बहुत ही बिगड़ चुके थे और उनका आर्यसमाज के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था। अतः आर्यसमाज के बारे में कही गयी उनकी बातों के लिए आर्यसमाज को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है और इस आधार पर आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था भी नहीं कहा जा सकता है। इस विषय में मुंशीराम जिज्ञासु का यह कथन उल्लेखनीय है—"शिरोल यह अच्छी तरह जानता है और यदि चाहे तो यह जान सकता था कि कृष्ण वर्मा पिछली एक दशाब्दी से आर्यसमाजी नहीं है और जब वह कर्मठ आर्यसमाजी था तो वह एक राजभक्त नागरिक तथा एक देशी रियासत का विश्वासपात्र दीवान था। उस समय उसकी राजभक्ति इतनी संदेहातीत थी कि अजमेर में उनके घर में वायसराय पधारे थे। इसके बाद उसने समाज का कार्य छोड़ दिया, इसके सिद्धान्तों को तिलांजलि दे दी और क्रान्तिकारी बनने से पहले ही वह स्पेन्सर के दर्शन का अनुयायी बन गया था। इस समय वह आर्यसमाजी नहीं है।"[1]

यह भी उल्लेखनीय है कि वेलेण्टाइन शिरोल ने श्याम जी कृष्ण वर्मा के जो दो कथन उद्धृत किये हैं, वे आर्यसमाज को राजद्रोही सिद्ध करने के लिए सर्वथा अपर्याप्त हैं। क्योंकि उनमें से एक में आर्यसमाज के शक्तिशाली होने की बात कही गयी है और दूसरे में आर्यसमाज के आदर्श का वर्णन है जिसका वर्तमान राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है।

शिरोल की दृष्टि में आर्यसमाज के राजद्रोही होने का एक बड़ा प्रमाण गुरुकुल काँगड़ी का शिक्षणालय था। उसकी सम्मति में यह आर्यसमाज द्वारा किया जाने वाला एक विशेष प्रकार का शैक्षणिक प्रयोग था। इसका विवेचन करते हुए उसने १९०७ ई० में यह लिखा था कि गुरुकुल में सरकारी शिक्षणालयों से सर्वथा भिन्न विशेष प्रकार की शिक्षा दी जाती है। १८९८ ई० में पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा ने वैदिक शिक्षा-पद्धति के पुनरुद्धार की एक योजना को क्रियान्वित करने का निर्णय किया और उसके परिणामस्वरूप यह संस्था स्थापित की गयी। यहाँ के पूरे १४ वर्ष के लम्बे शिक्षणकाल में ब्रह्मचारी को घर जाने की अनुमति नहीं दी जाती है। माता-पिता अपनी सन्तान से बहुत कम मिलते हैं। गुरुकुल का जीवन सादा और कठोर है। शारीरिक शिक्षा पर अधिक बल दिया जाता है। शिक्षा-समाप्ति पर यहाँ के स्नातकों को प्रचार के लिए भेजा जाएगा और पाँच वर्ष बाद पहली छात्र-मण्डली के स्नातक बनने पर इस संस्था के परिणाम पता लग सकेंगे। फिर भी इस बात की सम्भावना की जा सकती है कि **यहाँ के छात्र ब्रिटिश-विरोधी भावना से ओत-प्रोत होंगे।** यद्यपि इस संस्था के संचालक इसे राजनीति से सर्वथा पृथक् एक विशुद्ध शैक्षणिक प्रयोग मानते हैं और राजनीति से इसके पृथक् होने की घोषणा करते हैं।

इस बारे में शिरोल ने पंजाब के तत्कालीन लेफ्टिनैण्ट गवर्नर सर लुईस डेन की इस उक्ति का स्मरण कराया है कि इस समय "जो संस्था धार्मिक और सामाजिक सुधार एवं जातीय उन्नति करने का दावा करती है, उसे उसके लक्ष्य से पथ-भ्रष्ट करके ऐसे

---

१. मुंशीराम जिज्ञासु तथा रामदेव—आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स, भाग १, पृ० २८७

चाहिए और उन पर राजद्रोह का सन्देह किया जाना चाहिए।"[1]

सरदार अजीतसिंह के बारे में यह उल्लेखनीय है कि १९०७ ई० से पहले के दो वर्षों में उन पर किसी प्रकार के राजद्रोहपूर्ण हिंसात्मक प्रचार का आरोप नहीं लगाया था। यह इस बात से पुष्ट होता है कि १९०७ ई० से पहले की सरकारी रिपोर्टों में उसका कोई उल्लेख नहीं है। न तो अखबारों को और न ही पुलिस को उसका कोई ज्ञान था और उन दिनों वह सैनिक और असैनिक अंग्रेज अफसरों और ब्रिटिश महिलाओं को पंजाबी, उर्दू आदि भारतीय भाषायें सिखाने का काम किया करता था। १९१० ई० में विदेश जाने पर उसके विरुद्ध जो आरोप लगाये गये, उनका १९०७ ई० की या उससे पहले की घटनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं था, जिस समय सर वेलेण्टाइन शिरोल ने अपने लेख और पुस्तकें लिखी थीं, उस समय सब लोगों को ये तथ्य सुविदित थे।

(छ) शिरोल के कथनानुसार एक अन्य आर्य भाई परमानन्द के विरुद्ध सरकार द्वारा चलाये गये मामले में कुछ ऐसे पत्र पेश किये गये थे, जिनके बारे में यह कहा जाता था कि १९०५ ई० में भाई परमानन्द के इंग्लैण्ड जाने पर लाला जी ने उन्हें ये पत्र लिखे थे। इन पत्रों में विद्यार्थियों के उपयोग के लिए कुछ पुस्तकें मांगी गयी थीं और पंजाब की राजनैतिक स्थिति के बारे में कुछ सम्मतियाँ प्रकट की गयी थीं और यह भी कहा गया था कि भाई परमानन्द की तलाशी लेने से उनके पास से ऐसी सामग्री मिली थी, जिसमें बम बनाने के अनेक तरीके बताये गये थे।

शिरोल का यह आरोप भी सत्य नहीं है क्योंकि भाई परमानन्द ने सदैव इस बात से इन्कार किया था कि उनके पास से बम बनाने के उपायों पर कोई पुस्तक या सामग्री पायी गयी है।

(ज) सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्याम जी कृष्ण वर्मा का आर्यसमाज के साथ सम्बन्ध होने के आधार पर शिरोल ने आर्यसमाज को राजद्रोही माना है और उनकी इस उक्ति को उद्धृत किया है कि देश में राजनैतिक पुनरुज्जीवन के लिए चलाये जाने वाले आन्दोलनों में कोई भी आर्यसमाज जैसा शक्तिशाली आन्दोलन नहीं है और आर्यसमाज का उद्देश्य इसके संस्थापक के अनुसार, "एक पूर्ण रूप से स्वतन्त्र और स्वाधीन राष्ट्रीय सरकार की स्थापना करना है।" शिरोल ने इस बात पर भी बल दिया कि श्याम जी कृष्ण वर्मा को स्वामी जी ने अपने जीवनकाल में की गयी वसीयत के अनुसार परोपकारिणी सभा का ट्रस्टी बनाया था।

इस विषय में पूरे तथ्य इस प्रकार हैं—१८८१-८२ ई० में जब स्वामी जी ने श्याम जी कृष्ण वर्मा को परोपकारिणी सभा का ट्रस्टी बनाया था, उस समय तक श्याम जी कृष्ण वर्मा ने अपने कोई राजनैतिक विचार नहीं प्रकट किये थे। स्वामी जी का यह ट्रस्ट आर्यसमाज का ट्रस्ट नहीं था, अपितु स्वामी जी के पास विद्यमान प्रेस आदि की उस निजी सम्पत्ति का ट्रस्ट था, जो उन्हें श्रद्धालु भक्तों से दान में मिली थी और जिस पर उनका पूर्ण एवं एकमात्र अधिकार था। इन ट्रस्टियों में अनेक ऐसे व्यक्ति थे जो आर्यसमाज के सदस्य नहीं थे, जैसे—बम्बई हाईकोर्ट के न्यायाधीश महादेव गोविन्द-रानाडे। श्याम जी कृष्ण वर्मा विदेश से शिक्षा प्राप्त करने के बाद देशी राज्यों में उच्च

---

१. मुंशीराम जिज्ञासु—आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स, भाग १, पृ० २८५

में विद्रोह पैदा करना था। मैंने इसे पुष्ट करने वाली कोई साक्षी नहीं देखी है। निःसन्देह लाजपत एक उच्च चरित्र-सम्पन्न व्यक्ति है और देशवासियों में उसकी बड़ी प्रतिष्ठा है। यदि मैं उसकी गिरफ्तारी के समय इस बात को जानता, जो अब मुझे पता लगी है तो मैं गिरफ्तारी के लिए सहमति देने से पहले इस विषय में पंजाब सरकार से अधिक साक्षी देने की मांग करता।"[1] यह बात मिण्टो ने तत्कालीन भारत-मन्त्री मार्ले को अपने ५ नवम्बर १९०७ ई० के पत्र में लिखी थी। इससे यह स्पष्ट है कि लाला लाजपतराय पर राजद्रोह का आरोप सर्वथा निराधार था।

(ख) यह बात इससे भी पुष्ट होती है कि लाला लाजपतराय निरन्तर ब्रिटिश सरकार से इस बात की मांग करते रहे कि उन्हें देश-निर्वासन के कारणों के बारे में पूरी जानकारी दी जाग, किन्तु ब्रिटिश सरकार ने उन्हें ऐसी कोई सूचना नहीं दी।

(ग) यह बड़े आश्चर्य की बात है कि भारत सरकार के समूचे शासन-तन्त्र की पूरी सहायता होते हुए भी सर वेलेण्टाइन शिरोल लाला लाजपतराय के भाषणों या लेखों में से एक भी ऐसा उदाहरण प्रस्तुत नहीं कर सके जिससे उन पर राजद्रोह का आरोप पुष्ट होता हो।

(घ) इस विषय में यह उल्लेखनीय है कि लार्ड मार्ले ने १९०७ ई० में लाला लाजपतराय के देश-निर्वासन के दण्ड के औचित्य को सिद्ध करने के लिए ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमन्स में पंजाब के नेता पर जो आरोप लगाये थे, वे सब उन्होंने अपने भाषणों के पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित होने से पूर्व इसमें से हटा दिये थे, क्योंकि इन आरोपों को पुष्ट करने वाले कोई प्रमाण उनके पास नहीं थे।

(ङ) लाला लाजपतराय पर लगाये जाने वाले आरोप किसी न्यायालय द्वारा प्रमाणित नहीं हो सके। इस विषय में यह उल्लेखनीय है कि कलकत्ता के सुप्रसिद्ध समाचार-पत्र **इंगलिशमैन** ने लाला जी पर सेना में बगावत फैलाने का आरोप लगाया था। लाला जी ने उसे यह आरोप अदालत में सिद्ध करने के लिए कहा और जवाब न मिलने पर मान-हानि का दावा किया। न्यायालय में 'इंगलिशमैन' अपना आरोप प्रमाणित नहीं कर सका, और दण्डस्वरूप उसे १५०० रुपये क्षतिपूर्ति के रूप में लाला जी को देने पड़े।

(च) लाला जी के साथ ही शिरोल ने पंजाब में राजद्रोह के प्रचार के लिए सरदार अजीतसिंह को दोषी ठहराते हुए उसे आर्यसमाजी बताया है। यह बात भी सत्य नहीं है क्योंकि अजीतसिंह का आर्यसमाज से कोई सम्बन्ध नहीं था। उसने कभी आर्य होने का दावा नहीं किया और वह कभी किसी आर्यसमाज का सदस्य नहीं रहा। वस्तुतः १९०७ ई० में हिंसा का विस्फोट होने के पहले दो वर्षों में वह सन्देहवादी (Agnostic) था और इस विषय में महात्मा मुंशीराम ने लिखा था—"यह बिल्कुल झूठ है कि अजीतसिंह आर्य है। हम यह नहीं जानते कि अज्ञेयवाद को धर्म कहा जा सकता है, किन्तु यदि ऐसा हो तो अजीतसिंह लार्ड मार्ले तथा श्री बालफोर की भाँति अज्ञेयवादी है। यदि श्री शिरोल की युक्ति-परम्परा को ठीक माना जाय तो इन दो सज्जनों के विरुद्ध मामला चलाया जाना

---

१. मार्ले पेपर्स, खण्ड ७, एम० एन० दास द्वारा 'इण्डिया अण्डर मार्ले एण्ड मिण्टो' में उद्धृत, पृ० १३५

उद्धरण दिया गया है कि—"देश के राजनैतिक पुनरुज्जीवन के लिए चलाये गये आन्दोलनों में कोई भी अन्य आन्दोलन आर्यसमाज जैसा शक्तिशाली नहीं है। इसके संस्थापक द्वारा की गयी घोषणा के अनुसार इसका उद्देश्य एक पूर्ण रूप से स्वाधीन और स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्य की स्थापना करना है।"[1] इस पुस्तक में लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि आर्यसमाज भारत में राजनैतिक अशान्ति और विद्रोह की प्रबल भावना को उत्पन्न करने वाली संस्था है। इसका प्रधान कार्य जनता में ब्रिटिश-विरोधी भावनाओं को उत्पन्न करना है। लेखक ने अपना यह विश्वास प्रकट किया कि पंजाब के बड़े-बड़े शहरों में यद्यपि आरम्भ में बंगालियों द्वारा अंग्रेजों के विरुद्ध भावना फैलायी गयी थी, किन्तु अब इसका प्रचार-प्रसार करने वाला आर्यसमाज है। **ब्रिटिश विरोधी भावना पंजाब के उन्हीं स्थानों पर अधिक उग्र रूप में पायी जाती है जहाँ आर्यसमाज का अधिक प्रचार है।**

शिरोल ने अपने उपर्युक्त मत के समर्थन में निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किये हैं—

(१) शिरोल के कथनानुसार पंजाब में हिंसक घटनाएँ होने से पहले के दो वर्षों में दो व्यक्तियों ने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध उग्र आन्दोलन में प्रमुख भाग लिया। ये थे—लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह। ये दोनों प्रमुख आर्यसमाजी थे। उसके शब्दों में राजद्रोही गतिविधियों का मूल स्रोत ये दोनों आर्यसमाजी थे।

शिरोल ने पंजाब में आर्यसमाज के विरुद्ध अपने इस आरोप को पुष्ट करने के लिए कोई प्रमाण नहीं दिये हैं। उसका यह कथन कई कारणों से अविश्वसनीय प्रतीत होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि लाला लाजपतराय पंजाब में आर्यसमाज की कॉलिज-पार्टी के प्रमुख आधारस्तम्भ और प्रधान नेता थे। किन्तु उन पर पंजाब में उपद्रवों की जिम्मेदारी डालना और राजद्रोह का आरोप लगाना निम्नलिखित कारणों से उचित नहीं प्रतीत होता है—

(क) लाला लाजपतराय पर राजद्रोह के लिए ब्रिटिश सरकार ने कभी मुकदमा नहीं चलाया। उन्हें १८१८ ई० के जिस तीसरे रेग्यूलेशन के अधीन देश-निर्वासन का दण्ड दिया गया था, उसमें अभियुक्त पर मुकदमा चलाना आवश्यक नहीं होता है। सम्भवतः सरकार के पास उनके विरुद्ध राजद्रोह का आरोप प्रमाणित करने के लिए ऐसी पुष्ट साक्षी नहीं थी, जिसके आधार पर किसी न्यायालय में उन पर अभियोग चलाकर उन्हें दण्डित किया जा सके। अतः उन्हें ९० वर्ष पुराने एक कानून के अनुसार निर्वासित किया गया, जिसमें उन पर दोष सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं थी।

इस विषय में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि तत्कालीन वायसराय लार्ड मिण्टो का यह विचार था कि लाला लाजपतराय के विरुद्ध राजद्रोह के कार्य करने की कोई पुष्ट साक्षी और प्रमाण नहीं हैं। पंजाब सरकार द्वारा प्रस्तुत की गयी सारी साक्षी की समीक्षा करने के बाद लार्ड मिण्टो ने यह लिखा था कि—"मैं कोई ऐसी बात और प्रमाण नहीं जानता हूँ जिसके आधार पर पंजाब के लेफ्टिनैण्ट गवर्नर इब्बटसन के इस कथन को न्यायोचित कहा जा सके कि लाला लाजपतराय का एक प्रधान उद्देश्य भारतीय सेना

---

१. वेलेण्टाइन शिरोल—इण्डियन अनरेस्ट, पृ० ११४

दसवाँ अध्याय

ब्रिटिश पत्र तथा आर्यसमाज

बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में भारत में राष्ट्रीयता की भावना जागृत होने पर अंग्रेजों द्वारा चलाये जाने वाले अंग्रेजी पत्रों ने इसकी कटु आलोचना आरम्भ की। वे यह समझते थे कि इससे ब्रिटिश साम्राज्य के लिए महान् संकट उत्पन्न हो गया है और इसका निवारण करना उनका प्रधान कर्त्तव्य है। अतः वे राष्ट्रीय विचारों से सहानुभूति रखने वाले सभी व्यक्तियों और संस्थाओं के उग्र विरोधी और कटु आलोचक थे। उन दिनों भारत में आर्यसमाज के आन्दोलन के प्रधान प्रसार-क्षेत्र पंजाब का प्रमुख एंग्लो-इण्डियन पत्र **सिविल एण्ड मिलिटरी गजट** था तथा तत्कालीन संयुक्त प्रान्त की राजधानी इलाहाबाद से **पायोनियर** प्रकाशित होता था। लन्दन से ब्रिटिश साम्राज्यवाद का प्रबल पृष्ठ-पोषक और प्रतीक समझा जाने वाला सुप्रसिद्ध पत्र **टाइम्स** छपता था। इन तीनों पत्रों में आर्यसमाज के विरुद्ध काफी लेख निकलते रहते थे और वे इसे एक राजद्रोही संस्था के रूप में चित्रित करते थे। यहाँ इन पत्रों के कुछ लेखों का संक्षिप्त उल्लेख किया जायेगा।

(१) शिरोल की पुस्तक और प्रमाणों की समीक्षा

लन्दन के 'टाइम्स' ने एक ब्रिटिश पत्रकार वेलेण्टाइन शिरोल को अपने विशेष प्रतिनिधि के रूप में इस उद्देश्य से प्रथम दशक में भारत भेजा कि वह यहाँ देश का भ्रमण करके समूची राजनैतिक परिस्थिति का निरीक्षण करके तथा सम्बद्ध व्यक्तियों से मिलकर इस बात पर प्रकाश डाले कि भारत के वर्तमान राजनैतिक असन्तोष के मूल कारण क्या हैं, और उनका प्रतिकार करके ब्रिटिश साम्राज्य को भारत में किस प्रकार सुरक्षित रखा जा सकता है। श्री शिरोल ने भारत के विभिन्न प्रदेशों की यात्रा करके टाइम्स में भारतीय राजनैतिक असन्तोष का विस्तृत विवेचन करने वाली एक लेखमाला प्रकाशित की। यह उस समय इंग्लैण्ड तथा भारत के सरकारी क्षेत्रों में इतनी अधिक लोकप्रिय हुई कि इसके लेखक को सर की उपाधि से सम्मानित किया गया और इन लेखों को संशोधित और परिवर्धित करके 'इण्डियन अनरेस्ट' (राजनैतिक अशान्ति) के रूप में १९१० ई० में पुस्तकाकार में छापा गया।[1]

इस पुस्तक के आठवें अध्याय (पृ० १०६-११७) का शीर्षक है—पंजाब एण्ड आर्यसमाज। इसमें पंजाब की राजनैतिक अशान्ति का प्रधान कारण आर्यसमाज को बताया गया है। इसके आरम्भ में सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्याम जी कृष्ण वर्मा का यह

---

१. सर वेलेण्टाइन शिरोल—इण्डियन अनरेस्ट, मैकमिलन लन्दन, १९१०

पूरा विश्वास दिलाया है कि समाज अपना सारा ध्यान एकमात्र नैतिक और धार्मिक सुधार पर केन्द्रित करता है। जहाँ तक श्री रोशनलाल का व्यक्तिगत रूप से इस विषय से सम्बन्ध है, वहाँ तक मुझे इस आश्वासन पर सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है और **यह भी सत्य हो सकता है कि समाज ने संस्था के रूप में किसी राजनैतिक कार्यक्रम के साथ अपने को सम्बद्ध न किया हो और समाज के अनेक सदस्य व्यक्तिगत रूप से राजनीति से पृथक् रहे हों।** किन्तु पंजाब में और इसके पड़ोसी संयुक्त प्रान्त में इस विषय की साक्षी प्रचुर मात्रा में विद्यमान है कि अन्य अनेक प्रभावशाली आर्यसमाजियों ने पिछले कुछ वर्षों के राजद्रोहपूर्ण आन्दोलनों में प्रमुख भाग लिया है। १९०७ के रावलपिण्डी के दंगों के नेता आर्य थे और हिंसापूर्ण घटनाओं के होने से दो वर्ष पहले तक जो उग्र आन्दोलन चलता रहा, उसमें किसी अन्य व्यक्ति ने लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह से अधिक सक्रिय भाग नहीं लिया और ये दोनों प्रमुख आर्यसमाजी नेता थे।[1]

शिरोल के उपर्युक्त अवतरण में अनेक भ्रान्तिपूर्ण बातें हैं और वे सम्भवतः आर्यसमाज को बदनाम करने के लिए कही गयी हैं। इस बारे में निम्न तथ्य उल्लेखनीय हैं—(क) शिरोल ने इसमें दबे शब्दों में यह मान लिया है कि आर्यसमाज सामूहिक रूप से किसी राजनैतिक आन्दोलन में भाग नहीं लेता है, फिर भी उसने समाज के कुछ सदस्यों लाला लाजपतराय और अजीतसिंह की गिरफ्तारी तथा रावलपिण्डी के दंगों के आधार पर आर्यसमाज द्वारा राजद्रोही आन्दोलन में प्रमुख भाग लेने की बात कही है। यह सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है क्योंकि किसी भी धार्मिक संस्था को उसके कुछ मतावलम्बियों के व्यक्तिगत आचरण के आधार पर दोषी नहीं ठहराया जा सकता है। इस सम्बन्ध में मुंशीराम जिज्ञासु ने यह सत्य ही लिखा है कि—"क्या किसी चर्च या धार्मिक सम्प्रदाय को इसके विभिन्न सदस्यों द्वारा व्यक्तिगत हैसियत से किये गये राजनैतिक कार्यों के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है? क्या इंग्लैण्ड का प्रोटेस्टैण्ट चर्च प्रोटेस्टेण्ट राजनीतिज्ञों के आचरण के लिए उत्तरदायी है? क्या परम पूज्य कैण्टरबरी के आर्कबिशप को पिछले चुनाव-अभियान में उदार मन्त्रिमण्डल द्वारा की गयी शाब्दिक अशुद्धियों के लिए जिम्मेवार ठहराया जा सकता है?...क्या ट्रांसवाल का ईसाई चर्च वहाँ के साम्राज्यवादियों की उस राजनीति के लिए उत्तरदायी कहा जा सकता है, जिसकी निन्दा ब्रिटिश साम्राज्य का ठीक ढंग से सोचने और अनुभव करने वाला प्रत्येक नागरिक करता है। क्या कलकत्ता के बिशप को वहाँ के पत्र **'एशिया'** की राजनीति के लिए और लाहौर के बिशप को **सिविल एण्ड मिलिटरी गजट** की राजनीति के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है? क्या इस्लाम और मुस्लिम शिक्षा सम्मेलन को धर्मान्ध गाजियों और पेशावर में दंगा करने वाले उपद्रवियों के राजनैतिक विश्वासों के लिए उत्तरदायी माना जा सकता है?"[2] इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि कोई भी चर्च या धार्मिक संस्था अपने सदस्यों के व्यक्तिगत विश्वासों और कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराई जाती है तो फिर आर्यसमाज को लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह की राजनैतिक गतिविधियों के लिए क्यों उत्तरदायी ठहराया जाय और आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था के

१. शिरोल—वही पुस्तक, पृ० १/११६
२. मुंशीराम जिज्ञासु, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १/१२६

रूप में बदनाम किया जाय ?

रावलपिण्डी के दंगे के बारे में या तो शिरोल को सब बातें मालूम नहीं थीं या जानबूझकर उसने अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए इस मामले में अपने मन्तव्य से प्रतिकूल पड़ने वाले तथ्यों का उल्लेख करना उचित नहीं समझा है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि रावलपिण्डी के दंगों में सरकार द्वारा पकड़े गये अनेक व्यक्ति आर्यसमाजी थे, किन्तु न्यायालय में उनके विरुद्ध लगाये गये राजद्रोह के आरोप को सरकार सिद्ध नहीं कर सकी और अदालत ने इन अभियुक्तों को बरी कर दिया। इससे स्पष्ट है कि इन्होंने राजद्रोह के किसी कार्य में भाग नहीं लिया था। अतः इस मामले के आधार पर आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था सिद्ध करने का प्रयत्न बड़ा हास्यास्पद है।

शिरोल ने आर्यसमाज की राजनैतिक और ब्रिटिश विरोधी-गतिविधियों के प्रसंग में पटियाला में आर्यसमाज पर चलाये जाने वाले अभियोग का भी उल्लेख किया है। किन्तु इसमें उसने पुनः पहली गलती को दोहराया है। पाठकों के सम्मुख इस मामले का केवल एक पक्ष ही प्रस्तुत किया है। उसने इस तथ्य का कोई उल्लेख नहीं किया है कि इस मामले में अभियुक्तों पर लगाये गये आरोप सर्वथा मिथ्या थे। उनको पुष्ट करने वाली कोई ठोस साक्षी अदालत में सरकारी वकील प्रस्तुत नहीं कर सका था। यह झूठा मुकदमा चलाने के लिए पटियाला सरकार की इतनी अधिक बदनामी हुई थी कि उसे यह मामला वापिस लेने के लिए विवश होना पड़ा। पायोनियर जैसे एंग्लो इण्डियन पत्र को यह स्वीकार करना पड़ा था कि इस मामले को इसलिए वापिस लेना पड़ा था कि पटियाला पुलिस का महानिरीक्षक वारवर्टन ७० वर्ष का बूढ़ा हो चला था और वह इस मामले के लिए आवश्यक साक्षी एकत्र नहीं कर सकता था। इस मामले को वापिस लेने के बाद वारवर्टन को तत्काल पटियाला राज्य की सेवा से निवृत्त कर दिया गया था। इस मामले में ब्रिटिश सरकार राज्य के सरकारी वकील ग्रे द्वारा अभियुक्तों पर लगाये राजद्रोह के आरोपों को सर्वथा निराधार समझती थी। यह इस बात से स्पष्ट है कि इस मामले के प्रमुख अभियुक्त ब्रिटिश भारत के एक राजपत्रित इंजीनियर राय ज्वालाप्रसाद थे। वे डेपूटेशन पर ब्रिटिश भारत से पटियाला राज्य की सेवा में आये थे। यह मामला वापिस लेने के बाद ब्रिटिश सरकार ने उन्हें अपनी सेवा में ले लिया। पटियाला राज्य को उन्हें उस अवधि का पूरा वेतन और भत्ते देने पड़े, जिसमें वे पटियाला राज्य द्वारा नजरबन्द रखे गये थे। अन्यत्र इस मामले का विस्तार से उल्लेख किया गया है। शिरोल ने आर्यसमाज को राजद्रोही सिद्ध करने के लिए जान-बूझकर उपर्युक्त तथ्यों से आँख मूँद ली और इनका कहीं उल्लेख नहीं किया है।

गोरक्षा की युक्ति—सर वेलेण्टाइन शिरोल ने आर्यसमाज के बारे में एक निराली खोज यह की थी कि स्वामी दयानन्द एक बहुत सिद्धहस्त एवं चतुर राजनीतिज्ञ थे, उनका प्रधान उद्देश्य भारत में ब्रिटिश शासन का तख्ता पलटना था। उनकी समूची शिक्षाओं का उद्देश्य हिन्दूधर्म का उतना अधिक सुधार करना नहीं था, जितना विदेशी प्रभाव का निराकरण करना और विदेशी शासन का उन्मूलन करना था। उन्होंने इसके लिए भारत की जनता में प्रचलित अन्धविश्वासों एवं लोकप्रचलित अन्धविश्वासों तथा पूर्वाग्रहों का बड़ा लाभ उठाया। इसका सुन्दर उदाहरण उनके द्वारा गोरक्षा पर बल देना है।

शिरोल के कथनानुसार "वेदों ने कहीं भी गौओं की हत्या का अथवा गो-मांस खाने का निषेध नहीं किया है। किन्तु हिन्दू-समाज में सार्वभौम रूप से प्रचलित गोवध-निषेध की भावना को ध्यान में रखते हुए स्वामी दयानन्द ने गोहत्या को जघन्यतम पापों में सम्मिलित किया। इससे हमें उनकी शिक्षाओं के मूल तत्त्व का पूरा ज्ञान हो जाता है। वस्तुतः गोभक्षक ईसाइयों और मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दुओं को संगठित करने के लिए उन्होंने इस भावना का पूरा लाभ उठाया। दयानन्द की शिक्षाओं का पूरा झुकाव हिन्दू-धर्म के सुधार की ओर उतना नहीं है, जितना इस ओर है। उनकी सम्मति में हिन्दू-समाज को अराष्ट्रीय बनाने वाले और इसके लिए खतरा पैदा करने वाले विदेशी प्रभावों की समाप्ति की जानी चाहिए।"[1] इसका अभिप्राय यह है कि स्वामी दयानन्द ने गो-रक्षा के कार्यक्रम पर इसलिए अधिक बल दिया कि वे इसके आधार पर हिन्दुओं को सुदृढ़ सूत्र में आबद्ध कर सकें और भारत से गोमांस-भक्षक म्लेच्छ अंग्रेजों के शासन का अन्त करने के लिए समूची हिन्दू-जाति का सहयोग प्राप्त कर सकें। इस प्रकार शिरोल के मतानुसार स्वामी जी का गोरक्षा करने का उद्देश्य भारत में ब्रिटिश शासन के उन्मूलन की भावना से ओतप्रोत है। वे इसके आधार पर अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह के लिए भारतीय जनता को प्रेरित करना चाहते थे।

श्री शिरोल की यह अनोखी सूझ और कल्पना अनेक मिथ्या भ्रान्तियों और दोषों से परिपूर्ण है। स्वामीजी द्वारा लिखित गो-करुणानिधि के पारायण तथा वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है। शिरोल का यह कथन सत्य नहीं है कि वेदों में कहीं भी गोवध को निषेध नहीं है। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों और यजुर्वेद के १३वें अध्याय में गोरक्षा पर बहुत अधिक बल दिया गया है। वैदिक युग में अवध्य होने के कारण गौ को अघ्न्या का नाम दिया गया था। स्वामीजी ने विस्तार से इनके आर्थिक लाभों पर प्रकाश डाला है। उन्होंने इसके लिए ब्रिटिश सरकार तथा साम्राज्ञी को आवेदन-पत्र भिजवाये थे। यदि स्वामीजी गोरक्षा के आधार पर हिन्दुओं को अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए संगठित करना चाहते थे, जैसा शिरोल का मन्तव्य है तो उन्हें ऐसे आवेदनपत्र सरकार को देने की कोई भी आवश्यकता नहीं थी। स्वामीजी के इन विचारों को देखते हुए शिरोल का गोरक्षा-विषयक उपर्युक्त मन्तव्य सर्वथा कपोल-कल्पना प्रतीत होता है और इसका एकमात्र उद्देश्य आर्यसमाज को बदनाम करना था।

शिरोल ने अपने आठवें अध्याय की समाप्ति पर आर्यसमाज की सिक्ख सम्प्रदाय से तुलना इन शब्दों में की है—"आर्यसमाज का विकास हमें उस सिक्ख धर्म का बल-पूर्वक स्मरण कराता है, जिसकी स्थापना गुरुनानक ने १६वीं शताब्दी के आरम्भिक भाग में की थी। आरम्भ में यह केवल धार्मिक और भौतिक सुधार आन्दोलन मात्र था। किन्तु ५० वर्ष के भीतर गुरु हरगोविन्द के नेतृत्व में यह एक शक्तिशाली राजनैतिक और सैनिक संगठन बन गया।" इस तुलना से शिरोल यह प्रकट करना चाहता है कि आर्य-समाज शीघ्र ही सिक्खों की भाँति एक शक्तिशाली राजनैतिक संगठन बन जायेगा। किन्तु महात्मा मुंशीराम के मतानुसार वह इस बात को भुला देता है कि सिक्खों के धार्मिक संगठन के राजनैतिक संगठन में परिवर्तित होने का प्रधान कारण उस समय के

१. मुंशीराम जिज्ञासु—पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ १/२७५-७६

मुगलों के मूर्खतापूर्ण अत्याचार और अविवेकपूर्ण सन्देह करने की नीति थी। इन दोनों ने उन्हें ऐसा बनने के लिए विवश किया।[1] यह सौभाग्य की बात है कि आर्यसमाज के अधिकारियों के प्रयास से ब्रिटिश सरकार शीघ्र ही विरोधियों द्वारा उत्पन्न की गयी भ्रान्तियों के जाल से मुक्त हो गयी और उसने इस वस्तुस्थिति को अच्छी तरह समझ लिया कि आर्यसमाज पर लगाये जाने वाले राजद्रोह के आरोप सर्वथा निस्सार और निराधार हैं।

(२) सिविल एण्ड मिलिटरी गजट के आर्यसमाज पर आरोप

लाहौर से प्रकाशित होने वाले गोरे पत्र १९०७ ई० में सन् १८५७ ई० की प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम की अर्ध-शताब्दी के अवसर पर नये भारतीय विद्रोह की आशंका से भयभीत और संत्रस्त थे। उन्हें इसका हौआ बुरी तरह सता रहा था, अतः १९०६-७ ई० में० उन्होंने देशभक्त राष्ट्रीय विचारों वाले भारतीयों तथा लाला लाजपतराय आदि आर्यसमाजी नेताओं के प्रति बड़े दुर्भावनापूर्ण लेख और पत्र छापे। वस्तुतः १९०७ ई० में पंजाब की अशान्ति और उपद्रवों को पैदा करने वाले यही पत्र थे। इनमें लाहौर से प्रकाशित होने वाले **सिविल एण्ड मिलिटरी गजट** का प्रमुख स्थान था। यह उस समय उत्तर भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का प्रबल पृष्ठपोषक था। इसकी सम्पादक-मण्डली में एशिया व अफ्रीका की काली जातियों पर गोरी जातियों के शासन का प्रबल समर्थन करने वाले तथा उसे उनका पवित्र दायित्व (White Man's Burden) बताने वाले रडयार्ड किपलिंग जैसे उग्र साम्राज्यवादी थे। पहले यह बताया जा चुका है कि इसने भारतीयों तथा लाला लाजपतराय आदि की गिरफ्तारी के लिए किस प्रकार के लेख लिखे थे और लाला लाजपतराय ने **'पंजाबी'** पत्र पर चलाये गये मुकदमे के निर्णय वाले दिन इसके गोरे संवाददाता की हिंसा के लिए उतारू भीड़ से किस प्रकार रक्षा की थी। फिर भी लाला लाजपतराय की ९ मई को गिरफ्तारी और देश-निर्वासन के बाद भी इसने आर्य-समाज के विरुद्ध अपना विषैला प्रचार-कार्य जारी रखा। इसका परिचय इसके १६ जून १९०७ ई० के अंक में प्रकाशित एक लेख **'लाजपतराय, आर्यसमाज तथा राजनैतिक अशान्ति** (लाजपतराय, आर्यसमाज एण्ड पोलिटिकल अनरेस्ट) से भली-भाँति मिलता है। इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय गोरे पत्र किस प्रकार आर्यसमाज पर राजद्रोह के मिथ्या आरोप लगा रहे थे और ब्रिटिश सरकार को आर्यसमाज के विरुद्ध कठोर कार्य-वाही करने के लिए प्रेरित कर रहे थे।

लाला लाजपतराय की गिरफ्तारी के बाद कालका में लाला हंसराज की अध्य-क्षता में पंजाब के गवर्नर सर डेंजिल इब्बटसन से आर्यसमाजी नेताओं का एक शिष्ट मण्डल मिला था और इसने आर्यसमाज के ओर से ब्रिटिश सरकार को पूरी निष्ठा और राजभक्ति का आश्वासन दिलाया था। गोरे पत्रों को यह आशंका थी कि कहीं सरकार पर इस आश्वासन का प्रभाव न पड़ जाय और आर्यसमाज के प्रति उसकी कठोर नीति में शिथिलता न आ जाय। अतः इस पत्र में एक भारतीय (Indian) के छद्म नाम से एक लेखक ने सरकार को चेतावनी दी कि इस नीति में ढील देने के भीषण दुष्परिणाम होंगे।

इस पत्र के उपर्युक्त लेख के आरम्भ में आर्यसमाज के दृष्टिकोण में सहसा परि-

---

१. शिरोल—वही पुस्तक, पृ० ११७

वर्तन आने अर्थात् राजद्रोही से राजभक्त बनने की खिल्ली उड़ाते हुए आर्यसमाज पर कुछ आरोप लगाये गये थे। इनकी पुष्टि के लिए सत्यार्थप्रकाश में से दस प्रमाण प्रस्तुत किये गये थे और अन्त में लाला लाजपतराय की राजनैतिक महत्त्वाकांक्षाओं पर प्रकाश डालते हुए सरकार से इस विषय में सावधान रहने की प्रार्थना की गयी थी और यह चेतावनी दी गयी थी कि "आर्यसमाज मनुष्य की बड़ी बर्बर, अनियन्त्रणयोग्य भावनाओं को धार्मिक आधार पर अपील करता है।" अतः सरकार को इस विषय में बड़ा जागरूक रहना चाहिए। इस पत्र का यह आशय था कि सरकार ने लाला लाजपतराय को गिरफ्तार करके आर्यसमाज के प्रति जो कठोर दमन की नीति अपनायी है, उसमें किसी प्रकार की शिथिलता नहीं आनी चाहिए और आर्यसमाजियों द्वारा दिये जाने वाले राजभक्ति के आश्वासनों पर कोई विश्वास नहीं किया जाना चाहिए।

एक भारतीय के कल्पित नाम से लिखे गये इस लेख के आरम्भिक वाक्य थे "यदि किसी व्यक्ति के कान हैं तो वह इस बात को सुन ले कि पिछले कुछ सप्ताहों में मैंने भारतीय तथा एंग्लोइण्डियन पत्रों में सरकार के प्रति आर्यसमाज के सदस्यों की राजनैतिक स्थिति और लाला लाजपतराय के व्यक्तित्व के प्रति नीति में एक विलक्षण परिवर्तन देखा है। जो व्यक्ति अब तक भारत से विदेशियों के निष्कासन और बहिष्कार (Excommunication) के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे और सरकार तथा उसके अधिकारियों की हर बात की चाहे वह सही हो या गलत, कड़ी आलोचना करते थे और प्रत्येक देशभक्त तथा कानून का पालन करने वाले भारतीय को राजनैतिक अधिकारों की भीख माँगने वाले (Mendicant), चापलूस (Sycophant), खुशामदी और गद्दार कहकर निन्दा करते थे, वही लोग लाला लाजपतराय के निर्वासन के बाद एकदम बदल गये हैं और उन्होंने बिल्कुल दूसरा राग अलापना शुरू कर दिया है, अपना रवैया बदल लिया है। अब वे अपने को देशभक्त और कानून का पालन करने वाला बताते हैं। सरकार के विरुद्ध दुर्भावना भड़काने वाले तथा अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले राजनैतिक आन्दोलनकारियों की घोर निन्दा करते हैं और यह कहते हैं कि राजनीतिक क्रान्तिकारियों द्वारा किये जाने वाले उग्र कार्यों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है और वे देश में शान्ति और अमन चाहते हैं। किन्तु उनके ये कथन सर्वथा मिथ्या हैं। वे वर्तमान संकट में अपने बचाव के लिए ही ऐसा कह रहे हैं क्योंकि यह बात उनके धर्म के मौलिक मन्तव्यों के सर्वथा प्रतिकूल है।"[1]

इस लेख में आर्यसमाज पर विशेष रूप से निम्नलिखित पाँच आरोप लगाये गये थे—

१. आर्यसमाज के सदस्य इस बात में विश्वास रखते हैं कि मातृभूमि भारत से उन विदेशियों, विधर्मियों को निकाल दिया जाना चाहिए, जिन्होंने इस देश के शासन पर जबर्दस्ती अधिकार कर लिया है।

२. आर्यसमाजियों का प्रधान कार्य सरकार और इसके अधिकारियों की हर मौके पर गलत या सही आलोचना करना है।

---

१. सिविल एण्ड मिलिटरी गजट, १६ जून १९०७ ई०, इस लेख के अविकल रूप के लिए देखिए, मुंशीराम जिज्ञासु तथा रामदेव—आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स, २/५४-५७

३. वे पहले मुसलमानों की पराधीनता के पाश में कई शताब्दियों तक बँधे रहे थे; अब वर्तमान सरकार और अधिकारियों ने ही उन्हें ऊँची सरकारी नौकरियाँ और पद दिये हैं, फिर भी वे इतने कृतघ्न हैं कि अंग्रेजों का विरोध कर रहे हैं।

४. ये राजभक्त तथा कानूनों का पालन करने वाले भारतीयों को चापलूस और खुशामदी कहते रहे हैं।

५. उन्होंने अब अपने धार्मिक सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल नई बातें कहनी शुरू कर दी हैं।

उपर्युक्त लेखक के ये सभी आरोप सर्वथा निराधार, निर्मूल, मिथ्या और झूठे थे। इस बारे में डी० ए० वी० कॉलेज के प्रोफेसर गोकुलचन्द तथा महात्मा मुंशीराम ने विस्तृत उत्तर आर्यसमाज की ओर से दिये थे।[1] यहाँ इनकी केवल संक्षिप्त चर्चा मात्र की जायेगी।

पहले आरोप में यह कहा गया था कि आर्यसमाज विदेशी विधर्मी अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालना चाहता है। स्वामी दयानन्द के जीवन से यह स्पष्ट है कि मुसलमानों और ईसाइयों के साथ उनके बड़े मधुर सम्बन्ध थे। सर सय्यद अहमद कट्टर मुसलमान होते हुए भी स्वामी जी के मित्र और सखा थे। उन्होंने स्वामीजी की मृत्यु पर जो श्रद्धांजलि दी थी, वह स्वामीजी के प्रति उनके प्रेमभाव का पुष्ट प्रमाण है। इसी प्रकार अंग्रेजों से भी उनका कोई उग्र विरोध नहीं था, ईसाई प्रचारकों तथा शासकों के साथ उनके प्रीतिपूर्ण सम्बन्ध थे। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में यूरोपियनों के उत्तम गुणों की प्रशंसा की है, और उन्हें अपनाने को कहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उन्होंने न केवल ईसाइयत और इस्लाम की, अपितु भारतीय धर्मों की प्रबल आलोचना की है, किन्तु यह सत्यासत्य-निर्णय की सद्भावना से प्रेरित होकर की थी। अतः आर्यसमाज की कभी यह इच्छा नहीं रही है कि अंग्रेजों और मुसलमानों को भारत से निकाल दिया जाय। इस बात का स्वामीजी के ग्रन्थों में कोई प्रमाण नहीं मिलता है। उपर्युक्त लेखक ने इस बात को जिस युक्तिक्रम से पुष्ट किया था, उनकी आगे समीक्षा की जायेगी। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि आर्यसमाज के प्रवर्तक का कोई ऐसा अभिप्राय या उद्देश्य नहीं था कि विधर्मियों को भारत से मारकर भगा दिया जाय।

स्वामी दयानन्द के अनुयायी अपने प्रवर्तक की अपेक्षा ब्रिटिश शासन को बनाये रखने का अधिक प्रबल समर्थन करते थे। इस समय की आर्यसमाजी रचनाओं में बार-बार इस बात पर बल दिया जाता था कि ब्रिटिश शासन-व्यवस्था और महारानी विक्टोरिया की सुप्रसिद्ध घोषणा के अनुसार भारतीयों को धार्मिक स्वतन्त्रता और शान्ति एवं व्यवस्था का दैवीय वरदान मिला है और इसी कारण आर्यसमाजी अपने धर्म का प्रचार कर सकने में समर्थ हैं। पहले आरोप का उत्तर देते हुए प्रोफेसर गोकुलचन्द ने ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति के जो उद्गार प्रकट किये हैं, वे उल्लेखनीय हैं—

"आर्यसमाज ने विदेशियों के बहिष्कार के धार्मिक सिद्धान्त का कभी प्रचार नहीं किया है। वह सदैव कृतज्ञतापूर्वक उन वरदानों को स्वीकार करता रहा है जो इसे शान्तिपूर्ण ब्रिटिश सरकार (पैक्स-ब्रिटेनिका) से जान और माल की सुरक्षा एवं धार्मिक तटस्थता

---

१. मुंशीराम जिज्ञासु—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २/५७-९१

के रूप में प्राप्त हुए हैं। आर्यसमाज सदैव उग्र संघर्ष करने वाला धर्म (मिलिटेण्ट चर्च, Militant Church) रहा है। अब भी ऐसा है और वह अन्य धार्मिक मतों व पद्धतियों की आलोचना कठोरतापूर्वक करता है। यदि ब्रिटिश सरकार द्वारा सब प्रजाजनों को संरक्षण देने वाले शासन में आर्यसमाज के एक अतीव लोकप्रिय उपदेशक (पण्डित लेखराम) की आँतों में कोई धर्मान्ध मुसलमान छुरा भोंकने की हिम्मत कर सकता है तो आर्य सचमुच बड़े बेवकूफ होंगे, यदि वे सचमुच यह चाहें कि वे ब्रिटिश शासन के संरक्षण से वंचित हो जायँ और ऐसी जनता की कृपा पर निर्भर हों जिसके पैगम्बर ने तलवार को सबसे बड़ी दलील और स्वर्ग के दरबार को खोलने वाली कुंजी बतलाया है। वर्तमान स्थिति की जब कल्पना भी नहीं गयी थी, उससे बहुत पहले ही आर्यसमाज मन्दिर इसके एक सुप्रसिद्ध कवि द्वारा बनाये गये इस आशय के एक भजन की पंक्तियों से गूँजते रहते थे—"ग्रेटब्रिटेन के न्यायपूर्ण शासन में शेर और बकरी एक घाट पर पानी पीते हैं। हम भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि ब्रिटिश साम्राज्ञी विक्टोरिया का शासन पूर्व से पश्चिम तक सदा विस्तीर्ण रहे।"[1]

दूसरा आरोप आर्यसमाजियों द्वारा सरकारी नीतियों की आलोचना करने का है। इस विषय में आर्यसमाज का यही कहना था कि राजनीति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिए सरकारी नीतियों की आलोचना करना उसका कार्य नहीं है और वह ऐसा कार्य कभी नहीं करता है। इस विषय में आर्यसमाज की नीति का स्पष्टीकरण करते हुए श्री गोकुलचन्द ने लिखा था—

"मैं पत्र-लेखक को इस बात की चुनौती देता हूँ कि वे आर्यसमाजियों की किसी बैठक में दिये गये किसी एक ऐसे भाषण का प्रमाण प्रस्तुत करें जिसमें सरकार की कठोरतम कार्यवाहियों में से किसी एक की भी आलोचना की गयी हो। सामूहिक रूप से आर्यसमाज का सरकार द्वारा किये जाने वाले कार्यों की किसी भी आलोचना से कोई सम्बन्ध नहीं है और मैं आपको यह विश्वास दिलाता हूँ कि पिछले १५ वर्षों में जब से मेरा आर्यसमाज से सम्बन्ध हुआ है, मैंने कभी एक भी ऐसा भाषण नहीं सुना है जिसमें सरकार या इसके अधिकारियों की आलोचना की गयी हो। आर्यसमाज के सदस्य भारत के अन्य राजभक्त धर्मों के अनुयायियों के समान किसी भी सार्वजनिक आन्दोलन में भाग ले सकते हैं और यदि आर्यसमाज के कुछ सदस्य राजनीति में भाग लेते हैं और राजनैतिक संगठनों में प्रमुख पदाधिकारी हैं तो यह इसलिए नहीं है कि वे आर्य हैं, अपितु इसलिए है कि वे भारतीय हैं और इस्लाम तथा अन्य धर्मों के अनुयायियों की भाँति वे सार्वजनिक भावना से ओतप्रोत हैं और इससे प्रेरित होकर राजनैतिक कार्यों में दिलचस्पी लेते हैं। राजनीतिक कार्यों में यदि लाला लाजपतराय जैसे कुछ व्यक्ति प्रमुख स्थान रखते हैं तो इसका कारण उनकी शिक्षा, संस्कृति और सार्वजनिक कार्य करने की भावना है जो उनके आर्य होने का आवश्यक और अनिवार्य परिणाम नहीं है, क्योंकि बंगाल के सुप्रसिद्ध नेता बाबू सुरेन्द्रनाथ हिन्दू हैं, श्री गोपालकृष्ण गोखले ब्राह्मण हैं, दादा भाई नौरोजी और फिरोजशाह मेहता पारसी हैं, सर्वश्री तैयब जी और श्री सयानी मुसलमान हैं।"[2]

१. महात्मा मुंशीराम जिज्ञासु तथा रामदेव—आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स २/८१-८२
२. वही पुस्तक, पृ० २/८२

तीसरा आरोप हिन्दुओं की चिरकालीन दासता का था। इसमें यह कहा गया था कि हिन्दुओं को मुसलमानों की दासता के बन्धन से अंग्रेजों ने मुक्त किया है, फिर भी वे इतने कृतघ्न हैं कि अंग्रेजों के उपकार को स्वीकार नहीं करते हैं और उनके विरुद्ध राज-द्रोह और बगावत का प्रयास करते रहते हैं। यह आरोप सर्वथा निराधार और मिथ्या था। जहाँ तक पंजाब का सम्बन्ध था, वहाँ यह स्पष्ट था कि अंग्रेज जब पंजाब पहुँचे थे तो वहाँ मुसलमानों का नहीं, अपितु महाराजा रणजीतसिंह का शासन था। इस उदार एवं सुयोग्य शासक के निधन के बाद ही अंग्रेज सिक्खों को हराकर पंजाब के शासक बने। महाराजा रणजीतसिंह सिक्खों और हिन्दुओं में कोई भेदभाव नहीं रखते थे और उनके दीवान आदि के अधिकांश महत्त्वपूर्ण पदों पर हिन्दू पदाधिकारी कार्य करते थे। अतः यह स्पष्ट है कि उस समय पंजाब में हिन्दू मुसलमानों के वशवर्ती नहीं थे, अपितु स्वतंत्र थे। इस दशा में लेखक का उपर्युक्त कथन सर्वथा अनैतिहासिक और निराधार है।

चौथा आरोप यह था कि आर्यसमाजी अभी तक ब्रिटिश सरकार के राजभक्तों को खुशामदी और राजनैतिक अधिकारों के भिखारी (Mendicants) कहकर उनकी निन्दा करते रहे हैं और अब इस मनोवृत्ति का परित्याग करके अपनी राजभक्ति की घोषणा करने लगे हैं। यह आरोप इसलिए निस्सार था कि पहले एक अध्याय में यह बताया जा चुका है कि आर्यसमाज में राजभक्ति की परम्परा बड़ी प्राचीन थी और इसके जन्म-काल से ही चली आ रही थी। किन्तु इसके साथ ही समाज स्वदेशी, स्वराज्य, स्वदेशाभिमान और स्वावलम्बन के सिद्धान्तों में विश्वास रखता था, देश-भक्ति के भावों से प्रेरित था और शिक्षा के क्षेत्र में उसने डी० ए० वी० कॉलेज और गुरुकुल स्थापित करके एक नवीन परीक्षण सफलतापूर्वक किया था। जहाँ तक गुरुकुल काँगड़ी का सम्बन्ध था, वह सरकारी नियन्त्रण से सर्वथा स्वतन्त्र था। आर्यसमाजी स्वाधीनता की भावना को अधिक महत्त्व देते थे और अब भी वैसा ही समझते हैं। किन्तु आर्यसमाज अपनी इन देश-भक्तिपूर्ण भावनाओं और विश्वासों के बावजूद पूर्णरूप से राजभक्त हैं। इस विषय में प्रोफेसर गोकुलचन्द ने लिखा था—"आर्यसमाज अपने-आपमें एक राजभक्त संस्था है और इसके सदस्य कानून का इतना अधिक पालन करने वाले हैं कि यद्यपि एक धर्मान्ध मुसलमान द्वारा पण्डित लेखराम का बड़ी निर्ममता के साथ वध कर दिया गया, फिर भी एक भी मुसलमान का बाल नहीं बाँका हुआ। मुझे इस बात पर आश्चर्य है कि आर्यों पर बागी और कानून तोड़ने वाले का कलंक लगाने की धृष्टता आपके पत्र-लेखक ने कैसे की है? जबकि भारत की जेलों में अन्य समुदायों के हजारों अपराधियों की तुलना में आर्य कैदियों की संख्या एक दर्जन भी नहीं होगी।"[1]

पाँचवें आरोप में यह कहा गया है कि अब आर्यसमाजी अपने धर्म के मौलिक सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल राजभक्त होने का दावा कर रहे हैं। इसका गूढ़ आशय यह है कि यदि वस्तुतः आर्यसमाजी अपने धर्म के मन्तव्यों का कट्टरता से पालन करें तो वे ब्रिटिश सरकार के प्रति कभी वफादार नहीं हो सकते हैं, उनका धर्म उन्हें आवश्यक रूप से बगावत का पाठ पढ़ाता है। जो आर्यसमाजी हैं, वे अवश्य विद्रोही और क्रान्तिकारी होंगे।

किन्तु आर्यसमाज के नियमों और सिद्धान्तों पर थोड़ा-सा भी दृष्टिपात करने से

---

१. मुंशीराम जिज्ञासु तथा रामदेव—आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स, २/८२-८३

इस आरोप का बेहूदापन स्पष्ट हो जायेगा। आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध दस नियम हैं। समाज सर्वत्र इनका व्यापक रूप से प्रचार और प्रसार करता है। ये नियम प्रत्येक भारतीय को भली भाँति सुविदित हैं और आर्यसमाजी बनने के लिए इन पर विश्वास रखना और आचरण करना आवश्यक समझा जाता है। इन दस नियमों में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध बगावत करने की कोई बात कहीं नहीं कही गयी है। इस विषय में प्रोफेसर गोकुलचन्द ने अपने पत्र में ठीक ही लिखा था—"मैं आपके पत्रलेखक को चुनौती देता हूँ कि वे समाज के दस नियमों में से कोई एक भी ऐसा नियम दिखा दे जो विदेशियों के निष्कासन अथवा बहिष्कार को प्रोत्साहन देने वाला हो अथवा आर्यसमाजियों के मनों में विद्रोह के भावों को पैदा करने वाला हो। आपके संवाददाता ने केवल विद्वेष की भावना से प्रेरित होकर ही यह वाक्य लिखा है—"आर्यसमाजियों के नये दावे उनके पुराने सिद्धान्तों के प्रतिकूल हैं।" मैं उसे यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि इस समय आर्य जिन बातों का दावा कर रहे हैं, वही उनके सिद्धान्त हैं और यदि मैंने उन्हें अच्छी तरह से समझा है और पढ़ा है तो मैं यह कह सकता हूँ कि भले ही उनके नेताओं को तोपों से उड़ा दिया जाय या तलवार के घाट उतार दिया जाय, फिर भी वे इन सिद्धान्तों का पालन करते रहेंगे।"[1]

सिविल एण्ड मिलिटरी गजट के पत्रलेखक ने आर्यसमाज को राजद्रोही सिद्ध करने के लिए स्वामी दयानन्द द्वारा लिखित सत्यार्थप्रकाश के दस प्रमाण दिये हैं। ये डॉक्टर भारद्वाज कृत अंग्रेजी अनुवाद के सन् १९०६ ईसवी में प्रकाशित संस्करण से उद्धृत किये गये हैं। इनमें अधिकांश छठे समुल्लास के हैं, जिनमें स्वामी जी ने राजधर्म के सार्वभौम सिद्धान्तों का और राजनीति के मौलिक मन्तव्यों का प्रतिपादन किया है। इस अध्याय में विदेशियों का कोई वर्णन नहीं है; उनको भारत से बाहर निकाले जाने की कोई बात नहीं कही गयी है। केवल उन आदर्शों, सिद्धान्तों और मन्तव्यों का वर्णन किया गया है जिनके आधार पर न केवल भारत के, अपितु समस्त विश्व के राज्यों के शासन-प्रबन्ध का संचालन किया जाना चाहिए। इनका विवेचन प्रधान रूप से 'मनुस्मृति' के आधार पर किया गया है। ये नियम तथा आदर्श सार्वभौम हैं, सब देशों के लिए समान रूप से लागू किये जाने वाले हैं और इनमें अंग्रेजों, विदेशियों, विधर्मियों के विरुद्ध कोई बात नहीं कही गयी है। ब्रिटिश साम्राज्य का तख्ता पलटने के लिए कोई प्रेरणा नहीं दी गयी है।

फिर भी, पत्रलेखक ने छठे समुल्लास के यथार्थ स्वरूप, प्रयोजन तथा आशय को न समझते हुए इसमें अंग्रेजों के विरुद्ध बगावत को भड़काने वाले दस सन्दर्भ ढूंढ लिये हैं। वह आर्यसमाज के विरुद्ध अपने पूर्वाग्रहों और पक्षपातों से ग्रस्त है, इनके वशीभूत होकर उसने इन अवतरणों को प्रस्तुत करते हुए उसने तीन बड़ी गलतियाँ की हैं—(१) स्वामी दयानन्द के मूलग्रन्थ को न पढ़कर अंग्रेजी अनुवाद से कुछ वाक्य उठा लिये हैं। (२) इनमें परिवर्तन किया है और डॉ० चिरंजीव भारद्वाज के अनुवाद के कुछ महत्त्वपूर्ण शब्दों को छोड़ दिया है, इससे मूल अर्थ बिल्कुल बदल गया है। (३) अवतरणों के प्रकरण और पूर्वा-पर-प्रसंग का कोई विचार नहीं किया है। मनुस्मृति के श्लोकों के अभिप्राय को पूरी तरह न समझते हुए इन संदर्भों से गलत परिणाम निकाले हैं। ये सभी अवतरण विरोधियों द्वारा आर्यसमाज को राजद्रोही सिद्ध करने के लिए प्रायः प्रस्तुत किये जाते रहे हैं। अन्य

१. मुंशीराम जिज्ञासु—वही पुस्तक, पृष्ठ २/८३

अध्यायों में इनकी चर्चा विस्तारपूर्वक की गयी है, अतः यहाँ केवल नमूने के लिए दो अवतरणों की समीक्षा स्थाली-पुलाक-न्याय से की जाती है ताकि भली-भाँति यह स्पष्ट हो जाय कि पत्रलेखक ने आर्यसमाज के विरुद्ध पक्षपात और विद्वेष की दुर्भावना से प्रेरित होकर महर्षि दयानन्द के वाक्यों के अर्थ का अनर्थ किस प्रकार कर डाला है।

पहले अवतरण में पत्रलेखक के अनुसार यह कहा गया है कि देश का शासन ऐसे क्षत्रिय को करना चाहिए जिसका ज्ञान, संस्कृति और विशुद्धता ब्राह्मण जैसी पूर्ण हो।"[1] इस वाक्य को यदि स्वामी जी के मूल शब्दों से मिलाया जाय तो स्पष्ट हो जाएगा कि यह अनुवाद ठीक नहीं है। यह सन्दर्भ छठे समुल्लास के आरम्भ में है। सत्यार्थप्रकाश के मूल शब्द इस प्रकार हैं—"जैसा परम विद्वान् ब्राह्मण होता है, वैसा विद्वान् सुशिक्षित होकर क्षत्रिय को योग्य है कि इस सब राज्य की रक्षा न्याय से यथावत् करे।" यह स्वामी जी द्वारा मनुस्मृति के निम्नलिखित श्लोक (७।२) का हिन्दी रूपान्तर है—

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम्॥

स्वामी जी का अभिप्राय यह है कि क्षत्रिय को ब्राह्मण की भाँति ज्ञानी, विद्वान् और विद्यासम्पन्न होकर न्यायपूर्वक प्रजा की रक्षा करनी चाहिए।

इस सन्दर्भ में क्षत्रिय शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से शासक के अर्थ में किया गया है। मनुस्मृति एवं प्राचीन धर्मशास्त्रों की भारतीय परम्परा के अनुसार मानव-समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिण, वैश्य एवं शूद्र नामक चार वर्णों में गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार बाँटा गया है। ब्राह्मणों का कार्य अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ आदि धार्मिक कार्य करना है। क्षत्रिय का काम शासन करना तथा वैश्य का व्यापार, उद्योग, शिल्प आदि का कार्य करना है और शूद्रों का कार्य सेवा करना है। मनु के उपर्युक्त सन्दर्भ में क्षत्रिय का अभिप्राय राज्य या शासन करने वाला वर्ग है और उसका यह आशय है कि शासन करने वाले को भली-भाँति सुशिक्षित, ज्ञानी और विभिन्न प्रकार के सभी सद्गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। इसमें कोई भी आपत्तिजनक या राजद्रोहपूर्ण बात नहीं है। राजा जितना बुद्धिमान्, चतुर, दूरदर्शी, विवेकशील, समदर्शी, न्यायपरायण, मानव-स्वभाव का उत्तम ज्ञाता, सदाचारी, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि व्यसनों से रहित, निःस्वार्थ भावना तथा जनकल्याण और परोपकार से प्रेरित होगा, लोकहित के लिए सदा जागरूक रहेगा, अपराधियों को दण्ड देने वाला होगा, वह उतना ही अच्छे ढंग से न्यायपूर्वक शासन कर सकेगा। अज्ञानी, कामी, क्रोधी शासक प्रजा के लिए किस प्रकार अभिशाप बन जाते हैं, इसके उदाहरणों की इतिहास में कोई कमी नहीं है। इस विषय में प्रोफेसर गोकुलचन्द ने ठीक ही लिखा है कि "इस पत्र के लेखक—एक भारतीय का क्या यह अभिप्राय है कि नादिरशाह जैसा अज्ञानी, पशुतुल्य अथवा वाजिद अली जैसा कामुक और व्यसनी व्यक्ति प्रजाजनों का रक्षक बन सकता है?"

इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि पत्रलेखक ने अपने अनुवाद में मूल

---

१. मुंशीराम जिज्ञासु—वही पुस्तक, २/५५
(A Kshatriya whose knowledge, culture and purity are as perfect as those of a Brahman should govern the country.)

सत्यार्थप्रकाश के 'न्याय के साथ प्रजा की' रक्षा करने, की बात को हटा दिया है। न्याय का अभिप्राय सभी प्रजाजनों के साथ, चाहे वे किसी धर्म-वर्ग-जाति या समुदाय के क्यों न हों, बिना किसी पक्षपात के समान व्यवहार करना है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पत्रलेखक के गलत अनुवाद को भी दुर्जन-तोष-न्याय से यदि सही मान लिया जाय, फिर भी इसमें राजद्रोह की कोई बात नहीं कही गयी है। अतः यह प्रश्न उठता है कि इसे आर्यसमाजियों द्वारा विद्रोह को पुष्ट करने वाला प्रमाण क्यों माना है ?

ऐसा प्रतीत होता है कि पत्रलेखक का अभिप्राय क्षत्रिय से यहाँ पंजाब की एक सुप्रसिद्ध खत्री जाति से है, जो उस समय पंजाब के हिन्दुओं में सबसे अधिक सुशिक्षित थी और जिसमें आर्यसमाज बड़ा लोकप्रिय था। कांग्रेस वाले अध्याय में इस पर प्रकाश डाला जा चुका है कि उस समय पंजाब में आर्यसमाज के अधिकांश नेता सर्वश्री मूलराज, महात्मा हंसराज, महात्मा मुंशीराम, लाला देवराज, लाला लालचन्द आदि इसी जाति के थे। पंजाब के गवर्नर सर डेंजिल इब्बटसन द्वारा वायसराय लार्ड मिण्टो को दी गयी सूचना के आधार पर उसने तत्कालीन भारत-मन्त्री मार्ले को एक समुद्री तार में यह सन्देश भेजा था कि १९०७ ई० के उपद्रवों की सबसे बड़ी जड़ एक खत्री था। उनके शब्दों में "समस्त आन्दोलन का केन्द्र तथा आदिस्रोत एक खत्री वकील लाला लाजपतराय है।"[1] वस्तुतः लाला जी अग्रवाल थे।[2] जब पंजाब का गवर्नर भारत के वायसराय को तथा भारतमन्त्री को ऐसी भद्दी भूलभरी सूचना दे सकता था तो 'सिविल एण्ड मिलिटरी गजट' के पत्र-लेखक के लिए यह मामूली भूल थी कि वह मनुस्मृति तथा सत्यार्थप्रकाश में उल्लिखित क्षत्रिय शब्द का अभिप्राय तत्कालीन खत्री जाति समझे और महर्षि दयानन्द के उपर्युक्त सन्दर्भ को इसलिए राजद्रोहपूर्ण बताये कि उसके अनुसार आर्यसमाजी अंग्रेजों का शासन हटाकर उनके स्थान पर खत्रियों का शासन स्थापित करना चाहते हैं।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि पत्र-लेखक ने स्वामी दयानन्द के सत्यार्थप्रकाश के अवतरणों को कितने भ्रान्तिपूर्ण और गलत रूप में प्रस्तुत करके सरकार को उसके राज-द्रोही होने का विश्वास दिलाने का प्रयास किया था। यह उसका पहला ही अवतरण था और 'प्रथमे ग्रासे मक्षिका पातः' का सुन्दर उदाहरण था। इसके बाद के अगले अवतरण भी इसी प्रकार की भ्रान्तियों और गलतियों से भरे हुए हैं। यहाँ केवल एक अन्य ऐसे अवतरण का ही उल्लेख किया जायेगा।

पत्र-लेखक द्वारा दिया गया तीसरा अवतरण मनुस्मृति के एक श्लोक का अनुवाद है।[3] पत्र-लेखक के अनुवाद के अनुसार इसमें यह कहा गया है कि—"राज्य के चार प्रधान अधिकारी—मुख्य सेनापति, नागरिक शासन का अध्यक्ष, न्यायाधीश और इन सबके अध्यक्ष राजा के पद उन्हीं व्यक्तियों को दिये जाने चाहिएँ जो वेदों और शास्त्रों के विद्वान् हों।" पत्र-लेखक इससे यह अभिप्राय निकालना चाहता है कि भारत के वर्त-मान शासक वेदों के ज्ञाता नहीं हैं, अतः वे देश के शासन-प्रबन्ध की योग्यता नहीं रखते

---

१. अलगूराय शास्त्री—लाला लाजपतराय, पृ० १३८

२. विजयचन्द्र जोशी—लाला लाजपतराय, पृ० ११

३. सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ (१२।१००)

हैं। अतः इसमें प्रच्छन्न रूप से भारतीयों को वेद न जानने वाले अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह करने की प्रेरणा दी गयी है।

वस्तुतः पत्र-लेखक का यह अनुवाद भ्रान्तिपूर्ण है। स्वामी जी ने अपने सत्यार्थ-प्रकाश में इस श्लोक की व्याख्या करते हुए लिखा है—"मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य न्यायाधीश, प्रधान और राजा, ये चार सब विद्याओं में पूर्ण विद्वान् होने चाहिएँ।" यहाँ स्वामी जी ने वेद का अर्थ यौगिक दृष्टि से बड़े व्यापक रूप में किया है, वे वेद का लोक-प्रचलित रूढ़ अर्थ—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद नहीं मानते, अपितु 'वेद' शब्द का निर्माण करने वाली 'विद् ज्ञाने' धातु के आधार पर उसे सब प्रकार के प्राचीन एवं अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञानों का समुच्चय मानते हैं। उनका यह अभिप्राय है कि शासन के उच्चतम अधिकारियों को सब प्रकार के ज्ञान-विज्ञान में पारंगत और पूरी तरह निष्णात होना चाहिए, तभी वे अच्छी तरह प्रजा का शासन कर सकेंगे। यह बात एक सार्वभौम सामान्य नियम के रूप में कही गयी है; इसका अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह करने का कोई अभिप्राय नहीं है।

यह बात एक प्रकार से भारत पर अंग्रेजों के शासन के औचित्य को पुष्ट करने वाली है। अंग्रेज पश्चिमी जगत् के नवीन ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न थे, रणकला और शासन-कला की नयी पद्धतियों से अभिज्ञ थे और इसी कारण वे भारत के शासक बने थे, अतः यह ठीक ही कहा गया है कि—"स्वामी जी का यह सन्दर्भ भारत पर ब्रिटिश शासन का प्रबल औचित्य सिद्ध करने वाला था, क्योंकि कोई भी आर्य ऐसा बेवकूफ नहीं था जो इस बात को स्वीकार न करता हो कि अंग्रेज वैज्ञानिक ज्ञान और चरित्र की दृष्टि से भारतीयों से अधिक बढ़े-चढ़े हैं।"[1]

इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि सिविल एण्ड मिलिटरी गजट के पत्र में जिन सन्दर्भों की आलोचना की गयी है, वे सभी मनुस्मृति के श्लोकों के अनुवाद मात्र हैं। स्वामी जी ने इन्हें प्राचीन भारत की आदर्श राज्यव्यवस्था के रूप में उद्धृत किया है। मनु के ये वचन न केवल भारत के लिए, अपितु विश्व के सभी राज्यों के लिए लिखे गये थे। उसने अपनी मनुस्मृति में न केवल धार्मिक, अपितु सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों के सभी प्रकार के नियमों का प्रतिपादन किया है और उसके ग्रन्थों में विदेशियों के प्रति घृणा अथवा विद्वेष के कोई भाव नहीं हैं। पत्र-लेखक द्वारा उद्धृत इन दसों अवतरणों में ऐसी कोई बात नहीं है। प्रायः इस विषय में आर्यसमाज के विरोधियों द्वारा यह आपत्ति उठायी जाती है कि 'स्वामी दयानन्द विशुद्ध रूप से धर्म का प्रचार और संशोधन करने वाले व्यक्ति थे; उन्होंने अपने धार्मिक मन्तव्यों का प्रतिपादन करने के लिए सत्यार्थप्रकाश लिखा था। उसमें राजनैतिक विषयों की चर्चा करने की क्या आवश्यकता थी? इनकी चर्चा करने से ही स्पष्ट है कि आर्यसमाज एक धार्मिक नहीं, अपितु राजनैतिक संस्था है और इसके माध्यम से स्वामी दयानन्द विदेशियों के प्रति घृणा उत्पन्न करके ब्रिटिश शासन को हटाने की शिक्षा अपने अनुयायियों को दिया करते थे।' सरकारी पक्ष के वकील ग्रे ने पटियाला-अभियोग की अपनी आरम्भिक वक्तृता में इस युक्ति पर बड़ा बल दिया था।

---

१. मुंशीराम जिज्ञासु—वही पुस्तक, पृ० २/८५

वस्तुतः यह बात वैसी ही कोरी गप्प थी जैसी कुछ एंग्लो-इण्डियन पत्रों ने लाला लाजपतराय की गिरफ्तारी से पहले यह गप्प उड़ायी थी कि उन्होंने ब्रिटिश सत्ता को समाप्त करने के लिए एक लाख नौजवानों की फौज संगठित की है।[1] इस गप्प को उड़ाने का एकमात्र उद्देश्य लाला लाजपतराय को बदनाम करना और गिरफ्तार कराना था। अन्यत्र इस प्रकार की आर्यसमाज-विरोधी कुछ अन्य गप्पों का विवेचन किया जायेगा। यहाँ इस प्रसंग में इतना ही लिखना पर्याप्त है कि स्वामी दयानन्द ने जीवन के सभी पहलुओं और समस्याओं का विवेचन सत्यार्थप्रकाश में किया है। वे धर्म को वर्तमान समय में प्रचलित इसके संकीर्ण अर्थ—ईश्वर आदि के विषय की मान्यताओं और धार्मिक विधि-विधानों को ही नहीं मानते थे, अपितु इसे अत्यन्त व्यापक समझते थे। मनुस्मृति के अनुसार समाज का धारण करने वाले सभी नियमों और विषयों का इसमें समावेश करते थे। इसलिये उन्होंने मनुष्य-जीवन से सम्बन्ध रखने वाले सभी नियमों का इस ग्रन्थ में विवेचन किया है, चूंकि राजनीति मनुष्य के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण भाग है, अतः उन्होंने इसमें राजनैतिक विषयों का भी विवेचन किया है।

इसके साथ ही हमें इस बात को भी दृष्टि में रखना चाहिए कि प्राचीन भारतीय स्मृतिकार समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नामक चार वर्णों में बाँटते थे और इन सबके धर्मों और कर्त्तव्यों का प्रतिपादन किया करते थे। अतः मनु ने जहाँ ब्राह्मणों के कर्त्तव्यों का वर्णन किया है, वहाँ उसके साथ क्षत्रियों के कर्त्तव्यों का भी विस्तृत प्रतिपादन किया है। इसी दृष्टि से मनुस्मृति का अनुसरण करते हुए स्वामी जी ने शासक और राजा के कर्त्तव्यों का विवेचन करने के लिए एक पूरा छठा समुल्लास लिखा है। इस विषय में एक लेखक ने ठीक ही लिखा है कि "स्वामी दयानन्द द्वारा राजा के कर्त्तव्यों के प्रतिपादन करने का यह कारण था कि वे यह चाहते थे कि उनका ग्रन्थ न केवल सामान्य व्यक्तियों द्वारा अथवा पाठशालाओं में पढ़ने वाले ब्राह्मण छात्रों द्वारा पढ़ा जाय, अपितु इस देश के राजा-महाराजा भी इसका स्वाध्याय करें। न केवल राजा-महाराजा अपितु वैदिक धर्म की जिज्ञासा रखने वाले सभी व्यक्ति, भले ही वे क्षत्रिय नाम का धारण करने वाले न हों, शासन-विषयक सिद्धान्तों का इससे लाभ उठा सकें। कोई भी अंग्रेज, जापानी या अमरीकन यदि अपने देश के प्रशासन में दिलचस्पी रखता हो तो इन सिद्धान्तों का अनुशीलन कर सके।"[2]

इसके साथ ही स्वामी दयानन्द सत्य और न्याय को सभी प्रकार के उत्तम शासन का आधारभूत सिद्धान्त समझते थे और राजाओं को अपने राज्य-कार्य में इन सिद्धान्तों के पालन के बारे में शिक्षा देना चाहते थे। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि स्वामी जी ने अपने जीवन के सन्ध्याकाल में राजस्थान के विभिन्न राज्यों की यात्रा की थी और इस बात का प्रयास किया था कि उदयपुर, जोधपुर आदि के वर्तमान राजा प्राचीन भारतीय स्मृतिशास्त्रों के आधार पर अपनी प्रजा का शासन करें। उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह को वे मनुस्मृति के राजधर्म के प्रकरणों की शिक्षा भी देते रहे थे। इसमें उनका एकमात्र उद्देश्य जनहित की दृष्टि से शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए

---

१. अलगूराय शास्त्री—लाला लाजपतराय : जीवनी, पृ० १३३

२. मुंशीराम—वही पुस्तक, पृ० २/८९-९०

शासकों को समुचित निर्देश प्रदान करना था, न कि ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध राजद्रोह का प्रचार करना।

इस पत्र में आर्यसमाजियों पर यह भी आरोप लगाया गया था कि पहले वे लाला लाजपतराय की प्रशंसा किया करते थे और अब उन्होंने अपना रवैया बदल लिया है और उनसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस समय कुछ आर्य-समाजी नेताओं ने ऐसा रवैया अपनाया था। इसका उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है। किन्तु सामान्य रूप से अधिकांश आर्यसमाजी लाला लाजपतराय को गिरफ्तारी के बाद भी उतना ही सच्चा आर्य और स्वामी दयानन्द का अनुयायी समझते थे, जितना इससे पहले मानते थे। उन्हें 'पंजाब केसरी' कहा जाता था। इस पर कटु व्यंग्य करते हुए एंग्लो-इण्डियन पत्र के लेखक ने लिखा कि "पंजाब के जमींदार-आन्दोलन में वे अवश्य शेर की तरह कूदे, किन्तु उन्हें जल्दी ही इससे अलग होकर भाग जाना पड़ा।" इस पर प्रो० गोकुलचन्द की टिप्पणी थी कि—"वे निश्चित रूप से एक शेर थे। हमेशा सत्य भाषण करते थे और चाहे कितना भी विरोध क्यों न हो, उसके कितने भीषण परिणाम क्यों न हों, किन्तु वे जिसे सत्य समझते थे उसे निर्भीकतापूर्वक कहने का साहस रखते थे। उनके मित्र उन्हें अब रणस्थल से भाग जाने वाले खरगोश के रूप में चित्रित करने की कोशिश नहीं कर रहे हैं, अपितु केवल यही कह रहे हैं कि उनके विरोधियों ने अदृश्य सेनाओं द्वारा लाहौर जैसे किलों और कस्बों पर हमला करने वाले महान् राक्षस के रूप में उनका जो चित्रण किया है, वह सर्वथा मिथ्या है।"[1]

सिविल एण्ड मिलिटरी गजट के लेखक ने आर्यसमाजियों पर आरोप लगाया है कि वे लाला लाजपतराय की गिरफ्तारी से पहले उनकी प्रशंसा करते थे और बाद में निन्दा करने लगे हैं। इस आरोप का महात्मा मुंशीराम ने एक बड़ा विलक्षण, तर्कपूर्ण और प्रामाणिक उत्तर दिया। उनका यह कहना था कि वे लाला लाजपतराय और कांग्रेस की गरम दल की नीतियों का पहले भी विरोध किया करते थे और अब भी उसी दृढ़ता के साथ उनकी आलोचना कर रहे हैं। आर्यसमाज की नीति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है। इसे प्रमाणित करने के लिए उन्होंने लाला जी की गिरफ्तारी से पहले 'सद्धर्म प्रचारक' में प्रकाशित किये गये अपने लेखों में से कुछ अवतरण प्रस्तुत किये। १९ जनवरी १९०६ के अंक में उन्होंने कांग्रेस के उन नेताओं को आड़े हाथों लिया था, "जो देश के नवयुवकों को पथ-भ्रष्ट करने के लिए उन्हें राजनीति में भाग लेने के लिए प्रेरित कर रहे थे और स्वयं चरित्रहीन थे।" इस विषय में उन्होंने बड़ा सुन्दर उदाहरण देते हुए कहा था—"हे कांग्रेस के नेताओ, इस समय आप हर बात में स्वदेशी पर बल दे रहे हैं। इस विषय में शास्त्रों की बात सुनिये। मनु कहता है कि पाप की कमाई जिस घर में प्रविष्ट होती है, उसे नष्ट कर देती है। आपकी कांग्रेस को जो धन मिलता है, वह न केवल घूंस और पाप की कमाई होती है, अपितु आप लोगों में चरित्र को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता है। हमारे शास्त्र चरित्र-निर्माण को मनुष्य का प्रधान कर्त्तव्य समझते हैं, किन्तु आपके नेताओं में ऐसे प्लीडर हैं, जिन्होंने वकालत की परीक्षा घूंस देकर पास की है। मैं १८९९ ई० के लखनऊ कांग्रेस के अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए गया

१. मुंशीराम जिज्ञासु—वही पुस्तक, पृ० २/९०

था। मैंने वहाँ यह देखा कि कांग्रेस के तीन-चौथाई प्रतिनिधि रात को न्यू एल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी में नाटक देखने जाया करते थे और सवेरे उठकर परमेश्वर से प्रार्थना करने के स्थान पर रात को सुने गीत गुनगुनाने लगते थे। क्या ऐसे कामुक व्यक्ति एक पतित, दास जनता का उद्धार करने का दावा कर सकते हैं? मेरी भगवान् से प्रार्थना है कि आपकी जो शक्तियाँ इस समय केवल प्रदर्शन में लगी हुई हैं, आगामी सन्ततियों के चरित्र-सुधार के पुनीत धर्म में लग जायें। आपके पूर्वज प्रार्थना किया करते थे कि हम मित्रों तथा शत्रुओं से निर्भय हों (अभयं मित्रादभयमभित्रात्)···जब तक आपका शरीर, मन और आत्मा आदर्श स्थिति नहीं प्राप्त कर लेता है, तब तक स्वतन्त्रता आपके लिए हानिकारक होगी।···अतः आप अपना तथा भावी पीढ़ी का चरित्र सुधारने का प्रयत्न कीजिए, फिर आप स्वयमेव स्वतन्त्र हो जायेंगे। मुझे एक अंग्रेज मित्र ने कहा था—यदि आप आदर्श चरित्र रखने वाले व्यक्ति पैदा करते हैं तो अंग्रेज आपके देश में नहीं रह सकते हैं। वे अपनी इच्छा से आपको अपना देश सौंप देंगे और यहाँ से चले जायेंगे।"[1]

२७ जनवरी १९०६ ई० के 'सद्धर्म प्रचारक' के अंक में उन्होंने बनारस में हुई कांग्रेस के अवसर पर हिन्दूधर्म-सभा, आर्यसमाज तथा कांग्रेस के प्रचार की तुलना करते हुए एक लेख लिखा था। इसका शीर्षक था—"अशान्ति में शान्त रहना सच्ची आर्य-भावना है।" इसमें आर्यों को चेतावनी देते हुए कहा गया था कि उन्हें कांग्रेस आन्दोलन के प्रवाह में न बहकर अपने चरित्र की उन्नति पर बल देना चाहिए। कांग्रेस राजनैतिक अधिकारों की माँग कर रही है। इसका उत्तर देते हुए उन्होंने उस समय लिखा था—"इस समय हम सब अधोगति प्राप्त कर चुके हैं। हममें परमेश्वर की पूजा करने योग्य गुणों का अभाव है। इसीलिये हम सदा गुलामी समझौते और षड्यन्त्रों की बातें करते हैं। एक (कांग्रेस वाला) कहता है कि—'आइये हम वर्तमान सरकार से अपने अधिकारों की माँग करें।' क्या बढ़िया बात है! किन्तु क्या आप अधिकार पाने के योग्य हैं?"[2]

इस विषय में अपना आशय अधिक स्पष्ट करते हुए तथा चारित्रिक उन्नति पर बल देते हुए उन्होंने २३ मार्च १९०६ ई० के 'सद्धर्म प्रचारक' में लिखा था—"प्रत्येक मानव-समाज को अपने कर्मों का फल मिलता है। भारतीयों के पापों का घड़ा बहुत दिनों से भर रहा है।···मेरा यह विश्वास है कि जब तक उच्च चरित्र-सम्पन्न व्यक्तियों की संख्या नहीं बढ़ती है, मनुष्य अपनी वासनाओं के दमन का पाठ नहीं पढ़ते हैं, तब तक उन्हें कोई राजनैतिक अधिकार नहीं प्राप्त हो सकते हैं। इस कारण देश के वास्तविक कल्याण की कामना करने वाले को सबसे पहले अपने दोषों का पता लगाकर उन्हें सुधारना चाहिये और उसके बाद अपनी सन्तान के दोषों को दूर करने का प्रयास करना चाहिए।"[3]

उपर्युक्त लेखों में महात्मा मुंशीराम ने प्रधान रूप से लाला लाजपतराय द्वारा राजनैतिक अधिकारों के लिए उठायी जाने वाली माँग और उनके अतिवादी उग्र विचारों का विरोध किया था, फिर भी वे देश की स्वतन्त्रता पाने तथा सुरक्षित रखने के लिए आचरण को शुद्ध, पवित्र तथा वैदिक आदर्शों के अनुरूप बनाने पर बल देते रहे। इस

---

१. मुंशीराम जिज्ञासु—पूर्वोक्त पुस्तक, २/७५-७६
२. वही पुस्तक, पृ० २/७६
३. वही, पृ० २/७६-७७

पर २६ अक्तूबर १९०६ ई० के 'सद्धर्म प्रचारक' में उन्होंने एक अग्रलेख लिखा। इसका शीर्षक था—"अपने कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व पहचानिये।" इसमें भारतीय समाज के अवगुणों तथा बुराइयों का विश्लेषण करने के बाद उन्होंने लिखा था—"मुझे बड़ा दुःख है कि समय के प्रवाह में बहते हुए मेरे आर्य-बन्धु स्वामी दयानन्द के उस उद्देश्य को भूल गये हैं, जिससे प्रेरित होकर स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना की थी। स्वामी दयानन्द ने यह स्वीकार किया था कि भारतीय प्राचीन आदर्शों के उच्च धरातल से गिर गये हैं। वे यह समझते थे कि जब एक ओर (पश्चिमी देशों के) व्यक्ति वेद से कुछ भी प्रकाश न ग्रहण करते हुए अज्ञात रूप से वैदिक सिद्धान्तों का पालन करते हुए उनके आदर्शों का अनुसरण कर रहे हैं, दूसरी ओर हम भारतीय वैदिक ज्ञान के प्रकाश से वंचित हैं। इसी कारण उन्होंने भारतीयों के लिए तथा समूचे संसार के लिए वैदिक धर्म के सूर्य का प्रकाश दिया था। अब क्या हालत है? यद्यपि आर्यसमाज के कुछ सदस्य वैदिक ज्ञान के सूर्य की सहायता से सब वस्तुओं को यथार्थ रूप में देखने लगे हैं, फिर भी ऐसे लोगों की बहुसंख्या है, जिन्होंने वैदिक सूर्य के प्रकाश से पूरा लाभ नहीं उठाया है। इसका कारण स्पष्ट है। ऐसे लोग वैदिक आदर्शों की दिशा में आगे नहीं बढ़ना चाहते हैं। क्षत्रिय के धर्म का उदाहरण लीजिये।···तुलना करने पर यह पता लगेगा कि इंग्लैण्ड में हजारों ऐसे व्यक्ति हैं जिनमें से प्रत्येक देश के शासन की बागडोर सँभाल सकता है और न्यायपूर्वक शासन-प्रबन्ध कर सकता है, किन्तु (भारत के) राजाओं, महाराजाओं पर दृष्टिपात करने पर हमें केवल ऐसे व्यक्ति गायकवाड़ अथवा दो या तीन राजा ही दिखायी देते हैं।"[1]

इसके बाद महात्मा मुंशीराम ने लाला जी के सन्दर्भ में उनकी तथा आर्यसमाज की कटु आलोचना करने वाले एंग्लो-इण्डियन पत्रों की निन्दा करते हुए लिखा था—"पंजाब के आर्यसमाजियों की बहुसंख्या वर्तमान राजनैतिक मामलों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहती है।···यदि हम वैदिक आदर्शों तक पहुँच जायँ तो क्या भारतीयों में यह योग्यता है कि वे पक्षपात-शून्यता तथा न्याय के सिद्धान्तों के अनुसार शासन चला सकते हैं?···मेरी सम्मति में इस समय कोई भी समझदार आर्य यह नहीं चाहेगा कि ब्रिटिश शासन की समाप्ति हो, क्योंकि केवल इसी शासन में हम निर्भीकतापूर्वक अपने सिद्धान्तों का प्रचार और उन पर आचरण कर सकते हैं।"[2] इस प्रसंग में यह बात उल्लेखनीय है कि कॉलिज पार्टी वालों ने जिनका लाला जी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था, जब अपने मान्य नेता से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था, उस समय भी महात्मा मुंशीराम लाला लाजपत-राय का प्रबल समर्थन करते रहे।

उन दिनों सभी डी० ए० वी० स्कूलों तथा आर्य-शिक्षणालयों में सत्यार्थप्रकाश पढ़ाया जाता था; विद्यार्थियों को धर्म-शिक्षा दी जाती थी। यह पाठ्यक्रम का अनिवार्य विषय था। सिविल एण्ड मिलिटरी गजट के एंग्लो-इण्डियन पत्र-लेखक ने सरकार को यह सुझाव दिया था कि स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों के अपरिपक्व तथा अविकसित मनों को राजद्रोह से दूषित और विषाक्त करने वाले सत्यार्थप्रकाश जैसे ग्रन्थ नहीं पढ़ाये जाने

१. वही पुस्तक, पृ० ७७
२. वही पुस्तक, पृ० ७७-७८

चाहिएँ। लेखक द्वारा राजद्रोह को प्रमाणित करने के लिए उद्धृत किसी भी अवतरण में राजद्रोह की कोई गन्ध तक नहीं थी, अतः इस विषय में लेखक का यह कथन सर्वथा मिथ्या, कपोलकल्पित और दुर्भावनापूर्ण था। प्रो० गोकुलचन्द ने इस विषय में सुप्रसिद्ध ब्रिटिश लेखक जे० जे० पूल की 'स्टडीज़ इन मोहम्मडनिज़्म' (इस्लाम का अध्ययन) में दी गयी और दिन में पाँच बार पढ़ी जाने वाली नमाज के उन वाक्यों को उद्धृत किया था जिनमें भगवान् से काफिरों, बहुदेव-पूजकों को नष्ट करने की प्रार्थना की गयी है। यह प्रार्थना बचपन से ही मुसलिम स्कूलों में बच्चों को सिखायी जाती है। पूल ने इस पर यह टिप्पणी की थी कि इससे इस्लाम की नयी पीढ़ी पिछली पीढ़ियों की भाँति समूचे विश्व को क्रोध और घृणा की दृष्टि से देखने लगती है। स्कूलों में ऐसी प्रार्थनाओं और धार्मिक शिक्षा का निषेध किया जाना चाहिए जिसके कारण पण्डित लेखराम जैसे व्यक्तियों की हत्या होती है।"[1]

अन्त में पत्र-लेखक ने कहा था कि—"कुछ लोग आर्यसमाज को कांग्रेस आन्दोलन का दूसरा रूप समझते हैं। मैं बलपूर्वक यह घोषणा करता हूँ कि यह एक बड़ी भयंकर गलतबयानी है। कांग्रेस विशुद्ध रूप से राजनैतिक संस्था है। इसके भले ही कोई भी गुण-दोष क्यों न हों, यह बुद्धि को अपील करती है। किन्तु आर्यसमाज इसके सर्वथा विपरीत अपने को विशुद्ध धार्मिक संस्था कहती है और यह मनुष्य की आत्मा को प्रभावित करने वाले प्रबलतम तूफानी, अधिकतम बर्बर और नियन्त्रण न किये जा सकने वाले तत्त्वों को अपील करती है। इन्हीं धार्मिक भावनाओं के कारण लाला लाजपतराय जैसा चतुर, सन्तुलित मस्तिष्क वाला, दूरदर्शी व्यक्ति धार्मिक भावनाओं के प्रवाह में बह गया और वहाँ वकालत में मिलने वाली सफ़लता, सुख-सुविधा वाले जीवन और हिन्दू-समाज में प्रतिष्ठित स्थान का परित्याग करके राजनैतिक आन्दोलन में पड़ गया। सरकार को इन महत्त्वपूर्ण घटनाओं की ओर ध्यान देना चाहिए और इससे शिक्षा लेनी चाहिए।"[2]

उपर्युक्त अवतरण से स्पष्ट है कि सिविल एण्ड मिलिटरी गजट जैसे एंग्लो-इण्डियन पत्रों ने आर्यसमाज को सरकार की दृष्टि से गिराने में तथा राजद्रोही सिद्ध करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। उन्होंने पंजाब के उपद्रवों तथा किसान-आन्दोलन के बारे में बड़ी अतिरंजित पक्षपातपूर्ण खबरें छापीं, अनर्गल आरोप लगाने वाले पत्र तथा लेख प्रकाशित किये। पंजाब सरकार इससे बड़ी प्रभावित हुई। उसने इसके परिणामस्वरूप आर्यसमाज के दमन का निश्चय कर लिया। अगले अध्यायों में इसकी विवेचना की जायेगी।

---

१. वही पुस्तक, पृ० २/७७-७८

२. वही पुस्तक, पृ० २/५७

ग्यारहवाँ अध्याय

आर्यसमाज के प्रति संयुक्त प्रान्त की सरकार का दृष्टिकोण

स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहले वर्तमान उत्तर प्रदेश आगरा व अवध के संयुक्त प्रान्त के नाम से प्रसिद्ध था। इसका न केवल भारत के, अपितु आर्यसमाज के इतिहास में विशिष्ट महत्त्व है। स्वामी दयानन्द को वर्षों तक सच्चे गुरु की खोज में भटकते हुए इसी प्रान्त में प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्द के रूप में आदर्श गुरु प्राप्त हुए थे। उनसे आर्य-दृष्टि प्राप्त करके स्वामी दयानन्द ने इसी प्रदेश में सर्वप्रथम अपना प्रचार-कार्य आरम्भ किया था। हरिद्वार में पाखण्ड-खण्डनी पताका फहराई थी और वाराणसी में उस समय सम्पूर्ण भारत में समादृत पण्डित-मण्डली को वेद में प्रतिमा-पूजन सिद्ध करने के लिये काशी-शास्त्रार्थ में प्रबल चुनौती दी थी। स्वामी जी ने अपने प्रचार के आरम्भिक वर्ष गंगा-यमुना के दोआब में व्यतीत किये थे। यह अद्भुत संयोग है कि आर्यसमाज को राज-द्रोही संस्था समझने का श्रीगणेश भी संयुक्त प्रान्त से हुआ। यहाँ सर्वप्रथम स्वामी जी के निर्वाण के बाद ईसाई पादरियों ने इस तथ्य की ओर संयुक्त प्रान्त की सरकार का ध्यान आकृष्ट किया और पिछली शताब्दी के अन्तिम चरण से ही सरकारी अधिकारियों द्वारा आर्यसमाज के राजद्रोही होने का सन्देह किया जाने लगा।

वर्तमान शताब्दी के पहले दशक की समाप्ति पर संयुक्त प्रान्त के गुप्तचर विभाग के उप-अधीक्षक सी० ई० डब्ल्यू० सैण्ड्स ने विभिन्न जिलों से गुप्तचर विभाग के कर्मचारियों द्वारा प्राप्त सूचनाओं के आधार पर एक पुस्तक **आर्यसमाज इन दि यूनाइटिड प्रोविन्सिज** (संयुक्त प्रान्त में आर्यसमाज) के नाम से लिखी।[1] यह गोपनीय पुस्तक १९१० में प्रकाशित हुई थी और भारत सरकार के गुप्तचर विभाग ने इसे इतना अधिक महत्त्व दिया कि इस पुस्तक के आधार पर आर्यसमाज पर प्रतिबन्ध लगाने के प्रस्ताव रखे। इस पुस्तक की यह विशेषता है कि इसमें पहली बार सरकारी तौर पर इस विषय में विस्तृत रूप से विचार किया गया था कि आर्यसमाज को किन कारणों से राजद्रोह को

---

१. Aryasamaj in the United Provinces by C. E. W. Sands, Superintendent of Police, Criminal Investigation Department, United Provinces Allahabad, १९१०। लेखक को उत्तर प्रदेश के गृह-विभाग ने इस पुस्तक का अवलोकन करने की अनुमति प्रदान की, इसके लिए वह उत्तर प्रदेश सरकार का आभारी है। सरकारी निर्देश के अनुसार इस पुस्तक की पृष्ठ संख्या के प्रतीक नहीं दिये गये हैं।

प्रोत्साहन देने वाली राजनैतिक संस्था समझा जाना चाहिए। ऐतिहासिक दृष्टि से इस पुस्तक का विशेष महत्त्व है। अतः यहाँ इसके आधार पर इस बात का प्रतिपादन किया जायेगा कि संयुक्त प्रान्त के तत्कालीन गुप्तचर विभाग ने किन कारणों के आधार पर आर्यसमाज को एक क्रान्तिकारी और जनता में विद्रोह की भावना उत्पन्न करने वाली संस्था समझा और अन्त में यह बताया जायेगा कि भारत सरकार ने किन कारणों से आर्यसमाज पर प्रतिबन्ध लगाना उचित नहीं समझा।

यह पुस्तक दो भागों में बँटी हुई है। इसके पहले नौ अध्यायों में आर्यसमाज के संस्थापक का वर्णन करते हुए आर्यसमाज के धर्म पर प्रकाश डाला गया है और सत्यार्थप्रकाश के उन अंशों का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है जिनके आधार पर तत्कालीन सरकारी अधिकारी आर्यसमाज को राजद्रोही समझते थे। इसके बाद एक सामाजिक और राजनैतिक शक्ति के रूप में आर्यसमाज की विवेचना की गयी है और यह बताया गया है कि इसके द्वारा पोषित और समर्थित गुरुकुल काँगड़ी किस प्रकार राजद्रोहपूर्ण गतिविधियों का केन्द्र है। आठवें अध्याय में उत्तर प्रदेश में आर्यसमाज के विकास का विवेचन किया गया है और नवम अध्याय में इस आन्दोलन के बारे में कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाले गये हैं और अन्त में यह कहा गया है कि आर्यसमाज का रुझान और प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से ब्रिटिश-विरोधी है।

इस पुस्तक के दूसरे भाग में उत्तर प्रदेश के हर जिले से प्राप्त पुलिस की सूचनाओं के आधार पर उस जिले में आर्यसमाज के विकास पर प्रकाश डालते हुए यह बताया गया है कि किन जिलों के आर्यसमाजों में स्पष्ट रूप से राजद्रोह की प्रवृत्ति दिखायी देती है। इस पुस्तक में इस बात पर बल दिया गया है कि आर्यसमाज की तीन ऐसी मौलिक विशेषतायें हैं, जो उसे स्पष्ट रूप से राजद्रोही बनाती हैं। ये विशेषतायें हैं—देशभक्ति की भावना, ईसाई-विरोधी भावना, और राष्ट्रीयतामूलक धर्म।

(१) देशभक्ति की भावना

भारतीय धर्मों के विकास में आर्यसमाज का स्थान निर्धारित करते हुए प्रथम अध्याय में यह बताया गया है कि आर्यसमाज हिन्दू-धर्म में सुधार करने वाला सम्प्रदाय है। यह पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रादुर्भूत हुआ। इस एकेश्वरवादी सम्प्रदाय का प्रधान उद्देश्य हिन्दू-धर्म में आयी धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों का संशोधन करके पुराने वैदिक धर्म का पुनरुज्जीवन करना और वेदों की पुनः प्रतिष्ठा करना है। हिन्दू-धर्म के सुधार के लिए प्राचीन, मध्य तथा वर्तमान युग में अनेक सुधार-आन्दोलन हुए हैं। शंकराचार्य, कबीर, नानक आदि ने अपने ढंग से हिन्दू-धर्म के सुधार का प्रयत्न किया। १९वीं शताब्दी में राजा राममोहन राय ने भी हिन्दू-समाज में आयी कुरीतियों के सुधार के लिए ब्राह्मसमाज के रूप में एक नवीन आन्दोलन चलाया। किन्तु स्वामी दयानन्द का आन्दोलन इसकी तुलना में अधिक सशक्त था। उन्होंने इसे एक नवीन धर्म के रूप में नहीं, अपितु आर्यावर्त के स्वर्ण युग में प्रचलित धर्म के रूप में चलाया। इसका प्रधान उद्देश्य धर्म की वर्तमान शोचनीय दशा को दूर करना और प्राचीन आर्यावर्त के विलुप्त गौरव का पुनरुद्धार करना है। स्वामी दयानन्द की यह इच्छा थी जिस प्रकार प्राचीन काल में भारत सब देशों का अग्रणी था और मनुस्मृति के शब्दों में सभी देशों का गुरु

था, इसी प्रकार वर्तमान समय में भी इस देश को संसार का शिरोमणि देश बनाया जाना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब हिन्दू-समाज में उत्पन्न हुई कुरीतियों का निवारण किया जाय और इसे पुनः जगद्गुरु बनाया जाय। इस प्रकार आर्यसमाज देश-भक्ति एवं देशप्रेम के तत्त्व को विशेष महत्त्व देता था और भारत के गौरव को बढ़ाना चाहता था। आर्यसमाज भारत की दुर्दशा का एक बड़ा कारण विदेशी शासन को मानता था और उससे मुक्त होना चाहता था। देशप्रेम की भावना प्रमुख होने के कारण यह भारत का एक ऐसा राष्ट्रीय धर्म था जो भारत से विदेशी तत्त्वों की शुद्धि करना चाहता था। श्री सैण्ड्स ने इस प्रसंग में आर्यसमाज की ब्राह्मसमाज तथा प्रार्थनासमाज के आन्दोलनों से तुलना की है और यह बताया है कि यद्यपि ये दोनों आन्दोलन प्रधान रूप से हिन्दू-धर्म और समाज का संशोधन चाहते थे, किन्तु इनमें प्रमुख मतभेद देशभक्ति के प्रश्न पर था। स्वामी जी ने ११वें समुल्लास में ब्राह्मसमाज की आलोचना करते हुए प्रधान रूप से देश-भक्ति और राष्ट्रीयता के आधार पर इनमें चार बड़े दोष बताये हैं—

(१) ब्राह्मसमाज के अनुयायियों में देशभक्ति की कमी है। वे अनेक बातों में ईसाइयों का अन्धानुकरण करते हैं, उन्होंने दूसरों के साथ विवाह आदि के मामलों में अपने धर्म का परित्याग कर दिया है।

(२) वे ईसाइयों और यूरोपवासियों की प्रशंसा के गीत गाते हैं। उन्हें आर्यावर्त की जनता में कोई गुण या अच्छी बातें नहीं प्रतीत होती हैं।

(३) वे अपने सम्प्रदाय के आराध्य महापुरुषों में हजरत ईसा, हजरत मूसा, पैगम्बर मुहम्मद को सम्मिलित करते हैं और विदेशी धर्मों के प्रति उनकी इतनी अनुरक्ति और भक्ति है कि वे अपनी पूर्वजों के धर्म को बिलकुल भुला बैठे हैं।

(४) वे यूरोपवासियों, मुसलमानों तथा हिन्दू-धर्म से बहिष्कृत व्यक्तियों के साथ खान-पान का व्यवहार रखते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि ब्राह्मसमाज में अपने देश की पुरानी परम्पराओं के प्रति कोई गहरी भक्ति तथा निष्ठा की भावनाएँ नहीं हैं। देश-भक्ति और स्वदेशाभिमान की भावनाओं से रहित यह धर्म स्वामी जी को देश के लिए वांछनीय प्रतीत नहीं हुआ। इस आधार पर सैण्ड्स द्वारा यह निष्कर्ष निकाला गया है कि आर्यसमाज भारतीय राष्ट्र के प्रति अगाध भक्ति रखने वाला और पुरानी परम्पराओं में विश्वास रखने वाला है, इसलिए वह नवीन परम्पराओं का और विदेशी शासन का कट्टर विरोधी है।

(२) ईसाई-विरोधी भावना

ब्रिटिश अधिकारियों का यह विश्वास था कि स्वामी दयानन्द द्वारा प्रवर्तित आर्यसमाज के आन्दोलन का एक बड़ा उद्देश्य ईसाइयत के खतरे का निवारण करना था। स्वामी जी ईसाई धर्म को भारत के लिए इस कारण एक महान् विपत्ति समझते थे। उनका विश्वास था कि यदि भारत में ईसाइयत का प्रसार हुआ तो इसका परिणाम यह होगा कि भारत में अंग्रेजों के ईसाई राज्य की जड़ें गहरी जम जायेंगी, ईसाइयत हिन्दुओं के राष्ट्रीय धर्म का स्थान ले लेगा और फिर कभी हिन्दू धर्म के पुनरुद्धार की तथा भारत के स्वतन्त्र होने की कोई आशा नहीं रहेगी।

स्वामी जी की ईसाई-विरोधी भावना का स्पष्टीकरण उनके ईसाई मिशनरियों

के साथ हुए वाद-विवादों और शास्त्रार्थों से भली-भाँति हो जाता है। इस प्रसंग में सैण्ड्स ने मथुरा में ईसाइयत का प्रचार करने वाले एक व्यक्ति माधोराम का उदाहरण दिया है। यह कहा जाता है कि १८६९ में स्वामी दयानन्द ने इस प्रचारक को यह कहा था कि भारत तीन प्रकार से ईसाई राज्य बन सकता है—

(१) सरकार जनता को ईसाई बन जाने का आदेश दे दे।

(२) एक ऐसा महान् दुर्भिक्ष पड़े जिसमें जनता अनाज तथा राहत पाने के प्रलोभन में ईसाइयत को स्वीकार कर ले।

(३) बाइबल के प्रचार से लोगों को ईसाई बनाया जाय।

स्वामी जी का यह विचार था कि इन तीनों में से अन्तिम उपाय सर्वोत्तम है, किन्तु वह भारत के लिए बहुत ही बुरा है। चर्च मिशनरी सोसायटी के उत्तरी भारत में सबसे पुराने ईसाई प्रचारक पी० एम० जेन्कर ने स्वामी जी से बात करने के बाद यह कहा था कि स्वामी जी सबसे अधिक इस बात से चिन्तित थे कि ईसाइयों के प्रभाव को भारत में किस प्रकार कम किया जाय। मिशनरियों को शासन का संरक्षण प्राप्त था। इनके प्रचार की सफलता में सबसे अधिक आपत्तिजनक और खतरनाक बात यह थी कि यह भारत की स्वतन्त्रता को खतरे में डालने वाली थी।

अतः स्वामी जी मूलतः ईसाइयत के कट्टर विरोधी इसलिए थे कि वे ब्रिटिश सत्ता का भारत से उच्छेद करना चाहते थे। वृन्दावन में १८८४ और ८६ के बीच में कार्य करते हुए तथा आर्यसमाजियों के साथ सम्पर्क में आने पर श्री जेन्कर ने यह परिणाम निकाला था कि स्वामी दयानन्द का वास्तविक उद्देश्य यह था कि पश्चिमी सभ्यता ने उन देशों को नवीन आविष्कारों से जो लाभ पहुँचाये, वे सब भारत को मिलने चाहिएँ और इसके लिए भारतीयों को सब प्रकार का पश्चिमी ढंग का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। किन्तु वे यह जानते थे कि भारतीय इसके लिए तैयार नहीं होंगे। अतः उन्होंने यह कहना शुरू किया कि पश्चिम के ये सब आविष्कार प्राचीन भारत में विद्यमान थे, वेदों में इन सब का उल्लेख है। यदि हम वैदिक युग की ओर लौटेंगे तो हमें ये सब लाभ तुरन्त प्राप्त हो जायेंगे। अतः ईसाइयत के विरोध के लिए वे सर्वोत्तम उपाय वैदिक धर्म का प्रचार करना समझते थे।

(३) राष्ट्रीयता-मूलक धर्म

आर्यसमाज का अध्ययन करने वाले कुछ प्रमुख ईसाई प्रचारकों की यह धारणा थी कि आर्यसमाज का धर्म राष्ट्रीयता के तत्त्व पर बहुत बल देता है और इस प्रकार यह एक राजनैतिक धर्म है। वह अपने अधिकांश विधि-विधानों का समर्थन राष्ट्रीयता के आधार पर करता है। उदाहरणार्थ आर्यसमाज की धार्मिक पद्धति में होम या हवन को असाधारण महत्त्व दिया जाता है। यह समाज के सत्संग का अनिवार्य अंग है। आर्यसमाज के सभी धार्मिक संस्कार और कार्यक्रम हवन से शुरू किये जाते हैं। सैण्ड्स का यह कथन है कि स्वामी दयानन्द ने हवन को न केवल वायुमण्डल की शुद्धि और बीमारी के निवारण के लिये आवश्यक बताया था, अपितु इसके साथ ही यह भी कहा था कि भारत के प्राचीन स्वर्णिम दिनों में यह एक अत्यधिक प्रचलित पद्धति थी और जब तक इसका प्रचलन भारतवर्ष में बना रहा, तब तक यह बीमारी से मुक्त रहा और जनता सुखी

रही। इस प्रकार भारतीयों के लिए हवन एक धार्मिक ही नहीं, अपितु यह राष्ट्रीय कर्तव्य था।

चर्च मिशनरी सोसायटी के रेवरेण्ड डब्ल्यू० एस० हालैण्ड ने आर्यसमाज के धर्म का कई वर्षों तक अध्ययन करने के उपरान्त यह परिणाम निकाला था कि इसमें आध्यात्मिक अथवा धार्मिक तत्त्वों की कमी है; इस समाज का प्रधान प्रेरणा-स्रोत धार्मिक न होकर राष्ट्रीय है। श्री हालैण्ड गुरुकुल काँगड़ी के आरम्भिक वार्षिक उत्सवों पर प्रायः जाया करते थे और वहाँ प्रमुख आर्यसमाजी नेताओं से उनके धर्म के बारे में विस्तृत वार्तालाप किया करते थे। इनके आधार पर उन्होंने जून १९०७ के **ईस्ट एण्ड वेस्ट मैगजीन** नामक पत्रिका में एक लेख लिखा था। इसमें उन्होंने यह प्रदर्शित किया था कि आर्यसमाज के उस समय के सभी नेता इस बात पर बल देते थे कि उनके धर्म का प्रधान तत्त्व कौमी जोश या राष्ट्रीयता के लिए उत्साह है। जब श्री हालैण्ड उनसे पूछते थे कि वे किस बात से प्रेरित होकर इस उत्सव में सम्मिलित होने आये हैं तो अधिकांश व्यक्ति इसका यही उत्तर देते थे कि वे राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर यहाँ आये हैं। पण्डित आर्यमुनि आदि आर्यसमाज के व्याख्याताओं ने भी उन्हें ऐसी बात कही थी।

आर्यसमाज की राष्ट्रीयता का एक अन्य प्रमाण गुरुकुल-पद्धति है। गुरुकुल-काँगड़ी की स्थापना इस दृष्टि से की गयी है कि देश के लिए राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत नवयुवक तैयार किये जायें। इस विषय में सैण्ड्स ने यह लिखा है कि—"गुरुकुल-प्रणाली आर्यसमाज के संगठन में एक ऐसा महत्त्वपूर्ण विकास है जो ब्रिटेन के लिए संकट का स्रोत है।" आर्यसमाज के धर्म में कुछ भी दोष क्यों न हो, आर्यसमाजियों के लिए यह आसान है कि वे आठ वर्ष के आयु के बच्चों को गुरुकुल में प्रविष्ट करके उन्हें माता-पिता के प्रभाव से पृथक् रखते हुए उनके चारों ओर ऐसा वातावरण उत्पन्न कर सकते हैं, जो तपस्या, कठोरता और धार्मिक भावना से परिपूर्ण हो और उनमें समर्पण की और बलिदान की भावना को पैदा करने वाला हो। यदि गुरुकुलों में ऐसी शिक्षा दी जाय और आर्यसमाज आन्दोलन के योग्यतम और सबसे अधिक उत्साही नेताओं की देख-रेख में यह कार्य १५-१६ वर्ष तक किया जाय तो इस प्रकार सत्रह वर्ष की अधिकतम प्रभाव ग्रहण करने वाली आयु के बाद जो बालक गुरुकुलों से निकलेंगे, वे राज्य के लिए खतरनाक होंगे। ऐसे व्यक्तियों में वे विशेषताएँ होंगी जो इस समय के आर्यसमाज के प्रचारकों में नहीं पायी जाती हैं। ये विशेषताएँ हैं—अपने उद्देश्य के प्रति गहरी निष्ठा और उसके लिए हर प्रकार का कष्ट सहने का उत्साह और साहस। इन गुणों से गुरुकुल के स्नातक अपने असंख्य अनुयायी बना लेंगे और उनमें भी अपने जैसा ही उत्साह भर देंगे। आर्यसमाज के इस समय के प्रचारक प्रायः साधु लोग हैं, किन्तु गुरुकुलों द्वारा तैयार किये जाने वाले आर्यसमाज के व्याख्याता ऐसे राजनैतिक **संन्यासी** होंगे जिनके प्रति जनता में बड़े आदर और सम्मान की भावना होगी। इन व्यक्तियों का उद्देश्य हिन्दू-धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त लोगों को आर्य-धर्म के दृढ़ सूत्र में आबद्ध करना होगा। वे सत्यार्थप्रकाश में दिये गये उपदेशों का पालन करते हुए मातृभूमि की स्वतन्त्रता और उन्नति के लिए सब प्रकार से प्रयत्नशील रहेंगे।

(४) सत्यार्थप्रकाश के राजद्रोहपूर्ण अंश

सत्यार्थप्रकाश स्वामी दयानन्द द्वारा लिखित अतीव महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। किन्तु सैण्ड्स जैसे सरकारी अधिकारियों को इसमें कोई भी धार्मिक या आध्यात्मिक भावना नहीं दिखायी दी। उनका यह कहना था कि इस समूची पुस्तक का मौलिक सिद्धान्त राजद्रोह का प्रचार करना है। इसका प्रमुख उद्देश्य स्वदेशी धर्म का सुधार और विदेशी धर्म का विध्वंस है। उन्हें इस ग्रन्थ का सबसे बड़ा दोष अन्य धर्मों की ऐसी कटु आलोचना प्रतीत होती थी जो विभिन्न धर्मावलम्बियों तथा आर्यसमाज के अनुयायियों में विद्वेष और वैमनस्य को बढ़ाने वाली थी। श्री सैण्ड्स के मतानुसार राजद्रोह की दृष्टि से इस पुस्तक के आपत्तिजनक अंश निम्नलिखित हैं।

(१) **छठा समुल्लास**—इसमें राज्य की शासन-प्रणाली और राजधर्म का वर्णन है। सैण्ड्स के शब्दों में इस बात का कारण जानना बड़ा कठिन है कि स्वामी जी ने शासन-पद्धति का वर्णन किस उद्देश्य से प्रेरित होकर किया है। "सम्भवतः इसका लक्ष्य यह रहा होगा कि जब भारतीय स्वतन्त्रता प्राप्त करें तो वे अपने राज्य की व्यवस्था इसमें बताये गये नियमों के आधार पर करें। ये नियम प्रधान रूप से मनुस्मृति से लिये गये हैं।"

इस समुल्लास के अन्त में स्वामी जी ने यह प्रार्थना की है कि उपर्युक्त राज-धर्म के नियमों का पालन करने से भारत पुनः अपनी पुरानी प्रतिष्ठा को तथा चक्रवर्ती और सार्वभौम साम्राज्य को प्राप्त करे। यह प्रार्थना श्री सैण्ड्स जैसे अधिकारियों को राज-द्रोहपूर्ण प्रतीत होती थी, क्योंकि इसमें भारतीयों के चक्रवर्ती शासन और साम्राज्य का वर्णन किया गया है। उस समय भारत पर ब्रिटिश सरकार का प्रभुत्व था और वह यह समझती थी कि उसका यह शासन भारत पर अनन्त काल तक चलता रहेगा। भारतीयों को इतना भी अधिकार नहीं था कि वे स्वतन्त्र होने की परमेश्वर से प्रार्थना या कामना कर सकें। यदि वे ऐसा करते हैं तो उनका यह कार्य राजद्रोहपूर्ण है। स्वामी जी ने ऐसी कामना की थी और अधिकांश आर्यसमाजी इसमें विश्वास रखते थे, अतः इन अधिकारियों को यह बात बगावत प्रतीत होती थी। श्री सैण्ड्स ने लिखा है कि इस अंश में छठे समुल्लास को ब्रिटिश सरकार के प्रति जनता में असन्तोष उत्पन्न करने वाला माना जाना चाहिए कि इसमें आर्यों की शासन-पद्धति को ही पूर्ण और सर्वथा निर्दोष माना गया है। इससे यह बात स्वयंसिद्ध है कि आर्यसमाजी वर्तमान ब्रिटिश सरकार को दोषपूर्ण और बुरा समझते हैं। उनका यह विश्वास राजद्रोह के दण्डनीय अपराध की परिधि में आता है।

इस समुल्लास में स्वामी जी ने मनुस्मृति के आधार पर बार-बार इस बात पर बल दिया है कि राज्य के मन्त्री और राजा वेदों के विद्वान् होने चाहिएँ, वे स्वदेश तथा स्वराज्य के अर्थात् अपने ही देश के होने चाहिएँ। यहाँ स्वामी जी का अभिप्राय यह था कि राजा को वही मन्त्री बनाने चाहियें जो अपने देश में उत्पन्न हुए हों, क्योंकि उनकी निष्ठा जितनी अपनी देश के प्रति हो सकती है, उतनी निष्ठा विदेश के प्रति होना सम्भव नहीं है। यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। सब देशों में इसका अनुसरण किया जाता है। भारत के राष्ट्रपति के लिए भारत का तथा अमेरिकी राष्ट्रपति के लिए संयुक्त

राज्य अमेरिका का नागरिक होना आवश्यक है। जिन दिनों भारत में वर्तमान शताब्दी के पहले दशक में राष्ट्रीय आन्दोलन का उत्कर्ष हुआ, उस समय स्वदेशी की भावना बढ़ी तथा स्वराज्य को बड़ा महत्त्व दिया जाने लगा। कांग्रेस के मंच से पहली बार दादा भाई नौरोजी ने १९०५ ई० में स्वराज्य शब्द का प्रयोग किया। उस समय इस शब्द को राजद्रोहपूर्ण माना जाता था। स्वराज्य का प्रयोग और अंग्रेजी के होमरूल के पर्याय के रूप में किया जाता था जिसका अभिप्राय भारतीयों को स्वशासन का अधिकार प्रदान करना था।

किन्तु मनुस्मृति तथा सत्यार्थप्रकाश में इन दोनों शब्दों का अर्थ केवल अपना देश था और इनके साथ वे राजनैतिक भावनाएँ नहीं जुड़ी हुई थीं जो राष्ट्रीय आन्दोलन प्रबल होने पर इनके साथ जुड़ गयी थीं। उन दिनों के ब्रिटिश कर्मचारी स्वदेशी और स्वराज्य को राजद्रोह का प्रतीक समझते थे। स्वदेशी का अभिप्राय था भारत में बनी वस्तुओं का प्रयोग, ब्रिटेन से आने वाले विदेशी माल का बहिष्कार और भारत के आर्थिक शोषण का अन्त करना। इसी प्रकार स्वराज्य का आशय अंग्रेजों द्वारा शासन के स्थान पर भारतीयों द्वारा स्वयं अपने देश की व्यवस्था और प्रबन्ध करना। ये दोनों शब्द भारत में अंग्रेजों के आर्थिक और राजनैतिक हितों पर कुठाराघात करने वाले थे, अतः उस समय अंग्रेजों की दृष्टि में स्वदेशी और स्वराज्य उग्रवादी, विद्रोह एवं भीषण राजद्रोह के सूचक थे।

स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश में इन दोनों शब्दों का प्रयोग सर्वथा भिन्न अर्थ—अपने देश के लिए किया था। किन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन एवं भारतीय क्रान्तिकारियों की विभीषिका से संत्रस्त सरकारी अधिकारी इन शब्दों की किसी दूसरे अर्थ की कल्पना ही नहीं कर सकते थे। उन्होंने इन शब्दों के सर्वथा नवीन अर्थ के आधार पर आर्यसमाज को वर्तमान अर्थों में स्वदेशी और स्वराज्य का समर्थक होने के कारण राजद्रोह का प्रचार करने वाला बताया। बंग-भंग के आन्दोलन के बाद इन शब्दों का प्रयोग अंग्रेजी में उपर्युक्त अर्थ में इतना अधिक रूढ़ और प्रचलित हो गया था कि इनका कोई दूसरा अर्थ सरकारी अधिकारियों के लिए लगाना सम्भव ही नहीं था।

(२) **आठवाँ समुल्लास**—सत्यार्थप्रकाश के आठवें समुल्लास में आर्यावर्त्त की वर्तमान अधोगति पर दुःख प्रकट करते हुए स्वामी जी ने लिखा है—"अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की कथा ही क्या कहना, किन्तु आर्यावर्त्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो है सो भी विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा है। कुछ थोड़े राज्य स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार के दुःख भोगना पड़ता है। कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रहरहित, अपने और पराये का पक्षपात-शून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।"

इस संदर्भ में स्वामी जी ने स्पष्ट रूप से स्वदेशी शासन को विदेशी की तुलना में अच्छा और उत्कृष्ट बताया है। ब्रिटिश अधिकारी तथा आर्यसमाज के विरोधी इस संदर्भ को ब्रिटिश सरकार की निन्दा करने वाला और जनता में उसके प्रति असन्तोष

पैदा करने वाला और इस कारण राजद्रोहपूर्ण समझते थे। जब आलाराम संन्यासी पर पुलिस की ओर से आर्यसमाज पर भद्दे, उत्तेजक, अश्लील शब्दों का प्रयोग करते हुए साम्प्रदायिक विद्वेष और वैमनस्य को फैलाने के लिए एक अभियोग इलाहाबाद में चलाया गया तो सफाई-पक्ष की ओर से उपर्युक्त सन्दर्भ को इस उद्देश्य के साथ प्रस्तुत किया था कि यह आर्यसमाज द्वारा ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध बगावत फैलाने का स्पष्ट प्रमाण है। अन्यत्र इस मामले का विस्तृत विवेचन किया गया है। यहाँ केवल इस बात का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है कि इलाहाबाद के जिलाधीश हैरिसन ने इस संदर्भ को राजद्रोहपूर्ण नहीं माना और अपने निर्णय में लिखा था कि—"मैं इन उद्धरणों में बगावत के लिए प्रोत्साहन देने का कोई संकेत नहीं पाता हूँ। इनमें इस बात पर विलाप किया गया है कि धार्मिक और नैतिक कारणों से हिन्दू पराधीन हो गये हैं। स्वामी दयानन्द के प्रचार की सामान्य प्रवृत्ति मुझे हिन्दू-धर्म का सुधार करने की प्रेरणा देने वाली प्रतीत होती है। यह सुधार इस उद्देश्य से किया जाना था कि अन्ततोगत्वा भारत का शासन भारतीयों के हाथ में रहे।"[1]

श्री सैण्ड्स को इस बात का बड़ा खेद था कि इस मामले में सत्यार्थप्रकाश की वास्तविक स्थिति को सरकार की ओर से अधिक स्पष्ट और बलपूर्ण शब्दों में नहीं रखा गया था। यदि ऐसा किया जाता तो इस मुकदमे का निर्णय दूसरा ही होता। इसके साथ ही आलाराम संन्यासी ने अपने अनर्गल, गालियों से भरे अश्लील आक्षेपों से न्यायाधीश की सहानुभूति खो दी थी और आर्यसमाज के उपर्युक्त राजद्रोहपूर्ण सन्दर्भों का इस मामले में सही-सही मूल्यांकन नहीं हो सका था। श्री सैण्ड्स का यह मत सत्यार्थप्रकाश के उपर्युक्त अवतरण के पूर्वापर-प्रसंग को देखते हुए समुचित नहीं प्रतीत होता है। इस विषय में विद्वान् न्यायाधीश का निर्णय और उपर्युक्त संदर्भ के मूल उद्देश्य की व्याख्या सर्वथा सही थी।

(३) सत्यार्थप्रकाश के **दसवें समुल्लास** के निम्नलिखित दो अवतरणों को भी राजद्रोहपूर्ण माना गया है—

(क) "विदेशियों के आर्यावर्त्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या का न पढ़ना-पढ़ाना व बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्याभाषण आदि कुलक्षण, वेदविद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं। जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है। क्या तुम लोग महाभारत की बातें जो पाँच सहस्र वर्ष पहले हुई थीं, उनको भी भूल गये ?...आपस की फूट से कौरव, पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया सो तो हो गया, परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःखसागर में डुबा मारेगा ? उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्र-हत्यारे, स्वदेश-विनाशक, नीच के दुष्ट मार्ग में आर्य लोग अब तक भी चलकर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करें कि यह राजरोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाय !"

(ख) "जब आर्यों का राज्य था तब ये महोपकारक गाय आदि पशु नहीं मारे जाते थे, तभी आर्यावर्त्त वा अन्य भूगोलस्थ देशों में बड़े आनन्द में मनुष्यादि प्राणी

---

१. मुंशीराम जिज्ञासु—वही पुस्तक, पृ० २/५०

वर्त्तते थे क्योंकि दूध, घी, बैल आदि पशुओं की बहुताई होने से अन्न, रस पुष्कल प्राप्त होते थे। जब से विदेशी मांसाहारी इस देश में आके गौ आदि पशुओं के मारने वाले मद्यपानी राज्याधिकारी हुए हैं तब से क्रमशः आर्यों के दुःख की बढ़ती होती जाती है।"[1]

ग्यारहवें समुल्लास में स्वामी जी ने इस बात पर गहरा दुःख प्रकट किया है कि प्राचीन काल में भारतवर्ष में समूचे भूमण्डल पर अपना चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित करने वाले अनेक शक्तिशाली राजा हुए। यह बात कितने अधिक दुर्भाग्य की है कि आजकल भारतीय विदेशी शासन की पराधीनता के कष्टों को भोग रहे हैं! उनके मूल शब्द इस प्रकार हैं—

"सृष्टि से लेकर महाभारतपर्यन्त चक्रवर्ती सार्वभौम राजा आर्यकुल में ही हुए थे। अब इनके सन्तानों का अभाग्योदय होने से राजभ्रष्ट होकर विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहे हैं।"[2]

झाँसी में आर्यसमाज के एक प्रचारक श्री दौलतराम ने सैनिकों की छावनी में जाकर इस समुल्लास के आधार पर एक व्याख्यान दिया था। इसे सैनिकों में विद्रोह भड़काने वाला समझा गया और मुकदमा चलाकर १९०८ ई० में दौलतराम को दण्डित किया गया। अन्यत्र इस मामले की विस्तृत विवेचना की गयी है।

(५) संयुक्त प्रान्त के सरकारी अधिकारियों को सत्यार्थप्रकाश पर एक अन्य बड़ी आपत्ति यह थी कि इसमें ईसाइयों को और सरकार को एक तथा अभिन्न माना गया है और ईसाइयों की आलोचना करते हुए सरकार की निन्दा की गयी है। इस बात को पुष्ट करने के लिए सत्यार्थप्रकाश के १३वें समुल्लास में से दो अवतरण प्रस्तुत किये गये हैं। पहले अवतरण में यह कहा गया है कि यदि एक गोरा व्यक्ति काले व्यक्ति को मार डालता है तो सामान्य रूप से न्यायाधीशों का अंग्रेजों के प्रति पक्षपात होने के कारण इसे अपराध नहीं समझा जाता है और ऐसा करने वाले को छोड़ दिया जाता है। दूसरे अवतरण में बाइबिल के एक सन्दर्भ की आलोचना करते समय यह कहा गया है कि ईसाई विदेशियों की सम्पत्ति पर उसी तरह से टूट पड़ते हैं, जैसे प्यासा पानी पर और भूखा खजाने पर। श्री सैण्ड्स के मतानुसार इन सन्दर्भों में ईसाइयों के माध्यम से ब्रिटिश सरकार की आलोचना की गयी है। यह जनता में सरकार के प्रति असन्तोष की भावना को उत्पन्न करने वाली है।

अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए सैण्ड्स ने इस प्रसंग में पेशावर के सेशन जज श्री डब्ल्यू० ओ० क्लार्क द्वारा १८९२ ई० के ५वें मुकद्दमे का निर्णय प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें माननीय न्यायाधीश को एक अपील में सत्यार्थप्रकाश के स्वरूप पर विचार करना था। इसमें न्यायाधीश ने अपनी यह सम्मति दी थी कि दयानन्द के सिद्धान्त ऐसे हैं जो कट्टर सनातनी हिन्दुओं तथा अन्य धर्मों के अनुयायियों की नैतिकता और धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचाने वाले हैं। श्री सैण्ड्स का यह विचार था कि सत्यार्थप्रकाश जिस समय १८८० ई० में प्रकाशित हुआ था, उस समय यदि उसके लेखक पर राज्य द्वारा मुकदमा चलाया जाता तो यह सफल न होता, क्योंकि उस समय विभिन्न

---

१. सत्यार्थप्रकाश, स्वामी वेदानन्द द्वारा सम्पादित, पृ० २३०

सम्प्रदायों में विद्वेष फैलाने वाली रचनाओं को दण्डित करने का कोई कानून नहीं था। १८९८ ई० में भारतीय दण्डसंहिता में १२४ ए, १५३ ए, तथा ५०५ (सी उपखण्ड) जोड़े गये और इनसे साम्प्रदायिक विद्वेष को भड़काने वाले कार्यों, रचनाओं और भाषणों को दण्डनीय अपराध बना दिया गया।

(५) आर्यसमाज का राजनैतिक स्वरूप

संयुक्त प्रान्त के गुप्तचर विभाग के अधिकारियों का यह दृढ़ विश्वास था कि आर्यसमाज केवल धार्मिक और सामाजिक सुधार करने वाली संस्था नहीं है, अपितु यह देश की राजनैतिक स्थिति को उन्नति करने का प्रयास करने वाली और उसमें परिवर्तन चाहने वाली राजनैतिक संस्था है। स्वामी दयानन्द का आन्दोलन केवल धार्मिक ही नहीं, अपितु राजनैतिक भी है। वे धर्म और राजनीति को घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध समझते थे और आर्यसमाज की सफलता के लिए इस बात को आवश्यक मानते थे कि यह भारतवासियों के राष्ट्रीय धर्म के रूप में सुप्रतिष्ठित हो। सत्यार्थप्रकाश में प्राचीन भारत में आर्यों के शासन और अपूर्व समृद्धि की प्रशंसा के गीत गाये गये हैं। वर्तमान अधोगति का कारण आपस की फूट को और विदेशियों के कुप्रभाव को बताया गया है। आर्यसमाजियों का मूल मन्त्र वेदों के युग की ओर लौटना और प्राचीन स्वर्ण युग को पुनः भारत में लाना है जब भारतभूमि विदेशी म्लेच्छों के आक्रमणों से पराभूत और पराधीन नहीं हुई थी। इससे यह स्पष्ट है कि आर्यसमाज न केवल धार्मिक अपितु राजनीतिक आन्दोलन है।

ब्रिटिश अधिकारियों के मतानुसार इसके अनेक प्रमाण स्वामीजी द्वारा किये गये वेदभाष्य और सत्यार्थप्रकाश से दिये जा सकते हैं। सत्यार्थप्रकाश के छठे समुल्लास में राजधर्म का विवेचन करते हुए स्वामीजी ने यह बताया है कि युद्धनीति का संचालन किस प्रकार से किया जाना चाहिए और आर्यों के शत्रुओं को हराने के लिए किन उपायों का प्रयोग करना चाहिए। स्वामी दयानन्द सम्भवतः ब्रिटिश अधिकारियों की दृष्टि में इस प्रकार के वर्णनों से भारतीयों में स्वतन्त्रता की भावना को उत्पन्न करना चाहते थे। सरकारी अधिकारियों को आर्यसमाज के सदस्यों द्वारा साप्ताहिक सत्संगों में राजनैतिक विषयों पर चर्चा करना अतीव आपत्तिजनक प्रतीत होता था क्योंकि उनका यह विश्वास था कि आर्यसमाज के अधिवेशनों में जनता को ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध भड़काया जाता है।

सैण्ड्स के मतानुसार आर्यसमाज के अनेक नेताओं ने यह स्वीकार किया है कि आर्यसमाज राजनैतिक संस्था है। इस विषय में उसने पंजाब के सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता लाला लाजपतराय का उदाहरण दिया है। उनके कथनानुसार उन्होंने कलकत्ता के एंग्लो-इण्डियन पत्र **इंगलिशमैन** पर चलाये गये मानहानि के मामले में २१ जुलाई १९०९ ई० को यह स्वीकार किया था कि आर्यसमाज का राजनीति के साथ सम्बन्ध है। उन्होंने भारतीय छात्रों के उद्बोधन एवं शिक्षा के लिए मेजिनी, गेरीबाल्डी, शिवाजी तथा स्वामी दयानन्द की जीवनियाँ लिखी थीं। स्वामी जी की जीवनकथा में पृष्ठ १२३ पर उन्होंने लिखा है—

"कौन व्यक्ति यह कहता है कि स्वामी दयानन्द देशभक्त नहीं थे और उन्हें

स्वदेश और स्वजाति से प्रेम नहीं था ? सचाई यह है कि स्वामी जी को विश्व के देश-भक्तों में उच्चतम स्थान दिया जाना चाहिए जो अतीव दुर्लभ होते हैं और अपने देश के लिए शहीद होते हैं। ऐसे किसी व्यक्ति का कोई भी कार्यक्रम स्वदेश और स्वजाति की भक्ति के बिना पूरा नहीं हो सकता है। मैं बलपूर्वक यह बात कहना चाहता हूँ कि स्वामी दयानन्द की समूची योजना स्वदेश और स्वजाति के सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित हैं।"

लाला लाजपतराय द्वारा इटली राष्ट्र के सुप्रसिद्ध निर्माता मेजिनी की जीवनी पर लिखी गयी पुस्तक की भूमिका में देशभक्ति के बारे में निम्नलिखित विचार प्रकट किये गये हैं—

"किसी भी राष्ट्र के लिए दूसरे राष्ट्र की पराधीनता में बने रहना सर्वथा अस्वाभाविक है।"

"विदेशी शासन को जनता बड़ी लाचारी में ही स्वीकार करती है।"

"प्रकृति यह चाहती है कि प्रत्येक राष्ट्र इस बात का प्रयत्न करे कि वह अपनी मातृभूमि की उन्नति एवं कल्याण करे और विदेशी आक्रमणों तथा अत्याचारों से इसकी रक्षा करे। इस दृष्टिकोण से देखने पर यह प्रतीत होता है कि कोई भी विदेशी सरकार भले ही वह कितनी उदार और अच्छी क्यों न हो, प्रकृति के नियमों के प्रतिकूल है और इसका अभिप्राय पराधीन राज्य के लिए दासता की स्थिति उत्पन्न करना है। यदि यह पराधीनता एक बुराई है और किसी मनुष्य को दूसरे देश का और किसी राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र का गुलाम बनाना और देशवासियों की इच्छा के प्रतिकूल उस पर शासन करना प्रकृति के नियमों के प्रतिकूल है तो यह पराधीनता कभी भी उचित नहीं ठहराई जा सकती है। यदि कोई पराधीन जाति इस बात को नहीं समझती है तो इसका यह कारण है कि चिरकालीन दासता ने उसके स्वदेशाभिमान की भावना को कुचल दिया है, और इसके विचारों की संकीर्णता ने उसे प्रकृति के इस महान् किन्तु सरल सत्य को समझने में असमर्थ बना दिया है।"

"यदि अंग्रेज भारत में न आते तो हिन्दुओं का सारे भारत पर शासन होता।"

"भारत के इतिहास में कोई शताब्दी ऐसी नहीं है जिसमें हिन्दुओं ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए हथियार न उठाये हों।"

"हमें इस बात को स्मरण रखना चाहिए कि जब तक हम अपने कार्यों और प्रयत्नों से स्वाधीनता प्राप्त करने का प्रयास नहीं करेंगे, तब तक हम इसे प्राप्त नहीं कर सकते हैं। जब सरकार को यह पता लग जायेगा कि हम न केवल स्वाधीनता दिये जाने के योग्य हैं, अपितु ऐसी स्थिति में हैं कि हम किसी-न-किसी तरह से स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेंगे तो संसार की कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो हमें स्वतन्त्रता पाने से रोक सके।"

"स्वतन्त्रता पाने की दूसरी दशा में हमें स्वाधीनता पाने के उपायों पर विचार करना चाहिए। जो गुलामी से मुक्त होना जानता है, उसे कोई दास बनाकर नहीं रख सकता है।"

"स्वतन्त्रता-प्राप्ति के हमारे मार्ग में वैसी बाधाएँ नहीं हैं जैसी बाधाओं का इटली को सामना करना पड़ा था।"

लालाजी के उपर्युक्त अवतरणों का यह अभिप्राय था कि भारत की स्थिति इटली

की अपेक्षा स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए अधिक अनुकूल है। इटली उस समय अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था। उसके उत्तरी भाग पर आस्ट्रिया का शासन था जो उस समय यूरोप की एक महान् शक्ति था और सदैव इटली की स्वतन्त्रता का विरोध किया करता था। अंग्रेजों ने सारे भारत को एक शासनसूत्र में ग्रथित कर दिया है। इसलिए भारत के सम्मुख एकीकरण की वे जटिल समस्याएँ नहीं हैं जो इटली के सम्मुख थीं। अतः यदि भारत पूरी निष्ठा के साथ स्वतन्त्रता पाने का प्रयत्न करे तो उसे इटली की अपेक्षा शीघ्र ही स्वाधीनता प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार सैण्ड्स के मतानुसार मेजिनी की जीवनकथा से लालाजी भारतीय नवयुवकों को यह सन्देश देना चाहते थे कि यदि वे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प के साथ कटिबद्ध हो जायँ तो उन्हें ब्रिटेन स्वाधीनता पाने से नहीं रोक सकता है। यह स्पष्ट रूप से भारतीयों को ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध क्रान्ति एवं विद्रोह के लिए प्रेरणा देना था।

आर्यसमाज के एक अन्य नेता श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा भी भारतीयों में इसी प्रकार राजद्रोह की भावनाएँ उत्पन्न कर रहे थे। उन्होंने अपने लेखों में इस बात को स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया था कि आर्यसमाज का उद्देश्य भारत को स्वाधीन बनाना है और अब तक इसके लिए जो प्रयत्न किये गये हैं, उनमें आर्यसमाज का विशेष महत्त्व है। उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध पत्र **इण्डियन सोशियोलोजिस्ट** (भारतीय समाजशास्त्री) के मई १९०८ ई० के अंक में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा था—

"देश के राजनैतिक पुनरुज्जीवन के लिए जो आन्दोलन किये गये हैं उनमें कोई भी आर्यसमाज जैसा शक्तिशाली आन्दोलन नहीं हैं।" "आर्यसमाज के संस्थापक ने इस समाज का यह उद्देश्य घोषित किया था कि यह पूर्ण रूप से स्वतन्त्र और स्वाधीन राष्ट्रीय सरकार का निर्माण करना चाहता है।"

"आजकल हम जो राजनैतिक प्रचार करने में लगे हुए हैं, उसका एक बड़ा कारण यह है कि हमें स्वामी दयानन्द के चरणों में बैठकर उनकी शिक्षाओं को ग्रहण करने का सौभाग्य मिला था। हमारी दृष्टि में स्वामी दयानन्द भारत में सामाजिक-राजनैतिक स्वतन्त्रता के पहले महान् प्रचारक थे।"

श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा वाले अध्याय में और अन्य अध्यायों में यह बताया गया है कि आर्यसमाज के नेताओं ने श्यामजी के उपर्युक्त लेखों का कितना उग्र विरोध किया था। लाला हंसराज ने जून १९०८ ई० के आर्यगजट के अंक में श्यामजी द्वारा प्रतिपादित मन्तव्यों का खण्डन करने के लिए यह कहा था कि—"श्यामजी कृष्ण वर्मा का आर्यसमाज के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, यद्यपि इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि श्यामजी स्वामी जी के शिष्य थे, किन्तु स्वामी जी ने उनसे वैदिक धर्म के प्रचार की जो आशाएँ प्रकट की थीं, वे पूरी नहीं हुईं।" स्वामी जी ने श्यामजी कृष्ण वर्मा को परोपकारिणी सभा का सदस्य स्वयमेव मनोनीत किया था। किन्तु दिसम्बर १९०८ ई० में उन्होंने इस सभा से त्यागपत्र दे दिया। यद्यपि आर्यसमाज से श्यामजी का सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया; पर वे अन्तिम समय तक स्वामी जी को अपना गुरु मानते रहे और इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वतन्त्रता के लिए राजनैतिक आन्दोलन करने की प्रेरणा श्याम जी को स्वामी दयानन्द से मिली थी। यह बात श्याम जी कृष्ण वर्मा वाले अध्याय में स्पष्ट की जायेगी।

आर्यसमाज के राजनैतिक संस्था होने तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए संघर्ष करने की पुष्टि कुछ समाचारपत्रों में प्रकाशित लेखों के आधार पर भी श्री सैण्ड्स ने की है। इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाले **स्वराज्य** के २० नवम्बर १९०९ ई० के अंक में प्रकाशित एक लेख में यह कहा गया था कि आर्यसमाज का उद्देश्य भारतीय जनता को धार्मिक और सामाजिक स्वतन्त्रता प्राप्त कराना है। किन्तु यह स्वतन्त्रता उसे तभी मिल सकती है जब उसे राजनैतिक स्वाधीनता भी प्राप्त हो। इससे यह स्पष्ट है कि आर्य-समाज राजनीतिक स्वतन्त्रता को भी उतना ही महत्त्व देता था जितना धार्मिक और सामाजिक स्वतन्त्रता को।

आर्यसमाज के बारे में सरकार को एक बड़ी चिन्ता यह थी कि इसका संगठन बहुत अच्छा है और इसका प्रयोग किसी भी समय राजनैतिक उद्देश्यों के लिए किया जा सकता है। विभिन्न स्थानों पर आर्यसमाज की शाखाएँ बनी हुई हैं। ये आर्य-प्रतिनिधि सभाओं के नियन्त्रण में हैं और आवश्यकता पड़ने पर इन सब का प्रयोग राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जा सकता है। आर्यसमाज के बारे में सरकार को यह भी शिकायत थी कि इसके प्रचारक प्रायः जनसाधारण में लोकप्रियता पाने के लिए बड़े जोशीले भाषण देते हैं। भारत की वर्तमान धार्मिक अधोगति तथा आर्थिक दुर्दशा का बड़ा मार्मिक एवं प्रभावोत्पादक चित्रण करते हैं और इसके लिए विदेशी शासन को दोष देते हैं। इस प्रकार वे जनता में विद्रोह की भावनाएँ उत्पन्न कर रहे हैं। अतः भविष्य में इस बात की पूरी सम्भावना है कि गुरुकुलों से निकलने वाले उपदेशक और स्नातक ऐसी राजद्रोही भावनाओं को भड़काने में बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लेंगे। इसी प्रसंग में गुरुकुल-काँगड़ी और गुरुकुल-पद्धति की चर्चा की गयी है।

(६) गुरुकुल-पद्धति तथा गुरुकुल काँगड़ी

स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में इस बात पर बल दिया था कि प्राचीन वैदिक शिक्षा-पद्धति का प्रसार करने के लिए गुरुकुलों की स्थापना की जानी चाहिए, जहाँ शहरों के कोलाहलपूर्ण वातावरण से दूर रहते एवं ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए छात्र गुरुओं के घनिष्ठ सान्निध्य में रहकर शिक्षा प्राप्त करें। आर्यसमाज के इतिहास के तृतीय खण्ड में बताया जा चुका है कि किस प्रकार नवम्बर १८९८ ई० में पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा ने गुरुकुल की स्थापना का निर्णय किया और इसके लिए तीस हजार रुपये की राशि एकत्र करने का संकल्प लाला मुंशीराम ने किया। इस उद्देश्य से उन्होंने सारे पंजाब का दौरा किया। इस दौरे में अमृतसर के पं० रामभजदत्त भी उनके साथ थे। पंजाब पुलिस के गुप्तचर विभाग की रिपोर्टों के अनुसार जब वे गुरुकुल के चन्दे के लिए १८९९ ई० में स्यालकोट, गुजराँवाला और गुजरात के शहरों में गये तो यहाँ उन्होंने अपने व्याख्यानों में ब्रिटिश सरकार की बड़ी कड़ी आलोचना की और कहा कि ब्रिटिश सरकार के सिपाही बड़े बेवकूफ है जो सात-आठ रुपये का मासिक वेतन पाने के लिए सेना में भर्ती होते हैं। जब गुरुकुल की शिक्षा का प्रसार होगा तो सेना में इस प्रकार की भर्ती बन्द हो जायेगी। सरकारी रिपोर्टों के अनुसार १९०३ ई० में झंग में भाषण देते हुए भी महात्मा मुंशीराम ने ऐसी बात कही थी। स्वामी जी के प्रयत्नों से १९०१ ई० के अन्त तक पर्याप्त धनराशि एकत्र होने पर हरिद्वार के निकट गंगा नदी के तट पर १९०२ ई० में बिजनौर जिले के

काँगड़ी गाँव में आर्य-प्रतिनिधि सभा पंजाब के तत्त्वावधान में गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना की गयी। यहाँ विद्यार्थियों के लिए सरकारी विश्वविद्यालयों से सर्वथा पृथक् और स्वतन्त्र पाठ्यक्रम बनाया गया। इस पर सरकार का किसी प्रकार का कोई नियन्त्रण नहीं था। यह संस्था सरकार से किसी प्रकार की कोई आर्थिक सहायता नहीं लेती थी।

ब्रिटिश सरकार के कर्मचारियों को गुरुकुल कई कारणों से राजद्रोही संस्था प्रतीत होती थी। श्री सैण्ड्स ने इसे राजद्रोही समझे जाने के निम्नलिखित कारण प्रस्तुत किये हैं—

(१) गुरुकुल के आचार्य श्री रामदेव द्वारा प्रकाशित एक रिपोर्ट में यह कहा गया है कि गुरुकुल में दी जाने वाली शिक्षा सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय शिक्षा है।

(२) इस संस्था में सत्यार्थप्रकाश के पढ़ाये जाने पर बहुत बल दिया जाता है। यह देशभक्ति के भावों से भरा हुआ ग्रन्थ है और इससे छात्रों में राष्ट्रीय भावना उत्पन्न होती है।

(३) गुरुकुल के पाठ्यक्रम में भारतीय इतिहास के अध्ययन को दसवीं कक्षा तक विशेष महत्त्व दिया जाता है और किसी अन्य देश का इतिहास नहीं पढ़ाया जाता है। प्रारम्भिक कक्षाओं में भारतीय इतिहास के महापुरुषों की ऐसी कथाओं को विशेष रूप से पढ़ाया जाता है जो ब्रह्मचारियों में देशभक्ति के भावों को उद्दीप्त करें।

(४) यद्यपि गुरुकुल के बारे में यह दावा किया जाता है कि यहाँ ब्रह्मचारियों को शहरों के विषाक्त वातावरण से पृथक् रखा जाता है, किन्तु यह बात पूरी तरह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ के पुस्तकालय में भारत में छपने वाली सभीउच्च कोटि की पत्र-पत्रिकाएँ मंगाई जाती हैं और ब्रह्मचारी यहाँ माडर्न रिव्यू जैसी आपत्तिजनक पत्रिकाएँ पढ़ते हैं जिनसे छात्रों के मन में ब्रिटिश सरकार के प्रति असन्तोष, रोष और विद्रोह की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं।

(५) गुरुकुल में एक वाद-विवाद करने वाली सभा (वाग्वर्धिनी) है जिसमें राजनैतिक विषयों पर प्रायः वाद-विवाद और चर्चाएँ की जाती हैं, राष्ट्रीय आन्दोलन के विभिन्न विषयों पर विचार-विमर्श होता है। इस सभा से छात्रों में सरकार-विरोधी भावनाओं का प्रसार होता है।

(६) गुरुकुल-पद्धति में इस बात पर बल दिया जाता है कि यहाँ ब्रह्मचारी गुरुओं के घनिष्ठ सम्पर्क में रहते हैं। यहाँ के अध्यापक प्रायः राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत हैं और इसका छात्रों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हुए यह कहा गया है कि लाला मुंशीराम ने १९०२-१९०७ ई० की पंचवर्षीय रिपोर्ट में यह लिखा है कि योग्य गुरुओं का शिष्यों पर विलक्षण प्रभाव पड़ता है। यहाँ छात्रों में जिन भावनाओं का विकास करने का प्रयत्न किया जाता है, उनमें एक बड़ी उल्लेखनीय भावना है देश के लिए उत्कट प्रेम।

गुरुकुल के अनेक शिक्षक राजद्रोही विचार रखते हैं। इनमें ब्रह्मचारियों को चित्रकला का प्रशिक्षण देने वाले श्रीपाद दामोदर सातवलेकर का नाम उल्लेखनीय है। इन पर कोल्हापुर राज्य द्वारा राजद्रोह का मामला चलाने के लिए वारण्ट निकाला गया था। वे फरार होकर यहाँ आ गये और उनको गुरुकुल में गिरफ्तार करके कोल्हापुर भेजा गया। सरकार को इस बात का पूरा सन्देह था कि गुरुकुल के अनेक अध्यापक क्रान्तिकारी

गतिविधियों में भाग लेते हैं और वे इस प्रकार की शिक्षा वहाँ के छात्रों को भी देते हैं। गुरुकुल काँगड़ी जैसे स्कूल उत्तर प्रदेश में सिकन्दराबाद (जिला बुलन्दशहर), बदायूँ, ज्वालापुर और बिरालसी (जिला मुजफ्फर नगर) में खोले गये है और इनमें भी इसी प्रकार की राजद्रोहपूर्ण शिक्षा दी जाती है।

इन गुरुकुलों को स्थापित करने का उद्देश्य प्राय: यह बताया जाता था कि इनमें ब्रह्मचारियों को वेद-वेदांग की शिक्षा दी जाएगी और उन्हें भारतीय संस्कृति का प्रचारक बनाया जा सकेगा। किन्तु सैण्ड्स ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि गुरुकुलों की स्थापना राष्ट्रीय उद्देश्य से प्रेरित होकर की गयी थी। इनका लक्ष्य छात्रों को राष्ट्रीय विचारों एवं भावनाओं से ओत-प्रोत करना था। उन्हें यहाँ वेद-वेदांग की शिक्षा देने का भी प्रधान उद्देश्य यह था कि वे अपने प्राचीन साहित्यिक गौरव को अनुभव करें, उसके भक्त तथा उपासक बनें। इस बात को प्रमाणित करने के लिए सैण्ड्स ने १९०० ई० में आर्य-प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश द्वारा प्रकाशित गुरुकुल की योजना का एक उद्धरण दिया है। यह योजना आर्यमित्र प्रेस मुरादाबाद से श्री श्यामसुन्दर वर्मा द्वारा प्रकाशित की गयी थी। इसमें गुरुकुल शिक्षा-पद्धति के लक्ष्य का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि—"यह बात बड़ी देशभक्तिपूर्ण होगी यदि हम वैदिक साहित्य के अनुशीलन और अभिवृद्धि का प्रयास कर सकें। केवल इसकी सहायता से ही हम अपनी शिक्षा को सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा बना सकते हैं।" इस प्रकार गुरुकुल-आन्दोलन एक प्रकार से उस समय प्रचलित अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति के विरुद्ध प्रबल जिहाद था और अंग्रेजी विचारों का विरोध करने के लिए चलाया गया था। तत्कालीन प्रमुख आर्यसमाजियों का यह विचार था कि जब तक हमारे देश में अंग्रेजी विचार बने रहते हैं, तब तक शासक बदलने पर भी भारत में सच्चा स्वदेशी शासन नहीं स्थापित हो सकता है। पंजाब आर्य-प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री रलाराम ने तत्कालीन परिस्थिति पर दुःख प्रकट करते हुए यह लिखा था कि "देश का शासन करने वाला सिविल सर्विस का कर्मचारी अंग्रेज हो अथवा भारतीय, सारा शासन अंग्रेजी विचारों और भावनाओं के अनुसार किया जाता है।" इसे हटाने के लिए इन विचारों का बहिष्कार और गुरुकुल-पद्धति की स्थापना आर्यसमाजियों की दृष्टि में अनिवार्य समझी जाती थी। इसका यह अभिप्राय था कि गुरुकुल-पद्धति का मूल एवं प्रधान उद्देश्य विदेशी शासन का उन्मूलन करना था।

(७) संयुक्त प्रान्त में आर्यसमाज का विकास

पिछली शताब्दी के अन्तिम चरण में जब उत्तरप्रदेश के विभिन्न स्थानों में आर्यसमाजें स्थापित होने लगीं, उसी समय से ईसाई पादरी ब्रिटिश सरकार को यह पाठ पढ़ाने लगे कि आर्यसमाज एक राजद्रोही संस्था है। इस विषय में १९०१ ई० में अलीगढ़ के जिलाधीश द्वारा लिखा गया एक आवेदनपत्र बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यह उन्होंने १८८८ ई० में प्राप्त की गयी सूचनाओं के आधार पर लिखा था। उस समय उन्हें अमेरिकन मैथोडिस्ट मिशन के दिवंगत बिशप पार्कर ने यह बताया था कि आर्यसमाज शीघ्र ही राजद्रोही संस्था बन जायेगी। उन दिनों आर्यसमाज के मुसलमानों के साथ बड़े कटु विवाद और शास्त्रार्थ चल रहे थे। १८८० ई० में मुरादाबाद आर्यसमाज के प्रधान मुंशी इन्द्रमणि को वहाँ के जिलाधीश ने इस्लाम-विरोधी रचनाओं के लिए दण्डित किया

था। बिशप पार्कर को ऐसी घटनायें देखकर यह विश्वास हो गया था कि इनमें सरकार द्वारा मुसलमानों का समर्थन किये जाने से आर्यजन सरकार-विरोधी होते चले जायेंगे और वे राष्ट्रीय महासभा की ओर आकृष्ट होंगे। इसका यह परिणाम होगा कि कुछ समय बाद मुसलमान ईसाइयों की भाँति ब्रिटिश साम्राज्य के प्रबल समर्थक बन जायेंगे और आर्य इसके कट्टर विरोधी हो जायेंगे। उन्होंने अपने पत्र में लिखा था—

"मेरी सम्मति यह है कि सरकार को मिशनरियों की तुलना में आर्यों से अधिक सावधान रहने की जरूरत है। इनकी गुप्त समाजें भविष्य में राष्ट्रीय महासभा का (कांग्रेस) नियन्त्रण करेंगी और यथासम्भव अंग्रेजों के प्रति अधिक-से-अधिक घृणा रखेंगी। इस नये सम्प्रदाय (आर्यसमाज) और मुसलमानों में इस समय संघर्ष चल रहा है। मुस्लिम मतानुयायियों ने इस बात की आशा नहीं छोड़ दी है कि वे भारत में पुनः सर्वोच्च शक्ति बन सकेंगे। अब आर्यसमाज का नया सम्प्रदाय भी ऐसी आशाएँ रखने लगा है और वह मुसलमानों जितना ही बड़ा है। ये दोनों धार्मिक सम्प्रदाय ईसाइयत के प्रसार को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं···मेरी सम्मति में यदि यह संघर्ष चलता रहता है तो कुछ समय बाद मुसलमान ईसाइयों के पक्ष का समर्थन करेंगे और वर्तमान समय की अपेक्षा सरकार के प्रति अधिक राजभक्त रहेंगे···वैयक्तिक रूप से और सार्वजनिक रूप से हमने जो बातें सुनी हैं, उनसे मुझे दृढ़ विश्वास हो गया है कि **आर्य आयरलैण्ड-वासियों का स्थान ले रहे हैं और वे अवश्यमेव सरकार के विरोधी बन जायेंगे।**"

इस पत्र से यह स्पष्ट है कि मिशनरी किस प्रकार सरकारी अधिकारियों के मन में आर्यसमाज के राजद्रोही होने की भावनाएँ भर रहे थे और उनकी तुलना आयरलैण्ड में स्वतन्त्रता का संघर्ष करने वाले आयरिश लोगों से कर रहे थे।

किन्तु मिशनरियों की यह कल्पना सर्वथा निराधार थी। संयुक्त प्रान्त की सरकार ने उपर्युक्त आशंका की सचाई का पता लगाने का निश्चय किया और १८९७ ई० में पुलिस के उप-महानिरीक्षक श्री ई० बेरिल को आर्यसमाज की राजद्रोही प्रवृत्ति का पता लगाने का काम सौंपा गया। उसने अपनी जाँच के बाद प्रस्तुत रिपोर्ट में लिखा था कि आर्यसमाज की कार्यवाहियों में उसे राजद्रोह की कोई बात नहीं मिली है।

इस समय आर्यसमाज का जिस ढंग से विस्तार हो रहा था, उससे भी यह स्पष्ट था कि आर्यसमाज राजद्रोही संस्था नहीं बन सकता है। उस समय संयुक्त प्रान्त में आर्यसमाज का सबसे अधिक प्रचार मेरठ डिवीजन में था। यहाँ यह जाटों, कायस्थों और बनियों में बहुत लोकप्रिय था। संयुक्त प्रान्त में आर्यसमाज के विकास की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि यह सबसे अधिक पश्चिमी जिलों में फैला। ज्यों-ज्यों हम पूरब की तरफ बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों आर्यसमाज का प्रचार और प्रभाव कम होता चला जाता है। इसके दो बड़े कारण बताये जाते हैं। इस प्रान्त के पश्चिमी जिले पंजाब के साथ लगे हुए हैं, वहाँ आर्यसमाज का प्रचार बहुत अधिक था, अतः पंजाब के साथ सम्पर्क से आर्यसमाज मेरठ में अधिक लोकप्रिय हो गया। यह एक विलक्षण बात है कि मेरठ में आर्यसमाज की लोकप्रियता सबसे अधिक सिंचाई-विभाग के सरकारी कर्मचारियों में थी। इस विभाग के कुछ कर्मचारी पंजाब से अपने साथ आर्यसमाज के विचार लेकर आये थे। उन्होंने इसका बड़े उत्साह से प्रचार किया। सरकारी विभागों में आर्यसमाज के सदस्य सबसे अधिक इसी विभाग में थे। संयुक्त प्रान्त के पूर्वी जिलों में ज्यों-ज्यों सिंचाई-विभाग

का विस्तार होता गया त्यों-त्यों आर्यसमाज वहाँ फैलता चला गया। श्री सैण्ड्स ने यह बताया कि बुन्देलखंड में सिंचाई-विभाग की स्थापना और विस्तार के साथ ही आर्यसमाज का प्रचार अधिक हुआ। चूँकि संयुक्त प्रान्त के पश्चिमी भाग में नहरों का अधिक विस्तार था, अतः यहाँ आर्यसमाजी अधिक संख्या में पाये जाते थे।

मेरठ में आर्यसमाजियों की एक बड़ी संख्या जाटों की थी। उस समय जाट-सभा आर्यसमाज के आन्दोलन की प्रबल समर्थक थी। जाटों में आर्यसमाज की बढ़ती हुई लोकप्रियता ब्रिटिश सरकार के लिए इस दृष्टि से विशेष चौंकाने वाली थी कि इस प्रदेश के जाट बड़ी संख्या में सेना में भरती होते थे। यदि आर्यसमाज राजद्रोह का प्रचार करता हो तो शासन के लिए यह समस्या विचारणीय हो सकती थी कि वे बगावत फैलाने वाली संस्था से सम्बन्ध रखने वाले और उसके विचारों से प्रभावित होने वाले जाटों को सेना में भरती करने के बारे में किस नीति का अवलम्बन करें। अन्यत्र यह बताया जायेगा कि १९१० ई० के आसपास भारत सरकार ने इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार किया। उस समय ब्रिटिश शासकों का एक बड़ा वर्ग आर्यसमाजियों को राजद्रोही समझने के कारण सेना में इनकी भरती पर पाबन्दी लगाना चाहता था।

आर्यसमाज के राजद्रोही होने की सम्भावना इसलिए कम प्रतीत होती थी कि इसके अधिकांश सदस्य शिक्षित वर्गों के ऐसे व्यक्ति होते थे जो प्रायः सरकारी दफ्तरों में लिपिक का कार्य करते थे अथवा सिंचाई विभाग, सार्वजनिक निर्माण विभाग, राजस्व, डाक-तार, चिकित्सा और शिक्षा विभाग के छोटे पदों पर काम करते थे। सरकारी सेवक होने के कारण इनसे राजद्रोह की आशंका बहुत कम की जाती थी।

इस समय संयुक्त प्रान्त की आर्य-प्रतिनिधि सभा ने शुरू से ही राजभक्ति का रवैया अपनाया। आर्यसमाज को सामान्य रूप से राजद्रोही संस्था मानने वाले श्री सैण्ड्स को भी यह बात स्वीकार करनी पड़ी थी कि "संयुक्त प्रान्त की आर्य-प्रतिनिधि सभा का दृष्टिकोण इस बारे में सर्वथा सही रहा है और इस बात का कोई संकेत नहीं है कि यह अपने अधीनस्थ समाजों के सदस्यों को राजनीति में भाग लेने के लिए प्रोत्साहन देती है।" २० सितम्बर १९०७ ई० को संयुक्त प्रान्त की आर्य-प्रतिनिधि सभा के प्रधान ने इस प्रान्त की सभी आर्यसमाजों के मन्त्रियों के नाम एक परिपत्र निकालकर यह निर्देश दिया था कि आर्यसमाज के नेताओं को राजनैतिक क्षेत्र में कोई कार्य नहीं करना चाहिए और इसकी कोई जिम्मेवारी नहीं उठानी चाहिए। इसके साथ ही उन्होंने सब सदस्यों से इस बात का भी अनुरोध किया था कि वे अपने भाषणों तथा लेखों में कोई ऐसी बात न कहें जिससे अन्य मतावलम्बियों के दिल को कोई ठेस पहुँचती हो। इसके अतिरिक्त प्रधान ने अपने परिपत्र में आर्यसमाज के एक बहुत पुराने १८८८ ई० में बनाये गये प्रतिनिधि सभा के निम्नलिखित उपनियम का स्मरण कराया था—

"कोई भी आर्यसमाज संस्था के रूप में किसी भी राजनैतिक आन्दोलन से किसी भी प्रकार का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं रखेगी और न ही किसी राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेगी।"

इस विषय में यह स्मरणीय है कि इस नियम का निर्माण १८८८ ई० में उस समय किया गया था जब कि कई स्थानों की आर्यसमाजें इस बात के लिए उत्सुक थीं कि वे प्रतिवर्ष दिसम्बर के महीने में होने वाली राष्ट्रीय महासभा में अपने सदस्यों को

प्रतिनिधि मनोनीत करके भेजा करें। संयुक्त प्रान्त की प्रतिनिधि सभा ने इस प्रवृत्ति को आर्यसमाज के मौलिक सिद्धान्तों और उद्देश्यों के प्रतिकूल समझा और इसे रोकने के लिए उपर्युक्त नियम बनाया।

किन्तु फिर भी संयुक्त प्रान्त में बहुत-से आर्यसमाजी महर्षि दयानन्द की राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरणा प्राप्त करते थे और स्वतन्त्रता-संग्राम के राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेना अपना कर्तव्य समझते थे। इन व्यक्तियों के कारण संयुक्त प्रान्त की सरकार शनैः-शनैः इस निष्कर्ष पर पहुँची कि आर्यसमाज एक राजनीतिक और राजद्रोही संस्था है।

होतीलाल वर्मा—उत्तर प्रदेश में राजद्रोही आन्दोलन में भाग लेने तथा अंडमान भेजे जाने वाले पहले आर्यसमाजी संभवतः होतीलाल वर्मा थे। देश में क्रान्तिकारी आन्दोलन के दमन के लिए आवश्यक कानून बनाने के बारे में सुझाव देने के लिए भारत सरकार द्वारा नियुक्त समिति ने इन्हें इतना महत्त्वपूर्ण व्यक्ति समझा कि रोलेट एक्ट कमेटी की रिपोर्ट में क्रान्तिकारी गतिविधियों के विवरण में श्री वर्मा का उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में किया गया है—"१९०८ ई० में होतीलाल वर्मा नामक एक व्यक्ति को हम एकाएक राजद्रोही प्रचारकार्य करता हुआ पाते हैं। ये जाति के जाट थे और पंजाब में पत्रकार के रूप में कुछ कार्य करते रहे थे। अरविन्द घोष का कलकत्ते से जो बन्दे मातरम् नामक अखबार निकला था, ये उसके संवाददाता थे। बाद में इनको क्रांतिकारी प्रचार-कार्य में १० साल के कालेपानी का दण्ड हुआ। यह महाशय चीन, जापान तथा यूरोप घूम चुके थे और बुरे अर्थात् क्रान्ति से प्रभावित लोगों के असर में आ चुके थे। इनके पास बम बनाने की विधि बताने वाली पुस्तक (मैनुअल) के कुछ हिस्से मिले थे। ये हिस्से कलकत्ता अनुशीलन समिति के द्वारा बनाये गये मैनुअल से मिलते-जुलते थे। इन्होंने अलीगढ़ के नौजवानों में राजद्रोह फैलाने की कोशिश की, किन्तु वे उसमें सफल नहीं हो सके।"

श्री सैण्ड्स ने श्री वर्मा का आर्यसमाज से सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए लिखा है—"श्री होतीलाल वर्मा के विरुद्ध चलाये गये अभियोग से यह प्रकट हुआ कि इस नवयुवक का पालन-पोषण मथुरा जिले में अंगई गाँव के कुँवर हुकमसिंह द्वारा किया गया था। ये कट्टर आर्यसमाजी थे और १९१० ई० में राजपूताना की आर्य-प्रतिनिधि सभा के प्रधान थे। अपनी विदेश-यात्रा से लौटने के बाद कुँवर हुकम सिंह ने भारतीय राजनीति के गरम दल के सदस्यों से परामर्श किया और क्रान्तिकारी विचार रखने वाला एक उत्तम शरणस्थल अलीगढ़ में **'वैदिक आश्रम'** के रूप में स्थापित किया। यह छात्रों के निवास के लिए आर्यसमाज द्वारा चलाये जाने वाला एक छात्रावास एवं आर्यसमाज के उपदेशकों का अतिथिगृह था। जब पुलिस ने इस मामले की छानबीन की तो पता लगा कि श्री होतीलाल वर्मा के साथ ही इस आश्रम में एक अन्य व्यक्ति रामस्वरूप भी रहा करते थे। वे इस छात्रावास के अधीक्षक थे और वे यहाँ रहने वालों छात्रों में अपने वैयक्तिक प्रभाव से तथा राजद्रोही साहित्य का प्रसार करके सरकार के विरुद्ध बगावत की भावनाओं को भड़काने का प्रयास करते थे। पुलिस द्वारा इन दोनों व्यक्तियों पर मुकद्दमा चलाया गया।

श्री होतीलाल तथा रामस्वरूप के विरुद्ध राजद्रोह के आरोप बड़े स्पष्ट थे। इनका

आर्यसमाज से सम्बन्ध निर्विवाद था, फिर भी इन दो व्यक्तियों का कार्य पूर्ण रूप से व्यक्तिगत था और इसके लिए आर्यसमाज को राजद्रोही ठहराना उचित नहीं प्रतीत होता है। इस बात को श्री सैण्ड्स ने स्वयं स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। फिर भी उन्होंने यह कहा है कि उस समय के आर्यसमाजी श्री वर्मा से और रामस्वरूप से सहानुभूति रखते थे। अलीगढ़ के प्रमुख आर्यसमाजी वकील ठाकुर उदयवीर सिंह ने श्री वर्मा का केस लड़ा था और आगरा से प्रकाशित होने वाले आर्यसमाज के पत्र **मुसाफिर** में पण्डित भोजदत्त ने इस मामले की जाँच करने वाले सरकारी अधिकारियों—विशेष रूप से इंस्पेक्टर खलीलुर्रहमान पर प्रबल आक्षेप करने वाला एक लेख लिखा था। उस समय के **आर्यमित्र** आदि आर्यसमाजी पत्रों ने इन दोनों व्यक्तियों की गिरफ्तारी की बड़ी कड़ी आलोचना की थी। इसके साथ ही यह भी उल्लेखनीय था कि रामस्वरूप तो आर्यसमाज द्वारा संचालित किये जाना वाले वैदिक आश्रम के अधीक्षक थे और उन्होंने इस रूप में छात्रों में बगावत फैलाने का प्रयास किया था। श्री होतीलाल वर्मा को न्यायालय द्वारा १० वर्ष का कालापानी का दण्ड २५ जुलाई १९०८ ई० को दिया गया और श्री रामस्वरूप को तीन वर्ष की कड़ी कैद की सजा ५ जुलाई १९०८ ई० को दी गयी।

श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा ने लंदन से प्रकाशित होनेवाले **इण्डियन सोशियोलोजिस्ट** नामक पत्र में इन गिरफ्तारियों की चर्चा करते हुए राजनीति के सम्बन्ध में आर्यसमाज के दृष्टिकोण की विस्तृत समीक्षा की। उस समय के एक प्रसिद्ध ब्रिटिश पत्रकार श्री नेविन्सन द्वारा उनकी पुस्तक **'न्यू स्पिरिट इन इण्डिया'** (भारत में नवीन भावना) में प्रतिपादित इस मन्तव्य का खण्डन किया कि आर्यसमाज राजनैतिक संस्था नहीं है। इन दोनों मामलों में श्री सैण्ड्स को यह स्वीकार करना पड़ा है कि इनमें कोई ऐसा प्रमाणपेश नहीं किया गया जिससे यह साबित हो सके कि आर्यसमाज एक राजनैतिक संस्था है और वह इन व्यक्तियों के आपत्तिजनक व्यवहार के लिए उत्तरदायी है।

संयुक्त प्रान्त में इस प्रकार का तीसरा मामला दौलतराम का था। एक पृथक् अध्याय में इस मामले की विस्तारपूर्वक चर्चा की गयी है। यहाँ इतना ही निर्देश करना काफी है कि दौलतराम एक आर्यसमाजी प्रचारक था; उस पर सरकार की ओर से यह आरोप लगाया गया था कि वह झाँसी की छावनी के सैनिकों में सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास के राजद्रोही अंशों पर प्रवचन कर रहा था और उसका यह उद्देश्य था कि वह सैनिकों में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध विद्रोह की भावना उत्पन्न करे। इस अभियोग को सुनने वाले मैजिस्ट्रेट ने दौलतराम को दोषी पाया और २४ सितम्बर १९०८ ई० को उसे भारतीय दण्ड-विधान की धारा १०९ के अनुसार एक साल के लिए मुचलका देने के लिए कहा। संयुक्त प्रान्त तथा पंजाब की आर्य-प्रतिनिधि सभाओं ने इस मामले में दौलतराम की पूरी सहायता की, उसकी ओर से मामला लड़ने का प्रयास किया। यह अभियोग हाईकोर्ट तक गया, किन्तु अभियुक्त की सजा बहाल रही।

उपर्युक्त तीन मामलों के अतिरिक्त श्रीसैण्ड्स ने आर्यसमाज को राजद्रोही सिद्ध करने के लिए कुछ अन्य आर्यसमाजी प्रचारकों का भी उल्लेख किया है। इनमें से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति आगरा के पण्डित भोजदत्त हैं। उन पर १९०७ ई० में इस बात के लिए मामला चलाया गया था कि उन्होंने मुसलमानों के विरुद्ध बड़ी भद्दी और अश्लील भाषा में उनकी धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचाने वाले लेख प्रकाशित किये हैं।

इसके उत्तर में पण्डित भोजदत्त की ओर से यह कहा गया था कि यह लेख पंजाब से छपने वाले एक मुस्लिम पत्र में प्रकाशित लेखों के जवाब में लिखे गये थे। श्री सैण्ड्स ने स्वयमेव यह स्वीकार किया है कि मुसलिम पत्र के लेख भी अतीव आपत्तिजनक थे। १९०७ ई० में जलेसर की आर्यसमाज में इन्होंने बहुत अधिक भड़काने वाला एक भाषण दिया था। इस पर सरकार ने इन्हें एक चेतावनी दी थी कि वे भविष्य में ऐसे भाषण न दें। पण्डित भोजदत्त के ये कार्य संयुक्त प्रान्त की आर्य-प्रतिनिधि सभा द्वारा बनाये गये उपर्युक्त नियमों के सर्वथा प्रतिकूल थे। १९०८ ई० में यह अफवाह गरम थी कि पण्डित भोजदत्त को आर्यसमाज से निकाला जा रहा है। किन्तु वास्तव में ऐसी कोई बात नहीं हुई और इसी साल उन्होंने 'भारत शुद्धि सभा' नामक "आर्यसमाज के एक नये उग्र तथा मुसलमानों को शुद्ध करने वाले संगठन" की स्थापना की। १९०९ ई० में पण्डित भोजदत्त बंगाल गये और वहाँ उनके भाषणों से शान्तिभंग की ऐसी प्रबल आशंका उत्पन्न हुई कि पुलिस कमिश्नर ने उन्हें कलकत्ता में भाषण न करने का आदेश जारी किया। दिसम्बर १९०९ ई० में मैनपुरी जिले की आर्यसमाज से यह सूचना प्राप्त हुई कि पंजाब की आर्य-प्रतिनिधि सभा ने इस उद्देश्य से चन्दा इकट्ठा करना शुरू किया है कि कलकत्ता में पण्डित भोजदत्त पर चलाये गये मुकद्दमे की पैरवी की जा सके। इससे यह स्पष्ट है कि प्रान्तीय सभाओं ने पण्डित भोजदत्त को आर्यसमाज से निकालने की कोई कार्यवाही नहीं की थी। पण्डित भोजदत्त के उपर्युक्त सभी मामले धार्मिक लेखों और विषयों से सम्बन्ध रखते हैं। किन्तु इस बात के भी प्रमाण हैं कि वे राजनैतिक मामलों में पूरी दिलचस्पी लेते थे। उनके सम्पादकत्व में निकाला जाने वाला उर्दू पत्र 'मुसाफिर' केवल धार्मिक विषयों की चर्चा नहीं करता था, अपितु राजनीति में गरम दल के विचारों का कई बार प्रबल समर्थन करता था। आगरा पुलिस के अध्यक्ष मिस्टर पी० ब्रेमले ने १९०८ ई० में जब आगरा में 'मुसाफिर' पत्र के कार्यालय की तलाशी ली थी तो उसे वहाँ से अजीतसिंह और सूफी अम्बाप्रसाद द्वारा सम्पादित और भारतमाता प्रकाशन एजेन्सी से प्रकाशित निम्नलिखित राजद्रोहपूर्ण पुस्तकें मिली थीं—**बन्दर बाँट, मुहिब्बाने वतन, लेक्चर्स बाई तिलक एण्ड ओपिनियन्स आफ लाजपतराय** (तिलक के व्याख्यान और लाला लाजपतराय की सम्मतियाँ)।

पण्डित भोजदत्त के पुत्र लक्ष्मीदत्त भी अपने पिता के चरणचिह्नों पर चलते रहे और राजद्रोह के प्रचार में भाग लेते रहे। मथुरा में २१ नवम्बर १९०८ ई० को सम्पन्न हुई आर्यसमाज की एक बैठक में उन्होंने यह घोषणा की थी कि राष्ट्र केवल लड़ाई से ही उन्नत होते हैं। इसका स्पष्ट अभिप्राय अंग्रेजों के विरुद्ध भारतीयों को युद्ध करने के लिए भड़काना था।

हरदोई निवासी पण्डित प्रयागदत्त आर्य-प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त के अवैतनिक प्रचारक थे। इनके बारे में खुफिया पुलिस की रिपोर्ट यह कहती थी कि ये आर्य-समाज के अधिवेशनों में राजनैतिक विषयों की चर्चा किया करते थे। मई १९०८ ई० में हरदोई आर्यसमाज के एक अधिवेशन में उन्होंने बंगालियों की प्रशंसा करते हुए कहा था कि वे आन्दोलन तथा संगठन द्वारा अपनी सभी अभीष्ट वस्तुओं को प्राप्त कर रहे हैं। इस व्याख्यान की ध्वनि यह थी कि हमें भी स्वतन्त्रता पाने के लिये राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेना चाहिए। मिर्जापुर के पण्डित विशनदत्त १९०२ से आर्यसमाज से सम्बद्ध

थे और संयुक्त प्रान्त में वे स्वदेशी के प्रबल प्रचारक थे। १९०७ में उन्होंने बम्बई में एक ही मंच से लाला लाजपतराय और मुंशीराम के साथ भाषण दिया था। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि दौलतराम को झाँसी के मैजिस्ट्रेट द्वारा दण्डित किये जाने पर संयुक्त प्रान्त की आर्य प्रतिनिधि सभा ने श्री विशनदत्त को इस मामले की अपील लड़ने का कार्यभार सौंपा था। १९०९ में उन्होंने लखनऊ आर्यसमाज में आस्ट्रेलिया की महिला कुमारी थामसन की शुद्धि में प्रमुख भाग लिया था। १९०७ ईसवी में उन्होंने राजद्रोहपूर्ण राष्ट्रीय गीतों की एक पुस्तिका छापी थी। इसमें स्वदेशी, बायकाट और लाला लाजपत-राय के देश-निर्वासन के बारे में कई लोकप्रिय देशभक्तिपूर्ण गाने थे। १९०८ ई० में उन्होंने ऐसी दो कविताएँ छापीं जिनमें स्वदेशी आन्दोलन और भारत की दरिद्रता का मार्मिक चित्रण था और नरम तथा गरम दल वालों को एक हो जाने की प्रेरणा दी गयी थी। पिछले तीन-चार वर्षों में वे स्वदेशी पर अपने भाषण देते रहे।

१९०९ ई० के आरम्भ में मुरादाबाद आर्यसमाज के प्रधान श्यामसुन्दर लाल की तलाशी लेने पर उनके यहाँ से तीन राजद्रोहपूर्ण पुस्तकें मिलीं, उनके नाम थे—**बन्दर बाँट, बागी मसीहा, लेक्चर्स बाई तिलक**। ये तीनों सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी अजीतसिंह और सूफी अम्बाप्रसाद द्वारा स्थापित भारतमाता प्रकाशन संस्थान द्वारा छापी गयी थीं। श्यामसुन्दर लाल मुरादाबाद में आर्यसमाज के सबसे अधिक कर्मठ कार्यकर्त्ता थे। इसकी आरम्भिक बैठकें उनके घर पर हुआ करती थीं।

१९०८ में बुन्देलखण्ड, मिर्जापुर और गोण्डा जिलों में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। इसमें अकाल-पीड़ितों की सहायता का कार्य लाला लाजपतराय के कार्यकर्त्ताओं द्वारा किया गया। यद्यपि यह कार्य प्रत्यक्ष रूप से आर्यसमाज द्वारा नहीं किया गया, फिर भी इन कार्यकर्ताओं का स्वागत सभी स्थानों पर आर्यसमाजियों द्वारा किया गया। इन व्यक्तियों ने ग्रामवासियों को राहत पहुँचाने के साथ-साथ समाज के सिद्धान्तों का भी प्रचार किया और एक कार्यकर्ता ने तो स्पष्ट रूप से कहा कि अकाल-निवारण में उनका वास्तविक उद्देश्य यह है कि वे गाँववासियों को अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने का पाठ पढ़ायें।

आर्यसमाज के सत्संगों में राजनैतिक विषयों की चर्चा—ब्रिटिश अधिकारियों का यह मंतव्य था कि यदि आर्यसमाज धार्मिक संस्था है तो उसे अपने साप्ताहिक सत्संगों में केवल धार्मिक विषयों की ही चर्चा करनी चाहिए। इनमें राजनैतिक विषयों पर कोई भाषण नहीं दिये जाने चाहिएँ। श्री सैण्ड्स ने अनेक आर्यसमाजों में दिये जाने वाले भाषणों की चर्चा करते हुए लिखा है कि इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि अनेक जिलों में आर्य-समाज के साथ वाद-विवाद-क्लबों के रूप में कुछ संस्थाएँ पाई जाती हैं। ये आर्यसमाज के ही अंग हैं। इनमें राजनैतिक विषयों की प्रायः चर्चा होती रहती है। इसके प्रमुख उदाहरण निम्नलिखित हैं। १९०७ में अलीगढ़, मैनपुरी, हरदोई, तथा अन्य स्थानों में आर्यसमाज के अधिवेशनों में लाला लाजपतराय के देश-निर्वासन की चर्चा हुई और लालाजी का मुकदमा लड़ने के लिए चन्दा इकट्ठा किया गया। कानपुर आर्यसमाज में विदेशी चीनी और स्वदेशी आन्दोलनों की चर्चा अपने भाषणों में प्रायः सूरजप्रसाद विशेष रूप से किया करते थे। श्री सैण्ड्स के मतानुसार हिन्दुओं ने विदेशी चीनी के प्रश्न को प्रबल आन्दोलन बना लिया है। हरदोई के सार्वजनिक निर्माण-विभाग में नियुक्त ओवर-सीयर रामप्रसाद प्रायः आर्यसमाज के अधिवेशनों में स्वदेशी आन्दोलन की निरन्तर चर्चा

करते रहते थे। १९०५ में आगरा में हुए आर्यसमाज की एक बैठक में मनोहर लाल नामक पंजाबी भाषणकर्ता ने हिन्दुओं में फूट मिटाने और एकता पर बल देते हुए कहा कि एकता के कारण ही पहले मुसलमान और बाद में अंग्रेज भारत के शासक बने और अब भारतीय एकता द्वारा ही अपने देश को स्वाधीन बना सकते हैं। १९०८ में अलीगढ़ जिले के आलमपुर नामक स्थान में आर्यसमाज की एक बैठक में टोडीमल नामक बनिये ने भी इसी प्रकार का भाषण दिया। आजमगढ़ और रुड़की आदि समाजों में भारत-वासियों में एकता बढ़ाने के बारे में अनेक भाषण होते रहते थे। जुलाई १९०८ में बिजनौर में आर्यसमाज की एक बैठक में अरविन्द घोष की पैरवी के लिए चन्दा इकट्ठा किया गया और **हिन्दुस्तान** नामक पत्र में प्रकाशित उनकी बहन की एक अपील पढ़कर सुनायी गयी। आर्यसमाज के उत्सवों, साप्ताहिक सत्संगों में राजनैतिक विषयों की चर्चा प्रायः होती रहती थी और यह इसके राजनैतिक संस्था होने का प्रबल प्रमाण मानी जाती थी।

अन्त में श्री सैण्ड्स ने यह टिप्पणी की है कि "यहाँ आर्यसमाजों में राजनीतिक चर्चा करने के कुछ थोड़े-से उदाहरण मात्र दिये हैं। किन्तु हमारे पास यह विश्वास करने के पर्याप्त कारण मौजूद हैं कि ऐसे विषयों की चर्चा आर्यसमाजों में अपवाद रूप में नहीं, अपितु सामान्य रूप में होती रहती है।" क्योंकि १८७८ ई० में देवसमाज के प्रवर्त्तक श्री देवगुरु भगवान् ने इस धर्म को यह नारा दिया था—"मुल्क के तरक्की के नाम से इत्तफाक की पुकार" अर्थात् देश की प्रगति के नाम पर सब भारतीयों में एकता का प्रयास किया जाना चाहिए। आर्यसमाज के पवित्र ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में राजनैतिक विषयों की चर्चा प्रमुख रूप से की गयी है। इसे मानने वाले आर्यसमाजियों में देश की राजनैतिक समस्याओं पर चिन्तन की प्रवृत्ति सर्वथा स्वाभाविक है।

सेना पर आर्यसमाज का प्रभाव—भारतीय सेना के सिपाहियों और जवानों पर आर्यसमाज के बढ़ते हुए प्रभाव पर श्री सैण्ड्स ने बड़ी चिन्ता प्रकट की है और यह बताया है कि संयुक्त प्रान्त में सैनिकों की राजभक्ति को आर्यसमाज द्वारा प्रभावित करने के निम्नलिखित उदाहरणों का उल्लेख मिलता है—१८९५ में **जाट समाचार** नामक पत्र का सम्पादक और एक आर्यसमाजी कन्हाई सिंह लखनऊ छावनी की सातवीं बंगाल कैवलरी नामक पलटन में प्रचार के लिए गया था। यह कहा जाता है कि १९०७ में झाँसी की छठी जाट इन्फेंट्री सेना के सिपाहियों में एक समाज की स्थापना की गयी और छावनी में आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संग का एक भवन बनाने का प्रस्ताव था, किन्तु सैनिक अधिकारियों द्वारा इस आन्दोलन को दबा दिया गया। १९०७ में मेरठ में नौचन्दी मेले के अवसर पर कुछ सिपाहियों को आर्यसमाज के अधिवेशनों में सम्मिलित होते हुए देखा गया।

१९०८ में झाँसी की छठी जाट सेना के सैनिकों में आर्यसमाज के एक मार्गोपदेशक दौलतराम आए, उन्होंने वहाँ एक सभा आयोजित की और इसमें वे सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास की कथा कहते रहे। इसके लिए उन पर मुकद्दमा चला और उन्हें दण्डित किया गया। अन्यत्र इस मामले का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है। जाटों में आर्यसमाज के अनुयायियों की संख्या अधिक है और आर्यसमाज का अधिकांश प्रचार गाँवों में किया जाता है। विभिन्न सैनिक छावनियों के कार्यालयों में काम करने वाले क्लर्कों और रेजिमेंटों के स्कूलों में पढ़ाने वाले शिक्षकों के द्वारा भी आर्यसमाज का प्रचार

करने के प्रमाण मिले हैं।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर श्री सैण्ड्स ने यह परिणाम निकाला है कि "संयुक्त प्रान्त में आर्यसमाज का प्रभाव ब्रिटिश सत्ता का विरोधी है और आर्यसमाजियों के (राजद्रोही) रुख में तब तक परिवर्तन होने की कोई आशा नहीं हैं, जब तक उनके धर्म के सिद्धान्तों में परिवर्तन न हो, और इस बात की कोई सम्भावना नहीं है। अतः संयुक्त प्रान्त के गुप्तचर विभाग के उप-पुलिस-अधीक्षक का यह निश्चित मत था कि आर्यसमाज राजद्रोही संस्था है। उसने अपना यह निष्कर्ष इस पुस्तक के ४६ परिशिष्टों में संयुक्त प्रान्त के तत्कालीन ४६ जिलों में आर्यसमाज के विकास और प्रसार के इतिहास से पुष्ट करने का प्रयास किया है। यहाँ विभिन्न जिलों की कुछ राजद्रोही गतिविधियों का संक्षिप्त उल्लेख किया जायेगा।

(८) संयुक्त प्रान्त में आर्यसमाज की राजद्रोही गतिविधियाँ (१९००-१९१०)

संयुक्त प्रान्त के गुप्तचर विभाग द्वारा विभिन्न जिलों के पुलिस अधीक्षकों से प्राप्त सूचनाओं से यह प्रतीत होता है कि पंजाब के १९०७ के राजनैतिक आन्दोलन ने इस प्रान्त की आर्यसमाजों पर पर्याप्त प्रभाव डाला। पंजाब में इस आन्दोलन के प्रमुख नेता वहाँ के प्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता लाला लाजपतराय थे। उनकी गिरफ्तारी से संयुक्त प्रान्त के आर्यसमाजी बड़े क्षुब्ध हुए और अनेक स्थानों पर उनकी गिरफ्तारी की निन्दा के लिए आर्यसमाजों में सभाएँ की गयीं। किन्तु कुछ जिलों की आर्यसमाजों में १९०५ के बंग-भंग तथा स्वदेशी आन्दोलन का लाला जी की गिरफ्तारी से दो वर्ष पहले ही प्रभाव पड़ना शुरू हो गया था।

सहारनपुर जिले में यह प्रभाव १९०५ से दिखाई देता है। इस समय यहाँ स्वदेशी आन्दोलन के लिए तथा विदेशी चीनी का प्रयोग न करने के लिए आर्यसमाजों में कुछ बैठकें हुईं। इस जिले में राजद्रोही गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र रुड़की था। यहाँ की आर्यसमाज स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित की गई संयुक्त प्रान्त की एक प्राचीनतम आर्यसमाज थी। इस जिले में आर्यसमाज का प्रचार करने वाले निम्नलिखित व्यक्तियों पर खुफिया पुलिस अपनी कड़ी दृष्टि रखती थी—लाहौर के वजीरचन्द्र, आगरा के पं० भोजदत्त, हरदोई के पं० प्रयागदत्त, मेरठ के हनुमानप्रसाद, जालंधर के लाला मुंशीराम। इनके भाषणों में प्रायः राजनैतिक विषयों की चर्चा रहती थी। रुड़की आर्यसमाज में बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में दो राजनैतिक आन्दोलनकारी उपदेशकों के नाम उल्लेखनीय हैं: ये हैं मुसद्दीलाल और हीरालाल गुप्ता। ये दोनों धर्म की अपेक्षा राजनीति में अधिक दिलचस्पी रखते थे। हरिद्वार में आर्यसमाज के संन्यासियों द्वारा राजनैतिक कार्य करने की अनेक अफवाहें सुनी जाती थीं। इनका एक रूप तीर्थयात्रा के लिए हरिद्वार आने वाले सैनिकों को विद्रोह का पाठ पढ़ाना होता था। किन्तु सैण्ड्स ने यह स्वीकार किया है कि इन अफवाहों को स्थानीय पुलिस ने पुष्ट नहीं किया है, अतः ये विश्वसनीय नहीं प्रतीत होती हैं।

इस विषय में यह उल्लेखनीय है कि १९०६ में एक सजायाफ्ता आर्यसमाजी हीरालाल वर्मा पहली बार तीर्थयात्रियों में राजद्रोही विचारों के प्रचार करने का प्रयास करते

हुए सुना गया, किन्तु पुलिस को इसकी सूचना मिलने से पहले ही यह हरिद्वार छोड़कर अन्यत्र चला गया था। मई और जून १९०७ ई० में पंजाब में राजनैतिक आंदोलन अपनी चरम पराकाष्ठा पर पहुँच गया था, क्योंकि उस समय पंजाब में यह अफवाह उड़ी हुई थी कि १८५७ के सैनिक विद्रोह की स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर पुनः भारतीय सेनाओं में अंग्रेजों के विरुद्ध एक नयी बगावत बहुत बड़े पैमाने पर होने वाली है और इसके लिए लाला लाजपतराय ने एक लाख व्यक्तियों की सेना एकत्र कर ली है। हरिद्वार में वैशाखी के अवसर पर और इसके बाद पंजाब से तीर्थयात्री बड़ी संख्या में आते हैं। इस समय परमानन्द और ब्रह्मानन्द नाम के व्यक्ति हरिद्वार आये। वे यहाँ छुट्टी पर स्नान के लिये आये सिपाहियों में सरकार के विरुद्ध असन्तोष उत्पन्न करते हुए देखे गये। श्री सैण्ड्स ने यह स्वीकार किया है कि ये व्यक्ति यद्यपि किसी आर्यसमाज या आर्य-प्रतिनिधि सभा द्वारा नियुक्त अथवा प्रमाणित प्रचारक नहीं थे, फिर भी इनके आर्यसमाजी होने में कोई सन्देह नहीं है।

मैनपुरी जिले के बारे में श्री सैण्ड्स की यह टिप्पणी है कि यहाँ आर्यसमाज की राजनैतिक गतिविधियों और प्रवृत्तियों के बारे में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता है। लाला लाजपतराय जैसे उग्र राजद्रोहियों के अनुयायियों के भाषणों को यहाँ न केवल आर्य-समाजों के अधिवेशनों में ध्यानपूर्वक सुना जाता है, अपितु उनके लिए विभिन्न समाजों से चन्दा भी एकत्र किया जाता है। मैनपुरी का समाज प्रायः अपनी राजभक्ति का प्रदर्शन करता है, अपने वार्षिकोत्सवों में जिला-स्तर के अधिकारियों को भाग लेने और सम्मि-लित होने के लिए निमन्त्रित करता है। इन उत्सवों में सामान्य रूप से धार्मिक विषयों की चर्चा की जाती है। किन्तु मैनपुरी के पुलिस सुपरिण्टैण्डेण्ट की यह रिपोर्ट है कि आर्यसमाज का प्रधान उद्देश्य सब वर्गों और मत-मतान्तरों के व्यक्तियों को इस उद्देश्य से एकसूत्र में आबद्ध करना है कि भारत विदेशी पराधीनता के पाश से मुक्त हो सके।

बिजनौर जिले में आर्यसमाज की सुप्रसिद्ध शिक्षा-संस्था गुरुकुल काँगड़ी अवस्थित थी। पहले यह बताया जा चुका है कि सरकारी जासूसों की रिपोर्टों के अनुसार यहाँ भारत की स्वतन्त्रता का आन्दोलन करने तथा देश की सेवा करने वाले कार्यकर्ताओं को तैयार किया जाता था और ब्रह्मचारियों को बचपन से ऐसी देशभक्तिपूर्ण शिक्षा दी जाती थी कि वे क्रान्तिकारी गतिविधियों मे भाग ले सकें। एक पृथक् अध्याय में इस संस्था की राज-द्रोही गतिविधियों का परिचय दिया गया है। इस संस्था के अतिरिक्त मंडावर की समाज में धार्मिक विषयों के अपेक्षा राजनैतिक विषयों की अधिक चर्चा होती थी। यहाँ प्रधान रूप से बिशनोई लोग बसे हुए थे और वे राजनीति में अधिक दिलचस्पी लेते थे।

मुरादाबाद में आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्ता साहू श्यामसुन्दरलाल, बाबू बृजनन्दन प्रसाद आननेरी मजिस्ट्रेट और लाला श्यामलाल आननेरी मजिस्ट्रेट (सम्भल) थे। पिछले दो व्यक्तियों से तो राजद्रोही गतिविधियों की कोई आशा नहीं की जा सकती थी, किन्तु श्यामसुन्दरलाल के ऐसी प्रवृत्तियों में संलग्न होने के कुछ प्रमाण मिलते हैं। मुरादाबाद के कोतवाल ने उनके घर की तलाशी ली थी और इसमें प्रसिद्ध क्रान्तिकारी अजीतसिंह, और सूफी अम्बाप्रसाद की लाहौर की प्रकाशन-संस्था भारतमाता पब्लिशिंग एजेंसी द्वारा प्रकाशित तीन पुस्तकें मिली थीं। इनके नाम थे—**बन्दर बाँट, बागी मसीहा** तथा **लैक्चर्स बाई तिलक** (तिलक के व्याख्यान)। सरकारी अधिकारियों के अनुसार इन

पुस्तकों में बड़ी आपत्तिजनक राजद्रोहात्मक सामग्री थी। ऐसी पुस्तकों के मुरादाबाद आर्यसमाज के प्रमुख कार्यकर्ता के यहाँ पाये जाने से यह स्पष्ट होता था कि आर्यसमाज द्वारा सार्वजनिक रूप से राजनीति से पृथक् रहने की घोषणाओं में विश्वास नहीं किया जा सकता है।

कानपुर में बंग-भंग के समय स्वदेशी का आन्दोलन बहुत प्रबल हुआ और इसका प्रभाव आर्यसमाज पर भी पड़ा। आर्यसमाज की बैठकों में राजनैतिक प्रश्नों की चर्चा होने लगी। किन्तु यहाँ के प्रमुख आर्यसमाजी इस बात का प्रयास करते रहे कि वे राजनीति से पृथक् रहें। यहाँ आर्यसमाज में व्याख्यान देने के लिए बाहर से जो उपदेशक बुलाये जाते थे, उनको भी समाज के अधिकारी यह निर्देश देते थे कि वे अपने व्याख्यानों में राजनैतिक प्रश्नों की चर्चा न करें, फिर भी सूरजप्रसाद जैसे स्थानीय आन्दोलन करने वाले व्यक्ति कभी-कभी इन विषयों की चर्चा करते ही थे।

बाँदा जिले में १९०८ में एक अकाल पड़ा और इस समय एक विशेष घटना से यहाँ आर्यसमाज की गतिविधियों का अधिक प्रसार हुआ। इस जिले के करवी नामक कस्बे में इस समय नियुक्त खुशहाल सिंह नामक पुलिस इन्स्पेक्टर आर्यसमाज के कामों में बड़ी दिलचस्पी लेता था। आर्यसमाज के अधिकांश सदस्य सरकारी कर्मचारी थे। समाज की बैठकें सरकार की ओर से मुकद्दमा चलाने वाले इन्स्पेक्टर मोहनलाल के घर पर प्रतिदिन सायंकाल को होती थीं। इनमें विभिन्न समाचारपत्र पढ़े जाते थे। स्वदेशी आन्दोलन, अकाल तथा आर्यसमाज के बारे में चर्चा की जाती थी। समाज का साप्ताहिक उत्सव हर रविवार को जिला बोर्ड के सब-ओवरसियर फग्गूमल के अथवा मातादीन के घर पर होता था और इनमें भी स्वदेशी आन्दोलन की चर्चा की जाती थी। इसी वर्ष अप्रैल में यहाँ लाला लाजपतराय द्वारा सहायता-कार्य के लिए भेजे गये एक आर्य-सज्जन श्री घसीटाराम अपने चार साथियों के साथ आए और उन्होंने यहाँ पंजाब के आर्य-अनाथालय के लिए बच्चों की खोज आरम्भ कर दी। स्थानीय आर्यसमाजों के कार्यकर्ताओं ने पंजाब से आये इन सज्जनों का स्वागत किया। बाँदा में इनके स्वागत-समारोह में स्थानीय स्कूल के शिक्षक और छात्र भी सम्मिलित हुए। यह कहा जाता था कि इनका यहाँ आने का उद्देश्य राजनैतिक था। वे छात्रों में राष्ट्रीय भावना उत्पन्न करना चाहते थे और लोगों को सरकार के विरुद्ध भड़काने का प्रयत्न करते थे। घसीटा-राम के बारे में यह कहा जाता है कि वह गाँववासियों की बैठकों में सरकार द्वारा अकाल के लिए दी जाने वाली सहायता की तुलना लाला लाजपतराय के आर्यसमाजी संगठन द्वारा दी जाने वाली सहायता से करता था और दोनों में भेद प्रदर्शित करते हुए लोगों को सरकार के विरुद्ध भड़काता था। इस प्रचार का यह परिणाम हुआ कि यहाँ शुद्धि आन्दो-लन शुरू हुआ। भारतीय ईसाइयों की और नव-मुस्लिमों की अनेक शुद्धियाँ की जाने लगीं। इस समय यहाँ की आर्यसमाज ने शुद्धि-आन्दोलन के उत्साह में एक ऐसा कार्य कर दिया जिससे जिला-स्तर के अधिकारियों का ध्यान इनकी गतिविधियों की ओर आकृष्ट हुआ। यह कहा जाता है कि कुछ आर्यों ने तहसीली स्कूल से रमजान खाँ नामक लड़के का उसे प्रलोभन देकर अपहरण कर लिया। उसके सम्बन्धियों ने इसकी शिकायत जिला-धीश से की। जाँच करने पर यह पता लगा कि पुलिस इन्स्पेक्टर खुशहालसिंह इस घटना के लिए उत्तरदायी है। अतः करवी से उसका तबादला कर दिया गया और उसके बाद

इस जिले में यह आन्दोलन बन्द हो गया।

झाँसी में १९०७ में नेटिव इनफेंट्री की छावनी में एक आर्यसमाज की स्थापना का प्रयास किया गया। १९०८ में आर्यसमाज के प्रचारक दौलतराम ने छावनी के सैनिकों को सम्बोधित किया और सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास की कथा की। यह कहा जाता था कि उसका उद्देश्य भारतीय सेना के सिपाहियों में राजद्रोही भावना उत्पन्न करना था। इस पर दौलतराम पर सरकार की ओर से मुकद्दमा चलाकर और उन्हें दण्डित किया गया। इस मामले की अन्यत्र विस्तार से चर्चा की गयी है।

जौनपुर जिले में आर्यसमाज के सदस्यों ने स्वदेशी आन्दोलन में अपनी दिलचस्पी प्रदर्शित की; किन्तु इसके अतिरिक्त किसी अन्य राजनैतिक विषय की चर्चा यहाँ आर्य-समाजों में नहीं की जाती थी। गाजीपुर जिले के बारे में स्थानीय अधिकारियों ने यह रिपोर्ट दी थी कि आर्यसमाज के कुछ प्रमुख सदस्य राजनीति में उग्र विचार रखते हैं। किन्तु यहाँ आर्यसमाज की बैठकों में राजनैतिक विषयों की चर्चा करने की कोई प्रवृत्ति दृष्टि-गोचर नहीं होती है। यहाँ के पुलिस अधीक्षक ने इस बात को स्वीकार किया था कि आर्य-समाज का आन्दोलन यद्यपि सामाजिक है, फिर भी इसे सन्देह और शंका की दृष्टि से देखा जाना चाहिए क्योंकि इसका घोषित लक्ष्य हिन्दू-राष्ट्र का एकीकरण है और इससे यह भारत को स्वतन्त्र बनाने का प्रयास करना चाहता है। इस संगठन का जाल सब जिलों में फैला हुआ है और राजनैतिक आन्दोलन करने वाले व्यक्ति इसका लाभ उठा सकते हैं।

लखनऊ आर्यसमाज के प्रमुख कार्यकर्त्ता बाबू बनारसीलाल कायस्थ थे। ये सामाजिक और राजनैतिक मामलों में गहरी दिलचस्पी लेते थे, स्वदेशी आन्दोलन और कांग्रेस के प्रबल समर्थक थे और प्रायः इन विषयों पर व्याख्यान दिया करते थे। एक अन्य प्रमुख सदस्य यहाँ से प्रकाशित होने वाले अंग्रेजी पत्र एडवोकेट के सम्पादक मुंशी गंगाप्रसाद वर्मा थे। ये भी राजनैतिक विषयों में गहरी दिलचस्पी रखते थे। इस जिले की समाजों में कोई विशेष राजनैतिक प्रवृत्तियाँ विकसित नहीं हुईं; केवल स्वदेशी आन्दोलन को ही आर्यसमाजों ने अपना पूरा समर्थन प्रदान किया था।

रायबरेली जिले में समाज के प्रधान बाबू गौरीशंकर राजनैतिक प्रश्नों में गहरी दिलचस्पी लेते थे। किन्तु रायबरेली का आर्यसमाज सामूहिक रूप से राजनैतिक गति-विधियों से अपने को पृथक् रखता था।

हरदोई में आर्यसमाज की स्थापना डिप्टी कमिश्नर के कार्यालय के राजस्व-विभाग के पण्डित भगवान्दीन ने १८८४ ई० में की थी। वे इस समाज के प्रधान थे और उन्होंने इसके कार्य में गहरी दिलचस्पी ली। किन्तु १८८८ में उनका तबादला लखीमपुर खीरी हो जाने के बाद इसके कार्यों में शिथिलता आ गयी। १८९४ में सरकारी वकील बाबू शिवसहाय ने इसे पुनरुज्जीवित किया। इसकी बैठकें नियमित रूप से होने लगीं और इसमें धार्मिक मामलों के साथ-साथ गोरक्षा के विषय पर चर्चा की जाने लगी। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि उन दिनों गोरक्षा का समर्थन करने के कारण आर्यसमाज को कुछ ब्रिटिश पत्रकार और अधिकारी राजद्रोही समझते थे। यह कहा जाता है कि यहाँ आर्य-समाज के सदस्य अपनी कार्यवाही को गोपनीय बनाये रखने की प्रतिज्ञा किया करते थे। यद्यपि इसमें पहले धार्मिक विषयों की ही चर्चा होती थी, किन्तु जब बाबू रामप्रसाद इसमें भाग लेने लगे तो वे स्वदेशी आन्दोलन के बारे में विशेष रूप से भाषण दिया करते

थे। नवम्बर १९०७ में इस समाज पर पंजाब की घटनाओं का प्रभाव पड़ा और लाला लाजपतराय की गिरफ्तारी तथा रावलपिण्डी में आर्यसमाजियों पर मुकद्दमे चलाये जाने की इस समाज ने निन्दा की और इनकी सहायता के उपायों पर विचार किया गया। १९०८ में पण्डित प्रयागदत्त ने यहाँ कुछ भाषण दिये। इनमें सरकार के विरुद्ध बहुत-सी बातें कही गयी थीं। खुफिया पुलिस की रिपोर्टों के अनुसार उन्होंने अपने भाषण में बंगाल की स्थिति के बारे में यह कहा था कि बंगाली सरकार को डराते-धमकाते रहते हैं, इस कारण वे जो चाहते हैं उसे करा लेते हैं। उन्होंने संयुक्त प्रान्त के नागरिकों को भी यह सलाह दी कि वे बंगालियों के उदाहरण का अनुसरण करें और उनकी भाँति आन्दोलन किया करें।

फैजाबाद आर्यसमाज में यद्यपि प्रधान रूप से धार्मिक और सामाजिक विषयों की चर्चा होती थी, किन्तु १९०७ से यहाँ राजनैतिक विषयों की भी चर्चा की जाने लगी। पंजाब में गिरफ्तार किये गये नेताओं से सहानुभूति प्रकट करते हुए समाज के अधिवेशन में वक्ताओं ने इस बात पर बल दिया कि जनता को उस सरकार के आदेशों का पालन नहीं करना चाहिए जो जनता की रक्षा नहीं करती है। आगरा से प्रकाशित होने वाले उर्दू के आर्यसमाजी समाचार-पत्र 'मुसाफिर' के सम्पादक पण्डित भोजदत्त पर सरकार की ओर से मुसलमानों के विरुद्ध आपत्तिजनक लेख लिखने के लिए एक मुकद्दमा चलाया गया था। इसमें सम्पादक की पैरवी के लिए धनराशि एकत्र करने का फैजाबाद आर्यसमाज में प्रयत्न किया गया। कुछ अन्य अवसरों पर भी यहाँ कुछ वक्ताओं ने सरकार-विरोधी भाषण देते हुए यह कहा था कि हिन्दुओं को अंग्रेजों के विरुद्ध संगठित होकर एक हो जाना चाहिए, ताकि वे उन लाभों को प्राप्त कर सकें जो अब तक अंग्रेज भारत से प्राप्त कर रहे हैं।

सैण्ड्स की रिपोर्ट से इस बात पर भी सुन्दर प्रकाश पड़ता है कि संयुक्त प्रान्त की सरकार का गुप्तचर विभाग आर्यसमाज के प्रचारकों तथा उपदेशकों पर कड़ी दृष्टि और निगरानी रखता था।

(९) सैण्ड्स की रिपोर्ट का मूल्यांकन

संयुक्त प्रान्त में आर्यसमाज की राजद्रोही गतिविधियों का जो भयावह विवरण और भीषण चित्र सैण्ड्स की उपर्युक्त रिपोर्ट में प्रस्तुत किया गया है, वह कई कारणों से यथार्थ, प्रामाणिक और विश्वसनीय नहीं प्रतीत होता है। इसका पहला कारण यह है कि यह विवरण विभिन्न जिलों के पुलिस अधीक्षकों द्वारा खुफिया पुलिस के कर्मचारियों द्वारा संकलित की गयी सूचनाओं के आधार पर तैयार किया गया है। वर्तमान शताब्दी के पहले चरण में संयुक्त प्रान्त के पुलिस-विभाग में मुसलमानों का बोलबाला था। उन दिनों अस्सी प्रतिशत पुलिस कर्मचारी मुसलमान होते थे। ये आर्यसमाज को अपना कट्टर विरोधी समझते थे और उससे बड़ी घृणा रखते थे। इन व्यक्तियों ने आर्यसमाज को बदनाम करने के लिए झूठी रिपोर्टें देने में कभी कोई संकोच नहीं किया। तत्कालीन आर्यसमाजी पत्र खुफिया विभाग के इन जासूसों की कड़ी आलोचना किया करते थे। इस विषय में पहले 'मुसाफिर' के सम्पादक पण्डित भोजदत्त द्वारा एक पुलिस इंस्पेक्टर खलीलुर्रहमान की आलोचना का उल्लेख किया जा चुका है। पीलीभीत से प्रकाशित

होने वाले उर्दू पत्र **रियाजे फैज** ने ४ फरवरी १९१० ईसवी के अपने अंक में लिखा था कि आर्यसमाज पर सरकार के संदेह का एक बड़ा कारण ऐसे नैतिकता-शून्य पुलिस-अधिकारी हैं, जो अपनी वैयक्तिक पदोन्नति को अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हुए अपनी स्वार्थसिद्धि की दृष्टि से अंग्रेज अधिकारियों के कान आर्यसमाज के बारे में झूठी गुप्त रिपोर्टों से भरते रहते हैं, जबकि हिन्दुओं को इनके खण्डन करने का कोई अवसर नहीं मिलता है।" महात्मा मुंशीराम ने 'सद्धर्म प्रचारक' के १६ फरवरी १९१० के अंक में एक सम्पादकीय अग्रलेख 'गुरुकुल में सरकारी जासूस' के शीर्षक से लिखा था। इसमें यह बताया गया था कि "गुप्तचर विभाग के अधिकांश कर्मचारी मुसलमान हैं। वे हर तरह से यह कोशिश करते रहते हैं कि आर्यसमाज को सामान्य रूप से तथा गुरुकुल को विशेष रूप से सरकारी अधिकारियों की निगाहों में अधिक से अधिक नीचा गिराया जाय।"[1]

इससे स्पष्ट है कि उस समय खुफिया पुलिस के मुसलमान कर्मचारी आर्यसमाज की गतिविधियों और उपदेशकों के भाषणों की रिपोर्ट बड़ी पक्षपातपूर्ण दृष्टि से लिखा करते थे और उनके आधार पर तैयार किये गये विवरण को विश्वसनीय नहीं माना जा सकता है।

सैण्ड्स के उपर्युक्त विवरण का दूसरा बड़ा आधार मिशनरियों से प्राप्त सूचनाएँ हैं। ये ईसाई प्रचारक भी आर्यसमाज के कट्टर विरोधी थे और ब्रिटिश सरकार के प्रमुख अधिकारियों के मन में आर्यसमाज के प्रति राजद्रोह की शंका उत्पन्न करने में उनकी भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण थी। पहले यह बताया जा चुका है कि बिशप पार्कर की सम्मति को संयुक्त प्रान्त की सरकार ने बहुत महत्त्व दिया था।

आर्यसमाज के बारे में न केवल खुफिया पुलिस के मुसलमान जासूसों और ईसाई मिशनरियों ने ब्रिटिश सरकार को गलत सूचनाएँ दीं, अपितु कई बार जिलों के जिम्मेदार ब्रिटिश अधिकारी भी संयुक्त प्रान्त की सरकार को भ्रांतिपूर्ण सूचनाएँ दिया करते थे। इसका सर्वोत्तम उदाहरण बिजनौर के कलेक्टर फोर्ड का है। गुरुकुल कांगड़ी बिजनौर जिले में अवस्थित था और सरकार इस जिले के कलेक्टर से उस समय राजद्रोही गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र समझे जाने वाले गुरुकुल काँगड़ी के बारे में प्रामाणिक सूचना प्राप्त करना चाहती थी। अप्रैल १९०९ में फोर्ड गुरुकुल का निरीक्षण करने आये। वे वहाँ ब्रह्मचारियों, अध्यापकों, अधिकारियों और कार्यकर्ताओं से मिले। इसके बाद उन्होंने अपने निरीक्षण की जो रिपोर्ट सरकार को भेजी थी, उसमें वैदिक मैगजीन के सम्पादक और गुरुकुल के आचार्य रामदेव जी के बारे में लिखा था कि "वे एक बंगाली सज्जन हैं, उनका बड़ी उम्र के व्यक्तियों पर कोई प्रभाव नहीं है। फिर भी वे वहाँ (राजद्रोहपूर्ण विचारों का) बुरा प्रभाव डाल रहे हैं।" यह बड़े आश्चर्य की बात है कि आचार्य रामदेव जैसे पंजाबी नवयुवक को एक अनुभवी अंग्रेज जिलाधीश ने बंगाली कैसे समझ लिया। पंजाबी और बंगाली व्यक्ति की वेषभूषा, बोलचाल, अंग्रेजी उच्चारण में इतना अधिक अन्तर होता है कि वह किसी भी प्रकार छिपता नहीं है और दो-चार मिनट की बातचीत में प्रकट हो जाता है। रामदेव जी के 'वैदिक मैगजीन' पत्रिका के लेखों से स्पष्ट है कि उस समय वे ब्रिटिश सरकार के बड़े राजभक्त थे। वे इस पत्र की सम्पादकीय टिप्पणियों में

---

१. सिलेक्शन्स फ्राम वर्नाकुलर न्यूजपेपर्स (संयुक्त प्रान्त) १९१०, पृष्ठ १८६

प्राय: राजभक्ति के विचारों की अभिव्यक्ति किया करते थे। उनके बारे में यह लिखना सही न था कि वे छात्रों पर राजद्रोहपूर्ण बुरा प्रभाव डाल रहे हैं।

इसी प्रकार गुप्तचर विभाग के पुलिस उप-अधीक्षक सैण्ड्स ने लिखा है कि गुरुकुल कांगड़ी में श्रीपाद दामोदर सातवलेकर की गिरफ्तारी, कोल्हापुर बमकाण्ड के बारे में की गयी थी। वस्तुतः उनकी यह गिरफ्तारी अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त की देशभक्तिपूर्ण व्याख्या के लिए चलाये जाने वाले अभियोग के बारे में जारी किये गये एक वारंट के आधार पर की गयी थी। उनका कोल्हापुर के किसी बमकाण्ड से सम्बन्ध न था। पुलिस के एक अतीव उच्च ब्रिटिश अधिकारी से इस प्रकार की भद्दी भूल की आशा नहीं की जा सकती है। संभवतः यह बात गुरुकुल को बदनाम करने और उसको अधिक भयावह रूप में चित्रित करने के लिए ही कही गयी थी।

श्री सैण्ड्स ने राजद्रोह की बड़ी व्यापक और मनमानी व्याख्या करते हुए आर्यसमाज को राजद्रोही ठहराने का प्रयास किया है। कानूनी दृष्टि से राजद्रोह का अभिप्राय सरकार के विरुद्ध असंतोष फैलाना और उसको उलटने का प्रयत्न करना है। सैण्डस के समूचे विवरण में ऐसा कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया जिससे यह सिद्ध हो सके कि आर्यसमाज या इसके कोई सदस्य संयुक्त प्रान्त में इस प्रकार का कोई राजद्रोहपूर्ण कार्य करने में संलग्न थे। उसने अपनी रिपोर्ट में बार-बार स्वदेशी-आन्दोलन की चर्चा की है। उसकी दृष्टि में आर्यसमाज का सबसे बड़ा अपराध यह था कि उसके वार्षिकोत्सवों और साप्ताहिक सत्संगों में दिये जाने वाले व्याख्यानों में अपने देश में बनी वस्तुओं का प्रयोग करने पर बल दिया जाता था। अपने देश में बनी स्वदेशी वस्तुओं को खरीदने के लिए जनता को प्रेरित करने में ब्रिटिश सरकार के विरोध या बगावत की कोई बात नहीं थी और इसे राजद्रोह का कार्य नहीं समझा जाना चाहिए।

आर्यसमाज के बारे में राजद्रोह की भ्रांति सत्यार्थप्रकाश के जिन उद्धरणों और अवतरणों के आधार पर की गयी है, उनमें प्रकरण और पूर्वापरप्रसंग का कोई विचार नहीं किया गया है। अन्यत्र यह बताया जायेगा कि इन अवतरणों पर कानून की दृष्टि से गम्भीर विचार करने वाले ब्रिटिश न्यायाधीशों ने इन्हें बंग-भंग के आन्दोलन से पहले राजद्रोहपूर्ण नहीं समझा था। आलाराम संन्यासी के मामले में इलाहाबाद के डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट पी० हैरीसन ने स्पष्ट रूप से यह कहा था कि इनमें उसे राजद्रोह की कोई बात नहीं दिखाई देती है। किन्तु १९०७ में जब पंजाब के सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता लाला लाजपतराय को वहाँ राजनैतिक आन्दोलन चलाने के लिए गिरफ्तार किया गया और सरकारी अधिकारियों को १८५७ के सैनिक विद्रोह की पुनरावृत्ति की भीषण आशंका उत्पन्न हुई तो उन्हें सर्वत्र राजद्रोह ही राजद्रोह दिखाई देने लगा। सत्यार्थप्रकाश जैसे धार्मिक ग्रन्थ और आर्यसमाज में बगावत की गंध आने लगी। प्रत्येक आर्यसमाजी राजद्रोही प्रतीत होने लगा। संयुक्त प्रांत के सरकारी अधिकारी इसी भावना से प्रभावित थे। एंग्लो-इंडियन पत्र उन दिनों आर्यसमाज के विरुद्ध यह विष-वमन कर रहे थे कि आर्यसमाज राजद्रोही संस्था है। ऐसे वातावरण में पुष्ट प्रमाण न होते हुए भी आर्यसमाज पर राजद्रोह का संदेह किया जाने लगा और सैण्ड्स ने यह दावा किया कि आर्यसमाज के सिद्धान्त ही ऐसे हैं कि उसके लिए राजद्रोही होना सर्वथा स्वाभाविक है। किन्तु सैण्ड्स ऐसा निष्कर्ष निकालते हुए यह भूल गये कि उन्होंने इस विषय में आर्यसमाज का बड़ा अतिरंजित और

भ्रांतिपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है। उस समय संयुक्त प्रान्त में ४६ जिले थे। इनके पुलिस-अधीक्षकों से प्राप्त रिपोर्टों के आधार पर केवल २५ जिले ऐसे थे जहाँ राजद्रोही प्रवृत्तियाँ पायी गयी थीं। इनमें से भी ९९.९ प्रतिशत जिलों में यह प्रवृत्ति केवल स्वदेशी आन्दोलन के समर्थन में थी, जिसे किसी भी प्रकार से राजद्रोही प्रवृत्ति नहीं कहा जा सकता है। आर्यसमाज पर उनके राजद्रोह के आरोप ठोस प्रमाणों पर आधारित न होकर केवल सन्देह मात्र पर ही आश्रित थे। इसीलिए भारत सरकार ने उनकी रिपोर्ट को इस योग्य नहीं समझा कि उसके आधार पर आर्यसमाज को राजद्रोही या अवैध संस्था घोषित करने की कोई कड़ी कार्यवाही की जाय।

(१०) सैण्ड्स की रिपोर्ट पर भारत सरकार की कार्यवाही

उपर्युक्त रिपोर्ट में यद्यपि संयुक्त प्रान्त में आर्यसमाज के विकास एवं राजद्रोही गतिविधियों की चर्चा थी, किन्तु इसके अन्त में जो निष्कर्ष निकाला गया था वह सारे भारत की आर्यसमाजों पर समान रूप से लागू होता था। यदि आर्यसमाज के मौलिक मन्तव्यों में विद्रोह के बीज अनिवार्य रूप से विद्यमान थे तो वे बंगाल, बिहार, उड़ीसा, पंजाब और बम्बई में भी राजद्रोही गतिविधियों को उत्पन्न कर सकते थे और सरकार के लिये जटिल समस्यायें उत्पन्न कर सकते थे। अतः इस प्रश्न पर अखिल भारतीय दृष्टिकोण से विचार करने तथा सब प्रान्तों के लिए एक सामान्य नीति निश्चित करने की आवश्यकता थी। इसके साथ ही संयुक्त प्रान्त की इस रिपोर्ट का भारत सरकार के लिए विशेष महत्त्व हो गया, क्योंकि इसमें यह बताया गया था कि आर्यसमाज के सिद्धान्तों में जब तक परिवर्तन नहीं होता है तब तक वह राजद्रोहपूर्ण प्रचार-कार्य करती रहेगी। बगावत उसके सिद्धान्तों में अनिवार्यरूप निहित है। ये सिद्धान्त बदल नहीं सकते हैं। अतः जहाँ कहीं आर्यसमाज होगी, वहाँ वह विद्रोह का केन्द्र बन जायेगी। आर्यसमाज की शाखाएँ न केवल संयुक्त प्रान्त में, अपितु पंजाब, बिहार, उड़ीसा, बंगाल, बम्बई आदि अनेक प्रान्तों में थीं। इसलिए इस बात की सम्भावना की जाती थी कि संयुक्त प्रान्त में आर्यसमाज में राजद्रोह की जो प्रवृत्तियाँ दिखाई दे रही हैं वे अन्य प्रान्तों में भी विकसित होकर सरकार के लिए एक खतरा बन सकती हैं। पंजाब में यह खतरा इतना बढ़ चुका था कि इसके एक लेफ्टिनैण्ट गवर्नर सर डेंजिल इब्बटसन ने कहा था कि जहाँ-जहाँ आर्यसमाज है, वहाँ-वहाँ राजद्रोह का केन्द्र है। इस कारण आर्यसमाज पर अखिल भारतीय दृष्टि से विचार करना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह था कि सैण्ड्स ने रिपोर्ट के अन्त में यह बताया था कि आर्यसमाजी प्रचारक सैनिक छावनियों में जाकर सिपाहियों को ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध भड़काने का प्रयत्न कर रहे हैं। अतः यह प्रश्न भारत-सरकार के लिए विचारणीय हो गया कि वे सेना में आर्यसमाज के बढ़ते हुए हानिकर प्रभाव का निराकरण किस प्रकार से करें। अतः इस प्रश्न पर अखिल भारतीय दृष्टिकोण से भारत सरकार द्वारा विचार करने तथा एक सामान्य नीति निर्धारण करने की आवश्यकता थी और विभिन्न सरकारों को यह निर्देश देना आवश्यक था कि वे आर्यसमाज की राजद्रोही गतिविधियों का प्रतिकार करने के लिए किन उपायों का अवलम्बन करें।

उपर्युक्त रिपोर्ट मार्च १९१० में प्रकाशित हुई और इसकी कुछ प्रतियाँ संयुक्त

प्रान्त के गुप्तचर विभाग द्वारा केन्द्रीय गुप्तचर विभाग को भेजी गयीं। उन दिनों भारत सरकार के गुप्तचर विभाग के निदेशक सी०आर० क्लीवलैंड थे। उन्होंने इस रिपोर्ट को पाते ही ११-५-१९१० को इस पर एक लम्बी टिप्पणी लिखी और इसमें आर्यसमाज के विषय में अपनी सम्मति बड़े स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त की।[1] उनका यह कहना था—"मेरी सम्मति में यह एक बहुत अच्छे ढंग से लिखी हुई रोचक रिपोर्ट है और आर्यसमाज को समझने में बड़ी बहुमूल्य सहायता देती है। सामान्य रूप से ऐसी रिपोर्ट संयुक्त प्रान्त की सरकार को सीधी भारत सरकार को भेजनी चाहिए थी, किन्तु मुझे मालूम हुआ है कि ऐसा नहीं किया गया है। मैं इसे सरकार के ध्यान में लाना चाहता हूँ। इस पुस्तक में विस्तृत विषय-सूची और अनुक्रमणिका की कमी खटकती है। मैं संयुक्त प्रान्त के सी० आई०डी० विभाग को इसे पूरा करने के लिए लिख रहा हूँ।

"मेरी सम्मति में इस पुस्तक ने आर्यसमाज की राजभक्ति की जटिल समस्या का वास्तविक समाधान कर दिया है। इसमें यह कहा गया है कि यद्यपि आर्यसमाज प्रत्यक्ष रूप से एक धार्मिक संस्था है, किन्तु इसका एक ऐसा संगठन है जिसका प्रयोग राजनैतिक उद्देश्यों के लिए किया जा सकता है और मेरी दृष्टि में ऐसा किया जाना अवश्यंभावी है, क्योंकि किसी धर्म की लोकप्रियता उसके राष्ट्रीय स्वरूप पर निर्भर होती है और आर्य-समाज के बारे में इसमें यह सामान्य परिणाम निकाला गया है कि यह ब्रिटिश सरकार का विरोधी है और इसके रवैये में उस समय तक परिवर्तन होने की कोई सम्भावना नहीं है जब तक इसके धार्मिक सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन न हो।

"यह बात पंजाब में आर्यसमाज के आन्दोलन पर भी अधिक अच्छी तरह से लागू होती है। सैण्ड्स की पुस्तक के सातवें अध्याय में संयुक्त प्रान्त में विद्यमान गुरुकुल काँगड़ी की राजद्रोही प्रवृत्तियों का वर्णन किया गया है। यह एक पंजाबी संस्था है। इसमें गुरुकुल काँगड़ी की राजद्रोही प्रवृत्तियों को बहुत घटाकर बताया गया है। हमारे कार्यालय में जो सूचना है उसके अनुसार यहाँ राजद्रोह के लिए आवश्यक शारीरिक सैनिक प्रशिक्षण (Physical force training) भी वहाँ दिया जाता है।"

इसके बाद क्लीवलैण्ड ने आर्यसमाज के बारे में अपनी सम्मति प्रकट करते हुए लिखा है कि **"भारत में यह सबसे अधिक भयंकर ब्रिटिश सरकार-विरोधी आन्दोलन है। यह सुनिश्चित सामाजिक-धार्मिक और राजनैतिक विश्वासों पर आक्षेप करता है, बेचैनी और असन्तोष को विद्रोह में परिणत करता है और विभिन्न वर्गों को एक राष्ट्रीय तथा स्पष्ट रूप से ब्रिटिश-विरोधी आधार पर एक सूत्र में आबद्ध करता है।"**[2]

"आर्यसमाज के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, इस समस्या को नागरिक प्रशासन काफी देर तक टाल सकता है। किन्तु भारत के सैनिक अधिकारियों को इसका समाधान सुव्यवस्थित रूप से तुरन्त करना होगा। मैं इस बात के लिए किसी

---

१. होम पोलिटिकल डिपाज़िट प्रोसीडिंग्ज़, अप्रैल १९१२, सं० ४, पृ० १

२. वही—In my opinion the Aryasamaj is the most dangerous anti-British movement in India. It attacks social, religious and political convictions, converts unrest and discontent into disaffection and unites many different classes on a "national" and distinctly anti-British basis.

भी प्रकार से बहुत उत्सुक नहीं हूँ कि आर्यसमाजियों की निन्दा की जाय। किन्तु आर्य-समाजियों द्वारा राजनैतिक संस्था न होने के दावों की परीक्षा की जा चुकी है और वे सही साबित नहीं हुए हैं। अब तक कुल मिलाकर, सरकार का यह विचार रहा है कि आर्यसमाज के विरुद्ध इसके राजद्रोही होने की बात सिद्ध नहीं हो सकी है। किन्तु मेरा विचार है कि अब हम एक ऐसी स्थिति में पहुँच गये हैं जब पुलिस तथा सेना-विभाग का सम्भवतः यह विचार है कि राजद्रोह की प्रवृत्ति आर्यसमाज की पद्धति में स्वाभाविक रूप से निहित है। यह आर्यसमाज की प्रामाणिक संस्था के उद्देश्यों में पाई जाती है।"[1] "अन्त में मैं यह कहना चाहता हूँ कि मैंने सैण्ड्स की पुस्तक के बारे में हैरल्ड स्टुअर्ट से बात की है।...उनका यह कहना है कि यदि वस्तुतः यह पुस्तक इस बात को सिद्ध करती है कि राजद्रोह आर्यसमाज का अनिवार्य अंग है तो यह एक नयी बात होगी क्योंकि **अब तक आर्यसमाज के बारे में अनेक प्रकार के सन्देह रहे हैं, किन्तु राजद्रोह के बारे में कोई प्रमाण नहीं मिले हैं।"** (Hitherto there had been lots of suspicions, but no proof.)

क्लीवलैण्ड के इस नोट का यह प्रभाव हुआ कि सेना विभाग ने पंजाब और संयुक्त प्रान्त की सरकारों से इस विषय में परामर्श करना शुरू किया कि सेना में आर्य-समाजियों की भर्ती करने के बारे में क्या नीति अपनाई जाय, और सैण्ड्स की पुस्तक अन्य सभी सरकारों को सूचना तथा आवश्यक कार्यवाही के लिए भेजी गयी।

क्लीवलैण्ड की उपर्युक्त टिप्पणी पर भारत सरकार के गृह-विभाग के उच्च अधिकारियों ने गम्भीर विचार किया और अपनी सम्मतियाँ टिप्पणियों के रूप में प्रस्तुत कीं। श्री ए० अर्ली (A. Earle) ने २६-५-१० को टिप्पणी में यह लिखा कि "वर्तमान स्थिति में मैं इस बात को अधिकतम अविवेकपूर्ण एवं अव्यावहारिक समझता हूँ कि हम कोई ऐसी कार्यवाही करें जिससे यह प्रकट हो कि सरकार समूचे आर्यसमाज पर पूर्णरूप से अविश्वास करती है। यदि आर्यसमाजियों में कुछ व्यक्ति अतीव भयंकर राजद्रोही विचार रखते हैं तो इससे यह नहीं समझा जाना चाहिए, ऐसे तत्त्वों को आगे नहीं आने दिया जायेगा। इस्लाम में भी वहाबी सम्प्रदाय जैसे कई इस प्रकार के तत्त्व रहे हैं और उन्होंने १८६८-६९ में हमें परेशान किया है। किन्तु मेरा विश्वास है कि हमें समूचे समाज की रक्षा करनी चाहिए और इस प्रकार के खतरनाक सिद्धान्त रखने वाले उन व्यक्तियों और संगठनों के विरुद्ध कार्यवाही करनी चाहिए, जो वैधानिक आन्दोलन की सीमाओं का अति-क्रमण करते हों। यदि आर्यसमाज में कुछ व्यक्ति या समूह ऐसा करें तो हमें केवल उन्हीं व्यक्तियों और समूहों को अवैध घोषित करना चाहिए। किन्तु **समूचे आर्यसमाज के विरुद्ध** ऐसी कार्यवाही करने की बात मुझे सर्वथा अविचारणीय और असम्भव प्रतीत होती है। (But any wholesale action seems to me to be entirely out of the question.) मेरा विचार है कि हमारी नीति यह होनी चाहिए कि हम अधिकतम जागरूक

---

१. वही—But we have now, I think, arrived at the stage when the Police and probably the Army Department also, think that sedition has been and must be inherent in the system and aims of the authoritative body of the samaj." इस सन्दर्भ में प्रामाणिक संस्था का अभिप्राय गुरुकुल काँगड़ी प्रतीत होता है।

रहें और जब हमारे पास कुछ व्यक्तियों या संगठनों द्वारा वैध आन्दोलन की सीमा अतिक्रमण करने के सुनिश्चित और स्पष्ट प्रमाण हों, तभी हमें अपनी कार्यवाही करनी चाहिए। ऐसे संगठनों के साथ हम वैसा व्यवहार कर सकते हैं जैसा हम पूना जिले में तलेगाँव के समर्थ विद्यालय को अवैध संगठन घोषित करके कर चुके हैं।"

श्री क्लीवलैण्ड तथा अर्ली की आर्यसमाज-विषयक टिप्पणियाँ दो सर्वथा विरोधी दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करती हैं। पहले नोट में आर्यसमाज की कट्टर विरोधी उस संकीर्ण और अनुदार विचारधारा का प्रतिपादन है, जो खुफिया पुलिस के जासूसों, इन्स्पेक्टरों ने उत्पन्न की थी। इसके अनुसार आर्यसमाज उग्र राजद्रोही संस्था थी, इसके विरुद्ध कड़ी कार्यवाही की जानी चाहिए थी, वे समूचे आर्यसमाज पर प्रतिबन्ध लगाने के पक्ष में थे क्योंकि सैण्ड्स जैसे अधिकारियों का यह दृष्टिकोण था कि बगावत आर्यसमाज की नस-नस में है और वह इसके प्रभाव से कभी मुक्त नहीं हो सकती है। क्लीवलैण्ड ने आर्यसमाज को जितना भयंकर समझा और उसकी जितने कड़े शब्दों में आलोचना की है, उतनी शायद उससे पहले किसी ब्रिटिश अधिकारी ने नहीं की थी।

इसकी तुलना में अर्ली की टिप्पणी ब्रिटिश सरकार के उच्चतम अधिकारियों के उदार दूरदर्शिता एवं बुद्धिमत्तापूर्ण दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करती है। वह समूचे आर्य-समाज पर कोई सामान्य प्रतिबन्ध या पाबन्दी लगाना सर्वथा अनुचित, अनुपयुक्त, अविचारणीय और अव्यावहारिक समझती है। वह केवल उसी दशा में यह कार्यवाही ठीक समझती है, जब कोई व्यक्ति वैध आन्दोलन की सीमा का अतिक्रमण करे तथा ऐसा करने के स्पष्ट, सुनिश्चित एवं ठोस प्रमाण हों।

गृह-विभाग के श्री जे० एल० जे० एनकिन्स ने २६-५-१० को लिखी अपनी टिप्पणी में अर्ली के दृष्टिकोण को अधिक स्पष्टता और विस्तार के साथ प्रतिपादित करते हुए लिखा था—"कई बार शासन के सामने यह जटिल समस्या उत्पन्न होती है कि वह नये धर्म के साथ किस प्रकार का व्यवहार करे। प्रत्येक नये धर्म में एक राजनैतिक प्रवृत्ति होती है। बौद्ध धर्म, हिन्दू धर्म, ईसाइयत, इस्लाम, प्रोटेस्टेण्ट धर्म (विशेषतः कैलविनवाद), भारत में सिख-धर्म और ईरान में बहाई धर्म ने बड़ी गम्भीर राजनैतिक समस्याएँ उत्पन्न की हैं। इन धर्मों का अपने समय की सरकारों के साथ उग्र संघर्ष होता रहा है। कई बार दमन और अत्याचार से कुछ धर्मों का समूलोन्मूलन किया गया है, जैसे स्पेन में प्रोटेस्टेण्ट मत का और ईरान में बहाई मत का। किन्तु ऐसा सदैव राजनैतिक आधार पर ही किया गया है और इससे अनेक प्रकार की गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं।

"अतः हमें आर्यसमाज के बारे में अतीव सावधान रहना चाहिए। इसमें यद्यपि कुछ राजनैतिक प्रवृत्तियाँ हैं, किन्तु इसे सामान्य रूप से धार्मिक संस्था समझा जाता है। मुझे यह विदित है कि समूचे भारत में इससे सहानुभूति रखने वाले व्यक्ति बहुत बड़ी संख्या में हैं और इनमें से कुछ व्यक्ति समाज में ऊँचा स्थान रखते हैं, बड़े धनी और प्रभावशाली तथा पूर्णरूप से राजभक्त हैं। अतः समूचे आर्यसमाज और सभी आर्यसमाजियों को अवैध घोषित करना सर्वथा अविचारणीय और असम्भव है।"[1]

---

१. वही, पृष्ठ २—The proscription of the Aryasamaj as whole and of all samajists is out of the question.

"इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आर्यसमाज द्वारा प्रतिपादित कुछ सिद्धान्त ब्रिटिश शासन के प्रति निष्ठा और राजभक्ति के साथ मेल नहीं खाते हैं और अनेक आर्यसमाजी राजद्रोहपूर्ण कार्यों में लगे हुए हैं। किन्तु मनुष्यों के कार्य सदा उनके सिद्धान्तों के अनुरूप नहीं होते हैं और जब इनसे उनके भौतिक हितों को हानि पहुँचती है तो ऐसा बहुत कम होता है। आर्यसमाज अन्य धर्मों के प्रति जो प्रबल विरोध प्रकट करता है, उससे उन धर्मों में भी इसके प्रतिकूल भावना उत्पन्न होती है और यह आर्यसमाज के प्रभाव व विस्तार को सीमित कर देती है। मेरे विचार में स्वर्गीय बिशप पार्कर का यह अनुमान बिल्कुल ठीक था कि आर्यसमाज के अभ्युदय से मुसलमान ब्रिटिश-सरकार की शरण में चले जायेंगे। इस प्रकार आर्यसमाज से ब्रिटिश साम्राज्य को सुरक्षा भी प्राप्त होती है।

"राजद्रोह के प्रसार को रोकने के बारे में मैं अर्ली के दृष्टिकोण से सहमत हूँ कि जब कभी राजद्रोहपूर्ण कार्यों के लिए आर्यसमाज के व्यक्तियों और संगठनों के विरुद्ध पुष्ट प्रमाण हों तो तुरन्त कार्यवाही की जानी चाहिए। यदि सैनिक अधिकारी यह समझते हैं कि आर्यसमाजी उत्तम और राजभक्त सैनिक नहीं बन सकते हैं तो उन्हें ऐसे व्यक्तियों की भर्ती बन्द कर देनी चाहिए। यदि सरकार के किसी कार्यालय या विभाग में आर्य-समाजियों की संख्या बहुत अधिक है, जैसा सैण्ड्स ने लिखा है कि संयुक्त प्रान्त में सिंचाई-विभाग में ऐसी स्थिति है तो उस विभाग में अन्य वर्गों के व्यक्तियों की नियुक्ति उनको सन्तुलित करने के लिए की जानी चाहिए।

"आर्यसमाजों का नियन्त्रण करने वाली संस्थाओं को सही रास्ते पर रखने का प्रयास किया जाना चाहिए। यदि पंजाब और संयुक्त प्रान्त के लेफ्टिनैण्ट गवर्नर आर्यसमाजों की ऐसी संस्थाओं पर अपना प्रभाव डालेंगे तो इस दिशा में बहुत-कुछ हो सकता है। आर्यसमाज के नेताओं को यह बात अच्छी तरह से समझा देनी चाहिए कि यदि वे सरकार के विश्वास को खोना नहीं चाहते हैं तो उन्हें अपनी पाठ्यपुस्तकों में ऐसी सामग्री नहीं रखनी चाहिए जिसे राजद्रोहपूर्ण घोषित किया जा चुका हो और उन्हें अपने समाज के सदस्यों द्वारा किये गये अराजभक्तिपूर्ण कार्यों की सार्वजनिक रूप से निन्दा करनी चाहिए। यदि वे ऐसा नहीं करते हैं तो उन्हें यह बता देना चाहिए कि वे ब्रिटिश सरकार के शुभचिंतक नहीं समझे जायेंगे। इस प्रकार की थोड़ी-सी स्पष्ट-वादिता का बहुत अच्छा असर होगा और इससे आर्यसमाज आन्दोलन के नेताओं को अपना असली रूप शीघ्र ही प्रदर्शित करना पड़ेगा।"

इस टिप्पणी से कई महत्त्वपूर्ण बातें स्पष्ट होती हैं। पहली बात यह है कि वे आर्य-समाज के विरुद्ध सामूहिक रूप से कोई कार्यवाही नहीं करना चाहते थे। ऐसी कार्यवाही को वे न केवल अनुचित, अपितु अविचारणीय और असम्भव समझते थे। दूसरी बात ब्रिटिश साम्राज्य की फूट डालने और राज्य करने की नीति का प्रतिपादन है। अंग्रेज मुसलमानों के साथ आर्यसमाज का झगड़ा और मतभेद इसलिए बनाये रखना चाहते थे कि मुसलमान ब्रिटिश सत्ता के प्रबल पृष्ठ-पोषक बने रहें और उनका समर्थन सरकार को सदैव मिलता रहे। तीसरा इस बात पर बल देना था कि राजद्रोह की कार्यवाही पुष्ट प्रमाण होने पर ही की जानी चाहिए। सैनिकों की भर्ती के बारे में उन्होंने यह प्रश्न विशुद्ध रूप से सैनिक अधिकारियों पर छोड़ दिया।

इस टिप्पणी की चौथी एवं सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात गवर्नरों की भूमिका की

है। यह इसमें सर्वथा मौलिक एवं नवीन सुझाव था। एनकिन्स का यह विचार था कि गवर्नरों को आर्यसमाज के नेताओं पर अपना प्रभाव और दबाव डालकर उन्हें इस बात के लिए बाधित करना चाहिए कि वे आर्यसमाज को राजद्रोह के पथ पर जाने से रोकने का प्रयास करें। आर्यसमाज के नेताओं के वशीकरण का यह मन्त्र असाधारण महत्त्व रखता है। आगे चलकर हम देखेंगे कि संयुक्त प्रान्त में सर जान मेस्टन ने इसको व्यावहारिक रूप प्रदान किया। वे गुरुकुल काँगड़ी, गुरुकुल वृन्दावन तथा आर्यसमाज की अन्य विभिन्न संस्थाओं में बार-बार जाने लगे। उन्होंने आर्यसमाज को ब्रिटिश सरकार का भक्त और अनुरक्त बनाने का सफल प्रयास किया।

उपर्युक्त टिप्पणी के बाद भारत सरकार ने इसके अनुसार कार्य करने का निश्चय किया। सैण्ड्स द्वारा लिखित पुस्तक सभी प्रान्तों की सरकारों को भेज दी गयी और आर्यसमाज पर सामूहिक रूप से प्रतिबन्ध लगाने का विचार छोड़ दिया गया। गवर्नरों द्वारा आर्यसमाज की संस्थाओं में बार-बार जाने से तथा १९१६ ई० में वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड की गुरुकुल काँगड़ी की यात्रा से सरकार तथा आर्यसमाज के सम्बन्ध प्रीतिपूर्ण एवं घनिष्ठ होने लगे, आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था समझे जाने तथा सन्देह की दृष्टि से देखे जाने की प्रवृत्ति समाप्त होने लगी। आर्यसमाज और सरकार के सम्बन्धों में यह एक नया उल्लेखनीय परिवर्तन था।

बारहवाँ अध्याय

सेना में आर्यसमाजियों की भरती का प्रश्न

वर्तमान शताब्दी की पहली दशाब्दी में पिछले अध्यायों में बताये गये कारणों से जब सरकार आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था समझने लगी, उस समय भारत-सरकार के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि यदि वास्तव में आर्यसमाज विद्रोह और क्रान्ति का पाठ अपने अनुयायियों को पढ़ाता है तो सेना में आर्यसमाजियों की भरती नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि यदि इनकी भरती जारी रखी गयी तो ये अन्य सैनिकों में विद्रोह की भावना का प्रसार करेंगे और इससे राज्य की सुरक्षा संकट में पड़ जाएगी। सेना-विभाग के उच्च अधिकारियों द्वारा इस विषय में प्रस्तुत की गयी रिपोर्ट तथा सामग्री के आधार पर मार्च १९१० में तत्कालीन प्रधान सेनापति ओ० एम० क्रीघ इस बात का आदेश देने के लिए तैयार हो गये थे कि आर्यसमाजियों को सेना में भरती न किया जाय। किन्तु ऐसा आदेश जारी करने से पहले गृह-विभाग से सम्मति लेना आवश्यक था। गृह-विभाग ने इस विषय में पंजाब और संयुक्त प्रांत के लेफ्टीनैंट-गवर्नरों की सम्मति लेने का प्रस्ताव रखा। इनकी सम्मतियाँ आने पर गृह-विभाग तथा भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड मिंटो ने प्रधान सेनापति के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। इस विषय में उन दिनों सेना-विभाग और गृह-विभाग में जो पत्राचार हुआ, वह अतीव रोचक है और इस बात पर प्रकाश डालता है कि तत्कालीन सरकारी अधिकारियों का आर्यसमाज के प्रति क्या दृष्टिकोण था और किन कारणों से वायसराय ने सेनापति का प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया।[1] यहाँ इस विषय की संक्षिप्त चर्चा की जायगी।

(१) भरती पर पाबन्दी लगाने के आरम्भिक प्रयास

सेना में आर्यसमाजियों की भरती पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रश्न सर्वप्रथम १९०६ में उठा। इसे उठाने वाले १२४ बी० रायफल सेना के कमांडिंग आफिसर थे। कर्नल सीनियर ने सत्रह सितम्बर १९०६ को इस विषय में एक नोट लिखा था। उसमें यह कहा गया था कि आर्यसमाज चूँकि राजद्रोही संस्था है, अतः आर्यसमाजियों की सेना में भरती नहीं की जानी चाहिए। इस नोट पर जब उच्च अधिकारियों ने विचार किया

---

१. होम पोलिटिकल डिपाजिट, अगस्त १९१०, संख्या ७, "दि एडविजेबिलिटी आफ एनलिटिंग 'आर्यसमाजिस्ट्स' फॉर दि इंडियन आर्मी" (भारतीय सेना में आर्य-समाजियों की भरती करने की उपयुक्तता), पृष्ठ २८९-३३०

तो उनकी यह राय बनी कि इस विषय में प्रतिबंध लगाने और हस्तक्षेप करने के लिये पर्याप्त प्रमाण और आधार नहीं हैं। अतः जनरल कमांडिंग अफसरों को यह सूचना दी गयी कि इस बारे में तटस्थता की नीति अपनाई जाय, क्योंकि आर्यसमाज के सिद्धांतों में कोई आपत्तिजनक बात नहीं है। फिर भी, ब्रिटिश सैनिक अधिकारियों को अपने सिपाहियों पर आर्यसमाज की शिक्षाओं का प्रभाव देखने में सदैव सावधान रहना चाहिये।

१९०७ में पुनः यह प्रश्न उठा और मेजर स्काट ने २७ मई १९०७ को अपने एक नोट में यह लिखा कि "आर्यसमाज एक निर्दोष और कोई हानि न पहुँचाने वाली संस्था नहीं है। वस्तुतः यह धर्म की ओट में राजद्रोह का प्रचार करती है और इस बात के प्रयास किये जा रहे हैं कि बगावत के विचारों को फैलाने के लिए एक नियमित पद्धति एवं संगठन का विकास किया जाय।" इस नोट के आधार पर सेना के उच्चतम विधि-विशेषज्ञ जज महाधिवक्ता (Judge Advocate General) कर्नल थामसन से कानूनी परामर्श लिया गया। उन्होंने यह सम्मति दी कि इस समय उन सिपाहियों के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जानी चाहिए, जिनके बारे में केवल यही प्रमाण है कि वे आर्य-समाज के सदस्य हैं; क्योंकि आर्यसमाज इस बात की घोषणा करता है कि वह एक धार्मिक संस्था है, कोई गुप्त समाज नहीं है और इसका राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है, भले ही इसके प्रमुख आर्यनेता देश के वैधानिक या अन्य प्रकार के कामों में भाग लेते हों। जज एडवोकेट जनरल की यह भी सम्मति थी कि यदि इस बात को वांछनीय समझा जाय तो सैनिक अधिकारियों के लिए यह घोषणा करना सर्वथा वैध होगा कि कोई भी सैनिक अधिकारी या जवान आर्यसमाज में प्रविष्ट नहीं हो सकता है और उसका सदस्य नहीं बना रह सकता है। यदि इस आज्ञा की अवहेलना की जायेगी तो उल्लंघनकर्ता को भारतीय युद्ध कानून की धारा ९ अथवा ७० (Indian Article of War 9 or 70) के अन्तर्गत कठोर दण्ड दिया जा सकता है।

उपर्युक्त नोट २७ मई को रावलपिण्डी के दंगों, पंजाब के उपद्रवों और लाला लाजपतराय के देश-निर्वासन के बाद लिखा गया था। पिछले अध्यायों में यह बताया जा चुका है कि इस समय भारत में अंग्रेज प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम की १० मई १९०७ को ५०वीं वर्षगाँठ होने के कारण बहुत घबराए हुए थे; उन्हें एक नया भीषण विद्रोह होने की प्रबल आशंका थी। आर्यसमाज के प्रमुख नेता लाला लाजपतराय के बारे में यह अफवाह उड़ाई गयी थी कि उन्होंने एक लाख व्यक्तियों की सेना तैयार कर ली है। वे प्रमुख आर्यसमाजी नेता थे और उनके कारण आर्यसमाज को राजद्रोही समझा गया था। इस समय सरकारी अधिकारियों में आर्यसमाज को बागी संस्था समझने की भावना सर्वत्र व्याप्त थी। सेना के अधिकारियों पर भी इसका प्रभाव पड़ा और उपर्युक्त परिस्थितियों में ही शायद स्काट का नोट लिखा गया होगा। किन्तु उस समय तक सरकार के सम्मुख सेना में आर्यसमाज की विद्रोही गतिविधियों में वृद्धि के और आर्यसमाज के राजद्रोही होने के कोई ठोस प्रमाण नहीं थे, अतः सेना के सर्वोच्च विधि-विशेषज्ञ जज एडवोकेट जनरल ने इस पर प्रतिबंध लगाने की सलाह नहीं दी थी।[1]

---

१. होम पोलिटिकिल डिपाजिट, अगस्त १९१०, सं० ७, पृ० २९१

कुछ समय बाद, जब लार्ड किचनर भारत के प्रधान सेनापति थे, पुनः यह प्रश्न उठाया गया, किन्तु इस पर कोई विशेष कार्यवाही करना उचित नहीं समझा गया। अगले वर्ष सेना में सब अधिकारियों को इस बात की चेतावनी दी गयी कि भारतीय सैनिकों की छावनियों में किसी प्रकार का राजद्रोही साहित्य न लाया जाय।

(२) दसवीं जाट रेजिमेण्ट का मामला : प्रेसी-काण्ड

अप्रैल १९०८ से जाटों की दसवीं रेजिमेंट के बारे में यह प्रश्न सेना में पुनः उठाया जाने लगा। उन दिनों हरियाणा का राज्य पंजाब प्रांत का अंग था और यह आर्यसमाज का एक प्रमुख गढ़ था। यहाँ के किसान जाटों में आर्यसमाज अतीव लोकप्रिय था और इस प्रदेश से जाट बहुत बड़ी संख्या में सेना में भरती हुआ करते थे। यह कहा जाता है कि दसवीं जाट रेजिमेंट के सैनिकों में आर्यसमाज का प्रभाव सबसे अधिक था। पिछली शताब्दी के अन्तिम वर्षों से इसमें आर्यसमाज के प्रभाव की वृद्धि के प्रमाण मिलते हैं। १८९८ में यह रेजिमेंट बनारस छावनी में थी। उस समय वहाँ के कुछ आर्यसमाजियों के प्रयास से इस रेजिमेंट में सर्वथा धार्मिक दृष्टिकोण से आर्यसमाज का संगठन बनाया गया। भारतीय सेना में सभी धर्मों के व्यक्ति भरती होते थे और उन्हें अपने धर्म का पालन करने में पूरी स्वतंत्रता दी जाती थी। अतः आर्यसमाजियों को भी यह स्वतंत्रता मिलनी उचित थी और इसमें कोई आपत्तिजनक बात नहीं थी।

किन्तु १८९९ में जब यह रेजिमेंट सिलचर पहुँची तो प्रधान सेनापति को संभवतः यहाँ से हिन्दी में बहुत-से गुमनाम ऐसे पत्र मिले जिनके आरम्भ में आर्यसमाज में परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम समझा जाने वाला ओ३म् अंकित था। इसे कुछ सैनिक अधिकारियों ने संदिग्ध दृष्टि से देखा। १३०४ ई० में जब यह रेजिमेण्ट कानपुर पहुँची तो सिपाहियों ने अपनी आर्यसमाजी आदत के कारण वहाँ की आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संगों में जाना शुरू कर दिया। यह बात सैनिक अधिकारियों को बड़ी आपत्तिजनक प्रतीत हुई और उन्होंने एक आज्ञा प्रसारित करके सैनिकों के आर्यसमाज की सभाओं में जाने तथा दूसरे धर्मों की निन्दा करने वाले साहित्य के छावनी में लाने पर प्रतिबंध लगा दिया। सितंबर १९०५ में एक सिपाही सुरजन को इस अपराध में दंडित किया गया कि वह स्वदेशी के प्रचार के बारे में बुलायी गयी आर्यसमाज की एक सभा में सम्मिलित हुआ था।

१९०६ में इस रेजिमेण्ट के अधिकारियों को यह सूचना मिली कि दसवीं जाट रेजिमेण्ट और दसवीं हडसन हार्स के सैनिक **जाट समाचार, जाट हितकारी** और **केसरी** जैसे पत्रों को मँगाते हैं।[1] इस रेजिमेण्ट की संदिग्ध गतिविधियों को रोकने की दृष्टि से लेफ्टीनेंट कर्नल प्रेसी को चौथी राजपूत रेजिमेण्ट से दसवीं रेजिमेण्ट में बदल दिया गया और उन्हें सैनिकों की स्वदेशी आंदोलन विषयक गतिविधियों पर विशेष दृष्टि रखने को कहा गया। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि बंग-भंग के बाद सारे देश में स्वदेशी का आंदोलन बड़े उत्साह के साथ चलाया जा रहा था; बंगाल और पंजाब इसके प्रमुख केन्द्र थे। पंजाब में लगभग सभी शहरों और कस्बों में **स्वदेशी वस्तु प्रचारिणी**

---

१. होम पोलिटिकल डिपा० प्रोसी० (गोपनीय) पार्ट बी०, अगस्त १९०७, पृ० २२

सभायें स्थापित की गयीं थीं और लाला लाजपतराय के नेतृत्व में पंजाबी आर्यसमाजी इस आंदोलन में गहरी दिलचस्पी ले रहे थे। चूंकि हरियाणा उन दिनों पंजाब का भाग था, अतः अपने गाँवों में छुट्टी जाने पर जाट सैनिक संभवतः इस स्वदेशी आंदोलन से कुछ प्रभावित होते रहे होंगे।

किन्तु ऐसा लगता है कि सरकारी गुप्तचरों ने इन बातों की रिपोर्ट बहुत बढ़ा-चढ़ा कर अतिरंजित रूप में अधिकारियों के सम्मुख प्रस्तुत की थी और इस मामले की जाँच का कार्य विशेष रूप से ले० कर्नल प्रेसी को सेना के महाप्रशासक (एडजुटेंट जनरल) द्वारा सौंपा गया था। लेफ्टीनेंट कर्नल प्रेसी ने सूबेदार, हवलदार और नायक श्रेणी के भारतीय अधिकारियों और जवानों से इस बारे में बातचीत की, और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सैनिकों में स्वदेशी के प्रचार की खबरें सर्वथा निर्मूल हैं। केवल एक ही घटना इस बारे में उल्लेखनीय थी कि दो साल पहले उनके पूर्वाधिकारी लेफ्टीनेण्ट कर्नल हंटर ने चार सिपाहियों को सत्यार्थप्रकाश रखने और मांस न खाने के आरोप में बर्खास्त कर दिया था। अपनी रिपोर्ट में प्रेसी ने लिखा कि "उनकी सम्मति में ये सभी आरोप तथ्यों पर आधारित नहीं हैं, अपितु कल्पना-प्रसूत हैं।[1] इसके बावजूद ले० कर्नल प्रेसी इस बात को अच्छी तरह समझ गये थे कि सरकार आर्यसमाजी सैनिकों के प्रति कड़ा रुख अपनाना चाहती है, अतः उन्होंने इस विषय में निम्नलिखित प्रतिबंध लगाये—

(१) सिपाहियों के कानपुर शहर में जाने पर रोक लगा दी गई।

(२) सिपाही शहर में केवल पास लेकर गैर-कमीशन प्राप्त अधिकारी की अध्यक्षता में ही जा सकते थे।

(३) देशी सिपाहियों को इस बात के लिए सावधान कर दिया गया कि वे छावनी में राजद्रोह की चर्चा करने वाले किसी व्यक्ति को न आने दें।

(४) सारी डाक कमाण्डेण्ट के घर पर सीधा लाई जाने लगी ताकि उसका भली-भाँति निरीक्षण हो सके।

ले० कर्नल प्रेसी कानपुर में लाला लाजपतराय के भाषण वाली सभा में जनवरी १९०८ ई० में स्वयं गये और उन्होंने जब वहाँ एक गैर-कमीशन प्राप्त अधिकारी की अध्यक्षता में कुछ सिपाहियों को वहाँ देखा तो उन्हें दण्ड दिया। १९०८ में यह रेजिमेण्ट अलीपुर चली गई।

मार्च १९०८ में ले० कर्नल प्रेसी ८ माह के लंबे अवकाश पर इंग्लैंड चला गया और मेजर राइट उसके स्थान पर कमांडिंग ऑफिसर बना। उसे सूचना मिली कि सूबेदार हरिराम, नायक जोतराम और सिपाही जोगराम के नेतृत्व में सैनिकों की बैठकें बैरकों में होती हैं। मेजर राइट को सूबेदार हरिराम पर यह संदेह था कि वह उस समय के गरम दल के सुप्रसिद्ध नेता विपिनचंद्र पाल के साथ संपर्क रखता है। उसने इसके विरुद्ध कार्यवाही की तथा नायक जोतराम और सिपाही जोगराम को भी दंडित किया गया। यज्ञोपवीत धारण करने वाले सैनिकों को भी तंग किया जाने लगा।

जब ले० कर्नल प्रेसी अवकाश से लौटे तो सरकार ने उन्हें रेजिमेण्ट की गति-

---

१. होम पोलिटिकल डिपा० प्रोसी० (गोपनीय), पार्ट बी, अगस्त १९१०, सं० २२ (प्रेसी की रिपोर्ट)।

विधियों के बारे में विशद जाँच की रिपोर्ट भेजने को कहा। कहा जाता है कि इस बीच उनकी अनुपस्थिति में इस रेजिमेण्ट के सैनिकों का प्रशिक्षण के लिए मिदनापुर जाने पर उग्रवादी नेताओं से संपर्क हुआ था। उस समय के गुप्तचरों की रिपोर्ट यह भी प्रदर्शित करती थी कि कुछ सैनिक मुजफ्फरपुर (बिहार) में प्रफुल्ल चाकी के साथ किंग्सफोर्ड की गाड़ी पर बम फेंकने वाले सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी खुदीराम बोस के घर की तीर्थ-यात्रा कर आये थे। प्रेसी ने उन सभी स्थानों के जिलाधीशों, पुलिस-अधीक्षकों और संबद्ध ब्रिटिश अधिकारियों से संपर्क किया, जहाँ-जहाँ रेजिमेण्ट के सैनिकों द्वारा जाने और राजद्रोही गतिविधियों में सम्मिलित होने के आरोप लगाये जाते थे। किन्तु ले०-कर्नल प्रेसी को सभी आरोप और संदेह निराधार प्रतीत हुए। उसने अपनी रिपोर्ट में लिखा—"वैयक्तिक रुप से मैं सत्यार्थप्रकाश में राजद्रोह की कोई बात नहीं ढूँढ सका हूँ। मैं इस कथन को कोई महत्त्व नहीं देता हूँ कि इस रेजिमेण्ट के सिपाहियों की एक बड़ी संख्या आर्यसमाजी है। सिपाहियों को जब तक रोका न जाय, वे तमाशा देखने के उद्देश्य से सभाओं में जाते रहेंगे। मैं यह कहने का भी साहस करता हूँ कि यदि सभा में दूसरे तालियाँ बजायेंगे तो वे भी ऐसा करेंगे। मैं यह नहीं समझता हूँ कि कोई व्यक्ति इसलिये आर्यसमाजी कहलाने का अधिकारी हो जाता है कि वह इसकी किसी सभा में सम्मिलित हुआ है या स्वामी दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं पर भाषण सुनना पसन्द करता है। यदि ऐसा हो तो उस व्यक्ति को संगीतज्ञ मानना पड़ेगा जो बैण्ड-बाजे को सुनना पसन्द करता है या बाद्य को बजाने का प्रयास करता है। व्यक्तिगत रूप में मुझे सत्यार्थप्रकाश में कोई राजद्रोह की बात दिखाई नहीं देती है और यह आरोप सर्वथा निराधार प्रतीत होता है कि रेजिमेण्ट के अधिकांश सैनिक आर्यसमाजी हैं।"

लेफ्टीनैण्ट कर्नल प्रेसी की रिपोर्ट गुप्तचरों की रिपोर्टों के आधार पर उच्च सैनिक अधिकारियों द्वारा आर्यसमाज के प्रति बनायी गयी राजद्रोह की धारणा के सर्वथा प्रतिकूल थी। किन्तु वे इस रिपोर्ट के रहते हुए आर्यसमाजी सैनिकों पर कोई अंकुश नहीं लगा सकते थे, अतः कर्नल प्रेसी को जल्दी ही सेवा-निवृत्त करके इंग्लैंड भेज दिया गया। उनके बारे में यह कहा जाने लगा कि उन्हें अपने कर्त्तव्य का ज्ञान नहीं है, वे सरकार के प्रति उत्तरदायी नहीं हैं और अपनी जाति के प्रति वफादार नहीं हैं। उनकी सर्विस-बुक में दक्षिणी सेना के जनरल ऑफिसर कमांडिंग ने यह प्रविष्टि अंकित की कि "लेफ्टीनैण्ट प्रेसी स्थिति की गंभीरता का मूल्यांकन करने में लगातार असमर्थ रहे और उन्होंने अपने पद के उत्तरदायित्व को ठीक ढंग से नहीं निभाया है।"

(३) प्रेसी-काण्ड के परिणाम

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि ले० कर्नल प्रेसी ने सेना में आर्यसमाज के प्रभाव के बारे में अपनी रिपोर्ट देते हुए यह लिखा था कि सेना में आर्यसमाज द्वारा प्रेरित विद्रोह के मामलों में भाग लेने वालों की संख्या इतनी कम है कि वह क्षुद्रवीक्षण यंत्र से ही देखी जाने वाली (Microscopic minority) है। इसका यह अभिप्राय था कि सेना में आर्यसमाज से संबद्ध राजद्रोह के मामलों को अतीव अतिशयोक्तिपूर्ण एवं अतिरंजित रूप में रखा जाता है, वस्तुतः ऐसे मामलों की संख्या बहुत ही कम है। इसके साथ ही इस बात पर भी बल दिया गया था कि यदि नागरिक शासन के अधिकारी

(Civil authorities) उन्हें अधिक तत्परता से सहयोग देते तो राजद्रोह के मामलों का अधिक जल्दी पता लग सकता था।[1]

ले० कर्नल प्रेसी की ये दोनों बातें न तो सेना-विभाग को पसन्द आयीं और न ही गृह-विभाग के लिए रुचिकर थीं। लेफ्टिनैण्ट कर्नल प्रेसी के प्रतिवेदन को दक्षिणी सेना के कमांडिंग आफिसर सर ई० बैरो ने अपनी सम्मति के साथ प्रधान सेनापति के पास विचार के लिए भेजा। इसे सेना-मुख्यालय के ए०ए० बारेट ने अपने एक नोट के साथ २३ मार्च १९१० ई० को प्रस्तुत करते हुए यह लिखा कि इसमें कोई सन्देह नहीं कि लेफ्टिनैंट कर्नल प्रेसी ने जब अपनी पहली रिपोर्ट लिखी थी तो उसे परेशान तथा हैरान किया जा रहा था, किन्तु इस कारण उसकी यह बात मान्य नहीं हो सकती है कि सेना में विद्रोही विचार रखने वाले आर्यसमाजियों की संख्या बहुत ही कम है और उसे ऐसे मामलों का पता लगाने में नागरिक अधिकारियों से सहयोग नहीं मिला है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए यह कहा गया था कि सर ई० बैरो का यह विचार है कि जब जून तथा जुलाई १९०७ में प्रेसी ने दो पत्र लिखे थे, उस समय वह स्थिति की गम्भीरता के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक था। किन्तु जब फरवरी १९०८ में उसकी रेजीमेण्ट अलीपुर (बंगाल) में आया तो उसने इसके लिए कोई विशेष सावधानियाँ नहीं बरतीं और थोड़े समय बाद वह ८ महीने की लम्बी छुट्टी (Furlough) पर चला गया। नवम्बर १९०८ में वापिस लौटने पर ही उसने इस विषय में तत्काल आवश्यक कदम उठाये। १९०९ में इस विषय में उसके सन्देह दूर हो गये और वह गर्मियों में अपने साधिकार अवकाश (Privilege leave) पर चला गया और अवकाश से वापिस लौटने पर उसने सूबेदार मेजर की वह रिपोर्ट स्वीकार कर ली, जिसमें यह कहा गया था कि छावनियों में सर्वत्र शान्ति है।

लेफ्टिनैंट कर्नल प्रेसी का यह कहना भी ठीक नहीं है कि उसे राजद्रोही गतिविधियों की जानकारी प्राप्त करने में नागरिक अधिकारियों से सहायता नहीं मिली, क्योंकि गुप्तचर-विभाग को ललित की अपराध की स्वीकृति का बयान (Confession) अक्टूबर १९०९ में मिल गया था, किन्तु उसे इसकी सूचना १३ जनवरी १९१० तक नहीं दी गयी। इस रिपोर्ट के अन्त में यह पूरा बयान दिया गया है और इस पर १२ जनवरी १९१० की तिथि अंकित है और यह अगले ही दिन लेफ्टिनैंट कर्नल प्रेसी को दे दिया गया था। इससे पहले गुप्तचर-विभाग को केवल सन्देह मात्र था और इसकी सूचना भी उन्होंने प्रेसीडेन्सी ब्रिगेड के अधिकारियों को नवम्बर १९०९ में उस समय दी थी जबकि दसवीं जाट रेजिमेण्ट मिदनापुर चली गयी थी। इस स्वीकारोक्ति से यह ज्ञात होता है कि इसरेजीमेण्ट में विद्रोह के विचारों का अंकुर अलीपुर आने के थोड़े दिन बाद ही पनपने लगा था और नवम्बर १९०९ ईसवी में यह पूर्ण रूप से विकसित हो गया था, अतः लेफ्टिनैंट कर्नल प्रेसी के लिए यह दावा करना बेहूदा है कि यदि यह स्वीकारोक्ति उन्हें जल्दी मिल जाती तो वे इस सारे मामले को अच्छी तरह सँभाल लेते।

---

१. होम पोलिटिकल डिपार्टमैण्ट, डिपाजिट, अगस्त १९१०

"अतः कुल मिलाकर यह नहीं कहा जा सकता कि प्रेसी अपने को इस आरोप से सर्वथा मुक्त कर सके हैं और उन्होंने स्थिति की गम्भीरता पूरी तरह से नहीं समझी। वे भारतीय सैनिक अधिकारियों के साथ इतने घनिष्ठ सम्पर्क में नहीं रहे कि उन्हें रेजीमेंट में होने वाली घटनाओं का पता लग सके। दक्षिणी सेना के जनरल ऑफिसर कमांडिंग बैरो ने लिखा है कि इस मामले में लेफ्टिनैण्ट कर्नल प्रेसी के साथ नरमी का व्यवहार किया जाना चाहिए, क्योंकि उस समय उसके सम्मुख अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ थीं और अलीपुर में रेजिमेण्ट को लाना निःसन्देह एक गलती थी (क्योंकि बंगाल उन दिनों क्रान्तिकारियों का गढ़ था)। महामहिम संभवतः इस बात से सहमत होंगे कि उसे अपने सेवाकाल के अवशिष्ट दो वर्षों में एक सक्षम कमांडिंग ऑफिसर के रूप में अपने ऊपर आये इस लांछन के परिमार्जन का अवसर अवश्य दिया जाना चाहिए।"

प्रधान सेनापति ने ए०ए० बारेट के नोट से सामान्य सहमति प्रकट करते हुए यह लिखा कि वे लेफ्टिनैण्ट कर्नल प्रेसी की इस व्याख्या से सहमत नहीं हैं कि राजद्रोहियों की संख्या अतीव क्षुद्र थी। "मैं इस बात से भी सहमत नहीं हूँ कि नागरिक अधिकारियों ने उसे उसकी रेजिमेण्ट की राजनैतिक स्थिति की जानकारी देने में कोई विलम्ब किया है वस्तुतः वे इसके लिए उत्तरदायी नहीं हैं। वे उसे इस कार्य में सहायता दे सकते हैं, लेकिन इसकी जिम्मेवारी पूर्ण रूप से कमांडिंग ऑफिसर पर है। इस समूचे पत्र-व्यवहार से यह स्पष्ट होता है कि कमांडिंग आफिसर और उसके भारतीय अधिकारियों में न तो कोई सम्पर्क था और न ही एक-दूसरे पर विश्वास था; इसे उत्पन्न करने के लिए भी कमांडिंग आफिसर ने कोई पग नहीं उठाया। उसे अभी हाल तक यह नहीं पता था कि सूबेदार मेजर अफीम का सेवन करने वाला और बिलकुल अविश्वसनीय है। जहाँ तक राजद्रोह का सम्बन्ध है, रेजिमेण्ट की शोचनीय स्थिति कमांडिंग आफिसर की लापरवाही का परिणाम है।"

१९०७ ई० में जब ले० कर्नल प्रेसी ने जाट रेजिमेण्ट की कमान सँभाली थी, उसी समय वे जानते थे कि कुछ व्यक्ति उसके पूर्ववर्ती अधिकारी द्वारा राजद्रोह के लिए सेना से निकाले जा चुके हैं। उसके अधिकारियों ने यह भी चेतावनी दी थी कि इनमें अधिकांश आर्यसमाजी थे और उसने स्वयं उन्हें एक राजद्रोही सभा में देखा था। अलीपुर में इस रेजिमेण्ट को भेजना गलती थी, किन्तु जब यह कर दी गयी थी तो इस बारे में कुछ अधिक सावधानी बरती जानी चाहिए थी। "किन्तु उसने इस बात पर ध्यान देने के स्थान पर अपना समय नालियों और छावनियों का चार्ज सँभालने में बरबाद किया। यह ऐसा काम था जिसे उसका क्वार्टर मास्टर या अन्य कोई ब्रिटिश अधिकारी कर सकता था।" इसके बाद वह छुट्टी पर चला गया। यदि उसे इस खतरे का वास्तविक अहसास होता और अपनी रेजिमेण्ट की शोचनीय स्थिति का ज्ञान होता तो उसे छुट्टी पर कभी नहीं जाना चाहिए था। ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी रेजिमेण्ट की शोचनीय स्थिति के कई संकेत मिलने के बावजूद उसने इस ओर उस समय तक ध्यान नहीं दिया जब तक कलकत्ता ब्रिगेड के जनरल ऑफिसर कमांडिंग द्वारा वह ऐसा करने के लिए बाधित नहीं किया गया। यद्यपि उसे छुट्टी से लौटने के बाद अपनी अनुपस्थिति में हुई घटनाओं का पूरा ज्ञान रखना चाहिए था। १९०७ से १९०८ के बीच में इस विषय में सेना के मुख्यालय से कमांडिंग आफिसरों को अनेक चेतावनियाँ जारी की जा चुकी

थीं। प्रधान सेनापति के शब्दों में "अतः यह स्पष्ट है कि उसने अपनी जिम्मेवारियों को भली-भाँति नहीं समझा है और वह सेना में कमांडिंग आफिसर होने के लिए सर्वथा अयोग्य है। मैं सरकार से यह अवश्य सिफारिश करना चाहता हूँ कि उसे तत्काल हटा दिया जाए और उसके स्थान पर एक योग्य अधिकारी नियुक्त किया जाय। यह कार्य जल्दी-से-जल्दी होना चाहिए।"

इसके बाद प्रधान सेनापति ने यह आदेश दिया कि "सभी कम्पनी कमांडरों को यह सूचित कर दिया जाना चाहिए कि अपनी रेजिमेण्ट में होने वाली राजद्रोहात्मक गतिविधियों पर पूरी दृष्टि रखना और उच्च अधिकारियों को इसकी सूचना देना उनका कर्त्तव्य है और यदि वे इसका पालन नहीं करते हैं तो वे सेना के लिए अवांछनीय हैं और उनको पद से मुक्त कर दिया जाना चाहिए। मुझे यह बात आश्चर्यजनक प्रतीत होती है कि हेतराम राजद्रोही नायक जोतराम के साथ मिलकर रोज छावनी में सभायें करता रहा और इसपर कोई कार्यवाही नहीं की गयी।"

प्रधान सेनापति क्रीघ द्वारा उपर्युक्त नोट लिखा जाने के बाद प्रेसा को २ वर्ष पहले ही सैनिक सेवा से निवृत्त कर दिया गया। गृह-विभाग की इस नोट पर यह सम्मति थी कि इसमें नागरिक अधिकारियों का दोष नहीं है, उन्होंने उपर्युक्त कमाण्ड के स्टाफ आफिसर को तत्काल सूचना दी थी; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें उनके गुप्तचर ने हवलदार सुरजन का नामोल्लेख किया था, जबकि तोपखाने (Musketry) के सैनिक अधिकारियों की सूची में इस नाम का कोई अधिकारी नहीं, अपितु एक सिपाही था। विभाग ने इस विषय में यह भी लिखा था कि यह अतीव आवश्यक है कि गुप्तचरों द्वारा अत्यधिक गोपनीयता के साथ दी गयी सूचनाओं पर बड़ी सावधानी से विश्वास किया जाय और नागरिक अधिकारी इसकी अच्छी तरह जाँच करना चाहते थे और इसके बाद ही उन्हें यह पता चला कि रेजिमेण्ट में हवलदार सुरजन नाम का कोई व्यक्ति नहीं है। किन्तु वे इस बात पर सहमत हो गये कि इस विषय में नागरिक अधिकारियों को ऐसे आवश्यक आदेश जारी कर दिये जायेंगे जिनके अनुसार वे भविष्य में सेना में विद्रोही गतिविधियों के विषय में मिलने वाली पूरी सूचना सैनिक अधिकारियों को दे दिया करेंगे।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि १९०९-१० में उच्च सैनिक अधिकारियों में यह विश्वास बद्धमूल हो चुका था कि आर्यसमाजी तत्त्व सेना में, विशेषतः दसवीं जाट सेनाओं में अपना दूषित राजद्रोही प्रचार करने में अतीव सक्रिय हैं और सेना में यह संकट निरन्तर बढ़ता चला जा रहा है; इसे रोकने के लिए प्रभावशाली कदम तत्काल उठाये जाने चाहिएँ। लेफ्टिनैंट कर्नल प्रेसी का सबसे बड़ा दोष यही था कि उसने पूरी जाँच और छानबीन के बाद यह रिपोर्ट दी थी कि सेना में व्यापक रूप से आर्यसमाजियों द्वारा विद्रोहात्मक प्रचार के समाचार अत्युक्तिपूर्ण और अविश्वसनीय हैं। उच्च सैनिक अधिकारी इससे सहमत नहीं थे, इसीलिए उसे दो वर्ष पहले ही सेवा-निवृत्त होना पड़ा। प्रधान सेनापति को तो इस समय वस्तुतः आर्यसमाज का आतंक बहुत ज्यादा प्रतीत हो रहा था। इसी अध्याय में अन्यत्र यह बताया गया है कि उन्होंने किस प्रकार सेना में आर्यसमाजियों की भरती पर सामान्य प्रतिबन्ध लगाने का प्रस्ताव रखा था, किन्तु वायसराय ने इस स्वीकार नहीं किया।

(४) सेना में आर्यसमाज का प्रभाव बढ़ने के उदाहरण

मेजर बेली ने अपनी रिपोर्ट में सेना में आर्यसमाज की भरती पर प्रतिबन्ध लगाने का समर्थन करने के लिए कालक्रम से ऐसे अनेक उदाहरणों की चर्चा की है, जिनसे सेना में आर्यसमाज का बढ़ता हुआ घातक प्रभाव प्रमाणित हो सके। इस विषय में सर्वप्रथम उसने यह बताया कि "उच्च सैनिक अधिकारियों को यह रिपोर्ट मिलती रही है कि दसवीं जाट रेजिमेण्ट में ऐसे आर्यों की बड़ी संख्या है जो अतीव उग्र विचार रखते हैं। किन्तु कमांडिंग ऑफिसर ने इस आरोप का खंडन किया। तदनुसार पुनः उच्च अधिकारियों को यह रिपोर्ट मिली कि इस रेजिमेण्ट में कुछ आर्यों ने यज्ञोपवीत धारण करना शुरू कर दिया है। किन्तु कमांडिंग ऑफिसर की ओर से यह बताया गया कि इसे रोकने के लिए आवश्यक पग उठाये गये हैं।

अगस्त १९०८ में सरकार को यह सूचना मिली कि साधुओं के रूप में बहुत-से व्यक्ति भारतीय सेनाओं में जाकर बगावत का प्रचार कर रहे हैं। अतः जनरल कमांडिंग ऑफिसरों के नाम यह आदेश जारी किये गये कि वे ऐसे साधुओं पर कड़ी दृष्टि रखें और सेना में उनका प्रवेश सर्वथा वर्जित कर दें।[1] इस सूचना का आधार सम्भवतः एक स्वतन्त्र आर्यसमाजी उपदेशक पण्डित दौलतराम का झाँसी छावनी के सैनिकों की एक सभा को संबोधित करना था। इसके लिए उसे झाँसी के डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट जे० सी० स्मिथ द्वारा १६-९-१९०८ को दण्डित किया गया था। अन्यत्र इस मामले की चर्चा विस्तार से की गई है और यह बताया गया है कि लाहौर के **पंजाबी** तथा लखनऊ के **एडवोकेट** नामक पत्रों ने मैजिस्ट्रेट के निर्णय की कड़ी आलोचना की थी और इस मामले में अभियुक्त के साथ होने वाले अन्याय का प्रभावशाली शब्दों में प्रतिपादन किया था। इस घटना का समाचारपत्रों द्वारा बड़ा प्रचार हुआ। ये मामले भले ही निस्सार हों, किन्तु इनके व्यापक प्रचार ने उच्च सैनिक अधिकारियों में आर्यसमाज के प्रति राजद्रोह की भावना को अवश्य पुष्ट किया होगा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं किया जा सकता है।

नवंबर १९०८ में जाटों को सेना में भरती करने वाले एक अफसर मेजर जेमिसन ने उन जिलों में आर्यसमाज के आंदोलन के प्रसार का विवरण तैयार किया जिनसे जाटों को भरती किया जाता था। इस रिपोर्ट में पुनः इस बात पर बल दिया गया कि आर्यसमाज के सिद्धान्तों को पढ़ाते समय राजद्रोह की शिक्षा दी जाती है। दिल्ली डिवीजन के तथा हिसार और करनाल के जाटों में इस प्रकार का प्रचार करने वाले उपदेशक आते रहते हैं। अन्त में इस रिपोर्ट में यह कहा गया था कि इस प्रकार के राजद्रोही विचारों से ओतप्रोत व्यक्ति "भारतीय सेना का सिपाही बनने के लिए सर्वथा अनुपयुक्त और अवांछनीय हैं।"[2] इस रिपोर्ट के मिलते ही उच्च सैनिक अधिकारियों ने इसका एक सारांश सभी सम्बद्ध अधिकारियों को भेजा। इसमें यह बताया गया था कि जाटों में आर्यसमाज का राजद्रोहपूर्ण प्रचार किस प्रकार बढ़ रहा है और उसे नियंत्रित करने के सभी उपाय किये जाने चाहिएँ।

---

१. पूर्वोक्त गुप्त रिपोर्ट, पृष्ठ २९३

२. वही

मई १९०९ में गुप्तचर-विभाग ने यह रिपोर्ट दी कि आर्यसमाज, हिन्दू सभाएँ और सिक्ख सभाएँ इस बात का प्रयास कर रही हैं कि वे छावनियों में अपना सभाएँ करें तथा इनमें भारतीय सैनिकों और सिपाहियों को अधिक से अधिक संख्या में एकत्र करें। सभी कमांडिंग ऑफिसरों को इस बात का निर्देश २६ मई १९०९ के पत्र में एडजुटैण्ट जनरल द्वारा भेजा गया जिसमें उन्हें इस विषय में सदैव सावधान और जागरूक रहने को कहा गया था और यह निर्देश दिया गया था कि वे अपने अधीन सैनिकों को ऐसी बैठकों में सम्मिलित होने से रोकें और ऐसा प्रयास करें कि वे ऐसी सभाओं में उपस्थित न हों।

(५) कोहाट, बंगलौर, बड़ौदा की घटनायें

जुलाई १९०९ में आर्यसमाज की सैनिक गतिविधियों के बारे में कोहाट और बंगलौर की दो घटनाओं की रिपोर्ट प्रधान सैनिक कार्यालय में पहुँची। कोहाट में ११२वीं इन्फैण्ट्री (पैदल सेना) के कुछ सिपाहियों ने आर्यसमाज की एक बैठक में सक्रिय भाग लिया था। कमांडिंग ऑफिसर का यह कहना था कि उसे इस बात की कोई पूर्वसूचना नहीं थी और जब उसे इस बात का पता लगा तो उसने इस पर गहरी नाराजगी प्रकट की और यह आदेश किया कि किसी सिपाही को ऐसी बैठकों में सम्मिलित नहीं होना चाहिए। उसने अपनी रिपोर्ट में यह भी कहा कि जिन-जिन रेजिमेण्टों में जाट हैं, उनमें आर्यों की काफी संख्या है और इस बारे में वह दो वर्ष पहले भी रिपोर्ट दे चुका है।

दूसरी घटना बंगलौर में १२वीं रायफल सेना मे हुई थी और इसका पता भी कमांडिंग ऑफिसर को इस घटना के हो जाने के बाद लगा। इस सेना के एक सूबेदार को पहले ही पेंशन देकर सेवा-निवृत्त किया जा रहा था। इसका कारण यह था कि वह पक्का आर्यसमाजी था। सेवा-निवृत्ति के अवसर पर उसकी विदाई के लिए सभा का आयोजन किया गया। यह यद्यपि छावनी में हुआ था, किन्तु इसमें दो नागरिक आर्यसमाजी सम्मिलित हुए। इनमें एक वहाँ की स्थानीय आर्यसमाज का मंत्री था। इसी सभा में दो अन्य ब्राह्मण भी उपस्थित थे जिनके बारे में यह पता लगा कि ये रेजिमेण्ट की छावनी में बगैर अनुमति के काफी समय तक एक देशी और कुछ गैर-कमीशन प्राप्त ऑफिसरों के साथ रह रहे थे और उन्होंने छावनी के एक धार्मिक कृत्य में भी पौरोहित्य कार्य किया था। जनरल ऑफिसर कमांडिंग ने इस बारे में यह लिखा था कि देशी अफसर और गैर-कमीशन प्राप्त अधिकारियों को आदेशों के उल्लंघन के लिए दंड दिया जा रहा है। किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिला है कि इन बैठकों में राजद्रोहपूर्ण भाषा का प्रयोग हुआ है। इस कमांडिंग ऑफिसर ने यह भी लिखा कि अब तक सैनिक अधिकारियों को दिये गये आदेशों का यह आशय कभी नहीं रहा है कि सिपाहियों को आर्यसमाज का सदस्य होने से या आर्यसमाज के सदस्यों के साथ संपर्क रखने से रोका जाए। अतः इस विषय में उसका इरादा कोई ऐसी कार्यवाही खुले तौर से करने का विचार नहीं है, जिससे यह समझा जाए कि आर्यसमाज पर सेना में सार्वजनिक रूप से प्रतिबंध लगा दिया गया है। इस रिपोर्ट के उत्तर में नवीं डिवीजन के जनरल ऑफिसर कमांडिंग को यह सूचना दी गयी कि उसकी यह कार्यवाही प्रधान सेनापति के विचारों के अनुरूप है।

अगस्त १९०९ में सेना के प्रधान कार्यालय को यह रिपोर्ट मिली कि बड़ौदा में ९४वीं रसेल इनफैंट्री (पैदल सेना) का एक जाट सिपाही दो वर्ष से आर्यसमाज का सदस्य था और वह जब सेवा-निवृत्ति से पहले की छुट्टी (फर्लो) के बाद वापस आया उसने रेजिमेण्ट में आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रसार में बड़ी क्रियाशीलता दिखायी। जब यह बात उच्च अधिकारियों को पता लगी तो उन्होंने फौरन उसे सेना की सेवा से मुक्त कर दिया। इस रेजिमेण्ट के जाटों से आर्यसमाज से सम्बन्ध रखने वाला बहुत अधिक साहित्य मिला। इनमें से कुछ राजद्रोहपूर्ण सामग्री वाली पुस्तकें इस रेजिमेण्ट के जाटों में वितरित की जा रही थीं। यदि इन पुस्तकों को एकदम जब्त कर लिया जाता तो इससे अनेक प्रकार के अवांछनीय संदेह और अनावश्यक उत्तेजना पैदा होती। अतः कमांडिंग ऑफिसर ने इस बारे में प्रकट रूप में कोई कार्यवाही नहीं की। किन्तु इस साहित्य को वहाँ से हटवा दिया और उसे अब इस बात का पूरा विश्वास है कि जो जाट इस साहित्य से प्रभावित हुए थे, उनमें अब किसी प्रकार के राजद्रोह अथवा अशांति के चिह्न नहीं हैं।

अक्तूबर १९०९ में भारत सरकार के प्रधान सेना कार्यालय ने डिवीजनों तथा स्वतंत्र ब्रिगेडों के जनरल कमांडिंग ऑफिसरों को यह निर्देश भेजा कि पिछले मई मास में हिन्दू सभाओं, सिक्ख सभाओं और आर्यसमाज के सत्संगों में सिपाहियों के सम्मिलित होने पर जो प्रतिबंध लगाया गया था, उसमें यह संशोधन किया जाता है कि हिन्दू और सिक्ख सभाओं में सैनिकों को सम्मिलित होने की अनुमति कमांडिंग ऑफिसर अपने विवेक के अनुसार दे सकते हैं, क्योंकि इस विषय में सरकार को इस आशय के आवेदन-पत्र मिले हैं कि हिन्दू और सिक्ख सभाएँ विशुद्ध धार्मिक सभाएँ होती हैं। किन्तु यह छूट आर्यसमाज के सत्संगों और बैठकों को नहीं दी जा सकती है। इस आदेश का स्पष्ट अभिप्राय यह था कि इस समय तक भारत सरकार का सेना-विभाग आर्यसमाज को विशुद्ध राजद्रोही संस्था मानने लगा था और वह उसे उस प्रकार की धार्मिक स्वतंत्रता सेना में नहीं देना चाहता था जो हिन्दुओं, सिखों तथा अन्य धर्म वालों को प्राप्त थी।

१९१० में पुनः १०वीं जाट रेजीमेंट के कुछ सैनिकों पर राजद्रोह का आरोप लगाया गया। इनमें एक बड़ी संख्या जाटों की थी, किन्तु जिन पर ऐसा आरोप लगाया गया था उनमें कुछ व्यक्ति ही आर्य थे। जनवरी १९१० में जाटों को सेना में भरती करने वाले अफसर मेजर बोर्ने ने सैनिक मुख्यालय से इस बारे में परामर्श माँगा कि रंगरूटों को भरती करने से पहले उनसे जो प्रश्न पूछे जाते हैं, उनमें क्या यह प्रश्न पूछा जाना चाहिए कि वे आर्य हैं या नहीं? और यदि वे यह बतायें कि वे आर्य हैं तो क्या सेना में उनको भरती किया जाना चाहिए? यह प्रश्न उस समय इसलिए उठा था कि दसवीं जाट सेना के कमांडिंग आफिसर ने उसे यह सूचना दी थी उसकी रेजीमेंट के लिए आर्य लोगों को भरती न किया जाय। प्रधान कार्यालय से मेजर बोर्ने को यह सूचना दी गयी कि वह इस विषय में दसवीं जाट सेना के कमांडिंग आफिसर की इच्छा का पालन करें, किन्तु इसमें उसे आर्यों के सेना में भरती करने के नियम को उस समय तक केवल १०वीं जाट सेना तक ही सीमित रखना चाहिए, जब तक कि इस समूचे प्रश्न पर सेना के मुख्य कार्यालय द्वारा विचार करके अंतिम निर्णय नहीं लिया जाता है।

इस कारण सेना-विभाग के महाप्रशासक (एडजुटेंट जनरल) के डिवीजन ने इस समूचे प्रश्न पर विचार करने का निर्णय लिया और इसके एक प्रमुख अधिकारी मेजर जी० बेली ने पहली मार्च १९१० को इस विषय में सरकार के सम्मुख विचार करने के लिए एक विस्तृत नोट लिखा। इसमें उपर्युक्त घटनाओं की संक्षिप्त जानकारी देते हुए कहा गया था कि आर्यसमाज के नेता निश्चित रूप से यह घोषणा करते हैं कि उनके सिद्धान्त और शिक्षाएँ विशुद्ध रूप से धार्मिक और सामाजिक हैं। उनका उद्देश्य है कि वे अपनी जनता के धर्म और रीति-रिवाजों को आधुनिक शिक्षा और विचारों के अनुकूल बनायें और ऐसे आपत्तिजनक अथवा मूर्खतापूर्ण अन्धविश्वासों को हटाएँ जिनमें विश्वास रखने वाले अधोगति में पड़े हुए हैं और उनका अन्तिम उद्देश्य यह है कि वे समूचे भारत के लिए एक मत या धर्म (Creed) की स्थापना करें।

इस टिप्पणी में इस बात पर बल दिया गया था कि "आर्यसमाज द्वारा जाति-विषयक नियमों के बंधनों को हटाने का प्रभाव सभी वर्गों के अधिक शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों को प्रभावित करता है। इससे उन नीची जातियों को ऊपर उठने का अवसर मिलता है, जो अभी तक सामाजिक दृष्टि से ब्राह्मणों, क्षत्रियों अथवा राजपूतों की तुलना में निम्न स्तर की समझी जाती थीं। इसी कारण आर्यसमाज जाटों और खत्रियों में बड़ा लोकप्रिय सिद्ध हुआ है और वह इनका सामाजिक स्तर ऊँचा उठाने में सहायक सिद्ध हुआ है। इसीलिए वे बड़ी संख्या में इस आंदोलन में सम्मिलित हुए हैं। इस समय आर्यसमाज ने भी पूरा ध्यान रखा है कि उसे समाज में ऊँचे समझे जाने वाले ब्राह्मणों और राजपूतों का भी समर्थन मिलता रहे, जो इस समय तक इतने अधिक उदार नहीं हुए हैं कि वे अपनी जाति और सामाजिक स्थिति के अभिमान को छोड़ने के लिए तैयार हों, और वे नीची जातियों से खानपान का संपर्क रखें। इस दृष्टि से आर्यसमाज ने अपने खानपान के नियमों में कुछ परिवर्तन स्वीकार कर लिये हैं और वे इस बात पर कोई आपत्ति नहीं करते हैं कि यदि एक जाति का आर्य दूसरे जाति के आर्य से रोटी-बेटी का सम्बन्ध नहीं रखना चाहता है। इस प्रकार जात-पाँत के बन्धनों को तोड़ते हुए भी वे उन्हें वहाँ स्वीकार कर लेते हैं, जहाँ उन्हें इन नियमों को बनाये रखने में लाभ होता है।

"आर्यों के सम्बन्ध में एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि वे अपने राजनैतिक उद्देश्यों के बारे में कोई खुला प्रचार नहीं करते हैं। किन्तु उनका लक्ष्य संक्षेप में यही है कि **भारत भारतीयों के लिए है** (India for Indians)। अन्य लोगों की बड़ी संख्या को अपने साथ बनाये रखने के लिए वे स्वायत्त शासन की उस पद्धति पर बल देते हैं जो प्राचीन एवं मध्य युग में गाँवों में पंचायतों के रूप में प्रचलित थी, और जिसमें किसी गाँव में रहने वाला समूचा ग्रामीण समुदाय भाग लिया करता था। इस प्रकार वे भारत में सामान्य रूप से स्वशासन के सिद्धान्तों का शनैः-शनैः प्रचार कर रहे हैं। इस उद्देश्य की अभिवृद्धि और पूर्ति के लिए शासन के वर्तमान स्वरूप की खुली आलोचना की जाती है, और वे अपने ऐसे प्रयास में कोई कोर-कसर बाकी नहीं रखते हैं जिससे वे जनता के मनों में वर्तमान शासन के प्रति असंतोष उत्पन्न करें तथा उनमें स्वदेशी, स्वावलंबन और आत्मत्याग की भावना को बढ़ायें।"

इसके बाद इस नोट में आर्यसमाज की सेना-विषयक नीति पर प्रकाश डालते

हुए कहा गया था—"भारतीय सैनिक चूँकि इस देश में विदेशी शासन को बनाये रखने में सहायता करते हैं, अतः आर्यसमाज ने सर्वप्रथम सेना में भरती होने के विरुद्ध प्रचार आरम्भ किया। उनसे जहाँ तक सम्भव हुआ, उन्होंने युवकों को इस बात के लिए हतोत्साह किया कि वे सैनिक बनें। गाँवों के स्कूलों में उन्होंने सेना में भरती होने के विरुद्ध घृणा के भाव फैलाये और इस बात का प्रयास किया कि सिपाही अपनी स्थिति और वेतन से असंतुष्ट बने रहें। अभी हाल में आर्यसमाज ने अपनी इस नीति में कुछ परिवर्तन कर दिया है। अब उनका यह लक्ष्य है कि वे सेना में भरती हुए व्यक्तियों को आर्यसमाजी बनायें और जो व्यक्ति आर्यसमाजी बन चुके हैं, उन्हें अधिक संख्या में सेना में भरती करायें।"

"आर्यसमाज का सम्बन्ध राजनीति में उग्र विचार रखने वाली संस्थाओं से है। यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इस समय समाज के सभी सदस्य उग्र अथवा अतिवादी विचार रखने वाले (Extremists) नहीं हैं। जो युवक पहले समाज का सदस्य बनते हैं और बाद में फौज में भरती होते हैं, वे सम्भवतः इस समाज के असली उद्देश्यों को पहले नहीं जानते हैं और उन्हें सेना में भरती होने के बाद इसका (उग्र विचारों का) ज्ञान दिया जाता है। यह स्थिति बड़ी खतरनाक है।"

इस प्रकार वर्तमान स्थिति को स्पष्ट करने के बाद इस नोट का उपसंहार करते हुए पहले आर्यसमाज की नीति के बारे में दो प्रकार की विचारधारा का उल्लेख इस प्रकार किया गया था—"एक ओर ऐसा संगठन है जिसका उद्देश्य भारत में एक धार्मिक संप्रदाय को फैलाना और भारत के लिए स्वराज्य प्राप्त करना है। यह लक्ष्य इस समय भारत में उग्र विचार रखने वाले गरम दल वालों के लक्ष्य के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है और सरकार के हितों के लिए हानिकर है। यह स्वीकार किया जाता है कि आर्यसमाज के सदस्य भारतीय सेना के लिए एक खतरा हैं, क्योंकि ऐसा संगठन भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों का सुदृढ़ संगठन बनाने, वर्तमान सरकार के विरुद्ध असंतोष उत्पन्न करने और अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भारतीय सेना के सिपाहियों को अधिकाधिक संख्या में आर्य बनाकर अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के प्रयास कर सकता है और इसके लिए अपने सिद्धान्तों को भी बदल सकता है। जब कभी आर्यसमाज के उद्देश्यों और इरादों के बारे में कोई संदेह प्रकट किया जाता है तो वह इन्हें धर्म की आड़ में छिपा देता है और राजद्रोह की दृष्टि से संदिग्ध सभी आर्यसमाजियों से अपने सम्बन्ध-विच्छेद की घोषणा करता है।

"दूसरी ओर यह प्रतीत होता है कि सरकार का इरादा यह है कि इस संगठन के विरुद्ध कोई प्रभावशाली सक्रिय कदम नहीं उठाये जाने चाहिएँ। इस पर केवल कड़ी दृष्टि रखी जानी चाहिए। इसके बारे में कोई प्रतिकूल सम्मति नहीं प्रकट की जानी चाहिए। इसके सदस्यों को सरकारी सेवा करने से विरत या निरुत्साहित नहीं किया जाना चाहिए। जहाँ तक सेना का सम्बन्ध है, जनरल कमांडिंग आफिसरों और यूनिट-कमांडरों का यह विचार है कि इस मामले में बड़ी सावधानी से काम करना चाहिए और ऐसे कोई कदम नहीं उठाये जाने चाहिएँ जिनसे यह समझा जाय कि भारतीय सेना में आर्यसमाज पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है और उसे अवैध बना दिया गया है। इस विषय में केवल इतनी ही कार्यवाही की जानी चाहिए कि समाज के सदस्यों द्वारा अन्य

सिपाहियों में किये जाने वाले प्रचार के प्रभावों पर दृष्टि रखी जाय और सेना की छावनियों से बाहर के क्षेत्र में होने वाली आर्यसमाज की बैठकों तथा अधिवेशनों में सैनिकों को सम्मिलित होने से रोका जाय।"

इस प्रकार मेजर बेली ने आर्यसमाज तथा सरकार के तत्कालीन दृष्टिकोणों को स्पष्टतापूर्वक प्रतिपादित करने के बाद अपनी सम्मति प्रकट करते हुए लिखा था कि "वर्तमान स्थिति के परिणाम संतोषजनक नहीं प्रतीत होते हैं। सेना में संभवतः आर्य-समाजियों की संख्या बढ़ रही है। कुछ कमांडिंग अफसरों ने अपनी रेजीमेंटों में आर्यसमाजी सैनिकों के प्रभाव को नापसंद किया है और इस बात का प्रयास किया है कि ऐसे आर्यसमाजियों को असली कारण बताये बिना ही सेना की सेवा से मुक्त कर दिया जाय। किन्तु ऐसी कार्यवाही ठीक नहीं प्रतीत होती है। इससे सैनिकों में यह भावना पैदा हो सकती है कि आर्यसमाज के भय के कारण ही सरकार द्वारा ऐसी कार्यवाही की जा रही है।

"अतः इस विषय में इस समय दो बातों का निर्णय करने का प्रयास किया जाना चाहिए। पहला तो यह कि इस बात का पता लगाया जाय कि भारतीय सेना में अब तक आर्यसमाज का कितना प्रभाव है, इसे मानने वालों की संख्या कितनी है और वे किन-किन पदों पर हैं। ऐसी ही जानकारी उन व्यक्तियों के बारे में भी एकत्र की जानी चाहिए जिन पर आर्यसमाज का सदस्य होने का संदेह हो। दूसरी बात यह है कि आर्यसमाज को सेना में अपना घातक प्रभाव बढ़ाने से रोका जाना चाहिए, क्योंकि कभी भी अवसर मिलने पर आर्यसमाज इस प्रभाव का पूरा लाभ उठा सकता है।"

(६) सेना में आर्यसमाजियों की भरती पर प्रतिबन्ध का प्रस्ताव

मेजर बेली के उपर्युक्त नोट के तीन दिन बाद उनके उच्च अधिकारी कर्नल सी० पी० डब्ल्यू० पिरले (Pirle) ने प्रधान सैनिक महाप्रशासक (एडजुटेंट जनरल) के लिए ४-३-१० को एक नोट लिखा और इसमें इस बात पर बल दिया गया था कि इस विषय में शीघ्र ही कार्यवाही करनी चाहिए, सेना में आर्यसमाज के बढ़ते प्रभाव को रोकने के लिए कड़े उपायों का अवलंबन किया जाना चाहिए और **"यदि आर्य-समाजियों को सेना में भरती होने से रोक दिया जाय तो यह कोई कठोर कार्यवाही नहीं होगी।"**[1] इस विषय में उनका यह कहना था—"यह बात अब सर्वविदित हो चुकी है कि यद्यपि आर्यसमाज के अनेक सदस्यों के सिद्धान्त और आचरण में कोई आपत्ति-जनक बात नहीं है, फिर भी यह निश्चित है कि समाज में ऐसे सदस्यों की बहुत बड़ी संख्या है जिनके कार्य राजद्रोहपूर्ण सिद्ध हो चुके हैं। चूँकि अब इस समाज का अपने को विशुद्ध रूप से धार्मिक संगठन बनाये रखने का प्रारम्भिक स्वरूप नहीं रहा है और इसके कुछ सदस्यों के उद्देश्य स्पष्ट रूप से राजद्रोहपूर्ण हैं, अतः सरकार के लिए यह कोई कड़ी कार्यवाही नहीं होगी कि आर्यसमाज के सदस्यों के सेना में नौकरी करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय।"

---

१. पूर्वोक्त पत्रावली, पृ० २९८

इस नोट के लेखक कर्नल पिरले को यह आशंका थी कि सरकार शायद इस विषय में आर्यसमाजियों पर एक सामान्य प्रतिबन्ध लगाने के लिए सहमत न हो और वह कमांडिंग अफसरों को ही इसके लिए आवश्यक कार्यवाही करने को कहे। अतः उसने अपने नोट में इस प्रकार से समस्या के समाधान का विरोध करते हुए लिखा कि "सरकार के लिए यह किसी भी प्रकार से उचित नहीं है कि वह आर्यसमाजियों के उन मामलों पर विचार करने का उत्तरदायित्व रेजीमेंटों के कमांडरों पर डाल दे जो कार्य सेना पर आर्यसमाजियों के प्रचार का घातक प्रभाव डालने वाले हों। अब तक इस विषय में अफसरों का दृष्टिकोण इतना अनिश्चित रहा है कि वे संदिग्ध आर्यसमाजियों को सेना से मुक्त करते समय उन्हें इसका असली कारण अर्थात् समाज से सम्बन्ध रखना नहीं बताते हैं। इस प्रकार की कार्यवाही का किसी भी प्रकार से समर्थन नहीं किया जा सकता है और अंत में मामला अधिकाधिक खराब होता चला जायेगा; क्योंकि इस प्रकार सेना से विमुक्त किये जाने वाले व्यक्ति यह समझेंगे कि उनको गलत और अन्यायपूर्ण ढंग से सेना से हटा दिया गया है अथवा उनमें यह भावना पैदा होगी कि सरकार उनकी विमुक्ति का वास्तविक कारण बताने में भय खाती है।"

इसके बाद इस नोट में इस बात पर बल दिया गया था कि "अब तक समाज के साथ बहुत ही नरमी की नीति बरती गयी है और इसके बड़े घातक परिणाम हुए हैं। यह स्पष्ट है कि सेना में इसका प्रभाव निरन्तर इस मात्रा तक बढ़ गया है कि यदि इसे इस समय न रोका गया तो शीघ्र ही यह हमारे लिए वास्तविक संकट बन जायेगा। अब तक इस संकट को रोकने के लिए जिन उपायों का उपयोग किया गया है, वे समाज के प्रभाव को रोकने में सर्वथा असमर्थ रहे हैं। अब वह समय आ गया है जब इस समस्या का एकमात्र उपाय आर्यसमाज से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों की भरती को रोक देना है, और जो व्यक्ति इस समाज में सम्मिलित हैं अथवा इसके सदस्य बने रहना चाहते हैं उनके सेना में भरती पर प्रतिबंध लगा देना चाहिए।"

"सेना के विधि-विशेषज्ञ और महाधिवक्ता जज एडवोकेट जनरल थामसन इस विषय में अपनी सम्मति दे चुके हैं कि यदि यह कार्यवाही वांछनीय समझी जाय तो इसको कानूनी तौर से लागू करने में कोई आपत्ति नहीं है। इस प्रकार का प्रतिबंध लगा देने से सब लोगों को यह भलीभाँति ज्ञात हो जायेगा कि सरकार आर्यसमाज को घृणा और नाराजगी की दृष्टि से देखती है और आर्यसमाजी इस कारण भविष्य में इसमें भरती नहीं होंगे। जो इस समय सेना में आर्यसमाजी विचार रखते हैं वे भी अपनी आजीविका बनाये रखने के लिए इस समाज से कोई सम्बन्ध नहीं रखेंगे।" अंत में इस नोट में इस विषय में एडजुटेंट जनरल से तुरन्त कार्यवाही करने की प्रार्थना की गयी थी।

अंत में यह पत्रावली ए० ए० बारेट की १४-३-१० को लिखी एक टिप्पणी के साथ प्रधान सेनापति के समक्ष पहुँची। इसी समय भारत सरकार का गृह-विभाग आर्यसमाज के बारे में सरकार द्वारा अपनायी जाने वाली नीति पर विचार कर रहा था। इस विषय की पत्रावली वायसराय की परिषद् के सब सदस्यों में प्रचारित कर दी गयी थी। इस बात का उल्लेख करते हुए इस नोट में कहा गया था कि "हम यह नहीं जानते हैं कि गृह-विभाग आर्यसमाज के बारे में किस नीति का अनुसरण करेगा, किन्तु मेरी दृष्टि में हम इस समय सबसे अच्छी बात यह कर सकते हैं कि अपने कमांडिंग

आफिसरों से इस बात का पता लगायें कि उनके अधीन रेजीमेंटों में किस पद पर कितने व्यक्ति आर्यसमाजी हैं और क्या सामूहिक रूप से रेजीमेंट के अनुशासन और निष्ठा पर उनका प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है ? यह एक बड़ा नाजुक मामला है और यदि हम इस विषय में सरकार को आर्यों की भरती पर प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार लेने के लिए पत्र लिखना चाहते हैं तो हमारे पास वर्तमान समय में इसके जो प्रमाण हैं, उनसे कहीं अधिक निश्चित और ठोस प्रमाण होने चाहिएँ। दसवीं जाट सेना के कमांडिंग आफिसर की प्रार्थना पर पहले ही मैंने इसके लिए भरती करने वाले अफसर को यह कह दिया है कि वह इसमें अब भविष्य में आर्यों को भर्ती न करें, किन्तु मेरा विचार है कि हम सरकार की स्वीकृति के बिना समूची सेना के लिए ऐसी व्यवस्था नहीं कर सकते हैं।"

इस प्रकार बारेट ने मेजर बेली द्वारा सेना में आर्यसमाजियों की भरती पर प्रतिबन्ध लगाने के विचार का स्पष्ट विरोध किया। इसके बारे में सरकार की स्वीकृति को आवश्यक बताया, और अंत में इस बात पर बल दिया कि यदि महामहिम प्रधान सेनापति इस बात को पसंद करते हों तो सेना में आर्यसमाज के प्रभाव के बारे में पता करने के लिए कार्यवाही की जाय और गृह-विभाग को भी इस विषय में सूचित कर दिया जाय।

(७) प्रधान सेनापति का निर्णय

आठ दिन बाद २२-३-१० को प्रधान सेनापति ने आर्यसमाज-सम्बन्धी उपर्युक्त नोटों तथा टिप्पणियों पर अपनी सम्मति प्रकट करते हुए इस बात पर बल दिया कि सेना में आर्यसमाज से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों की भरती पर प्रतिबन्ध लगाने वाला एक आदेश फौरन जारी कर दिया जाना चाहिए। वे मेजर बेली द्वारा लिखे गये उपर्युक्त नोट से पूरी तरह सहमत थे, किन्तु बेली और बारेट ने इस बात पर बल दिया था कि पहले इस बात का पता लगाया जाना चाहिए कि सेना में आर्यसमाज का प्रभाव किस मात्रा तक बढ़ चुका है। इस विषय में विभिन्न रेजीमेंटों से पूरी सूचनाएँ मँगायी जानी चाहिएँ कि उनके अधीन सेनाओं में किस पद पर कितने आर्यसमाजी हैं और उनका सेना के अनुशासन पर क्या प्रभाव पड़ रहा है। इसके बाद ही आर्यसमाजियों की भरती पर कोई प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिए। पूरी जानकारी प्राप्त कर लेने के बाद ही पाबन्दी लगाने का आदेश जारी किया जाना चाहिए। किन्तु प्रधान सेनापति ने इससे असहमति प्रकट करते हुए कहा कि "मैं इस विषय में सुझाई गयी प्रक्रिया का क्रम उलट देना चाहता हूँ। पहले आर्यसमाज के सेना में प्रवेश को रोकने के लिए कदम उठाये जाने चाहिएँ और बाद में इस बात की जाँच की जानी चाहिए कि सेना में आर्यसमाज का प्रभाव किस मात्रा में है। इस बात की जाँच होने तक की अवधि के लिए आर्यसमाज के विरुद्ध कार्यवाही को स्थगित नहीं किया जाना चाहिए और उस पर तुरन्त प्रतिबन्ध लगाने का आदेश प्रसारित किया जाना चाहिए।"

प्रधान सेनापति का यह निर्णय बड़ा अटपटा था। वे शायद स्वयमेव इस बात को अच्छी तरह समझते थे, अतः उन्होंने इस सम्बन्ध में यह लिखा कि "इस विषय में जो आदेश जारी किया जाय, उसकी शब्दावली सुविचारित एवं सावधानीपूर्वक बनायी जानी चाहिए। उसमें इस बात को अच्छी तरह स्पष्ट किया जाना चाहिए कि आर्यसमाज

का आरम्भ एक धार्मिक संस्था के रूप में किया गया था और इस विषय में सरकार को कोई आपत्ति नहीं थी। किन्तु हाल की घटनाओं ने इस बात को भली-भाँति सिद्ध कर दिया है कि समाज की शिक्षाओं का राजनैतिक प्रभाव पड़ रहा है। इस विषय में प्रधान सेनापति ने एक लोकोक्ति (One fly would make a maund of sweet oil bad) का प्रयोग किया, जिसका आशय यह था कि एक ही मछली सारे तालाब को गन्दा कर देती है। सेना की राजभक्ति सदा कलंक से ऊपर तथा अनिन्द्य होनी चाहिए। **अतः यह निर्णय किया गया है कि भविष्य में कोई आर्यसमाजी सेना में भरती नहीं किया जाएगा।''**[1]

इसके बाद प्रधान सेनापति ने उपर्युक्त टिप्पणियों में उठायी गयी कुछ समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हुए लिखा कि "छठी तथा दसवीं जाट रेजिमेंटों में अन्य जातियों की दो कम्पनियाँ मिला देनी चाहिएँ ताकि वे विशुद्ध रूप से एक जाट जाति की रेजिमेंट न रहे। पिछली घटनाओं के कारण ऐसा करने के उचित कारण हैं और इसके साथ ही इनमें एक दूसरी जाति के सूबेदार मेजर की नियुक्ति की जाय।" तत्पश्चात् प्रधान सेनापति ने इस बात पर भी बल दिया कि अब तक इस विषय में पर्याप्त कार्यवाही नहीं की गयी है। मेरे पूर्ववर्ती लार्ड किचनर ने लिखा था कि 'हमें इस विषय में कुछ करना चाहिए। किन्तु मुझे इसमें सन्देह है कि कौन-सी कार्यवाही सर्वोत्तम रहेगी।' इसके बाद कमांडिंग आफिसरों को इस बात की चेतावनी देने वाला एक परिपत्र प्रसारित किया गया था कि वे इस मामले में सावधान रहें।

"किन्तु मुझे सन्देह है कि इस परिपत्र का कोई बड़ा प्रभाव पड़ा है। दसवीं जाट रेजिमेंट पर इसका कोई असर नहीं हुआ। पिछले दिनों जब मैं इलाहाबाद गया था तो ४८वीं पायोनियर्स सेना के कमांडेंट और सूबेदार मेजर ने मुझे यह विश्वास दिलाया था कि उस बटालियन में कोई आर्यसमाजी नहीं है। किन्तु कुछ दिनों के भीतर एक अन्य रेजिमेंट से यह पता लगा कि यह सूचना ठीक नहीं है। हम इस बात को जानते हैं कि आर्यसमाज का ११२वीं, १२३वीं, छठी और दसवीं जाट रेजिमेंटों तथा कुछ अन्य कोरों (Corps) में प्रभाव है। मुझे इस बात का खेद है कि पिछली सर्दियों में मैं भारतीय रेजिमेंटों का अधिक संख्या में निरीक्षण नहीं कर सका हूँ; किन्तु भविष्य में मैं अधिक दौरे करके इस बात का प्रयत्न करूँगा कि रेजिमेंटों के बारे में अधिक सही सूचना मिलती रहे।"

प्रधान सेनापति ने इस बात का उल्लेख किया कि "ईडर के मेजर जनरल सर प्रतापसिंह आर्यसमाजी हैं और मुझे वायसराय की परिषद् के माननीय सदस्य श्री गोखले ने निजी रूप से यह बताया है कि उनका इतने उच्च पद पर होना आर्य-समाज के राजभक्तिपूर्ण इरादों का सुन्दर प्रमाण है। मैं भी ऐसा हा मानता हूँ। लेकिन इस एक उदाहरण से मैं अपना दृष्टिकोण बदलने को तैयार नहीं हूँ। अनुभव यह बताता है कि अनेक राजभक्त और माननीय व्यक्ति आर्यसमाज के सदस्य हैं, किन्तु ऐसी राजनैतिक व धार्मिक संस्थाओं में प्रायः उग्रवादी लोग अधिक प्रभावशाली और हावी हो जाते हैं। आर्यसमाज के बारे में यही बात स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है। यह

१. होम पोलि० डिपाजिट, अगस्त १९१०, सं० ७, पृ० ३०२

पहले धार्मिक संस्था के रूप में शुरू हुआ। इसके बाद धार्मिक और राजनैतिक संस्था बन गया और अब यह निःसन्देह अधिकांश रूप से एक ऐसी राजनैतिक संस्था बन गया है जिसका सेना पर अधिक प्रभाव बढ़ने देना बड़ा खतरनाक होगा।"

प्रधान सेनापति की टिप्पणी के अन्त में सेना-विभाग को यह आदेश दिया गया था कि आर्यसमाजियों की भरती पर प्रतिबन्ध लगाने के बारे में भारत सरकार से स्वीकृति ले ली जानी चाहिए।

(८) गृह-विभाग का विरोध

प्रधान सेनापति का २२-३-१० का नोट जब गृह-विभाग की सम्मति जानने के लिए भेजा गया तो तत्कालीन गृह-सचिव और वायसराय की कौंसिल के होम-मेम्बर ने आर्यसमाजियों की सेना में भरती पर प्रधान सेनापति द्वारा आज्ञा प्रसारित करने के प्रतिकूल सम्मति दी और इस प्रस्ताव का विरोध किया। गृह-सचिव एच० ए० स्टुअर्ट ने २१-३-१० को प्रधान सेनापति के प्रस्तावित आदेश की आलोचना करते हुए लिखा था—"यदि सैनिक अधिकारी ऐसे आदेश जारी करते हैं कि सेना में आर्यसमाज के किसी सदस्य को भरती न किया जाय अथवा सेना का कोई अधिकारी या जवान आर्यसमाज का सदस्य नहीं रह सकता है तो यह बात निश्चित है कि इस विषय में भारत सरकार को आवेदनपत्र दिये जायेंगे, भारत-मंत्री को स्मृतिपत्र भेजे जायेंगे और पार्लियामेंट में प्रश्न उठाये जायेंगे।

"अतः हमें इस प्रकार के प्रस्तावित आदेशों से सहमति प्रकट करने से पहले इस बात का पूरा निश्चय कर लेना चाहिए कि उनके लिए पर्याप्त कारण और प्रमाण हैं। मुझे इस बात में सन्देह है कि हम इस कथन को उचित और युक्तियुक्त ठहरा सकते हैं कि आर्यसमाज एक राजद्रोह करने वाली संस्था है। इसके अनेक सदस्य ब्रिटेन के प्रति निश्चित रूप से राजभक्त हैं, और आर्यसमाज के सदस्य होने का अनिवार्य रूप से यह आशय नहीं है कि वे राजभक्त नहीं हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आर्य-समाज के बहुत-से सदस्य राजभक्त नहीं हैं। इसकी बहुत-सी शाखाएँ सामूहिक रूप से सरकार के विरुद्ध कार्य करती हैं, किन्तु क्या हम यह कहने को तैयार हैं कि आर्यसमाज का राजनैतिक पक्ष इतना प्रबल है कि उसने इसके धार्मिक पक्ष को दबा रखा है और यह संस्था विशुद्ध रूप से राजनैतिक संस्था है? वैयक्तिक रूप से मेरा यह विचार है कि पंजाब में समाज अनिवार्य रूप से राजनैतिक संस्था है। किन्तु मुझे इस बात का पूरा निश्चय है कि अन्य प्रान्तों में ऐसी स्थिति नहीं है। पंजाब के मामले में भी आर्य-समाज के अनिवार्य रूप से राजनैतिक होने की साक्षी बहुत प्रबल नहीं है। मैं साहसपूर्वक यह कहना चाहता हूँ कि ऐसे सैनिक आदेश प्रसारित करने से पहले पंजाब सरकार और संभवतः संयुक्त प्रान्त की सरकार से भी परामर्श लिया जाना चाहिए।"[1]

स्टुअर्ट के नोट से यह स्पष्ट था कि वे १९०७ ई० में लाला लाजपतराय की गिरफ्तारी के बाद हुई घटनाओं की पुनरावृत्ति नहीं करना चाहते थे। लालाजी के देश-निर्वासन के बाद भारत में तथा ब्रिटिश पार्लियामेंट में बड़ा तूफान उठ खड़ा हुआ था

१. पूर्वोक्त पत्रावली, पृ ३०४

और उस समय भारत-मन्त्री मार्ले को यह कहना पड़ा था कि लाला लाजपतराय की रिहाई के बिना वे पार्लियामेंट के अगले अधिवेशन में माननीय सदस्यों का सामना नहीं कर सकते हैं। इन सब परिस्थितियों ने भारत सरकार पर गहरा प्रभाव डाला था और वे जल्दी ही आर्यसमाज के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं करना चाहते थे। आर्यसमाज के राजद्रोही होने के बारे में अब तक जो भी प्रमाण एकत्र किये गये थे, वे भी भारत-सरकार के उच्च अधिकारियों को ऐसी उग्र कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त नहीं प्रतीत होते थे। वे सन्देह मात्र थे, सबूत नहीं थे। स्टुअर्ट ने तो पंजाब में भी आर्यसमाज के राजनैतिक होने पर सन्देह प्रकट किया था। इन सब कारणों से गृह-सचिव ने प्रधान सेनापति के प्रस्तावित आदेश के प्रतिकूल सम्मति प्रकट की।

उस समय वायसराय की कौंसिल के होम-मेम्बर एच० एडमसन थे। उन्होंने स्टुअर्ट की टिप्पणी के अगले ही दिन १-४-१० को सूत्ररूप में एक बड़ी प्रभावशाली टिप्पणी लिखते हुए स्टुअर्ट से सहमति प्रकट की। प्रधान सेनापति के सुझाव से मतभेद प्रकट करते हुए लिखा था, "मैं यह समझता हूँ कि महामहिम प्रधान सेनापति का प्रस्ताव है कि इस बात की सार्वजनिक उद्घोषणा सेना में कर दी जाय कि अब भविष्य में इसमें आर्यसमाजियों को भरती नहीं किया जायेगा। मेरा विचार है कि **इस प्रकार का बम विस्फोट करने से पहले हमारे पास इसके सुदृढ़ आधार होने चाहिएँ**[1] और यह स्पष्ट है इसमें सर्वप्रथम की जाने वाली कार्यवाही यह है कि इस प्रस्ताव पर पंजाब और संयुक्त प्रान्त की सरकारों की सम्मतियाँ मँगा ली जायें।" प्रधान सेनापति द्वारा इस विषय में सहमति प्रकट करने पर दोनों प्रान्तीय सरकारों को इस विषय में अपनी सम्मतियाँ शीघ्र ही भेजने को कहा गया और इस विषय में दोनों सरकारों के मुख्य सचिवों को पत्र भेजे गये।

(६) प्रान्तीय सरकारों की सम्मति

४ मई १९१० को पंजाब सरकार ने अपनी यह सम्मति प्रकट की कि "जब तक सेना के अधिकारियों के पास इस बात के अतीव निश्चित प्रमाण न हों कि आर्य-समाज सामूहिक संस्था के रूप में सेना में राजद्रोह का प्रचार कर रही है, तब तक लेफ्टिनैंट गवर्नर सामूहिक रूप से आर्यसमाज के विरुद्ध किसी प्रत्यक्ष कार्यवाही को नापसन्द करते हैं। उनका विचार है कि जो व्यक्ति ऐसी (राजद्रोही) कार्यवाही करें, उन पर ही कार्यवाही की जानी चाहिए।"

उत्तर प्रदेश सरकार ने अपने ११ मई के पत्र में कुछ अधिक विस्तार से इसी प्रकार की सम्मति प्रकट की। उन दिनों उत्तर प्रदेश के लेफ्टीनैंट गवर्नर जे० पी०-हिवेट छुट्टी पर गये हुए थे। उनके स्थान पर श्री पोर्टर स्थानापन्न गवर्नर का काम कर रहे थे। उनकी ओर से मुख्य सचिव ने यह बताया कि "संयुक्त प्रान्त के पश्चिमी जिलों में समाज का बड़ा प्रभाव है और इसके अधिकांश सदस्य विशुद्ध रूप से धार्मिक और सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति में लगे रहते हैं। फिर भी ऐसे उग्रवादियों की संख्या

---

१. वही, पृष्ठ ३०४, I think we ought to be on surer ground before such a bomb is exploded.

पर्याप्त है जो राजभक्त नहीं है और सरकार-विरोध कार्य करने में लगी रहती है। ऐसे व्यक्ति निश्चित रूप से असली खतरे की जड़ हैं, क्योंकि इन्होंने ही सामान्य रूप से इस समाज को बदनाम किया है और इसके प्रति सन्देह उत्पन्न किया है।

"लेफ्टीनैंट गवर्नर का यह विचार है कि इन दोनों वर्गों को परस्पर मिला देना और समूचे आर्यसमाज पर प्रतिबन्ध लगाना गलती होगी। गवर्नर ने इस विषय में एक ऐसे प्रस्ताव का भी उल्लेख किया जिसमें संयुक्त प्रान्त की सरकार को कहा गया था कि राजकीय नौकरियों से आर्यसमाजियों को निकाल दिया जाय, किन्तु सरकार ने इस प्रस्ताव को रद्द कर दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सैनिक अधिकारियों को जिस समस्या का सामना करना पड़ता है वह अलग प्रकार की होती है और संयुक्त प्रान्त की सरकार को इस विषय में सभी तथ्यों का पूरा ज्ञान नहीं है, फिर भी लेफ्टीनैंट गवर्नर इस बात के लिए तैयार नहीं है कि सेना-विभाग द्वारा दिये गये प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया जाना चाहिए।"[1]

संयुक्त प्रान्त की सरकार ने अपने उत्तर में आर्यसमाज के सम्बन्ध में और इसकी गुरुकुल तथा कॉलिज पार्टी के सम्बन्ध में विशेष तथ्यों का उल्लेख करते हुए अपने नोट में यह लिखा था कि "१८९३ से आर्यसमाज दो दलों में विभक्त है—(१) शाकाहारी या घासपार्टी (Vegetarian), (२) मांसाहारी (The meat-eaters)। इन दोनों में मतभेद चले आ रहे हैं। घासपार्टी का प्रधान कार्यालय जालंधर तथा मांसपार्टी का लाहौर में है। दोनों दलों में विवाद उत्पन्न होने पर मांसपार्टी के एक प्रमुख प्रवक्ता (संभवतः लाला लाजपतराय) ने इस बात पर बल दिया है कि आर्यसमाज का स्वरूप अधिक उदार तथा राष्ट्रीय होना चाहिए, जबकि घासपार्टी वाले पहले दल को राजनैतिक उद्देश्यों से प्रेरित होकर कार्य करने वाला बताते हैं। सामान्य रूप से यह देखा गया है कि **समाज की मांसपार्टी घासपार्टी की तुलना में राजनैतिक कार्यों से अधिक घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है।**[2] मांसपार्टी का केन्द्र दयानन्द एंग्लोवैदिक कॉलिज १८९५ से सरकार-विरोधी है। १९०७ में आर्यसमाज के प्रधान, उपप्रधान तथा प्रमुख सदस्यों ने एक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया था। इसमें स्पष्ट रूप से वैधानिक आन्दोलन के समर्थन की बात कही गयी थी और इसके साथ ही राजद्रोह तथा अवैधानिक साधनों के अवलंबन के प्रति घोर घृणा और नाराजगी की घोषणा की गयी थी। वर्तमान समय में आर्यसमाजियों की यही स्थिति समझी जानी चाहिए। इस समय भी आर्यसमाज के नेता राजनैतिक आन्दोलनों के प्रमुखतम नेताओं में से हैं। किन्तु अब वे इसे अधिक उदार एवं नरम विचारों के अनुसार चला रहे हैं और आर्यसमाज की बैठकों का उपयोग खुले तौर पर अब राजद्रोही विचारों के प्रसार के लिए नहीं किया जाता है।"

सेना-महाप्रशासक (Adjutant General) डिवीजन के मेजर बेली ने दोनों सरकारों की उपर्युक्त समितियों की संक्षिप्त चर्चा वाले अपने २१-५-१० के नोट में पुनः सेना-विभाग के प्रस्ताव का प्रबल समर्थन करते हुए लिखा—"किन्तु इस विषय में दूसरे पक्ष द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली निम्नलिखित बातों पर भी ध्यान रखा जाना चाहिए—

---

१. होम पोलिटिकल डिपार्टमेंट डिपोजिट, अगस्त १९१०, संख्या ७, पृष्ठ ३०९

२. क्रिमिनल इण्टेलिजेंस सरकुलर नम्बर १४, दिनांक २० दिसम्बर १९०९

१. यह सर्वविदित है कि आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द राष्ट्रीयता के उग्र समर्थक थे और शुरू से ही आर्यसमाजों के वार्षिकोत्सवों पर राजनैतिक विषयों की चर्चा होती रही है।

२. इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि अवैध रूप से आंदोलन चलाने का जिन आर्यसमाजियों पर सन्देह था, उनको सरकार द्वारा निर्वासन का दण्ड देने से पहले आर्यसमाज ने अपने सदस्यों की शरारतपूर्ण गतिविधियों को नियन्त्रित करने का कोई प्रयास किया था। यदि कोई ऐसे प्रयास किये गये थे तो वे निश्चित रूप से प्रभावकारी सिद्ध नहीं हुए हैं।

३. कालिज अथवा मांसपार्टी के कुछ प्रमुख नेता और इनके स्थानीय समाजों के प्रधान तथा उपप्रधान राजद्रोहपूर्ण कार्यवाइयों में सक्रिय रूप से लगे हुए हैं और वे अपने विचारों के प्रसार के लिए इस संगठन का उपयोग कर रहे हैं।

४. आर्यसमाज ईसाई मत का विरोधी है और यह शुद्धि-कार्य में भी अधिक क्रियाशील है। इसका यह परिणाम हुआ है कि अन्य धर्मावलम्बियों के साथ इनके संघर्ष अधिक बढ़ गये हैं।"

उपर्युक्त रूप में आर्यसमाज-विरोधी पक्ष प्रस्तुत करने के बाद मेजर बेली ने सेना की ओर से सेनापति के द्वारा की जाने वाली कार्यवाही का समर्थन करते हुए लिखा कि "महामहिम प्रधान सेनापति द्वारा प्रस्तावित कार्यवाही को उचित ठहराने के निम्न-लिखित कारण हैं और इस कार्यवाही से नागरिक विभागों में आर्यसमाज के सदस्यों को सेवा पर लगाने के बारे में सरकार की नीति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होगा।

१. घासपार्टी के बारे में यह कहा जाता है कि उसमें से बहुत-से लोगों ने सरकार के प्रति सक्रिय रूप से राजभक्त बने रहने की शपथ ली है। किन्तु सामान्य रूप से यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि शाकाहारी व्यक्ति सेना के लिए उपयुक्त नहीं होते हैं, इसलिए उनकी भरती नहीं की जाती है। यहाँ तक कि ब्राह्मणों में भी केवल मांसाहारी ब्राह्मणों को भरती किया जाता है और विशनोई तथा मांस न खाने वाले जाटों को भी सेना में नहीं लिया जाता है।

२. मांसाहारी पार्टी के अनेक नेता राजद्रोहपूर्ण गतिविधियों में लगे हुए हैं और उनकी स्वीकृत नीति ऊपर से तो वैध आंदोलन चलाने की है, किन्तु भीतर से वे अपने राष्ट्रीय आन्दोलन को बढ़ाने के लिए सरकार की आलोचना करते रहते हैं। अतः सेना के अनुशासन की दृष्टि से ऐसे व्यक्तियों को सेना में भरती करना ठीक नही होगा। दसवीं जाट सेना इसका सुन्दर प्रमाण है। इसमें सिपाहियों को आर्यसमाज के साथ सम्बन्ध रखने की अनुमति दे दी गयी थी। लेकिन इस बात के प्रमाण मिले हैं कि इस रेजीमेंट के बहुत-से सैनिकों को पहले आर्य बनने को कहा गया और उसके बाद उन्हें एक गुप्त क्रियाशील क्रान्तिकारी संस्था का सदस्य बनने की प्रेरणा की गयी। रेजीमेंट में आर्यसमाजियों के होने के कारण इस प्रवृत्ति को रोकने के कदम नहीं उठाए जा सके, और कमांडिंग आफिसर

तथा अन्य ब्रिटिश अधिकारियों को इस मामले की सही स्थिति उस समय तक नहीं पता लग सकी, जब तक नागरिक पुलिस ने इनसे सम्बन्ध रखने वाले कुछ राजद्रोही व्यक्तियों को नहीं पकड़ लिया।

३. यदि हम यह मान भी लें कि आर्यसमाज विशुद्ध धार्मिक संस्था है और इसका राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी भारतीय सेना में आर्यसमाजियों को लिये जाने पर वे पुराने सिपाहियों को आर्यसमाजी बनाने का अपना प्रयत्न जारी रखेंगे और कट्टरपन्थी इसका विरोध करेंगे। इससे सेना में फूट और झगड़े बढ़ेंगे।

इन युक्तियों के आधार पर संयुक्त प्रान्त और पंजाब के गवर्नरों की सम्मति प्रतिकूल होने पर भी सेना-विभाग द्वारा पुनः प्रधान सेनापति द्वारा आर्यसमाजियों की भरती पर लगाए जाने वाले प्रतिबन्ध के प्रस्ताव का समर्थन किया गया था। इसका मुख्य आधार यह था कि आर्यसमाजियों में घासपार्टी वाले राजभक्त हैं, किन्तु वे सेना की दृष्टि से बेकार हैं। मांसपार्टी वाले राजनीति में सक्रिय भाग लेने के कारण सेना के लिए अनुपयुक्त हैं। अतः आर्यसमाजियों पर सामान्य रूप से इस प्रतिबन्ध के लगाने के कोई दुष्परिणाम नहीं पैदा होंगे। सेना-विभाग की ओर से उपयुक्त टिप्पणी के साथ यह पत्रावली गृह-विभाग को भेज दी गयी और इसके साथ ही सेना-विभाग ने संयुक्त प्रान्त में आर्यसमाज की स्थिति पर उपपुलिस-अधीक्षक सी० ई० डब्ल्यू० सैण्ड्स द्वारा प्रणीत पुस्तक सेना-विभाग को भेजने के लिए लिखा गया।

प्रधान सेनापति ने सैण्ड्स की पुस्तक को पढ़ने के बाद २८-५-१० को पुनः अपने पहले प्रस्ताव का समर्थन करते हुए एक अन्य टिप्पणी लिखी—"सैण्ड्स की पुस्तक में जो कुछ लिखा है, उसमें मुझे सन्देह करने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि इसकी पुष्टि में मैंने अन्य कई स्रोतों से भी कुछ बातें सुनी हैं। यदि इस पुस्तक की बातें सही हैं तो **मेरी सम्मति में यह और भी अधिक आवश्यक हो जाता है कि सेना में आर्यसमाज के प्रसार को रोकने के लिए आवश्यक कदम उठाए जाएँ**। इस पुस्तक में सर मेकवर्थ यंग और सर डेंजिल इब्बटसन की सम्मतियाँ इस बात को पुष्ट करती हैं। यह बड़े दुःख की बात है कि जिस प्रकार मिस्टर सैण्ड्स ने संयुक्त प्रान्त के आर्यसमाज के बारे में रिपोर्ट लिखी है, वैसी कोई रिपोर्ट पंजाब के आर्यसमाज के कार्यों के बारे में नहीं लिखी गयी है।"[1]

प्रधान सेनापति की इस टिप्पणी से यह स्पष्ट था कि वे अपने पहले प्रस्ताव के लिए आग्रहशील थे। सैण्ड्स की पुस्तक से और विशेषरूप से इसमें पंजाब के दो भूतपूर्व गवर्नरों द्वारा आर्यसमाज के बारे में प्रकट की गयी सम्मतियों से वे बड़े प्रभावित थे और यह चाहते थे कि इस विषय में उनके प्रस्ताव पर गृह-विभाग द्वारा जल्दी कार्यवाही की जाय।

(१०) गृह-विभाग का दृष्टिकोण

सेना-विभाग की तरह गृह-विभाग भी इस विषय में अपनी पूर्वसम्मति पर अटल

---

१. पूर्वोक्त पत्रावली पृ० ३१३-१४।

था। गृहसचिव ए० अर्ली (Earle) ने ९-६-१० को अपनी टिप्पणी में यह लिखा कि "पंजाब तथा संयुक्त प्रान्त की सरकारों के उत्तर-प्रधान सेनापति के प्रस्ताव के बारे में प्राप्त हो गये हैं। दोनों सरकारों का यह कहना है कि पूरे आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था घोषित करना **अधिकतम अबुद्धिमत्तापूर्ण** (Most unwise) **कार्य होगा**[1] और राजद्रोही व्यक्तियों या समाजों के विरुद्ध पृथक् रूप से कार्यवाही की जानी चाहिए। सेना-विभाग ने आर्यसमाज पर लिखी सैण्ड्स की पुस्तक देखी है और महामहिम प्रधान सेनापति इस पुस्तक को पढ़ने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सेना में आर्यसमाज के प्रसार को रोकना आवश्यक है। गृह-विभाग को अब निम्नलिखित दो बातों पर परामर्श देना है—

(१) जिन जातियों में से सैनिकों की भरती की जाती है, उनमें आर्यसमाज के प्रसार को रोकने के लिए क्या कार्यवाही की जाय ?

(२) क्या सेना में आर्यसमाजियों की भरती पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए ?

पहले प्रश्न के बारे में इससे सम्बद्ध पत्रावली में भारत सरकार का यह निर्णय अंकित है कि **यह असम्भव है कि पूरे आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था के रूप में अवैध घोषित किया जाय।** गैरकानूनी कार्य करने वाले व्यक्तियों और समाज की शाखाओं पर पृथक् एवं व्यक्तिगत रूप से तुरन्त कार्यवाही की जानी चाहिए। संयुक्त प्रान्त और पंजाब के लेफ्टीनैंट गवर्नरों को समाज की सर्वोच्च संस्थाओं—प्रतिनिधि सभाओं के सदस्यों एवं आर्य नेताओं को राजभक्ति के लिए प्रेरित और प्रभावित करना चाहिए।

"दूसरा प्रश्न बड़ा जटिल है। मैं समुचित सम्मान के साथ यह कहना चाहता हूँ कि ऐसी घोषणा करना अबुद्धिमत्तापूर्ण और अनावश्यक है कि भविष्य में किसी भी आर्य-समाजी को सेना में भरती नहीं किया जायेगा। ऐसी घोषणा का यह परिणाम होगा कि भारत और इंग्लैण्ड में इसके विरुद्ध प्रबल आन्दोलन उठ खड़ा होगा। मैं यह नहीं समझ पा रहा हूँ कि सेना-विभाग ऐसी औपचारिक घोषणा के बिना ही सेना में आर्य-समाजियों की भरती के मामले में अपने विवेक का प्रयोग करते हुए उनका प्रवेश क्यों नहीं रोक सकता है। सेना-विभाग के २१ मई के नोट से स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त मान लिया गया है कि घासपार्टी वाले शाकाहारी सेना के लिए उपयुक्त नहीं हैं और इसलिए उनकी भरती नहीं की जानी चाहिए; ब्राह्मणों में भी मांसाहारियों की ही भर्ती की जाती है। इस प्रकार का विवेक भरती के अन्य मामलों में भी प्रयुक्त किया जा सकता है। मुझे इस बात का कोई कारण समझ में नहीं आता है कि अपने विवेक का प्रयोग करते हुए सेना के अधिकारी आर्यसमाजियों के सेना में प्रवेश को कुछ विशेष रेजीमेंटों और क्षेत्रों में क्यों नहीं रोक सकते हैं ?[1] वे यह कह सकते हैं कि अमुक प्रदेशों के आर्यसमाजी राजद्रोहपूर्ण प्रवृत्तियों में लगे हुए हैं, अतः उन स्थानों के आर्यों को भरती न किया जाय। मेरी सम्मति में ऐसा करना अधिक वांछनीय होगा। इसके लिए कोई सामान्य नियम बनाने की न तो आवश्यकता है और न ही ऐसा करना उपयुक्त होगा। विभिन्न वैयक्तिक मामलों का निर्णय वहाँ की व्यक्तिगत परिस्थितियों व गुण-दोष के आधार पर होगा।"

इसी प्रकार की सम्मति होम-मेम्बर जे० एल० जेन्किन्स ने प्रकट करते हुए लिखा

---

१. पूर्वोक्त पत्रावली, पृ० ३१४

कि "वर्तमान समय में आर्यसमाजियों के सेना में प्रवेश पर लगाया जाने वाला कोई सामान्य और सार्वजनिक प्रतिबन्ध सर्वथा अनुपयुक्त होगा। किन्तु इसके साथ ही मैं इस बात की आवश्यकता स्वीकार करता हूँ कि नागरिक विभागों की अपेक्षा सेना में प्रवेश के बारे में बड़ी कठोर सावधानियाँ बरती जानी चाहिएँ। सेना के अधिकारियों को इसमें पूरी स्वतन्त्रता है कि वे कुछ रेजीमेंटों और जिलों से आर्यसमाज के सदस्यों को भरती करने से इनकार करें अथवा सिपाहियों को सेवाकाल में आर्यसमाज की बैठकों में सम्मिलित होने से रोकें। रंगरूट भरती करने वाले अधिकारियों को जिला-अधिकारियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखना चाहिए ताकि उन्हें उस क्षेत्र की पूरी जानकारी मिलती रहे और वे उसके अनुसार कार्य करें। यदि इस प्रकार की सावधानियाँ बरती जायँ तो सम्भवतः कोई समस्या उत्पन्न नहीं होगी।"

अपने नोट के अन्त में गृह-सदस्य ने एक नयी बात यह लिखी थी कि "हम यह जानते हैं कि आर्यसमाज मुसलमानों का कट्टर विरोधी है और दोनों में घोर संघर्ष है। आर्यसमाज के सिद्धान्त कट्टरपंथी, रूढ़िवादी (सनातनी) हिन्दुओं को भी घृणाजनक प्रतीत होते हैं, और ब्राह्मणवाद अभी तक इस देश में एक बड़ी शक्ति है। यदि समाज को इस मामले में खुला छोड़ दिया जाता है और इसमें कोई नया महान् नेता नहीं उत्पन्न होता है तो इस बात की सम्भावना है कि यह समाज छोटे-छोटे मतों में बँट जायेगा और सरकार के लिए कोई खतरा नहीं होगा।"

इस प्रकार जब सेना-विभाग और गृह-विभाग अपने-अपने दृष्टिकोण पर अड़े हुए थे तो इस पत्रावली को अन्तिम निर्णय के लिए तत्कालीन वायसराय लार्ड मिण्टो के पास भेजा गया। १७-६-१० को मिण्टो ने इस मामले में दिये गये अपने आदेश में गृह-विभाग का समर्थन करते हुए लिखा—

"मेरी सम्मति में समूचे आर्यसमाज को राजद्रोही होने के कारण अवैध घोषित करना एक **गम्भीर राजनैतिक गलती होगी**। सेना के लिए आर्यसमाजियों की भर्ती पर लगाये जाने वाले भारत सरकार के निर्णय को इसी रूप में देखा जायेगा। मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि ऐसा निर्णय भारत में और इंग्लैंड में भयंकर विरोध उत्पन्न करेगा।

"इस समस्या के समाधान का सर्वोत्तम उपाय गृह-सदस्य मिस्टर जेन्किन्स की दो टिप्पणियों में बता दिया गया है। मैं इस बात की ओर विशेष ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ कि सेना के लिए भरती करने वाले अधिकारियों के लिए यह आवश्यक है कि वे जिला अधिकारियों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क बनाये रखें। जिन जिलों में ये अधिकारी उपयुक्त न समझते हों, वहाँ आर्यसमाजियों की भरती नहीं होनी चाहिए और जो आर्य-समाजी इन जिलों से भरती हुए हैं, उनके मामलों पर वैयक्तिक गुण-दोष के आधार पर कमांडिंग अफसरों को निर्णय करना चाहिए।"

इस प्रकार इस लम्बे विवाद का पटाक्षेप हुआ और वायसराय के आदेश के अनुसार सेना-विभाग को गृह-विभाग की सहमति से आवश्यक आदेश प्रसारित करने का निर्देश दिया गया। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि सेना-विभाग ने वायसराय के आदेश कार्यान्वित करने के लिए शुरू में जिन नियमों का मस्विदा तैयार करके गृह-विभाग के पास स्वीकृति के लिए उसमें पुनः प्रधान सेनापति की इच्छा का पालन किया गया था। गृह-

विभाग ने इन नियमों की शब्दावली में वायसराय के आदेशों के अनुरूप संशोधन किया और इसके बाद ही ये नियम सेना में प्रचारित किये गये।[1] सेना-विभाग को आर्य-समाजियों पर सेना-प्रवेश पर पाबन्दी लगाने में सफलता नहीं मिल सकी।

(११) निष्कर्ष तथा परिणाम

उपर्युक्त विवरण से उस समय आर्यसमाज के प्रति सरकारी विचारधारा के बारे में कई महत्त्वपूर्ण बातों का पता लगता है और यह ज्ञात होता है कि सभी ब्रिटिश अधिकारी समाज के उतने प्रबल विरोधी नहीं थे जैसा प्रायः समझा जाता है। इस विषय में पहला उल्लेखनीय निष्कर्ष यह है कि सेना-विभाग आर्यसमाज के विरुद्ध अधिक उग्र एवं कठोर कार्यवाही के लिए कटिबद्ध था। उसने अपनी ओर से इस बात का पूरा प्रयत्न किया कि आर्यसमाज पर व्यापक रूप से सेना में प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय, किन्तु गृह-विभाग के उच्च अधिकारी अधिक उदार, दूरदर्शी, समझदार और विवेकशील थे। वे सम्भवतः १९०७ में सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता लाला लाजपतराय की गिरफ्तारी और देश-निर्वासन का दण्ड दिये जाने के बाद हुए प्रबल आन्दोलन की पुनरावृत्ति नहीं करना चाहते थे। उन्हें आर्यसमाजियों की योद्धावृत्ति और आन्दोलन करने की शक्ति का अधिक सही ज्ञान था। इसके साथ ही उन्हें सम्भवतः सेना-विभाग और गुप्तचर-विभाग की रिपोर्टों पर पूरा विश्वास नहीं था। इन रिपोर्टों में आर्यसमाजियों के विरुद्ध राजद्रोह के कोई ठोस प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये गये थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि गृह-विभाग इस विषय में सेना-विभाग का समुचित पथप्रदर्शन और नियन्त्रण न करता और वायसराय आर्यसमाज के अनुकूल निर्णय न करते और आर्यसमाज पर सामान्य रूप पर प्रतिबन्ध लगाने वाला नियम बनाया जाता तो अवश्यमेव एक नया आन्दोलन उठ खड़ा होता।

दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य यह था कि आर्यसमाज के प्रति दो बड़े प्रान्तों की नीति में बड़ा अन्तर था। पंजाब का उत्तर अतीव संक्षिप्त था। १९०७ की घटनाओं के समय पंजाब सरकार ने आर्यसमाज के प्रति बड़ी कठोर कार्यवाही की थी। सरकारी नौकरियों में भी उन पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये थे। किन्तु शनैः-शनैः इस नीति में बड़ा अन्तर आ गया था और लेफ्टीनैंट गवर्नर लुईस डेन के कार्यकाल में यह नीति इतनी उग्र नहीं रही थी।

संयुक्त प्रान्त की सरकार का उत्तर अधिक विस्तृत, गम्भीर और दूरदर्शितापूर्ण था। इसमें यह कहा गया था कि इस समाज के कार्यों पर कई वर्षों से दृष्टि रखी जा रही है। यद्यपि कुछ व्यक्तियों पर राजद्रोह के मामले चलाये गये हैं, किन्तु सारा समाज राजद्रोही नहीं है। इसके अधिकांश सदस्य इस संस्था के धार्मिक और सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति में लगे रहते हैं। पंजाब में आर्यसमाजियों को सरकारी नौकरियों में परेशान करने की और हटाने की जो नीति सर डेंजिल इब्बटसन के समय में शुरू की गयी थी, वैसी नीति का प्रस्ताव संयुक्त प्रान्त में भी रखा गया था। किन्तु सरकार ने इसको रद्द कर दिया था। इसका यह कारण बताया था कि "समाज अब सुप्रतिष्ठित

---

१. पूर्वोक्त पत्रावली, पृ० ३१९-२०

हो चुका है और ऐसे समाज की सहानुभूति खोना सरकार के लिए अच्छी नीति नहीं होगी जिसके अधिकांश सदस्य राजनैतिक प्रचार में कोई भाग नहीं लेते हैं।"

इस पत्रावली से तत्कालीन प्रशासन की कार्यक्षमता पर भी सुन्दर प्रकाश पड़ता है। उस समय फाइलों का निपटान बड़ी तेजी से किया जाता था। आजकल एक ही सरकारी कार्यालय में एक फाइल के एक अधिकारी की मेज से दूसरे अधिकारी की मेज तक पहुँचने में महीनों लग जाते हैं और महत्त्वपूर्ण मामलों का निर्णय वर्षों तक टलता रहता है। किन्तु उस समय पत्रावलियाँ तीव्र गति से चलाई जाती थीं। उपर्युक्त महत्त्व-पूर्ण मामले पर निर्णय साढ़े तीन महीने की अल्प अवधि में ही हो गया था। इस विषय में सेना-विभाग के महाप्रशासक (Adjutant-General) डिवीजन के मेजर वेली ने पहला नोट १-३-१० को लिखा था और इस पर वायसराय का निर्णय १७-६-१० को हुआ था।

उपर्युक्त विवरण से यह भी स्पष्ट होता है कि उस समय सेना में आर्यसमाज-विरोधी हवा तेजी से चल रही थी। आर्यसमाज के प्रति तटस्थ अथवा यथार्थ दृष्टिकोण रखने वालों को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। कर्नल प्रेसी इसका सुन्दर उदाहरण है। चूँकि उसने आर्यसमाजी सिपाहियों में कोई राजद्रोही प्रवृत्तियाँ नहीं पायी थीं और सत्यार्थप्रकाश को भी राजद्रोह से रहित बताया था, इसलिए सैनिक अधिकारियों द्वारा उसकी जल्दी छुट्टी कर दी गयी थी।

प्रधान सेनापति का रवैया आश्चर्यजनक और आर्यसमाज का प्रबल विरोधी था। उन्होंने इस प्रश्न पर अपने पूर्वाधिकारी लार्ड किचनर की भाँति दूरदर्शिता और उदारता नहीं दिखाई; उतावलापन और अपरिपक्वता प्रदर्शित की। महाप्रशासक का कार्यालय और उनके निचले अधिकारी सेना में आर्यसमाज के प्रभाव की मात्रा की पूरी जाँच करने के बाद ही आर्यसमाजियों की भरती पर प्रतिबन्ध लगाना चाहते थे, किन्तु उन्होंने इस बुद्धिमत्तापूर्ण सुझाव की अवहेलना करते हुए आर्यसमाजियों के विरुद्ध तुरन्त आदेश प्रसारित करने का निर्णय लिया, जो गृह-विभाग तथा वायसराय द्वारा स्वीकार नहीं किया गया।

तेरहवाँ अध्याय

आर्यसमाज का राजनैतिक उत्पीड़न

पिछले अध्यायों में वर्णित कारणों से सरकारी अधिकारियों ने आर्यसमाज को सन्देह की दृष्टि से देखना शुरू कर दिया। १९०६-७ में गोरे अखबारों ने आर्यसमाज के राजद्रोही होने का ढोल पीटना आरम्भ कर दिया। सरकार इस प्रचार से बहुत प्रभावित हुई। वह अब आयसमाजियों को धर्म एवं समाज का सुधारक नहीं, अपितु राजद्रोह का नेतृत्व करने वाले क्रान्तिकारियों की संस्था समझने लगी।[1] समाज के सत्संगों को उसके विरोधी बगावत की बैठकों के रूप में बदनाम करने लगे। सरकारी अधिकारियों पर इनका इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि पंजाब के गवर्नर सर डेंजिल इब्बटसन ने आर्यसमाजियों के एक डेपूटेशन को कहा कि उसे विभिन्न जिलों के डिप्टी कमिश्नरों ने बताया है कि जहाँ-जहाँ आर्यसमाज हैं, वहाँ-वहाँ सर्वत्र राजद्रोह की चर्चा की जाती है।[2] इन अधिकारियों को आर्यसमाज का स्वदेशी और स्वावलम्बन का समर्थन तथा सर्वथा स्वतन्त्र रूप से सरकार से सहायता न लेते हुए शिक्षासंस्थाओं, अनाथालयों आदि का संचालन घोर आपत्तिजनक और असह्य प्रतीत हो रहा था। लाला लाजपतराय आर्यसमाज के प्रमुख नेता थे। उन पर बिना मुकद्दमा चलाये, उन्हें देश-निर्वासन का दण्ड दिये जाने से सरकारी अधिकारियों में आर्यसमाजियों को विद्रोही समझने तथा उनका दमन और उत्पीड़न करने की भावना प्रबल होने लगी। इस समय सरकार आर्यसमाजियों के साथ विद्रोहियों का व्यवहार करने लगी और उनका भीषण दमन किया जाने लगा। आर्य-समाजियों की एक बड़ी संख्या सरकारी कर्मचारियों की थी। सरकार के लिये इनको परेशान करना, सरकारी सेवा से हटाना तथा दण्डित करना आसान था। १९०७ से १९१० तक यह कार्य बड़े पैमाने पर किया गया।[3] इस अध्याय में इस प्रकार के दमन के कुछ उदाहरण दिये जायेंगे; किन्तु इससे पहले आर्यसमाजियों के दमन की प्रक्रिया का वर्णन उचित प्रतीत होता है।

(१) दमन की प्रक्रिया

लाला लाजपतराय सरकारी दमन का शिकार हुए थे। उन्हें बिना मुकद्दमा चलाये देश-निर्वासन का दण्ड दिया गया था। पंजाब सरकार पूरा प्रयत्न करने पर भी

---

१. सिलेक्शन्स फ्राम दि नेटिव न्यूजपेपर्स, पंजाब, खंड १, १९०७, पृ० ४८२-८३

२. ट्रिब्यून, २८ मई १९०७, पृ० १

३. लाला लाजपतराय—आर्यसमाज, लाहौर, १९३२, पृ० १९६

उनके विरुद्ध ऐसे प्रमाण एकत्र नहीं कर सकी थी जिससे खुली अदालत में उन पर अभियोग चलाकर दण्डित किया जा सकता, अतः उन्हें एक पुराने कानून १८१८ के रेग्यूलेशन ३ के अन्तर्गत अपनी सफाई का कोई अवसर दिये बिना निर्वासित किया गया। इसी प्रकार समाज के सैकड़ों व्यक्तियों को निर्दोष होते हुए केवल आर्यसमाजी होने के कारण दण्डित किया जाने लगा। भुक्तभोगी होने तथा आर्यसमाज के भीषण दमन का साक्षी होने के कारण लाला लाजपतराय ने पंजाब में सरकार द्वारा अपनायी जाने वाली प्रक्रिया का बड़ा सुन्दर विश्लेषण करते हुए लिखा है—

"सरकार शुरू से ही आर्यसमाज के आन्दोलन को सन्देह तथा अविश्वास की दृष्टि से देखती थी। आर्यसमाज के जो नेता सरकारी सेवा में थे, वे अविश्वास की इस नीति का पहला शिकार हुए। उनकी कड़ी परीक्षा ली गई। उनकी पदोन्नतियाँ रोक दी गईं। उनके तबादले बार-बार किये जाने लगे। विभिन्न प्रकार से उन्हें यह अच्छी तरह समझा दिया गया कि यदि सरकार के प्रति उन्होंने अपना रवैया नहीं बदला तो उन्हें हानि उठानी पड़ेगी। जो आर्यसमाजी ऊँचे सरकारी पदों पर थे उन्होंने सबसे पहले सरकार के आगे घुटने टेके। दूसरे दर्जे पर वे कर्मचारी थे, जो न्यायपालिका, कार्य-पालिका के निम्न पदों पर काम करते थे, इन विभागों में तथा प्रशासन-विभाग में ऊँचे पदों को प्राप्त करने की आकांक्षा रखते थे। समाज में वस्तुतः ऐसे लोगों की संख्या अधिक थी और उन्होंने ही सरकार को समाज द्वारा राजनैतिक आकांक्षायें रखने का संदेह करने का अवसर प्रदान किया था। विभागों के अध्यक्ष ऐसे कर्मचारियों के सरकारी काम तथा सरकारी व्यवहार और आचरण में कोई दोष नहीं निकाल सकते थे, खुली सरकारी रिपोर्टों में वे सदैव उनकी बड़ी प्रशंसा करते थे। किन्तु गोपनीय रिपोर्टों में इनकी राजनैतिक मनोवृत्ति तथा गुप्तरूप से किये जाने वाले प्रचार-कार्य पर प्रतिकूल टिप्पणियाँ लिखी जाती थीं। उच्च अधिकारी उनकी स्वतन्त्र मनोवृत्ति और व्यवहार को नापसंद करते थे और कई बार इसे स्पष्ट रूप से प्रकट भी कर देते थे। उन्हें अपनी देशभक्ति के कारण सरकारी अधिकारियों से अपमानित होना पड़ता था। उन्हें अपने देश-प्रेम की भारी कीमत चुकानी पड़ती थी।.....अन्त में विवश होकर वे हार मान लेते थे, अपना मत बदल लेते थे।"[१]

इस प्रकार सरकार की वक्रदृष्टि और कठोर व्यवहार आर्यसमाजियों की देशभक्ति पर हावी होने लगे वे और आर्यसमाज छोड़ने लगे। इससे उन्हें होने वाले लाभ तथा सुपरिणाम शीघ्र ही दृष्टिगोचर होने लगे थे। "उनके पद तथा वेतन में वृद्धि होने लगती थी, उन्हें सरकारी सम्मान और उपाधियाँ मिलने लगी थीं, उन्हें जल्दी-जल्दी जिम्मेदारी व ऊँचे पद दिये जाते थे।"[२] जब तक सरकारी महाप्रभु उन पर कुपित रहते थे, वे सभी प्रकार की पदोन्नति और सम्मान से वंचित थे। किन्तु जब महाप्रभु उनसे सन्तुष्ट और प्रसन्न होते थे तो उन पर सब प्रकार के वरदानों और कृपाओं की वृष्टि होने लगती थी। सरकारी अधिकारियों के इस आचरण से आर्यसमाज के वातावरण में मौलिक परिवर्तन आने लगा। सरकारी सेवा करने वाले आर्यसमाजी पदाधिकारियों के

---

१. लाला लाजपतराय—आर्यसमाज, लाहौर, १९३२, पृ० १९६

२. वही पुस्तक, पृ० १९६

चुनाव के बारे में आर्यसमाज पर प्रभाव डालने लगे। अब तक समाज ने सरकारी कृपायें प्राप्त करने का कोई प्रयास नहीं किया था। उन्होंने अपने विद्यालयों, महाविद्यालयों के लिए किसी प्रकार की सहायता की याचना नहीं की थी। उन्होंने अपने अनाथालयों के लिए कोई मदद नहीं माँगी थी। वे उच्च सरकारी अंग्रेज अधिकारियों को अपनी संस्थाओं में निरीक्षण के लिए अथवा उनके विभिन्न समारोहों पर निमंत्रित नहीं करते थे। वे सरकारी या अर्धसरकारी समारोहों में सम्मिलित नहीं होते थे। वे किसी भी रूप में सरकार के आगे घुटने नहीं टेकते थे। लाहौर में वे अपने स्कूलों में सरकारी इंस्पेक्टरों को निरीक्षण के लिए नहीं आने देते थे। किन्तु इसके बाद इस नीति में बड़ा परिवर्तन आने लगा।[1] आगे यथास्थान इसका उल्लेख किया जायेगा।

आर्यसमाज को इसके शैशव-काल से ही ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा संदेह की दृष्टि से देखा जाता था, अतः पंजाब में आर्यों का दमन पिछली शताब्दी के अन्तिम चरण में ही आरम्भ हो गया था। १८८९ ई० में सर जेम्स लायल के आदेश से छः आर्य छात्र सैण्ट्रल ट्रेनिंग कालेज से निकाले गये थे। 'आर्य पत्रिका' ने २० दिसम्बर १८८९ के अंक में इस आदेश की आलोचना की तथा लेफ्टिनैण्ट गवर्नर से इसे रद्द करने की प्रार्थना की। इसी वर्ष तीन अन्य छात्रों को इसी कालेज से निकाला गया क्योंकि उन्होंने एक पुस्तिका लिखकर यह प्रदर्शित किया था कि स्वामीजी का यजुर्वेद का वेदभाष्य महीधर के भाष्य से उत्कृष्ट है। कट्टरपन्थी सनातनी हिन्दुओं ने इस पर बड़ा शोर मचाया, आन्दोलन किया, सरकार को स्मृतिपत्र भेजे गये कि इसे अश्लील होने के कारण जब्त कर लिया जाय। सरकार ने इसे ऐसा समझा और छात्रों को निष्कासन का दण्ड दिया। ३ जुलाई १८९० को 'वैदिक धर्म एण्ड जयपत्री' तथा 'आर्य पत्रिका' के सम्पादकों को गिरफ्तार किया गया क्योंकि उन्होंने शिवनारायण अग्निहोत्री के विरुद्ध एक रिपोर्ट छापी थी।[2] किन्तु दमन की अधिकांश घटनायें १९०७ में लाला लाजपतराय की गिरफ्तारी के बाद हुईं, जब स्पष्ट रूप से आर्यसमाज को राजद्रोही समझा जाने लगा। अब इनका उल्लेख किया जायेगा।

(२) लक्ष्मणराव शर्मा का मामला

श्री लक्ष्मणराव इन्दौर राज्य में राजकीय पुलिस के महानिरीक्षक के कार्यालय में प्रधान लेखाकार थे। वे इन्दौर आर्यसमाज के प्रधान भी थे और इस हैसियत से उन्होंने २१, २२, २३ जून १९०७ को होने वाले आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर नगर-कीर्तन का जुलूस निकालने की अनुमति मैजिस्ट्रेट से प्राप्त की। एक महीना पहले मई १९०७ में लाला लाजपतराय के देश-निर्वासन के कारण जनता में प्रबल असन्तोष था। अतः सरकारी अधिकारियों के लिए यह बड़ी घबराहट और चिन्ता का वर्ष था। उच्च सरकारी अधिकारियों का दबाव पड़ने के कारण मैजिस्ट्रेट को अपनी पहली आज्ञा में पर्याप्त संशोधन करना पड़ा। इस समय इन्दौर के महाराजा नाबालिग थे, शासन का सारा कार्य एक परिषद् (Council of Regency) द्वारा किया जा रहा था। यह ब्रिटिश रेजिडेण्ट के इशारे पर सब कार्य करती थी। अतः जब ब्रिटिश भारत में राष्ट्रीय

---

१. वही पुस्तक, पृ० १९७

२. भारत सुधार, २८ दिस० १८८९

आन्दोलन तथा आर्यसमाज के प्रति दमन की नीति अपनाई गई तो इन्दौर में भी इसका अनुसरण किया गया।

पुलिस के महानिरीक्षक को ज्यों ही श्री लक्ष्मणराव के आर्यसमाजी होने का पता लगा तो उन्होंने तत्काल श्री राव को अपने कार्यालय में बुलाया। उनका महानिरीक्षक से निम्नलिखित वार्तालाप हुआ—

महानिरीक्षक—क्या आप आर्यसमाजी हैं ?

लक्ष्मणराव—हाँ, श्रीमन् ! मैं आर्यसमाजी हूँ।

म०—क्या आप आर्यसमाज की गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं ?

ल०—मैं इस वर्ष आर्यसमाज का प्रधान हूँ।

म०—क्या आप मैजिस्ट्रेट से नगर-कीर्तन के जुलूस की अनुमति लेने गये थे ?

ल०—जी हाँ।

इस पर महानिरीक्षक ने श्री राव को आर्यसमाज से तत्काल पृथक् हो जाने की आवश्यकता पर एक लम्बा भाषण दिया और साथ ही ऐसा करने पर उन्हें पदोन्नति के आकर्षक प्रलोभन दिये। श्री राव ने बार-बार उनसे यह पूछा कि उन्हें आर्यसमाज से क्या शिकायतें हैं ? वे इस बारे में उनकी भ्रान्तियाँ दूर करना चाहते थे। उनका यह कहना था कि आर्यसमाज के कुछ विरोधी वर्तमान राजनैतिक आन्दोलन और अशान्ति का लाभ उठाते हुए यूरोपियन अधिकारियों के कान आर्यसमाज के विरुद्ध झूठमूठ भरते रहते हैं; उनकी इन शिकायतों में वस्तुतः कोई सचाई नहीं होती है। पुलिस महानिरीक्षक ने इन बातों का कोई उत्तर नहीं दिया और श्री राव को कहा—"मैं आपको बहुत ही अच्छा अधिकारी समझता हूँ। मुझे आपसे कोई शिकायत नहीं है, किन्तु मैं आपसे इस कारण बहुत नाराज हूँ कि आप ऐसी राजद्रोही संस्था के कार्यों में भाग ले रहे हैं।"

इसके बाद उन्होंने उन दिनों इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाले पायोनियर नामक एंग्लोइंडियन दैनिक पत्र से एक पैराग्राफ पढ़कर सुनाया। इसमें कहा गया था कि पंजाब की सरकार आर्यसमाज को एक राजद्रोही संस्था समझती है। इस बारे में महानिरीक्षक ने जब श्री राव की सम्मति जाननी चाही तो उन्हें उत्तर मिला—"मेरा अन्तःकरण यह कहता है कि आर्यसमाज राजद्रोही संस्था नहीं है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, यह विशुद्ध रूप से धार्मिक संस्था है। इसका प्रधान होने के नाते मेरे लिए यह अत्यन्त अपमानजनक होगा कि मैं अन्तिम समय में इसे छोड़ दूँ। अतः मेरा आपसे नम्र निवेदन है कि आप मुझे इस जुलूस में शामिल होने दें, इसके बाद मैं आपके आदेशों का पालन करने का प्रयास करूँगा।" किन्तु महानिरीक्षक अपनी इस जिद पर अड़े हुए थे कि वे आर्यसमाज से अलग हो जायें। जब श्री राव ने यह बात नहीं मानी तो महानिरीक्षक ने धमकी देते हुए कहा—"आप इस जुलूस में किसी भी दशा में सम्मिलित नहीं हो सकते हैं। यदि आप ऐसा करेंगे तो आपको नौकरी से बर्खास्त कर दिया जाएगा और आप पर मुकद्दमा चलाया जाएगा।"

श्री राव ने इस धमकी का दो टूक उत्तर देते हुए बड़ी निर्भीकता से कहा—"चाहे कुछ भी हो, कैसा भी खतरा क्यों न हो, मैं नगर-कीर्तन के जुलूस में अवश्य सम्मिलित होऊँगा। मैं नौकरी के लिए अपने धर्म से धोखा नहीं कर सकता हूँ।"

अपने धर्म की रक्षा के लिए श्री राव ने नौकरी पर लात मारने में कोई संकोच नहीं किया। उन्हें १९०७ के राजनैतिक वातावरण में राजद्रोही संस्था का सदस्य होने के कारण अपनी नौकरी से त्यागपत्र देना पड़ा। उनकी गणना धार्मिक विश्वासों के लिए शहीद होने वालों में की जा सकती है।

(३) आर्यसमाजियों को गाँव से निकाल दो

लाला मुंशीराम ने वच्छोवाली आर्यसमाज लाहौर के वार्षिकोत्सव पर १९०८ में दिये गये अपने भाषण में पंजाब की एक घटना का उल्लेख करते हुए बताया था कि एक जिलाधीश दौरा करते हुए एक गाँव में पहुँचे।[1] वहाँ के प्रतिष्ठित निवासियों ने डिप्टी कमिश्नर का स्वागत किया। औपचारिक बातचीत के बाद जिलाधीश ने गाँव-वालों से प्रश्न किया कि क्या इस गाँव में कोई आर्य रहते हैं? स्वीकारात्मक उत्तर मिलने पर उसने गाँववासियों को यह बहुमूल्य परामर्श दिया—"अच्छा, यदि आप अपने गाँव में शान्ति चाहते हैं तो इन बदमाशों को यहाँ से भगा दो।" श्रोताओं में दो विनोदप्रेमी आर्यसमाजी भी थे। उन्हें यह समझ आ गया कि जिलाधीश जो काम स्वयं नहीं कर सकते हैं, उसे वे गाँव वालों से कराना चाहते हैं। अतः कुछ देर मौन रहने के बाद उनमें से एक बोला—"हुजूर, हम इसे कैसे कर सकते हैं? यदि आप स्वयमेव खुले रूप में इसे करने में हमारी मदद कर सकें तो हम इस काम को करने की हिम्मत कर सकते हैं।" इस पर जिलाधीश उनके वाग्जाल में बुरी तरह फँस गये। अपना पीछा छुड़ाने के लिए जिलाधीश ने कहा—"मैं इस कार्य को नहीं कर सकता हूँ। तुम यह काम ऐसे ढंग से करो कि ऐसा पता लगे कि तुम अपनी ओर से ऐसा काम कर रहे हो। यह बात निश्चित समझो कि आर्य तुम्हारे विरुद्ध जो शिकायतें (पुलिस में) दर्ज करायेंगे, उन पर कोई कार्यवाही नहीं की जायेगी।" इस पर गाँववासी आर्य ने चुटकी ली—"हुजूर, जिस संस्था के विरुद्ध कार्यवाही करने से आप डरते हैं, हम उसके खिलाफ क्या कर सकते हैं?"

यह घटना न केवल सरकारी अधिकारियों के आर्यसमाज-विरोधी रुख पर प्रकाश डालती है, अपितु यह भी प्रदर्शित करती है कि कुछ अधिकारी जनता को आर्य-समाज के विरुद्ध भड़काने में लगे रहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय सरकारी अधिकारी आर्यसमाजियों की स्पष्टवादिता, निर्भीकता, साहस व तर्क करने की प्रवृत्ति से बहुत परेशान थे। उनका कोई भी अधीनस्थ कर्मचारी जब किसी विषय में युक्ति-युक्त एवं स्वतन्त्र दृष्टिकोण प्रस्तुत करता था तो वे उसे आर्यसमाजी कहकर उसकी निन्दा करते थे। इस प्रसंग में लाला मुंशीराम द्वारा वर्णित 'मुसलमान आर्यसमाजी' की एक घटना उल्लेखनीय है।

ब्रिटिश सेना की एक रेजीमेंट के नवयुवक लैफ्टीनैण्ट ने अपने मुस्लिम जमादार के साथ किसी विषय पर विवाद किया और इसमें उसे अपने वशवर्ती से वाग्युद्ध में परास्त होना पड़ा। अपने अधीनस्थ से पराजय उसके लिए सह्य नहीं थी। उसने अपने कमांडिंग आफिसर से इसकी शिकायत की। वह भी लैफ्टिनैण्ट जैसा बुद्धिमान् था। उसने जमादार को बुलाकर डाँटा और कहा—"बदमाश आर्यसमाजी, तुम साहब से

---

१. मुंशीराम जिज्ञासु—आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स, भाग २

इतनी गुस्ताखी से क्यों बोले ?" जमादार ने उत्तर दिया—"मैं तो मुसलमान हूँ।" इस पर कर्नल बोला—"अच्छा, तो तुम मुसलमान आर्यसमाजी हो।"

सेना में आर्यसमाज की गतिविधियों पर पाबन्दी—पंजाब में लाला लाजपतराय की गिरफ्तारी के बाद आर्यसमाज को इतना खतरनाक और राजद्रोही समझा जाने लगा कि पंजाब में एक ब्रिगेड के कमान-अधिकारी (कमांडिंग आफिसर) ने यह आदेश निकाला कि "सब सैनिकों के लिए आर्यसमाज अथवा किसी राजनैतिक संस्था की बैठकों में सम्मिलित होना निषिद्ध है।" इसका स्पष्ट अभिप्राय था कि तत्कालीन सैनिक अधिकारी आर्यसमाज को धार्मिक नहीं, अपितु ऐसी राजनैतिक संस्था समझते थे, जिसके साथ सम्पर्क अवांछनीय परिणाम उत्पन्न कर सकता था, अतः उन्होंने इस आदेश को जारी करना उचित समझा कि राजद्रोही आर्यसमाजियों से कोई सम्बन्ध न रखा जाए और सैनिक इसकी किसी भी बैठक में उपस्थित न हों।

किन्तु सेना में ऐसे अनेक कर्मचारी थे जो बचपन से आर्यसमाजी थे और सेना में नौकरी पाने के बाद भी समाज के कार्यों में बड़ी दिलचस्पी लेते थे। ऐसे कर्मचारियों तथा अधिकारियों पर यह दबाव डाला जाता था कि वे आर्यसमाज की सदस्यता से त्यागपत्र दे दें, इस संस्था से अपना सम्बन्धविच्छिन्न कर लें। इस विषय में सैनिक अधिकारी अपने अधीन काम करने वालों को मौखिक आदेश ही दिया करते थे। किन्तु उस समय सेना में ऐसे अधिकारियों की कमी नहीं थी जो आर्यसमाज के प्रति गहरी आस्था रखने के कारण सेना की सेवा से त्यागपत्र देना अधिक वांछनीय समझते थे। एक अधिकारी ने सैनिक चिकित्सालय में काम करने वाले सहायक चिकित्सक को न केवल आर्यसमाज की सदस्यता से त्यागपत्र देने को कहा, अपितु त्यागपत्र का मसविदा भी तैयार करके दिया। इस पर आर्यसमाजी कर्मचारी ने यह स्मरणीय उत्तर दिया—"मैंने आपके मौखिक आदेशों पर गम्भीर विचार किया है और आर्यसमाज के मन्त्री को दिये जाने वाले त्यागपत्र के मसविदे को भी देखा है। मैं अत्यन्त विनम्रतापूर्वक यह निवेदन करना चाहता हूँ कि मैं अपने परिवार के सब सदस्यों के साथ बचपन से आर्यसमाजी हूँ। यदि मैं इस धार्मिक संस्था से त्यागपत्र दूँगा तो यह कार्य मेरे लिए अन्तःकरण की इच्छा के सर्वथा प्रतिकूल होगा।

"मैं नम्रतापूर्वक इस बात पर भी बल देना चाहता हूँ कि सभी सरकारी कर्मचारियों को धार्मिक मामलों में पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त है, अतः आप इस विषय पर पुनर्विचार करने तथा इस आदेश को वापिस लेने की कृपा करें। इसके लिए मैं आपका अतीव अनुगृहीत रहूँगा।"

यह वस्तुतः बड़े आश्चर्य की बात थी कि ब्रिटिश सरकार ने अन्य सभी धर्मों का अनुसरण करने वाले व्यक्तियों को सरकारी कर्मचारी रहते हुए अपने धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन करने की पूरी स्वतन्त्रता दे रखी थी; केवल आर्यसमाजी राजद्रोही समझे जाने के कारण इसका अपवाद थे।

(४) 'जाट सभा' द्वारा यज्ञोपवीत पर प्रतिबन्ध का विरोध

इस शताब्दी के पहले दशक में संयुक्त प्रान्त आगरा व अवध (वर्तमान उत्तर-प्रदेश) में 'जाट सभा' नामक संस्था की स्थापना इस उद्देश्य से की गयी थी कि वह इस

समुदाय के हितों का संरक्षण करे। इस सभा के अधिकांश पदाधिकारी आर्यसमाजी थे और प्राचीन वैदिक परम्परा के अनुसार यज्ञोपवीत धारण करते थे। इस प्रदेश के जाट बड़ी संख्या में ब्रिटिश सेना की देसी रेजिमेण्टों में भरती हुआ करते थे। एक बार इनकी रेजिमेण्ट के स्थानापन्न कमाण्डिग आफिसर ने अपनी सेना के जवानों को सम्बोधित करते हुए आदेश दिया—"जो सिपाही सेना में अपनी नौकरी बनाये रखना चाहते हैं, उन्हें अपने जनेऊ को तिलांजलि दे देनी चाहिए। यह याद रखना चाहिये कि अब से भविष्य में इसे बागी सिपाही का निशान समझा जायगा।"[1]

सिपाहियों ने इस आदेश को अपने धर्म के प्रतिकूल समझा; जाट सभा को इस मामले की सूचना दी तथा आवश्यक कार्यवाही करने के लिये कहा। जाट सभा ने इस पर उपयुक्त सैनिक अधिकारियों को इस मामले में एक आवेदनपत्र प्रस्तुत करते हुए निवेदन किया कि "यज्ञोपवीत उनके धर्म का पवित्र प्रतीक है, इसका धारण करना उनका धार्मिक कर्त्तव्य है। इस पर प्रतिबन्ध लगाना औरंगजेबी शासन को पुनरुज्जीवित करना होगा। अतः सरकार को यह आदेश फौरन वापिस ले लेना चाहिये।" इस आवेदनपत्र का अधिकारियों पर समुचित प्रभाव पड़ा और सिपाहियों को यज्ञोपवीत धारण करते हुए सेना में बने रहने की अनुमति दे दी गई।

यह घटना इस बात को भली-भाँति स्पष्ट करती है कि उस समय आर्यसमाजियों को सेना में बड़े सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था और किसी उर्वर मस्तिष्क वाले सैनिक अधिकारी ने भ्रान्तिवश राजद्रोही समझे जाने वाले आर्यसमाजियों के प्रभाव से सेना को मुक्त बनाये रखने के लिए जनेऊ पहनने पर पाबन्दी लगाने का अनोखा उपाय ढूँढा था। उसका यह विचार था कि इस प्रतिबन्ध से या तो सैनिक आर्यसमाज का और यज्ञोपवीत का परित्याग करेंगे अथवा सेना की नौकरी से त्यागपत्र दे देंगे। किन्तु जाट-सभा की सामयिक और प्रभावशाली कार्यवाही से उस सैनिक अधिकारी की यह इच्छा पूरी न हो सकी।

लाला मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) ने १९०८ में लाहौर आर्यसमाज के ३१वें वार्षिकोत्सव पर भाषण देते हुए इस घटना की आलोचना करते हुए कहा था कि "यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि एक ओर इंग्लैंड के प्रबुद्ध शासक इस बात का डींग हाँकते हैं कि उन्होंने दासों को और पराधीन राष्ट्रों को स्वतन्त्रता प्रदान की है, इंग्लैंड में पूर्ण धार्मिक सहिष्णुता की व्यवस्था स्थापित की है; दूसरी ओर ब्रिटिश साम्राज्य के नागरिकों को प्रत्येक सभ्य राज्य के नागरिक को प्राप्त उस प्राथमिक अधिकार से वंचित किया जा रहा है, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म का पालन करने और उसके द्वारा बताये गये विधि-विधानों का अनुसरण करने की पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त है।"[2]

(५) गुलाबचन्द का मामला

गुलाबचन्द सिक्ख रेजिमेण्ट में एक क्लर्क था। वह अपना कार्य पूरी ईमानदारी और निष्ठा से किया करता था।[1] उसके अधिकारियों ने कई बार इसके लिए उसकी

---

१. मुंशीराम जिज्ञासु—वही पुस्तक, भाग २, पृ० ९७
२. वही पुस्तक

प्रशंसा की थी। किन्तु दुर्भाग्यवश वह आर्यसमाजी था और इस कारण उसे अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ा। कुछ समय सेवा करने के पश्चात् गुलाबचन्द के वेतन में वृद्धि हुई और उसे एक दूसरी सिक्ख रेजिमेण्ट की सैनिक छावनी में स्थानान्तरित कर दिया गया। उसने नये स्थान पर जाने से पहले अवकाश का प्रार्थनापत्र दिया। यह रद्द कर दिया गया। इस पर वह स्वयमेव वैयक्तिक रूप से अपने कमाण्डिंग आफिसर से मिला और उसने अपने अवकाश के प्रार्थनापत्र पर अफसर से पुनर्विचार करने के लिए कहा। इस अपराध पर पुनः उसे तीन दिन तक हाजत का दण्ड दिया गया। जब वह इससे मुक्त हुआ तो उसके अधिकारी ने उससे पूछा कि क्या वह आर्यसमाजी तो नहीं है? जब उसने इसका स्वीकारात्मक उत्तर दिया तो उसे अगले दिन प्रातःकाल अधिकारी के समक्ष प्रस्तुत होने का आदेश दिया गया। अगले दिन जब वह अपने अधिकारी के पास पहुँचा तब उसे नौकरी से बर्खास्त करने का आदेश सुना दिया गया। इस आदेश को देते समय उसे सेना से मुक्तिपत्र के साथ उसके अनुरोध से एक प्रमाणपत्र भी दिया गया। गुलाबचन्द ने यह अनुरोध किया था कि उसको सेना से निकाले जाने के कारण कहीं भी कोई दूसरी नौकरी नहीं मिल सकेगी; क्योंकि उसका कोई अपराध नहीं है अतः उसे निर्दोष होने का एक प्रमाणपत्र दिया जाय ताकि उसे अन्यत्र नौकरी प्राप्त करने में कोई कठिनाई न हो। इसकी इस प्रार्थना पर उसे निम्नलिखित प्रमाणपत्र दिया गया—

"गुलाबचन्द ने सेना से मुक्ति के अपने प्रमाणपत्र में ८५वीं सिक्ख रेजिमेण्ट से बर्खास्त किये जाने के कारण का उल्लेख करने की प्रार्थना की है, क्योंकि उसे यह भय है कि ऐसा न होने पर उसे क्लर्क के रूप में अन्यत्र नौकरी नहीं मिलेगी। मुझे आशा है कि ऐसा नहीं होगा, क्योंकि क्लर्क के रूप में उसके विरुद्ध कोई आरोप नहीं है। उसके सब प्रमाणपत्र बहुत अच्छे हैं और इनके आधार पर ही उसका तबादला ६७वीं पंजाबी रेजिमेण्ट से ३५वीं सिक्ख रेजिमेण्ट में क्लर्क के रूप में किया गया था।

"उसके तबादले के कागजात तैयार होने के बाद जब उसने ३५वीं सिक्ख रेजिमेण्ट में काम शुरू किया तो यह पाया गया कि उसके सैनिक अधिकारी ने उसे तीन दिन की हाजत का दण्ड दिया था और यह भी पता लगा कि वह आर्यसमाज का सदस्य है और सिक्ख रेजिमेण्ट में किसी आर्यसमाजी को रखना अवांछनीय समझा गया।"

"उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर ७वें डिवीजन के जी० ओ० सी० को एक आवेदन-पत्र में यह सुझाव दिया गया कि गुलाबचन्द का तबादला पुनः ६७वीं पंजाबी रेजिमेण्ट में कर दिया जाय, किन्तु यह प्रार्थना स्वीकार नहीं हुई।"

"अतः मैं यह आशा करता हूँ कि ३५वीं सिक्ख रेजिमेण्ट से उसका पृथक् किया जाना ऐसी बात नहीं है जिसके आधार पर उसे अन्यत्र किसी ऐसे विभाग में नौकरी पाने में कोई कठिनाई होगी जहाँ नौकरी के लिए उपर्युक्त बातों (आर्यसमाजी होने) का विचार न किया जाता हो।"[२]

उपर्युक्त प्रमाणपत्र से यह निर्विवाद रूप से प्रमाणित होता है कि गुलाबचन्द को आर्यसमाजी होने के कारण ही सेना की नौकरी से पृथक् किया गया था। यह साम्राज्ञी

---

१. मुंशीराम जिज्ञासु—वही पुस्तक, भाग २, पृ० ९६

२. प्रकाश, २ दिसम्बर १९०८

विक्टोरिया द्वारा १८५८ में की गई उस घोषणा के प्रतिकूल था जिसमें यह कहा गया था कि भारत में किसी भी व्यक्ति के साथ अपने धार्मिक विश्वासों के कारण किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जायेगा और न ही उसे इस कारण परेशान किया जाएगा। ब्रिटिश सरकार ने आर्यसमाज पर राजद्रोह का भ्रान्तिपूर्ण सन्देह होने के कारण विक्टोरिया की उस घोषणा को तिलांजलि दे दी और गुलाबचन्द जैसे अनेक व्यक्तियों को आर्यसमाजी होने के कारण अनेक प्रकार के कष्टों और अत्याचारों का सामना करना पड़ा।

(६) पण्डित दौलतराम का मामला

आगरा-निवासी पण्डित दौलतराम एक निर्धन आर्यसमाजी ब्राह्मण था।[1] उसे बच्चों को पढ़ाने तथा आर्यसमाज के प्रचार का बड़ा शौक था। वह पर्यटन करता हुआ झाँसी पहुँचा, यहाँ उसने एक पाठशाला व अनाथालय खोलकर बालकों को शिक्षा देना शुरू किया। वह बच्चों से कोई फीस नहीं लेता था। वहाँ के कुछ व्यक्तियों ने उसके अनाथालय के संचालन के लिये मुष्टिदान अर्थात् प्रतिदिन एक मुट्ठी आटा एक घड़े में डालने का निश्चय किया। इससे उसका काम चलने लगा। वह बच्चों के अध्यापन के साथ रविवार को आर्यसमाज के सत्संग का भी आयोजन करने लगा। छुट्टी के दिन पास की छावनी से अनेक सैनिक समाज के सत्संग में सम्मिलित होने लगे। एक बार कुछ सैनिकों ने उसे छावनी में आकर सत्संग लगाने का अनुरोध किया। इसके अनुसार उसने वहाँ सैनिकों के मध्य में सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास की कथा की। जब सैनिक अधिकारियों को आर्यसमाज के विरोधियों ने इसकी सूचना दी तो उन्होंने इसे राजद्रोह का प्रचार समझा। पण्डित दौलतराम पर पुलिस ने दफा १०९ का अभियोग चला दिया। यह अनुच्छेद समाज के ऐसे अवांछनीय तत्त्वों को दण्डित करने के लिये है, जिन्हें बदमाश कहा जाता है, जो अवैध उपायों से जीविकोपार्जन करते हैं। झाँसी के स्थानापन्न जिला-मैजिस्ट्रेट श्री जे० सी० स्मिथ २९-९-१९०८ को इस मामले में निर्णय करते हुए उसे उत्तम व्यवहार के लिये झाँसी के प्रतिष्ठित नागरिकों द्वारा नेकचलनी की दो जमानतें देने का अथवा एक वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड दिया।

न्यायाधीश ने अपने फैसले में लिखा था—"पण्डित दौलतराम सम्भवतः दो वर्ष पहले झाँसी आया था। कुछ समय तक एक पाठशाला चलाने के बाद वह यहाँ से चला गया। दो-तीन सप्ताह पहले वह यहाँ दूसरी बार आया और शहर में किराये पर मकान लेकर उसने कुछ अनाथ बच्चों को पढ़ाना शुरू किया। वह बच्चों से पढ़ाई की फीस नहीं लेता है। उसकी आय के साधनों का हमें कोई ज्ञान नहीं है, यद्यपि वह अच्छे ढंग से रहता है, और अच्छे कपड़े पहनता है। उसका कहना है कि कुछ व्यक्ति चन्दे से उसकी मदद करते हैं। उसने कुछ व्यक्तियों को इस बात के लिए तैयार किया है कि वे अपने घरों में रखे मटकों में उसके लिए प्रतिदिन मुट्ठी-भर आटा डाल दिया करें। इतवार को वह इसे इकट्ठा कर लेता है। उसका कहना है कि इस प्रकार उसे प्रति सप्ताह ३३ सेर आटा मिल जाता है।

---

१. मुंशीराम जिज्ञासु—वही पुस्तक, भाग २, पृ० ९८

"इस मामले में दी गई गवाहियों से यह स्पष्ट है कि उसकी पाठशाला में बहुत थोड़े बच्चे आते थे और इस बात पर विश्वास नहीं किया जा सकता है कि आटे के दान से उसकी संस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी।

"यह सिद्ध हो गया है कि यद्यपि दौलतराम झाँसी आर्यसमाज का सदस्य नहीं था, फिर भी उसने १६ अगस्त को इस समाज द्वारा आयोजित एक विशाल सभा में भाषण दिया। उसमें असाधारण भीड़ थी। इसमें झाँसी-स्थित नेटिव रेजिमेण्ट के कुछ सिपाही भी उपस्थित थे। इसमें दौलतराम ने सत्यार्थप्रकाश का पाठ किया। इस ग्रन्थ में यह अवतरण पाया जाता है—'कितने दुःख की बात है कि आर्यों के वंशज इस समय विदेशियों से पददलित हो रहे हैं!' यह अतीव आपत्तिजनक संदर्भ है और यदि इसके आधार पर ब्रिटिश सम्राट् की भारतीय सेनाओं में भाषण दिया जाय तो वह अतीव आक्षेपजनक होगा। उसने हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में जो बातें कही हैं, वे भी समान रूप से आपत्तिजनक हैं।

"इस बात को सभी स्वीकार करेंगे कि आर्यसमाज जैसी सुशिक्षित संस्था का कोई भी सदस्य किसी ऐसे कथन को महत्त्व नहीं देगा जिसमें यह कहा गया हो कि ब्रिटिश सरकार अपने हिन्दू प्रजाजनों के धर्म को खोखला बनाने की कोशिश कर रही है। यह भी असम्भव प्रतीत होता है कि कोई भाषण देने वाला ऐसी बात कहे। इसका केवल एक ही प्रयोजन यह हो सकता है कि वह अपने अशिक्षित श्रोताओं को भड़काने का प्रयास करे।

"एक सामान्य सिपाही अशिक्षित और सब बातों पर जल्दी विश्वास करने वाला होता है, अतः उसको यह कहना कि उसका धर्म खतरे में है, उसके मन में असन्तोष उत्पन्न करने का प्रयास करना है और यह एक अपराधपूर्ण कार्य है। १२वीं पायोनियर सेना के सूबेदार सुब्रम की गवाही से यह साबित हो गया है कि दौलतराम सिपाहियों के निवास-स्थान पर आकर उन्हें बड़ी मात्रा में आटा दान करने के लिए कहा करता था। जब सूबेदार ने इस मामले में हस्तक्षेप किया, उस समय उसे दो मन आटा मिलने वाला था। इस बात पर विश्वास करना कठिन है कि कोई नवागन्तुक सैनिकों से अनाथालय के लिये सहायता माँगे और उसे इतनी बड़ी मात्रा में आटा मिल जाय।

"दौलतराम इस बात का सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सका है कि उसके भाषण में सिपाही इतनी अधिक संख्या में क्यों एकत्र हुए और उसने सत्यार्थप्रकाश के उपर्युक्त आपत्तिजनक ११वें समुल्लास की कथा क्यों की।

"मेरा विचार है कि यह कल्पना युक्तियुक्त नहीं है कि दौलतराम ने आजीविका कमाने के उद्देश्य से झाँसी में आकर पाठशाला चलाई है। यह साबित हो चुका है कि झाँसी में आकर पाठशाला में निवास करते हुए उसने दो बार सिपाहियों के प्रति बड़ा संदेहपूर्ण व्यवहार किया है। यदि यह मान भी लिया जाय कि दान से प्राप्त आटा उसके जीवन-निर्वाह का पर्याप्त साधन है, फिर भी दौलतराम इस बात का सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सका है कि वह झाँसी क्यों आया है।

"जाब्ता फौजदारी की दफा ११८ के अनुसार मैं दौलतराम को २२ सितम्बर के प्रारम्भिक आदेश के अनुसार नेकचलनी के लिये दो जमानतें देने की आज्ञा देता हूँ।

जमानत न दे सकने की दशा में उसे एक साल के कठोर कारावास का दण्ड दिया जाता है।"

झाँसी के जिला मैजिस्ट्रेट स्मिथ के इस निर्णय की उस समय के प्रमुख दैनिक पत्रों ने बड़ी कड़ी आलोचना की थी। लाहौर के **पंजाबी** ने इस पर अपने अग्रलेख में टिप्पणी करते हुए लिखा था—"इस अंक में हम झाँसी के मैजिस्ट्रेट श्री जे० सी० स्मिथ का एक विचित्र आदेश छाप रहे हैं। इसमें एक दरिद्र ब्राह्मण दौलतराम को इसलिये दण्डित किया गया है कि उसने प्राचीन भारत में ब्राह्मणों के लिये निर्दिष्ट कार्य अध्यापन के लिये लोगों से दान प्राप्त करने का प्रयास किया है। शास्त्रों के अनुसार ब्राह्मण का सच्चा कार्य नौकरी या व्यापार नहीं है, अपितु तीन प्रकार का काम—अध्ययन-अध्यापन, दान लेना-देना, यज्ञ करना-कराना है। इस आदर्श का पालन करते हुए दौलतराम ने वही कार्य किया जो एक ब्राह्मण को करना चाहिये। उसने झाँसी में एक पाठशाला खोली, इसका व्यय चलाने के लिए लोगों से दान में आटा प्राप्त किया। एक हिन्दू राजा के शासन में उसे इस कार्य के लिए राजकीय सहायता का पात्र समझा जाता, किन्तु एक ब्रिटिश न्यायाधीश ने उसे आय का निश्चित स्रोत न होने के संदेह में राजकीय दण्ड देने योग्य समझा है। इस सन्देह की पुष्टि उस व्याख्यान से की गई है जो दौलतराम ने स्थानीय आर्यसमाज की ओर से दिया था और जिसमें स्थानीय छावनी के सिपाही भी सम्मिलित थे। अपने भाषण में उसने सत्यार्थप्रकाश का वह अंश पढ़ा जिसमें विदेशी शासन में भारत की दुर्दशा पर दुःख प्रकट किया गया है। इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य बात यह है कि मैजिस्ट्रेट ने यह नहीं कहा कि दौलतराम ने उपर्युक्त आपत्तिजनक अवतरण अपने भाषण में पढ़कर सुनाया, उसने केवल उस समुल्लास की कुछ आरम्भिक पंक्तियाँ ही अपने भाषण में पढ़ीं जिस समुल्लास के तथाकथित आपत्तिजनक शब्द उल्लेखनीय हैं। इसके साथ दूसरी बात इस सभा में सिपाहियों की उपस्थिति थी। इन दोनों बातों ने मिलकर मैजिस्ट्रेट के मन में (राजद्रोह का) सन्देह पैदा कर दिया। मैजिस्ट्रेट ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि सिपाही इस सभा में दौलतराम के निमन्त्रण पर सम्मिलित हुए थे। उसने यह भी स्पष्ट नहीं किया कि सैनिक अधिकारियों ने सिपाहियों को आर्यसमाज द्वारा आयोजित बैठक में सम्मिलित होने की अनुमति क्यों दी।"

इसके बाद इस पत्र ने मैजिस्ट्रेट द्वारा दौलतराम द्वारा हिन्दू धर्म की आलोचना करने के अपराध पर टिप्पणी करते हुए कहा कि "ऐसी आलोचना ईसाई मिशनरी प्रतिदिन करते रहते हैं। इसके लिये केवल दौलतराम ही क्यों अपराधी ठहराया जाय? वह तो भेड़िये और मेमने की सुप्रसिद्ध कथा का मेमना है; उस पर दोषारोपण किया जाना चाहिये और दण्ड दिया जाना चाहिये। वह सभा होने से पहले छावनी गया था, उसने सैनिकों से अपनी पाठशाला के लिये आटे का दान माँगा था। राष्ट्रद्रोह के लिये इससे अधिक स्पष्ट क्या प्रमाण हो सकता है? अतः इस अभिनव विक्रमादित्य ने दौलतराम को दण्ड देना आवश्यक समझा। इस फैसले का सबसे अधिक विचित्र अंश वह है जिसमें उसे राजद्रोह के प्रचार के लिये दफा १०८ में नहीं, अपितु जीविका के प्रत्यक्ष (Ostensible) साधन न होने के लिये दफा १०९ में दण्डित किया गया है। इस प्रकार

के बेहूदा अत्याचारों से सरकारी अधिकारी जनता में असन्तोष उत्पन्न कर रहे हैं।"[1]

लखनऊ के सुप्रसिद्ध पत्र **'एडवोकेट'** ने अपने सम्पादकीय लेख में इस मामले पर टिप्पणी करते हुए लिखा था—"जनता आर्यसमाजी उपदेशक दौलतराम को दण्डित किये जाने से स्तब्ध रह गई है। उसे राजद्रोह के लिए नहीं, अपितु जीविका के प्रत्यक्ष साधन न रखने के कारण दण्डित किया गया है। साधु-संन्यासियों के देश में दौलतराम जैसे व्यक्ति को दण्डित करना जनता में रोष उत्पन्न करेगा। स्मिथ द्वारा उद्धृत अवतरण में राजद्रोह की कोई बात नहीं है, इसे बाबू सीताराम ने अपने एक पत्र में भली-भाँति प्रमाणित किया है—"हम हाईकोर्ट का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। भारतीय सैनिक इतने बुद्धू नहीं हैं कि दौलतराम जैसे व्यक्तियों के भाषण उनमें विद्रोह की भावना उत्पन्न कर सकें।"[2]

इसी पत्र में एक अन्य लेखक ने 'सरकार और आर्यसमाज' शीर्षक लेख में लिखा था—"पण्डित दौलतराम के मामले में झाँसी के जिला मैजिस्ट्रेट द्वारा दिये गये फैसले से सरकारी अधिकारियों के रवैये का पता लगता है। यदि विद्वान् न्यायाधीश का तर्क ठीक माना जाये तो भिक्षा-वृत्ति पर निर्वाह करने वाले अधिकांश भारतीय साधु, जोगी और संन्यासी जीविका के प्रत्यक्ष साधन न होने के कारण जेल में बन्द कर दिये जाने चाहियें। हमारा प्रान्त अबतक सब प्रकार के आन्दोलनों से मुक्त रहा है, किन्तु यदि ऐसी गलतियाँ की जायेंगी तो इससे कानून का पालन करने वाले शान्तिप्रेमी प्रजाजनों के हृदय में असन्तोष उत्पन्न होगा। यह समझ नहीं आता है कि आर्यसमाजी होने में क्या पाप है?"[3]

लाला मुंशीराम ने १९०८ में बच्छोवाली आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव प अपने सुप्रसिद्ध भाषण में इस मामले में दौलतराम के साथ अन्याय पर क्षोभ तथा व्यथा प्रकट करते हुए कहा था—"मैजिस्ट्रेट ने अभागे दौलतराम को जाब्ता फौजदारी की दफा १०९ के अधीन दो जमानतें ऐसे व्यक्तियों द्वारा देने को कहा है जो झाँसी में अथवा झाँसी के आसपास पाँच मील के घेरे के भीतर रहते हों या सरकार को प्रति वर्ष १०० रुपये की मालगुजारी अथवा २००० रुपये की वार्षिक आमदनी पर आयकर देते हों। ऐसी जमानतें न देने पर एक वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड दिया गया है। दौलतराम जेल में सड़ रहा है क्योंकि जमानत देने वालों पर उपर्युक्त कठोर शर्तें लगा दी गई हैं। उसका चाचा सम्पन्न व्यक्ति है, किन्तु वह झाँसी में नहीं रहता है। झाँसी का न्यायाधीश जमानत के लिए नकद राशि स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है।

"दौलतराम का एकमात्र अपराध यही है कि उसने सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में से कुछ अंश ऐसी सभा में पढ़े हैं, जिसमें कुछ सिपाही उपस्थित थे। क्या यह ईमानदारी है कि किसी व्यक्ति पर दण्ड-विधान की एक दफा के आधार पर अभियोग चलाया जाय और उसे किसी दूसरी दफा में दण्डित किया जाय? यदि दौलतराम

---

१. पंजाबी, १७ नवम्बर १९०८

२. एडवोकेट, २२ नवम्बर १९०८

३. एडवोकेट, ३ दिसम्बर १९०८

बदमाश है, उसके पास आजीविका कमाने का कोई वैध साधन नहीं है (यद्यपि आगरा में उसका घर है और वह एक प्रतिष्ठित कुल में पैदा हुआ है) तो हजारों साधु बदमाश क्यों नहीं हैं, जिनको अपने जन्म-स्थान का भी ज्ञान नहीं होता हैं? नियमित रूप से वेतन न लेने वाले, खैरात पर गुजारा करने वाले मौलवी बदमाश क्यों नहीं हैं? अपने युग में निर्धनतम व्यक्ति ईसा के आदर्शों पर चलने वाले ईसाई मिशनरी बदमाश क्यों नहीं हैं? इन व्यक्तियों से जमानतें क्यों नहीं ली जाती हैं? संभवतः इसलिये कि ये आर्य-समाजी नहीं हैं? क्या यह धार्मिक अत्याचार का ज्वलंत उदाहरण नहीं है? मैं अधिकारियों से पूछना चाहता हूँ कि इसका क्या कारण है कि इन अत्याचारों के लिए आर्यसमाज को ही क्यों चुना जाता है, अन्य धार्मिक संस्थाओं के साथ ऐसा व्यवहार क्यों नहीं किया जाता है?" इसका कारण स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि "थियोसोफिस्टों को कट्टरपंथी हिन्दुओं का, मुसलमानों को ईरान और टर्की का, ब्राह्मसमाज को प्रभावशाली पदाधिकारियों का समर्थन प्राप्त है। आर्यसमाज के पास ऐसा कोई मौलिक प्रभाव नहीं है।" अन्त में उन्होंने कहा कि "मैं ऐसे साम्राज्य की सरकार पर ऐसे सन्देह नहीं करना चाहता, जिसके साम्राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता है। किन्तु ऐसी शक्तिशाली सरकार आर्यसमाज से क्यों भयभीत है? इस पर ऐसे अत्याचार क्यों किये जाते हैं?"[1]

संयुक्त प्रान्त की आर्य प्रतिनिधि सभा के मंत्री श्री मदनमोहन सेठ ने इस मामले में श्री जे०सी० स्मिथ द्वारा किये गये निर्णय पर कई मनोरंजक आपत्तियाँ उठायी थीं। उनकी **पहली आपत्ति** यह थी कि माननीय न्यायाधीश की सम्मति में अभियुक्त ने अपनी आय का कोई निश्चित स्त्रोत नहीं बताया है, और वह अच्छे कपड़े पहनकर रहता है। इसका यह अभिप्राय है कि वह अनुचित, अवैध और बुरे उपायों से धनोपार्जन करने वाला (बदमाश) है; किन्तु ऐसा मानते हुए न्यायाधीश ने इस बात पर विचार नहीं किया है कि इस मामले में वृन्दावन द्वारा इस्तगासे की ओर से दी गयी गवाही में यह कहा गया था कि उसे प्रति सप्ताह लोगों से दान के रूप में ३३ सेर आटा मिला करता है। अभियुक्त के इस विषय के कथन को श्री वृन्दावन ने पुष्ट किया था। इसी मामले में एक दूसरे गवाह सूबेदार सुब्रम ने यह कहा था कि जब सूबेदार ने उसके काम में हस्तक्षेप किया और उसे छावनी से हटाया तो वह दो मन से भी अधिक आटा इकट्ठा करने वाला था। यदि इस बात पर तथा धर्मप्राण भारतीयों द्वारा साधु-संतों को दान देने की प्रवृत्ति पर विचार किया जाय तो यह असम्भव नहीं प्रतीत होता है। यदि आटे का भाव उस समय के सात सेर प्रति रुपये के हिसाब से लगाया जाय तो अभियुक्त की आमदनी प्रति सप्ताह ३३ सेर के हिसाब से अठारह रुपये प्रतिमास मानी जा सकती है। इस आमदनी में दौलतराम खूब अच्छी तरह से रह सकता था और अच्छे कपड़े पहन सकता था। जब अठारह रुपये के मासिक वेतन पर सैकड़ों हेड-कांस्टेबल बड़ा अच्छा जीवन-यापन कर सकते हैं और इनसे भी कम अर्थात् सात-आठ रुपये महीना पाने वाले कांस्टेबल और गाँवों के स्कूल मास्टर अपना निर्वाह कर सकते हैं, १० से १५ रुपये प्रतिमास पाने वाले सरकारी दफ्तरों के क्लर्क अच्छी तरह जिन्दगी बिता सकते हैं तो दौलतराम अठारह रुपये में अपना जीवन-निर्वाह अच्छी तरह से क्यों

---

१. मुंशीराम तथा रामदेव—आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स, खण्ड २, पृ०, २९८-९९

नहीं कर सकता था ? उसके पास जाविका के पर्याप्त साधन थे, फिर भी उसे भारतीय दण्ड-विधान की १०९ धारा के अनुसार क्यों दण्डित किया गया ?"[1]

दूसरी आपत्ति माननीय न्यायाधीश द्वारा यह उठायी गयी थी कि दौलतराम यद्यपि झाँसी आर्यसमाज का एक सदस्य नहीं था, फिर भी उसने वहाँ एक बहुत बड़ी सभा को सम्बोधित किया। जज महोदय सम्भवतः इस विषय में भारतीय परम्परा से परिचित नहीं थे। यहाँ समाजों में प्रायः बाहर से उपदेशक बुलाये जाते हैं। वे यद्यपि उन समाजों के सदस्य नहीं होते हैं, फिर भी वे उन समाजों में भाषण करते हैं। झाँसी समाज में भाषण देने में दौलतराम का कोई दोष नहीं है। यदि यह दोष किसी पर डालना ही हो तो यह झाँसी आर्यसमाज के पदाधिकारियों पर डाला जा सकता है जिन्होंने दौलत-राम को सभा में बोलने की अनुमति दी। इस मामले में सम्भवतः यह भ्रांति नानकचंद की गवाही से उत्पन्न हुई है जिसने अपने को झाँसी आर्यसमाज का मन्त्री बताया था; किन्तु यह मन्त्री स्वयमेव इस बात को अच्छी तरह से जानता है कि आर्यसमाजों में बाहर से प्रचारक बुलाये जाते हैं। इसका सर्वोत्तम उदाहरण आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द हैं। वे किसी आर्यसमाज के सदस्य नहीं थे, फिर भी वे देशभर में पर्यटन करते रहे, विभिन्न स्थानों की आर्यसमाजों में भाषण देते रहे।

तीसरी आपत्ति यह है कि अभियुक्त द्वारा आर्यसमाज की बैठक में पढ़े गये सत्यार्थप्रकाश के अंश को मैजिस्ट्रेट ने सम्भवतः स्वयमेव राजद्रोहपूर्ण नहीं माना है, क्योंकि यदि वह सन्दर्भ बगावत फैलाने वाला होता तो मैजिस्ट्रेट इस अपराधी को राजद्रोह की धारा में दण्डित करता और भारतीय दंड-विधान की १०९ धारा में दण्डित न करता जिसके अनुसार सद्व्यवहार के लिए मुचलका लिया जाता है। न्यायाधीश ने यह भी लिखा है कि दौलतराम ने दो अवसरों पर छावनी के सैनिकों के साथ अतीव सन्देहजनक रूप में व्यवहार किया, किन्तु उसने दूसरे किसी अवसर का ऐसा विस्तृत विवरण प्रस्तुत नहीं किया है। वस्तुतः दूसरी बार वह छावनी में गया ही नहीं था। क्योंकि सूबेदार सुब्रम ने अपनी गवाही में कहा था कि उसके मना करने के बाद दौलत-राम ने दुबारा कोई भाषण नहीं दिया और किसी प्रकार के राजद्रोहपूर्ण शब्दों का प्रयोग नहीं किया।

इस विषय में **चौथी आपत्ति यह** है कि सेना में सिपाही विभिन्न धर्मों को मानने वाले होते हैं और उनको अपने धर्म का पालन करने की पूरी स्वतंत्रता होती है। सिपाहियों में एक बड़ी संख्या वैदिक धर्म के अनुयायियों की भी है और वे अपने पंडितों और धर्मगुरुओं को प्रचुर मात्रा में सहायता प्रदान करते रहते हैं। न्यायाधीश ने अपने फैसले में इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया था कि दौलतराम की सभा में इतने अधिक सिपाही किस कारण एकत्र हुए ? इस विषय में यदि न्यायाधीश ने इस्तगासे के गवाह नम्बर तीन के वक्तव्य पर ध्यान दिया होता तो उन्हें इसका सारा कारण अच्छी तरह से समझ में आ जाता। इस गवाह ने यह बताया था कि समाज की यह बैठक स्वामी दयानंद सरस्वती के शिष्य स्वामी आत्मानंद सरस्वती के स्वर्गवास की स्मृति में बुलायी गयी थी। इनका निधन कुछ दिन पहले कानपुर में हुआ था। स्वामी आत्मानंद झांसी-

---

१. मदनमोहन सेठ—आर्यसमाज : ए पोलिटिकल बाडी, पृ० ५७-६५

आर्यसमाज के प्राण थे और बड़े लोकप्रिय थे। इसके भवन का निर्माण उनके पुरुषार्थ से हुआ था। झाँसी में उनके भक्त बहुत बड़ी संख्या में थे और स्वामी जी की मृत्यु का समाचार सुनकर अपनी श्रद्धांजलि देने इस समाज की बैठक में बड़ी संख्या में एकत्र हुए थे। इस विषय में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि आर्यसमाज की अंतरंग बैठकों को छोड़कर सभी बैठकें सार्वजनिक होती हैं। इनमें कोई भी व्यक्ति आकर बैठ सकता है और भाग ले सकता है। इसी दृष्टि से इस बैठक में स्वामी आत्मानंद के अनेक श्रद्धालु शिष्य उपस्थित हुए थे, और इनके कारण सभा के सदस्यों की संख्या में काफी बड़ी वृद्धि हुई थी।

पाँचवीं आपत्ति यह है कि छावनियों में सत्यार्थप्रकाश की कथा पर कहीं भी प्रतिबंध नहीं था। जुलाई १८७९ में मुरादाबाद जिले के डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट स्पेडिंग की प्रार्थना पर स्वामी जी ने वहाँ छावनी में एक उपदेश दिया था। इसका विषय राजनीति था। स्वामी जी की उर्दू जीवनी के लेखक श्री लेखराम ने यह बताया है कि डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट द्वारा इस भाषण को बहुत पसंद किया गया था।[1]

यह भी कहा जाता है कि पटना के निकट दानापुर की बड़ी छावनी में जब स्वामी जी १८७९ में अपना प्रचार-कार्य कर रहे थे तो भारतीय सेनाओं के प्रधान सेनापति लार्ड राबर्ट्स स्वामी जी के पास स्वयमेव उनका उपदेश सुनने के लिये आये थे।[2]

स्मिथ के निर्णय पर **छठी आपत्ति** यह की जाती है कि भारत में हजारों साधु-संत और फकीर ऐसे हैं जो भक्तों द्वारा दिये गये दान पर जीवन-निर्वाह करते हैं, और उनके पास आजीविका कमाने का कोई स्वतंत्र साधन नहीं होता है। १९०१ की जन-गणना के अनुसार विभिन्न संप्रदायों के साधुओं की संख्या १२,१२,६४८ थी। इनके अतिरिक्त इसी प्रकार भिक्षा-वृत्ति पर जीवनयापन करने वाले व्यक्तियों की संख्या ४२,२३,२४१ थी।[3]

सातवीं आपत्ति जमानत देने वालों के बारे में थी। इसमें यह कहा गया था कि जमानत देने वाले व्यक्ति झाँसी के अन्दर अथवा इसके चारों ओर ५ मील के घेरे में रहने वाले होने चाहिएँ। जामिनों के लिए इस प्रकार की शर्त लगाना न्याय की मौलिक भावना के सर्वथा प्रतिकूल प्रतीत होता है। पंडित दौलतराम आगरा के रहने वाले थे। झाँसी में वे कुछ दिन पहले आये थे, अतः उनके लिये यह संभव नहीं था कि वे झाँसी में या उसके चारों ओर पाँच मील की परिधि में रहने वाले किसी व्यक्ति को अपनी जमानत देने के लिए तैयार कर सकें, क्योंकि झाँसी में उनका कोई ऐसा परिचय नहीं था। यह कहना कठिन है कि न्यायाधीश ने ऐसी असम्भव शर्त क्यों लगायी और उन्हें अपने मूल स्थान आगरा से जमानत देने वालों को लाने की अनुमति क्यों नहीं दी, यद्यपि उन्होंने इसके लिए माँग की थी। इस प्रकार की व्यवस्था दौलतराम के लिए

---

१. पंडित लेखराम कृत स्वामी दयानन्द सरस्वती, पृ० ४३३ तथा बाबा छज्जूसिंह कृत लाइफ एण्ड टीचिंग्स आफ स्वामी दयानन्द, पृ० ४१५

२. बाबा छज्जूसिंह कृत वही पुस्तक, पृ० ४४१

३. सेंसस आफ इंडिया, १९०१, खण्ड १ ए, पार्ट २, १९०३

न्यायपूर्ण होती। वे न्यायाधीश द्वारा जमानत की अन्यायपूर्ण और कठोर शर्तें लगाने के कारण इसे नहीं दे सके और उन्हें कारावास का कष्ट भोगना पड़ा। दौलतराम का मामला इस बात का सुन्दर प्रमाण है कि उस समय न्यायाधीश आर्यसमाजियों के विरुद्ध कितनी अधिक दुर्भावना रखते थे और न्याय के सिद्धान्तों को तिलांजलि देकर उन्हें कठोर दण्ड दिया करते थे।

(७) जोधपुर की घटना

भारत के वायसराय लार्ड मिण्टो १९०८ में जब राजस्थान की जोधपुर रियासत में पधारे तो वहाँ के अधिकारियों ने ब्रिटिश सम्राट् के प्रति अपनी राजभक्ति के प्रदर्शन के अत्युत्साह में आर्यसमाज को ओ३म् की ध्वजा को झुकाने तथा आर्यसमाज के नामपट्ट को हटाकर उसका अपमान करने में कोई संकोच नहीं किया, क्योंकि ये वायसराय की शोभायात्रा के मार्ग में पड़ रहे थे। अधिकारी नहीं चाहते थे कि लार्ड मिण्टो को रियासत में कहीं राजद्रोह की जरा-सी भी गन्ध आये। आर्यसमाज उन दिनों राजद्रोह का प्रतीक था, अतः इसका कोई भी चिह्न वायसराय के मार्ग में पड़े, यह रियासत के अधिकारियों के लिए असह्य था। अतः पुलिस ने राजद्रोह के ज्वलन्त प्रमाण स्थानीय आर्यसमाज के नामपट्ट और ओ३म् के झण्डे को जबरदस्ती हटा दिया।

यह घटना इस बात का प्रमाण थी कि जोधपुर राज्य के दृष्टिकोण में पिछले २५ वर्षों में कितना परिवर्तन आ गया था। जोधपुरनरेश स्वामीजी के भक्त थे। अब उन्हीं के राज्य में आर्यसमाज को इतना खतरनाक समझा गया कि उसका नामनिशान तक मिटाने का प्रयास किया गया। यह वस्तुतः बड़ा जघन्य धार्मिक अत्याचार था। इस पर मार्मिक वेदना व्यक्त करते हुए स्वामी श्रद्धानन्द (तत्कालीन लाला मुंशीराम) ने यह ठीक ही लिखा था—"यहाँ केवल आर्यसमाज के नामपट्ट को ही नहीं हटाया गया था। यह नामपट्ट सचाई और उच्च नैतिकता का प्रतीक था; नामपट्ट को हटाने के स्थान पर इन सब सद्गुणों को निष्कासित करने का प्रयास किया गया है। इस दशा में यह सर्वथा उचित था कि इनकी अपूरणीय क्षति के शोक में समाज में ओ३म् की ध्वजा आधी झुका दी गई है।"[1]

"इससे एक क्षण के लिये भी यह नहीं समझा जाना चाहिये कि हम इस दुःखदायी दुर्भाग्यपूर्ण घटना के लिये किसी के प्रति दुर्भावना रखते हैं। वेद भगवान् ने उपदेश दिया है—हम सबको मित्रता की दृष्टि से देखें (मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे)। यह हमारा धर्म है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म का पालन करना चाहिये और इस बात की परवाह नहीं करनी चाहिए कि दूसरे व्यक्ति स्वधर्म का पालन कर रहे हैं या नहीं। यदि राजा अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता है तो उसे भगवान् के आगे इसका जवाब देना पड़ेगा और यदि उसके प्रजाजन अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा करते हैं तो वे भी अपने कार्यों के लिये ईश्वर के प्रति उत्तरदायी होंगे।"

जोधपुर की घटना से स्पष्ट है कि जब ब्रिटिश भारत में १९०७ में आर्यसमाज को राजद्रोही समझा जाने लगा तो देशी रियासतों में भी आर्यसमाज को बड़े संदेह की

---

१. मुंशीराम जिज्ञासु—पूर्वोक्त पुस्तक, भाग २, पृ० १०३

दृष्टि से देखा जाने लगा और इसका दमन किया जाने लगा। यह बात हैदराबाद की निजाम सरकार द्वारा स्वामी नित्यानन्द को राज्य से निर्वासित करने, इन्दौर में श्री लक्ष्मणराव के साथ किये व्यवहार तथा पटियाला राज्य में आर्यसमाजियों पर चलाये गये अभियोग से पुष्ट होती है।

(८) मुल्तान छावनी आर्यसमाज का मामला

मुल्तान शहर में आर्यसमाज की स्थापना स्वामी दयानन्द के करकमलों से हुई थी। इसे गुरुदत्त विद्यार्थी जैसे आर्यसमाज के नेता उत्पन्न करने का श्रेय है। इसकी गणना पंजाब की प्रमुख आर्यसमाजों में होती थी। यहाँ ब्रिटिश सरकार की एक सुप्रसिद्ध छावनी थी। उत्साही आर्य पुरुषों ने किराये का मकान लेकर यहाँ आर्यसमाज का कार्य शुरू किया। पहले यह मकान नं० १०३४ में थी। आर्यसमाज के सदस्यों तथा कार्य में वृद्धि होने के कारण अपना भवन बनाने का निर्णय किया गया। नये मन्दिर के लिए धन-संग्रह किया गया और इससे छावनी के सदर बाजार में एक मकान क्रय किया गया।

छावनी में ईसाई और मुस्लिम धर्मों के पवित्र पूजास्थान थे। इनसे छावनी के अधिकारियों द्वारा भवन-कर और सफाई-कर नहीं लिया जाता था। सरकार ने धार्मिक स्थानों को यह छूट दे रखी थी। छावनी समाज के मंत्री श्री अमरनाथ ने ३०-१०-१९०८ के पत्र में छावनी-स्थित आर्यसमाज-मन्दिर के भवन को मकान तथा सफाई-करों (House and Conservancy Taxes) से मुक्त करने की प्रार्थना की। छावनी-कमेटी ने अपनी मासिक बैठक (२८-११-१९०८) में इस प्रार्थनापत्र को रद्द कर दिया और इसकी सूचना विधिवत् ३०-११-१९०८ को समाज के मंत्री को दी गई। इस पर समाज के मंत्री ने दूसरी बार छावनी के मैजिस्ट्रेट को ६-४-०९ को आर्यसमाज-मन्दिर के बारे में सारी स्थिति स्पष्ट कर पुनः यह अनुरोध किया कि आर्यसमाज विशुद्ध धार्मिक पूजा का स्थान है, इससे कोई आमदनी नहीं होती है, अतः इसे मकान एवं सफाई-करों से मुक्त किया जाना चाहिये; छावनी में दूसरे धर्मों के भी पूजा-स्थान हैं, इनसे किसी प्रकार का टैक्स नहीं लिया जाता है। अतः समाज को भी इन करों से मुक्त किया जाना चाहिये। इसमें समाज के मंत्री ने यह लिखा था कि फिरोजपुर और नौशेरा छावनियों के मित्रों से सूचना मिली है कि वहाँ के आर्यसमाज-मन्दिर उपर्युक्त दोनों करों से मुक्त हैं, अतः इन उदाहरणों के आधार पर मुल्तान छावनी के समाज-मन्दिर को कर-मुक्ति की सुविधा दी जानी चाहिए।[1]

इस पत्र के उत्तर में मेजर कम्बरलैंज, सचिव—छावनी कमेटी, ने अपने दिनांक २७ अप्रैल १९०९ के पत्र में छावनी समाज के मंत्री श्री अमरनाथ को सूचित किया कि आर्यसमाज विशुद्ध धार्मिक संस्था नहीं है, अतः उसे चर्च, मन्दिर या मस्जिदों जैसी विशुद्ध धार्मिक संस्थाओं को दी जाने वाली करमुक्ति की सुविधा नहीं दी जा सकती है। वर्तमान शताब्दी के प्रथम दशक में आर्यसमाज के विरोधियों ने सरकारी अधिकारियों के कानों में यह बात अच्छी तरह भर दी थी कि आर्यसमाज धार्मिक संस्था नहीं, अपितु

१. मदनमोहन सेठ—आर्यसमाज : ए पोलिटिकल बाडी, परिशिष्ट, पृ० २७-२८

राजनैतिक और राजद्रोही संस्था है। पटियाला अभियोग में सरकारी वकील श्री ग्रे ने इस मत की पुष्टि में अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये थे। अन्यत्र यह बताया जा चुका है कि यह मत सर्वथा निराधार था। फिर भी उस समय अधिकांश अधिकारी इसमें प्रबल विश्वास रखते थे। इसीलिए मुल्तान छावनी में सैनिक अधिकारियों ने इसे भ्रमवश राजनैतिक संस्था माना और इसे करों से मुक्ति प्रदान नहीं की।

(९) रोहतक में राजद्रोही सभाओं का कानून लागू करना

रोहतक जिले के अधिकांश निवासी हिन्दू हैं। इनमें बहुसंख्या जाटों की है, इनमें आर्यसमाज बड़ा लोकप्रिय है। इस जिले में ब्रिटिश सेना में जाट बड़ी संख्या में भरती होते थे, अतः आर्यसमाज पर राजद्रोह का संदेह करने वाली सरकार के कुछ अधिकारी यह नहीं चाहते थे कि यहाँ आर्यसमाज के प्रभाव में वृद्धि हो। ७ जून १९१० को रोहतक में ढोल पीटकर इस बात की मुनादी की गई कि आर्यसमाज के धर्म से सम्बन्ध रखने वाली सब पुस्तकें सरकार द्वारा जब्त कर ली गई हैं।

इस पर रोहतक आर्यसमाज के प्रधान श्री न्यादर सिंह ने १३ जून को जिलाधीश (डिप्टी कमिश्नर) रोहतक से एक पत्र में यह निवेदन किया कि "उनको प्राप्त सूचना के अनुसार पंजाब सरकार ने इस प्रकार का कोई आदेश नहीं निकाला है। उन्हें यह आशंका है कि यह आर्यसमाज के कुछ विरोधियों की चाल है। सरकार ने हाल में कुछ पत्र-पत्रिकाओं पर पाबन्दी लगाई है। इसकी भ्रान्तिपूर्ण व्याख्या करते हुए आर्यसमाज को हानि पहुँचाने के लिये उसके विरोधियों द्वारा ऐसा गलत ढिंढोरा पिटवाया गया है। ऐसी घोषणा से आर्यसमाज बदनाम होगा तथा साधारण जनता यह समझने लगेगी कि यह राजद्रोही संस्था है। वह उससे अपना सम्बन्ध-विच्छेद करेगी और इससे आर्य-समाज को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। उसके विरुद्ध फौजदारी कार्यवाही की जाएगी। यदि वास्तव में सरकार ने कोई ऐसा आदेश निकाला हो तो हमें इस बात का निर्देश दिया जाय कि आर्यसमाज के पुस्तकालय में विद्यमान पुस्तकों का क्या किया जाय? यदि सरकार ने ऐसा कोई आदेश नहीं निकाला है तो उपर्युक्त सूचना का खण्डन करने वाली घोषणा ढिंढोरा पीटकर गाँवों में प्रचारित और प्रसारित की जाय, ताकि पिछली घोषणा के प्रभाव का निराकरण सही ढंग से हो सके। इस गलत घोषणा की मुनादी करवाने वाले व्यक्ति का पता लगाया जाय और उसे इस गलत काम के लिए समुचित दण्ड दिया जाय। इससे आर्यसमाज का शान्तिपूर्ण रीति से प्रचार करने वालों को बड़ा सन्तोष होगा।"

रोहतक के डिप्टी कमिश्नर ई० ए० ए० जोसेफ की ओर से श्री चेलासम ने तत्काल उसी दिन १३ जून को उपर्युक्त पत्र का अतीव संक्षिप्त उत्तर देते हुए रोहतक-आर्यसमाज के प्रधान को सूचित किया कि आर्यसमाज की पुस्तकों को जब्त करने वाले किसी सरकारी आदेश का उन्हें कोई ज्ञान नहीं है और न ही उन्होंने ऐसी सरकारी घोषणा कराने के कोई आदेश दिये हैं।

इस घटना पर टिप्पणी करते हुए गुरुकुल कांगड़ी की सुप्रसिद्ध अंग्रेजी पत्रिका

---

१. मुंशीराम जिज्ञासु—वही पुस्तक, भाग २, पृ० २५७-६०

वैदिक मैगजीन ने लिखा था—"इस पत्र का सहानुभूतिशून्य लहजा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें शरारतपूर्ण और झूठी घोषणा कराने वाले व्यक्ति को दण्ड देने का कोई आश्वासन नहीं है। आर्यों को इससे जो मानसिक पीड़ा हुई है, उसके लिए कोई चिन्ता व्यक्त नहीं की गई है। इसमें सरकार द्वारा धार्मिक तटस्थता को लाभदायक नीति बनाये रखने के सरकारी इरादे की कोई चर्चा नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस पत्र को लिखने वाले अनुभवी अधिकारी को विवश होकर ऐसा लिखना पड़ा है। यदि इसे इसका खण्डन करने के स्थान पर इसकी पुष्टि करनी पड़ती तो इससे उसे अत्यधिक प्रसन्नता होती।

"भारत-मंत्री लार्ड मार्ले भारतीयों के साथ जो सहानुभूति रखने का दावा करते हैं, यह उसका कितना बढ़िया प्रदर्शन है! यह नौकरशाही की तथाकथित मानवीयता को भी सूचित करती है। यदि महामहिम ब्रिटिश सम्राट्, उनके उदात्तमना भारत-मंत्री, उनके भले वायसराय तथा पंजाब के लेफ्टीनैण्ट गवर्नर सर लुईस डेन जैसे सहानुभूतिपूर्ण प्रान्तीय गवर्नरों के इरादे पूरे किये जाने हैं तो नौकरशाही के शासनतंत्र को सहानुभूति और मानवीयता के तत्त्वों से उदार बनाया जाना चाहिए।"

लाहौर से प्रकाशित होने वाले सुप्रसिद्ध पत्र **पंजाबी** ने रोहतक में इस झूठी घोषणा के कारणों का विस्तृत विश्लेषण करते हुए लिखा था कि "पिछले दो वर्षों में रोहतक जिले में आर्यसमाज का प्रचार बड़ी तेजी से हुआ है। इसके परिणामस्वरूप हजारों कट्टर पौराणिक हिन्दू आर्य बने हैं। इस जिले में समाज की अनेक शाखायें हैं। आर्यसमाज के प्रचारकों के प्रायः पौराणिक पण्डितों के साथ मूर्तिपूजा, श्राद्ध, जन्ममूलक जाति-प्रथा आदि विभिन्न विषयों पर शास्त्रार्थ होते रहते हैं। किन्तु इनसे कभी शान्ति भंग नहीं हुई है। इसका कारण यह है कि शास्त्रार्थ करने वालों में बड़ा सद्भाव और प्रीति है। उन्होंने वाद-विवादों में कभी पुलिस की सहायता नहीं माँगी है। मुसलमान अवश्य आर्य उपदेशकों से नाराज हैं। किन्तु आर्यसमाज ने उन पर आक्षेप करने में कभी पहल नहीं की है। मुस्लिम प्रचारकों ने जब-जब हिन्दू धर्म पर हमले किये हैं, हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का प्रयास किया है, तभी आर्यसमाज ने इन आक्रमणों का प्रतिरोध अपनी पूरी सामर्थ्य के साथ किया है। मुसलमानों को अब ब्रिटिश शासन का संरक्षण प्राप्त है। वे अपना राजनैतिक महत्त्व समझने लगे हैं। उन्हें यह विश्वास है कि वे अंग्रेजों के मित्र हैं, वे आर्यों से बदला लेने के लिए जिलाधीश के पास जाने और आर्यसमाजियों के विरुद्ध कान भरने एवं उन्हें राजद्रोही सिद्ध करने की पूरी कोशिश करते हैं। मनुस्मृति के दो-एक श्लोकों की प्रकरण-विरुद्ध और असंगत व्याख्या करते हुए अंग्रेज अधिकारियों को यह विश्वास दिलाने का प्रयास करते हैं कि आर्यसमाज एक प्रतिक्रियावादी ऐसा धार्मिक आन्दोलन है जिसमें बड़ी कट्टरता है; तनिक भी सहिष्णुता नहीं है। यह विदेशी शासन का उन्मूलन करने के लिए कटिबद्ध है। ब्रिटिश अधिकारी उनके बहकावे में आ जाते हैं और यह भूल जाते हैं कि मनुस्मृति स्वामी दयानन्द या उसके किसी अनुयायी की रचना नहीं है, अपितु लाखों वर्ष पुराना ग्रन्थ है। यह ब्रिटिश न्यायालयों में हिन्दू कानून का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। हमें विश्वास है कि रोहतक में आर्यसमाज-विरोधियों ने ऐसा प्रचार करके अधिकारियों के कान भर दिये हैं।"

"रोहतक जिले में यद्यपि आर्यों तथा मुसलमानों में कोई तीव्र धार्मिक संघर्ष नहीं है, फिर भी यहाँ ऐसे मौलवी इस्लाम का प्रबल प्रचार कर रहे हैं जो आर्यों को अपना प्रबल शत्रु समझते हैं। इस विषय में हम कोई निश्चित सम्मति नहीं प्रकट करना चाहते हैं। हमने केवल अब तक अज्ञात तथ्य प्रस्तुत किये हैं, क्योंकि जब तक वर्तमान परिस्थिति की सभी बातों पर विचार न किया जाय तब तक हम इस जिले में की गई उपर्युक्त घोषणा के कारणों को पूरी तरह नहीं समझ सकते हैं।" इस विषय में 'पंजाबी' का यह विचार था कि "यह कार्यवाही आर्यसमाज के विरोधी पौराणिक हिन्दुओं तथा मुसलमानों ने जिलाधिकारियों में आर्यसमाज के विरुद्ध विषवमन करके तथा झूठी शिकायतें करके करवाई है। सम्भवतः किसी अविवेकी अधिकारी ने आर्यसमाज से प्रतिशोध लेने के लिए झूठमूठ ऐसी घोषणा करवा दी है, किन्तु जब आर्यसमाज ने इसके बारे में जिलाधीश से सरकारी आदेश बताने के लिये कहा तो उन्हें विवश होकर सच्ची स्थिति स्वीकार करनी पड़ी।"[1]

(१०) इन्द्रजित आर्य का मामला

श्री इन्द्रजित आर्य शाहजहाँपुर के जिला जज के कार्यालय में सहायक रिकार्ड-कीपर के छोटे-से पद पर कार्य कर रहे थे। उनके हृदय में वैदिक धर्म और आर्यसमाज के प्रति गहरी श्रद्धा और निष्ठा थी। वे इसके प्रचार-कार्य में बड़ी रुचि लेते थे, इसीलिए उन्हें बड़ा कष्ट उठाना पड़ा।[2]

पहली मार्च १९०९ को अपनी बीमारी के इलाज के लिए श्री आर्य ने एक वर्ष के अवकाश का आवेदन-पत्र दिया। ११-३-१९०९ को जिला न्यायाधीश श्री बी० जी०-दलाल ने श्री आर्य के अवकाश को स्वीकार करते हुए लिखा कि "प्रार्थी का ध्यान १२ दिसम्बर १९०३ के सरकारी आदेश की ओर आकृष्ट किया जाता है। मुझे यह बताया गया है कि प्रार्थी अपने अवकाश की अवधि में आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रचार और प्रसार में सक्रिय कार्य करना चाहता है। इस प्रकार के आचरण को सरकार द्वारा बनाये गये उपर्युक्त नियमों का उल्लंघन समझा जायगा और इसके लिए कड़ा दण्ड दिया जाएगा।" अन्त में जज ने यह आदेश दिया कि "इस आज्ञा का हिन्दी-भाषान्तर किया जाय और उस पर प्रार्थी के हस्ताक्षर ले लिए जायें ताकि यह उसे सूचित करने का प्रमाण रहे।"

जज ने अपने आर्डर में सरकार के १२ दिसम्बर १९०३ के जिस आदेश का संकेत किया था, उसमें कहा गया था कि "स्थानीय सरकार सब वर्गों के व्यक्तियों की जानकारी के लिये यह बात स्पष्ट करना उपयोगी समझती है कि सरकार सब प्रकार की संस्थाओं के प्रति अपने कर्मचारियों का क्या कर्त्तव्य समझती है। सरकारी अधिकारी ऐसी सब संस्थाओं और समाजों में सम्मिलित हो सकते हैं, जो गैरकानूनी न हों। किन्तु सरकारी विभाग इस विषय में पूरा ध्यान रखेंगे कि सरकारी कर्मचारी ऐसी संस्थाओं का कार्य बढ़ाने तथा संगठित करने में भाग न लें जो समाज के एक समुदाय का दूसरे

---

१. मुंशीराम जिज्ञासु—पूर्वोक्त पुस्तक, भाग २, पृ० २५७
२. मदनमोहन सेठ—पूर्वोक्त पुस्तक, परिशिष्ट, पृ० २०-२६

समुदाय के साथ संघर्ष बढ़ाने वाली हों या ऐसी संस्था के सिद्धान्तों का प्रचार करें। सरकार यह कभी नहीं चाहती है कि वह अपने कर्मचारियों के निजी विश्वासों और सम्मतियों के बारे में कोई जाँच करे या उनमें कोई हस्तक्षेप करे, किन्तु वह इस बात पर बल देती है कि इसके सभी कर्मचारी, भले ही उनका कोई भी धर्म या विश्वास क्यों न हो, अपने सरकारी कार्यों में तथा प्रभाव का विस्तार करने में तटस्थ दृष्टिकोण बनाये रखेंगे और ऊपर बताई गई ऐसी संस्थाओं तथा समाजों में सक्रिय भाग लेकर जनता में अपनी तटस्थता के बारे में सन्देह नहीं उत्पन्न करेंगे।"

११ मार्च का आदेश पाने के पाँच दिन बाद श्री आर्य ने जज को लिखे एक पत्र में सूचित किया कि "वह अपने इलाज के लिये फतेहगढ़ (जि० फर्रुखाबाद) आ गया है और यहाँ उसकी चिकित्सा चल रही है। वह २० वर्ष से सरकारी सेवा कर रहा है, उसकी ईमानदारी और योग्यता उसकी सर्विस-बुक से स्पष्ट है। वह लगभग २० वर्ष से लेखों और भाषणों से आर्यसमाज की सेवा में लगा हुआ है। उसके द्वारा लिखी गई ३ पुस्तकों का पंजीकरण सरकार द्वारा किया जा चुका है और वे लन्दन के पुस्तकालय में रखी गई हैं। यह सम्भव है कि वह कभी वायु-परिवर्तन के लिए दूसरे स्थान पर जाए और समाज के कार्यों में भाग ले, अतः वह नम्रतापूर्वक निवेदन करता है कि उसके आदेश पर पुनर्विचार किया जाय। आर्यसमाज ऐसी संस्था नहीं है जो १२ दिस० १९०३ के सरकारी आदेश की परिधि में आती हो, क्योंकि यह एक वर्ग, समुदाय या पार्टी को दूसरी पार्टी से लड़ाने का काम नहीं करती है। यह राजनैतिक और प्रशासनिक मामलों में कोई भाग नहीं लेना चाहती है। यह आर्य, सभ्य, सुशिक्षित व्यक्तियों की संस्था है। यह संसार में भलाई का प्रसार और बेईमानी तथा बुराइयों का निवारण करना चाहती है। आर्यसमाज के सदस्य प्रायः सरकारी कर्मचारी होते हैं और अब तक उनके विरुद्ध कोई आपत्ति नहीं उठाई गई है। अतः इस विषय में जज द्वारा दिये गये आदेश पर पुनर्विचार की कृपा की जाय।"

जिला जज श्री बी० जी० दलाल ने इस आवेदन-पत्र को रद्द करते हुए २६-३-१९०९ को लिखा कि 'प्रार्थी' को सूचित कर दिया जाय कि मेरे आदेश में कोई परिवर्तन नहीं होगा।

श्री आर्य ने दिनांक २ अप्रैल १९०३ के तीसरे पत्र में जिला जज को सूचित किया कि वह आपरेशन के बाद ठीक हो गया है, छुट्टी की अवधि पूरी होने से पहले ही अपने कार्य पर आ सकता है। वह सरकार तथा आर्यसमाज का काम साथ-साथ करने को तैयार है। यदि आपका यह आशय है कि एक सरकारी कर्मचारी न तो आर्य-समाज का सदस्य बन सकता है और न ही उसमें कार्य कर सकता है तो मेरा अन्तःकरण इस बात की अनुमति नहीं देता है कि लोभ या भय के वशीभूत होकर मैं अपने धर्म का पालन न करूँ। क्या अन्य सरकारी कर्मचारियों को चर्च में या मस्जिद में जाने से या अपने धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन करने से रोका जाता है? यदि अन्य व्यक्तियों को ऐसा करने से नहीं रोका जाता है तो मुझे क्यों रोका जाता है।" इसके उत्तर में जिला जज ने वही पुराना उत्तर दिया कि मेरे आदेश बिल्कुल स्पष्ट हैं।

इसके बाद १४ मई के चौथे पत्र में पुनः श्री आर्य ने जिला जज को लिखा कि वह ठीक हो गया है, पुनः अपना कार्य करने के लिए इस शर्त पर तैयार है कि वह जैसे

पहले सरकारी सेवा के साथ आर्यसमाज का कार्य कर रहा था, वैसे ही उसे अब भी दोनों कार्य करने की अनुमति दी जाय। यदि ऐसा सम्भव न हो तो उसे कानूनी कार्यवाही तथा अपील करने की अनुमति दी जाय और उसके आवेदनपत्र तथा उन पर सरकारी आदेशों की प्रतिलिपियाँ भी दी जायँ।"

इस पर जज ने १५-५-०९ को आदेश दिया कि "डाक्टरी प्रमाण पत्र देकर प्रार्थी अपने कार्य पर लौट सकता है। मेरे आदेश बिल्कुल स्पष्ट हैं और उसे इनके अनुसार कार्य करना चाहिए।" इस आदेश में एक सरकारी कर्मचारी के आर्यसमाज का सदस्य रहने न रहने के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया था।

श्री आर्य ने इससे यह परिणाम निकाला कि जिला जज के आदेशानुसार सरकारी कर्मचारी आर्यसमाज के सदस्य नहीं रह सकते हैं, अतः उनके लिए आर्यसमाज की सेवा और सरकारी नौकरी में किसी एक का चुनाव करना आवश्यक हो गया। उन्होंने अपने अन्तःकरण की प्रेरणा के अनुसार आर्यसमाज की सदस्यता को अपना धर्म समझते हुए उसके पालन के लिए सरकारी नौकरी से त्यागपत्र देना श्रेयस्कर समझा। २० वर्ष पुरानी सरकारी नौकरी छोड़ना बड़ा साहसपूर्ण कार्य था, किन्तु उन्होंने इसे अपना धार्मिक कर्त्तव्य समझते हुए सरकारी सेवा छोड़ने में तनिक भी विलम्ब नहीं किया और ३१ मई १९०९ को लिखे अपने पाँचवें पत्र में जिला जज को अपना त्यागपत्र स्वीकार करने का अनुरोध किया।

इस पर जज ने अपने आदेश की व्याख्या करते हुए लिखा कि मुझे प्रार्थी के आर्य-समाज का सदस्य बने रहने में कोई आपत्ति नहीं है। आपत्ति केवल उसके द्वारा ऐसा सक्रिय प्रचार करने में है जिससे शान्ति भंग होने या दंगे होने की संभावना हो। यदि प्रार्थी त्यागपत्र देना चाहता है तो मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु इसके लिये दिया गया कारण सही नहीं है।

न्यायाधीश के उपर्युक्त मनोवांछित स्पष्टीकरण के बाद श्री इन्द्रजित शर्मा ने अपना त्यागपत्र वापस ले लिया क्योंकि अब यह निश्चित हो गया था कि वे सरकारी कर्मचारी रहते हुए भी शान्तिपूर्ण रीति से आर्यसमाज के प्रचार का कार्य कर सकते हैं।

श्री इन्द्रजित आर्य के काण्ड ने इस बात को भली-भाँति स्पष्ट कर दिया कि आर्यसमाज के प्रति सरकार का क्या दृष्टिकोण था और वे समाज का काम करने वालों को किस प्रकार हैरान और परेशान करते थे, उन पर सरकारी दबाव डालकर उन्हें आर्यसमाज का कार्य छोड़ने के लिए विवश करते थे। श्री आर्य ने इस प्रकार के दबाव का बड़ी दृढ़ता और साहस के साथ प्रतिरोध किया। किन्तु ऐसी निर्भीकता रखने वालों की संख्या बहुत कम होती है। पता नहीं कितने व्यक्तियों को ऐसे दबाव के कारण आर्यसमाज के कार्य को तिलांजलि देनी पड़ी होगी।

यह सरकारी दृष्टिकोण आर्यसमाज के प्रति अतीव अन्यायपूर्ण था, क्योंकि ईसाई तथा मुस्लिम सरकारी कर्मचारियों द्वारा उनके धर्मप्रचार को रोकने के लिए उन पर कोई ऐसा दबाव नहीं डाला जाता था। आर्यसमाज पर इस विषय में होने वाले अन्याय-पूर्ण सरकारी रवैये की आलोचना करते हुए लाला मुंशीराम ने यह ठीक ही लिखा था —"क्या किसी कमिश्नरी के यूरोपियन ईसाई कमिश्नर को किसी चर्च में ईसाइयत के सत्य सिद्धान्तों का प्रचार करने से इस आधार पर रोका जा सकता है कि उसके

ईसाइयत के प्रचार पर कुछ मूर्ख मुसलमान, हिन्दू और जैन शायद आपत्ति करें? यदि वायसराय द्वारा ईसाई सम्प्रदाय के वार्षिक सम्मेलनों तथा समारोहों के लिए सरकारी सम्पत्ति का उपयोग करना उचित समझा जाता है तो एक बेचारे गरीब क्लर्क को अपनी समझ और योग्यता के अनुसार अपने धर्म के प्रचार और सेवा के आनन्द से क्यों वंचित किया जाता है?" इन्द्रजित के मामले ने इस विषय में सरकारी अधिकारियों के आर्यसमाज के प्रति पक्षपात एवं अन्याय से परिपूर्ण रवैये को जगजाहिर कर दिया। यही इस मामले की सबसे बड़ी उपलब्धि थी।"[1]

(११) उत्पीड़न के अन्य उदाहरण

इस समय के आर्य समाजीपत्रों में सरकार द्वारा आर्यों के दमन के अनेक समाचार प्रकाशित होते रहते थे। लाहौर जिले के शकरपुर गाँव के विद्यालय में एक अध्यापक बड़ा लोकप्रिय था। स्थानीय हिन्दू और मुसलमान दोनों उसे बहुत चाहते थे, उसके कार्य से बड़े प्रसन्न थे। लाला लाजपतराय को देश-निर्वासन का दण्ड दिया जाने से पहले इस गाँव में आर्यसमाज का एक उत्सव हुआ। इसमें उपर्युक्त अध्यापक ने बड़े उत्साह से भाग लिया। लालाजी के निर्वासन के बाद एक सरकारी अफसर ने उस गाँव के मुसलमानों से यह पूछा कि उन्हें आर्यसमाज के जलसे के बारे में कोई शिकायत तो नहीं है? मुसलमानों ने यह उत्तर दिया कि इसमें दिये गये व्याख्यानों से उनकी धार्मिक भावनाओं को गहरी ठेस पहुँची है। इस पर उपर्युक्त अध्यापक को बिना कारण बताये सेवामुक्त कर दिया गया।[2]

लाला लाजपतराय को देश-निर्वासन का दण्ड दिये जाने के बाद तीन-चार समाजों के मन्त्री गुरुकुल में महात्मा मुंशीराम के पास आये और उन्हें यह बताया कि पुलिस उन्हें ऐसा परेशान कर रही है, जैसे वे अपराध करने वाली जनजातियों (Criminal Tribes) के सदस्य हों; उनसे आर्यसमाज के सदस्यों की सूची माँगी जा रही है। जालन्धर आर्यसमाज के मन्त्री को भी सदस्यों की सूची देने को कहा गया था। इस सभा के सदस्यों में तीन सरकारी नौकर थे। जब उन्हें इस बात का पता लगा तो उन्होंने तत्काल मन्त्री को अपना त्यागपत्र दे दिया और यह कहा कि वह आर्यसमाज के सदस्यों की सूची में से उनका नाम काट दे और अपनी संशोधित सूची अगले दिन सरकार को दे दे ताकि उनकी नौकरी पर कोई आँच न आये।[3]

किन्तु ऐसा दब्बूपन और निर्बलता सभी आर्यसमाजियों में नहीं था। ऐसे आर्यों की संख्या पर्याप्त थी जो सरकारी नौकरी से समाज के काम को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे। यदि दोनों में चुनाव करना आवश्यक हो और सरकारी सेवा करते हुए वे आर्यसमाज का काम न कर सकते हों तो वे सरकारी नौकरी से त्यागपत्र देने में संकोच नहीं करते थे। इसका एक उत्तम उदाहरण पश्चिमोत्तर प्रदेश (संयुक्त प्रान्त) के प्रसिद्ध

---

१. लाला मुंशीराम जिज्ञासु तथा रामदेव—आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स, भाग २, पृ० २६२-६९

२. प्रकाश, २ दिसम्बर १९०८

३. वही

आर्यसमाजी नेता पंडित भगवान दीन का है। वे सरकारी नौकरी में थे। उनका सारा कार्य अतीव सन्तोषजनक था। सभी सम्बद्ध अधिकारियों ने उनके काम की पूरी प्रशंसा की थी, किन्तु जब सरकार आर्यसमाज की राजद्रोहपूर्ण कल्पित गतिविधियों से भयभीत हो गई तब उनके अधिकारी ने पण्डितजी से यह आश्वासन लेना चाहा कि वे आर्यसमाज का कोई काम न करेंगे। पण्डितजी के ऐसा आश्वासन न देने पर उन पर तरह-तरह के प्रतिबंध लगाये जाने लगे, यहाँ तक कि उन्हें छुट्टी देने से भी इन्कार कर दिया गया। इस पर असन्तुष्ट होकर पण्डितजी ने सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और स्वतंत्र होकर पूर्ण रूप से आर्यसमाज की सेवा में लग गये।[1]

(१२) दमन के प्रभाव

आर्यसमाज पर सरकारी दमन और उत्पीड़न के कुछ प्रभाव उल्लेखनीय हैं। सबसे बड़ा प्रभाव आर्यसमाज की नीति में एक बड़ा परिवर्तन आना था। अब तक आर्यसमाजी अपनी संस्थाओं के समारोहों में सरकारी अधिकारियों को निमन्त्रित नहीं करते थे, क्योंकि वे इसे भद्दे ढंग की चापलूसी और चाटुकारिता समझते थे। वे सरकारी अधिकारियों के प्रभाव से सर्वथा स्वतंत्र रहना चाहते थे। लाहौर में यहाँ तक स्थिति थी कि शिक्षा-विभाग के सरकारी निरीक्षकों को डी० ए० वी० स्कूलों में घुसने तक नहीं दिया जाता था[2] किन्तु इस दमन के बाद आर्यसमाज के नेताओं में शासन की कृपा चाहने वाले वर्ग ने जब सरकारी अधिकारियों को प्रसन्न करने के लिए अपने समारोहों में बुलाना शुरू किया तो समाज के स्वाधीनचेता, पुराने स्वतन्त्र विचारों वाले व्यक्तियों ने इसका घोर विरोध किया क्योंकि चिरकाल से चली आने वाली आर्यसमाजियों की इस मनोवृत्ति में सहसा परिवर्तन नहीं आ सकता था। लाला लाजपतराय ने इसका सोदाहरण सुन्दर चित्रण करते हुए लिखा है—

"डी० ए० वी० कॉलेज की मैनेजिंग कमेटी के प्रधान ने पंजाब विश्वविद्यालय के अंग्रेज वायस चांसलर को अपने कॉलेज के निरीक्षण के लिये आमन्त्रित किया और उसके स्वागत में मानपत्र पढ़ा, किन्तु जब इस कमेटी के एक उच्च सरकारी पदाधिकारी ने इस बात का प्रस्ताव रखा कि अंग्रेज कुलपति को पुरस्कार के समारोह की अध्यक्षता के लिए आमन्त्रित किया जाय तो पुरानी स्वतन्त्र भावना रखने वाले आर्यसमाजी सदस्यों ने इस प्रस्ताव का इतना उग्र विरोध किया कि प्रस्तावक को अपना प्रस्ताव वापस लेना पड़ा। अध्यक्ष ने भी इसका समर्थन नहीं किया। स्वतन्त्र एवं सरकार की कृपा चाहने वाले व्यक्तियों में यह संघर्ष १९१० तक चलता रहा।"[3] किन्तु लाला लाजपतराय के देश-निर्वासन के बाद आर्यसमाजियों में जो भय और आतंक की भावना उत्पन्न हो गयी थी, उसके कारण, धीरे-धीरे सरकारी कर्मचारियों का पलड़ा आर्यसमाज में भारी होने लगा और इससे प्रोत्साहित होकर **सिविल एण्ड मिलिटरी गजट** में एक ऐसे आर्यसमाजी सरकारी अधिकारी ने भयभीत होकर यहाँ तक लिख डाला कि

---

१. इन्द्र विद्यावाचस्पति—आर्यसमाज का इतिहास, दूसरा भाग, पृ० ३३

२. लाला लाजपतराय—आर्यसमाज, पृ० १९७

३. वही, पृ० १९८

लाजपतराय आर्यसमाज के कभी नेता नहीं रहे हैं।[1] उन्होंने अपने शिष्टमंडलों द्वारा सरकार को पूरी निष्ठा और राजभक्ति का आश्वासन दिया।

किन्तु फिर भी यह मानना पड़ेगा कि उस समय सामान्य आर्यसमाजी उतने भयभीत और आतंकित नहीं हुए, जितने सरकारी सेवा करने वाले आर्यसमाजी सन्त्रस्त थे। ऊपर श्री लक्ष्मण राव, इन्द्रजित और भगवानदीन आदि ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा चुके हैं जिन्होंने आर्यसमाज के सिद्धान्तों को तिलांजलि देने के स्थान पर सरकारी सेवा से त्यागपत्र देना अधिक वांछनीय समझा। आर्यसमाजी जनता में यह स्वतन्त्र भावना बनी रही और उस समय स्पष्ट हुई जब अपने निर्वासन के बाद बर्मा से लाजपतराय लाहौर लौटे। उस समय आर्यसमाज के उत्सव पर उनके भाषण में एकत्र विशाल जन-समुदाय ने इस बात को भलीभाँति प्रमाणित कर दिया कि आर्यसमाज के नेता भले ही सरकार से डर गये हों, उन्होंने लालाजी का डी० ए० वी० कॉलेज से सम्बन्धविच्छिन्न कर दिया हो, किन्तु जनता इस दमन से बिल्कुल नहीं घबरायी है।[2]

फिर भी सरकारी अधिकारियों की समाज में प्रतिष्ठा इसलिए बनी रही कि स्वतन्त्र विचार रखने वाले आर्यसमाजियों ने अधिकारियों की चाटुकारिता से अप्रसन्न होकर समाज के कार्यों में दिलचस्पी लेना कम कर दिया। उन्होंने पदाधिकारियों के चुनावों में खड़ा होना बन्द कर दिया और सरकारी कर्मचारी आर्यसमाज में हावी हो गये। भाई परमानन्द की गिरफ्तारी के बाद इस स्थिति में और अधिक परिवर्तन आया। डी० ए० वी० कॉलेज की प्रबन्ध-समिति ने उन्हें त्यागपत्र देने को कहा और डिप्टी-कमिश्नर ने आर्यसमाज की दोनों पार्टियों के नेताओं को बुलाकर यह धमकी दी कि यदि वे निम्नलिखित दो काम नहीं करते हैं तो इसके भीषण परिणाम हो सकते हैं

(१) लाला लाजपतराय द्वारा स्थापित राष्ट्रीय पत्र 'पंजाबी' राजभक्तों के हाथों में सौंप दिया जाय ताकि इसमें सरकार की आलोचना बन्द हो जाय।

(२) लाला लाजपतराय का समाज से सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया जाय।

नेताओं ने दोनों बातें मान लीं और इस प्रकार आर्यसमाज में सरकार के साथ सक्रिय सहयोग का नया युग शुरू हुआ।[3]

लाला लाजपतराय का यह विचार था कि सरकारी दमनकाल में आर्यसमाज के दोनों दलों में से गुरुकुल पार्टी ने राजनैतिक मामलों में कॉलेज पार्टी की अपेक्षा अधिक स्वाधीनता प्रदर्शित की।[4] समाज यद्यपि अराजनैतिक संस्था थी, फिर भी गुरुकुल पार्टी के नेता महात्मा गांधी, गोखले आदि राजनैतिक नेताओं के साथ अधिक सम्पर्क रखते थे तथा राजनैतिक गतिविधियों में अधिक दिलचस्पी लेते रहे।[5] स्वामी श्रद्धानन्द और उनके अधिकांश साथियों ने महात्मा गांधी द्वारा चलाये गये असहयोग-आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण भाग लिया, जबकि डी० ए० वी० कॉलेज के अधिकारियों ने इसका विरोध किया और

---

१. पूर्वोक्त पुस्तक
२. लाला लाजपतराय—आर्यसमाज, पृ० १९९
३. वही, पृ० १९९
४. वही, पृ० २००
५. होम पोलिटिकल (गोपनीय) डिपार्टमेंट प्रोसीडिंग्स, पार्ट ए, एप्रिल १९१२

अपने छात्रों को इसमें भाग लेने से रोका। सम्भवतः इसका यह कारण था कि गुरुकुल सरकारी नियन्त्रण से सर्वथा स्वतन्त्र संस्था थी, जबकि डी० ए० वी० कॉलेज विश्वविद्यालय से और स्कूल शिक्षा-विभाग से सम्बद्ध और मान्यता-प्राप्त थे। इस प्रकार कॉलेजपक्ष के नेता राजनीति में या तो निष्क्रिय हो गये या सरकार के समर्थक बन गये, जबकि गुरुकुल पार्टी के नेताओं ने अपनी स्वतन्त्र स्थिति बनाये रखी।

यह १९वीं शताब्दी की अन्तिम दशाब्दी की स्थिति का विलोम था।[1] उस समय और १९१० तक सरकार गुरुकुल पार्टी की तुलना में कॉलेज पार्टी को अधिक राजद्रोही और खतरनाक समझती थी। सर डेनिस फिट्ज पैट्रिक ने गुप्तचर विभाग को यह सूचना दी थी कि घासपार्टी की तुलना में मांसपार्टी राजनैतिक कार्यों में अधिक दिलचस्पी लेती है।[2] एक अन्य गुप्त सरकारी रिपोर्ट के अनुसार यह दल १८९५ से सरकार-विरोधी था और इसके प्रमुख वक्ता आर्यसमाज के 'उदार' एवं राष्ट्रीय स्वरूप के बनाये रखने पर बड़ा आग्रह करते थे। १९०७ मे लाला लाजपतराय के निर्वासन से यह धारणा अधिक पुष्ट हुई, किन्तु आर्यसमाज से उनका सम्बन्ध विच्छिन्न होने से सरकार की इस धारणा में परिवर्तन होने लगा। १९१० में सेना-विभाग शाकाहारी होने के कारण घास-पार्टी को सेना में भर्ती करने लायक नहीं समझता था और मांसाहारी आर्यों वाली कॉलेज पार्टी को खतरनाक राजनैतिक विचार रखने वाली समझता था और इससे सम्बद्ध आर्यों के सेना में प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक समझता था।[3]

---

१. होम पोलिटिकल (गोपनीय) डिपार्टमेंट प्रोसीडिंग्स, पार्ट ए, एप्रिल १९१२

२. सी० आई० सर्कुलर, दिनांक २० दिस० १९०९ तथा होम पो० डि० डिपाजिट, अगस्त १९१०, सं० ७

३. वही, पृ० ३०९-१०

चौदहवाँ अध्याय

पटियाला अभियोग

वर्तमान शताब्दी के पहले दशक में आर्यसमाजियों पर राजद्रोह के लिए चलाया जाने वाला सबसे प्रसिद्ध मामला पटियाला अभियोग है। इसने उस समय जितनी सनसनी और प्रसिद्धि प्राप्त की थी, उतनी सम्भवतः आर्यसमाज के विरुद्ध चलाये गये किसी दूसरे मामले को नहीं मिली है। महात्मा मुंशीराम ने वर्षों पहले आर्यसमाज तथा गुरुकुल के काम के लिए अपनी वकालत की प्रैक्टिस छोड़ दी थी। किन्तु इस मामले में अभियुक्तों की पैरवी के लिए उन्होंने पुनः वकालत का चोगा पहना और इस मामले में अपनी पूरी शक्ति लगा दी। इस मामले का विशेष महत्त्व इस कारण से भी है कि इसमें पहली बार सरकारी वकील ने विस्तारपूर्वक उन प्रमाणों को सार्वजनिक रूप में प्रस्तुत किया, जो प्रायः आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था सिद्ध करने के लिए दिये जाते थे और गुप्त सरकारी रिपोर्टों में वर्णित होने से जनता को पहले ज्ञात नहीं थे। यद्यपि इस मामले में इन प्रमाणों पर विस्तृत बहस नहीं हो सकी, फिर भी इनकी यहाँ विस्तृत समीक्षा करना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि यही प्रमाण आर्यसमाज के विरोधियों द्वारा बार-बार प्रस्तुत किये जाते रहे हैं।

(१) ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

विभाजन से पहले पटियाला पंजाब की एक प्रमुख महत्त्वपूर्ण सिख रियासत थी। इसमें आर्यसमाज का आन्दोलन बीसवीं शताब्दी के शुरू में बड़ा लोकप्रिय और प्रबल था। यहाँ राज्य के अनेक अधिकारी और कर्मचारी आर्यसमाज के सक्रिय सदस्य थे, इसके सब कार्यक्रमों में पूरी दिलचस्पी लेते थे और वैदिक धर्म के प्रचार के लिए पूरा प्रयास करते रहते थे। आर्यसमाज धार्मिक प्रचार के साथ-साथ नैतिक सिद्धान्तों के पालन और जीवन की शुद्धता और पवित्रता पर भी बड़ा बल देता था। अतः आर्यसमाज के सक्रिय सदस्य इस बात का प्रयास करते थे कि प्रशासन को भ्रष्टाचार से मुक्त और विशुद्ध रखा जाय और इसकी क्षमता को निरन्तर बढ़ाया जाय। किन्तु कुछ स्वार्थी और भ्रष्ट अधिकारियों को आर्यसमाज के सदस्य अपने उद्देश्यों की पूर्ति में बाधक प्रतीत होते थे। वे इन्हें किसी-न-किसी प्रकार शासन में नगण्य और प्रभावशून्य बनाना चाहते थे और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपयुक्त अवसर तथा व्यक्ति की खोज में थे।

इस समय सौभाग्यवश उन्हें अपने इस कार्य में रियासत के एक अंग्रेज अधिकारी वारबर्टन की बहुमूल्य सहायता प्राप्त हुई। यह उस समय रियासत में पुलिस तथा जेल-विभाग का महानिरीक्षक था और डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट के पद पर कार्य कर रहा था। यह राज्य का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अधिकारी था और रियासत में सर्वेसर्वा बना हुआ

था। उसकी आयु लगभग ७० वर्ष हो चुकी थी। वह अपने कार्यकाल की अवधि में वृद्धि प्राप्त करने के उपाय सोच रहा था। उसे राज्य में अपने महत्त्व को बढ़ाने और अपने सेवाकाल में वृद्धि कराने का यह उपाय अधिक अच्छा प्रतीत हुआ कि वह राज्य में आर्य-समाजियों पर राजद्रोह का अभियोग चलाये, उनको राज्य के लिए महान् संकट सिद्ध करे और इससे निवारण के लिए अपनी उपयोगिता महाराजा तथा अन्य सभी प्रमुख अधिकारियों के मनों में अच्छी तरह बिठा दे, ताकि राज्य में उसकी उपयोगिता राज-द्रोह के कार्यों को रोकने के लिए आवश्यक समझी जाय और इस कारण उसे सेवाकाल में निरन्तर वृद्धि प्राप्त होती रहे। श्री रामदेव ने लिखा है कि "इस समय राज्य में वार-बर्टन सर्वशक्तिशाली बना हुआ था। वह इसकी (कार्यकाल की) वृद्धि के लिए बहाना ढूंढ रहा था और उसे यह विश्वास भी था कि राजद्रोह का मामला चलाने से उसे इसमें सहायता मिलेगी।"[1]

यह कहा जाता है कि सार्वजनिक निर्माण-विभाग तथा महालेखाकार के कार्या-लय में इस समय अनेक आर्यसमाजी प्रमुख पदों पर थे। ये अपनी ईमानदारी और कार्य-क्षमता के लिए प्रसिद्ध थे और कोई भी गलत काम नहीं होने देते थे। दुर्भाग्यवश इनका कुछ मामलों में वारबर्टन से मतभेद हो गया। यह राज्य में सर्वेसर्वा बने अधिकारी के लिए असह्य था, क्योंकि वह शासन के लिए इस समय बनी हुई परिषद् (रीजेन्सी कौंसिल) के और राज्य के वजीर के आदेशों की भी परवाह नहीं करता था। उसे सार्वजनिक निर्माण-विभाग के अधिकारियों की धृष्टता बड़ी नागवार प्रतीत हुई। उसने इन्हें कड़ा दण्ड देने का निश्चय किया। ये अधिकारी आर्यसमाजी थे। अतः उसने इन पर राजद्रोह के लिए मुकद्दमा चलाकर अपने को राज्य का त्राता और रक्षक सिद्ध करने का निर्णय किया। उसका विश्वास था कि इस प्रकार वह अपने सेवाकाल में आसानी से वृद्धि प्राप्त कर सकेगा। उन दिनों लाहौर से निकलने वाले 'पंजाबी' दैनिक पत्र के अनेक लेखों में इस बात पर विशेष प्रकाश डाला गया था कि वारबर्टन इस समय बहुत अधिक वेतन ले रहा था, राज्य में इस समय पूर्णरूप से शांति थी और सामान्य रूप से ऐसा कोई कारण नहीं था कि इतने अधिक वेतन पर एक ७० वर्ष से अधिक आयु के व्यक्ति को रखा जाय। उसकी दृष्टि में अपनी उपयोगिता बनाये रखने का प्रभावशाली उपाय आर्यसमाजियों पर राजद्रोह का आरोप लगाना था। उन दिनों देश में राष्ट्रीय भावना के प्रसार के कारण आर्यसमाजियों को बड़े सन्देह और अविश्वास की दृष्टि से देखा जाता था। वे क्रान्तिकारी और राजद्रोही माने जाते थे। इस परिस्थिति में वह आर्यसमाज पर राजद्रोह का आरोप लगाकर अपना प्रयोजन भली-भाँति सिद्ध कर सकता था।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वारबर्टन ने सर्वप्रथम राज्य में बढ़ती हुई राजद्रोह की भावना के प्रचार के बारे में एक गुप्त रिपोर्ट राज्य के उच्च अधिकारियों के समक्ष प्रस्तुत की। इसमें यह बताया गया था कि महाराजा के विरुद्ध एक बड़ा षड्यन्त्र रचाया जा रहा है। इसका प्रमुख केन्द्र आर्यसमाज है। राज्य के आर्यसमाजी इसमें बड़ी तत्परता और दिलचस्पी से भाग ले रहे हैं। यदि षड्यन्त्रकारियों को पकड़ने और कठोर दण्ड

---

१. मुंशीराम जिज्ञासु तथा रामदेव—आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स, गुरुकुल काँगड़ी, १९१०, पृ० ५२

देने के लिए आवश्यक कार्यवाही जल्दी न की गयी तो राज्य की सुरक्षा खतरे में पड़ जायेगी और इसके बड़े भीषण परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं। अतः उसे षड्यन्त्रकारी आर्यसमाजियों पर मुकद्दमा चलाने की अनुमति राज्य द्वारा तुरन्त दी जानी चाहिए ताकि इनको पकड़ा जा सके और राज्य पर आये भीषण संकट का निवारण किया जा सके।

इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि वारबर्टन एक ओर पुलिस-विभाग का उच्चतम अधिकारी—इंस्पेक्टर-जनरल था, इस हैसियत से उसको राज्य के किन्हीं भी व्यक्तियों के विरुद्ध प्रमाण एकत्र करके मुकद्दमा चलाने का अधिकार था और दूसरी ओर वह जिलाधीश (डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट) होने के कारण इन्हें दण्ड देने का भी अधिकार रखता था। उसे यह विश्वास था उसकी यह योजना पूरी तरह से सफल होगी, अतः उसने इसे कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक कार्यवाही आरम्भ कर दी।

(२) गिरफ्तारियाँ, पुलिस की धाँधली तथा कानून की उपेक्षा

११ अक्टूबर १९०९ आर्यसमाज के इतिहास में स्मरणीय दिवस है। इस दिन यहाँ पुलिस ने जिस अविवेकपूर्ण ढंग से तलाशियाँ लीं और गिरफ्तारियाँ कीं, उससे पटियाला स्तब्ध रह गया। एक घर में तलाशी लेने से पुलिस के सिपाही को कोई आपत्तिजनक वस्तु नहीं मिली, अतः वह इस घर के स्वामी को पकड़कर कोतवाली ले गया। वहाँ उस सिपाही ने देखा कि उसके अन्य साथी अन्य घरों की तलाशी में दो-तीन बक्से भरकर कोतवाली ले आये हैं। उनसे प्रेरणा पाकर अपनी कारगुजारी दिखाने के लिए यह सिपाही अपने बन्दी को घर ले गया तथा उसने पहली बार की तलाशी में निर्दोष समझकर छोड़ी गई कुछ सामग्री, कागजात और पुस्तकें बक्से में भरीं और उन्हें कोतवाली में ले गया। उसे दुबारा पुलिस स्टेशन पहुँचने पर यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उसके कुछ साथी छः-सात बक्से भरकर आपत्तिजनक सामग्री लाये हैं। वह इस दौड़ में पीछे नहीं रहना चाहता था। उसने तीसरी बार पहले मकान पर छापा डाला और वहाँ से वह सब कागज, यहाँ तक कि कोरे कागज और बहियाँ भी अपने साथ उठा लाया। गिरफ्तारियाँ होने पर जब कुछ व्यक्ति ब्रिटिश प्रदेश के अन्य नगरों में विद्यमान इनके रिश्तेदारों को तार से सूचना देने के लिए तारघर गये तो उन्हें पुलिस ने उन्हें बन्दी बना लिया; २४ घंटे तक हिरासत में रखा। इनके खाने की तो एकादशी हुई, पीने को पानी भी नहीं दिया गया। कुल गिरफ्तार ११५ व्यक्तियों में से ४० जमानत पर छोड़े गये। बन्दी बनाये ७५ व्यक्तियों में से ६० के लगभग ब्रिटिश प्रजाजन थे। गिरफ्तार व्यक्तियों को घोड़ों के अस्पताल के निकट जंगली घास वाले स्थान पर तम्बुओं में रखा गया। यहाँ एक दिन तम्बू में कोबरा साँप निकल आया। जब बन्दियों ने इसकी शिकायत मुसलमान अधिकारी से की और कहा कि यहाँ उनका जीवन सुरक्षित नहीं है तो उसने व्यंग्य में उत्तर दिया कि काला साँप काले आदमी को नहीं काटता है।"[1]

पंजाब और भारत के प्रमुख समाचारपत्रों में पटियाला में आर्यसमाजियों के बड़ी संख्या में पकड़े जाने का समाचार प्रकाशित हुआ। इसमें यह कहा गया था कि ताजीरात हिन्द की धारा १२४-ए तथा १५३-ए के अधीन राजद्रोह के अपराध में इन

१. 'पंजाबी' (२७-११-१९०९)

व्यक्तियों को गिरफ्तार किया गया है। उनके घरों की तलाशी ली जा रही है। इस सनसनीखेज समाचार से पंजाब में बड़ी हलचल मच गई। इस मामले की विस्तृत जानकारी पाने के लिए जनता उत्सुक हो उठी, किन्तु काफी दिनों तक समाचारपत्रों को इसकी कोई प्रामाणिक सूचना राज्य की ओर से नहीं दी गई। समाचारपत्र इस बारे में अपने अनुमान और अटकलें प्रकाशित करते रहे। कुछ एंग्लो-इण्डियन पत्रों ने गिरफ्तार व्यक्तियों की संख्या सैकड़ों में लिखी। किन्तु अन्य पत्र इसे १०० से अधिक नहीं मानते थे। यह भी कहा जा रहा था कि बन्दी बनाये गये व्यक्तियों में काफी संख्या छात्रों की है और एक-दो मुसलमान भी हैं और कई-एक गिरफ्तार व्यक्ति सिख हैं। अन्त में इस विषय में एक प्रामाणिक सूचना 'पंजाबी' नामक पत्र में छपी। यह पटियाला अभियोग में बन्दी बनाये प्रमुख व्यक्तियों द्वारा अपनी ओर से पैरवी के लिए नियुक्त किये गये लाहौर के सुप्रसिद्ध बैरिस्टर रोशनलाल द्वारा की गयी जाँच के आधार पर दी गई थी। उन्होंने पटियाला जाकर अपने मुवक्किलों के बारे में विभिन्न राज्याधिकारियों एवं अन्य व्यक्तियों से मिलकर बहुमूल्य जानकारी प्राप्त की थी और उनके प्रमुख निष्कर्ष निम्नलिखित थे—

(१) राज्य में कुछ समय से यह अफवाह गर्म थी कि पटियाला राज्य की शासन-परिषद् (रीजेन्सी कौन्सिल) पंजाब सरकार के पुलिस-विभाग से अवकाश प्राप्त करने के बाद पटियाला राज्य में पुलिस के महानिरीक्षक, जेलों के महानिरीक्षक और पटियाला के डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट के तीनों पदों पर एक-साथ काम करने वाले मिस्टर वारबर्टन की सेवायें समाप्त करने के लिए उत्सुक थी।

(२) मिस्टर वारबर्टन कुछ समय से इस बात का प्रचार कर रहे थे कि महाराजा के प्रदेश में उनके विरुद्ध कुछ राजद्रोही षड्यन्त्र तैयार करने में लगे हुए हैं। वे राज्य के उच्च अधिकारियों को इस बात का विश्वास दिलाने में लगे हुए थे कि उनका यह विश्वास निराधार नहीं है और षड्यन्त्रकारियों को गिरफ्तार करने की कार्यवाही तुरन्त की जानी चाहिए।

(३) ११ अक्टूबर १९०९ को और उसके बाद कुछ दिनों में पटियाला शहर में एवं इस राज्य के अन्य स्थानों में पुलिस द्वारा ८४ व्यक्तियों को बन्दी बनाया गया। इनमें राज्य के लगभग सभी प्रमुख आर्यसमाजी थे। इनमें से कुछ उल्लेखनीय व्यक्तियों के नाम इस प्रकार थे—पटियाला आर्यसमाज के अध्यक्ष तथा एक्जीक्यूटिव इंजीनियर राय ज्वालाप्रसाद, समाज के मन्त्री लाला लक्ष्मण दास बी० ए०, लोकनिर्माण-विभाग के लेखाकार लाला नन्दलाल, लाला बृजनाथ बी० ए० बी० टी०, हेड मास्टर स्टेट हाई-स्कूल पटियाला आर्यसमाज। आर्यसमाज के सभी सदस्यों, यहाँ तक कि चपरासी को भी गिरफ्तार कर लिया गया। आर्यसमाज के मन्दिर में ताला लगा दिया गया और इस पर पुलिस का पहरा बिठा दिया गया।

(४) गिरफ्तार किये गये व्यक्तियों को उनपर लगाये गये आरोपों के बारे में कोई सूचना नहीं दी गई थी, केवल उनके वारंट में राजद्रोह की १२४-ए तथा १५३-ए की धाराओं का उल्लेखमात्र था।

(५) अभियुक्तों के घरों में जो तलाशियाँ ली गईं, वे सर्वथा अनियमित और अवैध थीं क्योंकि इन्हें लेते हुए फौजदारी जाब्ता कानून में बताये गये आवश्यक नियमों की घोर उपेक्षा की गयी थी। इस बारे में यह भी पता लगा कि ये तलाशियाँ अभियुक्तों

के घरों में अपराधवाली सामग्री के बारे में प्राप्त किसी सूचना के आधार पर नहीं ली गयी थीं, अपितु इस विचार से ली गयी थीं कि उनमें कोई भी ऐसी चीज ढूँढ निकाली जाय जिनसे उन्हें अपराधी सिद्ध किया जा सके। यह इस बात से स्पष्ट है कि बन्दी बनाये व्यक्तियों के घरों से गाड़ियाँ भरकर जो कागजात और पुस्तकें एकत्र की गयीं, उनमें बाइबल, रामायण और स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थ और चित्र भी थे।

पटियाला के महाराजा ने इन अभियुक्तों का मामला सुनने के लिए एक विशेष न्यायालय का गठन किया। इसे इन अभियुक्तों पर चलाये गये मामले पर विचार करने के लिए चीफ कोर्ट के अधिकार दिये गये। जब विशेष न्यायालय के सम्मुख अभियुक्तों की पैरवी के लिए उनका वकील खड़ा हुआ तो उसे यह पता लगा कि न्यायालय के द्वारा आदेश दिये जाने के बावजूद अभी तक अभियुक्तों के विरुद्ध कोई आरोप-पत्र तथा शिकायतें नहीं दी गई हैं, इस विषय में कोई कागजात न्यायालय में नहीं भेजे गये हैं। मिस्टर बारबर्टन ने इस बारे में जो कार्यवाही की थी, उससे यह स्पष्ट था कि उसने गिरफ्तारी के बारे में कानूनी विधि-विधानों का पालन करने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया और विशेष न्यायालय की सत्ता की उपेक्षा की है। अभियुक्तों के वकील मिस्टर रोशनलाल यद्यपि मिस्टर बारबर्टन के पास न्यायालय का लिखित आदेश लेकर गये थे, किन्तु उन्हें अपने मुवक्किलों से मिलने की अनुमति इस विचित्र युक्ति के आधार पर नहीं दी गयी कि अभी तक जाँच का काम चल रहा है। न्यायालय ने एक अभियुक्त को जमानत पर रिहा करने का आदेश दिया, किन्तु इस आदेश के पालन में पुलिस के महानिरीक्षक द्वारा काफी समय तक टालमटोल की गई। जब २२ नवम्बर को अभियुक्तों को न्यायालय में लाया गया तो पुलिस ने उन्हें दुबारा हवालात में रखने की अनुमति देने की प्रार्थना की। बारबर्टन ने न्यायालय का आदेश होते हुए भी चिरंजीलाल को हवालात से मुक्त नहीं किया, किन्तु अपनी वैयक्तिक जान-पहचान के आधार पर अनेक व्यक्तियों को रिहा कर दिया।

(३) अभियोग का श्रीगणेश

इस मुकद्दमे की सुनवाई २२ नवम्बर १९०९ से शुरू हुई। पुलिस द्वारा अभियुक्तों के विरुद्ध अदालत में प्रमाण के रूप में प्रस्तुत की जानेवाली सामग्री कई गाड़ियों में भरकर लाई गई। इसमें प्रधान रूप से राजद्रोह पैदा करने वाले साहित्य को प्रस्तुत किया गया जो अभियुक्तों के घरों से तलाशी में बरामद हुआ था और जिसमें रामायण, महाभारत तथा स्वामी दयानन्द के अनेक ग्रन्थ थे। अभियुक्तों के विरुद्ध मामला चलाने के बारे में कोई आरोपपत्र अदालत में नहीं प्रस्तुत किया गया था और यह भी स्वीकार किया गया कि इनकी पत्रावली में भी ऐसे कोई आरोप नहीं बताये गये हैं। पुलिस ने अभियुक्तों के विरुद्ध आवश्यक प्रमाण एकत्र करने के लिए इन्हें हवालात में अधिक समय तक रखने (रिमाण्ड) की मुहलत माँगी और न्यायालय ने इस माँग को स्वीकार करते हुए २५ नवम्बर तक मामले की कार्यवाही स्थगित कर दी।

जब अगली पेशी पर अदालत में इस विषय पर विचार आरम्भ हुआ तो लाहौर हाइकोर्ट के एक मूर्धन्य समझे जाने वाले ब्रिटिश बैरिस्टर ग्रे सरकार की ओर से अभियोग चलाने के लिए उपस्थित हुए; किन्तु इस दिन भी अभियुक्तों को कोई आरोप-पत्र

अथवा उनके अपराधों का विवरण नहीं दिया गया। इन्हें न्यायालय में भी नहीं लाया गया। न्यायाधीशों और अभियुक्तों के वकीलों को काफी समय तक अदालत में प्रतीक्षा करनी पड़ी, क्योंकि इस समय सरकारी वकील मिस्टर ग्रे महाराजा से महत्त्वपूर्ण बातचीत करने में व्यस्त थे। एक घण्टे की प्रतीक्षा के बाद अदालत के जजों को महाराजा ने अपने पास बातचीत के लिए बुलाया और डेढ़ घंटे तक यह बातचीत चलती रही। इसके बाद जब न्यायाधीश अदालत में आये तो अभियुक्तों के वकील ने इस बात पर बल दिया कि मामला आगे चलाने से पहले अभियुक्तों के विरुद्ध लगाये गये आरोपों की सूची अदालत में प्रस्तुत की जानी चाहिये। यह उनकी सर्वथा न्यायोचित और स्वाभाविक माँग थीं, क्योंकि जब तक अभियुक्तों के वकील को यह ज्ञात न हो कि उसके मुवक्किल के विरुद्ध क्या आरोप हैं, तब तक वह उनकी सफाई देने तथा उनके बचाव के लिए कोई तैयारी नहीं कर सकता था।

किन्तु ग्रे ने इस माँग का इस विचित्र युक्ति के आधार पर विरोध किया कि भले ही बचाव-पक्ष की यह माँग जाब्ता फौजदारी (क्रिमिनल लॉ प्रोसीजर कोड) में दी गई व्यवस्थाओं के अनुकूल है, किन्तु ब्रिटिश भारत में प्रचलित यह जाब्ता पटियाला राज्य में लागू नहीं होता है, क्योंकि "यहाँ महाराजा ही कानून है।" न्यायालय ने श्री ग्रे के इस तर्क को स्वीकार नहीं किया और आरोपपत्र शीघ्र ही प्रस्तुत करने पर बल दिया। ग्रे ने न्यायालय को आश्वासन दिया कि इसे जल्दी ही तैयार करके दे दिया जायेगा। इसके बाद अभियुक्तों को हवालात में अधिक समय तक रखने (रिमाण्ड) के प्रश्न पर विचार हुआ। अभियुक्तों को वकील ने पुलिस को अधिक मुहलत देने का इस आधार पर विरोध किया कि जब न्यायालय के समक्ष अभियुक्तों के अपराध के बारे में कोई भी प्रमाण या साक्षी नहीं है तो अभियुक्तों को अधिक देर तक पुलिस की हवालात में रखना उनके साथ घोर अन्याय करना होगा। इसी के साथ अभियुक्तों को जमानत पर छोड़ने के प्रश्न पर भी विचार हुआ। बचाव-पक्ष के वकील ने यह बताया कि अभियुक्तों द्वारा कोई भी अपराध किये जाने के कोई भी युक्तियुक्त समुचित प्रमाण नहीं हैं, अतः उन्हें हवालात में रखना ठीक नहीं है। न्यायालय ने इसपर अगले दिन अपने आदेश जारी करने का निर्णय किया। पुलिस ने अदालत को यह आश्वासन दिया था कि बचाव-पक्ष के वकील को हवालात में अभियुक्तों से मिलने में कोई बाधा उपस्थित नहीं की जायेगी, क्योंकि इनसे मिलकर ही बचाव-पक्ष का वकील मुकद्दमे की सारी बातें जानकर आवश्यक तैयारी कर सकता था। इस आश्वासन के बावजूद पुलिस सुपरिन्टेण्डेण्ट ने वकील को अभियुक्तों से मिलने की अनुमति नहीं दी। इस मामले में पुलिस के व्यवहार की शिकायत करने वाला एक आवेदन-पत्र जब अदालत में प्रस्तुत किया गया तो उसने अपने पुराने आदेश को दोहराया और पुलिस को पुनः यह आज्ञा दी कि वह बचाव-पक्ष के वकील को अभियुक्तों से मिलने की पूरी सुविधा दे।

अभियुक्तों को जमानत पर छोड़ने की प्रार्थना अदालत ने स्वीकार नहीं की और पुलिस को पुनः अभियुक्तों को कुछ समय तक हवालात में रखने (रिमाण्ड) की अनुमति दी। इस मामले की अगली सुनवाई १३ दिसम्बर १९०९ को शुरू हुई। इससे पहले ही पहली दिसम्बर को महाराजा की ओर से यह आदेश प्रसारित किया गया था कि इस मुकद्दमे में बचाव-पक्ष की ओर से ऐसा कोई वकील पेश नहीं हो सकता जिसका नामांकन

रियासत के वकीलों की सूची में न हुआ हो और जिसने महाराजा से इसके लिए पहले से ही आवश्यक स्वीकृति न ले ली हो। जिन वकीलों को इस मामले में अदालत में पेश होने की अनुमति दी जायेगी, उन्हें अदालत द्वारा उचित समझी जाने वाली वे सभी शर्तें और प्रतिबन्ध स्वीकार करने पड़ेंगे, जो अदालत उचित समझेगी। गवाहों से जिरह के बारे में तथा इस मामले में वकीलों द्वारा दी जाने वाली वक्तृताओं तथा अन्य विषयों में राज्य तथा अदालत द्वारा बनाये गये नियमों का पालन दोनों पक्षों को करना होगा। महाराजा के इस आदेश का स्पष्ट यह अभिप्राय था कि अभियुक्त राज्य से बाहर के प्रसिद्ध वकीलों की सेवायें अपनी पैरवी के लिए उपलब्ध न कर सकें और ब्रिटिश भारत में प्रचलित जाब्ता फौजदारी के नियमों का लाभ न उठा सकें। राज्य में एकमात्र कानून महाराजा की इच्छा थी और उसके अनुसार अभियुक्तों को दण्ड दिया जाना अनिवार्य प्रतीत हो रहा था।

इस प्रकार पटियाला में अदालत को महाराजा ने मुकद्दमा सुनने के बारे में सर्वथा निरंकुश अधिकार प्रदान कर दिये। जजों के लिए भारतीय दण्ड-संहिता और जाब्ता फौजदारी का पालन करना अब आवश्यक नहीं रहा। वे स्वेच्छापूर्वक निर्णय करने में पूर्णरूप से स्वतन्त्र थे।

मामले की अगली सुनवायी १५ दिसम्बर १९०९ ई० को हुई। इसमें पहली बार अभियुक्तों के विरुद्ध आरोपपत्र प्रस्तुत किया गया। अधिकांश अभियुक्तों पर यह आरोप लगाया गया कि वे आर्यसमाज के सदस्य थे। शेष व्यक्तियों पर इनसे सहानुभूति रखने का आरोप था। सरकार की ओर से दावा किया गया था कि समाज की बैठकों का उपयोग राजद्रोह की भावना फैलाने और राजद्रोहपूर्ण विषयों पर विचार करने के लिए किया जाता है। अभियुक्तों पर यह भी आरोप लगाया गया था कि उन्होंने कुछ अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर, "ब्रिटेन के सम्राट् को ब्रिटिश भारत की प्रभुसत्ता से वंचित करने के लिए षड्यन्त्र किया है।" अभियुक्तों पर १२१-ए, १२४-ए, १५३-ए तथा ५०५ धाराओं के अधीन आरोप लगाये गये थे। सुनवायी शुरू होते ही मिस्टर ग्रे ने यह आपत्ति उठायी कि अभियुक्तों का वकील इस मामले में उनकी ओर से उस समय तक पेश नहीं हो सकता है, जब तक वह महाराजा से इसके लिए आवश्यक स्वीकृति न प्राप्त कर ले। यह वकील मुकद्दमा शुरू होने के समय से ही अभियुक्तों की ओर से पैरवी कर रहा था। उसका यह कहना था कि महाराजा का आदेश उस पर लागू नहीं होता है। यह केवल उन्हीं वकीलों पर लागू होगा जो इस आदेश के जारी होने के बाद अभियुक्तों की ओर से पैरवी करेंगे। अदालत बचाव-पक्ष के वकील के इस तर्क से सहमत थी और उसने यह व्यवस्था की कि महाराजा का आदेश इसके जारी होने से पहली तिथियों में किये गये कार्यों पर लागू नहीं होता है। न्यायालय द्वारा यह निर्णय देने के बावजूद श्री ग्रे अपनी जिद पर अड़े रहे। अदालत ने उनकी यह प्रार्थना स्वीकार नहीं की और उनसे अपना आदेश पालन करने को कहा।

इस मुकद्दमे को चलाने के लिए कोई लिखित स्वीकृति भी अदालत में पेश नहीं की गयी थी, क्योंकि वादी का यह कहना था कि इसकी उस समय तक कोई आवश्यकता नहीं है जब तक न्यायालय को इस बात की सन्तुष्टि है कि वादी-पक्ष की ओर से महाराजा की स्वीकृति से ही यह मुकद्दमा चलाया गया है।

ग्रे का यह भी कहना था कि उनके पास मुकद्दमा चलाने की लिखित स्वीकृति देने वाले आदेश की पत्रावली मौजूद है, किन्तु वे इसे अदालत में प्रस्तुत नहीं कर सकते हैं क्योंकि यह एक गोपनीय दस्तावेज है। अदालत ने इस पर अपनी जो सम्मति दी वह श्री ग्रे को अपने प्रतिकूल प्रतीत हुई और उन्होंने यह धमकी दी कि वे इस मामले में महाराजा से अपील करना चाहते हैं, अतः इस विषय पर सुनवायी स्थगित कर दी जाए।

१६ दिसम्बर को मामले की अगली सुनवायी के समय इस अभियोग को चलाने की अनुमति और वादी-पक्ष की ओर से बुलायी जाने वाली गवाहियों की सूची पुनः प्रस्तुत नहीं की गयी। किन्तु इस बार अभियुक्तों के आरोप-पत्र के साथ प्रस्तुत की गयी सूची की जब जाँच की गयी तो यह पता लगा कि अभियुक्तों में पाँच अनुपस्थित हैं और आठ ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें पिछले २२ दिन से हवालात की तनहाई में अवैध रूप से बन्द करके रखा हुआ है।

(४) सरकारी वकील ग्रे का अभियोग-भाषण

१७ दिसम्बर से लाहौर हाईकोर्ट के सुप्रसिद्ध अंग्रेज बैरिस्टर श्री आर्थर ग्रे ने अभियुक्तों के विरुद्ध सरकार की ओर से आरोप लगाते हुए अपना विस्तृत भाषण दिया। यह दो किश्तों में विशेष न्यायालय के सम्मुख दिया गया था। पहली किश्त का भाषण १७-१८ दिसम्बर १९०९ ई० को तथा दूसरी किश्त का आरोप लगाने वाला भाषण ६ तथा ८ जनवरी १९१० ई० को दिया गया था। राज्य की ओर से अभियोग लगाने वाले पुलिस के महानिरीक्षक श्री वारबर्टन ने इस अभियोग की कार्यवाही की अविकल रिपोर्ट लिखने के लिए विशेष रूप से एक अंग्रेज शार्टहैंड रिपोर्टर विलियम हेडन को नियुक्त किया। इसने न केवल वादी की ओर से अभियोग लगाने वाले ग्रे के भाषण को अक्षरशः लेखबद्ध किया, अपितु उसने इस मुकद्दमे के बारे में उस समय के सुप्रसिद्ध एंग्लो-इंडियन दैनिक पत्रों-इलाहाबाद के पायोनियर, लाहौर के सिविल एण्ड मिलिटरी गजट तथा कुछ अन्य पत्रों को समाचार देने वाले विशेष प्रतिनिधि के रूप में भी कार्य किया। मुकद्दमे की अगली कार्यवाही और ग्रे का भाषण हेडन द्वारा तैयार की गयी रिपोर्टों के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है।[1] इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि विलियम हेडन एंग्लो-इण्डियन पत्रों को मुकद्दमे के समाचार भेजने से पहले श्री ग्रे को दिखा लेता था और वे इसमें आवश्यक संशोधन भी कर देते थे। अतः इस रिपोर्ट की प्रामाणिकता में कोई सन्देह नहीं है।

१७ दिसम्बर को अभियुक्तों के विरुद्ध आरोप लगाने वाला अपना भाषण आरंभ करते हुए ग्रे ने सर्वप्रथम इस बात पर बल दिया कि आर्यसमाज सरकार के विरुद्ध राजद्रोह का प्रचार करने के कार्य में लगी हुई संस्था है। इस बात को पुष्ट करने के लिए उन्होंने अभियुक्तों के घरों में ली गयी तलाशी में मिली सामग्री तथा आर्यसमाज की बैठकों में दिये गये व्याख्यानों, आर्यसमाज द्वारा बेची जाने वाली पुस्तकों और आर्यसमाजी नेताओं द्वारा दिये जाने वाले वक्तव्यों तथा आर्यसमाजियों द्वारा फैलायी जाने-वाली अफवाहों के आधार पर इसे सिद्ध करने का दावा किया और यह बतलाया कि इन

---

१. मुंशीराम जिज्ञासु तथा रामदेव—आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स, पृ० २१२-४४

सबसे यह प्रमाणित होता है कि आर्यसमाज राजद्रोह का प्रचार कर रहा है।

इस प्रसंग में सर्वप्रथम आर्यसमाज के संगठन का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह कहा गया कि आर्य प्रतिनिधि सभा सब आर्यसमाजों को नियन्त्रित करने वाली राजनैतिक संस्था है और इसके अतिरिक्त इसकी एक अन्य संस्था परोपकारिणी सभा धार्मिक कार्यों को करने वाली बतायी जाती है। गत वर्ष दिसम्बर तक श्यामजी कृष्ण वर्मा परोपकारिणी सभा के सदस्य थे। समाज का कार्य दूसरे धर्मों, मतमतान्तरों और सम्प्रदायों को गालियाँ देना है, इसलिए यह भारतीय दण्ड-विधान की धारा १५३-ए के अनुसार अपराधी है।

राजद्रोह का स्वरूप—इसके बाद ग्रे ने भारतीय दण्ड-विधान की कुछ अन्य ऐसी धाराओं का उल्लेख किया जिनके अनुसार वह अभियुक्तों पर मामला चलाना चाहता था। इस विषय में उसने अनेक भारतीय न्यायालयों के निर्णय यह सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये कि राजद्रोह या अनिष्ठा (Disaffection) का अर्थ देशद्रोह की भावना को उत्पन्न करने अथवा ऐसी प्रवृत्ति पैदा करने का प्रयास है जिससे राज्य की वैध सत्ता के आदेशों का उल्लंघन करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो, ऐसे कार्य राजद्रोह के अन्तर्गत आते हैं और इनके लिए अपराध करने का इरादा सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती है। इस प्रसंग में उन्होंने बताया कि १८९८ ई० में जब भारतीय दण्ड-विधान का संशोधन किया गया था, उस समय श्री चौधरी ने एक पुस्तिका का प्रकाशन किया था। श्री चौधरी ने उस समय पहले से ही अनुमान लगा लिया था कि संशोधित दण्ड-विधान धार्मिक संगठनों पर भी लागू किया जाएगा। यही बात इस समय हो रही है। इसके बाद उन्होंने सत्यार्थ-प्रकाश से अनेक ऐसे अवतरण प्रस्तुत किये जिनमें उनके मतानुसार अन्य धर्मों के संस्थापकों पर बड़ी गन्दी भाषा में आक्षेप किये गये हैं। इस विषय में प्रमाण के तौर पर उन्होंने कादियाँ (जिला गुरुदासपुर) के अहमदी सम्प्रदाय की ओर से प्रकाशित एक अंग्रेजी पत्रिका 'रिव्यू आफ रिलीजन्स' (धर्मों की समीक्षा) के अक्टूबर १९०९ ई० के अंक की एक प्रति प्रस्तुत की।

दूसरे दिन १८ दिसम्बर १९०९ ई० को अपना अभियोग-भाषण जारी रखते हुए उन्होंने एक विशेष न्यायालय बनाने की तथा इसमें लागू किये जाने वाले कानून का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा कि यह उनकी जानकारी में इस प्रकार का पहला मुकद्दमा है। यह एक देशी रियासत में चलाया जा रहा है। इसमें वे किसी अखबार को पत्र लिखने वाले किसी एक राजद्रोही व्यक्ति के कुछ कार्यों का उल्लेख नहीं करेंगे, किन्तु ऐसे मनुष्यों के कार्यों पर प्रकाश डालेंगे जिनका उद्देश्य समूचे भारत और देशी रियासतों में राजद्रोह की भावना उत्पन्न करना है। इस कारण "उनके विरुद्ध प्रस्तुत की जाने वाली साक्षी के बारे में हमें बहुत अधिक सावधानी बरतनी आवश्यक है।"

एक व्यक्ति के विरुद्ध राजद्रोह को सिद्ध करना आसान है, किन्तु किसी सामाजिक संगठन के विरुद्ध इस प्रकार के आरोप सिद्ध करना अधिक कठिन है, क्योंकि ऐसे संगठनों की बैठकें गुप्त रूप से बन्द कमरों में होती हैं। इनमें राजद्रोह-विषयक विचारों पर चर्चा की जाती है और साधारण व्यक्तियों को इन बैठकों में प्रवेश की अनुमति नहीं होती है। अतः इस विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण ऐसे दृष्ट साक्षियों से ही मिल सकते हैं जो इन सामाजिक संगठनों के सदस्य हों और राजद्रोह-सम्बन्धी चर्चाओं वाली बैठकों

में उपस्थित हों अथवा इनमें सम्मिलित होने वाले गुप्तचर इसका प्रमाण दे सकते हैं। ग्रे ने इस बात को स्वीकार किया कि ऐसे व्यक्तियों तथा गुप्तचरों की साक्षी के सत्य होने में सदैव सन्देह प्रकट किया जाता है। अतः श्री ग्रे ने आरम्भ में ही अदालत का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना उचित समझा कि "यद्यपि विभिन्न घटनाओं को अपने-आप में राजद्रोह का प्रमाण नहीं सिद्ध किया सकता है, किन्तु यदि इन अनेक घटनाओं को मिलाकर सामूहिक रूप से विचार किया जाये तो अदालत को इस विषय में सन्तुष्ट किया जा सकता है कि इस्तगासे की ओर से प्रस्तुत की जाने वाली कहानी और तथ्य सर्वथा सत्य और समीचीन हैं।"

क्षेत्राधिकार तथा दण्ड-विधान का प्रश्न--किन्तु इस पर विचार करने से पहले सरकारी वकील ने इस बात पर प्रकाश डालना आवश्यक समझा कि इस मामले में कौन-सा दण्ड-विधान लागू किया जाना चाहिए। उसका यह विचार था कि ब्रिटिश प्रदेश में लागू होनेवाले दण्ड-विधानों को देशी रियासतों में पूरी तरह लागू करने में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ हैं। इस विषय में पहली विचारणीय बात पटियाला राज्य और महाराजा की स्थिति की है। यद्यपि इस मामले में अभी तक क्षेत्राधिकार की कोई आपत्ति नहीं उठायी गयी है, किन्तु उसे पूरा विश्वास है कि यह आपत्ति आगे उठायी जा सकती है। अतः यहाँ इस बात को पहले से ही स्पष्ट कर देना उचित है कि महामहिम महाराजा पटियाला राज्य के उन पुराने राजाओं के वंशज हैं जिनके राज्याधिकार की सम्पुष्टि समय-समय पर की जाती रही है। शुरू में महाराजा द्वारा पूर्ण अधिकारों के प्रयोग पर कुछ पाबन्दियाँ लगायी गयी थीं, किन्तु अन्त में १८६० ई० की सन्धि द्वारा ये हटा दी गयी हैं और इससे महाराजा को अपने प्रजाजनों पर तथा अपने प्रदेश के भीतर अपराध करने वाले अपराधियों को दण्डित करने के पूर्ण अधिकार दे दिये गये हैं।

यह बात ग्रे ने विशेष रूप से इसलिए कही थी कि इस मामले में कुछ अभियुक्त ब्रिटिश भारत के प्रजाजन थे। उनके बारे में प्रतिवादी-पक्ष यह आपत्ति उठा सकता था कि इन पर रियासत के न्यायालय को विचार करने का कोई अधिकार नहीं है। ग्रे का यह मत था कि उपर्युक्त सन्धि द्वारा अधिकार पाने के बाद पटियाला के महाराजा को ब्रिटिश प्रजाजनों द्वारा उसके प्रदेश में किये गये अपराधों के लिए दण्ड देने का पूर्ण अधिकार है। इस विषय में सरकारी वकील ने ५ मई १८६० ई० की सन्धि के कुछ अंश तथा अन्य सन्धियों के ऐसे अवतरण पढ़कर अदालत को सुनाये, जो उसकी दृष्टि में इस बात को प्रमाणित करते थे कि महाराजा को अपने राज्य में निवास करने वाले सभी व्यक्तियों के अपराधों पर विचार करने का पूरा अधिकार है। ब्रिटिश प्रजाजनों पर विचार करते हुए क्या उन पर भारतीय दण्ड-विधान लागू किया जाएगा या इस रियासत का दण्ड-विधान लागू किया जाएगा, यह प्रश्न विचारणीय अवश्य था क्योंकि इस राज्य का अपना पृथक् दण्ड-विधान अभी तक नहीं बना था। किन्तु ग्रे को आशा है कि शीघ्र ही इस राज्य का अपना विशेष दण्ड-विधान और दण्ड-पद्धति तैयार हो जाएगी।

राज्य में इसके विकास पर संक्षिप्त प्रकाश डालते हुए सरकारी वकील ने कहा कि पहले एक पुराना कानून था जिसे १८१६ ई० का कानून कहा जाता था। यह विभिन्न रियासतों द्वारा एक-एक कर पास किये गये आरम्भिक विधानों की भाँति था। लगभग १०० वर्ष बीत जाने के कारण नयी परिस्थितियों के लिए १८९९ ई० में इसे

सर्वथा अनुपयुक्त पाया गया। अतः महाराजा ने राज्य के लिए एक नया दण्ड-विधान तैयार करवाया, किन्तु इसे तब तक लागू नहीं किया जा सकता था जब तक इसके साथ एक दण्ड-प्रक्रिया-पद्धति (Criminal Procedure Code) न बनायी जाए। अतः महाराजा ने यह आदेश दिया कि पटियाला के दण्ड-विधान को लागू किया जाए और अदालतों को जहाँ आवश्यकता हो वे इसे प्रभावशाली ढंग से कार्यान्वित करने के लिए इंगलिश दण्ड-पद्धति को अपना सकती हैं। किन्तु इस पद्धति को अपनाने में भी कई कठिनाइयाँ थीं। इस कारण पटियाला के अपने दण्ड-विधान को हटाते हुए यह आदेश दिया गया कि इंगलिश दण्ड-प्रक्रिया और इंगलिश दण्ड-संहिता (English Procedure and Code) को उस हद तक अपना लिया जाए, जहाँ तक ये राज्य के कानून और पद्धति के अनुरूप हों। किन्तु इन्हें अपनाने में भी जो कठिनाइयाँ उत्पन्न हुईं, सरकारी वकील ने उनका विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया।

श्री ग्रे का यह कहना था कि इस मुकद्दमे में जिन व्यक्तियों पर गम्भीर अपराधों के लिए अभियोग चलाया जा रहा है, उनके बारे में सरकारी पक्ष यह चाहता है कि उन्हें ब्रिटिश सरकार की तथा अन्य देशों की उचित समझी जाने वाली न्याय-पद्धति के अनुसार दण्डित किया जाना चाहिए और इस मामले में इंगलिश विधान के कानून-सम्बन्धी लक्षणों और व्याख्याओं को प्रामाणिक माना जाना चाहिए; न्यायालय को यह कानून व्यापक अर्थ में लागू करना चाहिए।

सरकारी वकील का यह कहना था कि राजद्रोह के षड्यन्त्र के मामलों में न्यायालय में अपनायी जाने वाली पद्धति एक व्यक्ति के विरुद्ध चलाये जाने वाले मामले से कुछ भिन्न प्रकार की होनी चाहिए। प्रतिवादी-पक्ष का यह विचार है कि यदि वे न्यायालय को इस बात के लिए सन्तुष्ट कर सकें कि कुछ व्यक्ति उनके सामने अभियुक्त के रूप में नहीं लाये गये हैं, तो उन द्वारा किये गये किसी कार्य का इस मामले के अभियुक्तों पर कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए। किन्तु ग्रे का यह मत था कि जब वादी-पक्ष कुछ व्यक्तियों द्वारा षड्यन्त्र करने के कुछ प्रमाण उपस्थित करता है तो किसी एक व्यक्ति के कार्यों को अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध साक्षी के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, भले ही यह साक्षी निर्णायक न हो। अपनी बात को स्पष्ट करते हुए वकील ने कहा कि यदि कुछ व्यक्तियों को प्रायः कहीं आपस में मिलते-जुलते और राजनैतिक विषयों पर चर्चा करते हुए देखा जाता है और यदि इन व्यक्तियों में से एक व्यक्ति इस बैठक से उठकर बाहर जाने पर महाराजा पर बम फेंकता है तो आप स्वाभाविक रूप से यह कल्पना कर सकते हैं कि उसका यह कार्य उस बैठक में किये गये विचार-विमर्श और निर्णय का परिणाम था और इस बैठक में भाग लेने वाले सदस्य भी बम फेंकने वाले व्यक्ति के साथ षड्यन्त्र में सम्मिलित थे। यद्यपि इस बारे में किसी व्यक्ति को दण्डित करने के लिए केवल एक घटना प्रामाणिक नहीं होती है, फिर भी यदि इस प्रकार की कई घटनायें हों तो वे इस बात को सिद्ध करने का पर्याप्त पुष्ट प्रमाण बन सकती हैं। इस सम्बन्ध में वकील ने अपनी युक्ति को प्रमाणित करने के लिए साक्षी कानून (Evidence Act) की धारा-१० का हवाला दिया और उसे अदालत में पढ़कर सुनाया।

(५) आर्यसमाज का राजद्रोही राजनैतिक संस्था होना

कानून की इस प्रारम्भिक समीक्षा के बाद उन्होंने आर्यसमाज के राजद्रोही होने के प्रश्न को उठाया। श्री ग्रे का यह विचार था कि यदि प्रतिपक्षी अभियुक्तों पर लगाये गये राजद्रोह के आरोप को निराधार सिद्ध करने में सफल होते हैं तो इससे उनको बहुत अधिक खुशी होगी। किन्तु बड़े दुर्भाग्य की यह बात है कि आर्यसमाज पर लगाये गये राजद्रोह के आरोप बहुत ही स्पष्ट और प्रमाणपुष्ट हैं। इस देश में आर्यसमाज नाम के एक संगठन की स्थापना कुछ समय पहले की गयी थी। अभी हाल के वर्षों में इसने अपने ऊपर लगाये जाने वाले राजद्रोह के आरोपों का खंडन करते हुए इस बात का दावा किया है कि यह एक विशुद्ध धार्मिक संस्था है। किन्तु वादी-पक्ष के पास इस बात के पुष्ट प्रमाण हैं कि यह राजद्रोहपूर्ण राजनैतिक प्रचार में लगी हुई संस्था है। वकील ने इस बात को स्वीकार किया कि वह आर्यसमाज के सभी सदस्यों की राजद्रोह के लिए निन्दा नहीं करता है और सभी को इस आरोप का अपराधी नहीं समझता है, किन्तु वह इस बात पर बल देता है कि यदि इनमें से कुछ थोड़े-से व्यक्ति और इस आर्यसमाज की कुछ शाखायें हथियारों के तथा कुछ अन्य क्रान्तिकारी साधनों के प्रयोग का समर्थन करती हैं तो इस संस्था को राजद्रोही समझा जाना चाहिए।

सरकारी वकील ने इस संस्था के कुछ सदस्यों के राजद्रोही कार्यों पर प्रकाश डालते हुए धारा १९ के अनुसार इसे समूचे आर्यसमाज के विरुद्ध राजद्रोह की साक्षी समझे जाने पर बल दिया। उनके मतानुसार यदि आर्यसमाज के थोड़े-से सदस्य राजद्रोह का कार्य करते हैं तो समूचे आर्यसमाज को राजद्रोही माना जाना चाहिए। उनका कहना था—"यह बहुत बड़ा दावा है, किन्तु इसे वे पूरी जिम्मेदारी और गम्भीरता के साथ प्रस्तुत कर रहे हैं।" सरकारी वकील को इस बात की प्रसन्नता थी कि—"पंजाब में समाज के एक बड़े नेता (लाला मुंशीराम) अभियुक्तों की पैरवी के लिए यहाँ आये हैं और अदालत को उनसे इस समाज के बारे में उनके विचार जानने में सुविधा होगी और इससे पता लगेगा कि इस अभियोग का चलाया जाना कहाँ तक उचित है। अब तो आर्य-समाज को इस विषय में चुनौती दी जा चुकी है और उसे अपनी सफाई देने और राजद्रोह के आरोप से अपने को मुक्त कराने की बड़ी जिम्मेदारी को पूरा करना है। इस समय आर्यसमाज इसके विभिन्न व्यक्तियों द्वारा किये गये कार्यों की और इस मामले में अभि-युक्त बनाये गये व्यक्तियों द्वारा प्रकट किये गये विचारों की जिम्मेवारी स्वीकार करने से बच नहीं सकता है।"

(६) पटियाला राज्य की ब्रिटिश साम्राज्य से अभिन्नता

सरकारी वकील ने प्रतिवादी-पक्ष द्वारा भविष्य में उठायी जाने वाली इस संभा-वित आपत्ति का खण्डन किया कि राज्य में निवास करने वाले व्यक्ति यदि महाराजा के प्रति विद्रोह का प्रचार नहीं करते हैं तो उन्हें ब्रिटिश सम्राट् के विरुद्ध राजद्रोह करने के लिये पटियाला राज्य में कोई दण्ड नहीं दिया जा सकता है। इस सम्भावित आक्षेप का निराकरण करते हुए ग्रे ने यह बताया कि महाराजा यद्यपि एक महान् राज्य के शासक और स्वतन्त्र नरेश हैं, फिर भी उनका राज्य अन्य देशी राज्यों के साथ मिलकर विश्व-

व्यापी ब्रिटिश साम्राज्य का अंग है; वह ब्रिटिश साम्राज्य से पृथक् एवं भिन्न नहीं है। महाराजा अपने राज्य में ब्रिटिश राजसत्ता के विरुद्ध किसी भी प्रकार के विद्रोह का दमन करना अपना प्रधान कर्तव्य समझते हैं। जो लोग ब्रिटिश सरकार को उलटने का षड्यन्त्र कर रहे हैं, वे निश्चित रूप से इस राज्य को भी हानि पहुँचा रहे हैं, क्योंकि यह राज्य ब्रिटिश साम्राज्य का एक भाग है। इस विषय में श्री ग्रे ने ५ मई १८६० ई० को हुई सन्धि का उल्लेख करते हुए कहा कि यह ब्रिटिश सरकार और महाराजा के पितामह के मध्य में हुई थी; इसके अनुसार उनके दादा ने ब्रिटिश सरकार के प्रति निष्ठा और भक्ति रखने का दायित्व स्वीकार किया था। अतः सरकारी वकील का यह तर्क था कि महामहिम महाराजा न केवल ब्रिटिश सरकार के साथ सन्धि-सूत्र में आबद्ध एक स्वतन्त्र नरेश हैं, अपितु वे ब्रिटिश साम्राज्य का भी एक महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इसलिए ग्रे ने महाराजा की ओर से इस बात पर बल दिया कि ब्रिटिश सरकार को हटाने या उलटने का कोई प्रयास ऐसा अपराध है जिसका प्रभाव सीधा महाराजा और उनके राज्य पर पड़ता है और वे ऐसा अपराध करने वालों को दण्डित करने का पूरा अधिकार रखते हैं।

आर्यसमाज राजनैतिक संस्था है—श्री ग्रे ने अपना भाषण जारी रखते हुए कहा कि वे सबसे पहले इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे कि यद्यपि आर्यसमाज अपने को धार्मिक संस्था कहती है, तथापि वास्तव में यह एक राजनैतिक संस्था है। ब्रिटिश भारत में जब सरकार द्वारा क्रान्तिकारियों और राजद्रोहियों का भीषण दमन किया जाने लगा, तब अनेक व्यक्तियों ने गिरफ्तारी से बचने के लिए विभिन्न देशी रियासतों में शरण ली। इस प्रकार पटियाला में भी बाहर से कुछ आर्यसमाजी व्यक्ति आये और उन्होंने यहाँ विभिन्न स्थानों पर आर्यसमाजों की स्थापना की। इस्तगासे का यह दावा था कि पटियाला में आर्यसमाज पिछले तीन-चार वर्षों से अधिक सक्रिय है तथा जनता में असन्तोष और राजद्रोह फैलाने का प्रधान रूप से कर रही है। ग्रे का यह कहना था कि वह इस विषय में अदालत के सम्मुख ऐसे अनेक राजद्रोह की भावना से ओतप्रोत कागजात, दस्तावेज व पुस्तकें पेश करेगा जो इस मामले में बन्दी बनाये अभियुक्तों के घरों में तलाशी लेने पर बरामद हुई हैं और जिन पुस्तकों में ब्रिटिश सरकार को हटाने और राष्ट्रीय शासन को स्थापित करने की शिक्षा दी गई है।

इस पर अदालत ने सरकारी वकील से यह प्रश्न किया कि क्या ये पुस्तकें अभियुक्तों द्वारा लिखी गयी हैं? ग्रे ने इसका नकारात्मक उत्तर दिया और यह कहा कि राजद्रोह का प्रचार करने वाली पुस्तकें और इनका एक बड़ा पुस्तकालय अभियुक्तों के घरों से मिला है। "जब इसको हम अन्य बातों के साथ मिलाकर देखते हैं तो राजद्रोह के षड्यन्त्र की साक्षी स्पष्ट सिद्ध हो जाती है।" वकील ने अपने पक्ष के समर्थन में साक्षी-कानून की धारा १४४ को उद्धृत करते हुए इंग्लैंड और भारत के कानूनों की तुलना की और इस विषय में कॉक्स के क्रिमिनल केसेस के खण्ड छः में से **'राजा विरुद्ध सुलीवान'** के मामले की नजीर पेश की।

ग्रे का यह कहना था कि वह जिन व्यक्तियों के अपराधों का विवरण प्रस्तुत करेगा, उन्होंने ये कार्य व्यावहारिक रूप से १९०७ ई० से शुरू किये थे, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि इस वर्ष ब्रिटिश भारत में राजद्रोह के लिए सरकार की ओर से बहुत-से मुकद्दमे चलाये गये थे। क्रान्तिकारियों का यह विचार था कि अंग्रेज अधिकारियों

की बड़ी संख्या में हत्या करके भारत में ब्रिटिश शासन को समाप्त किया जा सकता है। ऐसे समय में सार्वजनिक शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखना अतीव आवश्यक है और इसमें विक्षोभ उत्पन्न करना तथा जनता में सरकार के विरुद्ध असन्तोष या घृणा की भावना पैदा करना एक दण्डनीय अपराध है।

इसके बाद सरकारी वकील ने आर्यसमाज के विकास का उल्लेख करते हुए बताया कि इसकी स्थापना स्वामी दयानन्द सरस्वती नामक संन्यासी ने पिछली शताब्दी में की थी। वे हिन्दू समाज की दुर्दशा से व्यथित थे। इसके पुनरुज्जीवन तथा उद्धार के लिए एक नवीन धर्म और उसका प्रचार करने वाली एक नयी संस्था को आवश्यक समझते थे। उनका विश्वास था कि नूतन धर्म वेदों पर आधारित होना चाहिए, क्योंकि भारत की वर्तमान दुर्गति का प्रधान कारण वेदों की शिक्षाओं को भुला देना है। लाहौर आने पर उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की। इसके बाद इसकी दो सभायें बनाई गईं। एक सभा को इसके संगठन और विभिन्न स्थानों पर स्थापित होने वाली समाज की शाखाओं के नियन्त्रण का कार्य सौंपा गया और दूसरी सभा का प्रमुख कार्य धर्म-प्रचार और समाज-सुधार था। दूसरी सभा का संविधान इस मामले के लिए अधिक महत्त्व रखता है। इसके सदस्यों को स्वामी दयानन्द ने स्वयमेव मनोनीत किया था। इसका एक सदस्य श्यामजी कृष्ण वर्मा था। सरकारी वकील के अनुसार अदालत को यह बताने की आवश्यकता नहीं थी कि यही वह व्यक्ति था जिसने लन्दन में सर कर्जन वायली की हत्या का समर्थन करते हुए पेरिस से एक पत्र लन्दन के सुप्रसिद्ध अखबार टाइम्स में लिखा था। इस समय यद्यपि समाज के कुछ सदस्य श्यामजी कृष्ण वर्मा की निन्दा कर रहे हैं, किन्तु अभी तक इस समाज के रजिस्टरों से इस व्यक्ति का नाम हटाने का कोई प्रयास नहीं किया गया है, यदि ऐसा प्रयत्न किया गया है तो इसकी सार्वजनिक रूप से कोई सूचना नहीं दी गई है।

आर्यसमाज के विरोध का कारण—सरकारी वकील का कहना था कि आर्य-समाज सदा इस बात की शिकायत करता है कि अन्य धर्मों वाले उसे बदनाम करने के लिये बहुत-सी बातों को इसलिए कहते हैं कि वह अन्य धर्मों की बुराइयों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करता है। किन्तु वकील का यह कहना था कि यदि ईसाई, मुसलमान तथा सिख आर्यसमाज के विरोधी हैं तो इसका प्रधान कारण यह है कि—"शुरू से स्वामी दयानन्द ने दूसरे धर्मों की केवल बुराइयाँ ही नहीं बताईं, अपितु बड़ी भद्दी, निम्नस्तरीय अशिष्ट भाषा में उन धर्मों की निन्दा की है। उनकी भाषा बड़ी असंयत थी और आलोचनायें सर्वथा अनुचित थीं। उन्होंने वैदिक धर्म के अतिरिक्त अन्य सभी धर्मों के लिए घृणित विशेषणों (Foul Epithets) का प्रयोग किया है।" इसके बाद ग्रे ने ईसाइयों तथा मुसलमानों के ईश्वर के लिए स्वामीजी द्वारा प्रयुक्त किये गये अपशब्दों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये और इस बात पर बल दिया कि यदि वह इस दावे को प्रमाणित कर सके कि आर्यसमाज के सदस्यों की यह आदत है कि वे विभिन्न धर्मों के देवी-देवताओं को सदा गालियाँ देते हैं तो उनका यह अपराध भारतीय दण्ड-विधान की धारा ५०५ और १५३-ए के अनुसार अवश्यमेव दण्डनीय है।

इसके बाद जनवरी १९१० ई० को तीसरे दिन सरकारी वकील ग्रे ने अभियुक्तों पर आरोप के आरम्भिक भाषण को जारी रखते हुए कहा—"सत्यार्थप्रकाश में स्वामी दयानन्द ने अन्य धर्मों की आलोचना अत्यधिक अनुचित अपशब्दों में की है। इसका

अनुसरण आर्यसमाजी इस समय सामान्य रूप से कर रहे हैं।" इसके समर्थन में वकील ने अदालत में श्री धर्मपाल बी० ए० द्वारा लिखी एक पुस्तक **तहजीबुल इस्लाम** पेश की और इसके कुछ आपत्तिजनक तथा भद्दे शब्दों में आलोचना करने वाले अंश पढ़कर सुनाये। इसके लेखक पहले अब्दुल गफूर नामक मुसलमान थे, बाद में शुद्ध होकर हिन्दू बन गये। यह पुस्तक पटियाला आर्यसमाज की तलाशी लेते समय मिली थी। इसके लेखक एक समाचारपत्र **'इन्दर'** के भी सम्पादक थे जिसके सम्बन्ध में आगे कई बातें बताई जायेंगी। सरकारी वकील को इस बात का खेद था कि—"स्वामीजी के शिष्य दूसरे धर्मों को गालियाँ देने उनसे भी आगे बढ़ गये हैं और वे ईसामसीह की तथा अन्य धर्मों के देवी-देवताओं की निन्दा करने में अग्रणी हैं। उपर्युक्त पुस्तक में नवें पृष्ठ पर मुसलमानों के खुदा को मक्कार, ठग, डाकू, धोखेबाज, बेईमान व जेबकतरा बताया है। अपने को धर्म-निष्ठ कहने वालों का यह कर्तव्य है कि वे दूसरे धर्मों का आदर करें। ईसामसीह को ईसाई पैगम्बर मानते हैं। किन्तु इस पुस्तक में ईसा के जन्म की घटना का वर्णन अत्यधिक भद्दे शब्दों में किया गया है। इस बात पर सभी सहमत हैं कि ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिये, किन्तु यह स्वामी दयानन्द के उपदेशों के अनुसरण करने का स्वाभाविक परिणाम है।"

"लाला मुंशीराम ने अपने एक व्याख्यान में यह बताया था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार किसी भी रूप में भगवान् की पूजा करने का अधिकार है।" सरकारी वकील ने कहा—"मुझे इस बात में सन्देह है कि वे आर्यसमाज के संस्थापक द्वारा दूसरे धर्मों को बदनाम करने वाली आलोचना को न्यायोचित सिद्ध कर सकते हैं। इस अप्रिय विषय पर मैं अधिक नहीं कहना चाहता हूँ। फिर भी मैं यह बात कहने के लिए बाधित हूँ कि आर्यसमाज का एक विशेष उद्देश्य है और शुरू से ही उसका इरादा यह रहा है कि वह दासता के उस जुए को उतारकर दूर फेंक दे, जिससे ब्रिटिश भारत की जनता इस समय पीड़ित हो रही है और इसीलिये सत्यार्थप्रकाश में ईसाइयत की विशेष रूप से आलोचना की गई है।"

(७) सत्यार्थप्रकाश के आपत्तिजनक अवतरण

इस विषय में सरकारी वकील ने सत्यार्थप्रकाश के कई उद्धरण प्रस्तुत किए और यह बताया कि ईसाइयत पर किस तरह के मिथ्या आरोप लगाये गये हैं। इस विषय पर उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ ७०८ का एक अवतरण अदालत में पढ़ा और यह भी बताया कि स्वामी दयानन्द ने आर्यों को अच्छा तथा दूसरों को बुरा बताया है। उनके कथनानुसार सज्जन पुरुषों को आर्य कहते हैं और दुष्टों को दस्यु कहा जाता है। अभियुक्तों के वकील रोशनलाल ने इस पर आपत्ति करते हुए कहा कि यहाँ आर्य का अर्थ अच्छे काम करने वाला व्यक्ति है और दस्यु बुरे काम करने वालों को कहा जाता है। इसके बाद सरकारी वकील ने पृष्ठ २२६ के मनुस्मृति के सुप्रसिद्ध श्लोक के बारे में कहा कि वेदों की निन्दा करने वाले को नास्तिक कहा जाता है। स्वामी दयानन्द के मतानुसार प्राचीन साहित्य में आतंकवादी या अत्याचारी को मारने में कोई दोष नहीं माना जाता था। इस विषय में स्वामीजी द्वारा उद्धृत वचन के आधार पर सरकारी वकील ने यह परिणाम निकाला कि बुरे व्यक्ति को मारना कोई अपराध नहीं है, चूंकि उन

पर शासन करने वाले ईसाई बुरे व्यक्ति हैं, अतः उनकी हत्या में भी कोई दोष नहीं समझा जाना चाहिए। इस प्रकार आर्यसमाज ईसाइयों के वध तथा राजद्रोह के लिए अपने सदस्यों को प्रेरित करता है।

यद्यपि आर्यसमाज बार-बार धार्मिक संस्था होने की घोषणा करता है, तथापि सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ १८६ से आरम्भ होने वाला एक पूरा समुल्लास इस बात को विस्तार से बताता है कि किसी देश का शासन किस ढंग से किया जाना चाहिए और शासकों में क्या गुण होने चाहियें। पृष्ठ १८७ में यह बताया गया है कि वेद न जानने वाले व्यक्तियों द्वारा बनाये गये कानून का पालन नहीं किया जाना चाहिए। ईसाई शासक वेद नहीं जानते हैं, अतः यह सन्दर्भ उनके आज्ञा-भंग की प्रवृत्ति को प्रेरणा देने वाला है। आर्यों का आदर्श राज्य वही है जिसमें वेदशास्त्रों के विद्वान् शासन करते हैं। पृष्ठ १८८ में यह कहा गया है कि एक व्यक्ति को अपनी पूरी शक्ति ऐसे राजा का विध्वंस करने में लगानी चाहिए जो वेदों को नहीं जानता है। पृष्ठ १९० में यह कहा गया है राजा के ७ या ८ ऐसे अन्य मन्त्री होने चाहियें जो स्वदेश में उत्पन्न हुए हैं और वेदों को अच्छी तरह से जानते हैं। इस प्रसंग में सरकारी वकील ने स्वदेश के साथ स्वराज्य शब्द का भी प्रयोग किया है। इस पर उनका कहना था कि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आर्यसमाज के नेता स्वराज्य स्थापित करना चाहते हैं और स्वराज्य का अर्थ स्वशासन है। यह बात उस समय और अधिक स्पष्ट हो जाती है जब हम आर्यों की आकांक्षाओं और अभिलाषाओं के बारे में पढ़ते हैं। पृष्ठ २२८ पर स्वामी दयानन्द ने लिखा है—"सब इस बात को समझते हैं कि आर्य भूमण्डल के स्वामी हैं।" मुझे आर्यों द्वारा अपनी उच्च आकांक्षायें रखने के बारे में कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु जब वे यह कहते हैं कि उनकी संस्था राजनैतिक नहीं है तो इस पर मुझे बड़ी आपत्ति है। स्वामी दयानन्द एक ऐसे राज्य की स्थापना करना चाहते थे जिसके मन्त्री उनके विचारों के अनुसार वेद-शास्त्रों के ज्ञाता हों, और जहाँ तक ईसाइयों या गौरांग व्यक्तियों के शासक होने का सवाल है वे उनको कभी भी अपना शासक नहीं बनाना चाहते थे। पृष्ठ १०३ पर उन्होंने कहा है कि—"अपने देशवासियों का शासन सर्वोत्तम शासन होता है।" पृष्ठ ३६८ पर उन्होंने गोरक्षा की चर्चा की है और यह परिणाम निकाला है कि मांस-भक्षक मद्यपान करने वाले विदेशियों के आ जाने के बाद ही आर्यों के दुःख बढ़ते चले गये हैं।

यदि आर्यसमाज धार्मिक संस्था है तो उसके संस्थापक को इस बात की क्या आवश्यकता थी कि वह एक आदर्श राज्य का, राजनैतिक विषयों का और सेना के संगठन का वर्णन करे? स्वामी दयानन्द इन बातों का न केवल सामान्य रूप से उल्लेख करते हैं, अपितु ब्यौरे की बातें यहाँ तक बताते हैं कि सेना को कवायद किस ढंग से करनी चाहिए, उन्हें कैसी व्यूहरचना करनी चाहिए, पैदल तथा घुड़सवार सेनायें किस प्रकार की होनी चाहिएँ।" सरकारी वकील के शब्दों में "वे इस प्रकार के सौ उद्धरण प्रस्तुत कर सकते थे जिनमें राजनैतिक विषयों की चर्चा की गई है।" किसी आर्यसमाजी लेखक ने यह बात ठीक ही कही थी, भले ही यह व्यंग्य में कही गयी हो कि—"यदि स्वामी दयानन्द आज जीवित होते तो उन पर विभिन्न समुदायों में विद्वेष पैदा करने के लिए और मेरे विचार में इस देश की सरकार को बदनाम करने के लिए १५३-ए अनुच्छेद के अनुसार मुकद्दमा चलाया जाता।"

ब्रिटिश बैरिस्टर ग्रे ने कहा कि—"गेरीबाल्डी और मेजिनी की जीवनियों जैसी पुस्तकों में इनकी भाषा या इनका इतिहास इतना आपत्तिजनक नहीं था, किन्तु इन्हें नवयुवकों के हाथों में दिये जाने की दृष्टि से इनका प्रकाशित किया जाना आक्षेप-योग्य था। इस विषय में मैं मुरारीलाल के भाई सीताराम का उदाहरण दूँगा। मुझे इस बात का दुःख है कि वह इस मामले में अभियुक्त बना हुआ है। वह छात्रावस्था में अतीव जिज्ञासुवृत्ति रखने वाला था। उसने इससे प्रेरित होकर अनेक पुस्तकें पढ़ीं। इनमें एक पुस्तक गेरीबाल्डी की जीवनी की है। इस पुस्तक के एक पन्ने पर इसे पढ़कर एक अन्य विद्यार्थी ने इस आशय की टिप्पणी लिखी कि विद्यार्थी को अपना जीवन देश के लिए समर्पित करना चाहिए और देश में एकता होनी चाहिए। इसी प्रकार के कुछ अन्य भाव भी इसमें प्रकट किए गए थे। ये यद्यपि अपने-आप में आपत्तिजनक नहीं हैं, किन्तु वर्तमान समय की स्थिति में नवयुवकों के मनों पर इससे उत्पन्न होने वाले प्रभाव को देखते हुए ये खतरनाक अवश्य हैं। मैं इसे अभी प्रमाणित करूँगा। इस प्रकार के साहित्य का गम्भीर अनुशीलन करने के बाद इस नवयुवक ने 'इन्कलाब' (क्रान्ति) नामक अखबार को एक चिट्ठी लिखी। इस पत्र को हाल में ही जब्त किया गया है। इसका नाम ही यह सूचित करता है कि यह किस प्रकार का पत्र है। इस पत्र में उपर्युक्त नौजवान ने लिखा है कि —"वह राष्ट्र के लिए अपने समूचे जीवन को समर्पित करने के लिए तैयार है। इन्कलाब उसे यह बताये कि इसके लिए उसे क्या करना चाहिए ?" यह पत्र इन्कलाब अखबार के कार्यालय में पाया गया था।

इस पर सफाई-पक्ष के वकील द्वारकादास ने आपत्ति की कि इसमें राजद्रोह की कोई बात नहीं है। सरकारी वकील ने इसका उत्तर देते हुए कहा कि—"मैं तो यह तथ्य इस बात के उदाहरण के रूप में पेश कर रहा हूँ कि ऐसी पुस्तकें छात्रों के हाथों में दिये जाने का क्या प्रभाव होता है।"

(१०) पटियाला में समाज का आरम्भिक विकास

इसके बाद सरकारी वकील ने पटियाला में समाज की स्थापना का इतिहास बताते हुए कहा कि—"इसकी स्थापना का विवरण हमें इसके उपप्रधान के घर से तलाशी में मिला है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह समाज के वार्षिकोत्सव में पढ़े जाने के लिए तैयार की गयी रिपोर्ट है। इससे यह पता लगता है कि पटियाला में समाज वि० संवत् १९४२(१८८५ ई०) में स्थापित हुआ। पहले इस समाज को कोई बड़ी सफलता नहीं मिली। यह तथ्य इस बात से स्पष्ट होता है कि पहले कई वर्षों तक इसका कोई वार्षिकोत्सव नहीं मनाया गया। एक बार उत्सव की तिथियाँ निश्चित की गयीं, किन्तु जलसा नहीं हुआ।

इसकी स्थापना के बीस वर्ष बाद लाला मुंशीराम ने १९०५ ईसवी में इसका पुनरुज्जीवन किया। इस समय से यहाँ समाज का कार्य बड़ी धूमधाम से चलने लगा। यह वर्ष अपने आप-में बड़ा महत्त्वपूर्ण है। आप सबको यह ऐतिहासिक तथ्य स्मरण है कि १९०५ ई० में लाला लाजपतराय को कांग्रेस की ओर से भारत का प्रतिनिधित्व करने के लिए इंग्लैण्ड भेजा गया था और १९०५ ई० में ही राजनैतिक आन्दोलन शुरू हुआ और १९०७ ई० के उपद्रवों और नेताओं के निर्वासन-दण्डों के साथ अपनी चरम

सन्तुष्ट कर सकूं कि इसे चलाने वाली संस्था के क्या उद्देश्य हैं तो हमें गुरुकुल की संस्था के उद्देश्य स्पष्ट हो जाते हैं। आर्यसमाज का उद्देश्य यदि राजद्रोह का प्रचार करना है तो इसके द्वारा संचालित विद्यालय में भी छात्रों को उसी प्रकार की शिक्षा दी जाती है।

दौलतराम का मामला—"लाला मुंशीराम ने अपने एक व्याख्यान 'आर्यसमाज और राजनीति' में इस बात पर बल दिया है कि आर्यसमाज राजनैतिक संस्था नहीं है, फिर भी आर्यसमाजी होने के कारण अनेक व्यक्तियों को सरकार-विरोधी और राजद्रोही समझा जाता है, और वे सरकारी अधिकारियों द्वारा उत्पीड़न का शिकार होते हैं और इन पर अभियोग चलाये जाते हैं। इसके कारण उन्हें बड़े कष्ट उठाने पड़ते हैं। उन्होंने अपने एक व्याख्यान में इसके कई उदाहरण दिये हैं। मैं इनमें से केवल एक सनसनीखेज मामले पर कुछ बातें कहूँगा।

"झाँसी में दौलतराम नाम का एक व्यक्ति आर्यसमाज का प्रचारक था। अपने मित्र के शब्दों में झाँसी में रहने वाली भारतीय रेजिमेण्टों के सिपाही आर्यसमाज से प्रेम करते हैं और इसकी शिक्षाओं का आदर करते हैं। उन्होंने दौलतराम की आर्यसमाज के प्रचार-कार्य में सहायता की, किन्तु वहाँ रेजीमेण्ट में कुछ ईर्ष्यालु व्यक्ति भी थे। उन्होंने इसकी सूचना अधिकारियों को इस प्रकार से दी कि मानो दौलतराम कोई अपराध कर रहा है। इस पर तुरन्त कार्यवाही की गयी। बेचारे दौलतराम को पुलिस ने ताजीराते-हिन्द की धारा १०९ में जिला मैजिस्ट्रेट के सम्मुख प्रस्तुत किया। उसने आदेश दिया कि वह झाँसी या उसके आसपास ५ मील के क्षेत्र के अन्दर रहने वाले दो ऐसे व्यक्तियों की जमानत पेश करे जो या तो सरकार को सौ रुपये प्रतिवर्ष मालगुजारी देते हों, या दो हजार रुपये पर आयकर देते हों, अथवा उसे एक वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड दिया जाता है। जेल में बेचारा दौलतराम सड़ रहा है। उसका एकमात्र अपराध यह है कि उसने एक ऐसी सभा में सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में से कुछ अंश पढ़े जिसमें कुछ सिपाही भी उपस्थित थे।

इस घटना पर टिप्पणी करते हुए ग्रे ने अदालत को यह बताया कि—"झाँसी में एक ऐसा आर्यसमाज था जिसके सभी सदस्य सिपाही थे। दौलतराम इसमें जाकर सत्यार्थप्रकाश के कुछ अंश पढ़ा करता था। सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में हथियारों का वर्णन है। लाला मुंशीराम की यह शिकायत है कि दौलतराम का चालान धारा १०९ में नहीं करना चाहिए था। मैं इससे बिलकुल सहमत नहीं हूँ। उसको धारा १२१-ए के अनुसार दण्ड दिया जाना चाहिए था, क्योंकि उसने सेना में राजद्रोह की चर्चा की थी (और सम्भवतः हथियारों वाला प्रकरण उन्हें ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध प्रयोग करने के लिए पढ़कर सुनाया था)। जिला मैजिस्ट्रेट द्वारा दी गयी सजा की सेशन जज ने और बाद में हाईकोर्ट ने भी पुष्टि की। कोई भी राज्य इस बात को सहन नहीं कर सकता है कि उसके सैनिकों की राजभक्ति में विक्षोभ उत्पन्न किया जाए। जब लाला मुंशीराम ऐसा अपराध करने वाले व्यक्ति की पैरवी के लिए धन संग्रह करते हैं इस विषय में सरकार द्वारा तुरन्त कार्यवाही करने की आलोचना करते हैं तो इससे यही परिणाम निकाला जा सकता है कि वे ऐसे देशद्रोह के कार्यों का समर्थन करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं।"

७ जनवरी १९१० ई० को चौथे दिन अपने अभियोग-भाषण को जारी रखते हुए

हाथ में इस प्रकार के व्यक्तियों की जीवनियाँ पढ़ने के लिए दी जा सकती हैं ? क्या यह रवैय्या एक ईमानदार, राजनीति से पृथक् रहने वाले व्यक्ति के लिए उचित है, जिसका एकमात्र उद्देश्य अपने देश की भलाई करना और सामाजिक सुधार के साधनों से उत्तम शासन प्राप्त करना है ? लाला लाजपतराय ने न केवल ऐसे क्रान्तिकारियों की जीवनियाँ प्रकाशित की हैं, अपितु इन पुस्तकों की भूमिका में उन उद्देश्यों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है जिनको पूरा करने के लिए ये प्रकाशित की गयी हैं।" इस सन्दर्भ में सरकारी वकील ने मेजिनी की पुस्तक की भूमिका के कुछ अंश न्यायालय में पढ़कर सुनाये और यह कहा कि "इस प्रकार के सन्दर्भ उनकी अन्य पुस्तकों की भूमिकाओं में भी हैं। इस विषय में यह उल्लेखनीय है कि इस देश के तरुण वर्ग द्वारा अनुसरण किये जाने वाले आदर्श पुरुषों की उन्होंने जो जीवनियाँ लिखी हैं वे हैं—मेजिनी, गेरीबाल्डी, शिवाजी और स्वामी दयानन्द।"

(९) गुरुकुल शिक्षा-पद्धति

इसके बाद श्री ग्रे ने आर्यसमाज द्वारा गुरुकुल काँगड़ी के विद्यालय को राजद्रोही संस्था सिद्ध करते हुए कहा—"अब मैं अपने मित्र लाला मुंशीराम की प्रतिवादी-पक्ष के वकील के रूप में नहीं, अपितु एक महान् आन्दोलन के नेता के रूप में चर्चा करूँगा। उन्होंने संसार के समक्ष यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि मैं आपके सामने आर्य-समाज की जो आलोचना कर रहा हूँ, वह सही नहीं है। यह संस्था विशुद्ध रूप से धार्मिक है। उनको गुरुकुल-पद्धति के एक स्कूल को सफल बनाने का श्रेय किसी भी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक है। अब मैं इसके बारे में कुछ बातें कहूँगा। मुझे विश्वास है कि मेरे मित्र लाला मुंशीराम उस समय मेरे कथन का खण्डन नहीं करेंगे, जब मैं यह कहता हूँ कि इस विद्यालय का प्रधान लक्ष्य इस देश के नवयुवकों को राष्ट्रीय शिक्षा देना है। इसका अभिप्राय यह है कि यहाँ पढ़ने वाले बालकों को एक महान् राष्ट्र का योग्य नागरिक बनाया जाय।

"इस विद्यालय के पाठ्यक्रम के विरुद्ध कोई बात नहीं कही जा सकती है, किन्तु इस विद्यालय का एक मुख्य लक्ष्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यहाँ बालकों को बड़ी छोटी और अधिकतम प्रभाव ग्रहण करने वाली आयु में घर से पृथक् करके विद्यालय में एक निश्चित कार्यक्रम के अनुसार शिक्षा दी जाती है और २५ वर्ष की आयु तक उन्हें विश्व के सभी बाह्य प्रभावों से सर्वथा पृथक् और अछूता रखा जाता है। वे किसी भी दशा में अपने माता-पिता से मिलने के लिए घर नहीं जा सकते हैं। उन्हें असाधारण परि-स्थितियों के अतिरिक्त आसपास के गाँवों और शहरों में भी जाने की अनुमति नहीं है और माता-पिता कुछ विशेष अवसरों पर निश्चित प्रतिबन्धों के साथ ही उनसे मिल सकते हैं। मैं यह नहीं कहना चाहता हूँ कि यह बात बच्चों के लिए बुरी है, किन्तु जब कोई संस्था इस प्रकार की विशेष शिक्षा देती है जिसमें बाहर के किसी हस्तक्षेप की अनुमति नहीं दी जाती है और देश के नवयुवकों की शिक्षा के लिए उत्तरदायी और इसमें दिल-चस्पी रखने वाले व्यक्तियों को इस विद्यालय में नहीं आने दिया जाता है तो स्वतः इस विषय में सन्देह होने लगता है कि यह गोपनीयता का वातावरण क्यों रखा जा रहा है ? इस संस्था को चलाने वाले कौन व्यक्ति हैं ? यदि मैं आपको इस बात की साक्षी देकर

ऐसी बात नहीं है। इसके लिए जो काम किये गये, उनमें एक असाधारण कार्य यह भी था कि लाहौर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर यह सूचना निकाली गयी कि किसी भी व्यक्ति को इस जलसे के क्षेत्र के भीतर राजनैतिक पुस्तकें अथवा चित्र बेचने की अनुमति नहीं दी जाएगी। यदि यह विशुद्ध रूप से एक धार्मिक संस्था है तो इस प्रकार की सूचना निकालना सर्वथा अनावश्यक प्रतीत होता है। ऐसी सूचना के निकाले जाने से यह सिद्ध होता है कि इस प्रकार राजनैतिक पुस्तकों और राजनैतिक नेताओं व क्रान्तिकारियों के चित्रों को बेचने की प्रथा सुप्रतिष्ठित थी, इसके वार्षिक उत्सवों के अवसर पर ऐसे कार्य प्रायः किये जाते थे। यह बात इस संस्था के राजनैतिक संस्था होने का पुष्ट प्रमाण है।

"इसी प्रसंग में हमें आर्यसमाज के नेता लाला लाजपतराय के सम्बन्ध में भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। सरकार ने जनता को इस बात का कारण बताना आवश्यक नहीं समझा है कि लाला लाजपतराय को देश से क्यों निर्वासित किया गया है। इस बारे में यह अनुमान करना ठीक है कि इन्हें निर्वासित करने का कारण यह था कि उन जैसे शिक्षक राज्य के लिए खतरनाक थे। वे कुछ भी ज्ञान न रखने वाले नौजवानों को राजनीति की ऐसी शिक्षा देने का प्रयास करते रहे हैं जिससे वे सरकार में परिवर्तन लाना अपने जीवन का उद्देश्य समझने लगे। इस विषय में मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि यही कारण है कि पटियाला में आर्यसमाज को खतरनाक समझा जाता है।

"यह सर्वथा सत्य है कि किसी महापुरुष की जीवनी प्रकाशित करना और उसके राजनैतिक जीवन के कार्यों का परिचय देना किसी राज्य के लिए खतरनाक कार्य नहीं समझा जाना चाहिए। किन्तु आपको इस बात पर विचार करना चाहिए कि भारत की वर्तमान परिस्थिति में क्या यह उचित है कि हम ऐसे व्यक्तियों के जीवन की प्रशंसा करें जिनका एकमात्र लक्ष्य अपने देश में बलपूर्वक स्वशासन स्थापित करना और तत्कालीन सरकार को हटाना था? मैं न्यायालय के समक्ष तथा प्रतिवादी-पक्ष के अपने मित्रों के सम्मुख इटली के इतिहास पर कोई भाषण नहीं देना चाहता हूँ, किन्तु यहाँ इटली के इतिहास की संक्षिप्त चर्चा अप्रासांगिक नहीं होगी। इटली को स्वतन्त्र बनाने वाली (क्रान्तिकारी) संस्था का एक प्रमुख सदस्य मेजिनी था। इसके बारे में सर्वोत्तम समर्थक फिट्स जेरल्ड को भी यह स्वीकार करना पड़ा है कि मेजिनी और उसके साथी सरकारी अधिकारियों की नियमित रूप से हत्या करने की गलत राह पर चल रहे थे। निस्सन्देह वे लोग राजद्रोही, क्रान्तिकारी, अराजकतावादी संस्था (कार्बोनारी) के सदस्य थे। मेजिनी इसका नेता था और उसका एक सहायक वीर योद्धा गेरीबाल्डी था जिसका प्रधान लक्ष्य उस समय के प्रमुख सरकारी अधिकारियों से छुटकारा पाना था। मेरा यह कहने का आशय नहीं है कि क्रान्ति किसी भी समय में उचित नहीं होती है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनका उद्देश्य क्रान्ति करना था और इसे उन्होंने अन्त में सम्पन्न किया। लाला लाजपतराय इस बात में बड़े सावधान हैं कि वे अपने वीर पुरुषों की सूची में उस व्यक्ति को सम्मिलित न करें, जो वास्तव में इटली के पुनरुज्जीवन के लिए उत्तरदायी है। यह सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ काउंट कावूर था जिसने इटली की एकता का कार्य कूटनीति से सफलतापूर्वक सम्पन्न किया, जबकि मेजिनी और गेरीबाल्डी इसमें विफल हुए थे, क्योंकि उन्होंने शस्त्रों का तथा युद्ध का अवलम्बन किया था। क्या इस देश के बच्चों के

उत्तर देने का उत्तरदायित्व लिया और जून १९०८ ई० के 'आर्य गजट' में एक लेख लिखा। इसकी केवल एक प्रति मेरे पास है। इसमें श्यामजी के वक्तव्यों का निराकरण करने के लिए एक शब्द भी नहीं कहा गया है। इसमें सिर्फ यही बात कही गयी है कि श्यामजी कृष्ण वर्मा ने परोपकारिणी सभा में कुछ भी नहीं किया है और स्वामी दयानन्द ने उनसे जो आशाएँ रखी हैं, उन्हें पूरा नहीं किया है। स्वामीजी बहुत चतुर व्यक्ति थे। वे इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि यह सम्भव है कि भविष्य में उनकी मृत्यु के बाद सभा में उनके प्रतिनिधित्व करने वाले कुछ ऐसे व्यक्ति हो सकते हैं, जो उनके सिद्धान्तों से सहमत न हों और उनके द्वारा बतायी गयी बातों का पालन न करते हों, अतः उन्होंने अपने स्वीकारपत्र (वसीयतनामे) में इस बात की व्यवस्था की थी कि उनके द्वारा निर्धारित किये गये उद्देश्यों और आदर्शों का पालन न करने वाले किसी भी सदस्य को अन्य सदस्य संस्था की सदस्यता से हटा सकते हैं। क्या (परोपकारिणी) सभा में विद्यमान मेरे मित्रों ने तथा प्रतिवादी पक्ष के मेरे वकील मित्रों ने इस लेख के प्रकाशित होने के बाद श्यामजी कृष्ण वर्मा को परोपकारिणी सभा से हटाने का कोई प्रयास किया? यदि मेरी सूचना ठीक है तो श्यामजी १९०८ ई० के क्रिसमस तक परोपकारिणी सभा के सदस्य थे और इसके बाद उन्होंने स्वयमेव त्यागपत्र दे दिया। इस सारी अवधि में वे अत्यधिक उग्र क्रान्तिकारी उपायों के अवलम्बन करने का इतना अधिक समर्थन करते रहे हैं कि उन्हें इसी कारण इंग्लैण्ड छोड़कर पेरिस की शरण लेनी पड़ी। वे उस संस्था के सदस्य थे जो वर्तमान समय में स्वामी दयानन्द के सच्चे विचारों और दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था समझी जाती है।

(८) लाला लाजपतराय की पुस्तकें

"अब मैं लाला लाजपतराय के बारे में मैं कुछ कहना चाहता हूँ। इस विषय में इतना ही कहना काफी है कि भारत सरकार ने यह आवश्यक समझा कि उनके खतरनाक राजनैतिक प्रभाव के कारण उन्हें कुछ समय के लिए भारत से निर्वासित कर दिया जाय। यदि हम इस बात को ध्यान में रखें तो हमें यह तथ्य महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है कि आर्यसमाज के पिछले वार्षिकोत्सव में धन-संग्रह के लिए एक अपील इस उद्देश्य से की गयी थी कि इससे प्राप्त धन-राशि से तथाकथित राजद्रोहियों के बचाव तथा पैरवी के लिए व्यवस्था की जाएगी। इनके नेता के रूप में लाला लाजपतराय का नाम दिया गया था। यदि आर्यसमाज आगे आकर या खुलकर यह कहता है कि हम एक ऐसी राजनैतिक संस्था हैं जो सर्वमान्य वैधानिक उपायों से शासन में सुधार लाने का प्रयत्न कर रही है तो मैं इस समाज की कोई निन्दा नहीं करता। किन्तु जब इस समाज के व्यक्ति हमें यह आश्वासन देते हैं कि राजनीति से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है और इसके साथ ही हम इसके सदस्यों को देश की राजनीति में बड़ा प्रमुख भाग लेते हुए देखते हैं तो स्वाभाविक रूप से हमें इस संस्था के उद्देश्यों की सत्यता में संदेह होने लगता है।

"इस विषय में कुछ प्रकाश लाहौर में छपने वाले 'हिन्दुस्तान' के २६ नवम्बर १९०९ ई० के अंक में छपे एक लेख से मिलता है। इसमें यह कहा गया है कि जब सरकार का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया गया कि आर्यसमाज एक राजनैतिक संस्था है तो सरकार पर प्रत्येक संभव उपाय से यह प्रभाव डालने का प्रयास किया गया कि

स्वामी दयानन्द ने जब अपना ग्रन्थ लिखा था उस समय देश में कोई राजनैतिक असन्तोष नहीं था, फिर भी इस ग्रन्थ के लिखे जाने के प्रधान उद्देश्य के बारे में तनिक भी सन्देह नहीं हो सकता है। यह उद्देश्य प्रत्येक सम्भव उपाय से देश की राजनैतिक सत्ता इस आशा और विश्वास के साथ प्राप्त करना था कि किसी दिन आर्यों का शासन सारे भूमण्डल पर उसी तरह होगा, जैसे आरम्भ में था। यदि यह एक प्रबलतम राजनैतिक आकांक्षा नहीं है तो मुझे यह सन्देह करना पड़ेगा कि मैं भाषा और शब्दों का अर्थ नहीं समझता हूँ।

आर्याभिविनय की प्रार्थनायें—"स्वामी दयानन्द ने अपने अनुयायियों तथा भक्तों द्वारा पढ़ी जाने वाली प्रार्थनाओं का एक संग्रह भी प्रकाशित किया है। मैं यह नहीं जानता हूँ कि इनका सामान्य रूप से कहाँ तक उपयोग होता है, किन्तु इस बात में कोई सन्देह नहीं कि इसमें उनकी इच्छाओं और अभिलाषाओं का प्रतिबिम्ब है। इस छोटी-सी पुस्तक का नाम है आर्याभिविनय। इस मामले में अन्य प्रमाणों के साथ मैं इस पुस्तक को भी पेश करूँगा। इस समय मैं इसके पृष्ठ १४१-४२ के कुछ अवतरण आपके सामने पढ़ता हूँ। ये बिल्कुल स्पष्ट हैं और इनमें उन्होंने अपने शिष्यों से यह प्रार्थना भगवान् से करने के लिए कहा है कि कोई विदेशी उन पर शासन न करे। इसके बाद भी आर्य-समाजी यह कहते हैं कि उनके समाज में कोई राजनीति नहीं है, केवल धर्म की ही बातें कही जाती हैं। मैंने शुरू में ही आपको यह वचन दिया था कि मैं आर्यसमाज के शत्रुओं की सम्मतियाँ और युक्तियाँ नहीं पेश करूँगा, अपितु उनकी ही बातें कहूँगा। आर्य-समाजियों की उपर्युक्त प्रार्थनाओं से स्पष्ट है कि उनका विशुद्ध धार्मिक समाज होने का दावा ठीक नहीं है।

श्यामजी कृष्ण वर्मा—"अब मैं आपको यह बताऊँगा कि उनके प्रमुख शिष्य इस समय क्या कर रहे हैं। शुरू में मैंने आपको परोपकारिणी सभा के बारे में कुछ बातें बतायी थीं। स्वामी दयानन्द ने अपने वसीयतनामे(स्वीकारपत्र) में इस सभा का निर्माण किया था और इसमें २० ऐसे व्यक्तियों को मनोनीत किया था जो इस सभा के ट्रस्टी बन-कर उनकी सम्पत्ति की व्यवस्था करें और सामान्य रूप से उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कार्य करें जिसके लिए उन्होंने इसकी स्थापना की थी। इन व्यक्तियों को यह अधिकार था कि जब इन २० व्यक्तियों में किसी का स्थान रिक्त हो जाय तो उसकी पूर्ति किसी अन्य व्यक्ति को चुनकर करें। प्रसंगवश मैं यह उल्लेख कर देना चाहता हूँ कि अभी हाल में चीफकोर्ट के न्यायाधीश बनने वाले लाला लालचन्द, सुप्रसिद्ध वकील लाला ईश्वर-दास, लाला लाजपतराय और मेरे मित्र श्री रोशनलाल स्वामीजी के कार्यों को और उनके जीवन के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए इस सभा के सदस्य नियुक्त किये गये हैं। इसके एक सदस्य पण्डित श्यामजी कृष्ण वर्मा हैं। इनके बारे में मैं पहले ही बता चुका हूँ कि उन्होंने कर्जन वायली की हत्या की खुलकर प्रशंसा की थी और उनके द्वारा सम्पादित तथा प्रकाशित 'इण्डियन सोशियोलोजिस्ट' नामक पत्रिका के मई १९०८ ई० के अंक में उन्होंने स्वामीजी तथा उनके कार्यों के बारे में जो बातें लिखी हैं, उन्हें मैं आप-को पढ़कर सुनाता हूँ।"

इस पत्रिका के कुछ अंश पढ़कर सुनाने के बाद श्री ग्रे ने कहा, "इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि डी० ए० वी० कॉलेज के अध्यक्ष लाला हंसराज ने श्यामजी कृष्ण को

सीमा पर पहुँचा। एक म्रियमाण संस्था का ऐसे समय में पुनरुज्जीवित होना अपने-आप में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इससे पहले १९०३ ई० में सुनाम में और नरवाणा में तथा जून १९०५ ई० में भवानीपुर में आर्यसमाजें स्थापित हुईं। इन सबकी स्थापना लगभग आसपास के वर्षों में हुई।

"मैं आपके सामने जो साक्षी प्रस्तुत करूँगा उससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि ब्रिटिश भारत से पटियाला राज्य में भूमिकर-निर्धारण करने का कार्य (बन्दोबस्त) करने के लिए लाये गये कुछ अधिकारियों (Settlement offiicers) के प्रभाव और प्रयत्न से पटियाला राज्य में आर्यसमाजें स्थापित होने लगीं। इन अधिकारियों में श्री गौरीशंकर का नाम उल्लेखनीय है। मैं आपका समय इन समाजों की स्थापना के ब्यौरे की बातों में नष्ट नहीं करना चाहता हूँ, केवल एक बात पर बल देना चाहता हूँ कि पटियाला से बाहर की समाजों में इस समय राजद्रोहपूर्ण भाषण और वक्तृतायें होती थीं और इनका प्रमुख उद्देश्य ब्रिटिश सरकार को बदनाम करना होता था। इसी प्रकार के भाषण अब पटियाला में भी होने लगे।

"१९०७ ई० में लाला लाजपतराय और अजीतसिंह के निर्वासन से बड़ी हलचल मची और भय का वातावरण उत्पन्न हुआ। ब्रिटिश सरकार ने इस खतरे को अच्छी तरह समझा और राजद्रोहियों की गिरफ्तारियाँ शुरू कीं। इससे कुछ क्रान्तिकारियों ने विभिन्न देशी रियासतों में शरण ली। इसका कारण केवल यही नहीं था कि वे ब्रिटिश पुलिस के चंगुल से बचना चाहते थे, अपितु यह भी था कि उनका यह विचार था कि उन्हें देशी रियासतों के मृदु एवं शिथिल शासन में अपना काम करने में अधिक स्वतन्त्रता मिलेगी, क्योंकि यहाँ ब्रिटिश सरकार की प्रतिष्ठा की रक्षा करने के लिए अधिक दिलचस्पी नहीं थी। इन्हें यह भी आशा थी कि पटियाला-नरेश की नाबालिगी में वे अपना घृणित कार्य अच्छी तरह कर सकेंगे। यह उनकी भूल थी क्योंकि महाराजा की नाबालिगी में शासन-कार्य करने वाली संरक्षक परिषद् (रीजेन्सी कौंसिल) को ज्यों ही इस बात का पता चला, उसने पुलिस के महानिरीक्षक को इस विषय में सब बातों का पता लगाने का आदेश दिया।

"१९०७ ई० से १९०९ ई० तक इस विषय में जाँच-पड़ताल होती रही। पुलिस ने समाजों द्वारा की जाने वाली सभाओं में अपने विभिन्न जासूस और गुप्तचर भेजने शुरू किये। शुरू से ही इन सभाओं में भाग लेने वाले व्यक्तियों को उनकी जासूसी का सन्देह हो गया और वे बड़ी सावधानी से अपना कार्य करने लगे।

पत्र का प्रमाण—"इस विषय में हमारे पास एक अभियुक्त छोटूराम को १७ जुलाई १९०८ को अभी तक अज्ञात एक व्यक्ति रामप्रसाद द्वारा लिखे गये पत्र की साक्षी है। इसमें कहा गया है—"पिछले सप्ताह की बैठक में जब लाला बनारसीदास ने राजनैतिक बातों की चर्चा की और इस पर भाषण देना शुरू किया तो डरावनी शक्ल का एक व्यक्ति बैठक में आया। यह जासूस मालूम होता था, अतः राजनैतिक विषयों की चर्चा फौरन बन्द कर दी गयी।" इस पर टिप्पणी करते हुए सरकारी वकील ने कहा कि यह बड़ी मजेदार बात है कि यद्यपि पुलिस इस सभा में उपस्थित नहीं थी, उसे इसका कोई ज्ञान नहीं था, फिर भी आर्यसमाजियों को पुलिस का इतना डर था कि उन्हें हर व्यक्ति सरकारी गुप्तचर प्रतीत होता था। यह घटना इस बात को प्रमाणित करती है कि

आर्यसमाज की सभाओं में राजनीति की चर्चा हुआ करती थी।"

आचार सुधारिणी सभा—इसके बाद श्री ग्रे ने पटियाला में राजद्रोह की गतिविधियों के लिए आर्यसमाज के सदस्यों द्वारा स्थापित की जाने वाली विभिन्न सभाओं का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा—"अब मैं १९०८ ई० की घटनाओं की ओर आता हूँ। इस वर्ष समाज में **कुमार सभा** नामक एक संस्था की स्थापना हुई। यह या तो १९०८ ई० से थोड़ा पहले या उसी वर्ष बनायी गयी थी क्योंकि इसी समय से हमें इसका विवरण उपलब्ध होता है। मेरा विचार है कि 'कुमार सभा' वही वस्तु है, जिसे अंग्रेज लोग संडे स्कूल कहते हैं। इसका उद्देश्य आर्यसमाज के सदस्यों के बालकों को रविवार को एक स्थान पर एकत्र करना था ताकि उन्हें वैदिक धर्म के सिद्धान्तों का समुचित परिचय दिया जा सके। इस उद्देश्य पर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती है। किन्तु हमारे पास इस बात की कोई साक्षी नहीं है कि इसकी बैठकों में वास्तव में किस प्रकार की शिक्षा दी जाती थी।

"सितम्बर १९०८ ई० में इसे एक नई सभा में मिला दिया गया। इसके बाद हमें कुमार सभा का कोई उल्लेख नहीं मिलता है और **विद्यार्थी आचार सुधारिणी** नामक नयी संस्था का उल्लेख मिलता है। यह स्पष्ट है कि इस सभा के उद्देश्यों में परिवर्तन हुआ होगा और धार्मिक शिक्षा के स्थान पर नवयुवकों को राजनैतिक शिक्षा दी जाने लगी होगी। यह इस बात से पुष्ट होता है कि विद्यार्थी-सभा की बैठकें अब आर्यसमाज-मन्दिर में नहीं होती थीं, बल्कि इससे बाहर, एक व्यक्ति के घर में होती थीं। बाद में इस सभा के नाम से विद्यार्थी शब्द भी हटा दिया गया और यह केवल 'आचार सुधारिणी सभा' ही रह गयी। एक अभियुक्त लक्ष्मणदास कुमार सभा का सभापति था। बनारसीदास भी इसका एक सभापति था और इसका मन्त्री पहले जौहरीलाल और बाद में छोटूराम हो गया। इसकी बैठकें पहले खुले रूप में होती थीं, किन्तु बाद में ये बड़ी सावधानी के साथ की जाने लगीं। १९०८ ई० की एक विज्ञप्ति में यह बताया गया कि सायंकाल चार बजे मन्त्री जौहरीलाल के घर पर इसकी बैठक होगी और उसमें सम्मिलित होने के लिए सदस्यों को निमन्त्रित किया गया था। इससे पहली सभा की स्थापना भी सितम्बर में हुई थी और यह इस बात को सूचित करता है कि यह एक ही संस्था थी।

"शुरू में इसके सदस्य मन्त्री के घर पर खुले रूप में अपनी बैठकें करते थे, किन्तु इसमें कुछ समय बाद खतरा समझा जाने लगा। आर्यसमाज-मन्दिर में भी इसकी बैठकें नहीं होती थीं। ये जौहरीलाल के घर पर होती थीं। बाद में बैठकें बन्द हो गयीं और इन्हें करने के लिए एक मकान ले लिया गया। इसकी बैठकों की सूचना सामान्य रूप से पीले कागज पर छापी जाती थी, किन्तु महत्त्वपूर्ण बैठकों की सूचना हरे रंग के कागज पर छपती थी।

"हमारे पास छोटूराम के हस्ताक्षरों से दस दिसम्बर १९०८ ई० को होने वाली बैठक की ऐसी सूचना है। इसमें यह बताया गया था कि इस बैठक में **स्वराज्य हासिल करने के जरियों** (उपायों) पर चर्चा होगी। यह सूचना पटियाला शहर के विभिन्न सार्वजनिक स्थानों पर चिपकाई गयी थी। जौहरीलाल ने भी इसमें जनता को निमन्त्रित करने के लिए पृथक् रूप से एक सूचना निकाली थी। यह बैठक हुई और छोटूराम इसको बुलाने की जिम्मेदारी से नहीं बच सकता है। इस बैठक में पुलिस का भी एक ऐसा

कर्मचारी गया जिसे उस समय पहचाना नहीं जा सका और उसने इस बैठक की रिपोर्ट दी। इसमें बनारसीदास ने स्वराज्य के लाभों पर व्याख्यान दिया था। वक्ता ने अपने भाषण में ब्रिटिश सरकार के लिए अपशब्दों का प्रयोग किया और कहा कि अंग्रेज भारतीयों को कसाई की तरह से तेजधार वाली छुरी से काट रहे हैं; देश में सब मुसीबतों की जड़ विदेशी शासन है; अंग्रेज ही भारत में अकाल पड़ने के लिए उत्तरदायी हैं। इस भाषण में वक्ता ने जिन शब्दों का प्रयोग किया, उनके लिए मैं कई गवाहियाँ प्रस्तुत करूँगा। इस समय मैं केवल यही बताना चाहता हूँ कि यह भाषण किस प्रकार का था। इसकी समाप्ति पर कुछ वादविवाद भी हुआ। वक्ता ने बंगालियों की वीरता की सराहना की। आप जानते हैं कि उन्होंने १९०८ ईसवी में कैसी बहादुरी दिखायी है। वक्ता ने मेजिनी और गेरीबाल्डी की भी चर्चा की। देवीदयाल ने बनारसीदास की कुछ बातों की आलोचना की। इस बैठक में अभियुक्त कपूरचन्द, छोटूराम और ठाकुरदास भी उपस्थित थे। कपूरचन्द इलाहाबाद से निकलने वाले **स्वराज्य** नामक पत्र का कुछ समय तक सम्पादक रह चुका था। इसके पहले सम्पादक शान्तिनारायण के गिरफ्तार होने पर उसने इस पत्र का सम्पादन-कार्य सँभाला था। सम्पादक बनते ही उसका पहला कार्य यह था कि उसने 'स्वराज्य' पत्र की प्रतियाँ बहुत बड़ी संख्या में विद्यार्थियों में वितरित करने के लिए पटियाला भेजीं। छोटूराम के बारे में पहले ही बता चुका हूँ कि वह इस सभा का मन्त्री था। ठाकुरदास एक प्रसिद्ध क्रान्तिकारी है। भारत सरकार का गुप्तचर-विभाग इस समय उसे ढूँढने में लगा हुआ है। वह यहाँ बहुत-सा राजद्रोहपूर्ण साहित्य लेकर आया था। मैंने आपको इस सभा की एक बैठक का विवरण दिया है। ऐसी यहाँ अनेक बैठकें हुईं।

"गुरुमुखी में लिखा एक पत्र दिसम्बर १९०८ ई० में पटियाला में तथा लगभग सभी सिक्ख राज्यों में भेजा गया। इसमें लेखक ने सीधा महाराजा को सम्बोधित करने की धृष्टता की है और यह महाराजा के शिक्षक को दिया गया था। इसमें एक सिक्ख द्वारा एक सिक्ख को सम्बोधन किया गया है, किन्तु मेरा विश्वास है कि कोई सिक्ख ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं करेगा। इस समय राज्य में राजद्रोहपूर्ण भाषण दिये जा रहे थे और इस पत्र में सिपाहियों को राजभक्ति से विचलित करने का प्रयास किया गया है। यह पत्र दिसम्बर १९०८ ई० के अन्त में मिला था। इससे यह सूचित होता है कि इस समय पटियाला में राजद्रोह के प्रचार के लिए व्यवस्थित रूप से एक अभियान चलाने की तैयारी हो रही थी।

"सौभाग्यवश यह अभियान सफल नहीं हो सका, क्योंकि पुलिस सावधान थी, उसने तुरन्त कार्यवाही की। मैं यह नहीं कहता हूँ कि यह आन्दोलन यहाँ से ही शुरू हुआ, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इसे यहाँ लाने वाले बाहर के लोग थे। द्वारिकादास और कपूरचन्द पटियाला में रामदास को लाये। यह विभिन्न क्रान्तिकारी संस्थाओं का सदस्य और सुप्रसिद्ध जोशीला व्यक्ति था। उसने जौहरीलाल के घर पर एक व्याख्यान दिया। जहाँ तक हमें मालूम है इसके लिए 'आचार सुधारिणी सभा' की ओर से कोई सूचना नहीं दी गयी। रामदास का यह भाषण १२ अक्टूबर को हुआ था। इसके बाद १३ दिसम्बर को उसके दूसरे भाषण की सूचना दी गयी। इस भाषण का शीर्षक था—**स्वराज्य कैसे प्राप्त करें**। इस भाषण की समाप्ति पर इस विषय में कुछ चर्चा भी हुई।

श्रोताओं ने यह कहा कि इस भाषण से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ है, उन्हें यह पता नहीं चला है कि वे स्वराज्य कैसे प्राप्त कर सकते हैं।

"अतः अगले सप्ताह २० दिसम्बर को इस विषय पर एक अन्य भाषण दिये जाने की सूचना दी गयी। किन्तु यह भाषण नहीं हुआ। एक दिन पहले १९ दिसम्बर को रामदास ने एक अन्य क्रान्तिकारी भाषण दिया। पुलिस को इसकी सूचना मिल गयी। उसकी गिरफ्तारी का आदेश जारी हो गया। उसे ढूँढा जाने लगा। वह 'आचार सुधारिणी सभा' के कार्यालय में व्याख्यान देते हुए पकड़ा गया। पुलिस ने उसे सात-आठ अन्य श्रोताओं के साथ गिरफ्तार कर लिया। बन्दी बनाये गये व्यक्ति रामदास के अतिरिक्त ठाकुर-दास, दिवंगत सीताराम तथा अभियुक्त सं० १९,३४,३५,७४ तथा ७५ थे। किन्तु कुछ समय बाद इन्हें जमानत पर छोड़ दिया गया। रामदास संभवतः अजीतसिंह के भाई के साथ विदेश चला गया। अन्य व्यक्तियों को २० नवम्बर को पुनः गिरफ्तार किया गया। इन सब व्यक्तियों ने राजद्रोह के भाषणों वाली सभाओं में भाग लिया है।"

इसके बाद सरकारी वकील ने कहा कि वे "प्रत्येक अभियुक्त के बारे में अपराध का विवरण देंगे और यह सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे कि आर्यसमाज और ये सभायें (कुमार सभा तथा आचार सुधारिणी सभा) अपने सदस्यों में तथा इन बैठकों में निमंत्रित व्यक्तियों में राजद्रोह का प्रचार करती थीं। इसमें राजद्रोहात्मक भाषण दिये जाते थे, ऐसे लेख पढ़े जाते थे और अभियुक्तों के घरों की तलाशी लेने पर राजद्रोहात्मक पुस्तकें तथा अन्य साहित्य मिला है। साक्षी-कानून की धारा १० के अनुसार इन बैठकों में उपस्थित होने वाला प्रत्येक व्यक्ति राजद्रोह करने वाले षड्यन्त्र में सम्मिलित समझा जाना चाहिये।"

समाज की सायंकालीन बैठकें—इसके बाद श्री ग्रे ने यह बताया कि आर्यसमाज के सत्संग की साप्ताहिक सभायें समुचित रूप से की जाती हैं। इनमें एक निश्चित मर्यादा और शालीनता का पालन किया जाता है, किन्तु आर्यसमाज से एक भूल हो गयी। आर्य-समाज में यह एक रिवाज पड़ गया है कि इसमें रविवार शाम को समाज में मँगाये जाने वाले अखबारों का वाचन होता था और इस पर न केवल समाज के सदस्य, किन्तु उप-प्रधान नन्दलाल के घर से पायी गयी रिपोर्ट में वर्णित व्यक्ति भी विचार-विमर्श एवं चर्चा किया करते थे। इस रिपोर्ट में यह बताया गया है कि पिछले साल-डेढ़ साल से समाज में अंग्रेजी, हिन्दी-उर्दू के अखबार मँगाये जाते थे और वाचनालय में साधारण जनता के पढ़ने के लिए रखे जाते हैं। वाचनालय शाम को ६ से ७.३० बजे तक खुला रहता है; सब धर्मों के व्यक्ति यहाँ अखबार पढ़ने के लिए आ सकते हैं।

इसके बाद वकील ने समाज के वाचनालय में मँगाये जाने वाले पत्रों में चर्चित विषयों के नमूने पेश करते हुए बताया कि इसमें अभियुक्त श्री लछमनदास 'भारत-भगिनी' नामक पत्र पढ़कर सुनाया करता था। इसकी सम्पादिका प्रतिवादी-पक्ष के एक वकील (बैरिस्टर रोशनलाल) की पत्नी है। इस पत्र का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए वकील ने इसके कुछ अवतरण पढ़कर न्यायालय में सुनाये जो उनके मतानुसार इस बात को प्रमाणित करते थे कि **भारत भगिनी** पूर्णरूप से राजद्रोहात्मक और क्रान्तिकारी पत्र है। लोकमान्य तिलक के पत्र यहाँ मँगाये जाते हैं। पं० रामेश्वरदास के सुझाव पर **वन्देमातरम्** आता था, प्रति बुधवार इसे पढ़कर सुनाने के लिए सदस्यों में होड़ होती

थी। मुरारीलाल और रामेश्वरदास इसे पढ़कर सुनाते थे। कलकत्ता का प्रसिद्ध **दैनिक राजनैतिक अमृत बाजार पत्रिका** तथा दो बार जब्त किये जाने वाले अखबार **स्वराज्य और** एक अन्य पत्र सीताराम के सुझाव पर मँगाये जाते थे। इनके अतिरिक्त **इन्दर, आर्यमित्र** और **हिन्दुस्तान** आते थे। वकील के मतानुसार इन पत्रों में कभी-कभी राजद्रोहात्मक लेख-सामग्री रहा करती थी। सरकारी वकील का कहना था कि रविवार शाम को ६ से ७.३० के बीच में लगभग आधा दर्जन राजद्रोह की सामग्री से भरे अखबारों को पढ़कर सुनाया जाता था तथा इन पर चर्चा करना अवैध राजनैतिक कार्य था।

(११) अभियुक्तों पर आरोप

अभियुक्तों के बारे में सामान्य साक्षी प्रस्तुत करते हुए श्री ग्रे ने बताया कि सं० १५ तक के अभियुक्त समाज के तथा इसकी अन्तरंग सभा के प्रमुख सदस्य हैं। इसके प्रधान ज्वालाप्रसाद, उपप्रधान नन्दलाल और उसके भाई मन्त्री तथा स्कूल के हेड-मास्टर लछमनदास, कोषाध्यक्ष भगवानदास हैं। इनके अतिरिक्त प्रभुराम अन्तरंग सभा के प्रमुख सदस्य हैं। 'आचार सुधारिणी सभा' के दो सदस्य दो भाई विलायतीराम और छोटूराम उल्लेखनीय हैं।

स्वदेशी की दुकानें—विलायतीराम और छोटूराम ने पटियाला में स्वदेशी की दुकान खोल रखी है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की दो अन्य भी दुकानें हैं। सरकारी वकील के कथनानुसार इनमें न केवल स्वदेशी वस्तुयें बेची जाती थीं, अपितु ये विभिन्न प्रकार का राजद्रोहपूर्ण साहित्य—पुस्तक-पुस्तिकाओं, राष्ट्रीय नेताओं के चित्रों, सामयिक घटनाओं के बारे में बनाये गये कार्टूनों के वितरण और बिक्री का महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे।

तलाशी में मिली आपत्तिजनक सामग्री का विवरण—श्री ग्रे ने पुलिस द्वारा आर्यसमाज-मन्दिर पटियाला के अभियुक्तों के घरों से उपलब्ध की गयी राजद्रोहपूर्ण सामग्री—पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तक-पुस्तिकाओं का उल्लेख करते हुए बताया कि आर्य-समाज-मन्दिर से **पंजाबी** की प्रतियाँ काफी बड़ी संख्या में उपलब्ध हुई हैं। यह उन दिनों लाहौर से प्रकाशित होनेवाला सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय अंग्रेजी दैनिक पत्र था। सरदार दयालसिंह मजीठिया द्वारा स्थापित नरमदली विचारों का प्रतिनिधित्व करने वाले 'ट्रिब्यून' से असन्तुष्ट एवं राजनीति में उग्र विचारधारा के अनुयायी लाला लाजपतराय और उनके सहयोगियों ने इसका प्रकाशन किया था। यह उस समय का बड़ा लोकप्रिय पत्र था। इसका ग्राहक बनना और पढ़ना अपने-आप में कोई अपराध नहीं था, अतः इसकी प्रतियों को आपत्तिजनक सिद्ध करने के लिए सरकारी वकील ने कहा कि—मैं यह नहीं कहता हूँ कि 'पंजाबी' को खरीदने वाला प्रत्येक व्यक्ति आवश्यक रूप से राजद्रोही है, किन्तु हम 'पंजाबी' के इतिहास को जानते हैं और मैं यह बात निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि इस प्रकार के पत्र को नियमित रूप से खरीदने वाली संस्था अपने को कोई ऐसा धार्मिक समाज नहीं कह सकती है जिसमें राजनीति की चर्चा वर्जित है। मेरे कहने का यह आशय नहीं है कि कोई प्रतिष्ठित राजनीतिज्ञ 'पंजाबी' जैसे पत्र का ग्राहक नहीं बन सकता है। प्रायः किसी प्रश्न के दोनों पहलुओं को जानने के लिए ऐसा करना उचित होता है; किन्तु मैं यह अवश्य कह सकता हूँ कि यह ऐसा पत्र नहीं है जिसे एक विशुद्ध धार्मिक संस्था को खरीदना चाहिये। आर्यसमाज से भजनों की भी ऐसी पुस्तकें मिली

हैं जिनमें अन्य धर्मों की निन्दा की गयी है। आपने इन्हें सुना होगा। वकील ने अदालत में इनके कुछ अवतरण पढ़कर सुनाये।

तलाशी में आर्यसमाज के उर्दू पत्र **'प्रकाश'** (परकाश) की अनेक प्रतियाँ मिली थीं। वकील की दृष्टि में यह पत्र कई बार आपत्तिजनक सामग्री से रहित होता था, किन्तु कई बार इसमें ऐसी सामग्री बहुत अधिक होती थी। जब लाजपतराय को निर्वासन का दण्ड दिया गया तो इसमें ऐसी सामग्री बहुत प्रकाशित हुई थी। इसी प्रकार दक्षिण-अफ्रीका में भारतीयों के साथ किये जाने वाले व्यवहार की भी इसमें कड़ी आलोचना छपी थी। वकील का कहना था कि इनमें से बहुत-सी बातों के साथ हमारी सहानुभूति हो सकती है, किन्तु ये राजनैतिक स्वरूप रखने वाली घटनायें हैं और इनका राजनीति से सम्पर्क न रखने वाली किसी संस्था में पाया जाना उचित नहीं है। समाज में **झंगसियाल** नामक पत्रिका के भी कुछ अंश उपलब्ध हुए थे। इसके ५ जून १९०९ ई० के अंक में ब्रिटिश सरकार के न्याय-विभाग के कर्मचारियों के भ्रष्टाचार का वर्णन था। इस बारे में वकील ग्रे का यह मत था—"यह धार्मिक नहीं, अपितु राजनैतिक विषय है।" इस पत्र में 'बाबू विपिनचन्द्र पाल के विचार' नामक लेख छपा है। मुझे प्रसन्नता है कि इसमें बम फेंकने की आलोचना की गयी है, किन्तु ऐसे पत्रों का आर्यसमाज जैसी धार्मिक संस्था में पाये जाने का कोई औचित्य नहीं है। २८ जून के 'प्रकाश' में अरविन्द घोष के योगिराज कृष्ण पर दिये गये व्याख्यान की रिपोर्ट छपी थी। इसमें आदर्श राजा के गुणों का वर्णन किया गया है। सरकारी वकील की दृष्टि से एक अन्य आपत्तिजनक उर्दू पत्र **इन्दर** था। इसकी प्रतियाँ नरवाणा आर्यसमाज से मिली थीं। इसके जुलाई १९०६ ई० के अंक में पृ० ४५६ पर ब्रिटिश सरकार की तुलना बन्दर से की गई है। पटियाला-आर्य-समाज से मिली अन्य अधिकांश पुस्तकों में आपत्तिजनक बातें नहीं थीं; समाचार-पत्रों में भी राजद्रोहपूर्ण बातों का अभाव था, किन्तु इनमें राजनैतिक घटनाओं का उल्लेख था।"

पटियाला की तीन स्वदेशी दुकानों से मिली आपत्तिजनक पुस्तकों का उल्लेख करते हुए सरकारी वकील ने विलायतीराम छोटूराम की दुकान से उपलब्ध एक ऐसी पुस्तिका का वर्णन किया जिसमें भारत की दयनीय दशा और दुःखों का मार्मिक चित्रण किया गया था। इसकी बहुत-सी प्रतियों का पाया जाना यह सूचित करता है कि यह बेचने तथा वितरण करने के लिए मँगाई गयी थीं। इससे यह प्रमाणित होता है कि यह दुकान राजद्रोहपूर्ण साहित्य की बिक्री और वितरण का कार्य करती थी और यह दुकान के मालिकों के विरुद्ध राजद्रोह का पर्याप्त प्रमाण है। इस दुकान का एक मालिक छोटूराम आचार सुधारिणी सभा का मन्त्री था। इसी दुकान में एक राजद्रोहपूर्ण कविता की ८३ प्रतियाँ मिली थीं। यह कहा जाता है कि इस दुकान से ऐसा साहित्य वितरित किया जाता था।

पटियाला में इस प्रकार का आपत्तिजनक साहित्य बेचने तथा वितरण करने वाली दूसरी दुकान श्री शंकरलाल (अभियुक्त सं० १६) की थी। इसने १९०६ ई० में अपने छोटे भाई के साथ प्रतिज्ञा की थी कि वह केवल स्वदेशी वस्तुओं का ही व्यवहार करेगा और बंगालियों की सहायता करेगा। इसके पास कलकत्ता के प्रभुचन्द बैनर्जी द्वारा लिखे कुछ आपत्तिजनक पत्र मिले थे। इनमें शिक्षा के सिद्धान्तों का वर्णन था। सरकारी वकील की दृष्टि में ये सिद्धान्त नवयुवकों के मनों पर बुरा, सरकार-विरोधी प्रभाव डालने वाले तथा ब्रिटिश शासन के प्रति घृणा की भावना उत्पन्न करने वाले थे।

ग्रे के मतानुसार नवयुवकों के मनों को दूषित करना किसी भी समाज का सबसे अधिक बुरा तथा निन्दनीय कार्य था। इस दुकान में तिलक जैसे उग्रवादी नेताओं के मुद्रित भाषणों को बहुत ही कम मूल्य पर बेचा तथा वितरित किया जाता था।

राजद्रोहपूर्ण आपत्तिजनक साहित्य बेचने वाली तीसरी दुकान बनारसीदास की थी। यह आचार सुधारिणी सभा का संस्थापक और नेता था। उसने १३ दिसम्बर १९०८ ई० को राजद्रोहपूर्ण भाषण दिया था। उसकी दुकान से आपत्तिजनक साहित्य प्रचुर मात्रा में मिला था। १९०८ ई० में उसकी गिरफ्तारी के बाद पुलिस ने उसे भेजे गये एक ऐसे पार्सल को पकड़ा था, जिसमें तत्कालीन देशभक्तों—तिलक, अजीतसिंह अरविन्द घोष के चित्रों के अतिरिक्त १८५७ ई० के सैनिक-विद्रोह के नेता नाना साहब, टीपू सुल्तान तथा खुदीराम बोस के चित्र थे। ये चित्र पटियाला में बेचने के लिए मँगाये गये थे।

इसके बाद सरकारी वकील ने इस मामले के विभिन्न अभियुक्तों के घरों से पायी जाने वाली आपत्तिजनक सामग्री और उनके तथाकथित अपराधपूर्ण कार्यों का विस्तृत उल्लेख किया। यहाँ केवल कुछ प्रमुख अभियुक्तों के आरोपों का संक्षिप्त प्रतिपादन किया जायगा। पहले अभियुक्त एक्जीक्यूटिव इंजीनियर राय ज्वालाप्रसाद थे। वे आर्यसमाज के प्रधान थे और समाज की सभी राजद्रोहपूर्ण गतिविधियों में पूरा भाग लेते थे। सरकारी वकील के शब्दों में ये बड़े सावधान और चतुर व्यक्ति थे। उनके घर की तलाशी लेकर पुलिस ने जो कागजात और पुस्तकें बरामद कीं, उन पर उसने लिखा है—'मेरे लड़के के कमरे से प्राप्त', 'मेरे भतीजे के कमरे से प्राप्त'। इस प्रकार उसने इस आपत्तिजनक साहित्य के रखने की जिम्मेवारी से बचने का प्रयास किया। किन्तु यह कहा जा सकता है कि वह अपने बच्चों को इस बात की अनुमति देता है कि वे राजद्रोह-पूर्ण साहित्य को पढ़ें। उसके लड़के के कमरे में से विलियम हैविट द्वारा लिखित और भारतमाता बुक एजेंसी द्वारा प्रकाशित **डिवाइड एण्ड कॉङ्कर** (फूट डालो और विजय प्राप्त करो) नामक पुस्तक मिली है जो हाल ही में पुलिस ने जब्त की थी और जिसके प्रकाशकों पर मुकद्दमा चलाया जा रहा है। यहाँ से हमें ज्वालाप्रसाद द्वारा बनाया गया एक कार्टून और लाला लाजपतराय की फोटो के टुकड़े मिले हैं। जब तलाशी ली जा रही थी तो उन्होंने इस तस्वीर को नष्ट करने का प्रयत्न किया था। इनके घर से हैमलेट के आधार पर सामयिक भारतीय घटनाओं का चित्रण करने वाला एक नाटक भी मिला है। इसमें नौजवान हैमलेट को तरुण भारत के रूप में प्रस्तुत किया गया है। क्लाडियस की हत्या ब्रिटिश साम्राज्य के अधिकारियों का प्रतिनिधित्व करती है। राजा के विश्वास-पात्र मन्त्री कोलोनियस का प्रतिनिधित्व इसमें रियासतों के राजाओं द्वारा किया गया है। लेटस नामक पात्र का प्रतिनिधि मुस्लिम लीग है और इसमें यह बताया गया है कि मुस्लिम लीग भारत को धोखा देगी और इसी से उसका अन्त होगा। इस प्रकार की रचना एक ऐसे व्यक्ति ने की है जो आर्यसमाज का प्रधान व सरकार का उच्च अधिकारी है।

दूसरे अभियुक्त नन्दलाल के विरुद्ध मौखिक साक्षी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। वह ज्वालाप्रसाद के कार्यालय में सार्वजनिक निर्माण-विभाग में लेखाकार है और अभि-युक्त संख्या एक के साथ काम करता है। इस विषय में, यह साक्षी प्रस्तुत की जायगी कि वह न केवल अपने अवकाश के समय में, अपितु कार्यालय के समय में भी लिपिकों को

एकत्र करके उनसे राजद्रोह की बातें करता है और राजद्रोहपूर्ण साहित्य पढ़ता रहता है। उसके कार्यालय में तीन व्यक्तियों को छोड़कर सभी आर्यसमाजी हैं। उसके विरुद्ध सबसे बड़ा आरोप यह है कि वह अपने कार्यालय में और उसके बाहर क्रान्तिकारी सिद्धान्तों का प्रचार व प्रसार करता रहता है। उसने अभियुक्त संख्या १० के साथ एक सभा में राजद्रोह से भरा भाषण दिया और ब्रिटिश सरकार का विरोध करने वाले तथा स्वराज्य का प्रतिपादन करने वाले विचार प्रकट किये। अगला अभियुक्त नन्दलाल का भाई चिरंजीलाल है और वह उसी के साथ रहता है और उस पर भी लगभग वही आरोप हैं, जो उसके भाई पर लगाये गये हैं।

श्री लक्ष्मणदास ने एक सभा में स्वराज्य-प्राप्ति के उपायों पर चर्चा की थी; इस बैठक में रामदास ने भी भाषण दिया था। चूंकि श्री लक्ष्मणदास नगर के हाईस्कूल का हेडमास्टर है, अतः यदि वह राजद्रोह का अपराधी पाया जाता है तो उसे कड़ी-से-कड़ी सजा दी जानी चाहिए, क्योंकि वह नवयुवकों के मनों को विकृत एवं दूषित करने का कार्य कर रहा है। अगले अभियुक्त भगवानदास के पास से पुलिस ने एक राजद्रोहपूर्ण व्याख्यान का मस्विदा बरामद किया है। उसके पास से **भारत भगिनी** नामक पत्रिका की प्रतियाँ भी मिली हैं। वह रामदास के राजद्रोहपूर्ण भाषण में उपस्थित था। मुरारीलाल के सुझाव पर आर्यसमाज में 'बन्देमातरम्' पत्र मँगाया गया और सदस्यों को पढ़कर सुनाया जाता रहा। वह समाज का कोषाध्यक्ष व अंतरंग-सभा का सदस्य था। उसने अनेक राजद्रोही सभाओं में भाग लिया और राजद्रोह का प्रचार किया करता था, विद्यार्थियों को एकत्र करके उन्हें आपत्तिजनक क्रान्तिकारी सिद्धान्तों का पाठ पढ़ाया करता था। इसके बाद सरकारी वकील ने कुछ अन्य अभियुक्तों प्रभुराम(संख्या ८), बलवन्तराम और धनीराम के विरुद्ध भी लगभग इसी प्रकार के आरोप प्रस्तुत किये।

८ जनवरी १९०८ ई० को पाँचवें दिन सरकारी वकील ने अपना अभियोग-भाषण जारी रखते हुए अन्य अभियुक्तों—कर्ताराम, गनेशीलाल, प्रतापचन्द, आत्माराम, डॉक्टर बख्तावरसिंह, द्वारिकादास, मुन्नीलाल, शिवचन्द्र, सुनाम के चन्दूलाल, भवानीगढ़ के किशनचन्द तथा सद्दाराम सालिग्राम, दौलतराम, नारायणदास, कपूरचन्द, बनारसी-दास, बदरीदास, पिरथीचन्द, विलायतीराम, मुंशीराम के विरुद्ध आरोप प्रस्तुत किये।

प्रतिवादी-पक्ष ने इस बात पर बल दिया कि इस मुकद्दमे में वादी की ओर से प्रस्तुत किये जाने वाले गवाहों की पूरी सूची तथा आरोप लगाने वाली सभी प्रमाण-सामग्री प्रस्तुत की जानी चाहिए। किन्तु इस विषय में सरकारी वकील ग्रे टालमटोल करते रहे। इसके साथ ही वे पुलिस द्वारा जाँच करने के लिए अभियुक्तों को हवालात में रखने की मुहलत (रिमाण्ड) की अवधि बढ़वाते रहे। शनैः-शनैः समाचारपत्रों द्वारा इस मामले में पुलिस द्वारा अभियुक्तों की साथ की गयी ज्यादतियाँ और धाँधलियाँ प्रकाश में आने लगीं और जनता को अभियोग चलाने वाले सरकारी वकील की कानून की अवहेलना और अदालत के अपमान की घटनायें पता लगीं, अतः पटियाला राज्य की बदनामी होने लगी।

इस अभियोग में सरकारी वकील का रवैया कई कारणों से बड़ा क्षोभजनक, कानून तथा अदालत की अवहेलना करने वाला था। सफाई-पक्ष के वकील सर्वश्री रोशनलाल तथा बदरीदास अभियुक्तों को जमानत पर रिहा करने पर बल दे रहे थे।

उनका कहना था कि कलकत्ता हाईकोर्ट के एक निर्णय के अनुसार अभियुक्तों को छः सप्ताह से अधिक अवधि तक हवालात में पुलिस जाँच के लिए नहीं रख सकती है; अब तक पुलिस ने अभियुक्तों के विरुद्ध कोई ठोस साक्षी नहीं पेश की है, अतः उन्हें युक्तिसंगत कारण न होने से हवालात में रखना उचित नहीं है। सफाई-पक्ष के वकीलों की दूसरी शिकायत यह थी कि उन्हें इस्तगासे की ओर से पेश किये जाने वाले गवाहों की कोई सूची नहीं दी गयी है। ग्रे का कहना था कि वे इस अभियोग में १०० गवाह पेश करेंगे, किन्तु उन्हें इसके लिए बाधित नहीं किया जा सकता है। वे इस सूची को इसलिए नहीं देना चाहते थे कि यदि अभियुक्तों को गवाहों के नाम पता लग गये तो वे उनपर दबाव डालकर उनका बयान बदलवा देंगे। इस पर श्री बदरीदास ने कहा कि वे यह प्रमाणित कर सकते हैं कि पुलिस किस प्रकार गवाहों पर अनुचित दबाव डाल रही है। ग्रे ने जब सफाई के वकील से पूछा कि वे किस आधार पर गवाहों की सूची माँग रहे हैं? इस पर जब उन्हें श्री बदरीदास ने फौजदारी प्रक्रिया संहिता के अनुच्छेद २५२ का दूसरा उपखण्ड पढ़कर सुनाया तो वे बोले कि "मैं कई वर्षों से वकालत कर रहा हूँ, मैंने कभी ऐसी बात नहीं सुनी है। मैं इस मामले को अपने ढंग से चलाने पर बल देना चाहता हूँ। यदि मुझे ऐसा करने की अनुमति नहीं दी गयी तो मैं इस मामले से अलग हो जाऊँगा।" उनकी यह धमकी नितान्त अनुचित थी। वे निरन्तर इस बात पर बल देते रहते थे कि राज्य में महाराजा की इच्छा ही कानून है और वे उसके अनुसार कार्य कर रहे हैं।

इस समय सफाई के वकीलों को यह भी शिकायत थी कि उन्हें अभियुक्तों से नहीं मिलने दिया जाता है। उनसे बिना मिले वे सफाई की पैरवी की आवश्यक तैयारी नहीं कर सकते हैं। अदालत ने इसके लिए आदेश जारी किये, किन्तु उनके पालन में टालमटोल की जाती रही।

(१२) तीस अभियुक्तों की रिहाई

१५ दिसम्बर १९०९ ई० को बार-बार कहे जाने पर जब इस्तगासे की ओर से ७६ अभियुक्तों की सूची पेश की गयी तो इसकी जाँच करने पर यह पता चला कि सूची में वर्णित पाँच व्यक्ति बन्दियों में नहीं हैं और इनमें आठ ऐसे व्यक्ति हैं, जिनके नाम इस सूची में नहीं हैं। उनकी गिरफ्तारी के लिए कोई अनुमति नहीं ली गयी थी। इन आठ में बदरीनाथ नामक एक ऐसा व्यक्ति था जो २२ दिन से हवालात की तन्हाई में सड़ रहा था। ये बिना वारण्ट के ही गिरफ्तार कर लिये गये थे। अदालत ने इनके वारण्ट प्रस्तुत करने का तथा यह कारण बताने का आदेश दिया कि इनका नाम शिकायत-पत्र (Complaint) में क्यों सम्मिलित नहीं किया गया? यह इस बात का प्रमाण था कि पुलिस किस मनमाने ढंग से राज्य में केवल आर्यसमाजी होने के आधार पर निर्दोष व्यक्तियों को बन्दी बना रही थी। २१ दिसम्बर १९०९ ई० के अंक में पंजाबी ने बिना वारण्ट के इन व्यक्तियों की गिरफ्तारी को अत्यधिक अवैध और अनौचित्यपूर्ण कार्य कहा।

इस समय हवालात में बन्द अभियुक्तों के परिवारों के साथ क्या बीत रही थी, यह इससे स्पष्ट है कि एक अभियुक्त गणेशीलाल की लड़की अन्धी हो गयी। जब उसका पिता गिरफ्तार हुआ तो उसकी आँखों में तकलीफ थी। पति के बन्दी बनाये जाने पर माँ उसका इलाज नहीं करा सकी, लड़की की बीमारी बढ़ती चली गयी और वह

दृष्टिहीन हो गयी। लाला बैजनाथ बी० ए० बी० टी० के गिरफ्तार होने पर वे दो महीने की बच्ची तथा उच्च ज्वर से पीड़ित पत्नी को घर पर छोड़ गये थे। माता के बीमार होने के कारण उचित देखभाल के अभाव में छोटी बच्ची काल का ग्रास बन गई। पत्नी की हालत और भी अधिक बिगड़ गयी। उनकी चिकित्सा के लिए लाला बैजनाथ ने जमानत पर रिहाई का आवेदनपत्र दिया, किन्तु ग्रे ने इसका घोर विरोध किया और उपयुक्त चिकित्सा न होने के कारण पत्नी भी स्वर्गवास हो गयी और बाद में लाला बैजनाथ के विरुद्ध कोई प्रमाण न होने से उन्हें रिहा कर दिया गया। अकारण पुलिस की अक्षमता तथा स्वच्छन्द व्यवहार से उन्हें कन्या तथा पत्नी के निधन का भीषण कष्ट उठाना पड़ा।

इस बीच में अदालत द्वारा सरकारी वकील को बार-बार अभियुक्तों के विरुद्ध समस्त प्रमाणों तथा गवाहों की सूची अदालत में पेश करने को कहा जा रहा था। इस पर ६ जनवरी १९१० को ग्रे ने अदालत को यह सूचना दी कि वह तीस व्यक्तियों के विरुद्ध अभियोग वापिस ले रहा है। स्पष्ट था कि पुलिस अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी इनके विरुद्ध कोई पुष्ट प्रमाण नहीं प्राप्त कर सकी थी। यह स्मरणीय है कि इनमें चिरंजीलाल और लाला बैजनाथ सम्मिलित थे। चिरंजीलाल की जमानत न्यायालय ने स्वीकार कर ली थी, किन्तु पुलिस ने उन्हें खतरनाक समझते हुए काफी समय तक रिहा नहीं किया था। बैजनाथ की बच्ची और पत्नी के गम्भीर रूप से बीमार होते हुए भी उनको जमानत पर छोड़ने का ग्रे ने घोर विरोध किया था और अब वही उनके विरुद्ध अभियोग हटाने को कह रहे थे। इसका यह स्पष्ट अर्थ था कि वारबर्टन और उसकी पुलिस राजद्रोह का कल्पित हौआ खड़ा करके निरपराध और निर्दोष व्यक्तियों को हवालात में ठूँस रही थी। यह उनकी योग्यता पर बड़ा प्रश्नचिह्न था कि दो मास की गहरी छानबीन, जाँच और अन्वेषण के बाद बन्दी बनाये व्यक्तियों में ४० प्रतिशत को छोड़ना पड़ रहा था। इस विषय पर तथा इस मामले में ग्रे द्वारा दिये गये तर्कों पर व्यंग्यपूर्ण टिप्पणी करते हुए **'पंजाबी'** ने ११-१-१९१० के अंक में लिखा था—

"यह बात बड़ी महत्त्वपूर्ण है कि सब बातें पक्ष में होते हुए तथा राजदरबार का पूरा संरक्षण प्राप्त होते हुए भी श्री ग्रे को यह आवश्यक जान पड़ा कि ३० अभियुक्तों के विरुद्ध मुकद्दमे को वापस ले लें तथा जिन आठ व्यक्तियों के नाम वादपत्र के साथ संलग्न सूची में नहीं थे, उनमें से चार को रिहा कर दें। यह बात हमें बंगाल के महाधिवक्ता श्री एस० पी० सिन्हा द्वारा मिदनापुर षड्यन्त्र केस में २७ व्यक्तियों के विरुद्ध अभियोग की कार्यवाही बन्द करने की प्रार्थना (Nolli prosequi) का स्मरण कराती है। मिदनापुर केस में अन्त में केवल तीन ही अभियुक्त रह गये थे और सब जानते हैं कि हाईकोर्ट में उसका क्या हुआ।" इसके बाद पत्र ने ग्रे द्वारा अभियुक्तों के विरुद्ध लगाये गये आरोपों पर व्यंग्य करते हुए लिखा कि—"अन्यन्त्र छपी ग्रे की समापन-वक्तृता से स्पष्ट है कि अभियुक्तों के विरुद्ध गम्भीरतम आरोप यह है कि ये ग्रे द्वारा आपत्तिजनक समझे जाने वाले कुछ समाचारपत्र और पत्रिकायें पढ़ते हैं। श्रीमती रोशनलाल द्वारा सम्पादित एक महिला-पत्रिका 'भारतभगिनी' ग्रे की दृष्टि में राजद्रोहपूर्ण और क्रान्तिकारी है। 'पंजाबी' के बारे में वे स्वयं अच्छी तरह जानते हैं, क्योंकि १९०७ ई० में वे इस पत्र की ओर से सफाई-पक्ष की पैरवी करनेवाले थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने

तथाकथित राजनैतिक और क्रान्तिकारी उद्धरणों के लिए सत्यार्थप्रकाश की गहरी खोज की है। सम्भवत: भविष्य में कोई सुप्रसिद्ध वकील यह सिद्ध करेगा कि बाइबल समाजवादी विचारों का प्रचार करती है और इसमें पाये जाने वाले अश्लील अवतरणों के लिए इसे जब्त किया जाना चाहिए।"

इजलासे-खास (महाराजा) को आवेदन-पत्र—जनवरी १९१० ई० के आरम्भ तक यह स्पष्ट हो गया कि श्री ग्रे तथा वारबर्टन इस बात पर तुले हुए हैं कि अभियुक्तों की ओर से पैरवी करने वाले सफाई के वकीलों की हर बात में अड़ंगा लगाया जाय। उन्होंने इस मामले में भारतीय दण्ड-विधान और दण्ड-प्रक्रिया के सभी नियमों को तिलांजलि दे दी थी। तीन महीने बीत जाने पर भी अभियुक्तों के विरुद्ध पुलिस द्वारा प्रमाणरूप में पेश की जाने वाली साक्षी का विस्तृत विवरण और गवाहों की सूची तथा पुलिस की रिपोर्ट अदालत का कई बार आदेश होने पर भी प्रस्तुत नहीं की गई थी। ग्रे अपनी इच्छा के प्रतिकूल कानूनी आपत्तियों के बारे महाराजा की आड़ लेते थे। अदालत से उठकर महाराजा के पास परामर्श करने चले जाते थे, जजों को वहाँ बुला लेते थे, मनमाना निर्णय करा लेते थे। प्रतिवादी-पक्ष को महाराजा तक पहुँचकर अपना पक्ष प्रस्तुत करने की सुविधा नहीं थी। इस कारण अभियुक्तों के साथ घोर अन्याय हो रहा था, अत: उनकी ओर से महाराजा के दरबार—इजलासे-खास में प्रस्तुत करने के लिए ६ जनवरी १९१० ई० को एक आवेदनपत्र राज्य के प्रधान मन्त्री को प्रस्तुत किया गया।

इसमें कहा गया था कि इजलासे-खास अपील का न्यायालय है। ग्रे तथा वारबर्टन न्यायालय द्वारा दिये गये आदेशों को इससे रद्द करा लेते हैं; इसमें अभियुक्तों को अपना पक्ष प्रस्तुत करने का अवसर नहीं दिया जाता है, इस विषय में ब्रिटिश अदालतों में प्रचलित पद्धति का अनुसरण करते हुए दोनों पक्षों को सुना जाना चाहिए; अभियुक्तों का पक्ष सुने बिना कोई आदेश न दिया जाए। महाराजा ने यह आवेदन-पत्र लेकर रख लिया, किन्तु इस पर कोई आदेश नहीं दिये।

उस समय की स्थिति पर टिप्पणी करते हुए **पंजाबी** ने १२ जनवरी १९१० ई० के अंक में लिखा था—"यह कहना कठिन है कि ग्रे को महाराजा ने अपने नाम से बात कहने का आदेश दिया है या वे अपनी ओर से अनुमान से ऐसा कह देते हैं। यह विश्वास नहीं किया जा सकता है कि महाराजा ने ग्रे को अदालत से यह कहने का निर्देश दिया है कि ४३ प्रतिष्ठित व्यक्ति जेल में सड़ते रहे। उनके विरुद्ध अब तक एक भी प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया है। पुलिस तथा सरकारी वकील को सुविधा देने के लिए मुकद्दमे में तारीखें पड़ रही हैं, मामला लम्बा खिचता चला जा रहा है। वारबर्टन द्वारा आदेशों के उल्लंघन की कहानी बड़ी लम्बी है। महाराजा ने मुकद्दमा चलाने की अनुमति के साथ आदेश दिया था कि पुलिस अपनी जाँच की कार्यवाही की प्रतिदिन की रिपोर्ट अदालत को प्रस्तुत करे। वारबर्टन महीनों से इसकी उपेक्षा कर रहे हैं। ८ जनवरी को न्यायालय ने आदेश दिया था कि ११ जनवरी को यह रिपोर्ट अवश्य पेश की जाए। किन्तु वारबर्टन न्यायालय में न केवल स्वयं अनुपस्थित रहे, अपितु पुलिस-विभाग का कोई छोटा पदाधिकारी भी अदालत में पेश नहीं हुआ जो इस बारे में न्यायालय को स्थिति बता सकता या अदालत के आदेश का पालन न करने के लिए क्षमायाचना कर सकता। इससे स्पष्ट है कि सम्भवत: पुलिस ने कोई जाँच नहीं की थी या अभियुक्तों के विरुद्ध

प्रमाणरूप में प्रस्तुत करने के लिए उसके पास कोई सामग्री नहीं थी।" ऐसी विषम स्थिति में १८ जनवरी १९१० ई० को अदालत में अभियुक्तों की ओर से एक क्षमा-याचना-पत्र पेश किया गया। इससे लगभग एक महीने बाद इस अभियोग का नाटकीय अवसान हो गया।

(१३) अभियोग का पटाक्षेप

इस अभियोग की १३वीं सुनवाई मंगलवार १८ जनवरी को प्रातःकाल पटियाला के राजप्रासाद में जब आरम्भ हुई तो इसमें विशेष न्यायालय के केवल दो न्यायाधीश सरदार भगवानसिंह (अध्यक्ष) तथा लाला रामप्रसाद उपस्थित थे। तीसरे न्यायाधीश खानबहादुर फाजिल मतीन अस्वस्थ होने के कारण नहीं आ सके थे। सरकारी पक्ष की ओर से बैरिस्टर आर्थर ग्रे तथा बी० पैटमैन और सफाई-पक्ष के वकील सर्वश्री द्वारकादास, रोशनलाल तथा मुंशीराम हाजिर थे। कार्यवाही शुरू होते ही सर्वथा अप्रत्याशित रूप में श्री रोशनलाल ने अभियुक्तों की ओर से एक आवेदनपत्र प्रस्तुत किया।

यह पटियाला राज्य के महामहिम, फरजन्दे-खास, दौलते इंगलिशिया, मंसूरेजमान अमीर उल उमरा महाराजाधिराज राजेश्वर श्री महाराजे-राजगान महाराजा भुपिन्दर सिंह महिन्दर बहादुर के नाम सम्बोधित था। इसमें अभियुक्तों ने इस बात पर गहरा दुःख और खेद प्रकट किया कि—"हमारे किन्हीं कार्यों से ऐसी गलतफहमी पैदा हुई, जिससे राज्य को ऐसे कदम उठाने पड़े हैं। हम अत्यधिक विनम्रतापूर्वक यह निवेदन करते हैं कि हम अराजकतावादियों, राजद्रोहियों को तथा उनके साधनों को बड़ी गहरी नफरत और पूरी घृणा की दृष्टि से देखते हैं। हम यह भी नम्र निवेदन करना चाहते हैं कि पटियाला-राज्य की आर्यसमाज की किसी भी बैठक में राजनैतिक विषयों पर कभी चर्चा नहीं की गयी है। आर्यसमाज विशुद्ध रूप से धार्मिक, सामाजिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी बातों का प्रचार करता है। आर्यसमाज की संस्थाओं में राजनैतिक विषयों पर विचार सर्वथा वर्जित है। आर्यसमाज ब्रिटिश सरकार, पटियाला राज तथा सर्वोच्च प्रभुशक्ति के प्रति गहरी राजभक्ति और हार्दिक कृतज्ञता की भावनाओं के अतिरिक्त अन्य कोई भाव नहीं रखता है।

"हम लोगों में से कुछ व्यक्तियों के घरों की तलाशी से मिले आपत्तिजनक समाचार पत्रों और पुस्तिकाओं के बारे में हम विनम्रतापूर्वक यह निवेदन करते हैं कि हमें या तो इनके अपने घर में होने की तथा इनके आपत्तिजनक स्वरूप के बारे में कोई जानकारी नहीं थी। यदि वे राज्य के किसी आदेश से जब्त किये जाते तो उनके न रखने के बारे में विशेष सावधानी बरती जाती है, क्योंकि हम इसे अपना पवित्र कर्तव्य समझते हैं कि हमें जिस राज्य में रहने का और जिसके कानूनों के संरक्षण पाने का विशेष गौरव प्राप्त है, उस राज्य के अध्यक्ष से प्रादुर्भूत होने वाले सभी आदेशों का पालन हम पूरी निष्ठा और राजभक्ति के साथ करें। फिर भी यदि हममें से किसी ने अनजाने में इन्हें पालन न करने का अविवेकपूर्ण काम किया है, तो हम इसके लिए गहरे पश्चात्ताप की भावना प्रकट करते हैं।

"अन्त में हम महामहिम को पटियाला राज्य तथा ब्रिटिश राजसिंहासन के प्रति अपनी सच्ची राजभक्ति का पूरा विश्वास दिलाते हैं और यह वचन देते हैं कि भविष्य में हम सदैव इस बात का विशेष ध्यान रखेंगे कि हम कोई ऐसा कार्य किसी भी प्रकार

का न करेंगे जिसे पटियाला राज्य और महामहिम राजा तथा हमारे प्रिय (ब्रिटिश)सम्राट् के प्रति दुर्भावना उत्पन्न करने वाला समझा जा सके। हम अत्यन्त विनम्रतापूर्वक आपसे यह निवेदन करना चाहते हैं कि आप हमारे विरुद्ध की जा रही अदालत की कार्यवाही को वापस भेजने का आदेश देने की कृपा करें और हमें अपने पुराने पदों पर बहाल कर दिया जाए। आपकी इस दयालुता के लिए हम अनुगृहीत होंगे और आपके दीर्घजीवन और समृद्धि की सदैव कामना करते रहेंगे।"

अदालत द्वारा इस आवेदनपत्र को स्वीकार करने के बारे में सरकारी वकील ग्रे ने अनेक आपत्तियाँ उठाईं और कहा कि इस आवेदनपत्र में अभियुक्तों ने उन पर लगाये प्रमुख अपराधों को स्वीकार नहीं किया है, यह न्यायालय इस आवेदन-पत्र को महाराजा के सम्मुख प्रस्तुत करने का अधिकार नहीं रखता है, यह न्यायालय का अपमान है। ग्रे की आपत्तियों को स्वीकार न करते हुए न्यायालय ने यह आवेदनपत्र आवश्यक कार्यवाही के लिए महाराजा के पास भेज दिया। इसमें कुछ संशोधन और परिवर्तन करने का सुझाव दिया गया और अभीष्ट परिवर्तन करने के बाद १७ फरवरी को महाराजा ने पोलिटिकल एजेण्ट तथा महापुलिस-अधीक्षक वारबर्टन के साथ कुछ परामर्श किया और अभियुक्तों को यह कहा गया कि वे अपने पहले आवेदनपत्र में पश्चात्ताप प्रकट करनेवाले उपर्युक्त वाक्य के स्थान पर निम्नलिखित वाक्य लिखें—"यदि हममें से किसी ने भी अनजाने में कोई अविवेकपूर्ण कार्य किया है तो हम इसके लिए बिना शर्त माफी माँगते हैं।" इस संशोधन के बाद इस आवेदन के मसविदे को प्रमुख अभियुक्त राय ज्वालाप्रसाद अपने वकील लाला मुंशीराम के साथ १८ फरवरी को लेकर प्रातः ९ बजे महाराजा के निजी सचिव श्री मिस्त्री के पास पहुँचे। श्री मिस्त्री ने उन्हें इस बात का वचन दिया कि यदि महाराजा बिना शर्त क्षमा करने के लिए तैयार नहीं होंगे, तो वह क्षमापत्र के इस मसविदे को वापस ला देगा। थोड़ी देर बाद मिस्त्री ने उन्हें आकर यह बताया कि महाराजा को यह मसविदा पसन्द है, किन्तु वे इस विषय में वायसराय के प्रतिनिधि पोलिटिकल एजेण्ट से परामर्श करना चाहते हैं; चूँकि वे अब शिकार पर जा रहे हैं, इसलिए वहीं इस विषय में बातचीत होगी। शाम को जब पुनः राय ज्वालाप्रसाद और लाला काशीराम मिस्त्री से मिलने गये तो उसने उन्हें बधाई देते हुए कहा—"महाराजा इस क्षमापत्र को स्वीकार करने के लिए तैयार हो गये हैं और अब इस मामले को समाप्त ही समझना चाहिए।" इस आवेदनपत्र पर सब अभियुक्तों के हस्ताक्षर कराके मिस्त्री को राय ज्वालाप्रसाद जब इसे देने के लिए गए तो मिस्त्री ने उन्हें वचन दिया कि अब महाराजा इस विषय में आवश्यक आदेश जारी कर देंगे और आर्यसमाज का भवन समाज को लौटाने की राजाज्ञा भी प्रसारित कर दी जाएगी। उस समय यह आशा थी कि महाराजा स्वयमेव न्यायालय में आकर इस विषय में अपनी घोषणा करेंगे, किन्तु महाराजा नहीं आये और यह अफवाह उड़ी कि वे तीव्र ज्वर से पीड़ित हैं। जब राय ज्वालाप्रसाद और मुंशीराम शाम को महाराजा के निजी सचिव मिस्त्री से इस विषय में प्रामाणिक सूचना प्राप्त करने के लिए गये तो मिस्त्री ने उन्हें बड़े दुःख से यह बताया कि इस विषय में महाराजा के अतीव प्रतिकूल आदेश जारी हो गये हैं। इनमें यह कहा गया है कि अभियुक्तों को एक सप्ताह के भीतर राज्य के प्रदेश से बाहर चले जाना चाहिए और यह आदेश विशेष न्यायालय को तत्काल घोषणा करने के लिए भेज दिये गये हैं। जब वे वहाँ से

लौटे तो उन्होंने देखा कि विशेष अदालत की बैठक प्रारम्भ हो चुकी है। इसमें सरदार भगवानसिंह ने महाराजा का निम्नलिखित आदेश पढ़कर सुनाया—

"मैंने इस मामले में अभियुक्तों द्वारा दिये गये आवेदनपत्र और प्रार्थनापत्र तथा पुलिस द्वारा प्रस्तुत साक्षी पर बड़ी गम्भीरता से विचार किया है। हमारा यह आशय कभी नहीं था कि भारत में आर्यसमाज का प्रत्येक सदस्य अथवा यह संस्था राज-द्रोही है। उनके विरुद्ध लगाया गया आरोप बहुत गम्भीर है और यह आवश्यक है कि ऐसा अपराध करने वालों के विरुद्ध कार्यवाही की जाए। मेरा यह विचार है कि इस मामले में जो निर्णय मैं ले रहा हूँ, वह ठीक होगा तथा मुझे आशा है कि यह दूसरों को ऐसा कार्य करने से रोकेगा। अपने आवेदनपत्र में अभियुक्तों ने मुझे यह विश्वास दिलाया है कि पटियाला राज तथा सर्वोच्च प्रभुशक्ति के प्रति उनके मन में गहरी राजभक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई भावना नहीं है। यदि अनजाने में उनसे कोई गलती हुई हो तो वे उसके लिए बिना किसी शर्त के माफी माँगते हैं। उन्होंने यह भी वचन दिया है कि भविष्य में वे इस विषय में अधिक सावधान रहेंगे कि वे ऐसा कोई कार्य न करें जिसे पटियाला राज और सम्राट् के प्रति विद्वेष की भावना समझा जा सकता हो।

"मैं इस आश्वासन पर इस क्षमायाचना को स्वीकार करने तथा यह आदेश देने के लिए तैयार हूँ कि अभियुक्तों के विरुद्ध मुकद्दमा चलाना बन्द कर दिया जाए और इस विषय में उनके विरुद्ध की कार्यवाही को वापिस ले लिया जाए, किन्तु मैं इसके लिए तैयार नहीं हूँ कि कोई भी ऐसा व्यक्ति मेरे राज्य की सेवा में अथवा मेरे राज्य में रहे जिसकी पटियाला राज्य या ब्रिटिश सरकार के प्रति वफादारी में रत्ती-भर भी सन्देह (Breath of Suspicion) हो।

"अतः मैं यह आदेश देता हूँ कि जो भी अभियुक्त मेरे राज्य की सेवा में हैं उन्हें तत्काल उनके पदों से मुक्त कर दिया जाए और वे एक सप्ताह के भीतर मेरा राज्य छोड़कर चले जायें और इसके बाद मेरी विशेष अनुमति के बिना राज्य की सीमा में कभी प्रवेश न करें।

"यह आदेश और क्षमा-याचना का मूल आवेदनपत्र विशेष न्यायालय को इसके अनुसार कार्यवाही के लिए और राज्य-पुलिस के महानिरीक्षक को देने के लिए भिजवा दिया जाय।"

इस आदेश के पढ़े जाने के बाद सफाई के वकील लाला मुंशीराम ने न्यायालय को सम्बोधित करते हुए कहा कि—"यदि महामहिम महाराजा स्वयमेव इस आदेश की घोषणा करते तो यह अधिक अच्छा होता। मुझे इस बात का खेद है कि महाराजा ने ऐसा करना उचित नहीं समझा।" इस पर अदालत ने आपत्ति की और उन्हें आगे बोलने से रोक दिया, किन्तु सफाई के वकील का यह कहना था कि फाँसी के तख्ते पर चढ़ाये जाने का दण्ड दिये जाने वाले अभियुक्तों को भी अपनी आखिरी बात कहने की अनुमति दी जाती है। सफाई-पक्ष का वकील इस निर्णय का प्रतिवाद करता है क्योंकि इसके बारे में सारी बातचीत उसी के माध्यम से की गयी थी और उसने ही अभियुक्तों को आवेदनपत्र में संशोधन करने को कहा था। अदालत ने जब वकील की बात सुनना अस्वीकार कर दिया तो उन्हें चुप होना पड़ा। इसके कुछ समय बाद उन्होंने पुनः यह पूछा कि समाज-मन्दिर के तथा अभियुक्तों के सामान और कामकाज लौटाने के आदेश कब दिये जायेंगे?

न्यायालय का यह कहना था कि महाराजा का आदेश सुनाने के बाद विशेष अदालत की कार्यवाही समाप्त हो गयी है। इस प्रकार इस प्रसिद्ध अभियोग का पटाक्षेप हो गया।

अभियोग वापस लेने के कारण—इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस आदेश में अभियुक्तों के साथ घोर अन्याय हुआ था। इनमें से कुछ व्यक्ति पटियाला राज्य में कई पीढ़ियों से रह रहे थे; पटियाला में इनकी हजारों रुपये की सम्पत्ति थी। अपना घर-बार, नौकरी और सम्पत्ति छोड़कर अन्यत्र जाना उनके लिए अतीव दुष्कर कार्य था। उन्होंने क्षमायाचना पत्र पर हस्ताक्षर इस आश्वासन के आधार पर किये थे कि उन्हें पूरी तरह से माफ कर दिया जायेगा। यह वस्तुतः उस समय रहस्य बना हुआ था कि इस मुकद्दमे को इस प्रकार से क्यों शीघ्र ही समाप्त कर दिया और अभियुक्तों के साथ ऐसा घोर अन्याय क्यों हुआ।

इस विषय में इसके प्रमुख अभियुक्त एक्जीक्यूटिव इंजीनियर राय ज्वालाप्रसाद ने बाद में इसका रहस्योद्घाटन किया। उनका यह कहना था कि १४ जनवरी को 'न्यूज आफ इंडिया' से सम्बन्ध रखने वाले एक पत्रकार मिस्टर गैस्ट ने उन्हें सर्वप्रथम पटियाला के डाक बंगले में यह सुझाव दिया कि यदि अभियुक्तों की ओर से क्षमायाचना और खेद प्रकट करते हुए इस मामले को वापिस लेने का आवेदनपत्र दिया जाय तो उसे यह पूरी आशा है कि यह मामला वापिस ले लिया जायेगा। राय ज्वालाप्रसाद ने कहा कि वे इस पर तब तक अपनी कोई सम्मति नहीं दे सकते हैं जब तक वे अदालत में पेश किये जाने वाले मसविदे को न देख ले। अगले दिन उन्हें पुनः गैस्ट ने डाकबंगले में मिलने को बुलाया और वे लाला मुंशीराम के परामर्श से वहाँ गये। उस दिन तो गैस्ट से उनकी भेंट न हो सकी, किन्तु १६ जनवरी को उन्हें गैस्ट का पत्र व माफीनामे का मसविदा मिला जो लगभग वही था जो पहले दिया जा चुका था। यह पत्र व मसविदा उन्होंने लाला मुंशीराम को दिखाया और उनके परामर्श से वे पुनः गैस्ट से डाकबंगले में मिले। उन्होंने गैस्ट को कहा कि वे उनके साथ लाला मुंशीराम से मिलें, जब तक वे सन्तुष्ट नहीं हो जायेंगे तब तक इसपर कोई अभियुक्त हस्ताक्षर नहीं करेगा।

तदनुसार श्री गैस्ट से राय ज्वालाप्रसाद और मुंशीराम मिले। गैस्ट ने उन्हें विश्वास दिलाया कि उनका यह आवेदनपत्र स्वीकार कर लिया जायेगा; इस विषय में उन्हें कोई चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए उसने यह कहा कि इस समय महाराजा बालिग हो चुके हैं; वे चाहते हैं कि उनके राज्यारोहण का महोत्सव बड़ी धूमधाम और समारोह के साथ शीघ्र किया जाय। यह वायसराय के करकमलों से सम्पन्न होना है। किन्तु इस अभियोग के चलने से पटियाला की बदनामी इतनी अधिक हो गई है कि वायसराय इस स्थिति में पटियाला नहीं आना चाहते हैं। उनका यह कहना है कि वे महाराजा की गद्दीनशीनी के लिए इस मामले के समाप्त होने पर ही पटियाला जायेंगे। अतः इस मामले को सुलझाने के लिए यह विधि निकाली गयी है। यह आवेदनपत्र देने पर महाराजा इसे स्वीकार कर लेंगे, क्योंकि वे अपने राज्यारोहण के लिए वायसराय को जल्दी-से-जल्दी यहाँ बुलाना चाहते हैं। इस आवेदनपत्र से महाराजा तथा अभियुक्तों, दोनों की समस्यायें हल हो जायेंगी, अतः इस आवेदनपत्र के स्वीकार होने की पूरी आशा है।

लाला मुंशीराम को यह बात समझ में आ गई और उन्होंने अपनी जिम्मेवारी

पर अभियुक्तों से इस आवेदनपत्र पर हस्ताक्षर कराने का वचन दिया। मिस्टर गैस्ट राय ज्वालाप्रसाद को महाराजा के निजी सचिव से मिलाने ले गये और उनके सामने भी यह पत्र पढ़कर सुनाया गया। उन्होंने इससे अपनी सहमति प्रकट की। इसके बाद गैस्ट ने इन्हें राज्य के एक अन्य उच्च अधिकारी से मिलाया और उन्होंने भी गैस्ट द्वारा दिये गये आश्वासनों व वचनों की पुष्टि की। इस आधार पर यह आवेदनपत्र १८ जनवरी को विशेष न्यायालय में प्रस्तुत किया गया। उस दिन उस पर कोई कार्यवाही नहीं की गई। शाम को जब राय ज्वालाप्रसाद ने गैस्ट से इसका कारण पूछा तो उसने यह कहा कि सरकारी वकील ग्रे ने महाराजा को यह परामर्श दिया है कि वे इस बारे में तब तक कोई कार्यवाही न करें, जब तक वे बहावलपुर में विद्यमान पंजाब के लैफ्टीनैंट से न मिल लें।

इसके बाद पटियाला के महाराजा बहावलपुर चले गये और मुकद्दमे को २६ जनवरी तक के लिये स्थगित कर दिया गया। महाराजा के रियासत में वापिस लौटने पर यह अफवाह फैली कि पंजाब के गवर्नर ने महाराजा द्वारा सभी अभियुक्तों के छोड़ने का विचार नापसन्द किया है और यह परामर्श दिया है कि वे पोलिटिकल एजेण्ट कर्नल के साथ पुलिस द्वारा प्रस्तुत सारी साक्षी पर विचार करें और जिनके विरुद्ध मामला न बनता हो उन्हें रिहा कर दें, जिनके विरुद्ध पर्याप्त प्रमाण हों उन पर अभियोग चलाया जाय। ऐसा प्रतीत होता है कि पोलिटिकल एजेण्ट के दबाव के कारण महाराजा अपने अभियुक्तों को बिना शर्त क्षमा नहीं प्रदान कर सके और उन्हें उपर्युक्त निर्णय करने के लिए विवश किया गया।

(१४) समाचारपत्रों की प्रतिक्रिया

इस अभियोग ने उस समय न केवल पटियाला राज्य में, अपितु समस्त भारत में बड़ी सनसनी और हलचल पैदा की थी। इसके समाचारों को सर्वत्र बड़ी उत्सुकता और चाव से पढ़ा जाता था। उन दिनों देश में राजनैतिक चेतना विकसित एवं जागृत होने के कारण जनता द्वारा इस अभियोग के समाचारों में गहरी दिलचस्पी ली जाती थी। तत्कालीन जनमानस पर पटियाला अभियोग ने बड़ा प्रभाव डाला। यह तत्कालीन प्रमुख दैनिक पत्रों द्वारा इस मामले को समाप्ति पर लिखे गये सम्पादकीय अग्रलेखों तथा टिप्पणियों से भलीभाँति स्पष्ट होता है। यहाँ इनमें से कुछ का संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है।

लाहौर के सुप्रसिद्ध अंग्रेजी दैनिक पत्र 'ट्रिब्यून' ने २२ फरवरी के अंक में 'पटियाला आर्डर' शीर्षक लेख में लिखा था—"महाराज का चिर-प्रतीक्षित आदेश आ गया है। अभियुक्तों के विरुद्ध चलाया जाने वाला मुकद्दमा वापिस ले लिया गया है और अभियुक्तों को रिहा कर दिया गया है। किन्तु राज्य की सेवा करने वाले कर्मचारियों को नौकरी से बर्खास्त कर दिया गया है। इन अभियुक्तों को यह आदेश हुआ है कि वे एक सप्ताह के भीतर रियासत छोड़कर बाहर चले जायँ और बिना विशेष अनुमति लिये राज्य में प्रवेश न करें। अतः यह आदेश दो भागों में विभक्त है और दोनों पर पृथक् टिप्पणी की आवश्यकता है।

"मुकद्दमा वापिस होना उत्तम राजनीतिज्ञतापूर्ण कार्य है, इसके लिए महामहिम

महाराजा, पोलिटिकल एजेण्ट तथा सरकार को बधाई दी जानी चाहिए। कोई अन्य मुकद्दमा इससे अधिक अनुपयुक्त समय में और इससे अधिक अशुभ परिस्थितियों में शुरू नहीं किया गया है। महाराजा ने अभी राज्य का कार्यभार सँभाला है। इस समाचार से सर्वत्र आनन्द और उल्लास की लहर आ गयी है। राज्य के नागरिकों ने आनन्दोत्सव मनाने शुरू किये थे। इसी बीच पटियाला शहर और उसके आसपास के प्रदेशों में बड़ी संख्या में गिरफ्तारियों के समाचार आने लगे। इनसे रंग में भंग पड़ गया। हर्ष और आनन्द विषाद तथा चिन्ता में परिणत हो गए। हमें इस बात का खेद है कि नये राजा का शासन शुरू होने का समय ऐसा काम करने के लिए सर्वथा अनुपयुक्त था। हमारी सम्मति में यह कार्यवाही सर्वथा असामाजिक थी, इसे शुरू करने के लिए गलत सलाह दी गई थी।

"जब मुकद्दमा शुरू हुआ तो इसमें अभियुक्तों के विरुद्ध पेश की जाने वाली साक्षी ने जनता को बिलकुल प्रभावित नहीं किया। पहले विशेष न्यायालय ने इस्तगासे की प्रार्थना पर (तीस) अभियुक्तों के विरुद्ध मुकद्दमे की कार्यवाही रोक दी और शेष अभियुक्तों को महाराजा ने मुक्त करने का आदेश दिया है। ये सब बातें अभियुक्तों के पक्ष में जाती हैं। यदि महाराजा पुलिस की ऐसी साक्षी पर इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं जिसे सफाई-पक्ष द्वारा चुनौती नहीं दी गई है और जो कड़ी जिरह की कसौटी पर खरी नहीं उतरी है, तो इससे सामान्य रूप से यह परिणाम निकाला जा सकता है कि यदि अभियुक्तों के विरुद्ध कोई कानूनी प्रमाण थे तो ये उनके विरुद्ध अपराध सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं थे। विशेष न्यायालय के समक्ष वादी-पक्ष द्वारा प्रस्तुत मामले से जनता को यह आशा हो गई थी कि इसमें यदि सब नहीं तो अधिकांश अभियुक्त बरी हो जायेंगे। इस मामले को वापिस लेने के आदेश के भले ही कुछ भी कारण रहे हों, हमारा विचार है कि महाराजा को अभियुक्तों की रिहाई के निर्णय के बारे में पूरा श्रेय दिया जाना चाहिए।

"राज्य के कर्मचारियों को राज्य से बाहर निकाले जाने का अभिप्राय नौकरी से निकालना है और यह उन व्यक्तियों के लिए भीषण दण्ड है। महाराजा का यह कहना है कि यदि राज्य या सरकार के प्रति किसी व्यक्ति की राजभक्ति में रत्तीभर भी सन्देह हो तो उसे नौकरी या राज्य में नहीं रखा जाना चाहिए। महाराजा इस बात को स्वीकार करते हैं कि अनेक व्यक्तियों के विरुद्ध बिना किसी उचित आधार पर सन्देह हो सकता है। यदि ऐसा है तो इससे निर्दोष व्यक्तियों को भी दण्ड मिलेगा।"

इलाहाबाद के अंग्रेजी पत्र 'लीडर' ने इस मामले की रावलपिण्डी और मिदनापुर के मामलों से तुलना की और इसमें पुलिस द्वारा व्यक्तियों को अन्धाधुन्ध रीति से पकड़ने की कड़ी निन्दा करते हुए कहा कि—"इससे अधिक शोचनीय बात और क्या हो सकती है कि नारनौल के राजा की स्थिति रखने वाले लाला हंसराज साहनी और अपने समुदाय के सुप्रतिष्ठित सदस्य राय ज्वालाप्रसाद को अपमानित और परेशान किया गया! अभियुक्तों को जो मानसिक कष्ट उठाने पड़े हैं, उनकी कोई क्षतिपूर्ति नहीं हो सकती है। जहाँ तक पटियाला राज का प्रश्न है, समझदार और विचारशील व्यक्ति अब आशा कर रहे हैं कि वहाँ वारबर्टन के शासन की समाप्ति कर दी जायेगी। वह पटियाला में हुई भीषण भूल के लिए बड़ी मात्रा में उत्तरदायी हैं। हम यह भी आशा प्रकट करते

हैं कि पटियाला का मामला समाप्त होने के साथ आर्यसमाज पर राजद्रोह के लिए किया जाने वाला सन्देह अब अतीत की वस्तु हो जायेगी। यदि कुछ अवांछनीय व्यक्तियों को राज्य से निकालने का उद्देश्य था तो यह इतने अधिक निर्दोष व्यक्तियों को गिरफ्तार किये बिना तथा उनके विरुद्ध आरोप लगाये बगैर, इतने अधिक समय तक जेल में रखे बिना भी पूरा किया जा सकता था। अब यह बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो चुका है कि कुछ व्यक्तियों ने नाम कमाने तथा प्रशंसा पाने के लिए महाराजा की कम उम्र का तथा आर्य-समाज पर सन्देह का निश्चित रूप से लाभ उठाया। मिस्टर ग्रे यह सोचते थे कि उन्हें माणिकताला षड्यन्त्र केस जैसा केस मिल गया है। उन्होंने यह चाहा कि वे विशेष न्यायालय, कानून और उसकी प्रक्रिया को तिलांजलि दे दें।"

अन्त में इस पत्र ने बारबर्टन की आलोचना करते हुए लिखा कि "वह अपने को न्यायालय से भी अधिक शक्तिशाली समझता था, अब इसकी पोल खुल गई है। उसका यथार्थ स्वरूप सबको पता लग गया है। क्या महाराजा अब बारबर्टन को सेवानिवृत्त करेंगे?"

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि १७ फरवरी को महाराजा द्वारा उपर्युक्त आदेश देने के एक महीने बाद एक सप्ताह का नोटिस देकर बारबर्टन की सेवायें समाप्त कर दी गईं। इससे कार्यकाल में वृद्धि पाने का उसका सपना चकनाचूर हो गया।

'**एडवोकेट**' नामक पत्र ने महाराजा द्वारा सरकारी कर्मचारियों के निर्वासन के आदेश की आलोचना करते हुए लिखा कि इससे गहरा असन्तोष उत्पन्न हुआ है। यह महाराजा के बारबर्टन के साथ परामर्श का परिणाम है। यह इसलिये भी अधिक बुरा है कि निर्वासित व्यक्तियों के पास इसके प्रतिकार का कोई उपाय नहीं है। अन्त में इस पत्र ने महाराजा से इस निर्णय पर पुनर्विचार करने की प्रार्थना की।

कलकत्ता से निकलने वाले सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के पत्र '**बंगाली**' ने पटियाला राज्य से निकाले जाने की आज्ञा की कटु आलोचना करते हुए कहा था कि "अभियुक्तों को सन्देह के आधार पर निर्वासित किया गया है। सन्देह प्रमाण नहीं है। बहुत-से मामलों में ऐसा होता है कि जब तक समुचित रीति से बनाये गये न्यायालय में किसी व्यक्ति का अपराध साक्षी या प्रमाणों के आधार पर सिद्ध न हो जाय, तब तक न्याय और औचित्य का यह तकाजा है कि किसी व्यक्ति को सामान्य अधिकारों से वंचित न किया जाय।"

(१५) आर्य पत्रों की प्रतिक्रिया

आर्यप्रकाश ने इस मामले पर आर्यसमाज की दृष्टि से विचार करते हुए लिखा कि जब राजद्रोह का आरोप व्यक्तियों पर लगाया गया था तो इसका आर्यसमाज के आन्दोलन के लिए विशेष महत्त्व नहीं था, किन्तु यह उस समय बड़ा गम्भीर विषय बन गया जब आर्यसमाज के संस्थापक द्वारा लिखी गई पवित्र और प्रामाणिक समझी जाने वाली सत्यार्थप्रकाश और वेदभाष्य जैसी पुस्तकें अदालत में राजद्रोह के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत की गईं। सरकारी वकील ग्रे ने सामान्य रूप से आर्यसमाज-आन्दोलन पर यह आरोप लगाया कि यह धर्म के चोले की आड़ में राजनीति का काम करने वाला तथा ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध राजद्रोह का प्रसार करने वाला है। आर्यसमाज की संस्थाओं के विभिन्न प्रतिनिधियों तथा अनेक आर्यसमाजों ने तुरन्त सरकार तथा पटियाला-

राज्य से ऐसे मिथ्या दोषारोपण के लिए प्रबल प्रतिवाद किया। हमें प्रसन्नता है कि इसका अभीष्ट प्रभाव हुआ। पंजाब सरकार ने हमें विश्वास दिलाया है कि उन्हें इस प्रकार का कोई संदेह नहीं है।

इस्तगासे के वकील ग्रे ने यह घोषणा की कि वह आर्यसमाजों को राजद्रोही संस्था नहीं मानता है, फिर भी आर्यसमाज राजनैतिक होने के आरोप से नहीं बच सकता है। इसके समर्थन के लिए यह युक्ति प्रस्तुत की जाती है कि आर्यसमाज के कई सदस्य राजनैतिक आन्दोलन के नेता हैं। इसके उदाहरण के लिए लाला लाजपतराय तथा कुछ अन्य व्यक्तियों के नाम प्रस्तुत किये जाते हैं। विहंगम दृष्टि से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यह आरोप कितना काल्पनिक है। प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि आर्यसमाज एक धार्मिक संस्था है। यह अन्य धार्मिक संस्थाओं जैसी है। अन्य धार्मिक संस्थाओं के व्यक्ति राजनैतिक क्षेत्र में सक्रिय भाग लेते हैं। यदि उन्हें इस आधार पर राजनैतिक नहीं समझा जाता है तो आर्यसमाज को ही ऐसा क्यों समझा जाता है? क्या इसका यह कारण है कि कुछ ईर्ष्यालु व्यक्ति समाज की प्रगति से भयभीत हैं? कुछ भी हो, केवल सन्देहमात्र से ही आर्यसमाज को ये सब कष्ट भोगने पड़ रहे हैं। इस मामले में भी ऐसा ही हुआ है। महाराजा अभी २० वर्ष के भी नहीं हुए कि उनको आर्यसमाज का विरोध करने की बीमारी से पीड़ित लोगों ने गुमराह करना शुरू कर दिया और उन्होंने गद्दी पर बैठते ही यह उचित समझा कि वे ब्रिटिश राज के प्रति अपनी भक्ति और निष्ठा को सिद्ध करने के लिए आर्यसमाजियों को बन्दी बना लें। इस मामले में अभियोग लगाने वाले वकील इससे अधिक राजद्रोह की कोई बात सिद्ध नहीं कर सके कि इनमें से कुछ व्यक्ति राजनैतिक विषयों की चर्चा किया करते थे, राजनैतिक अखबार पढ़ते थे और 'पंजाबी' तथा 'अमृत-बाजार पत्रिका' जैसे पत्र आर्यसमाज के पुस्तकालय में मँगाये जाते थे।" इसके बाद इस पत्र ने अभियुक्तों को केवल सन्देह के आधार पर निर्वासन-दण्ड दिये जाने की आलोचना करते हुए यह लिखा—"क्या महामहिम महाराजा यह समझते हैं कि जिस व्यक्ति पर सन्देह किया जा रहा है, वह अपराधी होता है? क्या अनुचित रीति से दूसरे पर सन्देह करने वाला व्यक्ति अपराधी नहीं है? यदि ऐसे थोथे कारणों पर महाराजा इन निर्दोष व्यक्तियों को दण्डित करना चाहते थे तो यह अधिक अच्छा होता कि वे उन्हें क्षमा न करते और न्यायालय को अपना कार्य करने देते। वर्तमान परिस्थितियों में पटियाला में हम अपने भाइयों को यह परामर्श दे सकते हैं कि वे भयभीत न हों। वे सन्देह का शिकार बने हैं, किन्तु परिस्थिति का साहस के साथ सामना करना चाहिये। महाराजा एक निरंकुश शासक हैं और वे अपनी न्यायोचित व अन्यायपूर्ण इच्छायें पूरी कर सकते हैं। कुछ वर्ष पहले स्वामी नित्यानन्द जी को निजाम का प्रदेश छोड़ने के लिए कहा गया था। उस समय हमने इसे एक निरंकुश अधिकारी की सनक समझा था। यही बात पटियाला में है। जब न्यायपालिका और कार्यपालिका के कार्यों को मिला दिया जाता है और १८१८ के कानून जैसे नियम प्रचारित किये जाते हैं तो जनता को कोई न्याय नहीं मिल सकता है। हम बम्बई प्रेसिडेन्सी की सब समाजों से अनुरोध करते हैं कि इस विषय में पास किये गये प्रस्तावों को महाराजा के पोलिटिकल एजेण्ट तथा वायसराय को भेजें।

लाहौर की **आर्यपत्रिका** ने भी निर्वासन की आज्ञा की आलोचना करते हुए अपने

१७ फाल्गुन १९६६ (वि० सं०) के अंक में लिखा था कि "सरकारी वकील श्री ग्रे के भाषण में प्रस्तुत की गई साक्षी के स्वरूप से यह स्पष्ट हो गया था कि इस्तगासे के लिए यह असम्भव था कि वे उचित रीति से चलाये जाने वाले अभियोग में किसी व्यक्ति को दण्डित करा सकते हैं। फिर भी महाराजा ने रत्तीभर सन्देह के आधार पर अभियुक्तों को निर्वासन का दण्ड दे दिया है और इस बात का विचार नहीं किया है कि यह सन्देह पुष्ट प्रमाणों पर आधारित है या नहीं। न्याय की यह कल्पना सभ्य देशों के कानूनों के सर्वथा प्रतिकूल है और इसकी आशा महामहिम जैसे प्रजा के साथ सहानुभूति रखने वाले शासकों से नहीं की जा सकती है। उनके लिए यह सन्तोष की बात नहीं हो सकती कि वे अपने अनेक योग्य अधिकारियों की सेवा से वंचित हो जायँ।" इसके बाद पत्र ने इस बात पर बल दिया कि इन पर यदि मुकद्दमा चलाया जाता तो वह अधिक अच्छा होता और उसमें अभियुक्तों को पूरा न्याय मिल सकता था, क्योंकि उस दशा में जिन दो या तीन अभियुक्तों को कोई दण्ड दिया जाता, वे भी अपील करके मुक्त हो जाते अथवा उन्हें नाममात्र का दण्ड मिलता। कोई भी सच्चा न्यायालय उन्हें अनिश्चित काल के लिए अपनी मातृभूमि से निर्वासन का दण्ड न देता। राय ज्वालाप्रसाद तथा उनके साथियों को एक बात का सन्तोष है कि वे निर्दोष हैं और उन्हें सभी भारतवासी ऐसा समझते हैं और उनके साथ सहानुभूति रखते हैं। एंग्लो-इण्डियन पत्रों के अपवाद को छोड़कर देश के सभी अखबारों ने इस मुकद्दमे के दौरान एकस्वर से उनका समर्थन किया है। काफी लम्बे समय से वे संदेह के काले मेघों से आच्छादित थे; अब वे अपनी अकलुषित राजभक्ति के साथ इस बदली से बाहर आ गये। अपने समानधर्मी आर्य बन्धुओं तथा देशवासियों की दृष्टि में वे अपने अविचल साहस तथा अपार धैर्य के कारण ऊँचे उठ गये हैं।" पत्र का यह विचार था कि वे इस अग्निपरीक्षा में से कुन्दन बनकर निकले हैं। अन्त में निर्वासन-दण्ड से उनके साथ होने वाले अन्याय में उन्हें सांत्वना देते हुए पत्र ने लिखा था—"अन्तिम दण्ड में उन्हें जो कठिनाइयाँ उठानी पड़ रही हैं, उसमें उन्हें इस विश्वास से शान्ति मिलनी चाहिए कि महाराजा के न्यायालय से भी अधिक ऊँचा एक न्यायालय है, जिसमें उनको पूर्ण न्याय प्राप्त होगा।"

(१६) उपलब्धियाँ

पटियाला अभियोग आर्यसमाज की कड़ी अग्नि-परीक्षा थी। इसमें वह खरा कुन्दन बनकर निकला। इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि आर्यसमाज का राजद्रोह के आरोप से मुक्त होना था। इसमें आर्यसमाज पर मुकद्दमा चलाने वालों के पास पटियाला राज्य की समूची शक्ति और साधन थे, ग्रे जैसे फौजदारी कानून के धुरन्धर वकील थे। वार-बर्टन के नेतृत्व में राज्य की पुलिस दो वर्ष तक राजद्रोहियों के विरुद्ध प्रमाणों की खोज करती रही; उनके विरुद्ध साक्षी एकत्र करने में उसने कोई कोर-कसर बाकी नहीं रखी। फिर भी वह आर्यसमाज के विरुद्ध राजद्रोह का कोई ऐसा प्रबल ठोस प्रमाण नहीं ढूँढ सकी, जिससे वह एक भी अभियुक्त को न्यायालय से दण्डित करवा सकती और महाराजा को यह स्वीकार करना पड़ा कि आर्यसमाज राजद्रोही संस्था नहीं है।

इस विषय में कलकत्ता के सुप्रसिद्ध दैनिक 'अमृतबाजार पत्रिका' ने यह ठीक ही लिखा था कि पटियाला के महाराजा द्वारा दिये गये आदेश में—"यह बात ध्यान

देने योग्य है कि इसमें इस्तगासे के वकील द्वारा (राजद्रोह के लिए) की गयी आर्यसमाज की कड़ी निन्दा को कोई महत्त्व नहीं दिया गया है, अपितु इसे वस्तुतः निराधार घोषित किया गया है। इस विषय में स्मरणीय है कि सरकारी वकील का यह दावा था कि अभियुक्तों का आर्यसमाज का सदस्य होना ही उनके विरुद्ध राजद्रोह की प्रत्यक्ष (Prima facie) साक्षी है। इस पर महाराजा ने अपने निर्णय में कहा है—"राज्य का ऐसा कभी आशय नहीं रहा है कि भारत में आर्यसमाज का प्रत्येक सदस्य या यह संस्था राजद्रोही है। पटियाला राज्य में आर्यसमाज की अनेक शाखायें हैं। अब महाराजा की इस स्पष्ट घोषणा से उनकी चिन्ता और बेचैनी दूर हो जायगी।" कलकत्ता के एक अन्य दैनिक पत्र **बंगाली** ने टिप्पणी की थी कि "यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि पटियाला राजद्रोह के मामले में महाराजा के आदेश ने आर्यसमाज को तथा इसके सदस्यों को राजद्रोह के आरोप से बिलकुल बरी कर दिया है। यह सर्वथा उचित ही था। यह राजद्रोह के मामले में सरकारी वकील द्वारा दिये गये भाषण का पूर्ण निराकरण है। कई बार अभियोग चलाने वाले वकील अपने न्यायिक कार्यों को भुला देते हैं और अन्धाधुन्ध अविवेकपूर्ण वक्तव्य दे देते हैं।"

इस मामले की दूसरी बड़ी उपलब्धि कुछ समय के लिए आर्यसमाज के दोनों दलों—घास पार्टी और मांस पार्टी का एक हो जाना था। यह अभियोग आर्यसमाज के संगठन और अस्तित्व के लिए एक महान् संकट था। इसने इसका प्रबल प्रतिरोध करने के लिए दोनों दलों को संयुक्त कर दिया। **'पंजाबी'** पत्र ने जनवरी १९१० में इस विषय में लिखा था—"पटियाला तथा लाहौर में इस मामले में गहरी दिलचस्पी ली जा रही है। यह सुविदित है कि वर्षों से आर्यसमाज की मांस और घास पार्टियाँ एक-दूसरी की विरोधी थीं, किन्तु यह मुकद्दमा दोनों पक्षों को एक बनाने वाला सिद्ध हुआ है। यह घोषणा की गयी है कि लाहौर के सुप्रसिद्ध वकील तथा कॉलिज अथवा मांस-पार्टी के प्रमुख नेता लाला द्वारकादास इस मुकद्दमे के कुछ अभियुक्तों की पैरवी गुरुकुल काँगड़ी के मुख्याधिष्ठाता तथा घास पार्टी के नेता लाला मुंशीराम के साथ मिलकर करेंगे।" दोनों दलों की यह एकता थोड़े दिनों तक बनी रही और इसने अभियोग में सफाई-पक्ष को सुदृढ़ बनाने में बहुमूल्य योगदान दिया।

पन्द्रहवाँ अध्याय

आर्यसमाज के सम्बन्ध में सरकारी सन्देह दूर करने के प्रयास

पटियाला अभियोग से आर्यसमाज पर सरकार द्वारा सन्देह करने के प्रयासों को बड़ा बल मिला। अधिकांश सरकारी अधिकारी इसे राजद्रोही, राजनैतिक संस्था मानने लगे। आर्यसमाज के लिए यह जीवन-मरण का प्रश्न था। उसके लिए यह परम आवश्यक था कि वह सरकार द्वारा किये जाने वाले मिथ्या सन्देहों को दूर करने का प्रबल प्रयास करे। इन सन्देहों की शुरुआत मई १९०७ ई० में लाला लाजपतराय की गिरफ्तारी से आरम्भ हुई थी और उसी समय से इन सन्देहों के निराकरण के प्रयास आरम्भ हो गये थे।

स्वरूप की दृष्टि से इन प्रयासों के चार बड़े वर्ग या अंग थे—(१) उच्चतम सरकारी अधिकारियों के पास शिष्टमण्डल ले-जाकर उनकी भ्रान्तियों का निवारण करना, (२) व्याख्यान और प्रचार, (३) पुस्तक-पुस्तिकाओं का प्रकाशन, (४) उच्चतम अधिकारियों से वैयक्तिक सम्पर्क स्थापित करना। इस चतुर्मुखी नीति का विवेचन आर्य-समाज के इतिहास की दृष्टि से आवश्यक है। यहाँ इसका संक्षिप्त प्रतिपादन किया जायेगा।

(१) चतुर्मुखी नीति का स्वरूप

पहला अंग शिष्टमण्डलों की नीति थी। इसमें समाज के प्रमुख नेता डेपुटेशन बनाकर लेफ्टीनैण्ट गवर्नर आदि ब्रिटिश सरकार के उच्चतम अधिकारियों से मिलते थे और उन्हें अपनी राजभक्ति का पूरा विश्वास दिलाने का प्रयास करते थे। पंजाब में लालाजी की गिरफ्तारी के बाद सर्वप्रथम २२ मई १९०७ ई० में डी० ए० वी० कॉलिज-पार्टी के प्रमुख नेताओं के एक शिष्टमण्डल ने महात्मा हंसराज के नेतृत्व में लेफ्टीनैण्ट-गवर्नर सर डेंजिल इब्बटसन से कालका रेलवे स्टेशन पर भेंट की थी।[1] पर पूरा विश्वास दिलाने के बावजूद सर डेंजिल ने इस शिष्टमण्डल के सदस्यों के कथन पर कतई विश्वास नहीं किया था और बड़े स्पष्ट शब्दों में यह कहा था कि आर्यसमाज राजद्रोह का प्रमुख केन्द्र है। पंजाब के हर जिले के डिप्टी कमिश्नर ने उसे यह सूचना दी है कि जहाँ आर्यसमाज है वहाँ राजद्रोह की चर्चा होती रहती है। किन्तु आर्यसमाजी नेता इस रूखे जवाब से निराश नहीं हुए और वे इसके बाद भी इब्बटसन और उसके उत्तराधिकारी सर

---

१. ट्रिब्यून, २८ मई १९०७ ई०, पृ० १

लुइस डेन से मिलते रहे और अपनी राजभक्ति का विश्वास दिलाते रहे। गवर्नरों का प्रायः यह उत्तर होता था कि यदि आर्यसमाजी वस्तुतः राजभक्त हैं तो उन्हें आर्यसमाज के उन व्यक्तियों से न केवल अपना सम्बन्ध-विच्छेद करने की घोषणा करनी चाहिए, अपितु ऐसे तत्त्वों का दमन करने और उन्हें पकड़वाने में भी सरकार की पूरी मदद करनी चाहिए।

यह नीति प्रधान रूप से कॉलिज पार्टी द्वारा अपनायी गयी थी। महात्मा मुंशीराम इस नीति के प्रबल विरोधी थे। उन्होंने इस नीति की निरर्थकता पर कटाक्ष करते हुए १९०८ ई० में वच्छोवाली आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर भाषण देते हुए कहा था कि —"एक वयोवृद्ध आर्यसमाजी ने मुझे यह सुझाव दिया है कि लेफ्टीनैण्ट गवर्नर (छोटे लाट) की सेवा में एक शिष्टमण्डल ले-जाया जाए और उसके सामने आर्यसमाज की सच्ची स्थिति प्रस्तुत की जाए। किन्तु मेरे मित्र यह भूल जाते हैं कि गत वर्ष सर डेंजिल इब्बटसन की सेवा में ऐसा शिष्टमण्डल भेजा गया था, किन्तु इसका कोई परिणाम नहीं निकला। सज्जनो, यह समाज की ओर से नहीं, अपितु स्वयमेव बनाया गया शिष्टमण्डल था, सम्भवतः लाहौर के बिशप के प्रयासों से लेफ्टीनैण्ट गवर्नर के सुझाव पर उनसे मिला था, और इसे स्पष्ट रूप से यह बता दिया गया था कि पंजाब के सभी डिप्टी कमिश्नर आर्यसमाज को राजद्रोह का केन्द्र समझते हैं। इस शिष्टमण्डल ने गवर्नर को बहुत-सी बातें कहीं। किन्तु इससे परिस्थिति में रत्तीभर परिवर्तन नहीं आया है। बिना बुलाये डाँट-फटकार खाने के लिए शिष्टमण्डल ले-जाने की नीति का मैं उग्र विरोधी हूँ।"[1]

दूसरे प्रकार की नीति व्याख्यान और प्रबल प्रचार की थी। गुरुकुल पार्टी के नेता महात्मा मुंशीराम ने इस नीति का अनुसरण किया। उन्होंने उस समय उत्तर भारत की सबसे पुरानी और प्रमुख आर्यसमाज वच्छोवाली लाहौर के १९०८-९ ई० के वार्षिकोत्सवों में इस विषय पर बड़े प्रभावशाली व्याख्यान दिये और बाद में इन्हें लेखबद्ध करके हिन्दी और अंग्रेजी में इनके पैम्फ्लेट और पुस्तिकाएँ छपवाकर न केवल भारत में ब्रिटिश प्रशासन के उच्चतम अधिकारियों को भेजी गयी थीं, अपितु इंग्लैण्ड में भारत-मन्त्री तथा अन्य सम्बद्ध अधिकारियों को भी यह साहित्य भेंट किया गया था। इसमें न केवल आर्यसमाज की सही स्थिति पर प्रामाणिक रूप से प्रकाश डाला गया था, अपितु आर्यसमाज पर होने वाले अत्याचारों का भी विस्तृत उल्लेख किया गया था। आर्यसमाज की आवाज उच्चतम ब्रिटिश अधिकारियों तक पहुँचाने का यह एक सराहनीय प्रयत्न था।

तीसरा अंग विभिन्न लघु पुस्तिकाएँ और पुस्तकें छापने का था। इस क्षेत्र में दो उदाहरण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पहला प्रयास संयुक्त प्रान्त में आर्य प्रतिनिधि-सभा के मन्त्री श्री मदनमोहन सेठ का था। इन्होंने तत्कालीन भारत-मन्त्री लार्ड मार्ले के नाम खुले पत्र प्रकाशित किये थे और इनमें आर्यसमाज की स्थिति पर प्रकाश डाला गया था। महात्मा मुंशीराम ने प्रोफेसर रामदेव के साथ मिलकर लगभग ६०० पृष्ठों की एक बड़ी पुस्तक 'आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स' (आर्यसमाज और उनके निन्दक) नामक पुस्तक का प्रणयन किया था। इसमें बड़े विस्तार से आर्यसमाज की स्थिति और

---

१. मुंशीराम जिज्ञासु—आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स, भाग २, पृ० १०१

नीति पर प्रकाश डाला गया था। इस पर लगाये जाने वाले सभी आरोपों का विस्तार-पूर्वक पुष्ट प्रमाणों के आधार पर खण्डन किया गया था।

चौथा अंग उच्चतम सरकारी अधिकारियों से वैयक्तिक सम्पर्क स्थापित करके खुफिया विभाग के गुप्तचरों की रिपोर्टों द्वारा उत्पन्न की गयी भ्रान्तियों का निराकरण करना था। इस नीति का श्रीगणेश उस समय से हुआ जब ब्रिटिश सरकार ने गुरुकुल की तलाशी लेने का निर्णय किया और उससे पहले ही महात्मा मुंशीराम बिजनौर के कलेक्टर फोर्ड से और उसके बाद उत्तरप्रदेश के छोटे लाट सर जान हिवेट से मिले। बाद में दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रयूज से घनिष्ठ सम्पर्क होने पर महात्मा मुंशीराम तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिंग से मिले। संयुक्त प्रान्त के छोटे लाट सर जान मेस्टन को उन्होंने तीन बार गुरुकुल काँगड़ी में निमन्त्रित किया और १९१६ ई० में वायसराय लार्ड चेम्स-फोर्ड गुरुकुल आये और इसके परिणामस्वरूप आर्यसमाज के बारे में सब सरकारी सन्देह दूर हुए। पंजाब तथा संयुक्त प्रान्त के लेफ्टीनेंट गवर्नरों ने केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार आर्यसमाज के प्रमुख नेताओं से मिलना व सम्पर्क बढ़ाना शुरू किया और वे आर्यसमाजी शिक्षा-संस्थाओं में जाने लगे।

(२) वच्छोवाली आर्यसमाज के व्याख्यान

जिस समय कॉलिज पार्टी के नेता शिष्टमण्डलों की नीति से सरकारी अधिकारियों के सन्देह दूर करने का प्रयास कर रहे थे, उसी समय गुरुकुल पार्टी के महात्मा मुंशीराम ने वच्छोवाली आर्यसमाज के १९०८ तथा १९०९ ई० के वार्षिकोत्सवों में **आर्यसमाज और राजनीति** के विषय पर दो महत्त्वपूर्ण व्याख्यान देकर सरकारी सन्देह-जाल को छिन्न-भिन्न करने का प्रयास किया था। इन व्याख्यानों में आर्यसमाज की स्थिति बड़े स्पष्ट ढंग से और प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत की गयी थी। पहले व्याख्यान के आरम्भ में उन्होंने इस बात पर बल दिया था कि आर्यसमाज अपना सारा प्रचार-कार्य बिल्कुल खुले रूप में करता है। इसकी कोई गुप्त सभाएँ या बैठकें नहीं होती हैं। फिर भी गुप्तचरों द्वारा इस विषय में अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न कर दी गयी हैं। इनको दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि वर्तमान राजनीति के बारे में आर्यसमाज की स्थिति को इस मंच से स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया जाए। यह व्याख्यान यद्यपि लाहौर में दिया जा रहा है, इसके स्थान और समय की अपनी मर्यादाएँ हैं, फिर भी "मेरी यह सच्ची आकांक्षा है कि मैं आज रात को यहाँ जो बातें कहूँगा, वे भारत और इंग्लैण्ड के हर कोने तक, लार्ड मिण्टो और जान मार्ले के पास तक और हमारे परम कृपालु सम्राट् तक भी पहुँचेंगी और वे इसमें प्रकट किये गये विचारों से प्रामाणिक रूप से आर्यसमाज के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे। इस व्याख्यान से मैं अपनी विनम्र अपील ब्रिटिश सम्राट् के चरणों तक पहुँचाना चाहता हूँ।"

इसके बाद उन्होंने इस बात पर बल दिया था कि इस समय आर्यसमाज एक भीषण संकटकाल में से गुजर रहा है। अनेक आर्यसमाजी अपने धर्म के लिए घोर कष्ट उठा रहे हैं। किन्तु यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये कि कष्ट और अत्याचार व्यक्ति केवल ऐसी बातों के लिए ही सहन करता है, जिन्हें वह जीवन एवं संसार की भौतिक वस्तुओं से अधिक महत्त्वपूर्ण समझता है। इस विषय में यह जान लेना

आवश्यक है कि राजनीति किसे कहते हैं। यदि एक वाक्य में इसका लक्षण करना हो तो यह इस प्रकार है कि प्रशासन से और राज्य तथा प्रजा के बीच के सम्बन्धों से ताल्लुक रखने वाली प्रत्येक वस्तु राजनीति का अंग है। राजनीतिशास्त्र प्रशासन के सभी अंगों—कानूनों, रीति-रिवाजों और नागरिकों के रूप में जनता को प्रभावित करने वाली सभी संस्थाओं का विशद विवरण प्रस्तुत करता है। किन्तु हमारे देश में राजनीति का प्रयोग इस व्यापक अर्थ में नहीं, अपितु संकीर्ण अर्थ में होता है। यहाँ **राजनैतिक संस्था** ऐसी संस्था को कहते हैं जिसका एकमात्र उद्देश्य सरकारी कार्यों की कटु आलोचना करना हो। यहाँ प्रशासन करने वाले वास्तविक अधिकारियों को राजनीति से सम्बन्ध रखने वाला नहीं माना जाता। राजनीति के इस संकीर्ण और संकुचित दृष्टिकोण के अनुसार भारत में तीन राजनैतिक दल हैं—नरम दल या मॉडरेट पार्टी, गरम या उग्रवादी दल (Extremists), और आतंकवादी (Terrorists)। इन तीनों पार्टियों के उद्देश्य सर्वविदित हैं। आर्यसमाज को जब राजनैतिक संस्था कहा जाता है तो उसका सम्बन्ध गरम दल से जोड़ा जाता है। वस्तुतः आर्यसमाज का इन तीनों दलों से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है और यह किसी प्रकार की सांसारिक, भौतिक या राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा नहीं रखता है और न ही उसे कोई राजनैतिक लाभ—सरकारी नौकरियाँ या कौंसिलों में कुछ सीटें चाहियें। उसके उद्देश्य राजनैतिक नहीं, अपितु धार्मिक एवं आध्यात्मिक हैं।

इस प्रसंग में यह प्रश्न उठना सर्वथा स्वाभाविक है कि यदि आर्यसमाज एक धार्मिक संस्था है तो उस पर राजनैतिक संस्था होने का आरोप क्यों लगाया जाता है? वस्तुतः यह भारत के सार्वजनिक जीवन का एक विचित्र दुर्भाग्य है और आर्यसमाज इसके लिए किसी प्रकार से उत्तरदायी नहीं है। यदि आर्यसमाज की शक्ति जनता के धार्मिक और आध्यात्मिक कल्याण और समाज-सुधार में न लगकर ऐसे कार्यों में लगती है तो इसका बड़ा कारण कुछ अदूरदर्शी सरकारी अधिकारी हैं। महात्माजी के शब्दों में—"मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ सरकारी अफसर आर्यसमाज-विरोधी भावना से बुरी तरह प्रभावित हैं और वे अपनी परिस्थितियों से ऊपर नहीं उठ सके हैं।" आर्यसमाज एक शक्तिशाली संगठन है। इसने शताब्दियों से चली आने वाली पुरानी धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों और अन्धविश्वासों पर कुठाराघात किया है और यही इस समय इसके वर्तमान संकट का कारण बना हुआ है। इस स्थिति का पहला कारण यह है कि कुछ सरकारी अधिकारी अपनी संकीर्ण दृष्टि से ऊपर नहीं उठना चाहते हैं। यह कहा जाता है कि आर्यसमाज पर सन्देह का एक बड़ा कारण यह है कि लाला लाजपतराय आर्यसमाज के प्रमुख नेता हैं। उनके राजद्रोही होने के कारण सारे आर्यसमाज को राजद्रोही समझ लिया गया है। यह एक बड़ी विचित्र युक्ति है। लाला लाजपतराय के विरुद्ध बहुत-सी बातें कही जाती हैं। किन्तु अभी तक उनके खिलाफ कोई बात सिद्ध नहीं की जा सकी है। उन्होंने अपने पर दोष लगाने वालों को बड़ी साहसपूर्ण चुनौती दी है कि वे उनके विरुद्ध आरोप प्रस्तुत करें। किन्तु भारत-मन्त्री के उच्चतम स्तर तक ब्रिटिश सरकार ने उनकी चुनौती स्वीकार नहीं की है। उनकी उदारता अतीव प्रशंसनीय है। उन्होंने अपने को सच्चा आर्य सिद्ध किया है। यद्यपि उनके साथ बड़ा अन्यायपूर्ण व्यवहार हुआ—उन्हें एक पुराने कानून के अन्तर्गत नजरबन्द कर दिया गया था। फिर भी उनके

मन में देश के शासकों के प्रति कोई दुर्भावना नहीं है और वे इसके सभी कार्यों में सहयोग करने के लिए उद्यत हैं।

"इससे स्पष्ट है कि लाला लाजपतराय कोई विद्रोही नहीं हैं और उनके आधार पर समूची आर्यसमाज को राजद्रोही समझना भी ठीक नहीं है। फिर भी यदि उन्हें बागी मान लिया जाए तो क्या इस आधार पर आर्यसमाज के समूचे संगठन को एक खतरनाक राजनैतिक आन्दोलन माना जा सकता है? इस विषय में महात्मा मुंशीराम ने दो प्रबल प्रमाण प्रस्तुत किये। पहला विपिनचन्द्र पाल का था। उस समय वे बंगाल के उग्रवादी गरम दल के प्रमुख नेता समझे जाते थे। उन्होंने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध बहुत-सी बातें कही थीं; आग उगलने वाले क्रान्तिकारी विचारों से परिपूर्ण भाषण दिये थे। वे पहले ब्राह्मसमाज के उपदेशक थे और उस समय तक उस संस्था के सदस्य थे; फिर भी सरकार ब्राह्मसमाज को एक राजनैतिक आन्दोलन नहीं समझती थी। दूसरा उदाहरण एक हत्या करने वाले सत्येन्द्रनाथ बोस का था। वे ब्राह्मसमाजी थे। किन्तु जब उनको प्राणदण्ड दिया जाना था तो ब्राह्मसमाज के प्रधानाचार्य शिवनाथ शास्त्री को जेल में उनसे मिलने की और उनकी अन्तिम धार्मिक इच्छाओं तथा क्रियाओं को पूरा करने की अनुमति दी गयी थी। इनसे ब्राह्मसमाज का सम्बन्ध होते हुए भी उसे वर्तमान सरकार का तख्ता पलटने वाला क्रान्तिकारी आन्दोलन नहीं समझा गया। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि वध के आरोप में दण्डित सत्येन्द्र को धार्मिक शान्ति के लिए जो सुविधाएँ दी गयीं, वे पंजाब में राजद्रोह के अपराध में दण्ड भोगने वाले पिण्डीदास को नहीं दी गयीं। धर्म के मामले में ऐसी भेदभावपूर्ण नीति क्यों बरती जाती है?

"भारत सरकार की वर्तमान नीति ब्रिटिश सरकार की धार्मिक तटस्थता और सहिष्णुता की नीति के सर्वथा प्रतिकूल है। यद्यपि कुछ सरकारी अधिकारियों ने निःसन्देह यह घोषणा की है कि वे आर्यसमाज को एक धार्मिक संस्था समझते हैं, किन्तु व्यवहार में इस नीति का पालन नहीं हुआ है, क्योंकि कुछ अन्य सरकारी अधिकारी आर्यसमाजियों को मात्र आर्य होने के कारण सताना और परेशान करना अपना पवित्र धार्मिक कर्त्तव्य समझते हैं। भारत में लाखों प्रजाजन ब्रिटिश साम्राज्ञी विक्टोरिया को आज तक बड़े आदर और श्रद्धा के साथ स्मरण करते हैं। उनके सुपुत्र हमारे वर्तमान कृपालु सम्राट् एडवर्ड सप्तम ने उनका अनुसरण करते हुए हाल ही में एक सन्देश भारतीय प्रजाजनों के नाम प्रसारित किया है। इस सन्देश में उन्होंने बड़े गर्व से यह घोषणा की है कि धार्मिक विश्वास के कारण उनके किसी भी प्रजाजन को कभी कोई कष्ट नहीं पहुँचाया गया है। वे भारत से हजारों मील दूर बैठे हुए हैं। उन्हें यहाँ की वास्तविक परिस्थितियों का क्या कोई ज्ञान है? क्या यहाँ के सरकारी अधिकारी अपने दिल पर हाथ रखकर सच्चे अन्तःकरण से यह कह सकते हैं कि उन्होंने इस सरकारी नीति का पूरी ईमानदारी से पालन किया है?

"मैं डंके की चोट से यह कहना चाहता हूँ कि मेरी इच्छा है कि हमारे परम कृपालु सम्राट् इस बात को जान जाएँ कि सम्राट् के कानून का पूरा पालन करने वाले राजभक्त प्रजाजनों का ऐसा भी एक वर्ग है जिसे केवल इसी कारण के आधार पर सताया जा रहा है और उसके साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार किया जा रहा है कि वह एक विशिष्ट धार्मिक सम्प्रदाय आर्यसमाज से सम्बन्ध रखता है।"

इसके बाद महात्मा मुंशीराम ने अपने व्याख्यान में आर्यसमाजियों के उत्पीड़न के

अनेक उदाहरण बड़े प्रभावशाली शब्दों में प्रस्तुत किये। इनमें गुलाबचन्द, करनाल जिले के जैलदार, जाट सभा और दौलतराम उपदेशक के उदाहरण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पिछले एक अध्याय में इनका परिचय दिया जा चुका है, अतः इन उदाहरणों की यहाँ पुनः चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है।

आर्यसमाज और वैदिक धर्म के सार्वभौम स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए महात्मा मुंशीराम ने इस बात पर बल दिया कि आर्यसमाज संकीर्ण राष्ट्रीयता की भावना से ऊपर उठा हुआ है और वह अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से विश्वबन्धुत्व की भावना का प्रचार और प्रसार करने वाला है। उसका राजनैतिक क्रान्ति, रक्तपात, हत्या, अव्यवस्था एवं जातीय घृणा और विद्वेष से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह वस्तुतः सच्चे धर्म के प्रसार के लिए हिंसा और क्रान्ति की नीति का कट्टर विरोधी है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह स्वराज्य का प्रबल समर्थक है। किन्तु वह जिस स्वराज्य के विचार पर बल देता है वह राजनैतिक और सांसारिक नहीं है, अपितु आध्यात्मिक है। उनके शब्दों में **सच्चा स्वराज्य आत्मा पर प्रभुत्व स्थापित करना है।** यह आत्मविजय काम-क्रोधादि वासनाओं तथा निम्नस्तरीय भावनाओं के दमन से स्थापित होता है। यदि किसी राष्ट्र के व्यक्ति इस प्रकार के आध्यात्मिक स्वराज्य की भावना से वंचित हैं तो राजनैतिक स्वराज्य उनके लिए वरदान के स्थान पर अभिशाप बन जाता है। वह अपने साथ समाज में सुख, शान्ति, भौतिक समृद्धि और बौद्धिक उन्नति के स्थान पर व्यापक भ्रष्टाचार और भयंकर दुःख लेकर आता है। इसके बाद महात्मा मुंशीराम ने भ्रान्तियाँ दूर करने के उपायों का विवेचन करते हुए कहा कि आर्यसमाज स्पष्ट रूप से विशुद्ध धार्मिक संस्था है और किसी प्रकार के राजनैतिक कार्य में दिलचस्पी नहीं लेता है और अपने को केवल धार्मिक कार्यों और गतिविधियों तक ही सीमित रखना चाहता है। किन्तु इस विषय में विचारणीय प्रश्न यह है कि किन उपायों से समाज अपने बारे में उत्पन्न हुई भ्रान्तियों को दूर करे? आर्य ब्रिटिश सम्राट् के राजभक्त प्रजाजन हैं। शासकों का यह कर्त्तव्य है कि वे उन्हें राजद्रोही के रूप में बदनाम करने से पहले उन्हें अपनी सफाई का पूरा अवसर प्रदान करें। सरकार को यह चाहिए कि वह आर्यसमाज के विरुद्ध निश्चित आरोप लगाये और उसके बाद उसे अपने को निर्दोष सिद्ध करने का अवसर प्रदान करे। आर्यसमाज अपने ऊपर लगाये गये आरोपों को निर्भीकतापूर्वक निर्मूल प्रमाणित करने का पूरा प्रयास करेगा। यह कार्य कुछ आर्यसमाजी नेताओं द्वारा अपनायी गयी शिष्टमण्डलों के नीति से सम्पन्न नहीं हो सकता है।

संन्यासी की स्थिति—राजनीति के प्रति आर्यसमाज के दृष्टिकोण को स्वामी दयानन्द द्वारा लिखित सत्यार्थप्रकाश के छठे समुल्लास के आधार पर सुस्पष्ट रूप से प्रतिपादित करते हुए महात्मा मुंशीराम ने कहा कि आर्यसमाज चार आश्रमों में दृढ़ विश्वास रखता है। राजनीति का सम्बन्ध गृहस्थ आश्रम से है। राजनीति के कार्यों का संचालन करना गृहस्थों का काम है। कॉलिज, स्कूल और विश्वविद्यालय आंशिक रूप से ब्रह्मचर्य-आश्रम का प्रतिनिधित्व करते हैं। संसार की चिन्ताओं से मुक्त होकर जीवन-मरण की समस्याओं पर विचार-विमर्श और चिन्तन करने वाले, सांसारिक कार्यों और झंझटों से फुर्सत पाकर आध्यात्मिक विषयों की चिन्ता में लीन रहने वाले व्यक्ति वानप्रस्थ हैं। किन्तु संन्यासियों का क्या कार्य है और वे कौन हैं? वैदिक धर्म के अनुसार निर्भीकता-

पूवक सांसारिक व्यक्तियों का पथप्रदर्शन करने वाले महानुभाव संन्यासी हैं। इस दृष्टि से सामूहिक रूप में आर्यसमाज संन्यासी है। संन्यासी का गृहस्थ से कोई सम्बन्ध नहीं होता है, अतः गृहस्थों द्वारा संचालित की जाने वाली राजनीति से भी संन्यासी अपना कोई सम्बन्ध नहीं रखता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आर्यसमाज को संन्यासी के रूप में निर्भयतापूर्वक अपना कार्य करना है और राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं रखना है। जिस प्रकार संन्यासी अपना सारा समय और शक्ति जनकल्याणकारी कार्यों में लगाता है, उसी प्रकार आर्यसमाज अपने लोकोपकार के कार्यों में भरसक लगा रहेगा, भले ही शासन की ओर से उसके मार्ग में कितनी ही बाधाएँ क्यों न डाली जाएं।

इस विषय को स्वामीजी ने हैदराबाद के उदाहरण से स्पष्ट करते हुए कहा कि "अभी हाल में वहाँ निजाम की सरकार ने राज्य में आर्यसमाज के प्रचारकार्य में विघ्न-बाधाएँ डालीं, आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध उपदेशक स्वामी नित्यानन्द को जबर्दस्ती राज्य की सीमा से बाहर कर दिया गया ताकि वे हैदराबाद में अपने धार्मिक प्रवचन न कर सकें। यही व्यवहार आर्यसमाज के एक अन्य प्रचारक पण्डित बालकृष्ण शर्मा के साथ किया गया। फिर भी जब राज्य में प्रबल बाढ़ का संकट आया, अनेक गाँव पूरी तरह से बह गये, जनता को अपार कष्ट उठाना पड़ा तो स्थानीय आर्यसमाज ने बाढ़-पीड़ितों की सहायता के कार्य का संगठन किया और गुरुकुल काँगड़ी के ब्रह्मचारी आर्यसमाजी उपदेशकों के साथ किये गये अन्याय और अपमान को जनता-जनार्दन का कष्ट दूर करने के लिए भूल गये। उन्होंने स्वयमेव निश्चित अवधि तक अपने भोजन में मिलने वाले घी और दाल का परित्याग किया। इससे इकट्ठा की गयी धनराशि बाढ़-सहायता-कार्य के लिए हैदराबाद भेजी।

अपने भाषण के अन्त में पुनः उन्होंने इस बात पर बल दिया कि समाज के सदस्य व्यक्तिगत रूप से गृहस्थों की भाँति हैं। वे निजी रूप में राजनीति में भाग ले सकते हैं। किन्तु समाज सामूहिक रूप से संन्यासी है। वह सब प्रकार के साम्प्रदायिक, धार्मिक और विभिन्न वर्गों के स्वार्थों से और जातीय पक्षपातों से मुक्त है, इनसे ऊपर उठा होता है। अपनी इस उच्च स्थिति में अवस्थित होकर वह शासकों और शासितों को उनके कर्तव्य-पथ का बोध कराता रहता है। यदि जनता कोई गलतियाँ करती है, हिंसापूर्ण कार्यों में भाग लेती है, कुछ व्यक्ति आतंकवादी कार्य करते हैं तो आर्यसमाज को उन्हें डाँटने, फटकारने तथा आलोचना का पूरा अधिकार है और वह उन्हें इस बात को अच्छी तरह से बता सकता है कि जिस व्यक्ति ने अपनी पाशविक हिंसापूर्ण प्रवृत्तियों पर विजय नहीं पायी है, वह स्वराज्य पाने का अधिकारी नहीं है। किन्तु इसके साथ ही यदि कोई सरकार धर्म और नैतिकता के नियमों का उल्लंघन करती है तो आर्यसमाज को उसे भी चेतावनी देने का पूरा अधिकार है। ब्रिटिश साम्राज्य के नागरिकों और गृहस्थों के रूप में आर्यबन्धु अपनी माँगें पूरी कराने के लिए सरकार के पास जितने शिष्टमण्डल ले-जाना चाहें, ले-जा सकते हैं। किन्तु आप इसे आर्यसमाज के नाम से नहीं कर सकते हैं। आर्य-समाज संन्यासी है और संन्यासी केवल अपने से श्रेष्ठ परमपिता परमेश्वर के सम्मुख ही नतमस्तक होता है और उसके प्रति निष्ठा रखता है। किसी सांसारिक शक्ति के सम्मुख प्रणत होना उसके कर्तव्य और प्रकृति के प्रतिकूल है। संन्यासी को सांसारिक या सामाजिक प्रतिष्ठा की चाह नहीं होती है। उसका एकमात्र कार्य मानव-जाति की सेवा करना

है। संन्यासी की तुलना एक मेघ से की जा सकती है। बादल जितना ऊँचा उठता है, उतना ही अधिक शुद्ध होता चला जाता है और वह बरसकर धरती को अपने पवित्र जल से अधिक लाभ पहुँचाता है। संन्यासी का कार्य सूर्य की भाँति अँधेरे में भटकने-वाली आत्माओं को शान्ति और प्रकाश प्रदान करना और अज्ञानान्धकार को दूर करना है। आर्यसमाज को इस महान् कार्य में पूरी तरह लग जाना चाहिए, संन्यासी जैसी उच्च स्थिति बनाये रखनी चाहिए और राजनीति जैसी तुच्छ बातों में कोई अभिरुचि नहीं रखनी चाहिए और न ही इससे कोई सम्पर्क स्थापित करना चाहिए।

महात्मा मुंशीराम का उपर्युक्त आध्यात्मिक एवं उदात्त धार्मिक भावनाओं से परिपूर्ण प्रवचन आर्यसमाजियों के लिए न केवल उनकी यथार्थ स्थिति और उद्देश्यों का बोध कराने वाला था, अपितु राजनीति के प्रति आर्यसमाज के दृष्टिकोण को अतीव सुस्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन करने वाला था। इसमें दी गयी संन्यासी और मेघ तथा सूर्य की उपमाओं से आर्यसमाजियों को अपने कर्तव्य का नवीन बोध प्राप्त हुआ। सम्भवतः इससे पहले किसी नेता ने इतनी स्पष्टता और निर्भीकता से आर्यसमाज की स्थिति का विवेचन और विश्लेषण नहीं किया था। इसके साथ ही इस भाषण में महात्मा मुंशीराम ने कॉलिज पार्टी द्वारा अपनायी जाने वाली शिष्टमण्डलों की नीति का उग्र विरोध किया, क्योंकि वे इसे आर्यसमाज की स्थिति को गिराने वाला समझते थे। उनकी दृष्टि में आर्य-समाजी भगवान् के प्रति सिर झुकाने वाला है। उसे जो कुछ माँगना होगा वह उससे माँगेगा, न कि सांसारिक शासकों के आगे झोली पसारेगा। उन्हें इस नीति में अपनायी जाने वाली भद्दी चाटुकारिता और चापलूसी अतीव अपमानजनक प्रतीत होती थी।

१९०९ ई० के नवम्बर मास में पुनः महात्मा मुंशीराम ने आर्यसमाज बच्छो-वाली लाहौर के ३२वें वार्षिकोत्सव के अवसर पर **'वर्तमान स्थिति और हमारा कर्तव्य'** के विषय पर एक बड़ा प्रभावशाली, विचारोत्तेजक एवं उदात्त भावनाओं से परिपूर्ण भाषण दिया। इस समय तक स्थिति कुछ सुधरने लगी थी; सरकारी अधिकारियों के साथ वैयक्तिक सम्पर्क होने लगा था। संयुक्त प्रान्त में गुरुकुल काँगड़ी के बारे में गुप्त-चरों की रिपोर्टों के आधार पर बनायी गयी भ्रांतियों को महात्मा मुंशीराम ने तत्कालीन लेफ्टीनैण्ट गवर्नर सर जान हिवेट से मिलकर दूर किया था। इससे नयी आशा की किरण उत्पन्न हुई थी कि सरकारी प्रकोप की बदली शायद जल्दी छँट जाए। किन्तु दूसरी ओर पटियाला राज्य द्वारा वहाँ के आर्यसमाजियों पर चलाये गये मुकद्दमे से पंजाब में समाज के लिए अभूतपूर्व संकट उत्पन्न हो गया था। अभी तक इतने बड़े पैमाने पर आर्य-समाज पर कोई मामला सरकार की ओर से नहीं चलाया गया था। कुछ व्यक्तियों ने यह भी अफवाहें उड़ानी शुरू कर दी थीं कि ब्रिटिश प्रदेशों में भी आर्यसमाजियों पर विभिन्न स्थानों पर इस प्रकार के राजद्रोह के मामले चलाये जाएँगे। यह समय आर्यसमाज के लिए कड़ी अग्निपरीक्षा का था। ऐसे संकटपूर्ण समय में इस भाषण ने आर्यसमाज में नूतन प्राण-संचार किया।

उस समय की निराशापूर्ण स्थिति में आर्यसमाज को भीषण संकटों का सामना करना था। अतः महात्मा मुंशीराम ने इस व्याख्यान को **ओं तेजोऽसि तेजो मयि धेहि** की वैदिक प्रार्थना के साथ आरम्भ किया। भगवान् से वर्तमान संकट में तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु, और अद्भुत सहनशक्ति देने की याचना की। इन गुणों के आधार पर ही

आर्यसमाज इस कड़ी अग्निपरीक्षा में से कुन्दन बनकर निकल सकता था। इस समय तक आर्यसमाज की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए संयुक्त प्रान्त की आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री श्री मदनमोहन सेठ द्वारा तत्कालीन भारत-मन्त्री लार्ड मार्ले को लिखे गये खुले पत्र पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हो चुके थे। इस पुस्तक की प्रतियाँ भारत-मन्त्री, वायसराय, विभिन्न प्रान्तों के लेफ्टीनैण्ट गवर्नरों और भारतीय सेना के सभी कमांडिंग आफिसरों को भेजी जा चुकी थीं। इसमें बड़े संक्षिप्त और सारगर्भित रूप में आर्यसमाज की स्थिति का प्रतिपादन किया गया था। आशा की जाती थी कि जब सरकारी अधिकारियों को इस पुस्तक से यथार्थ स्थिति का ज्ञान होगा तो आर्यसमाज के प्रति व्यवहार में परिवर्तन आने लगेगा और उसका दमन एवं उत्पीड़न बन्द हो जाएगा। किन्तु दुर्भाग्यवश अभी तक ऐसा नहीं हुआ था। इसके सर्वथा विपरीत सैनिक छावनियों में आर्यसामाजियों के प्रवेश पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये गये थे। महात्मा मुंशीराम ने इसका उग्र विरोध करते हुए प्रधान सेनापति से उपर्युक्त पुस्तिका में यह अपील की थी कि जब यूरोप में अराजकतावादी क्रान्तिकारी राजाओं की हत्या करते हैं तो यदि वे अपराधी रोमन कैथोलिक होते हैं और प्रोटैस्टेण्ट मत रखने वाली सरकार उनको पकड़ती है तो वह भी जेल में उनकी आध्यात्मिक शान्ति के लिए रोमन कैथोलिक पुरोहितों को उनके पास भेजने की अनुमति देती है। इस प्रकार की राजकीय हत्याओं से बढ़कर घृणित प्रकार की अन्य हत्याएँ क्या हो सकती हैं! जब इनमें अपराधियों की शान्ति के लिए धार्मिक पुरोहितों को जेलों में जाने की अनुमति दी जा सकती है तो आर्यसमाजी प्रचारकों के लिए ब्रिटिश छावनियों में प्रवेश पर प्रतिबन्ध क्यों लगाया जाता है?

वस्तुतः इस समय आर्यसमाजियों के साथ कानून के संरक्षण से सर्वथा वंचित भयंकर अपराधियों (Outlaws) जैसा व्यवहार किया जा रहा है। सनातनी, मुसलमान, ईसाई और जैन यह समझते हैं कि अब आर्यसमाज को कुचलने और चटनी बनाने का समय आ गया है। प्रेम सागर सभा ने अपने वार्षिकोत्सव में गोरक्षा के बारे में एक प्रस्ताव पास किया और एक गोशाला बनाने के लिए धन-संग्रह की अपील निकाली। एक मुसलमान ने इस बारे में एक नोटिस निकाला है और लाहौर में इसे कई स्थानों पर लगाया गया है। इसमें यह कहा गया है कि मुसलमान गोरक्षा के कार्य में कोई बाधा नहीं डालेंगे। किन्तु इस बारे में हिन्दुओं और मुसलमानों में तब तक कोई सहयोग नहीं हो सकता है, जब तक सब धर्मों के पैगम्बरों को बदनाम करने वाले आर्यसमाज के सम्प्रदाय को समाप्त नहीं कर दिया जाता है। इस समय आर्यसमाज के आगे सबसे बड़ा संकट यही है कि न केवल अन्य धर्मावलम्बी उसके विरोधी हैं, अपितु सरकारी कर्मचारी भी उसे बागी समझते हैं। आर्यसमाज पर सरकार की वक्र दृष्टि है। यद्यपि प्रामाणिक रूप से इस बारे में कुछ कहना कठिन है, किन्तु सामान्य रूप से यही बात समझी जाती है कि ब्रिटिश सरकार आर्यसमाज की विरोधी है।

आर्यसमाज का प्रचार उत्तर भारत में, पंजाब और संयुक्त प्रान्त में अधिक था। कुछ लोगों का यह विचार था कि १९०९ ई० में संयुक्त प्रान्त की सरकार निश्चित रूप से आर्यसमाज की अधिक उग्र विरोधी थी और पंजाब में इससे कुछ अच्छी स्थिति थी। यहाँ सरकार आर्यसमाज के प्रति उतना कट्टर विरोधी रुख रखने वाली नहीं समझी जाती थी। किन्तु महात्मा मुंशीराम ने अपने व्याख्यान में यह बताया कि इस विषय में

उनका अपना अनुभव सर्वथा भिन्न प्रकार का है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पहले ऐसी ही स्थिति थी और संयुक्त प्रान्त की सरकार गुरुकुल काँगड़ी को बड़े सन्देह की दृष्टि से देखती थी। गुप्तचरों की रिपोर्टों के अनुसार वहाँ बमों तथा अवैध शस्त्रों का विशाल भण्डार था और संयुक्त प्रान्त की सरकार ने बिजनौर के कलेक्टर को इस विषय में आवश्यक कार्यवाही करने की अनुमति दे दी थी। कलेक्टर फोर्ड इस कार्य के लिए गुरुकुल काँगड़ी के पास चण्डी पर्वत की उपत्यका में सदल-बल पहुँच गया था। उन दिनों महात्मा मुंशीराम गुरुकुल से बाहर क्वेटा गये हुए थे। वे सूचना मिलते ही गुरुकुल आ गये और स्वयमेव कलेक्टर के शिविर में उससे मिलने पहुँच गये। जब उसने ब्रह्मचारियों को देखने की इच्छा प्रकट की तो स्वामीजी उसे अपने साथ गुरुकुल ले आये। उसने उनकी उँगलियों और भुजाओं को बड़े ध्यान से देखा और इसके बाद वह आश्चर्य से स्तब्ध रह गया। उसने कहा कि "मुझे आपकी संस्था के बारे में बहुत-सी विचित्र रिपोर्टें मिली थीं, किन्तु यहाँ आकर मैंने उन्हें बिल्कुल झूठ पाया है। मुझे यह बताया गया था कि उन्हें तीर चलाने की ऐसी शिक्षा दी जाती है कि वे उड़ते पक्षियों पर अचूक निशाना लगाते हैं। ये सब बातें मुझे बिल्कुल झूठी मालूम पड़ती हैं। उसने स्वामीजी को यह बताया कि दिन-रात अपराधियों के साथ वास्ता पड़ने के कारण सरकारी अधिकारियों की मनोवृत्ति बड़ी शंकालु हो जाती है और वे संदिग्ध बातों पर बड़ी जल्दी विश्वास कर लेने के आदी हो जाते हैं। यहाँ आने से उनकी भ्रान्तियाँ दूर हो गयी हैं। अब महात्माजी को सरकारी अधिकारियों से निरन्तर मिलते रहना चाहिए और इससे ऐसे सन्देहों का निराकरण करने में बड़ी सहायता मिलेगी। इसके बाद महात्मा मुंशीराम देहरादून में लेफ्टीनैण्ट गवर्नर सर जान हिवेट से मिले और उन्होंने आर्यसमाज तथा गुरुकुल के बारे में सारी स्थिति स्पष्ट की। गवर्नर ने सब बातें सुनने के बाद यह घोषणा की कि गुरुकुल के बारे में अब उन्हें कोई सन्देह नहीं रह गये हैं। यह महात्मा जी की एक बड़ी विजय थी और आर्यसमाज के प्रति सरकारी सन्देह दूर करने की दिशा में पहला महत्त्वपूर्ण पग था।

इस भाषण का उल्लेखनीय अंश ब्रिटिश शासन के वरदानों का विशिष्ट वर्णन था। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि "भारतीयों का इतना अधिक नैतिक अधःपतन हो चुका है कि वर्तमान समय में हम स्वराज्य पाने के अधिकारी नहीं हैं।" इस बारे में उनका यह विचार था कि अगले तीन सौ वर्ष तक भारत में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए ब्रिटिश सत्ता यहाँ बनी रहनी चाहिए। इसके कारण स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा था—

"मेरे पिता ने १८५७ ई० के विद्रोह के बाद शान्ति स्थापित करने के कार्य में बड़ा भाग लिया था और प्रायः इस बारे में अपने अनुभव मुझे बताया करते थे। उन्होंने मुझे जो बातें बतायी थीं, उनके आधार पर मैं इस परिणाम पर पहुँचा था कि कम-से-कम एक शताब्दी तक भारत में ब्रिटिश शासन इस देश की शान्तिपूर्ण प्रगति और सुव्यवस्थित विकास के लिए आवश्यक है। हाल की घटनाओं ने हमारे राजनैतिक जीवन के ऐसे दोषों को प्रकट किया है, जिनके बारे में पहले मैं कभी कल्पना भी नहीं कर सका। अब मुझे यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि मैं बहुत अधिक आशावादी था और इसलिए मेरी भविष्यवाणी ठीक नहीं थी। अब मेरा यह विश्वास है कि भारत में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए ३०० वर्ष तक अंग्रेजी राज्य बना रहना चाहिए। यदि

शान्ति को स्थायी बनाये रखने वाली यह शक्ति यहाँ न रही तो क्रमिक विकास के आधार पर देश की उन्नति की सभी सुविधाएँ और सम्भावनाएँ समाप्त हो जायेंगी। मैं जानता हूँ कि आप में से बहुत-से व्यक्ति मेरे दृष्टिकोण से सहमत नहीं होंगे, किन्तु इससे मैं यह बात कहने से विरत नहीं हो सकता हूँ कि मेरी पहली सम्मति गलत आधारों पर बनी हुई थी।"

इसके बाद महात्मा मुंशीराम ने पटियाला-काण्ड की चर्चा करते हुए कहा कि सरकारी अधिकारियों की दृष्टि में जहाँ तक आर्यसमाज का प्रश्न है, वहाँ तक वास्तविक राजद्रोह और तथाकथित (Alleged) राजद्रोह में कोई भेद नहीं किया जाता है और "इस समय आर्यसमाज सब विरोधियों की निशानेबाजी का लक्ष्य बना हुआ है।" इसका सबसे सुन्दर उदाहरण पटियाला राज्य का अभियान है। पिछले दिनों जब मैं इस मुकद्दमे में पैरवी के लिए रुग्णावस्था में भी पटियाला गया तो गाड़ी में अपने कार्य के लिए जाते हुए मार्ग में आर्यसमाज-मन्दिर को देखकर बड़ा दुःख और निराशा हुई। "कुछ समय पहले वार्षिकोत्सव पर मैंने इसी भवन में व्याख्यान दिया था और यहाँ पटियाला के सभी प्रतिष्ठित, गण्यमान्य व्यक्ति और महाराजा की संरक्षक परिषद् (Council Regency) के सदस्य उपस्थित थे। किन्तु आज समाज-मन्दिर में ताला पड़ा हुआ था। बरामदे में चार तलवारें लटकी हुई थीं। एक पुलिस का सिपाही उस पवित्र धर्मस्थान में हुक्का पी रहा था। मुझे उस समय यह अनुभव हुआ कि आर्यसमाज का घोर अपमान हो रहा है। किन्तु उसी समय मुझे अन्तःकरण की दिव्यवाणी सुनायी दी, जो यह कह रही थी कि आर्यसमाज का कभी अपमान नहीं हो सकता है। ओ३म् तथा वेदों को कभी ताले में बन्द नही किया जा सकता है। अन्ततोगत्वा वही पराजित होंगे जो यह समझते हैं कि ईंट, चूने गारे से बनी हुई इमारत पर सिपाहियों का पहरा बिठा देने से उसे दबाया जा सकता है।"

इसी समय आगे बढ़ने पर मैंने आर्यसमाजी अभियुक्तों को तीन दलों में अदालत ले जाते हुए देखा। मुझे उनके चेहरों पर शहीदों की-सी चमक देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। जब उन्होंने मुझे नमस्ते और अभिवादन किया तो मैंने इस बात को अनुभव किया कि वे आर्यसमाज के प्रति गहरा प्रेम रखते हैं और उसके लिए बलिदान होने में उन्हें परम प्रसन्नता होगी। एक अभियुक्त नन्दलाल ने मुझे यह भी कहा कि मैं अपने स्वास्थ्य का अधिक ध्यान रखूं क्योंकि आर्यसमाज के लिए मेरा जीवन अधिक मूल्यवान् है, और उनके लिए कष्ट उठाकर मैं अपने जीवन को संकट में न डालूं। इससे मुझे अवर्णनीय प्रसन्नता हुई और बड़ी शान्ति मिली। "वस्तुतः यह हमारी परीक्षा की घड़ी है। यज्ञ की अग्नि प्रदीप्त हो चुकी है, इसमें आप जितना घी डालेंगे, अग्नि की ज्वालायें उतने जोर से ऊपर उठेंगी और हमारी अशुद्धियों को और दोषों को भस्म कर देंगी। क्या कोई व्यक्ति सच्चे भक्तों के हृदयों में निरन्तर प्रज्वलित रहने वाली धर्म की ज्वाला को बुझा सकता है?"

तदनन्तर महात्मा मुंशीराम ने आर्यसमाज के कर्त्तव्य पर प्रकाश डालते हुए कहा कि "इस समय कुछ व्यक्ति यह समझते हैं कि हमें सरकार को स्मृति-पत्र तथा आवेदन-पत्र भेजने चाहिएँ और अपनी स्थिति स्पष्ट करनी चाहिए। किन्तु मैं इसका विरोधी हूँ। यह हमारा कर्त्तव्य नहीं है। हम यह जानते हैं कि हम राजद्रोही नहीं हैं; किसी के प्रति दुर्भावना नहीं रखते हैं। यदि हमारा कोई दोष है तो यही है कि हम अपने

देशवासियों के विरुद्ध सरकारी अधिकारियों के कान नहीं भरते, अपितु हम अपने शत्रुओं और अत्याचार करने वालों के प्रति भी सद्भावना और शुद्ध विचार रखते हैं। यदि आपकी यह प्रवृत्ति बन जाय तो संसार की कोई भी शक्ति आपको हानि नहीं पहुँचा सकती है। कुछ लोग अपनी राजभक्ति प्रदर्शित करने के लिए शिष्टमण्डलों को ले जाना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। किन्तु मैं ऐसे किसी शिष्टमण्डल में सम्मिलित नहीं होऊँगा, क्योंकि हमारे लिए राजभक्ति केवल प्रदर्शन करने की वस्तु नहीं है। किन्तु यह इस देश में हमारी सत्ता बनाये रखने की पहली शर्त है। स्वामी दयानन्द ने एक बार कहा था कि 'यदि आज अंग्रेज इस देश को छोड़कर चले जायँ तो थोड़े समय में ही हमारे सभी उपदेशकों के सिर काट लिये जायेंगे।' क्या कोई आर्यसमाजी एक क्षण के लिए भी यह सोच सकता है कि अंग्रेज यहाँ से चले जायँ और उनके स्थान पर सीमाप्रान्त के बर्बर व्यक्तियों का शासन स्थापित हो जाय? कोई भी आर्य इस देश में अंग्रेजों के शासन के स्थान पर अराजकता और अव्यवस्था को स्थापित नहीं करना चाहता है। हम स्वाभाविक रूप से राजभक्त हैं। हमारी राजभक्ति में संदेह का कोई स्थान या कारण नहीं है। इसलिए आर्यसमाज को अपनी राजभक्ति सिद्ध करने के लिए कोई स्मृतिपत्र या प्रार्थनापत्र भेजने की जरूरत नहीं है। आर्यसमाज में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो राजद्रोह का, राजनैतिक हत्याओं का समर्थन या प्रचार करता हो। यदि कोई ऐसा व्यक्ति है तो आप उसे ढूँढकर समाज से निकाल सकते हैं और दण्डित कर सकते हैं। वह आर्य नहीं है। यदि किसी व्यक्ति का उद्देश्य सरकार का तख्ता पलटना हो तो उसे सरकार द्वारा दण्ड दिया जाना चाहिए।

"पटियाला अभियोग से उत्पन्न इस संकट की घड़ी में हम सबको धैर्यपूर्वक कष्ट सहने के लिए तैयार रहना चाहिए और यह समझना चाहिए कि हम अमृतपुत्र हैं। आत्मा अमर है और हमें कितने भी कष्ट क्यों न उठाने पड़ें, हम अपने उद्देश्य में अवश्य सफल होंगे। हमारा उद्देश्य केवल आर्यावर्त में स्वराज्य स्थापित करना नहीं है, किन्तु इंग्लैण्ड, जर्मनी तथा सारी दुनिया में धर्म का सर्वोच्च शासन स्थापित करना है। इसलिए हमें अपनी साधना में जुट जाना चाहिए। हृदय को पवित्र बनाना चाहिए, यम-नियमों का पालन करना चाहिए। तभी हमें वह तेज प्राप्त होगा और शक्ति मिलेगी जिससे हम बड़े-से-बड़े संकट का सामना निर्भयतापूर्वक कर सकेंगे।"

"प्रायः कहा जाता है कि पटियाला में आर्य भाइयों की रक्षा के लिए सुरक्षा कोष स्थापित किया जाना चाहिए। मैं इसके लिए अपील करके आपकी उदारता को लज्जित नहीं करना चाहता हूँ। इस समय यही चाहता हूँ कि आप सब प्रकार का द्वेष और वैमनस्य छोड़ने और अहिंसा का पालन करने का व्रत लें और सब प्रकार के कष्टों को धैर्यपूर्वक सहने का दृढ़ निश्चय करें। यदि आप वस्तुतः प्राचीन वैदिक काल के स्वर्ण युग को वापस लाना चाहते हैं तो आपको इस अग्निपरीक्षा में से गुजरने के लिए तैयार रहना पड़ेगा। मुझे विश्वास है कि आर्यसमाज इस परीक्षा में सफल होगा।"

इस व्याख्यान से यह स्पष्ट है कि महात्मा मुंशीराम उस समय आर्यसमाज पर आये भीषण संकट को भलीभाँति समझ रहे थे। उन्होंने आर्य बंधुओं को इस संघर्ष के लिए कटिबद्ध होने का प्रबल आह्वान किया था, किन्तु इसके साथ ही वे यह भी समझने लगे थे कि उच्चतम अधिकारियों के साथ वैयक्तिक संपर्क स्थापित करके उनकी आर्य-

समाज-विषयक भ्रान्तियों को दूर किया जा सकता है। संयुक्त प्रान्त में उन्हें सर जॉन हिवेट से मिलकर अपने इस कार्य में कुछ सफलता मिली थी। पंजाब में पटियाला-अभियोग के समय उन्होंने आर्यजगत् का जो नेतृत्व किया और 'सद्धर्म प्रचारक' में लेख लिखे, उससे आर्यों को बड़ी प्रेरणा मिली। अब यहाँ उसका संक्षिप्त उल्लेख किया जायेगा।

(३) पटियाला अभियोग में महात्मा मुंशीराम का निर्भीक नेतृत्व

पटियाला में आर्यसमाजियों पर राजद्रोह का अभियोग चलाये जाने पर समाचार-पत्रों में बड़े पैमाने पर इसका प्रचार हुआ। इससे आर्यसमाज में चारों ओर बड़े भय, संत्रास, आतंक तथा निराशा का वातावरण छा गया। लोग आर्यसमाज के नाम से डरने लगे, छूत की बीमारी की तरह उससे बचने लगे। आर्यसमाज के अधिकांश नेताओं ने इस संकट में वैसी बहादुरी का परिचय नहीं दिया जैसा उन्हें देना चाहिए था। आर्यसमाज के नेता प्रायः इस समय के आर्यसमाजियों की तुलना अपने व्याख्यानों और लेखों में रोमन साम्राज्य में ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में विकसित होने वाले ईसाई धर्म के अनुयायियों के साथ किया करते थे, किन्तु इस समय के आर्यसमाजियों में उन ईसाइयों जैसे त्याग, बलिदान और अद्वितीय साहस की घटनायें दो-चार ही मिलती हैं। इसके विपरीत दब्बूपन, कमजोरी और कायरता की घटनायें बड़ी संख्या में उपलब्ध होती हैं। स्वामी दयानन्द की उग्र राष्ट्रीयता के बावजूद इस समय इस बात का निरंतर प्रचार किया गया है कि आर्यसमाज का राजनीति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वह केवल धर्मोपदेशक संस्था है। इससे आर्यसमाज का इतना जबर्दस्त नैतिक पतन हुआ कि इसके विरोधियों ने भी इसकी खिल्ली उड़ाना शुरू कर दिया। आर्यसमाज के प्रतिपक्षी बम्बई के पौराणिक पत्र 'वेंकटेश्वर समाचार' तक ने आर्यसमाज को यह सम्मति दी कि "अब तक आर्यसमाज को इधर-उधर की चोटों ने विचलित नहीं किया था, किन्तु पंजाब सरकार के अत्याचारों के कारण यह विचलित हो गया है। उसने सफाई के बयान देने शुरू किये हैं कि आर्यसमाज पोलिटिकल संस्था नहीं है किन्तु धार्मिक सभा है। आर्य-समाज नाहक में फटफटा रहा है। उसे अपने सिद्धान्तों पर अडिग रहना चाहिए। उसका पक्ष सत्य है तो उसके लिए घबड़ाने का कोई कारण नहीं है। कर नहीं तो डर क्या?"

झाँसी में आर्योपदेशक दौलतराम के मुकद्दमे की पैरवी करने के लिए वहाँ आर्य-समाज का कोई वकील तैयार नहीं हुआ। झाँसी आर्यसमाज के प्रधान उस समय झाँसी के प्रमुख वकील गिने जाते थे, किन्तु वे भी आर्यसमाज का मुकद्दमा लड़ने की हिम्मत नहीं रखते थे। दौलतराम के लिए कोई जमानत देने वाला आर्यसमाजी भी झाँसी में नहीं मिला। जब महाशय विष्णुदत्त वकील अपील के लिए झाँसी गये तो वहाँ की समाज के मन्त्री ने उनको कहा कि "मालूम हुआ है कि आप दौलतराम के मुकद्दमे के बारे में तशरीफ लाये हैं, इसलिए आपको समाज-मन्दिर में ठहरने की इजाजत नहीं है। आप किसी दूसरी जगह ठहर जायँ।" जब सरकारी अधिकारियों द्वारा समाज के सभासदों की सूची माँगी जाने लगी तब कितने ही आर्यसमाजियों ने इसकी सदस्यता से अपने नाम कटवा लिये। लाला लाजपतराय और भाई परमानन्द को समाज का सभासद मानने में बड़ा संकोच किया जाता था। लालाजी के देश-निर्वासन के दण्ड के बाद वे जब माण्डले से लाहौर वापिस आये तो अनारकली आर्यसमाज को उस समय समाज-मन्दिर में उनका

व्याख्यान कराने का साहस नहीं हुआ। इस परिस्थिति का विशद प्रतिपादन करते हुए श्री सत्यदेव विद्यालंकार ने लिखा है कि "स्वामी दयानन्द के लेखों का विपर्यास केवल सरकारी लोगों को प्रसन्न करने के लिए किया जाने लगा। सरकारी आज्ञा लिये बिना समाज के साप्ताहिक अधिवेशन नहीं हो सकते थे। देशभक्त दयानन्द को राजभक्त बताने की कोशिशें की गयीं।"

ऐसे संकटपूर्ण, संत्रस्त, विकट एवं सहज में नैतिकता से गिराने वाले समय में महात्मा मुंशीराम ने निःसंदेह अद्भुत साहस और प्रशंसनीय नेतृत्व का परिचय दिया। निराश और हताश आर्यसमाजियों में साहस और वीरता की भावनाओं का संचार किया। इस घोर संकट का धैर्यपूर्वक मुकाबला करने के लिए उन्होंने 'सद्धर्म प्रचारक' में अनेक ओजस्वी लेख लिखे। कुछ लेखों के शीर्षक इस प्रकार थे—"क्या आर्यसमाज वेद-प्रचारिणी सभा है या पोलिटिकल सोसायटी", "आर्यसमाज और स्वराज्य", "अब क्या करना चाहिए?" "आर्यसमाज और ब्रिटिश गवर्नमैण्ट"। लाला लाजपतराय को निर्दोष सिद्ध करने के लिए आपने कमर कस ली और कितने ही लेख इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए लिखे। लालाजी को निर्दोष सिद्ध करते हुए आपने यह भी लिखा—"यदि एक पल के लिए कल्पना कर लें कि लाला लाजपतराय राजद्रोही है तो आर्यसमाज उनके कार्यों के लिए उत्तरदाता हो सकता है? कौन नहीं जानता कि बाबू विपिनचंद्र पाल से बढ़कर शोर मचाने वाला कोई भी उग्रवादी नहीं है? यदि पंजाब के सरकारी कर्मचारियों की दलील ठीक है तो जिस ब्राह्मसमाज के विपिन बाबू मेम्बर हैं उसको भी आर्यसमाजियों की तरह दूषित अपराधी ठहराना चाहिए। सय्यद हैदर रजा से बढ़कर गवर्नमैण्ट के विरुद्ध किसने हाँकी है? फिर सब मुसलमानों को या कम-से-कम दिल्ली के मुसलमानों को बागी क्यों न समझा जाय? सनातनधर्म के रक्षक तिलक महाराज से बढ़कर एक्सट्रीमिस्ट कौन है जिनके सब चेले कहे जाते हैं? फिर क्यों नहीं सारे हिन्दू समाज को राजद्रोही समझा जाता?"

आर्यसमाजियों की उस समय की स्थिति के बारे में महात्मा मुंशीराम ने 'सद्धर्म-प्रचारक' में लिखा था—"यह बात छिपी हुई नहीं है कि पंजाब के सब डिप्टी कमिश्नरों ने अपने अधीन सब कर्मचारियों को समझा दिया है कि यदि वे आर्यसमाज के अधिवेशन में सम्मिलित होंगे तो उनको अपनी आजीविका से हाथ धोना होगा। राजपुरुषों ने एक ओर नौकरी को रखकर स्पष्ट कर दिया है कि यदि टकों से हाथ न धोना हो तो आर्यसमाज को छोड़ दो।" ऐसी विकट स्थिति में महात्मा जी ने आर्यसमाजियों की हिम्मत बढ़ाते हुए बड़े ओजस्वी शब्दों में लिखा था—"यदि तुमसे यह कहा जाये कि अपने परमात्मा और उसकी पवित्र वेदवाणी से विमुख होकर ही प्रजा के धर्म का पालन हो सकता है तो तुम स्पष्ट उत्तर दो कि जिस आत्मा पर संसार के चक्रवर्ती राजा का भी अधिकार नहीं हो सकता, उसको सांसारिक ऐश्वर्य पर न्यौछावर करने के लिए तुम उद्यत नहीं हो।" "आर्य पुरुषो, क्या तुमको परमात्मा पर सच्चा विश्वास है? यदि है तो दो हाथ वालों के खातिर सहस्रबाहु का क्यों अनादर करते हो? दो भुजा वाला जिस रोजी को छीन सकता है, क्या सहस्रबाहु उससे बढ़कर रोजी नहीं दे सकते?" "संसार का सुख क्षणिक है, धर्म सदा रहने वाला है इसलिए संसार को धर्म पर न्यौछावर करना ही आर्यत्व है।" "जो सरकारी नौकर वैदिक धर्म के गौरव को नहीं समझते,

उनको अपनी निर्बलता मानकर आर्यसमाज से अलग हो जाना चाहिये। जहाँ वेद और इंडियन पीनल कोड का विरोध हो वहाँ श्रुति को धर्म का मूल मानना, तथा जहाँ परमात्मा की आज्ञा का सांसारिक राजा की आज्ञा से विरोध हो, वहाँ परमात्मा की शरण लेना यदि अभीष्ट न हो तो फिर आर्यसमाज में भी रहकर क्या लाभ होगा ?"

संवत् १९६४ (१९०७ ई०) के आषाढ़ मास के 'सद्धर्म प्रचारक' में आपने लिखा था "मुझसे पूछा जाता है अब हम क्या करें ? जिले के हाकिम मुझे तंग कर रहे हैं। आर्य-समाज के साप्ताहिक जलसों में सम्मिलित होने से भी सरकारी नौकरों को जबर्दस्ती रोका जाता है। कायर पुरुषों ने इस डर से कई स्थानों में आर्यसमाज की सभासदी से त्याग-पत्र दे दिये हैं। वैदिक धर्म का प्रचार सर्वथा बन्द होता दीखता है। इसका इलाज क्या करें ? मेरे पास उत्तर एक ही है कि कायरों का वैदिक धर्म की सेवा के लिए उद्यत होने का क्या कार्य है ?" इस प्रकार आर्यों में नूतन प्राणशक्ति का संचार करते हुए आपने अपने सम्बन्ध में घोषणा की थी कि—"इससे अधिक मैं नहीं जानता हूँ, किन्तु अपने विषय में निश्चय कर लिया है कि जिस दिन राजकर्मचारियों के आक्रमणों के कारण वैदिक धर्म का पालन स्वतन्त्र देशों की सरताज ब्रिटिश गवर्नमैंट के राज्य में कठिन हो जायेगा, उसी दिन इस भूमि को त्यागकर किसी ऐसी गवर्नमैंट की शरण लूंगा, जहाँ मुझे अपने परमात्मा की भक्ति अपने विश्वास के अनुसार करने की आज्ञा हो और मैं अपनी तथा अपने साथियों की शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक उन्नति अपने सच्चे विश्वास के अनुसार कर सकूं।" अगले वर्ष फिर आपने लिखा था—"गत वर्ष मैंने एक बार यह विचार प्रकट किया था कि यदि अपने धर्म पर चलना भारतवर्ष में वैदिकधर्मियों के लिए कठिन हो जावे तो उनको किसी अन्य राज्य-शासन का आश्रय लेना चाहिए। किन्तु अब मेरी सम्मति सर्वथा बदल गयी है। मेरी सम्मति में दुःख-सुख सब इसी स्थान पर सहन करने चाहिएँ। इसी जन्मभूमि के लिए कष्ट सहना, इसी की सेवा में सारा पुरुषार्थ लगाना और इसी पर सर्वस्व न्यौछावर करना यदि हरएक भारत-वासी अपना धर्म समझ ले तो परमात्मा की भी उन पर असीम कृपा हो जाये। किन्तु यहाँ यही तो कमी है। हा ! धर्म के सच्चे प्रचारक कहाँ हैं ? सचाई की वेदी पर विश्वास से सिर रखने वाले कहाँ दिखाई देते हैं ? क्या आर्यावर्त की पवित्र भूमि धर्म-वीरों से शून्य ही हो गयी है ?"

महात्मा मुंशीराम इस विषय में न केवल आर्यसमाजियों को उनकी कायरता के लिए लताड़ रहे थे, अपने धर्म की रक्षा के लिए उनमें बलिदान एवं निर्भयता की भावना भर रहे थे, अपितु इसके साथ ही ब्रिटिश सरकार को भी चेतावनी दे रहे थे कि वह अपनी गलत नीतियों से राजभक्त आर्यसमाजियों को राजद्रोही बनने के लिए विवश न करे। एक लेख में उन्होंने लिखा था—"उस राजनीति पर मुझे शोक होता है जो करोड़ों बेजान खुशामदियों की खातिर सैकड़ों जानदार राजभक्तों को राजविद्रोह की ओर धक्का देना अपना कर्त्तव्य समझती है। जहाँ आर्यसमाज में दस-बीस ही ऐसे दृढ़ आर्य हैं, जो गवर्नमैंट के अन्तिम न्याय और उसके कुछ कर्मचारियों की अधमता में भेद कर सकते हैं। वहाँ हजारों वैसे ही साधारण पुरुष हैं जो सच्चे राजभक्त बनने के लिए सच्ची प्रजाभक्ति के दृश्य की प्रतीक्षा करते हैं।" "परमात्मा ने एक नृप को भी व्यर्थ नहीं बनाया और एक चींटी भी अपने अन्दर चेतनशक्ति रखने के कारण निन्दनीय नहीं। फिर क्यों

आर्यसमाज के प्रत्येक निवेदन का निरादर किया जाता है ? आर्यसमाजी सहन करना जानते हैं और इससे भी बढ़कर अत्याचारों को सहन करेंगे। किन्तु राज्य-प्रबन्ध को निर्विघ्न चलाने के लिए आवश्यक है कि लार्ड मिण्टो एक बार आर्यसमाज के अग्रणियों को बुलाकर उनसे खुली बातचीत करें। तब उनको पता चलेगा कि ब्रिटिश गवर्नमैण्ट का शत्रु कौन है और उससे किस प्रकार रक्षा हो सकती है।"

जोधपुर की समाज के मन्त्री को जब समाज का साइनबोर्ड तथा 'ओ३म्' का झण्डा उतारने के लिए कहा गया तो आपने उसको सलाह दी थी कि उस आज्ञा का पालन न किया जाय। यदि पाशविक शक्ति का प्रदर्शन करती हुई सरकार वैसा करे तो उसका प्रतिकार भी न किया जाय। दौलतराम के मुकद्दमे में आपने न केवल झाँसी आर्यसमाज को ही फटकारा था, अपितु संयुक्त प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा को भी ऐसी फटकार सुनायी थी कि अन्त में प्रतिनिधि सभा को इस मामले को अपने हाथ में लेना पड़ा था। उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त के एबटाबाद के समाज के प्रधान धनीराम के अदालत में निर्दोष साबित हो जाने पर भी उनको एक वर्ष के लिए सीमाप्रान्त से निर्वासित किये जाने वाले मामले को महात्मा मुंशीराम ने एक प्रचण्ड आन्दोलन का विषय बना दिया था। सरकार द्वारा आर्यसमाज के सदस्यों की एक सूची माँगने के सम्बन्ध में आपने सलाह दी थी—"वही पुलिस और तहसील वाले जो अपनी रिश्वत और स्याहीकारी (बुरे कारनामों) के कारण स्पष्टवक्ता आर्यसमाजियों से काँपा करते थे, आज जगह-जगह पर उनको धमकाने की चेष्टा करते हैं। जब और बस नहीं चलता तो सभासदों की सूची माँगने लगते हैं। मेरी सम्मति में आर्यसमाज के किसी मन्त्री को भी सभासदों की सूची नहीं देनी चाहिए।" कराची केस के समय आप ही की प्रेरणा से प्रतिनिधि सभा ने एक डिफैन्स फण्ड की स्थापना की थी। सरकार से मिलने के लिए डैपूटेशन ले जाने की बात का आपने तीव्र विरोध किया था और कहा था कि बिना बुलाये डेपूटेशन ले जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। आपने सरकार को बार-बार चुनौती दी कि आर्यसमाज के विरुद्ध जो आरोप हैं, उनकी खुली जाँच की जाय।

पटियाला अभियोग के बारे में महात्मा मुंशीराम द्वारा की गयी सेवायें आर्य-समाज के इतिहास में सदा स्मरण की जायेंगी। स्वास्थ्य गिरा होने पर भी आप पटियाला पहुँचे, लाहौर गये, आर्यसमाजियों को पटियाला के आर्य भाइयों के प्रति कर्त्तव्य-पालन के लिए सचेत किया। आदि से अन्त तक श्री रोशनलालजी के साथ मुकद्दमे में उपस्थित रहे। पैरवी का बहुत-सा काम भी स्वयं किया और डिफेन्स फण्ड के लिए आवश्यक चन्दा भी जमा किया। लाहौर के राष्ट्रवादी वकीलों और कौमी हमदर्दी का दावा करने वाले कॉलिज पार्टी के महारथियों के इनकार करने पर भी आपने हिम्मत नहीं हारी। इसके सम्बन्ध में आपने लिखा था—"लाहौर के प्रमुख वकील सर प्रतुलचन्द्र चटर्जी को ५००/- प्रतिदिन देने का वचन देकर मैंने उनको पटियाला का मुकद्दमा आर्यसमाज की ओर से लड़ने को कहा। पर लेडी चटर्जी ने उन्हें यह मुकद्दमा हाथ में नहीं लेने दिया। कुछ प्रमुख आर्यसमाजी वकीलों से भी प्रार्थना की गयी, पर उन्होंने भी बहानेबाजी करके टाल दिया। बाबू सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी की मार्फत सर ए० चौधरी से प्रार्थना की गयी। वे केवल पाँच दिन देने को तैयार हुए और आने-जाने के दिन मिलाकर १२५० रुपये प्रति-दिन माँगने लगे। केवल जालन्धर के राय बद्रीदास और लाहौर के लाला द्वारकादास ने

हमारा साथ दिया। इसी प्रकार दूसरी जगह लिखा था—"लाला लालचन्द तो जाने को तैयार थे, किन्तु उनके सम्बन्धी फँसे हुए थे और पटियाला में उनके विरुद्ध बड़ा पक्षपात था। मैं पहले प्रतुलचन्द्र के पास गया। उन्होंने साफ जवाब दे दिया। तब मैं और श्री रोशनलालजी रायबहादुर लालचन्द के पास गये। उन्होंने सोचने का समय माँगने पर भी बाद में इनकार कर दिया। फिर मैं रायबहादुर सुखदयालजी के पास गया। उन्होंने भी अस्वीकार किया। तब राय ठाकुरदासजी मुझको साथ लेकर भक्त ईश्वरदासजी एम० ए० एडवोकेट के पास गये। उन दिनों वे प्रादेशिक सभा के प्रधान थे। सोचने का समय माँगने के बाद यह लिख भेजा—"रामनारायणदास एम० ए० अभी डिवीजन जजी पर नियुक्त नहीं हुए हैं। यदि मैंने पैरवी की तो शायद उनको हानि पहुँचे। श्री भक्तजी को ५०० रुपया प्रतिदिन की फीस भी कह दी गयी थी। कॉलिज-दल ने पटियाला केस के लिए डिफेन्स कमेटी बनाने में साथ देने से भी इनकार किया।"

पटियाला से आर्य भाइयों को निर्वासित किये जाने पर उनको पहला आश्रय महात्मा मुंशीराम ने गुरुकुल में दिया। सर्वश्री नन्दलाल, मुरारीलाल और लक्ष्मणदास सरीखे अनथक सेवक और कार्यकर्त्ता गुरुकुल काँगड़ी को इन निर्वासित आर्य पुरुषों में से ही मिले थे। इसके बाद पटियाला में महाशय रौनकराम पर मुकद्दमा चलने पर भी महात्माजी ने खूब आन्दोलन किया। अपना अमूल्य समय और हजारों रुपया लगाकर आपने **आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स** नामक पुस्तक श्री रामदेवजी की सहायता से तैयार की। सिविल एण्ड मिलिटरी गजट में प्रकाशित आर्यसमाज-विरोधी लेखों के युक्ति-युक्त तर्कपूर्ण उत्तर दिये। लाहौर के ३१वें, ३२वें वार्षिकोत्सव पर दिये गये आपके भाषण आर्यसमाज के इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेंगे। रक्षा के इन साधनों के अतिरिक्त महात्माजी का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य यह था कि आपने आर्यसमाजियों को घोर विपत्ति तथा प्रबल संकट की घड़ी में भी धैर्य और उत्साह बँधाये रखा। 'सद्धर्म प्रचारक' के लेखों द्वारा आर्य पुरुषों को उनके कर्त्तव्य का बोध कराते रहे, वैदिक सिद्धान्तों का पालन अविचल निष्ठा से करने के लिए अपील और समुचित पथ-प्रदर्शन निर्भीकतापूर्वक करते रहे।

(४) आर्यसमाज राजनैतिक संस्था नहीं है

१९०९ ई० में संयुक्त प्रान्त की आर्य-प्रतिनिधि सभा के मन्त्री तथा बाद में वर्षों तक प्रधान-पद को सुशोभित करनेवाले श्री मदनमोहन सेठ ने तत्कालीन भारत-मन्त्री लार्ड मार्ले को सम्बोधित करके अंग्रेजी में दो पत्र पहले गुरुकुल काँगड़ी से प्रकाशित होने वाली वैदिक मैगजीन में लिखे और बाद में इन्हें पुस्तिका के रूप में सद्धर्म प्रचारक प्रेस, गुरुकुल काँगड़ी से निम्नलिखित नाम से प्रकाशित किया—"The Arya Samaj, A Political Body being an Open Letter to Viscount Morley of Blackburn, His Majesty, Secretary of State for India.

श्री सेठ उस समय इलाहाबाद हाईकोर्ट के बड़े प्रतिष्ठित वकील थे। बाद में वे प्रान्तीय सरकार के न्यायिक विभाग की सेवा में अनेक उच्च पदों पर कार्य करते रहे। विधिवेत्ता होने के कारण उन्होंने इस पुस्तक को आर्यसमाज के केस में एक चतुर वकील की भाँति बड़े प्रभावशाली एवं युक्ति-युक्त प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया। उदार

विचार रखनेवाले जॉन मार्ले के लेखों के अवतरणों से तथा विभिन्न प्रमाणों से इस बात को पुष्ट करने का प्रयास किया कि आर्यसमाज एक राजनैतिक संस्था नहीं है और उस पर राजद्रोह के जो आरोप लगाये जाते हैं, वे सर्वथा निराधार और निर्मूल हैं और आर्यसमाजी होने के कारण आर्यों पर जो अत्याचार किये जा रहे हैं, वे शीघ्र ही बन्द होने चाहिएँ। यह पुस्तक विशुद्ध रूप से ग्रेट ब्रिटेन में भारत के सर्वोच्च अधिकारी और ब्रिटिश जनता के समक्ष आर्यसमाज का पक्ष प्रस्तुत करने के लिए लिखी गयी थी।

इस पुस्तक की भूमिका महात्मा मुंशीराम ने लिखी थी और इसके आरम्भ में ही उन्होंने लाला लाजपतराय के निर्वासन के बाद के उन अन्धकारपूर्ण दिनों की याद दिलायी थी, जब कोई ऐसा अपराध नहीं था जो आर्यसमाज के विरोधी उसके नेताओं पर न मढ़ते हों। आर्यसमाज के विरोधी—पौराणिक, हिन्दू, मुसलमान तथा खालसा और ईसाई मिशनरियों ने इस समय आर्यसमाज से बदला लेने का अच्छा अवसर समझा। दुर्भाग्यवश १९०७ ई० में भारत के अंग्रेज १८५७ ई० की अर्द्ध-शताब्दी के अवसर पर द्वितीय सैनिक-विद्रोह की आशंका से अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठे और आर्यसमाजी सरकारी कर्मचारियों को भयभीत करने के लिए अनेक समाज-विरोधी आज्ञाओं को प्रसारित करने लगे। भारत के प्रधान सेनापति लार्ड किचनर जैसे साहसी और ठण्डे दिमागवाले व्यक्ति ने भी ब्रिटिश छावनियों में आर्यसमाजियों के प्रवेश पर पाबन्दी लगा दी। इस विषय में महात्मा मुंशीराम का यह स्पष्ट मत था कि ब्रिटिश सरकार को रानी विक्टोरिया द्वारा की गयी घोषणा के अनुसार धार्मिक सहिष्णुता और तटस्थता की नीति का अवलम्बन करना चाहिए और उन्होंने भारत के पहले वायसराय लार्ड केनिंग द्वारा ११ दिसम्बर १८५७ ई० को लार्ड ग्रेनविले को लिखे पत्र का स्मरण करते हुए कहा था कि—"भारत में ब्रिटिश शासन की स्थिरता को बनाये रखने के लिए भारतीयों पर विश्वास करना आवश्यक है, क्योंकि मुट्ठीभर अंग्रेज भारतीयों की सद्भावना, विश्वास और सहयोग के बिना इस देश का शासन नहीं कर सकते हैं।"

किन्तु यह बड़े दुर्भाग्य की बात थी कि उपर्युक्त घोषणाओं और आश्वासनों के बाद भी भारत में आर्यसमाजियों का दमन और उत्पीड़न हो रहा था। इसलिए महात्मा मुंशीराम के मत में यह आवश्यक था कि इस समय आर्यसमाजी शान्ति-संस्थापक (Peace Maker) के नाम से प्रसिद्ध, परमश्रेष्ठ ब्रिटिश सम्राट् एडवर्ड सप्तम से इस विषय में सीधी अपील भारत-मन्त्री के माध्यम से करें, ताकि भारत में आर्यसमाज का दमन बन्द हो सके। यदि भारतमन्त्री लार्ड मार्ले वर्तमान स्थिति की गम्भीरता के अनुरूप कुछ आवश्यक कार्यवाही कर सकें, प्रधान सेनापति को प्रेरित कर सकें कि वे सेना में आर्यसमाजियों पर लगायी गयी पाबन्दियों को रद्द कर दें और नागरिक सरकारी अधिकारी आर्यसमाज के प्रति तटस्थता की नीति का अवलम्बन करें तो लाखों भारतवासी इसके लिए सम्राट् एवं मन्त्री के कृतज्ञ होंगे और भारत में ब्रिटिश साम्राज्य सुस्थिर और सुदृढ़ होगा। किन्तु जब तक ऐसा नहीं होता, आर्यों को सब प्रकार के भीषण कष्ट सहने—जेल तथा अंडेमान जाने के लिए तैयार रहना चाहिए।

श्री सेठ ने अपनी पुस्तक के आरम्भ में इस बात पर खेद प्रकट किया कि जिस समय सब भारतीय लार्ड मार्ले द्वारा प्रस्तावित सुधार-योजना पर हर्ष एवं उल्लास प्रकट कर रहे हैं, उस समय उन्हें यह बताने का दुःखदायी कर्त्तव्य पूरा करने के लिए

बाधित होना पड़ रहा है कि भारत में आर्यसमाजियों पर भीषण धार्मिक अत्याचार हो रहे हैं और उन पर राजद्रोह का सन्देह किया जा रहा है। इस प्रसंग में उन्होंने आर्यसमाज के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए कहा कि यह प्राचीन आर्य-धर्म की पुरानी पवित्रता को बनाये रखने के लिए हिन्दू-समाज की हानिकर रूढ़ियों तथा कुरीतियों के संशोधन में लगा हुआ है और इसी दृष्टि से स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश की रचना की थी। स्वामीजी ब्रिटिश सरकार के प्रति पूरी राज-भक्ति और निष्ठा रखते थे और उनके बाद उनके अनुयायियों ने भी इस परम्परा को बनाये रखा है। इस विषय में उन्होंने स्वामीजी के ग्रन्थों में मैडम ब्लैवट्स्की तथा पण्डित लेखराम के ग्रन्थों से कुछ प्रमाण दिये। इनका पहले उल्लेख किया जा चुका है। आर्यसमाज के वर्तमान प्रमुख नेता लाला साईंदास, लाला हंसराज, महात्मा मुंशीराम आदि भी राजनैतिक मामलों से सर्वथा पृथक् रहते हैं।

इसके बाद इस पुस्तक में आर्यसमाज को राजद्रोही बतलाये जाने वाले—गोरक्षा, गुरुकुल शिक्षापद्धति, अन्य मतावलम्बियों की कटु आलोचना, शुद्धि आदि के कारणों की विस्तृत आलोचना की गयी थी। इन पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। केवल श्री सेठ द्वारा प्रस्तुत कुछ नवीन प्रमाणों का ही संक्षिप्त उल्लेख किया जायेगा। आर्यसमाज द्वारा ईसाइयों और मुसलमानों की आलोचना की युक्ति का निराकरण करते हुए उन्होंने पुराने इतिहास के प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कहा कि इस प्रकार की कटु आलोचना शुरू करने वाले ईसाई और मुसलमान थे। वे अपने भाषणों तथा पुस्तिकाओं में हिन्दू-धर्म की बड़ी कड़ी और कटु आलोचना किया करते थे। ईसाई मिशनरियों की यह आलोचना पिछली शताब्दी के आरम्भ में ऐसी उग्र सीमा तक पहुँच गयी थी कि सरकार को इसमें हस्तक्षेप करना पड़ा। इस विषय में श्री एस० एम० मित्रा ने अपने एक लेख 'भारत में प्रेस' (The Press in India) में लिखा था—"भारत में १८०७ ई० से १८१३ ई० तक गवर्नर जनरल रहनेवाले लार्ड मिण्टो को अभी कलकत्ता में आये दो महीने भी नहीं हुए थे कि उन्होंने सरकार के सचिव को ८ सितम्बर १८०७ ई० को यह आदेश दिया कि वे डेनमार्क के शासन में विद्यमान सिरामपुर की बस्ती में रहनेवाले अंग्रेज मिशनरियों को यह पत्र लिखे कि वे अपना मुद्रणालय वहाँ से कलकत्ता ले आयें ताकि इसमें छपनेवाली रचनाओं सर ब्रिटिश सरकार के अधिकारियों का नियन्त्रण स्थापित किया जा सके, क्योंकि सिरामपुर के प्रेस से मिशनरियों द्वारा हिन्दू तथा मुसलिम धर्मों की आलोचना करने के लिए छापी गयी और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रदेशों में प्रसारित की जानेवाली पुस्तिकाएँ सरकार की दृष्टि में बड़ी धार्मिक उत्तेजना, भय और भीषण परिणामों को उत्पन्न करने वाली हैं। सरकार ने इस देश के विभिन्न धर्मावलम्बियों को अपने धर्म का अव्याहत रूप से पालन करने के लिए आवश्यक संरक्षण प्रदान करने की जो गारण्टी दी है, ये उसके सर्वथा प्रतिकूल हैं।" इससे यह स्पष्ट है कि हिन्दुओं पर भद्दे आक्षेपों की परिपाटी ईसाइयों ने शुरू की थी। उसका अनुसरण मुसलमानों और पौराणिकों ने भी किया। २ सितम्बर १९०१ ई० को पण्डित गोपीनाथ द्वारा लाला मुंशीराम पर चलाये गये अभियोग का निर्णय देते हुए सिटी मैजिस्ट्रेट श्री एच० कैलवर्ट ने अपने निर्णय में लिखा था कि पण्डित गोपीनाथ ने स्वीकार किया है कि—"वह तब से आर्यसमाज के विरुद्ध सरकार को भड़काने में लगा हुआ है जब सरकार ने आर्यसमाज पर अश्लील आक्षेप करने के लिए उस पर मुकद्दमा चलाया था।"

इसके अतिरिक्त श्री सेठ ने कुछ अन्य प्रमाणों के आधार पर यह भी सिद्ध किया कि पिछली शताब्दी के मध्य में ईसाई इस बात का पूरा प्रयास कर रहे थे कि वे भारत के सभी हिन्दुओं को ईसाई बना लें। प्रथम वायसराय लार्ड केनिंग के जीवनी-लेखक सर एच० एस० कनिंघम ने यह लिखा है कि "इस समय भारत में बहुत-से अंग्रेज ऐसे थे जो भारत की जनता का ईसाई बनना असम्भव कार्य नहीं समझते थे और इसे एक कर्त्तव्य के रूप में करने के लिए प्रयास करते थे। एक सैनिक बारकपुर में अपनी रेजीमेण्ट के सिपाहियों में ईसाइयत का खुल्लमखुल्ला प्रचार करता था। एक अन्य ब्रिटिश अधिकारी ने अपने जिले के मुख्यालय के प्रधान राजमार्ग पर खड़े किये गये स्तम्भों पर ईसाई धर्म की सुप्रसिद्ध प्रार्थना (Lord's Prayer) को उत्कीर्ण करवाया था। इस समय मिशनरियों को इस विषय में बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं···इस विषय में यह उल्लेखनीय तथ्य है कि जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी के संचालकों ने लार्ड केनिंग की गवर्नर-जनरल के रूप में उसकी नियुक्ति के अवसर पर उनके स्वागत में प्रीतिभोज का आयोजन किया तो सुप्रसिद्ध ब्रिटिश राजनीतिज्ञ लार्ड पामर्स्टन ने ऐसी भाषा का प्रयोग किया जिस की यह व्याख्या की जा सकती थी कि ब्रिटिश सरकार की एक बड़ी योजना भारतीयों को ईसाई बनाने की है। इस अवसर पर पामर्स्टन ने कहा था—शायद यह हमारा सौभाग्य होगा कि हम असंख्य भारतीयों को केवल मानवीय ज्ञान की अपेक्षा अधिक उदात्त एवं ऊँचे उपहार प्रदान करें।"[1]

१८५७ ई० के सैनिक विद्रोह का एक कारण अंग्रेजों द्वारा अपनायी गयी भारतीयों को ईसाई बनाने की नीति थी। इससे भारतीयों में गहरा रोष तथा असन्तोष था। इसे दूर करने के लिए १८५८ ई० में ब्रिटिश साम्राज्ञी विक्टोरिया ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी से भारत के शासन की बागडोर सम्भालने के बाद धार्मिक मामलों में तटस्थता की तथा धर्म, जाति या नस्ल के आधार पर प्रजाजनों में किसी प्रकार का भेद-भाव न करने की नीति उद्घोषित की। ईसाई मिशनरियों को दिया जाने वाला राजकीय संरक्षण और प्रोत्साहन की पुरानी नीति का परित्याग कर दिया गया। १८७५ ई० में आर्यसमाज की स्थापना होने के बाद इसने न केवल ईसाई मिशनरियों के प्रचार का प्रभावशाली प्रतिरोध किया, अपितु शुद्धि की व्यवस्था द्वारा आर्यसमाज ने ईसाई तथा मुसलमान बनाये गये हिन्दुओं को पुनः अपने पुराने धर्म में दीक्षित करना शुरू कर दिया। इससे ईसाई मिशनरी और मौलवी आर्यसमाज को अपने अभीष्ट उद्देश्य की प्राप्ति में बाधक समझने लगे और उन्होंने सरकारी अधिकारियों के कान में यह भरना शुरू किया कि आर्यसमाज राजद्रोही संस्था है और इसका दमन किया जाना चाहिए।

इसके बाद श्री सेठ ने आर्यसमाजियों के उत्पीड़न के उदाहरण देते हुए श्री गुलाबचन्द, लक्ष्मणराव शर्मा, पण्डित दौलतराम के मामलों तथा जोधपुर की घटनाओं का विस्तारपूर्वक उल्लेख करते हुए इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि यद्यपि आर्यसमाज प्रेम और भक्ति का धर्म है, सब व्यक्तियों को मित्र की दृष्टि से देखने पर बल देता है (सर्वाणि भूतानि मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे का उपदेश देता है), फिर भी उसके

---

१. वैदिक मैगजीन, खण्ड-२, संख्या-६, पृ० ४१-४२ में सर कनिंघम द्वारा लिखित लाइफ ऑफ अर्ल कैनिंग से उद्धृत।

विरोधी उत्पन्न हो गये हैं और उसे बदनाम करने पर तुले हुए हैं। इसके परिणामस्वरूप आर्यसमाजी सरकारी दमन का शिकार हो रहे हैं।

इस प्रकार आर्यसमाज की स्थिति स्पष्ट करने के बाद अन्त में सरकार को आर्यों की राजभक्ति का पूरा आश्वासन देते हुए कहा गया था—"हम पर भले ही (सरकार द्वारा वर्तमान स्थिति की तुलना में) सैकड़ों गुना अत्याचार क्यों न किये जाएँ, हम ऐसे अत्याचार करने वाली ब्रिटिश सरकार को राजभक्ति से विरत होने की धमकी नहीं देंगे।" ब्रिटिश राजनीतिज्ञों से अपील करते हुए कहा गया था कि ब्रिटिश साम्राज्य के हित की दृष्टि से आर्यसमाजियों का सहयोग प्राप्त करना वांछनीय है, क्योंकि १८९१ ई० की संयुक्त प्रान्त की जनगणना के अधीक्षक श्री डी० सी० बेल्ली(D. C. Bellie)की दृष्टि में आर्यसमाज अपने अनुयायियों की संख्या से कहीं अधिक महत्त्व रखता है, क्योंकि इसके अधिकांश अनुयायियों की बुद्धिमत्ता का स्तर बहुत ऊँचा है और उसने प्रचार के बड़े सक्रिय साधन अपनाये हैं। भारतीय ईसाइयों के बाद इनमें ही शिक्षा का सबसे अधिक प्रसार है; पुरुषवर्ग में ये ईसाइयों से भी अधिक शिक्षित हैं। क्या ऐसे व्यक्तियों को लोककल्याणकारी कार्यों में प्रोत्साहित किया जाना चाहिए या उन्हें मूक, नाराज तथा हतोत्साहित बनाये रखना ठीक होगा?" इस विषय में उन्होंने मार्ले द्वारा दिये गये एक ऐतिहासिक प्रमाण को बड़े ही उपयुक्त एवं सटीक ढंग से उद्धृत किया है। इसमें मार्ले ने यह कहा था कि फ्रांस के राजा लुई १४वें ने नांतेस के आदेश(Edict of Nantes)को रद्द करके तथा इससे बड़ा १७२४ ई० का कानून बनाकर प्रोटेस्टेण्टों को फ्रांस छोड़कर जाने के लिए विवश किया और फ्रांस की राज्यक्रान्ति के समय पेरिस इनके बहुमूल्य नेतृत्व और कर्तृत्व से वञ्चित हो गया। आर्यसमाज भी धार्मिक बुराइयों के विरुद्ध प्रतिवाद करने वाला एक ऐसा समुदाय है। ब्रिटिश सरकार को उसके सहयोग से वंचित होकर बड़ी हानि उठानी पड़ेगी।

(५) आर्यसमाजी पत्रों की भूमिका

इस समय आर्यसमाज के मासिक और साप्ताहिक समाचारपत्रों ने भी राजद्रोह के बारे में आर्यसमाज पर किये जाने वाले सरकारी सन्देहों को दूर करने का पूरा प्रयास किया और ब्रिटिश सरकार को आर्यसमाज की राजभक्ति का पूरा विश्वास दिलाया। इस विषय में लाला लाजपतराय की गिरफ्तारी के बाद बाबू आनन्दस्वरूप ने कानपुर से प्रकाशित होने वाले मासिक पत्र 'आर्यसमाचार' के मई १९०७ ई० के अंक में लिखा था—"आर्यसमाज का राजनीति से कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। समाज के कुछ विरोधियों ने पहले भी आर्यसमाज को बदनाम करने का प्रयास किया था, किन्तु उस समय इन आरोपों की ओर किसी का ध्यान नहीं गया था। किन्तु हाल में पंजाब के उपद्रवों तथा लाला लाजपतराय के देश-निर्वासन ने आर्यसमाज के विरोधियों को इस बात का पर्याप्त अवसर दे दिया है कि वे इन पर राजद्रोह फैलाने के आरोप लगायें…। अतः अब यह आवश्यक हो गया है कि इस विषय में समाज की स्थिति स्पष्ट कर दी जाय और पंजाब के अफसरों के मनों में दुर्भावनापूर्ण नीति से उत्पन्न किये गये सन्देहों तथा आशंकाओं को सदा के लिए मिटा दिया जाय।

"हम भारत में किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय की निष्ठा में सन्देह नहीं करते हैं।

हमारा विश्वास है कि प्रत्येक सम्प्रदाय ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्त है। किन्तु यह बात निश्चित रूप से अतीव शोचनीय है कि किसी सम्प्रदाय पर राजद्रोह का आरोप लगाया जाए। यह और भी अधिक आश्चर्यजनक है कि सर डेंजिल इब्बटसन जैसे उत्तर-दायी व्यक्ति झूठी दुर्भावनापूर्ण रिपोर्टों के आधार पर आर्यसमाज के सदस्यों को राजद्रोही समझें। हम दृढ़तापूर्वक यह कहना चाहते हैं कि ऐसी रिपोर्टें कोरे झूठ हैं। ऐसी रिपोर्टों से ठगे जाने वाले ब्रिटिश अधिकारियों से हम यह प्रार्थना करते हैं कि वे इस मामले की खुली या गुप्त जाँच स्वयमेव व्यक्तिगत रूप से करने की कृपा करें।

"आर्यसमाज का इतिहास सूचित करता है कि इसके संस्थापक का इसके अति-रिक्त कोई उद्देश्य नहीं था कि धार्मिक और सामाजिक सुधार किये जायें, सार्वभौम धर्म का प्रचार किया जाय, दलबन्दी की भावना को दूर किया जाय। आर्यसमाज के नियम इसके सदस्यों को राजनीति में भाग लेने से रोकते हैं। आर्यसमाज वस्तुतः ब्रिटिश सरकार का एक सबसे बड़ा वरदान है। यदि ब्रिटिश राज्य न होता तो इसका विकास कभी न हो पाता। अतः यह सर्वथा स्वाभाविक है कि समाज ब्रिटिश शासन के स्थायित्व और स्थिरता की कामना करे। समाज ने सदैव समस्याओं के धार्मिक एवं सामाजिक पहलुओं पर विचार किया है। वह जानबूझकर राजनीति से पृथक् रहा है। उदाहरणार्थ वह सब प्रकार के मादक द्रव्यों का विरोध करता है, किन्तु वह सरकार की आबकारी की नीति का कभी विरोध नहीं करता है।"

इसके बाद लेखक ने इस विषय में कुछ अन्य युक्तियाँ प्रस्तुत करते हुए कहा—"समाज की सब कार्यवाहियाँ खुले रूप में होती हैं।" यह किन्हीं गुप्त सिद्धान्तों की शिक्षा में विश्वास नहीं रखता है और न ही इनकी किसी को दीक्षा देता है। यह योग्यतम की विजय के सिद्धान्त को मानता है और इस कारण यह विश्वास रखता है कि ब्रिटिश राष्ट्र भारतीय राष्ट्र से अधिक योग्यतम एवं उपयुक्त होने के कारण हम पर शासन का स्वाभाविक अधिकार रखता है।"

इसके बाद लेखक ने यह प्रश्न उठाया है कि आर्यसमाज राजनीति से सम्बन्ध नहीं रखता है तो इसके लाला लाजपतराय और अजीतसिंह जैसे सदस्य राजनीति में क्यों भाग लेते हैं? यह प्रश्न उस समय ब्रिटिश अधिकारियों को बड़ा परेशान कर रहा था। इसका उत्तर देते हुए इस लेख में कहा गया था कि—"अजीतसिंह आर्यसमाजी नहीं, किन्तु स्वतन्त्र विचारक हैं। लाला लाजपतराय आर्यसमाजी हैं। उन्होंने समाज की जो सेवाएँ की हैं, उनके लिए हमें उन पर गर्व है। किन्तु एक व्यक्ति-विशेष से यह सामान्य परिणाम निकालना ठीक नहीं है कि आर्यसमाज राजद्रोही संस्था है।"

अन्त में इस लेख में यह परिणाम निकाला गया था कि—"आर्यसमाज का कोई भी सदस्य भारत में ब्रिटिश शासन की समाप्ति के विचार को मन में नहीं ला सकता है। अपने-आप में यह विचार बड़ा हास्यास्पद है। लालाजी जैसा उच्च शिक्षाप्राप्त सुविज्ञ व्यक्ति इतना बेवकूफ नहीं हो सकता है कि वह ऐसे हवाई किले बनाये···। लालाजी के साथ जो अन्याय किया गया है उसके लिए हमारी सहानुभूति उनके साथ है। यह उनके राष्ट्रीय विचारों के कारण नहीं है, अपितु इसलिए है कि हम उनकी बहुमूल्य सेवाओं से वञ्चित हो गये हैं और मनुष्य स्वाभाविक रूप से दुःख-पीड़ित व्यक्तियों से सहानुभूति

रखता है।"[1]

उपर्युक्त लेख लालाजी की गिरफ्तारी के फौरन बाद लिखा गया था। इसके लिखने वाले बाबू आनन्दस्वरूप तथा उनके वंशजों ने कानपुर, देहरादून तथा उत्तरप्रदेश के अन्य शहरों में डी० ए० वी० स्कूलों तथा कॉलिजों का जाल बिछा दिया था। वे सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता डॉक्टर ब्रजेन्द्रस्वरूप के पिता थे और तत्कालीन आर्य-जगत् में बड़ी प्रतिष्ठा रखते थे। उनकी ओर से आर्यसमाज के बारे में लिखा गया यह लेख तत्कालीन प्रमुख आर्यसमाजियों की मनोवृत्ति और चिन्तन को बड़े स्पष्ट रूप में प्रतिपादित करता है और इसकी पुष्टि अन्य आर्यसमाजी पत्रों के लेखों से भी होती है। फर्रुखाबाद से प्रकाशित होने वाले **भारत सुदशा प्रवर्तक** में पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा ने जून १९०७ ई० के अंक में यह लिखा था कि—"आर्यसमाज का राजद्रोह से सम्बन्ध नहीं है। पंजाब में कुछ दुष्ट व्यक्तियों ने ऐसी भ्रान्तियाँ उत्पन्न करने का प्रयास किया है। उन्हें दूर करने के लिए पंजाब के लेफ्टीनैण्ट गवर्नर सर डेंजिल इब्बटसन से आर्यसमाज का एक शिष्ट-मण्डल मिला है। यह सन्तोष की बात है कि इससे लेफ्टिनैण्ट गवर्नर की भ्रान्तियाँ दूर हो गयी हैं।"[2]

संयुक्त प्रान्त की आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रमुख पत्र **आर्यमित्र** ने पंजाब की घटनाओं पर टिप्पणी करते हुए अपने १६ जून १९०७ ईसवी के अंक में लिखा था—"आर्यसमाज का वर्तमान राजनीति तथा इसके आन्दोलन से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका उद्देश्य विशुद्ध रूप से धार्मिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी कार्य करना है। जो इसे राजनैतिक संस्था समझते हैं, वे न केवल इसके नियमों से अनभिज्ञ हैं, अपितु इस समाज के धार्मिक सिद्धान्तों को नहीं जानते हैं।" इसके बाद इस पत्र ने आर्यसमाज को राजनैतिक संस्था न समझने के कुछ अन्य प्रमाणों और युक्तियों का उल्लेख करते हुए कहा—"सरकार की जनगणना-रिपोर्टों, एनुअल रजिस्टर, थैकर की डायरेक्टरी तथा आर्यसमाज का साहित्य इस बात का प्रमाण हैं कि आर्यसमाज धार्मिक संस्था है, राजनैतिक नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि लाला हंसराज साहनी, लाला अमोलकराम तथा कुछ अन्य व्यक्ति आर्यसमाज के सदस्य होते हुए भी राजनीति में भाग लेते हैं, किन्तु उन्होंने आर्यसमाज के प्रतिनिधि के रूप में किसी राजनैतिक संस्था में अथवा कांग्रेस में भाग नहीं लिया है। अतः आर्यसमाज उनके द्वारा प्रकट किये गये राजनैतिक विचारों और भाषणों के लिए उसी प्रकार उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है, जैसे हिन्दू समाज को तिलक के विचारों के लिए जिम्मेवार नहीं ठहराया जा सकता है अथवा 'भारत धर्म महामण्डल' को इसके अध्यक्ष दरभंगा के महाराजा द्वारा वायसराय की परिषद् में पेश किये गये किसी बिल का विरोध करने के लिए। क्या वायसराय द्वारा पास किया गया कानून ईसाई धर्म का अंग समझा जा सकता है? यदि ऐसा नहीं है तो आर्यसमाज के किसी एक सदस्य के विचारों को आर्यसमाज के विचार मानना अथवा इनके आधार पर इसे राजनैतिक संस्था मानना गलत है।"[3]

---

१. सिलेक्शन्स फ्रॉम वर्नाकुलर न्यूजपेपर्स यू० पी० १९०७, पृ० ८४९-५०
२. वही, पृ० ८५०
३. वही, पृ० ७२९

इसी युक्ति को पुनः २४ जून १९०७ ई० के अंक में दुहराते हुए 'आर्यमित्र' ने अपने अग्र लेख में लिखा था कि—"आर्यसमाज के कुछ सदस्यों द्वारा राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेने से इसे राजनैतिक कहना ठीक नहीं है। भारत-मन्त्री और वायसराय ईसाई हैं। क्या इससे ईसाइयत को राजनैतिक आन्दोलन माना जा सकता है?"[1] पीलीभीत से छपने वाले आर्यसमाजी पत्र 'रियाजेफैज' ने इसका खण्डन करते हुए २८ जून १९०७ ई० के अंक में एक नवीन मनोरंजक युक्ति प्रस्तुत की थी। इसने लिखा था[2]—"समाज का वर्तमान राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि राजनीति कूटनीति और कपटनीति को वैध समझती है और यह बात वैदिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल है।" इसी पत्र ने आर्यसमाज पर ऐसा आरोप लगाने का कारण स्पष्ट करते हुए लिखा था—"धार्मिक क्षेत्र में समाज को मिली सहायता से अन्य धर्मों को ईर्ष्या होने लगी है, अतः वे आर्यसमाज के विरुद्ध अधिकारियों के कान भरने लगे हैं और पंजाब में राजनैतिक अशान्ति और उपद्रवों के लिए आर्यसमाज को उत्तरदायी ठहराने लगे हैं।"[3] इस विषय में उन्होंने महात्मा मुंशीराम के पत्र को उद्धृत किया था।

इस समय कुछ सरकारी कर्मचारी उच्च अधिकारियों की कृपा पाने के लिए अपनी ओर से कुछ ऐसे आदेश संयुक्त प्रान्त में निकालने लगे थे, जिनमें विद्यार्थियों को आर्यसमाज के आन्दोलन से पृथक् रखने का आदेश स्कूलों के प्रधानाचार्यों को दिया गया था। आगरा से छपने वाले आर्यमित्र ने १६ जुलाई १९०७ ई० के अंक में यह लिखा था कि—"आर्यसमाज की उन्नति उस ब्रिटिश सरकार के संरक्षण में हुई है जो धर्म के मामले में सहिष्णुता की नीति का अवलम्बन करती है, अतः आर्यसमाज ब्रिटिश सरकार का समर्थन करती है। किन्तु कुछ स्वार्थी लोगों ने सरकार के कान भरे हैं। समाज को बदनाम करने के लिए झूठी अफवाहें उड़ायी हैं। सरकार ने अब तक विद्यार्थियों को आर्यसमाज से पृथक् रहने के लिए कोई आदेश नहीं निकाले हैं। इस दशा में यह समझ नहीं आता है कि मुरादाबाद नार्मल स्कूल के विद्यार्थियों को समाज से अलग रहने के लिए क्यों आदेश जारी किये गये हैं?"[4]

इस समय कुछ आर्यसमाजी पत्र सरकारी प्रकोप से बचने के लिए भारतीयों को राजनैतिक आन्दोलन बन्द करने का परामर्श देने लगे थे। इस विषय में १५ जून १९०७ ई० के अंक में आगरा से छपने वाले उर्दू आर्यसमाजी पत्र **मुसाफिर** ने लिखा था—"उत्तरी भारत में लाला लाजपतराय के देश-निर्वासन के विरोध में सार्वजनिक सभाएँ न करने से स्पष्ट है कि जनता की सहानुभूति लाला लाजपतराय के साथ नहीं है। आर्यसमाजी शुरू से ही इस बात का प्रचार करते हैं कि भारत अभी तक राजनैतिक आन्दोलन के लिए तैयार नहीं है। वे कांग्रेस को कहते रहे हैं कि वह राजनैतिक सुधारों के लिए निरर्थक आन्दोलन न चलाये। भारत की वर्तमान परिस्थिति तथा ब्रिटिश सरकार की न्यायपरायणता को देखते हुए आर्यसमाजी पुनः भारतीयों को सलाह देते हैं कि वे सब

---

१. वही, पृ० ७६९
२. वही, पृ० ७९७
३. वही, पृ० ७४७
४. वही, पृ० ७२९

प्रकार के राजनैतिक आन्दोलन बन्द कर दें; दृढ़ संकल्प के साथ भारत की धार्मिक, सामाजिक तथा नैतिक दशा में सुधार का महान् प्रयास आरम्भ करें ताकि भारत की भावी पीढ़ियाँ राजनैतिक सुधारों को सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकें।"[1]

आर्यसमाजी पत्रों द्वारा लिखे जाने वाले ऐसे राजभक्तिपूर्ण लेखों ने भी सरकारी सन्देहों का निवारण करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

---

१. वही, पृ० ७२९

सोलहवाँ अध्याय

आर्यसमाज के क्षितिज पर काली घटाएँ

(१) आर्यसमाज और उसके निंदक

पटियाला अभियोग के अवसर पर सरकारी वकील ग्रे ने वहाँ की आर्यसमाज के सदस्यों पर राजद्रोह का आरोप लगाते हुए अपना जो प्रारम्भिक भाषण दिया था, उसे उस समय के सभी एंग्लो-इण्डियन पत्रों—लाहौर के **सिविल एण्ड मिलिटरी गजट,** संयुक्त प्रान्त के **पायोनियर** तथा अन्य अखबारों ने बड़ी प्रमुखता और विस्तार के साथ छापा था। इससे आर्यसमाज के राजद्रोही संस्था होने के आरोप का व्यापक रूप से देश-विदेश में प्रचार हुआ। सरकारी अधिकारियों में आर्यसमाज के प्रति सन्देह अधिक पुष्ट और सुदृढ़ होने लगे। आर्यसमाज के विरोधी आर्यसमाज को खुल्लमखुल्ला बदनाम करने लगे। यदि यह मुकद्दमा पूरा चलता और अभियुक्तों को उन पर लगाये गये आरोपों के निराकरण और सफाई का अवसर दिया जाता; सफाई-पक्ष के वकील ग्रे द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रमाणों और तर्कों का युक्तियुक्त एवं प्रभावशाली खण्डन करते तो जनता एवं सरकारी अधिकारियों को दूसरा पक्ष भी पता लगता। किन्तु इस मुकद्दमे के सरकार द्वारा वापस ले लिये जाने से आर्यसमाज अपने को इस विषय में निर्दोष सिद्ध करने के बहुमूल्य एवं उपयुक्त अवसर से वंचित हो गया। ग्रे के भाषण से उसके बारे में जो भ्रान्त धारणायें और संशय उत्पन्न किये गये थे, वे जनता तथा ब्रिटिश अधिकारियों के मनों में बद्धमूल होने लगे। इसलिए १९१०-११ ई० में इस बात की प्रबल आवश्यकता थी कि ऐसे मिथ्या आरोपों तथा भ्रान्तियों का निवारण करने के लिए प्रभावशाली प्रयास किये जायँ।

इस प्रकार का एक उल्लेखनीय प्रयत्न अंग्रेजी में **आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स** (आर्यसमाज और इसके निंदक) का प्रकाशन था। इस विषय में 'वैदिक मैगजीन' के जुलाई-अगस्त १९११ ई०(श्रावण १९६८ ई०, पृ० १०९)के अंक में एक लेखक ने यह सच ही लिखा था—"मेरा विचार है कि इस समय ऐसी पुस्तक की अत्यधिक आवश्यकता थी। आर्यसमाज के संस्थापक को कलंकित किया जा रहा है, इसके स्वरूप को विकृत एवं दूषित किया जा रहा है। एक बड़ी रियासत में चलाये गये राजकीय अभियोग में सार्वजनिक रूप से आर्यसमाज को अतीव आक्षेपजनक ढंग से राजद्रोही घोषित किया गया है। यह अभियोग बीच में ही टाँय-टाँय फिस हो गया है और इसलिए आर्यसमाज को इसका यथार्थ स्वरूप जनता के समक्ष प्रस्तुत करने का अवसर नहीं मिल सका। यह मामला अभियुक्तों द्वारा अपनी सफाई देने से पहले ही समाप्त कर दिया गया। अतः ग्रे द्वारा लगाये गये आरोपों का खण्डन करने के लिए कोई साक्षी नहीं प्रस्तुत की जा सकी। इन परिस्थितियों में यह बात अनिवार्य रूप से आवश्यक हो गयी थी कि आर्यसमाज और

स्वामी दयानन्द की पद्धति एवं कार्यों को सार्वजनिक रूप से उचित एवं न्यायसंगत सिद्ध किया जाय और उसका समर्थन किया जाय।"

उस समय आर्यसमाज में यह कार्य करने का साहस और सामर्थ्य गुरुकुल दल के नेता तथा गुरुकुल काँगड़ी के आचार्य महात्मा मुंशीराम में ही था। प्रोफेसर रामदेव का उन्हें बहुमूल्य सहयोग मिला। ये महर्षि के अनन्य भक्त थे और उनमें आर्यसमाज की विजय-वैजयन्ती देश-विदेश में फहराने तथा इसके सिद्धान्तों का प्रसार करने में अद्भुत निष्ठा एवं अदम्य उत्साह था।

पुस्तक के पहले अध्याय का शीर्षक है—**आर्यसमाज का संस्थापक, इसके विरोधी तथा पटियाला अभियोग।** इसमें स्वामी दयानन्द के कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होने से पहले की भारत की धार्मिक दशा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि १९वीं शताब्दी का तृतीय चरण, विशेष रूप से आठवाँ दशक इस देश के धार्मिक इतिहास का अन्धयुग था। इसमें ब्रिटिश शासकों द्वारा लाई गयी पश्चिमी सभ्यता पूर्वी सभ्यता को प्रभावित एवं पराभूत कर रही थी। पाश्चात्य प्रभाव की भीषण बाढ़ में पौरस्त्य संस्कृति के सभी तत्त्व बहे जा रहे थे। शिक्षा का प्रसार ईसाई मिशनरियों द्वारा भारतीयों को ईसाई बनाने के उद्देश्य से किया जा रहा था। मिशनरी स्कूलों में भारतीय संस्कृति—विशेषतः पौराणिक देवी-देवताओं, विचारों, विश्वासों, पूजा-पद्धतियों की खिल्ली उड़ाई जाती थी। अंग्रेजी पढ़ा-लिखा वर्ग भारतीय धर्म और वेषभूषा को तिलांजलि देने लगा था। भारतीय संस्कृति के लिए एक महान् संकट पैदा हो गया था। जिस संस्कृति को यूनानी और मुसलमान आक्रान्ता पराभूत नहीं कर सके थे, उसके विलोप की आशंका उत्पन्न हो गयी थी। किन्तु जेम्स लायल जैसे पैनी दृष्टि रखने वाले इतिहासविज्ञ का विचार था कि यूनानी संस्कृति और मुस्लिम धर्मान्धता जिस संस्कृति का विध्वंस करने में समर्थ नहीं हुईं, वह पाश्चात्य प्रभाव से भी नष्ट नहीं होगी और यह कार्य एक महान् सुधारक द्वारा सम्पन्न किया जायेगा। ये सुधारक स्वामी दयानन्द थे।

स्वामी दयानन्द के जीवन का परिचय देते हुए यह बताया गया है कि किस प्रकार उन्होंने मथुरा में दण्डी स्वामी विरजानन्द से आर्ष ग्रन्थों की शिक्षा प्राप्त की और वैदिक धर्म के पुनरुद्धार का महान् प्रयास आरम्भ किया, मूर्तिपूजा तथा पौराणिक धर्म के अवैदिक तत्त्वों का खण्डन किया, हिन्दू जाति को क्षीण करने वाली बाल-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध आदि कुरीतियों का खण्डन किया, हिन्दुओं की ईसाई तथा मुस्लिम प्रचारकों से रक्षा की, मुसलमान तथा ईसाई बनाये गये हिन्दुओं को शुद्ध करके पुनः हिन्दू समाज में मिलाने के लिए शुद्धि की क्रान्तिकारी पद्धति का प्रचलन किया। स्वामी दयानन्द सब धर्म वालों से सद्भाव और सौहार्द रखते थे। एंग्लो-मुहम्मडन कालिज अलीगढ़ के संस्थापक सर सय्यद अहमद के साथ उनका बड़ा सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध था। स्वामीजी का निधन होने पर उन्होंने अपनी श्रद्धांजलि प्रस्तुत करते हुए कहा था कि स्वर्गीय स्वामीजी के साथ उनके घनिष्ठ सम्बन्ध थे और वे उनका बड़ा आदर करते थे। इसी प्रकार कांग्रेस के संस्थापक एलन आक्टेवियन ह्यूम तथा फ्रेडरिक फैन्थोम जैसे अंग्रेज भी उनके परिचित और मित्र थे।

अंग्रेजी राज का समर्थन—ब्रिटिश सरकार के प्रति स्वामी दयानन्द के दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हुए पुस्तक में इस सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया है कि

स्वामी दयानन्द ब्रिटिश सरकार के समर्थक थे। इसका कारण बताते हुए कहा गया है कि महान् सुधारक अग्रगामी व्यापारी की भाँति सदा शान्ति चाहता है, क्योंकि उनके समर्थकों की संख्या कम होती है। सुधारक अपने देश के पुराने धर्म और परम्पराओं का त्याग करने वाले होते हैं। अतः वे प्रायः अपने देशवासियों के अत्याचार का शिकार होते हैं। यदि क्रान्ति की शैतानी शक्तियाँ प्रबल हो जायँ, समाज में उपद्रवी तत्त्वों को मनमाना कार्य करने की छूट मिल जाय तो सुधारक के अनुयायी इस विरोधी वातावरण में नष्ट हो जाते हैं तथा उसके कार्य तथा उद्देश्य विफल हो जाते हैं, अतः सुधारक प्रायः शासन-सत्ता का विरोध नहीं करते हैं।

इस तथ्य को सिक्ख धर्म के उदाहरण से पुष्ट करते हुए कहा गया कि गुरु नानक का आन्दोलन इसीलिए अधिक नहीं सफल हो सका कि उसने गुरु तेगबहादुर तथा गुरु गोविन्द के समय में शासन-सत्ता से संघर्ष की नीति अपनायी। स्वामी दयानन्द इस बात को अच्छी तरह समझते थे। ब्रिटिश लोगों ने भारत में जो शान्ति स्थापित की और अराजकता दूर की, वह स्वामीजी की दृष्टि में बड़ी महत्त्वपूर्ण थी और उनके कार्य के लिए अतीव आवश्यक थी। "अतएव वे भारत में अंग्रेजों का राज स्थायी रूप से बनाये रखना चाहते थे, ताकि उनके सुधार-कार्य और प्रचार में कोई बाधा उत्पन्न न हो। वे अंग्रेजों को अपना मित्र समझते थे और इस देश में अंग्रेजी शासन की स्थापना भगवान् का वरदान मानते थे, क्योंकि वे ईमानदारी से इस बात में विश्वास करते थे कि भारत की बौद्धिक, नैतिक और धार्मिक उन्नति के लिए उसे (अंग्रेजों द्वारा स्थापित की गयी) शान्ति की आवश्यकता है।" अतः वे ब्रिटिश सरकार के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने पर बहुत बल देते थे और अपने शिष्यों तथा अनुयायियों को इस नीति का अनुसरण करने का निर्देश देते थे।

प्रोफेसर रामदेव के मतानुसार स्वामी दयानन्द में ब्रिटिश शासन सत्ता के प्रति अनुरक्ति का भाव इतना प्रबल था कि विदेशी प्रेक्षकों ने इसे स्वामीजी के चरित्र की एक विशेषता समझा और इसका उल्लेख किया है। इस विषय में थियोसोफी सम्प्रदाय की संस्थापिका मैडम ब्लेवैट्स्की ने लिखा है—"कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होने के दिन से ही स्वामी दयानन्द का जनता पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्हें 'भारत के लूथर' का उपनाम दिया गया है···वे एकेश्वरवाद का प्रचार करते हैं और वेद हाथ में लेकर यह घोषणा करते हैं कि प्राचीन धर्मशास्त्रों में बहुदेववाद के समर्थन में एक भी प्रमाण नहीं है। वे भारत की सभी बुराइयों के लिए ब्राह्मणों को दोष देते हैं···किन्तु ग्रेट ब्रिटेन को शत्रु न समझकर मित्र समझते हैं।···

"वे खुले शब्दों में कहते हैं कि यदि आप आज अंग्रेजों को निकाल देते हैं तो कल मूर्तिपूजा का विरोध करने वाले आपका, मेरा तथा प्रत्येक ऐसे विचार रखने वाले व्यक्ति का गला भेड़ की गर्दन की तरह काट देंगे।" मुसलमान मूर्तिपूजकों से तथा मूर्तिपूजक हमसे अधिक शक्तिशाली हैं। अतः मूर्तिपूजा के विरोध तथा वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार के लिए अंग्रेजी शासन का भारत में बना रहना आवश्यक है। आर्यसमाजी महर्षि के विचारों का अनुसरण करते हुए ब्रिटिश सरकार के प्रति निष्ठा और राजभक्ति रखते हैं और उसे अपना परममित्र मानते हैं।

जब आर्यसमाज के प्रवर्तक और उसके अनुयायी ब्रिटिश सरकार के समर्थक

और मित्र हैं तो उन्हें राजद्रोही क्यों समझा जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रोफेसर रामदेव ने लिखा कि यह उसके शत्रुओं और विरोधियों के प्रयत्नों का परिणाम है। उन्होंने अपने हितों की रक्षा के लिए तथा आर्यसमाज को हानि पहुँचाने की दृष्टि से ऐसा किया है। ये शत्रु हैं—ईसाई मिशनरी तथा मौलवी। स्वामी दयानन्द के आगमन और प्रचार से पहले ये निर्बाध रीति से हिन्दुओं को ईसाई तथा मुसलमान बना रहे थे; हिन्दू इनके प्रचार का प्रतिरोध करने में सर्वथा असमर्थ थे। उनकी संख्या निरन्तर क्षीण हो रही थी। स्वामी दयानन्द ने हिन्दुओं को अपनी रक्षा करना सिखाया, सत्यार्थ-प्रकाश में बाइबल तथा कुरान की आलोचना करके हिन्दुओं को उनके साथ धार्मिक विवाद और शास्त्रार्थ करने की नयी क्षमता और शक्ति प्रदान की। इससे ईसाई पादरियों तथा मौलवियों द्वारा हिन्दुओं को ईसाई तथा मुसलमान बनाने के प्रयासों को गहरा धक्का लगा। इतना ही नहीं, आर्यसमाज ने वैदिक धर्म के द्वार सब जातियों और धर्मों के लिए खोल दिये, 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का उद्घोष किया—सारे विश्व को आर्य बनाने का संकल्प प्रकट किया। शुद्धि की नयी प्रथा से मुसलमान तथा ईसाई बने हिन्दुओं को शुद्ध करके पुन: हिन्दू धर्म में दीक्षित करना शुरू किया। यह बात ईसाइयों तथा मुसलमानों के लिए समान रूप से असह्य थी। आर्यसमाज इन दोनों सम्प्रदायों द्वारा हिन्दू धर्म को हानि पहुँचाने का उग्र विरोधी था। अत: ये दोनों आर्यसमाज के कट्टर विरोधी बन गये। इस स्थिति का चित्रण करते हुए प्रोफेसर रामदेव ने लिखा है—

"स्वामी दयानन्द के आगमन से पहले हिन्दू ईसाई पादरी तथा मुस्लिम मौलवी के हमलों का अच्छा शिकार बना हुआ था और इसके कुछ कारण थे। उस समय जो हिन्दू एक बार विधर्मी हो जाता था, मुसलमान या ईसाई के घर में भोजन कर लेता था या जल-ग्रहण करता था, वह स्थायी रूप से सदा के लिए हिन्दू धर्म से बहिष्कृत कर दिया जाता था और फिर किसी भी स्थिति में हिन्दू धर्म में नहीं लौट सकता था। यह भारत में इस्लाम और ईसाइयत के प्रसार का बहुत बड़ा कारण था। पूरे के पूरे गाँवों को बल-पूर्वक भौतिक शक्ति से कलमा पढ़ने के लिए विवश किया गया। वे विधर्मी नहीं बने रहना चाहते थे, हिन्दू रीति-रिवाजों तथा प्रथाओं का पालन करते थे। फिर भी मूढ़ दुराग्रही पुरोहितों ने हिन्दू धर्म में उनके प्रवेश का द्वार बन्द कर दिया और इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि वे मुस्लिम समाज का अंग बन गये। मुस्लिम प्रभुता के युग में शायद यह पद्धति धर्मान्तरण की प्रक्रिया को रोकने में कुछ दशाओं में सफल हुई हो, किन्तु कुल मिलाकर इसका हिन्दू-समाज पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा तथा हिन्दू जाति क्षीण होने लगी।"

आर्यसमाज का आन्दोलन प्रबल होने पर जब न केवल हिन्दू धर्म को छोड़कर ईसाई या मुसलमान बने व्यक्ति शुद्ध होने लगे, अपितु इन धर्मों में जन्म ग्रहण करनेवालों को भी हिन्दू धर्म में दीक्षित किया जाने लगा तो ईसाइयों तथा मुसलमानों को बहुत बुरा लगा। वे आर्यसमाज का कट्टर विरोध करने लगे। आर्यसमाज ने उन्हें शास्त्रार्थ की चुनौती दी। इसमें भी जब विरोधियों को सफलता नहीं मिली तो उन्होंने कुछ अन्य उपायों से आर्यसमाज को हानि पहुँचाने का प्रयत्न किया।

सबसे सुगम उपाय जनता और सरकार की दृष्टि में आर्यसमाज को बदनाम करना था। अंग्रेजी में एक कहावत है कि आप किसी को बुरा नाम देकर फाँसी पर

लटका सकते हैं। यही बात आर्यसमाज के साथ हुई। मूर्ति-पूजा के विरोध से रुष्ट होने वाले पौराणिकों ने यह प्रचार किया कि स्वामी दयानन्द सरकार का एजेण्ट है। यह प्रतिमा-पूजन का खण्डन करके उनकी श्रद्धा हिन्दू धर्म में शिथिल कर रहा है और उनको ईसाइयत के पथ पर अग्रसर कर रहा है। ईसाई प्रचारकों तथा मुसलमानों ने इससे भी आगे बढ़ते हुए आर्यसमाज को राजद्रोही राजनैतिक संस्था (Seditious Political Body) के रूप में बदनाम करना शुरू किया। ब्रिटिश सरकार द्वारा बनाये गये भारतीय दण्ड-विधान में राजद्रोह जघन्यतम अपराध था। ऐसा अपराध करने वाले के लिए प्राण-दण्ड की व्यवस्था थी। यदि आर्यसमाज पर राजद्रोहपूर्ण गतिविधियाँ करने का आरोप प्रमाणित हो जाय तो उसे अवैध घोषित किया जा सकता था, उसके प्रचार पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाया जा सकता था। यही आर्यसमाज के विरोधियों का अभीष्ट लक्ष्य था। वे उसके बारे में ब्रिटिश सरकार का विरोधी होने की अफवाहें उड़ाकर उसे सरकारी कोप का भाजन बना सकते थे, उसकी गतिविधियों पर प्रबल अंकुश लगवा सकते थे और इस प्रकार अपने मार्ग की एक बड़ी दुस्तर बाधा को दूर करके निष्कंटक रूप से अपने धर्म-प्रचार कर सकते थे।"

ईसाइयों की इस योजना का विवरण देते हुए प्रो० रामदेव ने लिखा है—"प्रबल शत्रु ने अभी अपने तरकश के सब तीरों का प्रयोग नहीं किया था। उसने आर्यों से लड़ने के लिए नये हथियार बनाये। उसे यह विश्वास था कि अधिकारी उस पर विश्वास रखते हैं। शासक एवं शासितों का सम्पर्क बहुत कम है, इस कारण वह सरकार के कान आर्य-समाज के विरुद्ध अच्छी तरह भर सकता है। अतः ईसाई मिशनरियों ने यह कहना शुरू किया कि आर्यसमाज एक ऐसी राजनैतिक संस्था है जिसका उद्देश्य ब्रिटिश सरकार का तख्ता पलटना है।" आर्यसमाज पर इस प्रकार का पहला आरोप एक ईसाई पत्र द्वारा महर्षि के निर्वाण के वर्ष १८८३ ई० में लगाया गया, और इसे इतना अधिक दोहराया गया कि ब्रिटिश सरकार को आर्यसमाज की राजभक्ति पर सन्देह होने लगा। वह उसे एक राजनैतिक संस्था समझने लगी।

आर्यसमाज के विरोधी किस प्रकार उसे बदनाम करने के प्रयास में संगठित हो गये, इसका चित्रण करते हुए यह ठीक ही लिखा गया था—"आर्यसमाज ने अपने आक्र-मणात्मक प्रचार तथा उग्र उपायों से चारों ओर विरोधी शत्रु पैदा कर लिये। इसके प्रचार से हिन्दू पुरोहित अपनी सुविधाओं और विशेषाधिकारों से वंचित हो गया। मुस्लिम धर्मान्ध प्रचारक को काफिरों को मुसलमान बनाकर बहिश्त का आनन्द लूटने की आशा नहीं रही और मिशनरी प्रचारक से ईसाई बन सकने वाले हिन्दुओं को छीन लिया गया। अतः ये सब नवस्थापित आर्यसमाज के विरुद्ध षड्यन्त्र में सम्मिलित हो गये। इसे बदनाम करना उनका सबसे अधिक प्रभावशाली प्रहार था। इस षड्यन्त्र का विस्तार न केवल समूचे भारत में, अपितु इंग्लैंड में उन सभी स्थानों पर था जहाँ एक भी उत्साही मिशनरी या कट्टर मुसलमान था। यह जब कभी किसी अधिकारी से मिलता तो अपने सामान्य शत्रु आर्यसमाज के विरुद्ध विषवमन करता। यदि कहीं हिन्दू-मुस्लिम दंगा होता तो यह कहा जाता कि इसकी जड़ में आर्यसमाज है। यदि कहीं किसी राजद्रोहपूर्ण पुस्तिका का वितरण होता तो यह बात उड़ाई जाती कि आर्य गुप्त रूप से ऐसा करने वाले की सहायता कर रहे हैं, चुपके-चुपके उसे शाबाशी दे रहे हैं और बाहर से उस राजद्रोही के

साथ अपने सम्बन्ध को नकार रहे हैं। इस प्रकार के कथनों की न तो पुष्टि हो सकती थी, और न ही इनका खंडन किया जा सकता था, किन्तु इसका यह परिणाम अवश्य होता था कि आर्यसमाज के विरुद्ध विषैला प्रचार होता था और उसके विरुद्ध (राजद्रोहपूर्ण) गतिविधियों के सन्देह का पोषण होता था। यह माना जाता था कि शनैः-शनैः सूक्ष्म रूप से सर्वत्र इस विषैले प्रचार के प्रभाव का प्रसार हो जायेगा।"

आर्यसमाज के विरोधी आर्यसमाज को किस प्रकार हानि पहुँचा रहे थे और उसके कार्यों में बाधाएँ डालकर उसे परेशान कर रहे थे, इसका प्रमाण इस समय आर्यसमाज पर चलाये जाने वाले अभियोगों से मिलता है। इस प्रकार का पहला प्रयास १८९९ ई० में स्वामीजी के निर्वाण के १६ वर्ष बाद तीतरों (जि० सहारनपुर) में किया गया। यहाँ श्री चन्द्रभान नामक आर्यसमाज के एक अतीव उत्साही कार्यकर्त्ता रहते थे। वे यहाँ एक मकान में आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संग का आयोजन करते थे। इसके आसपास कुछ मुसलमानों के मकान थे। उन्हें यह सह्य नहीं था कि यहाँ आर्यसमाज के अधिवेशन हों। उन्होंने इसे रोकने के लिए सहारनपुर के ज्वाइण्ट मैजिस्ट्रेट जे० एच० कॉक्स के यहाँ इस आशय का आवेदन-पत्र दिया कि जहाँ आर्यसमाज का अधिवेशन होता है, उसके निकट मुस्लिम आबादी है। इस बस्ती में आर्यसमाज के सत्संग लगाने से शान्ति भंग होने की आशंका है। अतः आर्यसमाज को यहाँ अधिवेशन करने से रोकने के लिए एक सरकारी आदेश जारी किया जाय।

मुसलमानों द्वारा यह अभियोग चलाने का उद्देश्य आर्यसमाज को साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाने वाली, शान्ति भंग करने वाली तथा हिन्दू-मुस्लिम दंगे कराने वाली संस्था सिद्ध करना और उसके प्रचार-कार्य को रोकना था। किन्तु मुसलमान अपने इस आरोप को पुष्ट करने के लिए समुचित प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सके और ब्रिटिश न्यायाधीश जे० एच० कॉक्स ने अपने निम्नलिखित निर्णय में आर्यसमाज को शान्ति और सद्भाव बनाये रखने वाली संस्था स्वीकार करते हुए **फैजुल्ला खाँ बनाम चन्द्रभान** के मामले में लिखा—

"तीतरों के कुछ मुसलमानों ने यह आवेदन-पत्र भारतीय दण्ड-विधान के अनुच्छेद १४७ के अनुसार इसलिए दिया है कि चन्द्रभान तथा उसके कुछ अन्य साथियों को तीतरों में एक घर का उपयोग आर्यसमाज-भवन के रूप में करने से और उसमें कुछ परिवर्तन करने से रोका जाय। आज चन्द्रभान अदालत में उपस्थित है, किन्तु आवेदक हाजिर नहीं हुए हैं और यह अपने-आप में इस आवेदन-पत्र को रद्द करने के लिए पर्याप्त आधार है।...अभी पिछले दिनों जब मैं तीतरों गया था तो मैंने दोनों दलों की उपस्थिति में विवादग्रस्त मकान का निरीक्षण किया था। इसके साथ लगे कुछ मकान हिन्दुओं के और कुछ मुसलमानों के हैं। चन्द्रभान ने उस बिक्रीपत्र (सेलडीड) को प्रस्तुत किया जिसके आधार पर आर्यसमाज को इसका स्वामित्व प्राप्त है।

"भारतीय दण्ड-विधान के अनुच्छेद १४७ के अन्तर्गत कोई भी कार्यवाही करने से पहले यह आवश्यक है कि इस बात को सिद्ध किया जाय कि जिस काम को रोकने के लिए निषेधाज्ञा प्राप्त की जा रही है, उससे शान्ति-भंग होने की सम्भावना है। मैं इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता हूँ कि आर्यसमाज जैसी शान्तिमय और कानून का पालन करने वाली संस्था किसी प्रकार से शान्ति भंग करने का कार्य कर सकती है। यहाँ पूजा

की किसी ऐसी पद्धति का अनुसरण नहीं किया जाता है, जो मुसलमानों के लिए घोर आपत्तिजनक हो, और यदि मुसलमान एक पूर्णरूप से—कानूनी संस्था की बैठकों को एक ऐसे मकान में—जिस पर उनका पूर्ण स्वामित्व है—रोकना चाहते हैं तो इसका सारा दोष उन पर ही होगा।

"मैं इस आवेदन-पत्र को रद्द करता हूँ और यह समझता हूँ कि यह बिल्कुल निस्सार (Frivolous) मामला है, अतः आदेश देता हूँ कि वादी प्रतिवादी को इसका सम्पूर्ण व्यय—वकील की फीस १६ रु०, मार्ग-व्यय ३ रुपया और स्टाम्प का दाम दें।"

न्यायाधीश कॉक्स ने उपर्युक्त निर्णय २४-१-९९ को लिखा था। प्रतिकूल निर्णय होने पर भी आर्यसमाज के विरुद्ध मुसलमानों ने अपना आन्दोलन जारी रखा। अगले पाँच वर्षों तक यह मामला चलता रहा। १९०४ में उन्होंने पुनः श्री चन्द्रभान को आर्य-समाज का कार्य रोकने के लिए निषेधाज्ञा देने की प्रार्थना की। अभी तक सहारनपुर में वही पुराने मजिस्ट्रेट कॉक्स काम कर रहे थे। उन्होंने सारा मामला सुनने और आवश्यक जाँच करने के बाद २-२-०४ को इसका निर्णय करते हुए दूसरी बार मामला खारिज कर दिया; निषेधाज्ञा देने की प्रार्थना रद्द कर दी और **फैजुल्ला खाँ बनाम चन्द्रभान** के मामले में निम्नलिखित फैसला दिया—

"यह आवेदन-पत्र भारतीय दण्ड-विधान की धारा १४५-७ के अधीन श्री चन्द्रभान को तीतरों के एक ऐसे भूखण्ड में आर्यसमाज का भवन स्थापित करने से रोकने के लिए दिया गया है जो निश्चित रूप से आर्यसमाज की सम्पत्ति है। इसी प्रकार का एक आवेदन-पत्र पहले भी दिया गया था और मैंने उसे रद्द कर दिया था, क्योंकि वादी हाजिर नहीं हुए थे और उन्होंने कोई सबूत नहीं पेश किया था। अब उन्होंने पुनः सबूत पेश करने की अनुमति माँगी है और प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। मैंने इस विषय में पहले जो लिखा था, उसमें बढ़ाने के लिए कोई नई बात नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि चन्द्रभान को आर्यसमाज की जमीन में उसकी शाखा स्थापित करने का पूरा कानूनी अधिकार है। उस भूमि पर उसका कब्जा है। अतः मेरे लिये यह सम्भव नहीं है कि मैं भारतीय दण्ड-विधान की धारा १४५-७ के अन्तर्गत कोई ऐसी निषेधाज्ञा जारी करूँ जो उसे ऐसा करने से रोक सके। अब केवल यही विचारणीय प्रश्न शेष है कि सार्वजनिक शान्ति भंग के खतरे के आधार पर धारा १४४ के अन्तर्गत ऐसी निषेधाज्ञा जारी करने की कोई आवश्यकता है या नहीं।

"वादियों का दावा है कि चन्द्रभान ने हिन्दुओं तथा मुसलमानों के मकानों की सीमा पर ऐसा स्थान मुसलमानों को चिढ़ाने की इच्छा से चुना है। यह सम्भव है और मुसलमानों को इस विषय में धैर्य से काम लेना चाहिए। ऐसा दावा कभी नहीं किया गया कि संयुक्त प्रान्त के इस प्रदेश में आर्यसमाज का सदस्य बनने वाले पढ़े-लिखे हिन्दुओं का छोटा समुदाय कभी मुसलमानों पर हमला कर सकता है। हिन्दू सामाजिक रूप से ऐसी किन्हीं धार्मिक विधियों को सम्पन्न नहीं करते हैं जो मुसलमानों के लिए अकारण उद्वेग-जनक या अपमान करने वाली हों, अतः उनसे उन्हें शान्ति-भंग करने के लिए कोई बहाना नहीं मिल सकता है; और यदि कोई ऐसी घटना घटे तो यह अधिक सम्भव है कि आर्य स्वयमेव शालीनतापूर्वक और शीघ्र ही ऐसा कार्य करने से विरत हो जायेंगे। बाद में कभी यह आवश्यक हो सकता है कि भारतीय दण्ड-विधान की धारा १०७ के अन्तर्गत

एक या दोनों पक्षों के साथ कार्यवाही की जाय। इस समय मुझे इसका कोई औचित्य नहीं प्रतीत होता है कि मैं हिन्दुओं को ऐसा कार्य करने से जिसका उन्हें पूरा अधिकार है केवल इसलिए रोकूँ कि मुसलमानों को इस बारे में इतनी गलत सलाह दी गयी है कि वे हिन्दुओं के कार्य पर नाराजगी प्रकट कर रहे हैं और सम्भवतः इसे हिंसापूर्ण कार्य के साथ प्रकट करेंगे। मैं इस आवेदन-पत्र को रद्द करता हूँ।"

इस मामले से यह स्पष्ट है कि आर्यसमाज के विरोधी उसकी गतिविधियों को समाप्त करने के लिए और उस पर शान्तिभंग का आरोप लगाने के लिए किस प्रकार तुले हुए थे। एक बार १८९९ ई० में आर्यसमाज के अधिवेशनों पर निषेधाज्ञा लगाने के प्रयास में विफल होने पर पाँच वर्ष बाद मुसलमानों ने पुनः उसी प्रश्न को उठाया। किन्तु ब्रिटिश न्यायाधीश ने उनकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की और आर्यसमाज को साम्प्रदायिक विद्वेष और अशान्ति उत्पन्न करने वाला नहीं माना।

पौराणिक मतावलम्बी कट्टरपन्थी हिन्दू आर्यसमाज से अतीव रुष्ट थे, क्योंकि यह हिन्दू समाज में प्रचलित मूर्तिपूजा, अवतारवाद, श्राद्ध आदि धार्मिक कुरीतियों का कड़ा खण्डन करता था। स्वामीजी ने बनारस में काशी के पण्डितों को चुनौती दी थी कि वे मूर्तिपूजा को सिद्ध करने के लिए वैदिक संहिताओं में से कोई प्रमाण प्रस्तुत करें। किन्तु पण्डितमण्डली एक भी ऐसा मन्त्र नहीं पेश कर सकी। स्वामीजी तथा आर्यसमाज के प्रचार-कार्य से पुरोहित-पण्डितवर्ग इसलिए भी असन्तुष्ट था कि इसने उनके आर्थिक हितों को हानि पहुँचाई थी। अतः यह भी मुसलमानों की भाँति आर्यसमाज को बदनाम करने पर तुला हुआ था। इसी दृष्टि से आलाराम नामक एक सन्यासी ने आर्यसमाज को राजद्रोही सिद्ध करने का निष्फल प्रयास किया।

(२) सत्यार्थप्रकाश में राजद्रोह के तथाकथित प्रमाण

स्वामीजी के ग्रन्थों में सत्यार्थप्रकाश को असाधारण महत्त्व दिया जाता है। उनकी रचनाओं में वेद-भाष्य के बाद इसी का सर्वोच्च स्थान है। इसमें स्वामीजी ने मानव-जीवन के सभी अंगों तथा तत्त्वों का वैदिक ग्रन्थों के आधार पर प्रतिपादन किया है। अतः इसे सर्वांग-सम्पूर्ण धर्म-ग्रन्थ कहा जाता है। इसमें प्रचलित पौराणिक कुरीतियों का खण्डन करते हुए आर्यों के लिए आदर्श जीवनपद्धति, वर्णाश्रम-व्यवस्था, राजनैतिक शासनप्रणाली, सामाजिक और धार्मिक विचारों का विशद विवेचन है। इस दृष्टि से यह प्राचीन धर्मशास्त्रों के अनुरूप है। किन्तु पिछले धर्मशास्त्रों की अपेक्षा इसकी एक बड़ी विशेषता यह है कि इसके उत्तरार्ध के अन्तिम चार समुल्लासों में भारत के आस्तिक-नास्तिक, पौराणिक हिन्दू, बौद्ध, जैन मतमतान्तरों तथा ईसाई मत और इस्लाम के धार्मिक मन्तव्यों की सत्यासत्य के निर्णय की दृष्टि से की गयी विस्तृत समीक्षा है और अन्त में स्वामीजी ने स्वमतव्यामन्तव्य-प्रकाश में अपने मौलिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त प्रतिपादन किया है। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से इसमें आर्यसमाज के सभी मन्तव्यों की मनोरम मीमांसा एवं विशद विवेचन है, अतः इसे बाइबल और कुरान की भाँति आर्यसमाज का पवित्र धर्मग्रन्थ माना जाता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस ग्रन्थ ने आर्यसमाजियों को जहाँ अपने धार्मिक सिद्धान्तों के बारे में प्रामाणिक ज्ञान, दृढ़ विश्वास तथा नवीन दृष्टि प्रदान की है, वहाँ

इसके विरोधियों को भी उत्पन्न किया है। इसमें स्वामीजी ने निष्पक्ष होकर समानभाव से पौराणिक, बौद्ध, जैन आदि भारतीय एवं इस्लाम, ईसाइयत आदि विदेशी धर्मों की तर्कसंगत, युक्तियुक्त एवं कड़ी आलोचना की है, अतः इस कारण ये सभी आर्यसमाज के विरोधी बन गये और इन्होंने आर्यसमाज पर आक्षेप करने, उसे बदनाम करने तथा राजद्रोही सिद्ध करने के लिए सत्यार्थप्रकाश में से अनेक अवतरण और उद्धरण ढूँढ निकाले हैं। इनके आधार पर आर्यसमाज को राजद्रोही राजनैतिक संस्था सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, अदालतों में ऐसा प्रमाणित करने के लिए इस ग्रन्थ के अनेक अवतरण प्रस्तुत किये गये हैं। पटियाला अभियोग में ग्रे द्वारा आर्यसमाज के बागी होने की पुष्टि सत्यार्थप्रकाश के अनेक उद्धरणों से की गयी थी। आलाराम संन्यासी ने अपनी रक्षा के लिए इन अवतरणों का सहारा लिया था। अतः प्रोफेसर रामदेव ने **आर्यसमाज और उसके निन्दक** के तीसरे अध्याय में इस प्रश्न का विस्तृत विवेचन करते हुए यह बताया है कि विद्रोहियों ने इन अवतरणों के मूल अर्थ, प्रकरण तथा उद्देश्य को नहीं समझा है, इस प्रकार अनेक भद्दी भूलें की हैं; इनके भ्रान्तिपूर्ण अर्थ लगाये तथा गलत व्याख्यायें की हैं और इनसे अनेक प्रकार की गलतफहमियों को जन्म दिया है। इनसे किसी भी प्रकार से वे अर्थ और अभिप्राय नहीं पुष्ट होते हैं, जो विरोधियों ने इनसे निकालने चाहे हैं। इसके कुछ प्रमुख उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(क) **विदेशी शासन की आलोचना**—स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के अष्टम समुल्लास में भारत की वर्तमान राजनैतिक अधोगति और दुर्दशा पर दुःख प्रकट करते हुए लिखा था—"अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी है, किन्तु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है सो भी विदेशियों के पादाक्रांत हो रहा है। कुछ थोड़े राज्य स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है। कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत-मतान्तर के आग्रहरहित अपने और पराये का पक्षपातशून्य प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।"

आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था सिद्ध करने वाले विरोधियों ने स्वामीजी के इस कथन पर बल देते हुए यह दावा किया है कि इसमें भारतीयों को ब्रिटेन के विदेशी शासन का जुआ उतार फेंकने की प्रबल प्रेरणा दी गयी है। आलाराम संन्यासी नामक एक कट्टरपन्थी हिन्दू ने इलाहाबाद में पुलिस द्वारा भारतीय दण्ड-विधान की धारा १०९ के अन्तर्गत मुकद्दमा चलाया जाने पर अपनी रक्षा के लिए आर्यसमाज को विद्रोही सिद्ध करने के लिए नवम्बर १९०२ ई० में अन्य प्रमाणों के साथ अवतरण-संख्या ६ (Extract VI) के रूप में इसे ब्रिटिश न्यायाधीश तथा जिलाधीश श्री हैरिसन के सम्मुख प्रस्तुत किया था। सरकारी वकील श्री ग्रे ने पटियाला अभियोग में भी इसे पेश किया था।

राजद्रोह एक गम्भीर अपराध है। इसे सिद्ध करने के लिए यह प्रमाणित करना आवश्यक है कि इसमें वर्तमान शासन का उन्मूलन करने के लिए तथा सरकार का तख्ता पलटने के लिए जनता को स्पष्ट रूप से भड़काया गया है। ऐसी कोई बात इस अवतरण में नहीं है। यदि इस सन्दर्भ का पूर्वापर प्रसंग देखा जाए तो इसमें स्वामी

दयानन्द ने इस बात पर गहरी मनोव्यथा प्रकट की है कि आलस्य और आपसी फूट आदि चारित्रिक दुर्गुणों ने भारत को इतना निर्बल बना दिया है कि भारतवासी पराधीन हो गये हैं। पराधीनता महान् अभिशाप है। इसको पुष्ट करने के लिए तथा स्वाधीनता का गुणगान करने एवं इसका महत्त्व भारतीयों के हृदय-पटल पर भलीभाँति अंकित करने के लिए स्वामीजी ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि विदेशी और स्वदेशी राज्य की कोई तुलना नहीं हो सकती है। अच्छे-से-अच्छा विदेशी राज्य चाहे वह कितना ही निष्पक्ष क्यों न हो, माता-पिता के समान कल्याणकारी हो, स्वदेशी राज्य की तुलना में उतनी पूर्णता के साथ सुख देने वाला नहीं हो सकता है। अपने शासन में जो आनन्द है, वह विदेशी शासन में प्राप्त होना सम्भव है; स्वदेशी शासन विदेशी शासन की अपेक्षा सदैव अधिक उत्कृष्ट होता है।

इलाहाबाद के जिलाधीश पी० हैरिसन ने सत्यार्थप्रकाश के उपर्युक्त सन्दर्भ के पूरे प्रकरण और प्रसंग पर गम्भीर विचार करते हुए आलाराम संन्यासी के मामले में इस सन्दर्भ को राजद्रोह के लिए उत्तेजित करने वाला नहीं माना था, और इसका कारण स्पष्ट करते हुए अपने निर्णय में लिखा था—"इन सभी अवतरणों में मैं बगावत के लिए भड़काने की कोई बात नहीं पाता हूँ, किन्तु इनमें यह विलाप है कि विभिन्न धार्मिक और नैतिक दुर्गुणों के कारण हिन्दू जाति पराधीन हो गयी है। स्वामी दयानन्द के उपदेश का सामान्य स्वर मुझे यह प्रतीत होता है कि यह हिन्दू जाति का सुधार करने के लिए उपदेश (Exhortation) है। इसका उद्देश्य सम्भवतः अन्त में भारतीय शासन स्थापित करना है। स्वामी दयानन्द ने यह स्वीकार किया है कि वर्तमान समय में हिन्दुओं में कुछ ऐसे दुर्गुण उत्पन्न हो गये हैं जिनके कारण वे स्वयमेव अपना शासन करने में भी असमर्थ हैं।"

हैरिसन की यह व्याख्या सत्यार्थप्रकाश के अन्य उद्धरणों से भी पुष्ट होती है और स्वामीजी की सामान्य विचारधारा के अनुकूल होने के कारण यथार्थ प्रतीत होती है। स्वामीजी के कथनानुसार महाभारत-युद्ध के बाद भारत का पतन हुआ। इसमें विभिन्न दुर्गुणों की वृद्धि हुई और वह पराधीन हुआ। उनके शब्दों में "विदेशियों के आर्यावर्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या का न पढ़ना-पढ़ाना, बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या भाषण व वेद-विद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं। जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है। क्या तुम महाभारत की बातें, जो पाँच सहस्र वर्ष पूर्व हुई थीं, उनको भूल गये? देखो, आपस की फूट से कौरव, पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया। सो तो हो गया, परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःखसागर में डुबा मारेगा। इसी दुष्ट दुर्योधन, गोत्र-हत्यारे, स्वदेश-विनाशक नीच के दुष्ट मार्ग में आर्य लोग अब तक भी चलकर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे, यह राजरोग हम आर्यों में से नष्ट हो जावे।" ये दोनों उद्धरण उपर्युक्त उद्धरण के समान भारत की पराधीनता के कारणों पर स्वामीजी की दृष्टि से प्रकाश डालते हैं और इस विषय में उनकी मानसिक व्यथा को अभिव्यक्त करते हैं और हैरिसन की व्याख्या को पुष्ट करते हैं। इन्हें कानूनी अर्थों में राजद्रोहपूर्ण नहीं कहा जा सकता है। अतः इस विषय में आर्यसमाज के

विरोधियों की व्याख्या निर्मूल और निराधार है।

उपर्युक्त सन्दर्भ में स्वामीजी ने राजनीति-शास्त्र के इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि सुराज्य स्वराज्य का स्थान नहीं ले सकता है (Good government is no substitute for self-government)। जिस समय स्वामीजी सत्यार्थ-प्रकाश में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहे थे, लगभग उसी समय इंग्लैण्ड में सुप्रसिद्ध ब्रिटिश विचारक जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपनी अमरकृति 'प्रतिनिधि शासन' (Representative Government)में इसका प्रतिपादन करते हुए लिखा था—"किसी देश का विदेशियों द्वारा शासित होना सदैव बड़ी कठिनाइयों के साथ तथा अपूर्ण रीति से होता है, भले ही शासकों तथा शासितों के स्वभाव और विचारों में कोई बहुत बड़ा भेद न हो।" इसका कारण स्पष्ट करते हुए मिल ने यह कहा कि "विदेशियों की सामान्य जनता के साथ सहानुभूति नहीं होती है। वे इस बात का निर्णय नहीं कर सकते हैं कि किसी प्रश्न के बारे में वे जिस दृष्टि से सोचते हैं और जैसी अनुभूति रखते हैं उनकी अधीनस्थ प्रजा का भी वही दृष्टिकोण और अनुभूति होगी। एक औसत दर्जे की योग्यता रखने वाला देश-वासी जिस बात को अपनी सहज बुद्धि से शीघ्र ही जान लेता है, उसे विदेशी शासक अपूर्ण रूप से अध्ययन और अनुभव से शनैः-शनैः जान पाता है। विदेशी शासकों को जिन रीति-रिवाजों और सम्बन्धों के बारे में कानून बनाने पड़ते हैं, वे बचपन से परिचित होने के स्थान पर उनके लिए सर्वथा अपरिचित होते हैं। अपने विस्तृत ज्ञान के लिए उन्हें देश-वासियों द्वारा दी गयी सूचनाओं पर निर्भर रहना पड़ता है। जनता विदेशी शासकों से भय खाती है, उन पर सन्देह करती है और उनसे घृणा रखती है। वह अपने स्वार्थों की पूर्ति के अतिरिक्त उनके पास बहुत कम जाती है। विदेशी शासक प्रायः यह समझते हैं कि जो उनके जीहजूरिये हैं, वही विश्वासपात्र हैं। इस स्थिति में विदेशी शासक देश-वासियों से घृणा करते हैं और जनता इस बात पर विश्वास नहीं करती है कि विदेशी शासक उनकी भलाई के लिए कोई कार्य करेंगे।" किसी देश में विदेशियों के लिए पूरी ईमानदारी से शासन करना कठिन है। इस सन्दर्भ में मिल ने स्वामी दयानन्द के उपयुक्त सूत्र का सुन्दर भाष्य किया और इसमें कोई राजद्रोह नहीं है।

स्वामी दयानन्द ने ब्रिटेन के विदेशी शासन को दृष्टि में रखते हुए जो बात कही थी, लगभग वैसी ही बात बंग-भंग के बाद बनाये गये पूर्वी बंगाल के गवर्नर बैम्पफील्ड फुलर ने कही थी—"हमें इस बात का अनुभव करना चाहिए कि हम इस देश में विदेशी हैं और एक विदेशी सरकार अपने-आप में जनता की सहानुभूति कभी नहीं प्राप्त कर सकती है। इसे सदैव एक ऐसी विरोधी भावना से संघर्ष करना पड़ता है, जो विदेशी शासन को हटाना चाहती है और इसे हटाये बिना सन्तुष्ट नहीं होती है। अतः हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि भारतीय समाज की उपरली सतह के नीचे सदैव विदेशी शासकों के विरोध की भावना बनी रहेगी।" अनेक ब्रिटिश विचारकों ने यह प्रतिपादित किया है कि विदेशी शासन किसी देश के निवासियों के चरित्र के विकास में बाधक होता है और उन पर बड़ा बुरा प्रभाव डालता है। प्राध्यापक सर जे० आर० सीले के शब्दों में किसी देश के राष्ट्रीय ह्रास का एक बहुत बड़ा कारण चिरकाल तक उसका विदेशी शासन के जुए में पराधीन बना रहना है। मैकाले ने भी विदेशी शासन को सबसे बुरा प्रभाव डालने वाला माना है। इसी प्रकार के विचार हर्बर्ट स्पेंसर, लैकी और बैंथम

ने भी प्रकट किये हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि सत्यार्थप्रकाश के उपर्युक्त सन्दर्भ में स्वामी दयानन्द ने वही सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, जो पिछली शताब्दी में उनके समकालीन विचारक स्टुअर्ट मिल, सीले, मैकाले आदि ने रखा था। इस विषय में भारत और पश्चिम के मनीषियों का चिन्तन लगभग एक-जैसा है और इसमें किसी प्रकार के राजद्रोह की कोई गंध नहीं है।

कई बार विदेशी शासन कुछ अंशों में किसी देश के लिए लाभप्रद भी होता है। सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक लार्ड एक्टन ने लिखा है कि कुछ उदाहरणों में विदेशी शासन नवीन विकास में सहायक होता है। मिल का भी यह विश्वास है कि कई बार पराधीन देश विदेशी शासन से शासन-सुधार की उच्चतर दशा को प्राप्त करता है। स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में ब्रिटिश शासकों की देश-प्रेम आदि की भावनाओं की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि इन उत्कृष्ट गुणों के कारण ही यूरोप की जातियों का उत्कर्ष हुआ है।

स्वामीजी के विदेशी शासन-विषयक विचारों का गम्भीर अध्ययन करने के बाद प्रोफेसर रामदेव ने यह निष्कर्ष निकाला है—"स्वामी दयानन्द का यह आशय नहीं है कि बुरे देशवासियों का शासन अच्छे विदेशियों के शासन से उत्कृष्ट समझा जाना चाहिए। वे बिना किसी शर्त के तथा पूर्ण रूप से विदेशी शासन की निन्दा नहीं करते हैं क्योंकि वे यह मानते हैं कि यदि यह धार्मिक पक्षपात से सर्वथा मुक्त है, माता-पिता के समान दयालु, उपकारी तथा न्यायपूर्ण है तो यह भारत जैसे देश में स्वदेशी शासन की तुलना में ऐसे सुख दे सकता है जो उच्चतम सुख की अपेक्षा कुछ कम दर्जे के सुख हैं। भारत के मामले में स्वामीजी विदेशी शासन को आवश्यक मानते हैं क्योंकि अंग्रेजों में शासन करने की क्षमता अधिक अच्छी है और वे सत्यार्थप्रकाश के छठे समुल्लास में वर्णित आदर्श शासक के गुणों की एक बड़ी मात्रा अपने में रखते हैं। विदेशी शासन को भारत जैसी कुछ असाधारण दशाओं में ही न्यायोचित सिद्ध किया जा सकता है। आदर्श शासन सर्वोच्च कोटि के स्वदेशी व्यक्तियों को उत्कृष्टतम बुद्धि, तथा मन से किया जाने वाला शासन है। सभी दार्शनिक और इतिहासविज्ञ इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं।" अन्यत्र (पृष्ठ १२४) उन्होंने लिखा है—"अतः यह स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त सर्वथा समीचीन है और यदि आर्यसमाज एक राजनैतिक संस्था या राजद्रोह की जन्मभूमि है क्योंकि इसके संस्थापक ने इसका प्रचार किया था तो वे सभी सरकारी कॉलिज जिनमें सीले, स्पैंसर, मैकाले और बेन्थम के ग्रन्थ पढ़ाये जाते हैं, राजद्रोह की जन्मभूमियाँ (Nurseries of Sedition) हैं और उन (अपराधियों) को दण्ड देने के लिए जेल बना देनी चाहिए। इन पुस्तकों को पाठ्यक्रम में निर्धारित करने वाले तथा परीक्षा लेने वाले सभी प्रोफेसरों, सिंडीकेट के सदस्यों, कुलपतियों को देशनिकाले का दण्ड दिया जाना चाहिए। सरकार के उन उत्कृष्ट राजभक्तों को जिन्होंने राजद्रोह का पता लगाने के लिए अपनी सेवायें प्रदान की हैं, एक कदम आगे बढ़कर वायसराय को यह आवेदन-पत्र देना चाहिए कि वह ब्रिटेन के पिछले प्रधान मन्त्री तथा भारत-मन्त्री के भाषणों के अध्ययन को दण्डनीय घोषित करें क्योंकि प्रधान मन्त्री ने एक भाषण में अपने विश्वास की घोषणा खुले रूप में की थी तथा भारत-मन्त्री ने अपने एक बजट-भाषण में यह स्वीकार किया था कि वे मिल के अनुयायी हैं।

किन्तु शायद इस बात पर बल दिया जाएगा कि यद्यपि यह सिद्धान्त ठीक है, फिर भी स्वामी दयानन्द राजद्रोह के अपराधी समझे जाने चाहिएँ क्योंकि उन्होंने भारतीय जनता को बगावत के लिए भड़काया है। वस्तुतः उन्होंने ऐसा कोई कार्य नहीं किया। इसके सर्वथा विपरीत ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें वैधानिक आन्दोलन में कोई विश्वास नहीं था। वे उग्रवादियों के प्रचार में भी कोई भरोसा नहीं रखते थे। उन्होंने चरित्र-निर्माण पर अधिक बल दिया। उनका विश्वास था कि राष्ट्र स्वयमेव अपने भाग्य-निर्माता होते हैं। इसका यह अभिप्राय था कि किसी राष्ट्र को राजनैतिक उन्नति के शिखर पर पहुँचाने के एकमात्र उपाय—समाज-सुधार तथा आध्यात्मिक पुनरुत्थान का कार्य राष्ट्र के निवासियों के अपने प्रयासों द्वारा ही किये जा सकते हैं, बशर्ते कि स्वदेशी या विदेशी शासन देश में शान्ति और व्यवस्था तथा धार्मिक निष्पक्षता की नीति बनाये रखे और भारत की ब्रिटिश सरकार यह बात निश्चित रूप से कर रही है।

यह सम्भव है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद वर्तमान शताब्दी के अन्तिम चरण में अधिकांश आर्यसमाजी आचार्य रामदेव की स्वामी दयानन्द के विदेशी शासन की उपर्युक्त व्याख्या को सही न मानें, अंग्रेजी शासन के समर्थन में दिये गये तर्क उन्हें चाटु-कारितापूर्ण प्रतीत हों, किन्तु इस विषय में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि उनकी विचारधारा बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में अधिकांश शिक्षित भारतीयों की विचार-धाराओं के अनुरूप है। उस समय महामना गोखले जैसे कांग्रेसी राजनीतिज्ञों को ब्रिटिश शासन के भारत के लिए ईश्वरीय वरदान होने में अगाध विश्वास था। इस दशा में महात्मा मुंशीराम आदि आर्यसमाजी नेता अंग्रेजी शासन को सौ या तीन सौ वर्ष तक बनाये रखने के पक्ष में थे, जब तक भारतीयों के चारित्रिक दुर्गुण न दूर हो जाएँ। अन्यत्र इस प्रश्न का विस्तृत विवेचन किया जाएगा।

(ख) गोरक्षा के समर्थन से राजद्रोह का प्रचार—स्वामी दयानन्द गोरक्षा के प्रबल समर्थक थे। १८८१ ई० में उन्होंने आगरा में निवास करते हुए गौओं की रक्षा के लिए **गोकरुणानिधि** नामक पुस्तक लिखी और प्रकाशित की थी। गोरक्षा आन्दोलन चलाने के लिए **गोकृष्यादि रक्षिणी सभा** की स्थापना की थी। स्वामीजी का गौ से अभि-प्राय न केवल गौ, अपितु भैंसादि दूध देने वाले सभी पशु थे। उन्होंने गोवध बन्द कराने के लिए दो करोड़ व्यक्तियों के हस्ताक्षर से गवर्नर-जनरल की सेवा में प्रस्तुत करने के लिए एक आवेदनपत्र भी तैयार कराया था। वे इसके लिए एक प्रबल जन-आन्दोलन चलाना चाहते थे।

स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के दशम समुल्लास में गोरक्षा के कारणों पर प्रकाश डालते हुए जो बातें लिखी हैं और अन्त में जो टिप्पणी की है, उससे आर्य-समाज के आलोचक पटियाला अभियोग के सरकारी वकील श्री ग्रे ने, 'लन्दन टाइम्स' के विशेष प्रतिनिधि वेलेण्टाइन शिरोल ने तथा उत्तरप्रदेश गुप्तचर-विभाग के उपमहा-निरीक्षक सैण्ड्स ने यह परिणाम निकाला है कि वे गोरक्षा के लिए हिन्दू जाति में प्रच-लित धार्मिक भावना का लाभ उठाते हुए उन्हें गोमांस-भक्षक अंग्रेज शासकों के विरुद्ध विद्रोह के लिए संगठित करना चाहते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह उनकी लाल-बुझक्कड़ जैसी निराली और मौलिक सूझ थी। उन्होंने यह कल्पना सत्यार्थप्रकाश के आधार पर की थी, अतः यहाँ पहले इस विषय में स्वामीजी के ग्रन्थ का अवतरण देखना

आवश्यक है। इसे अविकल रूप में देना इसलिए आवश्यक है कि इससे स्पष्ट हो जाएगा कि आर्यसमाज पर सर्वथा निर्मूल और निराधार आरोप किस प्रकार लगाये जाते थे। गोरक्षा-विषयक अवतरण निम्नलिखित है—'

"जो-जो बुद्धि का नाश करने वाले पदार्थ हैं, उनका सेवन कभी न करें और जितने अन्न सड़े, बिगड़े, दुर्गन्ध आदि से दूषित, अच्छे प्रकार न बने हुए और मांसाहारी म्लेच्छ कि जिनका शरीर मद्यमांस के परमाणुओं से ही पूरित है, उनके हाथ का न खाये जिसमें उपकारक प्राणियों की हिंसा अर्थात् जैसे एक गाय के शरीर से दूध, घी, बैल, गाय उत्पन्न होने से एक पीढ़ी में चार लाख पचहत्तर सहस्र छः सौ मनुष्यों को सुख पहुँचता है, वैसे पशुओं को न मारे, न मारने दे। जैसे किसी गाय से बीस सेर और किसी से दो सेर दूध(प्रतिदिन)होवे, उसका मध्यभाग ग्यारह सेर प्रत्येक गाय से दूध होता है। कोई गाय अठारह और कोई छः महीने तक दूध देती है। इसका मध्यभाग बारह महीने हुए। अब प्रत्येक गाय के जन्म-भर के दूध से चौबीस सहस्र नौ सौ साठ मनुष्य एक बार में तृप्त हो सकते हैं। उसके छः बछिया, छः बछड़े होते हैं। उनमें से दो मर जायें तो भी दश रहे। उनमें से पाँच बछड़ियों के जन्म-भर के दूध को मिलाकर एक लाख चौबीस सहस्र आठ सौ मनुष्य तृप्त हो सकते हैं। अब रहे पाँच बैल, वे जन्म-भर में पाँच सहस्र मन अन्न न्यून-से-न्यून उत्पन्न कर सकते हैं। उस अन्न में से प्रत्येक मनुष्य तीन पाव खाये तो अढ़ाई लाख मनुष्यों की तृप्ति होती है। दूध और अन्न मिलाकर तीन लाख चौहत्तर सहस्र आठ सौ मनुष्य तृप्त होते हैं। दोनों संख्या मिलकर एक पीढ़ी में चार लाख पचहत्तर सहस्र छः सौ मनुष्य एक बार पालित होते हैं और पीढ़ी-दर-पीढ़ी बढ़ाकर लेखा करें तो असंख्यात मनुष्यों का पालन होता है। इससे भिन्न बैलगाड़ी, सवारी, भार उठाने के आदि कर्मों से मनुष्यों के बड़े उपकारक होते हैं, तथा गाय दूध में अधिक उपकारक होती है; और जैसे बैल उपकारक होते हैं, वैसे भैंसे भी हैं। परन्तु गाय के दूध-घी से जितने बुद्धि-वृद्धि से लाभ होते हैं, उतने भैंस के दूध से नहीं। इससे मुख्योपकारक आर्यों ने गाय को गिना है, और जो कोई अन्य विद्वान् होगा, वह भी इसी प्रकार समझेगा। बकरी के दूध से पच्चीस सहस्र नौ सौ बीस आदमियों का पालन होता है, वैसे हाथी, घोड़े, ऊँट, भेड़, गदहे आदि से बड़े उपकार होते हैं। इन पशुओं को मारने वालों को सब मनुष्यों की हत्या करने वाला जानियेगा। देखो, जब आर्यों का राज्य था तब ये महोपकारक गाय आदि पशु नहीं मारे जाते थे, तभी आर्यावर्त वा अन्य भूगोल देशों में बड़े आनन्द में मनुष्यादि प्राणी बर्तते थे, क्योंकि दूध, घी, बैल आदि पशुओं की बहुताई होने से अन्न-रस पुष्कल प्राप्त होते थे। जब से विदेशी मांसाहारी इस देश में आये, गौ आदि पशुओं के मारने वाले मद्य-पानी राज्याधिकारी हुए हैं, तब से क्रमशः आर्यों के दुःख की बढ़ती होती जाती है क्योंकि 'नष्टे मूले नैव फलं न पुष्पम्।' जब वृक्ष का मूल ही काट दिया जाय तो फल-फूल कहाँ से हो!"

उपर्युक्त अवतरण से स्पष्ट है कि गौ आदि पशुओं से होने वाले भारी आर्थिक लाभ को दृष्टि में रखते हुए स्वामीजी इन्हें मनुष्यों का उपकारक समझते थे और इनका वध करने के प्रबल विरोधी थे। इस अवतरण के पिछले भाग में इस बात पर दुःख प्रकट किया गया है कि जब से गौ-मांस खाने वाले विदेशी शासकों का इस देश में आगमन हुआ है तब से गोधन का तेजी से ह्रास होने लगा है और आर्यों के दुःखों में वृद्धि होने लगी है।

शिरोल आदि आर्यसमाज के विरोधियों का कहना है कि इसमें हिन्दुओं में व्यापक रूप से प्रचलित गोवध-विरोधी भावना का लाभ उठाते हुए भारतीयों को अंग्रेजों के विरुद्ध भड़काने का प्रयत्न किया गया है।

यह कई कारणों से केवल कपोलकल्पना प्रतीत होती है। इसमें गौ आदि पशुओं की हत्या का विरोध आर्थिक उपयोगिता के आधार पर करते हुए केवल विदेशी शासन में इनकी हत्या से होने वाले दुष्परिणामों पर दुःख और व्यथा प्रकट की गयी है। इसे किसी भी प्रकार से राजद्रोह नहीं कहा जा सकता है। इस विषय में प्रोफेसर रामदेव का यह मत ठीक प्रतीत होता है—"यह सन्दर्भ गोरक्षा के लिए वर्तमान सरकार से अपील है और इस बात पर खेद प्रकट करता है कि गोरक्षा करने वाले आर्य इस समय सत्तारूढ़ नहीं हैं। यह अर्थशास्त्री के दृष्टिकोण से विचार करने वाले और दयानन्द जैसा विश्वास रखने वाले व्यक्ति के लिए सर्वथा स्वाभाविक है। स्वामी दयानन्द ने इस विषय में आर्थिक स्थिति स्पष्ट करने पर अधिक बल दिया है। उनका उद्देश्य जनता को सरकार के विरुद्ध भड़काना नहीं है।"

(ग) स्वराज्य के मन्त्री—स्वशासन या होमरूल के अर्थ में स्वराज्य शब्द के प्रयोग को लोकप्रिय बनाने का श्रेय लोकमान्य तिलक को है। उन्होंने भारतीयों को स्वतन्त्रता का संघर्ष करने के लिए यह मूलमन्त्र और नारा प्रदान किया था कि "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।" राष्ट्रीय महासभा के मंच से इसका पहली बार प्रयोग डॉक्टर दादाभाई नौरोजी ने १९०६ में किया था। 'वन्दे मातरम्' की भाँति यह शब्द शीघ्र ही स्वतन्त्रता-संग्राम का एक प्रसिद्ध नारा बन गया और शासकों तथा ब्रिटिश अधिकारियों को इसमें क्रान्ति की ज्वालाएँ दिखायी देने लगीं। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ-प्रकाश के छठे समुल्लास में राजधर्म-वर्णन के प्रसंग में इस शब्द का एक दूसरे अर्थ में प्रयोग किया है। किन्तु वर्तमान शताब्दी के पहले दशक में तिलक के साथ इसका सम्बन्ध होने से पटियाला अभियोग के सरकारी वकील ग्रे तथा उसकी भाँति विचार रखने वाले अन्य व्यक्तियों ने स्वामीजी द्वारा इसके प्रयोग को राजद्रोह का प्रमाण माना है।

छठे समुल्लास में राजनीति का विवेचन करते हुए स्वामीजी ने यह प्रश्न उठाया है कि राजसभाओं के सभासद् और मन्त्री कैसे होने चाहिएँ? इसके उत्तर में उन्होंने इनके गुणों और योग्यताओं का विस्तृत परिचय देने के लिए मनुस्मृति के नौ श्लोकों को उद्धृत किया है। इनमें पहला श्लोक (७/५४) इस प्रकार है—

मौलान् शास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्ष्यान् कुलोद्भवान्।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्॥

इसका अर्थ करते हुए स्वामीजी ने लिखा है स्वराज्य, स्वदेश में उत्पन्न हुए वेदादि शास्त्रों के जानने वाले, शूरवीर, जिनका लक्ष्य अर्थात् विचार निष्फल न हो और कुलीन, अच्छे प्रकार सुपरीक्षित सात वा आठ, उत्तम धार्मिक चतुर व्यक्तियों को 'सचिवान्' अर्थात् मन्त्री बनाये। इसमें पहला शब्द मौल है। इसका शब्दार्थ मूल अथवा वंशपरम्परा से चले आने वाला व्यक्ति है। यह स्वाभाविक है कि ऐसा व्यक्ति अपने ही देश में उत्पन्न हुआ होगा, विदेश से नहीं आयेगा, अतः स्वामीजी ने यहाँ मौल का अर्थ किया है—स्वराज्य अर्थात् अपने राज्य वा स्वदेश अर्थात् अपने देश में उत्पन्न; यहाँ स्वराज्य शब्द का अर्थ स्वशासन (Home Rule) नहीं, अपितु अपना देश है। किन्तु वर्तमान शताब्दी

के पहले दशक में लोकमान्य तिलक द्वारा लोकप्रिय बनाया स्वराज्य शब्द अपने क्रान्तिकारी अर्थ में इतना प्रसिद्ध हो चुका था कि इसमें आर्यसमाज के आलोचकों को राजद्रोह की गन्ध आयी। उन्होंने इससे यह परिणाम निकाला कि जब स्वामी दयानन्द कहते हैं कि स्वराज्य और स्वदेश में उत्पन्न हुए व्यक्ति मन्त्री होने चाहिएँ तो उनका गूढ़ आशय यह है कि भारत में सारा शासन भारतीयों के हाथ में ही होना चाहिए। अंग्रेज विदेशी हैं, उनको यहाँ का शासक नहीं होना चाहिए। इससे यह ध्वनि निकाली जा सकती है कि विदेशी अंग्रेजों को भारत के शासन में कोई अधिकार नहीं होना चाहिए; उन्हें क्रान्ति करके हटा देना चाहिए। इस प्रकार यहाँ स्वामी दयानन्द ने अंग्रेजी शासन हटाने का परामर्श देकर आर्यसमाज को राजद्रोह करने के लिए प्रेरणा प्रदान की है।

यह अर्थ का अनर्थ करने का सुन्दर उदाहरण है। पटियाला अभियोग में सरकारी वकील ग्रे ने इसके गलत अर्थ और व्याख्या को सही मानने पर बड़ा बल दिया था। उनका कहना था कि अंग्रेजी अनुवादक ने यहाँ स्वराज्य का अर्थ अपने देश में उत्पन्न हुए के रूप में ठीक नहीं किया है। इसका अर्थ स्वशासन ही होना चाहिए। इस विषय में उनके भाषण के शब्द इस प्रकार हैं—

"पुनः पृष्ठ १९० पर वह (स्वामी दयानन्द) कहता है सात या आठ अच्छे धार्मिक और चतुर मन्त्री स्वदेश और स्वराज्य में उत्पन्न हुए तथा वेदों के पूर्ण ज्ञाता होने चाहिएँ। यहाँ पुनः अनुवादक ने इसका गलत अनुवाद करते हुए कहा है—'चतुर मन्त्री जो अपने देश में उत्पन्न हुए हैं।' स्वामीजी का आशय इससे अधिक है। वे कहते हैं 'स्वदेश या स्वराज्य में उत्पन्न।' इसमें कोई सन्देह नहीं कि मेरे मित्रों को स्वराज्य के बारे में बहुत-सी बातें कहनी होंगी, किन्तु इसमें कोई शक नहीं है कि आर्यसमाज-आन्दोलन के नेताओं का स्वराज्य शब्द से अभिप्राय है (भारतीयों के हाथ में) पूर्ण अधिकार और स्वशासन।"

वस्तुतः ग्रे द्वारा किया गया स्वराज्य का उपर्युक्त राजनैतिक अर्थ सर्वथा भ्रांतिपूर्ण है, सभी प्राचीन टीकाकारों के अर्थ के प्रतिकूल है। जब स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश लिखा था उस समय भारतीय भाषाओं में इसके स्वशासन वाले राजनैतिक अर्थ का प्रयोग आरम्भ नहीं हुआ था। यह सत्यार्थप्रकाश छपने के दो दशक बाद शुरू हुआ। उससे पहले इसका अर्थ केवल अपना देश था। न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "**राइज ऑफ मराठा पावर**" में लिखा था कि शिवाजी ने तत्कालीन राज्य को दो भागों में बाँट रखा था—स्वराज्य अर्थात् अपने द्वारा शासित प्रदेश और मुगलाई (मुगलों द्वारा शासित प्रदेश)। अतः मनु के श्लोक की स्वामी दयानन्द द्वारा की गयी व्याख्या सही है और इसका आशय है कि राज्य के मन्त्री अपने देश के ही होने चाहिएँ। ग्रे द्वारा किया गया अर्थ इस बात का प्रमाण है कि आर्यसमाज को राजद्रोही सिद्ध करने के लिए उसके आलोचक शब्दों की कितनी खींचतान, सर्वथा भ्रामक और गलत व्याख्या किया करते थे।

(घ) आतंकवाद का आरोप—पिछली शताब्दी के अन्तिम दशक में भारतीय आतंकवादी उच्च अंग्रेज अधिकारियों की हत्याएँ करना राजनैतिक आन्दोलन का अनिवार्य अंग समझते थे। १९०५ ईसवी में बंगभंग के बाद इस प्रकार के कार्य व्यापक रूप से होने लगे। खुदीराम बोस ने बम फेंका था। मदनलाल ढींगरा ने लन्दन में कर्जन वाइली की हत्या की थी। आर्यसमाज ने कभी इन हत्याओं का समर्थन नहीं किया था।

किन्तु आर्यसमाज के विरोधियों ने उस पर राजनैतिक हत्याओं की, उग्रवाद की राजद्रोह-पूर्ण नीति का समर्थन करने का आरोप सत्यार्थप्रकाश के आधार पर लगाया।

स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश के छठे समुल्लास में राजा द्वारा चोरों तथा अन्य अपराधियों को दण्ड देने की व्यवस्था का वर्णन मनुस्मृति के आधार पर किया है। इसमें कुछ विशेष प्रकार के आततायी कहे जाने वाले अपराधियों को मारने में कोई दोष नहीं बताया है। आततायी का अर्थ है भयंकर अपराध करने वाला। 'वसिष्ठ स्मृति' में इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि आग लगाने वाला, विष देने वाला, हाथ में हथियार लेकर निरपराध व्यक्तियों की हत्या में तत्पर, दूसरों का धन हरण करने वाला, पराया खेत छीनने वाला, पराई स्त्री को उड़ाने वाला, ये छः प्रकार के आततायी हैं।[1] ये धर्म का परित्याग करने वाले हैं, अतः मनु ने इनको मारने में कोई दोष नहीं माना है। इस विषय में स्वामीजी ने उसके निम्नलिखित दो श्लोक उद्धृत किये हैं—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥
नाततायिवधे दोषो हंतुर्भवति कश्चन।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तम्मन्युमृच्छति॥ (मनु ८।३५०-१)

स्वामीजी ने इनका अर्थ करते हुए लिखा है—"चाहे गुरु हो, चाहे पुत्र आदि बालक हों, चाहे पिता आदि वृद्ध, चाहे ब्राह्मण और बहुत-से शास्त्रों का श्रोता (ज्ञाता) क्यों न हो, जो आततायी (धर्म को छोड़कर अधर्म में वर्तमान) दूसरों को बिना अपराध मारने वाले हैं, उनको विना विचारे मार डालना, अर्थात् मारने के पश्चात् विचार करना चाहिए। आततायी (दुष्ट पुरुषों) को मारने में हन्ता को पाप नहीं होता है। चाहे यह प्रसिद्ध (खुले रूप में) हो अथवा अप्रसिद्ध, क्योंकि क्रोधी को क्रोध से मारना जानो, क्रोध से क्रोध की लड़ाई है।"

उपर्युक्त अवतरण से स्पष्ट है कि यदि कोई आततायी व्यक्ति हत्या के इरादे से आ रहा हो, भले ही वह गुरु, बच्चा, बूढ़ा, ब्राह्मण क्यों न हो, उसकी हत्या में कोई दोष नहीं होता है। मनु की यह व्यवस्था प्रायः सभी देशों के दण्ड-विधानों में पायी जाती है। विभिन्न प्रकार के भीषण अपराध करने वालों को कानून द्वारा रक्षा की परिधि से बाहर (outlaw) घोषित किया जाता है, इन्हें मारने में कोई दोष नहीं समझा जाता। बहुधा कई हत्यायें करने वाले डाकू इस प्रकार (outlaw) घोषित करके कानून का संरक्षण पाने से वंचित कर दिये जाते हैं। इनकी हत्या करने वाले अपराधी नहीं समझे जाते हैं, अपितु समाजद्रोही तत्त्वों को नष्ट करने में सहायक होने के कारण पुरस्कारों से सम्मानित किये जाते हैं। भारतीय दण्ड-विधान की धारा ९६, ९७, ९८ में इसको आत्मरक्षा के अधिकार के रूप में कुछ शर्तों के साथ स्वीकार किया गया है।

किन्तु ग्रे ने पटियाला अभियोग में स्वामीजी के उपर्युक्त संदर्भ को सर्वथा विकृत रूप में प्रस्तुत किया और इससे यह परिणाम निकाला कि इसमें हत्या का समर्थन किया गया है। इससे ग्रे यह बताना चाहते थे कि आर्यसमाज क्रान्तिकारियों द्वारा की जाने

---

१. **अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहा।**
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः॥ (वसिष्ठस्मृति अध्याय ३)

वाली अंग्रेजों की हत्याओं में कोई दोष नहीं समझता है और इस प्रकार लोगों को इसके लिए प्रेरित करता है, हिंसा और हत्या के लिए उत्तेजित करता है। चतुर वकील की तरह ग्रे स्वामीजी के ग्रन्थ से केवल अपना आशय सिद्ध करने वाले वाक्य ले लेता है, उसके साथ लगी शर्तों को छोड़ देता है और जहाँ कहीं उसको अनुवाद उसके द्वारा की गयी व्याख्या में बाधक प्रतीत होता है तो वह इसका सारा दोष अनुवादक पर मढ़ देता है। ग्रे के मूल शब्द इस प्रकार हैं—"एक अन्य संदर्भ में अंग्रेजी अनुवादक ने पुनः मूल शब्दों के अर्थ को बदलने का प्रयास किया है। यह संदर्भ पृष्ठ २८५ पर है। अनुवाद में कहा गया है कि हत्या का अपराध करने वाले का वध करने में कोई पाप नहीं है। मैं इसके साथ सहमत हूँ, किन्तु मूल ग्रन्थ में यह बात नहीं है।" इसके बाद ग्रे ने सत्यार्थ-प्रकाश के हिन्दी अनुवाद से यह वाक्य पढ़कर सुनाया कि दुष्ट पुरुषों को मारने में हन्ता को पाप नहीं होता है। इसके बाद उन्होंने यह परिणाम निकाला है कि इसके अनुसार शत्रु या दुष्ट व्यक्ति के मारने में कोई दोष या अपराध नहीं है। इससे ग्रे यह सिद्ध करना चाहते थे कि अंग्रेज देश के शत्रु और दुष्ट हैं। उनकी क्रान्तिकारियों द्वारा हत्या करना कोई अपराध नहीं है। यह एक खतरनाक सिद्धान्त है और राजद्रोह की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करता है, अतः आर्यसमाज राजद्रोही संस्था है।

ग्रे का यह निष्कर्ष तथा आर्यसमाज पर आरोप सर्वथा मिथ्या हैं। उसने स्वामी-जी के उपर्युक्त अवतरण में से अपने मतलब का एक वाक्य निकाल लिया है। उसके साथ लगी शर्तों तथा प्रकरण को बिल्कुल छोड़ दिया है। यदि समूचे प्रकरण को देखा जाय तो स्वामी दयानन्द ने आततायी के ही वध का समर्थन किया है जो सर्वथा उचित है और भारतीय दण्ड-विधान में, तथा जगत् की सभी कानूनी पद्धतियों में स्वीकार किया जाता है।

(ङ) **वेदज्ञ शासक और ब्रिटिश सरकार**—स्वामी दयानन्द ने छठे समुल्लास में मनुस्मृति के प्रमाणों के आधार पर राजा एवं राज्य के प्रमुख अधिकारियों के लिए वेद-शास्त्र का विद्वान् होना आवश्यक माना है। उनका यह विश्वास है कि—"वेदों को न जानने वाले मूर्ख जिसे धर्म कहते हैं, उसे नहीं मानना चाहिए।" ग्रे ने इस पूरे प्रकरण पर विचार किये बिना यह परिणाम निकाला है कि अंग्रेज शासक वेद नहीं जानते हैं, वेदों में श्रद्धा नहीं रखते हैं, इसलिए वे मूर्ख हैं। अतः उनके द्वारा बनाये गये विधि-विधानों और कानूनों को नहीं मानना चाहिए। इस प्रकार स्वामीजी ने इस सन्दर्भ में भारतीयों को ब्रिटिश सरकार के कानूनों की अवज्ञा करने तथा राजद्रोह करने का पाठ पढ़ाया है।

ग्रे का यह अर्थ कितना गलत और भ्रान्तिपूर्ण है, यह बात इस पूरे प्रकरण को देखने से भली-भाँति स्पष्ट हो जाएगी। स्वामीजी ने राज्य के प्रमुख पदाधिकारियों राजा, प्रधान सेनापति आदि के गुणों तथा योग्यताओं का वर्णन करते हुए मनु के निम्न-लिखित श्लोक उद्धृत किये हैं—

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥
एकोपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥

अव्रतानामसमन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।
सहस्रशः समेतानां परिषत्वं न विद्यते ।।
यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः ।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तृननुगच्छति ।।
(मनु १२/१००, ११३-५)

स्वामीजी ने इनका अर्थ इस प्रकार किया है—"सब सेना और सेनापतियों के ऊपर राज्याधिकार, दण्ड देने की व्यवस्था के सब कार्यों का आधिपत्य और सबसे ऊपर वर्तमान सर्वाधीश राज्याधिकार इन चारों अधिकारों में (पदों पर) सम्पूर्ण वेदशास्त्रों में प्रवीण, पूर्ण विद्या वाले धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, सुशीलजनों को स्थापित करना चाहिए अर्थात् मुख्य सेनापति, मुख्याधिकारी, मुख्य न्यायाधीश, प्रधान और राजा ये चार **सब विद्याओं में पूर्ण होने चाहिएँ।** यदि एक-अकेला सब वेदों का जानने वाला, द्विजों में उत्तम, संन्यासी, जिस धर्म की व्यवस्था करे वही श्रेष्ठ धर्म है, क्योंकि अज्ञानियों के सहस्रों, लाखों, करोड़ों मिलके जो व्यवस्था करें, उसको कभी न मानना चाहिए। जो ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण आदि व्रत वा वेदविद्या का विचार से रहित, जन्ममात्र से शूद्रवत् वर्तमान हैं, उन सहस्रों मनुष्यों के मिलने से भी सभा नहीं कहाती। जो अविद्यायुक्त मूर्ख, वेदों के न जानने वाले मनुष्य जिस धर्म को कहें उसको कभी न मानना चाहिये, क्योंकि जो मूर्खों के कहे हुए धर्म के अनुसार चलते हैं, उनके पीछे सैकड़ों प्रकार के पाप लग जाते हैं।"[1]

महर्षि के उपर्युक्त सन्दर्भ को ध्यान से पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रे ने इससे जो अर्थ निकाला है, वह निराधार, निर्मूल, प्रकरणविरुद्ध, असंगत, भ्रामक, गलतबयानी करने वाला, और दूषित हैं। ग्रे जहाँ वेद को विशिष्ट संहिताओं के संकीर्ण अर्थ में लेता है, वहाँ स्वामीजी इसे विद्ज्ञाने धातु के आधार पर अतीव व्यापक अर्थ में सब प्रकार का ज्ञान और सब विद्यायें मानते हैं। मनु तथा स्वामीजी की उपर्युक्त व्यवस्था का यह आशय है कि राज्य के प्रमुख अधिकारियों को सब प्रकार की विद्याओं में पारंगत होना चाहिए। वे इनमें जितने प्रवीण होंगे, शासनकार्य का संचालन उतनी अधिक कुशलता से सम्पन्न कर सकेंगे; मूर्खों के हाथ में शासन नहीं दिया जाना चाहिए। इस सिद्धान्त पर किसी को भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती है।

यदि वेद को संहिताओं के संकीर्ण अर्थ में ही लिया जाय, तो भी इस पर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती है। इस विषय में प्रोफेसर रामदेव का यह विचार ठीक प्रतीत होता है कि जिस समय मनु ने उपर्युक्त व्यवस्था की थी, उस समय देश में वैदिक संस्कृति का प्रचलन था और इसका मूल वेदों में निहित था। इसलिए शासक एवं उच्च अधिकारियों के लिए वेदों का ज्ञान आवश्यक था। स्वामी दयानन्द इसका अनुसरण करते हुए तथा वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानते हुए अपने आदर्श राज्य में राजा और उसके मन्त्रियों के लिए वेदवेत्ता होना आवश्यक समझते थे।

यह स्थिति कुछ अंशों में ब्रिटिश युग में भी प्रचलित थी। वेदों में विश्वास रखने वाले हिन्दुओं के विवाह, उत्तराधिकार आदि के मामलों में ब्रिटिश अदालतों द्वारा हिन्दू कानून का पालन किया जाता था, इसका एक प्रधान स्रोत वेदादिशास्त्र, धर्मसूत्र, स्मृतियाँ और निबन्ध-ग्रन्थ थे। जब कभी हिन्दू कानून के बारे में कोई जटिल प्रश्न

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० १२८

प्रस्तुत होता है तो इसका निर्णय इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर किया जाता है।

ग्रे ने राजद्रोह को सिद्ध करने के लिए एक भ्रान्तिपूर्ण कल्पना यह की है कि यहाँ वेद न जानने वाले मूर्खों का कहना न मानने की बात साधारण जनता से कही गयी है। इसीलिए उसने इसे राजा की आज्ञा का उल्लंघन करने की प्रेरणा देने वाला राजद्रोहपूर्ण कार्य माना है। वस्तुतः ऐसा नहीं है। समूचे प्रकरण को पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मनु द्वारा ऐसा परामर्श राजा तथा अधिकारियों को दिया गया है, न कि जनता को। अतः यहाँ साधारण प्रजा को राजाज्ञा की अवहेलना के लिए प्रेरित करने का कोई प्रश्न ही नहीं पैदा होता है।

कानून में शब्दों की निश्चित और सही व्याख्या पर बहुत बल दिया जाता है। आर्थर ग्रे अपने समय में लाहौर के मूर्धन्य वकील थे। किन्तु इस मामले में उन्होंने शब्दों की सही व्याख्या को तिलांजलि देते हुए उपर्युक्त सन्दर्भ से यह परिणाम निकाला है—"पृ० १८८ पर स्वामी दयानन्द ने कहा है कि यदि आवश्यक हो तो व्यक्ति को अपना समूचा प्रभाव और शक्ति ऐसे राजा का विध्वंस करने में लगाना चाहिए जो वेदों की बारीकियों को न जानता हो।" उपर्युक्त उद्धरण में ऐसी कोई बात न होने से ग्रे का यह कथन सर्वथा अप्रामाणिक और अविश्वसनीय है।

(च) सैनिक विषयों का प्रतिपादन—१८५७ में सैनिकों द्वारा उत्तर भारत के बड़े भाग में विद्रोह करने के बाद ब्रिटिश शासकों ने भविष्य में इसकी पुनरावृत्ति रोकने के अनेक उपाय किये थे। उनमें एक नये शस्त्र-कानून का निर्माण था। इससे उन्होंने भारतीयों के लिए सामान्य रूप से बन्दूक, रायफल, रिवाल्वर आदि घातक अस्त्र रखना कानून द्वारा वर्जित कर दिया। भारतीय इन्हें सम्बद्ध अधिकारियों से लाइसेंस प्राप्त करके ही रख सकते थे। उन्हें यह आशंका थी कि यदि भारतीयों को हथियार रखने की अनुमति दी गयी तो वे पुनः सशस्त्र विद्रोह कर सकते हैं। इसके साथ ही, ब्रिटिश शासन के कुछ अत्यधिक उत्साही समर्थक भारतीयों के लिए सैनिक विषयों की चर्चा करना अवैध तथा राजद्रोह को भड़काने वाला कार्य समझते थे। उनका यह विश्वास था कि इससे ब्रिटिश सरकार की सत्ता के लिए संकट पैदा हो सकता है। स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश के छठे समुल्लास में मनुस्मृति के आधार पर राजधर्म की विवेचना करते हुए कुछ सैनिक विषयों का उल्लेख किया है, क्योंकि सेना राज्य का आवश्यक अंग है। इनमें लड़ाई के समय शत्रु पर चढ़ाई करते हुए विभिन्न प्रकार के व्यूहों की रचना (पृष्ठ १३९-४१) तथा लड़ाई के समय शत्रु के साथ व्यवहार के नियम (पृष्ठ १३२-३४) उल्लेखनीय हैं। इसके कुछ सन्दर्भों को लेकर ग्रे ने स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज को बदनाम करने का प्रयत्न किया है। अतः इनका उल्लेख पहले स्वामीजी के शब्दों में किया जाएगा।

महर्षि के मतानुसार "राज्य सब राजपुरुषों को युद्ध करने की विद्या सिखाये। जो पूर्वशिक्षित योद्धा होते हैं, वे ही अच्छी प्रकार लड़ना जानते हैं। जब शिक्षा करे तब (दण्ड व्यूह) दण्ड के समान (सीधा) सेना को चलावे, (शकट) जैसा शकट अर्थात् गाड़ी के समान, (वराह) जैसे सूअर एक-दूसरे के पीछे दौड़ते जाते हैं और कभी-कभी मिलकर झुण्ड हो जाते हैं वैसे, (मगर) जैसे मगर पानी में चलते हैं वैसे सेना को बनावे, (सूची व्यूह) जैसे सुई का अग्रभाग सूक्ष्म, पश्चात् स्थूल और सूत्र स्थूल होता है, वैसी शिक्षा से सेना को बनावे, जैसे (नीलकण्ठ) ऊपर से नीचे झपट्टा मारता है, इस

प्रकार सेना को लड़ावे। (४), जिधर भय विदित हो उसी ओर सेना फैलावे, सब सेना के पतियों को चारों ओर रखके। (पद्म व्यूह) अर्थात पद्माकार चारों ओर से सेनाओं को रख के मध्य में आप रहे। (५) सेनापति और बलाध्यक्ष अर्थात् आज्ञा को देने और सेना के साथ लड़ने वाले वीरों को आगे दिशाओं में रखे। जिधर लड़ाई होनी हो उसी ओर सब सेना का मुख रखे, परन्तु दूसरी ओर भी पक्का प्रबन्ध रखे नहीं तो पीछे या पार्श्व से शत्रु का घात होने का सम्भव होता है। (६) जो थोड़े-से पुरुषों के साथ युद्ध करना हो तो मिलकर लड़ावे और काम पड़े तो उनको झट फैला देवे। जब नगर, दुर्ग या शत्रुसेना में प्रविष्ट होकर युद्ध करना हो तब (सूची व्यूह) अथवा (वज्र व्यूह) जैसे दुधारा खड्ग दोनों ओर काट करता है वैसे युद्ध करते जाय और प्रविष्ट भी होते चले। वैसे अनेक प्रकार के व्यूह अर्थात् सेना को बनाकर लड़ावे। जो सामने शतघ्नी (तोप) या भुशुण्डी (बन्दूक) छूट रही हो तो (सर्प व्यूह) अर्थात सर्प के समान सोते-सोते (जमीन पर रेंगते हुए)चले जाए। जब तोपों के पास पहुँचे तब उनको मार व पकड़ तोपों का मुख शत्रु की ओर फेर उन्हीं तोपों से या बन्दूक आदि से उन शत्रुओं को मारे अथवा वृद्ध पुरुषों को तोपों के मुख सामने घोड़ों पर सवार करके दौड़ावे और मारे; बीच-बीच में अच्छे सवार रहें, एक बार धावा कर शत्रु की सेना को छिन्न-भिन्न कर पकड़ ले अथवा भगा दें। (८) जो समरभूमि में युद्ध करता हो तो रथ, घोड़े और पदातियों से और जो समुद्र में युद्ध करता हो तो नौका और थोड़े जल में हाथियों पर, वृक्ष और झाड़ी में बाण से तथा स्थल बालू में तलवार और ढाल से युद्ध करे और करावे। (९)"

स्वामी जी द्वारा मनुस्मृति के श्लोकों के आधार पर बताये युद्ध के उपर्युक्त नियमों, सैनिकों द्वारा विभिन्न प्रकार की रचनाओं तथा लड़ाई की चालों के वर्णन पर ग्रे ने बड़ी आपत्ति की है। उसका कहना है कि—"इनका धार्मिक मामलों से कोई सम्बन्ध नहीं और शान्तिपूर्ण होने का दावा करने वाली संस्था के लिए इनका कोई औचित्य नहीं है। इनका इतने विस्तार से प्रतिपादन करना ही यह सूचित करता है कि इस संस्था के कुछ राजनैतिक उद्देश्य थे। वह अपने सदस्यों को परेड और कवायद (Drill) की विभिन्न विधियाँ सिखाकर उन्हें अंग्रेजों के साथ लड़ने में इतना कुशल बनाना चाहती थी कि वे ब्रिटिश सेना को हरा सकें और अपना राज्य स्थापित कर सकें। इस विषय में पटियाला अभियोग में उन्होंने कहा था—

"अब हर हालत में मुझे यह कहा जायगा कि यदि स्वामीजी के मन में कुछ राजनैतिक महत्त्वाकांक्षायें थीं तो भी अत्यधिक शान्तिमय और निर्दोष थीं। उनके तथा उनके अनुयायियों के मन में कभी यह बात नहीं थी कि वे किसी प्रकार अपना ऐसा कोई संगठन बनायें जिससे वे उनके (अंग्रेजों) शासन का तख्ता पलटने का प्रयास करें, जिनको भगवान् ने उन पर शासन करने के लिए रखा है। यदि ऐसा है तो फिर ऐसे आदर्श राज्य के वर्णन की क्या आवश्यकता है जिसकी स्थापना के लिए प्रयास करना और जिसका सैनिक संगठन बनाना आर्यों का उद्देश्य है? स्वामी दयानन्द सेना के संगठन का सामान्य रूप में वर्णन नहीं करते हैं, अपितु वह उन ब्यौरे की बातों का विस्तारपूर्वक उल्लेख करते हैं जिनके अनुसार सेना की कवायद करायी जानी चाहिए। पृ० २०९ पर आपको इसके विस्तृत विवरण की बातें मिलेंगी। यह स्पष्ट है कि ये इंग्लैण्ड की ड्रिलबुक (सैनिकों को कवायद सिखाने की पुस्तक)से ली गई है। स्वामीजी ने इस पुस्तक में वर्णित सैन्य पंक्तियों

और स्तम्भों की विभिन्न रचनाओं के अनुसार सेना के व्यूहों का वर्णन किया है। इस प्रकार सावधानी से प्रशिक्षित सिपाहियों के उपयोग के बारे में गलतफहमी दूर करने के लिए उन्होंने पृ० ३६३ पर सैनिकों के कर्त्तव्यों का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया।" इसके बाद उन्होंने सत्यार्थप्रकाश से सैनिक के कुछ कर्त्तव्यों का विवरण अदालत को पढ़कर सुनाया।

ग्रे के ये आरोप हास्यापद, प्रकरण-विरुद्ध, निर्मूल एवं असंगत हैं। उसका यह मत प्रतीत होता है कि स्वामीजी ने ऊपर बतायी सूचीव्यूह, सर्पव्यूहादि विभिन्न सैनिक रचनाओं का विवरण ब्रिटिश सैन्य विभाग द्वारा प्रकाशित किसी पुस्तक से चुरा लिया है। यह तथ्य सुविदित है कि स्वामीजी अंग्रेजी नहीं जानते थे; वे इसे पढ़ना अवश्य चाहते थे किन्तु वेद-भाष्य तथा प्रचार-कार्यादि की व्यस्तताओं के कारण उन्हें इसके लिए आवश्यक अवकाश नहीं मिल सका। अतः उनके लिए यह सम्भव न था कि वे अंग्रेजी पुस्तकों से इस विषय में चोरी करते। उन पर पर यह आरोप लगाना ग्रे की मौलिक सूझ और कपोलकल्पना मात्र है। स्वामीजी ने यह सारा प्रकरण मनुस्मृति के आधार पर लिखा है और उसके श्लोकों के पूरे प्रतीक दिये हैं, अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वामीजी द्वारा इन विषयों का विवरण अंग्रेजी पुस्तक के आधार पर न होकर, मनुस्मृति के आधार पर है। इस स्मृति का समय प्राचीन परम्परा के अनुसार सृष्टि के आदि में माना जाता है'। डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल उसका निर्माण शुंगवंश के समय दूसरी शताब्दी ई० पू० में मानते हैं। हर हालत में यह रचना दो हजार वर्ष पुरानी है। इसमें विद्यमान बातों के लिए स्वामीजी को दो सौ वर्ष पुरानी इंग्लैण्ड की ड्रिलबुक से सामग्री चुराने की आवश्यकता नहीं थी।

ग्रे के युक्तिक्रम में एक बड़ा दोष यह है कि वह यह मान लेता है कि स्वामीजी ने सैनिक-संगठन का विवरण अपने अनुयायियों को शिक्षा देने के लिए लिखा है ताकि इसके अनुसार आर्यसमाज के सदस्यों को प्रशिक्षण दिया जाय और इन उपायों का प्रयोग करते हुए भारत में ब्रिटिश सत्ता के प्रबल आधार को चुनौती देकर विदेशी शासन की समाप्ति की जाय। यह निष्कर्ष इसलिये भ्रान्तिपूर्ण है कि स्वामी दयानन्द ने इस प्रकरण के शुरू में यह स्पष्ट कर दिया है कि राजा इस प्रकार अपनी सेना को युद्ध की शिक्षा दे। इतने बड़े पैमाने पर युद्धविधियों का प्रशिक्षण केवल राज्य द्वारा ही हो सकता है। यह ब्रिटिश युग में किसी राजद्रोही संस्था द्वारा किसी प्रकार सम्भव नहीं था और न ही स्वामीजी ऐसा करना चाहते थे। ग्रे द्वारा आर्यसमाज पर लगाया गया यह आरोप सर्वथा मिथ्या प्रतीत होता है।

प्रोफेसर रामदेव ने यह ठीक ही लिखा है कि ग्रे को प्राचीन भारतीय इतिहास का कुछ भी ज्ञान नहीं था। उसकी यह मान्यता थी कि सैनिक मामलों में प्राचीन भारतीय बिल्कुल कोरे थे, उन्हें सैनिक संगठन का कोई ज्ञान नहीं था, उन्हें यह विद्या पश्चिम से प्राप्त हुई है और वर्तमान भारतीय परिस्थितियों में प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर इस विषय की चर्चा करना राजद्रोहपूर्ण कार्य है। इसका खण्डन करने के लिए उन्होंने बड़े सुन्दर उदाहरण तथा अवतरण दिये हैं। **नीतिप्रकाशिका** तथा **शुक्रनीति** में बन्दूक आदि आग्नेयास्त्रों का विस्तृत वर्णन मिलता है। डॉक्टर आपर्ट तथा राजेन्द्रलाल मित्र ने इनके आधार पर इनका प्रामाणिक वर्णन प्रस्तुत किया है। पिछली शताब्दी में भारत में सेवा

करने वाले अनेक आई० सी० एस० अधिकारियों—एलफिन्सटन, हण्टर और विन्सेण्ट-स्मिथ ने अपने ग्रन्थों में सैनिक विषयों का विशद विवेचन किया है, किन्तु इनके किसी ग्रन्थ को राजद्रोहपूर्ण रचना नहीं माना गया तो फिर स्वामीजी के वर्णन को ऐसा क्यों माना जाय ? इस बारे में सबसे अधिक रोचक और प्रामाणिक उदाहरण **महेन्द्र सागर** नामक पुस्तक है। यह पटियाला राज्य के पुस्तकालय में विद्यमान उर्दू पुस्तकों के रजिस्टर में सं० १०४८ पर अंकित और उल्लिखित है। यह १२०० श्लोकों वाले **कामन्दकी राज-नीति** नामक एक संस्कृत ग्रन्थ का उर्दू अनुवाद और टीका है। इसे करने वाले १९वीं शती के सुप्रसिद्ध धर्मसुधारक मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी थे। उन्होंने इसे पटियाला राज्य के तत्कालीन शासक के पितामह महाराजा महेन्द्रसिंह को समर्पित किया है और उनके नाम पर इसका नाम **महेन्द्र सागर** रखा गया है। इस पुस्तक के १७वें अध्याय में सेना के संगठन, अनुशासन, कवायद, युद्धकला के नियमों जैसे विषयों का बड़ा सुबोध एवं संक्षिप्त प्रतिपादन है। पुस्तक के अन्त में उन व्यक्तियों की एक सूची दी गयी है जिन व्यक्तियों की प्रार्थना पर यह पुस्तक उन्हें भेजी गयी थी। इनमें से कुछ उल्लेखनीय नाम हैं—महाराजा दिग्विजयसिंह (बलरामपुर), नवाब मुहम्मद इब्राहीम (कोटला), सरदार सर अतरसिंह (भदौर), दीवान जयप्रकाशलाल। ये सब लोग ब्रिटिश साम्राज्य के प्रबल पोषक थे। यदि सैनिक विषयों की चर्चामात्र सर्वथा गैरकानूनी और निषिद्ध हो तो उपर्युक्त राजभक्त जमींदार इस पुस्तक को देखने के लिए कभी न माँगते। यदि यह पुस्तक राजद्रोहपूर्ण नहीं है तो सत्यार्थप्रकाश को भी ऐसा नहीं माना जाना चाहिए।

(छ) **आग्नेयास्त्रों का वर्णन**—एकादश समुल्लास में स्वामी दयानन्द ने आर्यावर्त के प्राचीन इतिहास का वर्णन करते हुए उस समय के हथियारों का विवेचन किया है। प्रायः यह कहा जाता है कि बारूद वाले हथियारों का प्रयोग इस देश में मुगल युग में सोलहवीं शताब्दी में पानीपत की पहली लड़ाई में उस समय शुरू हुआ जब मुगल सम्राट् बाबर ने १५२६ ई० में तोपों का प्रयोग करके इब्राहीम लोदी को हराया। स्वामीजी ने इस प्रसंग में पूर्वपक्ष की ओर से प्रश्न उठाया है कि "जो आग्नेयास्त्र आदि विद्या लिखी है, वे सत्य हैं या नहीं ? और तोप तथा बन्दूक उस समय में थीं या नहीं ? स्वामीजी का मन्तव्य है कि यह बात सच्ची है। ये शस्त्र उस समय थे। इनके स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने लिखा है कि जैसे कोई एक लोहे का बाण या गोला बनाकर उसमें ऐसे पदार्थ रखे जो अग्नि के लगने से वायु में धुआँ फैलाने और सूर्य की किरण या वायु को स्पर्श होने से अग्नि जला उठे, इसी का नाम 'आग्नेयास्त्र' है। जब दूसरा इसका निवारण करना चाहे तो उसी पर वारुणास्त्र छोड़ दे अर्थात् जैसे शत्रु ने शत्रु की सेना पर आग्नेयास्त्र छोड़कर नष्ट करना चाहा वैसे ही अपनी सेना की रक्षार्थ सेनापति वारुणास्त्र से आग्नेयास्त्र का निवारण करे। वह ऐसे द्रव्यों के योग से (बना) होता है जिसका धुआँ वायु का स्पर्श होते ही बादल होके झट वर्षने लग जाये, अग्नि को बुझा देवे। ऐसे नाग फाँस अर्थात् जो शत्रु पर छोड़ने से उसके अंगों को पकड़ करके बाँध लेता है। वैसे ही एक मोहनास्त्र अर्थात् जिसमें नशे की चीज डालने से जिसके धुएँ के लगने से सब शत्रु की सेना निद्रास्थ अर्थात् मूर्छित हो जाय, इसी प्रकार सब शस्त्रास्त्र होते थे। एक तार से व शीशे अथवा किसी और पदार्थ से विद्युत् उत्पन्न करके शत्रुओं का नाश करते थे, उसको भी 'आग्ने-यास्त्र, पाशुपतास्त्र' कहते हैं। तोप और बन्दूक के नाम अन्य देश-भाषा के हैं, संस्कृत और

आर्यावर्तीय भाषा के नहीं। किन्तु जिसको विदेशीजन तोप कहते हैं, संस्कृत और भाषा में उसका नाम शतघ्नी है और जिसको बन्दूक कहते हैं उसको संस्कृत और आर्य भाषा में भुशुण्डी कहते हैं।"

हथियारों का वर्णन करने से ग्रे ने इस प्रसंग को राजद्रोहपूर्ण माना है। वर्तमान शताब्दी के पहले दशक में भारतीय क्रान्तिकारी विस्फोटक पदार्थों से बमों का निर्माण करने लगे थे। वे इनका प्रयोग उच्च अंग्रेज अधिकारियों पर करके उनमें आतंक तथा भारतीयों में जागृति उत्पन्न करना चाहते थे। इन घटनाओं से भारत में अंग्रेजों की नींद हराम हो गयी थी और वे इस प्रकार के कार्यकलापों को सर्वथा समाप्त कर देना चाहते थे। इसकी कोई भी चर्चा उनके लिए असह्य थी। उनकी दृष्टि में यह राजद्रोहपूर्ण कार्य था। झाँसी में आर्यसमाज के एक उपदेशक पण्डित दौलतराम पर यह आरोप लगाया गया था कि वह छावनी के सैनिकों में सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास की कथा करके उन्हें राजद्रोहपूर्ण कार्यों के लिए उकसाना चाहता था।

(ज) अन्य धर्मों की कटु आलोचना—सर्वश्री मुंशीराम तथा रामदेव ने चौथे अध्याय में विस्तारपूर्वक यह बताया है कि स्वामी दयानन्द ने अन्य धर्मों की आलोचना सद्भावना से संयत शब्दों में की है। उन पर एक बड़ा आरोप यह लगाया जाता है कि उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के पिछले चार समुल्लासों में आर्यावर्त के विभिन्न पौराणिक मतों, बौद्ध, जैन आदि नास्तिक सम्प्रदायों और ईसाइयत तथा इस्लाम की बड़ी कड़ी आलोचना अतीव कठोर और भद्दे शब्दों में की है। इससे विभिन्न धर्मों में साम्प्रदायिक विद्वेष और तनातनी में वृद्धि हुई है, शान्तिभंग का संकट पैदा हुआ है। ग्रे ने पटियाला अभियोग के अपने भाषण में इस बात पर बल देते हुए कहा था—"आर्यसमाज इस बात की शिकायत करता है कि अन्य सभी धर्म इसकी आलोचना में विभिन्न प्रकार की बातें कहते हैं क्योंकि वे अन्य धर्मों की कमियों को बताते हैं। प्रायः प्रत्येक सामान्य व्यक्ति धार्मिक सुधारों का विरोध करता है और ऐसे व्यक्तियों का विरोध करता है, जो उसके धर्म के प्रतिकूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु यदि ईसाई, मुसलमान, हिन्दू और सिख आदि सब आर्यसमाज के विरोधी हैं तो इसका बड़ा कारण यह नहीं है कि स्वामी दयानन्द ने दूसरे धर्मों के दोष बताये हैं, अपितु यह है कि उसने गन्दी (Mean), भद्दी (Coarse) तथा अनुचित भाषा का प्रयोग किया है। उनकी वैदिक धर्म के अतिरिक्त दूसरे धर्मों के प्रति असंयत भाषा, उचित न ठहरायी जा सकने वाली आलोचना और गन्दी गालियाँ इसका कारण हैं। इसके बाद वकील ने अदालत में ईसाइयों के ईश्वर तथा मुसलमानों के खुदा के लिए भद्दे शब्दों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा कि यदि वह इस बात को सिद्ध कर दें कि आर्यसमाज के सदस्यों की आदत है कि वे अन्य धर्मों द्वारा माने जाने वाले ईश्वर के सम्बन्ध में अपशब्दों का प्रयोग करते हैं तो उनका यह अपराध भारतीय दण्ड-विधान की धारा ५०५ तथा १५३-ए के अन्तर्गत दण्डनीय होगा।

ग्रे के मतानुसार स्वामी दयानन्द तथा आर्यसमाजियों द्वारा की जाने वाली दूसरे धर्मों की आलोचना के प्रमुख दोष ये हैं—(१) यह आलोचना बड़ी कठोर है, (२) यह बड़ी असंयत एवं अपशब्दपूर्ण भाषा में की जाती है, (३) इसमें दूसरे धर्मों में परमपूज्य समझे जाने वाले परमेश्वर के बारे में गालियों तथा अपशब्दों का प्रयोग किया गया है।

प्रोफेसर रामदेव ने इन सब आरोपों की समीक्षा करते हुए ये परिणाम निकाले

हैं—(१) स्वामी दयानन्द द्वारा की जाने वाली आलोचना तत्कालीन परिस्थितियों में आवश्यक थी। जब किसी धर्म में भीषण दूषण और घोर विकृतियाँ आ जाती हैं तो प्रायः सभी सुधारक स्वामी दयानन्द के समान कठोर भाषा का प्रयोग करते हैं। (२) स्वामीजी द्वारा दूसरे धर्मों की आलोचना में प्रयुक्त भाषा असंयत नहीं है, अपितु अन्य धर्मों के समीक्षकों की तुलना में बड़ी संयत और मृदु है। स्वामीजी ने इस्लाम और ईसाइयत के बारे में जो समीक्षा की है वह इन धर्मों के अनुयायियों द्वारा की गयी आलोचना की तुलना में कम उग्र और तीखी है। (३) ईसाइयत, इस्लाम तथा पौराणिक धर्म की आलोचना के बारे में स्वामीजी पर उग्रता का आरोप लगाना ठीक नहीं है क्योंकि उनकी तुलना में अन्य लेखकों ने इन धर्मों की कहीं अधिक कठोर आलोचना की है। (४) स्वामीजी की आलोचना सदुद्देश्य से प्रेरित होकर की गयी है। यहाँ इन बातों को कुछ उदाहरणों से स्पष्ट किया जायगा।

(३) कठोर आलोचना के कारण तथा उदाहरण

स्वामी दयानन्द अपने समय के महान् धर्म-सुधारक थे। उन्होंने उस समय के मन्दिरों, मठों, साधुओं का घोर अधःपतन और भीषण दुर्दशा अपनी आँखों से देखी थी। वे भली-भाँति जानते थे कि धर्म-गुरुओं तथा पोपों द्वारा जनता का आर्थिक शोषण किस प्रकार हो रहा है। मूर्ति-पूजा, बाल-विवाह, जाति-प्रथा आदि कुरीतियाँ किस प्रकार हमारे धर्म व देश को निर्बल बना रही हैं, हमारे जातीय ह्रास की गति तीव्र बना रही हैं। इसे रोकने के लिए तत्काल प्रभावशाली कठोर उपायों का प्रयोग अतीव आवश्यक था। उस समय मीठी-मीठी, चिकनी-चुपड़ी बातों से काम नहीं चल सकता था; इन कुरीतियों की कठोर आलोचना आवश्यक थी। पुरानी और गहरी बीमारी में हल्की दवाइयाँ रोग का उन्मूलन करने में समर्थ नहीं होती हैं। स्वामीजी ने हरिद्वार के कुम्भ मेले पर हिन्दू-समाज में व्याप्त कुरीतियों तथा पाखण्डों का खण्डन करने के लिए पाखण्ड खण्डिनी पताका का उत्तोलन किया तो उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि उस समय भारतीय जनता जिस प्रगाढ़ मोह निद्रा में सो रही थी, उससे जगाने के लिए मृदुसंगीत की नहीं, कालभैरवी की आवश्यकता थी। उनके विरोधियो ने उनका प्रचार-कार्य रोकने के लिए उन पर जितने घातक प्रहार किये, विष दिया, शास्त्रार्थ के समय उन पर काला विषधर नाग फेंका, वे उतनी उग्रता से सामाजिक कुरीतियों का खण्डन करने में लग गये। प्रायः उनके जीवन-काल में उनके भक्त उन्हें कठोर खण्डन से विरत करने की चेष्टा किया करते थे। उनका अनुरोध था कि वे आलोचना में नरमी से काम लें। एक बार जब उनके भक्त ने उनसे ऐसा कहा था तो स्वामीजी ने उत्तर दिया कि—"पाप का पहाड़ नाखून काटने वाली नहनी से नहीं काटा जाता है, उस पर तो कुल्हाड़ा और फावड़ा चलाना पड़ता है।"

महान् सुधारक अतीव संवेदनशील होते हैं। वे जनता की दुर्दशा तथा जाति की व्यथा और कष्टों को बड़ी तीव्रता से अनुभव करते हैं और वैसे ही शब्दों में उनके निराकरण के उपायों का निर्देश करते हैं। जीवन में उनका प्रधान उद्देश्य होता है बुराइयों का निवारण और वे इसके लिए उत्तरदायी तत्त्वों और व्यक्तियों की कठोरतम शब्दों में भर्त्सना करने में कोई संकोच नहीं करते हैं, क्योंकि इन विकृतियों और बुराइयों से उनके मन में जो भीषण रोष और मन्यु उत्पन्न होता है, उसमें वे जनकल्याण की दृष्टि से कठोर

शब्दों का प्रयोग आवश्यक समझते हैं। हजरत ईसा को जेरूसलम के मन्दिर में, हजरत मुहम्मद को काबा में तथा मार्टिन लूथर को रोम के भव्य सेण्ट पीटर के गिरजाघर में पुरोहितों द्वारा धर्म-प्रचार के स्थान सम्पत्ति और सिक्के बटोरते हुए देखकर घोर कष्ट तथा गहरी वेदना हुई थी। उनके मन में पुजारियों के प्रति उग्र रोष तथा आक्रोश की भावना उत्पन्न हुई थी और उन्होंने धर्म के ढोंगियों के विरुद्ध जबरदस्त जिहाद छेड़ा था, इसी प्रकार स्वामी दयानन्द ने मठों-मन्दिरों में भीषण पतन की प्रक्रिया रोकने के लिए अपनी धार्मिक क्रान्ति का सिंहनाद किया था।

सुधारकों की मनोवृत्ति का विश्लेषण करते हुए प्रोफेसर रामदेव ने लिखा है—"सुधारक किसी व्यक्ति का या पुराने जमाने से चली आने वाली परम्परा का लिहाज नहीं करते हैं। उनमें सुधार की भावना सर्वोच्च होती है और वे अपने समाज के धार्मिक, नैतिक और बौद्धिक उत्कर्ष के लिए अन्य सभी विचारों को गौण समझते हैं। ऐसे असाधारण सुधारकों को उस नपैने से नहीं नापा जाना चाहिए, जिससे उन सामान्य मनुष्यों को नापा जाता है, जो विचारों तथा आदर्शों की दुनिया में नहीं रहते हैं, किन्तु सहानुभूति और घृणा, राग तथा वैर एवं वैयक्तिक ईर्ष्या-द्वेष के जगत् में रहते हैं, जिनमें नैतिक अन्तर्दृष्टि, बौद्धिक सूझ-बूझ और ऐतिहासिक दृष्टि का शोचनीय अभाव होता है। सुधारक महापुरुष किसी व्यक्ति से घृणा नहीं करते हैं। वे मनुष्यमात्र पर प्रीति रखते हैं। यदि वे कभी कटु (Pungent) तथा तीखी(Cutting) भाषा का प्रयोग करते हैं, चुभने वाले मजाक तथा कटु व्यंग्य-बाणों की वर्षा करते हैं तो इसका कारण यह होता है कि मानवीय पीड़ा की अनुभूति उन्हें ऐसे उपायों का अवलम्बन करने के लिए प्रेरित एवं विवश करती है जो उनसे भिन्न दृष्टिकोण रखने वालों को क्रूर प्रतीत होते हैं। उनकी कटु आलोचना कुशल शल्यचिकित्सक के उस नश्तर (Lancet) की भाँति है जिसका प्रयोग करते समय वह इस बात की परवाह नहीं करता है; इससे थोड़ी देर के लिए बीमार को यन्त्रणादायक (Excruciatiry) तथा हृदयविदारक (Poignant) पीड़ा होगी, वह रोगी के स्थायी कल्याण के लिए पीड़ादायक होने पर भी ऑपरेशन करता है। इसी प्रकार सुधारक समाज की जीवनी शक्ति को क्षीण करने वाली बुराइयों तथा अन्धविश्वासों के उन्मूलन के लिए कटु आलोचना का जो नश्तर चलाने का काम करता है, वह समाज के कल्याण की दृष्टि से करता है। इससे थोड़े समय के लिए भले ही कितनी ही अधिक मानसिक पीड़ा क्यों न हो, यह अन्ततोगत्वा उसे लाभ पहुँचाने वाली होती है। स्वामी दयानन्द ने हिन्दू समाज की कुरीतियों को दूर करने के लिए ऐसा नश्तर चलाया था; बड़ी कठोरता से सभी अवैदिक मतों का खण्डन बड़े ओजस्वी तथा प्रभावशाली शब्दों में किया था। उनका यह कार्य हिन्दू समाज की हितबुद्धि की दृष्टि से किया गया था।

स्वामीजी का उद्देश्य हिन्दू धर्म की रक्षा करना था। इस पर उस समय ईसाई तथा मुसलमान प्रचारकों के बड़े प्रबल आक्षेप हो रहे थे। इनसे समाज को बचाने के लिए उस समय स्वामीजी ने न केवल हिन्दू धर्म की, अपितु इस्लाम और ईसाइयत की समीक्षा की। यह एक अभूतपूर्व एवं क्रान्तिकारी कार्य था। हिन्दू धर्म की ओर से इससे पहले ऐसा प्रयास नहीं किया गया था। इससे ईसाइयों और मुसलमानों के आक्रमणों का न केवल समुचित प्रतिकार हुआ, अपितु उनके प्रयासों को गहरा धक्का लगा। हिन्दू धर्म छोड़ने वालों की संख्या घटने लगी। शुद्धि द्वारा हिन्दू-समाज में प्रवेश करने वालों की संख्या

बढ़ने लगी। ईसाई तथा मुस्लिम प्रचारकों के हिन्दू-समाज को आत्मसात् करने के सपने चकनाचूर होने लगे तो उन्होंने यह शोर मचाना शुरू किया कि आर्यसमाज बड़ा असहिष्णु और कठोर है; वह इनकी आलोचना में कटुभाषा का प्रयोग करता है। उनका यह आरोप कितना मिथ्या है, यह कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा।

ईसामसीह दो हजार वर्ष पूर्व जूडिया (वर्तमान इजराइल) में उस समय पैदा हुए थे, जब यहूदी धर्म और समाज में अनेक विकृतियाँ और दोष आ चुके थे। हजरत ईसा ने इसका सुधार करने का बीड़ा उठाया। जिस प्रकार स्वामी दयानन्द के सुधार-कार्य का उग्र विरोध मठाधीशों, महंतों, मंदिरों के पुजारियों और पुरोहितों ने किया था, उसी प्रकार ईसाइयत के संस्थापक का विरोध यहूदी धर्म के स्क्राइब तथा फैरिसी (Scribes and Pharisees) नामक पुरोहितों ने किया। इनके कार्यों की कटु आलोचना करते हुए हजरत ईसा ने इनके लिए जिन कठोर शब्दों का प्रयोग किया है, वे मैथ्यू द्वारा इंजील में निम्नलिखित रूप में मिलते हैं—

"हे स्क्राइब तथा फैरिसी लोगो ! तुम्हारा बुरा हो, क्योंकि तुम मनुष्यों के लिए स्वर्ग के राज्य का द्वार बंद करने वाले हो, क्योंकि तुम अपने धर्म का एक अनुयायी बनाने के लिए पृथिवी और समुद्र का चक्कर काटते हो और जब वह ऐसा बन जाता है तो तुम उसे अपने से दुगुना नरक का निवासी बनाते हो। तुम बेवकूफ और अंधे हो। तुम सफेदी से पुती हुई कब्रों जैसे हो, जिनका बाहरी हिस्सा बड़ा सुन्दर होता है, किन्तु अन्दर से वे मृत व्यक्तियों की हड्डियों से तथा सब प्रकार की गन्दगी से भरी होती हैं। तुम सांप हो, वाइपर नामक विषैले नाग की पीढ़ी हो, तुम नरक के प्रकोप(Damnation) से कैसे बच सकते हो !" ईसा ने अपने समय के सुधार-विरोधियों के लिए ढोंगी, साँप और नाग जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। उसके अनुयायी तथा रोम के पोप द्वारा ईसाइयत में लायी गयी विकृतियों और दोषों को दूर करने के लिए यूरोप में चलाये जाने वाले महान् सुधार-आन्दोलन (Reformation) के प्रवर्तक मार्टिन लूथर ने इससे भी अधिक भद्दी गालियों का प्रयोग किया था। उसने अपने समय में यूरोप पर हमला करने वाले मुस्लिम तुर्कों से पोप की तुलना करते हुए कहा था—"यदि तुर्क हमें जीत लेते हैं तो हम शैतान के हाथों में पड़ जायेंगे, किन्तु यदि हम पोप के अनुयायी बने रहे तो उसके साथ नरकगामी होंगे।" अन्यत्र उसने पोप को वैशाखनन्दन की उपाधि से विभूषित करते हुए लिखा है—"मेरे छोटे पोप, मेरे छोटे गधे ! सावधान रहो।" एक अन्य स्थान पर उसने पोप को सोडोम (नैतिक पतन की नगरी)का राज्यपाल(The Governor of Sodom) कहा है।

इंगलैण्ड के राजा हेनरी अष्टम (१४९१-१५४७ ई०) ने लूथर (१४८३-१५४६ ई०) द्वारा पोप का विरोध करने पर रोमन कैथोलिक चर्च का प्रबल समर्थन करने के लिए एक पुस्तक लिखी थी। पोप ने इससे प्रसन्न होकर उसे 'धर्मरक्षक' (Defender of the Faith) की पदवी दी थी। यह आज तक इंगलैण्ड के राजाओं के नाम के साथ जोड़ी जाती है। पोप के समर्थक हेनरी के लिए लूथर ने जिन शब्दों का प्रयोग किया था उनका कुछ नमूना इस प्रकार है—"यह कहना कठिन है कि क्या हेनरी का दिमाग मूर्खता से भी अधिक मूर्खतापूर्ण (Stupidity more stupid than the head of the Henry) है। उसने राजा का (उदार) हृदय रखते हुए मुझ पर आक्षेप

नहीं किया, अपितु धोखेबाज की धृष्टता (Impudence of a Knave) रखते हुए ऐसा किया है। धरती के इस सड़े कीड़े (rotten vermin of earth) ने मेरे जर्मन राजा की निन्दा की है। मुझे अब इस बात का पूरा न्यायोचित अधिकार है कि मैं 'अंग्रेज' राजा की गरिमा को उसकी अपनी गन्दगी और दुर्गंध से (dirt and ordure) से दूषित कर दूँ।" इस प्रसंग में यह उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है कि लूथर के हेनरी पर अत्यधिक आक्रोश और रोष का यह कारण था कि हेनरी ने अपनी पुस्तक में यथा-संभव सभी भद्दी गालियों तथा अपशब्दों के ऐसे अपूर्व भंडार का प्रयोग लूथर के लिए किया था कि लूथर को यह कहना पड़ा कि हेनरी ने इंगलैण्ड के भटियारखानों, मद्य-पानगृहों और चकलों में अपने व्यक्तियों को भेजकर इन भद्दी गालियों का संग्रह कराया था।

लूथर के समकालीन सुधारक भी अपने विरोधियों को गाली देने में कम पटु नहीं थे। कैल्विन (१५०९-१५६४ ई०) ने अपने विपक्षियों को धोखेबाज (Knave) पागल, पियक्कड़, गधा, बैल, बिल्ली और कुत्ता कहा था। कैल्विन के एक शिष्य बर्ज ने "गुरु गुड़ चेला चीनी" की कहावत सार्थक करते हुए लूथर-मतानुगामी एक पुरोहित टेलेमान पर निम्नलिखित गालियों की बौछार की थी—एकाक्षि राक्षस (Polyphe mus), बन-मानुष, हैट पहनने वाला और दो टाँगों पर चलने वाला बड़ा गधा, बनमानुस और जंगली गधे से मिलकर बना राक्षस।

स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रंथों में विरोधियों की आलोचना सद्भाव से करते हुए भी शालीनता और औचित्य की मर्यादा का सदा ध्यान रखा है। ईसा, लूथर और कैल्विन द्वारा विरोधियों को दी गयी भद्दी गालियाँ और अपशब्द कहीं नहीं कहे हैं। ग्रे यदि स्वामी दयानन्द की भाषा को असंयत और अनुचित कहता है तो ईसा और लूथर की भाषा को क्या कहा जायेगा?

ग्रे ने इस बात पर बहुत बल दिया है कि स्वामी दयानन्द ने ईसाइयों द्वारा परम पूज्य माने जाने वाले पैगंबर की माता कुमारी मरियम के बारे में तथा मुसलमानों के कुरान शरीफ में वर्णित स्वर्ग के विषय में बड़ी भद्दी भाषा का प्रयोग किया है। किन्तु उनकी तुलना इस विषय में ईसाई और मुसलमान लेखकों की समीक्षा से की जाय तो स्वामीजी की समीक्षा बड़ी मृदु प्रतीत होती है। कुमारी मरियम के पवित्रात्मा से दैवी गर्भ (Immaculate Conception) के बारे में आलोचना करते हुए स्वामीजी ने लिखा है—"भला जो परमेश्वर का नियम है, उसको कोई तोड़ सकता है? जो परमेश्वर भी नियमों को उलटा-पलटा करे तो उसकी आज्ञा को कोई न माने, और वह भी सर्वज्ञ और निर्भ्रम है। ऐसे तो जिस-जिस कुमारी के गर्भ रह जाय तब सब कोई ऐसे कह सकते हैं कि इसमें गर्भ का रहना ईश्वर की ओर से है और झूठमूठ यह कह दे कि परमेश्वर के दूत ने मुझे स्वप्न में कह दिया है कि यह गर्भ परमात्मा की ओर से है। जैसा यह असभ्य प्रपंच रचा है, वैसा ही सूर्य से कुन्ती का गर्भवती होना भी पुराणों में असंभव लिखा है। ऐसी-ऐसी बातों को आँख के अंधे गाँठ के पूरे लोग मानकर भ्रमजाल में गिरते हैं। यह ऐसी बात हुई होगी—किसी पुरुष के साथ समागम होने से मरियम गर्भ-वती हुई होगी; उसने वा किसी दूसरे ने ऐसी बात उड़ा दी होगी कि इसमें गर्भ ईश्वर की ओर से है।"

इसी घटना की आलोचना सुप्रसिद्ध ईसाई विचारक थामस पेन ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'एज आफ रीजन' (पृ० ६९) में निम्नलिखित शब्दों में की है—"यह कथा जिस रूप में बतायी जाती है उस रूप में ईश्वर की निन्दा करने वाली (Blasphemous) तथा अश्लील है। इसमें विवाह के लिए वाग्दान की जाने वाली युवती का वर्णन है। सरल भाषा में इस दशा में पवित्रात्मा ने अधर्मी (Impious) होने के बहाने से उसका सतीत्व भ्रष्ट किया। ल्यूक (१/३५) ने लिखा है—'पवित्रात्मा तेरे पास आयेगा और उच्चतम (भगवान्) की शक्ति अभिभूत कर लेगी।' इसके बावजूद जोसेफ ने बाद में उससे शादी की, उसे अपनी पत्नी बनाया और वह इस मामले में पवित्रात्मा का प्रतिद्वन्द्वी बना। जब इस प्रकार यह कथा कही जायेगी तो कोई भी ईसाई पादरी ऐसा नहीं है जो इसे स्वीकार करके लज्जित न हो···यह कहानी ठीक वैसी ही है जैसी यूनानी देवगाथा में ज्यूपिटर तथा लेडा की अथवा ज्यूपिटर और यूरोपा की कथा। ज्यूपिटर का इसी प्रकार का कामुक (Amorous) कार्य इस बात को स्पष्ट करता है कि ईसाई धर्म का निर्माण प्रकृतिपूजक देवगाथा (Heathen mythology) पर हुआ है।"

उपर्युक्त दोनों आलोचनाओं की तुलना से स्पष्ट हो जायेगा कि स्वामीजी की आलोचना सर्वथा संयत, शालीन और निष्पक्ष है। वे इसे ईश्वरीय नियमों के प्रतिकूल होने के कारण असम्भव समझते हैं और इसकी तुलना महाभारत में वर्णित कुन्ती की घटना से करते हैं और दोनों को समान रूप से असम्भव एवं कपोल-कल्पित बताते हैं। इससे स्पष्ट है कि स्वामीजी जहाँ ईसाइयत की आलोचना करते हैं, वहाँ उन्हें हिन्दू-मत की प्रकृति-विरुद्ध बातों की समीक्षा करने में भी कोई संकोच नहीं है। वे इस विषय में सब प्रकार के पक्षपात से मुक्त हैं। स्वामीजी की तुलना में थामस पेन की आलोचना अधिक कटु शब्दों में है और बाइबल को यूनानियों के देवताओं की कामुक लीला वाली कथाओं पर आधारित मानती है।

इसी प्रकार यदि कुरान शरीफ में वर्णित बहिश्त के विषय में स्वामीजी की समीक्षा की तुलना उनके समकालीन एवं मित्रतापूर्ण संबंध रखने वाले, एंग्लो-मुहम्मडन कालिज अलीगढ़ के संस्थापक सर सय्यद अहमद की आलोचना से की जाये तो पिछली आलोचना अधिक उग्र और कठोर है। स्वामीजी ने बहिश्त की समीक्षा में लिखा है—"भला यह कुरान का बहिश्त संसार से कौन-सी उत्तम बात वाला है? क्योंकि जो पदार्थ संसार में हैं, वही मुसलमानों के स्वर्ग में है और इतना विशेष है कि यहाँ जैसे पुरुष जन्मते, मरते जाते और आते-जाते हैं, उस प्रकार स्वर्ग में नहीं···मुसलमानों के स्वर्ग गोकुलिये के गोलोक और मन्दिर के सदृश दीखता है।"

सर सय्यद अहमद ने अपनी कुरान की व्याख्या 'तफसीरुल कुरान' (पृ० ३८-९) में बहिश्त पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि यह एक बगीचे जैसा है, इसके महल संगमरमर के बने हुए हैं, इनमें मोती जड़े हुए हैं, हरे-भरे पेड़ हैं, दूध, शराब और शहद की नहरें हैं, सब प्रकार के फल खाने के लिए हैं, बड़ी सुन्दर, चाँदी की चूड़ियाँ पहने साकी प्यालों में शराब ढाल रही हैं। चारों ओर विभिन्न मोहक कामोत्तेजक मुद्राओं में हूरें बैठी, लेटी हुई हैं। बहिश्त का इस प्रकार का विचार इतना बेहूदा है कि कोई आश्चर्य से यह कहे बिना नहीं रह सकता है कि यदि यही स्वर्ग है तो हमारे चकले बिना किसी अत्युक्ति के इनसे हजार गुना अच्छे हैं।"

स्वामी जी ने बहिश्त की तुलना पौराणिकों के गोलोक से की है और दोनों को एक-जैसा बताया है, किन्तु सर सय्यद अहमद ने इसे वेश्यालय से भी हीन बताया है। यह आलोचना स्वामीजी की समीक्षा की तुलना में अधिक तीखी और चुटीली है। कट्टर मौलवी सर सय्यद अहमद की इस्लाम की आलोचना से बड़े रुष्ट और क्षुब्ध थे। अतः आर्यसमाज पर कटु एवं उग्र आलोचना का दोषारोपण सही नहीं है।

(४) ईसाइयत की आलोचना

ईसाइयों ने स्वयमेव अपने धर्म की जो आलोचना की है, वह स्वामी दयानन्द की समीक्षा की तुलना में बहुत उग्र है। यह बात थामस पेन, इंगरसोल आदि कुछ आलोचकों के उद्धरणों से स्पष्ट हो जायेगी।

बाइबल के सम्बन्ध में पेन का विचार था कि "बाइबल के आधे से अधिक भाग में अश्लील कहानियाँ (Voluptuous Debaucheries) के विवरण, क्रूर (Tortuous) हत्यायें, निर्मम प्रतिशोध के विवरण भरे हुए हैं। इसे भगवान् की वाणी के स्थान पर शैतान के वचन कहना अधिक तर्कसंगत होगा। यह मानव-जाति को भ्रष्ट एवं पशु बनाने वाली दुष्टता का इतिहास है। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं ईमानदारी से इससे घृणा करता हूँ।" बाइबल में वर्णित भगवान् के कार्यों की आलोचना करते हुए पेन ने लिखा है—"इस पुस्तक में ईश्वर के स्पष्ट आदेश से किये गये ऐसे कार्यों का वर्णन है जो मानव-जाति के नैतिक न्याय के प्रत्येक विचार की दृष्टि से उतने ही अधिक उद्वेग-जनक (Socking) है, जितने फ्रांस की राज्यक्रांति में रोबेस्पियर, कैरियर का जोसेफ-ले-बोन द्वारा या अन्य किसी व्यक्ति द्वारा किये गये कार्य थे।" यहूदियों के पैगम्बर हजरत मूसा के बारे में उसका यह विचार था कि "यदि बाइबल में दिया गया उसका विवरण सत्य हो तो विश्व-इतिहास के किसी भी युग में मूसा की अपेक्षा मनुष्यता के नाम को कलंकित करने वाला घृणा करने योग्य कोई बड़ा दुर्जन ढूँढना सम्भव नहीं है।" बाइबल के सम्बन्ध में उसने लिखा है कि यह झूठों, दुष्टता तथा ईश्वर-निन्दा से भरी पुस्तक है। इससे अधिक बड़ी ईश्वर-निन्दा क्या हो सकती है कि मनुष्य की दुष्टता का कारण भगवान् के आदेशों को बताया जाये!" पुराने अहदनामे के सुलेमान के शृंगारप्रधान अश्लील गीतों के बारे में पेन ने यह सम्मति प्रकट की थी कि "बूढ़े धर्मान्ध लोग ही कापुकता से भरे मूर्खतापूर्ण इन गीतों को भगवान् द्वारा बनाया गया मानते हैं।"

इंगरसोल पिछली शताब्दी में सं० रा० अमरीका के प्रभावशाली लेखक और वक्ता थे। उन्होंने अपने व्याख्यानों और निबन्धों में ईसाइयत की कड़ी आलोचना की है।[1] उनके मतानुसार "बाइबल नाम की पुस्तक ऐसे सन्दर्भों से भरी पड़ी है जो भीषण, अन्यायपूर्ण और अत्याचारपूर्ण है। पुराने अहदनामे में अदन के बगीचे में दिये गये ईश्वर के स्वरूप की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा है—"जब मैं बाइबल के भगवान् की चर्चा करता हूँ तो मेरा आशय ऐसे भगवान् से होता है जिसने मनुष्य को अमरता के वृक्ष का फल खाने से मना किया था, जिसने स्त्री की प्रसूति-व्यथा को बढ़ाया, मनुष्य के कठोर परिश्रम में वृद्धि की, जिसने क्रुद्ध होकर विश्व में जल-प्रलय कर दी, जिसकी पूजावेदियाँ

१. इंगरसोल्स लैक्चर्स एण्ड एसेज, फर्स्ट सीरीज, लन्दन, पृ० २३, १६१

मानव के रक्त से रंजित हैं, जो बच्चों का वध करता है, कुमारियों का सतीत्व भंग करता है, मनुष्यों को दास बनाता है, भूमण्डल पर क्रूरता तथा अपराधों में वृद्धि करता है, जिसका स्वर्ग केवल थोड़े-से लोगों के लिए तथा नरक अधिकांश लोगों के लिए है।"[1] इंगरसोल ने बाइबल पर एक बड़ी मनोरंजक टिप्पणी की है—"बाइबल में श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति विश्व के अनैतिक साहित्य की निन्दा करने में बड़े मुखर हैं, किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि अब तक ऐसी बहुत कम किताबें हैं जिनमें ईश्वर की वाणी समझी जाने वाली पुस्तक से अधिक अनैतिक कूड़ा-कर्कट हो।" ईसाइयत की इसी प्रकार की उग्र आलोचना फिलिप सिडनी ने 'नजारथ के ईसा के बारे में सत्य' (Truth About Jesus of Nazarath) में, डब्ल्यू आर० ग्रेग ने 'ईसाइयत का मूल'(Creed of Christendom) में, मैकेब ने 'बाइबल इन यूरोप' में की है। इसकी तुलना में स्वामीजी की आलोचना बहुत ही कम प्रखर है।

'आर्यसमाज तथा इसके निन्दक' के पाँचवें अध्याय में श्यामजी कृष्ण वर्मा की क्रान्तिकारी गतिविधियों के कारण आर्यसमाज पर लगाये जाने वाले आरोपों का खण्डन है। छठे अध्याय में लन्दन के 'टाइम्स' द्वारा भारत भेजे गये विशेष प्रतिनिधि वेलेण्टाइन शिरोल के लेखों में आर्यसमाज पर लगाये राजद्रोह के आरोपों की विस्तृत विवेचना की गयी है। इनका प्रतिपादन पृथक् अध्यायों में किया गया है। अतः यहाँ पृथक् रूप से इनकी समीक्षा करना आवश्यक नहीं प्रतीत होता है।

(५) भविष्य की झाँकी

उपर्युक्त पुस्तक के सातवें तथा अन्तिम अध्याय का शीर्षक है 'भविष्य की झाँकी'। इसमें उपसंहार के रूप में पहले पुस्तक के निष्कर्षों का संक्षिप्त प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि आरम्भ में ब्रिटिश अधिकारी आर्यसमाज के प्रति सहानुभूति रखते थे। वे इसे एक स्वस्थ सुधार-आन्दोलन के रूप में देखते थे। जातीय उन्नति के कार्य में इसे बहुमूल्य सहयोगी मानते थे। किन्तु जब स्वामी दयानन्द से प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने वाली पीढ़ी के ब्रिटिश अधिकारी सेवा-निवृत्त होने लगे तो सरकारी अधिकारियों के रुख में परिवर्तन आने लगा। वह पहले जैसा अनुकूल और सहानुभूतिपूर्ण नहीं रहा। समाज के प्रभाव में वृद्धि, सदस्यों की संख्या में बढ़ोत्तरी, प्रचार-कार्य में सफलता तथा धार्मिक शास्त्रार्थों में विजय ने आर्यसमाज के विरोधी उत्पन्न कर दिये। इन्होंने सरकारी अधिकारियों के कान भरने शुरू किये। आर्यसमाजी धर्मप्रचार-कार्य में लगे हुए थे। वे सरकारी अधिकारियों से दूर रहते थे। उनसे कोई सम्पर्क नहीं रखते थे। उन्हें विरोधियों के गुपचुप रीति से किये जाने वाले प्रचार का कुछ पता न था, अतः उन्होंने इसके प्रतिकार के कोई प्रयास नहीं किये। शनैः-शनैः सरकारी अधिकारी विरोधियों द्वारा दी जाने वाली रिपोर्टों और सूचनाओं के आधार पर आर्यसमाज के बारे में नाना प्रकार के सन्देह करने लगे। उस समय के ब्रिटिश अधिकारी गुप्तचरों की रिपोर्टों पर अधिक विश्वास रखते थे। प्रोफेसर रामदेव ने इस बारे में लिखा था—"समाज और सरकार में तनाव बढ़ने का प्रधान कारण यह तथ्य था कि कुछ अधिकारी जनता से सम्पर्क नहीं रखते थे और स्वयं इस

---

१. वही, पृ० ४२

बात पर विचार नहीं करते थे कि उन्हें दी गयी रिपोर्टें सच्ची हैं या झूठी।" अतः सरकारी अधिकारियों की आर्यसमाज के बागी होने की भ्रान्ति पुष्ट एवं सुदृढ़ होने लगी और आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था समझा जाने लगा।

इस भ्रम को दूर करने का एक महान् प्रयत्न इस पुस्तक द्वारा किया गया था। पुस्तक के लेखकों का ब्रिटिश शासन की न्याय-परायणता और निष्पक्ष मनोवृत्ति में अगाध विश्वास था। वे यह मानते थे कि यदि किसी प्रकार ब्रिटिश सरकार के अधिकारियों को उनका पक्ष प्रामाणिक रूप से विदित हो जाय तो वे उनके प्रति होने वाले अन्याय का तत्काल निवारण करेंगे। मुंशीराम जिज्ञासु ने पुस्तक की भूमिका में लिखा था—"हमारे शासकों की न्यायप्रियता की स्वाभाविक प्रवृत्ति में मुझे अविचल श्रद्धा और अटूट विश्वास है और इसीलिए यह ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। यदि मेरा यह विचार होता कि यह अरण्यरोदन सिद्ध होगा तो मैं आर्यसमाजियों को यह परामर्श देना अधिक पसन्द करता कि वे अपने उद्देश्य की सचाई में बिना किसी तनाव के पूर्ण विश्वास रखते हुए धैर्यपूर्वक कष्टों को सहें। किन्तु मेरे ऐतिहासिक अध्ययनों ने मुझे इस बात का विश्वास करा दिया है कि जहाँ इंग्लैण्ड न्यायपीठ पर विराजमान होता है, वहाँ किसी अच्छे पक्ष के प्रतिकूल निर्णय नहीं होता है, बशर्ते इसे तथ्यों और युक्तियों के आधार पर संयत, सौम्य और सन्तुलित ढंग से पेश किया जाय। जान बुल (इंग्लैण्ड) किसी पक्ष को भले ही देर में समझता है, किन्तु वह जानबूझकर किसी पक्ष के प्रति अन्याय नहीं करता है। सच्चे पक्ष को कई बार अपनी बात समझाने के लिए बार-बार दरवाजा खटखटाना पड़ता है। किन्तु एक बार प्रवेश मिल जाने पर सब बातें बिल्कुल ठीक हो जाती हैं। मुझे आशा है कि पहले कई आघात सह चुकने वाली मेरी श्रद्धा अब सत्य सिद्ध होगी तथा टरने वाले विरोधियों की आशाएँ भ्रान्तिपूर्ण प्रमाणित होंगी।"

इसी विश्वास को दूसरे शब्दों में प्रकट करते हुए प्रोफेसर रामदेव ने लिखा था —"हम आशा करते हैं कि यह पुस्तक अविश्वास के बादलों को छिन्न-भिन्न करेगी। आर्यसमाज (का सूर्य) इन बादलों से बाहर भव्य दीप्ति तथा निर्मल आभा के साथ निकलेगा। हमें जान बुल (इंग्लैण्ड) की न्याय-परायणता की सहज भावना में तथा जटिल समस्याओं को सुलझाने में उसकी स्वाभाविक क्षमता में इतना अधिक विश्वास है कि हम वर्तमान स्थिति में निराशापूर्ण दृष्टिकोण नहीं अपना सकते हैं।" फिर भी यदि प्रतिकूल स्थिति बनी रहे तो उनकी सम्मति में आर्यसमाज को भीषण कष्टों को धैर्यपूर्वक सहन करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए ताकि वे "अत्याचार की अग्नि में से शुद्ध-पवित्र होकर निकलें।"

(६) पुस्तक जब्त करने का विचार और कारण

महात्मा मुंशीराम ने अपनी पुस्तक 'आर्यसमाज और उसके निन्दक' वायसराय को-इस आशय के पत्र के साथ भेजी थी कि "उन्हें विश्वास है कि इससे आर्यसमाज तथा भारत के शासकों में अधिक सद्भाव उत्पन्न होगा। यह आर्यसमाज में ब्रिटिश सम्राट् के प्रति राजभक्ति की भावना को सुदृढ़ करने का साधन बनेगी तथा विरोधियों द्वारा आर्यसमाज के बारे में पैदा की गयी भ्रान्तियों को दूर करने में सहायक सिद्ध होगी।" किन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं हुआ। यह प्रयास अरण्यरोदन ही सिद्ध हुआ। उस समय के

ब्रिटिश अधिकारियों में इसने प्रतिकूल प्रभाव पैदा किया। गृह-विभाग में गुप्तचर-विभाग के निदेशक सी० आर० क्लीवलैण्ड ने जुलाई १९११ ई० की पत्रावली में इस पुस्तक की बड़ी कड़ी आलोचना की। उनकी यह टिप्पणी थी कि—"इस पुस्तक से तथा इससे पहले के लेखों से मुंशीराम का यह चित्र बड़ी स्पष्टता से उभरता है कि वह कटु धर्मान्ध है। वह आर्यसमाज पर किये जाने वाले आक्षेपों को बहुत बुरा मानता है, किन्तु इसके जवाब में आर्यसमाज की ओर से किये जाने वाले आक्षेपों को इस आधार पर न्यायोचित ठहराता है कि ये आर्यसमाज की रक्षा की दृष्टि से किये गये हैं।"[1] क्लीवलैण्ड ने इस पुस्तक के उद्देश्य पर तीव्र व्यंग्यपूर्ण टिप्पणी करते हुए लिखा था—"यह विश्वास करना कठिन है कि कोई समझदार व्यक्ति यह कल्पना कर सकता है कि इस पुस्तक में अभीष्ट प्रभाव पैदा करने की कोई भी क्षमता है।"

गृह-विभाग के कुछ अधिकारियों का यह विचार था कि यह पुस्तक ब्रिटिश सरकार द्वारा जब्त कर ली जानी चाहिए, क्योंकि इस पुस्तक के कुछ अंश आक्षेप-योग्य थे। इस पर प्रमुख आपत्तियाँ निम्नलिखित थीं— पुस्तक का सबसे अधिक आक्षेप-योग्य अंश पृष्ठ १३८ से २२६ तक के ९६ पृष्ठ थे। इनमें अन्य धर्मों पर स्वामी दयानन्द के आक्षेपों को न्यायोचित सिद्ध करने के लिए यह बताया गया था कि कुछ ईसाई, मुस्लिम तथा यूरोपियन लेखकों ने स्वामी दयानन्द की अपेक्षा बहुत अधिक गन्दी, अश्लील और ईशनिन्दापूर्ण (Blasphemy) भाषा का प्रयोग किया है। यह संग्रह प्रोफेसर रामदेव द्वारा किया गया था। यह सरकारी अधिकारियों की दृष्टि में विभिन्न धर्मों में वैमनस्य तथा विद्वेष उत्पन्न करने वाला था। महात्मा मुंशीराम द्वारा संकलित किये गये दूसरे भाग में दो सन्दर्भ सरकार के कानूनी विशेषज्ञों द्वारा आपत्तिजनक समझे गये। उनकी दृष्टि में प्रेस-कानून के अन्तर्गत इन पर कार्यवाही की जा सकती थी। पहला सन्दर्भ महात्मा मुंशीराम द्वारा १९०८ ई० में बच्छोवाली आर्यसमाज लाहौर के वार्षिकोत्सव पर दिया गया भाषण था। इसमें उन्होंने कहा था—"सरकारी अधिकारियों ने कुछ व्यक्तियों पर केवल इसलिए अत्याचार किये हैं कि वे एक विशेष धर्म (आर्यसमाज) को मानते हैं। इस प्रकार उन्होंने ब्रिटिश सम्राट् द्वारा (सब धर्मों के प्रति समान व्यवहार रखने की निष्पक्ष नीति) का अवलम्बन करने के सम्बन्ध में रखे जाने वाले विश्वास का घात किया है।" उनकी दृष्टि में यह कथन जनता में ब्रिटिश अधिकारियों के विरुद्ध दुर्भावना पैदा करने वाला था। इस प्रकार के आपत्तिजनक सन्दर्भों का अन्य उदाहरण परिशिष्ट सं० ७ था। इसमें आर्यसमाजियों पर सरकारी अधिकारियों द्वारा किये जाने वाले कुछ अत्याचारों का विस्तृत विवरण था। इस बारे में कानूनी विशेषज्ञों का मत था कि—"इस प्रकार की टिप्पणियाँ भारत में ब्रिटिश प्रशासन के प्रति असन्तोष को उभारने वाली हैं।"

इस विषय में कानूनी अनुस्मारक (Legal Rembrancer) ने उपर्युक्त पत्रावली पर यह टिप्पणी लिखी थी—"इस पुस्तक से यह प्रभाव पड़ता है कि सरकार ने सम्राज्ञी की घोषणा की अवहेलना करते हुए आर्यसमाज के साथ ध्यानपूर्वक (Studied) अन्याय-

---

१. भारत सरकार गृह विभाग, पोलिटिकल बी०, जुलाई १९११, नं० ५५-८, बुक एनटाइटल्ड 'दी आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स', ए विण्डिकेशन

पूर्ण व्यवहार किया है। इस प्रकार की टिप्पणियाँ भारत में ब्रिटिश प्रशासन के प्रति असन्तोष भड़काने वाली हैं। इस आरोप को पुष्ट करने के लिए आर्यसमाजियों के साथ उनके धर्म के कारण किये अन्यायपूर्ण व्यवहार के उदाहरण दिये गये हैं। ये वर्णन विकृत (Garbled) प्रतीत होते हैं। यदि ऐसा न हो, तो भी इनका प्रकाशन केवल दुर्भावना को उत्पन्न करने वाला है। मेरा विचार है कि प्रेस-एक्ट की धारा १२ के अन्तर्गत इस पुस्तक के विरुद्ध कार्यवाही करने का औचित्य है।"[१]

किन्तु आर्यसमाज के सौभाग्य से उच्चतम ब्रिटिश अधिकारी कानून-विशारदों की सम्मति से सहमत नहीं थे। उस समय संयुक्त प्रांत आगरा व अवध के लेफ्टीनैण्ट गवर्नर सर जान हिवेट थे। उनके मुख्य सचिव होज के कथनानुसार "वे केन्द्रीय विधि-विशारदों की राय से सहमत नहीं थे। चतुर्थ अध्याय को वे साम्प्रदायिक विद्वेष को उतने उग्र रूप में बढ़ानेवाला नहीं समझते थे, जितना भारत सरकार का कानून-विभाग समझता था। लेफ्टीनैण्ट गवर्नर का विश्वास था कि इस विषय में मुंशीराम का धार्मिक उत्साह उनके विवेक और आत्म-नियन्त्रण पर हावी हो गया है। मुझे वे ब्रिटिश सरकार के विरोधी नहीं प्रतीत होते हैं।" बाद में उत्तरप्रदेश के गवर्नर बनने वाले हारकोर्ट बटलर ने भी इससे सहमति प्रकट करते हुए लिखा था-"मैं पुस्तक के लेखक को व्यक्तिगत रूप से अच्छी तरह जानता हूँ और इस बात में विश्वास रखता हूँ कि वे पूरी ईमानदारी से (सरकार से) सम्बन्ध अच्छे बनाना चाहते हैं। मैं व्यक्तिगत रूप से उस परिवर्तन को प्रमाणित कर सकता हूँ कि जो अभी आर्यसमाज में आया है और जो इसके धार्मिक तथा सामाजिक पहलू पर बल दे रहा है। समय अपना कार्य कर रहा है। पटियाला के दुर्भाग्यपूर्ण अभियोग से आर्यसमाज में जो उत्तेजना (Exasperation) उत्पन्न हुई है, उसे शान्त होने का अवसर दिया जाना चाहिए।"[२] तत्कालीन संयुक्त प्रांत के मुख्य सचिव होज ने एप्रिल १९११ ई० में केन्द्रीय सरकार को एक पत्र में लिखा था कि इस पुस्तक को जब्त कर लेने से इसका विज्ञापन होगा तथा इसे वह महत्त्व मिल जायगा जो अब तक नहीं मिला है। भविष्य में यदि यह पुस्तक किसी आन्दोलन का केन्द्र बने तो इस पर कार्यवाही करना उचित होगा, किन्तु वर्तमान समय में लेफ्टीनैण्ट गवर्नर यह नहीं समझते हैं कि यह उचित अथवा आवश्यक है कि इसे छापने वाले के विरुद्ध कार्यवाही की जाय अथवा इसे जब्त करने की घोषणा की जाय।"[२]

इससे यह स्पष्ट है कि केन्द्रीय सरकार के विधिवेत्ता इस पुस्तक को जब्त करने तथा इसके प्रकाशक और लेखक पर अभी हाल में संशोधित किये गये प्रेस-एक्ट के अधीन कानूनी कार्यवाही करने के पक्ष में थे। किन्तु यह पुस्तक संयुक्त प्रान्त में छपी थी; वहाँ के सर्वोच्च अधिकारी लेफ्टीनैण्ट गवर्नर, मुख्य सचिव तथा हारकोर्ट बटलर का यह विचार था कि इस सुझाव पर कार्यवाही करना दो कारणों से उचित नहीं है—(१) पहा लाकारण तो यह है कि इस समय आर्यसमाज के साथ सरकार के सम्बन्ध अच्छे हो रहे हैं; ऐसा करने से सम्बन्ध सुधारने की दिशा में स्वाभाविक रूप से होने वाली प्रगति अवरुद्ध हो

---

१. पूर्वोक्त सरकारी पत्रावली

२. होम पोलिटिकल डिपार्टमेण्ट (डिपाजिट) पार्ट ए, एप्रिल १९१२ ई०, पार्ट बी, जुलाई १९११, सं० ५५-५८, राष्ट्रीय अभिलेखागार

जायगी। (२) दूसरा कारण ऐसी कार्यवाही से इस पुस्तक को मिलने वाले अनुचित महत्त्व का था। संयुक्त प्रान्त की सरकार की सम्मति को स्वीकार करते हुए केन्द्रीय सरकार ने ऐसी कार्यवाही करने का विचार छोड़ दिया, यद्यपि केन्द्रीय सरकार के विधिवेत्ताओं की सम्मति इसके सर्वथा प्रतिकूल थी।

इसका एक अन्य कारण सम्भवत: तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिंग का भारतीयों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रुख और व्यवहार भी सम्भव है। पहले इसकी चर्चा विस्तार से की जा चुकी है। यहाँ इस विषय में एक ही उदाहरण पर्याप्त है। पंजाब के लेफ्टीनैण्ट-गवर्नर सर माइकेल ओडवायर लाहौर षड्यन्त्र के मामले में भाई परमानन्द को फाँसी की सजा दिलवाना चाहते थे। न्यायालय के दो अंग्रेज जजों ने पुष्ट प्रमाण न होते हुए भी अभियुक्त को प्राणदण्ड दिया था, किन्तु लार्ड हार्डिंग ने अभियुक्त के दया के आवेदन-पत्र को स्वीकार करते हुए भाई परमानन्द सहित कुछ अभियुक्तों के प्राणदण्ड को आजीवन कारावास में बदल दिया। गुरुकुल तथा आर्यसमाज के सम्बन्ध में भी लार्ड हार्डिंग ने इसी प्रकार की मृदुता प्रदर्शित की थी।

इस प्रकार 'आर्यसमाज और उसके निन्दक' को लिखने वालों का उद्देश्य पूरा नहीं हुआ। यही गनीमत थी कि इस पुस्तक को जब्त नहीं किया गया और इसके लेखकों पर अभियोग नहीं चलाया गया। यह अपने-आप में सरकारी रुख में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का संकेत था। शनैः-शनैः आर्यसमाज-नेताओं ने इस विषय में उच्चतम ब्रिटिश अधिकारियों से सम्पर्क तथा मेल-जोल को बढ़ाने की नीति आरम्भ की और इससे अगले कुछ वर्षों में आर्यसमाज पर सरकारी प्रकोप की काली घटा पूर्ण रूप से छिन्न-भिन्न हो गयी।

(७) काली घटाएँ कैसे फटीं ?

मई १९०७ में लाला लाजपतराय के देश-निर्वासन के बाद आर्यसमाज पर चारों ओर से सरकारी प्रकोप के घने बादलों की काली घटाएँ घिर आयी थीं। अगले तीन वर्ष तक आर्यसमाज पर ये घने बादल छायें रहे। आर्यसमाज को भीषण सरकारी दमन का सामना करना पड़ा। किन्तु इसके बाद कई कारणों से इस स्थिति में शनैः-शनैः परिवर्तन आने लगा और सरकारी संदेह की काली घटाएँ जो पिछले कई सालों से आर्यसमाज के सिर पर मँडराती रही थीं, धीरे-धीरे फटने लगीं। १९१० ईसवी के मध्य में आर्यसमाज के प्रति सरकारी नीति में एक नया मोड़ आया। यह आर्यसमाज द्वारा अपनाई गयी नयी नीति का परिणाम था। इसके तथा अन्य कारणों के परिणामस्वरूप शीघ्र ही सरकारी प्रकोप के काले बादल छँट गये। यहाँ परिवर्तन के कारणों का संक्षिप्त विवेचन किया जायेगा।

वैयक्तिक सम्पर्क की नीति—आर्यसमाज के प्रति सरकारी दृष्टिकोण में परिवर्तन का पहला प्रधान कारण आर्यसमाज द्वारा उच्चतम सरकारी अधिकारियों से वैयक्तिक सम्पर्क स्थापित करके सरकारी संदेहों का निवारण था। आरम्भ में आर्यसमाजी अपने सिद्धान्तों में बड़े कट्टर थे। उनके प्रचार के लिए अहर्निश भागीरथ परिश्रम करते थे। वे सांसारिक प्रलोभनों की उपेक्षा करते हुए अपने धार्मिक विधि-विधानों को पूरे उत्साह और श्रद्धा के साथ सम्पन्न करते थे और इनमें किसी सरकारी अधिकारी

को बुलाना तथा स्थानीय अधिकारियों से सम्पर्क रखना वांछनीय नहीं समझते थे। उनके सभी सार्वजनिक कार्यों तथा उत्सवों में, धार्मिक विधि-विधानों, संध्या, अग्निहोत्र और यज्ञ की प्रधानता थी। इसमें सस्वर वेद-मन्त्रों का पाठ होता था। इनमें वही व्यक्ति प्रमुख भाग ले सकते थे जो वेदज्ञ हों। ऐसे व्यक्तियों को इसमें उच्चतम सम्मान दिया जाता था। अतः इसमें तत्कालीन सरकारी अधिकारी और अंग्रेज नहीं बुलाये जा सकते थे। इसने तत्कालीन स्थिति में आर्यसमाज पर बड़ा प्रभाव डाला। इसका सुन्दर विवेचन करते हुए महात्मा मुंशीराम ने लिखा था—

"यदि आर्यसमाज की कोई स्थानीय शाखा अपना वार्षिकोत्सव करती है तो सर्वप्रथम होम अवश्य किया जाना चाहिए और वेदज्ञाता व्यक्ति को इसका ब्रह्मा बनाकर सम्मानित किया जाना चाहिए, भले ही वह चिथड़े पहने हो। वेदों पर दिये जाने वाले व्याख्यानों की सभाओं के सभापति वैदिक धर्म के सिद्धान्तों में आस्था रखने वाले विद्वान् ही बनाये जाने चाहियें। यदि किसी गुरुकुल या पाठशाला के छात्रों को पुरस्कार वितरित करने के समारोह का आयोजन किया जाए तो इसका अध्यक्ष ऐसा व्यक्ति बनाया जाना चाहिए जो छात्रों को वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार उपदेश दे सके। गुरुकुल के वार्षिकोत्सव का एक प्रमुख कार्यक्रम नवीन छात्रों का वेदारम्भ संस्कार होता है। इसका ऐसे व्यक्ति के लिए कोई महत्त्व नहीं है जो वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने में विश्वास न रखता हो··· प्रधान रूप से धार्मिक और वैदिक कार्यक्रमों एवं समारोहों में किसी ईसाई अफसर को नहीं बुलाया जा सकता है। अन्य धर्मों के अनुयायी अपने सांसारिक हितों की रक्षा के लिए अनेक सम्मेलन और प्रदर्शन करते हैं तथा ऐसे कार्यक्रमों की अध्यक्षता के लिए उच्च सरकारी अधिकारियों को बुलाते हैं। किन्तु आर्यसमाज धार्मिक संगठन होने के कारण सार्वजनिक रूप से ब्रिटिश अफसरों का सम्मान नहीं कर सकता है। यह बात सरकारी अधिकारियों को बहुत खलती है और आर्यसमाज के शत्रु इसका पूरा लाभ उठाते हैं। इस विषय में समाज की लाचारी है और इससे सरकारी अफसरों के मन में गलतफहमी पैदा कर दी जाती है···दुर्भाग्यवश इन अधिकारियों का जनता से कोई सम्पर्क नहीं है और वे जनता के बारे में केवल वही बातें जानते हैं जो उनके जीहुजूर-चापलूस उन तक पहुँचाते हैं।"

उपर्युक्त परिस्थितियों के कारण आर्यसमाज के नेताओं में ब्रिटिश सरकार के अधिकारियों से सर्वथा पृथक् रहने और उनसे कोई सम्पर्क न रखने की एक प्रबल प्रवृत्ति उत्पन्न हो गयी थी। इस कारण आर्यसमाज के बारे में इसके विरोधी और स्थानीय गुप्तचर अधिकारियों के कान में जो बातें भर देते, उन पर ही अधिकारी पूरा विश्वास रखने लगते थे। स्वार्थी व्यक्तियों ने इसका लाभ उठाते हुए आर्यसमाज के विरुद्ध सरकारी क्षेत्रों में जो भ्रांतिपूर्ण प्रचार किया, उसका आर्यसमाज की ओर से कोई समुचित प्रतिकार नहीं किया गया। धीरे-धीरे आर्यसमाज-विरोधी संदेह दृढ़ विश्वास के रूप में परिणत होने लगे। आर्यसमाज-विषयक भ्रांतियाँ सरकारी अधिकारियों के मनों में बद्धमूल हो गयीं और इस कारण आर्यसमाज को राजद्रोही माना जाने लगा।

इस विषय में आर्यसमाजी नेताओं की मनोवृत्ति में परिवर्तन लाने का प्रधान श्रेय महात्मा मुंशीराम को है। इसका सूत्रपात गुरुकुल काँगड़ी की तलाशी लेने के उद्देश्य से आये हुए बिजनौर के कलेक्टर फोर्ड के साथ १९०९ ई० में महात्मा मुंशीराम की भेंट

से हुआ। गुरुकुल काँगड़ी वाले अध्याय में इस घटना का विस्तार से वर्णन किया जा चुका है। यहाँ इतना ही उल्लेख करना पर्याप्त है कि महात्माजी से मिलने के बाद तथा गुरुकुल के ब्रह्मचारियों का भलीभाँति निरीक्षण करने के बाद फोर्ड स्तब्ध रह गये और उन्होंने कहा कि "मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता हूँ कि मुझे गुरुकुल के बारे में बड़ी झूठी रिपोर्टें मिलती रही हैं।" महात्माजी ने जब उससे इनपर विश्वास करने का कारण पूछा तो उसने उत्तर दिया कि "हमें प्रतिदिन अपराधी व्यक्तियों से व्यवहार करना पड़ता है और इससे हम बड़े संशयालु स्वभाव के हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त इस देश में मुझे इतनी अधिक बार धोखा दिया गया है कि मैं मनोवैज्ञानिक रूप से यह असम्भव समझता हूँ कि मैं किसी पर विश्वास रख सकूँ।"

इस विषय में महात्माजी को अपनी कुछ मनोरंजक घटनाएँ बताते हुए जिलाधीश फोर्ड ने इस बात पर बल दिया कि आर्यसमाज के बारे में सरकारी संदेहों और भ्रांतियों के पनपने का एक बड़ा कारण यह है कि आर्यसमाज के नेता सरकारी अधिकारियों से मिलने में संकोच करते हैं। वे बिल्कुल अलग-थलग रहते हैं और इससे भ्रांतियों के काले बादल और घटाएँ बनती रहती हैं। इन्हें छिन्न-भिन्न करने का सर्वोत्तम उपाय महात्माजी को सरकारी अधिकारियों से सम्पर्क बढ़ाना प्रतीत हुआ और इसके बाद वे पूर्ण रूप से इस कार्य में जुट गये। उन्होंने इस बात को भलीभाँति अनुभव कर लिया कि सरकारी संदेहों से परित्राण पाने तथा गुरुकुल और आर्यसमाज की रक्षा करने का एक प्रभावशाली साधन उच्चतम ब्रिटिश अधिकारियों से मिलकर उनकी भ्रांतियाँ दूर करना है।

सौभाग्यवश कलेक्टर से भेंट होने के बाद शीघ्र ही उन्हें संयुक्त प्रान्त के गवर्नर सर जॉन हिवेट का पत्र मिला कि वे उनसे देहरादून में मिलना चाहते हैं। उस समय वे तत्काल छोटे लाट से मिलने चले गये और उनसे यह भेंट इतने सौमनस्यपूर्ण वातावरण में हुई कि इसका उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। महात्माजी उस समय क्वेटा से हरिद्वार की लम्बी यात्रा करके लौटे थे और उन्हीं कपड़ों में वे उनके पास पहुँच गये। उन्होंने अपने एक भाषण में कहा था कि "अपने देश का एक राजा शायद उन कपड़ों में मेरे साथ भेंट करना न पसन्द करता क्योंकि मेरे वस्त्र उसके भड़कीले दरबार की तड़क-भड़क के अनुरूप नहीं थे, किन्तु सर जॉन ने मुझसे मिलने में कोई संकोच नहीं किया और मैंने उनके आगे अपनी दिल की सारी व्यथा रखकर अपने मन को हल्का कर लिया। इस भेंट की समाप्ति के बाद लेफ्टीनैण्ट गवर्नर ने उन्हें यह कहा कि अब गुरुकुल के बारे में उन्हें कोई संदेह नहीं।"

पहले यह बताया जा चुका है कि लगभग इसी समय स्वामीजी का परिचय दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रयूज से हुआ और वैडरवर्न तथा एण्ड्रयूज के सम्मिलित प्रयत्नों से महात्मा मुंशीराम तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिंग से तथा सरकार के अन्य उच्च कर्मचारियों से मिलकर गुरुकुल और आर्यसमाज के बारे में सरकारी क्षेत्रों में फैले हुए भ्रम को दूर करने का प्रयास करने लगे। सर जॉन से देहरादून में १९०९ में उनकी मुलाकात बड़ी महत्त्वपूर्ण थी। इस विषय में श्री पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति ने यह ठीक ही लिखा है कि इस मुलाकात के पश्चात् सरकार की गाड़ी का पहिया ठीक दिशा में चलने लगा।

इन्हीं दिनों भारत के प्रति प्रेम और सद्भाव रखने वाले ब्रिटिश पत्रकार नेविनसन लगभग एक सप्ताह तक गुरुकुल में रहे। उन दिनों गुरुकुल पर सरकारी प्रकोप

होने का एक सुपरिणाम यह हुआ कि विदेश से जो यात्री भारत की अवस्था का अध्ययन करने आते थे, वे प्रायः गुरुकुल को अपनी आँखों से देखना आवश्यक समझते थे। जब उन्हें सरकारी दफ्तरों में यह बतलाया जाता था कि आर्यसमाज का गुरुकुल एक अत्यन्त भयानक संस्था है, तब स्वभावतः उनके दिल में यह भाव उत्पन्न होता था कि राजद्रोह के उस अड्डे को चलकर देखना चाहिए। केवल 'टाइम्स' के संवाददाता शिरोल जैसे आर्य-समाज के कट्टर विरोधी गुरुकुल नहीं आये। किन्तु नेविनसन जैसे पत्रकारों ने यहाँ आना आवश्यक समझा और सात-आठ दिन रहने के बाद उन्होंने अपने अनुभवों को बहुत ही अनुकूल ढंग से 'न्यू स्पिरिट ऑफ इण्डिया' (भारत की नवीन भावना) नामक पुस्तक में तथा अपने अन्य लेखों में लिखा। इससे शिरोल द्वारा गुरुकुल और आर्यसमाज के विरुद्ध किये गये विषैले प्रचार का कुछ प्रतिकार हुआ। इसी प्रकार भारत की धार्मिक, सामाजिक और शिक्षा-विषयक स्थिति का अध्ययन करने के लिए मिस्टर फैलप्स जब भारत आये तो ने कई मास तक गुरुकुल में रहे। उन्होंने इलाहाबाद के गोरे दैनिक अखबार **पायो-नियर** में गुरुकुल के सम्बन्ध में एक लेखमाला लिखी जिसे पढ़कर सरकारी लोगों के मन में यह संदेह उत्पन्न हो गया कि शायद हम लोग गुरुकुल और आर्यसमाज को जैसा बुरा समझे बैठे हैं, वह वैसा बुरा नहीं है।

सर जेम्स मेस्टन के संयुक्त प्रान्त का लेफ्टीनैण्ट गवर्नर बनने के बाद सरकारी गाड़ी का पहिया गुरुकुल और आर्यसमाज की अनुकूल दिशा में तेजी से आगे बढ़ने लगा।

महात्मा मुंशीराम का सर मेस्टन के साथ बड़ा घनिष्ठ वैयक्तिक सम्पर्क स्थापित हुआ। वे तीन बार गुरुकुल काँगड़ी आये और उन्हीं के सुझाव और प्रेरणा से महात्मा मुंशीराम ने भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड को गुरुकुल में निमन्त्रित किया। उनकी यात्रा से गुरुकुल और आर्यसमाज के बारे में सब सरकारी संदेह दूर हो गये।

(८) सरकार की नीति में परिवर्तन

जिन दिनों महात्मा मुंशीराम उच्चतम सरकारी अधिकारियों से मिलकर गुरुकुल और आर्यसमाज-विषयक भ्रांतियाँ दूर कर रहे थे, उन्हीं दिनों कुछ अन्य कारणों से भी केन्द्रीय सरकार की नीति में परिवर्तन आने लगा। इसकी प्रामाणिक सूचना हमें होम-डिपार्टमैण्ट से सैण्ड्स द्वारा लिखी गयी आर्यसमाज-विषयक पुस्तक की एक सरकारी पत्रावली से मिलती है। पहले यह बताया जा चुका है कि श्री सी० ई० डब्ल्यू० सैण्ड्स संयुक्त प्रान्त की सरकार में उप-पुलिस अधीक्षक थे। उन्होंने जिलों के पुलिस अधीक्षकों से प्राप्त रिपोर्टों के आधार पर संयुक्त प्रान्त में आर्यसमाज पर एक पुस्तक एप्रिल १९१० में लिखी थी और जब यह आवश्यक सूचना एवं कार्यवाही के लिए केन्द्रीय सरकार के गुप्तचर-विभाग के निदेशक श्री सी० आर० क्लीवलैण्ड को भेजी गयी तो उसने ११-५-१० को इस पर एक विस्तृत टिप्पणी लिखते हुए यह विचार प्रकट किया था कि "आर्यसमाज भारत में अंग्रेजों का विरोध करने वाला सबसे अधिक खतरनाक आन्दोलन है।"[१] किन्तु उसकी इस सम्मति से केन्द्रीय गृह-विभाग के उच्च अधिकारी सहमत नहीं थे। क्लीवलैण्ड

---

१. होम पोलिटिक्ल डिपाजिट प्रोसीडिंग्स, एप्रिल १९१२, संख्या ४

ने स्वयमेव अपनी टिप्पणी में यह बात स्वीकार की थी। उसने जब सैण्ड्स की पुस्तक के बारे में सर हैरल्ड स्टुअर्ट से बात की और उन्हें इस पुस्तक के निष्कर्षों के विषय में बताया तो उन्होंने कहा कि यदि यह पुस्तक वस्तुतः यह सिद्ध करती है कि राजद्रोह करना आर्यसमाज के मन्तव्यों का अनिवार्य अंग है तो यह एक नयी बात है, क्योंकि अब तक इस बारे में **अनेक प्रकार के संदेह थे, किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं था।**

गृह-विभाग के सचिव श्री ए० अर्ली तथा गृह-सदस्य जे० एल० जे० जेनकिन्स भी सैण्ड्स के आर्यसमाज-विषयक परिणामों से सहमत नहीं थे। उन्होंने स्पष्ट रूप से अपना यह मत प्रकट किया कि आर्यसमाज पर सामूहिक रूप से कोई पाबंदी नहीं लगाई जानी चाहिए। किन्तु आर्यसमाज के जो सदस्य या संस्थाएँ राजद्रोही कार्य करें, उनके बारे में पूरे प्रमाण मिलने पर ही उनके विरुद्ध तत्काल कार्यवाही की जानी उचित है। सैण्ड्स ने अपनी पुस्तक में यह स्थापना की थी कि आर्यसमाज के मौलिक मंतव्य राजद्रोह के समर्थक हैं, आर्यसमाज इनमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता है, अतः उसके राजद्रोही स्वरूप में कोई तब्दीली कभी नहीं आ सकती है। इस युक्ति को भी उच्च अधिकारियों ने स्वीकार नहीं किया। श्री अर्ली ने इस विषय में मुसलमानों के वहाबी सम्प्रदाय के १८६८-६९ ई० के विद्रोह का उल्लेख किया। इसकी प्रेरणा का आधार उनका पवित्र धर्मग्रंथ था। सरकार इस उदाहरण के आधार पर सभी मुसलमानों के विरुद्ध कोई कार्यवाही करना ठीक नहीं समझती थी। श्री जे० एल० जेन्किन्स ने अपने २६-५-१० के नोट में आर्यसमाज के बारे में भारत सरकार द्वारा अपनायी जाने वाली नीति का उल्लेख करते हुए लिखा कि "आर्यसमाज की प्रतिनिधि सभाओं को ठीक रास्ते पर रखने और राजद्रोह से विरत करने के लिए पंजाब तथा संयुक्त प्रांत के लेफ्टीनैंट गवर्नरों को अपने प्रभाव का पूरा प्रयोग करना चाहिये। इन गवर्नरों द्वारा आर्यसमाज के नेताओं को यह बात भली-भाँति स्पष्ट कर देनी चाहिये कि यदि वे सरकार की सद्भावना को नहीं खोना चाहते हैं तो उन्हें अपने शिक्षणालयों में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकों में वे अंश नहीं रखने चाहियें जिन्हें राजद्रोहपूर्ण घोषित किया गया है, और उन्हें सार्वजनिक रूप से आर्यसमाज के उन सदस्यों के कार्यों की निंदा करनी चाहिये जो राजद्रोहपूर्ण हों। यदि वे ऐसा नहीं करते हैं तो उन्हें यह बता देना चाहिये कि वे ब्रिटिश सरकार के शुभचिंतक नहीं समझे जायेंगे।" इस नवीन नीति के अनुसार पंजाब और संयुक्त प्रांत के लेफ्टीनैण्ट गवर्नरों को आर्यसमाज के नेताओं के साथ सम्पर्क बढ़ाने और आर्यसमाज की राजद्रोही गतिविधियों पर अंकुश लगाने और शिक्षा-संस्थाओं तथा नेताओं को राजभक्त बनाने के आवश्यक निर्देश भेज दिये गये। संयुक्त प्रांत के छोटे लाट सर जान मेस्टन और पंजाब के लेफ्टीनैण्ट गवर्नर सर माइकेल ओडवायर ने इस नई नीति को बड़ी तत्परता से लागू किया। उन्होंने आर्यसमाजी शिक्षा-संस्थाओं में जाने के अनेक कार्यक्रम बनाये तथा वहाँ के छात्रों तथा अध्यापकों और नेताओं को राजभक्ति का पाठ पढ़ाना शुरू किया। अब इस विषय में उनके कार्यों का उल्लेख किया जायेगा।

(९) लेफ्टीनैण्ट गवर्नरों का आर्यसमाजी नेताओं से सम्पर्क

(क) सर जेम्स मेस्टन द्वारा आर्यसमाजी संस्थाओं का निरीक्षण—मई १९१० ई० में भारत सरकार द्वारा आर्यसमाज के साथ व्यवहार करने के लिए निर्धारित की गई

नवीन नीति के अनुसार संयुक्त प्रांत तथा पंजाब के लेफ्टीनैण्ट गवर्नरों ने समुचित एवं आवश्यक प्रयास आरम्भ कर दिये।[1] ये आर्यसमाजी नेताओं से मिलने-जुलने लगे। आर्य-समाज की संस्थाओं में जाने की नयी नीति का उन्होंने श्रीगणेश किया। इसका उद्देश्य आर्यसमाजी नेताओं को राजभक्त बनाना और उनकी सरकार-विरोधी भावनाओं में परिवर्तन लाना था। इसका आर्यसमाज और ब्रिटिश सरकार के सम्बन्धों पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। इससे आर्यसमाज के प्रति सरकारी रुख में बड़ा परिवर्तन आ गया और सरकारी कर्मचारियों ने इसे राजद्रोही संस्था समझना बन्द कर दिया।

गुरुकुल काँगड़ी वाले अध्याय में संयुक्त प्रान्त के लेफ्टीनैण्ट गवर्नर सर जेम्स मेस्टन की तथा भारत के वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड की गुरुकुल-यात्राओं का विस्तृत उल्लेख किया जा चुका है। गुरुकुल काँगड़ी के समान इस प्रांत में संयुक्त प्रांत की आर्य-प्रतिनिधि सभा द्वारा संचालित एक महत्त्वपूर्ण शिक्षा-संस्था गुरुकुल वृन्दावन मथुरा में अवस्थित थी। इसके अधिकारियों की बड़ी इच्छा थी कि सर जेम्स मेस्टन इस संस्था में भी पधारें। ६ मार्च १९१३ ई० को गुरुकुल काँगड़ी की यात्रा के पश्चात् दो महीने से कुछ अधिक समय बाद संयुक्त प्रांत की आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रमुख अधिकारियों का एक शिष्टमण्डल १२ मई १९१३ को ग्रीष्मकालीन राजधानी नैनीताल में सर जेम्स मेस्टन से मिला। इसमें प्रतिनिधि सभा के प्रधान पं० तुलसीराम, मंत्री मदनमोहन सेठ तथा अन्य प्रमुख आर्यसमाजी नेता सम्मिलित थे। इस शिष्टमण्डल ने लेफ्टीनैण्ट गवर्नर को आर्यसमाज के स्वरूप, स्थिति और मन्तव्यों से अवगत कराया और सभा द्वारा संचालित गुरुकुल वृन्दावन में पधारने का निमन्त्रण दिया।

सर जेम्स मेस्टन ने इसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया। सम्भवतः वे इसे अपनी नयी नीति को सफलतापूर्वक क्रियान्वित करने का बहुमूल्य साधन समझते थे। ८ अगस्त १९१३ ई० को वे इस संस्था में पधारे। इस समय उनके साथ संयुक्त प्रांत की सरकार के मुख्य सचिव श्री बर्न, चीफ इंजीनियर श्री वुड्स, उनके निजी सचिव, मथुरा के कलेक्टर तथा अन्य अनेक उच्च सरकारी पदाधिकारी भी थे। इस अवसर पर गुरुकुल-भूमि को बड़े सुचारु रूप से पताकाओं, तोरणों, बंदनवारों आदि से खूब अलंकृत किया गया था। गुरुकुल के प्रवेशद्वार पर संयुक्त आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पंडित तुलसीराम, गुरुकुल के गवर्नर महात्मा नारायण प्रसाद (नारायण स्वामी) तथा प्रति-निधि सभा की कार्यकारिणी के अन्य प्रमुख सदस्य उपस्थित थे। उन्होंने गवर्नर का भव्य स्वागत किया। श्री मेस्टन बड़े राजसी ठाठ-बाट के साथ हाथी पर सवार होकर संस्था में पधारे थे। ज्यों ही वे अपने हौदे से नीचे उतरे, पीली धोतियाँ पहने मार्ग के दोनों ओर पंक्तिबद्ध गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने उन पर पुष्प-वर्षा की। उन्हें फूलमालाओं से लाद दिया गया और भव्य सभा-स्थल में लाया गया, जहाँ आगरा और अवध की विभिन्न आर्यसमाजों के प्रतिनिधि और मथुरा जिले के सभी गण्यमान्य व्यक्ति उपस्थित थे। लेफ्टीनैण्ट गवर्नर को इस अवसर पर एक अभिनन्दन-पत्र समर्पित किया गया। इसमें उनके शासनकाल में संयुक्त प्रान्त में हुई विलक्षण प्रगति की प्रशंसा की गयी थी।

---

१. होम पोलिटिकल डिपोजिट प्रोसीडिंग्स, अप्रैल १९१२, सं० ४, पृ० ३

ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत में धर्मप्रचार की स्वतन्त्रता और शांति एवं सुव्यवस्था स्थापित करने की सराहना की गयी थी। आर्यसमाज की ओर से राजभक्ति का पूरा आश्वासन दिया गया था। इस अभिनन्दन-पत्र के उत्तर में महामहिम राज्यपाल ने निम्नलिखित भाषण दिया—

"वृन्दावन गुरुकुल के गुरुवर्ग एवं ब्रह्मचारियो! मैं आपको इस बात के लिए धन्यवाद देता हूँ कि आपने मुझे यहाँ आने का निमंत्रण दिया और मेरा स्वागत बड़े प्रेमपूर्ण शब्दों में और मार्मिक प्रार्थना के साथ किया। मैं आपको यह विश्वास दिलाता हूँ कि मैं यहाँ किसी कौतुक अथवा आलोचना की भावना से नहीं आया हूँ। किन्तु आप जिस महान् सामाजिक और आध्यात्मिक कार्य में भाग ले रहे हैं, उसके साथ अपनी वास्तविक सहानुभूति के भाव प्रकट करने के लिए आया हूँ। हिन्दू धर्म में सुधारवाद के नाम पर जो अनेक मत-मतांतर प्रचलित हैं, उनमें आर्यसमाज के अतिरिक्त किसी ने भी बचपन से मेरा ध्यान इतना अधिक आकृष्ट नहीं किया है।

"बड़े लम्बे समय तक मेरे लिए आर्यसमाज के साथ सम्पर्क स्थापित करना संभव नहीं था। इसके कई अच्छे-बुरे कारण थे। निःसंदेह इसमें एक कारण सरकारी अधिकारियों द्वारा आर्यसमाज को संदेह की दृष्टि से देखने का वातावरण था जो आर्य-समाज की स्थापना के आरम्भिक काल से ही चला आ रहा था। एक अन्य कारण आप-की समाज द्वारा आरम्भिक प्रचार के दिनों में अन्य धर्मों की (कटु) आलोचना के कारण इससे उत्पन्न होने वाले उन्मुक्त विरोध की भावना थी और संभवतः आप मुझे यह बात कहने के लिए क्षमा करेंगे कि इसका एक अन्य कारण आर्यसमाज के नाम-मात्र के अनुयायियों द्वारा दिये गये भाषणों और प्रकाशित की गयी रचनाओं में अन्य धर्मों की कटु आलोचना करने का अविवेक था।

"इन सब बातों तथा अन्य कारणों ने सरकारी अधिकारियों में आर्यसमाज से पृथक् रहने की प्रवृत्ति उत्पन्न की। मैं भी ऐसा समझते हुए आर्यसमाज से पृथक् रहा, किन्तु बाद में आर्यसमाज के वास्तविक उद्देश्यों और लक्ष्यों का तथा आपके प्रचार का अधिक व्यापक ज्ञान होने पर मैं इस बात के लिए उत्सुक हो उठा कि मैं इस बात को स्वयमेव देखूँ कि आर्यसमाज से पृथक् रहने की प्रवृत्ति कहाँ तक उचित है।

"अतः मैंने आपकी प्रमुख संस्था—महान् गुरुकुल काँगड़ी की शीघ्र ही यात्रा करने का अवसर निकाला और इसके बाद आपके अनेक नेताओं और मित्रों से परिचय प्राप्त किया। इसी कारण मेरा सम्पर्क महात्मा मुंशीराम से हुआ और मुझे इस बात का पूरा निश्चय है कि वे इतने विनम्र और सौम्य हैं कि मैं उन जैसे विलक्षण व्यक्ति के बारे में कुछ भी सम्मति प्रकट नहीं करना चाहूँगा। किन्तु एक बात मैं पूरी निर्भयता के साथ और उनके प्रति पूरा आदर रखते हुए कह सकता हूँ कि यह असम्भव है कि आप एक मिनट भी उनके संपर्क में आयें और उनकी आत्मा की निष्कपटता, उद्देश्यों की उदात्तता से प्रभावित न हों। दुर्भाग्यवश हम सब मुंशीराम नहीं हो सकते हैं और आर्यसमाज में कुछ बुरे आदमी भी हैं। आपकी संस्थाओं का ऐसा संविधान है कि उसमें कई बार अवांछनीय कार्य करने के लिए कुछ प्रलोभन भी हो सकते हैं। किन्तु मैं जानता हूँ कि आप इन बातों को अच्छी तरह से समझते हैं और इनके विरुद्ध पूरी सावधानी बरतते हैं। आपमें कुछ विशेष आध्यात्मिक कमियाँ भी हो सकती हैं। मेरा आशय बिना किसी

इरादे के रखी जाने वाली जातीय अहंकार की ऐसी भावना से है जो नये धर्म, नई खोजों और नये आदर्शों के कारण उस समय उत्पन्न हो सकती है जब इनका सम्पर्क पुरानी रूढ़ियों और विचारों से हो और जो ऐसे अनुदार मतों के विरोध में हो जो इस देश में अनेक शताब्दियों से बिना किसी भय, विरोध या आलोचना के प्रचलित हैं।

"किन्तु गुरुओ और ब्रह्मचारियो, यदि मैं आपके उद्देश्यों का गलत अनुमान नहीं लगाता हूँ तो मुझे विश्वास है कि आपके मन्तव्यों, लक्ष्यों तथा भावनाओं में सच्ची शक्ति, उदारता, मृदुता और यह विश्वास निहित है कि आपकी यह शक्ति अंधकार की शक्तियों पर विजय पायेगी। मैं आज यहाँ आपके गुरुकुल का उद्घाटन करने आया हूँ और आपको इस बात के लिए निमंत्रण देता हूँ कि **आप मेरे आगमन को सरकार की सद्भावना और मित्रता का प्रतीक समझें।**

"मैं गुरुओं से यह निवेदन करता हूँ कि वे ब्रह्मचारियों को उन बहुमूल्य सद्गुणों को अपने आचरण में ढालने की प्रेरणा करें जो सब धर्मों में समान रूप से पाये जाते हैं। ये हैं—मन की शुद्धि और शरीर की स्वच्छता, दूसरे व्यक्तियों के दृष्टिकोण के प्रति सहिष्णुता और उदारता की भावना। ब्रह्मचारी अपने जीवन में इन गुणों को धारण करें। गुरुओ, मैं यह भी कहूँगा कि आप इस बात की भी शिक्षा दें कि **ब्रह्मचारी इस देश में ब्रिटिश सरकार के कार्य और उद्देश्यों के प्रति आदर का भाव रखें और उसके प्रति मैत्री की भावना बनाये रखें।**

"यदि मैं आपको इन बातों का विश्वास दिलाने में सफल होता हूँ (मुझे निश्चय है कि आपको इन बातों का विश्वास दिलाने की बहुत कम आवश्यकता है) तो मुझे निश्चय है कि आप मेरा यह दृष्टिकोण भी अच्छी तरह से समझ जायेंगे कि **ब्रिटिश सरकार आपका सर्वोत्तम और सबसे अधिक सच्चा मित्र है।**"[1]

सर जेम्स मेस्टन का यह भाषण कई दृष्टियों से उल्लेखनीय है। इनमें अतीव स्पष्टतापूर्वक यह कहा गया है कि सरकारी अधिकारियों द्वारा आर्यसमाज के साथ संपर्क न रखने तथा उससे दूर रहने की नीति के दो प्रधान कारण थे—आर्यसमाज के प्रति राजद्रोह के सन्देह का वातावरण तथा आर्यसमाज के कट्टर अविवेकी प्रचारकों तथा लेखकों द्वारा अन्य धर्मों की कटुतापूर्ण उग्र आलोचना। इससे यह भी सूचित होता है कि सर मेस्टन लाला मुंशीराम के व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित हुए थे। उनके चरित्र की उदात्तता, सरलता, सज्जनता, निष्कपटता और सचाई ने उन पर गहरी छाप छोड़ी थी और उनके साथ सम्पर्क में आने से आर्यसमाज के प्रति उनके सन्देहों का पूरी तरह निवारण हुआ है। फिर भी वे यह समझते थे कि आर्यसमाज में इस प्रकार की प्रवृत्ति

---

१. १९१२-१३ ई० की आर्य प्रतिनिधि सभा—यू० पी० की वार्षिक रिपोर्ट एवं मदन-मोहन सेठ—'हाई आफिशियल्स आन दी आर्यसमाज एण्ड इट्स वर्क' इलाहाबाद—१९१७ ई०, पृ० ६-९
इस छोटी-सी पुस्तक में श्री सेठ ने १९१७ ई० तक लेफ्टिनैण्ट गवर्नरों तथा उच्च सरकारी अधिकारियों द्वारा आर्यसमाज की प्रमुख शिक्षा-संस्थाओं के दौरों तथा इस अवसर पर उनके द्वारा दिये भाषणों तथा आर्यसमाज-विषयक सम्मतियों का विस्तृत वर्णन किया है।

रखने वाले कुछ व्यक्ति अवश्य हैं।

उन्होंने अपने भाषण में विद्यार्थियों को न केवल सब धर्मों द्वारा बल दिये जाने वाले सद्गुणों—सचाई, ईमानदारी, सहिष्णुता, उदारता आदि को अपनाने का उपदेश किया, अपितु ब्रिटिश सरकार के प्रति वफादारी, निष्ठा और राजभक्ति का पाठ पढ़ाया और यह बताया कि यदि वे सरकार के प्रति वफादार रहेंगे तो सरकार उनके साथ मित्रता का व्यवहार करेगी। इस प्रकार उन्होंने उस समय आर्यसमाजियों में प्रचलित इस धारणा को दूर करने का प्रयास किया कि सरकार की नीति मुसलमानों के प्रति पक्षपातपूर्ण है और वह उनके साथ हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक प्रेम का व्यवहार करती है और उनकी झूठी रिपोर्टों पर अधिक भरोसा रखती है।

संयुक्त प्रान्त के दो प्रमुख गुरुकुलों की यात्रा करने के बाद मेस्टन ने अपने कार्य-काल में आर्यसमाज द्वारा संचालित सात अन्य शिक्षा-संस्थाओं का भी निरीक्षण और यात्रा की तथा इनसे आर्यसमाज में ब्रिटिश सरकार के प्रति सद्भावना उत्पन्न हुई। गुरुकुल काँगड़ी संयुक्त प्रान्त के उत्तर-पूर्वी कोने पर था। इसके सुदूरवर्ती पूर्वी छोर पर १८ अक्तूबर १९१३ ई० को उन्होंने बनारस के दयानन्द स्कूल की यात्रा की। यहाँ नये विद्यालय-भवन का शिलान्यास किया। स्कूल में महामहिम का स्वागत हुआ, अभिनन्दन-पत्र दिया गया। लेफ्टीनैण्ट गवर्नर इससे १० दिन पहले मथुरा के वृन्दावन गुरुकुल में हो आये थे, वहाँ उन्होंने विस्तार से आर्यसमाज के बारे में सरकारी दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया था। अतः उन्होंने बनारस में अपने मानपत्र के उत्तर में यही कहा—"चूंकि वे वृन्दावन में आर्यसमाज के नये महाविद्यालय की आधार-शिला रख चुके हैं, अतः वे वहाँ जो बातें कह चुके हैं, उन्हें ही यहाँ कहना चाहते हैं। किन्तु भीषण गर्मी वाले मध्याह्न में वे विस्तार से उन बातों को दोहराते हुए श्रोताओं को वहाँ अधिक देर तक नहीं रोकना चाहते हैं।"

१९१३ ई० के एक ही वर्ष में तीन आर्यसमाजी संस्थाओं—गुरुकुल काँगड़ी (६ मार्च), गुरुकुल वृन्दावन (८ अगस्त) तथा दयानन्द स्कूल बनारस (१८ अगस्त) की यात्रा इस बात को सूचित करती है कि ब्रिटिश सरकार तथा सर जेम्स मेस्टन आर्यसमाज के सम्बन्ध अच्छे बनाने के प्रश्न को कितना अधिक महत्त्वपूर्ण समझते थे और इसके लिए कितने अधिक प्रयत्नशील थे और अगस्त जैसी भयंकर गर्मी के दिनों में उन्होंने दो शिक्षा-संस्थाओं की यात्रा की थी।

१९१४ ई० में सर जेम्स मेस्टन ने १९ फरवरी को गुरुकुल काँगड़ी की दूसरी यात्रा लेडी मेस्टन के साथ की और अगले ही दिन २० फरवरी १९१४ ई० को ले०-गवर्नर मुरादाबाद जिले के एक कस्बे अमरोहा में आर्यसमाज द्वारा संचालित एक बालिका विद्यालय के निरीक्षण के लिए पधारे। यहाँ दिये मानपत्र के उत्तर में उन्होंने कहा कि एक दिन पहले वे आर्यसमाज की शिरोमणि संस्था गुरुकुल काँगड़ी को देख चुके हैं। आर्य-समाज के आन्दोलन के साथ उनकी सहानुभूति सुविदित है। महामहिम ने इस स्कूल को अपनी ओर से २५ रुपये का दान भी दिया। यह न केवल आर्यसमाज के प्रति उनकी प्रीति का प्रतीक था, अपितु सरकारी सन्देह एवं प्रकोप के डर से आर्यसमाजी संस्थाओं को दान देने में संकोच करने वालों के लिए एक प्रेरक एवं अनुकरणीय उदाहरण था।[1]

१. लीडर, २२ फरवरी १९१४ ई०

अगले वर्ष १९१५ ई० में उन्होंने फर्रुखाबाद जिले के कन्नौज में ७ दिसम्बर को आर्यसमाज के पुस्तकालय का निरीक्षण किया। यहाँ आर्यसमाज की पुस्तकों तथा वैदिक साहित्य का बड़ा सुन्दर संग्रह था। उन्होंने इसे देखकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और ९ दिसम्बर को इसके मैनेजर को एक पत्र में लिखा—"सात तारीख को मैंने थोड़े समय तक पुस्तकालय का निरीक्षण किया। इसकी व्यवस्था बहुत अच्छी है। पुस्तकालय चलाने का विचार प्रशंसनीय है। इसका श्रेय लाला लक्ष्मीनारायण को है। मैं इसकी सफलता की कामना करता हूँ।"

१९१६ ई० का वर्ष न केवल इसलिए उल्लेखनीय था कि सर जेम्स मेस्टन ने भारत के वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड के साथ गुरुकुल काँगड़ी की यात्रा की (१६ अक्तूबर), अपितु इसके अतिरिक्त उन्होंने आर्यसमाज द्वारा संचालित चार अन्य शिक्षा-संस्थाओं का निरीक्षण किया। २६ अप्रैल १९१६ ई० को वे देहरादून के डी० ए० वी० स्कूल के नवीन भवनों का शिलान्यास करने गये। इस समय संस्था को वेदमन्त्रों, संस्कृत साहित्य के श्लोकों, सुभाषितों, वन्दनवारों, फूलपत्तियों तथा यूनियन जैक के झण्डों से खूब सजाया गया था। सेना के गुरखा बैण्ड ने मधुर संगीत से महामहिम का स्वागत किया। इस अवसर के लिए विशेष रूप से बनाये और सजाये गये पण्डाल में नगर के रईस, गण्य-मान्य व्यक्ति, मिशन स्कूल के प्रिंसिपल रेवरेण्ड डॉक्टर फाइफ, भारत सरकार के सर्वेक्षण, रेलवे, सेना, पुलिस तथा वन विभागों के उच्च अधिकारी उपस्थित थे। मंच पर रजत सिंहासन पर आसीन होने के बाद महामहिम का स्वागत वेदमन्त्रों तथा हिन्दी कविताओं से किया गया। इस अवसर पर समर्पित मानपत्रों में भगवान् से यह प्रार्थना की गयी थी कि स्वाधीनता, लोकतन्त्र व न्याय के महान् आदर्शों के लिए संघर्ष करने वाले ग्रेट ब्रिटेन को विश्वयुद्ध में शीघ्र ही विजयश्री प्राप्त हो। इस मानपत्र को डी० ए० वी० ट्रस्ट-सोसायटी की प्रबन्ध-समिति के प्रधान माननीय रामशंकर सहाय साहब झाँसी ने पढ़ा था। डी० ए० वी० कॉलिज ट्रस्ट तथा मैनेजमेण्ट सोसायटी के सचिव कानपुर के श्री आनन्दस्वरूप ने इस मानपत्र को रजत मंजूषा में रखकर महामहिम को भेंट किया। महामहिम ने इसके उत्तर में आभार प्रकट करते हुए कहा कि "आर्यसमाज दलित जातियों के उद्धार तथा बच्चों की शिक्षा के प्रसार के क्षेत्र में बड़ा सराहनीय कार्य कर रहा है। उन्होंने यहाँ आने का निमन्त्रण इसलिए स्वीकार किया है कि वे यह चाहते हैं कि भगवान् उन्हें इस सराहनीय कार्य में सफलता प्रदान करे। इस स्कूल ने शिक्षा का बड़ा उत्तम कार्य किया है। इसमें बाबू पूरणसिंह नेगी तथा बाबू ज्योतिस्वरूप आनरेरी मैजिस्ट्रेट का सहयोग सराहनीय है।" अन्त में महामहिम ने इस संस्था की सफलता की कामना की और वेदमन्त्रों के सुमधुर पाठ के साथ नवीन भवन का शिलान्यास किया।[1]

अल्मोड़ा में आर्यसमाज ने अस्पृश्य जातियों के बच्चों के लिए एक स्कूल खोला था। यह उस पिछड़े पार्वत्य प्रदेश में अपने ढंग का पहला स्कूल था। १४ अक्तूबर १९१६ ई० को सर जेम्स मेस्टन इस स्कूल में पधारे और इसके मैनेजर महाशय कृष्ण-हरि के साथ इसे देखकर प्रसन्न हुए और उन्होंने अपनी निरीक्षण-रिपोर्ट में लिखा, "सच्ची मानव-सेवा का यह प्रशंसनीय प्रयास है। इसे हर प्रकार से सहायता दी जानी

१. लीडर, इलाहाबाद, मई १९१६ ई०

चाहिए। मैं इसके लिए इसके प्रबन्धकों को तथा इसे सहायता देने वालों को बधाई देता हूँ और अपनी सामर्थ्य के अनुसार मैं इसकी मदद करूँगा।"

वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड के साथ गुरुकुल काँगड़ी की यात्रा से दो दिन पहले सर जेम्स मेस्टन ने आगरा के दयानन्द अनाथालय का निरीक्षण किया। यहाँ आर्यसमाज द्वारा अनाथ बच्चों के पालन-पोषण का कार्य देखकर वे बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने यह घोषणा की कि "यह संस्था सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त कर चुकी है और भविष्य में भी इसे यह मान्यता प्राप्त रहेगी, ऐसी मुझे आशा है। यहाँ के कृपालु कलेक्टर फर्ग्युसन ने आपको इसके लिए जो सहायता दी है उसके लिए मैं आपको बधाई देता हूँ। मुझे आशा है कि आपको यह सहायता फर्ग्युसन तथा उसके उत्तराधिकारियों से मिलती रहेगी। कुछ घण्टों बाद मैं गुरुकुल काँगड़ी जा रहा हूँ। वहाँ आर्यसमाज के महान् नेता महात्मा मुंशीराम से मिलूँगा तथा उन्हें आप द्वारा की गयी प्रगति को बताऊँगा।" इस संस्था की सम्मति-पुस्तिका में इसके कार्य की सराहना करते हुए उन्होंने लिखा था—"इसका प्रबन्ध बड़े अच्छे ढंग से और समझदारी से हो रहा है। अनाथ बच्चों के स्वस्थ शरीर तथा प्रसन्न मुख-मुद्रा को देखकर मैं बड़ा प्रभावित हुआ हूँ। मुझे इस प्रकार की मानव-सेवा के कार्यों के महत्त्व के बारे में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। मैं केवल यही कह सकता हूँ कि सरकार इसकी प्रबन्ध-समिति को हर प्रकार की युक्तियुक्त एवं सम्भव सहायता देगी। यह संस्था आर्यसमाज के लिए और इसके उत्तम कार्य में अपना अवकाश का समय लगाने वाले आर्यसमाजियों के लिए बड़े गौरव का विषय है।" इसी प्रकार सर जेम्स मेस्टन ने नैनीताल में आर्यसमाज द्वारा लड़कियों के लिए चलाये जाने वाले आर्य बालिका विद्यालय की प्रशंसा इस स्कूल के प्रबन्धक को २ नवम्बर १९१६ ई० को लिखे पत्र में की थी।

सर जेम्स मेस्टन की आर्यसमाजी संस्थाओं की इन यात्राओं तथा आर्यसमाजी नेताओं के सम्पर्क से इस प्रान्त के गुप्तचर विभाग द्वारा आर्यसमाज के बारे में पैदा की गयी मिथ्या भ्रान्तियों का पूरी तरह निराकरण हो गया। जब मेस्टन को स्वयमेव इन संस्थाओं में जाकर आर्यसमाज के शिक्षा-सम्बन्धी कार्य का महत्त्व अनुभव हुआ तो शिक्षा-विभाग के कर्मचारी भी आर्यसमाज की इस बात के लिए सराहना करने लगे कि आर्य-समाज कम व्यय में शिक्षा का अधिक अच्छा कार्य कर रहा है और वह सब प्रकार की सहायता का अधिकारी है। इस विषय में संयुक्त प्रान्त के शिक्षा विभाग के निदेशक सी०एफ०डी० ला फोस्से का वह भाषण उल्लेखनीय है जो उन्होंने ७ दिसम्बर १९१६ ई० को दयानन्द ऐंग्लो वैदिक स्कूल इलाहाबाद के पुरस्कार-वितरण-समारोह की अध्यक्षता करते हुए दिया था। इस अवसर पर स्कूल की प्रगति की रिपोर्ट सुनने के बाद निदेशक ने अपने समापन-भाषण में कहा—"आप लोगों ने स्कूल की तीन वर्ष की प्रगति की रिपोर्ट सुनी है। यह बड़ी विलक्षण और अद्वितीय है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह ऐसे नवयुवकों द्वारा सचाई और ईमानदारी के साथ किये गये प्रयासों का परिणाम है, जिनके नाम इसमें नहीं लिखे गये हैं। मेरी दृष्टि में समाज-सेवा का इससे अधिक अच्छा कोई उदाहरण नहीं आया है···आर्यसमाज इस दृष्टि से सौभाग्यशाली है कि इसे बड़े सच्चे और उत्साही कार्यकर्ताओं की सेवायें प्राप्त हुई हैं। इस स्कूल में शिक्षक ऐसे वेतनों पर काम कर रहे हैं जो अन्य स्कूलों में दिये जाने वाले वेतनों से बहुत कम

हैं। फिर भी ये शिक्षक अपना कार्य पूरी ईमानदारी से कर रहे हैं।" निदेशक को स्कूल की रिपोर्ट के निम्नलिखित वाक्य बड़े महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुए—

"इस स्कूल की यह विशेषता है कि यह धार्मिक और नैतिक शिक्षा प्रदान करती है। हमारा आदर्श ऐसा नवयुवक पैदा करना है जो पूर्ण रूप से सक्षम और उपयोगी हो, जो **अपने देश से प्रेम करता हो तथा सरकार के प्रति राजभक्त हो।** हम अपने प्राचीन साहित्य के श्रद्धापूर्ण अध्ययन को प्रोत्साहित करना चाहते हैं और अपने नवयुवकों का जीवन अपने प्राचीन ऋषि-मुनियों के जीवन के अनुसार ढालना चाहते हैं। संक्षेप में हम अपनी शिक्षा में पूर्वी तथा पश्चिमी सभ्यताओं के सर्वोत्तम अंशों का समन्वय करना चाहते हैं। यह सम्भव है कि वर्तमान समय में यह आदर्श हमारी पहुँच से बाहर हो, किन्तु हम जनता को यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि हम इस आदर्श वाक्य के अनुसार कार्य करेंगे—'उठो, जागो और तबतक प्रयत्न जारी रखो जबतक लक्ष्य न प्राप्त हो जाय[1]।"

जब इस प्रकार संयुक्त प्रान्त के शिक्षा-निदेशक और अन्य उच्च अधिकारी आर्यसमाज के शिक्षाकार्य की प्रशंसा करने लगे तो आर्यसमाज के बारे में उच्च अधिकारियों के सब सन्देह निर्मूल हो गये। इसके साथ ही आर्यसमाज ने भी अपने दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन कर लिया। वह न केवल उच्चतम अधिकारियों को अपनी संस्थाओं में बुलाकर अभिनन्दन-पत्र देने लगा, अपितु अपनी राजभक्ति की भी बड़े स्पष्ट और असंदिग्ध शब्दों में घोषणा करने लगा और कहने लगा कि उसका उद्देश्य देशप्रेमी राजभक्त नवयुवक तैयार करना है।

(ख) पंजाब में सर माइकेल फ्रान्सिस ओडवायर द्वारा आर्यसमाजी संस्थाओं की सराहना—पंजाब के लेफ्टीनैण्ट गवर्नर सर माइकेल की प्रकृति और प्रवृत्ति सर जेम्स मेस्टन से कुछ भिन्न थी। वे आर्यसमाज के कट्टर विरोधी थे। भाई परमानन्द की औषध निर्माणशाला के बारे में उन्हें सन्देह था कि इसमें दवाइयों के स्थान पर बम बनाये जाते हैं। अपनी आत्म-कथा "इण्डिया ऐज आई न्यू इट" में उन्होंने आर्यसमाजियों के राजद्रोही होने का उल्लेख किया है। फिर भी उन्होंने आर्यसमाज के बारे में भारत सरकार की नई नीति का पालन किया। पंजाब में आर्यसमाज द्वारा संचालित शिक्षा-संस्थाओं का निरीक्षण किया और आर्यसमाजी नेताओं से सम्पर्क बढ़ाया। १० अगस्त १९१३ ई० को जालंधर डिवीजन के आयुक्त तथा जालंधर जिले के डिप्टी कमिश्नर तथा अन्य अनेक सैनिक एवं नागरिक उच्च अधिकारियों के साथ उत्तर भारत में कन्याओं को शिक्षा देने वाली आर्यसमाज की सबसे पुरानी शिक्षा-संस्था कन्या महाविद्यालय में पधारे। इसकी प्रधानाचार्या पंडिता सावित्री देवी तथा संस्था की प्रबन्ध समिति के सदस्यों ने वेद-मन्त्रों के साथ मान्य अतिथि का स्वागत किया। दीवान बद्रीदास ने अभिनन्दन-पत्र प्रस्तुत करते हुए इस संस्था द्वारा किये जाने वाले स्त्री-शिक्षा के प्रसार के कार्य पर प्रकाश डालते हुए कहा कि इसकी ४०० छात्राओं में से २०० छात्रावास में रहती हैं। इसने अबतक अन्य स्कूलों को ९० महिला शिक्षिकायें प्रदान की हैं।

महामहिम ने मानपत्र का उत्तर देते हुए कहा कि "पंजाब में स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में अद्वितीय कार्य करनेवाली संस्था में आना बड़ी गौरव की बात है।[2] वे संस्था की सर्वांगीण

---

१. लीडर, इलाहाबाद, १० दिसम्बर १९१६; २. ट्रिब्यून, लाहौर, १३ अगस्त १९१३

उन्नति से बड़े प्रभावित हुए हैं और यह चाहते हैं कि अन्य सामाजिक समुदाय तथा संस्थायें इस संस्था के कार्यकर्ताओं द्वारा स्थापित सराहनीय आदर्श का अनुसरण करें। विद्यालय की सफलता इस बात से स्पष्ट है कि इस प्रान्त में शास्त्री की परीक्षा पास करने वाली पहली महिला इसी विद्यालय की छात्रा थी। महामहिम ने विद्यालय को सब प्रकार की सहायता देने का आश्वासन दिया। छात्राओं में मिष्टान्न-वितरण के लिए २०० रुपया दान दिया। वे इस संस्था से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने कैसरेहिन्द क्लब में अपने मानपत्र का उत्तर देते हुए कहा कि—"जालंधर ऐतिहासिक स्थान नहीं था, किन्तु कन्या महाविद्यालय ने इसे समूचे देश में प्रसिद्ध कर दिया है।" अगले वर्ष वे २९ अक्टूबर १९१४ ई० को पुनः इस संस्था का निरीक्षण करने के लिए यहाँ पधारे और उन्होंने इसके कार्य की सराहना की।

२० जून १९१५ ई० को सर माइकेल ने फिरोजपुर में आर्यसमाज के सबसे पुराने अनाथालय का निरीक्षण किया। इसके विधवा-गृह का शिलान्यास किया और अपनी यह सम्मति प्रकट की—"आर्यसमाज को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उसने विधवाओं और अनाथों की रक्षा का बड़ा कार्य किया है। वैदिक धर्म या कोई अन्य धर्म इससे अधिक ऊँचे आदर्श नहीं रख सकता है।"

(१०) सरकारी नीति में परिवर्तन के अन्य कारण

सरकारी नीति में परिवर्तन आने के कुछ अन्य भी कारण थे। आर्यसमाज के विरुद्ध सरकारी प्रकोप विशेष रूप से लाला लाजपतराय की गिरफ्तारी के बाद शुरू हुआ था, क्योंकि उस समय सरकार उन्हें एक भयंकर राजद्रोही समझती थी। अन्यत्र इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि वह लालाजी के विरुद्ध राजद्रोह के ऐसे पुष्ट प्रमाण एकत्र नहीं कर सकी, जिसके आधार पर उन पर मुकद्दमा चलाया जा सकता। उन्हें बिना मुकद्दमा चलाये ही देश-निर्वासन का दण्ड दे दिया गया। लाला लाजपतराय बार-बार सरकार को इस बात के लिए स्मृति-पत्र भेजते रहे कि उनके विरुद्ध जो आरोप हों वे बताये जायँ और उन्हें अपनी सफाई का मौका दिया जाय।[1] ऐसा न होने पर अन्त में सरकार को उन्हें विवश होकर छोड़ना पड़ा। इससे यह भली-भाँति प्रमाणित हो गया कि उनका राजद्रोह से कोई सम्बन्ध नहीं था और इस आधार पर आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था नहीं समझा जाना चाहिए। पंजाब के लेफ्टीनैण्ट गवर्नर डेंजिल इब्बटसन को यह स्वीकार करना पड़ा था कि उनके विषय में गुप्तचरों द्वारा दी गयी रिपोर्टों को पूर्ण रूप से विश्वसनीय नहीं माना जा सकता है।

इस विषय में एक अन्य विचारणीय प्रश्न यह था कि क्या लाला लाजपतराय के राजनैतिक कार्य करने से समूचे आर्यसमाज को राजनैतिक और राजद्रोही संस्था समझा जा सकता है? इस बारे में श्री मदनमोहन सेठ ने यह ठीक ही लिखा था कि "यह बात युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती है।[2] क्योंकि हम यह देखते हैं कि भारत में बाल गंगाधर तिलक और मदनमोहन मालवीय जैसे हिन्दू, नवाब सैयद महमूद बहादुर जैसे मुसलमान, सुरेन्द्र नाथ बैनर्जी और विपिनचन्द्र पाल जैसे ब्राह्मसमाजी, दादाभाई नौरोजी और सर

---

१. विजयचन्द्र जोशी—लाजपतराय, आटोबायोग्राफिकल राइटिंग्स, पृष्ठ २३८

फिरोजशाह मेहता जैसे पारसी तथा सर्वश्री ह्यूम, रदरफोर्ड, सर विलियम वैडरबर्न और सर हेनरी काटन जैसे ईसाई कांग्रेस के लिए कार्य कर रहे हैं। किन्तु इसके आधार पर हम समूचे हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्म, पारसी और ईसाई समुदाय को राजद्रोही या राजनैतिक नहीं कहते हैं। फिर हम केवल लाला लाजपतराय के राजनैतिक कार्यों के आधार पर समूचे आर्यसमाज को एक राजनैतिक संस्था कैसे मान सकते हैं ?"[1]

ब्रिटिश पत्रकार श्री नेविन्सन ने स्पष्ट रूप से यह लिखा था कि लाला लाजपतराय पर ब्रिटिश सरकार ने जानबूझकर इसलिए प्रहार किया था कि वह इससे आर्यसमाज की जड़ पर कुठाराघात करना चाहती थी। किन्तु यह सब कार्य उन्होंने सी०-आई० डी० की झूठी रिपोर्टों के आधार पर किया था। इस सम्बन्ध में अपनी पुस्तक 'दी न्यू स्पिरिट इन इंडिया' (भारत में नवीन भावना)में आर्यसमाज के अध्याय पर लिखे गये उनके ये शब्द उल्लेखनीय हैं—"पंजाब सरकार ने लाला लाजपतराय के विरुद्ध इसलिए कड़ी कार्यवाही नहीं की कि उनका व्यक्तिगत प्रभाव बहुत अधिक था, न ही इसलिए कि उनके भाषणों का जनता पर बड़ा जबर्दस्त प्रभाव पड़ता था। इस कार्यवाही का यह कारण था कि इससे वे आर्यसमाज पर भी प्रहार करना चाहते थे। उत्तरी भारत में ब्रिटिश अधिकारी सीमाप्रान्त के निवासी लोगों की योद्धावृत्ति से भयभीत और संशयालु बने रहते थे। वे यहाँ के पठानों और मुसलमानों की आलोचना करने वाली आर्यसमाज को चिरकाल से अपना विशेष शत्रु समझते थे। मैं एक ऐसे सिपाही को जानता हूँ जिसका कार्य एवं चरित्र उच्चकोटि का था, किन्तु फिर भी उसे सिक्ख रेजिमेंट से इसलिए निकाल दिया गया कि वह आर्यसमाजी था। इस प्रकार के सन्देह प्रायः गलत सूचनाओं के आधार पर किये जाते थे, और ऐसी भ्रान्तिपूर्ण जानकारी उन अफसरों को दी जाती थी जो आस-पास की जनता से कोई सम्पर्क नहीं रखते थे। उदाहरणार्थ अभी 'हिन्दुस्तान' के सम्पादक को दो वर्ष के कारावास का दण्ड दिया गया है। उसे डी० ए० वी० कॉलेज का स्नातक बताया गया था। यद्यपि वह इस संस्था में मुश्किल से तीन महीने पढ़ा होगा और उसकी शेष सारी शिक्षा ईसाई स्कूल में हुई थी। इसी प्रकार भारतीय सेनाओं में बगावत फैलाने के आरोप के सन्देह में जिस युवा अजीतसिंह को देश-निर्वासन का दण्ड दिया गया था, उसे प्रमुख आर्यसमाजी बताया गया था, यद्यपि उसका समाज से सम्बन्ध नहीं था।"[2]

इस समय सरकारी नीति में जो परिवर्तन हुआ उसका स्पष्ट प्रमाण पश्चिमोत्तर प्रदेश (संयुक्त प्रान्त) की १९११ की जनगणना-रिपोर्ट से मिलता है। इसमें श्री ब्लण्ट ने आर्यसमाज के बारे में सरकार के परिवर्तित रुख पर प्रकाश डालते हुए लिखा था—"चिरकाल से आर्यसमाज पर यह आरोप लगाया जा रहा है कि वह एक राजनैतिक संस्था है। इसके उद्देश्य और मन्तव्य संदिग्ध-से हैं। पिछले दिनों यह आरोप अधिक जोर से दोहराया गया है। इस आरोप के तीन शीर्षक हैं : पहला—समाज के कई ऐसे प्रमुख सदस्य हैं जो राजनीति के क्षेत्र में काम करते हैं और जिनकी सम्मतियाँ सन्देह से परे नहीं हैं। दूसरा—आर्यसमाज गोरक्षा-आन्दोलन का जोरदार समर्थक है और तीसरा—यह कि समाज अन्य मतों पर कठोर हमले करता है। पहले आरोप के बारे में हम कह सकते हैं

१. मदनमोहन सेठ—आर्यसमाज ए पोलिटिकल बॉडी, पृष्ठ ३५

२. नेविन्सन—न्यू स्पिरिट इन इंडिया, पृष्ठ ३०३-४

कि यह सचमुच ठीक है। आर्यसमाज के जो सभासद राजनीति में भाग लेते हैं, उनमें कुछ की ख्याति सरकार की दृष्टि में बुरी है और कुछ की अच्छी है···इसमें कोई सन्देह नहीं कि समाज के भले ही कोई सिद्धान्त हों, इनमें देश-भक्ति के तत्त्व को प्रधानता दी गयी है···आर्य-सिद्धान्त और आर्य शिक्षापद्धति प्राचीन भारत के गौरव का गान करते हैं और इस प्रकार अपने अनुयायियों में राष्ट्रीय अभिमान की भावना उत्पन्न करते हैं और वे लोग इस बात को अनुभव करते हैं कि उनके देश का इतिहास निरन्तर पराजयों के अपमान की कथा मात्र नहीं है। यद्यपि देशभक्ति और राजनीति पर्यायवाची शब्द नहीं हैं, फिर भी राष्ट्रीय मामलों में अभिरुचि का उद्बुद्ध होना इस बात का स्वाभाविक परिणाम है कि उनमें राष्ट्रीय अभिमान की मनोवृत्ति पैदा हो गयी है। साथ ही यह भी बात है कि आर्यसमाज के सिद्धान्तों और देश की राजनीति की ओर आकृष्ट होने वाले व्यक्ति एक ही श्रेणी के हैं। वह श्रेणी उन लोगों की है जो शिक्षित हैं, अपने देश की उन्नति चाहते हैं, पुराने दकियानूसी विचार से मुक्त हैं और न्यूनाधिक रूप में सुधार की मनोवृत्ति रखते हैं।

"ऐसी दशा में यह आश्चर्य की बात है कि आर्यसमाज में ऐसे लोग विद्यमान हैं जो राजनीति में भाग लेते हैं, किन्तु इससे यह परिणाम निकालना बिल्कुल गलत है कि आर्यसमाज मूलरूप में एक राजनैतिक संस्था है। प्रारम्भ से ही आर्यसमाज निरन्तर यह घोषणा करता रहा है कि उसका तत्कालीन राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस सिद्धान्त को उसने कई नियम बनाकर प्रकट किया है। उसने अपने सदस्यों को राजनीति में भाग लेने से रोका है और जब आवश्यकता हुई है तब उनके कार्यों से स्पष्ट शब्दों में असहमति प्रकट की है। असली स्थिति यह है कि वृक्ष के सम्बन्ध में सम्मति बनाने के लिए उसके फलों को परखा जाता है और किसी समाज का असली रूप उसके सदस्यों के कार्यों से जाना जाता है। यह बात मुझे अनिवार्य रूप से आवश्यक प्रतीत होती है कि समाज के सामूहिक रूप से कार्य में तथा इसके सदस्यों के वैयक्तिक रूप से कार्य में स्पष्ट रूप से एक भेदक रेखा खींची जानी चाहिए और इसकी सभाओं के व्यवहार और प्रवृत्तियों की पूरी परीक्षा की जानी चाहिए। **इस विषय में यह मानना पड़ेगा कि आर्य प्रतिनिधि सभाओं का और मुख्य रूप में केन्द्रीय सभा का झुकाव सदा ठीक दिशा में रहा है।**"[1]

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि महात्मा मुंशीराम तथा अन्य आर्यसमाजी शुरू से जिस बात पर पर बल दे रहे थे, उसे अन्ततोगत्वा उच्च सरकारी अधिकारियों ने स्वीकार कर लिया। १९०७ ई० में पंजाब सरकार ने लाला लाजपतराय के राजनैतिक कार्यों के कारण समूचे आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था मान लिया था और उसका भीषण दमन शुरू कर दिया था। ऊपर श्री सेठ की मार्ले के नाम लिखी गयी चिट्ठी में इस बात पर बल दिया गया था कि विपिनचन्द्र पाल जैसे ब्राह्मसमाजी के गरम दल का नेता होने से जिस प्रकार ब्राह्मसमाज को राजद्रोही नहीं माना जा सकता है, उसी प्रकार का व्यवहार आर्यसमाज के साथ होना चाहिए। ब्लण्ट के उपर्युक्त उद्धरण में सरकार की ओर से यह स्थिति स्वीकार कर ली गयी है, और सरकारी रुख में एक बड़े परिवर्तन को

---

१. १९११ ई० की संयुक्त प्रान्त की सेन्सस रिपोर्ट, पृ० १३५

सूचित करती है। इस सम्बन्ध में यदि यह बात ध्यान में रखें कि ब्लण्ट उस संयुक्त प्रान्त के बारे में अपनी रिपोर्ट लिख रहे थे, जिस प्रदेश का गुप्तचर-विभाग आर्यसमाज का कट्टर विरोधी था, तो यह परिवर्तन अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है।

लाला लाजपतराय ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'आर्यसमाज' में इसका विवेचन करते हुए लिखा है कि—पहले कुछ जिलों में यह स्थिति थी कि वहाँ आर्यों की जनगणना की जाती थी और पुलिस के रजिस्टरों में उनके नाम संदिग्ध अपराधी के रूप में दर्ज किये जाते थे। इसी प्रकार प्रशासन के विविध विभागों में ऐसे आर्यों की विशेष सूचियाँ तैयार की जाती थीं जो उन विभागों में काम करते थे। इन्हें तैयार करने का यह उद्देश्य होता था कि इन आर्यों को आर्यसमाज से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिए बाध्य किया जाय। कुछ लोगों के बारे में यह कहा जाता था कि उन पर सरकारी अधिकारियों द्वारा यह दबाव डाला गया था कि वे अपने बच्चों को आर्यों द्वारा संचालित स्कूलों से हटा लें। यदि वे ऐसा नहीं करेंगे तो उन्हें उनके पदों से बर्खास्त कर दिया जायेगा। पुलिस प्रत्येक आर्य की गतिविधियों पर दृष्टि रखती थी और प्रमुख आर्यसमाजियों का सरकारी जासूस छाया की तरह से पीछा करते थे। आर्यसमाज की वास्तविक भावनाओं का पता लगाने के लिए बड़े पैमाने पर एक गुप्तचर-पद्धति स्थापित कर दी गयी थी। एक प्रांतीय सरकार के बारे में यहाँ तक कहा जाता है कि उसने दो बार अपराध-अन्वेषण की उत्कृष्ट क्षमता रखने वाले विशेष अधिकारियों को आर्यसमाज के बारे में पूरी रिपोर्ट देने का कार्य सौंपा था।"[1]

किन्तु अन्त में सरकार को पता लग गया कि इस आरोप में कोई सचाई नहीं है कि यह संस्था सरकार के प्रति कोई दुर्भावना अथवा बगावत की प्रवृत्ति रखती है। अतः आर्यसमाजियों के प्रति सौमनस्य (Conciliation) की नीति शुरू करने का निर्णय किया गया। इसका बड़ा श्रेय वायसराय लार्ड हार्डिंग और संयुक्त प्रान्त के गवर्नर सर जेम्स मेस्टन को है।

पहले सरकारी नीति में परिवर्तन की प्रक्रिया के कारणों का विस्तृत उल्लेख किया जा चुका है। इसके परिणामस्वरूप १९१३ ई० से स्पष्ट रूप में सरकारी नीति में अन्तर आने लगा। सर माइकेल ओडवायर जैसे आर्यसमाज के कट्टर विरोधी भी कन्या महाविद्यालय जालन्धर जैसी आर्यसमाज की शिक्षा-संस्थाओं में जाने लगे और उनके कार्य की बड़ी सराहना करने लगे। इससे आर्यसमाज ने बड़ी प्रसन्नता का अनुभव किया और उसे यह पूरा विश्वास हो गया कि सरकार ने अब अपनी नीति में परिवर्तन कर लिया है; सन्देह और संशय के स्थान पर सौहार्द और सौमनस्य की नवीन नीति का का अवलम्बन कर लिया गया है और आर्यसमाज पर सरकारी प्रकोप की जो काली घटाएँ छायी हुई थीं, वे अब सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गयी हैं। अब आर्यसमाज निःशंक होकर अपने धार्मिक, सामाजिक, शिक्षा-सम्बन्धी उद्देश्यों की पूर्ति तथा जातीय उन्नति में अपनी सारी शक्ति लगा सकता है।

---

१. लाला लाजपत राय—दी आर्यसमाज, लाहौर, १९३२, पृ० १९४

सत्रहवाँ अध्याय

राष्ट्रीय जागरण में लाला लाजपतराय का योगदान

(१) आरम्भिक जीवन

लाला लाजपतराय (१८६५-१९२८) महाराजा रणजीतसिंह के बाद पंजाब में पैदा होने वाले सबसे बड़े महापुरुष थे। उन्होंने न केवल आर्यसमाज के क्षेत्र में विलक्षण कार्य किया, अपितु राष्ट्रीय आन्दोलन में भी बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया। संभवतः वही स्वामी श्रद्धानन्द के बाद ऐसे आर्यसमाजी नेता थे जिन्होंने राजनैतिक क्षेत्र में अखिल भारतीय स्तर पर मूर्धन्य स्थान पाया। यदि स्वामी श्रद्धानन्द जलियाँवाला बाग का हत्याकाण्ड होने के बाद होने वाली अमृतसर कांग्रेस के अधिवेशन की स्वागतकारिणी सभा के अध्यक्ष थे तो लाला लाजपतराय महात्मा गांधी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन को शुरू करने का प्रस्ताव स्वीकार करने वाले १९२० के कलकत्ता अधिवेशन के सभापति थे। लाला लाजपतराय के जीवन की दो बड़ी घटनाओं ने भारत के समूचे राष्ट्रीय जीवन पर गहरा प्रभाव डाला। ये थीं—१९०७ में देश-निर्वासन का दंड तथा १९२८ में लाहौर में साइमन कमीशन के विरोध में जुलूस का नेतृत्व करते हुए ब्रिटिश पुलिस अधिकारियों द्वारा लालाजी पर लाठी-प्रहार। इनसे समूचे देश में अद्भुत राजनैतिक जागृति और नवीन राजनैतिक प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ हुईं।

राष्ट्रीय क्षेत्र में लाला लाजपतराय ने जो भी कार्य किया, उसका समूचा श्रेय वे सदैव आर्यसमाज को दिया करते थे। १९०७ के बाद यद्यपि उन्होंने आर्यसमाज के हित की दृष्टि से स्वयमेव डी० ए० वी० कालेज से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया था, फिर भी उन्होंने यह घोषणा की कि "मैं आर्य धर्म के साथ आजीवन चिपटा रहूँगा। अपने धर्म अथवा मातृभूमि की उन्नति के लिए सर्वस्व त्याग के लिए सदैव तत्पर रहूँगा।" मद्रास में एनी बीसेंट की अध्यक्षता में दिये गये एक ऐतिहासिक भाषण में उन्होंने यह घोषणा की थी कि "आर्यसमाज मेरी माता और वैदिक धर्म मेरा पिता है।"[1] यहाँ लाला लाजपतराय द्वारा राष्ट्रीय जागरण के लिए किये गये कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यों का संक्षिप्त परिचय दिया जायेगा। ये कार्य अधिकांश रूप में उन्होंने आर्यसमाज के प्रभाव से किये थे।

लालाजी के जीवन की एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि उनमें राष्ट्रीयता और देशभक्ति के विचार छात्रावस्था में आर्यसमाज में प्रवेश से पहले उत्पन्न हुए, किन्तु

---

१. अलगूराय शास्त्री—लाला लाजपतराय, पृष्ठ ७

आर्यसमाज में आकर ही उन्हें पूर्ण रूप से विकसित होने का अवसर मिला। उनका जन्म २८ जनवरी १८६५ को लुधियाना जिले के जगराँव नामक कस्बे में हुआ। उनके पिता श्री राधाकृष्ण अध्यापक थे और अरबी-फारसी के अच्छे विद्वान् थे। उनके एक अध्यापक कट्टर सुन्नी मुसलमान थे और वे अपने हिन्दू शिष्यों को मुसलमान बनाने का पूरा प्रयास किया करते थे। उनके प्रभाव से राधाकृष्ण ने हिन्दू होते हुए नमाज पढ़ना तथा रोजा रखना शुरू किया और वे अधिकतर मुस्लिम उलेमाओं की मैत्री की तलाश में रहने लगे। जब सर सैयद अहमद ने इस्लाम की उदार व्याख्या की तो राधाकृष्ण ने उनके नवीन सिद्धान्तों का बड़े चाव से अध्ययन किया, और सर सैयद से यह प्रश्न किया कि क्या मुसलमान बनने के लिए यह आवश्यक होगा कि उनका नाम तक राधाकृष्ण न रहे? सर सैयद के इस उत्तर से वे बड़े प्रभावित हुए कि नाम-परिवर्तन आवश्यक नहीं है; आवश्यक बात एक ईश्वर तथा उसके पैगम्बर मुहम्मद में दृढ़ विश्वास रखना है।

इससे वे इस्लाम की ओर इतना अधिक आकर्षित हुए कि उन्होंने अपने एक मित्र दुलीचन्द्र वकील के साथ खुले रूप में मुसलमान बन जाने का निश्चय किया और इस इरादे से कलमा पढ़ने के लिए दोनों मस्जिद की ओर चल पड़े। किन्तु उनकी पत्नी ने बचपन में अपने माता-पिता से सिख गुरुओं की वाणी का उपदेश प्राप्त किया था। वे अपने हिन्दू धर्म में अटल थीं। वे पति के पीछे-पीछे गोद में शिशु लाजपत को लिये मस्जिद चली गयीं, गुलाबदेवी ने पति को मस्जिद की सीढ़ियों पर जब आगे बढ़ने से रोकने का प्रयास किया तो छोटे बालक लाजपत ने घबराकर रोना-चीखना आरम्भ कर दिया। पारिवारिक भावुकता के ऐसे मार्मिक दृश्य के सामने राधाकृष्ण ने हार मान ली और वे बगैर मुसलमान बने घर लौट आये। लाजपतराय ने अपनी माता के पत (धार्मिक व्रत) की रक्षा की, इसलिये वे लाजपत कहलाये। उन्होंने यह लिखा कि "मेरे पिता जी ने इस्लाम स्वीकार नहीं किया, यह एक भारी चमत्कार है। और इस चमत्कार की जयमाल मेरी माताजी के गले में है।" उनके परिवार के एक विनोदी मित्र ने कहा था कि यह शिशु-चमत्कार लाजपत के हाथों शुद्धि का सर्वप्रथम कार्य समझा जाना चाहिये। उन्होंने अज्ञात रूप में अपनी माँ की गोद में आर्यसमाज के एक प्रमुख मन्तव्य—स्वधर्म की रक्षा तथा अविचल आस्था की घुट्टी पी थी।

मुसलमान न बनने पर भी राधाकृष्ण ने लाजपत के बड़े होने पर कुरान शरीफ के कुछ भाग अपने पुत्र को कण्ठस्थ कराये। वे पिता की तरह से नमाज पढ़ने लगे और कभी-कभी रमजान में रोजा भी रखा करते थे। उनका परिवार नाना प्रकार के धर्मों का अद्भुत संगम था। उनके दादा पक्के जैनी, उनके पिता आचार-विचार में पक्के मुसलमान और उनकी माता स्वयं नियमपूर्वक सिख धर्म की गुरुवाणी का पाठ करने वाली थी और लाला लाजपतराय बाद में कट्टर आर्यसमाजी बने। राधाकृष्ण को इतिहास के अध्ययन का बड़ा शौक था और उन्होंने अपने बेटे को अरबी-फारसी पढ़ाने के साथ-साथ फिरदौसी का अमरकाव्य शाहनामा पढ़ाया। इसका यह परिणाम हुआ कि उनमें ऐतिहासिक ग्रंथों को पढ़ने की अत्यधिक रुचि उत्पन्न हुई और उनकी अद्भुत भाषणकला का आदिस्रोत भी इस महाकाव्य की चमत्कारपूर्ण वर्णन-शैली समझी जाती है। हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद फरवरी १८८१ ई० में १६ वर्ष की आयु में लाजपतराय कालिज की शिक्षा प्राप्त करने लाहौर गये। माता-पिता की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी, अतः

उन्होंने बड़ी आर्थिक कठिनाइयाँ उठाते हुए मैट्रिक की परीक्षा १८८३ ई० में पास की और इसके साथ ही वकालत का डिप्लोमा भी प्राप्त किया। लाहौर कालेज में उनके सहपाठियों में गुरुदत्त, हंसराज, नरेन्द्रनाथ और रुचिराम साहनी जैसे व्यक्ति थे जिनका आधुनिक पंजाब के निर्माण में अत्यधिक योगदान है।

कालिज में मुहम्मद हुसैन आजाद से अरबी पढ़ते हुए वे उनकी उर्दू पुस्तक कससे-हिंद (भारत की शौर्य गाथाओं) से बड़े प्रभावित हुए। इससे पहली बार उन्हें भारत के गौरवमय अतीत का ज्ञान हुआ और विद्यार्थी-जीवन से ही वे सार्वजनिक आन्दोलन में भाग लेने लगे।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि अरबी-फारसी पढ़ते हुए भी उन्होंने सर्वप्रथम जिस सार्वजनिक आन्दोलन में भाग लिया, वह हिन्दी का आन्दोलन था। उन दिनों संयुक्त प्रान्त में अदालती भाषा उर्दू थी, यद्यपि वहाँ के अधिकाँश व्यक्ति हिन्दी बोलते, लिखते और पढ़ते थे। १८८० ई० के दशक में संयुक्त प्रान्त में हिन्दी को अदालती भाषा बनाने का आन्दोलन चला। पंजाब में आर्यसमाज हिन्दी तथा संस्कृत के महत्त्व पर बहुत बल दे रहा था। उस समय तक यद्यपि लालाजी हिन्दी नहीं जानते थे, अरबी और फारसी पढ़ रहे थे, फिर भी उनके कुछ मित्रों ने उनसे अनुरोध किया कि वे अरबी पढ़ना छोड़ दें और संस्कृत को अपनाएँ। उनके गुरु आजाद बड़े गर्वपूर्ण उल्लास से कहा करते थे कि शिया तथा फारसी भाषा के विद्वान् होने के कारण वे भारत को नहीं, अपितु ईरान को अपना देश मानते हैं। इससे नवयुवक लाजपतराय के हृदय में उस समय विकसित होने वाली देशभक्ति की भावना को गहरी ठेस पहुँची और उन्हें यह भान होने लगा कि अरबी तथा फारसी के अध्ययन में अराष्ट्रीयता के भाव निहित हैं। वे शीघ्र ही हिन्दी-आन्दोलन के प्रचारक बन गये। गुरुदत्त, हंसराज और लाजपतराय की त्रिमूर्ति के सार्वजनिक जीवन का श्रीगणेश उनके छात्र-जीवन में हिन्दी के आन्दोलन द्वारा हुआ। वे हिन्दी के पक्ष में सरकार को एक मेमोरियल भेजने के लिए हजारों व्यक्तियों के हस्ताक्षर एकत्र करने के कार्य में लग गये। अभी वे पूरे १८ वर्ष के भी नहीं हुए थे कि अम्बाला में हिन्दी के पक्ष में उनका पहला सार्वजनिक भाषण हुआ। श्रोताओं में एक मैजिस्ट्रेट भी थे जिन्होंने लाहौर कालेज के प्रिंसिपल को लालाजी के भाषण की रिपोर्ट लिख भेजी। प्रिंसिपल ने नवयुवक प्रचारक को चेतावनी देते हुए कहा—"विद्यार्थियों से इस प्रकार के आन्दोलन से दूर रहने की आशा की जाती है।"

किन्तु इन्होंने इस चेतावनी की कोई परवाह नहीं की और हिन्दी-आन्दोलन में जी-जान से जुट गये। इसका बड़ा कारण अपने सहपाठी पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी तथा लाला हंसराज से घनिष्ठता थी। वे इनको हिन्दी के आन्दोलन के लिए और आर्यसमाज में सम्मिलित होने के लिए निरन्तर प्रेरित कर रहे थे। बचपन में पिताजी के इस्लाम द्वारा प्रभावित होने के कारण इनकी आर्यसमाज या हिन्दू धर्म की ओर कोई विशेष अभिरुचि नहीं थी। आर्यसमाज में इन्होंने विधिवत् प्रवेश नहीं किया था। फिर भी अपने सहपाठियों के कारण इनके मन में प्राचीन हिन्दू धर्म और संस्कृति के प्रति अनुराग उत्पन्न होने लगा था। गुरुदत्त विद्यार्थी जान स्टुअर्ट मिल और बेन्थम के बड़े भक्त थे और उनके सम्पर्क से आपने इनकी रचनाओं का भी अध्ययन किया।

हिन्दी-आन्दोलन में सम्मिलित होने का एक अन्य कारण पंजाब में ब्राह्मसमाज

के नेता नवीनचंद्र राय का प्रभाव था। वे बंगाली होते हुए भी राष्ट्रीय एकता की भावना के कारण हिन्दी के प्रबल समर्थक थे; हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा मानते थे और इसके आधार पर ही भारत की राष्ट्रीयता के भव्य भवन को प्रतिष्ठापित करना चाहते थे। लालाजी ने लिखा है कि पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी और नवीनचंद्र राय के कारण मेरा दृष्टिकोण राष्ट्रीयता के रंग में रंगा जाने लगा। "राय के विचारों ने मुझे अपनी गम्भीरता से प्रभावित किया और इनसे मेरे राष्ट्रीय जीवन का श्रीगणेश हुआ।"

इस समय तक लाला लाजपतराय आर्यसमाजी नहीं बने थे, यद्यपि उनके मित्र गुरुदत्त कालिज में प्रवेश के समय से ही आर्यसमाजी बन चुके थे। लाला लाजपतराय काफी समय तक इस विषय में बड़ी दुविधा में रहे कि वे ब्राह्मसमाज में सम्मिलित हों या आर्यसमाज में। उनके पिता मुंशी राधाकृष्ण पंजाब में नवीनचन्द्र राय के बाद ब्राह्म-समाज के सबसे बड़े स्तम्भ समझे जाने वाले श्री अग्निहोत्री के मित्र थे। उन दिनों श्री अग्निहोत्री गवर्नमेंट स्कूल में ड्राइंग के अध्यापक थे और **'बिरादरे हिन्द'** नामक उर्दू पत्र निकाला करते थे। लालाजी के पिता मुंशी राधाकृष्ण इसी पत्र में लेख लिखकर आर्य-समाज और सनातन धर्म पर प्रबल आक्षेप किया करते थे। पिताजी के आर्यसमाज-विरोधी होने से लालाजी उसमें सम्मिलित नहीं हो सकते थे, अतः उनके मित्र अग्नि-होत्री ने १८८२ ई० के शुरू में ब्राह्मसमाज में लाला लाजपतराय का विधिवत् प्रवेश कराया। उनका इस ओर आकर्षण का प्रधान कारण नवीन बाबू का राष्ट्रीय दृष्टि से किया जाने वाला हिन्दी-आन्दोलन था।

(२) आर्यसमाज में प्रवेश

लाला लाजपतराय के आर्यसमाज में प्रवेश की कथा बड़ी रोचक है। कालिज में उनके घनिष्ठ मित्र गुरुदत्त और हंसराज प्रायः आर्यसमाज के विषय में बातचीत किया करते थे। फिर भी वे अपने इन मित्रों द्वारा आर्यसमाज में नहीं लाये जा सके और अग्नि-होत्री के प्रभाव से ब्राह्मसमाजी बन गये। किन्तु वे देर तक ब्राह्मसमाजी नहीं रह सके। इन्हें आर्यसमाजी बनाने का श्रेय उस समय में लाहौर आर्यसमाज के प्रधान लाला साईंदास को है। वे बहुधा होनहार लड़कों को आर्यसमाजी बनाने के लिए कालिज के छात्रावासों में जाया करते थे। उन्हें प्रतिभाशाली नवयुवकों को समाज की ओर आकर्षित करने का ढंग भी आता था। वे ब्राह्मसमाज की उस सभा में उपस्थित थे जिसमें अग्निहोत्री के हाथों लाजपतराय का ब्राह्मसमाज में प्रवेश हुआ। सभा से बाहर आते ही साईंदास ने लाजपतराय को बुलाया और बहुत करुणाजनक शब्दों में कहा कि "तुम जैसे होनहार और प्रतिभाशाली नवयुवक को उल्टे मार्ग पर डाल दिया गया है।" ब्राह्मसमाज में प्रवेश करने के बाद लाला लाजपतराय बड़ी उलझन में पड़ गये। एक ओर उनके घनिष्ठ मित्र गुरुदत्त और हंसराज ब्राह्मसमाज का मजाक उड़ाते थे और कहते थे कि इस धर्म का मूल स्रोत बाइबल है, दूसरी ओर ब्राह्मसमाजियों में इस समय तक तीन दल हो चुके थे और इनके आपसी झगड़ों से लाजपतराय का मन ब्राह्मसमाज से खिन्न होने लगा। इसमें कुछ लोग स्वतन्त्र विचारक थे और उनके स्वतन्त्र विचारों ने ईसाइयत पर से इनकी श्रद्धा कम कर दी। दूसरी ओर श्री केशवचन्द्र सेन की रचनाओं से इन्हें दैवी प्रेरणा या इलहाम की बात आवश्यक प्रतीत होने लगी और तीसरे दल—साधारण समाज की

रचनाओं से इन्हें केशवचन्द्र सेन के पैगम्बर होने का दावा निरर्थक प्रतीत होने लगा। यद्यपि गुरुदत्त विद्यार्थी और हंसराज के सम्पर्क में आने के बाद ये आर्यसमाज की राष्ट्रीय विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित हुए, किन्तु इन्होंने लिखा है कि "पिता के कट्टर विरोधी होने के कारण आर्यसमाज में जाने की मैं हिम्मत नहीं कर सकता था।"[1] किन्तु १८८२ के अन्त में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ बनीं कि इनका आर्यसमाज में प्रवेश हो गया।

वच्छोवाली आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव नवम्बर १८८२ ई० में मनाया जा रहा था। इसमें इनके मित्र लाला मदनसिंह का भाषण होने वाला था। उन्हें लालाजी से बड़ा प्रेम था। वे इन्हें अपने साथ उत्सव के पंडाल में ले गये और समाज-मन्दिर के ऊपर वाली छत पर ले जाकर उन्होंने लालाजी को अपने उस भाषण की प्रतिलिपि दिखायी जो वे बोलने वाले थे। इसके बारे में इनकी सम्मति माँगी। लालाजी को वह भाषण बहुत ही अधिक पसन्द आया और जब वे अपने मित्र मदनसिंह के साथ नीचे उतरे तो लाला साईंदास ने उन्हें पकड़ लिया और एक ओर ले जाकर बोले कि "हम बहुत दिनों से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। अब तुम्हें आर्यसमाज में अवश्य सम्मिलित हो जाना चाहिये।" उस समय वे स्नेहपूर्वक इनकी पीठ को थपथपा रहे थे। लालाजी का उत्तर था कि "मैं आप लोगों में से ही हूँ।" ज्योंही ये शब्द उनके मुख से निकले, लाला साईंदास ने आर्यसमाज की सदस्यता का कोरा फार्म मँगवाकर इनके सम्मुख रख दिया। "तीन-चार मिनटों तक मैं झिझका, परन्तु उनका दृढ़ निश्चय था कि जब तक मैं हस्ताक्षर नहीं करूँगा वह मुझे नहीं छोड़ेंगे। अन्त में मैं सहमत हो गया। उस समय लाला साईंदास के मुख पर अवर्णनीय हर्ष था। ऐसा प्रतीत होता था जैसे कि भारतवर्ष का राजमुकुट उनके सिर पर रख दिया गया हो।"[2] साईंदास ने तुरन्त गुरुदत्त को बुलवा भेजा और मुख्य वक्ता लाला मदनसिंह का भाषण समाप्त होने पर लालाजी को मंच पर ले जाकर इनका भाषण कराया। यह समाज में इनका पहला भाषण था। जनता ने करतल-ध्वनि से हर्ष प्रकट किया और इन्हें पता लगा कि सार्वजनिक भाषण भी एक महत्त्वपूर्ण कला है और इसकी सहायता से महान् कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं।

लालाजी का आर्यसमाज में प्रवेश न केवल उनके, अपितु आर्यसमाज के तथा पंजाब के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। आर्यसमाज की ओर उनके आकर्षित होने का प्रधान कारण आर्यसमाज द्वारा भारत के प्राचीन इतिहास के गौरव पर बल दिया जाना था। कालिज के दो वर्षों में इन्होंने विभिन्न पुस्तकों का अध्ययन करके अपने देश की सेवा करने का पाठ पढ़ा और भारत की राजनैतिक स्वतन्त्रता पाने के लिए बेचैन हो उठे थे। इन्हें यह प्रतीत होता था कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आर्य-समाज ही सर्वोत्तम साधन है। १९०७ ईसवी में मांडले से लौटने के बाद उन्होंने अपने भाषण में कहा था—"यह आर्यसमाज ही था जिसने मुझे वैदिक धर्म से प्रेम करने और आर्यों की महिमा और महत्ता पर अभिमान करने का पाठ पढ़ाया। यह आर्यसमाज ही था जिसने मुझे प्राचीन आर्यों से जोड़ दिया और उनका प्रशंसक तथा भक्त बनाया। यह आर्यसमाज ही था जिसने मुझमें सत्य, धर्म और स्वतन्त्रता की भावना उत्पन्न की।

---

१. विजयचंद्र जोशी—लाजपतराय आटोबायोग्राफिकल रायटिंग्स, पृ० २८

२. अलगूराय शास्त्री - लाला लाजपतराय, पृ० २७

मुझमें संगठन करने की जो भी क्षमता है, वह आर्यसमाज की देन है। मुझमें जो कुछ बुराइयाँ हैं, वे मेरे पूर्वजन्म के कर्मों का परिणाम हैं और मुझमें जो भी अच्छाइयाँ हैं वे सब आर्यसमाज के कारण हैं। आर्यसमाज में प्रवेश के बाद मैंने सार्वजनिक जीवन के सभी पाठ पढ़े। इसमें मैंने सार्वजनिक जीवन में पवित्र एवं आदर्श पुरुषों के दर्शन किए और उन्हें अपना मित्र बनाया। मुझ पर आर्यसमाज का इतना अधिक ऋण है कि मैं उससे कभी भी उऋण नहीं हो सकता हूँ।"[1]

आर्यसमाज में प्रवेश करने के बाद इन्होंने उसके सभी कार्यों में बड़े उत्साह से भाग लिया। ये लाहौर आर्यसमाज की ओर से प्रचार के लिए समाज-मन्त्री भाई जवाहर-सिंह के साथ संयुक्त प्रान्त में सहारनपुर, फर्रुखाबाद, आदि स्थानों में भ्रमण करते रहे। पण्डित गुरुदत्त, हंसराज और लालाजी ने मिलकर जनवरी १८८३ ई० में दो समाचार-पत्र निकालने का निर्णय किया। दोनों के नाम लालाजी ने ही सुझाये थे। पहले अंग्रेजी पत्र का नाम था **रीजेनरेटर आफ आर्यावर्त** या आर्यावर्त का पुनरुद्धार। इसके सम्पादक पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी और हंसराज बने। दूसरे उर्दू पत्र **देश-उपकारक** का संपादन लालाजी को सौंपा गया। ३० अक्टूबर १८८३ को दीपमालिका के पर्व पर अजमेर में स्वामी दयानन्द का निर्वाण हुआ। इस अवसर पर लाहौर में आर्यसमाज की ओर से जो सभा बुलायी गयी, उसमें लालाजी को भाषण देने के लिए कहा गया। पण्डित गुरुदत विद्यार्थी और अन्य वक्ता स्वामीजी के निर्वाण के दुःख से इतने अभिभूत और प्रभावित थे कि वे नहीं बोल सके, किन्तु लालाजी एक घण्टे तक बोलते रहे, श्रोता मन्त्रमुग्ध होकर सुनते रहे। इस भाषण से आर्यसमाज में उनकी धाक जम गयी। उनकी गणना समाज के सर्वोत्तम वक्ताओं में होने लगी। उन्होंने अपना समूचा जीवन आर्यसमाज तथा देश को समर्पित कर दिया।

(३) कांग्रेस के साथ सम्बन्ध

वकालत की परीक्षा पास करने के बाद लाला लाजपतराय ने जब हिसार में वकालत की प्रेक्टिस शुरू की तो वहाँ वे १८८५ ई० में एक ब्रिटिश सिविलियन ह्यूम द्वारा स्थापित राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) के समाचारों में बड़ी दिलचस्पी लेने लगे। उन दिनों समाचारपत्रों में इसके बारे में बहुत-सी बातें छपती रहती थीं। इसका तीसरा अधिवेशन दिसम्बर १८८७ ई० में मद्रास में हुआ। इसके सभापति बदरुद्दीन तैयब जी के भाषण का लालाजी पर गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने कांग्रेस का साहित्य प्राप्त किया और पढ़ा। इसी समय कांग्रेस के बारे में ह्यूम ने दो लघु पुस्तिकाएँ—**पूरब का सितारा** (Star of the East) और **एक बूढ़े आदमी की उम्मीद** (An Old Man's Hope) नाम की दो पुस्तिकाएँ छपवाईं। इनमें कांग्रेस के उद्देश्यों और कार्यों का बड़ा सुन्दर परिचय दिया गया था। लालाजी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि "इनके पन्नों में स्वतन्त्रता की धारा प्रवाहित हो रही थी और इनका मुझ पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। मैंने उसके बाद कांग्रेस के बारे में इससे अच्छी पुस्तिकाएँ नहीं पढ़ीं।"

जिस देशभक्ति ने उन्हें आर्यसमाज की ओर आकृष्ट किया था, वही अब उन्हें

---

१. विजय चन्द्र जोशी, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ ३०

कांग्रेस की दिशा में जाने के लिए प्रेरित करने लगी। १८८८ ई० में उन्होंने कांग्रेस की ओर से पंजाब में प्रचार के लिए भेजे गये अली मुहम्मद भीमजी को हिसार बुलाया और वहाँ उनके व्याख्यान का प्रबन्ध किया। इस समय उन्हें वहाँ वकालत करते हुए लगभग तीन वर्ष हो गये थे। वहाँ के यूरोपियन अफसर उनकी स्वाधीन प्रवृत्ति और व्यवहार को पसन्द नहीं करते थे, क्योंकि वे अदालत में जजों को हुजूर, गरीब-परवर आदि चापलूसी-भरे विशेषणों से सम्बोधित नहीं करते थे और हर प्रकार की अनियमितता का उग्र विरोध करते थे। कई यूरोपियन जजों से उनका झगड़ा हो चुका था।

इसी समय कांग्रेस में उनको लोकप्रिय बनाने वाली एक विचित्र और अप्रत्याशित घटना हुई। उन दिनों सुप्रसिद्ध मुस्लिम नेता सर सैयद अहमद कांग्रेस का खुल्लमखुल्ला विरोध कर रहे थे और मेरठ तथा लखनऊ में उन्होंने कांग्रेस की तीव्र आलोचना अपने भाषणों में की थी। लाला लाजपतराय के पिता सर सैयद अहमद के परम भक्त थे। वे उनके सभी ग्रन्थों और पत्र-पत्रिकाओं को बड़े ध्यान से पढ़ते थे और अपने पुत्र को भी पढ़कर सुनाया करते थे। अतः लाला लाजपतराय को उनके विचारों का बड़ा अच्छा परिचय था। उन्होंने १८५७ के विद्रोह के कारणों पर लिखी अपनी पुस्तक में प्रतिनिधि सत्तात्मक शासन-पद्धति का प्रबल समर्थन करते हुए लिखा था कि—"यदि इस सिद्धांत को स्वीकार कर लिया गया होता तो सन् ५७ के विद्रोह की महान् विपत्ति से सरकार बच जाती।" यदि हिन्दुस्तानी उस समय धारा-सभाओं में होते तो वे सब-कुछ अपने देशवासियों को (तथा अंग्रेजों को) विस्तार से बतला देते और हम उन मुसीबतों से जो हम पर टूटी हैं, बच जाते। अब सर सैयद अहमद इसी प्रकार के शासन की माँग करने वाली कांग्रेस का विरोध इस आधार पर करने लगे कि हिन्दुओं तथा मुसलमानों के हित परस्पर टक्कर खाते हैं, अतः मुसलमानों को कांग्रेस से पृथक् रहना चाहिए।

यह सर सैयद ही थे जिन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों को भारत माता की दो आँखो की उपमा देते हुए राष्ट्रीय एकता की सुन्दर मूर्ति के विचार की कल्पना की थी और कहा था—"क्या कभी दायीं आंख की बायीं आँख से टक्कर या द्वेष हो सकता है।" पंजाब का दौरा करते हुए सर सैयद अहमद ने इस बात पर बल दिया था कि—"हिन्दुओं मुसलमानों तथा ईसाइयों—सभी से निर्मित एक ही भारत राष्ट्र है।" गुरुदासपुर में भाषण करते हुए सर सैयद ने कहा था—"स्मरण रखो कि हिन्दू और मुसलमान शब्द केवल धार्मिक विभिन्नता के लिए प्रयुक्त होते हैं, नहीं तो इस देश के सभी निवासी हिन्दू और मुसलमान, बल्कि ईसाई भी एक ही राष्ट्र से सम्बन्ध रखते हैं।" उनका यह भाषण कांग्रेस की स्थापना से एक ही वर्ष पूर्व जनवरी १८८४ ई० में दिया गया था और अब जब कांग्रेस ने सब सम्प्रदायों के लिए एक राष्ट्रीय मंच का निर्माण शुरू किया तो सर सैयद ने उसका विरोध करना शुरू कर दिया।

लाला लाजपतराय ने राष्ट्रीयता, हिन्दू-मुस्लिम एकता, प्रतिनिधि शासन और भारत की स्वतन्त्रता के बारे में सर सैयद के पुराने सभी लेखों और भाषणों के अवतरण एकत्र किये और इनके आधार पर उर्दू में छपने वाले **कोहनूर** नामक साप्ताहिक पत्र में सर सैयद के विचारों की कड़ी आलोचना करते हुए अपनी खुली चिट्ठियाँ छपवानी शुरू कीं। बाद में ये पत्र अंग्रेजी में भी छापे गये। इनके नीचे लेखक ने अपना नाम न लिखकर केवल इतना ही लिखा था—'आपके एक पुराने अनुयायी का पुत्र।' इन चिट्ठियों के

ऊपर हिसार का नाम लिखा होता था। अतः जो लोग लाजपतराय को जानते थे उन्हें यह कल्पना करने में कोई कठिनाई नहीं हुई कि इन खुली चिट्ठियों का वास्तविक लेखक कौन है।

सर सैयद के कांग्रेस-विरोधी प्रचार से उस समय के ब्रिटिश कांग्रेसी नेता—ह्यूम, वैडरबर्न, यूल तथा भारतीय नेता काफी घबरा गये थे। चूँकि सर सैयद के पुराने लेख उर्दू में लिखे हुए थे, अतः कांग्रेसी नेता उनके विचारों से सर्वथा अपरिचित थे और वे उनका खण्डन उस प्रकार से नहीं कर सकते थे जिस प्रकार से और जिस भाषा में लाला लाजपतराय ने किया था। उन्होंने अपने खुली चिट्ठियों के आरम्भ में ही सर सैयद को चेतावनी दी थी कि—"मैं आप के लेखों का निरन्तर पाठक और प्रशंसक रहा हूँ। बचपन से ही मुझे अलीगढ़ के सफेद दाढ़ी वाले सैयद की सम्मतियों का मान करना सिखलाया गया है। मेरे पिताजी सदैव मुझे आपका पत्र **सोशल रिफार्मर** पढ़कर सुनाया करते हैं। अलीगढ़ इन्स्टीट्यूट गजट में आपके लेखों, कौंसिल तथा अन्य सार्वजनिक सभाओं में दिये हुए आपके भाषणों का मैंने ध्यान से अध्ययन किया है।" लेखक ने सर सैयद को उन दिनों की याद दिलायी जब उसने जान स्टुअर्ट मिल के निबन्ध 'स्वाधीनता' की प्रशंसा की थी और उनकी आज्ञा से रिफार्मर के लिए बैन्थम के **यूटिलिटी** नामक ग्रन्थ का अनुवाद किया था।"

इस समय कांग्रेस की कोई ऐसी माँग, ऐसा सिद्धान्त अथवा ऐसी नीति नहीं है जिसका समर्थन स्वयं सर सैयद अहमद ने पहले न किया हो। "अब उन्हें प्रफुल्लित होना चाहिए कि उनके देशवासियों में जागृति उत्पन्न हो रही है। उनके स्वप्न और भविष्यवाणी सत्य सिद्ध होने को है।" अब सर सैयद अहमद द्वारा अपने पुराने विचारों के सर्वथा प्रतिकूल मन्तव्य प्रकट करना आदम के पतन जैसी घटना है। "जिस प्रकार हमारी मानव-जाति के प्रथम पूर्वज का पतन शैतान द्वारा हुआ था, तुम्हारे इस अधःपतन का कारण भी सांसारिक मान-प्रतिष्ठा की प्रबल आकांक्षा हो सकती है" और अन्त में उन्होंने अपने चार पत्रों की समाप्ति एक ऐसी अंग्रेजी कविता के साथ की थी जिसका यह अभिप्राय था "कि एक दर्शनीय कन्या तुम्हें मूर्ख बना रही है। उसका कभी विश्वास न करना। वह तुम्हें उल्लू बना रही है।" अन्तिम पत्र की तिथि २० दिसम्बर १८८८ थी।

इन पत्रों ने कांग्रेसी क्षेत्रों में बड़ी सनसनी पैदा कर दी। एक ही रात में इनका नवयुवक वकील लेखक समूचे भारत में विख्यात हो गया। दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में जब वह कांग्रेस में भाग लेने के लिए प्रयाग रेलवे स्टेशन पर पहुँचा तो पण्डित मालवीय तथा अयोध्यानाथ जैसे सुप्रसिद्ध नेताओं ने उसका स्वागत किया। उसका नाम वहाँ पहुँचने से पहले ही अलीगढ़ के महान् मुस्लिम नेता सर सैयद अहमद खाँ जैसे कांग्रेस-विरोधी की पोल खोलने वाले के रूप में विख्यात हो चुका था। वह भारत की राष्ट्रीय राजनीति का प्रसिद्ध व्यक्ति बन गया था। इस कांग्रेस के अधिवेशन में उसके दो भाषण हुए। एक का विषय तो वही खुली चिट्ठियों वाला था, यह कांग्रेस के मुख्य प्रस्ताव के अनुमोदन के रूप में किया गया था। उसमें धारा-सभाओं के सदस्यों के लिए चुनाव की पद्धति जारी करने की माँग की गयी थी और यह बताया गया था कि जो सर सैयद आज कांग्रेस की इस माँग का इतना विरोध कर रहा है, उसने तीस वर्ष पहले 'विद्रोह के कारणों' नामक पुस्तक में स्वयं वही माँग रखी थी। उसका दूसरा भाषण इस आशय के प्रस्ताव को पेश

करते हुए दिया गया था कि कांग्रेस के अधिवेशन में आधा दिन देश के शिक्षा-सम्बन्धी तथा औद्योगिक मामलों पर विचार करने के लिए पृथक् रखा जाय। यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ और उस समय से कांग्रेस के अधिवेशन के साथ औद्योगिक प्रदर्शनी भी प्रतिवर्ष लगायी जाने लगी। लाला जी के इन भाषणों की एक बड़ी विशेषता यह थी कि ये उस समय हिन्दुस्तानी या उर्दू में दिये गये थे, जब कांग्रेस की समस्त कार्यवाही अंग्रेजी भाषा में होती थी। इससे उन्होंने काग्रेस के नेताओं को यह बताया कि यदि हमें कांग्रेस को महत्त्वपूर्ण बनाना है तो इसे वास्तव में जनसाधारण का प्रतिनिधि बनाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए और इसकी कार्यवाही ऐसी भाषा में होनी चाहिए जिसे आम जनता अच्छी तरह से समझ सकती हो। कांग्रेस का इतिहास लिखने वाले श्री पट्टाभि सीतारमैय्या ने १८८८ ई० के कांग्रेस के अधिवेशन की समीक्षा करते हुए उर्दू में भाषण देने के कारण लाला लाजपतराय को बड़ा दूरदर्शी पुरुष बताया है।

इस प्रकार लालाजी कांग्रेस अधिवेशन में पहली बार सम्मिलित होकर अपूर्व ख्याति के साथ पंजाब वापिस आये। उन्होंने इस विषय में यह लिखा कि—"प्रयाग अधिवेशन में भाग लेना ही मेरे राजनैतिक जीवन का श्रीगणेश था। इस अधिवेशन के पश्चात् मिस्टर ह्यूम ने कई पत्र मुझे लिखे और मेरी अनुमति से अपने व्यय पर सैयद के नाम खुली चिट्ठियों को उनकी भाषा सुधारकर छपवा दिया। इस पुस्तिका की कुछ काल तक जनता में काफी माँग बनी रही। १८८९ के बम्बई कांग्रेस-अधिवेशन के अध्यक्ष चार्ल्स ब्रैडला थे। वहाँ मुझे मिस्टर ब्रैडला तथा ह्यूम से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। किन्तु मेरे मन पर कुछ प्रतिकूल-सा प्रभाव पड़ा। मैं यह अनुभव करने लगा कि कांग्रेस के नेताओं को देशहित की अपेक्षा अपने नाम तथा शान की अधिक चिन्ता रहती है।" लाला जी कांग्रेस की ओर देश-हित की भावना की दृष्टि से आकृष्ट हुए थे और जब उन्हें इसकी उपेक्षा दिखायी दी तो उन्हें कांग्रेस से कुछ उदासीनता और वितृष्णा हुई, अगले चार वर्ष तक वे कांग्रेस के किसी अधिवेशन में सम्मिलित नहीं हुए।

१८९३ ई० में कांग्रेस का अधिवेशन लाहौर में हुआ। डी० ए० वी० कालेज के एक आर्यसमाजी नेता बक्शी जेशीराम (जस्टिस टेकचन्द के पिता) के कहने पर इसे पंजाब में निमन्त्रित किया गया था। लाला लाजपतराय तथा अन्य आर्यसमाजी इस अधिवेशन के प्रति उदासीन रहे। उन्होंने इस अधिवेशन के बारे में लिखा है कि—"इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि राय मूलराज ने काफी भाग लिया। यह महाशय सरकारी नौकर थे और न्याय-विभाग में उच्च कर्मचारी थे···स्वामी दयानन्द के लिए आर्यसमाज का विधान उनके हाथों से तैयार किया गया था। उनकी इच्छा थी उसी प्रकार का विधान कांग्रेस भी स्वीकार कर ले। मिस्टर ह्यूम के बारे में उनके सन्देह वैसे ही प्रबल थे। विधान की माँग द्वारा वह अपने सन्देह की पुष्टि करना चाहते थे, क्योंकि उनका विचार था कि ह्यूम के लिए यह मन्तव्य स्वीकार करना कठिन होगा। घटनाओं ने इसको सत्य सिद्ध कर दिखलाया। ह्यूम को विधान की कोई जरूरत दिखलायी नहीं पड़ी और विधान बनाने की बात व्यावहारिक रूप नहीं धारण कर पायी।"

इस कांग्रेस में लालाजी ने दो-तीन भाषण भी दिये। किन्तु उन्हें कांग्रेसी नेताओं का रवैया पसन्द नहीं था और अगले सात वर्ष तक वे कांग्रेस से उदासीन रहे और आर्यसमाज के कार्यों में लगे रहे। १९०० ई० में पुन: लाहौर में कांग्रेस का अधिवेशन

हुआ और इसमें लाला जी द्वारा किये गये कार्य और लाला हरकिशनलाल के साथ हुए आर्यसमाज के विवाद का पहले उल्लेख किया जा चुका है। इसके बाद लाजपतराय ने १९०५ ई० की बनारस कांग्रेस में और १९०६ ईसवी के कलकत्ता अधिवेशन में भाग लिया। बनारस के अधिवेशन से पहले ही अक्टूबर १९०५ ई० में लार्ड कर्जन के आदेश से में बंग भंग कर दिया गया था और उससे सारे देश में एक प्रचण्ड राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू हो गया था। स्वराज्य, स्वदेशी और बहिष्कार का प्रबल प्रचार किया जाने लगा। इसी समय कांग्रेस में नरम और गरम दल का आविर्भाव हुआ। लालाजी अपने जोशीले भाषणों के कारण उत्तर भारत और पंजाब में गरम दल के प्रमुख नेता माने जाते थे। इसी प्रकार के नेता महाराष्ट्र में बालगंगाधर तिलक और बंगाल में विपिनचन्द्र पाल थे और उग्र राजनीति के इस युग को **बाल-पाल-लाल का युग** कहा गया है। बनारस कांग्रेस में लाला लाजपत राय ने प्रिंस आफ वेल्स के रूप में सम्राट् जार्ज पंचम के भारत आने पर स्वागत करने के प्रस्ताव का डटकर विरोध किया। इस कांग्रेस में गरम दल के मुख्य प्रवक्ता लाला लाजपत राय थे। इसमें उन्होंने गरम दल के विचारों को इतनी स्पष्टता और उग्रता के साथ प्रकट किया कि कांग्रेस के वयोवृद्ध नेता घबरा उठे।

(४) महापुरुषों की जीवनियों द्वारा राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार

लाला लाजपतराय का एक महत्त्वपूर्ण कार्य भारतीयों को ऐसे स्वदेशी और विदेशी महापुरुषों के जीवन का परिचय देना था जिन्होंने देश की स्वाधीनता और उन्नति के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किये थे। वे इस साहित्य का उपयोग उर्दू के माध्यम द्वारा भारत की, विशेषतः पंजाब की साधारण जनता तक राष्ट्रीयता का और देश-भक्ति का सन्देश पहुँचाने के लिए करना चाहते थे। उन दिनों कांग्रेस के सुप्रसिद्ध नेता सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी थे। वे बड़े प्रभावशाली वक्ता थे और अपने भाषणों में इटली के सुप्रसिद्ध देशभक्त और राष्ट्र-निर्माता जोसफ मेजिनी का उल्लेख किया करते थे। १८८१ ई० में पहली बार लालाजी को बैनर्जी के मेजिनी पर दिये गये भाषण को पढ़कर इटली के महापुरुष का परिचय मिला। उन्होंने लिखा है कि—"मेजिनी पर भाषण पढ़ने पर मेरे नेत्रों से कई बार अश्रुपात हुआ। उस भाषण ने मेरे कोमल हृदय पर गहरा प्रभाव डाला और मैंने निश्चय कर लिया कि जीवन-भर मेजिनी की शिक्षा पर चलते हुए अपनी मातृभूमि की सेवा करूँगा। मैंने मेजिनी को अपना गुरु धारण कर लिया और वे आज तक मेरे गुरु हैं।" यह उनके आर्यसमाज के प्रवेश से पहले की बात है। इसमें सम्मिलित होने से पहले ही वे देश-प्रेम के रंग से रंगे जा चुके थे। आर्यसमाज की ओर वे इसीलिए आकर्षित हुए थे कि इसमें उन्हें देश-भक्ति का उद्देश्य पूर्ण होता दिखायी देता था।

बैनर्जी के भाषण से मेजिनी का पहला परिचय पाने के बाद उनके मन में इस विषय में अधिक जानने की आकांक्षा उत्पन्न हुई। वे मेजिनी की पूरी जीवनी उपलब्ध करने के लिए प्रयास करने लगे। मेजिनी की जीवनी तथा शिक्षाओं की पुस्तक विक्रेताओं की दुकान पर खोजी, किन्तु वह उन्हें नहीं मिली। जिन दिनों वे हिसार में वकालत की प्रैक्टिस करते थे, वहाँ सरकारी सेवा में लगे हुए सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता मूलराज का आगमन हुआ। वे बड़े देशभक्त थे और उन्हें ऐसी देशभक्तिपूर्ण पुस्तकों को पढ़ने और संग्रह करने का बड़ा शौक था। उनसे भेंट होने पर लालाजी को उनके घर पर यूरोप

की गुप्त राजनैतिक संस्थाओं के इतिहास पर दो खण्डों वाली एक पुस्तक देखने को मिली। यह रायसाहब ने किसी पुस्तकालय से प्राप्त की थी। इसके कुछ अंश श्री मूलराज ने उन्हें पढ़कर सुनाये। इससे लाला लाजपतराय इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उनके घर पर ही बैठकर इस पुस्तक का काफी हिस्सा पढ़ डाला, क्योंकि रायसाहब यह पुस्तक अपने घर से बाहर ले जाने की अनुमति देने के लिए तैयार नहीं थे। इस पुस्तक में भी मेजिनी द्वारा इटली की स्वाधीनता के लिए स्थापित की गयी गुप्त संस्था कार्बोनारी का वर्णन था।

अब वे इस पुस्तक की तथा मेजिनी की विस्तृत जीवनी की कई जगह तलाश करते रहे। अन्त में उन्होंने इंग्लैण्ड में अपने एक पंजाबी मित्र को लन्दन से ये पुस्तकें भिजवाने को लिखा। जिस दिन उन्हें ये पुस्तकें प्राप्त हुईं, उनकी प्रसन्नता अवर्णनीय थी। मेजिनी का जीवन उन्होंने फौरन आदि से अन्त तक पढ़ डाला और इसका उन पर सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के मेजिनी पर दिये गये भाषण से भी बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। उस महान् इटलीवासी की उग्र देशभक्ति, असीम कष्ट-सहिष्णुता, नैतिक उच्चता, लगन और देशभक्ति की भावना उन्हें अतीव स्पृहणीय, अनुकरणीय, आनन्द, उत्साह और प्रेरणा प्रदान करने वाली प्रतीत हुई। उन्होंने सबसे पहले देशवासियों के मार्गदर्शन के लिए उर्दू में मेजिनी के **'मनुष्य के कर्तव्य'** नामक पुस्तक का अनुवाद कर डाला। इसके कुछ समय बाद यह अनुवाद प्रकाशित हो गया। इसके बाद लालाजी ने अतीव रोचक ढंग से मेजिनी का एक लोकप्रिय चरित्र बड़ी प्रभावशाली और ओजस्विनी शैली में लिखा था। मेजिनी के बाद अगला जीवनचरित्र गेरीबाल्डी का था।

उस समय तक भारत में बहुत कम व्यक्ति इन दोनों महापुरुषों का नाम जानते थे। इनकी जीवनियाँ लिखने में लालाजी का एक विशेष राजनैतिक उद्देश्य था। १९वीं शताब्दी के मध्य में इटली अनेक छोटे राज्यों में विभक्त था। उसकी राष्ट्रीय एकता के पहले मंत्रदाता और उसको आस्ट्रिया की पराधीनता के पाश से मुक्त कराने का गुप्त रूप से आन्दोलन चलाने वाले महापुरुष मेजिनी थे और वीरतापूर्वक संघर्ष करके इस सपने को साकार बनाने वाले योद्धा गेरीबाल्डी और कूटनीति से इसे सम्पन्न कराने वाले राजनीतिज्ञ कावूर थे। इटली के स्वाधीनता-आन्दोलन और राष्ट्रीय एकीकरण ने लाला लाजपतराय को मुग्ध कर दिया। वे इटली एवं भारत के स्वाधीनता-संग्राम में बड़ा सादृश्य समझते थे। इसके अतिरिक्त मेजिनी की शिक्षाएँ तथा उपदेश सार्वभौम थे। उसने न केवल अपने देशवासियों, अपितु संसार के सभी स्वाधीनता-प्रेमियों को अपने कर्तव्य का बोध कराया था। मेजिनी के बाद इटली के स्वाधीन होने में गेरीबाल्डी ने बड़ा भाग लिया। उसके बिना इटली के एकीकरण की कथा पाठकों को समझ में नहीं आ सकती थी। जिन विचारों को मैजिनी ने जन्म दिया था, उनकी पूर्ति गेरीबाल्डी के साहसिक एवं शौर्यपूर्ण अभियानों द्वारा हुई। वह भी स्वाधीनता का पुजारी था। उसने न केवल इटली की स्वाधीनता के संघर्ष में भाग लिया, अपितु वह दक्षिण अमेरिका के अनेक देशों को विदेशी दासता से मुक्त कराने के लिए लड़ा। वह लड़ता था, विजय प्राप्त करता था और अलौकिक उदारता से स्वतन्त्र राज्य दूसरों को समर्पित करता था और स्वयं अपना निर्धनता का जीवन बिताने के लिए इटली के टापू वाले घर में लौट जाता था। लाजपतराय को यह प्रतीत हुआ कि मेजिनी और गेरीबाल्डी की जीवनियों से पंजाब के नवयुवकों में देशप्रेम की भावनाओं को उद्बुद्ध किया जा सकता है। अतः उन्होंने इनकी जीवनियाँ

लिखने का निश्चय किया।

मेजिनी का जीवन लिखने में लालाजी को अंग्रेजी के कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थों से सामग्री प्राप्त हुई। काउँटेस सीनेरस्का ने छः खण्डों में मेजिनी का जीवन तथा लेख छापे थे। इनके आधार पर उन्होंने नयी जीवनी लिखी। वे चाहते थे कि अपने देशवासियों को उस महान् इटालियन देशभक्त से परिचित करायें, जिसने उनके मन पर इतना गहरा प्रभाव डाला था। उनका विश्वास था कि इससे नवीन जागृति पैदा होगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनका यह उद्देश्य पूर्ण रूप से सफल हुआ। लाजपतराय की ये उर्दू पुस्तकें एक पीढ़ी तक पंजाब के तरुणों के हृदयों को देशभक्ति की उद्दाम भावनाओं से आन्दोलित करती रहीं और इन्होंने पंजाब में अद्भुत जागृति पैदा की। इसका प्रदर्शन १९०६-७ ई० की घटनाओं में भली-भाँति हुआ।

१८९६ ई० में मेजिनी और गेरीबाल्डी की जीवनियाँ प्रकाशित करने के बाद लालाजी ने शिवाजी, दयानन्द और श्रीकृष्ण की जीवनियाँ लिखीं। मुस्लिम इतिहासकारों ने शिवाजी को बड़े बुरे रूप में चित्रित किया था। उन्हें एक लुटेरा, डाकू और पहाड़ी चूहा बताया था। किन्तु लालाजी ने शिवाजी को वर्तमान समय में सम्भवतः सर्वप्रथम भारत की स्वाधीनता का संघर्ष करने वाले और मुस्लिम आक्रांताओं से महाराष्ट्र को मुक्त कराने वाले राष्ट्रीय योद्धा और वीर के रूप में चित्रित किया और इसके आरंभ में चालीस पृष्ठों की भूमिका में हिन्दुओं से प्रबल अनुरोध किया कि वे न केवल अतीत के गौरव का ज्ञान प्राप्त करें, वरन् अपनी अधोगति के इतिहास को भी पढ़ें और इस दुर्दशा को दूर करने के लिए कटिबद्ध हो जायँ। इसके साथ ही वे गुरु गोविन्दसिंह का भी एक चरित्र लिखना चाहते थे जो पंजाबियों को विशेष प्रेरणा दे सकता था, किन्तु वे इस कार्य को किन्हीं कारणों से नहीं कर सके। इसके बाद उन्होंने महापुरुषों के जीवन-चरित्र की माला में अन्तिम रचना श्रीकृष्ण पर की। उनका श्रीकृष्ण भागवत आदि पुराणों का गोकुल की गोपियों के साथ क्रीड़ा करने वाला कृष्ण नहीं, अपितु कंस जैसे अत्याचारी से अपनी मातृभूमि को मुक्त कराने वाला राष्ट्र-निर्माता महापुरुष था।

लालाजी द्वारा लिखी इन जीवनियों को ब्रिटिश सरकार सदैव सन्देह की दृष्टि से देखती रही। उसे मेजिनी वाली पुस्तक विशेष रूप से आपत्तिजनक प्रतीत होती थी। लाला लाजपतराय को प्रायः यह समाचार मिलते रहते थे कि इस पुस्तक के लिए उन पर मुकद्दमा चलाया जाने वाला है। उनकी पुस्तक का सरकार ने दो-तीन बार अंग्रेजी में अनुवाद कराया और विधि-विशेषज्ञों से इस विषय में सलाह भी ली गयी। किन्तु सरकारी वकीलों को यह जीवनी लिखने के लिए अभियोग चलाना बड़ा कठिन प्रतीत होता था। शिक्षा-विभाग ने इस पुस्तक के राजद्रोहपूर्ण दुष्प्रभाव से विद्यार्थियों को मुक्त करने का पूरा प्रयास किया। हैड मास्टरों के नाम परिपत्र भेजे गये कि उनकी संस्थाओं में इस पुस्तक का प्रचार और प्रसार नहीं होना चाहिए। शिक्षा-विभाग के निदेशक ने डी.ए.वी. कॉलेज के प्रिन्सिपल से अनेक बार प्रश्न किया कि लाला लाजपतराय द्वारा रचित पुस्तकें उनके कॉलिज अथवा स्कूल में पढ़ाई जा रही हैं या नहीं। लाहौर से बाहर स्कूलों के एक निरीक्षक ने जब एक विद्यार्थी के पास इस पुस्तक की एक प्रति देखी तो स्कूल के मुख्याध्यापक से इसका जवाब माँगा गया।

तत्कालीन ब्रिटिश शासक लालाजी की रचनाओं को कितना खतरनाक समझते

थे, इसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि पटियाला अभियोग में सरकारी वकील ग्रे ने यह कहा था कि "लालाजी की गिरफ्तारी का एक बड़ा कारण यह था कि उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा नवयुवकों को ब्रिटिश सरकार को हटाने की प्रेरणा और प्रोत्साहन देने का राजद्रोहपूर्ण कार्य किया था।" यह इटली की स्वाधीनता और एकीकरण को सम्पन्न करने वाले मेजिनी और गेरीबाल्डी की जीवनियाँ उर्दू में लिखने का था। यद्यपि ग्रे ने इस बात को स्वीकार किया कि महापुरुषों की जीवनियाँ लिखना अपने-आप में राजद्रोहपूर्ण कार्य नहीं है, किन्तु भारत की वर्तमान परिस्थितियों में यह ऐसा अवश्य है। उनका अदालत से कहना था—"मैं आपसे एक क्षण के लिए इस प्रश्न पर विचार करने के लिए अनुरोध करूँगा कि क्या भारत की वर्तमान परिस्थिति में यह उचित है कि हम ऐसे व्यक्तियों के जीवन को प्रशंसनीय समझें जिनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य शक्ति द्वारा देश की सरकार को बदलना और स्वशासन स्थापित करना था।...मेजिनी एक ऐसी संस्था (कार्बोनारी) का प्रमुख सदस्य था जिसके बारे में उसके सर्वोत्तम समर्थक ने यह स्वीकार किया है कि इसके सदस्यों द्वारा नियमित रूप से हत्या करने का कार्य गलत था। दूसरे व्यक्ति गेरीबाल्डी के प्रधान उद्देश्य थे प्रमुख सरकारी अधिकारियों को समाप्त करना तथा अपनी सरकार बनाना।...लाजपतराय ने इस बात का ध्यान रखा था कि कावूर जैसे देश की एकता और वास्तविक पुनरुज्जीवन करने वाले व्यक्तियों की जीवनी न लिखे। मेजिनी और गेरीबाल्डी हथियारों तथा लड़ाई का मार्ग अवलम्बन करने के कारण विफल हुए थे। कावूर कूटनीति से सफल हुआ था। इस देश के बच्चों के हाथों में इस प्रकार की जीवनियाँ पढ़ने के लिए देना क्या वांछनीय है?"[1]

ग्रे का यह विचार था कि शस्त्रप्रयोग तथा हिंसा द्वारा सरकार का तख्ता पलटने वाले क्रान्तिकारियों की जीवनियों का नवयुवकों के अपरिपक्व मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इससे राजद्रोह तथा क्रान्ति की प्रेरणा मिलती है, अतः ऐसी जीवनियाँ लिखना राजद्रोहपूर्ण कार्य है। इस विषय पर पटियाला के आर्यसमाजियों का अभियोग सुनने वाले न्यायालय ने तो कोई निर्णय नहीं किया था किन्तु अन्य भारतीय न्यायालयों ने पर्याप्त विचार किया है और अब क्रान्तिकारियों की केवल ऐसी जीवनियाँ राजद्रोहपूर्ण मानी जाती हैं जिनमें स्पष्ट रूप से हिंसा द्वारा वर्तमान सरकार को समाप्त करने के लिए भड़काया गया हो।[2] लाला लाजपतराय द्वारा लिखित जीवनियों में ऐसी कोई बात नहीं है। किन्तु इन जीवनियों का नवयुवकों पर प्रभाव असंदिग्ध है। इनको पढ़ने वाले पंजाबी नवयुवकों के मन में देशभक्ति और राष्ट्रीयता के विचार उत्पन्न हुए और पंजाब की जन-जागृति का श्रेय कुछ अंशों में इन जीवनियों को दिया जा सकता है।

(५) अकाल-निवारण द्वारा राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार

आर्यसमाज ने पिछली शताब्दी के अन्त में और वर्तमान शताब्दी की पहली दशाब्दी में दुर्भिक्ष-कार्यों में सहायता देकर न केवल महान् लोकोपकार का कार्य किया,

---

१. मुंशीराम जिज्ञासु तथा रामदेव—आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स, खण्ड २, पृष्ठ १९-२०

२. वही

अपितु राष्ट्रीयता के प्रसार में बड़ा योगदान दिया। इसमें लाला लाजपतराय का कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे इस कार्य को आर्यसमाज में सर्वप्रथम व्यापक और व्यवस्थित रूप में संगठित करने वाले थे।

१९वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में अनावृष्टि और सूखे से एवं भारतीय किसान की दरिद्रता तथा अनाज के निर्यात से भारत में दुर्भिक्षों का बड़ा प्रकोप हुआ।[1] प्रायः प्रतिवर्ष कहीं-न-कहीं अकाल की स्थिति बनी रहती थी। १८९७ ई० में बम्बई में प्लेग की महामारी फैली और सरकार द्वारा इसे रोकने के लिए किये गये प्रयत्न में पूना में जनता पर बहुत अधिक ज्यादतियाँ और अत्याचार किये गये। इनकी कड़ी आलोचना करने के कारण लोकमान्य तिलक को राजद्रोह के अपराध में कारावास का दण्ड दिया गया। इससे सारे देश का ध्यान इस समस्या की ओर आकृष्ट हुआ। इसी वर्ष अनावृष्टि और अकाल ने भी अपना भीषण रूप दिखाया। अन्य स्थानों के अतिरिक्त राजपूताना, संयुक्त प्रान्त और गढ़वाल से अकाल के भीषण समाचार आने लगे। कर्नल टाड द्वारा विरचित राजस्थान के इतिहास का अध्ययन करते हुए लाला लाजपतराय ने राजपूतों की अद्भुत वीरता की गाथायें पढ़ी थीं। इनसे उनके बालमानस में जातीय गौरव की भावना उत्पन्न हुई थी। अब उसी राजपूताने के वीर, अभिमानी राजपूतों के वंशज अकाल में कीड़े-मकोड़े की तरह मृत्यु का ग्रास बन रहे थे। लाला लाजपतराय पर इसका बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा।

दुर्भिक्ष के समाचारों में केवल अकालपीड़ितों के भीषण कष्टों का ही वर्णन नहीं होता था, अपितु उस संकट के दुरुपयोग की बातों की भी चर्चा होती थी, जो इस संकट से भी बढ़कर कष्टदायक थी। बहुत-से ईसाई मिशनरियों ने धर्मप्रचार की दूषित भावना के वशीभूत होकर प्रकृति के इस प्रकोप को भगवान् का वरदान समझा, क्योंकि अब उनके लिए क्षुधा-पीड़ित भारतीयों को भगवान् ईसा की भेड़ें बनाना सहज हो गया। प्रकट में तो ईसाई मिशनरी परोपकार का कार्य कर रहे थे, क्योंकि वे अकाल-पीड़ितों में भोजन आदि बाँटने का काम करते थे, किन्तु भीतर से उनके कार्य का एक दूसरा पक्ष भी था। ईसाई मिशनरियों के कार्यकर्ता धोती पहनकर, जनेऊ धारण करके, माथे पर तिलक लगाकर, ब्राह्मण का वेश धारण किये अकाल-पीड़ित क्षेत्रों में फिरते थे और हिन्दुओं के अनाथ बच्चों को पूना की पण्डिता रमाबाई के तथा अन्य ईसाई अनाथालयों के एजेण्टों के पास ले जाते थे और उन्हें ईसाई बनाते थे। कई बार धर्मान्ध ईसाई प्रचारक

---

१. लाला लाजपतराय (आर्यसमाज, लाहौर १९३२, पृ० २३९) ने इस विषय में लिखा है कि सामान्य रूप से उन दिनों भारत में अपनी जनसंख्या के लिए अनाज की पैदावार पर्याप्त होती थी, किन्तु विदेश में अनाज की ऊँची कीमत प्राप्त करने के लिए इसका निर्यात किया जाता था और अकाल के वर्षों में भी इसके जारी रहने से देश में अनाज की भारी कमी हो जाती थी। १८७७-७८ ई० में जब भारत में अकाल का प्रकोप था, इससे ५२ लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई। उस वर्ष केवल कलकत्ता के बंदरगाह से १ करोड़ ६० लाख हंड्रेडवेट चावल का निर्यात हुआ; यही स्थिति १८९९-१९०० ई० के अकाल में थी। उपर्युक्त कारणों से पिछली शताब्दी के अन्तिम चरण में हर दो बरस में भारत के किसी-न-किसी प्रान्त में एक अकाल पड़ा करता था।

इससे भी अधिक अधर्म का काम करने में कोई संकोच नहीं करते थे, जैसे एक क्षुधा-पीड़ित पति की भूखी पत्नी का भगा ले जाना और वापस न भेजना, चाहे उसका पति जीवित ही क्यों न हो। ऐसी घटनाओं को पढ़कर तथा सुनकर लाला लाजपतराय का हृदय क्रोध और लज्जा से भर गया और उन्होंने अकाल-पीड़ितों की सहायता अपने जीवन का एक प्रधान उद्देश्य बना लिया।

इस विषय में १८९७ ई० के अकाल तथा १८९९ ई० के दुर्भिक्ष में लाला लाजपतराय के कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उस समय तक किसी आर्यसमाजी के मन में यह विचार नहीं आया था कि ईसाई मिशनरियों की भाँति हिन्दू भी अनाथालयों तथा शरणगृहों को सफलतापूर्वक चला सकते हैं। ईसाई जिन घृणित उपायों से काम ले रहे थे, उनको चुनौती देने और उनका विरोध करने का साहस भी किसी हिन्दू में नहीं था। ईसाई इस कार्य को सफलतापूर्वक इसलिए कर रहे थे कि उन्हें राजकीय संरक्षण प्राप्त था। पश्चिमी देशों से पुष्कल मात्रा में धन की सहायता मिलती थी और उनको इन कार्यों के संगठन और संचालन का पुराना अनुभव था; उनके पास अनाथों के पालन-पोषण के लिए अनेक अनाथाश्रम तथा अन्य संस्थायें थी।

लाला लाजपतराय ने इस समय अपनी विलक्षण प्रतिभा, अद्भुत भाषण-कला, तर्क-शक्ति और कार्य-संचालन की पटुता से दुर्भिक्ष-कार्य को सुचारु रूप से संगठित किया; इसके लिए आवश्यक धन-संग्रह किया। वे इस क्षेत्र में हिन्दू-समाज में अग्रणी एवं पथ-प्रदर्शक थे। यद्यपि उन्होंने अपना कार्य आर्यसमाज के अधीन किया था, किन्तु वे इसमें समस्त हिन्दुओं का सहयोग प्राप्त करने में सफल हुए। उन्होंने अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए विभिन्न समितियों का संगठन किया। सेवा की भावना से अनुप्राणित उत्साही, कर्मठ, ईमानदार कार्यकर्ताओं की बड़ी संख्या में आवश्यकता थी। डी०ए०वी० कॉलिज के विद्यार्थीवर्ग के साथ सम्पर्क होने के कारण उन्हें शीघ्र ही इस काम के लिए बड़ी संख्या में सक्रिय तरुण स्वयंसेवकों की सेवायें प्राप्त हो गयीं। इन्हें उन्होंने अपने आदर्श सेवाभाव, लगन, वक्तृत्व, व्यक्तित्व और राष्ट्रीयता के विचारों से प्रभावित किया। उनका यह विचार था कि इसके लिए अकाल के दिनों में थोड़े समय की सहायता पर्याप्त नहीं है, अपितु स्थायी रूप से ऐसे अनाथालयों की स्थापना अतीव आवश्यक है जो भविष्य में भी अकाल का संकट पड़ने पर काम आ सकें और जहाँ शरण लेने वाले बच्चों को राष्ट्र का उपयोगी तथा स्वावलम्बी नागरिक बनाने के लिए कुछ दस्तकारियों की शिक्षा दी जा सके। इस विषय में वे अपने कार्यकर्ताओं को यह निर्देश भी दिया करते थे कि अकाल-सहायता के कार्य में शिशुओं, विधवाओं तथा अल्पवयस्क कन्याओं की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए, जो सरकारी सहायता-केन्द्रों से बहुत ही कम लाभ उठा पाती हैं और जिनको ईसाई मिशनरी अपने धर्मान्तर आदि के हथकण्डों का शिकार सुगमता से बना लेते हैं।

इसके साथ ही इस बात पर भी बल दिया जाता था कि अकाल-पीड़ितों को सहायता दान के रूप में न दी जाए। यह उन्हें आलसी, अकर्मण्य और निकम्मा बना देती है। प्रत्येक व्यक्ति को कोई उपयोगी कार्य करने की कला सिखाकर अपनी रोटी कमाने योग्य बनाने की सहायता की जानी चाहिए, ताकि वह अपने पैरों पर खड़ा हो सके और आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बन जाय। इस दृष्टि से हाथ की कताई-बुनाई के काम पर

विशेष रूप से बल दिया जाता था और अन्य भी अनेक प्रकार के कार्य सिखाये जाते थे। लाला लाजपतराय आर्यसमाज के सबसे पुराने फिरोजपुर के प्रसिद्ध आर्य अनाथालय के कई वर्षों तक मन्त्री रहे। उन्होंने इसी प्रकार के हिन्दू अनाथाश्रम लाहौर तथा मेरठ में स्थायी रूप से स्थापित किये। अस्थायी अनाथाश्रमों की अनेक स्थानों पर स्थापना की गयी। शीघ्र ही समस्त देश में उनके कार्य का अनुकरण और अनुसरण किया जाने लगा।

लाला लाजपतराय अनाथों की सहायता के कार्य को कितना अधिक महत्त्व देते थे, यह इस बात से स्पष्ट है कि अकाल-पीड़ित अनाथों का पहला दल जब लाहौर पहुँचा तो वे स्टेशन पर स्वयमेव इनकी अगवानी करने के लिए गये। इस समय वहाँ एकत्रित विशाल जनसमूह से यह स्पष्ट हो गया कि वे इस विषय में जनता में कितना अधिक उत्साह पैदा करने तथा नवजीवन का संचार करने में सफल हुए हैं। पहले दल के तथा उसके बाद आये अनाथों को लाला लाजपतराय ने शुरू में अपने कोर्टस्ट्रीट वाले मकान में ठहराया था, बाद में इनके स्थायी रूप से निवास की पृथक् स्थान में व्यवस्था की गयी।

अकाल-कार्य का संगठन करते हुए उन्हें ईसाई मिशनरियों से टक्कर लेना आवश्यक हो गया। इस कार्य में उन्हें मिशनरियों की ऐसी काली करतूतें पता लगीं जिनकी उन्हें कल्पना भी कभी नहीं हो सकती थी। लालाजी ने इनका डटकर मुकाबला किया। उन्होंने सरकार से यह अनुरोध किया कि ईसाई मिशनरियों को इस विषय में कोई राजकीय संरक्षण नहीं दिया जाना चाहिए। अकाल-पीड़ितों की सहायता का कार्य सरकारी संस्थाओं तथा स्वयंसेवकों द्वारा करवाया जाना चाहिए। उनके प्रयास से अकाल-कार्य की सहायता का अधिकांश भाग आर्यसमाजी कार्यकर्ताओं को सौंपा गया। इन लोगों ने ईसाइयों की सहायता के दुरुपयोग के अनेक उदाहरणों का पता लगाया। इस प्रकार के कई केस न्यायालयों में ले जाये गये जहाँ मिशनरियों के कुकृत्यों का भंडाफोड़ हुआ, अतः सरकार को यह निश्चय करना पड़ा कि हिन्दू अनाथों को कोई ईसाई मिशनरी नहीं ले सकता है; हिन्दू कार्यकर्ताओं के मना करने के बाद ही मिशनरियों को अकाल-पीड़ितों की सहायता की अनुमति दी जा सकती है। यह लालाजी की एक बड़ी नैतिक विजय थी। वे इसे संख्या की दृष्टि से ही नहीं, अपितु नैतिक दृष्टि से भी बहुत बड़ा लाभ समझते थे। १८९७ ई० में पहली बार जब लालाजी ने अकाल-सहायता-कार्य का संगठन किया था तो हजारों अकाल-पीड़ितों को सहायता देने के अतिरिक्त ढाई-तीन सौ अनाथों को भी शरण दी गयी थी। १९०० ई० के दूसरे अकाल में लगभग २,००० अनाथों की प्राण-रक्षा की गयी थी। सैकड़ों कार्यकर्ताओं, विशेषतः विद्यार्थियों को नागरिकता की व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त हुई। यह समस्त आन्दोलन उस हिन्दू जाति को आत्मनिर्भरता का पाठ पढ़ाने वाला था, जो अपनी उदासीनता और अकर्मण्यता के कारण यह समझती थी कि ऐसा कार्य केवल सरकार तथा विदेशी मिशनरी ही कर सकते हैं। इसके विभिन्न लाभों का विवेचन करते हुए लाला लाजपतराय ने यह ठीक ही लिखा था—

"अनाथों की रक्षा करना स्वयं कोई क्षुद्र तथा मामूली कार्य नहीं था, किन्तु इससे जो बड़ा लाभ हुआ, वह यह था कि भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के हिन्दुओं को मिलकर कार्य करते हुए प्रबल भ्रातृभाव की अनुभूति हुई। एक और महान् लाभ यह हुआ कि धन-संग्रह करने, धन की सहायता, अनाज का वितरण, अनाथों तथा विधवाओं की विकराल मृत्यु अथवा विदेशी विधर्मी प्रचारकों से बचाने, रोगियों की चिकित्सा करने

तथा अन्य सैकड़ों प्रकार के कार्यों की ट्रेनिंग मिल गयी। पंजाब को इस बात पर उचित गर्व है कि उसने अपने को इस कार्य में भारत के अन्य प्रान्तों का पथप्रदर्शक सिद्ध कर दिखलाया।"

अकाल-सहायता-कार्य के अतिरिक्त लाला लाजपतराय ने प्लेग आदि की महामारियों में, १९०४ ई० के काँगड़ा भूकम्प में भी सहायता-कार्य का संगठन बड़ी प्रशंसनीय रीति से किया। काँगड़ा में आर्यसमाजी सहायता-कार्य के लिए अन्य सभी संस्थाओं से पहले पहुँचे थे। १९०८ ई० में आर्यसमाज ने लालाजी के नेतृत्व में उत्तरप्रदेश में अकाल-सहायता-कार्य का आयोजन इतनी सफलता से सम्पन्न किया कि १९११ की सेन्सस-रिपोर्ट में इसका विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। अकाल-पीड़ितों की सहायता ने लाला लाजपतराय को राष्ट्रीयता का सन्देश जन-साधारण तक पहुँचाने में बड़ी सहायता की। विभिन्न प्रान्तों में यह कार्य करने से उनका नाम देश के कोने-कोने में विख्यात हो गया। उस समय तक काँग्रेस के नेताओं के भाषणों का प्रभाव केवल इन अधिवेशनों में सम्मिलित होने वाले अंग्रेजी शिक्षितवर्ग पर ही पड़ता था, किन्तु अकाल-पीड़ितों की सहायता से लालाजी का प्रभाव जन-साधारण पर भी पड़ने लगा। उनकी राष्ट्रीयता के विचारों, देशभक्ति, जातीय गौरव, स्वदेशी और स्वावलंबन से प्रभावित कार्यकर्ता जहाँ-जहाँ अकाल-निवारण के लिए गये, वहाँ-वहाँ उन्होंने लोगों को राहत-कार्य के साथ देशभक्ति का भी पाठ पढ़ाया। सरकार के गुप्तचर विभाग द्वारा संकलित रिपोर्टों में इस प्रकार राष्ट्रीयता और स्वराज्य के विचारों का प्रसार करने वाले अनेक ऐसे उत्साही कार्यकर्ताओं का उल्लेख है जिन्होंने सामान्य जनता में राष्ट्रीयता की नई भावना उत्पन्न की और स्वाधीनता के संघर्ष का आन्दोलन करने के लिए जनता में एक सुदृढ़ आधार बनाया। यहाँ सरकारी रिपोर्टों के आधार पर कुछ ऐसे राष्ट्रीय विचारों का प्रसार करने वाले नवयुवकों का संक्षिप्त उल्लेख किया जायेगा।

नवम्बर १९०७ की गुप्त रिपोर्ट में लाला लाजपतराय द्वारा अकाल-निवारण के कार्य में सहायता देने वाले राष्ट्रीय विचारों के प्रचारक छात्रों में लाहौर के गोवर्धनदास तथा अलाहाबाद के सुन्दरलाल का उल्लेख किया गया है।[1] अप्रैल १९०७ ई० में लाहौर में यूरोपियनों के विरुद्ध जो दंगे हुए थे, उनमें गोवर्धन ने प्रमुख भाग लिया था। इसके लिए उसे १८ महीने के कारावास का दण्ड मिला; अपील करने पर इसे घटाकर छः महीने कर दिया गया था। दूसरा छात्र अलाहाबाद के म्यूर कॉलिज का प्रतिभाशाली छात्र था। लालाजी के देश-निर्वासन से पहले वह प्रयाग में लालाजी के सम्पर्क में आया था और राजनैतिक सभाओं में बड़े उग्र भाषण देने लगा था। ऐसे भाषणों के कारण उसे कॉलिज से निकाल दिया गया था। इन दोनों छात्रों ने दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता करते हुए राष्ट्रीय विचारों का प्रचार किया था।

गढ़वाल के दुर्भिक्ष में इसी प्रकार का कार्य करने वाला म्यूर कॉलिज का एक छात्र मुकंदीलाल था। यह म्यूर कॉलिज में पढ़ते हुए क्रान्तिकारी साहित्य का स्वाध्याय करता था, राजनैतिक सभाओं में भाग लेता था। गढ़वाल में जाने पर डिप्टी कमिश्नर ने इसे गंगा की घाटी में जाकर अकाल-सहायता का कार्य करने को कहा, किन्तु वह

---

१. होम पोलिटिकल डिपार्टमेंट प्रोसीडिंग्स (डिपाजिट), नवम्बर १९०८, सं० ७

चमोली तहसील के दफ्तर में चला गया और वहाँ क्लर्कों में राष्ट्रीयता और राजनीति के विचारों का प्रचार करने लगा। इसी प्रकार का राष्ट्रीय प्रचार करने वाले अन्य दो नवयुवक रैलाराम और मदनमोहन थे। इनका कार्यक्षेत्र अलाहाबाद डिवीजन था। दोनों आर्यसमाजी थे, झाँसी में रहा करते थे तथा यहाँ की आर्यसमाज के प्रधान शंकर-सहाय तथा उपप्रधान पण्डित परागदास द्वारा दिये गये निर्देशों के अनुसार कार्य करते थे। झाँसी के खुफिया विभाग के इन्स्पेक्टर नूर मुहम्मद ने इन दोनों की राजनैतिक गतिविधियों की जाँच करने के बाद जो रिपोर्ट दी थी, उसकी पुष्टि गरोठा के नायब तहसीलदार मुईनुद्दीन अहमद ने झाँसी के कलेक्टर से की थी। यह भी कहा जाता है कि तहसीलदार चन्दूलाल और डिप्टी कलेक्टर रघुनाथ प्रसाद ने इस रिपोर्ट को दबा देने के लिए नायब तहसीलदार से कहा था। इस रिपोर्ट में यह कहा गया था कि यद्यपि लाला लाजपतराय का ऊपरी तथा प्रत्यक्ष उद्देश्य अकाल-कार्य में सहायता प्रदान करना है, किन्तु प्रच्छन्न एवं प्रधान उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में जनता को शासन के प्रति अपने अधिकारों का बोध कराना है ताकि वे अन्ततोगत्वा राष्ट्रीय सरकार का निर्माण करने के उद्देश्य में सफल हो सके। लालाजी के कार्यकर्त्ताओं का एक अन्य उद्देश्य मुसलमानों की शुद्धि करना भी बताया जाता था।

यह कहा जाता है कि हमीरपुर जिले में लालाजी के एक कार्यकर्ता चित्रसेन ने एक अकाल-सहायता-शिविर में यह भाषण दिया था कि सरकारी कैम्पों में सात पैसे की दैनिक मजदूरी करने से कहीं अधिक अच्छा है कि अकाल-पीड़ित भारतवासी अपने देश की उन्नति के लिए मृत्यु का वरण करें।[1] बाँदा के कलेक्टर का यह विचार था कि आर्य-समाज द्वारा दुर्भिक्ष-कार्य में सहायता-कार्य के लिए भेजे जाने वाले व्यक्तियों का उद्देश्य आंशिक रूप से अकाल-पीड़ितों को सहायता पहुँचाना है और बहुत-कुछ अंशों में राज-नैतिक लक्ष्यों की पूर्ति करना है। गोंडा में इस प्रकार का एक कार्यकर्ता मुजफ्फरनगर-निवासी सुन्दरलाल कायस्थ अनेक स्थानों पर स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग तथा विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार पर व्याख्यान दिया करता था। इस प्रकार के अन्य कार्यकर्ता गोंडा का सुन्दरलाल, जालौन का बाबू, मेरठ का ब्राह्मण राजनाथ, सियालकोट का करमचन्द ठाकुर तथा मुजफ्फरनगर का श्रीराम था। ये सभी विभिन्न स्थानों पर राष्ट्रीय एकता के विचारों का प्रचार किया करते थे। जालौन के एक जमींदार के शब्दों में लाला लाजपतराय द्वारा अकाल-पीड़ितों की सहायता की योजना का उद्देश्य राजनैतिक था। यह 'सरकार के प्रति राजभक्ति की भावना से लोगों को विरक्त करना था। इसे पूर्ण रूप से लोकोपकार का कार्य नहीं कहा जा सकता है, यह वस्तुतः इस उद्देश्य से किया जा रहा था कि ग्रामीण क्षेत्रों में राष्ट्रीय आन्दोलन का बीजारोपण किया जाय तथा जनता में सरकार द्वारा किये जाने वाले प्रयासों के विरोध में भावना भरी जाय।'[1]

(६) देश-निर्वासन के प्रभाव और परिणाम

पहले यह बताया जा चुका है कि पंजाब सरकार ने किन कारणों से प्रेरित होकर तथा घबराकर लाला लाजपतराय को १८१८ ई० के रेग्यूलेशन नम्बर तीन के अन्तर्गत

---

१. धनपति पाण्डेय—दी आर्यसमाज एण्ड इंडियन नेशनलिज्म, पृष्ठ ११५

बिना मुकद्दमा चलाये देश-निर्वासन का दण्ड दिया। उस समय सरकार का यह कहना था कि आर्यसमाज और लाला लाजपतराय पंजाब के उपद्रवों के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी हैं, अतः उन्हें निर्वासित करके मांडले भेज दिया गया था। किन्तु उस समय के जितने निष्पक्ष प्रेक्षक थे वे सरकार के दृष्टिकोण से सहमत नहीं थे। एक ब्रिटिश पत्रकार केयर हार्डी ने लाजपतराय के निर्वासन के बाद भारत की स्थिति को अपनी आँखों से देखा और उसके कुछ परिणाम निकालकर डेली एक्सप्रेस लन्दन के नाम २१ अक्तूबर १९०६ ई० को भेजे समुद्री तार में लिखा था—"मैं संयुक्त प्रान्त तथा पंजाब के दौरे से लौट आया हूँ। मुसलमानों, हिन्दुओं तथा सिक्खों के डेपुटेशनों से मिला हूँ। मैंने अधिकारियों से मुलाकातें की हैं, वायसराय तथा सरकारी सदस्यों से मिला हूँ। आपके पाठकों को याद होगा कि गत वसन्त ऋतु में पंजाब से सनसनीपूर्ण समाचार आ रहे थे कि वहाँ विद्रोह, हत्या, अग्निकांड तथा असाधारण अव्यवस्था फैल रही है। अब यह ज्ञात हुआ है कि सभी कुछ भावुकतापूर्ण पीलिया-पीड़ित सम्पादकीय कल्पना का आविष्कार था।

"लाहौर के आसपास के जिलों तथा रावलपिण्डी में अशान्ति फैलना स्वाभाविक था, क्योंकि वहाँ भूमिकर में २५ प्रतिशत वृद्धि, भारी सिंचाई-कर तथा भूमि पर अधिकार करने वाला कानून जारी किये जाने वाले थे; आन्दोलन चल पड़ा। सिंचाई-कर वापिस ले लिया गया तथा कालोनी-बिल रद्द कर दिया गया; आन्दोलन समाप्त हो गया। केवल यही राजद्रोहात्मक आन्दोलन था। ५५ प्रमुख व्यक्तियों को चार मास तक बिना जमानत जेल में रखा गया। मुकद्दमे चले और वे निर्दोष सिद्ध हुए। न्यायाधीश की सम्मति में पुलिस के गवाह झूठे हैं और साक्षियाँ गढ़ी हुई हैं। राजद्रोहात्मक आन्दोलन के बारे में मुझे तो कोई नाम-निशान तक नहीं मिला। देशी पुलिस को अल्प वेतन मिलता है। वह निरी अज्ञ तथा कुत्सित है। मुसीबत के अधिकांश भाग का उत्तरदायित्व पुलिस वालों, नासमझ मैजिस्ट्रेट तथा सनसनीपूर्ण अफवाहें फैलाने वालों पर है। सरकारी अधिकारियों को उल्टी-पुल्टी खबरें मिलती रहीं। जनता से उनका दूर का भी सम्बन्ध तथा सम्पर्क नहीं है। उन्हें पुलिस की रिपोर्टों पर आश्रित रहना पड़ता है, जिन पर उच्च न्यायालय सदा ही अविश्वास करते हैं। भारत की जनता को संसारभर की सबसे घृणित पुलिस की इच्छा तथा दया पर छोड़ना, पेट्रोलियम के तालाब में आग से खेलना है।"

रेग्यूलेशन नम्बर तीन की व्यवस्था के अनुसार लालाजी के मामले पर छः मास के बाद पुनर्विचार किया जाना था। यह बड़े आश्चर्य की बात थी कि न तो पंजाब सरकार और न ही भारत सरकार इस अवधि में ऐसा कोई प्रमाण ढूँढ सकी थी जिससे लाजपतराय का किसी राजद्रोहपूर्ण क्रान्तिकारी गुप्त कार्य के साथ सम्बन्ध सिद्ध हो सके। इसके विपरीत इस बात के काफी प्रमाण मिलते गये कि गुप्तचर लोग अधिकारियों को धोखा देते रहे हैं; झूठी रिपोर्टें करते रहे और इस बात से अनुचित लाभ उठाते रहे हैं कि भयभीत अधिकारीगण उनकी हर सच्ची या झूठी अफवाह में विश्वास कर लेने की प्रवृत्ति रखते हैं। अतः भारत-मन्त्री के दबाव से पंजाब सरकार का विरोध होते हुए भी भारत सरकार ने लाला लाजपतराय को सम्राट् के जन्म-दिन पर नवम्बर १९०७ ई० में मुक्त कर दिया।

लाला लाजपतराय की नजरबन्दी, निर्वासन और मुक्ति का राजनैतिक और

धार्मिक दृष्टि से विलक्षण प्रभाव पड़ा। इससे उनके प्रभाव में असाधारण वृद्धि हुई। वे देश के सर्वमान्य मूर्धन्य नेता बन गये। इस घटना ने भारत की राजनीति में न केवल उग्रवादी दल को अतीव लोकप्रिय बनाया, अपितु पिस्तौल और बम के प्रयोग को प्रोत्साहित किया। इसका विश्लेषण करते हुए उन्होंने स्वयमेव **यंग इंडिया** में लिखा था—"इसका राजनीति पर सबसे बड़ा प्रभाव क्रान्तिकारी एवं आतंकवादी दल का आविर्भाव था। मई १९०७ तक बंगाल में किसी प्रकार की गुप्त संस्था का अस्तित्व नहीं था, किन्तु जब गोरे अखबारों ने लाला लाजपतराय के विरुद्ध यह आरोप लगाया कि सिर और धड़ की बाजी लगाने वाले एक लाख जाँबाज व्यक्ति उनके अनुयायी हैं, कलकत्ता के **इंग्लिश मैन** ने उन पर भारतीय सेना को बिगाड़ने और अफगानिस्तान के बादशाह को भारत पर आक्रमण करने को प्रोत्साहित करने का दोषारोपण किया और सरकार ने उन्हें निर्वासित करने के साथ-साथ बदनाम भी किया तो देश की क्रोधाग्नि धधक उठी। लोगों ने एकमत होकर इस कार्यवाही की निन्दा की और बलप्रयोग करने की ठान ली; स्थापित शासन के अत्याचारों के विरुद्ध पिस्तौल, बम और गुरिल्ला युद्ध के अवलम्बन की नीति को श्रेयस्कर समझा और उसका प्रयोग करना शुरू कर दिया। दिसम्बर १९०७ तक पहली गोली नहीं चली थी और अप्रैल १९०८ तक पहला बम नहीं फेंका गया था, किन्तु निर्वासन की घटनाओं ने भारत में आतंकवाद की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया।"

इस विषय में माननीय गोपालकृष्ण गोखले ने गवर्नर जनरल की कौंसिल में भाषण देते हुए कहा था कि "लाजपतराय एक धार्मिक, सामाजिक तथा शिक्षा-विषयक सुधारक हैं; समस्त देश की अधिकांश जनता उनके प्रति श्रद्धा और प्रेम रखती है···बिना कोई मुकद्दमा चलाये, बिना दोषारोपण किये, बिना सूचना दिये ऐसे व्यक्ति की गिरफ्तारी ने राष्ट्रवादियों को पागल बना दिया है।" इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि १९०७ ई० में नरम-गरम दलों में जो फूट पड़ी, वह भी इसी का परिणाम थी। लाला लाजपतराय समस्त देश की श्रद्धा के भाजन बन गये। वीर-पूजा के भाव ने गरम दल की नयी त्रिमूर्ति—बाल-पाल-लाल के रूप में खड़ी कर दी। असंख्य भारतीय घरों की दीवारों पर इस त्रिमूर्ति के चित्र शोभायमान होकर यह प्रकट कर रहे थे कि यही उनके राजनैतिक पथप्रदर्शक हैं। उस समय से देश में निष्क्रिय प्रतिरोध और असहयोग की भावना प्रबल होने लगी।

लालाजी के निर्वासन के आर्यसमाज पर भी बड़े गहरे प्रभाव पड़े। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उनके आपत्तिकाल में उनके सभी आर्यसमाजी मित्र लालाजी के साथ न रह सके। पहले यह बताया जा चुका है कि डी० ए० वी० कॉलिज के आर्यसमाजी नेता इस समय डेपुटेशन बनाकर कालका में पंजाब के गवर्नर सर डेंजिल इब्बटसन से मिले और उन्हें अपनी राजभक्ति का आश्वासन दिया एवं उनके निर्देशों का पालन करते हुए पंजाब के आन्दोलन और इसके नेताओं से आर्यसमाज के पृथक् होने की घोषणा की, क्योंकि इस समय वे अपनी डी० ए० वी० कॉलिज की संस्थाओं की रक्षा करना चाहते थे। किन्तु गुरुकुल पार्टी के नेता महात्मा मुंशीराम ने निर्भीकतापूर्वक लालाजी का समर्थन किया और लेफटीनैण्ट गवर्नर के इस कथन का प्रबल प्रतिवाद किया कि आर्यसमाज राजद्रोही संस्था है। उनके अतिरिक्त अधिकांश आर्यसमाजी नेताओं ने

सम्भाव्य कोप के प्रहार से आर्यसमाज की रक्षा करने के लिए लाजपतराय से सम्बन्ध विच्छेद करना और उनके तत्कालीन राजनैतिक कार्यों की निन्दा करना आवश्यक समझा।

कुछ लोगों को यह विश्वास था कि आर्यसमाज के नेताओं द्वारा अपनाये गये इस रवैये से लाला लाजपतराय बड़े रुष्ट होंगे और सम्भवतः आर्यसमाज का परित्याग कर देंगे। किन्तु माण्डले से लौटने के बाद जब लाहौर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर आर्यसमाज के मंच से लालाजी ने अपना पहला भाषण दिया तो उपर्युक्त सभी विचार भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हुए। उस समय उस भाषण को सुनने के लिए सारा लाहौर उमड़ पड़ा था। इस समय उनके एक परिहास-प्रेमी मित्र ने कहा था कि यह है लालाजी की एक लाख की सेना। इस भीड़ ने यह स्पष्ट कर दिया कि आर्यसमाजी नेता भले ही अपनी संस्थाओं को बचाने के कारण सरकार को राजभक्ति का आश्वासन दें, किन्तु साधारण आर्यसमाजी जनता प्रबल देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत है और वह इस विषय में सरकार से किसी प्रकार का भय नहीं खाती है।

लालाजी ने अपने इस स्मरणीय भाषण में स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा था कि उन्हें उन आर्यसमाजियों से किसी प्रकार का असन्तोष या रोष नहीं है। इस विषय में उनके ये शब्द स्मरणीय हैं—"उन्हें बतलाया गया है कि आर्यसमाज ने उनके साथ विश्वासघात किया है और अब उनको चाहिए कि वे उसके हाथ की कठपुतली न बनें। ऐसे लोग यह कभी नहीं सोचते हैं कि लाजपतराय ने किसी नेता की खातिर आर्यसमाज में प्रवेश नहीं किया था, प्रत्युत उन आदर्शों के लिए उसमें भाग लिया था जो आर्यसमाज ने उनके सामने रखे थे। उनको किसी के विरुद्ध कोई शिकायत नहीं है। समस्त जाति के प्रेम और सहानुभूति के मुकाबले में कुछ लोगों की उदासीनता क्षंतव्य है।"

इसके साथ ही उन्होंने अपने मित्रों द्वारा उनके निर्वासन के बाद में किये गये कार्यों का समर्थन करते हुए कहा, "आर्यसमाज जैसी धार्मिक संस्थाओं के लिए यही उचित तथा न्यायसंगत है कि वे राजनीति के क्षेत्र से दूर रहें, अन्यथा उनके आध्यात्मिक सुधार के कार्य को क्षति पहुँचेगी। यदि आर्यसमाजी नेताओं ने यह समझा कि आर्यसमाज के साथ मेरे सम्बद्ध होने से उनका अनिष्ट होने की सम्भावना है तो मैं उसकी कार्यकारिणी तथा प्रबन्ध-समिति के सभी पदों को त्यागने के लिए उद्यत हूँ। किन्तु आर्य-धर्म के साथ तो आजीवन चिपका रहूँगा और अपने धर्म तथा मातृभूमि की उन्नति के लिए सर्वस्व-त्याग के लिए सदैव तत्पर रहूँगा।"

लालाजी के उपर्युक्त शब्दों में जो उदात्त भावनाएँ अभिव्यक्त की गयी हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि आर्यसमाज तथा उसकी संस्थाओं के प्रति उनका ऐसा अगाध प्रेम और अविचल निष्ठा थी कि उसमें किसी भी कारण से कोई विकार या परिवर्तन नहीं आ सकता था। अन्य व्यक्तियों ने आर्यसमाजी नेताओं के व्यवहार की बड़ी कटु आलोचना की थी, किन्तु वे इससे तनिक भी सहमत नहीं थे। उनका आर्यसमाज पर पहले जैसा अटूट विश्वास बना हुआ था और जीवन के अन्त काल तक बना रहा। स्वधर्म और स्वदेश के लिए वे सदैव बड़े से बड़ा बलिदान करने के लिए उद्यत रहे।

निर्वासन के बाद लाला लाजपतराय न केवल पंजाब में, अपितु देश-भर में राष्ट्रीय वीर महापुरुष के रूप में पूजे जाने लगे थे। कांग्रेस का गरम दल उन्हें अगले नागपुर अधिवेशन का अध्यक्ष बनाना चाहता था। किन्तु जब लाला जी को इस बात का

ज्ञान हुआ कि उनके प्रस्ताव का नरम दल द्वारा विरोध किया जायेगा तो उन्होंने अपना नाम वापिस ले लिया। १९१४ ई० में वे भूपेन्द्रनाथ वसु, श्री मुहम्मद अली जिन्ना तथा कुछ अन्य नेताओं के साथ कांग्रेस के एक शिष्टमंडल में इंगलैण्ड गये। प्रथम महायुद्ध छिड़ जाने के कारण वे भारत नहीं लौट सके और नवम्बर १९१४ ई० में इंग्लैण्ड से संयुक्त राज्य अमेरिका चले गये। युद्ध की अवधि में अगले पाँच वर्ष वे वहीं रहे और निरन्तर भारत के पक्ष में प्रचार करते रहे। १६ अक्तूबर १९१६ ई० को उन्होंने अमेरिका में **इंडियन होमरूल लीग** नामक संस्था स्थापित की। इसका उद्देश्य भारत को स्वशासन दिलाने के लिए विदेशों में आवश्यक प्रचार करना था। १९१७ ई० से उन्होंने लीग की ओर से **यंग इंडिया** नामक एक पत्र भी निकालना शुरू किया। अमेरिका में भारतीय पक्ष का प्रचार करने के लिए उन्होंने कई पुस्तकें लिखीं। इनमें ये उल्लेखनीय हैं—तरुण भारत(Young India), इंग्लैण्ड पर भारत का ऋण(England's Debt to India), भारत का राजनैतिक भविष्य (The Political Future of India 1919)। भारत को स्वराज्य-प्राप्ति कराने के उद्देश्य से उन्होंने कई लघु पुस्तिकाएँ भी लिखी थीं, जैसे ब्रिटिश प्रधानमंत्री श्री लायड जार्ज के नाम खुली चिट्ठी और भारत का आत्मनिर्णय का अधिकार(An Open Letter to Lloyd George and Self Determination for India), तरुण भारत को आह्वान (A Call to Young India)।

इन दिनों वे संयुक्त राज्य अमेरिका में अपनी आजीविका का उपार्जन मुख्य रूप से व्याख्यान देकर अथवा पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखकर किया करते थे और ये लेख प्रायः भारतविषयक होते थे। युद्ध समाप्त होने के बाद वे भारत लौटे और १९२० ई० में कलकत्ता के उस अधिवेशन के अध्यक्ष बने जिसमें महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए ब्रिटिश सरकार से असहयोग का प्रस्ताव पास किया गया था। यद्यपि राजनीति में वे महात्मा गांधी की अपेक्षा तिलक के विचारों से अधिक सहमति रखते थे, फिर भी वे गांधीजी के इस प्रस्ताव से सहमत थे कि देश की स्वतंत्रता और स्वराज्य की प्राप्ति शान्तिपूर्ण और वैध उपायों से की जानी चाहिए। उन्होंने पंजाब में असहयोग-आन्दोलन के प्रचार में बड़ा भाग लिया। लोकमान्य की स्मृति में **राजनीति का तिलक विद्यालय** स्थापित किया। महामना गोखले द्वारा स्थापित संस्था के आदर्श पर **लोक सेवक-मण्डल** की स्थापना की और स्वराज्य के सन्देश के प्रसार के लिए **बन्दे मातरम्** और **पीपल** नामक पत्र निकाले। जब स्वराज्य पार्टी ने चुनाव लड़ने का निर्णय किया तो वे उसकी ओर से १९२५ ई० में केन्द्रीय धारा-सभा के सदस्य निर्वाचित हुए। किन्तु वे स्वराज्य पार्टी व कांग्रेस की मुसलमानों को खुश करने की नीति से सहमत नहीं थे, अतः स्वराज्य पार्टी से त्याग-पत्र देकर मदनमोहन मालवीय के साथ मिलकर उन्होंने राष्ट्रीय पार्टी का गठन किया और १९२६ में वे पुनः केन्द्रीय धारा-सभा के लिए चुने गये और भारतीय मजदूरों के प्रतिनिधि के रूप में उन्होंने जिनेवा के आठवें अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लिया।

जब ब्रिटिश सरकार ने भारत के भावी शासन-विधान पर विचार करने के लिए एक शाही सरकारी आयोग सर जान साइमन की अध्यक्षता में नियुक्त किया और इसमें एक भी भारतीय को सदस्य नहीं बनाया तो लालाजी ने इसे समूचे भारत का घोर अपमान समझा और साइमन कमीशन के बहिष्कार का प्रस्ताव रखा। लाहौर में ३० अक्तूबर

यह सम्भव है कि "सबकी उन्नति में अपनी उन्नति के आदर्श को मानने वाले" आर्यसमाज की शिक्षाओं से प्रभावित होकर वे समाजवाद की ओर आकृष्ट हुए। उन्होंने अपनी रचनाओं में पूंजीपतियों और जमींदारों के हाथ में अधिक शक्ति देने का विरोध किया। वे समाज के वर्तमान संगठन को गलत, अन्यायपूर्ण और आदिम युग से भी अधिक बर्बर समझते थे। उनका यह विश्वास था कि भारतीय मजदूरों और पूंजीपतियों को समानता के आधार पर परस्पर मिलकर भारतीय उद्योगों के विकास के लिए सहयोग करना चाहिए। वे इतने दूरदर्शी थे कि इस बात को अच्छी तरह समझ गये थे कि गरीब, पराधीन और पीड़ित देश साम्यवाद की ओर सुगमता से आकृष्ट होते हैं। यदि भारत जैसे पराजित, पददलित एवं पराधीन देश को वैध राजनैतिक और आर्थिक अधिकार न दिये गये तो बोल्शेविकवाद और साम्यवाद का भारत में तेजी से प्रचार होगा। उन्होंने इस विषय में लिखा था—"एक सन्तुष्ट स्वशासन करने वाला भारत बोल्शेविकवाद से रक्षा करने का सर्वोत्तम साधन है। एक असन्तुष्ट, बेचैन और पीड़ित भारत संभवतः इसके लिए सबसे अधिक उर्वर क्षेत्र सिद्ध होगा।" डाक्टर वर्मा ने यह सत्य ही लिखा है कि सम्भवतः लाला लाजपतराय भारत के पहले ऐसे प्रमुख राजनैतिक नेता और लेखक थे जिन्होंने समाजवाद, पूंजीवाद, श्रमिक संगठन और बोल्शेविकवाद की समस्याओं पर विचार एवं चिन्तन किया था।

(ङ) **हिन्दू मुस्लिम एकता**—इसे लाला लाजपतराय भारत की स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता के विकास के लिए अतीव आवश्यक समझते थे। उनका यह कहना था कि स्वराज्य प्राप्त करने के लिए हिन्दू-मुसलमानों को सुदृढ़ रूप से एक सूत्र में आबद्ध हो जाना चाहिए। उस समय मुसलमानों को यह आशंका थी कि स्वतन्त्र भारत में अल्पसंख्या में होने के कारण हिन्दू उनसे दुर्व्यवहार करेंगे। इसका उत्तर देते हुए उन्होंने २६ मार्च १९०७ को इलाहाबाद के भाषण में कहा था कि "मुसलमानों को यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि प्रतिनिधि शासन में अल्पसंख्यकों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए विस्तृत व्यवस्थाएँ की जाती हैं।" उन्होंने अपने कई लेखों में हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के कारणों पर प्रकाश डालते हुए इनके समाधान के लिए सुझाव प्रस्तुत किये हैं। इस वैमनस्य के दो बड़े कारण गोहत्या और मस्जिद के सामने बाजा बजाना था। इस विषय में उन्होंने दोनों धर्मावलम्बियों को सहिष्णुता की नीति बरतने के लिए आग्रह किया। हिन्दू-बहुल प्रदेशों में मुस्लिम नेताओं को अपने धर्मानुयायियों को यह समझाना चाहिए कि वे कुर्बानी का कार्य आबादी से दूर करें, जिससे हिन्दुओं में क्षोभ न उत्पन्न हो। इसी प्रकार हिन्दुओं को भी यह उचित है कि वे अपना धार्मिक कीर्तन इस ढंग से करें कि मुसलमानों की ईद के धार्मिक अनुष्ठान में कोई बाधा उत्पन्न हो।"

प्रायः हिन्दू-मुस्लिम समस्या का एक बड़ा कारण विरोधियों द्वारा आर्यसमाज को बताया जाता है। उन्होंने उस समय के सुप्रसिद्ध उर्दू मासिक पत्र 'जमाना' के फरवरी १९११ ई० के अंक में इस समस्या पर विस्तार से विचार किया था और यह बताया था कि दोनों धर्मों में विद्वेष और विवाद उत्पन्न होने के चार बड़े कारण बताये जाते हैं—

(१) जिला बोर्डों, नगरपालिकाओं आदि स्थानीय संस्थाओं और गवर्नरों तथा वायसराय की कौंसिलों में दोनों धर्मों के प्रतिनिधियों को दी जाने वाली सीटों की

परम्पराओं में अगाध विश्वास रखते थे और किसी भी रूप में उन्हें छोड़ने को तैयार नहीं थे। उनका यह कहना था कि धर्म हमारे जीवन में प्रमुख स्थान रखता है और उसे छोड़ना एक बड़ा खतरनाक काम होगा। पुरानी परम्परायें और मूल्य वर्तमान युग में भी महत्त्वपूर्ण हैं और सृष्टि-उत्पत्ति और समाज-शास्त्र के विषय में वैदिक आदर्श आधुनिक सभ्यता के आदर्शों की अपेक्षा अधिक सत्य के निकट प्रतीत होते हैं, किन्तु दूसरी ओर हमें पश्चिमी सभ्यता की अच्छी बातों को भी ग्रहण करना चाहिए। स्वतन्त्रता, समानता, राष्ट्रीयता के विचारों का पश्चिम में अच्छा विकास हुआ है, ज्ञान-विज्ञान की अद्भुत उन्नति हुई है और पश्चिम में बड़ी उग्र आक्रमणात्मक भावना (Aggressive Spirit) है। उनका यह विश्वास था कि पुराने स्मृतिकार—मनु, नारद और आपस्तम्ब के सामाजिक और दार्शनिक विचारों को अब भारत में पूरी तरह से कार्यान्वित नहीं किया जा सकता है। वे पश्चिमी जगत् के सुप्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक जान ड्यूई और बर्ट्रेण्ड रसल के विचारों से बड़े प्रभावित हुए थे और पूर्व तथा पश्चिम का समन्वय एवं संगम करना चाहते थे। उनका यह विश्वास था कि अतीत पर अभिमान करना अच्छा है किन्तु वर्तमान की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। आर्यसमाज को अपनी संकुचित दृष्टि से ऊपर उठकर भारतीय राष्ट्रवाद के साथ समन्वय करते हुए अपना भविष्य उज्ज्वल बनाना चाहिए। 'आर्यसमाज' पुस्तक के अन्तिम अध्याय के अन्त में ७० वर्ष पहले लिखे गये उनके ये शब्द आज भी पूर्णरूप से सत्य प्रतीत होते हैं—

"यदि हम अपने अतीत जैसा उज्ज्वल भविष्य बनाने के लिए प्रयास नहीं करते हैं तो अपने भूतकाल पर हमारा अभिमान करना सर्वथा निरर्थक है। हम अपने पूर्वजों की अस्थियों पर निर्भर नहीं रह सकते हैं। उनकी उपलब्धियों की स्मृति हमें प्रोत्साहित कर सकती है···अतीत काल की गौरव-गाथाओं का इतिहास हमें आत्मगौरव से प्रफुल्लित कर सकता है, किन्तु सम्मानपूर्वक जीवित रहने के लिए हमारे लिए आवश्यक है कि हम वर्तमान में भी उसी प्रकार जीवित रहें जैसे हमारे पूर्वज भूतकाल में रहा करते थे और हम अपने-आपको वर्तमान समय की संस्थाओं और संस्कृति के सर्वोत्तम साधनों एवं तत्त्वों से सुसज्जित करें।···आर्यसमाज को यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वर्तमान भारत अब पूर्णरूप से हिन्दू नहीं है। इसकी समृद्धि और भविष्य हिन्दू धर्म से अधिक बड़े वाद—भारतीय राष्ट्रीयता के साथ समन्वय करने पर निर्भर है। केवल इसी से भारत विश्व के राष्ट्रों की पंक्ति में अपना समुचित स्थान सुरक्षित रूप से बना सकता है। इस समन्वय को रोकना या इसमें बाधा डालना पाप है जिसके लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं है।"

(घ) **समाजवाद**—इंग्लैण्ड में रहते हुए लाला लाजपतराय का सम्पर्क इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध क्रमिक (Fabian)समाजवादी एवं सुप्रसिद्ध विचारकों सिडनी तथा बीट्रिस, वैब, बर्नार्ड शॉ और कोल से हुआ। वैब दम्पती ने उन्हें फेबियन ग्रीष्म-विद्यालय में आमंत्रित किया। जुलाई १९१४ के अन्तिम १० दिन उन्होंने इंग्लैंड के सर्वोत्तम समाजवादी कार्यकर्ताओं तथा विचारकों के साथ आनन्दमय वार्तालाप तथा वादविवाद में व्यतीत किये। उनका इंग्लैण्ड के ट्रेड यूनियन आन्दोलन से भी परिचय हुआ और भारत में उन्होंने इस आन्दोलन को चलाने का निश्चय किया। इस विषय में यह भी उल्लेखनीय है कि उनके द्वारा लिखित आर्यसमाज की भूमिका समाजवादी सिडनी वैब ने लिखी थी।

बलिदान की भावना होनी चाहिए। बिना रक्त बहाये स्वराज्य नहीं मिल सकता है। माडरेट नेता अंग्रेजों की सदाशयता और उदारता में विश्वास रखते थे और उनसे वैधानिक अधिकार देने की प्रार्थना किया करते थे। लालाजी का यह कहना था कि माडरेट भिखारी हैं और वे स्वराज्य को सरकार से भीख में माँगकर पा लेना चाहते हैं, जो कभी सम्भव नहीं हैं। इसे हमें अपने प्रयत्नों से संघर्ष करके पाना होगा।"

मानवीय चरित्र के विभिन्न गुणों का विकास करने के लिए वे स्वराज्य को आवश्यक समझते थे। उनका यह मन्तव्य था कि जनता को जब इस बात की स्वतन्त्रता होती है कि वह अपने ढंग से अपनी इच्छानुसार अपना विकास कर सके, तभी उसके विभिन्न गुणों का पूर्ण विकास होता है। एक निरंकुश शासन-पद्धति जनता को कभी सुख और शान्ति नहीं प्रदान कर सकती है। स्वामी दयानन्द द्वारा सत्यार्थप्रकाश के आठवें समुल्लास में स्वराज्य के सम्बन्ध में जो भावनाएँ प्रकट की गयी थीं, उनके आधार पर वे भारत में ब्रिटिश शासन के कड़े आलोचक थे। उनका यह कहना था कि भारत की वर्तमान शासन-पद्धति स्वेच्छाचारी, दकियानूसी तथा नौकरशाही पर आधारित है। शिक्षा और उद्योग-धन्धों की उपेक्षा कर रही है। वर्तमान शोचनीय स्थिति को दूर करने के लिए भारत के शासन को उत्तरदायी बनाया जाना चाहिए।

भारत की राजनैतिक स्वाधीनता के लिए आर्थिक उन्नति और शिक्षा का प्रसार अतीव आवश्यक है। इस समय भारत की समूची अर्थव्यवस्था का संचालन शासको के हित की दृष्टि से हो रहा है और यही दरिद्रता का प्रधान कारण है। किन्तु आर्थिक स्वतन्त्रता होने के साथ-साथ शिक्षा भी अतीव आवश्यक है। अतः भारत सरकार को आर्थिक और शैक्षणिक दृष्टि से भारतीयों की उन्नति की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए।

(ग) आर्यसमाज-विषयक विचार—लालाजी को विदेश में रहते हुए वहाँ की राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं का निकट से गम्भीर अनुशीलन करने का बहुमूल्य अवसर मिला। इसके परिणामस्वरूप उनके आर्यसमाज-विषयक विचारों में बड़ी उदारता, विशालता, प्रौढ़ता और परिपक्वता आयी। उन्होंने इंग्लैण्ड में रहते हुए पश्चिमी जगत् को आर्यसमाज के बारे में विस्तृत और प्रामाणिक परिचय देने के उद्देश्य से 'आर्यसमाज' नामक एक पुस्तक लिखी। इसमें बड़ी प्रभावशाली और सुबोध भाषा में आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द के जीवन तथा शिक्षाओं का वर्णन और आर्य-समाज के इतिहास एवं उसकी विभिन्न गतिविधियों का विस्तृत विवेचन किया गया था; आर्यसमाज के विषय में उत्पन्न की गयी भ्रान्तियों और सन्देहों का प्रामाणिक निराकरण किया गया था और यह बताया गया था कि ब्रिटिश सरकार ने पंजाब में आर्यसमाज का दमन किस प्रकार किया और उसकी नीति में किस प्रकार परिवर्तन आया तथा आर्य-समाज का भविष्य कैसे उज्ज्वल बनाया जा सकता है।

इस पुस्तक से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कट्टर आर्यसमाजी होते हुए भी वे यह चाहते थे कि आर्यसमाज सच्चे अर्थों में सार्वभौम आर्य-धर्म का रूप धारण करे, देश-देशान्तर में उसका प्रचार हो; अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुतापूर्ण प्रवृत्ति रखते हुए वह आधुनिक युग के उपयोगी विचारों, संस्थाओं और पद्धतियों को आत्मसात् करे। आर्य-समाज की नीति कट्टरता और प्रगतिशीलता का समन्वय करते हुए निरन्तर आगे बढ़ने की होनी चाहिए। वे आर्यसमाजी होने के कारण प्राचीन भारत की पुरानी

उन दिनों नरम दल के नेताओं का यह विश्वास था कि यदि ब्रिटेन में उदार दल सत्तारूढ़ होगा तो वह भारत को आवश्यक शासन-सुधार और वैधानिक अधिकार प्रदान करेगा। किन्तु लालाजी जैसे गरम दल के नेताओं का यह विश्वास था कि भारत के प्रति इंग्लैण्ड के उदार दल की नीति अनुदार दल की तुलना में बहुत अच्छी नहीं है। वे १९०५ ई० में कांग्रेस के शिष्टमण्डल में ब्रिटेन हो आये थे और उदार दल की मनोवृत्ति को अच्छी तरह समझते थे। अतः वे दोनों दलों से समान रूप से घृणा करते थे। उनका यह विचार था कि ब्रिटेन में उन लोकतन्त्रीय और समाजवादी दलों से ही भारत को कुछ सहायता मिल सकती है, जो मजदूरवर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु फिर भी यह कहा करते थे कि भारत को बाहरी मदद पर भरोसा नहीं रखना चाहिए। बम्बई में उन्होंने यह घोषणा की थी कि "राष्ट्र अपने-आप बनते हैं, दूसरों की सहायता से नहीं बनाये जाते हैं। अन्य देशों से हम सहयोग लेंगे, उनके परामर्श का स्वागत करेंगे। कुछ मामलों में हम उनके पथ-प्रदर्शन का भी स्वागत करेंगे, किन्तु किसी दूसरी शक्ति के संरक्षण या डिक्टेशन पर आपत्ति करेंगे।"

विदेशी शासन के कारण भारतीयों में जो हीनभावना उत्पन्न हो गयी थी, उसे भी उन्होंने अपने लेखों और व्याख्यानों द्वारा दूर करने का प्रयत्न किया। बम्बई के उपर्युक्त भाषण में उन्होंने कहा था कि "हम संसार के किसी भी देश से किसी भी क्षेत्र में किसी भी प्रकार कम नहीं हैं। हम किस बात में दूसरों से हीन हैं?[1] हममें मिलकर काम करने की क्षमता नहीं है। हम वर्तमान आवश्यकताओं के अनुसार अपने आप को ढालने में कुछ अंशों में असफल रहे हैं और हमने वर्तमान कूटनीति के पाठ को पढ़ने में शिथिलता दिखाई है।"[2]

"भारत की मौलिक समस्या भाषण देने और प्रस्ताव पास कर देने से हल नहीं हो सकती है। हमें इस बात की आवश्यकता है कि हम देश के लिए आत्मबलिदान के लिए तैयार हों। प्रार्थनाओं और अपनी दुर्दशा पर विलाप करने का कोई लाभ नहीं है। भारतमाता को स्वतन्त्र कराने का एकमात्र उपाय उसके पुत्रों द्वारा अपना रक्तदान करना है।"[3]

(ख) स्वराज्य का विचार—लाला लाजपतराय स्वराज्य के पुजारी थे। उन्हें विदेशी शासन भारत की सब बुराइयों की जड़ प्रतीत होता था, अतः वे इसके उन्मूलन के लिए सतत प्रयत्नशील रहे। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि स्वराज्य न होने से भारतवासी अपना सब-कुछ—अपनी संस्कृति, सम्पत्ति और प्रशासन की क्षमता खो बैठे हैं। वे उन नरम विचार रखने वाले माडरेटों के विरोधी थे जो ब्रिटिश शासन को भारत में दैवी वरदान मानते थे। उनका कहना था कि "गुलामी की जंजीरें, भले ही वे सोने की बनी हुई क्यों न हों, जंजीरें ही हैं, और यदि किसी में सच्ची आध्यात्मिक भावना होगी तो वह इन्हें काटने में अवश्यमेव समर्थ होगा। भारतीयों में स्वराज्य पाने के लिए

---

१. लाला लाजपतराय, यंग इण्डिया, पृष्ठ ११०

२. लाला लाजपतराय, दी कल्ट आफ यंग इण्डिया, पृष्ठ ४३-४४

३. विजय चन्द्र जोशी (सम्पादक)—लाला लाजपत राय, राइटिंग्स एण्ड स्पीचेस, खण्ड १, पृष्ठ ३७

उन्होंने तवारीखे हिन्द नामक पुस्तक लिखी थी और असहयोग आन्दोलन में जेल में जाने पर उन्होंने पुनः भारतीय इतिहास पर बड़ी संख्या में पुस्तकों का संग्रह किया और ६०० पृष्ठों की एक पुस्तक डाक्टर गोपीचन्द भार्गव को बोलकर लिखवाते रहे। जेल में ही उन्होंने अशोक पर एक पुस्तक लिखी थी और शिवाजी पर लिखी पुरानी पुस्तक का संशोधन किया था। संयुक्त राज्य अमेरिका में मिस मेयो ने भारतीयों को बदनाम करने के लिए मदर इंडिया नामक पुस्तक लिखी थी जिसका उद्देश्य संसार को यह बताना था कि भारतीयों में बड़ी कुरीतियाँ और भयंकर जातीय दोष हैं और वे स्वतन्त्रता प्राप्त करने के अधिकारी नहीं हैं। लालाजी ने इसका एक मुँह-तोड़ उत्तर 'दुःखी भारत' (Unhappy India) के नाम से लिखा था। यह उनकी अन्तिम रचना थी। इसमें बड़े विस्तार से यह बताया गया था कि भारत की सब बुराइयों और दोषों का मूल कारण अंग्रेजों का विदेशी शासन है। इस शासन द्वारा भारत के आर्थिक व राजनैतिक शोषण को उन्होंने बड़े पुष्ट प्रमाणों और उदाहरणों के साथ प्रस्तुत किया था। अब यहाँ उनके ऐसे प्रमुख राजनैतिक विचारों का संक्षिप्त प्रतिपादन किया जायेगा जो देश के राष्ट्रीय जागरण में विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुए हैं।

(क) विदेशी शासन का विरोध—लाला लाजपतराय प्रबल देशभक्त थे और अपनी मातृभूमि की सर्वांगीण उन्नति के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे। उनकी यह आकांक्षा थी कि भारतीयों में उच्चकोटि की सार्वजनिक कर्त्तव्य की भावना का विकास हो, वे सच्चे देशभक्त बनें। इसका यह अभिप्राय था कि वे अपने व्यक्तिगत हितों की तुलना में राष्ट्रीय हितों को सर्वोपरि महत्त्व दें। १९२० ई० में राष्ट्रीय महासभा के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए उन्होंने भारतीय जनता की शैक्षणिक, सामाजिक और आर्थिक उन्नति पर बड़ा बल दिया था। उनके इस दृष्टिकोण में आर्यसमाज का और उसके नियमों का स्पष्ट प्रभाव था जिनमें यह कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति से सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए, अपितु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

भारतीयों की वर्तमान दुरवस्था का प्रधान कारण वे विदेशी शासन को समझते थे। उनका यह कहना था कि अंग्रेजों ने भारत को अपनी सैनिक शक्ति या तलवार के बल से नहीं, अपितु कूटनीति और धोखाधड़ी से जीता है। १८५७ ई० की लड़ाई भारत के राजनैतिक स्वतन्त्रता-संग्राम का पहला राष्ट्रीय संघर्ष था। उनका विश्वास था कि राष्ट्रीयता शहीदों के बलिदान और रक्त से पुष्ट होती है। सरकार जितना दमन करेगी, भारत की राष्ट्रीयता उतनी ही अधिक पुष्ट होगी। भारतीयों की राजनैतिक उन्नति के लिए संसदीय शासन-पद्धति स्थापित होनी चाहिए। वे अंग्रेजों द्वारा दिये जाने वाले इस तर्क का प्रबल खण्डन किया करते थे कि भारत एवं पूर्वी देशों के निवासी प्रतिनिधि शासन की संस्थाओं को चलाने की योग्यता नहीं रखते हैं; भारत की राजनैतिक मुक्ति का एकमात्र उपाय उसे स्वशासन का अधिकार दिया जाना था। भारत की निर्धनता और गरीबी का कारण वे अंग्रेजों द्वारा लगातार किया जाने वाला आर्थिक शोषण मानते थे।

भारत की स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए वे स्वावलम्बन पर बहुत बल देते थे। उनका यह कहना था कि स्वतन्त्रता भीख माँगने से या बाह्य सहायता से नहीं मिल सकती है। उन्हें माडरेटों की अंग्रेजों से वैधानिक अधिकारों की भीख माँगने की नीति नापसन्द थी।

१९२८ ई० को साइमन कमीशन-विरोधी जुलूस का नेतृत्व करते हुए ब्रिटिश पुलिस के अधिकारियों ने उन पर जो लाठियाँ बरसाईं, उसके प्रभाव से १७ नवम्बर १९२८ ई० को उनका स्वर्गवास हो गया। इस घटना ने समूचे देश में भीषण रोष और असन्तोष उत्पन्न किया। राष्ट्रीय अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए सरदार भगतसिंह और उनके साथियों ने लालाजी पर लाठियाँ चलाने वाले ब्रिटिश पुलिस सुपरिंटेंडेंट स्काट को अपनी गोली का निशाना बनाया। इससे जहाँ एक ओर भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन भड़क उठा, वहाँ दूसरी ओर कांग्रेस में पूर्ण स्वराज्य की माँग करने का आन्दोलन प्रबल हुआ। लालाजी जब तक जीवित रहे, स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करते रहे और उनकी मृत्यु ने भी देशवासियों में इतनी अधिक राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न की कि वे शान्तिपूर्ण और क्रांतिकारी उपायों से स्वाधीनता पाने का संघर्ष करने लगे।

(७) राजनैतिक विचार

लाला लाजपतराय बड़े ओजस्वी वक्ता और प्रभावशाली लेखक थे। नरम दल के एक प्रसिद्ध नेता श्री सी० वाई० चिंतामणि ने उनके बारे में लिखा है कि भारत में राष्ट्रीय चेतना का जनता में प्रसार करने में उनके भाषणों ने जादू का-सा असर किया और वक्ता के रूप में उनकी तुलना लायड जार्ज से की जा सकती है। दोनों समान रूप से जनता की भावनाओं को उत्तेजित करने का असाधारण सामर्थ्य रखते थे। इस विषय में श्री चिंतामणि ने उस समय के कांग्रेस के महारथियों की वक्तृत्व-कला की तुलना करते हुए लिखा है कि कांग्रेस के एक अधिवेशन में दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के साथ गोरे लोगों द्वारा दुर्व्यवहार के प्रस्ताव पर विचार हो रहा था। इस पर प्रस्ताव को पेश करते हुए महामना गोखले ने अपने भाषण में अकाट्य तर्कों और आँकड़ों की ऐसी झड़ी लगा दी कि वहाँ बैठे श्रोताओं को भारतीयों का पक्ष सर्वथा युक्ति-युक्त, तर्कसंगत और न्याय-पूर्ण प्रतीत होने लगा। इसके बाद पंडित मदनमोहन मालवीय ने दक्षिण अफ्रीका के भारतवासियों की दुर्दशा का हृदय-विदारक शब्दों में ऐसा मार्मिक चित्रण किया कि श्रोताओं की आँखों से आँसू बहने लगे। अन्त में लालाजी ने अपने भाषण में गोरे लोगों के अत्याचारों का वर्णन ऐसे जोशीले तथा उग्र शब्दों में किया कि श्रोताओं में एकदम भीषण रोष की भावनाएँ उत्पन्न हो गयीं और श्री चिंतामणि के कथनानुसार यदि उस समय कोई गोरा उस अधिवेशन में उपस्थित होता तो सारा जनसमुदाय उस पर बदला लेने के लिए टूट पड़ता।[1] लालाजी की यह भाषण-कला राष्ट्रीय विचारों के प्रसार में बड़ी सहायक सिद्ध हुई। विदेशों में उन्होंने भारत का पक्ष इंग्लैण्ड और अमेरिका की जनता के सामने बड़े स्पष्ट रूप में रखा और इसीलिए कांग्रेस की ओर से वे कई बार शिष्टमण्डल के सदस्य के रूप में इंग्लैण्ड भेजे गये।

लालाजी उच्चकोटि के लेखक थे। पहले यह बताया जा चुका है कि राष्ट्रीय महापुरुषों की जीवनियों के माध्यम से उन्होंने किस प्रकार अपने राष्ट्रीय विचारों का प्रचार और प्रसार किया। इसी दृष्टि से संयुक्त राज्य अमेरिका में लिखी गयी उनकी पुस्तकों का पहले उल्लेख किया जा चुका है। भारत के इतिहास के बारे में पहले उर्दू में

१. सी० वाई० चिन्तामणि—इंडियन पालिटिक्स सिन्स म्यूटिनी, पृ० ११८

संख्या, (२) सरकारी नौकरियाँ, (३) हिन्दी-उर्दू विवाद, (४) आर्यसमाज का प्रचार। इन चारों कारणों को दूर करने के लिए उनका यह सुझाव था कि परिषदों में हिन्दू एवं मुस्लिम सदस्यों का प्रधान लक्ष्य अपने वैयक्तिक और धार्मिक हितों का संवर्धन न होकर जनता की सेवा होना चाहिए। यदि दोनों धर्मों के व्यक्ति मिलकर सरकार को इस बात के लिए विवश करें कि शिक्षा को सर्वथा निःशुल्क बना दिया जाय और इसका अधिक से अधिक प्रसार किया जाय तो इसके परिणामस्वरूप १०-१५ वर्षों में जनता के शिक्षित हो जाने पर दोनों धर्मावलम्बियों में अपने सामान्य हितों को समझने की बुद्धि उत्पन्न हो जायेगी और वे छोटी-छोटी बातों के लिए झगड़ा करना बन्द कर देंगे। दूसरे कारण के बारे में उनका यह कहना था कि मुसलमानों को सरकारी नौकरियाँ अपनी संख्या के अनुपात के अनुसार मिलनी चाहिएँ। यदि हिन्दुओं के पास उनकी जन-संख्या के अनुपात से अधिक नौकरियाँ हों तो उन्हें ये मुसलमानों को दे देनी चाहिएँ। हिन्दी-उर्दू विवाद के सम्बन्ध में उनका यह कहना था—"यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि इस समय इस माँग पर बड़ा बल दिया जा रहा है। मुसलमान उर्दू को भारत की राष्ट्रीय भाषा बनाना चाहते हैं। इसी प्रकार हिन्दू हिन्दी के लिए ऐसा दावा करते हैं। इस विषय में दोनों पक्षों में समझौता बड़ा कठिन था। फिर भी जहाँ तक उत्तरी भारत का प्रश्न था, उनका यह विचार था कि संयुक्त प्रान्त में हिन्दुओं की संख्या ९० प्रतिशत है, अतः वहाँ अदालतों में कामकाज की भाषा हिन्दी होनी चाहिए। किन्तु पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त और सिन्ध में मुसलमानों का बहुमत है, अतः यहाँ की अदालती भाषा उर्दू होना उचित है। चौथा प्रश्न आर्यसमाज के उग्र प्रचार का था। इस बारे में लालाजी की दृढ़ सम्मति थी कि आर्यसमाज पर इस प्रकार का आरोप सर्वथा निराधार है। यदि मुसलमानों को आर्यसमाज के प्रचार से नाराजगी है तो हिन्दुओं को भी अलीगढ़-पार्टी के प्रचार से उतना ही गहरा असन्तोष है। दोनों धर्मों के नेताओं को यह उचित है कि वे अपने अनुयायियों पर इस बात के लिए बल डालें और इस बात की प्रेरणा करें कि वे दूसरे सम्प्रदाय वालों के प्रति उदार एवं संयत भाषा का प्रयोग करें और सरकारी अधिकारियों को एक-दूसरे के विरुद्ध झूठी रिपोर्टें न करें।

असहयोग-आन्दोलन के समय बम्बई में २० फरवरी १९२० ई० को भाषण देते हुए उन्होंने कहा था—"हमारे राजनैतिक भविष्य के लिए हिन्दू-मुसलमानों की एकता को एक मौलिक सिद्धान्त के रूप में माना जाना चाहिए। हम इसे जब तक एक उचित साधन (Expediency) के रूप में नहीं स्वीकार करेंगे, तब तक हम स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त कर सकते हैं, हम अपनी मृत्यु-पर्यन्त एक मौलिक सिद्धान्त के रूप में सदैव इसका पालन करते रहेंगे, और न केवल स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक, अपितु उसके बाद भी इस देश में भाइयों की भाँति जीवन बितायेंगे और इस बात का दृढ़ निश्चय करेंगे कि हम सदा मिलकर ही काम करते रहेंगे। यह हमारा एक ऐसा मौलिक सिद्धान्त है जिसे अपनी राजनीति का अंग तथा पहला मन्तव्य समझना चाहिए।"

स्वामी श्रद्धानन्द की भाँति लाला लाजपतराय ने असहयोग-आन्दोलन के समय हिन्दू-मुस्लिम एकता की दृष्टि से खिलाफत का प्रबल समर्थन किया और कहा—"ब्रिटिश राजनीतिज्ञ टर्की के साम्राज्य के मामलों में भारतीय मुसलमानों के हस्तक्षेप पर आपत्ति करते हैं। किन्तु भारत को इस दृष्टिकोण का प्रबल प्रतिवाद करना चाहिए,

क्योंकि टर्की को मुख्य रूप से भारतीय सेना द्वारा जीता गया था और इसका सारा व्यय भारत ने उठाया था। केवल यही एकमात्र तथ्य प्रत्येक भारतीय को चाहे वह हिन्दू हो, मुसलमान हो या बौद्ध, तुर्क समस्या के समाधान के बारे में अपने सुझाव और प्रस्ताव रखने का अधिकार प्रदान करता है···टर्की की समस्या एक भारतीय मामला है और इस पर भारतीयों को पूरा ध्यान देना चाहिए।"

भारत में हिन्दू-मुस्लिम एकता को सुदृढ़ बनाने के लिए वे टर्की और खिलाफत के प्रश्न को बड़ा महत्त्वपूर्ण समझते थे। उनका कहना था कि यह हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य है कि हम टर्की की समस्या पर भारतीयों के दृष्टिकोण में एकता उत्पन्न करें, उसे सुदृढ़ बनायें और ब्रिटिश जनता से आग्रह करें कि वे हमारे सुझाव पर विचार करें। लालाजी ने यह घोषणा की कि खिलाफत का प्रश्न न केवल एक मुसलमान को, अपितु प्रत्येक भारतीय को, प्रत्येक एशियावासी को और प्रत्येक मनुष्य को प्रभावित करता हैं। किन्तु १९२१ ई० में मालाबार में मोपला लोगों ने हिन्दुओं पर भीषण अत्याचार किये। इसके बाद मुलतान, अमृतसर, सहारनपुर, कोहाट में हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। इनसे लालाजी के हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रयासों को गहरा धक्का लगा। कांग्रेस इस समय मुसलमानों की तुष्टीकरण की नीति की समर्थक थी और उन्हें उनकी संख्या के अनुपात से अधिकार देने को तैयार थी। इस कारण इस समय लालाजी के विचारों में परिवर्तन हुआ। वे हिन्दू महासभा के १९२५ ई० में अध्यक्ष बने और उन्होंने स्वामी श्रद्धानन्द की भाँति हिन्दू-संगठन पर बल दिया। १९२५ ई० में दिल्ली के एकता सम्मेलन में और हिन्दू महासभा के अधिवेशनों में उन्होंने साम्प्रदायिक आधार पर निर्वाचन-क्षेत्रों का घोर विरोध किया और अन्त में इस जटिल समस्या से परेशान होकर उन्होंने पंजाब को दो खण्डों में निम्नलिखित रूप में बाँटने का प्रस्ताव किया—(१) पश्चिमी पंजाब जिसमें मुसलमानों की बहुसंख्या हो और यह मुसलमानों द्वारा शासित हो, (२) पूर्वी पंजाब जिसमें हिन्दुओं और सिखों का बहुमत हो और यह उनके द्वारा शासित हो।[1] बाद में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय देश का विभाजन लगभग इसी आधार पर किया गया।

उपसंहार—लाला लाजपतराय ने आर्यसमाज से देशभक्ति और राष्ट्रीयता के जिन विचारों को ग्रहण किया था, उनका प्रसार उन्होंने अपना ओजस्विनी लेखनी और प्रभावशाली भाषणों द्वारा समूचे भारत में किया। इससे अद्भुत राष्ट्रीय जागरण उत्पन्न हुआ। ब्रिटिश शासक उनके प्रचार से कितने भयभीत थे, यह इस बात से स्पष्ट है कि कोई पुष्ट प्रमाण न होते हुए भी उन्होंने लालाजी को देश-निर्वासन का दण्ड दिया। उन्होंने अपनी रचनाओं में दादाभाई नौरोजी, रमेशचन्द्र दत्त और विलियम डिग्बी की भाँति यह प्रदर्शित किया कि इंग्लैण्ड भारत का प्रबल आर्थिक शोषण कर रहा है; इसे दूर करने के लिए भारतीयों को स्वदेशी, स्वराज्य और स्वावलम्बन का मन्त्र प्रदान किया। वे न केवल स्वदेश में, अपितु विदेशों में भी भारत की राष्ट्रीयता का प्रचण्ड प्रचार करते रहे और भारत के विपक्ष में अंग्रेजों द्वारा किये जाने वाले प्रचार का निराकरण करने का प्रयास करते रहे। इस विषय में यह स्मरणीय है कि जब प्रथम विश्व-युद्ध में वे अमरीका में थे तो एक हिन्दू छात्रा ने लाजपतराय को बताया कि उनकी पाठविधि में

---

१. एम० एच० सैयद—मुहम्मद अली जिन्ना, पृ० ३२९

भारतीय इतिहास भी सम्मिलित है, किन्तु उसकी अध्यापिका इसे इस आधार पर नहीं पढ़ाती है कि हिन्दुस्तानियों ने कुछ करके नहीं दिखलाया है, अतः वे इतिहास में स्थान पाने के अधिकारी नहीं हैं।[1] लाला लाजपतराय को यह बात लग गयी और उन्होंने इसका सुधार करने के लिए अमरीकावासियों का ध्यान भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम के महत्त्व की ओर खींचने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दी। वहाँ 'इण्डिया होमरूल लीग' की स्थापना की; भारत की स्वाधीनता के लिए बड़ा प्रबल प्रचार किया।

वे स्वतन्त्रता-संग्राम के महान् योद्धा और सेनानी थे। आर्यसमाज के तथा लोक-सेवक-मण्डल के माध्यम से उन्होंने सामाजिक एवं लोककल्याण के महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किये। वे सम्भवतः पहले प्रमुख भारतीय कांग्रेसी नेता थे, जिन्होंने अपने लेखों में समाज-वाद, बोल्शेविकवाद, पूँजीवाद तथा मजदूरों के संगठन की समस्याओं पर विचार किया था। सम्भवतः आर्यसमाज के आठवें नियम ने ही उन्हें समाज-कल्याण की समस्याओं में दिलचस्पी लेने के लिए प्रेरित किया था। इस विषय में यह उल्लेखनीय है कि आर्यसमाज पर उनकी लिखी सुप्रसिद्ध पुस्तक की भूमिका ब्रिटेन के विख्यात समाजवादी सिडनी वैब ने लिखी है। आर्यसमाज एवं भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में उनका बड़ा महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय योगदान है।

---

१. अलगूराम शास्त्री—लाला लाजपतराय, पृ० ३२३-३२४

अठारहवाँ अध्याय

विदेशों में क्रान्तिकारी संगठनकर्ता श्यामजी कृष्ण वर्मा

(१) श्यामजी कृष्ण वर्मा का आरम्भिक जीवन

जिस काल में आर्यसमाज के प्रमुख नेता यह प्रतिपादित करने में लगे थे कि आर्यसमाज का राजद्रोह के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है और वह विशुद्ध रूप से एक धार्मिक संस्था है, उस समय महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों व शिक्षाओं से प्रभावित होकर अनेक आर्य युवक विदेशी शासन के विरुद्ध क्रान्तिकारी उपायों के अवलम्बन में तत्पर थे। भारत जो स्वाधीनता प्राप्त कर सका, उसमें इन आर्य युवकों का कर्तृत्व अत्यन्त महत्त्व का है। सर्वसाधारण आर्य जनता भी इनके वीर कृत्यों का समर्थन करती थी। श्यामजी कृष्ण वर्मा इस क्रान्तिकारी संघर्ष के आदिप्रवर्तक थे।

१८५७ ई० की ऐतिहासिक क्रान्ति वाले वर्ष में ४ अक्तूबर को कच्छ राज्य के माण्डवी गाँव में जन्म लेने वाले श्यामजी आजीवन क्रान्तिकारी बने रहे। वे न केवल आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से १८८३ ई० में बी० ए० की डिग्री प्राप्त करने वाले प्रथम भारतीय थे, अपितु अंग्रेजी राज को हटाने के लिए विदेशों में भारतीय नवयुवकों को प्रेरणा देने वाले, क्रान्तिकारी कार्यों का संगठन करने वाले पहले हिन्दुस्तानी थे। उनको देशभक्ति का पहला पाठ पठाने वाले स्वामी दयानन्द थे। १८७५ ई० में जब स्वामीजी ने बंबई में आर्यसमाज की स्थापना की तो श्यामजी उसके पहले सदस्य बनने वालों में से थे। स्वामी जी के चरणों में बैठकर उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों का स्वाध्याय किया, उनकी प्रेरणा से ये आक्सफोर्ड में मोनियर विलियम्ज से संस्कृत का उच्च अध्ययन करने के लिए गये। स्वामी जी इन्हें निरन्तर संस्कृत में पत्र लिखते रहे। एक पत्र में उन्होंने इन्हें पार्लियामेण्ट में जाकर मुंशी इन्द्रमणि के साथ ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा किये गये अन्याय का प्रतिकार करने को लिखा था।

इससे यह स्पष्ट है कि विदेशों में भारत की स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन करने की इन्हें सर्वप्रथम प्रेरणा देने वाले स्वामी दयानन्द सरस्वती थे। वे इन पर इतना अधिक विश्वास रखते थे कि उन्होंने अपने स्वीकारपत्र में अपनी सम्पत्ति, प्रेस तथा पुस्तकों की व्यवस्था करने वाली परोपकारिणी सभा का इन्हें सदस्य बनाया था। विलायत जाने से पहले कुछ समय तक वे बम्बई से छपने वाले उनके वेदभाष्य के प्रबन्धक भी रहे। आर्यसमाज के इतिहास के प्रथम भाग में उनके जीवन तथा स्वामीजी के साथ सम्बन्धों पर प्रकाश डाला जा चुका है, अतः यहाँ इनकी चर्चा न करते हुए केवल श्यामजी वर्मा के

राजनैतिक विचारों तथा आर्यसमाज के इतिहास पर प्रभाव डालने वाली घटनाओं का ही उल्लेख किया जाएगा।

१८८५ ई० में जब भारतीय महासभा (कांग्रेस) की स्थापना हुई, उसी वर्ष वे संस्कृत की उच्चतम डिग्री के साथ बैरिस्टरी की परीक्षा पास करके भारत लौटे। बम्बई हाई कोर्ट में प्रैक्टिस करने लगे। इस समय उनके बारे में यह ख्याति चारों ओर फैल गयी कि वे अंग्रेजी और संस्कृत भाषा पर समान अधिकार रखते हैं; दोनों में धारा-प्रवाह भाषण दे सकते हैं; इंग्लैण्ड में देर तक रहने से अंग्रेजों की मनोवृत्ति को अच्छा जानते हैं; उनसे सुगमतापूर्वक अच्छे सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। कुछ छोटे देशी राजाओं ने उनकी इस योग्यता का लाभ उठाने का प्रयास किया; इस दृष्टि से उन्हें अपने राज्य का दीवान (प्रधान मन्त्री) बनाया। किन्तु छोटी रियासतों में सम्भवतः वहाँ की क्षुद्र राजनीति में इनकी तबियत नहीं लगी। कुछ समय तक सन् १८९१ ई० में वे अजमेर में वकालत करते रहे। इस समय की एक प्रसिद्ध घटना इनको वैदिक यन्त्रालय का अधीक्षक बनाया जाना था। यहाँ इनका प्रेस के मैनेजर भगत रैमलदास से बड़ा झगड़ा हुआ। उन्होंने उसे प्रबन्धक के पद से हटा दिया। यह विवाद इस हद तक बढ़ गया कि आर्यसमाजों ने तथा परोपकारिणी सभा के उपप्रधान ने इन्हें अपना आदेश वापस लेने के लिए विवश किया।

इस समय इनके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि इस देश में ब्रिटिश सरकार की सेवा में रहते हुए वे देश के लिए कोई उपयोगी कार्य नहीं कर सकते हैं, किन्तु यदि वे किसी बड़ी देशी रियासत का दीवान बन जाएँ तो वे जनता की सेवा कर सकते हैं। उस समय उदयपुर के महाराणा के परामर्शदाता श्री कृष्णसिंह बारहठ थे। ये महर्षि के अनन्य भक्त थे, उन्होंने महर्षि के शिष्य श्यामजी को उदयपुर में दीवान का कार्य करने के लिए बुलाया ताकि वे यहाँ राज्य एवं जनता की उन्नति के लिए उपयोगी कार्य कर सकें। दिसम्बर १८९२ ई० में वे उदयपुर रियासत की राज्य-परिषद् के सदस्य बन गये। अगले एक वर्ष तक यहीं कार्य करते रहे। इसी समय उन्हें अपनी मातृभूमि सौराष्ट्र की जूनागढ़ रियासत से दीवानी का निमन्त्रण मिला। वे ६ फरवरी १८९५ ई० को जूनागढ़ चले गये। किन्तु श्यामजी प्रगतिशील विचारों के थे और रियासत का नवाब पुराने दकियानूसी विचार रखता था। नवाब से न पटने तथा ब्रिटिश रेजिडैण्ट से विवाद होने के कारण इन्होंने जूनागढ़ भी छोड़ दिया। वे कुछ समय पुनः उदयपुर राज्य में रहे, किन्तु ब्रिटिश सरकार इनके क्रान्तिकारी विचारों से परिचित हो चुकी थी। वह इनका उदयपुर में रहना खतरनाक समझती थी। उसने महाराणा पर दबाव डाला और इन्हें उदयपुर छोड़ना पड़ा।

इस समय महाराष्ट्र में क्रान्तिकारी आन्दोलन कुछ कारणों से प्रबल होने लगा। फरवरी १८९७ ई० में बम्बई की लैजिस्लेटिव कौंसिल ने प्लेग का मुकाबला करने के लिए सरकारी अधिकारियों को मार्शल लॉ जैसे निरंकुश अधिकार दे दिये। पूना में प्लेग का प्रकोप रोकने के लिए सतारा के कलेक्टर रैण्ड को पूना का प्लेग कमिश्नर बनाया गया। दो सैनिक अधिकारी रैण्ड की सहायता के लिए लगाये गये। गोरे सैनिकों ने प्लेग रोकने के नाम पर घरों की तलाशी लेते हुए स्त्रियों से छेड़छाड़ करना, मकानों को लूटना, हिंदू घरों की पवित्र देवमूर्तियों को भ्रष्ट करना आरम्भ कर दिया। इससे पूना की जनता में

जो भीषण रोष उत्पन्न हुआ, उसे अभिव्यक्त करते हुए लोकमान्य तिलक ने **केसरी** में लिखा—

"ये अत्याचार इस कारण किये जा रहे हैं कि हम निर्धन और असहाय हैं, परन्तु यह जुल्म देर तक नहीं चल सकता है। इस रैंडशाही का अन्त होगा ही।" इसी समय लोकमान्य तिलक ने राष्ट्रीय जागरण के लिए गणेशोत्सव शुरू किये तथा शिवाजी के राज्याभिषेक का समारोह मनाया। इस अवसर पर एक वक्ता ने कहा—"हर हिन्दू को शिवाजी के उत्सव पर आनन्द मनाना चाहिए। हम अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता को प्राप्त करने का यत्न कर रहे हैं। दासत्व का भयंकर बोझ हम सबने मिलकर परे फेंकना है। यदि कोई आदमी हमारे देश का दमन करता है तो उसे काट डालना चाहिए।" एक अन्य वक्ता ने कहा—"जिन लोगों ने फ्रांस की क्रान्ति में भाग लिया था, उन्होंने इस बात से इनकार किया था कि उन्होंने किसी का वध किया है। उन्होंने बलपूर्वक कहा था कि वे अपने रास्ते से काँटे दूर कर रहे थे।"

इस उत्सव के सभापति लोकमान्य तिलक ने कहा—"मुस्लिम सेनापति अफजल-खाँ को मारकर क्या कोई पाप किया गया था? इसका उत्तर स्वयं महाभारत में मिलता है। श्रीकृष्ण ने उपदेश दिया है कि यदि गुरुजन और आत्मीय अत्याचार करें तो उन्हें भी कत्ल कर दो। यदि कोई मनुष्य फल की इच्छा के बिना कार्य करता है तो उसे दोष नहीं लगता है। यदि चोर हमारे घर में घुस आयें और हमारे पास उन्हें निकालने का सामर्थ्य न हो तो हमें उन्हें (घर में) बन्द करके जला देने में कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। ईश्वर ने विदेशियों को हिन्दुस्तान का राज्य दान के रूप में प्रदान नहीं किया है।"

लोकमान्य के इन विचारों का युवकों पर बड़ा जबर्दस्त प्रभाव पड़ा। उनके एक शिष्य दामोदर चाफेकर ने ब्रिटिश सम्राज्ञी विक्टोरिया के राज्यारोहण की हीरक जयंती के अवसर पर पहले तो बम्बई में उसकी संगमरमर की मूर्ति को कालिख से पोता, उसके गले में पुराने जूतों का हार पहनाया और तत्पश्चात् भारत में रानी के प्रतिनिधि पूना के अत्याचारी, प्लेग कमिश्नर रैंड की हत्या का निश्चय किया। हीरक जयन्ती महोत्सव में भाग लेने के बाद आधी रात को जब रैंड घर लौट रहा था तो उसकी तथा लैफ्टीनैण्ट आयर्स्ट की हत्या कर दी गयी। गोरे पत्रों ने लोकमान्य को इसके लिए उत्तरदायी ठहराया। ब्रिटिश सरकार ने न केवल रैण्ड और आयर्स्ट की हत्या करने वालों को फाँसी की सजा दी, अपितु लोकमान्य तिलक को भी राजद्रोह के अपराध में दण्डित किया।

इन सब घटनाओं का श्यामजी कृष्ण वर्मा के मन पर गहरा असर हुआ। वे इस बात को अच्छी तरह समझ गये कि अंग्रेज भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन तथा क्रान्तिकारी विचारों का दमन करने पर तुल गये हैं। भारत में वे किसी प्रकार का राष्ट्रीय आन्दोलन नहीं चलने देंगे। ब्रिटिश सरकार इस समय तक उनके क्रान्तिकारी विचारों तथा तिलक-भक्ति से परिचित हो चुकी थी। उन्हें किसी भी समय गिरफ्तार किया जा सकता था, अतः वे १८९७ ई० में भारत छोड़कर इंग्लैण्ड चले गये। इस विषय में उन्होंने अपने एक संस्मरण में लिखा है—"१८९७ ई० में तिलक पर जो मुकद्दमा चला, उससे मुझे यह विश्वास हो गया कि ब्रिटिश भारत में वैयक्तिक स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं है और न

यहाँ समाचारपत्रों को कोई स्वतन्त्रता प्राप्त है। ब्रिटिश न्याय भी एक धोखा है। इस कारण मैं अपना देश छोड़कर इंग्लैण्ड में जा बसा।"

उनका यह विचार था कि विदेशों में भारत की स्वतन्त्रता के लिए भारत की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह तथा निर्बाध रीति से कार्य किया जा सकता है, क्योंकि यहाँ राष्ट्रवादियों तथा क्रान्तिकारियों का चौबीस घण्टे पुलिस द्वारा पीछा नहीं किया जाता है तथा अन्य देशों से भी पर्याप्त सहायता मिल सकती है। उनका विलायत जाना वस्तुतः उनके लिए तथा भारत के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। यदि वे भारत में रहते तो जल्दी ही पकड़ लिये जाते, उन्हें ब्रिटिश कारावास में या अण्डमान टापू में सड़ना पड़ता। देश को उनकी योग्यता तथा प्रतिभा से कोई लाभ न पहुँचता, उन्होंने इग्लैण्ड में अपने ढंग से क्रान्तिकारी प्रचार-कार्य आरम्भ किया।

उस समय अंग्रेज निरन्तर इस बात का ढोल पीट रहे थे कि भारतीय अशिक्षित हैं, नाना प्रकार की धार्मिक कुरीतियों और सामाजिक कुप्रथाओं से ग्रस्त हैं, अतः उनमें अपना शासन अच्छी तरह करने की सामर्थ्य नहीं है। इसलिए भारत में अंग्रेजी शासन बना रहना चाहिए। वह बहुत पिछड़ा हुआ देश है। अंग्रेज उसको शिक्षित और सभ्य बना रहे हैं। इस महत्त्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न करने की दृष्टि से तथा भारत के हित को देखते हुए ब्रिटिश शासन भारत के लिए वरदान है। किन्तु श्यामजी कृष्ण वर्मा ने इस भ्रामक प्रचार का खण्डन करते हुए कहा कि भारत बड़ा प्राचीन देश है। पुराने जमाने में वह अतीव सभ्य और सब देशों का अग्रणी और शिरोमणि देश था। इस समय वह अवश्य पिछड़ा हुआ है, किन्तु यह पिछड़ापन विदेशी शासन के कारण है। यदि उसे स्वतन्त्रता मिल जाए तो बहुत थोड़े समय में उसकी कुरीतियाँ दूर हो सकती हैं और वह उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँच सकता है।

इसी समय बोअर युद्ध की घटना ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दोषों को उजागर किया, गांधीजी से उनके वैचारिक मतभेद प्रबल हुए तथा उनके राजनैतिक विचारों में उग्रता आयी। १८९९ ई० में ट्रान्सवाल में जब सोने की खानों का पता चला तो यह प्रदेश दक्षिण अफ्रीका में बसे बोअर कहलाने वाले डचों के अधिकार में था। ये अंग्रेजों द्वारा दक्षिण से यहाँ धकेले गये थे। अब ब्रिटिश व्यापारियों की गृध्रदृष्टि इस प्रदेश पर पड़ी। उनकी प्रेरणा से लन्दन बोअरों पर इतना दबाव डालने लगा कि अन्त में बोअर राष्ट्रपति क्रूगर को अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करनी पड़ी। बोअरों का पक्ष न्याय-पूर्ण था, अतः अधिकांश सभ्य देशों की सहानुभूति उनके साथ थी। शुरू में बोअर लोगों को लड़ाई में सफलता मिली, किन्तु वे देर तक अंग्रेजों का मुकाबला करने में सफल नहीं हो सके।

उन दिनों महात्मा गांधी दक्षिण अफ्रीका में वकालत कर रहे थे। उन्होंने इस युद्ध में अंग्रेजों की सहायता की। लड़ाई में घायलों की सेवा-सुश्रूषा के लिए एक स्वयं-सेवक दल का संगठन किया। डॉक्टर अविनाश भट्टाचार्य ने लिखा है कि इससे बोअर-सेनापति जनरल बोथा और दूसरे सेनापति बहुत व्यथित हुए। जब श्यामजी को यह खबर मिली तो वे लगभग पागल हो गये। उनका यह कहना था कि जिस जाति ने अन्यायपूर्वक भारतवर्ष पर अधिकार कर रखा है और अविवेकी शासन तथा निर्लज्ज शोषण द्वारा भारत को गरीब बना दिया है, ध्वंस के मार्ग पर उसे ले जाकर खड़ा कर

दिया है, उसका समर्थन कभी नहीं करना चाहिये, विशेष रूप से उस समय, जब ब्रिटेन एक छोटी-सी बोअर जाति को पैरों तले रौंदने के लिए कटिबद्ध है। उस समय उसकी सहायता के लिए गांधी जी ने जो प्रयास शुरू किया है, वह नाजायज, नासमझी-भरा और न्याय-विरुद्ध है। इसे श्यामजी ने स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर दिया। इस प्रकार अब श्यामजी उग्र से उग्रतर राष्ट्रवादी विचारों की ओर अग्रसर होने लगे।

इस समय श्यामजी की भावना के अनुसार विचारों को प्रकट करते हुए आयरिश स्वतन्त्रता का समर्थन करने वाले 'गैलिक' नामक अमरीकी पत्र ने लिखा—"नेटाल के भारतीयों का आचरण इतना निन्दनीय है कि उसका वर्णन करना सम्भव नहीं है। उन्होंने अपने ऊपर अत्याचार करने वाली ब्रिटिश सरकार की जिस तरह से सहायता की है, उस से भारतीयों की बेइज्जती हुई है।"

स्पेन्सर का प्रभाव—इंग्लैण्ड में रहते हुए श्यामजी पर दयानन्द और तिलक के बाद सुप्रसिद्ध ब्रिटिश समाजवादी दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर का बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने अत्याचारी शासन के विरोध को सर्वथा न्यायपूर्ण माना था और भारत में ब्रिटेन के निरंकुश शासन की बड़ी निन्दा की थी। इस विषय में उन्होंने यह ठीक ही लिखा था कि—"भारत की स्वतन्त्रता का जैसा समर्थन हर्बर्ट स्पेन्सर ने किया है, वैसा किसी अन्य विद्वान् या राजनीतिज्ञ ने नहीं किया है। उसने उस धूर्ततापूर्ण निरंकुशता की घोर निन्दा की जो वह भारत को गुलाम बनाये रखने और उसका साम्राज्य विस्तार करने में करती है और इसके लिए भारतीय सैनिकों का प्रयोग करती है। उसने नमक पर एकाधिकार के उस कष्टप्रद तथा निष्ठुर कर को निन्दनीय ठहराया जो गरीब रैयत से अन्न का लगभग आधा भाग छीन लेता है। उसने भारत के सम्बन्ध में यह सिद्ध करने के लिए प्रमाण एकत्र किये कि अंग्रेजों ने हर विजय स्वार्थ-सिद्धि के नीच उद्देश्यों से प्रेरित होकर की हैं। उसने अंग्रेजों को समाज-भक्षक (Sociophagus) राष्ट्र का नाम दिया है। उसने इंग्लैण्ड के सर्वोतम विरोधी हितों की दृष्टि से कहा कि यदि भारतीय विदेशी शासन के जुए को उतार फेंकने का यत्न करते हैं तो यह कोई अपराध नहीं है।"[1]

स्पेन्सर द्वारा भारतीयों के ब्रिटिश शासन के विरोध से वे इतने प्रभावित थे कि उन्होंने स्पेन्सर की मृत्यु के बाद इनकी स्मृति को सुरक्षित करने के लिए एक हजार पाउण्ड की एक लेक्चरशिप ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय को प्रदान की। वे यह चाहते थे कि स्पेन्सर के विचारों का भगवद्गीता और हिन्दू शास्त्रों के साथ समन्वय किया जाय तथा उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय। इससे पहले १९०४ ई० में उन्होंने तीन वर्ष (१९०३-१९०७) के लिए २००० रुपये के हिसाब से स्पेन्सर के नाम पर छः छात्रवृत्तियाँ (फैलोशिपों) की घोषणा की। इसके अतिरिक्त वे स्वामी दयानन्द सरस्वती के नाम पर भी फैलोशिपों की घोषणा करना चाहते थे। इनका उद्देश्य भारत के होनहार छात्रों को इंग्लैण्ड में पढ़ने के लिए छात्रवृत्तियाँ देना था। उनका विचार था कि इनसे लाभ उठाने वाले छात्र अपना जीवन देशसेवा के लिए समर्पित कर दें। इन छात्रवृत्तियों की एक शर्त यह थी कि जो इन्हें स्वीकार करके इंग्लैण्ड आयेंगे, उन्हें यह प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी कि वे कोई सरकारी नौकरी स्वीकार नहीं करेंगे। वे यह चाहते थे

---

१. इन्दुलाल याज्ञिक—श्यामजी कृष्ण वर्मा, पृ० १२८-२९

कि होनहार विद्यार्थियों को इन छात्रवृत्तियों से आकर्षित करके इंग्लैण्ड बुलाया जाय, यहाँ उन्हें देश-भक्ति की ऐसी शिक्षा दी जाय कि वे भारत की स्वतन्त्रता के लिए आजीवन संघर्ष करते रहें।

(२) होमरूल लीग की स्थापना तथा पत्र का प्रकाशन

इस समय लन्दन में भारतीय राजनीति में नरम दल के विचार रखने वाले व्यक्तियों की एक संस्था 'इण्डियन एसोसियेशन' के नाम से काम कर रही थी। इसके अध्यक्ष दादाभाई नौरोजी थे।[1] हर सप्ताह इसके सदस्य एक निश्चित स्थान पर एकत्र होते थे और भारतीय समस्याओं पर विचार-विमर्श और वाद-विवाद हुआ करता था। लन्दन के भारतीय विद्यार्थी इन बैठकों में सम्मिलित होते थे, विशेष अवसरों पर आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज के हिन्दुस्तानी छात्र भी इसमें आमन्त्रित किये जाते थे।

श्यामजी इस एसोसियेशन की नरम राजनीति से सन्तुष्ट न थे। उनका यह विचार था कि ब्रिटिश जनता के सम्मुख भारत के पक्ष को सही ढंग से रखने का प्रयास नहीं किया जा रहा है; इसे स्पष्ट और प्रबल रूप में रखना हमारा कर्त्तव्य है। इसके स्वरूप के सम्बन्ध में उनका यह मन्तव्य था कि भारत का उद्देश्य ब्रिटिश प्रभुत्व से पूर्णरूप से मुक्ति पाना है। यह विचार दादाभाई नौरोजी जैसे नेताओं के लिए अतीव क्रान्तिकारी था, क्योंकि वे किसी भी दशा में भारत को ब्रिटेन के नियन्त्रण से मुक्त नहीं करना चाहते थे, अपितु उसे भारत के लिए हितकर एवं आवश्यक मानते थे। यह स्पष्ट था कि श्यामजी का उद्देश्य इनसे सर्वथा भिन्न था।

इन्हीं दिनों भारत में बंग-भंग का आन्दोलन शुरू हुआ। इससे देश में स्वाधीनता के प्रयासों में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। इंग्लैण्ड में इन्हें सबल बनाने की दृष्टि से श्यामजी ने अंग्रेजी में जनवरी १९०५ ई० से 'इण्डियन सोशियोलोजिस्ट' (भारतीय समाजवादी) नामक चार पृष्ठीय मासिक पत्र निकाला। इसके मुखपृष्ठ पर लिखा रहता था कि यह स्वतन्त्र राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक सुधार का पत्र है। यह उनके विचारों के प्रचार तथा क्रान्तिकारी सिद्धान्तों के प्रसार में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ। अगले ही महीने

---

१. श्री क्षितीश वेदालंकार ने यह सम्भावना प्रकट की है कि कांग्रेस के अध्यक्षपद से १९०६ ई० में सर्वप्रथम स्वराज्य शब्द का प्रयोग करने वाले दादाभाई नौरोजी ने उसे सत्यार्थप्रकाश और स्वामी दयानन्द से श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा के माध्यम से ग्रहण किया था। सन् १९८० ई० में सार्वभौम आर्य-महा-सम्मेलन के अवसर पर लन्दन जाने पर यह बात पुष्ट हुई कि शुरू-शुरू में श्यामजी कृष्ण वर्मा के निवास-स्थान पर आर्यसमाज का सत्संग लगता था। उस सत्संग में दादाभाई नौरोजी भी नियमपूर्वक जाया करते थे और आर्यसमाज की उपस्थिति-पंजिका में नौरोजी के कई जगह हस्ताक्षर हैं। जो नौरोजी आर्यसमाज के सत्संग में जाते थे, वे सत्यार्थप्रकाश से अपरिचित रहे हों, यह सम्भव नहीं; और जो सत्यार्थप्रकाश से परिचित हो, वह स्वराज्य शब्द से अपरिचित रह जाय, यह सम्भव नहीं। इसलिए नौरोजी ने स्वराज्य शब्द सत्यार्थप्रकाश से लिया, यह सत्य है। (आर्यजगत् का आर्य क्रान्तिवीर अंक, २१ फरवरी १९८२, पृ० ८)

१८ फरवरी १९०५ ई० को उन्होंने भारत द्वारा होमरूल (स्वराज्य) प्राप्त करने के प्रयत्नों को संगठित करने की दृष्टि से **इण्डियन होमरूल सोसायटी** की स्थापना की। इस संस्था के उद्देश्य थे—(१) भारत में होमरूल की स्थापना, (२) इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए इंग्लैण्ड में सब तरह के आवश्यक कार्य करना, (३) भारत की जनता में स्वतंत्रता तथा राष्ट्रीय एकता के सम्बन्ध में ज्ञान का प्रसार करना। इसके अध्यक्ष श्यामजी तथा उपाध्यक्ष सरदारसिंह राणा, जे० एम० पारीख, अब्दुल्ला सुहरावर्दी और गोडरेज तथा मन्त्री जे० सी० मुखर्जी नियुक्त हुए। इन सबकी ओर से यह घोषणा की गयी कि हमारा उद्देश्य भारतीयों के लिए, भारतीयों के द्वारा और भारतीयों की सरकार स्थापित करना है। १९०५ ई० के वातावरण को देखते हुए यह बड़ा क्रान्तिकारी उद्देश्य था।

इसके साथ ही यह भी घोषणा की गयी कि शीघ्र ही एक ऐसे भवन की स्थापना की जाएगी, जिसमें भारत से फैलोशिप (छात्रवृत्ति) लेकर आने वाले लोगों तथा छात्रों के खेल-कूद, खाने-पीने, मनोरंजन आदि के लिए एक छात्रावास बनाया जाएगा। इस घोषणा को क्रियात्मक रूप देने के लिए श्यामजी ने एक लाख से अधिक रुपया व्यय करके क्रामवेल एवेन्यू हाईगेट में मकान नम्बर ६५ खरीदा और उसका नाम **इण्डिया हाउस** (भारत भवन) रखा।[1] शीघ्र ही यहाँ उस समय के सुप्रसिद्ध भारतीय क्रान्तिकारी आने लगे जैसे—भाई परमानन्द, लाला हरदयाल, भाई परमानन्द, विनायक दामोदर सावरकर, मदनलाल ढींगरा। पहली जुलाई १९०५ ई० को श्यामजी ने ब्रिटिश समाजवादी दल के नेता हिण्डमैन से 'भारत भवन' का उद्घाटन-समारोह कराया। इस अवसर पर आयर्लैंड के स्वाधीनता-संग्राम में भाग लेने वाले कई नेता तथा उदार विचार रखने वाले अंग्रेज भी सम्मिलित हुए। श्यामजी का यह प्रयत्न था कि भारत की स्वतन्त्रता के आन्दोलन में अधिक-से-अधिक ब्रिटिश नेताओं का सहयोग प्राप्त किया जाय। इस समारोह में अनेक भारतीय छात्र और दादाभाई नौरोजी, लाला लाजपतराय, मादाम कामा, आदि आये थे। इस प्रकार लन्दन में पहली बार भारतीय तथा भारत की आकांक्षाओं से सहानुभूति रखने वाले अंग्रेज एक मंच पर एकत्र हुए। अगले कुछ वर्षों तक 'इण्डिया हाउस' इंग्लैण्ड में भारतीय राजनैतिक गतिविधियों तथा कार्यकलापों का सबसे बड़ा केन्द्र बना रहा।

---

१. क्रान्तिकारी क्षेत्रों में कई बार यह प्रश्न उठाया जाता है कि श्री श्यामजी कृष्णवर्मा को लन्दन में इतना बड़ा मकान खरीदने और आक्सफोर्ड आदि ब्रिटिश विश्वविद्यालयों में पढ़ने के लिए भारतीय विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ देने, अखबार निकालने तथा लाला हरदयाल आदि क्रान्तिकारियों की सहायता करने के लिए पैसा कहाँ से आता था? इस कारण कुछ व्यक्तियों ने उन पर सरकारी गुप्तचर होने का भी सन्देह किया। उनका प्रधान स्रोत कम्पनियों के शेयरों से होने वाली आमदनी थी। वे अपने जीवन के अन्तिम समय तक नियमित रूप से लंदन, पेरिस तथा जेनेवा के स्टाक एक्सचेंज में जाते रहे। उनमें इस विषय में बड़ी पैनी दृष्टि थी कि किन कम्पनियों के शेयरों के दाम बढ़ने वाले हैं। वे इनके शेयर खरीदकर बड़ा लाभ कमा लेते थे। जापान द्वारा रूस की पराजय के बाद जापानी कंपनियों के शेयरों के लाभांश काफी ऊँचे हो गये थे। श्यामजी ने इस स्थिति का पूरा लाभ उठाया।

निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रतिपादन—इस समय श्यामजी कृष्ण वर्मा भारत की स्वतन्त्रता पाने का प्रमुख साधन सरकार से असहयोग करना समझते थे। उन्होंने इसका प्रतिपादन करते हुए लिखा था कि हम उग्रतम रूप में असहयोग को अपनाकर अंग्रेजों को भारत छोड़ने के लिए बाधित कर सकते हैं। इस बात को उन्होंने अनेक सुप्रसिद्ध ब्रिटिश लेखकों—मेरेडिथ टाउनसैण्ड, जे० आर० सीले के ग्रन्थों के अवतरणों से पुष्ट करते हुए कहा था कि "यदि भारतीय अंग्रेजों को सहयोग न दें तो उनका शासन एक ही रात में धराशायी हो सकता है। अतः भारत से अंग्रेजों को हटाने के लिए हमें शस्त्रों की आवश्यकता नहीं है।" रूस के विचारक तालस्ताय का एक उद्धरण देते हुए उन्होंने कहा कि यदि २० करोड़ भारतीय अंग्रेजों के आदेशों का पालन न करते, टैक्स न देते, विजेताओं के पुरस्कारों से प्रलोभित न होते, अंग्रेजी कानून का पालन न करते तो अंग्रेज भारत को गुलाम नहीं बना सकते थे।

किन्तु शान्तिपूर्ण उपायों के समर्थक होते हुए भी श्यामजी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए हिंसापूर्ण उपायों का परित्याग करने के पक्ष में नहीं थे। उनका यह दावा था कि "भारतीयों को ऐसे उपायों का अवलम्बन करने का पूरा अधिकार है, क्योंकि भारतीय जनता की लूट और हत्या करने के लिए सबसे अधिक संगठित गिरोह अंग्रेजों का ही है। जब तक अंग्रेज स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन करने की स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं, तब तक हिंसक उपायों की आवश्यकता नहीं है। किन्तु जब सरकार प्रेस और भाषण की स्वतंत्रता पर पाबन्दियाँ लगाती है, भीषण दमन के उपायों का प्रयोग करती है तो भारतीय देश-भक्तों को अधिकार है कि वे स्वतन्त्रता पाने के लिए सभी प्रकार के सभी आवश्यक साधनों का प्रयोग करें। इनमें बहिष्कार के साधन पर अधिक बल दिया जाना चाहिए। हमारी कार्यवाही का प्रमुख साधन रक्त-रंजित नहीं है, किन्तु बहिष्कार का उपाय है। यह केवल व्यापारिक और बचकाना बहिष्कार नहीं है, अपितु इंगलिश राष्ट्र के सभी वर्गों का व्यापक बहिष्कार है। जिस दिन अंग्रेज भारत में अपने नौकर नहीं रख सकेंगे, पुलिस और सेना में जवानों की भर्ती नहीं कर सकेंगे, उस दिन भारत में ब्रिटिश शासन अतीत की वस्तु हो जायेगा।"[1]

श्यामजी के पत्र ने इस समय १८५७ ई० के प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम के बारे में एक निराली खोज प्रकाशित की, जो भारतीयों को क्रान्ति के लिए नयी प्रेरणा और स्फूर्ति देने वाली थी। जब अंग्रेजों ने १८५७ ई० की क्रान्ति को पूरी तरह कुचल दिया तो इसकी सफलतापूर्वक समाप्ति के लिए भगवान् को धन्यवाद देने के लिए शासकों द्वारा १८५९ ई० में एक आयोजन इंग्लैण्ड में किया गया। इसके लिए १ मई १८५९ ई० का दिवस निश्चित किया गया। किन्तु उस समय ब्रिटेन में ऐसे अनेक व्यक्ति थे जो भारतीयों द्वारा स्वाधीनता पाने के इस प्रयास को सर्वथा वैध समझते थे और इसे दबाने के लिए अंग्रेजों द्वारा की गयी अमानुषिक क्रूरताओं तथा भीषण अत्याचारों के आलोचक थे। उन्होंने इस धन्यवाद-समारोह (Thanksgiving Ceremony) का विरोध किया। ऐसे एक सज्जन इंग्लैण्ड में पोजिटिविस्ट नामक सम्प्रदाय (Positivist Community) के संस्थापक रिचर्ड कान्ग्रीव थे। इन्होंने धन्यवाद-दिवस के समारोह का विरोध

---

१. आर० सी० मजूमदार—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २/३१७-९

करने के लिए एक भित्ति-विज्ञापन (Placard) प्रकाशित किया। इसमें कहा गया था—"भारत में अंग्रेजों का पक्ष अन्यायपूर्ण है और हिन्दुस्तानियों का न्यायपूर्ण है। अत्याचारी के शासन को हराने का प्रयास वैध है। अंग्रेजों की सफलता सत्य पर पाशविक शक्ति की विजय थी। मानवता के नाम पर मैं सार्वजनिक रूप से धन्यवाद करने का विरोध करता हूँ। यह स्वतन्त्र जनता की राष्ट्रीय आकांक्षाओं के प्रतिकूल है। हम जिस ईसाइयत को स्वीकार करते हैं, उसकी भावनाओं के विरुद्ध है। इससे मानव-जाति की सब उच्च भावनाओं का हनन होता है।"[1] इसे सन् सत्तावन की क्रान्ति के अर्ध-शताब्दी के समारोह से ठीक पहले प्रकाशित किया गया था। यह सम्भवत: सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी विनायक दामोदर सावरकर की खोज थी, जो उन दिनों लन्दन के ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित पुराने सरकारी दस्तावेजों तथा अन्य ग्रन्थों के आधार पर इस क्रान्ति का नवीन इतिहास लिख रहे थे और 'इण्डिया हाउस' में रहते थे।

सन् सत्तावन का अर्धशताब्दी महोत्सव—मई १९०८ ई० में श्यामजी की प्रेरणा और सहयोग से श्री विनायक दामोदर सावरकर ने लन्दन के 'इण्डिया हाउस' में प्रथम भारतीय स्वातंत्र्य समर की पचासवीं स्वर्ण-जयंती मनाने का एक भव्य आयोजन किया। इसका उद्देश्य भारतीयों को १८५७ ई० की घटनाओं का वास्तविक अर्थ और महत्त्व बताना और इस प्रकार क्रान्तिकारी विचारधारा का प्रचार करना था। 'इण्डिया हाउस' को फूलों तथा दीप-मालाओं से सजाया गया। मंच के लाल परदे पर पुष्पमालाएँ, झण्डियाँ लगायी गयी। सन सत्तावन के शहीदों—रानी लक्ष्मीबाई, नाना साहब, बहादुरशाह, राजा कुंवरसिंह, मौलवी अहमद शाह आदि के चित्र पर्दे पर लगाये गये। समारोह के अध्यक्ष थे—श्यामजी के सहयोगी, गुजराती बैरिस्टर, पेरिस में जवाहरात के व्यापारी श्री सरदारसिंह राणा। ये अपने साथ सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी एवं धनाढ्य सालिसिटर की पत्नी तथा सोराबजी फ्रामजी पटेल की पुत्री भीखाजी आर० कामा का स्फूर्तिदायक सन्देश लाये थे। वन्दे मातरम् के गान के साथ कार्यवाही प्रारम्भ हुई। वी० वी० एस० अय्यर ने देशभक्तिपूर्ण राष्ट्रीय प्रार्थना की। श्री सावरकर ने अपने ओजस्वी भाषण में बहादुरशाह तथा नाना साहब के बलिदान का विस्तारपूर्वक बखान किया तथा भारतीय स्वातंत्र्य युद्ध के वास्तविक स्वरूप और महत्त्व पर प्रकाश डाला। अन्य वक्ताओं ने बिहार के राजा कुंवरसिंह तथा रानी लक्ष्मीबाई के क्रान्तिकारी कर्तृत्व की विवेचना की। अध्यक्ष के स्फूर्तिदायक भाषण के बाद लोगों ने भारत की स्वतन्त्रता के लिए व्रत लिया। छात्रों ने घोषणा की कि वे हैट लेकर एक-एक घर से दान एकत्र करेंगे, महान् विद्रोह का सन्देश हर भारतीय तक पहुँचा देंगे, हर एक के मन पर यह अंकित कर देंगे कि भारत के स्वाधीनता-संग्राम को जारी रखना कितना आवश्यक है। श्रीमती कामा ने इस कार्य के लिए प्रचुर धन दिया। समारोह की समाप्ति पर राष्ट्रीय गान के बाद १८५७ ई० की भाँति चपाती के रूप में प्रसाद बाँटा गया, ताकि लोगों को पता चल जाए कि क्रान्ति होने वाली है और वे उसके लिए तैयार हो जायँ। यह सारा समारोह श्यामजी की देख-रेख में उनके प्रोत्साहन से हुआ।

इसके बाद इंग्लैण्ड के भारतीय विद्यार्थियों में राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए बड़ा

---

१. मजूमदार—वही पुस्तक, खण्ड २, पृ० ३२०

जोश उत्पन्न हुआ। ब्रिटिश सरकार इससे इतनी अधिक चिंतित हो गयी कि उसने 'इंडिया हाउस' को क्रान्तिकारियों का महान् केन्द्र समझते हुए इसके चारों ओर गुप्तचरों का जाल बिछा दिया। भारतीय स्वातन्त्र्य युद्ध पर लिखी सावरकर की पुस्तक को छपते ही जब्त कर लिया। इसका उद्देश्य बर्लिन से छपने वाले **'मदनलाल तलवार'** नामक क्रान्तिकारी भारतीय पत्र के शब्दों में यह था कि "यह भारतीयों में दूसरे स्वतन्त्रता-संग्राम के लिए जोश पैदा करना चाहती है।" यह पुस्तक अपने उद्देश्य में पूर्ण रूप से सफल हुई। दो पीढ़ियों तक भारतीय राष्ट्रवादी इससे प्रेरणा पाते रहे; लाला हरदयाल ने गदर नामक पत्र में इसका किश्तों में धारावाहिक प्रकाशन किया। लन्दन में क्रान्तिकारियों की गतिविधियों तथा गुप्त पुलिस द्वारा अत्याचार बढ़ने पर श्यामजी लन्दन को असुरक्षित समझ इसे छोड़कर पेरिस चले गये और वहाँ से क्रान्तिकारी कार्यों का संगठन करने लगे। इस समय उन्होंने पेरिस जाने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा था—

"ठीक दस वर्ष पहले जब हमारे मित्र बाल गंगाधर तिलक और नाटू बन्धु पकड़े गये, तब हमने भारत छोड़कर इंग्लैण्ड में बसने का निर्णय किया। अब एक अन्य मित्र लाला लाजपतराय को निर्वासित किया गया है। अब हमारे भाग्य में इंग्लैण्ड छोड़ना बदा है। बड़ा व्यय करके वैयक्तिक असुविधा उठाकर हम पेरिस को मुख्यालय बना रहे हैं। हमारा पूर्ण विश्वास है कि जो भारतीय राष्ट्र की स्वतन्त्रता के प्रेमी हैं, वर्तमान अत्याचारी ब्रिटिश शासन से देश को मुक्त कराना चाहते हैं, वे ब्रिटिश साम्राज्य की सीमाओं में सुरक्षित नहीं हैं। इंग्लैण्ड भारत के अतिरिक्त सभी देशों की पीड़ित जनता को सुरक्षित शरण-स्थल प्रदान करता है।"

(३) ढींगरा काण्ड

इसी बीच में पंजाबी नवयुवक मदनलाल ढींगरा ने भारत-मन्त्री के कार्यालय (इंडिया आफिस) में एडीकाँग का काम करने वाले सर विलियम कर्जन वायली की हत्या करके बड़ी सनसनी पैदा की। इसका श्यामजी पर तथा उनके साथ आर्यसमाज के सम्बन्धों पर काफी प्रभाव पड़ा। अतः यहाँ इस घटना की चर्चा आवश्यक प्रतीत होती है।

श्री मदनलाल ढींगरा का जन्म १८८७ ई० में अमृतसर जिले के एक प्रतिष्ठित कुल में हुआ था। इनके पिता वायली के मित्र थे। उन्होंने १९०६ ई० में बी० ए० पास करने के बाद मदनलाल को उच्च शिक्षा पाने के लिए इंग्लैण्ड भेजा और यह वहाँ १९ अक्तूबर से यूनिवर्सिटी कालिज (गावर स्ट्रीट) में इंजीनियरिंग पढ़ने लगे। इंग्लैण्ड पहुँचने पर ये 'इंडिया हाउस' गये और मार्च १९०८ ई० से छः मास तक वहीं रहे। इन पर वहाँ के क्रान्तिकारी वातावरण का गहरा प्रभाव पड़ा। विनायक दामोदर सावरकर ने इन्हें अपने गुप्त क्रान्तिकारी संगठन "अभिनव भारत" का सदस्य बनाया, इन्हें क्रान्ति और आतंकवाद का पाठ पढ़ाया। एक बार सावरकर ने इनकी परीक्षा लेने के लिए इनके हाथों में कील इतने जोर से ठोका कि खून बहने लगा। किन्तु ढींगरा इस भीषण दर्द में भी हँसता रहा। श्यामजी कृष्ण वर्मा, लाला हरदयाल आदि के सम्पर्क में आने पर इनमें क्रान्ति की भावना इतनी उग्र हो गयी कि इनमें किसी अंग्रेज का वध करने की भावना बलवती हुई।

इन दिनों भारत में ब्रिटिश सरकार क्रान्तिकारियों को कड़ी सजाएँ दे रही

थी। खुदीराम बोस, कन्हाईलाल दत्त, हेमचन्द्र दास तथा गणेश दामोदर सावरकर को प्राणदण्ड और आजन्म कारावास के दण्ड दिये जा चुके थे। अतः ढींगरा और उसके क्रान्तिकारी मित्रों—ज्ञानचन्द वर्मा और कोरेगाँवकर ने इनका बदला ब्रिटिश साम्राज्य की राजधानी लंदन में लेने का निश्चय किया। इसके लिए कर्जन वायली को चुना गया क्योंकि वह लन्दन में क्रान्तिकारी विचार रखने वाले देशभक्त छात्रों के विरुद्ध भारत-मन्त्री से शिकायतें करता रहता था। वायली के वध के लिए ढींगरा ने निशाना लगाने का कई महीने तक अभ्यास किया। सावरकर की सहायता से लन्दन में एक रिवाल्वर खरीदी गयी। एक अन्य व्यक्ति से बेल्जियम में बनी पिस्तौल क्रय की गयी। ढींगरा ने अपना निशाना लगाने के अभ्यास का रिकार्ड रखा। इसी समय एक अन्य घटना से उन्होंने वायली को ही निशाना बनाने का निश्चय किया। ऐसा प्रतीत होता है कि ढींगरा के पत्रों से अमृतसर में उसके भाई को उसकी क्रान्तिकारी आतंकवादी प्रवृत्तियों का कुछ आभास हो गया था। उसने सर कर्जन वायली को इस बारे में ढींगरा को समझाने के लिए लिखा था। इससे ढींगरा और भड़क गया; उसका कहना था कि अंग्रेज हमारे निजी मामले में दखल देने वाले कौन होते हैं? उसे अपने विचारों तथा कार्यों में ऐसा हस्तक्षेप असह्य था। रिवाल्वर से अचूक निशाना लगाने में सिद्धहस्त होने के बाद वे अपने शिकार के लिए उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करने लगे।

पहली जुलाई को सर कर्जन वायली ने इम्पीरियल इंस्टीट्यूट जहाँगीर हाउस में इंडियन नेशनल एसोसियेशन की वार्षिक बैठक के अवसर पर एक प्रीतिभोज (ऐट होम) दिया। इस अवसर पर बहुत-से भारतीय तथा अंग्रेज एकत्र हुए। ढींगरा भी इसमें आमन्त्रित थे। वे जेब में छः चेम्बर का रिवाल्वर और मुँह पर मोहक मुस्कान लिये कमरे में आये। सात महीने से चिरप्रतीक्षित अवसर उन्हें अब मिल रहा था। सावरकर व अय्यर ने मार्ग-दर्शन के लिए कोरेगाँवकर को भेजा। जब वायली हॉल में प्रविष्ट हुआ तो कोरेगाँवकर ने ढींगरा को देखा और जब शिकार हॉल से बाहर निकलने वाला था तो कोरेगाँवकर ने कहा—अजी जाओ न, क्या करते हो? कार्यक्रम की समाप्ति पर वायली निमन्त्रित लोगों से अन्तिम बात करने लगा। जब वह अपने मित्र के पुत्र मदन-लाल ढींगरा से मिलने के लिए उसकी ओर बढ़ा और बात करने के लिए मुँह खोला तो ढींगरा ने बहुत पास से गोली चलायी। कुछ क्षणों में एडीकांग धराशायी हो गया। लाल काका नामक राजभक्त ने ढींगरा को पकड़ने का प्रयास किया। उसे भी ढींगरा ने गोली का निशाना बना दिया। हॉल में चारों ओर खलबली मच गयी। लोग इधर-उधर भागने लगे। कुछ समय बाद काम पूरा हो चुकने पर ढींगरा ने रिवाल्वर फैंक दिया। इस पर लोग ढींगरा के पास आकर उसके हाथ बाँधने लगे। उस समय ढींगरा ने हँसते हुए कहा—"भाई, मुझे चश्मा तो ठीक तरह से लगा लेने दीजिये, इसके बाद हाथ बाँधते रहिये।" इस समय हॉल में विद्यमान एक डॉक्टर का कहना था कि वहाँ विद्यमान हर व्यक्ति घबरा रहा था, उसका दम फूल रहा था, केवल ढींगरा ही शान्त, स्थिर और ऐसा अविक्षुब्ध था कि जैसे कुछ हुआ ही नहीं।

इस समाचार ने भारत और इंग्लैण्ड में सर्वत्र सनसनी फैला दी। ढींगरा के राजभक्त पिता ने घोषणा की—"यह लड़का मेरा नहीं है। इस बेवकूफ ने मेरे मुँह पर कालिख पोत दी है।" इस हत्या-काण्ड पर रोष तथा निन्दा प्रकट करने के लिए बुलायी

गयी कैक्सटन हॉल की एक सभा में मदनलाल के भाई ने सबके सामने दुःख और लज्जा प्रकट की। ढींगरा की निन्दा करने वाला प्रस्ताव पढ़ा। सावरकर ने इसका विरोध किया। ४ जुलाई को 'इंडिया हाउस सोसायटी' के बाहर भारतीयों की बैठक इस हत्या-काण्ड की प्रशंसा करने के लिए हुई। इस अवसर पर श्री वी० एस० अय्यर ने कहा—"ढींगरा ने गौरवपूर्ण कार्य किया है।" सावरकर का कहना था—"यह हमारा प्रारम्भिक पग है। अभी तो मैंने अपने भाई का बदला लेना है।"

जेल में ढींगरा का व्यवहार स्थितप्रज्ञ योगी जैसा था। ब्रिक्स्टन जेल में ढींगरा ने अपने दोनों भाइयों से मिलने से इनकार कर दिया। किन्तु जब सावरकर ने इनसे कारागार में पूछा कि "मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूँ" तो ढींगरा ने मुस्कराते हुए कहा—"एक आईना मिल जाए तो लाना। जरा यह देख सकूँगा कि मैंने कपड़े तो ठीक ढंग से पहन रखे हैं।"

अदालत में ढींगरा का व्यवहार बड़ा गौरवपूर्ण था। उन्होंने अपना अपराध छिपाने का कोई प्रयास नहीं किया। उसे स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हुए कहा—"मैं चाहता हूँ कि अंग्रेज मुझे फाँसी की सजा दें, क्योंकि उस अवस्था में मेरे देशवासियों के अन्दर प्रतिकार की भावना और भी अधिक तीव्र होगी। मैं यह वक्तव्य इसलिए दे रहा हूँ कि संसार को, विशेषकर अमरीका में हमारे समर्थकों को यह पता लग जाये कि हमारा यह पुण्य कार्य न्यायपूर्ण है।" जब न्यायाधीश ने उन्हें फाँसी की सजा दी तो उन्होंने उसका आभार प्रकट करते हुए कहा—"श्रीमन्, मैं अपने देश की ओर से आपका धन्यवाद करता हूँ। मुझे इस बात का गर्व है कि मैं देश के लिए अपने प्राणों का बलिदान कर रहा हूँ। मेरे जैसे धन-बुद्धिहीन भारत माता के पुत्र के पास अपना रक्त ही बलिदान करने के लिए है। मैं मातृभूमि की बलिवेदी पर अपने प्राणों का उत्सर्ग कर रहा हूँ।" विश्व के क्रान्तिकारियों के इतिहास में अपनी भरी जवानी में जानबूझकर मातृभूमि को बन्धनमुक्त करने के लिए अपना जीवन अर्पण करने के इस प्रकार के उदाहरण बहुत ही कम हैं।

१५ अगस्त को ढींगरा को फाँसी दी जानी थी। इससे एक दिन पहले ब्रिटिश दैनिक पत्र 'डेली न्यूज' ने ढींगरा का **'चुनौती'** नामक वह ऐतिहासिक वक्तव्य प्रकाशित किया, जिसमें ढींगरा ने अपने कार्य के मूल उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा था—"मैं यह मानता हूँ कि मैंने जानबूझकर और एक विशेष उद्देश्य से एक अंग्रेज का खून बहाया है। भारतीय नवयुवकों को कालापानी और फाँसी की अमानुषिक सजायें दी जा रही हैं। उनके विषय में यह मेरा नम्र विरोध है। इस विषय में मैंने सिवाय अपनी अन्तरात्मा के किसी से मन्त्रणा नहीं की है। सिवाय अपने कर्तव्य के किसी के साथ षड्यन्त्र नहीं किया। मेरी धारणा है कि जिस राष्ट्र को उसकी इच्छा के विरुद्ध गुलाम बनाया जाता है, वह सदा ही युद्ध की अवस्था में रहता है। मेरे लिए खुली लड़ाई सम्भव न थी। इसलिए मैंने एकाएक प्रहार किया, क्योंकि मुझे तोप न मिली, मैंने रिवाल्वर निकाला और गोली मार दी। हिन्दू होने के कारण मैं अनुभव करता हूँ कि मेरे राष्ट्र का दासत्व मेरे परमात्मा का अपमान है। मातृभूमि का कार्य स्वतन्त्रता का कार्य है। इसकी सेवा श्रीकृष्ण की सेवा है। मैं न धनी हूँ और न योग्य। इसलिए मेरे जैसा गरीब बेटा माता की मुक्ति की वेदी पर अपने जीवन को छोड़कर अन्य कुछ भेंट नहीं कर सकता है। इस कारण मैं अपने बलिदान के विचार पर प्रसन्न हो रहा हूँ।

"भारत और इंग्लैण्ड के बीच में यह युद्ध उस समय तक चलता रहेगा जब तक हिन्दू और अंग्रेज जातियाँ जीवित हैं। आत्मा अमर है। यदि मेरे देशवासियों में से हर एक मरने से पहले कम-से-कम दो अंग्रेजों की जान ले ले तो माता की मुक्ति एक दिन का काम है। भारत की स्वतन्त्रता के साथ यह युद्ध समाप्त न होगा। यह तो तब तक चलेगा जब तक संसार में हिन्दू और अंग्रेज जातियाँ रहती हैं। जब तक हमारा देश स्वतन्त्र नहीं हो जाता है तब तक श्रीकृष्ण हमें इन शब्दों द्वारा प्रबोधित करते ही रहेंगे—"यदि तुम युद्ध करते हुए मर जाते हो तो तुम्हें स्वर्ग प्राप्त होगा। यदि सफल होते हो तो पृथिवीतल पर राज्य करोगे।

"मेरी हार्दिक प्रार्थना यह है कि मैं फिर भारत भूमि में जन्म लूँ और फिर इस पुनीत कार्य के लिए मरता रहूँ, जब तक कि मेरा उद्देश्य पूरा न हो जाये और मातृभूमि मानवता के हित तथा परमात्मा के गौरव के लिए बन्धनमुक्त न हो जाये।"[1]

प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्धों में प्रधानमन्त्री बनने वाले लायड जार्ज तथा विन्स्टन चर्चिल ने ढींगरा की देशभक्तिपूर्ण भावनाओं की बड़ी प्रशंसा की थी। कहा जाता है कि चर्चिल ने यह सारा वक्तव्य कण्ठस्थ कर लिया था और इसके अन्तिम शब्दों के बारे में लायड जार्ज से कहा था—"देशभक्ति के नाम पर जो भी शब्द संसार में कहे गये हैं, उनमें सबसे उत्तम शब्द यही हैं।"[2]

फाँसी की सजा सुनाये जाने से एक दिन पूर्व जब जेल में श्री सावरकर ने इनसे भेंट की थी तो उन्होंने इनके सम्मुख नतमस्तक होकर तीन अन्तिम इच्छायें प्रकट की थीं—(१) इनका दाहकर्म हिन्दू रीति के अनुसार किया जाये। (२) उनके सगे भाइयों या अहिन्दुओं को उनके शव को न छूने दिया जाये। (३) **अन्त्येष्टि के समय वैदिक मन्त्रों का उच्चारण हो।** उनकी सभी वस्तुएँ पुस्तकें, कपड़े नीलाम करके रुपया राष्ट्र के कोष में जमा कर दिया जाये।

ढींगरा-काण्ड के समय श्यामजी पेरिस में थे, किन्तु अनेक ब्रिटिश समाचार-पत्रों ने इसमें श्यामजी की प्रेरणा तथा हाथ होने का सन्देह किया और यह कहा कि श्यामजी पर इस विषय में मुकद्दमा चलाया जाये और उन्हें ब्रिटिश सरकार को सौंपने के लिए फ्रांस की सरकार को कहा जाना चाहिए। अतः श्यामजी ने इस मामले में अपनी स्थिति स्पष्ट करना आवश्यक समझा। एक वक्तव्य में उन्होंने कहा कि वायली उनके मित्र थे, अतः व्यक्तिगत रूप से उन्हें वायली की मृत्यु से खेद है। किन्तु न्यायालय की पूछताछ के समय ढींगरा ने जो देश-भक्ति एवं साहस से भरा वक्तव्य दिया है, उससे यह स्पष्ट है कि यह हत्या विशुद्ध राजनैतिक आधार पर की गयी है और मैं समझता हूँ कि इसका कर्ता भारतीय स्वतन्त्रता की दृष्टि से शहीद है।"[3]

श्यामजी ने अपने चारपृष्ठीय पत्र 'इंडियन सोशियोलोजिस्ट' में 'इंग्लैण्ड में भारतीय बलिदान' के शीर्षक से एक लेख लिखा था—"ढींगरा का वक्तव्य भारत की स्वतन्त्रता के लिए है। उन्होंने अकेले ही ब्रिटिश भूमि पर खड़े होकर समुद्री डाकू ब्रिटेन

---

१. होम (पो० बी० सितम्बर १९०९ ई०, सं० ४९) भारत का राष्ट्रीय अभिलेखागार

२. डब्ल्यू० एस० ब्लण्ट डायरीज, दूसरा भाग, धर्मवीरकृत लाला हरदयाल (पृष्ठ १३९ से उद्धृत)

के अत्याचार को ललकारा है। विशाल राजनैतिक अनुभव रखने वाले एक अमरीकी मित्र ने ठीक ही कहा है—भारत के इतिहास में ढींगरा सर्वाधिक विलक्षण व्यक्तियों में से है।" इसके साथ ही उन्होंने यह भी घोषणा की कि "ढींगरा ने अपने को विपत्ति में डालकर जिस प्रकार यह साहसिक कार्य किया है, उसकी स्मृति में मैं चार छात्रवृत्तियाँ देने की घोषणा करता हूँ। ये उसी प्रकार की होंगी जैसी खुदीराम, प्रफुल्ल चाकी, कन्हाई-लाल और सत्येन्द्र की स्मृति में घोषित हुई थीं।"

इन्हीं दिनों श्यामजी ने लाला हरदयाल को पेरिस में रखकर "बन्दे मातरम्" नामक राष्ट्रीय पत्र का प्रकाशन किया था। इसके एक अंक में श्यामजी ने एक ब्रिटिश पत्रकार नेविन्सन के एक लेख के इस मन्तव्य का खण्डन किया था कि आर्यसमाज का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है।

पेरिस में की गयी उनकी इस घोषणा का प्रभाव भारत में आर्यसमाज पर पड़ा। ब्रिटिश सरकार श्यामजी को आतंकवाद का समर्थक और राजद्रोही समझती थी। श्यामजी का सम्बन्ध चूँकि आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द से था, अतः ब्रिटिश-पत्रों ने इस समय यह प्रचार करना शुरू किया कि आर्यसमाज राजद्रोही संस्था है। लन्दन के सुप्रसिद्ध पत्र 'टाइम्स' के विशेष संवाददाता वेलेण्टाइन शिरोल ने अपने लेखों में तथा 'इण्डियन अनरैस्ट' नामक पुस्तक में इसी आधार पर आर्यसमाज को बगावत फैलाने वाली संस्था बताया। पटियाला अभियोग के सरकारी वकील ग्रे ने श्यामजी के कारण आर्यसमाज के राजद्रोही होने को प्रमाण के रूप में पेश किया था। इसका विस्तृत विवरण पहले अध्यायों में किया जा चुका है।

आर्यसमाज के नेता लाला हंसराज ने आर्यगजट लाहौर के १२ आषाढ़ १९६५ वि० (१९०८ ई०) के अंक में तथा आर्य प्रतिनिधि-सभा पंजाब के मुखपत्र तथा आर्यसमाज की सबसे पुरानी **आर्य-पत्रिका** के २४ जुलाई १९०९ ई० के अंक में उपर्युक्त आरोपों का प्रबल खण्डन किया था। इस समय आर्यसमाज स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए हिंसक उपायों के अवलंबन करने का उग्र विरोधी था, अतः उसने श्यामजी का विरोध किया, उनसे सम्बन्ध-विच्छेद की घोषणा की। दूसरी ओर श्यामजी भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए शान्ति-पूर्ण साधनों को आवश्यक समझते हुए भी आवश्यकता पड़ने पर हिंसक उपायों का उपयोग करना वांछनीय समझते थे। दोनों में यह इतना बड़ा सैद्धान्तिक मतभेद था कि उसमें समन्वय तथा सामंजस्य स्थापित करना सम्भव नहीं था। उस समय आर्य नेता यह समझते थे कि सरकार आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था सिद्ध करके कुचलना चाहती है। अतः उन्होंने ऐसा सिद्ध करने वाले अन्य प्रमाणों की भाँति इसका भी उग्र खण्डन किया। उस समय आत्मरक्षा की दृष्टि से उनका कार्य समीचीन था, किन्तु भारत की स्वतन्त्रता को शीघ्र प्राप्त करने की दृष्टि से सम्भवतः वर्तमान पीढ़ी को श्यामजी का देशभक्तिपूर्ण दृष्टिकोण उचित प्रतीत होगा।

१९१४ ई० में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने से पहले फ्रांस और इंग्लैण्ड के सम्बन्ध अतीव मित्रतापूर्ण और घनिष्ठ हो गये। १९१४ ई० के अप्रैल में ब्रिटिश सम्राट् जार्ज पंचम पेरिस गये। फ्रांस में इस पर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की गयी। श्यामजी को यह आशंका हुई कि दोनों देशों के सम्बन्ध प्रगाढ़ होने पर उनके लिए पेरिस में रहकर भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के लिए क्रान्तिकारी कार्य जारी रखना अधिक देर तक सम्भव नहीं

होगा। अतः वे वहाँ से स्विट्रजरलैण्ड चले गये और जेनेवा में रहने लगे। स्विस सरकार ने अपने तटस्थ देश में राजनैतिक प्रचार-कार्य करने से मना कर दिया। अतः कुछ समय बाद उनका पत्र 'इण्डियन सोशियोलोजिस्ट' बन्द हो गया। ३० मार्च १९३० ई० को जेनेवा के एक हस्पताल में क्रान्तिकारियों के भीष्म पितामह का स्वर्गवास हुआ। अन्तिम समय तक अपने गुरु महर्षि स्वामी दयानन्द के प्रति वे अगाध भक्ति और श्रद्धा रखते थे। उन्होंने ऑक्सफोर्ड के अध्ययन-काल में स्वामीजी द्वारा लिखे गये पत्रों को बड़े प्रयत्न से सुरक्षित रखा। हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने पेरिस में उनसे ये पत्र प्राप्त किये थे। आर्यसमाज के क्रान्तिकारियों में उनका नाम अग्रगण्य है।

स्वामीजी का प्रभाव तथा उपलब्धियाँ—श्यामजी पर स्वामीजी के प्रभाव का उल्लेख करते हुए उनके सुप्रसिद्ध जीवनी-लेखक श्री इन्दुलाल याज्ञिक ने लिखा है[1] — "महर्षि दयानन्द के चरणों में बैठकर श्यामजी ने धार्मिक और सामाजिक सुधार के विचारों के साथ उनसे देश-भक्ति का पहला पाठ पढ़ा। स्वामीजी द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म में सन्निहित क्रान्तिकारी विचारों को प्रमाणित करने के लिए विशद व्याख्या आवश्यक नहीं है। आर्यसमाज इस पर उचित गर्व कर सकता है कि उसने एक से अधिक पीढ़ियों तक देश को ऐसे राष्ट्रीय नेता और वीर नवयुवक प्रदान किये हैं, जिन्होंने भारत की स्वतन्त्रता के लिए बड़े कष्ट उठाये हैं। मैडम ब्लैवट्स्की तथा कर्नल अल्काट ने स्वामीजी की शिक्षाओं का देश-भक्तिपूर्ण उत्साह पहले से ही भाँप लिया था और श्यामजी को अपनी तरुणाई के दिनों में यह उपदेश दिया था कि वे अपने देश की सर्वोच्च प्रतिष्ठा और विद्या की गरिमा अपने शासकों के देश में भी उच्च स्तर पर बनाये रखें, और मोनियर विलियम्स जैसे ब्रिटिश साम्राज्यवादी के सम्मुख नतमस्तक न हों। स्वामी जी अपनी रचनाओं में भारत के प्राचीन स्वर्णिम अतीत का बखान करते थे, वैदिक मन्त्रों के आधार पर स्वराज्य और चक्रवर्ती साम्राज्य की महिमा के गीत गाते थे। इनसे श्यामजी जैसे शिष्यों को राजनैतिक स्वतन्त्रता और शक्ति उसी साहस और वीरता के साथ प्राप्त करने की प्रेरणा मिली, जिससे स्वामीजी ने धार्मिक क्रान्ति का महान् कार्य सम्पन्न किया था।"

श्यामजी कृष्ण वर्मा द्वारा महर्षि से प्रेरणा प्राप्त करके स्वाधीनता के संघर्ष में की गयी दो उपलब्धियाँ विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं। उनकी पहली उपलब्धि लन्दन में 'इण्डिया हाउस' की स्थापना थी। उसने क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए नवयुवकों को समुचित वातावरण और प्रशिक्षण प्रदान किया। श्री विनायक दामोदर सावरकर, श्री मदनलाल ढींगरा जैसे व्यक्तियों ने देश के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग और प्राणों का बलिदान करने की प्रेरणा यहीं प्राप्त की थी। उनकी दूसरी उपलब्धि भारत की स्वतंत्रता के लिए विदेशों में प्रचार करना और ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत को स्व-शासन देने के बारे में उत्पन्न की गयी भ्रान्तियों का निराकरण करना था। इस दृष्टि से श्री श्यामजी वर्मा का कार्य अद्वितीय था।

---

१. इन्दुलाल याज्ञिक—श्यामजी कृष्ण वर्मा, पृ० १२८-२९

उन्नीसवाँ अध्याय

वेदों के क्रान्तिकारी व्याख्याकार पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

वैदिक वाङ्मय के क्षेत्र में अद्वितीय कार्य करने वाले और ४०० से अधिक पुस्तकों को लिखने वाले पण्डित सातवलेकर के कार्य से प्रायः सभी सुपरिचित हैं। किन्तु उन्होंने राजनैतिक क्षेत्र में जो कार्य किया है और वैदिक सूक्तों की क्रान्तिकारी व्याख्या करने के कारण ब्रिटिश सरकार द्वारा उन्हें दण्डित कराने के जो प्रयत्न किये गये और देश के स्वतन्त्रता-संग्राम में उन्होंने जो योगदान दिया है, उसकी जानकारी बहुत ही कम व्यक्तियों को है। यहाँ उनके राजनैतिक पक्ष की और क्रान्तिकारी विचारधारा की संक्षिप्त चर्चा की जायेगी।[1]

(१) आरम्भिक जीवन

भारत के पश्चिमी तटवर्ती कोंकण प्रदेश ने राष्ट्रीय क्षेत्र में विशिष्ट कार्य करने वाली अनेक महान् विभूतियों—लोकमान्य तिलक, गोखले, वीर सावरकर को उत्पन्न किया है; यही श्री सातवलेकर की जन्म-भूमि थी। सह्याद्रि पर्वत-माला के दक्षिण में हिरण्यकेशी नदी की घाटी में सावन्तवाड़ी से डेढ़ मील दूर कोलगाँव में दामोदर भट्ट और लक्ष्मीबाई के घर १९ सितम्बर १८६७ ई० को श्रीपाद का जन्म हुआ। इनका वंश उस प्रदेश में वेद-मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण के लिए विख्यात था और इसके अधिकांश व्यक्ति वैदिक मर्यादा का पालन करते हुए अधिकांश समय स्वाध्याय, जप आदि धार्मिक अनुष्ठानों में और तीन गाँवों के पौरोहित्य-कार्य में व्यतीत करते थे।

वंश-परम्परा के अनुसार श्रीपाद का उपनयन-संस्कार विधिवत् किया गया और मराठी स्कूल में प्रविष्ट करा दिया। बचपन से ये असाधारण प्रतिभाशाली थे। अपनी कक्षा में सदैव प्रथम स्थान प्राप्त किया करते थे। पाँचवीं के बाद प्राथमिक शाला में शिक्षा पूरी होने के बाद ये आगे हाई स्कूल में भर्ती होकर अंग्रेजी पढ़ना चाहते थे, किन्तु इनके अकिंचन पिता ने कहा—"हमें अंग्रेजी शिक्षा की आवश्यकता नहीं है। हम तुम्हारे लिए इतनी फीस नहीं दे सकते हैं।" यह स्मरणीय है कि उस समय अंग्रेजी स्कूल की फीस केवल आठ आने मासिक थी। सातवलेकर ने अपने घर पर ही अंग्रेजी पढ़ने का निश्चय

---

१. इसका विशेष विवरण श्री क्षितीश वेदालंकार द्वारा सम्पादित 'सातवलेकर अभिनन्दन-ग्रन्थ' में उपलब्ध है। इस अध्याय में इससे बहुमूल्य सहायता मिली है।

किया। अपने मित्रों से अंग्रेजी की पाठ्यपुस्तकें माँगीं और उनसे पूछ-पूछकर पढ़ता रहा। गाँव के एक सज्जन बलवन्तराय लुकतुके उन्हें अंग्रेजी पढ़ाने के लिए तैयार हो गये और दो-तीन वर्षों में उन्होंने अंग्रेजी का इतना ज्ञान प्राप्त कर लिया कि वे किसी भी विषय पर अंग्रेजी की पुस्तकों को पढ़कर समझ सकता था और पत्र-व्यवहार कर सकता था। इसके साथ ही उसे घर पर ऋग्वेद के सूक्तों का तथा पौरोहित्य में काम आनेवाले कर्मकाण्ड का ज्ञान कराया गया। श्री चिन्तामणि केलकर नामक विद्वान् अध्यापक से उन्होंने संस्कृत व्याकरण के ग्रन्थ पढ़ने शुरू किये। सिद्धान्त कौमुदी, मनोरमा और परिभाषेन्दुशेखर जैसे प्रौढ़ ग्रन्थों का अनुशीलन करते हुए वे शीघ्र ही महाभाष्य तक पहुँच गये।

संस्कृत के प्रति अनुराग होने के कारण उन्होंने अपने गाँव में संस्कृत व्याख्यान-मण्डल और संस्कृत वाग्विवर्धनी की स्थापना की। इसके सब सदस्य सप्ताह में एक बार संस्कृत में व्याख्यान देने और वाद-विवाद करने का आयोजन करते थे। संस्कृत के अतिरिक्त इन्हें चित्रकला में भी बड़ी अभिरुचि थी; इसे सीखने के लिए ये सावन्तवाड़ी के चित्रकला विद्यालय में आ गये। इनके पिता की इच्छा थी कि ये घर पर रहकर ही कुलक्रमागत पौरोहित्य परम्परा का पालन करें, किन्तु यह कार्य श्रीपाद की रुचि के अनुकूल नहीं था। दक्षिणा के लिए किसी के आगे हाथ पसारना उन्हें अच्छा नहीं लगता था। चित्रकला इन्हें अर्थकरी विद्या प्रतीत हुई। सावन्तवाड़ी में अपने गुरु मालवणकर से प्राकृतिक दृश्यों को तूलिका से अंकित करने में भी इन्होंने शीघ्र ही प्रवीणता प्राप्त कर ली थी।

अब अपनी उच्च शिक्षा के लिए उन्होंने बम्बई जाने का निश्चय किया। पिता नहीं चाहते थे कि ये बम्बई जाएँ। उन्होंने कहा—"कहीं बाहर जाने की मत सोचो, क्योंकि जो भी इस घर से बाहर गया, वह फिर लौटकर घर नहीं आया।" सातवलेकर के लिए बम्बई जाने में एक बड़ी कठिनाई थी : घर की आर्थिक परिस्थिति ऐसी नहीं थी कि पिता उनको इसके लिए कुछ सहायता दे सकते। अकस्मात् एक उदार यजमान ने श्रीपाद के पिता के पास पहुँचकर कहा—"मैं चाहता हूँ कि श्रीपाद जैसा होनहार युवक अधिक-से-अधिक योग्य बने। मैं उसे दस रुपये मासिक भेजता रहूँगा। आप उसे बम्बई भेज दीजिये।" इस पर दामोदर पन्त श्रीपाद को बम्बई भेजने के लिए सहमत हो गये। २३ वर्ष की आयु में श्रीपाद १८९० ई० में बम्बई के जे० जे० स्कूल ऑफ आर्ट्स में प्रविष्ट हुए। उस समय स्कूल का अंग्रेज प्रिंसिपल ग्रिफिथ आयु में इनसे एक वर्ष छोटा था। ग्रिफिथ ने ही सर्वप्रथम विश्व-विख्यात अजन्ता की गुफाओं में बने चित्रों की अनुकृतियाँ तैयार करवाकर प्रकाशित की थीं और उस समय से विश्व के कला-मर्मज्ञों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ।

श्रीपाद ग्रिफिथ के प्रिय शिष्य थे। उन्हें श्रीपाद के दो चित्र इतने पसन्द आये कि उन्होंने पचास-पचास रुपये देकर इन्हें खरीद लिया। आर्ट्स स्कूल में उन्हें चित्रकला के लिएअनेक पुरस्कार और पदक मिले। दो बार स्कूल का सबसे अधिक प्रतिष्ठित पुरस्कार मेयो मैडल जीतने के कारण न केवल उन्हें बड़ी ख्याति मिली, अपितु जे० जे० स्कूल में शिक्षक के रूप में काम करने की नौकरी भी मिली। उस समय उनका वेतन यद्यपि पचास रुपये मात्र था, किन्तु वह आजकल के डेढ़-दो हजार रुपये से कम नहीं होगा। इसके साथ ही उस समय भारत के राजाओं, नवाबों और रईसों में अपने तथा परिवार के

विशिष्ट जनों का आदमकद चित्र बनवाने का फैशन-सा चल पड़ा था और एक पूरे पोर्ट्रेट का मूल्य एक हजार तक मिल जाता था। इसलिए श्री सातवलेकर ने नौकरी के स्थान पर अपना स्वतन्त्र व्यवसाय करना अच्छा समझा और हैदराबाद जाने का निश्चय किया, क्योंकि यह एक बड़ी रियासत थी। यहाँ के नवाबों और रईसों में बड़े कला-प्रेमी थे; कुछ नवाबों को कला-कृतियों के संग्रह का भी शौक था।

१९०१ ई० में श्रीपाद ने बम्बई से हैदराबाद आकर अपना स्टूडियो खोल लिया। बम्बई की अनेक प्रदर्शनियों में उनके चित्रों को मिली ख्याति उनसे पहले ही हैदराबाद पहुँच चुकी थी, अतः यहाँ पहुँचते ही उनका काम बहुत अच्छा चल निकला। रियासत के अनेक रईसों और नवाबों ने उन्हें अपने चित्र तैयार करने के आर्डर दिये। धीरे-धीरे इनकी ख्याति निजाम तक पहुँची और स्वयं उस्मान अली इनके बनाये चित्र देखकर इनके प्रशंसक हो गये। उन्होंने अपने तथा राज्य-परिवार के कई चित्र इनसे बनवाये।

आर्यसमाज में प्रवेश—हैदराबाद में स्वतन्त्र व्यवसाय करते हुए श्रीपाद का वहाँ के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं से परिचय हुआ। दो व्यक्तियों ने इन पर काफी प्रभाव डाला। एक थे वकील केशवराव कोरटकर और दूसरे थे श्री अघोरनाथ चट्टोपाध्याय। केशवराव कोरटकर स्वर्गीय विनायकराव विद्यालंकार के पिता और कट्टर आर्यसमाजी थे। श्री अघोरनाथ चट्टोपाध्याय श्रीमती सरोजिनी नायडू के पिता थे और हैदराबाद में राजनैतिक जागृति को उत्पन्न करने वाले थे। केशवराव कोरटकर के कारण श्रीपाद आर्यसमाज के सम्पर्क में आये। इस समय आर्यसमाज देश में सबसे बड़ी समाजसुधारक संस्था थी। उसके कार्यकर्ताओं में देश, धर्म और जाति के उत्थान की जैसी प्रबल आकांक्षा थी, वैसी किसी अन्य संस्था में नहीं थी। वैदिक धर्म के पुनरुद्धार और राष्ट्र के पुनर्निर्माण के लिए महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना की थी। श्रीपाद आर्यसमाज की ओर आकृष्ट हुए। उन्हें संस्कृत का पहले से ही अच्छा ज्ञान था और वैदिक धर्म-सम्बन्धी सभी ग्रन्थ उन्हें हैदराबाद में अनायास मिल गये। उन्होंने इनका बड़े मनोयोग से पारायण किया। वे महर्षि के भक्त बन गये। उन्होंने आर्यसमाज की सदस्यता ग्रहण कर ली और कभी-कभी आर्यसमाज में आर्य-संस्कृति पर व्याख्यान देने लगे। व्याख्यानों के कारण आर्यसमाज के क्षेत्र में उनकी लोकप्रियता बढ़ने लगी। स्वामीजी के ग्रन्थ उन्हें इतने पसन्द आये कि उन्होंने महर्षि दयानन्द के **'सत्यार्थ-प्रकाश'** और **'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका'** का मराठी में अनुवाद किया। बड़ौदा के महाराजा सर सयाजी गायकवाड़ बड़े सुधारवादी विचारों के थे। उन्होंने इन अनुवादों की प्रशंसा की और पण्डित सातवलेकर जी को पुरस्कृत भी किया। इससे आर्यसमाज में इनकी प्रतिष्ठा बढ़ गयी।

बाद में पण्डित सातवलेकर का आर्यसमाज से कुछ सैद्धान्तिक मतभेद हुआ, किन्तु महर्षि दयानन्द के प्रति उनकी निष्ठा में आमरण कोई अन्तर नहीं आया। सदैव उनका यह विचार बना रहा कि आर्यसमाज का प्रचार यदि भारतभर में हो जाये तो यह देश सशक्त विधर्मियों और विजातियों के लिए अनाधृष्य बन सकता है। आधुनिक युग में जिन महापुरुषों ने इस देश को नवजागरण का मन्त्र प्रदान किया है, उनमें वे महर्षि दयानन्द का बड़ा उच्च स्थान मानते थे। उनकी दृष्टि में वेदों के प्रति जनता का ध्यान आकृष्ट करने की दृष्टि से कोई अन्य नेता ऋषि दयानन्द सरस्वती के समकक्ष

नहीं है।

इसी समय हैदराबाद में वे अपने एक मित्र दत्तोअप्पाजी तुलजापुरकर के प्रभाव से थियोसोफिकल सोसायटी की साप्ताहिक सभाओं में जाने लगे। कई बार इन सभाओं में उनके व्याख्यान भी होते थे। इस सोसायटी के तीन उद्देश्य हैं—विश्वबन्धुत्व की भावना का प्रसार करना, धर्म-ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करना और सृष्टि एवं मानवीय रहस्यों का अनुसंधान करना। पण्डित सातवलेकर को इनकी अध्यात्म-ज्ञान की खोज का प्रयास सराहनीय प्रतीत होता था। १९०२ ई० से १९०७ ई० तक हैदराबाद में थियोसोफिकल सोसायटी से इनका सम्बन्ध रहा और इसी कारण इसकी प्रमुख नेता डॉक्टर एनी बीसेण्ट से इनका परिचय हुआ। आगे चलकर हम यह देखेंगे कि जब इन पर कोल्हापुर में राजद्रोह का अभियोग चलाया गया तो यह परिचय इनके लिए बड़ा लाभदायक सिद्ध हुआ।

(२) क्रान्तिकारी गतिविधियाँ

आर्यसमाज के साथ सम्पर्क में आने से पण्डित सातवलेकर में देशभक्ति की भावना प्रबल हुई। उन्होंने कुछ अन्य देशभक्त लोगों के सहयोग से हैदराबाद में **विवेकवर्धिनी** नामक संस्था की स्थापना की। इस संस्था में तीन कार्य मुख्य रूप से चलते थे—(१) व्यायामशाला, (२) लड़के-लड़कियों का स्कूल, (३) व्याख्यान-मण्डल। इन कामों में उनके प्रमुख सहयोगी केशवराव कोरटकर और वामनराव नाइक थे। विवेकवर्धिनी व्यायामशाला में तीन-चार सौ नवयुवक प्रतिदिन व्यायाम करने के लिए आया करते थे। वहाँ उनको व्यायाम के साथ-साथ क्रान्तिकारी देशभक्तिपूर्ण विचारों की भी शिक्षा मिलती थी। इस व्यायामशाला की कीर्ति शनैः-शनैः देशभक्तों में दूर-दूर तक फैलने लगी। बंगाल और मध्य प्रान्त आदि दूरवर्ती प्रदेशों से भी क्रान्तिकारी युवक इस व्यायामशाला में आने लगे।

यह अखाड़ा उन दिनों एक प्रकार से क्रान्तिकारियों का शरणस्थल बन गया था, क्योंकि यहाँ इनको कई प्रकार की सुविधाएँ थीं। ब्रिटिश भारत की तुलना में इस रियासत में सरकार की क्रान्तिकारियों पर इतनी कड़ी दृष्टि नहीं थी और हैदराबाद जीवन-निर्वाह की दृष्टि से बड़ा सस्ता था। उन दिनों यहाँ एक रुपये का बत्तीस सेर चावल मिलता था। सम्पन्न लोग उदारतापूर्वक क्रान्तिकारियों की सहायता किया करते थे। स्वयं हैदराबाद में भी जोशीले नवयुवकों की कमी नहीं थी। वे ब्रिटिश भारत से आने वाले क्रान्तिकारियों के सहयोग से अंग्रेजों को मार भगाने की नित नयी योजनाएँ बनाया करते थे। **युगान्तर** नामक बंगाली क्रान्तिकारी संस्था के भी कुछ सदस्य हैदराबाद में रह रहे थे। एक बार तो ऐसा भी अवसर आया कि देश-भर के बारह सौ क्रान्तिकारी यहाँ एकत्र हो गये। ब्रिटिश भारत में इतनी अधिक संख्या में क्रान्तिकारियों का किसी एक स्थान पर जमा होना सम्भव नहीं था। किन्तु यहाँ देशी रियासत होने के कारण अंग्रेज उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकते थे। कुछ नवयुवक गोला-बारूद बनाने में सिद्धहस्त थे और वे अन्य नवयुवकों को बम बनाना सिखाया करते थे। १९०९ ई० में नासिक में जो जैक्सन काण्ड हुआ उसमें सम्मिलित अनन्त कान्हेरे और पूना में सवारगेट के पास रहने वाले सन्त स्वामी शिवानन्द इसी व्यायामशाला की उपज बताये जाते थे।

उन दिनों महाराष्ट्र में पूना, नासिक आदि स्थानों पर क्रान्तिकारियों की जो योजनाएँ कार्यान्वित होती थीं, उनका सूत्रपात और श्रीगणेश हैदराबाद में होता था। यहीं पहले ये योजनाएँ बनायी जाती थीं। किन्तु इनकी रूपरेखा प्रायः हैदराबाद में ही तैयार होती थी। इन दिनों क्रान्तिकारियों को यहाँ एक बड़ी सुविधा यह भी थी कि रियासत में यातायात के साधनों का अभाव था। आसपास के गाँवों, जंगलों, और पहाड़ी प्रदेशों में कौन क्रान्तिकारी कितने दिन रहता है, इसकी कोई सूचना पुलिस अधिकारियों को नहीं मिल पाती थी। रियासत के कुछ पुराने घराने क्रान्तिकारियों की सहायता करने को भी तैयार रहते थे। विदेशों, विशेषतः जर्मनी और इटली से गुप्त रूप से पिस्तौल तथा अन्य हथियार यहाँ मँगाये जाते थे और यथास्थान पहुँचा दिये जाते थे। बाहर से आने वाले क्रान्तिकारी प्रायः बड़े नगरों की अपेक्षा छोटे कस्बों या गाँवों में ही ठहरते थे, किन्तु इन सबका केन्द्र विवेकवर्धिनी संस्था ही थी। बाद में जाकर इसने कॉलिज का रूप धारण कर लिया।

इस संस्था के व्याख्यान-मण्डल की ओर से बड़े-बड़े गाँवों और कस्बों में पण्डित सातवलेकर जी देशभक्ति पर व्याख्यान दिया करते थे। इन सभाओं के अध्यक्ष प्रायः श्रीमती सरोजिनी नायडू के पिता डॉक्टर अघोरनाथ चट्टोपाध्याय होते थे और सभाओं के आयोजन और अन्य व्यवस्था की सारी जिम्मेदारी श्री केशवराव कोरटकर पर होती थी। इस प्रकार सारा काम बँटा होने से सुव्यवस्थित रूप से चल रहा था।

इस समय तक भारतीय राजनीति में बंगभंग के बाद गरम दल के नेताओं का प्रभाव बढ़ने लगा था। पूना से लोकमान्य तिलक का **केसरी** इस समय देशभक्ति के भावों का और गरम दल के विचारों का प्रबल प्रचारक था। पण्डित सातवलेकर को तिलक के विचार बहुत पसन्द थे। उन्होंने अपना एक लेख लोकमान्य को भेजा और वह उन्हें इतना पसन्द आया कि उन्होंने इसे अपने पत्र में सम्पादकीय लेख के रूप में प्रकाशित किया। इसमें वैदिक मन्त्रों के आधार पर देशभक्ति की भावनाओं का बड़ा सुन्दर विवेचन किया गया था। **केसरी** जैसे सुप्रतिष्ठित पत्र में लेख प्रकाशित हो जाने पर पण्डित सातवलेकर का उत्साह बढ़ा और वे वैदिक विषयों का स्वाध्याय करके लेख लिखने लगे।

लोकमान्य तिलक ने स्वराज्य-प्राप्ति के लिए देश के सम्मुख चतुःसूत्री योजना प्रस्तुत की थी। इसके चार अंग थे—स्वराज्य, स्वदेशी, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा। पण्डित सातवलेकर ने हैदराबाद में लोकमान्य की चतुःसूत्री योजना को लोकप्रिय बनाने के लिए अपनी ओजस्विनी वाणी का सहारा लिया और इस विषय पर सर्वत्र अपने जोशीले भाषण देने शुरू किये। उनके व्याख्यानों की शैली इतनी प्रभावजनक थी कि उससे बड़े-बड़े सेठ-साहूकार स्वदेशी के भक्त बनने लगे; विदेशी कपड़े छोड़कर सादे स्वदेशी कपड़े पहनने लगे। हुजूर रामचन्द्र राव उस समय निजाम के रीडर थे। वे अपनी जरी की टोपी छोड़कर सादी टोपी पहने लगे। स्वदेशी के इस प्रचार से हैदराबाद का अंग्रेज रेजीडेण्ट घबरा गया। उसने निजाम से कहा कि राष्ट्रीयता, स्वराज्य एवं स्वदेशी का प्रचार करने में डॉक्टर चट्टोपाध्याय, केशवराव कोरटकर, सातवलेकर और तुलजापुरकर अग्रणी नेता हैं। इन्हें रियासत से बाहर निकाल दिया जाय ताकि यह राजद्रोही प्रचार बन्द हो जाय।

निजाम इनमें से किसी भी व्यक्ति से नाराज नहीं था। सातवलेकर से तो वह

उनके बनाये चित्रों के कारण अतीव प्रसन्न था। वह इनके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं करना चाहता था, किन्तु जब रेजीडेण्ट का इस बारे में अधिक दबाव पड़ा तो निजाम ने अपने रीडर रामचन्द्र राव की मार्फत पण्डित सातवलेकर के पास यह सन्देश भिजवाया—"आप यहाँ रहकर चित्रकारी से सहर्ष धनोपार्जन करें, किन्तु स्वदेशी के बारे में व्याख्यान देना छोड़ दें। उन व्याख्यानों से रेजीडेण्ट बहुत नाराज है, वह हमसे बार-बार कहता है कि सातवलेकर को रियासत से बाहर निकाल दो। यदि आपने व्याख्यान देना जारी रखा तो हमें न चाहते हुए भी आपको निर्वासित करना पड़ेगा।"

इस पर सातवलेकर ने उत्तर दिया—"हम तो स्वदेश-प्रेम और स्वदेशी वस्तुओं के सम्बन्ध में ही व्याख्यान देते हैं। इससे रियासत के व्यापार में वृद्धि होती है और यहाँ की जनता की समृद्धि होती है। देश का धन देश में ही रहता है। जनता के हितकारी काम को हम कैसे छोड़ सकते हैं? सरकार की जो इच्छा हो वह करने को स्वतन्त्र है।" इस समय श्री सातवलेकर का सारा समय आर्यसमाज और कांग्रेस के प्रचार तथा स्वाध्याय में बीतता था।

इन्हीं दिनों श्री सातवलेकर ने कोल्हापुर से निकलने वाले एक मराठी मासिक-पत्र **विश्ववृत्त** में '**वैदिक राष्ट्र-गीत**' के शीर्षक से एक लेख लिखा। इसमें अथर्ववेद के १२वें काण्ड के प्रथम सूक्त की विस्तृत व्याख्या करते हुए यह बताया गया था कि यह हमारा प्राचीनतम राष्ट्र-गीत है और इसमें राष्ट्रीयता के लिए आवश्यक सभी तत्त्वों का सुन्दर निरूपण किया गया है। इस लेख की ओर पहले तो सरकार का ध्यान नहीं गया, किन्तु जब इसे पुस्तकाकार छपवाया गया तो सरकार को इसमें राजद्रोह की गन्ध आयी। मराठी पुस्तक तो बम्बई में छपी थी और उसका हिन्दी अनुवाद प्रयाग में। हिन्दी की कुछ ही प्रतियाँ लेखक के पास पहुँच पायी थीं कि सरकार ने मराठी और हिन्दी दोनों पुस्तकें जब्त कर लीं। इसके बाद मार्च १९०८ ई० में उनका एक दूसरा लेख '**वैदिक प्रार्थनाओं की ओजस्विता**' शीर्षक से 'विश्ववृत्त' में प्रकाशित हुआ। इसे भी सरकार ने राजद्रोहपूर्ण समझा।

अब अधिक देर तक श्री सातवलेकर का हैदराबाद में रहना सम्भव नहीं था। उन्होंने हैदराबाद छोड़ने का निश्चय कर लिया। चट्टोपाध्याय तथा केशवराव तुलजा-पुरकर का अपराध केवल इतना ही था कि वे सातवलेकर के सहायक थे। व्याख्यानों और लेखों से स्वदेशी और राष्ट्रीयता का असली प्रचार-कार्य करने वाले सातवलेकर ही थे। चट्टोपाध्याय और केशवराव कई पीढ़ियों से हैदराबाद में रह रहे थे, बालबच्चेदार थे, उनके लिए हैदराबाद छोड़कर अन्यत्र जाना कठिन था। सातवलेकर बाहर से आये थे और उन्हीं के उग्र प्रचार-कार्य के कारण उनके तीनों मित्रों पर संकट था। अतः उन्होंने स्वयमेव अपने मित्रों की हितकामना से निर्वासन का आदेश मिलने से पहले ही हैदराबाद छोड़कर जाने का निश्चय किया। १९०७ ई० में वे रियासत से बाहर चले गये। अब उनके सामने यह समस्या थी कि वे कहाँ जाएँ? ब्रिटिश सरकार उनको लेखों के कारण राजद्रोही समझने लगी थी, अतः अब उन्हें इस बात का भरोसा नहीं था कि ब्रिटिश सरकार की कृपा पर आश्रित और उसकी सद्भावना पाने के लिए लालायित राजा और रईस उनसे उस हालत में चित्र बनवायेंगे, जबकि वे ब्रिटिश सरकार की आँख का काँटा बन चुके थे। अतः उन्होंने कोई नया कार्य करने का निश्चय किया।

ऐसे समय में उन्हें महात्मा मुंशीराम की याद आई। वे जालन्धर में अपनी वकालत को लात मारकर गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना कर चुके थे। यह हिमालय पर्वत की उपत्यका में गंगातट पर स्थित था। इसी ओर श्री सातवलेकर का ध्यान आकृष्ट हुआ और राष्ट्रीय शिक्षा के इस अभिनव परीक्षण की कीर्ति से आकृष्ट होकर वे गुरुकुल पहुँच गये। उन दिनों गुरुकुल प्राचीन काल के आश्रमों और तपोवनों का मूर्त रूप था। उस एकान्त, शान्त वातावरण में ब्रह्मचारियों द्वारा वेदाध्ययन और वेदपाठ उन्हें बड़ा आकर्षक लगा। जब सूर्योदय और सूर्यास्त के समय ब्रह्मचारी संध्या-हवन करते, वेदमंत्रों के घोष से वन्य प्रकृति का वातावरण गूँज उठता, तब ऐसा प्रतीत होता कि इस भूखण्ड पर प्राचीन ऋषि-मुनि विश्वामित्र, वसिष्ठ आदि के किसी आश्रम का अवतरण हो गया है। यहाँ ब्रह्मचारियों और अध्यापकों के निवास के लिए सादे कुटियानुमा मकान थे। इस प्रकार की एक कुटिया में सातवलेकर यहाँ रहने लगे। वे ब्रह्मचारियों को चित्रकला सिखाया करते थे; स्वयं वैदिक वाङ्मय का स्वाध्याय करने या योगाभ्यास में समय बिताते थे।

उन्हें यहाँ के ब्रह्मचारियों में राष्ट्रीयता की भावना, स्वतन्त्रता का प्रेम और साहसिक मनोवृत्ति बड़ी अच्छी लगी। उन्हें यह भी अनुभव हुआ कि लोकमान्य तिलक की चतुःसूत्री योजना में राष्ट्रीय शिक्षा की बात तो कही गयी है, इसे यहाँ पहली बार सुन्दर रूप में क्रियान्वित किया जा रहा है। इसी समय अरविन्द घोष और उनके भाई वारीन्द्र घोष ने बंगाल के क्रान्तिकारियों के लिए भारत माता के प्रतीक के रूप में किसी गिरि-शिखर पर **भवानी मन्दिर** की स्थापना करके देश-भर में क्रान्ति की ज्वाला सुलगाने वाले, गृहस्थ के बन्धनों से मुक्त, सम्पूर्ण रूप से अपना सारा समय भारत की स्वतंत्रता और देशभक्ति के कार्यों में लगाने वाले अविवाहित संन्यासियों को बनाने की जो योजना बना रहे थे, उसका भी कोई क्रियान्वित रूप अभी तक स्पष्ट नहीं था। किन्तु महात्मा मुंशीराम ने महर्षि दयानन्द के आदर्शों के अनुरूप राष्ट्र की नई पीढ़ी को वैदिक धर्म, राष्ट्रीय शिक्षा, स्वराज्य एवं स्वदेशी की भावना से ओतप्रोत करने का जो प्रयास गुरुकुल काँगड़ी में किया था, वह श्री सातवलेकर को बड़ा आकर्षक और मनोरम प्रतीत हुआ। गुरुकुल में पण्डित सातवलेकर ने ब्रह्मचारियों को चित्रकला की शिक्षा देने के अतिरिक्त आर्यसमाज के महापुरुषों—ऋषि दयानन्द, स्वामी विरजानन्द, महात्मा मुंशीराम और लोकमान्य तिलक के विशाल एवं भव्य चित्र किस प्रकार राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर बनाये थे, इसका पहले परिचय दिया जा चुका है।

इन्हीं दिनों राष्ट्रीय आन्दोलन प्रबल होने पर बम बनाने वाले क्रान्तिकारियों के दल देश के विभिन्न भागों में तेजी से फैल रहे थे। इनमें अधिकांश बंगाली नौजवान थे। हरिद्वार में १८९६ ई० में जब से स्वामी विवेकानन्द ने कनखल में रामकृष्ण मिशन स्थापित किया था, बंगाली बड़ी संख्या में यहाँ आ रहे थे। इनके साथ ही क्रान्तिकारी विचार और बम बनाने की कला भी हरिद्वार पहुँची। इनका एक बड़ा अड्डा यहाँ था। इनको गुरुकुल के छात्र राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत प्रतीत हुए। कहा जाता है कुछ ब्रह्मचारी इस दल में सम्मिलित हो गये और इनके माध्यम से बम बनाने का सारा साहित्य गुरुकुल काँगड़ी पहुँच गया।[1] सम्भवतः इसी समय यहाँ गुप्त क्रान्तिकारी संस्था **बांधव-**

१. सातवलेकर अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ २६

समाज' की शाखा स्थापित हुई।

पुलिस को इस बात का कुछ सुराग मिल गया और गुरुकुल पर छापा मारने तथा तलाशी लेने का निश्चय किया गया। बिजनौर के कलेक्टर फोर्ड ने गुरुकुल के निकट चण्डी पर्वत की तलहटी में इस कार्य के लिए अपना शिविर स्थापित किया। गुरुकुल के एक हितैषी खुफिया पुलिस के व्यक्ति ने समय पर इस छापे की सूचना यहाँ दे दी। ब्रह्मचारियों ने अपने कमरे की सफाई करके आपत्तिजनक सामग्री व साहित्य जमीन में गाड़ दिया।

अन्यत्र पहले यह बताया जा चुका है कि किस प्रकार महात्मा मुंशीराम ने बिजनौर के कलेक्टर से भेंट करने के बाद गुरुकुल की तलाशी का वारण्ट रद्द करवा दिया था। किन्तु गुप्तचर विभाग गुरुकुल काँगड़ी के उन अध्यापकों के सम्बन्ध में सरकार को सूचनाएँ देता रहा जिनके बारे में क्रान्तिकारी तथा राजद्रोहपूर्ण विचार रखने का सन्देह होता था। ऐसी काली सूची में अब पण्डित सातवलेकर का नाम भी जुड़ गया। एक पहले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि संयुक्त प्रान्त का गुप्तचर विभाग गुरुकुल काँगड़ी पर जिन कारणों से राजद्रोही होने का सन्देह करता था, उनमें से एक कारण गुरुकुल में पण्डित सातवलेकर की उपस्थिति थी। उपर्युक्त घटना के बाद चूँकि कोई बम-पिस्तौल आदि बनाने का गुप्त कार्य तो सम्भव नहीं था, अतः अब श्री सातवलेकर छात्रों को पढ़ाने के साथ-साथ वैदिक साहित्य के ऐसे मन्त्रों का संकलन और संग्रह करने लगे जिनमें देशभक्तिपूर्ण राष्ट्रीय विचारों वाली बड़ी ओजस्वी बातें कही गयी थीं। इन मन्त्रों के आधार पर उन्होंने एक लेख 'वैदिक प्रार्थनाओं की ओजस्विता' के शीर्षक से लिखा और यह कोल्हापुर से छपने वाले मराठी मासिक पत्र 'विश्ववृत्त' में मार्च १९०८ ई० में छपा।

इस लेख के छपते ही बम्बई सरकार का ध्यान इस ओर गया। चूँकि यह लेख एक रियासत में छपा था, इसलिए ब्रिटिश सरकार इनके मुद्रक, प्रकाशक और लेखक पर सीधी कानूनी कार्रवाई नहीं कर सकती थी। अतः उसने पहले तो बड़ौदा के महाराज सर सयाजी राव गायकवाड़ का ध्यान इस ओर खींचा, क्योंकि उनका इसमें प्रशस्तिपरक उल्लेख था। जब उन्होंने इस पर कोई कार्यवाही नहीं की तो बम्बई सरकार ने कोल्हापुर-नरेश साहू महाराज को लिखा। अंग्रेजों के दबाव के कारण वे इस पर कार्यवाही के लिए सहमत हो गये और **'विश्ववृत्त'** पत्र के सम्पादक, मुद्रक, प्रकाशक तथा लेखक के नाम वारण्ट जारी कर दिया गया। लेखक के अतिरिक्त तीन व्यक्ति स्थानीय थे। वे अदालत में स्वयं उपस्थित हो गये और उन पर मुकद्दमा चलने लगा। किन्तु लेखक का पता ज्ञात न होने के कारण उनके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जा सकी।

जब पण्डित सातवलेकर को यह पता चला कि उनके लेख के कारण पत्र के सम्पादक, प्रकाशक और मुद्रक हवालात में हैं और उन पर अभियोग चल रहा है तो उनकी आत्मा को इससे बड़ा क्लेश हुआ और उन्होंने यह सोचा कि मुझे स्वयं अदालत में उपस्थित हो जाना चाहिए। यह सोचकर वे गुरुकुल से कोल्हापुर के लिए चल दिये। रास्ते में जब ये अपने पुराने परिचित मित्रों से मिले और उन्हें अपने कोल्हापुर जाने के संकल्प से परिचित कराया तो सभी मित्रों ने इसका विरोध किया और उन्हें कहा कि रियासतों में बिल्कुल अंधेरगर्दी चल रही है, वहाँ जाना ठीक नहीं होगा। अतः मित्रों के परामर्श

के अनुसार बेलगाँव के पास अनगोल गाँव में एक जमींदार के यहाँ नाम बदलकर रहने लगे, रामायण तथा महाभारत का पारायण करने लगे। इस बीच में मुद्रक, प्रकाशक और सम्पादक पर ६ मास तक मामला चलने के बाद उन्हें तीन-तीन वर्ष के कारावास का दण्ड हो गया। इसके बाद पण्डित सातवलेकर मद्रास प्रान्त में कोकीनाड़ा से ६ मील दूर पीठापुरम् के राजा के पास चले गये और वहाँ कुछ समय तक उन्होंने राजपरिवार के चित्र बनाने का काम किया। किन्तु कुछ समय बाद उन्हें फिर गुरुकुल काँगड़ी याद आया और वे दुबारा वहाँ पहुँच गये।

उस समय गुरुकुल पर सरकार की वक्र दृष्टि थी और उसने वहाँ की सारी गतिविधियों का पता लगाने के लिए कुछ भेदिये जासूस वहाँ छोड़ रखे थे। इनमें एक डाकविभाग का पत्र बाँटने वाला कर्मचारी था। इस डाकिये को ज्यों ही श्री सातवलेकर के गुरुकुल पहुँचने का समाचार मिला, उसने तत्काल इसकी सूचना बिजनौर के कलेक्टर को भिजवा दी और कलेक्टर का वारण्ट लेकर तीन सौ सिपाहियों, १० घुड़सवारों और ५० बन्दूकधारियों ने इनकी गिरफ्तारी के लिए गुरुकुल काँगड़ी को घेर लिया। इसके बाद जो कुछ हुआ वह पहले गुरुकुल काँगड़ी वाले अध्याय में बताया जा चुका है कि किस प्रकार पुलिस उन्हें गिरफ्तार करके पहले बिजनौर ले गयी और वहाँ से कोल्हापुर ले जाकर उन पर मुकद्दमा चलाया गया। इसमें पण्डित सातवलेकर पर हत्या और राजद्रोह के आरोप लगाये थे। एनी बीसेण्ट द्वारा साहू महाराज को पत्र लिखने के कारण हवालात में उनसे कोई दुर्व्यवहार नहीं हुआ। हत्या का आरोप उन पर सिद्ध नहीं हो पाया और सेशन जज पण्डित राव की अदालत में जब राजद्रोह का अभियोग चला तो वह भी प्रमाणित नहीं हो सका। इस मुकद्दमे का फैसला होने में लगभग एक साल लग गया। इस बीच में महाराष्ट्र में १९०९ ई० में नासिक में कलेक्टर जैक्सन की हत्या के बाद बड़े पैमाने पर क्रान्तिकारियों की धर-पकड़ हो रही थी, अतः पण्डित सातवलेकर ने पुनः लाला लाजपतराय के पंजाब में जाने का निश्चय किया। १९०९ ई० में उन्होंने लाहौर में 'सातवलेकर आर्ट स्टूडियो' खोलकर चित्रकला और फोटोग्राफी का काम शुरू कर दिया। यहाँ उनका काम बहुत अच्छा चल निकला और उन्हें १५०० रुपये तक मासिक आय होने लगी।

किन्तु चित्रकला के साथ उनके मन में आर्यसमाज और वेद-प्रचार की धुन समाई हुई थी। उन्होंने लाहौर की प्रमुख मानी जाने वाली बच्छोवाली आर्यसमाज में जाना और व्याख्यान देना शुरू कर दिया। पहले व्याख्यान से ही उनकी चारों ओर धूम मच गई। वेद के सम्बन्ध में दिये जाने वाले राष्ट्रीयता से परिपूर्ण उनके व्याख्यानों में उपस्थिति चार-पाँच सौ तक पहुँच गयी। वेदों के स्वाध्याय से उन्हें यह विदित हुआ था कि वेदमंत्रों में राज्य के शासन, क्रान्ति, प्रजा की उन्नति, शत्रुओं के विध्वंस, अयोग्य राजा को पदच्युत करने के बारे में अनेक प्रकार के उपदेश और व्यवस्थाएँ हैं। इनके आधार पर वे अपने व्याख्यानों में वैदिक राजनीति पर प्रकाश डालते थे और वर्तमान समय के साथ उसका सामंजस्य करते हुए श्रोताओं को अपने कर्तव्य का बोध कराते थे। इसलिए उनके वैदिक व्याख्यानों को पंजाब की जनता बड़े चाव से सुनती थी। राजनीति में दिलचस्पी रखने वाले व्यक्ति भी बड़ी संख्या में सम्मिलित होते थे।

इन दिनों पंजाब के लेफ्टीनैण्ट गवर्नर सर माइकेल ओडवायर थे। रासबिहारी के नेतृत्व में अमरीका से आये गदर पार्टी के व्यक्तियों ने पंजाब की सैनिक छावनियों में

विद्रोह की एक व्यापक योजना बनायी। उस समय प्रथम विश्वयुद्ध होने वाला था और क्रान्तिकारी ऐसे समय में भारतीय सिपाहियों में विद्रोह की भावना उत्पन्न करके ब्रिटिश शासन को पंगु बना देना चाहते थे। दुर्भाग्यवश यह योजना सफल नहीं हो सकी और सरकार ने भीषण दमनचक्र चलाया। पहले लाहौर षड्यन्त्र केस में भाई परमानन्द आदि व्यक्तियों को आजीवन कारावास, सरदार करतारसिंह सराबा, विष्णु पिंगले आदि को प्राणदण्ड दिया गया। सब क्रान्तिकारी गतिविधियों पर सरकार द्वारा कड़ी निगरानी रखी जानी लगी। पं० सातवलेकर का स्वाभाविक रूप से ऐसे व्यक्तियों से सम्पर्क था। अत: ओडवायर ने उनकी गतिविधियों का पता लगाने के लिए गुप्तचर तैनात कर दिये। पण्डित सातवलेकर प्रत्यक्ष रूप से राजनैतिक आन्दोलन में इससे अधिक कोई भाग नहीं लेते थे कि वे कांग्रेस के अधिवेशनों में सम्मिलित होते थे; लाला लाजपतराय आदि राजनैतिक नेताओं से देश की समस्याओं पर विचार-विनिमय करते थे। फिर भी सर माइकेल ओडवायर सातवलेकर पर बड़ा सन्देह करता था। उसका यह कहना था कि ये धर्मप्रचार की आड़ में जनता को राजद्रोह के लिए उकसाते हैं। उसे बम्बई सरकार द्वारा उनकी पुस्तकों की जब्ती की जानकारी मिल चुकी थी; कोल्हापुर में अभियोग चलाने की बात भी विदित हो चुकी थी।

अत: उसने १९१७ ई० के अक्तूबर में पण्डित सातवलेकर के निवास-स्थान और स्टूडियो पर पहरा बिठा दिया। पंजाब के अन्य नेताओं डॉक्टर सत्यपाल, डॉक्टर किचलू, लाला लाजपतराय, लाला हरकिशनलाल पर भी इसी प्रकार की कड़ी निगरानी रखी जाने लगी थी। लाला लाजपतराय देश छोड़कर अमरीका चले गये। जब अन्य नेताओं की गिरफ्तारी की चर्चा होने लगी तो सातवलेकर ने पंजाब छोड़ने में ही कल्याण समझा। यद्यपि पंजाब उन्हें बहुत पसन्द था, वहाँ उनका काम बहुत अच्छा चल रहा था, किन्तु जिस प्रकार हैदराबाद और गुरुकुल काँगड़ी उन्हें छोड़ना पड़ा था, उसी प्रकार अब राजनैतिक उत्पीड़न से परित्राण पाने के लिए पंजाब से अन्यत्र जाने के सिवाय उनके पास कोई और विकल्प नहीं था।

(३) औंध राज्य में स्वाध्याय-मंडल की स्थापना तथा लोकतन्त्र का प्रचार

जब पिछली शताब्दी के अन्तिम दशक में पण्डित सातवलेकर बम्बई के जे० जे०-स्कूल आफ आर्ट्स में पढ़ रहे थे, उस समय उनका परिचय औंध-नरेश से हुआ। औंध महाराष्ट्र में एक छोटी-सी रियासत थी, किन्तु इसके नरेश बड़े कलाप्रेमी और गुण-ग्राहक थे। उन्होंने १८९२ से ९७ के बीच में सातवलेकर को कई बार बम्बई से औंध बुलवाया था और नाटकों के पर्दे रंगवाने और बनाने का काम सौंपा था। वे उनके कार्य से बहुत प्रसन्न थे और उनके साथ यह परिचय शीघ्र ही प्रगाढ़ मित्रता में परिणत हो गया।

यही मित्रता इस समय पण्डित सातवलेकर के काम आयी। लाहौर छोड़ने के बाद उन्होंने औंध में बसने का निश्चय किया। यहाँ आकर १९१८ में वैदिक साहित्य के प्रकाशन के लिए स्वाध्याय-मण्डल की स्थापना की। इसी के माध्यम से वे वेद-सम्बन्धी साहित्य प्रकाशित करते रहे। पहले उनकी पुस्तकें बम्बई में छपती थीं, बाद में उन्होंने औंध में ही अपना भारत मुद्रणालय स्थापित किया। वैदिक विषयों तथा मन्त्रों पर छोटी-बड़ी पुस्तकें

छपवाईं। फिर पूरे अथर्ववेद, महाभारत का अनुवाद और भगवद्गीता की पुरुषार्थ-बोधिनी व्याख्या छापी। अथर्ववेद के २५०० पृष्ठ के भाष्य का मूल्य केवल ५ रुपये रखा। वैदिक धर्म की उत्कृष्टता की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करने के लिए उन्होंने 'वैदिक धर्म' नामक पत्र निकाला। बाद में चारों वेदों की मूल संहितायें बड़े शुद्ध, सुन्दर एवं स्वल्प मूल्य में प्रकाशित कीं।

किन्तु वैदिक साहित्य के निर्माण के साथ-साथ वे राजनैतिक कार्यों में भी पूर्ववत् भाग लेते रहे। जब देश में गांधी की आँधी चली तो यह सम्भव न था कि वे उनमें न बहते। सतारा जिला कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में पं० सातवलेकर ने गाँव-गाँव घूमकर लोगों में जागृति उत्पन्न की। महात्मा जी द्वारा बताये अछूतोद्धार, खादी, चरखा, हथ-करघा और ग्राम-पंचायतों के सुधार का रचनात्मक कार्य आरम्भ किया। इस पर ब्रिटिश सरकार बड़ी चिन्तित हुई। उसे यह प्रतीत हुआ कि सातवलेकर के आश्रयदाता बनकर औंध के राजा साहब अपनी रियासत में तथा उसके बाहर ब्रिटिश प्रदेशों में कांग्रेस का आन्दोलन फैलाने में सहायक सिद्ध हो रहे हैं। बम्बई के गवर्नर ने औंध के राजा को इस बारे में जवाब तलब करने के लिए बुलाया। वे उन्हें कोई ऐसा उत्तर न दे सके जिससे गवर्नर की शंकाओं का समाधान हो सकता था।

अतः बम्बई से लौटने के बाद राजा साहब ने सातवलेकर को एक सप्ताह के भीतर औंध से बाहर चले जाने का नोटिस दे दिया। हैदराबाद से गुरुकुल काँगड़ी, वहाँ से लाहौर और अब औंध से उनके निष्कासन की संकटपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गयी। अब पण्डित सातवलेकर अधिक नहीं भटकना चाहते थे, अतः उन्होंने राजा साहब को लिखित आश्वासन दिया कि मैं औंध रियासत के बाहर किसी आन्दोलन में हिस्सा नहीं लूंगा और जो कुछ करना होगा प्रजा की उन्नति के लिए करूँगा। इसके बाद उन्होंने रियासत के बहत्तर गाँवों को एकता के सूत्र में आबद्ध किया। यहाँ ग्राम-पंचायतों के अधिकारों में वृद्धि होने लगी। पंचायतें अपने प्रतिनिधि चुनकर रियासत की प्रतिनिधि-सभा में भेजने लगीं। जब गांधीजी ने नमक-सत्याग्रह किया तो उनसे अनुमति लेकर औंध रियासत में भी नमक बनाया जाने लगा।

औंध के राजकुमार अप्पा साहब पन्त के विलायत से बैरिस्टर बनकर आने और अपनी रियासत में प्रजा के प्रतिनिधियों की सलाह से राज्य चलाने के प्रति उत्साह के कारण पं० सातवलेकर को अधिक बल मिला और औंध में पूर्ण स्वराज्य स्थापित करने की रूपरेखा बनाकर सर्वश्री सातवलेकर, अप्पा साहब पंत और मारिस फ्रीडमैन परामर्श के लिए गांधीजी के पास गये। उनके परामर्श के अनुसार १९३९ में औंध रियासत में पूर्णतः प्रतिनिध्यात्मक शासन-पद्धति लागू की गयी। यह रियासत इस विषय में अन्य सभी देशी राज्यों के लिए अनुकरणीय आदर्श बनी।

औंध राज्य में पण्डित सातवलेकर ने एक ग्रामरक्षक-दल की भी स्थापना की। इसमें प्रत्येक गाँव में १३ से ४५ वर्ष के आयु के सब व्यक्ति शामिल होते थे। सवेरे-शाम उनकी परेड होती थी। इससे सबमें शारीरिक व्यायाम, अनुशासन और संघ-शक्ति के प्रति अनुराग पैदा किया जाता था। सभी व्यक्ति लाठी आदि चलाने का अभ्यास करते थे और दल के स्वयंसेवक रात को गाँवों में पहरा देते थे। जब इस प्रकार के रक्षक-दल रियासत के प्रत्येक गाँव में स्थापित हो गये तो पुलिस और सेना की आवश्यकता नहीं

रही। सारी रियासत दंगों, उपद्रवों और डकैतियों से सर्वथा मुक्त हो गई। जब ब्रिटिश सरकार को इसका पता चला तो उसने एक उच्च ब्रिटिश अधिकारी को यहाँ निरीक्षण के लिए भेजा। उसकी यह रिपोर्ट थी कि "यदि सारे भारत में इसी प्रकार के ग्रामरक्षक-दल स्थापित हो जायँ तो अंग्रेजों को यहाँ से भागना पड़ेगा। एक भी दिन उसका यहाँ टिकना मुश्किल हो जायेगा।" श्री सातवलेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से बड़े प्रभावित हुए थे और उसमें कार्य करने से ही उनको ग्रामरक्षक-दल की प्रेरणा मिली थी। वे १९३६ ई० में औंध रियासत में संघ के शाखा-प्रमुख और संचालक के रूप में कार्य कर रहे थे और इसके माध्यम से भारतीयों में अनुशासन और देशभक्ति की भावना भर रहे थे। १९४२ ई० के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में श्री सातवलेकर ने ब्रिटिश प्रदेश में क्रान्तिकारियों को बहुमूल्य सहायता प्रदान की।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद पाँचवीं बार वृद्धावस्था में ८१ वर्ष की आयु में उन्हें राजनैतिक कारणों से औंध छोड़ने को विवश होना पड़ा। ३० जनवरी १९४८ को नाथूराम गोडसे द्वारा महात्मा गांधी की हत्या की गयी थी। नाथूराम गोडसे ब्राह्मण था। इसलिए ब्राह्मणेतर जातियों को ब्राह्मणों के प्रति चिरकालीन विद्वेष को पूरा करने तथा प्रतिशोध लेने का यह अच्छा अवसर समझा। पण्डित सातवलेकर के ब्राह्मण और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के जिला-संचालक होने के कारण उपद्रवी तत्त्वों ने वेदों के इस विद्वान् और देशभक्त क्रान्तिकारी के निवास-स्थान, प्रेस और ग्रंथागार को आग लगा दी और उन्हें औंध छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा।

पण्डित सातवलेकर का विश्वास था कि वेदों की शिक्षाओं के अनुसार जीवन बिताने से व्यक्ति की आयु सौ वर्ष अवश्य होनी चाहिए। एक बार उन्होंने यह भी कहा था कि यदि सौ वर्ष से पूर्व मेरा प्राणान्त हो जाय तो मैं मरने से पहले लिख जाऊँगा कि कि वेद झूठे हैं। अपने इस अटल विश्वास के कारण अभी उनके जीवन में १९ वर्ष शेष थे। वे गुजरात में बलसाड़ से सात मील दूर पारडी आ गये और यहाँ उन्होंने विदेश जाने वाले मिशनरियों से बना-बनाया एक मिशन का स्थान खरीद लिया। यहाँ उन्होंने अपना स्वाध्याय मंडल, प्रेस, तथा वैदिक ग्रन्थों के प्रकाशन का कार्य पूरे उत्साह के साथ उस आयु में शुरू कर दिया, जब अन्य जन खाट पर खाँसा करते हैं या कालकवलित हो जाते हैं। पूरी कर्मठता के साथ कार्य करते हुए सौ वर्ष से भी अधिक आयु प्राप्त की। इस प्रसंग में अब उनकी उस क्रान्तिकारी वैदिक विचारधारा का परिचय दिया जायेगा जिसके लिये ब्रिटिश सरकार ने उनकी दो पुस्तकें राजद्रोहपूर्ण समझते हुए जब्त की थीं और कोल्हापुर-राज्य ने उनपर मुकद्दमा चलाया था।

(४) वैदिक राष्ट्रगीत

पण्डित सातवलेकर सम्भवतः वर्तमान युग के पहले ऐसे वैदिक विद्वान् थे जिन्होंने वैदिक मन्त्रों के आधार पर राष्ट्रीयता की भावनाएँ जनता में जागृत करने का अपने लेखों द्वारा प्रबल प्रयास किया। इस विषय में उनकी पहली उल्लेखनीय रचना **वैदिक राष्ट्रगीत** है। यह अथर्ववेद के बारहवें काण्ड के प्रथम सूक्त की व्याख्या है। प्राचीन टीकाकारों और भाष्यकारों ने लिखा था कि गाँव-नगर आदि के संरक्षण के समय इसका पाठ करना चाहिए। श्री सातवलेकर ने राष्ट्रीय आन्दोलन के समय में इसकी अद्भुत

व्याख्या करते हुए यह बताया कि इसका विनियोग राष्ट्र-निर्माण तथा राष्ट्र-रक्षण के कार्य में है और इस सूक्त का देवता मातृभूमि है। आजकल जो महत्त्व विभिन्न देशों में राष्ट्रीय गीतों को दिया जाता है, वही प्राचीन काल में इस सूक्त को दिया जाता था। उस समय हमारे देश में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं थी जो राष्ट्रीयता को पश्चिमी देशों की उपज बताते थे। किन्तु पण्डित सातवलेकर ने इस सूक्त की व्याख्या से यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना की परम्परा हमारे यहाँ वैदिक काल से चली आ रही है और हमें इस राष्ट्रगीत में वर्तमान समय की राष्ट्रीयता के सभी प्रधान तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं।

आजकल राष्ट्रीयता का पहला तत्त्व प्रदेश समझा जाता है। इस वैदिक सूक्त में मातृभूमि की कल्पना करते हुए यह कहा गया है कि मेरी माता भूमि है और मैं इस मातृ-भूमि का पुत्र हूँ। (माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः १२/१/१२)। पुत्र का अर्थ ही पवित्र करने वाला और संरक्षण करने वाला (पुनाति त्रायते च) है। इस सूक्त के अन्य अनेक मन्त्रों १२-१-१५, २-१-६३ में इस बात का स्पष्ट निर्देश किया गया है कि भूमि माता है, जनता उस माता के पुत्र हैं। इसकी व्याख्या करते हुए श्री सातवलेकर ने लिखा—"माता का दूध उनके पुत्रों को मिलना चाहिए। सब लोग इसका विचार मन में रखें। दूसरे देश को परास्त करके पाशविक बल से उसको लूटना किसी भी देश को उचित नहीं है।"[1] इसमें ब्रिटिश शासन द्वारा किये जाने वाले आर्थिक शोषण का स्पष्ट संकेत था।

इस सूक्त के मन्त्र-संख्या १२-१-७ में मातृभूमि की रक्षा व सेवा पर बल देते हुए कहा गया है—"ज्ञानी और वीर जिस मातृभूमि की आलस्य न करते हुए सर्वदा रक्षा करते रहते हैं, वह मातृभूमि हमें मधुर और प्रिय अन्न देती है, वह हमें तेज से युक्त करे।" हमारी मातृभूमि पर विदेशी शत्रुओं का आक्रमण नहीं होना चाहिए। एक अन्य मन्त्र में मातृभूमि की रक्षा के उपायों का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि मनन-शील लोग मातृभूमि की सेवा **माया** अर्थात् कार्यकुशलता और राजनीति से करते हैं। यहाँ पण्डित सातवलेकर ने माया के दो अर्थ किए हैं—(१) कार्य करने का चातुर्य, (२) कपट, कुटिलता और दाँव-पेच तथा शत्रु को चकमा देने की विद्या। यदि शत्रु कार्य की प्रवीणता से परास्त होता है तो ठीक है। यदि शत्रु बड़ा प्रबल है, सरलता से परास्त नहीं होता तो उनके शब्दों में—"उसको कुटिलता से भी परास्त करना चाहिए। जैसे राम ने बाली को छिपकर मारा था तथा श्रीकृष्ण के समक्ष भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि वीरों का नाश पांडवों ने कपट से किया था। जिस उपाय से शत्रु मारा जाता है, उस उपाय से उसे मारना चाहिए।"[2]

इससे स्पष्ट है कि वेद के अनुसार पण्डित सातवलेकर गांधीजी की उस राजनीति में विश्वास नहीं रखते थे जो स्वराज्य-प्राप्ति के लिए साधनों की पवित्रता पर बल देती है और सब प्रकार की कूट और कपट-नीति को अधर्म समझती है। वे इस विषय में तिलक की इस नीति के अनुयायी थे—शठे शाठ्यं समाचरेत्—दुष्ट के साथ दुष्टता का व्यवहार करना चाहिए।

---

१. सातवलेकर अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ ५४

२. पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ ५८

इस सूक्त के पहले ही मन्त्र में उन गुणों का उल्लेख है जो मातृभूमि के धारण, संरक्षण और उन्नति के लिए आवश्यक हैं। ये आठ गुण हैं—सचाई (सत्य), विशालता और उदारता का भाव (बृहत्), सरलता (ऋत), शौर्य एवं युद्ध-सामर्थ्य (उग्र), सदैव सावधानता (दीक्षा), कष्ट-सहिष्णुता (तप), ज्ञान और विज्ञान (ब्रह्म), समाज की एकता और संगठन (यज्ञ)। ये आठ गुण राष्ट्र को धारण करते हैं। इसका यह अभिप्राय है कि यदि किसी देश के नागरिकों में ये आठ गुण हैं तो वह राष्ट्र कभी पराजित, पराभूत और पराधीन नहीं हो सकता है। इस सूक्त के २-१-११ में यह भावना प्रकट की गयी है कि "हे मातृभूमि, तुम्हारे पहाड़ व पर्वत, हिमाच्छादित शिखर, अरण्य और वन हमारा सुख बढ़ावें। भूरी-काली उपजाऊ, अनेक रंग वाली विस्तृत और स्थिर मातृभूमि हमारे प्रतापी वीरों द्वारा सुरक्षित है। इस भूमि पर अपराजित, अहत और क्षतरहित होकर मैं अध्यक्ष होऊँ।" इसके अन्तिम पद से पण्डित सातवलेकर ने यह परिणाम निकाला है कि प्राचीन काल में राष्ट्र का अध्यक्ष प्रजा द्वारा चुना हुआ होता था। प्रत्येक व्यक्ति योग्य होने पर इस पद को प्राप्त कर सकता था। इसीलिए इस मन्त्र में एक योग्य नागरिक द्वारा यह आकांक्षा प्रकट की गयी है कि वह इस मातृभूमि का अध्यक्ष हो। इस विषय में उन्होंने लिखा है—"राष्ट्र का अध्यक्ष प्रजा द्वारा चुना हुआ हो।" यह बात यहाँ स्पष्ट की गयी है और वह "अजेय, अक्षत रहकर नित्य उत्साही हो," ऐसा भी यहाँ सूचित किया गया है।

इस सूक्त के कई मन्त्रों में शत्रु के नाश का दृढ़ संकल्प प्रकट किया गया है और इनके प्रकारों पर प्रकाश डाला गया है। १२-१-१४ में यह कहा गया है कि—"हे अपूर्व कार्य की स्फूर्ति देने वाली भूमि, जो हमसे द्वेष करता है, जो हमारे ऊपर सैन्य भेजता है, जो मन से हमें दास करने का उद्योग करता है और जो हमारा वध करता है उसका पूर्णतया नाश हो।" इस सूक्त के अन्त में उन्होंने राष्ट्र की समृद्धि के लिए की जाने वाली वाजसनेयी यजुर्वेद संहिता (२२/२२) की सुप्रसिद्ध प्रार्थना—'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो' की प्रार्थना की व्याख्या करते हुए वैदिक राष्ट्र-गीत के सम्बन्ध में उठाई जाने वाली कई प्रकार की शंकाओं का समाधान किया है।

इस समय के प्रचलित राष्ट्र-गीत जनगणमन, वन्दे मातरम् आदि कुछ मिनट में बोले जाते हैं, किन्तु इस वैदिक राष्ट्र-गीत में ६२ मन्त्र हैं और उनके केवल पाठ करने में ही कम-से-कम आधा घण्टा लगता है। इस शंका का उत्तर देते हुए उन्होंने यह कहा है कि इस सूक्त में मन्त्रों के अनेक वर्ग हैं और एक-एक वर्ग के मन्त्र एक-एक प्रसंग में बोले जाने के लिए हैं। जिस समय शत्रु पर आक्रमण करना होगा, उस समय के बोलने के मन्त्र पृथक् हैं। इसी प्रकार राष्ट्रीय महोत्सव के समय, यज्ञ करने, शान्ति-कर्म आदि के विभिन्न प्रसंगों में विभिन्न मन्त्र जनसमुदाय के लिए बोले जाने के लिए हैं और इनकी संख्या बहुत कम है। अंग्रेजों का राष्ट्रगीत 'गाड सेव दी किंग' (प्रभु राजा की रक्षा करें), तभी तक सार्थक है जबतक वहाँ राजा राज्य करता है। किन्तु जिस समय वहाँ विशुद्ध गणतन्त्रात्मक शासन होगा, उस समय यह गीत बदलना पड़ेगा। इसी तरह अन्यान्य राष्ट्रीय गीतों की स्थिति है। पर यह वैदिक राष्ट्रगीत ऐसा है जो सब देशों, सब कालों के राष्ट्रों के लिए सदा उपयोगी होगा। यह त्रिकालाबाधित है, यही इसकी विशेषता है। इस गीत की दूसरी विशेषता मातृभूमि का यश बढ़ाने के लिए आवश्यक

शुभ गुणों का धारण करना और इसकी रक्षा के लिए आत्म-सर्वस्व का अर्पण करने की स्फूर्ति देना है।[1] इस भावना को ही पण्डित सातवलेकर अपने लेख द्वारा भारतीयों में उद्बुद्ध करना चाहते थे। इसमें स्पष्ट रूप से उन्होंने शत्रुओं के संहार का निर्देश किया है। इसका स्पष्ट आशय यह था कि भारतीयों को अपने राष्ट्र की रक्षा करने और स्वाधीन बनाने के लिए सब प्रकार का बलिदान करने को तैयार रहना चाहिए, और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए वैध एवं शान्तिपूर्ण तथा अवैध और क्रान्तिकारी उपायों का अवलंबन करने में कोई संकोच नहीं करना चाहिए। इस लेख के इस क्रान्तिकारी सन्देश के कारण ही ब्रिटिश सरकार ने इस पुस्तक को जब्त करने का निश्चय किया था।

वैदिक प्रार्थनाओं की ओजस्विता—मार्च १९०८ ई० में कोल्हापुर के मासिक पत्र **विश्ववृत्त** में पण्डित सातवलेकर का उपर्युक्त शीर्षक का एक लेख प्रकाशित हुआ था। इसके प्रकाशन के लिए 'विश्ववृत्त के' सम्पादक, मुद्रक और प्रकाशक को तीन-तीन साल की सजा हुई थी। यह पहले बताया जा चुका है कि पण्डित सातवलेकर को भी इस लेख के लिए गिरफ्तार किया गया और उन पर मुकद्दमा चलाया गया था। इसमें वैदिक मन्त्रों के आधार पर पण्डित सातवलेकर ने राष्ट्रीय उन्नति के उपायों का निर्देश किया और यह बताया कि इसमें बाधक शत्रुओं का संहार किस प्रकार करना चाहिए।

इस लेख के आरम्भ में ही उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि इस समय प्रधान रूप से कमजोर वृत्ति के नरम दल के लोगों द्वारा इस बात का प्रचार किया जा रहा है कि "शत्रु हमें कितना भी दुःख दें अथवा हानि करें, उसकी ब्याजसहित भरपाई न करके अथवा उसका बदला न लेकर न्याय के दिन की प्रतीक्षा करते हुए और मक्खी मारते हुए हम आराम से बैठे रहें।" वर्तमान शताब्दी के प्रथम दशक के पूर्वार्ध में राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) पर नरम दल वालों का प्रभुत्व था। उनकी यह मान्यता थी कि ब्रिटिश शासन भारत के लिए वरदान है, हमें भगवान् का इस शासन के लिए धन्यवाद करना चाहिए। किन्तु सातवलेकर जी ने वैदिक सिद्धान्तों के आधार पर इससे सर्वथा प्रतिकूल क्रान्तिकारी गरम दल की विचारधारा का प्रतिपादन करते हुए लिखा[2]—

"हम यदि अपने देदीप्यमान प्राचीन इतिहास की तरफ नजर फेंकें तो वह इतिहास हमें वैदिक उपदेशों की ओजस्विता से सराबोर ही दिखायी देगा। स्वार्थी, अधार्मिक, नास्तिक और आततायी वेन राजा को मारते समय तत्कालीन ऋषियों ने वेन को दण्ड देकर न्याय करने का भार परमेश्वर पर न सौंपकर, अपने हाथ में ले लिया था। स्वराज्य का हरण करके पारतन्त्र्य के घोर नरक में पिसने-मरने के लिए धकेलने वाले तथा दूसरे के पदार्थों को हथियाने वाले दुष्ट शत्रुओं को तहस-नहस करके पुरुषार्थ से स्वराज्य कायम करने के लिए अपने पुत्र को वीरोचित उपदेश देने वाली विदुला और उसका इतिहास लिखने वाले व्यास ने वैदिक आदर्श अपने सामने रखा था···श्रीकृष्ण भगवान् ने सब वैदिक सिद्धान्तों का सार निकालकर और उपनिषदों का मन्थन करके भगवद्गीता रूपी मक्खन निकाला और उस गीता के द्वारा स्वराज्य-भ्रष्ट होकर आनन्द मानकर जंगल में जाकर कन्द-मूल खाकर रहने की इच्छा करने वाले अर्जुन को 'उठ,

---

१. वही

२. सातवलेकर अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ७१

अपने शत्रुओं और उनकी मदद करने वाले गुरुओं को मार, कमजोरी छोड़ और युद्ध की तैयारी कर' आदि जो उपदेश दिये, वे इसलिए नहीं कि लोग शत्रु के द्वारा दिये गये संकटों को बैठे सहते रहें, अपितु यह उपदेश इसके लिए ही है कि शत्रु को बिल्कुल तहस-नहस कर दिया जाये।" इसकी यह स्पष्ट ध्वनि थी कि हमें देश का शोषण करने वाले अन्यायी एवं अत्याचारपूर्ण ब्रिटिश शासन के समूलोन्मूलन का पूरा प्रयास करना चाहिये। जब हमारे पूर्वज ऋषियों ने वेन के शासन को नहीं सहन किया था तो हमें अंग्रेजों का प्रभुत्व असह्य होना चाहिये।

इसके बाद उन्होंने वैदिक मन्त्रों के आधार पर अपने राष्ट्र को गुलाम बनाने वाले, उसे मन से या शस्त्रों से कष्ट देने वाले शत्रु के उन्मूलन पर बल देने वाले तथा **राष्ट्र-भृत्य** की भावना बढ़ाने के बारे में वैदिक मन्त्रों का निर्देश किया। अथर्ववेद (१९,३७,३) में इस शब्द का प्रयोग हुआ है[1] और इसका यह अभिप्राय है कि राष्ट्र का नागरिक राष्ट्र द्वारा दी गयी वस्तुओं को राष्ट्र की सेवा करने के लिए ही ग्रहण करता है और कहता है—"हे पदार्थ अन्न ! बल, ओजस्विता, सहनशक्ति, शत्रुओं का निर्दलन, राष्ट्र का पोषण और सौ वर्ष की आयु आदि सभी उत्तम गुणों के लिए तुझे मैं ग्रहण करता हूँ।" इसके द्वारा मानो मनुष्य यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं राष्ट्र द्वारा प्राप्त होने वाले पदार्थों का सेवन करके जो शक्ति और आयु बढ़ाऊँगा, उसका उपयोग मैं राष्ट्र की सेवा के कार्य में ही करूँगा। इससे यह स्पष्ट है कि भारत में राष्ट्रसेवा की भावना वैदिक युग से चली आ रही है। पाश्चात्य विद्वानों का अनुसरण करते हुए कुछ भारतीय विद्वान् यह भ्रम फैला रहे हैं कि राष्ट्रीय ऐक्य की कल्पना, राष्ट्र के सेवा के भाव और राष्ट्र के लिए समर्पण की भावना भारत ने पश्चिमी देशों से ग्रहण की है। ऐसे व्यक्तियों के मन्तव्य का निराकरण राष्ट्रभृत्य की कल्पना से अच्छी तरह से हो जाता है। वैदिक आदर्श के अनुसार प्रत्येक स्त्री-पुरुष को राष्ट्र की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये और राष्ट्र की सेवा में ही अपना सारा जीवन समर्पित करना चाहिये।

अथर्ववेद (११-१०-१) में राष्ट्रप्रेमियों को अपने शत्रुओं पर आक्रमण के समय प्रेरणा तथा उद्बोधन देते हुए एक मन्त्र में कहा गया है—"उठो, तैयार हो, हे उदार लोगो तथा दूसरे रक्षकगणो, अपने-अपने झण्डों के साथ शत्रुओं पर चढ़ते चले जाओ।"[2] इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से राष्ट्र के विरोधियों पर हमला करके उनकी धज्जियाँ उड़ाने का आदेश दिया गया है। इसी प्रकार के अन्य मन्त्र अथर्ववेद (११-१२-२६, १-१०-२५) हैं। अथर्ववेद (११-९-२१) में यहाँ तक कहा गया है कि हमारे शस्त्रास्त्रों के प्रहार से शत्रुओं के हृदय फट जायँ, उनके प्राण निकल जायँ। (घायल होने के कारण रक्तस्राव होने पर) उनके मुँह सूख जायँ। यह दुर्दशा हमारे शत्रुओं की हो, हमारा हित चाहने वाले मित्रों की न हो।[3] इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र में यह कहा गया है—सभी शत्रु हमारे

---

१. ऊर्जे त्वा बलाय त्वौजसे सहसे त्वा।
अभिभूय त्वा राष्ट्रभृत्याय पर्यहामि शतशारदाय॥ (अथर्व १९।३७।३)

२. उत्तिष्ठत संनह्यध्वं उदाराः केतुभिः सह।
सर्पा इतरजना रक्षाँस्यमित्राननु धावत॥ (अथर्व ११।१०।१)

३. उत्कसन्तु हृदयान्यूर्ध्वः प्राण उदीषतु।
शौष्कास्यमनुवर्त्तताममित्रान् मोत मित्रिणः॥ (अथर्व ११।९।२१)

द्वारा मारे जाकर गिद्ध, बाज़ आदि पक्षियों का भोजन बनें।[1]

इस प्रकार के वैदिक मन्त्रों से श्री सातवलेकर ने यह परिणाम निकाला था—"वैदिक उपदेश सदा उत्साह और वीरता उत्पन्न करने वाले हैं। उनमें ओजस्विता और तेजस्विता भरपूर भरी हुई है···वैदिक धर्म कभी यह नहीं कहता कि 'कोई तुम्हारे एक गाल पर चाँटा मारे तो दूसरा भी आगे कर दो।' यह तो कमजोरों का उपदेश है। वैदिक उपदेशों का सार तो यह है कि आततायियों पर दया न करो···अपने तन, मन, धन को राष्ट्रकार्य के लिए सौंप दो।"

"इस वैदिक उपदेश का स्मरण करके भगवान् राम ने सज्जनों का संरक्षण करते समय प्रजा के शत्रु राक्षसों पर रत्तीभर भी दया नहीं की। भगवान् श्रीकृष्ण कंस, कालिय और दुर्योधन आदि का संहार करते समय पीछे नहीं हटे। यह वेदों के तेजस्वी उपदेशों का ही परिणाम था···एक दूसरी दृष्टि से देखा जाय तो शत्रुओं को यथाशीघ्र नष्ट करना उन पर एक तरह से अहसान करना ही है, क्योंकि लोगों को सताने वाले, उन पर अत्याचार करने वाले जब तक जीवित रहेंगे, तब तक वे लोगों पर जुल्म करके अपने पापों का घड़ा भरते चले जायेंगे। इस प्रकार दुष्टों को मारना मानो उन पर उपकार करना ही है।"[2]

श्री सातवलेकर ने इस प्रकार वैदिक मंत्रों के आधार पर भारतीय राष्ट्र के शत्रु अंग्रेजों के विरुद्ध भारतीयों के मन में प्रचंड विरोध की भावना उत्पन्न करने और स्वराज्य-प्राप्ति के लिए सर्वस्व समर्पण करने की प्रेरणा दी। यह ब्रिटिश सरकार की दृष्टि में सबसे बड़ा राजद्रोह था और इसीलिए उस समय उन पर अभियोग चलाया गया। पण्डित सातवलेकर ने वैदिक साहित्य के आधार पर वर्तमान शताब्दी के पहले चरण में भारतीयों में राष्ट्रीय क्रान्तिकारी भावना उत्पन्न करने का बड़ा सराहनीय कार्य किया और इसके लिए वे सदैव स्मरणीय रहेंगे।

---

१. ये रथिनो ये अरथा असादा ये च सादिनः।
सर्वानदन्तु तान् हतान् गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः॥ (अथर्व ११।१०।२४)

२. सातवलेकर अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ७८

बीसवाँ अध्याय

क्रान्तिकारियों के गुरु भाई परमानन्द

(१) जीवन-परिचय

दक्षिण अफ्रीका में वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए जाने वाले देवतास्वरूप भाई परमानन्द को न केवल इस प्रदेश के प्रथम भारतीय मिशनरी होने का गौरव प्राप्त है, अपितु वे प्रथम युद्ध से पहले और बाद की दो पीढ़ियों के क्रान्तिकारियों को उत्कट देशभक्ति की दीक्षा देने वाले थे। पंजाब सरकार उन्हें 'गदर पार्टी' द्वारा भारत में दिये जाने वाले क्रान्तिकारी आन्दोलन का नेता और इतना खतरनाक व्यक्ति समझती थी कि पुष्ट प्रमाण न होने पर भी उन्हें विशेष अदालत द्वारा भारत का इतिहास लिखने के लिए फाँसी की सजा दी गयी। तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिंग के कारण उनकी प्राणरक्षा हुई। महात्मा गांधी और सी० एफ० एण्ड्रयूज के विशेष प्रयत्न से १९२० ई० में वे अण्डमान की जेल से मुक्त हुए। पंजाब की राजनीति में इनकी भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण थी।

पंजाब में क्रान्ति-आन्दोलन के अध्वर्यु, देश एवं हिन्दू जाति के लिए सर्वस्व समर्पण करने वाले भाई परमानन्द का जन्म जेहलम जिले (पाकिस्तान) की चकवाल तहसील में रावलपिण्डी से ७५ मील दक्षिण-पश्चिम में करियाला गाँव के ऐसे पुराने मोहयाल ब्राह्मण-कुल में हुआ था जो अपने बलिदान की परम्परा के लिए प्रसिद्ध था। उनके पूर्वज भाई मतिदास, भाई सतीदास और बाबा दयाल नवें गुरु तेगबहादुर के साथ दिल्ली में शहीद हुए थे। जब औरंगजेब ने मतिदास को इस्लाम स्वीकार करने को कहा और मुगल घराने की रूपवती युवती का व राजदरबार में उच्च पद के अनेक प्रलोभन दिये तो उन्होंने इन सबको ठुकरा दिया। इस पर औरंगजेब ने सूबेदार अलिफ खाँ को आदेश दिया कि उनके शरीर को चाँदनी चौक में लकड़ी के चौखट में कसकर सिर पर आरा रखकर चीर दिया जाये। कहा जाता है कि इन्होंने अपने ही रक्त से अपना मुँह धोया और हँसने लगे। इससे स्तब्ध और चकित होकर जब मुस्लिम अधिकारी ने इसका कारण पूछा तो उत्तर मिला—"यदि मैं हिन्दू धर्म छोड़ देता तो अपने मुख पर कलंक लगा लेता। अपने अन्दर के परमात्मा ही मुझसे सब-कुछ करवा रहे हैं। मैं अपने जीवन में सफल रहा हूँ। अब मैं परमात्मा के दरबार में उज्ज्वल मुख लेकर जा रहा हूँ।" अगले दिन बाबा दयाल का बलिदान हुआ; उन्हें हाथ-पैर बाँधकर खौलते तेल के कड़ाहे में डाल दिया। उससे अगले रोज भाई सतीदास के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर उन्हें शहीद बनाया गया। चौथे दिन गुरु तेगबहादुर के बलिदान से इस भीषण रक्त-लीला का अवसान हुआ। गुरु गोविन्दसिंह ने गद्दी पर बैठने पर मोहयाल वंश के गुरुबक्श-

सिंह को अपना मन्त्री बनाया और दरबार में उपस्थित व्यक्तियों से कहा—"इनका और हमारा रक्त धरती में मिलकर बहा है, इसलिए ये हमारे भाई हैं। अब से इनके वंश को भाई के नाम से पुकारा जाए।" तब से भाई के नाम से प्रसिद्ध, भाई मतीदास आदि के अद्भुत बलिदान से पावन हुए कुल में भाई ताराचन्द के घर ४ नवम्बर १८७६ को, लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना से १ वर्ष पूर्व भाई परमानन्द का जन्म हुआ।

(२) आर्यसमाज का आकर्षण

भाईजी बचपन से बड़े मेधावी थे। उन्हें भक्तिमती माता मथुरादेवी से तथा अपने कुल की परम्परा से धार्मिक आस्था के वे संस्कार प्राप्त हुए, जो फाँसी की काल-कोठरी तथा अण्डमान की जेल में उनका प्रधान सम्बल बने। देशभक्ति के आरम्भिक संस्कार उन्हें ब्रिटिश सरकार का इस प्रदेश में विरोध करने वाले, अपने को महाराजा घोषित करने वाले भाई तपसीराम से मिले। गाँव के स्कूल की प्राइमरी शिक्षा समाप्त कर जब वे करियाला के निकट चकवाल के मिडिल स्कूल में पहुँचे तो वहाँ खण्डन-मण्डन की छोटी पुस्तिकाओं के माध्यम से इनका आर्यसमाज की विचारधारा से परिचय हुआ। इसी समय ये टाइफाइड ज्वर से ग्रस्त हुए। इनके स्वस्थ होने पर जब इनकी माँ प्रबल बीमारी में काल-कवलित हुई तो गाँव के पण्डित जी ने उनकी अन्त्येष्टि और मरणोत्तर की जो रस्में करवाईं, उनसे भाई जी को पौराणिक कर्मकाण्ड और पाखण्ड से घोर घृणा हो गयी। वे पक्के आर्यसमाजी बन गये। चकवाल में उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की। स्कूल के बाद वे सारा समय आर्यसमाज के कार्य में लगाने लगे। उनके मन में यह विचार प्रबल होने लगा कि आर्यसमाज के विचारों का प्रचार ही हिन्दू समाज को बचा सकता है, अतः उन्होंने अपना जीवन आर्यसमाज को समर्पित करने का संकल्प किया। वे आपबीती में लिखते हैं—"मैंने निश्चय कर लिया कि मुझे अपना जीवन आर्यसमाज को अर्पण करना चाहिये। इस छोटी आयु में पता लगा कि लाला हंसराज ने अपना जीवन केवल लाहौर के दयानन्द कालिज को दे दिया है। मैंने उनसे पत्र-व्यवहार आरम्भ कर दिया।"

चकवाल से मिडिल पास करने के बाद अगली शिक्षा के लिए वे १८९१ ई० में लाहौर आये, दयानन्द एंग्लोवैदिक स्कूल के विद्यार्थी बने। उन्होंने यहाँ के आर्यसमाजी वातावरण में शिक्षा ग्रहण की। उस समय पंजाब में लाहौर आर्यसमाज का प्रधान गढ़ था और समाज में दो दल हो गये थे। गुरुकुल पार्टी वेदप्रचार और संस्कृत के पठन-पाठन पर अधिक बल देती थी। इस दल ने आर्यसमाज के प्रचारकों को तैयार करने की दृष्टि से एक उपदेशक विद्यालय खोला था। कुछ समय तक भाईजी इसमें पढ़ते रहे, किन्तु इसके टूट जाने पर वे मैट्रिक की परीक्षा पास करके डी०ए०वी० कॉलिज में प्रविष्ट हुए। उस समय इनके सहपाठी साईंदास, गोकुलचन्द नारंग और दीवानचन्द थे। बी० ए० पास करने के बाद वे एबटाबाद में एंग्लो-संस्कृत स्कूल के मुख्याध्यापक बन गये। यहाँ रहते हुए उन्होंने एम० ए० पास करने का निश्चय किया और वे इसके लिए एक वर्ष तक कलकत्ता के प्रेजीडेंसी कॉलिज में पढ़ते रहे। यहाँ इतिहास में दिलचस्पी होने के उनका ध्यान अंग्रेज ऐतिहासिकों द्वारा कालकोठरी (ब्लैक होल) की घटन गया। कहा जाता है कि सिराजुद्दौला ने १७५५ ई० में कलकत्ता पर अधिकार क

लड़ाई में पकड़े गये १४६ अंग्रेजों को १८ फुट लम्बी तथा इतनी चौड़ी कोठरी में जून के महीने में बन्द करवा दिया था। अगले दिन सवेरे तक इनमें से १२३ अंग्रेज भीषण गर्मी और प्यास से दम घुटकर मरे पाये गये। भाईजी इस घटना के विषय में दिये जाने वाले सब प्रमाणों की जाँच करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह सर्वथा निराधार और कपोलकल्पित है। इससे उनके मन में उस समय पढ़ाये जाने वाले, अंग्रेजों द्वारा साम्राज्य-वादी दृष्टिकोण से लिखे गये इतिहासों में अनास्था उत्पन्न हो गयी। इसी समय से उनके मन में भारत का प्रामाणिक एवं सच्चा इतिहास लिखने की इच्छा उत्पन्न हुई।

१९०२ ई० में एम० ए० करने के बाद वे लाहौर के दयानन्द एंग्लोवैदिक कॉलिज में पढ़ाने लगे। उन दिनों कॉलिज की आर्थिक स्थिति अच्छी न थी। इसके प्रिंसिपल हंसराज ने त्यागभाव से ७५/-रुपया मासिक वेतन पर आजीवन कॉलिज का काम करने वाले जीवन-सदस्यों का एक ऐसा युवकदल तैयार किया, जिसने अपना जीवन कॉलिज तथा आर्यसमाज की उन्नति में लगा दिया। इनमें भाई परमानन्द का महत्त्वपूर्ण स्थान था। लाला हंसराज ने उस समय इनके बारे में लिखा था—"भाईजी के अन्दर त्याग की भावना पहले दर्जे की थी। उनके मन में यह विचार कभी न आया कि आर्थिक दृष्टि से मेरा जीवन किस प्रकार व्यतीत होगा। उनके समक्ष तो एक ही आदर्श रहा है कि वे हिन्दू-समाज की सेवा किस प्रकार कर सकते हैं। मुझे अच्छी तरह मालूम है कि उनके साथ काम करने वाले जीवन-सदस्यों के अन्दर अपने कष्टों का विचार करके जब कभी घबराहट पैदा होने लगती, तब भाईजी की लापरवाही की तबियत उनके हताश हृदयों में आशा की किरणें उत्पन्न कर देती। तब उन सबके अन्दर यही भाव आ जाता कि संसार के कष्ट आने-जाने वाले हैं, धूप-छाँह के समान नित्य नहीं हैं और उन्हें सहन करना मानव का उच्चतम कर्त्तव्य है।" इस प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिए कि कॉलिज का आजीवन सदस्य बनने के बाद एक बार पंजाब विश्वविद्यालय ने इन्हें परीक्षक बनने के लिए लिखा तो उन्होंने इन्कार कर दिया, क्योंकि उनका यह व्रत था कि "उन्हें कॉलिज से ७५/- की जो मासिक वृत्ति मिलती है, उसमें ये किसी अन्य साधन से वृद्धि नहीं करेंगे।"

(३) दक्षिण अफ्रीका की प्रचार-यात्रा और देवतास्वरूप बनना

डी० ए० वी० कॉलिज में पढ़ाते हुए भाईजी आर्यसमाजों के उत्सवों पर प्रचार के लिए जाते रहते थे। १९०५ ई० में दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों ने कॉलिज के प्रिंसिपल को वहाँ किसी धर्मनिष्ठ विद्वान् को प्रचार के लिए भिजवाने का अनुरोध करते हुए लिखा —"यहाँ के हिन्दुओं की दशा बहुत खराब है। विवाह करवाने के लिए उन्हें गिर्जों और मस्जिदों में जाना पड़ता है, क्योंकि वे अपने धर्म को बिल्कुल नहीं जानते हैं।" इस पत्र को लाला हंसराज ने कॉलिज की प्रबन्ध-समिति में रखा और कहा कि इस कार्य के लिए वहाँ केवल एक ही सज्जन जा सकते हैं। उनका संकेत भाई परमानन्द की ओर था। उन्होंने धर्मप्रचार के लिए अफ्रीका जाना स्वीकार कर लिया। वे इस कार्य के लिए वहाँ जाने वाले पहले भारतीय थे। वे अगस्त १९०५ ई० को मुम्बासा पहुँचे, वहाँ से नैरोबी होते हुए वर्ष के अन्त में डरबन पहुँचे। यहाँ गांधीजी से उनकी पहली भेंट हुई। डरबन में धर्मप्रचार के पश्चात् वे नेटाल की राजधानी पीटर मैरिट्जबर्ग पहुँचे। यहाँ की एक घटना ने उन्हें न केवल भारतीयों में, अपितु वहाँ के मूल निवासियों तथा यूरोपियनों में

भी बड़ा लोकप्रिय बना दिया। इससे प्रभावित होकर हिन्दू धर्म की दीक्षा लेने वाले एक यूरोपियन विलियम्ज के अनुसार यह घटना इस प्रकार थी :—

"एक दिन मैरिट्जबर्ग में भाईजी सैर करने गये। जब वे एक घण्टे बाद तक घर वापिस नहीं लौटे तो उनके साथियों को बड़ी चिन्ता हुई। मैरिट्जबर्ग से कुछ दूरी पर जंगल शुरू हो जाता था, वहाँ हब्शी रहा करते थे। इन्हें ढूँढने के लिए निकले विलियम्ज ने वहाँ एक झोपड़ी के बाहर बड़ी असाधारण भीड़ देखी। जब वह उस भीड़ में घुसा तो उसने झोपड़ी के अन्दर एक ऊँचे मोढ़े पर बैठे भाईजी को चारों ओर हब्शियों से घिरा तथा पूजा जाता हुआ देखा। उसने जब भाईजी से घर लौटने के लिए विलम्ब का कारण पूछा तो भाईजी ने कहा कि मैं इनमें फँस गया हूँ। जब विलियम्ज ने इसका कारण पूछा तो एक बूढ़े हब्शी ने कहा—"ये तो हमारे देवता हैं, पूजा के पात्र हैं।" विलियम्ज के लिए यह एक नयी पहेली थी। इसका रहस्य स्पष्ट करते हुए उस वृद्ध व्यक्ति ने कहा—"हममें से एक की लड़की ने आज सवेरे घर से शहद चुरा लिया। शायद उसकी चोरी की आदत थी। वह कई बार ऐसा कर चुकी थी। माँ उससे बड़ी क्रुद्ध हुई, उसने उसे अपनी झोंपड़ी से थोड़ी दूरी पर ले जाकर रस्सियों से एक पेड़ के साथ बाँध दिया। सूखी घास-फूस और झाड़-झंखाड़ भी उसके चारों ओर एकत्र कर दिये। सम्भवत: उसने निश्चय किया था कि वह उसे आग लगाकर भस्म कर देगी। इसके बाद वह किसी काम से घर चली गयी। पेड़ से बँधी यह लड़की रोती-चिल्लाती रही। इस बीच में ये देवता उधर से गुजरे। उन्होंने देखा कि एक लड़की को पेड़ से बाँधकर जलाने की तैयारी हो रही है। इन्होंने अपने हाथों से उसकी रस्सियाँ खोल दीं। फिर इसका स्थान स्वयं ले लिया और चारों ओर रस्सियाँ लपेट लीं। हो सकता है, इन्होंने रस्सियाँ बँधवाने में उससे मदद ली हो।

"हममें से एक हब्शी अपनी झोंपड़ी से निकलकर कहीं बाहर जा रहा था। उसने रस्सियों से बँधे इस देखता को देखा तो शोर मचाया। नर-नारियों तथा बच्चों की बड़ी भीड़ एकत्र हो गयी। इनको रस्सियों से बँधे देखकर सब चकित हो गये। एक ने पूछा—इन्हें किसने बाँधा है? दूसरे ने प्रश्न किया—यह काम कौन कर सकता है? तीसरे ने क्रोध में कहा—इसकी अक्ल मारी गयी है क्या? इतने में उस लड़की की माँ भी अपने छोटे बच्चे को गोद में लेकर वहाँ आ गयी। जब उसने इनको रस्सियों से बँधा देखा तब वह आश्चर्य से स्तब्ध रह गयी। उसने कहा—'अरे मैं तो अपनी छोटी बच्ची को बाँध गयी थी। उसे किसने खोला? उसके स्थान पर इस परदेशी को किसने बाँध दिया?' अब सब लोगों की समझ में सारी बात आ गयी। इस देवता ने ही उस लड़की को मुक्त करके उसका स्थान स्वयं ले लिया है ताकि वह लड़की बच जाय और यदि किसी को जलाना ही हो तो इनको जला दिया जाय।" इसके बाद मूल वासियों ने उन्हें आदर प्रदर्शित करने के लिए एक लम्बा हाथी-दाँत भेंट किया।

इस घटना के बाद न केवल अफ्रीका के मूल निवासी, अपितु भारतीय भी इनकी पूजा करने लगे, तब से उन्हें देवतास्वरूप कहा जाने लगा। अफ्रीका में इनके प्रचारकार्य का मूल्यांकन करते हुए श्री नरदेव वेदालंकार ने लिखा है—"आर्य संस्कृति के व्याख्याता भाई परमानन्दजी के नाम को आज भी हिन्दू-समाज श्रद्धा और मान से स्मरण करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे इस देश में हिन्दुओं के त्राता थे।" अफ्रीका में कुछ समय

तक प्रचार करने के बाद भाई परमानन्द को जब लाला लाजपतराय का लन्दन आने का निमन्त्रण मिला तो ये लन्दन चले गये।

(४) श्यामजी कृष्ण वर्मा से सम्पर्क

भाई परमानन्द की पहली लन्दन-यात्रा इस दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण थी कि इसमें वे उस समय के सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में आये। लन्दन में श्यामजी-कृष्ण वर्मा ने हाईगेट की बस्ती में एक मकान खरीदकर उसे **इण्डिया हाउस** का नाम दिया था। इसमें भारत से आने वाले छात्रों, राजनैतिक कार्यकर्ताओं को निवास की सुविधा दी जाती थी। अन्यत्र यह बताया जा चुका है कि वे स्वामी दयानन्द के शिष्य थे, उनसे बम्बई में संस्कृत पढ़ते रहे थे, उनकी प्रेरणा से संस्कृत के उच्च अध्ययन के लिए ऑक्सफोर्ड गये थे, वहाँ से शिक्षा प्राप्त कर बैरिस्टरी पास करके भारत लौट आये, कुछ समय भारत रहने के बाद पुनः इंग्लैण्ड चले गये। इस समय तक ये ब्रिटिश शासन के कट्टर विरोधी बन चुके थे। दिसम्बर १९०४ ई० में उन्होंने इंग्लैण्ड में पढ़ने के लिए आने वाले भारतीय छात्रों को सहायता देने के उद्देश्य से कुछ छात्रवृत्तियाँ देने की घोषणा की, किन्तु इसके साथ यह शर्त लगा दी कि उन्हें प्राप्त करने वाले ब्रिटिश सरकार की सेवा नहीं करेंगे। जनवरी १९०५ ई० से उन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता के समर्थन के लिए **इण्डियन सोशियोलोजिस्ट** (भारतीय समाजशास्त्री) नामक पत्र निकाला। इसके प्रथम अंक में ही इन्होंने स्पेन्सर के इस आदर्श का प्रबल समर्थन किया कि अत्याचारी शासक का प्रतिरोध न केवल न्यायोचित है, अपितु आवश्यक है। २४ फरवरी १९०५ ई० को उनकी अध्यक्षता में **इण्डियन होमरूल सोसायटी** की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य भारतीय जनता में जनता का, जनता द्वारा, जनता के लिए शासन स्थापित करना था। इस प्रकार श्यामजी उस समय लन्दन में ब्रिटिश शासन-विरोधी गतिविधियों के प्रमुख नेता थे।

दक्षिण अफ्रीका से चलते समय भाई परमानन्द को गांधीजी ने श्यामजी के नाम परिचय-पत्र दिया था, अतः वे लन्दन आकर 'इण्डिया हाउस' में ठहरे और उनके विचारों से प्रभावित हुए। वस्तुतः श्यामजी का 'इण्डिया हाउस' बनाने तथा भारतीय विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ देने का उद्देश्य उन्हें राष्ट्रीय विचारों से ओतप्रोत करना, उनमें ब्रिटिश शासन-विरोधी भावना उत्पन्न करना था ताकि भारत लौटकर वे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए उग्र आन्दोलन करें; विनायक दामोदर सावरकर आदि छात्रों के माध्यम से उनका यह उद्देश्य पूरा भी हुआ। भाईजी के कथनानुसार उस समय ब्रिटेन के विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले भारतीयों की संख्या हजार-डेढ़ हजार थी। प्रतिवर्ष ढाई सौ विद्यार्थी वहाँ जाते थे। इनमें से थोड़ी-सी संख्या भी ब्रिटिश-विरोधी राष्ट्रीय भावना से अनुप्राणित की जा सके तो भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को बड़ा बल मिल सकता था और अंग्रेजी शासन को भारत से हटाया जा सकता था।

१९०५ ई० में लार्ड कर्जन द्वारा किये गये बंगभंग से भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन प्रबल हुआ। बंगाल में इसे रद्द करने के लिए सभायें की जाने लगीं और जुलूस निकाले जाने लगे तथा स्वदेशी वस्तुओं के खरीदने का आन्दोलन शुरू हुआ। इसे बन्द करने के लिए सरकार ने इतना उग्र भीषण दमनचक्र चलाया कि बन्दे मातरम् गीत के गाने तथा नारे लगाने पर गिरफ्तारियाँ की जाने लगीं, कोड़े बरसाये जाने लगे। सुप्रसिद्ध बंगाली

नेता बाबू सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी को बारीसाल में एक जुलूस में राष्ट्रीय गीत गाने पर गिरफ्तार कर लिया गया। इस गिरफ्तारी का विरोध प्रकट करने के लिए ४ मई १९०६ को 'इण्डिया हाउस' में श्यामजी की अध्यक्षता में एक विराट् सभा हुई। इसमें सर्वश्री विट्ठलभाई पटेल (सरदार पटेल के बड़े भाई), डॉक्टर नौहरियाराम धर्मवीर सम्मिलित हुए। किन्तु लन्दन में विद्यमान कांग्रेस के नरमदली नेता गोपाल कृष्णगोखले, दादाभाई नौरोजी, उमेशचन्द्र बैनर्जी सभा में नहीं आये। 'इण्डिया हाउस' में ही भाईजी का सम्पर्क वहाँ रहने वाले सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्री विनायक दामोदर सावरकर से १९०७ ई० में हुआ।

भाई परमानन्द ने निश्चय किया कि वे लन्दन में कुछ समय ठहरकर ब्रिटिश संग्रहालय में विद्यमान भारतीय इतिहास की मूल सामग्री का गम्भीर अध्ययन करें और भारत का सच्चा इतिहास लिखें। वहाँ भारत के, विशेषतः आधुनिक भारत के इतिहास की जितनी बहुमूल्य मौलिक सामग्री और पुस्तकें हैं, उतनी विश्व के किसी दूसरे पुस्तकालय में नहीं हैं। यहाँ विभिन्न सरकारी रिपोर्टों, दस्तावेजों और पुस्तकों का अध्ययन करके वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अंग्रेजों द्वारा लिखे भारत के सभी इतिहास विशेष राजनैतिक उद्देश्य से प्रेरित होकर लिखे गये हैं। इनमें प्राचीन भारत के इतिहास की, हिन्दू जाति के उत्थान-पतन के कारणों की कोई मीमांसा नहीं की गई और वर्तमान काल में अंग्रेजों के शासन का अतीव उज्ज्वल, सुनहला तथा अतिरंजित चित्रण किया गया है। उन्होंने डेढ़ वर्ष तक लन्दन के किंग्ज कॉलिज में प्रविष्ट होकर ऐतिहासिक ग्रन्थों का गम्भीर अनुशीलन किया, बहुमूल्य सामग्री एकत्र की तथा लन्दन विश्वविद्यालय के लिए **'भारत में ब्रिटिश राज का उत्कर्ष'** नामक शोधप्रबन्ध लिखा। इसे किंग्ज कॉलिज के ब्रिटिश प्राध्यापक ने बहुत पसन्द किया, किन्तु दो एंग्लो-इण्डियन परीक्षकों को इसमें अंग्रेजों की आलोचना सह्य नहीं थी, अतः उनके विरोध के कारण यह शोध-प्रबन्ध विश्व-विद्यालय से स्वीकृत नहीं हो सका। बाद में इसी अध्ययन के आधार पर उन्होंने उर्दू में तारीखे-हिन्द लिखी।

इंग्लैण्ड में रहते हुए भाईजी ने ब्रिटिश संग्रहालय के पुस्तकालय में ब्रिटिश सरकार की शिक्षा-सम्बन्धी नीति के बारे में जब गोपनीय सरकारी दस्तावेजों का अध्ययन किया तो उन्हें पता लगा कि इसका वास्तविक उद्देश्य है भारतीयों को मानसिक दृष्टि से दास रखते हुए पराधीनता के पाश में इस ढंग से जकड़ना कि वे इससे कभी मुक्त न हो सकें। इस समय उन्होंने लिखा था—"मेरे इतिहास-सम्बन्धी अध्ययन ने मेरे विचारों में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। मुझे इस बात का विश्वास हो गया कि भारत में अंग्रेजों की शिक्षा-पद्धति हमारे राष्ट्र को राष्ट्रीयता से गिराने के लिए बनायी गयी है। विलियम बैंटिक द्वारा नियुक्त शिक्षासमिति के सदस्यों के तर्क पढ़कर मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि विजेता जातियाँ विजित देशों में अपनी भाषा तथा साहित्य के प्रचार के द्वारा विजित जातियों की राष्ट्रीयता नष्ट करके उन्हें अपने साथ बाँधना चाहती हैं।"

भाईजी ने जब ब्रिटिश सरकार की शिक्षा-नीति के उद्देश्य को स्पष्ट करने वाले सब ऐतिहासिक प्रमाण और सामग्री उस समय ऑक्सफोर्ड में पढ़ने वाले दिल्ली के सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी लाला हरदयाल को पढ़ने के लिए दिये तो उन पर इसका गहरा असर पड़ा। उन्होंने इस साहित्य को पढ़कर राष्ट्रीय शिक्षा पर एक लेख-माला लिखी। वे

अंग्रेजों के कट्टर विरोधी बन गये और उनके शासन का अन्त करना उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। इस समय उन्हें मेधावी छात्र होने के कारण भारत सरकार से एक तथा ऑक्सफोर्ड की शिक्षासंस्थाओं से दो छात्रवृत्तियाँ मिल रही थीं। उन्होंने इन तीनों वजीफों को यह कहकर लेने से इन्कार कर दिया कि "ये छात्रवृत्तियाँ पाप से लिथड़ी हुई हैं। भारतीयों का रक्त निचोड़कर यह रुपया एकत्र किया जाता है। इसे छूना भी पाप समझता हूँ।" यहीं से उनके क्रान्तिकारी जीवन का सूत्रपात हुआ। इस प्रकार भाईजी लाला हरदयाल को क्रान्ति की दीक्षा देने वाले गुरु थे। इस समय गोखले ने लाला हरदयाल को लन्दन में अपनी संस्था भारत-सेवक-समिति (सर्वेण्ट्स आफ इण्डिया सोसायटी) का सदस्य होने के लिए आमन्त्रित किया तो लाला हरदयाल ने उनसे कहा कि "आपकी सोसायटी का सदस्य बनने की एक बड़ी शर्त ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्त बने रहने की है। किन्तु मैं तो कल्पना भी नहीं कर सकता कि कोई राष्ट्रभक्त किसी विदेशी सरकार के प्रति राजभक्त रहने की प्रतिज्ञा कर सकता है। इस कारण मैं किसी भी दशा में आपकी सोसायटी का सदस्य नहीं बन सकता हूँ।" जब गोखले ने उनसे पूछा कि आप भारत से ब्रिटिश सरकार को निकालने के लिए कौन-से साधनों का प्रयोग करेंगे तो उन्होंने उत्तर दिया कि—"जब हम देश की जनता के अन्दर स्वतन्त्रता की इच्छा उत्पन्न कर देंगे और वह स्वतन्त्रता लेने के लिए तैयार हो जाएगी तो संसार की कोई शक्ति उसे न रोक सकेगी।" लाला हरदयाल को यह पाठ पढ़ाने वाले भाई परमानन्द ही थे। इसलिए ब्रिटिश सरकार उन्हें अब बड़ा खतरनाक समझने लगी।

इसी समय भारत की राजनीति में गरमदल का प्रभाव बढ़ने लगा तथा क्रान्तिकारी गतिविधियों के उग्र होने का प्रभाव 'इण्डिया हाउस' पर पड़ा। यहाँ क्रान्तिकारी नवयुवक अधिक संख्या में आने लगे। जब दामोदर सावरकर के भाई को काले पानी की की सजा हुई तो 'इण्डिया हाउस' के क्रान्तिकारी नवयुवक राष्ट्रभक्तों ने भारतमन्त्री के एडीकाँग सर कर्जन वायली की हत्या की योजना बनायी। मदनलाल ढींगरा ने इसे सम्पन्न किया और फाँसी की सजा पाने से पहले बड़ा उग्र क्रान्तिकारी वक्तव्य दिया। एक अन्य महाराष्ट्रीय नवयुवक कोरेगाँवकर मदनलाल ढींगरा का सहायक था। इन सब का भाई परमानन्द से सम्पर्क था। लाला लाजपतराय ने भाईजी को एक पत्र लिखकर उनसे प्रतिमास ऐसी पुस्तक भेजने की प्रार्थना की जो क्रान्तिकारी, या राजनैतिक उपन्यास, किसी राजनैतिक आन्दोलन का इतिहास या किसी राष्ट्रवादी नेता का जीवन आदि हो। उन्होंने इस कार्य के लिए श्यामजी कृष्ण वर्मा से आर्थिक सहायता प्राप्त करने की भी बात लिखी। १९०७ ई० के अन्त तक जब भाई परमानन्द लन्दन से लाहौर लौटे तो ब्रिटिश सरकार उनके लाला हरदयाल आदि क्रान्तिकारियों के साथ सम्पर्क रखने के कारण उन्हें उग्र क्रान्तिकारी समझने लगी थी। भाईजी को भारतमन्त्री के कार्यालय से कई बार ये संकेत दिये गये थे कि वे क्रान्तिकारी लोगों के साथ न मिलें, किन्तु उन्होंने इसकी परवाह नहीं की। किन्तु इसका सरकार पर बड़ा प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। उनका यह विश्वास था कि वे आर्यसमाज की संस्था डी० ए० वी० कॉलिज को जीवनदान दे चुके हैं, उसके आजीवन सदस्य हैं, आर्यसमाज के प्रचारक हैं, अतः उन्हें इस विषय में डरने की आवश्यकता नहीं है।

पंजाब की सरकार इस समय तक आर्यसमाज के राजद्रोही संस्था होने के

बारे में दृढ़ धारणा बना चुकी थी। बाद में पंजाब के लेफ्टिनैंट गवर्नर बनने वाले माइकेल ओडवायर ने अपनी पुस्तक 'भारत जैसा कि मैं उसे जानता हूँ' (इण्डिया ऐज आई न्यू इट) में लिखा था—"जैसा कि पंजाब के छोटे लाट डैंजिल इब्बटसन ने आर्यसमाज के शिष्टमण्डल को बताया था कि लगभग हर डिप्टी कमिश्नर का यह मत था कि जहाँ कहीं आर्यसमाज है, वह राजद्रोही विचारों का केन्द्र है। लाजपतराय, भाई परमानन्द और रामभज दत्त, जिनकी राजद्रोही सरगर्मियाँ पर्याप्त रूप से प्रकट हो गई हैं, उस समय आर्यसमाज के नेता समझे जाते थे। लाजपतराय और अजीतसिंह अपनी मुक्ति के पश्चात् भी सरगर्मी से कार्य करते रहे। लाजपतराय ने आर्य कालिज के प्रोफेसर भाई परमानन्द द्वारा श्यामजी कृष्ण वर्मा से प्रचार के लिए पुस्तकें भिजवाईं। भाई परमानन्द गदर पार्टी के सिखों और सरकार के विरोधी प्रमुख हिन्दुओं को मिलाने वाली कड़ी का काम करते थे।" इस सरकारी धारणा के कारण भाईजी पर दो मुकद्दमे चले और फाँसी की सजा हुई।

१९०७ ई० के अन्त में लन्दन से लाहौर आने पर भाई परमानन्द ने डी०ए०वी० कालिज में पढ़ाना और आर्यसमाज का प्रचार पूरी तन्मयता और तल्लीनता से आरम्भ कर दिया। १९०८ ई० की ईस्टर की छुट्टियों में उन्होंने डी० ए० वी० कालिज की प्रबन्ध-समिति की वार्षिक बैठक में यूरोप के अनुभवों पर भाषण देते हुए कहा—"यदि आर्यसमाज अपने लिये विशेष स्थान बनाना चाहता है तो हमें भारत में ईसाइयत की उन्नति को समाप्त कर देना चाहिए। इसका एक ही तरीका है—विभिन्न राज्यों के राजा और भारत के अन्य प्रतिष्ठित लोग अपने लड़कों को आर्यसमाज की ओर से मिशनरियों के रूप में समस्त देशों में भेजें।" वे आर्यसमाज को जगद्गुरु बनाने के लिए उसके प्रचारक संसार के हर देश में भेजना चाहते थे।

आर्यसमाज का प्रचार—फरवरी १९०९ ई० में उन्होंने आगरा आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर यही बात अधिक विस्तार के साथ बताते हुए कहा कि "सब धर्मों का मूल स्रोत वैदिक धर्म है, बाइबल और कुरान बाद में बनाये गये। हिन्दुओं के अज्ञान के कारण उनके वैदिक धर्म की शक्ति क्षीण हो रही है। देशवासियों को चाहिये कि वे वेद के ज्ञान का प्रचार करें। ईसाई आजकल पादरी भेज-भेजकर अपने पंथ को सारे संसार में फैलाने का यत्न कर रहे हैं। आर्यसमाज का कर्तव्य है कि वह संसार के विभिन्न भागों में प्रचारक भेजकर संसार की अधिकांश आबादी को आर्य धर्म के क्षेत्र में ले आये।" इस समय भाई परमानन्द अपने भाषणों में राष्ट्रीयता के विचारों का भी पूरा प्रचार करते थे। अप्रैल १९०९ ई० में अलीगढ़ में 'कर्तव्य' विषय पर भाषण देते हुए उन्होंने कहा—"भारतीयों का कर्तव्य है कि वे देश के हित के लिए अपना खून तक बहा दें।" जातीय उन्नति के लिए वे दलित जातियों के उत्थान पर और जातिभेद को समाप्त करने पर भी बल देते थे। १९०९ ई० में उन्होंने बर्मा, मद्रास, गुजरात का दौरा किया तथा आर्यसमाज के प्रचार के लिए सर्वत्र बड़े प्रभावशाली ओजस्वी भाषण दिये।

(५) तलाशी और गिरफ्तारी

किन्तु इसी समय लाहौर में ऐसा घटनाचक्र घूमा कि पुलिस ने उनके मकान की तलाशी ली और कुछ समय बाद उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। १९०९ ई० की गर्मी

की छुट्टियों में उन्होंने लाहौर का अपना मकान खाली कर दिया, क्योंकि ग्रीष्मावकाश के बाद उन्हें मद्रास के दौरे पर जाना था। इसके खाली होने पर सरदार भगतसिंह के पिता श्री किशनसिंह तथा चाचा अजीतसिंह ने इसे किराये पर लेकर अपनी संस्था भारतमाता का प्रधान कार्यालय बना लिया। इसी समय अजीतसिंह को पता लगा कि सरकार उन्हें शीघ्र ही गिरफ्तार करने वाली है। वे अपने साथी सूफी अम्बाप्रसाद के साथ कराची होते हुए ईरान भाग गये। इनके जाने के बाद भी पुलिस उस मकान पर कड़ी दृष्टि रख रही थी। अतः सरदार किशनसिंह इस मकान को छोड़ देना चाहते थे। नवम्बर में जब भाई-जी मद्रास के दौरे से लौटे तो उन्हें मकान की जरूरत थी। किशनसिंह ने कहा कि वे मकान छोड़ रहे हैं, भाईजी चाहें तो उसे ले लें। ३ नवम्बर को भाईजी ने मकान की चाबी लेकर उसमें अपना सामान रखा; श्री किशनसिंह के उस समय बाहर होने से उनका सामान भी उसी मकान में पड़ा रहा।

५ नवम्बर १९०९ ई० को पुलिस ने पंजाब में संदिग्ध राजद्रोहियों के नौ मकानों की एकसाथ तलाशी ली। इनमें भाई परमानन्द का अभी लाहौर में किराये पर लिया गया तथा करियाला गाँव का भी मकान था। पुलिस का प्रधान उद्देश्य अजीतसिंह को फँसाना था। उस मकान में भाईजी भी आते-जाते थे। इसीलिए उसने एक ढेले से दो क्रान्तिकारियों का शिकार किया। लाहौर के मकान में अजीतसिंह तथा लाला जी दोनों का सामान था। पहले दिन अजीतसिंह के सामान की तलाशी ली गई और अगले दिन भाईजी के सामान की। भाईजी के सामान में लालाजी की ओर से उन्हें लिखे गए कई गोपनीय पत्र तथा छुट्टियों में बाहर दौरे पर होने के समय उनके नाम आये पत्र-पत्रिकायें, पुस्तकें, लन्दन-यात्रा में उनके मन में उठने वाले विचारों तथा भारत के भावी संविधान के बारे में कई नोट थे। एक नोट में लिखा था कि देश की राजधानी दिल्ली होनी चाहिये, दूसरे नोट में हिन्दू-मुस्लिम समस्या का समाधान था, तीसरे नोट में यह विवेचना की गई थी कि कांग्रेस का आदर्श राणा प्रताप होना चाहिये या मानसिंह? सबसे खतरनाक सामग्री उनके नाम भेजा हुआ बम बनाने की प्रक्रिया का वर्णन करने वाला एक गुटका (मैनुअल) था।

जब भाई परमानन्द के सामान की तलाशी ली गई तो उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उनके मेज की दराज से अजीतसिंह के नाम लिखे पत्र निकलने लगे हैं। इससे यह स्पष्ट था कि पुलिस ने पहले दिन अजीतसिंह के कमरे की तलाशी लेते समय भाई-जी की अनुपस्थिति में उनके बहुत-से कागजात भाईजी के कागजों में जानबूझकर मिला दिये थे। इससे स्पष्ट था कि पुलिस उन्हें फँसाने का जाल रच रही थी। उसने उनके सामान से २० आपत्तिजनक पत्र, बम बनाने का गुटका, भारत के भावी संविधान पर उनके नोट तथा जो अन्य कागजात बरामद किये, उसके आधार पर सरकार द्वारा निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले गये—"भाई परमानन्द का कुछ वर्षों से कुख्यात क्रान्तिकारी लाला हरदयलाल, लिबरेटर के सम्पादक और एक जब्तशुदा पुस्तिका के लेखक ई०एच० जेम्ज, स्वराज्य (इलाहाबाद) के भूतपूर्व सम्पादक शान्तिनारायण, लाजपतराय, अजीत-सिंह, किशनसिंह और उन लोगों से सम्बन्ध है, जिन्हें राजद्रोहात्मक राजनैतिक योज-नाओं के लिए दण्ड मिल चुके हैं या जिनपर इनका गहरा सन्देह है। पिण्डीदास को राज-द्रोह के लिए सजा मिली थी, भाईजी ने उससे सहानुभूति प्रकट की थी। लाला लाजपत-

राय के पत्रों से पता चलता है कि उन्होंने भाई परमानन्द को समाजवादी, लोकतंत्रात्मक क्रान्तिकारी पुस्तकें मँगवाने का साधन बनाया। लालाजी ने उन्हें लिखा कि मुझे डर है कि पंजाब का आन्दोलन कहीं समय से पूर्व ही न फूट पड़े। बम बनाने का गुटका भी उनके सामान से मिला था। पंजाब सरकार के डिप्टी इंस्पेक्टर जनरल ने भारत सरकार को भाई परमानन्द की तलाशी से मिली सामग्री के बारे में लिखा था कि "उनके विरुद्ध पर्याप्त प्रमाण हैं।...भाई परमानन्द के विरुद्ध केस उतना ही प्रबल है, जितना गणेश दामोदर सावरकर के विरुद्ध था, जिसके कारण गणेश दामोदर सावरकर को बम्बई की सरकार ने सजा दिलवाई थी। इसीलिये मेरा मत है कि पंजाब सरकार को तुरन्त भाई परमानन्द के विरुद्ध एक्शन लेना चाहिए।"[1]

सरकार द्वारा कार्यवाही करने से पहले ही भाईजी ने कालिज से छुट्टी लेना उचित समझा, ताकि उनका कालिज सरकारी प्रकोप से बचा रहे। जिस रोज उनके मकान की तलाशी हुई, उसी दिन से वे कालिज से अवकाश लेकर अपने गाँव करियाला जाने के लिए तैयार हो गये। दयानन्द महाविद्यालय के अधिकारी भयभीत थे कि उनके कारण कालिज पर कोई मुसीबत न आये। लाला हंसराज अवश्य उनके जाने से शोकातुर थे, किन्तु प्रबन्ध-समिति के सदस्यों का व्यवहार उनसे अच्छा न था। वे उनसे मुक्ति पाना चाहते थे।

डी० ए० वी० कालिज पर दो वर्ष के भीतर यह दूसरा संकट था। पहला संकट १९०७ ईसवी में लाला लाजपतराय को देश-निर्वासन का दण्ड देने पर आया था। उस समय कालिज पार्टी के नेताओं ने लालाजी से सम्बन्ध-विच्छेद की घोषणा की तथा अपनी राजभक्ति के प्रदर्शन का अधिकतम प्रयास किया। इस विषय में भाई परमानन्द का यह कथन उल्लेखनीय है—"यह उनकी (डी० ए० वी० कालिज की प्रबन्ध-समिति की) आध्यात्मिक शक्ति की परीक्षा थी। लालाजी के राजनैतिक कार्य से आर्यसमाज का कोई सम्बन्ध न था, यह सारी दुनिया जानती थी। आर्यसमाज के नेताओं को अपने दिल का भय था, जिसके कारण वे दौड़े-दौड़े गये और सरकार के पाँव पर जा गिरे। सिख गुरुओं की भी परीक्षा हुई थी। गुरु खत्री थे। पंजाब के खत्रियों में उस समय आध्यात्मिक शक्ति थी। अब आर्यसमाजी नेताओं की आध्यात्मिकता ने डर के मारे विदेशी सरकार की शारीरिक शक्ति के सम्मुख सिर झुका दिया। फलतः आर्यसमाज में वह आध्यात्मिकता ही न रही। आर्यसमाज के लिए दूसरा अवसर मेरे अभियोग के समय आया। तब विदेशी सरकार की ओर से यह माँग हुई कि 'जो हमारे साथ नहीं हैं, वे हमारे विरोधी हैं।' आर्यसमाज ने इस विषय में निश्चय किया कि हम सरकार के साथ रहेंगे। इसी कारण अभियोग के आरम्भ होने से पूर्व ही मुझे दयानन्द कालिज से छुट्टी दे दी गई।" उस समय के प्रमुख आर्यसमाजी इस बारे में कितने अधिक भयभीत थे, यह इससे स्पष्ट है कि मुकद्दमा शुरू होते ही (प्रसिद्ध आर्यसमाजी वकील तथा नेता) बख्शी टेकचंद ने (जो बाद में हाईकोर्ट के जज बने) अपनी ओर से दी हुई जमानत मंसूख करवा ली। इसके परिणामस्वरूप भाईजी फिर गिरफ्तार कर लिये गये, इसके बाद एक अन्य सज्जन ने उनकी जमानत दी।

---

१. धर्मवीर—भाई परमानन्द, पृष्ठ १०३

उपर्युक्त तलाशी के लगभग दो महीने बाद करियाला गाँव से लाहौर लौटने पर ८ जनवरी १९१० ई० को भाईजी को गिरफ्तार कर लिया गया। तीन महीने से अधिक समय तक मुकद्दमा चलता रहा। सरकार का यह आरोप था कि वे आरम्भ से सरकार के विरोधी और राजद्रोही थे, बर्मा, मद्रास, दक्षिण अफ्रीका में सरकार के विरुद्ध कार्य करते रहे। १० अप्रैल १९१० ई० को विशेष मैजिस्ट्रेट ने इस मामले का निर्णय सुनाया कि वे तीन वर्ष के लिए जमानत दें या यह अवधि कैद में व्यतीत करें। भाईजी का विचार था कि "सार्वजनिक कार्य करने वाले हर मनुष्य के लिए इस देश में जेल जाना न केवल लाभदायक है, अपितु आवश्यक है।"[1] वे जमानत देना नहीं चाहते थे, किन्तु मैजिस्ट्रेट तथा मित्रों के आग्रह से उन्हें विचार बदलना पड़ा। यदि वे उस समय जेल चले जाते तो शायद उनपर दूसरा मुकद्दमा न चलता और फाँसी की सजा न मिलती।[2]

अभियोग समाप्त होने पर वे लाहौर में रहकर कोई सार्वजनिक कार्य नहीं कर सकते थे, अतः वे अपने गाँव करियाला चले गये। इस समय उन्होंने एक पुराना कार्य पूरा करने का संकल्प किया। लन्दन में भारतीय इतिहास का अध्ययन करते हुए उन्होंने काफी नोट बनाये थे तथा अन्य सामग्री एकत्र की थी। उनकी बर्मा-यात्रा के समय उनके लाहौर के निवासस्थान से इस सामग्री की रहस्यमय ढंग से चोरी हो गई थी। इसका उन्हें बड़ा दुःख था। अब उनके मित्रों ने अनुरोध किया कि आप अपनी स्मृति के आधार पर साधारण पुस्तकों की सहायता से **'तारीखे हिन्द'** लिख डालिये। गाँव में रहते हुए उन्होंने छोटी कापियों पर उर्दू में भारत का इतिहास लिख डाला। उन्हें क्या मालूम था कि यह उनके गले में फाँसी का फन्दा डालने वाला बनेगा।

(६) अमेरिका की यात्रा और वहाँ के भारतीयों में कार्य

कुछ समय गाँव में रहने के बाद वे तंग आ गये। उन्होंने जमानत के तीन वर्ष विदेश में बिताने का निर्णय किया। यह इसलिये आवश्यक था कि सरकार द्वारा दण्डित होने के कारण उनके मित्र उनसे मिलने और बातचीत करने में कतराते थे; उन्हें यह भय था कि कहीं वे सरकारी कोप का पात्र न बन जायँ। उन्होंने आजीवन आर्यसमाज का कार्य किया था, किन्तु अब उसने अपनी कायरता के कारण उन्हें अपने कार्य से मुक्त कर दिया था। कोई सार्वजनिक, सामाजिक कार्य और सम्पर्क न होने के कारण उनका देर तक भारत में रहना सम्भव न था। एक बार सजा होने के बाद उन्हें यहाँ कोई संस्था भविष्य में कोई नौकरी नहीं दे सकती थी। अतः उन्होंने यह विचार किया कि उन्हें विदेश में कोई उद्योग-धन्धा सीखकर स्वतन्त्र व्यवसाय करना चाहिए। उन दिनों स्वदेशी आन्दोलन का जोर था। सब दवाइयाँ विदेशों से आती थीं। उन्होंने विदेश जाकर औषध-निर्माण-कार्य सीखने का निश्चय किया। इससे वे अपना स्वतन्त्र व्यवसाय चला सकते थे, अच्छी आजीविका कमा सकते थे और औषधियों के विदेश से मँगाने पर स्वदेश का रुपया विदेश में जाने से रोक सकते थे। उन दिनों यह उद्योग अमरीका में न्यूयार्क, कैलीफोर्निया आदि कई विश्वविद्यालयों में सिखलाया जाता था, अतः उन्होंने वहाँ जाने का

---

१. भाई परमानन्द और उनका युग, पृ० १०३

२. भाई परमानन्द जयन्ती स्मारिका, १९६८ ई० में राय गोपीचन्द का लेख

निर्णय किया।

अक्टूबर १९१० ई० में केवल चौंसठ रुपये तथा भगवद्गीता हाथ में लेकर वे बम्बई से जहाज द्वारा अमरीका रवाना हुए और अगले सवा तीन वर्ष तक घोर आर्थिक कष्ट उठाते हुए उन्होंने अपना संकल्प पूरा किया। औषध-निर्माण-शास्त्र का अध्ययन करने के लिए पहले जब वे न्यूयार्क से फिलाडेल्फिया पहुँचे तो पता लगा कि वहाँ नवीन शिक्षासत्र आरम्भ हुए काफी समय हो चुका है। न्यूयार्क के फार्मेसी कालिज में भी प्रवेश नहीं मिला। अब उन्हें अगले वर्ष ही प्रवेश मिल सकता था।

इस एक साल का सदुपयोग उन्होंने विदेशों में बसे भारतीयों में आर्यधर्म और संस्कृति का प्रचार करने में लगाने का निश्चय किया। गोरे जमींदारों के फार्म पर काम करने के लिए सस्ते मजदूरों के रूप में ले जाये गये शर्त्तबन्द (गिरमिटिया) भारतीयों की बड़ी संख्या ब्रिटिश गायना में रहती थी। उनमें वैदिक धर्म के प्रचार के लिए वे जार्ज टाउन के लिए रवाना हो गये। छः दिन बाद जब उनका जहाज मार्तीनीक टापू के बन्दरगाह पोर्त द फ्रान्स में रुका तो भाईजी को याद आया कि पेरिस में गिरफ्तारी से बचने के लिए सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी लाला हरदयाल यहाँ आये हुए हैं। उनसे मिलने के लिए वे एक महीना उसी टापू में रहे। लाला हरदयाल इस समय गौतम बुद्ध को आदर्श मानकर उनके चरण-चिह्नों पर चलते हुए एक गुहा में रहकर तपस्या का कठोर जीवन बिता रहे थे। भाईजी ने उन्हें गीता के कर्मयोग का पाठ पढ़ाते हुए कहा—"चिरकाल हुआ, गौतम बुद्ध ने जो तप किया, उससे भारत का क्या बना? एक दृष्टि से उसने दासत्व के लिए पथ प्रशस्त किया। आपने पर्याप्त तप कर लिया है। अब आप सं० रा० अमरीका में जाकर कुछ काम कीजिये। वहाँ आपको समय के अनुकूल कार्यक्षेत्र मिल जायगा। गौतम बुद्ध को त्यागकर स्वामी विवेकानन्द को अपना आदर्श बनाइये। इसी आदर्श की आवश्यकता भारत और शेष संसार को है।" लालाजी पर भाईजी की बातों का प्रभाव पड़ा, वे अमरीका जाकर भारतीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन चलाने के लिए सहमत हो गये और भाईजी को गुरुतुल्य मानने लगे।

१९११ के आरम्भ में पहले ब्रिटिश गायना तथा बाद में ट्रिनीडाड में भारतीयों में धर्म-प्रचार करने के बाद वे कैलीफोर्निया की राजधानी सानफ्रांसिस्को पहुँचे और वहाँ फार्मेसी कॉलिज में प्रवेश लिया। डेढ़ वर्ष तक काम करते हुए वे पढ़ते रहे। किन्तु यहाँ पढ़ने के अतिरिक्त उनका दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य कैलीफोर्निया के भारतीयों में देशभक्ति की भावना उत्पन्न करना तथा भारत की स्वतन्त्रता के लिए उन्हें संगठित करना था। उन दिनों अमरीका के पश्चिमी तट पर भारतीय, विशेष रूप से पंजाबी सिख बड़ी संख्या में बसे हुए थे और सम्पन्न भी थे। यहाँ भारतीयों के आने का इतिहास बड़ा मनोरंजक है। इस विषय में भाईजी ने लिखा है—"इंग्लैंड ने सिंगापुर, शंघाई और हांगकांग को अपने अधिकार में लाने के बाद वहाँ अपनी पलटनें रखना आरम्भ किया। इसके लिए सेना के अतिरिक्त पुलिस में भी बहुत-से पंजाबी भर्ती किये गये। संयोग से इनमें से एक जहाज पर चढ़कर अमरीका चला गया। वहाँ उसे काम करने पर इतनी अधिक मजदूरी प्रतिदिन मिलने लगी, जितनी उसे पुलिस की नौकरी करके एक महीने में मिलती थी। उसने अपने मित्रों को पत्र लिखे कि वे भी वहाँ उसके पास आ जायें, क्योंकि इस देश में काम की बड़ी कदर है और खूब पैसा मिलता है। बहुत-से सिक्ख पलटन और पुलिस की

नौकरी छोड़कर अमरीका जा पहुँचे। इन लोगों ने बाद में अपने घरवालों को अपने पास बुला लिया। शनैः-शनैः अमरीका और कनाडा के पश्चिमी किनारे पर काम करने वाले पंजाबी कई हजार हो गये। पंजाबी मजदूर अमरीकी मजदूरों की तुलना में इस दृष्टि से अच्छे थे कि वे अपनी कमाई शराब में नहीं उड़ाते थे, जमकर और अच्छा काम करते थे। इसलिये लकड़ी आदि के कारखानों के अमरीकी मालिक और जमींदार अमरीकी मजदूरों के स्थान पर इनके काम को अधिक पसन्द करते थे। ये लोग जहाँ तक हो सकता था भारतीय विद्यार्थियों की सहायता करते। गोरे मजदूरों के साथ काम करने से भारतीयों के अन्दर से गोरे रंग का रोब उठ गया। वहाँ कई बातों में ये अपने-आपको गोरों से बेहतर पाते थे। स्वाभाविक रूप से इनके अन्दर यह भाव उत्पन्न हुआ कि वे भी गोरों के समान मनुष्य हैं।[1] कनाडा के वैनकोवर, विक्टोरिया आदि बड़े नगरों में कई लाख रुपये व्यय करके सिक्खों ने गुरुद्वारे बना लिये। कई-एक ने बड़े खेत खरीद लिये और वे धनाढ्य बन गये। सम्पन्न होने पर भी दूसरे दर्जे का नागरिक होने के कारण उन्हें मातृ-भूमि भारत के पराधीन होने के कारण वहाँ नाना प्रकार के तिरस्कार और अपमान सहने पड़ते थे। इस कारण इनमें शनैः-शनैः देशभक्ति, राष्ट्रीयता तथा भारत को स्वाधीन कराने की भावना बलवती हो रही थी।

भाई परमानन्द यह चाहते थे कि लाला हरदयाल इन नवयुवकों का क्रान्तिकारी संगठन बनायें और भारत को पराधीनता के पाश से मुक्त करें। जब वे अमरीका पहुँचे तो लालाजी मार्तीनीक से निकलकर होनोलूलू टापू में पहुँच गये थे। वहाँ शंकर, काण्ट, हेगल, और मार्क्स के ग्रन्थों का अध्ययन कर रहे थे। उन्होंने लाला हरदयाल को कैलि-फोर्निया बुलाया और यह योजना बनाई कि पंजाब और भारत से कुछ छात्र अध्ययन के लिए छात्रवृत्तियाँ देकर कैलिफोर्निया बुलाये जायँ, उन्हें यह प्रेरणा दी जाय कि वे यहाँ से लौटकर मातृभूमि की सेवा करें। इस प्रकार की **गुरु गोविन्दसिंह छात्रवृत्तियों** के लिए एक सम्पन्न अमरीकी कृषक भाई ज्वालासिंह ने रुपया देने का वचन दिया। इन छात्र-वृत्तियों के लिए आये छः सौ प्रार्थना-पत्रों में नन्दसिंह, गोविन्द बिहारी लाल, पैंडियन आदि छः उम्मीदवार चुने गये। ये कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में पढ़ते थे और छात्रावास में लाला हरदयाल इन्हें देशभक्ति और क्रान्ति का पाठ पढ़ाते थे। लालाजी को उन दिनों वहाँ लेलैण्ड स्टेनफोर्ड विश्वविद्यालय में भारतीय दर्शन और संस्कृत के अध्ययन का कार्य भी मिल गया था। कुछ समय तक वे बर्कले (कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय का परिसर) में आतंकवादियों का एक स्कूल चलाते रहे।

कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में इतिहास के प्राध्यापक स्वर्गीय डा० खैरायती-राम ने लालाजी तथा भाईजी के सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुए लिखा था—"लाला हरदयाल सान्फ्रान्सिस्को में थे। कुछ भारतीय विद्यार्थियों पर उनका बहुत ज्यादा प्रभाव पड़ा। पढ़ना छोड़कर वे उनके पीछे लग गये। अपनी योजनाओं को क्रियात्मक स्वरूप देने से पूर्व कुछ बातों ने लालाजी पर प्रभाव डाला। एक तो उन्होंने भारतीय क्रान्ति-कारी नेता भाई परमानन्द जी के परामर्श तथा बहुमूल्य सुझावों को ध्यान से सुना। उन्होंने लालाजी को बताया कि मनुष्य को किस प्रकार लोगों तक, उनके मनोविज्ञान

---

१. हिन्दू, लाहौर, १३ अगस्त १९३४

तथा उनकी आवश्यकताओं तक पहुँचना चाहिए। इन पर आचरण करने से नवयुवक नेता हरदयाल को बहुत सफलता मिली। सान्फ्रान्सिस्को में अपनी सरगर्मियों के कारण उन्हें प्रमुखता प्राप्त हुई और प्रशान्त महासागर के किनारे आमूल परिवर्तनवादी क्रान्तिकारी मंडलियों के आकर्षण के वे प्रमुख केन्द्र बन गये।"

इसी समय भारत में लाला हरदयाल के सहयोगी मास्टर अमीरचन्द, जितेन्द्र-मोहन चटर्जी, भाई परमानन्द के चचेरे भाई बालमुकुन्द तथा रासबिहारी बोस भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन को आगे बढ़ा रहे थे। इनका सबसे बड़ा साहसिक कार्य २३ दिसम्बर १९१२ के दिन चाँदनी चौक की शोभा-यात्रा में हाथी पर सवार वायसराय लार्ड हार्डिंग पर बम फेंकना था। इस घटना का मार्मिक चित्रण करते हुए वीर सावरकर ने लिखा है—"हमारी भारत-भूमि पर ही राष्ट्र का अपमान हो रहा था। राष्ट्र के लिए यह मातमी जुलूस था। फलस्वरूप जब लोग चाँदनी चौक में फूल बरसा रहे थे, तब जिन्होंने इसे अपमान समझा, उनके प्रतिनिधि ने बम फेंका। हाथी डर के मारे भागा। एडीकांग मारा गया और वायसराय को रक्त-स्नान करवाया गया। पाँच मिनट तक तो सभी ने समझा कि वायसराय चल बसा है। सचमुच ही विजय की यात्रा शोकयात्रा में बदल गई।"[1]

दिल्ली की घटना का समाचार पाने पर लाला हरदयाल ने रेडिकल क्लब में भारतीय सदस्य-छात्रों को सान्फ्रांसिस्को में बुलाकर कहा कि—"मेरे एक साथी ने लार्ड हार्डिंग का बुरा हाल किया है।" छात्र खुशी में बन्दे मातरम् गाने और नाचने लगे। जनवरी १९१३ के आरम्भ में लाला हरदयाल ने **युगान्तर** सर्कुलर तैयार किया। इसके आग उगलने वाले तथा क्रान्ति की ज्वाला भड़काने वाले कुछ अंश इस प्रकार हैं—"२३ दिसम्बर के बम, तेरा बार-बार स्वागत है। आशा और साहस के अग्रदूत, सोई हुई आत्माओं के जगाने वाले प्रबोधक, तुम तो ठीक समय पर आये हो।...जालिम खुश थे। भाड़े के टट्टुओं ने समझा था कि वे सुरक्षित हैं। परन्तु अत्याचारियों ने आँख ऊपर उठाई तो देखा कि नये युग का श्रीगणेश हो चुका है। टुकड़ाखोरों को सुधार और रियायतें देकर सन्तुष्ट करने का प्रबन्ध किया गया। नौकरियाँ पैदा की गईं। वकीलों की खातिर कौन्सिलों का विस्तार किया गया, कुत्तों के सामने हड्डियाँ फेंककर उन्हें सन्तुष्ट किया गया। ब्रिटिश साम्राज्य को तख्ते-ताउस, झूलते हाथियों और सुनहले पत्रों की सहायता से सुदृढ़ बनाने का यत्न किया गया। परन्तु जालिम यह तो भूल ही गया कि जिन लोगों ने युगान्तर को अपने रक्त से लिखा था, उनकी जाति मरी नहीं।" सरकारी दमन की निरर्थकता को स्पष्ट करते हुए कहा गया था—"चाँदनी चौक में युगान्तर की भावना ने वज्र की वाणी में संसार से कहा—"मैं अभी जीवित हूँ। अत्याचारी चेत जाएँ, लोग हर्ष मनायें, क्योंकि मैं सदा जिन्दा हूँ और मैं सदा ही जिन्दा रहूँगी।"[2] वज्रवाणी ने यह विजयघोष किया है : भारत के लोगो, जहाँ जालिम रहता है, वहाँ मैं भी रहता हूँ। फिर बम अग्नि की जिह्वा है, जो मेरे शब्दों का उच्चारण करती है।...दरबार और बम को साथ-साथ चलना चाहिए ताकि पृथिवीतल पर दरबार नजर न आएँ। बम की नैतिक

---

१. धर्मवीर—लाला हरदयाल, पृ० १९६-२०२

२. गृह राजनैतिक बी०/जनवरी १९१६, रा० अ०, नई दिल्ली

शक्ति का कौन बखान कर सकता है ! यह तो घनीभूत नैतिक डायनामाइट है। बलवान् और धूर्त्त जब बल के गर्व में अपने असहाय शिकार के सम्मुख अपनी शान का प्रदर्शन करते हैं, जब धनी और दुर्बल कुर्सी पर जा बैठते हैं और अपने गुलामों को अपने सामने झुकने के लिए तथा पूजा करने के लिए कहते हैं और कोई उनको मुकाबला करने के लिए तैयार नहीं मालूम देता है, तब उस अन्धकार में मानवता के गौरव(की रक्षा) के निमित्त बम आता है और अत्याचारी को मिट्टी में मिला देता है।"[1]

(७) गदर आन्दोलन

भाईजी के शिष्य ने युगान्तर का यह सिंहनाद उस समय किया जब वे कैलीफोर्निया में औषध-निर्माण का पाठ्यक्रम पूरा करके भारत लौटने की तैयारी कर रहे थे। इसी समय मार्च १९१३ में कुछ पंजाबियों ने सेण्ट जान में एक सम्मेलन बुलाने का निर्णय किया। यहाँ सूफी अम्बाप्रसाद के शिष्य पण्डित काशीराम लकड़ी के कारखाने में ठेकेदार थे तथा कई भारतीय उनके नीचे काम करते थे। लाला हरदयाल ने भाईजी से अनुरोध किया कि वे भारत लौटने से पहले इस सम्मेलन में सम्मिलित हों और वे उन्हें अपने साथ इसमें ले गये। इसमें प्रधान विचारणीय प्रश्न था कि भारत की सर्वोत्तम सेवा किस प्रकार हो तथा इसके लिए इकट्ठा किये धन का उपयोग किन कार्यों में किया जाय। भाईजी अपनी पुरानी सम्मति पर अटल थे कि इससे योग्य होनहार भारतीय नवयुवकों को अमरीकी विश्वविद्यालयों में नवीन विद्यायें और विज्ञान सीखने के लिए छात्रवृत्तियाँ दी जायँ और वे स्वदेश लौटने पर मातृभूमि की सेवा करें। किन्तु लाला हरदयाल का दृढ़ विश्वास था कि इससे हमें गदर-आन्दोलन आरम्भ करने के लिए छापाखाना बनाना चाहिए, समाचारपत्र निकालने चाहियें। सम्मेलन के संयोजकों ने भाई परमानन्द को वहाँ रोककर उनसे यह कार्य पूरा करने को कहा, किन्तु वे जल्दी स्वदेश लौटना चाहते थे। उनके पास वापसी टिकट था, अतः गदर-आन्दोलन चलाने का उत्तरदायित्व लाला हरदयाल को सौंपा गया।

इस समय कई परिस्थितियाँ इस आन्दोलन के लिए अनुकूल भूमि प्रस्तुत कर रही थीं। अमरीका के पश्चिमी तट पर भारतीय मजदूरों, दुकानदारों की संख्या लगभग पाँच हजार तक पहुँच गई थी। अमरीकी मजदूर इनसे ईर्ष्या करते थे। उन्होंने आन्दोलन किया कि भारतीय उनकी आजीविका छीन रहे हैं। अतः उनके अमरीका आने पर प्रतिबन्ध लगाया जाय। इस उद्देश्य से कैलीफोर्निया राज्य में ऐसा कानून बनाया जा रहा था कि जो मनुष्य अमरीकी नागरिक नहीं बन सकता है, वह न तो भूमि खरीद सकता है और न ही पट्टे पर ले सकता है। सिक्ख इसके विरुद्ध आन्दोलन चलाना चाहते थे। उन्होंने इसका नेतृत्व करने के लिए लाला हरदयाल से कहा तो उनका विचार था कि जबतक भारत अंग्रेजों के अधीन है, अमरीका ही नहीं, बल्कि कोई भी अन्य राष्ट्र उन्हें समान अधिकार न देगा, अतः उन्होंने सिक्ख नवयुवकों को समझाया कि उन्हें अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध करना चाहिए। भारतीय नवयुवकों ने उनकी बात स्वीकार कर ली। लालाजी ने भारत में ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए १९१३ में 'गदर पार्टी' का संगठन किया।

---

१. वही, पृ० २००

पहली नवम्बर १९१३ को इसकी ओर से **'गदर'** पत्र का प्रकाशन किया। इसमें लाला हरदयाल के प्रमुख सहयोगी सर्वश्री करतारसिंह सराबा, पिंगले, खानखोजे, जगतसिंह, पृथ्वीसिंह, भगवान्सिंह तथा बरकतुल्ला थे। १९१४ के मध्य में जर्मनी के साथ इंग्लैंड की लड़ाई छिड़ने पर लाला हरदयाल ने इसे स्वर्ण अवसर समझा और सब भारतीयों को भारत लौटने, वहाँ जाकर अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध छेड़ने तथा छावनियों में भारतीय सैनिकों को ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध विद्रोह का प्रचार करने की प्रेरणा की और नवयुवक करतार सिंह गाने लगे—चल चलिये, देश नूं युद्ध करन।

इस समय ब्रिटिश सरकार को अपने गुप्तचरों से गदर पार्टी के बारे में पर्याप्त सूचनायें मिल चुकी थीं। उसके जासूस क्रान्तिकारियों का पीछा कर रहे थे। भाई परमानन्द लाला हरदयाल को सेण्टजान में छोड़कर जब भारत लौटने के लिए लन्दन पहुँचे तो उन्होंने देखा कि ब्रिटिश गुप्तचरों की उनपर कड़ी नजर है। इस समय वे वहाँ लाहौर में दवाइयाँ तैयार करने के कारखाने के लिए कुछ मशीनें बनवाना चाहते थे। इनके तैयार होने में कुछ समय लगना था, अतः वे कुछ समय लन्दन रुक गये और इस समय का उपयोग उन्होंने ब्रिटिश संग्रहालय में बैठकर भारत के इतिहास का शेष भाग लिखने में किया और लाहौर पहुँचते ही अपने प्रकाशक पिण्डीदास को इसे छापने के लिए दे दिया ताकि इस सामग्री की दुबारा चोरी न हो सके।

दिसम्बर १९१३ में भारत आने पर बम्बई बन्दरगाह पर होने वाली घटनाओं ने उन्हें भावी अमंगल की सूचना दे दी। उनका जहाज बन्दरगाह से कई मील दूर खड़ा कर दिया गया। पुलिस को आशंका थी कि वे अपने साथ बम आदि खतरनाक सामग्री ला रहे हैं। जहाज पर गुप्तचर पुलिस के एक उच्च अधिकारी के साथ पहुँच गये, ताकि भाई जी अपना सामान इधर-उधर न कर सकें। कस्टम वाले ने दूसरे यात्रियों के सामान के धोखे में उनका सामान देखकर पास कर दिया, किन्तु जब उसे पुलिस से अपनी भूल मालूम हुई तो उसने दुबारा दो घण्टे तक भाई जी के बैग और ट्रंक की एक-एक वस्तु बड़े ध्यान से देखी, किन्तु जब उसे कोई आपत्तिजनक सामग्री नहीं मिली तो पुलिस अधिकारियों को बड़ा आश्चर्य हुआ। लाहौर पहुँचने तक उनपर पुलिस का कड़ा पहरा रहा। दिल्ली में उन्हें एक पुलिस अधिकारी ने परामर्श दिया कि वे छोटे लाट साहब से मिल लें तो बेहतर होगा। भाईजी का कहना था—"लेफटीनैण्ट गवर्नर से मेरी कोई गरज नहीं है। अगर उसे जरूरत होगी तो वह मुझे बुला लेगा।"

भाईजी ने लाहौर पहुँचकर कचहरी रोड पर दवाइयाँ बनाने का कारखाना खोल लिया, **प्रकाश** तथा **हिन्दुस्तान** नामक पत्रों में लेख लिखने लगे, आर्यसमाज के कार्य में बड़े उत्साह से भाग लेने लगे। अब आर्यसमाज के नेता तो उनसे कन्नी काटते थे, किन्तु उनके शिष्य तथा सामान्य आर्यसमाजी उनके उपदेशों में गहरी दिलचस्पी लेते रहे। इस समय उन्होंने आर्यसमाज के प्रचार को एक नई दिशा देने का प्रयास किया। उनका विचार था कि "आर्यसमाज के प्रचारकों को गाँवों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। किसी विशेष गाँव में अपनी सारी शक्ति केन्द्रित करनी चाहिये। एक बड़े विशाल क्षेत्र में काम करने से शक्ति अधिक व्यय होती है और आर्यसमाज की जड़ें गहरी नहीं जम पाती हैं।"

लाहौर में भाई परमानन्द जी के पास अमरीका में छपने वाले 'गदर' की प्रतियाँ

अज्ञात रूप से नियमपूर्वक पहुँचती रहती थीं और वे उन्हें जनता में वितरण के लिए पिंडीदास आदि स्थानीय आन्दोलनकारियों में बाँट देते थे। उनका दवाइयों का कारखाना सरकार को काँटे की तरह खटक रहा था। सरकारी अधिकारी इसे दवाओं का नहीं, अपितु बम बनाने का कारखाना समझते थे। पंजाब के छोटे लाट सर माइकेल ओडवायर ने कौंसिल आफ स्टेट के सदस्य रायबहादुर रामसरनदास की उपस्थिति में कहा था कि—"भाई परमानन्द का कहना है कि वे दुकान में दवाइयाँ बनाते हैं, परन्तु ईश्वर ही जानता है कि वे वहाँ क्या बनाते हैं।" उनका आशय था कि वे यहाँ विस्फोटक द्रव्यों का निर्माण करते हैं।

अगस्त में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर गदर पार्टी के नेताओं ने अमरीका में बसे भारतीयों को भारत जाकर क्रान्ति करने और हिन्दुस्तानी सेना को अंग्रेजों के विरुद्ध भड़काने के लिए कहा। इसके परिणामस्वरूप बड़ी संख्या में भारतीय अमरीका से भारत आने लगे। आते हुए रास्ते में हांगकांग, सिंगापुर, रंगून आदि जिन बन्दरगाहों में इनका जहाज रुकता था, ये लोग वहाँ की भारतीय सेनाओं में जाते और उन्हें सरकार के विरुद्ध भड़काते थे। सिंगापुर में एक पल्टन पर पंडित परमानन्द के व्याख्यान का ऐसा प्रभाव पड़ा कि इसके अफसरों ने लड़ाई पर जाने से इन्कार कर दिया। अंग्रेजों ने जापानी सैनिकों के सहयोग से इस विद्रोह का दमन किया। इस स्थिति में सरकार ने यह निश्चय किया कि विदेशों से आने वाले प्रत्येक भारतीय को नजरबन्द कर लिया जाय। पाँच हजार व्यक्ति इस प्रकार नजरबन्द कर लिये गये। थोड़े-से व्यक्ति ही सरकार की तीव्र दृष्टि से बचकर भारत में पहुँच सके और उन्होंने छावनियों में बगावत कराने का प्रयास किया।

भारत में उस समय इस कार्य के नेता भाई परमानन्द थे। उन्होंने अमरीका के भारतीयों और रासबिहारी बोस आदि भारतीय क्रान्तिकारियों को परस्पर जोड़ दिया। रासबिहारी ने कहा था कि "जब १९१४ ई० में मैं बनारस में छिपा हुआ था, तब भाई परमानन्द ने एक मित्र के द्वारा मुझे सन्देश भिजवाया। यह मेरे लिये स्फूर्ति का महान् स्रोत सिद्ध हुआ। इसने मुझे भारतमाता की सेवा के लिए और भी सक्रिय बना दिया। मैं उस समय खिन्नचित्त और निराश पड़ा हुआ था, किन्तु भाईजी के सन्देश ने मुझे नवजीवन और नवीन कार्यक्षेत्र प्रदान किया।" अमरीका से आने वाले नौजवान जोशीले कार्यकर्ता पण्डित जगतराम की भी उन्होंने बहुमूल्य सहायता की। राजद्रोही साहित्य का प्रचार भी सरकार की गुप्त रिपोर्टों के अनुसार इनके द्वारा किया जाता रहा। इस समय महायुद्ध शुरू होने के बाद प्राय: सभी अंग्रेज फौजें विदेशों में लड़ने चली गयी थीं और यह कहा जाता था कि भारत में अंग्रेज कुत्ता भी भौंकने के लिए नहीं रहा। क्रान्तिकारियों ने शत्रु पर हमला करने का यही स्वर्ण अवसर समझा और रासबिहारी द्वारा २१ फरवरी १९१५ ई० को सेनाओं द्वारा विद्रोह करने की तारीख निश्चित की गयी, किन्तु यह योजना सरकार को देशद्रोहियों से पहले ही ज्ञात हो गयी और इस कारण सफल नहीं हो सकी। सरकार ने बड़े पैमाने पर इस योजना के नेताओं—कर्तारसिंह, जगतसिंह, हरनामसिंह, पिंगले आदि को गिरफ्तार कर लिया और भाई परमानन्द को भी इसी मामले में दूसरी बार लाहौर षड्यन्त्र के मामले में पकड़ लिया।

(८) लाहौर षड्यन्त्र केस

इस समय ब्रिटिश सरकार के विचार के अनुसार भाई परमानन्द बदनाम क्रान्तिकारी लाला हरदयाल के साथी थे, कर्जन वायली को गोली मारने वाले मदनलाल ढींगरा से लन्दन में मिलते रहते थे, लाला लाजपतराय ने इनसे क्रान्तिकारी साहित्य मँगवाया था, क्रान्ति का प्रचार करने वाला अखबार **'गदर'** इनके पास आता था और ये उसे डी० ए० वी० कालिज के अपने छात्रों द्वारा जनता में बँटवाते थे। सरकार की निन्दा करने के लिए लिखी गयी इनकी पुस्तक **'तारीखे हिन्द'** नौजवानों को पढ़ने के लिए दी जाती थी। अजीतसिंह और लाला हरदयाल की आर्थिक सहायता करने के लिए इन्होंने धन एकत्र किया था। इनके घर की तलाशी में बम बनाने के उस गुटके की प्रति निकली जो कलकत्ता के मानकतल्ला बगीचे में पुलिस को मिला था और जिसमें बम बनाने के नुस्खे और उसके प्रयोग के तरीके लिखे थे। इन सब प्रमाणों के आधार पर उनकी पुस्तक 'तारीखे हिन्द' जब्त कर ली गयी। २० फरवरी को उनके मकान की तलाशी ली गयी और २५ फरवरी १९१५ ई० को उन्हें बन्दी बना लिया गया। इस मामले में ६५ अभियुक्त थे। एक विशेष अदालत इस अभियोग को सुनने के लिए बनायी गयी। इसके दो जज अंग्रेज तथा एक भारतीय था।

मुकद्दमा शुरू होने पर सरकारी वकील ने भाई परमानन्द को सरकार के विरुद्ध एक बड़े भारी षड्यन्त्र का नेता और सबसे अधिक खतरनाक अपराधी बताया। उसके कथनानुसार इस षड्यन्त्र की नींव उस समय रखी गयी जब भाईजी अमरीका में थे। उसका कहना था—"ये वास्तव में हरदयाल को भी सिखलाने वाले हैं, यद्यपि इनके विरुद्ध पर्याप्त प्रमाण नहीं हैं। ये घास में छिपे हुए साँप के समान हैं जो अधिक खतरनाक होता है। इनके विरुद्ध प्रमाण क्यों नहीं हैं ? इसका उत्तर यह है कि ये बहुत सजग और सचेत रहे हैं। इन्होंने कोई ऐसी बात नहीं की, जिससे ये फँस जायें।"

वस्तुतः इस मामले में सरकार पूरा प्रयत्न करने पर भी भाईजी के विरुद्ध कोई पुष्ट प्रमाण नहीं जुटा सकी थी। किन्तु न्यायालय का प्रधान न्यायाधीश मेजर इरविन इन्हें दण्ड देने पर तुला हुआ था। उसने इनकी तारीखेहिन्द को सरकार के विरुद्ध विद्रोह भड़काने वाला माना। इनके वकील श्री रघुनाथसहाय का कहना था कि इस पुस्तक में कोई ऐसी बात नहीं है जो कनिंघम, मालेसन, हण्टर, विलसन और जेम्स मिल जैसे प्रामाणिक अंग्रेज ऐतिहासिकों ने न लिखी हो।

किन्तु इरविन ने अपने फैसले में लिखा— "निःसन्देह इतिहासकार को यह अधिकार प्राप्त है कि जो तत्त्व शरारत से भरा हो या नैतिकता के विरुद्ध हो, उसकी आलोचना करे···किन्तु उसको यह अधिकार नहीं है कि वह ऐतिहासिक पुस्तक के बहाने किसी का अपमान करे। शासक जाति के विषय में तो वह कोई ऐसी बात कह ही नहीं सकता है जिससे प्रजा उससे घृणा करने लगे। इतिहासकार जिस सरकार की प्रजा है, उस पर वह आक्रमण नहीं कर सकता है। वह जाति या व्यक्ति के गुण-दोष बता सकता है, परन्तु इतिहासकार यदि किसी के दोष ही दोष बताता है और उसके गुणों का उल्लेख ही नहीं करता है तो वह इतिहासकार नहीं है; वरन् अपने अधिकारों का अनुचित उपयोग करता है और अपने-आपको सरकार और जनता के सम्मुख इसके लिए उत्तर-

दायी ठहराता है।

"अंग्रेजों के विषय में लेखक ने पाठकों के अन्दर यह विचार उत्पन्न किया है कि इनकी ईस्ट इण्डिया नाम की व्यापारी कम्पनी ने भाँति-भाँति की चालाकियों, बेईमानियों, षड्यन्त्रों और भ्रष्ट उपायों से काम लेकर अपने-आपको शासक बना लिया। इस पुस्तक का सबसे अधिक आपत्तिजनक भाग वह है जिसमें गदर के कारणों के अतिरिक्त यह बताया गया है कि वह असफल क्यों रहा। लेखक का कहना है कि गदर विद्रोहियों के किसी दोष या नासमझी या गलतफहमियों के कारण असफल नहीं हुआ, वरन् शासकों की अत्याचारपूर्ण कार्यवाहियों और देशी राज्यों के अधिकारों, विशेष रूप से भारतीयों के अधिकारों में साधारण रूप से अनुचित हस्तक्षेप के कारण हुआ। 'गदर' अखबार के परचों में सावरकर के इतिहास के जो भाग हमने पढ़े हैं, उनसे पता चलता है कि तारीखे-हिन्द में गदर का वर्णन सावरकर की पुस्तक के आधार पर दिया गया है। गदर की असफलता के कारणों पर प्रकाश डालते हुए लेखक अपने पाठकों को चेतावनी देता है कि भविष्य में इन बातों का ध्यान रखा जाय। उदाहरणार्थ ये शब्द पंजाबी के मन पर क्या प्रभाव डालेंगे—"इस प्रकार भारत में तूफान (गदर) समाप्त हो गया। इसकी असफलता का एक बड़ा कारण यह था कि इन्हीं हिन्दुस्तानी रेजिमेण्टों ने सात वर्ष पूर्व अंग्रेजों के लिए पंजाब जीता था। इसका बदला लेने के लिए पंजाबियों ने अंग्रेजों की खातिर भारत जीता। दूसरे शब्दों में पंजाबियों को बताया गया कि वह बदले की भावना थी जिससे प्रेरित होकर अंग्रेजों की सहायता करने के लिए पंजाबियों के पूर्वपुरुषों ने गदर को दबाया था।"

अन्त में न्यायाधीशों का निष्कर्ष था—"हमारा मत है कि इस प्रकाशन का उद्देश्य केवल यही है कि भारत में अंग्रेज बादशाह की सरकार के विरुद्ध घृणा उत्पन्न करके उसे निन्दनीय ठहराया जाय। इस कारण लेखक पर धारा १२४-ए लगायी जाती है। हमें यह सन्देह करने का कोई कारण नहीं मालूम होता है कि यह पुस्तक सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र के निमित्त ही लिखी गयी थी। अन्त में हम यह कह सकते हैं कि अभियुक्त न केवल वर्तमान षड्यन्त्र में भाग लेने वालों में से एक है, बल्कि वह सबसे महत्त्वपूर्ण क्रान्तिकारियों में से एक है।" न्यायाधीशों ने इन्हें भारतीय दण्ड-विधान की धारा १२१ (सरकार के विरुद्ध युद्ध करने में सहायता), १२१-ए तथा १२४ के अन्तर्गत दोषी पाया। मेजर इरविन (प्रधान कमीशन) तथा टी० पी० एलिस (विशेष सदस्य) ने फाँसी की सजा तथा अभियुक्त की सारी सम्पत्ति सरकार के हक में जब्त करने की सजा दी। तीसरे सदस्य शिवनारायण ने उपर्युक्त दण्ड से असहमति प्रकट करते हुए फाँसी के स्थान आजन्म कालेपानी की सजा की सिफारिश की थी।

इस मुकद्दमे में भाईजी सहित २४ व्यक्तियों को फाँसी की तथा ३७ को कालापानी की सजा सुनायी गयी थी। इस समय अभियुक्तों के मन में देशभक्ति की इतनी प्रचण्ड भावना थी कि उन्हें इससे तनिक भी घबराहट नहीं हुई, अपितु प्रसन्नता ही हुई। एक अभियुक्त को जब कालापानी की सजा सुनाई गयी तो उसने कहा—"मैं फाँसी चाहता हूँ।" करतारसिंह को फाँसी की सजा सुनाई गयी तो उसने कहा—थैंक्यू। सब देशभक्त अभियुक्त आनन्दपूर्ण राष्ट्रीय गीत गाते हुए फाँसी के पवित्र दिवस की प्रतीक्षा करने लगे।

इस समय भी भाई परमानन्द के मन में आर्यसमाज के मिशन के प्रचार की बातें घूम रही थीं। इन दिनों इन्होंने **प्रताप** के सम्पादक को कहा था—"आर्यसमाज का मिशन संसार के लिए यह है कि वह असत्य मतों को नष्ट कर मनुष्यमात्र के लिए सत्य का प्रकाश करे। लेकिन इसके साथ-साथ या इससे पूर्व वह हिन्दू समाज के अन्दर आत्मिक बल के द्वारा नवजीवन उत्पन्न करे क्योंकि हिन्दू समाज ने ही अब तक वैदिक धर्म की रक्षा की है। मैं समझता हूँ कि आर्यसमाज का कार्य अभी तक विस्तार के ढंग पर हुआ है। ऊपर के बहुत फैलाव के बजाय अब विशेष प्रदेश या स्थानों में यह फैलाव गहरे तौर पर होना चाहिये। किसी गाँव या तहसील के सब लोगों को आर्यसमाज में लाना चाहिये।" जब उनसे पूछा गया कि 'क्या उनके जीवन का उद्देश्य पूरा हो गया है?' तो उन्होंने उत्तर दिया कि "बचपन में मैंने निश्चय कर लिया था कि मैं इसे हिन्दू समाज और हिन्दू राष्ट्र की सेवा में लगा दूँगा। मुझे सन्तोष है कि मेरा जीवन अपने उद्देश्य को पूरा करने में खर्च हुआ है।" यह स्पष्ट है कि फाँसी की कालकोठरी में भी उन्हें आर्यसमाज के विकास और इसे सुदृढ़ करने की चिन्ता बनी हुई थी।

भाईजी को प्राणदण्ड देने पर उनकी पत्नी ने रघुनाथसहाय वकील को शिमला भेजा कि वे व्यक्तिगत रूप से वायसराय की कौन्सिल के सदस्यों से मिलकर उनके सम्मुख सारी स्थिति रखें और वायसराय द्वारा फाँसी की सजा आजन्म कारावास में बदल जाय। महामना मालवीय तथा कौन्सिल के अन्य सदस्य इस निर्णय पर हैरान थे। ऐसा मालूम होता था कि पंजाब सरकार इन अभियुक्तों को फाँसी दिलाने पर तुली हुई थी। 'सिविल एण्ड मिलिटरी गजट' ने लिखा था—"पंजाब सरकार की धारणा है कि सबको फाँसी देना आवश्यक है, क्योंकि वह स्थानीय परिस्थिति से परिचित है।" इसकी नीति थी कि यह दण्ड ऐसे भीषण लोगों पर शासन का आतंक बनाये रखने के लिए आवश्यक है।

किन्तु भारत सरकार इस नीति से सहमत न थी। श्री विजय राघवाचारियर उस समय वायसराय की कौन्सिल के सदस्य थे। ये बड़े योग्य वकील थे; वायसराय इनका मान करता था। ये समझते थे कि भाई परमानन्द के साथ अन्याय हुआ है। इन्होंने पहले इसकी चर्चा वायसराय की पत्नी से और बाद में वायसराय से की। वायसराय ने भाई परमानन्द तथा अन्य पन्द्रह व्यक्तियों का प्राणदण्ड कालेपानी में बदल दिया। भाईजी के शब्दों में "यदि वायसराय हार्डिंग जैसा सहनशील और कोमल हृदय हो तो सरकार की नीति एक होती है। यदि राज्यपाल ओडवायर जैसा खूँखार और अलोकप्रिय हो तो सरकार की नीति दूसरी होती है। हममें से कई को कुछ दिन कष्ट भोगना और दुनिया का तमाशा देखना था, इसलिए हार्डिंग की नरममिजाजी गालिब आयी; दो मास के अन्दर चौबीस में से सोलह की फाँसी की सजा कालापानी में बदल गयी।"

मृत्यु का आनन्द—फाँसी की सजा रद्द हो जाने पर भाईजी की प्रतिक्रिया प्रसन्नता की नहीं, अपितु खेद की थी। फाँसी के फन्दे पर झूलकर क्षणभर में सब कष्टों से मुक्ति मिल जाती है, किन्तु कालापानी में जीवन-भर प्रतिपल भीषण कष्टों तथा अत्याचारों को सहते हुए जिन्दगी बितानी पड़ती है। फाँसी की सजा पाने पर अधिकांश अभियुक्त अतीव प्रसन्न थे कि वे मातृभूमि की बलिवेदी पर बलिदान होने वाले हैं। उस समय अपनी तथा साथियों की मानसिक स्थिति का वर्णन करते हुए भाई परमानन्द ने लिखा है—"फारसी की कहावत है—मर्गे अम्बोह जश्ने दारद (सबके साथ मरेंगे

तो खुशी ही खुशी रहेगी)। साधारण लोग इस बात को अनुभव नहीं कर सकते हैं कि हमारी अवस्था सचमुच जश्न या उत्सव की थी। दिन में कोई क्षण न होता जब कोई न कोई यह भजन या वह राष्ट्र-गान न गा रहा होता। ये गीत हमारे साथियों ने पहले बनाये थे या जेल के अन्दर तैयार किये थे। हम आधी रात तक अपनी कोठरियों में एक-दूसरे से बातें करते और हँसते थे, तब थककर नींद के नशे में बेहोश हो जाते। हमारे सिपाही चकित होते। उनमें से कई ऐसी टिप्पणी करते कि क्या आप लोग बरात के साथ जा रहे हैं या फाँसी के लिए तैयार हो रहे हैं? वे बेचारे यह समझ न सकते थे कि इस फाँसी में क्या आनन्द है?"[1]

मृत्यु के आनन्द से वंचित होकर जब भाई परमानन्द अपने साथियों के साथ कालापानी पहुँचे और उन्हें वहाँ जेल की भीषण यातनायें दी गयीं तो उनको भी उन्होंने गीता के स्थितप्रज्ञ की भाँति बड़े आनन्द के साथ सहा। मनुष्य को संसार से बाँधने वाली जंजीरों को तोड़कर वे वहाँ जीवन्मुक्त की स्थिति में अद्भुत आनन्द का अनुभव करते रहे; जो दूसरों के लिए दुःख और बन्धन का कारण बनती हैं, वे उनके लिए मुक्ति का साधन बन गयीं। इस समय भगवद्गीता उनका सम्बल थी। दिन-रात इसका पाठ करने से उन्हें यह कण्ठस्थ हो गयी थी। इसका 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' का श्लोक उनके लिए बीजमन्त्र बन गया। उनके शब्दों में—"श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो प्राणियों के लिए रात है, उसमें योगी जाग रहा होता है और जब प्राणी जाग रहे होते हैं, तब वह उसे रात समझता है। जिसे जनसाधारण सबसे बड़ी व बुरी कैद समझते थे, क्योंकि उसके अन्दर अँधेरे में बन्द रहना पड़ता, उसे मैंने सचमुच माया के जाल से मुक्ति का अवसर समझा।"[2]

किन्तु उनकी पत्नी भागसुधि को लाहौर में भीषण कष्ट उठाने पड़े। सरकारी आदेश से भाईजी की सारी सम्पत्ति, यहाँ तक कि रसोई के बर्तन तक जब्त कर लिए गये थे। आर्य बन्धु उनकी पत्नी की सहायता करते हुए डरते थे। इन दिनों उस दुर्भाग्य-पीड़िता ने आर्यसमाज की पाठशाला में पढ़ाकर लाहौर की अन्धेरी सीलनभरी कोठरी में रहते हुए इतनी कठिनाई से जीवनयापन किया कि उसकी दो कन्यायें क्षयरोग से पीड़ित होकर काल की बलि हुईं। किन्तु सब तरह के दुःखों और निराशाओं में भी, सावित्री ने जैसे पहले फाँसी की सजा से सत्यवान को मुक्त करवाया था, वैसे ही वह अब कालापानी से उन्हें मुक्त कराने के लिए सी० एफ० एण्ड्रयूज तथा गांधी को पत्र लिखने लगीं और उनके प्रयास से पाँच वर्ष बाद २० अप्रैल १९२० ई० को उनकी अण्डमान की जेल से मुक्ति हो गयी।

इसके बाद भाई परमानन्द ने अपना शेष सारा जीवन हिन्दू राष्ट्र और हिन्दू संस्कृति की रक्षा में समर्पित किया। लाला लाजपतराय पाँच वर्ष के निर्वासन के बाद स्वदेश लौटे थे; भाई परमानन्द काले पानी में पाँच साल रहकर लौटे थे। असहयोग के कार्यक्रम को स्वीकृति देने वाले कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन के अध्यक्ष लालाजी थे और भाईजी इसमें विशेष प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए थे। जेल में रहते हुए उन्हें

---

१. धर्मवीर—भाई परमानन्द और उनका युग, पृ० २०२

२. धर्मवीर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २१८

चिन्तन का अत्यधिक अवसर मिला था। उनके शब्दों में "पाँच बजे शाम अँधेरी कोठरी में बन्द कर दिया जाता था। तेरह घण्टे अन्दर पड़ा रहता; संसार के धन्धों से मुक्त होकर विचार करने के लिए इससे बढ़कर कोई अवसर न हो सकता था। चिरकाल के इस अभ्यास का प्रभाव मन और आत्मा दोनों पर हुआ। ऐसी अवस्था में अकस्मात् मुक्ति हुई। मन की एक प्रबल शक्ति लेकर मैं बाहर आया। इस प्रकार मेरा जो दृष्टिकोण बना, उसके अन्दर इतना सामर्थ्य था कि वह इधर-उधर न हिलाया जा सकता था। वह दृष्टिकोण बिलकुल निर्दोष, शुद्ध और पवित्र था। मेरा विचार था कि हिन्दू राष्ट्र और हिन्दू संस्कृति की रक्षा करना इस समय का परम धर्म है।" वे मृत्युपर्यन्त इसी कार्य में लगे रहे।

(६) राष्ट्रीय शिक्षा का कार्य : कौमी विद्यालय

किन्तु इसके साथ ही उन्होंने अपने देशभक्ति और क्रान्ति के कार्य को एक सर्वथा नवीन ढंग से पूरा किया। यह था राष्ट्रीय शिक्षा के माध्यम से देश के लिए जीवन समर्पित करने वाले बलिदानी क्रान्तिकारी नवयुवकों को राष्ट्र की सेवा के लिए तैयार करना। भाईजी के जेल से छूटने के समय भारत में असहयोग आन्दोलन को तैयारी शुरू हो चुकी थी। असहयोग आन्दोलन का एक महत्त्वपूर्ण अंग सरकारी स्कूलों तथा कालिजों का बहिष्कार था। सरकारी शिक्षासंस्थाओं का बायकाट करने वाले छात्रों की शिक्षा के लिए विभिन्न प्रान्तों के बड़े नगरों—पूना, वाराणसी, दिल्ली, लाहौर आदि में राष्ट्रीय विद्यापीठ खोले गये। लाहौर में लाला लाजपतराय ने तिलक राजनीति विद्यालय स्थापित किया। उसे इन्होंने अपनी कोठी और पुस्तकालय समर्पित कर दिया। इसकी व्यवस्था के लिए चार न्यासी (ट्रस्टी) नियुक्त किये। इनमें से एक भाई परमानन्द थे।

जेल से छूटने के बाद महात्मा गांधी ने भाई परमानन्द से पूछा था कि अब वे क्या करना पसन्द करेंगे? उन्हें गांधीजी के असहयोग के कार्यक्रम में सबसे महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय शिक्षा प्रतीत हुई थी। अतः उन्होंने इसी क्षेत्र में कार्य करने के लिए गांधीजी को कहा था। लन्दन में रहते हुए भारत में अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति प्रचलित करने के कारणों तथा उद्देश्यों के बारे में लार्ड विलियम बैंटिक के समय के पुराने कागजात और दस्तावेजों का अध्ययन करने के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि इस शिक्षा का उद्देश्य भारतीयों को गुलाम बनाये रखना है। उन्होंने अपने एक शिक्षा-विषयक लेख में लिखा था—"ऐतिहासिक रिकार्डों के अध्ययन से मुझे यह विश्वास हो गया है कि इस शिक्षा-पद्धति का उद्देश्य है कि देश के लोगों के अन्दर से राष्ट्रीय भावना, देशभक्ति और राष्ट्रीय प्रेम मिटाकर उन्हें अंग्रेजी भाषा और पश्चिमी सभ्यता की नकल करने वाला बनाया जाय। यही तरीका ब्रिटिश राज को मजबूत करता है। इंग्लैण्ड से लौटने पर मैं इन विचारों का प्रचार करता रहा हूँ। मेरी प्रबल इच्छा थी कि श्री दयानन्द कालिज अपने लिये शिक्षा का स्वतन्त्र ढंग निकाले। अब कालापानी से वापसी पर कांग्रेस ने यह अवसर दिया। मैंने इसके लिए काम करना स्वीकार कर लिया है।"[1]

राष्ट्रीय शिक्षा के सम्बन्ध में उनके कई मौलिक एवं क्रान्तिकारी विचार थे।

---

१. वही, पृ० २७१

पहला मातृभाषा द्वारा शिक्षा देना था। उनका दृढ़ विश्वास था कि अंग्रेजी आदि विदेशी भाषा में दी जाने वाली शिक्षा स्वाभाविक नहीं कहला सकती है। शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य यह है कि इससे बच्चे के मन को विकसित किया जाय, उसके दिल और दिमाग का पोषण किया जाय। किन्तु जब इन विचारों को विदेशी भाषा का दुर्ज्ञेय वेश पहनाकर कठिन बना दिया जाता है, तब उसका प्रभाव दिल और दिमाग पर कैसे हो सकता है! उनकी कठिनता और दुस्साहस उनके समझने के आनन्द को समाप्त कर देते हैं। उनके शब्दों में—"हम अपने बच्चों की शिक्षा की ओर ध्यान दें तो मालूम होता है कि इसका आधा समय अंग्रेजी सीखने में चला जाता है, शेष आधे का बड़ा भाग अंग्रेजी में विभिन्न विषय पढ़ने में। बहुत देर तक बच्चों को इन विषयों की समझ ही नहीं होती है, इनसे अनुराग होना तो दूर रहा।...हमारे नवयुवक रसायनशास्त्र में मास्टर की डिग्री प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु उन्हें रसायनशास्त्र का ज्ञान कम होता है। लड़के इतिहास के एम० ए० हो जाते हैं, परन्तु उन्हें इतिहास का कुछ पता नहीं होता है।"[1]

दूसरा बड़ा दोष आचरण को खोखला बनाना है। उनके कथनानुसार इसने हमारे नवयुवकों के आचरण को खोखला बना डाला है। यह शिक्षा हमें केवल नकल कराना सिखाती है। इस शिक्षा का आधार और सार पश्चिमी सभ्यता की बुराइयों की नकल करते हुए अपनी सभ्यता के गुणों को तिलांजलि देना है। यह ठीक है कि जहाँ कहीं गुण देखा जाय, उसे हम अपने अन्दर ले लें, परन्तु लेने और देने में अन्तर पाया जाता है। जापान ने पश्चिम के गुण लेकर उन्हें आत्मसात् कर लिया। हम पश्चिमी गुण ग्रहण कर अपनी राष्ट्रीयता को बिगाड़ लेते हैं। एक आदमी पौष्टिक भोजन लेकर शरीर को मजबूत बना लेता है। दूसरा बहुत-सा मांस लेकर पेट पर बाँध लेता है, जिसका कोई अर्थ (लाभ) नहीं है।

तीसरा दोष परीक्षा-पद्धति का है। यह छात्रों के जीवन तथा मस्तिष्क के लिए बड़ा कष्टप्रद है। भाईजी के सुन्दर शब्दों में—"प्राइमरी से लेकर बी०ए० तक विद्यार्थी को न मालूम कितनी परीक्षाओं में से गुजरना पड़ता है। तिमाही और छमाही की परीक्षायें, जिन पर विद्यार्थी की उन्नति निर्भर होती है, उसके लिए अचानक मृत्यु-स्वरूप होती हैं। वार्षिक परीक्षा में प्रश्न हल करने या समझने में लड़के से एक भी गलती हो जाती है तो उसका साल बरबाद हो जाता है। यह एक गलती हो गयी तो क्या हुआ? वह वर्ष-भर तो पढ़ता रहा है, फीस देता रहा है; यदि उसका दिमाग कमजोर या स्मरण-शक्ति कम है तो उसका क्या दोष है? प्रकृति ने ही उसे ऐसा बनाया है। फेल कर देने से उसका दिमाग और खराब होगा और वह कोई उन्नति न कर सकेगा। हमारे यहाँ परीक्षायें बच्चों के दिमाग कमजोर करने के लिए होती हैं, जब कि सभ्य संसार परीक्षाएँ उड़ा देना चाहता है।" वार्षिक परीक्षाओं के स्थान पर वे प्रति सप्ताह पढ़े विषय की लिखित या मौखिक परीक्षा लेने के पक्षपाती थे, ताकि विद्यार्थी सालभर निश्चिन्त होकर पढ़ता रहे। उन्हें कौमी विद्यालय में इन सब दोषों को दूर करने का बहुमूल्य अवसर मिला।

लाला लाजपतराय ने तिलक विद्यालय को सामाजिक और राजनैतिक अध्ययन

---

१. वही, पृ० २७३

के केन्द्र के रूप में खोला था। असहयोग ने इसका रूप बदल दिया। अब स्कूल के लड़कों के लिए कौमी विद्यालय तथा कालिज के छात्रों के लिए कौमी महाविद्यालय (नेशनल-कॉलिज), राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं के लिए लोक सेवक मण्डल (सर्वेण्ट्स ऑफ दी पीपल सोसायटी) खोला गया। एक मैडिकल कॉलिज तथा औद्योगिक स्कूल भी आरम्भ किया गया। भाईजी को कौमी विद्यालय का कुलपति और शिक्षा-बोर्ड का अध्यक्ष बनाया गया। वे प्रतिदिन कॉलिज में इतिहास पर व्याख्यान भी दिया करते थे। उन्होंने लगातार छः वर्ष तक बिना वेतन लिये ये सभी कार्य किये—शिक्षा-सम्बन्धी आदर्शों को मूर्त रूप दिया, नवयुवकों में देश के लिए त्याग व बलिदान की भावना उत्पन्न की, उन्होंने अपने जीवन, आचरण, भाषण, व्यवहार से इस महाविद्यालय में राष्ट्रीयता का वातावरण बनाया, देश के लिए तन-मन-धन न्यौछावर करने वाले, उसे गुलामी की जंजीरों से मुक्त कराने वाले तरुणों की नयी पीढ़ी तैयार की। सरदार भगतसिंह, सुखदेव, यशपाल आदि अनेक क्रान्तिकारी उनके शिष्य थे। यहाँ भगतसिंह के चरित्र-निर्माण में उनके योगदान का संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है।

(१०) भगतसिंह तथा भाईजी

भगतसिंह के पिता सरदार किशनसिंह से भाईजी का पुराना और घनिष्ठ परिचय था। असहयोग आन्दोलन शुरू होने पर भगतसिंह नवीं कक्षा में पढ़ते थे; इसमें भाग लेने के लिए उन्होंने स्कूल छोड़ दिया। आन्दोलन बन्द होने पर किशनसिंह अपने बच्चे को कौमी महाविद्यालय में दाखिला कराना तथा भाईजी से राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाना चाहते थे। इसमें प्रवेश की न्यूनतम योग्यता मैट्रिक थी। भगतसिंह मैट्रिक पास नहीं थे। इस स्थिति में उन्हें कॉलिज के प्रथम वर्ष में कैसे दाखिल किया जाय? पहले बताया जा चुका है कि भाई परमानन्द परीक्षाओं और डिग्रियों में विश्वास नहीं रखते थे; उन्हें ज्ञान की कसौटी या मानदण्ड नहीं मानते थे। संभवतः उनकी क्रान्तदर्शी दृष्टि ने भगत-सिंह के क्रान्तिकारी जीवन की सम्भाव्यता को पहले ही आँक लिया था। उन्होंने भगत-सिंह की मैट्रिक के प्रमाण-पत्र की अपेक्षा उसकी योग्यता और जिज्ञासा-वृत्ति को अधिक महत्त्व दिया। भगतसिंह अंग्रेजी में कमजोर थे, पर उन्हें स्कूली पुस्तकों के अतिरिक्त ऐतिहासिक और राजनैतिक पुस्तकें पढ़ने का बेहद शौक और जबर्दस्त चाव था। इन विषयों में भगतसिंह का ज्ञान अपने साथियों से बढ़-चढ़कर था। भाईजी इस नवयुवक के व्यक्तित्व, वार्त्तालाप, बुद्धिमत्ता और आदर्शवादी दृष्टिकोण से बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने भगतसिंह को अपनी शिक्षा की कमी और कमजोरी दूर करने का दो महीने का समय दिया। दो महीने तक भगीरथ परिश्रम करके भगतसिंह ने जब अपनी योग्यता से भाईजी को सन्तुष्ट कर दिया तो उन्होंने उसे कौमी महाविद्यालय में प्रवेश की अनु-मति दे दी। यदि भगतसिंह का उस नेशनल कॉलिज में प्रवेश न होता तो यह कहना कठिन है कि उसके क्रान्तिकारी जीवन का निर्माण किस प्रकार होता। सम्भवतः उस जैसे बहुमुखी प्रतिभा वाले क्रान्तिकारी व्यक्तित्व का निर्माण न हो पाता।

भाईजी इतिहास की अपनी कक्षाओं में अंग्रेजों के विरुद्ध पुराने विद्रोहों की तथा विश्व के स्वतन्त्रता-संग्रामों और संघर्षों की कथाएँ बड़ी रोचक शैली तथा स्फूर्तिदायक शब्दों में सुनाया करते थे। इन व्याख्यानों का नौजवान विद्यार्थियों पर गहरा प्रभाव

पड़ता था। भगतसिंह कहा करते थे कि उनके लिए स्फूर्ति का एक स्रोत वह विद्रोह है, जिनके विषय में उस समय के स्कूल-कॉलिजों की पुस्तकें कुछ न बतातीं और जिनकी ओर भाईजी अपने विद्यार्थियों का ध्यान विशेष रूप से दिलाया करते थे।

श्री फिरोजचन्द ने भगतसिंह की भाईजी की साथ एक भेंट का बड़ा रोचक वृत्तांत लिखा है, जिससे स्पष्ट होता है कि वे भाईजी को अपना गुरु मानते थे। उनके पिता श्री किशनसिंह ने भाईजी से शिकायत की थी कि भगतसिंह क्रान्तिकारी कार्यों में लगा रहता है, वे उसे समझायें कि वह इन कार्यों से पृथक् रहे। उन्होंने इसके लिए भगतसिंह को कॉलिज में बुलाने की अपेक्षा शीशमहल रोडवाले अपने मकान में बुलाया। जब भाईजी ने पिता की शिकायत पुत्र के आगे दोहरायी तो पुत्र ने कहा—"यह उनका वहम है।" भाईजी ने मुस्कराते हुए कहा—"जब किशनसिंह जी(भगतसिंह के पिता)अपने यौवन में ऐसे काम करते थे तब वे अपने पिता अर्जुनसिंह जी से भी यही कहा करते थे। यह कोई नई बात नहीं है। ऐसा होता ही चला आया है।"

इसके बाद उन्होंने कौमी विद्यालय के प्रिंसिपल की वह शिकायत बताई कि उन्हें विज्ञान के अध्यापक ने यह बताया है कि तुम विज्ञान-विभाग की प्रयोगशालाओं में तेजाब और गैसों से भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयोग करते हो। भगतसिंह ने उत्तर दिया—"यह प्रयोगशाला है किसलिए, यदि वहाँ प्रयोग नहीं किये जा सकते हैं?" भाईजी ने हँसकर कहा—"यह बात तो तुमने पते की कही है।" इसी बीच उनकी पत्नी ने दोनों के लिए भोजन परोस दिया। उसके बाद भाईजी ने भगतसिंह को क्रान्ति-पथ का पथिक बनने से रोका तो नहीं, किन्तु यह उपदेश दिया कि "जिस मार्ग पर पग उठाओ, उससे पीछे कभी न हटो। यह बहुत आवश्यक है। भय, लोभ, या दुर्बलता को हम अपने रास्ते में रुकावट कभी न बनने दें। ये रुकावटें बहुधा आया करती हैं। हममें इनको हटाने का साहस होना चाहिए। यदि इस रास्ते पर चलते हुए आदमी एक बार फिसल जाता है तो सम्भलना मुश्किल हो जाता है। कई बार नासमझी या अज्ञानतावश अपनों की ओर से ही बाधाएँ उपस्थित की जाती हैं। वे मजाक उड़ाते हैं और जली-कटी सुनाते हैं। ऐसी अवस्था में कभी घबराना नहीं चाहिए। अपने सिद्धान्त पर चट्टान के समान खड़े रहना चाहिए। तीसरी बात है सर्दी, भूख, प्यास को सदा वश में करना चाहिए। यह तभी हो सकता है जब शरीर को कोई रोग न हो। इसके अतिरिक्त सिगरेट आदि की आदत को कभी निकट न आने दिया जाय, नहीं तो इनकी गुलामी बहुत बुरी सिद्ध होती है और अपने उद्देश्य की पूर्ति में असफलता हो सकती है। सबसे बड़ी बात यह है कि मनुष्य का नैतिक चरित्र निष्कलंक रहे। यदि चरित्र पर धब्बा लग जाय तो जिन्दगी का मजा अपने-आपके लिए भी नहीं रहता है।"

इन शब्दों में भाईजी ने भगतसिंह को क्रान्ति-पथ पर दृढ़तापूर्वक चलने का गुरु-मन्त्र दिया। भगतसिंह इससे बड़े प्रसन्न हुए। उन्हें आशा थी कि आज उन्हें प्रिंसिपल-साहब डाँटेंगे, इस मार्ग से रोकने का प्रयत्न करेंगे। इसके सर्वथा विपरीत उन्होंने इस पर दृढ़तापूर्वक चलने तथा इसके खतरों से सदा सावधान और जागरूक रहने की बात कही और इसके लिए उसका उत्साह बढ़ाया। भगतसिंह गुरु का आशीर्वाद पाकर कृतकृत्य हो गये, किन्तु उनकी एक जिज्ञासा शेष थी। उसने पूछा—आपने करतारसिंह सराबा को क्या पाठ पढ़ाया जो वह अपना जीवन हथेली पर लेकर फिरा करते थे और अन्त में स्वयं

मौत को उन्होंने धता बताया ?"

भाईजी ने उसे बताया कि करतारसिंह जब यहाँ से अमरीका गया तो उसके सामने मातृभूमि को स्वतन्त्र कराने का ध्येय था। वह हवाबाजी सीखने लगा। इसका क्रियात्मक अभ्यास करते हुए उसका दायाँ बाजू टूट गया। वह सान्फ्रांसिस्को के एक अस्पताल में जख्मी हालत में पहुँचा और वहाँ वह उन्हें मिल गया। इसके बाद वह इनके कमरे में ही रहने लगा। प्रतिदिन मरहम-पट्टी करवा के उनके पास आ जाता था। रात को भाई जी उसे भारतीय इतिहास से बलिदान और शौर्य की दो कहानियाँ सुनाते थे। इनमें एक तो आबू पर्वत में स्वराष्ट्र की रक्षा के लिए यज्ञ करने की थी और दूसरी आनन्दपुर में गुरु गोविन्दसिंह द्वारा स्वदेश, स्वधर्म, स्वराष्ट्र को म्लेच्छों से स्वतन्त्र कराने के लिए वहाँ एकत्र हुई जनता से पाँच प्यारों के सीस माँगने की थी। उनका कहना था कि इनके बलिदानों का यह प्रभाव पड़ा कि भारत पर उत्तर-पश्चिम दिशा से विदेशी हूणों, मुसलमान आदि जातियों के आक्रमणों की जो धारा खैबर घाटी से पंजाब की ओर कई शताब्दियों से चली आ रही थी, वह उलट गयी। हरिसिंह नलवा ने काबुल पर हमला किया। मुसलमान उससे इतने भयभीत हुए कि पठान मातायें अपने बच्चों को हौए के स्थान पर हरिया के नाम से डराने लगीं। बलिदान की वीर गाथाओं ने करतारसिंह में देश के लिए मर मिटने की प्रबल आकांक्षा उत्पन्न कर दी।

यह सुनकर भगतसिंह ने धीरे से पूछा—"मैं करतारसिंह को अपना पथ-प्रदर्शक मानता हूँ।" भाईजी बोले—"तब तो वह तुम्हारा गुरु था।" भगतसिंह का उत्तर था—"गुरु तो भाईजी आप ही हैं। उनके भी, मेरे भी। आप एक बात और कीजिए, पिताजी को समझा दीजिए।"[1] भाईजी ने आश्वासन दिया—"इसकी तुम चिन्ता मत करो।" इसके बाद भगतसिंह ने भाईजी का चरण-स्पर्श किया, उनकी पादुका की रज मस्तक पर लगायी और अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए चल दिया। यह गुरु-शिष्य का अन्तिम मिलन था।

भाई परमानन्दजी के जीवन की सबसे बड़ी साध हिन्दू राष्ट्र को तथा भारतवर्ष को शक्तिशाली बनाना था। किन्तु विधि की यह विडम्बना थी कि उन्हें अपने जीवन की सन्ध्या में पंजाब और भारत का विभाजन देखना पड़ा, लाहौर से दिल्ली आना पड़ा। जब वे मृत्युशय्या पर पड़े हुए थे तो एक पत्रकार ने इनसे हाल पूछा। वे बड़े दुःख से बोले—"मैंने हिन्दुओं से एक बार नहीं, अनेक बार कहा, तुम कुपथ पर चल रहे हो। अब तुमने काठ के देवताओं की पूजा को अपना धर्म मान लिया है। यही तुम्हें ले डूबेंगे। तुम संगठित हो जाओ, अन्यथा सर्वनाश तुम्हारे सामने है। जिन बातों की चेतावनियाँ मैं तुम्हें बार-बार देता रहा, वे अब तुम्हारे सामने आ रही हैं। इनके लिए इतना समय जिन्दा रहा। अब मरना चाहिए। मेरा प्रियतम राष्ट्र अपमानित किया जा रहा है। मेरे जीने से क्या लाभ ?" जो महापुरुष फाँसी की कालकोठरी के दारुण भय को धिक्कारता रहा था, जिसने अण्डमान की भीषण व्यथाओं को स्थितप्रज्ञ की भावना से हँसकर झेला था, वह देश के विभाजन की पीड़ा को देर तक नहीं सह सका और ८ दिसम्बर १९४७ ई० को प्रातः उसने महासमाधि ले ली।

---

१. धर्मवीर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २८७

अवदान—आर्यसमाज के इस योद्धा की तुलना वीर सावरकर ने राणा प्रताप और मेजिनी से की है। हिन्दू समाज, हिन्दू धर्म, हिन्दू संगठन के वे मूर्तिमान प्रतीक थे। हिन्दू संगठन को राष्ट्रीय आवश्यकता समझते थे, इसके लिए कोई समझौता करने को तैयार न थे। वे दुर्धर्ष क्रान्तिकारी, प्रखर देशभक्त और निर्भीक स्वतन्त्रता-सेनानी थे। वे न केवल दक्षिण अफ्रीका, मध्य अमरीका आदि में वैदिक धर्म का प्रचार करने वाले पहले मिशनरी थे, अपितु राजनैतिक क्षेत्र में अनेक नई परम्परायें स्थापित करने तथा उल्लेखनीय अवदान देने के कारण सदैव स्मरणीय रहेंगे। भारतीय इतिहास के मूल प्रामाणिक स्रोतों का अध्ययन कर राष्ट्रीय दृष्टि से भारत का पहला इतिहास लिखकर उन्होंने कलकत्ते की कालकोठरी (Blackhole) आदि अनेक भ्रान्तियों का निवारण किया, राष्ट्रीय शिक्षा के महत्त्व को समझा, क्रान्ति की आवश्यकता का अनुभव किया, इतिहास के अध्ययन-अध्यापन से देश के लिए सर्वस्व बलिदान करने वाले नवयुवकों की नई पीढ़ी का निर्माण किया।

वे सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारियों के पथ-प्रदर्शक, गुरु तथा अजस्र प्रेरणा का स्रोत थे। यदि वे लाला हरदयाल को ला मार्तीनीक टापू में क्रान्ति के कर्मयोग का गौरव न बताते तो वे सम्भवतः वहीं किसी पहाड़ी गुहा में तप करते हुए समाधिस्थ हो जाते और प्रथम विश्वयुद्ध में 'युगान्तर' द्वारा गदर की क्रान्ति का शंखनाद न कर सकते। भाईजी ने निराश और हताश अर्जुन की तरह व्यामोह में पड़े सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी रासबिहारी बोस को नूतन उत्साह का संचार करने वाला सन्देश दिया था। सान्फ्रांसिस्को में उन्होंने भगतसिंह के आदर्श करतारसिंह सराबा को क्रान्ति का अग्रदूत बनने की दीक्षा दी थी। भगतसिंह उन्हें अपना गुरु मानते थे। भारतीय क्रान्ति के प्रमुख नेता होने के कारण पंजाब सरकार उन्हें इतना खतरनाक समझती थी कि उन्हें फाँसी की सजा दिलवाना चाहती थी। जब ये अण्डमान जेल में थे और वहाँ का चीफ कमिश्नर डगलस छुट्टी लेकर लन्दन गया तो पंजाब के भूतपूर्व छोटे लाट सर माइकेल ओडवायर ने डगलस से पूछा था—"क्या वह शैतान अभी तक जिन्दा है (Is that devil still alive)?" आर्य-समाज के राजनैतिक इतिहास में वे अब तक जीवित हैं और सदैव अमर रहेंगे।

इक्कीसवाँ अध्याय

प्रमुख आर्य क्रान्तिकारी

(१) लाला हरदयाल

भारतीय क्रान्तिकारियों में सम्भवतः लाला हरदयाल (१८८४-१९३८) सबसे अधिक प्रतिभाशाली, मेधावी, उच्चतम शिक्षा प्राप्त, बहुभाषाविज्ञ एवं ओजस्विनी लेखनी के धनी थे। उन्होंने भारत के होनहार नवयुवकों को क्रान्ति के पथ पर अग्रसर करने में, संयुक्त राज्य अमरीका में 'गदर पार्टी' का संगठन करने तथा प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी और टर्की के साथ मिलकर भारत को स्वतन्त्र कराने में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। सम्भवतः वही एकमात्र ऐसे भारतीय थे जिन्होंने भारत सरकार तथा आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय द्वारा दी जाने वाली बहुमूल्य छात्रवृत्तियों को स्वयमेव ठुकरा दिया था।

इन पर आरम्भिक वर्षों में आर्यसमाज का काफी प्रभाव पड़ा और जीवन के अन्त तक उनकी विचारधारा इसी प्रकार की बनी रही। स्वामी दयानन्द के शिष्य श्यामजी कृष्ण वर्मा ने उन्हें क्रान्तियज्ञ में कूदने की प्रेरणा दी और कुछ समय तक सहायता की। विदेशों में वैदिक धर्म के प्रथम प्रचारक, डी० ए० वी० कालेज के आजीवन सदस्य भाई परमानन्द की प्रेरणा से वे उनके निमन्त्रण पर केलीफोर्निया गये तथा वहाँ 'गदर पार्टी' का संगठन किया और 'गदर' पत्र का भी प्रकाशन किया। यहाँ उनके जीवन तथा कार्यों और विचारों की संक्षिप्त चर्चा की जायेगी।

श्री हरदयाल का जन्म दिल्ली में फव्वारे के पास चीराखाने में श्री गौरीदयाल माथुर के घर पर लगभग एक शताब्दी पहले १४ अक्तूबर १८८४ को हुआ था। इनके पिता फारसी और उर्दू के विद्वान् थे और उन्होंने पुत्र को भी अपने अनुरूप शिक्षा देने के लिए जब स्कूल में दाखिल किया तो इनके सहपाठी और गुरु इनकी विलक्षण स्मृति-शक्ति और योग्यता से अतीव प्रभावित हुए। इनकी स्मृति फोटोग्राफी की उस अत्यन्त संवेदनशील प्लेट की भाँति थी जिस पर हर वस्तु का चित्र अमिट रूप से अंकित हो जाता है।

विलक्षण स्मृति—इसका पता पहली बार उस समय लगा जबकि बालक हरदयाल कलम से अपनी तख्ती पर घर में लिख रहे थे और इनके सामने मकान की छत पर बैठा शिवनारायण अंग्रेजी में ज्यामिति का एक प्रमेय बार-बार रटता जा रहा था। बालक ने पूछा—"तुम यह क्या कर रहे हो ? एक ही चीज को बार-बार क्यों घोख रहे हो ?" शिवनारायण ने उपहासपूर्ण उत्तर दिया—"अभी तुम बच्चे हो, बड़े होने पर समझ जाओगे। यह ज्यामिति का बड़ा कठिन विषय है, इसके लिए अभी कुछ साल और

इन्तजार करना पड़ेगा।" बच्चे ने हँसकर कहा—"मैं तुम्हें बता सकता हूँ कि तुम क्या रट रहे थे।" और इसके साथ ही उसने ज्यामिति के उस प्रमेय को अक्षरशः दुहरा दिया।

उनकी स्मृति इतनी अच्छी थी कि एक बार पढ़ने पर ही उन्हें सारी पुस्तक अक्षरशः कंठस्थ हो जाती थी। कालिज में इनके सहपाठी प्रायः इनको शेक्सपीयर के ऑथेलो नाटक और टेनीसन की कविताएँ एक बार पढ़ा देते थे और विस्मय-विमुग्ध होकर सुना करते थे। एक बार एडविन आर्नाल्ड द्वारा गौतम बुद्ध पर लिखित 'लाइट आफ एशिया' नामक काव्य इन्हें पढ़ने को मिला। एक बार पढ़ने के बाद ही वह इन्हें आजीवन कंठस्थ रहा। इनकी स्मृति का सबसे बड़ा चमत्कार उस समय देखने को मिला जब प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ये स्वीडन गये। इन्हें वहाँ की भाषा नहीं आती थी, किन्तु आजीविका कमाने के लिए वहाँ व्याख्यान देना आवश्यक था। शुरू में ये अपने व्याख्यानों को अंग्रेजी से स्वीडिशभाषा में अनुवाद करा लेते थे और उसे एक बार पढ़कर धाराप्रवाह भाषण दे देते थे। इस दृष्टि से उनका स्मृति-पटल अतीव आश्चर्य-जनक था।

स्कूली शिक्षा समाप्त करने के बाद सेण्ट स्टीफन्स कालिज दिल्ली और गवर्नमेंट कालिज लाहौर में इन्होंने उच्च शिक्षा पूरी की। पहले इन्होंने अंग्रेजी में एम० ए० किया और विश्वविद्यालय में अंकों की दृष्टि से ऐसा रिकार्ड स्थापित किया जिसको वर्षों तक कोई दूसरा छात्र नहीं तोड़ सका। अगले वर्ष इतिहास में एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। ये सदा प्रथम श्रेणी में प्रथम रहकर उत्तीर्ण हुए। इनके प्राध्यापक इन्हें बहुत चाहते थे। उनकी सहायता से इन्हें भारत सरकार की राजकीय छात्रवृत्ति इंग्लैण्ड में तीन साल तक अध्ययन करने के लिए मिली।

लाहौर में रहते हुए ये महात्मा हंसराज के आदर्श त्याग से बड़े प्रभावित हुए। स्वामी दयानन्द की शिक्षाओं ने इन पर गहरा प्रभाव डाला। इनके जीवनी-लेखक श्री धर्मवीर ने लिखा है कि "आर्यसमाज की वाद-विवादप्रियता, लाला हंसराज का सादा जीवन, लाला लाजपतराय की श्रीकृष्ण और मेजिनी जैसी राष्ट्रवादी पुस्तकें, टाड के राजस्थान जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थ, राणाडे के मराठों के उत्कर्ष, रामायण, महाभारत तथा वैदिक साहित्य—इन सभी तत्त्वों ने लाला हरदयाल पर अपना प्रभाव डाला। इनसे इनके मन में इंग्लैण्ड जाने से पहले ही देशभक्ति और राष्ट्रीयता के विचार सुदृढ़ होने लगे और ये उग्र राष्ट्रवादी बन गये।"

(२) आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में अध्ययन

१९०५ में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के सेंट जॉन्स कालेज में इतिहास और राजनीति एवं अर्थशास्त्र के विशेष अध्ययन के लिए ये प्रविष्ट हुए। वहाँ अपनी प्रतिभा और योग्यता से सभी अध्यापकों के प्रिय शिष्य बन गये। किन्तु इस समय उनमें सामान्य रूप से भारतीय छात्रों में पाई जाने वाली इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा में बैठने की कोई अभिलाषा नहीं थी। इंग्लैण्ड में उस समय भाई परमानन्द और श्यामजी कृष्ण वर्मा के सम्पर्क में आकर इनमें देशभक्ति की भावना बढ़ने लगी।

छुट्टियों में हरदयाल भारत आये। विलायत जाने से पहले उनका विवाह मेरठ के दीवान गोपालचन्द्र की बेटी सुन्दररानी से हो चुका था। इनकी इच्छा अब अपनी

पत्नी को अपने साथ इंग्लैण्ड ले जाने की थी। घरवाले इसके लिए तैयार नहीं थे। इन्होंने अपने एक मित्र के साथ पत्नी को ले जाने की पूरी योजना बनायी। श्रीमती सुन्दररानी को पुरुष-वेष में सिनेमा ले गये, वहाँ से स्टेशन पहुँचे और मेरठ के लिए रवाना हुए। किन्तु जब गाजियाबाद पहुँचे तो पति ने पत्नी को बम्बई की गाड़ी में बिठला दिया। सुन्दररानी के एक रिश्तेदार ने जब इन्हें पकड़कर डिब्बे से नीचे घसीटना चाहा तो लाला हरदयाल के मित्र ने उसे रोक लिया और कहा कि प्रेम और युद्ध में हर बात जायज होती है। बड़ा शोर मचाया गया, किन्तु गाड़ी बम्बई के लिए चल दी और वहाँ से ये अपनी पत्नी को इंग्लैंड ले गये। समाचारपत्रों में इस घटना की बड़ी चर्चा हुई। लाहौर के 'पंजाबी' पत्र ने इस घटना का शीर्षक रखा—'पति द्वारा पत्नी का अपहरण'।

इस समय तक भारत में लाला हरदयाल की योग्यता की इतनी प्रसिद्धि हो चुकी थी कि सहारनपुर के जितेन्द्रमोहन चटर्जी, हरद्वारी सिंह आदि बहुत-से छात्र इनके भक्त बन गये और इनकी प्रेरणा से उन्होंने अपना जीवन स्वतन्त्रता-संघर्ष के लिए देने की प्रतिज्ञा की। आक्सफोर्ड पहुँचकर लाला हरदयाल ने अपनी पढ़ाई शुरू कर दी और सुन्दररानी को भी इस प्रकार की शिक्षा देना शुरू किया कि यह उनके सार्वजनिक और देशभक्ति के कामों में सहायक हो सकें।

आक्सफोर्ड में शिक्षा प्राप्त करते हुए इन पर अंग्रेजों की देशभक्ति का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। इस बारे में इनके एक शिष्य श्री गोविन्द बिहारी लाल ने लिखा है कि बाद के वर्षों में हरदयाल ने कहा कि "अंग्रेजों की तीव्र एवं प्रगाढ़ देशभक्ति को देखकर मैं दंग रह गया। मैंने आक्सफोर्ड में देखा कि मेरे अंग्रेज सहपाठी ब्रिटिश राज्य तथा साम्राज्य की राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं में बहुत लीन रहते हैं। जब यह समाचार प्राप्त हुआ कि दक्षिण अफ्रीका में ब्रिटिश लोगों ने बोअरों को पराजित कर दिया है, तब आक्सफोर्ड के लड़कों ने विजय के उल्लास में दरवाजे तोड़कर उनकी लकड़ियों की होली जलायी, खुशियाँ मनायीं। किन्तु भारत में लोगों की राष्ट्रभक्ति को पागलपन और राजद्रोह समझा जाता था। ब्रिटेन में यह सर्वोत्कृष्ट सामान्य गुण था। जो बात अंग्रेज के लिए अच्छी है, वह भारतीय के लिए भी अच्छी है। इसलिए मुझे पक्का राष्ट्रभक्त होना चाहिए।"

इसका इन पर इतना प्रबल प्रभाव पड़ा कि इन्होंने भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए एक **देशभक्त समाज** की स्थापना करने का निर्णय किया। इसी बीच में भारत में मई १९०७ में लाला लाजपतराय और अजीतसिंह की गिरफ्तारी और निर्वासन हुआ। इसका इन पर गहरा प्रभाव पड़ा। ये भारतीय इतिहास के अध्ययन से इस बात को अच्छी तरह समझ गये थे कि अंग्रेज भारत को किस तरह से लूट रहे हैं। ये अपनी छात्रवृत्ति को भी इस लूट का पैसा समझने लगे। उनका यह विचार था कि ये छात्रवृत्तियाँ भारतीयों को गुलाम बनाने के लिए दी जाती हैं। अतः उन्होंने उस समय इन्हें प्राप्त होने वाली तीन छात्रवृत्तियों को तत्काल छोड़ने का निश्चय किया। जब इस विषय में इन्होंने अपनी पत्नी सुन्दररानी से बात की तो उसने कहा—"यहाँ हमारा निर्वाह कैसे होगा? परदेश में हम किसका अवलंबन ले सकते हैं!" लालाजी ने उत्तर दिया—"हम अंग्रेजों में सहायता लेने वाले नहीं। उनके हाथ तो रंगे हुए हैं। इन्होंने

हमारे निर्दोष राष्ट्र का खून कर रखा है। डाकुओं से हम कैसे रुपया ले सकते हैं और फिर पाप का यह रुपया !"

तब श्यामजी ने इन्हें सहायता देने का आश्वासन दिया। इन्होंने दो सौ पाउँड वार्षिक की भारत सरकार की छात्रवृत्ति छोड़ दी। इन्होंने अपने कालिज के प्रिंसिपल के पास जाकर आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से मिलने वाली छात्रवृत्ति और पढ़ाई छोड़ने की जब बात कही तो प्रिंसिपल ने इन्हें समझाया—"आप भले ही सरकार की छात्र-वृत्ति न लें, मैं आपको अपनी जेब से खर्च देता हूँ। आप अपनी डिग्री जरूर पूरी कर लीजिए।" किन्तु उस समय इन पर देशप्रेम और राष्ट्रभक्ति का इतना प्रगाढ़ प्रभाव था कि इन्होंने प्रिंसिपल की बात नहीं मानी। इनकी पत्नी को हिस्टीरिया परेशान कर रहा था और भारत में पत्नी के भाई की शादी भी थी। इसलिए जनवरी १९०८ में ये भारत रवाना हो गये। यहाँ आकर पहले पूना में लोकमान्य तिलक और गोखले से मिले। लोकमान्य ने इन्हें यह सलाह दी कि आप भारत में अपना आश्रम बनायें, उसमें नवयुवकों को प्रशिक्षण दें ताकि उत्तर भारत में दक्षतापूर्वक क्रान्तिकारी केन्द्रों का जाल फैला सकें। एक अमेरिकी मासिक पत्र के अनुसार इस समय इन्होंने अपनी पत्नी से अनुमति लेकर संन्यासी बनने का निश्चय किया।

नवयुवकों को प्रशिक्षण—पारिवारिक शादी के बाद मार्च १९०८ में लालाजी दिल्ली पहुँचे, जहाँ विद्यार्थीवर्ग उनका भक्त और अनुरक्त था। सहारनपुर के श्री चटर्जी अपने दो क्रान्तिकारी साथियों—द्वारकानाथ बोस और हरद्वारीसिंह के साथ इनके पास आ गये। दिल्ली में इनके भक्त छात्र ताराचन्द और गोविन्द बिहारी लाल थे। इनके साथ कुछ समय तक ये कानपुर में रहे। अपने शिष्यों को ये यूरोप से लाई क्रान्तिकारी पुस्तकें पढ़ने के लिए देते थे। इनके विषय थे—जार के विरुद्ध रूसी क्रान्ति, गेरीबाल्डी, मेजिनी और कावूर का इटली का स्वतन्त्रता-संघर्ष, प्रिन्स बिस्मार्क द्वारा जर्मन साम्राज्य का निर्माण, जापान का उत्थान, पोलैंड का राष्ट्रवाद और फ्रांस की क्रान्ति। अपने शिष्यों के साथ गंगा की रेती में बैठे हुए ये इस प्रश्न पर विचार किया करते थे कि भारत में ब्रिटिश शासकों के साथ कैसे लड़ा जाय? यहाँ राष्ट्रीय-राज्य कैसे स्थापित किया जाय? लालाजी और उनके शिष्य इस समय विशुद्ध भारतीय ढंग के कपड़े पहने होते थे। कंधे पर रखी लाठी और उससे लटक रही धोती से कोई यह कल्पना नहीं कर सकता था कि ये लाला हरदयाल वही हैं जो आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में पढ़ा करते थे। कानपुर से अपने शिष्यों के साथ लाला हरदयाल हरिद्वार, देहरादून, ऋषिकेश गये। कुछ समय तक आर्यसमाज की प्रसिद्ध संस्था गुरुकुल कांगड़ी में भी रहे। इसके बाद लाहौर जाकर इन्होंने पहले तो सूतर मण्डी में एक चौबारा किराये पर लिया और यहाँ आश्रम बनाकर अपने शिष्यों के साथ निम्नलिखित पुस्तकों का स्वाध्याय कराने लगे—डिग्बी का वैभवशाली ब्रिटिश भारत, Prosperous British India दादा भाई नौरोजी की 'पावर्टी एण्ड अन ब्रिटिश रूल इन इंडिया', रमेशचन्द्र दत्त की 'इकनामिक हिस्टरी आफ इंडिया (भारत का आर्थिक इतिहास)', मोटले की 'हिस्टरी आफ दी डच रिवोल्यूशन (हालैंड की क्रान्ति का इतिहास)', फ्रांस की क्रान्ति का इतिहास। इन ग्रन्थों के स्वाध्याय के साथ वे इंडियन रिव्यू, माडर्न रिव्यू जैसी पत्रिकाओं के लिए लेख भी लिखते थे। श्री चटर्जी ने लिखा है कि "जब वे लेख लिखवाने बैठते तो लिखवाते ही चले

जाते थे। संदर्भ-ग्रन्थों के उद्धरण और पृष्ठसंख्या भी मौखिक रूप से लिखवाते थे। उद्धरणों का मूल पुस्तकों से मिलान करना और यह देखना कि उसमें कोई भूल तो नहीं है, हमारा काम था। अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि एक बार भी ऐसा न हुआ, जब उद्धरण गलत था, अपूर्ण था या पृष्ठसंख्या गलत थी।" ऐसी थी अतिमानुष प्रज्ञा की उद्दाम स्मरणशक्ति !

इस समय लालाजी के अधिकांश लेख भारत में प्रचलित शिक्षापद्धति के बारे में होते थे। वे अंग्रेजों की पुस्तकों से प्रमाण देकर यह सिद्ध करते थे कि इस शिक्षा-पद्धति का उद्देश्य भारत के लोगों को ईसाई बनाना है और इसीलिए वे प्रतिभाशाली छात्रों को बड़ी-बड़ी छात्रवृत्तियों का प्रलोभन दिया करते हैं। इस समय उन्होंने लाहौर के उपनगर नवाँ कोट में अपना आश्रम श्री रोशनलाल के बंगले में बनाया और अपने शिष्यों को देशभक्ति और क्रान्ति की शिक्षाएँ देते रहे। १९०८ में संयुक्त प्रान्त में भीषण अकाल पड़ा। यहाँ उन्होंने अपने एक शिष्य ताराचन्द को सहायता-कार्य करने के लिए भेजा। इस समय शिष्यों पर वे इस बात को अंकित करना चाहते थे कि हमें अपने देश का सुधार करने के लिए अपना तथा देशवासियों के चरित्र का सुधार करना चाहिए। जब लाला लाजपतराय ने उनसे यह इच्छा प्रकट की कि वे आर्यसमाज के काम में लग जाएँ तो लालाजी ने उत्तर दिया कि हमारा धर्म तो वास्तव में मातृभूमि की सेवा है, और कोई मनुष्य एक ही समय में दो देवताओं के प्रति भक्ति नहीं रख सकता है। इस समय वे भारतीय समाज में आमूल परिवर्तन करने वाले सामाजिक सुधारों के लिए कार्य करने की आवश्यकताओं पर बल दे रहे थे। इस काल में भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन प्रबल हो रहा था। बंगाल में अनुशीलन समिति, स्वदेश बांधव, सुहृद् और साधना जैसी गुप्त क्रान्तिकारी संस्थाएँ विकसित हो रही थीं। खुदीराम बोस ने ३० अप्रैल १९०८ को अंग्रेजों पर बम गिराने और मारने की नवीन परम्परा का श्रीगणेश किया था। अब सरकार क्रान्तिकारी आन्दोलन को कुचलने पर तुल गयी। उससे लाला हरदयाल की गतिविधियाँ भी छिपी न रहीं। वे दिल्ली के मास्टर अमीरचन्द व अपने स्कूल के सहपाठी हनुमन्तराय आदि को क्रान्तिकारी कार्य करने के लिए प्रोत्साहित कर रहे थे। इनका विचार वायसराय जैसे व्यक्ति पर बम फैंकने का और उन्हें तथा सेना में विद्रोह फैलाने और शस्त्रागारों पर हमला करने का था। लालाजी देहाती प्रदेशों में प्रचार-कार्य के लिए साधुओं को अपने साथ मिलाना चाहते थे, क्योंकि इनका जनता पर बड़ा प्रभाव था। जब भारत के ब्रिटिश अधिकारियों ने लाला हरदयाल को गिरफ्तार करने की योजना बनायी तो उनके मित्रों ने उन्हें पुनः इंग्लैण्ड लौट जाने का परामर्श दिया और कोलम्बो से एक जहाज पकड़कर लाला हरदयाल इटली पहुँच गये और वहाँ से पेरिस चले गये।

बन्देमातरम्—इस समय लन्दन भारतीय क्रान्तिकारियों—विनायक दामोदर सावरकर और मदनलाल ढींगरा आदि की क्रान्तिकारी गतिविधियों का बड़ा केन्द्र बना हुआ था। ब्रिटिश पुलिस की लाला हरदयाल पर कड़ी निगाह थी, अतः कुछ समय बाद वे पेरिस लौट आये और मदाम भीखाजी रुस्तम के० आर० कामा तथा सरदार-सिंह राणा के सहयोग से सितम्बर १९०९ में उन्होंने 'बन्देमातरम्' नामक पत्र का सम्पादन करना शुरू किया। वह बड़ा उग्र क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार करता था।

इसके मुखपृष्ठ पर दो चित्र रहते थे—एक तो भारत के राष्ट्रीय ध्वज का और दूसरा भारतमाता का जो तलवार को म्यान से बाहर निकाल रही होती थी। उसके चरणों में भगवद्गीता का एक श्लोक (२-३३) लिखा होता था[1] जिसमें स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा दी जाती थी। ऊपर के भाग के बीच में चौकोर बने झंडे की तीन पट्टियों में से पहली पर आठ कमल, दूसरी पर देवनागरी के वन्देमातरम् और तीसरी पर चन्द्र और सूर्य बने होते थे। पृष्ठ के नीचे गौतम बुद्ध का महापरिनिर्वाण के समय कहा गया यह वचन अंकित रहता था "अतः, हे आनन्द ! अपने-आपके लिए तुम दीप बनो, बाहर के किसी आश्रय की खोज मत करो। अपना निर्वाण अपने परिश्रम से प्राप्त करो।" इसके पहले अंक में मदनलाल ढींगरा की कार्य की सराहना की गयी थी और भारतीय क्रान्ति के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की सामग्री दी गई थी। सरकार के गोपनीय विवरणों के अनुसार इसके लेख लोगों को खुले तौर पर विद्रोह करने के लिए उत्तेजित करते थे और उन्हें परामर्श देते थे कि वे सेना में राजद्रोह फैलाने का प्रयास करें। 'बन्देमातरम्' कुछ समय तक अच्छी तरह चलता रहा, किन्तु बाद में आर्थिक कठिनाइयों के कारण यह पत्र बन्द हो गया।

लालाजी को श्यामजी का सहयोग न मिलने से पेरिस में भीषण अर्थकष्ट उठाना पड़ा। इस समय भाई परमानन्द ने उनकी कुछ सहायता की। ब्रिटिश सरकार के दबाव से फ्रांस की पुलिस अब लाला हरदयाल पर कड़ी दृष्टि रखने लगी। श्यामजी कृष्ण वर्मा स्विट्जरलैंड चले गये और लालाजी ने भी पेरिस छोड़ने का निश्चय किया। अप्रैल १९१० में वे उत्तरी अफ्रीका के तट पर फ्रांस के एक उपनिवेश अल्जीरिया में गये, किन्तु वहाँ कुछ कटु अनुभव होने के कारण वे वापस पेरिस चले आये। कुछ समय बाद वे वेस्ट इंडीज में एक टापू—ला मार्तीनीक में पहुँच गये और वहाँ अपनी साधना और त्याग-तपस्या करने में तल्लीन हो गये।

भाईजी का उद्बोधन--उन्हीं दिनों भाई परमानन्द भारत से अमरीका में दवाइयाँ बनाने की शिक्षा प्राप्त करने के लिए आये। पहले भाईजी वाले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि उन्होंने किस प्रकार मार्तीनीक टापू में पहुँचकर लालाजी से भेंट की और उन्हें व्यक्तिगत साधना छोड़कर भारत की स्वतन्त्रता और लोककल्याण के लिए कार्य-क्षेत्र में उतरने का उद्बोधन करते हुए कहा कि "चिरकाल पहले गौतम बुद्ध ने जब तप किया तो उससे भारत का क्या बना ? एक दृष्टि से देखा जाय तो उससे भारत के लिए दासत्व का मार्ग साफ हो गया। आपने यहाँ पर्याप्त तप कर लिया है। अब आप संयुक्त राज्य जाकर कुछ कीजिए। गौतम बुद्ध को त्यागकर स्वामी विवेकानन्द को अपना आदर्श बनाइए।" जनवरी १९११ में जब भाई परमानन्द अपनी औषधि-निर्माण की शिक्षा के लिए केलीफोर्निया पहुँचे तो उन्होंने लालाजी को वहाँ आकर काम करने और भारत की क्रान्ति की योजना क्रियान्वित करने का निमन्त्रण दिया।

भाईजी के निमन्त्रण पर लाला जी सान्फ्रांसिस्को आ गये और यह निश्चय किया गया कि यहाँ प्रतिभाशाली योग्य भारतीयों को बुलाकर छात्रवृत्तियाँ देनी चाहिएँ;

---

१. अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्त्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥

अमरीका में रहते हुए उनमें मातृभूमि की सेवा करने और क्रान्ति की भावना भरने का कार्य लालाजी द्वारा किया जाय और ये नवयुवक स्वदेश लौटकर राष्ट्रीय आंदोलन का कार्य करें। इसके अनुसार वहाँ बसे भारतीयों से धनसंग्रह करके छः व्यक्तियों को केलीफोर्निया में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए छात्रवृत्तियाँ दी गयीं।

प्रचारकार्य—इन दिनों लाला हरदयाल विद्यार्थियों एवं मजदूरों के पत्रों में भी लेख लिखकर राष्ट्रीय विचारों का प्रचार करते थे। इसका एक सुन्दर उदाहरण उनका **हिन्दू राष्ट्रीय आन्दोलन** विषयक लेख है। इसमें यह बताया गया था—"अंग्रेजों ने धूर्तता और घूँस की नीति का अवलम्बन कर, अक्सर पाशविक बल का प्रयोग करके देश को जीता है···अंग्रेजी राज्य के प्रारम्भ में जितनी मालगुजारी थी, अब उससे बहुत अधिक है। लगान साढ़े सात से १० करोड़ डालर हो गया है। नमक के मूल्य पर डेढ़ सौ प्रतिशत कर लगा दिया गया है और नमक की बिक्री पर सरकार का एकाधिकार है। लार्ड साल्सबरी ने सारी स्थिति को एक वाक्यांश में यों अभिव्यक्त कर दिया है—"भारत का खून निचोड़ना ही होगा।" अफसर अपने-आप अधिक वेतन लेते हैं। सरकार हर साल पेंशनों, वेतनों, सूद आदि के रूप में साढ़े १७ करोड़ डालर भारत से इंग्लैण्ड भेजती है। सार्वजनिक सफाई का कहीं नाम नहीं है। पच्चीस करोड़ लोगों की सफाई पर वार्षिक १० लाख डालर की मामूली रकम खर्च की जाती है। ताउन बिना रोक-टोक गत १६ वर्षों से फैली हुई है और इसके कारण ८० लाख लोग मर चुके हैं। गत बीस वर्ष में मृत्यु दर २४ से बढ़कर ३४ हो गयी है।

भाई परमानन्द के माध्यम से उनका केलीफोर्निया विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्राध्यापक जैक्सन से परिचय हुआ। उन्होंने विश्वविद्यालय में "बौद्ध मत तथा अन्य भारतीय दर्शनों" पर लालाजी के तीन व्याख्यान कराये। इससे वहाँ लालाजी की विद्वत्ता की धाक जम गई। कुछ समय तक (फरवरी से सितम्बर १९१२ तक) वे स्टेन-फोर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत भाषा, संस्कृत साहित्य और हिन्दू दर्शन पढ़ाने का काम अवैतनिक रूप से करते रहे। इस समय भी वे भारत के बारे में अपने लेखों और सार्व-जनिक भाषणों में स्वदेश की शोचनीय स्थिति पर प्रकाश डालते रहे। ५ जून १९१३ के दैनिक **एस्टोरियन** ने उनके एक व्याख्यान को बड़े विस्तार से प्रकाशित किया था। इसमें यह बताया गया था—"भारत संसार के सबसे अधिक धनी देशों में से है, किन्तु उसके निवासी बहुत निर्धन हैं, उनकी औसत वार्षिक आय १० डालर है···लोगों की निर्धनता का मुख्य कारण है ब्रिटिश सरकार की स्वार्थपूर्ण अदूरदर्शी नीति। हर साल भारत से बीस करोड़ डालर से अधिक धन इंग्लैंड पहुँचा दिया जाता है। टैक्स का कोई हिसाब नहीं। लगान किसानों की आय का बड़ा भाग हड़प जाता है। नमक के मोल पर दो सौ गुना टैक्स लगाया जाता है। रुई के जो कपड़े भारत में बुने जाते हैं, उन पर साढ़े तीन प्रतिशत कर लगाया जाता है ताकि वे लंकाशायर में बने ब्रिटिश कपड़ा का मुकाबला न कर सकें। शिक्षा को कोई प्रोत्साहन नहीं दिया जाता। अंग्रेजों ने भारत पर एक सौ वर्ष से अधिकार कर रखा है, परन्तु एक सौ वर्ष के बाद केवल १० प्रतिशत लोग ही पढ़ना-लिखना जानते हैं। भारत में पैदा होने वाली अफीम से सरकार को ३८० करोड़ डालर आय होती है। सरकार किसानों को बाध्य करती है कि वे पोस्त की खेती करें, फिर उनसे सस्ते भाव में पोस्त लेकर सरकार उसे चीन ले जाकर बेचती

है। शराब से ३७० करोड़ डालर की आय है। भारतीय की औसत आय केवल १० डालर प्रतिवर्ष है। इसके मुकाबले टर्की में जो सबसे निर्धन देश है, प्रति व्यक्ति की आय २० डालर है और इंग्लैंड में २०० डालर। एक दरबार पर ५० करोड़ डालर खर्च कर दिये जाते हैं जबकि लोग भूखे मरते हैं। पिछले दरबार (१९११ ई०) का तमाशा तीन दिन रहा। इन दिनों में रानी के तम्बू के पास गुलाब का जो बगीचा लगाया गया था, उस पर ३० लाख डालर खर्च किये गये ··· सभी को यह निमन्त्रण दिया जाता है कि वे भारतीयों को अत्याचारी सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने की शिक्षा दें, या हम ब्रिटिश एम्पायर (साम्राज्य) को ब्रिटिश वेम्पायर (British Vampire—खून चूसने वाला भूत) कहते हैं।

इस समस्या का समाधान करने के लिए लाला हरदयाल सशस्त्र क्रान्ति के पक्ष में थे। २४ जून १९१३ के एक भाषण में उन्होंने यह बताया था कि ऐसे स्थान तथा समय होते हैं, जहाँ और जब डायनामाइट का प्रयोग उचित और श्लाघ्य होता है, क्योंकि इससे संसार उन निरंकुश शासनों से मुक्त हो जाता है जो लोगों पर अत्याचार करते हैं। ऐसी अवस्था का अन्त करने के लिए हत्या सर्वोत्तम साधन है।

युगान्तर सर्कुलर—२३ दिसम्बर १९१२ को जब दिल्ली के चाँदनी चौक में उनके शिष्य मास्टर अमीरचन्द, हनुमन्त सहाय आदि के सहयोग से वायसराय लार्ड हार्डिंग पर बम फेंका गया तो इस समाचार के मिलने पर वे बड़े प्रसन्न हुए। जनवरी १९१३ के पहले सप्ताह में उन्होंने बम की सार्थकता के विषय में 'युगान्तर सर्कुलर' नामक एक बड़ी राजद्रोहात्मक पुस्तिका तैयार की। यह **भारतीय क्रान्ति का शंखनाद** समझा जाना चाहिए। इसके शुरू में कहा गया था कि "आज से चार वर्ष पूर्व खुदीराम बोस भारत के इतिहास से नवयुग लाये। उस महान् दिन से आज तक जितने बम फटे हैं, उनमें यह (लार्ड हार्डिंग पर फेंका गया बम) सबसे अधिक माधुर्यपूर्ण एवं सुन्दर है···दिल्ली ने अपने प्राचीन यश को पुनः प्राप्त किया है। दिल्ली बोली है, दुनिया ने सुना है और अत्याचारी ने भी उसे सुना है। २३ दिसम्बर १९१२ के बम, तेरा स्वागत है, स्वागत है, स्वागत है!"

इसके बाद इसमें क्रान्तिकारी कार्यों में बम के महत्त्व, शक्ति और दर्शन का प्रतिपादन करते हुए कहा गया था—"बम की नैतिक शक्ति का बखान कौन कर सकता है! यह तो सान्द्र नैतिक डायनामाइट है। बलवान् और धूर्त जब बल के गर्व में अपने असहाय शिकार के सम्मुख अपनी शान का प्रदर्शन करते हैं, जब धनी और दुर्वृत्त कुर्सी पर जा बैठते हैं और अपने गुलामों को अपने सामने झुकने और पूजा करने को कहते हैं और उनका कोई मुकाबला करने को तैयार मालूम नहीं देता है, तब उस अन्धकार में मानवता के गौरव के निमित्त बम आता है और अत्याचारी को मिट्टी में मिला देता है। सभी कायर दासों को यह बम बताता है कि जो व्यक्ति सिंहासन पर देवता के समान बैठा है, वह उनके जैसा ही मानव है। तब बम मानवीय समानता के शाश्वत सत्य का उपदेश देता है और घमण्डी वायसरायों को महलों और हौदों से हटाकर कब्र और अस्पताल में भेज देता है···पृथिवी पर धन और अधिकार के जो काले बादल छाये हुए हैं, उन्होंने सूर्य के प्रकाश को रोक रखा है। बम बादलों में छिपी

बिजली है, जो स्वतन्त्रता के ध्येय को खोज रही है। काली रात से घिरी परेशान मानवता-का पथ-प्रदर्शन करती है।

"भारत में क्रान्तियों के साथियो ! तैयार हो जाओ ! देश और विदेश में अपने प्रचार को संगठित करो ! सेवा और बलिदान के नये व्रत लो ! देखो, बम ने अपना सन्देश सुना दिया है। हिन्दुस्तान के नौजवान स्त्री-पुरुषों को इसका उत्तर देना चाहिए।"

लाला हरदयाल द्वारा गदरपार्टी का संगठन—सं० रा० अमरीका में गदरपार्टी के संगठन के लिए लाला हरदयाल ने कई रूपों में कार्य किया। पहले भाई परमानन्द वाले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि संयुक्त राज्य अमरीका के पश्चिमी तट पर भारतीय लोग किस प्रकार आने लगे थे और उन्होंने वहाँ शीघ्र ही किस ढंग से अपने को स्वावलम्बी और समृद्ध बना लिया था। इनमें बड़ी संख्या पंजाब से आने वालों की थी। पंजाबी मजदूर लकड़ी की मिलों में ठेकेदारी, खेती आदि का काम करते थे। लाला हरदयाल के अतिरिक्त उस समय यहाँ एक महाराष्ट्रीय सज्जन डॉक्टर पाण्डुरंग सदाशिव खानखोजे भी लोकमान्य तिलक की प्रेरणा से आये थे। उन्होंने पहले जापान में विस्फोटकों के निर्माण की शिक्षा प्राप्त की, बाद में सं० रा० अमरीका की सैनिक अकादमी में प्रवेश लिया। उन्होंने पण्डित काशीराम के साथ मिलकर **इण्डिया इण्डिपेंडेंस लीग** की स्थापना की थी। संयुक्त राज्य अमरीका में मजदूरों के रूप में भारतीयों के आने पर वहाँ के कनाडा तथा अमरीका के मजदूरों के हितों को गहरी हानि पहुँची। उन्होंने कनाडा और अमरीका में इस बात का आन्दोलन उठाया कि एशिया के मजदूरों की संख्या नहीं बढ़नी चाहिए और इनके आव्रजन पर पाबन्दी लगायी जानी चाहिए। १९१० ई० में **एशियन इमिग्रेशन एक्ट** पास हो गया और इससे एशिया से अमरीका आने वाले व्यक्तियों पर कड़ी पाबन्दी लगा दी गयी और उनके प्रवेश के लिए दो सौ डालर नकद प्रवेश के समय होना आवश्यक बना दिया।

इससे भारतीयों में बड़ा असन्तोष उत्पन्न हो गया। उस समय कनाडा में दस हजार भारतीय थे। इनमें नब्बे प्रतिशत से अधिक सिख थे। ऐसी ही बड़ी संख्या केलिफोर्निया में भी बसी हुई थी। ये जब भारत जाते थे तो वहाँ से लौटने पर इन्हें कनाडा तथा अमरीका में प्रवेश नहीं करने दिया जाता था। इसलिए इन लोगों में इस कानून को रद्द कराने के लिए आन्दोलन प्रबल होने लगा। इस कार्य के लिए सेंट जॉन में एक बड़ा सम्मेलन बुलाया गया और इसमें ही 'गदर पार्टी' का संगठन किया गया। इस समय केलीफोर्निया और उसके आसपास के राज्यों में सिख इतने अधिक बसे हुए थे कि यहाँ हिन्दू को सिख कहा जाता था। खेतों में किसान, मजदूर और फैक्टरियों में तथा छोटी-मोटी दुकानदारी करने वाले भारतीयों की संख्या पाँच हजार से अधिक थी। केलीफोर्निया तथा पश्चिमी तट पर बसे हुए सिख यह चाहते थे कि लाला हरदयाल उनके लिए ऐसा आन्दोलन करें जिससे भारतीयों को इस देश में स्वतन्त्रता-पूर्वक आने का और यहाँ के नागरिक बनने का अधिकार प्राप्त हो। लाला हरदयाल और आयोवा विश्वविद्यालय में प्राध्यापक का कार्य करने वाले डॉक्टर सुधीन्द्र बोस के एक शिष्ट-मण्डल ने वाशिंगटन जाकर भारतीयों का मामला अमरीकी कांग्रेस के सदस्यों के सामने रखा। किन्तु अमरीकी सरकार के रवैये में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

युगान्तर आश्रम—अतः अन्त में लाचार होकर सेंट जॉन सम्मेलन में यह निश्चय किया गया कि भारतीयों की दुर्दशा का कारण हमारी पराधीनता है। अतः स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए संघर्ष किया जाना चाहिए। इसके लिए प्रचार-कार्य आवश्यक था। लाला जी का कहना था कि "हमें स्वदेश की स्वतन्त्रता के लिए कलम और छापेखाने की सहायता से लड़ना है।" इस प्रश्न पर विचार करने के लिए कई बैठकें हुईं कि पत्र कैसा होना चाहिए और उसका क्या नाम रखा जाय। लालाजी ने अपने प्रकाशन के मुख्यालय का नाम बंगाल के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी पत्र के नाम पर 'युगान्तर आश्रम' रखा और इसके लिए सान्फ्रांसिस्को के एक क्षेत्र मिशन डिस्ट्रिक्ट की ४३६ हिल स्ट्रीट में पहाड़ी के ऊपर एक मकान लिया गया। यहाँ उन्होंने अपने कर्मचारीवर्ग और कार्य-कर्ताओं को इकट्ठा किया। ये सब व्यक्ति यहाँ एक परिवार के समान रहते थे। इस मुख्यालय द्वारा निकाले जाने वाले पत्र का नाम **गदर** रखा गया, क्योंकि इसे वहाँ रहने वाले अधिकांश पंजाबी और हिन्दीभाषी तुरन्त समझ सकते थे। इस नाम पर कुछ लोगों की यह आपत्ति थी कि यह बदनाम शब्द है। १८५७ के गदर में सिक्खों ने भाग नहीं लिया था, बल्कि उन्होंने गदर को दबाने के लिए अंग्रेजों की सहायता की थी। लालाजी का उत्तर था कि इस नवीन गदर आन्दोलन के लिए सिख और असिख मिलकर तथा एक होकर काम करेंगे। पत्र के लिए अपना मुद्रणालय आवश्यक था, अतः मिशन-डिस्ट्रिक्ट में ही वेलेण्टाइन स्ट्रीट के अन्दर एक गैरेज किराये पर ले लिया गया और उसमें कुछ परिवर्तन करके छपाई की मशीन लगाई गयी।

गदर पत्र का पहला अंक पहली नवम्बर १९१३ को निकला। इसके प्रत्येक अंक के पहले पृष्ठ पर **अंग्रेजी राज्य का कच्चा चिट्ठा** शीर्षक स्तम्भ हुआ करता था जिसमें यह बताया जाता था कि इतने लाख भारतीय अकाल और मृत्यु से मरे हैं, इतने अशिक्षित हैं, इतने करोड़ रुपया प्रतिवर्ष भारत से इंग्लैण्ड ले जाया जाता है। इसके अतिरिक्त इस पत्र में भारत, इंग्लैण्ड, इटली, पोलैंड आदि देशों की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने वाले वीर योद्धाओं के जीवन-चरित्र प्रकाशित किये जाते थे। सावरकर की पुस्तक **भारत का १८५७ का स्वातन्त्र्य युद्ध** को क्रमशः किश्तों में छापा जाने लगा। इस पत्र की एक बड़ी विशेषता इसकी राष्ट्रभक्तिपूर्ण, देश की स्वतन्त्रता के लिए मर-मिटने का पाठ पढ़ाने वाली कविताएँ थीं; जो कोई इन्हें पढ़ता उसके हृदय में आग भड़क उठती थी। 'गदर' में लालाजी अपने विशेष लेख भी लिखा करते थे। एक लेख का शीर्षक था 'गुलामी का जहर'। इसके पहले अंक के सम्पादकीय में पत्र के उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए कहा गया था—"हमारा नाम क्या है?—गदर! हमारा काम क्या है? गदर! गदर कहाँ होगा? भारत में। कब होगा? कुछ ही वर्ष में। क्यों?—क्योंकि अब लोग ब्रिटिश-राज्य में होने वाले दमन एवं अत्याचार को सहन नहीं कर सकते हैं।"

इस पत्र के अतिरिक्त लाला हरदयाल अमरीकी सिखों में अपने बड़े ओजस्वी भाषणों में यह कहा करते थे कि "आपको यहाँ जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, उसका कारण भारत में विदेशी राज्य है। यदि आप अपने देश में राष्ट्रीय सरकार को अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह करके स्थापित करें तो वह आपके हितों की सुरक्षा कर सकती है। विदेशों में भारतीयों के साथ होने वाले दुर्व्यवहार, अपमान और कलंक को धोने के लिए बड़ा परिश्रम करना पड़ेगा, नहीं तो आप गुलाम रहेंगे। यदि आप

स्वतन्त्रता के लिए युद्ध करें तो मैं आपकी सहायता कर सकता हूँ।" जब वहाँ अधिकांश सिख उनको अपना नेता बनाने के लिए तैयार हो गये तो उन्होंने कहा—"आप अपना सारा रुपया शराब पीने में नष्ट करते हैं। यदि आप मुझे नेता स्वीकार करते हैं तो आज ही अभी से शराब पीना छोड़ दें। यह सारा रुपया देश के स्वतन्त्रता-संग्राम के कार्यों में लगाये।" इसका वहाँ के सिखों पर बड़ा चमत्कारपूर्ण प्रभाव पड़ा। उन्होंने शराब पीना छोड़ दिया और यह सारा रुपया देश के स्वतन्त्रता-संघर्ष के लिए देना आरम्भ कर दिया। वे 'गदर' पत्र के माध्यम से उग्र देशभक्ति और अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह करने का प्रचार करने लगे।

रॉलट एक्ट कमेटी की रिपोर्ट में 'गदर' पत्र के बारे में यह लिखा गया है कि यह "भारतीयों को प्रेरित करता था कि वे भारत इस उद्देश्य से जायें कि वहाँ विद्रोह करना है। ब्रिटिश सरकार को जैसे-तैसे निकालना है और अंग्रेजों की हत्या करनी है। यह हर एक विद्रोही की प्रशंसा करता था ताकि लोग उसका अनुसरण करें।" गदर पार्टी की ओर से **'गदर की गूँज'** नामक एक देशभक्तिपूर्ण कविताओं का संग्रह भी प्रकाशित किया गया। इसके बारे में रॉलट कमेटी की रिपोर्ट थी कि 'गदर की गूँज' एक बड़ा विद्रोह की आग भड़काने वाला कविता-संग्रह है। इसकी १९वीं कविता में तिलक, बरकतुल्ला, सूफी अम्बाप्रसाद, अजीतसिंह, सावरकर, अरविंद घोष, श्यामजी कृष्ण वर्मा, और गदर पत्र के सब कार्यकर्ताओं की बड़ी प्रशंसा की गयी है और कहा गया है कि इन्होंने गदर के झंडे को बुलन्द किया है। 'गदर' पत्र का कोई मूल्य नहीं था। यह सबको मुफ्त भेजा जाता था। भारत में भी गुप्त रूप से इसके अंक बड़ी चतुराई से कस्टम वालों की आँखों में धूल झोंककर पहुँचाये जाते थे।

ब्रिटिश सरकार गदर पार्टी द्वारा प्रकाशित साहित्य, युगान्तर सर्कुलर, गदर पत्र, गदर की गूँज, शाबाश, आदि पुस्तिकाओं के प्रचार से बड़ी भयभीत हो उठी। उसने अमरीकी सरकार को लालाजी के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए कहा। ब्रिटिश सरकार यह चाहती थी कि वाशिंगटन लालाजी को उन्हें सौंप दे। सं० रा० अमरीका में बहुत-से व्यक्ति लालाजी के अगाध ज्ञान और तपोमय जीवन से बड़े प्रभावित हुए थे। इनमें एक इतालवी वकील चार्ल्स स्फार्जो थे। ये लालाजी को आधुनिक हिन्दू सन्त फ्रान्सिस कहा करते थे। इन्होंने लालाजी को सावधान किया कि यह सम्भव है कि 'दिल्ली बम षड्यन्त्र' के सिलसिले में ब्रिटिश सरकार अमरीकी सरकार से कहे कि हरदयाल को हमारे सुपुर्द कर दो और वाशिंगटन आपको उसी प्रकार ब्रिटिश सरकार को सौंप दे, जैसे सावरकर को फ्रान्स ने इंग्लैण्ड को सौंपा था और अंग्रेज आप पर मुकद्दमा चलाकर अण्डमान भेज दें। अतः अब आपको इस गम्भीर स्थिति में जल्दी ही अमरीका छोड़ देना चाहिए। लालाजी ने अपने इस मित्र के परामर्श से स्विट्जरलैण्ड जाने का निश्चय किया और अपने साथियों को यह बताया कि मैंने यहाँ गदर पार्टी का संगठन कर दिया है। अपने साथियों को इस कार्य की शिक्षा भी दी है। मैं अब यूरोप जा रहा हूँ, क्योंकि अधिकांश भारतीय नवयुवक लन्दन, पेरिस या बर्लिन आते हैं। 'गदर' के साथ मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहेगा और मैं इसके लिए परामर्श देता रहूँगा। वस्तुतः एक ही वर्ष में लालाजी ने अमरीका में भारतीयों में 'गदर' पत्र द्वारा इतनी जागृति उत्पन्न कर दी थी कि अगस्त १९१४ में जब पहला महायुद्ध छिड़ा तो वहाँ से भारत में गदर-

आन्दोलन को सफल बनाने के लिए कई हजार व्यक्ति भारत आये। रॉलट एक्ट कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार इस क्रान्ति में भाग लेने वाले तथा प्राणदण्ड पाने वाले विष्णु गणेश पिंगले ने यह बताया था कि चार हजार लोग सं० रा० अमरीका से भारत में विद्रोह करने के लिए आये और वहाँ बीस हजार ऐसे अन्य व्यक्ति थे जो भारत में विद्रोह शुरू होने पर आने वाले थे। लालाजी के स्विट्जरलैण्ड चले जाने पर श्री रामचन्द्र को उनके स्थान पर गदर-आन्दोलन का नेता बनाया गया।

प्रथम विश्वयुद्ध में कार्य—अगस्त १९१४ में यूरोप में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने के समय लाला हरदयाल जेनेवा में थे। उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए इसे स्वर्ण अवसर समझा। वे तुरन्त अंग्रेजों के शत्रु जर्मनी और टर्की से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करने लगे। सितम्बर १९१४ में लाला हरदयाल ने जर्मन राजदूत को यह सुझाव दिया कि 'कुछ दृढ़प्रतिज्ञ हिन्दू युवक' टर्की भेजे जायँ ताकि वहाँ से भारत पर आक्रमण करने की कार्यवाही की योजना बनायी जा सके।[1] इसी समय जूरिच (स्विट्जरलैण्ड) की अन्तर्राष्ट्रीय भारतसमर्थक समिति के प्रधान श्री चम्पक रमण पिल्ले ने कुछ अन्य सज्जनों की सहायता से बर्लिन में **भारतीय स्वतन्त्रता समिति** का गठन किया। इसमें काम करने के लिए इनके प्रमुख सहयोगी थे—तारकनाथ दास, बरकतुल्ला, डॉक्टर चन्द्रकान्त चक्रवर्ती, डॉक्टर भूपेन्द्र नाथ दत्त (स्वामी विवेकानन्द के भाई), डॉक्टर प्रभाकर, वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय, वीरेन्द्र सरकार, हेरम्ब लाल गुप्ता।

अक्तूबर १९१४ में लाला हरदयाल अपनी उपर्युक्त योजना को क्रियान्वित करने के लिए टर्की होकर पुनः जेनेवा आ गए। २७ जनवरी १९१५ को जर्मन सरकार से परामर्श के लिए बर्लिन पहुँचे। उस समय इन्होंने अपना नाम जर्मन पूर्वी अफ्रीका का रामदास रखा हुआ था। १९१५ में भारत के सम्बन्ध में जर्मनी की सहायता से जो भी योजना बनी या फौजी कार्यवाही की गयी, उसमें प्रधान रूप से लालाजी का हाथ था। वे चाहते थे कुस्तुनतुनियाँ और ईरान से अफगानिस्तान तथा भारत की ओर बढ़ा जाये। उन्होंने क्रान्तिकारी साहित्य तैयार करने के लिए प्राच्य ब्यूरो खड़ा किया और भारत की कई भाषाओं में एक पत्रिका निकाली। बंगाल तथा पंजाब में एकसाथ विद्रोह कराने की योजना बनायी गई। बटाविया (जावा), बैंकाक (श्याम) तथा काबुल के अड्डों से यह योजना पूरी की जानी थी और विद्रोहियों को हथियार भिजवाए जाने थे।

१९१५ में जर्मन रुपये से गदर पार्टी ने दो जहाज खरीदे, इनके नाम थे ऐनी लार्सन और मावरिक। इनके द्वारा हथियार बटाविया भेजे जाने थे और एम० एन० राय (नरेन्द्र भट्टाचार्य) ने इन हथियारों की सहायता से बंगाल में क्रान्ति करनी थी। कुस्तुनतुनियाँ में मिश्री राष्ट्रवादी फरीद बे की अध्यक्षता में एक समिति ने यह योजना बनायी कि स्वेज नहर पर कब्जा करने के बाद ईरान और अफगानिस्तान होते हुए भारत की पश्चिमी सीमा पर हमला किया जाये। अफगानिस्तान में सुप्रसिद्ध भारतीय क्रान्तिकारी राजा महेन्द्रप्रताप ने भारत की एक सरकार बनाई थी। अमरीका में गदर पार्टी इस समय भारत में विद्रोह करने के लिए व्यक्तियों को भारत भेज रही थी। अन्यत्र यह बताया

---

१. पैट्रियट दिल्ली के १९६४ में प्रकाशित लेख—हरदयाल्स एफर्ट्स इन जर्मनी

जा चुका है कि ये योजनाएँ सफल नहीं हो सकीं। प्रथम विश्वयुद्ध में यद्यपि लाला हरदयाल जर्मनी और टर्की में फरवरी १९१५ से अक्तूबर १९१८ तक ४४ महीने रहे, किन्तु नीति-सम्बन्धी मतभेदों और जर्मनी के पराजित होने के कारण उन्हें कोई बड़ी सफलता नहीं मिल सकी और उन्होंने यह निश्चय किया कि वे जर्मनी से स्वीडन के तटस्थ देश में चले जायें। इसके अनुसार दस अक्तूबर १९१८ को वे स्वीडन की राजधानी स्टाकहोम पहुँच गये।

स्वीडन का प्रवास—अगले नौ वर्ष, पहली अक्तूबर १९२७ तक, वे स्वीडन में ही रहे। यहाँ आते ही एक विशाल सभा में उन्होंने स्वीडिश भाषा में बड़ा प्रभावोत्पादक भाषण दिया, यद्यपि उस समय तक वे स्वीडन की भाषा नहीं जानते थे। यह चमत्कार उन्होंने अपनी विलक्षण स्मृति की सहायता से किया। पहले अपना भाषण उन्होंने अंग्रेजी में लिखकर विश्वविद्यालय के एक अध्यापक से इसका अनुवाद स्वीडिश में करने की प्रार्थना की। जब अनुवाद हो गया तो लालाजी ने उस विद्वान् से अनुरोध किया कि "इसे एक बार मुझे सुनाने का कष्ट कीजिए।" वह बोलता गया और लालाजी बड़ी तन्मयता से उसके उच्चारण, स्वर-शैली के उतार-चढ़ाव का निरीक्षण करते गये। एक बार सुनने से उन्हें यह भाषण कण्ठस्थ हो गया। उन्होंने शीघ्र ही स्वीडिश का अभ्यास कर लिया और वहाँ इतिहास, भूगोल, संगीत आदि विभिन्न विषयों पर सार्वजनिक सभाओं में भाषण देकर अपनी आजीविका कमाने लगे।

स्वीडन में रहते हुए ही उन्होंने यूनानी और लैटिन भी सीख ली। यूरोप की लगभग सभी भाषाओं तथा संस्कृत, उर्दू, फारसी का उन्हें बहुत अच्छा ज्ञान था। जीवन के अन्तिम दिनों में वे कहा करते थे कि अब बस रूसी ही रह गयी है, उसे सीखना शेष है। कुछ समय तक लालाजी अप्पसाला के विश्वविद्यालय में प्राध्यापक के रूप में भारतीय दर्शन भी पढाते रहे। उनकी यह इच्छा थी कि वे स्वीडन के नागरिक बन जायँ। इन्हीं दिनों उनके विचारों में बड़ा परिवर्तन आने लगा था। लाला लाजपतराय के प्रयत्न से उन्हें १९२७ में इंग्लैण्ड आने की अनुमति मिल गई। १९२७ में ब्रिटिश सरकार ने राजनैतिक शरणार्थियों के लिए आम माफी घोषित की थी। इससे लाभ उठाकर हरदयाल इंग्लैण्ड आ गये।

बुढ़ापे में बी० ए०—बीस वर्ष पूर्व लाला हरदयाल ने भारत सरकार तथा आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय द्वारा उन्हें दी जाने वाली तीन सौ पौण्ड की तीन छात्रवृत्तियों को लात मारी थी। अब उन्होंने अपने व्यय से १९२८ में लन्दन रहते हुए ४४ वर्ष की आयु में लन्दन विश्वविश्वविद्यालय से डॉक्टरेट करने का विचार किया। गौतम बुद्ध उनको सदैव आकर्षित करते थे। १९२८ में उन्होंने अपने थीसिस का विषय चुना—**'बोद्ध संस्कृत साहित्य में बोधिसत्व सिद्धान्त'**। तीन वर्ष के कठोर परिश्रम के बाद उन्होंने शोधप्रबन्ध पूरा किया और इस पर 'डॉक्टर आफ फिलासफी' की उपाधि प्राप्त की। इससे ब्रिटिश सरकार को यह विश्वास हो गया कि अब वे पुराने क्रान्तिकारी नहीं रहे हैं और अध्ययन एवं अनुसंधान में लग गये हैं।

उनके बारे में इससे भी अधिक आश्चर्य की यह बात थी कि उन्होंने इसी समय लन्दन विश्वविद्यालय से विज्ञान के विषय में बी० ए० की उपाधि भी प्राप्त की। उनका यह कहना था—"आज के वैज्ञानिक युग में कोई विचारक विज्ञान-सम्बन्धी कुछ

मूलभूत ज्ञान पाये बिना ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर सकता है, अतः मैंने विज्ञानों का अध्ययन किया है। इसके बाद उन्होंने **आत्मविकास के निर्देश** (हिण्ट्स फ्राम सेल्फ कल्चर) तथा बारह धर्म और आधुनिक जीवन (Twelve Religions and Modern Life) के नाम से एक पुस्तक लिखी। यह पुस्तक १९३८ में प्रकाशित हुई थी।

अब उनकी आयु ५४ वर्ष की हो चुकी थी। वे विश्व-भ्रमण करते हुए थक चुके थे। उनके मन में अपनी मातृभूमि लौटने की प्रबल लालसा उत्पन्न हुई। उनके मित्रों ने इस बात का प्रयास किया कि वे भारत आ सकें। इसके लिए उन्हें यहाँ से आवश्यक धनराशि और किराया भी सं० रा० अमरीका भेज दिया गया। किन्तु सहसा संयुक्त राज्य अमरीका के फिलाडेल्फिया नगर में चार मार्च १९३९ को रहस्यपूर्ण परिस्थितियों में उनका स्वर्गवास हो गया। उनकी अन्तिम इच्छा यह थी कि काश्मीर में एक आधुनिक विश्वविद्यालय की स्थापना की जाए और वे वहाँ रहकर अध्यापन करें।

विचारधारा—लालाजी के भारतीय स्वतन्त्रता-विषयक विचारों का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। वे उग्र देशभक्त थे और सशस्त्र क्रान्ति द्वारा उन्होंने भारत को स्वतन्त्र कराने का पूरा प्रयास किया। उस समय अधिकांश भारतीय राजनैतिक नेता हिंसा और क्रान्ति के उपायों के अवलम्बन के घोर विरोधी थे, किन्तु उन्होंने उग्रवादी हिंसक उपायों का प्रबल समर्थन किया। पहले यह बताया जा चुका है कि उन्होंने अपने **युगान्तर सर्कुलर** में किस प्रकार क्रान्तिकारी दर्शन का विवेचन किया और बम की उपयोगिता तथा महत्त्व पर प्रकाश डाला तथा संयुक्त राज्य अमरीका में **'गदर'** पत्र द्वारा अपनी क्रान्तिकारी विचारधारा का प्रचार किया। किन्तु जीवन के अन्तिम दिनों में उनके विचारों में कुछ परिवर्तन आने लगा था। वे विज्ञान को अधिक महत्त्व देने लगे थे और इसके साथ ही नैतिकता का भी उच्च स्थान मानने लगे थे। जिस प्रकार अपने जीवन के संध्याकाल में उग्र देशभक्त होते हुए भी स्वामी श्रद्धानन्द और लाला लाजपतराय ने हिन्दू संगठन पर बल दिया था और आर्यसमाज के माध्यम से इनका प्रचार किया था, वैसे ही लाला हरदयाल भी इन विचारों को हिन्दू जाति के संरक्षण के लिए आवश्यक मानने लगे थे।

ऋते यूरोपान्न मुक्तिः—अन्तिम दिनों में उनका यह विचार था कि भारत को यूरोप के ज्ञान-विज्ञान का पूरा लाभ उठाना चाहिए। प्राचीन शास्त्रकारों ने इस बात पर बल दिया था कि अविद्या के कारण मनुष्य जन्म-मरण के बन्धन में फँसता है और ज्ञान से अविद्या का नाश होने पर उसकी मुक्ति होती है। उनका नारा था ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त करो—ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। लाला हरदयाल ने इसमें कुछ संशोधन करके नया नारा यह दिया—ऋते यूरोपानन्न मुक्तिः—यूरोप के ज्ञान-विज्ञान के बिना भारत की पराधीनता तथा अन्धविश्वास से मुक्ति नहीं हो सकती है। उनका कहना था—"यूरोप की उन्नत विचारधारा का अध्ययन भारत के लिए बड़ी संजीवनी का काम करेगा। इस समय हमारी जीवनशक्ति को आलस्य, मूर्खता, निराशावाद और अक्षमता खोखला कर रही है। इसे दूर करने के लिए पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान का अवलम्बन करना चाहिए। यूरोप जीवित जागृति है। भारत अर्द्धमृत है। हमें यूरोप के अमृत से भारत में पूर्ण जीवनशक्ति का संचार करना चाहिए।"

इस समय लाला हरदयाल ने आर्यसमाज की और स्वामी दयानन्द की विचार-

धारा के सदृश भारत की उन्नति के लिए चरित्र की शुद्धि और नैतिकता पर बहुत बल दिया। इस विषय में उनका यह कहना था कि "राजनीति अपने-आपमें कोई महान् रचनात्मक शक्ति नहीं है। राजनीति को नैतिकता पर अवलम्बित होना चाहिए और हमारे राष्ट्रीय जीवन के सभी अंगों और शाखाओं में नैतिक पूर्णता होनी चाहिए। राष्ट्रों की आत्मा नैतिकता है। व्यापार, राजनीति, साहित्य आदि इसका बाह्य शरीर मात्र है। नैतिकताहीन राजनीति निरर्थक है।"

१९२५ में लाला हरदयाल लगभग उन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने लगे थे, जो उस समय आर्यसमाज के मूर्धन्य नेता स्वामी श्रद्धानन्द और लाला लाजपतराय कर रहे थे। लाहौर के सुप्रसिद्ध उर्दू दैनिक 'प्रताप' में लाला हरदयाल ने भारत के सम्बन्ध में अपनी योजना पर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि हिन्दू जाति, हिन्दुस्तान तथा पंजाब का भविष्य चार स्तम्भों पर आधारित है—(१) हिन्दू संगठन, (२) हिन्दू राज्य, (३) मुसलमानों की शुद्धि, (४) अफगानिस्तान तथा सीमाप्रान्त की विजय तथा शुद्धि। जब तक हिन्दू-राष्ट्र ये चार बातें नहीं करता है, तब तक हिन्दू जाति का भविष्य सुरक्षित नहीं है।...अफगानिस्तान तथा सीमाप्रान्त के प्रदेश पहले भारत का अंग थे, लेकिन अब मुस्लिम शासन में हैं। जैसे नेपाल में हिन्दू धर्म है, वैसे ही अफगानिस्तान और सीमा-प्रान्त में हिन्दू संस्थाएँ होनी चाहिएँ। यदि ऐसा नहीं होता है तो स्वराज्य प्राप्त करना निरर्थक होगा। यदि वे हमारे शत्रु हो जाते हैं तो नादिरशाह और जमानशाह का जमाना फिर आ जायेगा। वर्तमान समय में अंग्रेज अधिकारी हमारी सीमाओं की सुरक्षा कर रहे हैं, किन्तु सदा ऐसा नहीं हो सकता है।"

उस समय शायद किसी को यह कल्पना नहीं थी कि जिन अंग्रेजों को लाला हरदयाल ने भारत की सीमा की रक्षा करने वाला समझा था, वही अपनी कूटनीति से उसका हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में बँटवारा करवा देंगे और सीमाप्रान्त और पंजाब तथा सिन्ध भारत से अलग हो जायेंगे। लाला हरदयाल अद्वितीय मेधाशक्ति, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए संघर्ष करने के लिए संगठन बनाने, तपोमय जीवन एवं अनुपम त्याग के लिए सदैव स्मरणीय रहेंगे। उन्होंने न केवल बोधिसत्व के सिद्धान्त पर पुस्तक लिखी, अपितु अपने जीवन को उसके उच्च आदर्शों के लिए भारत की स्वाधीनता के लिए अर्पित किया था।

(३) पंडित परमानन्द (झाँसी)

सिंगापुर की भारतीय सेनाओं को अपने जोशीले भाषण से विद्रोह के लिए प्रेरित करने वाले, भारत में गदर पार्टी की ओर से व्यापक बगावत का बड़े पैमाने पर प्रयास करने वाले, अण्डमान के रावण बारी की मरम्मत करने वाले, स्वतन्त्रता-संग्राम के सेनानी परमानन्द का जून १८९२ में ग्राम सिकरौधा (तहसील राठ, जिला हमीरपुर, उत्तर प्रदेश) में हुआ। इनके पितामह मनराखन जी को १८५७ के गदर में सक्रिय रूप से भाग लेने के कारण २० वर्ष की कड़ी कैद हुई थी। इस प्रकार अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह की प्रवृत्ति आपको विरासत में मिली थी। आपके पिता श्री गयाप्रसाद खरे थे।

यद्यपि आपका जन्म कायस्थ परिवार में हुआ था, किन्तु बचपन में आप आर्य-समाज के सम्पर्क में आये। १० वर्ष की आयु तक आपने सत्यार्थप्रकाश कण्ठस्थ कर

लिया था, योगदर्शन तथा संस्कृत के ग्रन्थों में अच्छी प्रवीणता प्राप्त कर ली थी, अतः कायस्थकुलोत्पन्न होने पर भी आपको पंडित परमानन्द कहा जाने लगा। अध्ययन-काल से ही आप क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों में सक्रिय भाग लेने लगे। प्रयाग में पढ़ते हुए आप पंडित सुन्दरलाल जी के सम्पर्क में आये। १९०५-६ में छात्रावास में आपने बम बनाना सीखा। १९१० में जब इलाहाबाद में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो आपने स्वयंसेवक के रूप में अपनी ड्यूटी महात्मा मुंशीराम के शिविर पर लगवाई ताकि उनके दर्शन और सेवा से लाभ उठा सकें। उस समय निकलने वाले सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय पत्र **स्वराज्य** का यह आदर्श वाक्य आपके जीवन का ध्रुवतारा बन गया—

लाख बाँधो तुम हमें जंजीर से,
वक्त पर निकलेंगे फिर भी तीर से।

वाराणसी के सुप्रसिद्ध देशभक्त दानी बाबू शिवप्रसाद गुप्त के सहयोग से आप सिंगापुर, जापान होते हुए अमरीका पहुँचे। वहाँ गदर पार्टी के संगठन में सम्मिलित हुए। इसके कार्यों में गहरी दिलचस्पी लेने लगे। जब गदर पार्टी के नेताओं ने प्रथम विश्वयुद्ध के समय यह निर्णय किया कि अमरीका के भारतीय स्वदेश लौटकर मातृभूमि को पराधीनता के पाश से मुक्त करायें और भारतीय सेनाओं को बगावत करने के लिए तैयार करें तो ये भारत की ओर चल पड़े। २९ अगस्त १९१४ को सान्फ्रांसिस्को से अमेरिका के भारतीय क्रांतिकारियों की पहली टोली **कोरिया** नामक जहाज से रवाना हुई। इन्हें सम्बोधित करते हुए मौलवी बरकतुल्ला तथा भाई भगवानसिंह ने कहा था—"तुम्हारा कर्तव्य स्पष्ट है। देश लौट जाओ और भारत के हर एक कोने में गदर की चिनगारी सुलगा दो। भारत पहुँचने पर तुम्हें हथियार दिये जायेंगे। अगर हथियार जुटाने में हम सफल नहीं होते हैं तो पुलिस स्टेशनों पर धावा बोलकर हथियार लूट लो।"

श्री परमानन्द इस दल में सम्मिलित हुए। इस जहाज का गन्तव्य स्थान हाँग-काँग था। हाँगकाँग उतरकर इन लोगों ने वहाँ गुरुद्वारों में तथा फौजी छावनियों में सभायें करके गदर का प्रचार किया। हाँगकाँग की पंजाबी पलटनों को भड़काने की कोशिश की गई। यहाँ से क्रांतिकारी मशीयामारू तथा तोशामारू नामक जहाजों में बैठकर भारत के लिए रवाना हुए। परमानन्द तोशामारू जहाज पर थे। कुछ समय बाद यह जहाज सिंगापुर पहुँचा। यहाँ कई भारतीय पलटनें थीं। इनमें किये जाने वाले विद्रोह के कार्य की चर्चा करते हुए पं० परमानन्द ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—

"सिंगापुर में मैं अपने मित्रों से मिला। गदर अखबार और कुछ दूसरी पुस्तकें जो (कैलीफोर्निया के लाला हरदयाल के) आश्रम से भेजी गई थीं, उन्हें बाँट दिया। खास-खास किताबें थीं—नीम हकीम खतरए जान, **गदर की गूँज, लैण्ड एण्ड लिबर्टी**। जब घूम-फिरकर हम वापस आये तो मीटिंग की तैयारी हुई। मीटिंग में ३०० अमरीका से लौटे भारतीय, २०० फौज के सिपाही थे। इन्हें सम्बोधित करते हुए पं० परमानन्द ने कहा—

"आपको मालूम है कि हम सब गदर पार्टी के मेम्बर अमेरिका से आ रहे हैं। इस पार्टी ने यह कसम खाई है कि हम देश में पहुँचकर गदर करेंगे और साम्राज्यवादियों की जड़ों को उखाड़कर फेंक देंगे। हमारी पार्टी के कई हजार सिपाही हमसे पहले जहाजों से देश में पहुँच चुके हैं। शायद आप लोगों को यह बात मालूम होगी कि गदर पार्टी अपने

फौजी भाइयों को निमन्त्रण भेज चुकी है कि आजादी की जंग में वे हमारी सहायता करें।

"आप लोग भारत के सिपाही हैं और भारत माता की मान-मर्यादा की रक्षा आप लोगों के हाथ में है। आप जानते हैं कि हिन्दुस्तान की आजादी का पहला युद्ध भी आपके बुजुर्गों ने ही शुरू किया था। साम्राज्यवादी उसे सिपाही-गदर कहते हैं। बतलाइये, आजादी का युद्ध तो वे ही करेंगे जो योद्धा हैं। आप सिपाहियों ने ही गदर किया था। आप सिपाही हैं, माता के वीर पुत्र हैं, आपकी भुजाओं में बल है, पैरों में चलने और दौड़ने की शक्ति है, दिल में हिम्मत है, लेकिन सिर में वीरों की शान सो रही है। क्या आप लोग नहीं देखते कि आपके वे बुजुर्ग, जिनको अंग्रेजों ने दिल्ली से पटना तक दरख्तों पर टाँगकर फाँसी दी थी, आज स्वर्ग में बैठे हुए आपको शुभ समय की सूचना दे रहे हैं 'वे आकाश से आपको पुकार रहे हैं, ललकार रहे हैं···अपने पूर्वजों का बदला लेकर उनके ऋण से मुक्ति प्राप्त कीजिए और वीरता के प्रसादस्वरूप अपने देशभाइयों को गुलामी से मुक्ति दीजिए।"

इस भाषण का सैनिकों पर बड़ा चमत्कारपूर्ण प्रभाव पड़ा। पण्डित परमानन्द अपने साथियों के साथ उसी दिन तोशामारू से सिंगापुर से पिनांग के लिए चल पड़े। दो दिन बाद पिनांग के गुरुद्वारे में उन्हें पता लगा कि सिंगापुर की सेना ने विद्रोह कर दिया है। भारतीय सिपाहियों ने वहाँ के अंग्रेज सैनिकों को मार डाला और किले पर कब्जा कर लिया। अंग्रेज बड़ी कठिनाई से इस विद्रोह को दबा पाये।

तोशामारू जहाज के कलकत्ता पहुँचने से पहले ब्रिटिश सरकार को गदरपार्टी के व्यक्तियों के भारत आने की सूचना मिल चुकी थी, अतः उन्होंने इसके पहुँचने पर तुरन्त ही बड़ी संख्या में गोरे तथा गोरखे सिपाही और पुलिस जहाज पर भेज दी। तलाशी लेकर भारतीयों को गिरफ्तार किया जा रहा था। पण्डित परमानन्द ने जहाज से भागने की एक युक्ति सोची। इस जहाज पर रंगून से स्वदेश लौटने वाले यू० पी० के कुछ कुली सवार हुए थे। पण्डित परमानन्द ने इनका वेष बनाया, बाल्टी उठाई, उन्हीं कुलियों के साथ जाकर खड़े हो गये। पुलिस ने जब पूछताछ की तो उन्होंने बताया कि रंगून से आया हूँ, बनारस जाना है। पुलिस ने पूछा—वहाँ क्या करते थे? उन्होंने सहज बुद्धि से उत्तर दिया—वहाँ एक स्टेशन मास्टर का खाना बनाता था। पुलिस ने इन्हें यू० पी० का कुली समझते हुए जहाज से बाहर निकाल दिया। तोशामारू पर सवार क्रांतिकारियों में यही एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे जो पुलिस की आँखों में धूल झोंकने में सफल हुए। इनके अन्य सभी साथी गिरफ्तार हो गये।

गुप्त योजना—पण्डित परमानन्द के पास पार्टी के अतीव महत्त्वपूर्ण कागजात और उन योजनाओं के नक्शे थे, जिनके अनुसार भारत से अंग्रेजों को निकालने के लिए कार्यवाही की जानी थी। ये उन्होंने पुलिस की दृष्टि से किस प्रकार बचाये, इसका सुन्दर वर्णन करते हुए उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है—"समस्त पार्टी गिरफ्तार हो गई। एक मैं ही (बन्दरगाह से बाहर) निकल सका था। सारा भावी प्रोग्राम मेरे पास था। युद्ध के नक्शे और अन्य सामग्री मेरे पास थी। बड़ी चालाकी से बाल्टी के अन्दर पुराने बूटों के जो मोजे थे, उनके अन्दर में इन्हें छिपाकर लाया था। इसमें महत्त्वपूर्ण वस्तु जापान में जर्मन राजदूत के सौजन्य से प्राप्त किया गया भारत का ऐसा मानचित्र था जिसमें लाल स्याही से भारत की निम्नलिखित २१ छावनियाँ तथा

२२ पुल रेखांकित किये गये थे—जमरूद, पेशावर, रावलपिण्डी, मियांमीर(लाहौर),क्वेटा, कराची, पूना, जबलपुर, झाँसी, कानपुर, इलाहाबाद, मद्रास, कलकत्ता, बनारस, पटना, गोरखपुर, आगरा, मेरठ, दिल्ली, जालन्धर और अमृतसर। क्रांतिकारियों को इन छावनियों में जाकर भारतीय सैनिकों को बगावत करने के लिए तैयार करना था। रेलवे के २२ ऐसे पुल भी इस नक्शे में बनाये गये थे, जिनको उड़ाकर छावनियों को एक दूसरे से जोड़ने वाली रेल एवं यातायात की व्यवस्था को छिन्न-भिन्न किया जाना था। इसके साथ ही टेलीफोन के तार काटकर संचार-व्यवस्था को भंग करना था।

पण्डित परमानन्द इन सब कागजात को लेकर कलकत्ता से लाहौर पहुँचे, वहाँ भाई परमानन्द से मिलकर अन्य जहाजों से आने वाले अपने साथियों के बारे में जानकारी और भावी कार्यक्रम के विषय में निर्देश प्राप्त किये। उन्हें यह पता लगा कि उनके अमरीकी साथी पण्डित जगतराम, पृथ्वीसिंह, अमरसिंह, करतारसिंह, विष्णु गणेश पिंगले भारत में सुरक्षित रूप से पहुँच गये हैं। ये उनके साथ तथा भारतीय क्रांतिकारी—रासबिहारी बोस तथा शचीन्द्रनाथ सान्याल से मिलकर योजना को क्रियान्वित करने का प्रयास करने लगे। इस प्रकार की सुचिन्तित, व्यापक और प्रभावशाली योजना भारत के क्रांतिकारी इतिहास में सम्भवतः पहली बार बनाई गई थी। ब्रिटिश साम्राज्य जैसी सुसंगठित शक्ति के उन्मूलन के लिए ऐसी ही योजना बनाई जानी चाहिए थी। इस योजना के महत्त्व और साथियों पर प्रभाव के बारे में पण्डित परमानन्द का कहना था— "मैं अच्छी तरह जानता था कि ब्रिटिश साम्राज्य की नींव इंगलिश चरित्र में, उनकी संगठन-शक्ति और योग्यता में है। एक ओर ब्रिटिश जाति सैनिक संगठन और रण में पण्डित है, उसकी अपार शक्ति है, दूसरी ओर भारत के देश-भक्त क्रांतिकारी हैं, जो युद्धकला और युद्धनीति से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। मैं अपने मित्रों की योग्यता देखकर निराश हुआ, किन्तु कुछ कह न सका। मैंने जब सैनिक नक्शा सब साथियों को दिखाया और मर्मस्थानों को समझाया तो मेरे साथी प्रसन्न हुए और बड़ी उत्सुकता से सबने अध्ययन भी किया और देश के मर्मस्थानों पर यकबारगी कब्जा करने का प्रोग्राम भी बनाया।"

क्रांतिकारियों का प्रमुख केन्द्र लाहौर था। यहाँ से पण्डित जगतराम तथा पृथ्वीसिंह को पेशावर की छावनी में काम करने के लिए भेजा गया, किन्तु वे वहाँ जल्दी ही गिरफ्तार हो गये। इस पर भाई परमानन्द ने इन्हें परामर्श दिया कि अब अधिक सावधानी की आवश्यकता है, राजधानी होने से लाहौर में पुलिस की संख्या और चौकसी अधिक है। उन दिनों कपूरथला में एक प्रसिद्ध क्रांतिकारी रामशरण दास रहा करते थे। रियासत होने के कारण वहाँ पुलिस की लाहौर जैसी कड़ी निगरानी नहीं थी, अतः पण्डित परमानन्द सब क्रांतिकारियों के साथ कपूरथला आ गये। यहाँ महारानी के मन्दिर में रहने की व्यवस्था की गई। मन्दिर के पुजारी पण्डित उड़ियाराम ने बड़े प्रेम से सबके भोजन का प्रबन्ध किया। यहाँ उपर्युक्त योजना को कार्यरूप में परिणत करने के लिए विचार-विमर्श और आवश्यक तैयारियाँ की जाने लगीं। पण्डित परमानन्द और डॉक्टर मथुरासिंह ने पुल तोड़ने के लिये फल्मीनेट आफ मर्करी से दो दर्जन बड़े बम बनाये। टेलीफोन की तार काटने के लिए ये दोनों दिल्ली जाकर २००० वायर-कटर तथा रबड़ के दस्ताने ले आये, ताकि महत्त्वपूर्ण अधिकारियों, सैनिक कार्यालयों

तथा अड्डों का दूरभाष एवं तार का सम्बन्ध आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त भंग किया जा सके। क्रांतिकारियों के अनुमान के अनुसार २६ हजार सैनिक उनका साथ देने के लिए तैयार थे। जनता में जोश पैदा करने के लिये क्रांतिकारी पत्रों व पुस्तिकाओं का मुद्रण आरम्भ किया गया। **गदर की गूंज, नीमहकीम खतरए जान** नामक पुस्तकें छापी गईं। इन्हें सिपाहियों में बँटवाने का कार्य किया गया। १९१२ में छापे हुए भारत के १०० एटलस (मानचित्र) खरीदकर उनमें पुल, छावनियाँ आदि मार्मिक स्थान रेखांकित करके साथियों में बाँट दिये गये।

पहले क्रांतिकारियों को यह आशा थी कि बंगाल और सीमाप्रांत में उन्हें काफी हथियार मिल जायेंगे, किन्तु इन दोनों प्रांतों में सफलता न मिलने पर स्वयं बम बनाने का निर्णय किया गया। ३१ दिसम्बर १९१४ को बहुत-से क्रांतिकारी अमृतसर की बिरयाली धर्मशाला में एकत्र हुए।[1] डॉक्टर मथुरासिंह ने बताया कि उन्हे बम बनाने का नुस्खा आता है। एक पीतल की दवात मँगाई गई। डॉक्टर मथुरा सिंह ने उसमें मसाला भर दिया। पण्डित परमानन्द और मूलसिंह आदि ने उसे एकांत स्थान में नहर पर ले जाकर चलाया, और वापस आकर क्रांतिकारियों को बताया कि परीक्षण सफल रहा है। इसके बाद गदरी क्रांतिकारियों ने बम बनाने की ओर ध्यान दिया। लुधियाना जिले के आबेवल गाँव में बम फैक्टरी कायम की गई। पण्डित परमानन्द को डॉक्टर मथुरासिंह के साथ यहाँ बम बनाने का काम सौंपा गया। जब यह बात कुछ अन्य लोगों को पता लग गई तो यह फैक्टरी नाभा राज्य के लोहड़बन्दी गाँव में ले जाई गई। बंगालियों को बम बनाने की कला का अच्छा अभ्यास था। बंगाल से कुछ दूर तक मार करने वाले बम पंजाब लाये गये। श्री पिंगले के पास से मेरठ छावनी में पकड़े गये दस बम एक पूरी रेजिमेंट को उड़ा देने के लिए काफी थे।

इस योजना का सबसे महत्त्वपूर्ण साहसिक तत्त्व सेनाओं को बगावत के लिये भड़काना और उनके दिलों में अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध घृणा पैदा करना था। इस समय गदरी क्रांतिकारियों के कुछ नारे इस प्रकार थे—"जाओ, फौजों को जगाओ ! उठो कठोर तलवार के धनी, सोए क्यों पड़े हो ? तुम गोरों के स्थान पर जाकर लड़ते हो, दूसरे देशों पर हमला करते हो, तुम अपने देश को अपने चार्ज में क्यों नहीं लेते ?··· ऐ फौज के सिपाहियो, क्या तुम्हारा भारतीयों से कोई सम्बन्ध नहीं ? क्या तुमने अंग्रेजों के अधीन रहने की सौगन्ध उठा रखी है ? क्या तुम्हारी जिन्दगी का मूल्य नौ रुपये है ? तुम एक क्षण में अंग्रेजों का बीजनाश कर सकते हो। ऐ बहादुरो, तुम कितनी देर गुलाम रहोगे ? उठो, अपने-आपको कुर्बान कर दो !"[1]

क्रांतिकारियों ने गदर की तारीख २१ फरवरी १९१५ निश्चित की थी। लाहौर के निकट मियाँमीर की छावनी में सेना के अस्त्र-शस्त्रों का विशाल भण्डार था। क्रांतिकारियों ने यहाँ के शस्त्रागार पर कब्जा करके रायफलें तथा अन्य हथियार बागी सिपाहियों के साथ प्राप्त करने थे। रिसाले के सवारों की सहायता से यूरोपियन सैनिकों तथा गोरी फौज के तोपखाने के सिपाहियों को मारना था। इसी प्रकार फिरोजपुर

---

१. प्रीतम सिंह पंछी—गदर की गूंज और कामागाटामारू का रोमांच, पृष्ठ १२०

छावनी में छब्बीसवीं पल्टन के सिपाहियों की सहायता से क्रांतिकारियों ने वहाँ के शस्त्रागार को लूटना था।

इस योजना की सफलता के लिए इसकी गोपनीयता अत्यावश्यक थी, किन्तु यह नहीं बनी रह सकी। पुलिस को बड़े विचित्र ढंग से इसका पता लग गया। अमृतसर के चब्बे गाँव में डाके के समय क्रांतिकारी पेटियाँ खोलने के लिये अमृतसर के एक बढ़ई कालासिंह को अपने साथ गाँव ले गये थे। डाके के मौके पर गाँव वालों ने इसे पकड़ लिया। पुलिस को इससे जो सूचनायें मिलीं, उनसे उसे निश्चय हो गया कि अमरीका से लौटे आदमियों ने इस डाके को डलवाया है। इसका पता लगाने के लिए डिप्टी सुपरिण्टेंडेंट पुलिस लियाकत खान ने ७ फरवरी को बेलासिंह जेलदार को बुलाकर ऐसा आदमी ढूंढने को कहा जो अमरीका से लौटे भारतीयों को जानता हो, उनसे संपर्क स्थापित करके उनकी खबरों को लाने वाला भेदिया बन सके। ९ फरवरी को पुलिस को कृपाल सिंह के रूप में ऐसा जासूस मिल गया। उसने क्रांतिकारियों पर अपना ऐसा प्रभाव जमाया कि उन्होंने गिरफ्तार मूलासिंह के स्थान पर इसे १३ फरवरी को स्थानीय नेता चुन लिया। यह घटना क्रांति की निश्चित तारीख २१ फरवरी से एक सप्ताह पहले हुई। कुछ समय बाद क्रांतिकारियों को कृपालसिंह पर पुलिस का मुखबिर होने का सन्देह हुआ। उन्होंने गदर की तारीख २१ फरवरी से १९ फरवरी कर दी। किन्तु कृपालसिंह द्वारा इसकी भी सूचना पुलिस को देने तथा क्रांतिकारियों के पकड़वा देने से गदर की योजना विफल हो गई। पण्डित परमानन्द जब २३ फरवरी १९१५ को लाहौर में पकड़े गये, उस समय जर्मन युद्ध कार्यालय की मुहर वाला नक्शा इनके कोट से बरामद हुआ।

लाहौर जेल में भाई परमानन्द, करतारसिंह सराबा, विष्णु पिंगले आदि के साथ इन पर ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध षड्यंत्र करने के लिए अभियोग चलाया गया। १३ दिसम्बर १९१५ को विशेष न्यायालय द्वारा दण्ड सुनाने के लिए जब जेल में ६३ अभियुक्तों को बुलाया गया तो वे इस अवसर पर खुशियों से झूम उठे, जैसे विवाह के लिए बरात में जा रहे हों। जब क्रांतिकारियों को हथकड़ियाँ पहनाकर कचहरी के सामने लाया गया तो करतारसिंह सराबा ने पण्डित परमानन्द से गाना गाने का अनुरोध किया। उन्होंने पूछा—कौन-सा गाना गाऊँ? सराबा ने हँसकर गाने की पहली पंक्तियाँ बनाईं—

हमारा हिन्द भी फूले फलेगा एक दिन।
मिलेंगे खाक में लाखों हमारे गुलबदन पहले।

ये सब नवयुवक उस समय भारत को आजाद कराने के लिए बलिवेदी के पथ पर अग्रसर हो रहे थे, अतः उस अवसर के लिये यह गाना सर्वथा उपयुक्त था। इसे जब पण्डित परमानन्द ने अपने मधुर कण्ठ से गाया तो वहाँ एक समाँ बँध गया। इसका वर्णन अपनी आत्मकथा में करते हुए पण्डित परमानन्द ने लिखा है—

"कैसा विचित्र वातावरण था! मृत्यु के साथ वीरता और दृढ़ता से व्यवहार करने वाले तो संसार के इतिहास में भरे पड़े हैं, परन्तु आपने मृत्यु की गोद में हँस-हँसकर गाना गाकर भारत माता के आत्महीन, जीर्ण-शीर्ण, मृतवत् शरीर में प्राण प्रतिष्ठा करने वाले ऐसे पागल देशभक्त कभी नहीं देखे होंगे। गीत ज्यों-ज्यों गाया गया, आवाजें

बढ़ती गई और धीरे-धीरे सारे क्रान्तिकारी राग में लीन हो गये। क्रान्ति के ६३ पुजारी एक बाग में तल्लीन होकर जब गा रहे थे तो जेल की दीवारें हिल रही थीं। पुलिस के सिपाही और अफसर भी अपनी आँखों से आँसू पोंछ रहे थे। हृदयहीन वातावरण सहृदय बन गया था।

अदालत के ब्रिटिश जजों के लिए यह सह्य नहीं था। इस वातावरण में उनके लिए दण्ड की आज्ञा सुनाना सम्भव न था। प्रधान न्यायाधीश ने पुलिस अफसरों को को बुलाया और कहा कि सब क्रान्तिकारियों को वापस ले जाओ, उन्हें कोठरियों में बन्द कर दो। बाद में अदालत द्वारा पाँच-पाँच अभियुक्तों को एकसाथ सजा सुनाने के लिए लाने को कहा गया।

पहले ग्रुप में पण्डित परमानन्द और करतारसिंह सराबा थे। पण्डित परमानन्द मृत्युदण्ड सुनकर खुशी से इतने जोर से हँसे कि सरकारी वकील ने कोर्ट में जजों से तुरन्त कहा कि देखिये, यह मौत के साथ मखौल कर रहा है। जब करतारसिंह ने फाँसी की सजा सुनी तो उसने जजों को थैंक्स (धन्यवाद) दिया और मुस्कराते हुए कहा—"आप अंग्रेज बादशाही के एजेण्ट हैं, यह मेरा कोट, यह मेरा पाजामा, और मेरे बटन नीलाम करके जो पैसे आयें, साम्राज्यशाही के खजाने में जमा करा देना।" इससे थोड़ी देर के लिए अदालत में सन्नाटा छा गया। इस ग्रुप के केहरसिंह को जब आजीवन काले पानी की सजा सुनाई गई तो उन्होंने कहा—"मैं जेल की सजा को अपमान समझता हूँ। मुझे तो मौत की सजा दी जानी चाहिये।" भाई केहरसिंह के ये शब्द अदालत को स्तब्ध करने वाले तथा सनसनी पैदा करने वाले थे।

दार्शनिक चर्चा—शाम को भाई परमानन्द ने पण्डित परमानन्द को अपने पास बुलाकर पूछा—"आपने योगशास्त्र का अध्ययन किया है। आप यह बतलाइये कि आत्मा का आवागमन होता है या नहीं? आपका इस विषय में क्या विचार है?" पण्डित परमानन्द बोले—"मैंने योगशास्त्र पढ़ा है और १९२ सूत्र भी कण्ठस्थ किये थे। उसके विभूति पाद को बहुत अच्छी तरह समझने का यत्न भी किया, परन्तु मेरी आयु २२ वर्ष है। आपके सामने मैं विद्यार्थी हूँ। इस गम्भीर विषय में आपको क्या बतला सकता हूँ!" भाईजी बोले—"मैंने आपका अध्ययन किया है। ७-८ महीनों ने मुझे यह विश्वास दिलाया है कि इस विषय में आपसे पूछूँ।" इस पर पण्डित परमानन्द ने उत्तर दिया—"भाईजी, मैं इसे अपना अहोभाग्य समझता हूँ। मैं ऐसा समझता हूँ कि पतंजलि के अनुसार आवागमन होता ही है।" भाईजी ने कहा—"भगवान् श्रीकृष्ण ने भी तो यही कहा है कि तुम्हारे वस्त्र मैले हो गये हैं, उन्हें तुम शुद्ध नहीं रख सकते हो तो उतार क्यों नहीं देते? ज्ञानियों के लिए तो मृत्यु वस्त्र-परिवर्तन के समान है।" फाँसी की काल-कोठरी में मृत्यु की आसन्न छाया में किया जाने वाला यह दार्शनिक संवाद इस बात को सूचित करता है कि वे कालजयी महापुरुष मृत्यु के भय पर विजय पा चुके थे; योगदर्शन और गीता को उन्होंने न केवल पढ़ा था, अपितु अपने जीवन में भी उतार लिया था। यह उनके लिए पट-परिवर्तन जैसा मामूली काम था।

अण्डमान में संघर्ष—लार्ड हार्डिंग की कृपा से पण्डित परमानन्द का मृत्यु-दण्ड आजन्म कारावास में बदल दिया गया। वे अण्डमान भेजे गये। यहाँ उन्होंने जो रोमांचक साहस तथा वीरता प्रदर्शित की, वह आज भी उस द्वीप में स्मरण की जाती है। उस

समय अण्डमान के कारागार का जैलर बारी नामक एक आयरिश था। वह अतीव क्रूर व्यक्ति था; इस जेल में आने वालों को कठोरतम पाशविक यन्त्रणायें बड़ी निष्ठुरता से दिया करता था। सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी रामचरण लाल शर्मा के शब्दों में—"वह रावण का रूप और साम्राज्यवादी अत्याचार का प्रतीक था। संसारभर में इस पिशाचवृत्ति वाले पुरुष का कोई मुकाबला नहीं था। अण्डमान में सौभाग्यवश हमें यह यमराज-पुत्र मिल गया था।" अण्डमान में आने वाले नवागंतुक राजनैतिक बन्दियों को वह कहा करता था—"क्या तुम अंग्रेजों के साथ लाठी लेकर लड़ सकते हो? तुम जैसे मूर्खों के लिए ही यह बड़ा घर बना है। यह डाकबंगला नहीं है। तुमने हम लोगों पर बम के गोलों से हमला किया है। अब हम तुमको कानूनी मौत अथवा मन्द विष से मारेंगे। अण्डमान में ईश्वर नहीं है, इस जेल में मेरा ही राज्य है।"

इस जेल में बारी को खुदा समझा जाता था।। सब उसके डर से थर-थर काँपते थे, उसके आदेशों का आँख मूँदकर पालन करते थे। पण्डित परमानन्द में यह अद्भुत साहस था कि उन्होंने जेल के खुदा की बुरी तरह पिटाई की। इसके बारे में श्री शर्मा ने लिखा है—"अण्डमान की रोचक घटनाओं में एक घटना यह है कि इसी दुष्ट बारी को पण्डित परमानन्द ने उठाकर दे मारा और उनको इस कारण बेंत लगे। जितने कैदी अण्डमान में आते हैं, उनको १० दिन अस्पताल में रखा जाता है। वहाँ पर कैदी की देखभाल होती है कि उसे कोई बीमारी तो नहीं है। पर पण्डित जी की पार्टी जब वहाँ पहुँची तो जेलर बारी के आदेश से सबको बिना डॉक्टरी जाँच के नारियल का छिल्का बँटने के लिए दे दिया गया। पण्डित परमानन्द ने निश्चय किया कि वे यह काम नहीं करेंगे।

जब वे जमादार और हैड चीफ वार्डर के कहने पर भी काम के लिए तैयार नहीं हुए तो उन्हें जेलर बारी के आगे पेश किया गया। जेलर ने पूछा कि 'काम क्यों नहीं करते हो' तो पण्डितजी ने उत्तर दिया कि 'मैं काम करने वाला नौकर नहीं हूँ।' इस पर बारी ने जब उन्हें बदमाश की गाली दी तो पण्डितजी ने कहा—"बदमाश तुम होगे, तुम्हारा बाप होगा।" इस पर बारी आगबबूला हो गया। जिसने २५-२६ वर्ष तक २६ हजार कैदियों पर एकछत्र राज किया हो, वह उनकी गाली कैसे बर्दाश्त करता! वह गुस्से में उठना ही चाहता था कि पण्डितजी ने तुरन्त झपटकर कुर्सी पकड़कर उसे पीछे को धकेल दिया और आगे बढ़कर दो-तीन लातें और घूँसे उसके पेट में जड़ दिये। जब वह गुस्से में घूँसे बाँधकर उठने लगा तो पण्डितजी ने उसके मुँह पर दो घूँसे और जड़ दिये। जब वह पिट रहा था तो आफिस में लोग हँस रहे थे। पण्डित परमानन्द ने जब जेल के खुदा की मरम्मत की तो उसका नशा उतर गया। किन्तु उसने वार्डरों से पण्डितजी को पिटवा दिया।

बारी ने वहाँ से उठकर सुपरिण्टेंडेण्ट कर्नल मरे को फोन किया। इसी बीच वहाँ हस्पताल के डॉक्टर नायडू आ गये। उन्होंने बारी को डाँटा कि ये लोग कल आये थे, मैंने इन्हें देखा नहीं, फिर आपने इन्हें काम क्यों दिया? वह पण्डितजी को हस्पताल ले गया, वहाँ उनकी पट्टी की। यह घटना अण्डमान के लिए अभूतपूर्व थी। पण्डितजी को जेलर की पिटाई के लिए २० बेंतों का दण्ड दिया गया, किन्तु उन्होंने इसमें उफ तक नहीं की। शायद यह उनके योगदर्शन का प्रभाव था। किन्तु उन्होंने जेलर बारी का सारा रोब और दबदबा मिट्टी में मिला दिया।

अण्डमान जेल से मुक्त होने के बाद आपने देशी राज्यों में जन-जागरण का बहुमूल्य कार्य किया। शरणार्थी शिविरों का संचालन, भारत सेवक समाज को संगठित किया। अभी कुछ समय पहले आपका देहावसान हुआ है। आर्यसमाज के क्रान्तिकारी वीरों में आप अग्रगण्य हैं।

(४) हार्डिंग बम-काण्ड

२३ दिसम्बर १९१२ को दिल्ली के चाँदनी चौक में ब्रिटिश साम्राज्य के अपार गौरव और वैभव को प्रदर्शित करने वाले राजसी ठाठ-बाठ के साथ निकाली जाने वाली शोभायात्रा में स्वर्णछत्र-मंडित हाथी के हौदे पर बैठे लार्ड हार्डिंग पर फेंका गया बम भारतीय राजनीति में एक जबरदस्त धमाका था। यह कार्य आर्यसमाज की भावना से अनुप्राणित मा० अमीरचन्द, भाई बालमुकुन्द, ठा० जोरावर सिंह तथा प्रताप सिंह बारहठ ने सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी रासबिहारी बोस के नेतृत्व में किया था। इसका सही महत्त्व समझने के लिये इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का परिचय आवश्यक है।

बंग-भंग से क्षुब्ध भारतीयों की उद्वेलित मनोभावनाओं को शान्त करने तथा भारतीय जनता का सद्भाव प्राप्त करने के लिए अंग्रेजों ने कलकत्ता के स्थान पर भारत की पुरानी परम्परागत नगरी दिल्ली को राजधानी बनाने का निश्चय किया। तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिंग द्वारा इसमें बड़ी धूमधाम और शान-शौकत से दिल्ली में प्रवेश का प्रोग्राम बनाया गया। सरकार लार्ड हार्डिंग के दिल्ली-आगमन के अवसर पर अपने साम्राज्य के वैभव और गरिमा का ऐसा भव्य एवं शानदार प्रदर्शन करना चाहती थी कि उसे देखकर भारतीय न केवल आश्चर्यचकित, चमत्कृत, मुग्ध और स्तब्ध हो जायँ, अपितु उनके मनों पर ब्रिटिश सरकार की गहरी धाक जम जाय। वे उसके रोब और दबदबे से वशीभूत होकर चिरकाल तक उसकी राजभक्त प्रजा बने रहें। इस उद्देश्य से भारत के सभी देशी नरेशों, राजा-महाराजाओं, प्रमुख जमींदारों, जागीरदारों, प्रतिष्ठित धनी मानियों को उस समारोह में सम्मिलित होने के लिए बुलाया था। इससे ब्रिटिश सरकार न केवल भारत में, अपितु विदेशों में भी इस बात का प्रचार करना चाहती थी कि भारतीय अंग्रेजों के राज में बड़ी शान्ति और सुख के साथ रह रहे हैं और ब्रिटिश सम्राट् में अविचल निष्ठा और अगाध श्रद्धा रखते हैं।

लाला हरदयाल ने अपने सुप्रसिद्ध 'युगान्तर सर्कुलर' में इस आयोजन के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"सबसे बड़ी बात यह थी कि (अंग्रेज) निरंकुश शासकों ने देश के पुराने पूर्वी शासकों की नकल करते हुए अपनी प्रतिष्ठा तथा रोब को बढ़ाना चाहा। अंग्रेज मुगल बादशाहों का स्थान लेना चाहते थे। अंग्रेजों को अपने लिए शानदार महल बनाने चाहियें और अपने-आपको दरबारों तथा प्रदर्शनों से घेरे रखना चाहिये ताकि लोगों के मन पर उनका दबदबा एवं प्रभाव पड़े। यदि भारत में राज करना है तो लोगों के दिलों पर अपना सिक्का जमाना आवश्यक है। यह बात थी जो लार्ड हार्डिंग चाहता था। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को तख्ते-ताऊस, झूलते हाथियों और सुनहरे छत्रों की सहायता से सुदृढ़ बनाना चाहिये ··परन्तु यह साम्राज्य सिवाय दिल्ली के अपनी खूनी शान के साथ कहाँ खड़ा हो सकता था? लोगों और राजाओं को साम्राज्य की स्थिरता एवं स्थायित्व दिखाने के लिए यह आवश्यक था कि अंग्रेज एक हजार मील

अन्दर जाएँ और अनेक साम्राज्यों के समय में देश की प्राचीन राजधानी बनी रहने वाली नगरी को पुनः राजनगरी के रूप में अपनायें। इस कारण सरकार ने कलकत्ता से बोरिया-बंधना उठाकर दिल्ली आने का निश्चय किया।"

दिसम्बर १९११ में जार्ज पंचम द्वारा अपने राज्याभिषेक के अवसर पर दिल्ली-दरबार में राजधानी-परिवर्तन की सरकारी घोषणा की गई। इसका उद्देश्य संसार को यह बताना था कि भारतीय ब्रिटिश शासन के प्रबल समर्थक हैं और उसका विरोध करने वाले क्रान्तिकारियों का पूरी तरह दमन कर दिया गया है। एक बरस बाद ब्रिटिश सरकार ने पुनः नई राजधानी में वायसराय के प्रथम औपचारिक प्रवेश के अवसर पर भव्य आयोजन किया, क्योंकि युगान्तर के शब्दों में "भारत के वायसराय जैसे अन्यायी आदमी के लिए शानशौकत और ठाठ-बाठ के बिना दिल्ली में प्रवेश करना उचित न था। इस प्रवेश के समय उत्सव की शोभा रहनी चाहिये। कर्जन ने हाथी की सवारी की, हार्डिंग क्यों न करें? हाथी के बिना साम्राज्य संगठित एवं सुरक्षित कैसे हो सकता है? इसलिये वायसराय का दिल्ली में प्रवेश शाही होना चाहिये।" किन्तु इस प्रवेश के समय फैंका गया बम ब्रिटिश सरकार को क्रान्तिकारियों द्वारा दी जाने वाली चुनौती थी। इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लाला हरदयाल ने बड़े मार्मिक शब्दों में लिखा है—"चाँदनी चौक के ऐतिहासिक बाजार में इस निर्णायक क्षण में, युगान्तर की भावना ने वज्र की वाणी में भारत के लोगों तथा संसार से कहा—"मैं अभी जीवित हूँ, मेरे बच्चो, यह मत भूल जाओ कि मैं जिन्दा हूँ। अत्याचारी चेत जाएँ, लोग हर्ष मनाएँ, क्योंकि मैं जिन्दा हूँ और सदा ही जीवित रहूँगी।...जब भारत में डर के मारे सभी गूँगे बन रहे थे, तब इसने भीम और अर्जुन की वाणी में शब्द बोले हैं।"[1]

ब्रिटिश साम्राज्य के लिए यह सर्वथा अनहोनी और अप्रत्याशित घटना थी। पुलिस, सेना और गुप्तचरों का पूरा लावलश्कर और प्रबन्ध होते हुए भी यह घटना घटी। उस समय वायसराय की इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल के भारतीय सदस्य सर अली इमाम ने भारत-मन्त्री को इसका वर्णन करते हुए लिखा था—"दिन सुहावना था और बहुत-से लोग धूप में एकत्र हो रहे थे। चाँदनी चौक के मकान लोगों से भरे थे। पौने बारह बजे रेलवे स्टेशन से चाँदनी चौक को आते हुए आधे रास्ते में हौदे पर बम फैंका गया। लार्ड हार्डिंग के पीछे जो नौकर खड़ा था, उसके तो टुकड़े हो गये। श्रीमती हार्डिंग के समीप खड़े नौकर को बहुत अधिक घाव आये। बम के कुछ भाग लार्ड हार्डिंग को लगे और वह घायल हुए। भीड़ में खड़ा एक लड़का मारा गया और कई दर्शक घायल हुए।[2]

इस घटना के समय पुलिस इस बम को फैंकने वाले के सम्बन्ध में कुछ भी पता नहीं लगा सकी। उसे केवल यही ज्ञात हो सका कि "एक मुस्लिम युवती ने जिसने बुर्का ओढ़ रखा था, चाँदनी चौक और धौलिया कटरा के बीच की एक बड़ी इमारत की चोटी से कोई वस्तु फैंकी।" कुछ समय बाद कलकत्ता की अपर सर्कुलर रोड पर एक मकान की तलाशी लेने पर पुलिस को कागजों का एक बंडल मिला। इसमें अवधबिहारी

---

१. धर्मवीर—लाला हरदयाल, पृ० १९८-२००

२. होम (पी० ए०), मार्च १९१३, प्रो० १०८, राष्ट्रीय अभिलेखागार दिल्ली

के नाम एम० एस० का एक पत्र था। अवधबिहारी ने पुलिस द्वारा यन्त्रणायें देने पर केवल यही बताया कि एम० एस० लाहौर का रहने वाला दीनानाथ है। यह निर्बल-हृदय व्यक्ति था, पुलिस द्वारा यातनायें देने पर यह सरकारी गवाह बन गया और इसके बताने पर इस मामले के प्रमुख षड्यन्त्रकारियों—मास्टर अमीरचन्द, बलराज भल्ला, भाई बालमुकन्द और हनवन्तसहाय व बसन्तकुमार को पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया। इनमें पहले तीन व्यक्तियों को फाँसी की सजा दी गई। यहाँ इस मामले में आर्यसमाज की विचारधारा से प्रभावित व्यक्तियों का संक्षिप्त परिचय दिया जाएगा।

(५) मास्टर अमीरचन्द

मास्टर अमीरचन्द का जन्म दिल्ली में प्रथम स्वतन्त्रता-संघर्ष के १२ साल बाद १८६९ ई० में हुआ। इनके पिता हुकमचन्द ने इन्हें उस समय प्रचलित उर्दू तथा अंग्रेजी की शिक्षा दिलवाई। मेधावी होने के कारण ये शीघ्र ही इन भाषाओं में प्रवीण हो गये और दिल्ली के सेंट स्टीफन्स स्कूल में अध्यापक बन गये। अपने स्नेहपूर्ण व्यवहार से ये छात्रों में अतीव लोकप्रिय थे। आपके मन में तत्कालीन शिक्षापद्धति से असन्तोष उत्पन्न हुआ। इससे आप आर्यसमाज की ओर आकृष्ट हुए। आपने महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया और महर्षि के देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता के विचारों ने आपको बहुत प्रभावित किया।

मास्टर अमीरचन्द बड़े हँसमुख और विनोदी व्यक्ति थे। भगवान् ने उनको ऐसा रूप प्रदान किया था कि वे स्वयमेव अपनी हँसी उड़ाया करते थे। उनका कद नाटा था, मस्तक आगे को बढ़ा हुआ और नाक की हड्डी नीचे को बैठी हुई थी। स्वाभाविक रूप से उनका चश्मा देखने वाले का ध्यान बरबस अपनी ओर खींचता था। वे स्वयमेव अपने को "बन्दर मास्टर" कहते थे। लोगों का विश्वास था कि वे हनुमान के अवतार हैं। अखाड़ों और मन्दिरों में उनकी गहरी दिलचस्पी थी। उनका विश्वास था कि इनके द्वारा बच्चों तथा नवयुवकों का शारीरिक और मानसिक विकास बड़ी मात्रा में शीघ्रता-पूर्वक किया जा सकता है।

मास्टर अमीरचन्द के एक मित्र थे हनवन्तसहाय। ये रघुवीर एण्ड कम्पनी के नाम से आयात-निर्यात का धन्धा करते थे। दिल्ली में लाला हरदयाल और हनवन्त-सहाय के मकान इतने पास-पास थे कि वे अधिकांश समय इकट्ठा रहते थे। लालाजी की प्रखर बुद्धि, विलक्षण स्मृतिशक्ति एवं देशभक्तिपूर्ण विचारों का हनवन्तसहाय पर गहरा प्रभाव पड़ा। वे उनकी देवता की तरह पूजा करने लगे। लाला हरदयाल अपने भक्त शिष्य के हृदय में क्रान्तिकारी कार्य की भावना उत्पन्न करने लगे। लालाजी का इन पर आजीवन बड़ा स्नेहभाव बना रहा। शीघ्र ही हनवन्तसहाय के माध्यम से मास्टर अमीरचन्द भी लालाजी के पास आने लगे। उनमें आर्यसमाज के सम्पर्क से जो क्रान्ति-कारी राष्ट्रीय भावना उत्पन्न हुई थी, वह लालाजी की सत्संगति से बड़ी पुष्ट और सुदृढ़ होने लगी।

कुछ समय बाद हनवन्तसहाय क्रान्तिकारी कार्यों के बारे में सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्री अरविन्द से परामर्श करने के लिए कलकत्ता गये। वहाँ से लौटकर इन्होंने अपने घर के पास किनारी बाजार में एक राष्ट्रीय विद्यालय खोला। इसका उद्देश्य था क्रान्तिकारी

आन्दोलन के लिए आवश्यक कार्यकर्त्ता तैयार किये जायँ। इस विद्यालय में मास्टर अमीरचन्द और हनवन्तसहाय के अतिरिक्त दो अन्य शिक्षक थे—अवधबिहारी लाल और गणेशीलाल। अवधबिहारी लाहौर ट्रेनिंग कालिज के बड़े योग्य विद्यार्थी रहे थे। बी० ए० की परीक्षा में इन्होंने स्वर्णपदक प्राप्त किया था। बचपन में पिता की मृत्यु हो जाने पर मास्टर अमीरचन्द ने ही इनका पालन-पोषण किया था। इस विद्यालय के साथ एक वाचनालय और पुस्तकालय की भी व्यवस्था की गई। विद्यालय के पुस्तकालय से न केवल छात्रों को, अपितु अन्य व्यक्तियों को भी ऐसी पुस्तकें पढ़ने के लिये दी जाती थीं, जो उनमें देशभक्ति, स्वतन्त्रता और क्रान्ति की भावनायें उत्पन्न करने वाली हों। मास्टर अमीरचन्द इस स्कूल के प्राण थे। यह स्कूल क्रान्तिकारियों की पाठशाला थी।

मास्टर अमीरचन्द ने मातृभूमि की सेवा के लिए अपना जीवन समर्पित करने का निर्णय लिया और आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने का संकल्प लिया। इन्होंने कई नवयुवकों को देशभक्ति तथा क्रान्ति की दीक्षा दी। इनमें से एक इनका भतीजा सुलतान-सिंह भी था। होनहार देशभक्त समझते हुए उन्होंने इसे अपना दत्तक पुत्र बना लिया। किन्तु भावी घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि स्वतन्त्रता का अनन्य साधक मनुष्यों के स्वभाव का अच्छा पारखी न था; इसमें उनसे भारी भूल हो गई। इनके मुकद्दमे में सुलतानसिंह सरकारी गवाह बन गया और उसने इनके विरुद्ध साक्षी दी।

शनैः-शनैः मास्टर अमीरचन्द का उस समय के प्रसिद्ध क्रान्तिकारियों से संपर्क हुआ। लाला हरदयाल इन पर अगाध विश्वास रखते थे। अगस्त १९०८ में जब ब्रिटिश सरकार लालाजी को गिरफ्तार करना चाहती थी तो ये गिरफ्तारी से बचने के लिए विदेश चले गये। विदेश जाने से पहले उन्होंने अपने मास्टरजी को अपना उत्तराधिकारी बनाया तथा दिल्ली का सारा क्रान्तिकारी कार्य उन्हें सौंप दिया। सरदार अजीतसिंह के विदेश जाने पर इन्होंने पंजाब में भी क्रान्तिकार्य का संगठन किया। वहाँ काम करने के लिए भाई परमानन्द के चचेरे भाई बालमुकुन्द को तथा लाला हंसराज के पुत्र बलराज भल्ला को तैयार किया। सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी नेता रासबिहारी बोस से संपर्क स्थापित करके अखिल भारतीय स्तर पर क्रान्ति की योजना का प्रारूप तैयार किया। इसी के अन्तर्गत भारत की विभिन्न छावनियों में वितरण के लिए "लिबर्टी" (स्वतन्त्रता) के शीर्षक से एक पुस्तिका छपवाई गई। इसका उद्देश्य जनता के मन में देशभक्ति और क्रान्ति की जोशीली भावनाओं को भरना था। इसमें उन्होंने यह लिखा था कि भारतीय संख्या में इतने अधिक हैं कि वे अंग्रेजों को पकड़कर उनसे तोपें छीन सकते हैं। यह पत्र कलकत्ता के राजा बाजार में मुद्रित करवा के देहरादून, अम्बाला, कसौली आदि अनेक सैनिक छावनियों में वितरित किया गया ताकि सिपाहियों में बगावत करने की भावना पैदा की जा सके।

मास्टर अमीरचन्द के दिमाग में देर से यह विचार था कि वायसराय जैसे उच्चतम अंग्रेज पदाधिकारी पर बम फेंका जाये। उन्हें यह विश्वास था कि इस घटना का जनमानस पर विलक्षण प्रभाव होगा। वे इस समय अंग्रेजों को अजेय समझते हैं, किन्तु ऐसी घटना से उनका मिथ्या विश्वास चकनाचूर हो जाएगा, उनमें आत्मविश्वास जागृत होगा और वे क्रान्ति के पथ पर जल्दी आगे बढ़ सकेंगे। उनके साथी और सहयोगी सशस्त्र क्रान्ति की योजनाएँ बना रहे थे, वे इन्हें अव्यावहारिक और असम्भव

समझते थे और उसके स्थान पर ऐसा कार्य करना चाहते थे। उन्होंने श्री चैटर्जी से कहा था—"हमारे देश में शस्त्रों का आवागमन अबाध नहीं है। इसलिये जब तक हम बड़ी संख्या में शस्त्र एकत्र न कर लें, तब तक कई स्थानों पर एकसाथ आक्रमण सम्भव नहीं है। हमारा लक्ष्य आश्चर्यकारी प्रदर्शन होना चाहिए। इसके लिए जो बलिदान आवश्यक होंगे, उनका इतना महत्त्व नहीं है।"

इस आश्चर्यकारी प्रदर्शन के लिए मास्टर अमीरचन्द और उनके साथियों ने २३ दिसम्बर १९१२ का वह दिन चुना, जब वायसराय ने भारत की नई राजधानी दिल्ली में बड़ी धूमधाम और समारोह के साथ प्रवेश करना था। यह कार्य इतनी कुशलता से सम्पन्न किया गया कि पुलिस को काफी देर तक इस बारे में कुछ पता न लग सका। १३ मई १९१३ को लाहौर के लारेंस गार्डन में तथा बंगाल में मैमनसिंह, भद्रेश्वर तथा मौलवी बाजार में बम-विस्फोट हुए। इनके बाद पुलिस को कलकत्ता के एक मकान की तलाशी लेने पर कुछ ऐसी सूचनाएँ मिलीं, जिनके आधार पर पुलिस मास्टर अमीरचन्द और उसके साथियों को पकड़ सकी।

अदालत में यह मामला चला तो इस मामले के तथाकथित अपराधियों के चरित्र और लोकप्रियता ने शासकों को आश्चर्य चकित कर दिया। मास्टर अमीरचन्द दिल्ली की जनता में इतने लोकप्रिय थे, उनका देशभक्ति की भावना का लोग इतना अधिक आदर करते थे कि दिल्ली का कोई भी व्यक्ति न्यायालय में उनके विरुद्ध गवाही देने को तैयार नहीं था।[1] पुलिस ने कई व्यक्तियों को प्रलोभन और पैसा देखकर मास्टरजी के विरुद्ध गवाह बनाने का प्रयास किया, किन्तु वह सफल नहीं हुई। मास्टरजी के खिलाफ माफी माँगकर सरकारी गवाह बनने वाला केवल एक व्यक्ति दीनानाथ था, किन्तु उसकी साक्षी पर्याप्त नहीं थी। अन्त में पुलिस मास्टरजी के गोद लिये बेटे सुलतानसिंह को फुसलाने में सफल हुई। यह कृतघ्नता की पराकाष्ठा थी। उसने पिता से विश्वासघात करते हुए पुलिस को इतनी बातें बताईं कि मास्टरजी खुली अदालत में रो पड़े। मानवता से उनका विश्वास उठ गया। अदालत ने मास्टर अमीरचन्द, भाई बालमुकुन्द, अवधबिहारी और वसंतकुमार को फाँसी की सजा सुनाई; बलराज और हनवन्तसहाय को सात-सात बरस की कैद दी। मास्टरजी के बारे में जज ने यह लिखा—"यह स्मरणीय है कि अमीरचन्द जैसे राष्ट्रभक्त प्रायः मान्य पुरुष होते हैं, सिवाय इसके कि इनको एक विशेष प्रकार की धुन या पागलपन होता है। इनका व्यक्तिगत जीवन निष्कलंक पाया गया है।" अप्रैल १९१५ में मास्टर अमीरचन्द अपने साथियों के साथ फाँसी के तख्ते पर बन्देमातरम् का उद्घोष करते हुए अमर हो गये।

(६) भाई बालमुकुन्द

आप औरंगजेब के समय में अपने धर्म पर अडिग रहने के लिए आरे से चीरे जाने वाले भाई मतिदास के वंशज थे। आपका जन्म पंजाब के जेहलम जिले के चकवाल गाँव में १८८५ में हुआ। इन्होंने लाहौर में बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की। तत्पश्चात् अजीतसिंह, भाई परमानन्द, सूफी अम्बाप्रसाद, लाला हरदयाल तथा मास्टर अमीरचंद

---

१. धर्मवीर—लाला हरदयाल, पृ० १९३

के सम्पर्क में आकर आप कट्टर क्रान्तिकारी बने। आप भाई परमानन्द के चचेरे भाई थे। बम-काण्ड के बाद गिरफ्तारी से बचने के लिए आप लाहौर से जोधपुर चले गये। वहां जोधपुर के महाराज के लड़कों के शिक्षक बन गये। वहीं इनको गिरफ्तार कर दिल्ली लाया गया। अन्य व्यक्तियों के साथ इन पर मुकद्दमा चलाया गया। आप मास्टर अमीरचन्द के साथ गिरफ्तार हुए और उनके साथ ही आपको फाँसी की सजा सुनाई गई। जब इन्होंने अपना दण्ड सुना तो इनकी आँखों में एक विशेष चमक आई। इन्होंने कहा—"यहीं, इसी दिल्ली में मेरे पूर्वपुरुष भाई मतिदास ने स्वधर्म एवं स्वतन्त्रता के हेतु अपने जीवन की बलि दी थी। मेरा भी यह सौभाग्य है कि मैं अपना जीवन माता के चरणों में भेंट कर रहा हूँ। मुझे इस बात का गर्व है!"

इनकी पत्नी रामरखी ने आत्मबलिदान से भारतीय पातिव्रत्य का जो अनुपम उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह इन्हें प्राचीन भारत की अरुन्धती, अनुसूया, सीता-सावित्री की पावन पतिव्रताओं की पंक्ति में प्रतिष्ठित करता है। इनकी आत्मकथा के अनुसार "१७ वर्ष की आयु में इनका विवाह हो गया। शादी से पहले ही इन्हें विदित हो गया था कि इनके होने वाले पति बालमुकुन्द पंजाब में हो रही क्रान्तिकारी घटनाओं के नेता हैं। देश के बड़े क्रान्तिकारियों से उनका परिचय है। ऐसे व्यक्ति से विवाह करने के बाद कौन स्त्री अपने भाग्य को नहीं सराहेगी!" इनका कहना था—"जीवन के इस अन्तिम अध्याय में मेरी कोई कामना शेष नहीं है। अपने अल्प वैवाहिक जीवनकाल में मैंने सभी सुखों का उपभोग कर लिया है। मेरे पिता आर्यसमाजी थे और मैं भी एक आर्यवीर पुरुष से ब्याही गई हूँ।"

भाई बालमुकुन्द को फाँसी की सजा देने का समाचार रामरखी को घर में होने वाले हृदय-विदारक विलाप से मिला—"इसने मुझे बता दिया कि मेरे माथे का सौभाग्य-चिह्न सदा के लिए मिटा दिया गया है। जब मैं पति से जेल में मिलने गई थी तो उन्होंने मुझे जो उपदेश दिया था, उसका एक-एक शब्द चौबीसों घण्टे किसी मन्दिर के पवित्र घण्टे से निकली ध्वनि की तरह मेरे कानों में गूँजता रहता है। लगता है, जैसे वे सामने खड़े होकर मुझे समझा रहे हैं—"तुम तो आर्यकन्या हो। तुम्हें तो वास्तव में गौरवान्वित होना चाहिये कि मातृभूमि की पराधीनता का पाश तोड़ने के लिये तुम्हारा पति देश पर कुर्बान हो रहा है। मैं जहाँ भी रहूँ, लेकिन मेरी आत्मा तो तुम्हारे पास ही रहेगी। जाओ, वीर नारी की भाँति अपने कर्त्तव्य का पालन करो।" रामरखी ने अक्षरश: अपने पति के आदेश को शिरोधार्य किया।

जेल में अपने पति से अन्तिम भेंट में रामरखी ने उनसे पूछा कि जेल में उन्हें खाने को क्या मिलता है, वे कैसे और कहाँ सोते हैं, कैसे रहते हैं। इस भेंट के बाद अपने गाँव करियाला वापिस आने पर उन्होंने पति द्वारा बताई मोटी रोटी खाना और कम्बल बिछाकर बन्द कोठरी में सोना शुरू कर दिया। इसमें उन्हें जिस अपूर्व आनन्द की अनुभूति हुई, उसका वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

"मेरा मन, प्राण और आत्मा स्वामी के मन-प्राण और आत्मा में विलीन हो जाने के लिए अकुला रहे हैं। पति-मिलन की प्रतीक्षा में सती को कितनी गहन जलन का अनुभव होता है, इसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता है।"

"जब से मैंने अपने को गन्दी कोठरी में बन्द कर लिया और निकृष्ट स्वाद वाली

मोटी रोटी खाकर सख्त फर्श पर कम्बल बिछाकर सोना प्रारम्भ कर दिया है, तब से मेरे सर्वाङ्ग का दाह कम हो गया है। मैं महसूस कर रही हूँ कि मेरे पति और मेरे बीच की दूरी कम हो रही है और बहुत जल्दी ही मेरे ये प्राण पति के प्राणों में समा जाने वाले हैं।

"देश पर अपना जीवन बलिदान करने वाले पति की मैं अर्धांगिनी हूँ। अतः मेरा धर्म है कि मैं भी अपना जीवन उनपर वार दूँ। मेरे सतीत्व की परीक्षा की कठिन घड़ी आ पहुँची है। मैंने भी निश्चय कर लिया है कि मैं अपना जीवन अपने पति पर कुर्बान कर दूँगी। बलिदानी व्रत को स्वीकार करके मुझे बेहद सुख की अनुभूति हो रही है।"

जब इन्हें अपने पति के प्राणदण्ड का समाचार मिला तो इनकी आत्मा पति की आत्मा से मिलने को विह्वल हो गई—"मेरी अन्तरात्मा फूट-फूटकर रोने लगी। मैं अपने स्वामी से किस तरह मिल सकूँगी। एकमात्र यही आवाज मेरे कानों में सुनाई दे रही थी। मैंने स्वामी से बहुत शीघ्र ही मिलने का संकल्प कर लिया। अन्न-जल छोड़ दिया। मेरे स्वामी को जिस अन्न-जल की अब जरूरत नहीं रही, उसे मैं कैसे ग्रहण करूँगी? मेरे स्वामी ने अपने शरीर का त्याग कर दिया है, मैं भी अपने शरीर को शीघ्र ही त्याग दूँगी और अन्तरिक्ष में उनकी आत्मा के साथ मिलूँगी।" इसके बाद अठारह दिन तक इन्होंने अन्न-जल नहीं ग्रहण किया और निरन्तर यही प्रार्थना करती रही—"स्वामी, अब तो तुम मेरे पास आने से रहे। मैं ही जल्दी तुम्हारे पास पहुँचती हूँ। बताओ तो सही कि अन्तरिक्ष के किस अंचल में तुम्हारी आत्मा विचरण कर रही है। मैं भी आना चाहती हूँ। मैं जानती हूँ कि तुम मेरी प्रतीक्षा जरूर कर रहे होगे। मुझे जल्दी अपने पास बुला लो प्राणनाथ!" और कुछ समय बाद अपने प्राण छोड़कर ये स्वर्गलोक में पति के साथ जा मिली।

(७) बारहठ परिवार के बलिदान

हार्डिंग बमकाण्ड में दो अन्य आर्यसमाजी वीरों ने सहयोग दिया और घोर कष्ट उठाये। क्रान्तिकारी आन्दोलन पर अब तक लिखे गये इतिहासों में उनका कोई उल्लेख नहीं मिलता है। केवल डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने अपना सुप्रसिद्ध पुस्तक 'हिस्टरी ऑफ फ्रीडम मूवमेंट' में इसकी संक्षिप्त चर्चा की है। अतः यहाँ इस परिवार द्वारा स्वतन्त्रता-संग्राम में तीन पीढ़ियों तक किये जाने वाले गौरवपूर्ण कार्यों की चर्चा कुछ विस्तार से की जायगी।[1]

राजस्थान के पुराने सीसोदिया राज्य की राजधानी शाहपुर से लगभग दो कोस की दूरी पर एक छोटा-सा गाँव है—देवपुरा। इसे **बारहठ जी का खेड़ा** भी कहा जाता है। शाहपुरा-नरेशों ने यह गाँव यहाँ की प्रसिद्ध चारण जाति के सौदा बारहठ गोत्र को दे रखा था। यह बारहठ गोत्र राजस्थान के चारणों में पुराने जमाने से बड़ा ऊँचा तथा

---

१. श्री क्षितीश वेदालंकार द्वारा सम्पादित 'आर्य जगत्' के आर्य क्रान्तिवीर अंक (२१ फरवरी १९८२) में इस वंश के वीरों पर बहुमूल्य मौलिक सामग्री प्रकाशित की गई है।

गौरवशाली स्थान रखता था। इसका काम राजाओं के पुराने इतिहास, वंशावलियाँ, गोत्रों की वंश-परम्परा तथा कीर्तिकथाएँ सुरक्षित रखना था। राजदरबार में ये नरेशों की यशोगाथाओं का कीर्तन राजस्थानी भाषा के ओजस्वी एवं प्रभावशाली पद्यों में करते थे और बड़ा राज-सम्मान पाते थे।

इसी गौरवशाली वंश में १८५० ई० में श्री कृष्णसिंह बारहठ का जन्म हुआ। ये राजस्थान के कई प्रमुख नरेशों के परामर्शदाता रहे। उदयपुर-दरबार में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। ये महर्षि दयानन्द के समकालीन थे और उनकी शिक्षाओं से बहुत प्रभावित थे। यह कहा जाता है कि इन्होंने स्वामी दयानन्द को उदयपुर बुलाया, महाराणा सज्जनसिंह से महर्षि का परिचय कराया, महाराणा को महर्षि का भक्त बनाया था। उदयपुर में जब स्वामीजी का विधर्मियों से एक शास्त्रार्थ हुआ तो इन्हें उसका अध्यक्ष बनाया गया था। १८८३ ई० में महर्षि का निर्वाण होने के बाद इन्होंने अपनी डायरी के रूप में प्रतिदिन नियमित रूप से राजस्थान की प्रमुख रियासतों का इतिहास लिखना शुरू किया। अगले १६ वर्ष तक वे इसे निरन्तर लिखते रहे। सुप्रसिद्ध चारणवंश में जन्म लेने के कारण इन्हें राजस्थान की पुरानी ऐतिहासिक परम्पराओं, अनुश्रुतियों, पुरानी कथाओं का अद्भुत ज्ञान था। इनका उपयोग करते हुए इन्होंने १६०० पृष्ठों में अपना बृहत् इतिहास लिखा। ये अपने इतिहास में निष्पक्ष दृष्टि से राजाओं को अप्रिय लगने वाले तथ्य तथा उनके अवांछनीय कार्यों की यथार्थ आलोचना करना भी अपना कर्त्तव्य समझते थे। अतः इन्होंने इसे लिखने से पहले उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह तथा शाहपुराधीश राजाधिराज नाहरसिंह से यह वचन ले लिया था कि यदि वे इस इतिहास को देखने का आग्रह नहीं करेंगे और "मेरा शरीर नष्ट हो जाने के पीछे इस ग्रन्थ को नष्ट नहीं करेंगे' तो ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ करूँगा; इसमें आपके भी अनेक दोष दिखाये जायेंगे। सहनशीलता की शक्ति हो, तो मुझे लिखने की आज्ञा देवें।" उनसे उपयुक्त आश्वासन मिलने पर ही श्री कृष्णसिंह ने यह ग्रन्थ लिखा। इन नरेशों से लेखक ने यह भी वचन लिया था कि श्री बारहठ के स्वर्गवास के बाद जो कोई नरेश जीवित रहे तो वह इतिहास को अपने व्यय से प्रकाशित करे। दुर्भाग्यवश यह बहुमूल्य ग्रन्थ अब तक प्रकाशित नहीं हो सका है।

श्री कृष्णसिंह के पुत्र केसरीसिंह का जन्म मार्गशीर्ष कृष्णा षष्ठी सम्वत् १९२९ (१८७२ ई०) को हुआ। पिता के उदयपुर रहने के कारण बालक केसरीसिंह की शिक्षा उदयपुर में हुई। पिता ने इनको संस्कृत पढ़ाने के लिए बनारस के सुप्रसिद्ध विद्वान् पंडित गोपीनाथ को बुलाया। स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज के सम्पर्क से इनमें देश-भक्ति की भावना कूट-कूटकर भरी हुई थी। इससे प्रेरित होकर इन्होंने क्रान्तिकारी विचार रखने वाले महर्षि दयानन्द के शिष्य श्यामजी कृष्ण वर्मा को उदयपुर के प्रधानमन्त्री का कार्य-भार सँभालने के लिए बुलाया। महाराणा सज्जनसिंह के स्वर्गवास के पश्चात् महाराणा फतहसिंह मेवाड़ की गद्दी पर बैठे। श्री कृष्णसिंह उनके भी विश्वस्त परामर्शदाता बने रहे। कुछ समय के बाद भारत सरकार के विदेश विभाग को श्री कृष्णसिंह पर कुछ सन्देह हो गया और उसने महाराणा फतहसिंह पर दबाव डाला कि वे श्यामजी को अपने पद से हटा दें। महाराणा ब्रिटिश सरकार के अनुरोध को तो नहीं टाल सके, किन्तु उन्होंने गुप्त रूप से उनके पुत्र केसरीसिंह को पिता के पद पर नियुक्त करके अपने पास

रख लिया। विक्रम सम्वत् १९४७ (१८९० ई०) में श्री केसरीसिंह का विवाह कोटा राज्य में कोटड़ी के कविराज देवीदत्त की बहिन मणिक कुंवर से हुआ। कुछ समय बाद केसरीसिंह भी उदयपुर से महाराव कोटा की सेवा में कोटा आ गये।

ठा० केसरीसिंह की देश-सेवा—१९०३ तक ठा० केसरीसिंह में देशभक्ति की भावना इतनी प्रखर एवं उत्कट हो चुकी थी कि उन्होंने अपने पिता से सारा जीवन इसमें समर्पित करने की लिखित अनुमति माँगी और इसके मिलने पर पूरे उत्साह और जोश के साथ देश को स्वतन्त्र कराने के प्रयासों में जुट गये। उन्होंने उस समय के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी रासबिहारी बोस से सम्पर्क स्थापित किया। वे उस समय सारे देश में सैनिक विद्रोह कराने की योजना बना रहे थे। ठाकुर केसरीसिंह ने खरवा के ठाकुर गोपालसिंह के साथ राजस्थान में क्रान्ति करने के लिए **"वीर भारत सभा"** के नाम से एक संगठन बनाया। इसके लिए अनेक राजपूत राजाओं, जागीरदारों और धनपतियों का सहयोग प्राप्त किया। ब्यावर के सेठ दामोदरस्वरूप राठी तथा अर्जुनस्वरूप सेठी ने आरम्भ से इसमें बड़ी सहायता की। जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर के राज्यों में अधिक प्रभाव होने से ये यहाँ के युवकों में देशभक्ति और क्रान्ति की भावना जागृत करने में सफल हुए।

श्री केसरीसिंह को विश्वास था कि इस महान् कार्य में सभी प्रान्तों का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक है। इसे पाने के लिए उन्होंने मराठी, बंगला, गुजराती तथा भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं का अध्ययन किया ताकि वे विभिन्न प्रान्तों के क्रान्तिकारियों से सम्बन्ध स्थापित कर सकें और देश को स्वतन्त्र कराने के लिए विभिन्न प्रदेशों में किये जाने वाले प्रयासों से परिचित हो सकें। लोकमान्य तिलक तथा अरविन्द से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। उन्होंने न केवल रासबिहारी बोस से सम्पर्क स्थापित किया, अपितु **"अभिनव भारत"** नामक क्रान्तिकारी संगठन के साथ सम्बन्ध स्थापित किया। राजपूताना में उसकी शाखा स्थापित की। सर्वश्री अमीरचन्द्र और ब्रजमोहन माथुर को इसका संचालक बनाया। उनके प्रयत्नों से राजस्थान का क्रान्तिकारी संगठन बड़ा सबल और शक्तिशाली बना।

१९११ ई० में केसरीसिंह ने अपने संगठन में नवयुवकों को बड़ी संख्या में भरती किया तथा इन्हें प्रशिक्षण देने के लिए दिल्ली में मास्टर अमीरचन्द, अवधबिहारी तथा बालमुकुन्द के पास भेजा। इनमें केसरीसिंह के भाई जोरावरसिंह, पुत्र प्रतापसिंह बारहठ और जँवाई ईश्वरदान आसिया थे। मास्टर अमीरचन्द ने रासबिहारी बोस से इनका परिचय कराते हुए कहा था—"भारतवर्ष में एकमात्र ठाकुर केसरीसिंह बारहठ ही ऐसे क्रान्तिकारी देशभक्त हैं जिन्होंने केवल स्वयं को ही नहीं, अपितु अपने भाई, पुत्र और जामाता को भी मातृभूमि की स्वतन्त्रता के बलिदान-यज्ञ में आहुति के रूप में झोंक दिया है।"

डाक्टर रमेशचन्द्र मजूमदार ने अपने सुप्रसिद्ध अंग्रेजी ग्रन्थ 'भारतीय स्वतन्त्रता के इतिहास' में इनके क्रान्तिकारी कार्यों का मूल्यांकन करते हुए लिखा है—"राजस्थान में भी बंगाल के ढंग का क्रान्तिकारी संगठन बंग-भंग के बाद शीघ्र ही खड़ा हो गया। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में इस संगठन के मुख्य संचालक राष्ट्रीय विचारों—विशेषकर सामाजिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी सुधारों का प्रचार करते थे। इस क्रान्तिकारी संगठन को खड़ा करने का श्रेय तीन व्यक्तियों को था। ये थे अर्जुनलाल सेठी,

बारहठ केसरीसिंह और खरवा के राव गोपालसिंह। जैसाकि अन्य क्रान्तिकारियों के साथ हुआ, उन्होंने अपनी देश-सेवा का कार्य सुधारक के रूप में आरम्भ किया और अन्त क्रान्तिकारी के रूप में। यह परिवर्तन मुख्यतः श्यामजी कृष्ण वर्मा, लोकमान्य तिलक और अरविन्द के प्रभाव के कारण हुआ। उन तीनों महान् क्रान्तिकारी नेताओं का इन तीनों पर गहरा प्रभाव पड़ा था क्योंकि वे लोग इनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये थे। राव गोपालसिंह ने कलकत्ता जाकर बंगाल के क्रान्तिकारियों से भी सम्पर्क स्थापित किया था। अर्जुनलाल सेठी का श्री रासबिहारी बोस के प्रमुख सहायक व प्रसिद्ध क्रान्तिकारियों —मास्टर अमीरचन्द, अवधबिहारी और बालमुकुन्द से घनिष्ठ सम्बन्ध था। विष्णुदत्त नामक क्रान्तिकारी अध्यापक उनको एक-दूसरे से मिलाने तथा उनमें सम्पर्क स्थापित कराने वाली कड़ी का काम करता था।

"क्रमशः यह क्रान्तिकारी संगठन राजस्थान के विभिन्न भागों में फैल गया। ब्रिटिश भारत से भागे हुए क्रान्तिकारियों के लिए राजस्थान एक सुरक्षित शरण-स्थल बन गया। शचीन्द्र सान्याल के संगठन के दो सदस्य बनारस से खरवा बमों के निर्माण करने के लिए भेजे गये। दो अन्य बंगाली क्रान्तिकारियों को १९०८ से १९११ तक कुचामन के ठाकुर ने आश्रय दिया था।

"इस क्रान्तिकारी दल ने जून १९१२ में जोधपुर के महन्त की हत्या कर दी। इस कार्य की व्यवस्था केसरीसिंह ने की थी। हत्या का उद्देश्य क्रान्तिकारी कार्यों के लिए धन प्राप्त करना था। महन्त वैसे भी दुश्चरित्र था।

"इन्हीं दिनों लार्ड कर्जन ने एडवर्ड सप्तम के राजगद्दी पर बैठने के दिन देहली में अत्यन्त भव्य समारोह मनाने की योजना बनाई। योजना यह थी कि उस दिन भारत के जितने भी राजा-महाराजा थे, वे सब अपने सामन्तों, अंगरक्षकों, राज्यचिह्नों और लावलश्कर के साथ सजे हुए हाथियों तथा घोड़ों पर सवार होकर सम्राट् के प्रतिनिधि अर्थात् वायसराय लार्ड कर्जन के जुलूस में उसके हाथी के पीछे-पीछे चलें। समस्त दिल्ली सजाई जाय, सेनायें तथा सैनिक बैंड आगे चलें। जुलूस ऐसा भव्य हो कि भारतीयों के जनमानस पर ब्रिटिश साम्राज्य की महान् शक्ति की छाप अंकित हो जाय। जुलूस के अतिरिक्त लार्ड कर्जन ने एक विशाल दरबार का भी आयोजन किया था जिसमें भारत के सभी देशी नरेश सम्राट् के प्रतिनिधि को नजराना भेंट कर ब्रिटिश सम्राट् के प्रति अपनी राजभक्ति का प्रदर्शन करें। दरबार ऐसा वैभवपूर्ण और शानदार हो कि मुगल सम्राटों का इतिहास में बहुचर्चित वैभव इसके सामने फीका पड़ जाय।

"जहाँ भारत के अन्य राज्यों के नरेशों ने कर्जन के निमन्त्रण का अत्यन्त उत्साह के साथ स्वागत किया और वे शाही जुलूस और दरबार में सम्मिलित होने की तैयारियाँ करने लगे, वहाँ राणा प्रताप के वंशज मेवाड़ के महाराणा फतहसिंह को देहली-दरबार में जाना सम्मानसूचक नहीं लगा, वरन् उन्हें मानसिक क्षोभ हुआ। मेवाड़ के महाराणा की ओर से अनेक प्रकार की शंकायें और अड़चनें और अपनी प्रतिष्ठा के प्रश्न खड़े किये गये। चतुर लार्ड कर्जन जानता था कि स्वाभिमानी महाराणा को दबाया नहीं जा सकता है। अतएव उसने अत्यन्त विनम्र शब्दों में महाराणा को लिखा—"आप ब्रिटिश सरकार के परम हितैषी हैं। आपकी प्रतिष्ठा तथा सम्मान का सरकार पूरा ध्यान रखेगी।" लार्ड कर्जन की यह युक्ति सफल हो गई। सरल स्वभाव के महाराणा फतहसिंह ने

दिल्ली-दरबार में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया।

केसरीसिंह को जब ज्ञात हुआ कि महाराणा फतहसिंह देहली-दरबार में सम्मिलित होने जा रहे हैं तो उनका हृदय विषाद और क्षोभ से भर गया। उन्होंने महाराणा के कोप की चिन्ता न करते हुए इस अवसर पर उन्हें चेतावनी देना अपना कर्त्तव्य समझा। उन्होंने डिंगल भाषा में चेतावनी के तेरह सोरठे लिखे और उन्हें महाराणा के पास भेज दिया। उस समय तक महाराणा की ट्रेन चित्तौड़गढ़ से आगे बढ़ चुकी थी। ट्रेन में ही वे सोरठे महाराणा फतहसिंह के हाथ में दिये गये और उनकी आज्ञा से पढ़कर सुनाये गये। उन सोरठों को सुनकर महाराणा का मुखमंडल लाल हो गया। उनका क्षात्र तेज जाग उठा। वे बोले—"यदि ये सोरठे हमें उदयपुर में मिल जाते तो हम वहाँ से प्रस्थान ही न करते। खैर, बीच से लौट जाना उचित न होगा। दिल्ली पहुँच-कर देखा जायेगा।"

इतिहास इस बात का साक्षी है कि स्वामी दयानन्द के शिष्य, बारहठ केसरीसिंह के उन सोरठों का महाराणा पर ऐसा गहरा प्रभाव हुआ कि वे अपनी स्पेशल ट्रेन से उतरे ही नहीं; न जुलूस में सम्मिलित हुए और न दरबार में शामिल हुए। अस्वस्थता का कारण बताकर लार्ड कर्जन के संदेश की तनिक भी परवाह किये बिना उन्होंने अपनी स्पेशल ट्रेन को उदयपुर वापिस लौटाने की आज्ञा दे दी। इस प्रकार ठाकुर केसरीसिंह ब्रिटिश सिंह तथा साम्राज्य की सत्ता के प्रतीक लार्ड कर्जन का पराभव अपनी काव्य-प्रतिभा के चमत्कार से कर सके।

ठाकुर केसरीसिंह ने इस समय ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध व्यापक विद्रोह की योजना को क्रियान्वित करने के लिए राजस्थान तथा मध्य भारत में अनेक स्थानों पर राजपूत तथा चारण छात्रावास स्थापित किये। इनमें रहने वाले नवयुवकों में सशस्त्र क्रान्ति की भावना उत्पन्न की। स्वतन्त्रता के इस महान् यज्ञ में उन्होंने अनेक देशी नरेशों तथा जागीरदारों को भी सम्मिलित करने का प्रयास किया। उनकी यह योजना थी कि सम्पूर्ण देश में एकसाथ सैनिक क्रान्ति हो तथा सारे अंग्रेज अधिकारियों को एकसाथ गिरफ्तार कर लिया जाय। इसके बाद कौन किस क्षेत्र में कानून तथा व्यवस्था का प्रबन्ध करेगा, इस बारे में भी सब बातें निश्चित कर ली गई थीं। किन्तु उस समय ब्रिटिश सरकार के गुप्तचर विभाग को इस योजना की गन्ध आ गयी। अंग्रेज चौकन्ने हो गये। केसरीसिंह बारहठ, अर्जुनलाल सेठी, राव गोपालसिंह की गतिविधियों पर कड़ी दृष्टि रखी जाने लगी। इससे बचने के लिए श्री सेठी अपने विद्यालय को जयपुर से इन्दौर ले गये। यह वस्तुतः स्कूल न होकर क्रान्तिकारी नवयुवकों के प्रशिक्षण का केन्द्र था। इन्दौर में इस विद्यालय में पढ़ने वाले छात्रों में सर्वश्री माणक चन्द, जयचन्द मोतीचंद तथा केसरीसिंह के भाई जोरावरसिंह ने आरा जिले में नियाज के एक धनी महन्त की हत्या क्रान्तिकारी कार्यों के लिए धन पाने की दृष्टि से की थी।

कुछ समय बाद पुलिस ने जोधपुर के महन्त प्यारेराम तथा आरा के महन्त की हत्याओं का पता लगा लिया। अपने पिता की मृत्यु के समय ठाकुर केसरीसिंह जोधपुर में कुछ समय रहे थे। उस समय उन्हें राजघराने से सम्बद्ध एवं समृद्ध महन्त प्यारेराम के दुराचरण एवं कुकर्मों की सूचना मिली। उन्होंने वहाँ के लोगों को कहा—"धिक्कार है तुम्हारे जीवन को जो कलंकस्वरूप दुराचारी महन्त को सहन करते हो!"

उसके वध से न केवल एक लम्पट दुश्चरित्र महन्त के अनाचार और अत्याचार से छुटकारा मिलता, अपितु क्रान्तिकारी कार्यों के लिए धन भी प्रभूत मात्रा में मिल सकता था।" अतः शांतभानु लाहिरी बद्रीनाथ-यात्रा के बहाने से उसे कोटा ले आया और यहाँ राजपूत छात्रावास में उसे ठहराया गया। इसकी चाबी केसरीसिंह बारहठ के पास थी। इसके बाद यह पता नहीं चला कि उसका क्या हुआ। सम्भवतः उसकी हत्या कर दी गई। इन्दौर में सेठी के विद्यालय की तलाशी लेने के बाद वहाँ का पुलिस अधिकारी इस मामले में ठाकुर केसरीसिंह की गिरफ्तारी के लिए कोटा पहुँचा। उस समय वे अपने गाँव शाहपुरा गये हुए थे। पुलिस अधिकारी के वहाँ जाने पर राजाधिराज शाहपुरा-नरेश ने न केवल केसरीसिंह को गिरफ्तार करवाया, अपितु केसरीसिंह और उसके भाइयों की जागीर, हवेली और सम्पत्ति जब्त कर ली। केसरीसिंह के भाई जोरावरसिंह तथा पुत्र प्रतापसिंह उनकी गिरफ्तारी से पहले ही फरार हो गये।

प्यारे राम की हत्या के अपराध में ठाकुर केसरीसिंह गिरफ्तारी के बाद मुकद्दमा चलाने के लिए कोटा लाये गये। यद्यपि पुलिस ने इस आरोप को सिद्ध करने के लिए पूरा जोर लगाया, अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये, किन्तु मुकद्दमा सुनने वाले कोटा के तत्कालीन न्यायाधीश श्री बिशनलाल कौल की दृष्टि में इनसे केसरीसिंह पर अभियोग प्रमाणित नहीं होता था, अतः इनके स्थान पर नये जज श्रीराम भार्गव नियुक्त किये गये। इस मामले में केसरीसिंह के अतिरिक्त शान्तभानु लाहिरी, हीरालाल जौहरी, लक्ष्मी लाल, डॉक्टर गुरुदत्त और रामकर्ण भी अभियुक्त थे। पुलिस ने लक्ष्मी लाल को सरकारी गवाह बना लिया। उसने अपनी जान बचाने के लिए अपने साथियों को फँसा दिया। ठाकुर केसरीसिंह बारहठ, शान्तभानु लाहिरी और रामकर्ण को आजन्म कारावास और हीरालाल जौहरी को सात वर्ष की कैद का दण्ड दिया गया। भारत-सरकार उन पर क्रान्तिकारी दल से सम्बद्ध होने के कारण राजद्रोह का मामला भी चलाना चाहती थी, किन्तु उस समय भारत सरकार के गुप्तचर विभाग के संचालक सर चार्ल्स क्लीवलैण्ड इस विषय में आवश्यक पुष्ट प्रमाण नहीं प्रस्तुत कर सके, अतः उन्हें हत्या के अपराध में उपर्युक्त दण्ड दिया गया।

भारत सरकार यह नहीं चाहती थी कि ठाकुर केसरीसिंह बारहठ को कोटा की जेल में रखा जाय। यहाँ उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। राज्य के उच्च पदाधिकारी, जागीर-दार तथा सम्भ्रान्त सज्जन उनसे मिलने के लिए जेल में आते रहते थे। अतः भारत-सरकार के राजनैतिक विभाग के दबाव से उन्हें उस समय कैदियों के साथ दुर्व्यवहार तथा अत्याचारों के लिए बदनाम बिहार की हजारीबाग जेल में भेज दिया गया। किन्तु यहाँ जेल के सुपरिण्टेंडेंट कर्नल मीक तथा उनकी पत्नी उनके व्यक्तित्व से इतने प्रभावित हुए कि वे उनके प्रशंसक बन गये। कर्नल मीक जब अपनी पत्नी के साथ कैदियों के निरीक्षण के लिये जेल आये तो उन्होंने देखा कि ठाकुर केसरीसिंह के वस्त्र उजले थे, उनका लोटा, तसला और कैदी की संख्या बताने वाली प्लेट चाँदी की तरह चमक रही थी। यह देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने जब इसका कारण पूछा तो श्री बारहठ ने उत्तर दिया—"यद्यपि ये वस्तुयें जेल की हैं, पर बीस लम्बे वर्षों में मेरे उपयोग में आने वाली हैं, अतः उन्हें स्वच्छ रखना मेरा कर्तव्य है।" कर्नल मीक को यह बताया गया कि वे जब गेहूँ बीनते हैं तो भारत का मानचित्र गेहूँ के दानों से बनाकर अन्य

कैदियों को भारत के इतिहास, भूगोल आदि की जानकारी देते हैं। श्रीमती मीक को यह जानकर आश्चर्य हुआ कि वे संस्कृत के विद्वान् और कवि हैं। वह बारहठ जी से नियमित रूप से संस्कृत पढ़ने लगी। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर जब विजय-प्राप्ति के उपलक्ष्य में भारत सरकार ने बन्दियों को रिहा करने का आदेश दिया तो कर्नल मीक के प्रयासों से ठाकुर केसरीसिंह कारागार से १९१९ में मुक्त हो गये। उनके घर लौटने पर कोटा स्टेशन पर प्रशंसकों द्वारा उनका भव्य स्वागत किया गया। इसी समय उन्हें यह बताया गया कि हार्डिंग बमकाण्ड में पकड़े गये उनके पुत्र प्रतापसिंह को अपने दल का भेद बताने के लिये भीषण यातनायें दी गईं, किन्तु उन्होंने कोई रहस्य नहीं खोला, इस पर दारुण यन्त्रणायें देकर उन्हें जेल में ही मार डाला गया। यह हृदय-विदारक समाचार सुनकर उन्होंने केवल इतना ही कहा कि "माता का पुत्र माता के बंधनों को काटने के लिये बलिदान हो गया है।"

ठाकुर केसरीसिंह के जेल में से रिहा होने के बाद कोटा राज्य ने भारत सरकार से यह शिकायत की कि आपने हमारे राज्य के कैदी को बिना हमारी सहमति के कैसे छोड़ दिया? भारत के राजनैतिक विभाग ने इस मामले में अपनी भूल मान ली और कोटा राज्य को लिखा कि ठाकुर केसरीसिंह आपके राज्य में है, आप चाहें तो उन्हें गिरफ्तार कर सकते हैं। यह समाचार पढ़कर केसरीसिंह के मित्र और सहयोगी बड़े चिन्तित हुए। राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन तथा गणेशशंकर विद्यार्थी ने उनसे कोटा राज्य से बाहर चले जाने को कहा। शुभचिन्तकों के अनुरोध को स्वीकार करके वे कानपुर चले गये, किन्तु वहाँ उन्होंने यह कहा कि "मैं सदैव ब्रिटिश सरकार द्वारा देशी राज्यों के अधिकारों को हड़पने का विरोध करता रहा हूँ। अतः जब भारत सरकार ने कोटा राज्य को मुझे गिरफ्तार करने का अधिकार दिया है तो मुझे इसका स्वागत करना चाहिये। इस दशा में मेरा कोटा जाना उचित है, मैं वहाँ वापस जाऊँगा। यदि मैं पुनः गिरफ्तार हो जाऊँ तो आप जैसा चाहें, वैसा आन्दोलन छेड़ सकते हैं। यदि भारत माता की सेवा में सारा जीवन जेल में बिताना पड़े तो मैं इसे सार्थक समझूँगा।"

कानपुर से ही श्री केसरीसिंह ने कोटा के महाराज को एक पत्र में सूचित किया कि "भारत सरकार ने मुझे कारागार से मुक्त करके कोटा राज्य का अपमान किया है, यह मुझे स्वीकार नहीं है। कोटा रियासत की प्रतिष्ठा और उसके अधिकारों की रक्षा के लिये मैं स्वयं कोटा जेल के द्वार पर पहुँच जाऊँगा और शेष जीवन जेल में ही व्यतीत करूँगा। जेलर को आदेश कर दिया जाय कि मैं वहाँ पहुँचूं तो मुझे जेल में रख लिया जाय।" पत्र में उन्होंने कोटा जेल में पहुँचने की तिथि भी लिख दी।

उपर्युक्त निश्चित तिथि से पहले ही कोटा-नरेश ने ठाकुर केसरीसिंह को बुला भेजा और अपने दीवान चौबे रघुनाथदास के सामने यह बात कही कि "उस समय भी हम नहीं चाहते थे कि तुम्हें कारावास का दण्ड दिया जाय, किन्तु हम विवश थे। इस समय तो हमने रियासत के अधिकारों की रक्षा के लिये भारत सरकार से लिखा-पढ़ी की थी, उसने भूल स्वीकार कर ली, यही हमारी इच्छा थी। तुम्हें पुनः जेल में रखने का हमारा तनिक भी इरादा नहीं है।"

अपने जीवन के संध्याकाल में उनकी यह इच्छा थी कि देशी राज्यों में राजनैतिक जागृति उत्पन्न करने के लिये श्री जमनालाल बजाज के सहयोग से वर्धा से

"राजस्थान केसरी" नामक पत्र का प्रकाशन किया जाय। उन्होंने इसके लिये आवश्यक तैयारियाँ भी शुरू कर दीं। किन्तु कर्नल मीक के परिचय से पूर्व उन्हें जेल में जो यातनायें दी गई थीं, उनके कारण उनका स्वास्थ्य तेजी से गिरने लगा। वे वर्धा में राजस्थान केसरी का सम्पादन नहीं कर सके और यह कार्य विजयसिंह पथिक को सौंपकर कोटा चले आये। यहीं उनका निधन हुआ।

ठाकुर केसरीसिंह न केवल डिंगल भाषा के कविशिरोमणि और राजनीति-विशारद थे, अपितु मूर्धन्य देशभक्त थे। उनमें मातृभूमि के प्रति इतना अधिक प्रेम था कि उसके लिए उन्होंने अपनी तथा अपने समस्त परिवार के तन-मन-धन की आहुति दे दी थी। हजारीबाग जेल से उन्होंने अपनी पुत्री को एक पत्र में लिखा था—"तुम अवश्य यह जानकर संन्तुष्ट होगी कि भारत के एक महत्त्वपूर्ण प्रदेश में जागृति होने का प्रारम्भ अपने कुटुम्ब की महान् आहुति से हुआ है। इस राजसूय यज्ञ में हम लोगों की बलि मंगलमय हुई है।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि राजस्थान में मातृभूमि की स्वतन्त्रता के प्रयास का श्रीगणेश करने वालों में वे प्रमुख थे और उनकी अनुपम बलिदान-गाथा राजस्थान के स्वतन्त्रता-संग्राम का स्वर्णिम पृष्ठ है।

प्रतापसिंह बारहठ—ठाकुर केसरीसिंह बारहठ के सुपुत्र प्रतापसिंह ने देश-भक्ति का पहला पाठ अपने पिता को गोदी में बैठकर पढ़ा था। उनके पिता की शुरू से ही यह इच्छा थी कि उनका बेटा मातृभूमि की स्वतन्त्रता के संघर्ष में उनसे भी अधिक उत्साह, जोश, तत्परता और तन्मयता से भाग ले। प्रतापसिंह का बचपन कोटा में बीता, वहीं उनका विद्यारम्भ हुआ। तत्पश्चात् वे अजमेर के दयानन्द एंग्लो-वैदिक स्कूल में पढ़ने लगे। वे विद्यालय में केवल ज्ञानप्राप्ति के ही लिए प्रविष्ट हुए थे; उनका उद्देश्य कोई डिग्री या डिप्लोमा लेने का नहीं था। उनके पिता का कहना था कि अंग्रेजों द्वारा चलाये जाने वाले विद्यालय और विश्वविद्यालय गुलामों को पैदा करने वाले कारखाने हैं, जहाँ भारत के नौजवानों को पराधीनता में ही प्रसन्न रहने का पाठ पढ़ाया जाता है। अतः प्रतापसिंह मैट्रिक तक पढ़े, किन्तु उन्होंने इसकी परीक्षा देने की आवश्यकता नहीं समझी।

इसी समय राजस्थान के प्रसिद्ध देशभक्त और स्वतन्त्रता-सेनानी श्री अर्जुन-लाल सेठी ने 'जैन वर्द्धमान विद्यालय' की स्थापना जयपुर में की। इसमें श्री सेठी छात्रों को देश की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा प्रदान करते थे, अतः श्री प्रतापसिंह देशभक्ति की दीक्षा लेने के लिए इस विद्यालय में चले आये। यहाँ रहते हुए उनके मन में स्वाधीनता-संग्राम में भाग लेने की भावना बलवती होने लगी। इसे अधिक पुष्ट करने के लिए इनके पिता ने इन्हें दिल्ली में मास्टर अमीरचन्द के चरणों में बैठकर क्रान्तिकारी कार्यों की शिक्षा लेने के लिए भेजा। पहले मास्टर अमीरचन्द के विद्यालय के क्रान्ति-विषयक कार्यकलापों का उल्लेख हो चुका है। उन्हें हार्डिंग बमकाण्ड में फाँसी की सजा हुई थी। मास्टर अमीरचन्द को नौजवान प्रतापसिंह क्रान्तिकारी कार्यों के सर्वथा उपयुक्त कार्यकर्ता प्रतीत हुए। प्रताप उनकी निगाहों में चढ़ गये। १९११ में रासबिहारी बोस जब राजस्थान में क्रान्तिकार्य को बढ़ाने के लिये एक साहसी जीवट वाले नवयुवक की खोज में थे तो मास्टर अमीरचन्द ने दिल्ली में उनके सम्मुख प्रताप को प्रस्तुत करते हुए कहा कि "यह नवयुवक उनके कार्य को अच्छी तरह कर सकता है।"

रासबिहारी सर्वथा अपरिचित नौजवान को यह जिम्मेदारी सौंपना बड़ा खतरनाक समझते थे। मास्टर अमीरचन्द ने उन्हें पूर्ण विश्वास दिलाया कि इस नवयुवक पर पूरा भरोसा रखा जा सकता है। इस आश्वासन पर रासबिहारी ने उन्हें अपने दल का सदस्य बना लिया। कुछ दिनों में श्री बोस उनके कार्य से इतने अधिक प्रसन्न हुए कि वे इन पर पूरा भरोसा रखने लगे। प्रताप उनका दायाँ हाथ बन गये।

रासबिहारी ने प्रताप को कुछ समय तक अपने पास रखा और उन्हें इस बात का प्रशिक्षण दिया कि क्रान्ति का संगठन और सशस्त्र विद्रोह की तैयारी कैसे की जाती है। इसके बाद उन्होंने प्रताप को राजस्थान की सैनिक छावनियों में सैनिकों में विद्रोह का प्रचार और संगठन करने के लिए भेज दिया। इस समय उनकी आयु केवल बीस वर्ष थी, किन्तु वे राजपूताने में क्रान्तिकारियों के लोकप्रिय नेता बन गये और विभिन्न छावनियों में घूम-घूमकर सरकारी फौजों के सिपाहियों को विद्रोह के लिए तैयार करने लगे, सर्वत्र क्रान्ति के सन्देश का प्रसार करने लगे।

इस समय भीषण सरकारी दमन से क्रान्तिकारी कार्यों में शिथिलता आने लगी थी। लाला हरदयाल, सरदार अजीतसिंह, सूफी अम्बाप्रसाद के विदेश चले जाने से क्रान्तिकारी गतिविधियाँ कम होने लगी थीं। जनता में निराशा की भावना बढ़ रही थी, ऐसी स्थिति में रासबिहारी बोस ने इस आन्दोलन को नया आयाम प्रदान करने, हताश भारतीय जनता में स्वाधीनता की नूतन आशा का संचार करने तथा ब्रिटिश सरकार का जनता पर रोब, दबदबा और आतंक मिटाने की दृष्टि से तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिंग के दिल्ली में प्रवेश के अवसर पर २३ दिसम्बर १९१२ को हार्डिंग पर बम फेंकने का निर्णय किया। रासबिहारी बोस ने इसकी योजना अपने सहयोगियों—मास्टर अमीरचन्द, भाई बालमुकुन्द, अवधबिहारी, अपने सेवक बसन्तकुमार विश्वास, प्रतापसिंह एवं उनके चाचा जोरावरसिंह के सहयोग से बनाई। सबको उनके निश्चित कार्य सौंप दिये गये।

वायसराय के आगमन के अवसर पर २३ दिसम्बर १९१२ को रेलवे स्टेशन तथा दिल्ली की नगरी दुल्हन की तरह झण्डियों, पताकाओं, तोरणों, वन्दनवारों से खूब सजाई गई। लार्ड हार्डिंग की ट्रेन ज्योंही दिल्ली स्टेशन के प्लेटफार्म पर पहुँची, लाल किले से तोपें भारी गड़गड़ाहट के साथ भारत में ब्रिटिश राजा के प्रतिनिधि को सलामी देने लगीं। सब राजा-महाराजाओं ने उनका स्वागत किया। इसके बाद वायसराय की एक शोभायात्रा का आयोजन हुआ। जुलूस के आगे फौजी बैण्ड-बाजे बज रहे थे। लार्ड हार्डिंग को बहुत ऊँचे गजराज पर सजे हुए हौदे में बिठाया गया। यह शानदार जुलूस स्टेशन से चाँदनी चौक की ओर चला। सारी दिल्ली इसे देखने के लिए उमड़ पड़ी। बाहर से भी देश के हर कोने से लोग इस शोभायात्रा को देखने आये। जब यह जुलूस चाँदनी चौक में पंजाब नेशनल बैंक के भवन के सामने पहुँचा तो एक भयंकर धमाका हुआ। धूलिया कटरे की ओर से एक बम लार्ड हार्डिंग के हौदे के पिछले भाग पर लगा। लार्ड हार्डिंग पर छत्र लगाये हुए रामपुर राज्य के जमादार महावीरसिंह की इस बम-विस्फोट में तुरन्त मृत्यु हो गई। हौदे का पिछला भाग टूट गया, लार्ड हार्डिंग को पीठ तथा कन्धे पर चोट आई। वे बेहोश होकर हौदे पर लुढ़क गये।

एक ब्रिटिश लेखक मार्क बेन्स जोन्स ने ब्रिटिश दृष्टिकोण से इस घटना का

वर्णन करते हुए लिखा है[1]—"कहा जाता है कि इस शोभा-यात्रा में बम-विस्फोट से कुछ पहले (भावी अनर्थ की आशंका का) पूर्वानुमान करते हुए लार्ड हार्डिंग ने अपनी पत्नी से कहा था कि 'मुझे विश्वास है कि कोई भयंकर घटना घटने वाली है।' कुछ क्षण बाद उन्हें पीठ पर कड़ी चोट लगने और जलने की अनुभूति हुई। हाथी खड़ा हो गया। यह विस्फोट इतना सहसा हुआ था कि किसी को यह पता न चल सका कि क्या हुआ है। महावत हाथी को अंकुश लगाकर आगे बढ़ाने की विफल चेष्टा कर रहा था। छत्रधारी सेवक उसी समय मर गया और उसका शव हौदे के रस्से में उलझ गया। लेडी हार्डिंग ने देखा कि उनके पति का चेहरा पीला पड़ गया है, कोट फट गया है, शरीर से खून बह रहा है, वे अचेत हो गये हैं। लेडी हार्डिंग ने बड़े धैर्यपूर्वक पति को हाथी से उतारा। हाथी इस विस्फोट से इतना डरा हुआ था कि महावत के बार-बार प्रयत्न करने पर भी जब वह नीचे जमीन पर नहीं बैठा तो पैकिंग केसों से सीढ़ी बनाकर वायसराय को लेडी हार्डिंग ने बड़े धैर्य से नीचे उतारा। होश में आने पर हार्डिंग ने जुलूस को निश्चित कार्यक्रम के अनुसार आगे बढ़ने का आदेश दिया और मोटर पर बैठकर वायसरीगल लॉज (वायसराय के निवासस्थान) पर पहुँचे। किन्तु घर में उस समय केवल उनकी लड़की ही थी।

"सभी नौकर जुलूस देखने गए हुए थे। वायसराय को बिस्तर पर लिटाने के बाद यह पता लगा कि उनके घाव इतने खतरनाक नहीं, जितने पीड़ादायक हैं, क्योंकि इस बम में भरी हुई कीलें, ग्रामोफोन की सुइयाँ और पेच हार्डिंग के कन्धों तथा गले के पिछले हिस्से के अन्दर चले गये थे और बड़ा कष्ट दे रहे थे। इन्हें निकालने के लिए कई ऑपरेशन करने पड़े थे। दस हफ्ते बिस्तर पर पड़े रहने के बाद ही लार्ड हार्डिंग स्वस्थ हो सके।"

वीर सावरकर ने इस घटना का राष्ट्रीय दृष्टिकोण से वर्णन करते हुए लिखा है—"२३ दिसम्बर १९१२ को हाथी पर बैठे वायसराय हार्डिंग का जुलूस निकला। वायसराय के साथ अपने सेना के प्रमुखों को लिये राजा-महाराजा भी थे। तलवारें चमक रही थीं। फौजी बैण्ड सैनिकों को सलामी दे रहा था। यूनियन जैक लहरा रहा था। तोपें चल रही थीं। एक लाख लोग तमाशा देखने के लिए एकत्र हो रहे थे। हमारी भारतभूमि पर हमारा राष्ट्रीय अपमान हो रहा था। नचवैया उस पर नाच रहे थे। राष्ट्र के लिए यह शोभायात्रा नहीं, शोकयात्रा थी। स्वभावतः जब सभी लोग चाँदनी-चौक में फूल और नारियल बरसा रहे थे, तब जिन्होंने इसे अपमान समझा उनके प्रतिनिधियों ने बम फेंका जिससे हाथी डर के मारे भागा, एक एडिकांग मारा गया और वायसराय को रक्त-स्नान करवाया। पाँच मिनट तक तो सबने यही समझा कि वायसराय चल बसा है। सचमुच ही शोभायात्रा शोकयात्रा में बदल गई।"

अभी तक यह विवादास्पद है कि यह बम किसने फेंका था। यह रासबिहारी, बसन्तकुमार विश्वास, प्रतापसिंह बारहठ तथा इनके चाचा जोरावरसिंह का सम्मिलित प्रयत्न था और इनमें से किसी ने यह बम फेंका था। इस घटना के बाद प्रतापसिंह और जोरावरसिंह भागकर यमुना नदी के तट पर आये। उस समय इसमें बाढ़ आई हुई थी।

---

१. मार्क बेन्स जोन्स—दी वायसरायज आफ इण्डिया, लंदन १९८२, पृष्ठ २१६-७

दोनों सात घंटे तक इसमें तैरते रहे, कई बार वे पुल के खम्भे पकड़कर लटक जाते थे। जब नदी-किनारे के दो सिपाहियों को उन पर सन्देह हुआ तो वे उन्हें मारकर नदी पार-कर भाग गये।

अब प्रतापसिंह गुप्त रूप से राजपूत सिपाहियों में बगावत फैलाने का प्रचार करने लगे। इस काम के लिये राजपूताना, पंजाब और हैदराबाद तथा दूर-दूर की छावनियों में जाने लगे। इन दिनों पुलिस रासबिहारी का पीछा कर रही थी। इससे बचने के लिये वे दिल्ली से काशी और वहाँ से नवद्वीप पहुँचे। भावी कार्यक्रम के लिये आवश्यक निर्देश पाने के लिये प्रतापसिंह भारी खतरा उठाकर भी नवद्वीप में अपने गुरु से मिलकर राजपूताना लौट आये और पुनः राजस्थान में क्रान्ति की अलख जगाने लगे।

इसी समय प्रतापसिंह के पिता ठाकुर केसरीसिंह को आजन्म कारावास का दण्ड मिला। इस पर पुत्र ने पिता को जेल में यह सन्देश भिजवाया कि "आप चिन्ता न करें, अभी तक प्रतापसिंह जिन्दा है।" इस समय यद्यपि उनके नाम वारण्ट निकला हुआ था, पुलिस उनके पीछे पड़ी हुई थी, किन्तु वे निर्भीकतापूर्वक अपने क्रान्तिकारी कार्यों में लगे रहे। पुलिस उन्हें नहीं पकड़ सकी। किन्तु अन्त में अपने एक पुराने क्रान्तिकारी साथी के विश्वासघात के कारण वे पकड़े गये। जोधपुर के निकट आशानाडा का स्टेशन मास्टर पहले इनके दल में था। बाद में जब उसके पास बम पकड़ा गया तो वह बचने के लिये सरकारी गवाह बन गया और उसने सरकारी नौकरी कर ली। प्रताप को इस बात का पता नहीं था। जब उसे पुराना मित्र समझते हुए वे उसे मिलने गये तो उसने धोखे से इन्हें पकड़वा दिया।

प्रतापसिंह को बरेली जेल में रखकर उनसे हार्डिंग बमकाण्ड से सम्बद्ध सभी क्रान्तिकारियों का भेद लेने का पूरा प्रयत्न किया गया। भारत सरकार के गुप्तचर विभाग के निदेशक सर चार्ल्स क्लीवलैण्ड सदल-बल बरेली पहुँचे। उन्हें विश्वास था कि वे २२ वर्ष के नवयुवक से क्रान्तिकारियों की सब गतिविधियों का पूरा पता पा लेंगे। प्रतापसिंह को अपने साथियों का भेद बताने के लिए सब तरह के प्रलोभन दिये गये। उन्हें कहा गया कि ऐसा करने पर ऊँचा पद दे दिया जायगा, लाखों रुपये का इनाम मिलेगा, उनके पिता ठाकुर केसरीसिंह को जेल से रिहा कर दिया जायगा, चाचा ठाकुर जोरावरसिंह के नाम निकाला गया गिरफ्तारी का वारण्ट रद्द कर दिया जायगा, उनके बाप-दादा की लाखों रुपये की जो जमीन, जायदाद, मकान आदि की सम्पत्ति जब्त कर ली गई है, वह वापिस कर दी जायगी। जब इन सब प्रलोभनों का प्रताप पर कोई असर नहीं पड़ा तो उन्हें कहा गया कि तुम्हारी माँ तुम्हारे लिये निरन्तर रोती रहती है और बड़ी दुःखी है। उसका दुःख दूर करना तुम्हारा कर्तव्य है। इस पर प्रताप ने क्लीवलैण्ड से कहा—"तुम कहते हो कि मेरी माँ मेरे लिये रोती है और बहुत दुःखी है। लेकिन मैं किसी और माँ के रोने का कारण नहीं बन सकता हूँ। अगर ऐसा हुआ तो वह मेरी असली मृत्यु होगी और मेरी माँ के लिए कलंक होगा।"

जब ब्रिटिश सरकार सब प्रकार के प्रलोभन देकर भी प्रताप से उसके साथियों का भेद पाने के प्रयास में सफल नहीं हुई तो उन्हें सब प्रकार की भीषण यातनायें और यन्त्रणायें दी गईं कि वे किसी प्रकार इनकी भयंकर पीड़ा से बचने के लिए अपने सब रहस्य सरकार को बता दें, किन्तु प्रतापसिंह राणाप्रताप की भाँति अपने प्रण पर अटल

और अडिग बने रहे और सरकार उनसे कोई महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त करने में सफल न हो सकी। प्रताप की वीरता की प्रशंसा और अपनी पराजय स्वीकार करते हुए गुप्तचर-विभाग के निदेशक सर चार्ल्स क्लीवलैण्ड ने लिखा था—"मैंने आज तक प्रतापसिंह जैसा वीर और विलक्षण बुद्धि का बालक नहीं देखा। उसे तरह-तरह से सताये जाने में कोई कमी नहीं रखी गई, किन्तु वह धीर पुरुष टस से मस नहीं हुआ। वह गजब का कष्ट सहने वाला था। हमारी सब चालें बेकार हुईं। हम सब हार बैठे। उसी की बात अचल रही, वह विजयी हुआ।"

डाक्टर रमेशचन्द्र मजूमदार ने भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के इतिहास में प्रतापसिंह के बारे में लिखा—"(राजस्थान के) उन तरुण क्रान्तिकारियों में सबसे प्रसिद्ध ठाकुर केसरीसिंह के पुत्र प्रतापसिंह बारहठ थे, जिन्होंने रासबिहारी बोस द्वारा आयोजित अनेक षड्यन्त्रों में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। वे एक शहीद की मौत मरे और उन्होंने भयंकर यातनाओं के सम्मुख अदम्य साहस और अद्भुत कष्ट-सहिष्णुता का परिचय दिया।"[1]

ठाकुर जोरावरसिंह बारहठ—ठाकुर केसरीसिंह के भाई और प्रतापसिंह के चाचा ठाकुर जोरावरसिंह १९१२ के हार्डिंग बमकाण्ड में रासबिहारी के सहयोगी थे। वे पुलिस द्वारा पकड़े नहीं जा सके और उन्हें २५ वर्षों तक भीषण कष्ट सहते हुए फरारी का जीवन व्यतीत करना पड़ा। इसकी बड़ी रोमांचक गाथा ठाकुर केसरीसिंह बारहठ की पोती श्रीमती राजलक्ष्मी साधना ने प्रस्तुत की है। यहाँ इसके आधार पर इनका संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

ठाकुर जोरावरसिंह ने बचपन से ही अपने भाई ठाकुर केसरीसिंह बारहठ के साथ अपने पिता से आर्यसमाज के विचारों के साथ देश-भक्ति का पाठ पढ़ा और उनके साथ देश की स्वतन्त्रता के लिये सशस्त्र क्रान्ति और विद्रोह की योजना में सम्मिलित हो गये। ठाकुर जोरावरसिंह की पोती राजलक्ष्मी साधना ने अपने दादा केसरीसिंह के मुख से सुने वर्णन के अनुसार हार्डिंग पर बम फेंकने का श्रेय ठाकुर जोरावरसिंह को दिया है। उनके शब्दों में रासबिहारी बोस के नेतृत्व में क्रान्तिकारी दल ने यमुना के पार एक जगह शस्त्र और बम बनाने का केन्द्र बना रखा था। इस बात की योजना पूर्व-निर्धारित थी कि दिल्ली को राजधानी बनाने के समय वायसराय लार्ड हार्डिंग पर बम फेंककर यह बताया जाय कि दिल्ली को अंग्रेजों द्वारा राजधानी बनाने से भारतीय खुश नहीं हैं।

क्रान्तिकारी दल ने पहले यह कार्य कुँवर प्रतापसिंह को सौंपा और कई महीनों तक ये यमुना-पार पत्थर से निशाना लगाने का अभ्यास करते रहे। पर जब इसका समय पास आया तो सबने सोचा कि प्रताप मँझले कद का है, हो सकता है कि भीड़ आगे आ जाय और निशाना गलत हो जाय। इस पर यह कार्य जोरावरसिंह को सौंपा गया। निश्चित समय पर बम लेकर नाव द्वारा यमुना पार करने की योजना बनाई। इसे सफल बनाने के लिए पहले से ही गोटे-किनारी के कपड़े बम को छिपाने के लिये खरीद लिये। उसमें बम छिपाये, कपड़ों की पोटली उठाये जब प्रताप और जोरावरसिंह जमना पार

---

१. आर० सी० मजूमदार—हिस्टरी ऑफ फ्रीडम मूवमेण्ट इन इण्डिया, खण्ड २, पृष्ठ ३१३—१४

करने के लिए नाव पर चढ़े तो बीच में किसी ने कहा—"सामान नीचे रख दो। गोद में क्या उठाये हो ?" तब जोरावरसिंह ने कहा—"भाई, हम भात भरने जा रहे हैं, कपड़े बिगड़ने का डर है।" इस तरह यह उस पार उतर गये। उसी पोटली में एक बुर्का भी था, जो इनके नाप से सिलाया गया था। ये दोनों काका-भतीजा अपना स्थान पूछते-पूछते चाँदनी चौक पहुँच गये और वायसराय के हाथी का इन्तजार करने लगे। प्रताप नीचे खड़े थे और ऊपर महिलाओं के बीच में बुर्का पहनकर बम लिये जोरावरसिंह खड़े हो गये। उनका निशाना बड़ा सधा हुआ था। ज्योंही वायसराय लार्ड हार्डिंग का हाथी सामने आया, महिलाओं में (उसे देखने के लिए) खलबली मच गई और बम फेंकते समय इन्हें किसी महिला की कोहनी का धक्का लग गया। इसी से निशाना थोड़ा-सा चूक गया। बम हौदे के बीच में लार्ड हार्डिंग के पीछे की तरफ गिरा जिससे उनका सोने का छत्र लिये जमादार वहीं लुढ़क गया और हार्डिंग घायल हो गये। एक क्षण में सारी दिल्ली में चारों ओर खलबली मच गई। पुलिस और फौज का जाल बिछ गया। इससे बचने के लिए प्रताप और जोरावरसिंह यमुना में कूद गये और पार चले गये।

इस समय वे इस बात का प्रयास कर रहे थे कि सारे देश में एकसाथ क्रान्ति करके सब अंग्रेज अफसरों को गिरफ्तार कर लिया जाए। क्रान्तिकारियों को हथियार खरीदने के लिए प्रायः धन की आवश्यकता बनी रहती थी। इसकी पूर्ति के लिए उन दिनों क्रान्तिकारी धनी एवं दुश्चरित्र महन्तों की हत्या करके इनकी सम्पत्ति लूटा करते थे। ठाकुर जोरावरसिंह ने इस प्रकार की एक योजना बिहार के आरा जिले के नियाज के धनी महन्त के लिए बनाई। इसमें उनके साथ अर्जुनलाल सेठी के विद्यालय के छात्र माणकचन्द, जयचन्द और मोतीचन्द भी सम्मिलित थे। पुलिस ने जब इन्दौर में सेठी के विद्यालय तथा छात्रावास की तलाशी ली तो उसे इस हत्या का भी सुराग मिल गया। किन्तु पुलिस इस मामले में जोरावरसिंह को गिरफ्तार नहीं कर सकी और वे १९१४ में आरा केस में फरार हो गये।

पुलिस ने उनके चार साथियों को गिरफ्तार करके उन पर मुकद्दमा चलाया। वे फाँसी पर लटका दिये गये। अब इस मामले में केवल जोरावरसिंह ही बचे थे। पुलिस ने इन्हें पकड़वाने वाले को सवा लाख रुपये का इनाम घोषित कर दिया, किन्तु वे मध्य भारत के घने जंगलों में कई वर्ष तक अज्ञातवास में रहे। एक बार पैर में फोड़ा होने पर ये कोटा में इलाज के लिए १९२०-२१ में केसरीसिंह के पास आये। वे कुछ समय पहले जेल से रिहा हुए थे। उन पर ब्रिटिश सरकार के जासूसों की कड़ी निगाह रहती थी। अतः उन्होंने इन्हें अपने घर में ताले में बन्द करके रखा। आधी रात को सब नौकरों के चले जाने पर इन्हें खाना और दवा दी जाती थी, मरहम-पट्टी की जाती थी। सवेरे ४ बजे फिर कमरे में ताला लगा दिया जाता था। कोटा में इन्हें देर तक रखना खतरे से खाली नहीं था। अतः तीन-चार दिन बाद आधी रात को चारे की बैलगाड़ी में छिपाकर इन्हें एक छोटे-से गाँव मोरटहूका के जंगल में घनी झाड़ियों के बीच में रखा गया।[1] यहाँ आधी रात को इन्हें खाना पहुँचाया जाता था और पट्टी बदली जाती थी। छः महीने तक ऐसी कठोर तपस्या के बाद ये ठीक हुए। किन्तु इनका एक पैर कुछ छोटा हो गया,

---

१. आर्य जगत्—आर्य क्रान्तिवीर अंक, पृ० २१, फरवरी १९८२, पृ० १२३-१२८

ये लँगड़ाने लगे। इसके बाद इन्होंने अपना अधिकांश जीवन मालवा की सीतामऊ रियासत के घने जंगलों में बिताया। कुछ समय चम्बल की घाटियों तथा बेहड़ों में शेर आदि हिंसक जन्तुओं के बीच में रहे। नदी-किनारे उगी ककड़ी, तरबूजादि से पेट भरते थे। किन्तु एक बार छः महीने तक पेड़ों के पत्ते खाकर बिताने पड़े। जब ये सीतामऊ के जंगलों में भटक रहे थे तो ब्रिटिश सरकार को पता लग गया। उसने सीतामऊ के राजा रामसिंह पर उन्हें पकड़ने के लिए दबाव डाला तो महाराजा ने अपने एक निजी व्यक्ति से इन्हें कहलाया कि ये रियासत छोड़कर चले जाएँ। ये उस स्थान को सुरक्षित समझकर वहीं रहना चाहते थे। अतः इन्होंने महाराजा साहब को रहीम का एक दोहा लिखकर भेजा—

सर सूखे पंछी उड़े, औरहि सर ठहराय,
मच्छ कच्छ बिन पच्छ के, कहो रहीम कित जाय।

इसका यह आशय है कि तालाब का पानी सूख जाने पर पक्षी तो अपने पंखों से उड़कर दूसरे तालाबों में चले जाते हैं, किन्तु पंखरहित मछलियाँ और कछुए कहाँ जाएँ? महाराजा पर इस दोहे का बड़ा असर पड़ा और उन्होंने जोरावरसिंह को कहलाया कि ठीक है, वे यहीं रहे, किन्तु अपना पूरा ध्यान रखें।

१९३७ में उदयपुर राज्य के मड़ा गाँव के एक स्वजातीय बन्धु ने इनके साथ विश्वासघात किया और इनाम के लालच में इन्हें पकड़वा दिया। तीन महीने तक वे पुलिस की हिरासत में रहे। पुलिस ने दूर-दूर से लोगों को बुलाकर इनकी सही पहचान कराने की बड़ी कोशिश की, किन्तु २५ वर्ष की लम्बी अवधि के बाद इनकी शक्ल काफी बदल चुकी थी। नये आदमी इन्हें पहचानते नहीं थे; पुराने जानबूझकर पहचानने से इनकार करते थे ताकि ये गिरफ्तारी, मुकद्दमे और प्राणदण्ड से बच सकें। उदयपुर में महाराणा भोपालसिंह इनके बाल-सखा थे। उन्होंने इन्हें देखकर कहा—"ये तो जोरावर-सिंह नहीं हैं।" ठाकुर केसरीसिंह ने भी ऐसा ही कहा। अन्त में पुलिस को इन्हें छोड़ना पड़ा और ये कोटा आ गये।

१९३७ में ब्रिटिश प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बने। बिहार में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल के मुख्यमन्त्री बाबू श्रीकृष्णनारायणसिंह और गृहमन्त्री बाबू अनुग्रह-नारायणसिंह थे। ठाकुर केसरीसिंह के मित्र तथा यू० पी० असेम्बली के स्पीकर पुरुषोत्तम दास टंडन के माध्यम से बिहार के मन्त्रियों को कहा गया कि १९१४ में आरा केस के बारे में ठाकुर जोरावरसिंह के विरुद्ध निकाला गया वारण्ट रद्द कर दिया जाय। यह प्रयास सफल हुआ। बिहार के सुप्रसिद्ध दैनिक 'सर्चलाइट' आदि पत्रों में जिस दिन ठाकुर जोरावरसिंह के वारण्ट रद्द होने का समाचार छपा, उसी दिन कोटा में निमोनिया से पीड़ित होकर ठाकुर जोरावरसिंह दिवंगत हुए। यह विधि का अद्भुत संयोग था कि जिस प्रकार इस स्वतन्त्रता-सेनानी ने जीवन के २५ वर्ष अज्ञातवास में बिताये थे, उसी प्रकार उसने अन्तिम यात्रा भी अपने ससुराल में चुपचाप मौन भाव से की। उनके मरने के बाद ही उनके सम्बन्धियों को पता लगा कि उनकी गिरफ्तारी का वारण्ट रद्द हो चुका है। २५ वर्ष की अवधि में उन्होंने मातृभूमि के लिए जिन भीषण कष्टों को सहन किया, वे बहुत ही कम स्वतन्त्रता-सेनानियों ने सहे होंगे। इस विषय में उन्होंने एक नया उज्ज्वल कीर्तिमान स्थापित किया।

परिशिष्ट

श्री केसरीसिंह बारहठ का काव्यमय क्रान्तिकारी उद्बोधन

लार्ड कर्जन ने फरवरी १९०३ में ब्रिटिश सम्राट् एडवर्ड (सप्तम) के इंग्लैंड में राजगद्दी पर बैठने के उपलक्ष्य में दिल्ली में दरबार की योजना बनाई थी। इसके साथ ही एक भव्य शोभायात्रा का भी आयोजन किया गया था।

मेवाड़ के तत्कालीन महाराणा फतहसिंह जी ने भी इस मौके पर दिल्ली आने के लिए स्पेशन ट्रेन से प्रस्थान किया। चित्तौड़-अजमेर के रेलमार्ग पर रूपाहेली स्टेशन पर प्रसिद्ध आर्यसमाजी क्रान्तिकारी कविवर श्री केसरीसिंह बारहठ का मार्मिक शब्दों में लिखा एक काव्य-सन्देश महाराणा साहब को मिला। इस सन्देश ने महाराणा का हृदय-परिवर्तन कर दिया। अतः दिल्ली पहुँचने पर अस्वस्थता का कारण बताकर वे वापस उदयपुर लौट आये। इसी सन्देश को "चेतावणी रा चूंगट्या" नाम दिया गया है—

पग-पग भ्रम्या पहाड़, धरा छोड़ राख्यो धरम,
महाराणा मेवाड़, हिरदै बशिया हिन्दरै ॥१॥
घणा घलिया घमासाण, राण सदा रहिया निडर,
पेखंता फुरमाण हलचल किम फतमल हुवें ॥२॥
गिरद गजाँ घमसाण, नहचै घर माई नहीं,
मावै किम महाराण, गज दो शेरा गिरद में ॥३॥
ओराने आशाण, हाँका हरबल हालणों,
किम हाले कुल राण, हरबल शाहाँ हाकिया ॥४॥
नरियन्द शर नजराण, झुक करशी शरशी जिको,
पसरेलों किम पाण, पाण छताँ थारो फता ॥५॥
शिर झुकिया शहशाह, सिंहासन जिण शाम्हनै,
रलणो पँगत-राह, फाबे किम तोने फता ॥६॥
शक्ल चढ़ावे शीश, दान धरम जिणरो दियो,
शो खिताब बखशीश, ले वाण, किम ललचावसी ॥७॥
देखेला हिन्दवाण, निज सूरज दिश नेहसूँ,
पण तारा परवाण, निरख निशाश न्हाकशी ॥८॥
देखे अज्जस दीह, मुलकेलो मन ही मनां,
दम्भी गढ़ दल्लीह, शीश नयन्ता शीशबद ॥९॥
अंतवेर आखीह, पातल जै लांबा पहल,
राणा सर राखी, जिणारी शाखी शिर जटा ॥१०॥
कठिण जमानो कौल, बाँधै नर हिम्मत बिना,
वीराँ हन्दो बोल, पातल साँगे पेखियो।।११॥

अब लग सारां आश, राणा रीत कुल राखसी,
रहो रसाय सुख-रास, एकलिंग प्रभु आपरे ॥१२॥
मान मोद शीशोद, राजनीति बल राखणो,
गवरमिण्टरी गोद, फल मीठा दीठा फता ॥१३॥

१. पाँवों पाँवों पहाड़ों में भटकते फिरे, धरा छोड़कर धर्म को बचाया; इसीलिए महाराणा और मेवाड़ ये दो शब्द हिन्दुस्तान के हृदय में बस गए हैं।

२. अनेक युद्ध हुए, तब भी महाराणा सदा निर्भय रहे। हे फतेसिंह, अब सिर्फ फरमानों को देखते ही यह हलचल कैसे मच गयी ?

३. जिसके हाथियों की युद्ध में उड़ी गरद (धूल) पृथिवी में नहीं समाती थी, वही महाराणा स्वयं दो सौ गज के गिरद (घेरे) में कैसे समा जाएगा ?

४. दूसरे राजाओं के लिए आसान होता कि वे हंकाले जाने पर शाही सवारी में आगे बढ़ते रहें, चलते रहें, परन्तु जिस महाराणा वंश ने अपने हरोल में (आगे) बादशाहों को हाँक लिया था (भगा दिया था), वह शाही सवारी में कैसे चलेगा ?

५. दूसरे सब राजा झुक-झुककर नजराना देंगे, यह उनके लिए तो सहज होगा। परन्तु हे फतहसिंह, तेरे हाथ में तो तलवार रहती है, उसके रहते हुए नजराने का हाथ कैसे आगे फैलेगा ?

६. जिसके सिंहासन के सामने बादशाहों के सिर झुके हैं, फतेहसिंह, अब पंक्ति में मिल जाना तुझे कैसे फबेगा ?

७. जिसके दिये हुए "धर्म" के दान को संसार सिर पर चढ़ा रहा है, वह (हिन्दूपति) खिताबों की बखशीश लेने के लिए कैसे ललचायेगा ?

८. समस्त हिन्दू अपने सूर्य की ओर स्नेहपूर्वक ताकेंगे परन्तु जब उनको तुम "तारा" बने हुए (स्टार ऑफ इण्डिया) दिखाई दोगे तो वे अवश्य ही निःश्वास निकालेंगे।

९. हे शीशोदिया ! दिल्ली का दम्भी किला तुझे सिर झुकाते हुए देखकर मन-ही-मन हँसेगा और इस दिन को अपने लिए अभिमान का दिन समझेगा।

१०. पहले महाराणा प्रताप ने अन्तिम समय में जो प्रतिज्ञाएँ की थीं, उनको आज तक सब महाराणाओं ने निभाया और इसकी साक्षी खुद तुम्हारे सिर की जटा है।

११. मनुष्य अपने में हिम्मत न होने पर ही यह सिद्धान्त बाँध लिया करता है कि 'जमाना' मुश्किल है। पर इस वाणी के रहस्य को राणा सांगा और प्रताप ने समझा था।

१२. अब तक सबको यही आशा रही है कि महाराणा अपने वंश की रीति को रखेंगे, सुखराशि भगवान् एकलिंग आपकी सहायता पर रहें।

१३. हे शीशोदिया फतेहसिंह, अपने मान और हर्ष को राजनीति के बल से ही रखना होगा। इस गवर्नमेंट की गोद में कभी मीठे फल देखे हैं ?

बाईसवाँ अध्याय

उत्तरप्रदेश के अग्रणी क्रान्तिकारी पण्डित गेन्दालाल दीक्षित

काकोरी काण्ड के नेता और अमर शहीद श्री बिस्मिल को क्रान्तिकारी कार्यों की दीक्षा देने वाले पण्डित गेन्दालाल दीक्षित थे। यदि श्री बिस्मिल कानपुर से श्री गणेश-शंकर विद्यार्थी के सम्पादकत्व में छपने वाली पत्रिका 'प्रभा' में इन पर लेख लिखकर गुरु-ऋण न उतारते तो हमें सम्भवत: इनके बारे में कोई जानकारी न होती। ये उत्तरप्रदेश में स्वतन्त्र रूप से क्रातिकारी कार्य का संगठन करने वालों में अग्रणी थे। इनसे पहले उत्तरप्रदेश के क्रान्तिकारियों का नेतृत्व बंगालियों के हाथ में था। इनका जन्म १८८९ ई० में एक गाँव में हुआ। उन दिनों देहाती क्षेत्रों में शिक्षा की सुविधाएँ बहुत कम थीं। शिक्षा प्राप्त करने में निर्धन छात्रों को बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती थीं। इन सबको पार करते हुए श्री दीक्षित ने किसी प्रकार एण्ट्रेन्स की परीक्षा पास कर ली। उनकी इच्छा आगे पढ़ने की थी, किन्तु निर्धनता के कारण वे आगे पढ़ाई न कर सके। उन दिनों मैट्रिक-पास की भी बड़ी कद्र थी और उसे नौकरी मिल जाती थी। ये आर्यसमाज द्वारा संचालित एक दयानन्द एंग्लो वैदिक स्कूल में काम करने लगे।

श्री दीक्षित आर्यसमाज के उत्साही एवं सक्रिय सदस्य थे। उन दिनों आर्यसमाज न केवल धार्मिक क्रान्ति, अपितु राष्ट्रीय क्रान्ति का भी शक्तिशाली कार्य कर रहा था। उस समय आर्यसमाजी यह समझते थे कि भारत का अतीत अतीव गौरवशाली था; वह जगद्गुरु था, सब देशों के व्यक्ति उससे शिक्षा ग्रहण करते थे; आर्यावर्त सब देशों का शिरोमणि और अग्रणी था; उसकी वर्तमान शोचनीय दशा का प्रधान कारण धार्मिक कुरीतियाँ तथा विदेशी शासन है, अत: उसे स्वाधीन बनाना प्रत्येक आर्य का पवित्र धार्मिक कर्त्तव्य है।

उन दिनों राजनैतिक और क्रांतिकारी गतिविधियों की दृष्टि से उत्तरप्रदेश बहुत पिछड़ा हुआ था। लोकमान्य तिलक के प्रयासों से महाराष्ट्र में बड़ी जागृति हुई थी। बंग-भंग के बाद बंगाल में तथा नहरी बस्तियों के कानून के कारण पंजाब में जैसा राजनैतिक जागरण और क्रांतिकारी कार्यों में विलक्षण वृद्धि हुई थी, वैसा कोई राजनैतिक विकास उत्तरप्रदेश में नहीं हुआ था। श्री दीक्षित को क्रान्तिकारियों की समुचित दीक्षा देने वाला और समुचित पथ-प्रदर्शन करने वाला कोई व्यक्ति नहीं था। समाचारपत्र ही उनका मार्ग-दर्शन करने वाले थे। अखबारों से उन्हें महाराष्ट्र, बंगाल, पंजाब के क्रान्तिकारियों की खबरें मिलती थीं। उनसे तथा आर्यसमाज की शिक्षाओं से उन्हें इस बात की प्रेरणा मिली कि देश को शीघ्र ही स्वतन्त्र कराने के प्रबल प्रयत्न किये जाने चाहिएँ। इस उद्देश्य की

पूर्ति के लिए उन्होंने उत्तरप्रदेश में एक क्रान्तिकारी दल बनाने का संकल्प किया, क्योंकि उन दिनों यहाँ कोई ऐसा स्वतन्त्र संगठन नहीं था।

मुगल बादशाह औरंगजेब के साथ संघर्ष करके महाराष्ट्र में स्वतन्त्र साम्राज्य स्थापित करनेवाले वीर योद्धा के नाम पर उन्होंने **शिवाजी समिति** की स्थापना की। इसका उद्देश्य था कि जिस किसी उपाय से भी सम्भव हो, भारत को अंग्रेजों के साम्राज्य-वादी चंगुल से मुक्त किया जाय; शिवाजी ने जैसी लड़ाई मुगलों के प्रभुत्व से मातृभूमि को मुक्त कराने के लिए की थी, वैसी लड़ाई अंग्रेजों के खिलाफ लड़ी जाय। उनकी यह योजना थी कि एकसाथ बारह जिलों के जिलाधीशों तथा पुलिस अधीक्षकों की हत्या करके तहलका मचा दिया जाय। इसके लिए उन्हें साथियों और सहयोगियों की आवश्यकता थी। उन्हें विश्वास था कि पराधीनता के कष्टों को तीव्रता से अनुभव करने वाला शिक्षित वर्ग उनकी सहायता करेगा। किन्तु जब उन्होंने साक्षर जनता से इस उदात्त उद्देश्य में सहयोग देने को कहा तो उन्हें यह जानकर बड़ी निराशा हुई कि पढ़े-लिखे लोग सरकारी नौकरियों तथा धन कमाने के पीछे पागल हैं; उन्हें देश-सेवा या मातृभूमि को स्वाधीन कराने में कोई दिल-चस्पी नहीं है। वे देश की उन्नति नहीं, अपितु केवल अपनी उन्नति करना चाहते हैं। श्री दीक्षित को इस बात से बड़ी व्यथा हुई कि शिक्षित व्यक्ति अतीव स्वार्थी हैं, देश की उन्नति को अपनी उन्नति नहीं समझते हैं और उसके लिए कोई कष्ट उठाने को तैयार नहीं हैं।

शिक्षित वर्ग से हताश होकर उन्हें एक निराली बात सूझी। उनका ध्यान चंबल और यमुना के बेहड़ों में रहने वाले डाकुओं की ओर गया। उन्होंने देखा कि ये डाकू अतीव निर्भीक और साहसी हैं; बन्दूक, पिस्तौल आदि हथियारों का बड़ा अच्छा प्रयोग करना जानते हैं; अतः उन्होंने इन डाकुओं को लेकर क्रान्तिकारी संगठन बनाने की बात सोची। ऐसा संगठन बनाने का प्रयास किया, किन्तु यह सफल नहीं हो सका। इसका बड़ा कारण यह था कि डाकू बहादुर अवश्य थे, किन्तु यह बहादुरी धन के लालच से किये जाने वाले डाकों तक ही सीमित थी जिसमें उन्हें ठोस लाभ की आशा होती थी। वे देशसेवा के लिए आजीवन भूखे मरने वाले तथा भीषण कष्ट उठाने वाले क्रान्तिकारी नहीं बन सकते थे।

प्रथम विश्वयुद्ध (१९१४-१८ ई०) के दिनों में दीक्षित ने औरैया (जिला इटावा) के डी० ए० वी० स्कूल में प्रधानाचार्य का काम करते हुए अपने शिष्यों में देशभक्ति की भावना भरने तथा उनसे क्रान्तिकारी संगठन बनाने का प्रयास किया। मैनपुरी षड्यन्त्र-केस में सरकारी गवाह बनने वाला प्रभुदयाल उनका शिष्य था। उसने अपनी गवाही में बताया था कि वे इस लड़ाई को स्वतन्त्रता-प्राप्ति का स्वर्ण अवसर समझते थे।[1] अपने शिष्यों को क्रान्ति का पाठ पढ़ाते थे, शस्त्रों की प्राप्ति तथा चलाना सीखने के लिए जून १९१५ ई० में ग्वालियर गये। वहाँ भिण्ड थाने के क्षेत्र में पारागाँव के एक निवासी इन्हें बड़ी कठिनाई से हथियार चलाना सिखाने को तैयार हुए। वहाँ से कुछ शस्त्र खरीद-कर उन्हें गिरहाने में छिपाकर ये ब्रिटिश प्रदेश में लाये। नवम्बर १९१५ ई० में इन्होंने प्रभुदयाल को इस उद्देश्य से कलकत्ता भेजा कि वह वहाँ बम बनाने की शिक्षा प्राप्त करे, किन्तु इसमें सफलता नहीं मिली। अपने परिचित ब्रह्मचारी लक्ष्मणानन्द के माध्यम से

---

१. मैनपुरी केस पत्रावली संख्या ५, पृ० ६-१०, राजकीय अभिलेखागार उत्तरप्रदेश, लखनऊ

नेपाल से सहायता लेने का प्रयास किया, जर्मनी जाने तक की विलक्षण योजना बनायी, अपना नाम लड़ाई के लिए भर्ती किये जाने वाले रंगरूटों में लिखाया, फौज में भर्ती हुए कि लड़ाई में जब जर्मनी भेजे जायेंगे तो जर्मन सेना के साथ मिल जायेंगे। इनके ताऊ पण्डित लल्लू प्रसाद ने इसकी सूचना कलेक्टर तथा भर्ती करने वाले अधिकारी को दी तथा उसने इनकी भर्ती का फार्म रद्द कर दिया।[1] इनकी यह भी योजना थी कि यह जापान या अमरीका जाकर किसी हथियार बनाने वाले कारखाने में भर्ती हो जायँ। ये योजनायें सफल न होने पर ये सावरकर और तिलक से मिलने बम्बई और पूना भी गये।

मातृवेदी संस्था—इस दौड़धूप में कोई सफलता न मिलने पर नवम्बर १९१७ में श्री दीक्षित इलाहाबाद आये। वहाँ अपने शिष्य प्रभुदयाल से पुनः सम्पर्क स्थापित किया और उसे अपने गुप्त संगठन का सदस्य बनने की प्रेरणा की। इस संगठन का नाम 'मातृवेदी संस्था' था। इसका उद्देश्य मातृभूमि की बलिवेदी पर प्राण निछावर करने वाले ऐसे नवयुवकों की टोली तैयार करना था, जो स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए संघर्ष करे। मैनपुरी षड्यन्त्र केस में सरकारी गवाह सोमदेव ने इस संस्था की गतिविधियों पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि यह चार प्रकार के कार्यकलाप करती थी[2]—

(१) साहित्य का प्रचार—सरकार-विरोधी कवितायें, पुस्तिकायें तथा परचे छापना।

(२) सैनिक विभाग—इसका काम था हथियार एकत्र करना, सदस्यों को इन्हें चलाने का प्रशिक्षण देना, डकैतियाँ डालना, ब्रिटिश सेना के भारतीय सैनिकों में बगावत की भावना उत्पन्न करना।

(३) गुप्तचर विभाग—विभिन्न छावनियों में गोरे सैनिकों की संख्या पता करना, शस्त्रागारों और कोषागारों का पता लगाना, डकैती योग्य व्यक्तियों तथा स्थानों का पता करना।

(४) शिल्पकारी विभाग—भारतीय उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, बम तथा विस्फोटक सामग्री बनाने की कला की शिक्षा।

इस गुप्त संस्था ने भारतीय जनता में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध तीव्र रोष और असन्तोष की भावना उत्पन्न करने के लिए दो प्रकार के साहित्य का प्रकाशन किया—(क) पोस्टर तथा पर्चे, (ख) पुस्तकें।

(क) उत्तरप्रदेश के विभिन्न जिलों के प्रमुख स्थानों पर चिपकाये जाने वाले देशभक्ति के भावों से परिपूर्ण तथा अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह भड़काने वाले अनेक पोस्टर तैयार किये गये और १९१८ ई० के आरम्भ में संयुक्त प्रान्त के विभिन्न शहरों में लगाये गये। इनमें जनता को ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध बगावत करने की प्रबल प्रेरणा दी गयी थी। मैनपुरी षड्यन्त्र केस के न्यायाधीश ने इन पर्चों को अत्यधिक राजद्रोहपूर्ण बताया था। इनका स्वरूप अग्रांकित पोस्टर से स्पष्ट हो जाएगा। इसका श्रीगणेश आर्यसमाज

---

१. युवक शहीद स्मृति अंक, सितम्बर-अक्तूबर १९६९, पृ० ६५

२. मैनपुरी केस पत्रावली, वही

में प्रचलित ईश्वर के प्रमुख नाम ओंकार से किया गया था तथा साथ ही बंकिम के आनन्द-मठ में वर्णित क्रान्तिकारियों के सुप्रसिद्ध नारे का उल्लेख था—

ओ३म्

वन्देमातरम् वन्देमातरम्

(१) स्वदेशाभिमानियों के नाम सन्देश

वीरो, आगे बढ़ो और फोर्ट विलियम का किला (कलकत्ते में ब्रिटिश शासन का केन्द्र) छीन लो। इस देश में कितने अंग्रेज हैं? प्रिय देशवासियो, इन्हें जल्दी से पकड़ लो। हम सब यह बात अच्छी तरह से जानते हैं कि सोने की चिड़िया कहलाने वाली हमारी स्वर्णभूमि भारत पिछले छः सौ वर्षों से विदेशियों के अत्याचारों से पीड़ित हो रही है। ४ या ५ सौ वर्षों तक यवन (मुसलमान) हमारी मातृभूमि पर भीषण अत्याचार करते रहे। उन्होंने केवल हमारे भौतिक शरीरों को ही कष्ट पहुँचाया, किन्तु अपनी सभ्यता का अभिमान करने वाले अंग्रेजों ने सौ वर्ष के भीतर ही हमसे हमारी सब वस्तुयें छीन ली हैं। उन्होंने हमारी सम्पत्ति छीनकर इंग्लैण्ड पहुँचा दी है। हमारी महत्ता और गरिमा का नाश कर दिया है। हमें नामर्द बना दिया है। हम सब उनके राजनैतिक ढोंग या गुप्त कूटनीति का शिकार हो गये हैं। उन्होंने झूठे प्रलोभनों में फँसाकर हमें बेवकूफ बना दिया है और चारों ओर ऐसा जाल बिछा दिया है कि हमें हर पग पर काँटे चुभते हैं। किसी व्यक्ति ने इस विषय में सत्य ही कहा है—

> "आपने भारत की जनता को अपने प्रेम में मोहान्ध बनाकर उन्हें मार डाला है। आप हमारे आराध्य देव बन गये हैं, आपने हमें पहले अपना भक्त बनाया और फिर मार डाला। आपका वध कितना भयंकर था! आपने पहले हमें अपना बनाया और फिर मार डाला। जो व्यक्ति मरणासन्न थे, उन्हें बार-बार जिलाया और फिर मार डाला।"

अब भी हमें इसी प्रकार से स्वराज्य का प्रलोभन दिया जा रहा है। किन्तु आप यह स्मरण रखिये कि कोई भी देश अब तक तलवार पकड़े बगैर न तो स्वतंत्र हुआ है, न कभी स्वतंत्र होगा। अब अपने देश से प्रेम करनेवालों को अपने देश की रक्षा के लिए वीर शिवाजी और प्रताप की भाँति तलवारें अपने हाथ में लेनी चाहिएँ और इस पद्य में कही गयी बात का प्रचार करना चाहिए—"अंग्रेजों को मार दो और उनकी खालों में भुस भर दो।" भारत के बहादुर नर-नारियो, आपमें से प्रत्येक को अब यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि जब तक आप दुष्ट, बेईमान, चालाक, धोखेबाज और धूर्त अंग्रेजों को, जो हमारे भारत पर अत्याचार कर रहे हैं, देश से बाहर नहीं भगा देंगे, तब तक आप अपने सभी प्रियतम कार्यों का परित्याग कर देंगे और अपनी सभी शक्तियाँ केवल इस एक कर्तव्य को पूरा करने में लगा देंगे और उन्हें (अंग्रेजों को) यह स्पष्टरूप से बता देंगे कि अब आप उनकी धूर्ततापूर्ण चालाकियों से कभी नहीं ठगे जायेंगे और आपका एकमात्र लक्ष्य और उद्देश्य सदैव यह होगा कि आप उनको पूरी तरह से नेस्तनाबूद कर देंगे।

सब भारतवासियों को अब एकस्वर से यह घोषणा करनी चाहिए—"अब से हिन्दुस्तान वास्तव में सच्चा हिन्दुस्तान होगा।" अखिल भारतीय क्रान्तिकारी समिति के इस पर्चे की कापियाँ लखनऊ, इलाहाबाद, कानपुर, आगरा, मथुरा, बरेली, फैजाबाद,

शाहजहाँपुर, तिलहर, पोवैया, इटावा, गोंडा, मिर्जापुर, सुलतानपुर, हरदोई में पहली मार्च १९१८ ई० की रात में चिपकाई गयीं। इससे पहले सर्वप्रथम मैनपुरी में ये पर्चे २८ फरवरी की रात में लगाये गये और बस्ती में ऐसे ही पर्चे २ मार्च को लगाये गये। मैनपुरी से इन पर्चों की प्रतियाँ डाक द्वारा मेरठ, एटा और फतेहगढ़ जिलों में वितरण के लिए भेजी गयी थीं। मेरठ में चिपकाये गये और मैनपुरी से डाक से भेजे गये पत्रों के ऊपर रबर की मोहर द्वारा ये शब्द अंकित किये गये थे—"अंग्रेजों को मारो और आजाद हो जाओ।" इस मामले में सरकारी गवाह बनने वाले दलपत के अनुसार यह कार्य मैनपुरी के मिशन हाई स्कूल के बोर्डिंग हाउस में किया गया था।

इस संस्था का दूसरा कार्य राजद्रोह का प्रचार करने वाली पुस्तकों का प्रकाशन था। मार्च १९१८ में इस मामले में सरकारी गवाह बननेवाले सोमदेव के बयान के अनुसार लखनऊ में—"**अमरीका को स्वाधीनता कैसे मिली**" इस नाम की एक पुस्तक छापी गयी। इसका संकलन एक पुरानी पुस्तक—"**अमरीका की स्वतन्त्रता का इतिहास**" के आधार पर किया गया था। इसको मुहम्मद मूनिस ने लिखा था और गंगासिंह ने इसमें अंग्रेजी उद्धरणों को बढ़ाया था। इस पुस्तक में भारतीयों को अमरीकावासियों के उदाहरण का अनुसरण करते हुए तलवार की ताकत से स्वतन्त्रता पाने के लिए भड़काया गया था। यह बात इसके मुखपृष्ठ की निम्नलिखित पंक्तियों से भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है—

"बहादुर भारतीयो उठो, हथियार लो, अपनी तलवारें म्यानों से बाहर निकालो, आगे बढ़ो, साहस करो, विजयश्री प्राप्त करो अथवा लड़ते हुए रणभूमि में अपने जीवन का बलिदान कर दो। विदेशी शासन हमारे देश में दुर्भिक्ष तथा अन्य सभी प्रकार के दुःखों का मूल कारण है। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए तलवार उठाने में कोई पाप नहीं है।" इसमें बनारस षड्यन्त्र केस में सरकारी गवाह बनने वालों को देशद्रोही बताया गया था। यूरोप के देशों की बड़ी निंदा की गयी थी और यह कहा गया था कि वे किसी भी प्रकार का पाप तथा घृणित से घृणित धोखेबाजी करने में कोई संकोच नहीं करते हैं। दूसरों को ठगना उनका सामान्य कार्य है। इसी प्रकार की धोखाधड़ी से उन्होंने भारत में अपनी शक्ति का प्रसार किया है। इंग्लैण्ड में रहने वाला एक अव्वल दर्जे का धूर्त अपने को सब भारतीयों का सर्वोच्च शासक समझता है और हिन्दुस्तानियों को अपना गुलाम मानता है। कोई बीच का रास्ता नहीं है। वैधानिक आन्दोलन बेकार है। जब इंग्लैण्ड ने अमरीका के अपने सगे-सम्बन्धियों को बिना किसी संघर्ष के और रक्तपात के स्वतन्त्रता नहीं प्रदान की तो अंग्रेजों से कोई सम्बन्ध न रखने वाले भारतीय उनसे स्वतन्त्रता पाने की आशा कैसे रख सकते हैं? इस पुस्तक की समाप्ति इन पंक्तियों के साथ की गयी थी—"हम इस बगीचे को बर्बाद करने वाले को कड़ा सबक सिखायेंगे।" इस पुस्तक की दो हजार प्रतियाँ छापी गयी थीं और यह इस संस्था के सदस्यों द्वारा मैनपुरी, शाहजहाँपुर तथा अन्य स्थानों में बेची गयी थीं। उत्तरप्रदेश की सरकार ने २४ सितम्बर १९१८ ई० की तथा दिल्ली सरकार ने ३ अक्टूबर १९१८ ई० की विज्ञप्ति द्वारा इस पुस्तक को जब्त किया था। इस पुस्तक की कुछ प्रतियाँ दिसम्बर १९१८ ई० में हुई दिल्ली कांग्रेस में उस समय जब्त की गयी थीं जब ये षड्यन्त्रकारियों तथा अन्य पुस्तक-विक्रेताओं द्वारा यहाँ बेची जा रही थीं।

इस संस्था के सदस्यों ने अनेक कवितायें बनायी हुई थीं और इनको वे प्रायः पढ़ा करते थे। ये कवितायें अनेक षड्यन्त्रकारियों के पास पायी गयी थीं। ऐसी कविताओं के दो उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(क) देशवासियों की प्रतिज्ञा—"मैं तब तक चैन से नहीं बैठूंगा जब तक भारत को स्वतन्त्र नहीं करा दूंगा और उसे उसकी पुरानी गरिमा से मण्डित नहीं कर दूंगा और शत्रु से कोहनूर नहीं छीन लूंगा। यदि मैं यह कार्य न कर सका तो अपना सिर काट दूंगा, नदी में डूबकर अथवा अग्नि की ज्वालाओं में जलकर मर जाऊँगा। गोरे व्यक्तियों को पकड़कर मैं उनको पूरी तरह नष्ट कर दूंगा, उनके सिर काट दूंगा, उनको साँपों से भरे अँधेरे कुँओं में फेंक दूंगा और उनका वध कर दूंगा। जो व्यक्ति भारतीयों को अण्डमान भेजते हैं अथवा फाँसी की सजा देते हैं, उनपर पिघला सीसा डाल दूंगा। गिरमिटिया (शर्तबन्द मजदूरों) की परिपाटी को तलवार से बन्द कर दूंगा। इस काम में मुझे जो मारेंगे, मैं उन्हें मार दूंगा। अपनी स्वाधीनता की घोषणा करूंगा और शक्ति-संचय कर इंग्लैण्ड को जीतूंगा और अंग्रेजों के हाथों में हथकड़ियाँ डालूंगा। उन्हें रायबहादुर का खिताब देकर उनसे साँप जैसा व्यवहार करूँगा। उन्होंने जिस प्रकार हमारा खून चूसा है उसी प्रकार मैं उनका खून चूसूंगा और उन्हें चटनी बना दूंगा।"

(ख) एक अन्य कविता इस प्रकार थी—

ओ अत्याचारी रक्त पिपासु लोगो, भारत से भाग जाओ, यहाँ मत रुको, अब हम सब जाग गये हैं। अब हम तुम्हारी चालबाजियों से गुमराह नहीं होंगे। ओ अत्याचारियो, अब तुम्हारे काम का तुम्हें पूरा बदला देंगे। तुमने हमें पैर से कुचलकर धूल में मिला दिया है। कई बार तुमने हमें घूंसों से, कोड़ों से, जूतों से मारा है; जब हम सत्य बोलते हैं तो हमें फाँसी पर लटका दिया जाता है। अब हम तभी चैन लेंगे, जब हम तुम्हें मार देंगे।

हिन्दुओ, मुसलमानो और बौद्धो, सब संगठित हो जाओ। एक होकर रणक्षेत्र में प्रवेश करो। जब तक हम अपना राज्य वापिस नहीं ले लेंगे, तब तक हथियार नहीं रखेंगे। हम बम फेंकेंगे, छुरों का इस्तेमाल करेंगे और असफल कभी नहीं होंगे। तुम देखोगे कि हम जल्दी ही तुम्हें देश से बाहर भगा देंगे।

तुमने हमें पिंजड़े में कैद कर रखा है। अब तुम्हें सताया जायेगा। तुम हमें फाँसी पर लटका सकते हो, लेकिन हम मृत्यु से नहीं डरते हैं। भगवान् एक दिन हमारी बात सुनेगा। आत्मा अमर है।"

एक अन्य कविता में यह कहा गया था कि—"हम खून की होली खेलेंगे, क्योंकि कन्हाई (बंगाल की जेल में सरकारी गवाह नरेन्द्र नाथ गोस्वामी की हत्या करने वाला क्रान्तिकारी कन्हाई दत्त)ने बंगाल में ऐसी होली खेली थी। अब बरसाना की होली कोई नहीं खेलेगा।" यह कविता अभियुक्त लालमन के पास से पायी गयी थी। इसमें वर्णित राधा की जन्मभूमि बरसाना अपनी लट्ठमार होली के लिए न केवल ब्रजभूमि में, अपितु समूचे उत्तर भारत में प्रसिद्ध है। इस कविता का यह अभिप्राय था कि अब लाठियों से खेली जाने वाली होली से काम नहीं चलेगा, उपर्युक्त कविता में कन्हाई की भाँति हमें पिस्तौल, राइफल, बम आदि शस्त्रों से खेले जाने वाले फाग से अंग्रेजों को भारत से बाहर भगाना होगा।

(२) गिरफ्तारी

इस गुप्त संस्था के उद्देश्य बड़े उदात्त थे, किन्तु इनको पूरा करने के लिए सदैव धन की कमी बनी रहती थी। पहले तो सर्वसम्मति से यह निश्चय किया गया कि सब सदस्य अपना सारा धन मातृवेदी को अर्पण कर दें। इसके सभी सदस्य निम्न-मध्य वर्ग के थे। उनके पैसे से देर तक काम नहीं चल सका। इसके बाद धनी व्यक्तियों के घर पर डकैती डालने की योजना बनी। श्री दीक्षित ने कहा कि ऐसा करते हुए इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि कोई जनहत्या न हो। इस कार्य के लिए मैनपुरी को उपयुक्त समझा गया। दुर्भाग्यवश इसमें कोई धनप्राप्ति नहीं हुई। इसके बाद श्री दीक्षित ब्रह्मचारी लक्ष्मणानन्द से मिलने ग्वालियर चले गये। यहाँ भिण्ड में ये ब्रह्मचारी के साथ पुलिस की मुठभेड़ में गिरफ्तार कर लिये गये। अगले दिन इन्हें भिण्ड से ग्वालियर के किले में ले जाया गया। इन पर मुकद्दमा चलाया गया। यद्यपि इनके विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं थे, कोई गवाह इनकी शनाख्त नहीं कर सका, फिर भी इन्हें कारावास की लम्बी सजा दी गयी।

इसी बीच में पुलिस ने मैनपुरी में डाली गयी उपर्युक्त डकैती के सिलसिले में कुछ गिरफ्तारियाँ कीं। सोमनाथ शर्मा तथा रामनारायण पाण्डे को सरकारी गवाह बना लिया। सोमनाथ ने यू० पी० की पुलिस को बताया कि इस डकैती को डालने वाले दल का नेता पण्डित गेन्दालाल दीक्षित ग्वालियर में बंदी है। पुलिस ने ग्वालियर के महाराजा से इस मुकद्दमे के लिए श्री दीक्षित को उन्हें सौंपने की माँग की। इस समय जेल में बहुत बुरा भोजन तथा कठोर यातनाओं से दीक्षित क्षयरोग से पीड़ित थे। यू० पी० पुलिस ग्वालियर जाकर उन्हें मैनपुरी ले आयी और हवालात में उनके साथियों के साथ बन्द कर दिया।

उस समय मैनपुरी षड्यन्त्र केस के मुखबिर सोमनाथ तथा रामनारायण पाण्डे डी० एस० पी० के बंगले में नजरबन्द थे। पुलिस अधीक्षक अगले दिन जब हवालात में दीक्षित से मिला तो उसने कहा कि आपने इन लड़कों को बेकार बन्द कर रखा है। मैं आपको अपने उन साथियों के नाम बताऊँगा, जो बंगाल, बिहार, पंजाब, राजपूताना, बम्बई, पूना आदि में हैं। साहब ने समझा कि यह ग्वालियर की जेल-यातनाओं से परेशान हो चुका है, अपना छुटकारा जल्दी कराना चाहता है, इससे सरकार को क्रान्तिकारियों की पूरी जानकारी मिल जायेगी और यह सरकारी गवाह बन जायेगा। यह सोचकर इनकी पैरों की बेड़ियाँ कटवा दी गयीं। इन्हें डी० एस० पी० के बंगले पर उसी कमरे में ले जाया गया, जहाँ पहले दो सरकारी गवाह सोमनाथ शर्मा और रामनारायण पाण्डे नजरबन्द थे। वहाँ जाकर दीक्षित ने दोनों को प्रेरणा की कि वे सरकारी गवाह न बनें और उनके साथ वहाँ से भाग चलें ताकि इनके साथियों की जान बच सके। सोमनाथ इसके लिए तैयार नहीं हुआ, अतः रात २ बजे ये रामनारायण के साथ फरार हो गये और कई दिन तक जंगलों में भटकते हुए अपने गाँव मई में पहुँचे। इस समय तक इनको क्षयरोग ने बिल्कुल जीर्ण और जर्जर कर दिया था। इनके भाई शिवदयाल दीक्षित इन्हें भाभी के साथ इलाज के लिए आगरा से दिल्ली ले गये। १२-१२-१९१९ को इन्हें इरविन अस्पताल में दाखिल कराके ये भाभी को धर्मशाला में ठहराने गये। कुछ समय बाद जब ये वापिस

लौटे तो उन्होंने देखा कि श्री दीक्षित का स्वर्गवास हो चुका है।[1]

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि मैनपुरी षड्यन्त्र केस में संयुक्त प्रान्त में सम्भवतः सर्वप्रथम अलीगढ़ में १९०८ ई० में राजद्रोह के अपराध में आजीवन कारावास तथा काले पानी का दण्ड भोगने वाले आर्यसमाजी श्री होतीलाल वर्मा का उल्लेख हुआ। इस मामले के एक अभियुक्त शिवकृष्ण के बक्से की तलाशी से प्राप्त एक अन्य अभियुक्त देवनारायण द्वारा लिखा एक पत्र पेश किया गया था। इसमें यह उल्लेख था कि वह एक ऐसे विद्यार्थी के विचार क्रान्तिकारी बनाने में लगा हुआ है, जिसे महात्मा होतीलाल वर्मा के साथ सम्बद्ध होने का गौरव प्राप्त है। इस मामले की जाँच के लिए सरकार की ओर से विशेष अधिकारी के रूप में नियुक्त तथा संयुक्त प्रान्त में आर्यसमाज की राजद्रोही गतिविधियों पर गोपनीय पुस्तक लिखने वाले उपपुलिस अधीक्षक श्री सी० ई० डब्ल्यू० सैण्ड्स ने इस विषय में अदालत में गवाही देते हुए श्री होतीलाल वर्मा के तथ्य को प्रमाणित किया था।[2]

मैनपुरी षड्यन्त्र केस में जिन अन्य क्रान्तिकारियों को लम्बे कारावास के दण्ड मिले, उनमें पाण्डे दम्मीलाल, श्री कठोरीलाल तथा चौबे सिद्धगोपाल प्रमुख थे। वे सभी आर्यसमाज की विचारधारा से प्रभावित थे, और मैनपुरी के प्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता बाबू श्यामसुन्दर लाल के सम्पर्क में आकर ये आर्यसमाज के कार्यकलाप में भाग भी लिया करते थे।

(३) क्रान्तिकारियों की प्रतिज्ञा

शिक्षित वर्ग में श्री दीक्षित को केवल एक ही शिष्य पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल मिले। इन्होंने 'गुरु गुड़ चेला चीनी' की कहावत को सार्थक किया। मैनपुरी षड्यन्त्र-केस में दीक्षित के साथ इनके नाम भी गिरफ्तारी का वारण्ट निकला, किन्तु ये फरार हो गये और पुलिस इन्हें नहीं पकड़ सकी। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार द्वारा जब बन्दियों के लिए आम माफी की घोषणा हुई और उनकी गिरफ्तारी का वारण्ट रद्द हुआ तो ये प्रकट हुए और इन्होंने काकोरी काण्ड में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। इनके कार्य का आगे वर्णन किया जायेगा।

इस प्रसंग में यह उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है कि यहाँ श्री दीक्षित द्वारा तैयार की गयी क्रान्तिकारियों द्वारा ली जाने वाली प्रतिज्ञा का उल्लेख किया जाय। यह एक कविता के रूप में थी। सम्भवतः यह श्री बिस्मिल की रचना थी क्योंकि उनके दल में यही एकमात्र कवि थे, इसमें कुछ अन्य साथियों के सुझाव भी हो सकते हैं। यह इस दल के क्रान्तिकारियों तथा उस समय के देशभक्त आर्यसमाजियों के विचारों, विश्वासों पर सुन्दर प्रकाश डालती है। इसका अविकल रूप निम्नलिखित है—

है देश को स्वाधीन करना जन्म मम संसार में
तत्पर रहूँगा मैं सदा अंग्रेजदल-संहार में।

---

१. युवक—पूर्वोक्त अंक, पृ० ६९
२. मैनपुरी षड्यन्त्र केस पत्रावली संख्या ५, पृ० १७-१८

अन्याय का बदला चुकाना मुख्य मेरा कर्म है,
मद-दलन अत्याचारियों का यह प्रथम शुचि कर्म है।
मेरी अनेकों भावनायें उठ रहीं हृद्-धाम में,
बस शान्त केवल कर सकूँगा मैं उन्हें संग्राम में।
स्वाधीनता का मूल्य बढ़कर है सभी संसार से,
बदला चुकेगा हरणकर्ता के रुधिर की धार से।
अंग्रेज का सिर सहित भक्ति जननी के अर्पण करूँ।
हो तुष्ट दुःशासन-रुधिर के स्नान से यह द्रौपदी,
हो सहस्रबाहु-विनाश से यह रेणुका सुख में पगी।
है कठिन अत्याचार का ऋण ब्रिटिश ने हमको दिया,
सह ब्याज उसके ऋण चुकाने का कठिन प्रण है किया।
मैं अमर हूँ मेरा कभी भी नाश हो सकता नहीं,
है देह नश्वर त्राण इसका हो कहीं सकता नहीं।
होते हमारे, मात जग में पददलित होगी नहीं
रहते करोड़ों पुत्र के जननी दुखित होगी नहीं।
उद्धार हो जब देश का इस क्लेश-कारागार से
भयभीत तब होंगे नहीं, हम जेल से, तलवार से।
रहते हुए तन, प्राण रण से मुख न मोड़ेंगे कभी
कर शक्ति है जब तक न अपने अस्त्र छोड़ेंगे कभी।
परतन्त्र होकर स्वर्ग में भी वास की इच्छा नहीं,
स्वाधीन होकर नरक में रहना भला उससे कहीं।
है स्वर्णपिंजर-वास अतिदुखपूर्ण सुन्दर कीर को,
वह चाहता स्वच्छन्द विचरण अतिविपिन गम्भीर को।
जंजीर की झंकार में शुभ गीत गाते जायेंगे,
तलवार के आघात में निज जय मचाते जाएँगे।
हे ईश, भारतवर्ष में शत बार मेरा जन्म हो
कारण सदा ही मृत्यु का देशोपकारक कर्म हो।[1]

---

१. मन्मथनाथ गुप्त—क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास, पृ० ११७-८

तेईसवाँ अध्याय

सरदार भगतसिंह के पूर्वज

भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन में सरदार भगतसिंह एक अतीव विशिष्ट स्थान रखते हैं। वे निःसन्देह इस आन्दोलन के अग्रगण्य और मूर्धन्य नेता थे। उन्होंने इस आन्दोलन को नई दिशा दी, नया आयाम, नये नारे और नवीन उद्देश्य प्रदान किये। उनका यह कार्य सर्वविदित है। किन्तु यह तथ्य बहुत ही कम व्यक्ति जानते हैं कि उन्हें क्रान्ति की यह विरासत अपने आर्यसमाजी पुरखों से मिली थी। उनके दादा सरदार अर्जुनसिंह, पिता सरदार किशनसिंह और चाचा सरदार अजीतसिंह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-संग्राम के योद्धा थे। उनकी क्रान्तिकारी साधना में आर्यसमाज का बड़ा योगदान है। इसी कारण वे राष्ट्रीय कार्यों की ओर अग्रसर हुए। यहाँ इन पर आर्यसमाज के प्रभाव की संक्षिप्त समीक्षा की जायेगी। भगतसिंह के ये पूर्वज महर्षि दयानन्द सरस्वती के प्रति आस्था रखते थे, और भारत के क्रान्तिकारी संघर्ष में इनका भी महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व था।

(१) सरदार अर्जुनसिंह

सरदार भगतसिंह के दादा सरदार अर्जुनसिंह को महर्षि दयानन्द के दर्शन करने का और भाषण सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे उनके उपदेशों से इतने मुग्ध हुए कि आर्यसमाजी बन गये। उनकी परपोती श्रीमती वीरेन्द्र सिन्धु ने लिखा है कि "वे उन थोड़े-से लोगों में से थे, जिन्हें ऋषि दयानन्द ने दीक्षा दी थी; यज्ञोपवीत अपने हाथ से पहनाया था। यह सरदार अर्जुनसिंह का सांस्कृतिक पुनर्जन्म था। मांस खाना उन्होंने छोड़ दिया। शराब की बोतल नाली में फेंक दी। हवनकुण्ड उनका साथी हो गया और सन्ध्या-प्रार्थना सहचरी। उनका जीवन पूरी तरह बदल गया था और यह बदल एक क्रान्तिकारी छलाँग थी···सचमुच सरदार अर्जुनसिंह का आर्यसमाजी होना एक बड़ा क्रान्तिकारी कदम था। इसे यों समझा जा सकता है कि किसी हिन्दू का आर्यसमाजी होना ही बड़ी बात थी, फिर सरदार अर्जुनसिंह तो सिख से आर्यसमाजी हुए थे। मन्दिर से ही आर्य-समाज का भवन काफी दूर था और वे तो गुरुद्वारे से चलकर आर्यसमाज-भवन पहुँचे थे जो और भी दूर था।"[1]

आर्यसमाजी बनने के बाद उन्होंने अपनी सन्तान को आर्यसमाजी स्कूलों में ही पढ़ाया। वे सम्भवतः पहले जाट सिख थे जिन्होंने बड़े और मँझले बेटे किशनसिंह और अजीतसिंह को साईंदास एंग्लो-संस्कृत हाईस्कूल जालन्धर में शिक्षा प्राप्त करने के लिए

---

१. वीरेन्द्र सिन्धु—युगद्रष्टा भगतसिंह और उनके मृत्युंजय पुरखे, वाराणसी १९६८ ई०, पृष्ठ ३, पूर्वजों का यह वर्णन प्रधान रूप से इसी पुस्तक पर आधारित है।

भेजा। वे यह चाहते थे कि उनके बेटों की शिक्षा-दीक्षा आर्यसमाजी वातावरण में हो और वे वहाँ स्वामी दयानन्द की शिक्षाओं और मन्तव्यों से भली-भाँति परिचित हो सकें। सरदार अर्जुनसिंह केवल इस बात से ही संतुष्ट नहीं थे, अपितु उन्होंने अपने जीवन का यह उद्देश्य बनाया कि वे महर्षि दयानन्द के मिशन को पूरी तरह समझें, उनके विचारों का मनन करें, इसके लिए उन्होंने आर्यसमाज के साहित्य का बड़ा गम्भीर अध्ययन किया। उनके इस विषय में किये गये स्वाध्याय की गम्भीरता का पता इस बात से चलता है कि सनातनधर्मी पण्डितों के साथ उन दिनों आर्यसमाज के मूर्तिपूजा और श्राद्ध जैसे विषयों पर पंजाब में जो शास्त्रार्थ होते थे, उनमें कई शास्त्रार्थों में उन्होंने आर्यसमाज के प्रमुख प्रवक्ता के रूप में भाग लिया और अपनी विलक्षण तर्क-पद्धति से प्रतिपक्षियों को निरुत्तर किया। उन्हें आर्यसमाज के उत्सवों में भाषण देने का शौक था। वे इसके लिए दूर-दूर तक जाया करते थे। अपने समय में वे अपने क्षेत्र के प्रमुख आर्यसमाजी नेताओं में गिने जाते थे और हर काम में उनकी सलाह मानी जाती थी।

दैनिक अग्निहोत्र का प्रेम—सरदार अर्जुनसिंह प्रतिदिन नियमपूर्वक दैनिक अग्निहोत्र करते थे और यात्रा में भी हवनकुण्ड सदा अपने साथ रखते थे। उन्होंने आजीवन अपने इस नियम को निबाहा। इस विषय में सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी यशपाल ने अपनी आत्मकथा—'सिंहावलोकन' में एक मनोरंजक संस्मरण लिखा है। यह उन दिनों का है जब वे इस शताब्दी के तीसरे दशक में असहयोग-आन्दोलन समाप्त होने के बाद नेशनल स्कूल में सरदार भगतसिंह के साथ पढ़ा करते थे और उनके पिता किशनसिंह इंश्योरेन्स कम्पनी के दफ्तर में काम करते थे। इसका कार्यालय लाहौर के लुहारी दरवाजे के भीतर बाजार में दुमंजिले पर अवस्थित था। यह उन दिनों भगतसिंह-परिवार के तथा उनसे मिलने वाले सभी व्यक्तियों का केन्द्र था। यहाँ सरदार अर्जुनसिंह के हवन-कुण्ड का अपमान करने पर किस प्रकार श्री यशपाल को सरदार भगतसिंह के पितामह द्वारा दुर्वचनों की वर्षा झेलनी पड़ी थी, इसका सुन्दर चित्र प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है—

"एक दिन हमारे (नेशनल) स्कूल में छुट्टी थी। दूसरे लोग मकान पर मौजूद नहीं थे। मैं अपनी सनक में मेज पर बैठा कोई लेख या कहानी लिख रहा था। मेज के नीचे टीन की क्या चीज पड़ी है, यह खयाल न करके उस पर जूते जमाकर रख लिये थे। अचेतन रूप से यही धारणा रही होगी कि रद्दी की टोकरी के तौर पर कोई डिब्बा है। लिखते समय विचारों को ठेलने के लिए मेज के नीचे उस टीन की चीज को जूते से एड़ दिये जा रहा था।

"जीने से भारी कदमों से धम्म-धम्म करते हुए एक वृद्ध सज्जन अपने ग्रामीण वेश में ऊपर दफ्तर में आ गये। मैंने नजर उठाकर उनकी ओर देखा और लिखने में तन्मय रहा। सरदारजी (किशनसिंह) के अनेक सम्बन्धी गाँवों में आते-जाते रहते थे। इन सज्जन की दाढ़ी खूब प्रशस्त, बर्फ की तरह श्वेत और चेहरा खूब तेजोमय गुलाबी रंग का था। मैंने उनकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। आगंतुक भी मुझसे आदर की अपेक्षा न कर एक कुर्सी खींचकर चुपचाप दीवार के साथ बैठ गये। मैं मालिक बना बैठा लिखता रहा और मेज के नीचे टीन की चीज पर जूते की ठोकरें भी जमाता रहा।

"अचानक वजनी गालियों से भरी एक करारी डाँट सुनकर आँख उठाकर देखा

कि वयोवृद्ध भव्य मूर्ति की आँखें लाल और चेहरा क्रोध से तमतमा उठा है और वे हाथ में थामी मोटी लाठी को फर्श पर ठोक रहे हैं—"गधा, उल्लू, नास्तिक, बदमाश सिर तोड़ दूँगा।" उनके हाथ की लाठी मेरे सिर पर पड़ा ही चाहती थी। वृद्ध ने अपने आवेश को कठिनता से वश में करके मेज के नीचे संकेत करते हुए फटकारा—"उल्लू, यही तेरी तमीज है?"

मेज के नीचे झाँककर देखा तो अपने जूतों के बीच पाया एक औंधा हवनकुण्ड। सब-कुछ समझ में आ गया। उपेक्षा के कारण पहचानने में भूल हुई थी। भगतसिंह से सुन रखा था कि दादाजी नित्य हवन करते हैं। जहाँ जाते हैं, पोटली में हवनकुण्ड और हवन-सामग्री बाँधकर ले जाते हैं।"[१]

आर्यसमाज के प्रभाव से उनमें उत्कट देशभक्ति की भावना उत्पन्न हुई। उनका सारा परिवार क्रान्तिकारी भावना से प्रभावित होकर राष्ट्रीय आन्दोलन में कूद पड़ा। उनका एक पुत्र भरी जवानी में शहीद हो गया, दूसरा देश से निर्वासित हो गया। तीसरा जीवन-भर राष्ट्रीय आन्दोलन में जुटा रहा। उन्होंने अपने बच्चों को आर्यसमाज एवं राष्ट्र-भक्ति की भावना से ओतप्रोत करने के लिए उनके वैदिक संस्कार किये। जब उनके बड़े पोतों—जगतसिंह और भगतसिंह का यज्ञोपवीत संस्कार हुआ तो उन्होंने एक को अपनी बाईं भुजा में और दूसरे को दाईं भुजा में भरकर यह संकल्प किया—"मैं अपने दोनो वंशधरों को इस यज्ञवेदी पर खड़े हो देश की बलिवेदी के लिए दान करता हूँ।" सरदार भगतसिंह के लिए उनका यह संकल्प अक्षरशः सत्य सिद्ध हुआ।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि जब सरदार भगतसिंह को क्रान्तिकारी कार्यों से विरक्त करने के लिए उनके पिता ने उन्हें विवाह करके सांसारिक बन्धन में बाँधना चाहा तो उससे बचने के लिए सरदार भगतसिंह ने अपने पिता को यही युक्ति दी थी कि दादाजी उपनयन-संस्कार के समय मुझे देश-सेवा के लिए दान कर चुके हैं, अतः मैं अब इसी कार्य में अपना पूरा जीवन लगाना चाहता हूँ।

(२) सिक्ख-हिन्दू धर्मों का समन्वय

वर्तमान शताब्दी के पहले दशक में जब पंजाब में राष्ट्रीय आन्दोलन प्रबल हुआ तो अंग्रेजों ने इसे कमजोर करने के लिए फूट डालने और राज्य करने की पुरानी नीति का अनुसरण किया; पंजाब के हिन्दुओं तथा सिक्खों में फूट डलवाने का पूरा प्रयास किया। उस समय तक सिक्ख और हिन्दू भाई-भाई समझे जाते थे। अब अंग्रेजों की प्रेरणा से सिक्खों के स्वतन्त्र धार्मिक अंग्रेज-परस्त संगठन—खासला दीवान बनाये जाने लगे, दरबार साहब से हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियों का निष्कासन किया गया और पटियाला में आर्यसमाजियों पर मुकद्दमा चलाया गया जो एक सिक्ख रियासत थी। यहाँ इस बात का प्रचार किया गया कि आर्यसमाजी सिक्खों के गुरुग्रन्थ साहब का अपमान करते हैं। अंग्रेजों का विचार था कि इससे दो काम एकसाथ होंगे—सिक्खों और आर्यसमाजियों में दुश्मनी पक्की हो जायेगी और रियासतों में आर्यसमाज जनजागरण का जो कार्य कर रहा है वह समाप्त हो जायेगा।

---

१. यशपाल—सिंहावलोकन, भाग १, इलाहाबाद १९७८, पृष्ठ २५

देश-भर में आर्यसमाजियों पर चलाये जाने वाले पटियाला अभियोग का उग्र विरोध हुआ। इसे जमकर लड़ा गया। इसके लिए जो बचाव-कमेटी बनाई गयी, उसमें सरदार अर्जुनसिंह ने प्रमुख भाग लिया। उन्होंने दूसरे पण्डितों के साथ मिलकर हिन्दुओं के कई ग्रन्थों और सिक्खों के गुरुग्रन्थ साहब के लगभग सात सौ ऐसे श्लोक पेश किये जो एक-जैसे थे और सिद्ध किया कि वेद और ग्रन्थ साहब एक हैं, समान रूप से समादरणीय हैं। इस प्रकार उन्होंने सिक्खों और हिन्दुओं में अंग्रेजों द्वारा चौड़ी की जाने वाली खाई को पाटने का भरसक प्रयास किया और यह बताया कि गुरुग्रन्थ साहब में वेदों का नामोल्लेख बार-बार किया गया है।

इस प्रसंग में एक बड़ा रोचक तथ्य यह है कि सरदार अर्जुनसिंह ने आर्यसमाज से मूर्तिपूजा के विरोध का विचार इतनी दृढ़ता से ग्रहण किया कि वे गुरुग्रन्थ साहब के आगे माथा टेकने को मूर्तिपूजा समझते थे और गुरुद्वारे में जाकर ऐसा नहीं करते थे। लायलपुर जिले में अपने बंगा गाँव में उन्होंने बहुमत का ध्यान रखते हुए गाँव में गुरुद्वारा बनाने में पूरा सहयोग दिया, किन्तु उसमें जाकर कभी ग्रन्थ साहब के सामने नतमस्तक नहीं हुए। वे कहा करते थे कि यह तो मूर्तिपूजा की तरह ही पुस्तक-पूजा है। उस समय आर्यसमाज हर प्रकार के अन्ध-विश्वास का विरोध कर रहा था। उनकी दृष्टि में गुरुग्रन्थ साहब की शिक्षाओं से लाभ उठाना विश्वास और उसकी पूजा करना अन्ध-विश्वास था। सनातनधर्मी पण्डितों के द्वारा धर्मपुस्तकों को चावल-चन्दन चढ़ाने का भी इसी प्रकार विरोध करते थे।

आर्यसमाज के प्रभाव से वे छुआछूत के कट्टर विरोधी बन गये। अछूतों के साथ वे अपने परिवार जैसा व्यवहार करते थे और लोगों में अस्पृश्यता के अन्ध-विश्वास को भी अपने निराले ढंग से दूर करने का प्रयास करते थे। इसका एक मनोरंजक उदाहरण उनकी परपोती ने देते हुए लिखा है कि—"एक बार ग्राम बंगा जिला लायलपुर से कुछ मेहमान ग्राम खासरिया जिला लाहौर गये। माताजी उन दिनों वहाँ थीं नहीं। घर में दस वर्ष की अमरकौर थी। घर का काम तो वह किसी-न-किसी तरह से चला लेती थी, पर इतने सारे मेहमानों का खाना बनाना उसके बस के बाहर की बात थी। इसलिए उसने एक हरिजन महिला को बुलाकर खाना बनवा लिया। इस पर उन मेहमानों ने ग्राम में आकर खूब हल्ला मचाया और उनके घड़े कुएँ पर से उठवाने की बात चलायी। उन्हीं दिनों गाँव में जोहड़ खुद रहा था। गाँव-भर के पुरुष श्रमदान में जुटे हुए थे। उन्हें खाना पहुँचाने की जिम्मेदारी सरदार अर्जुनसिंह ने ले ली। खाना जब तैयार हो गया तो उन्होंने भंगी के सिर पर लस्सी का एक मटका रखा और एक चमार के सिर पर एक दाल का मटका और एक अन्य चमार के सिर पर रोटियों का टोकरा। जोहड़ के करीब पहुँचकर एक झाड़ी की आड़ में तीनों से वह खाने का सामान रखवा लिया। सबको उन्होंने रोटी, दाल, लस्सी परोसी। जब सब खा चुके तो पूछा—"क्यों भाइयो, खाने का स्वाद तो नहीं बिगड़ा?" सबने खाने की तारीफ की। तब बताया कि यह खाना झगड़ू भंगी, चेता और छज्जू चमार अपने सिर पर रखकर लाये थे। अब चाहो तो सारे गाँव के घड़े कुएँ पर से उठवा लो। इस तरह उनके गाँव में एकसाथ छुआछूत दूर हो गयी।"

१९२० ई० में जब देश में गांधीजी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन शुरू हुआ तो इसमें भी वे अग्रणी रहे। उन्होंने गाँव-गाँव में घूमकर इसका प्रचार किया। उनका

सारा जीवन आर्यसमाज और देशसेवा के लिए समर्पित था। उनकी सबसे बड़ी खूबी यह थी कि न केवल उन्होंने स्वयमेव राष्ट्रीय जीवन में अपनी आहुति दी, अपितु अपनी दो अगली पीढ़ियों को भी राष्ट्रीयता और देशभक्ति के कार्य में लगाया। जीवन के अन्तिम वर्षों में उनपर लकवे का आक्रमण हुआ और मई १९४० ई० में वे अपने गाँव बंगा (जिला लायलपुर) में ही दिवंगत हुए।

(३) सरदार किशनसिंह

सरदार भगतसिंह के पिता सरदार किशनसिंह को बचपन से ही उनके पिता ने आर्यसमाजी वातावरण में शिक्षा दी। साईंदास एंग्लो-संस्कृत हाई स्कूल जालंधर में शिक्षा पाने के बाद उन्होंने अपना सार्वजनिक जीवन महात्मा हंसराज और लाला लाजपतराय के साथ आरम्भ किया। शुरू से ही उन्हें समाज-कल्याण के कार्यों में गहरी दिलचस्पी थी। पहले यह बताया जा चुका है कि पिछली शताब्दी के अन्तिम दशक में जब देशव्यापी दुर्भिक्ष पड़ा, उस समय लाला लाजपतराय ने आर्यसमाज की ओर से सहायता-कार्य का संगठन किया। इसमें उनके एक प्रमुख सहयोगी सरदार किशनसिंह थे। उनकी स्वाभाविक रूप से इस कार्य में रुचि थी। जब अखबारों में बरार मे भयंकर अकाल के समाचार प्रकाशित हुए तो लाहौर में लाला विश्वम्भर सहाय और लाला शिवराम वकील के साथ वे वहाँ गये। अकाल-पीड़ितों में सहायता-कार्य किया और उस के साथ वहाँ से बहुत-से अनाथ बच्चे अपने साथ वापिस लेकर आये। इन्हें फिरोजपुर अनाथालय में रखा गया। यह बात १८९८ ई० की है।

इसके दो वर्ष बाद १९०० ई० में गुजरात और काठियावाड़ में भीषण अकाल पड़ा। यहाँ पुनः उन्होंने सेवाकार्य किया। १९०४ ई० में कांगड़ा में भूकम्प आया। चारों ओर विध्वंस की ताण्डव-लीला हुई। इस समय लोगों को सहायता देने के लिये जो कमेटी बनायी गयी, सरदार किशनसिंह उसके मन्त्री चुने गये। १९०५ ई० में झेलम में भीषण बाढ़ आयी। कश्मीर की राजधानी श्रीनगर का जीवन अस्त-व्यस्त हो गया। यहाँ पुनः सरदार किशनसिंह ने अपनी सेवाएँ अर्पित कीं। वे काफी समय तक लाला लाजपतराय व आर्यसमाज के तत्त्वावधान में संचालित आर्य अनाथालय लाहौर के मन्त्री रहे।

सामाजिक कार्यों के अतिरिक्त, देशभक्ति की भावना से वे राजनीति की ओर आकृष्ट होने लगे और उनका दृढ़ विश्वास हो गया कि भारत की सब समस्याओं का एकमात्र हल राजनैतिक स्वतन्त्रता है। राजनीति में वे उग्रवादी थे। गरमदल के नेता लोकमान्य तिलक के व्यक्तित्व ने उन्हें बड़ा आकर्षित और प्रभावित किया। पंजाब में वे राजनैतिक आन्दोलन के महत्त्वपूर्ण कार्यकर्ता थे। यह कहा जाता है कि "उत्तर भारत में सूफी अम्बाप्रसाद इस आन्दोलन की आत्मा थे; लाला हरदयाल मस्तिष्क, सरदार अजीतसिंह हृदय और प्राण, सरदार किशनसिंह इसके भुजा थे। इसमें अन्य प्रमुख भाग लेने वाले थे—सरदार करतार सिंह केसरगढ़िया, लाला लालचन्द फलक, महाशय घसीटाराम, नन्दकिशोर मेहता, जियाउलहक, केदारनाथ सहगल, लाला पिण्डीदास।" उस समय उग्र राजनैतिक विचारों का प्रचार करने वाला एक दैनिक पत्र **'सहायक'** नाम से निकाला गया था। सरदार किशनसिंह उसके सम्पादक थे। इस आन्दोलन को चलाने और फैलाने का काम **'भारतमाता सोसायटी'** नामक संस्था कर रही थी। यह कहा जाता

था—"इसके जलसे में अपने भाषणों से आग लगाना सरदार अजीतसिंह का काम था, उसे गाँव-गाँव में फैलाने लायक बनाना सरदार किशनसिंह का और सब ओर इसका प्रचार करना इनके भाई सरदार स्वर्णसिंह का। तीनों भाई इस क्रान्ति-यज्ञ के ब्रह्मा, विष्णु और महेश थे।"

मई १९०७ ई० में सरकार ने पंजाब के किसान-आन्दोलन को दबाने के लिए सरदार अजीतसिंह को माण्डले (बर्मा) निर्वासित कर दिया। इस समय ब्रिटिश सरकार सरदार किशनसिंह पर भी कड़ी निगाह रखे हुए थी, किन्तु वे भागकर नेपाल चले गये। सूफी अम्बाप्रसाद और मेहता नन्दकिशोर उनके साथ थे। श्रीमती वीरेंन्द्र सिन्धु ने लिखा है—"खानदान के कागजों से पता लगता है कि नेपाल में वे शाही मेहमान हुए और उन्हें वर्फ बाग के उस भवन में ठहराया गया जहाँ कभी लार्ड किचनर को ठहराया गया था। उन्होंने नेपाल सरकार से भारत में क्रान्ति के लिए सेना और शस्त्र प्राप्त करने की बात की। इसी बीच में ब्रिटिश सरकार को इस बात का पता लग गया। उसने नेपाल सरकार पर दबाव डाला और उसने इन्हें ससम्मान भारत की सीमा तक पहुँचा दिया। भारत आने पर सरदार किशनसिंह पर डी० एस० पी० फिलिप पर हमला करने और सरकार के खिलाफ बगावत फैलाने के आरोप लगाये गये और मुकद्दमा चलाया गया। कुछ समय बाद ब्रिटिश सरकार की नीति में परिवर्तन आया। सरदार किशनसिंह को ५० हजार रुपये की जमानत पर छोड़ दिया गया। सरदार अजीतसिंह को माण्डले से रिहा किया और उनके छोटे भाई स्वर्णसिंह को पंजाब के चीफ कोर्ट ने जेल से छोड़ने का आदेश दे दिया। ये तीनों भाई एकसाथ नवम्बर १९०७ में जब रिहा हुए तो उसी दिन घर में भगतसिंह ने जन्म लिया।

सरदार किशनसिंह बड़ी सूझ-बूझ और खोज-खबर रखने वाले व्यक्ति थे। इसी समय उन्हें यह पता चला कि ब्रिटिश सरकार उनके भाई को दुबारा किसी बड़े चक्कर में फँसाने की बात सोच रही है। इस पर उन्होंने अजीतसिंह को तुरन्त विदेश जाने का परामर्श दिया और साथ ही सरकारी जासूसों की आँखों में धूल झोंकते हुए उनके बाहर जाने का प्रबन्ध भी किया। वे सूफी अम्बाप्रसाद तथा अपने कई साथियों के साथ कराची होकर ईरान पहुँच गये। उन दिनों यह कार्य उतना ही आश्चर्यजनक था जितना बाद में नेता सुभाषचन्द्र बोस का कलकत्ता से काबुल पहुँचना। इसी प्रकार सरदार किशनसिंह का दूसरा बड़ा कार्य सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी रासबिहारी बोस को पंजाब में छिपाना था। २३ दिसम्बर १९१२ को दिल्ली में लार्ड हार्डिंग पर बम फेंके जाने के बाद ब्रिटिश सरकार ने इस काण्ड के प्रधान सूत्र-संचालक एवं क्रान्तिकारी आन्दोलन के महान् नेता रासबिहारी बोस को पकड़ने के लिए दिल्ली और बंगाल में जब पूरी तरह अपना जाल फैला दिया और वहाँ पुलिस की निगाह से उनका बचना असम्भव हो गया तो वे पंजाब चले आए। यहाँ सरदार किशनसिंह ने उनके रहने का विलक्षण प्रबन्ध किया। कपूरथला के श्री रामशरण दास को इस बात के लिए प्रेरित किया कि उनकी पत्नी रासबिहारी के साथ उनकी श्रीमती बनकर रहे। रासबिहारी का नाम पंजाबी ढंग का रख दिया गया। पंजाबी वेषभूषा पहना दी गयी और वे इस प्रकार पुलिस की निगाहों से बचकर काफी समय तक वे पंजाब में क्रान्तिकारी आन्दोलन का काम करते रहे। इसी प्रकार की सहायता उन्होंने कामागाटामारू-काण्ड के विख्यात बाबा गुरुदत्तसिंह को काफी

समय फरार रहने में दी थी।

प्रथम विश्वयुद्ध के दिनों में जब अमेरिका से आने वाले गदर पार्टी के व्यक्तियों ने पंजाब में विद्रोह का कार्य आरम्भ किया तो उन्होंने इसमें भी पर्याप्त सहायता की। इस आन्दोलन में भाग लेने वाले करतारसिंह सराबा ने डी० ए० वी० कालिज लाहौर में भाषण दिये। भगतसिंह उनके व्यक्तित्व और बलिदान से इतने प्रभावित हुए कि वे उन्हें अपना गुरु मानने लगे।

ब्रिटिश सरकार ने कई बार उन्हें मुकद्दमे में फँसाया और कई वर्ष तक उन्हें जेल-यातना सहनी पड़ी। जेल में उन्होंने राजनैतिक बंदियों को सुविधा देने और उनके साथ मानवीय व्यवहार करने के लिए आन्दोलन चलाए और इसके लिए भीषण यातनाएँ सहीं। उन दिनों जेल सचमुच नरक हुआ करती थी। आजकल कैदी लम्बी-चौड़ी बैरकों में रहते हैं। ताला बैरक के दरवाजे पर लगता है। बन्दी को उसके भीतर घूमने-फिरने की पूरी स्वतन्त्रता होती है। उस युग में यह बात नहीं थी। कैदी के कब्रनुमा चबूतरे के ऊपर उसी साइज का एक लोहे का पिंजड़ा रहता था। कैदी उसमें लेट तो सकता था, पर बैठते समय उसे सिर इतना झुकाना पड़ता था कि वह उठे हुए घुटनों से लगा रहे। कैदी के पैर में लोहे के कड़े पड़े होते थे, लोहे की एक जंजीर इन कड़ों को इस पिंजड़े के चौखटे के साथ बाँधे रहती थी। जब जेल में किशनसिंह को उस जंगले में बंद होने को कहा गया तो उन्होंने इन्कार कर दिया। इस पर कैदी-वार्डरों के घूँसे-डंडे उनपर एकसाथ चलने लगे। किन्तु इस समय जेलर कुछ समझदार था। उसने उन्हें बैरक से हटाकर काल-कोठरी में रख दिया।

उनका दूसरा सत्याग्रह पगड़ी के लिए था। उन दिनों हर कैदी को सिर पर ओढ़ने के लिए एक टोपी मिला करती थी। सरदार किशनसिंह ने टोपी लेने से इन्कार किया। अपने धर्म के परम्परागत रिवाज के अनुसार पगड़ी की माँग की। जेल के इतिहास में यह अभूतपूर्व माँग थी। जेल के अफसर इसे मानने के लिए तैयार नहीं थे। किशनसिंह ने इस आन्दोलन को इस ढंग से चलाया कि अन्य जेलों के सिख बन्दी भी पगड़ी की माँग करने लगे। इस पर किशनसिंह को टिकटिकी से बाँधकर बेंत लगाने की भीषण सजा दी गयी। इसके बाद यद्यपि उन पर भीषण बेंतप्रहार से लकवे का आक्रमण हो गया, फिर भी 'तन टूटने पर भी उनका मन नहीं टूटा।' पगड़ी-आन्दोलन पंजाब की जेलों में इतना प्रबल हुआ कि अन्त में सरकार को झुकना पड़ा। उसने सिख कैदियों की यह माँग स्वीकार कर ली। इस विषय में उनके कर्तृत्व का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि "जेल-सुधार का जो आन्दोलन अण्डमान जेल में रामरक्षा और इन्दूभूषण की, रंगून जेल में उत्तमा फुंगी विजय की और लाहौर की जेल में यतीन्द्रनाथ की आहुति लेकर सफल हुआ, उसके आदिप्रवर्तक सरदार किशनसिंह ही थे। अंग्रेजी सरकार के किले की फौलादी दीवारों पर पहला हथौड़ा उन्होंने मारा था।"

देशसेवा का कार्य उन्होंने सदा वीतराग-वृत्ति और त्याग की भावना से प्रेरित होकर किया था और इसके लिए कभी किसी पुरस्कार की या लाभ की आकांक्षा नहीं की। यदि वह किसी ने देने का प्रयास किया तो उन्होंने इसे धन्यवादपूर्वक इन्कार कर दिया। इसका एक सुन्दर उदाहरण १९३७ ई० के चुनाव की घटना है। १९३५ ई० के भारत सरकार कानून के अन्तर्गत १९३७ ई० में प्रान्तीय असेम्बलियों के चुनाव हुए थे।

अमृतसर में सरकार के कट्टर समर्थक रायबहादुर बसाखासिंह ने कांग्रेस के उम्मीदवार को हरा दिया। किन्तु चुनाव-याचिका में रायबहादुर हार गये। दुबारा चुनाव होना था। रायबहादुर पुनः इसके लिए खड़े हुए। कांग्रेस की ओर से सरदार किशनसिंह को चुनाव लड़ने के लिए खड़ा किया गया। जनता उनके साथ थी। अमृतसर बार एसोसियेशन के प्रेसिडेंट श्री केशवराम सीकरी ने चुनाव-कार्य के लिए उन्हें एक कार दी। कुछ दिनों तक सरदार किशनसिंह ने अपने निर्वाचन-क्षेत्र का तूफानी दौरा किया। जनता उनके साथ हो गई। वे चुनाव में विजयी हुए। उन्होंने गाड़ी चुनाव के बाद केशवराम सीकरी को धन्यवाद सहित लौटा दी और कहा—"आपकी कार हाजिर है।" सीकरी साहब ने उत्तर दिया—"यह मेरी नहीं, आपकी गाड़ी है। अब इसकी मुझे नहीं, आपको जरूरत है।" सरदार किशनसिंह ने वह गाड़ी पंजाब प्रान्त के कांग्रेस के दफ्तर में जाकर खड़ी कर दी और यह कहा कि यह गाड़ी सीकरी साहब ने कांग्रेस-चुनाव में दी थी, अब वे वापिस नहीं ले रहे हैं इसलिए यह कांग्रेस की है।" सांसारिक दृष्टि से समझदार व्यक्तियों ने कहा—"सरदार साहब पागल हो गये हैं जो घर आई गाड़ी को वापिस कर रहे हैं।" किन्तु उन्होंने अपनी पुरानी साइकिल को ही अपनी कार समझा। उनका यह त्याग वर्तमान युग में आश्चर्यजनक समझा जाएगा। उन्होंने राजनीति को कभी लाभ का साधन नहीं बनाया। यह सदा उनके लिए त्याग, बलिदान और सहिष्णुता की प्रतीक थी। बुढ़ापे में उन्हें अपने युवा बेटे भगतसिंह के बलिदान का भीषण आघात सहना पड़ा। अन्तिम दिनों में वे भी अपने पिता की भाँति लकवे का शिकार हुए। उन्होंने अपना सारा जीवन आरम्भ में आर्यसमाज द्वारा संचालित दुर्भिक्ष-निवारण के कार्यों में और बाद में क्रान्तिकारी कार्यों में लगाया। वे न केवल सरदार भगतसिंह के पिता होने के कारण, अपितु अपने उपर्युक्त देशभक्तिपूर्ण क्रांतिकारी कार्यों के कारण पंजाब के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में विशिष्ट महत्त्व रखते हैं।

(४) सरदार अजीतसिंह

आर्यसमाज में इनका नाम इसलिए उल्लेखनीय है कि १९०७ ई० में इन्हें लाला लाजपतराय के साथ माण्डले निर्वासित किया गया था। लालाजी कट्टर आर्यसमाजी थे और सरदार अजीतसिंह कट्टर आर्यसमाजी सरदार अर्जुनसिंह के बेटे थे। इनकी शिक्षा-दीक्षा आर्यसमाजी वातावरण में हुई थी और सरकार इन्हें आर्यसमाजी समझती थी। इन दोनों नेताओं के आर्यसमाजी होने के कारण तथा राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रमुख भाग लेने के कारण काफी समय तक आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था माना जाता रहा।

२३ फरवरी १८८१ ई० को खटकड़कलाँ (जिला जालंधर) में सरदार अजीतसिंह का जन्म हुआ। गाँव में ही उन्होंने प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा प्राप्त की। घर का वातावरण उग्र आर्यसमाजी था और उन दिनों आर्यसमाज का अर्थ था प्रबल देशाभिमान। इनके ताया सरदार सुर्जनसिंह पक्के अंग्रेजभक्त थे और अक्सर अंग्रेज कलेक्टर साहब से मिलने जाते थे और घर पर उनकी बड़ी चर्चा करते थे। उनकी बातों से प्रभावित होकर बालक अजीतसिंह के मन में साहब को देखने की बड़ी इच्छा पैदा हुई। एक दिन जब वे तायाजी के साथ साहब को देखने जालन्धर गये तो उनकी टूटी-फूटी

हिन्दी सुनकर उन्हें उनसे इतनी घृणा हुई कि वे बोले कि "यह क्या साहब हैं जिसे ठीक तरह से बोलना भी नहीं आता ?" यहीं से उनमें ब्रिटिश-विरोधी भावना पनपने लगी। कुछ दिन बाद जब साहब उनके गाँव में आकर तायाजी के पास ठहरे तो अजीतसिंह को साहब से इतनी नफरत हो चुकी थी कि उसने साहब को नमस्ते तक नहीं की। जब उसे इसके लिए डाँटा गया तो बालक ने उत्तर दिया "जिन्हें ठीक-ठीक बोलना तक नहीं आता, उन्हें मैं नमस्ते क्यों करूँ ?" इससे उनकी बचपन से ही अंग्रेजों से घृणा करने की भावना भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है।

गाँव के स्कूल की शिक्षा पूरी करने के बाद अजीतसिंह ने उस समय के सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी विद्यालय साईंदास एंग्लो-संस्कृत हाईस्कूल से १८९४ ई० में मैट्रिक परीक्षा पास की थी। सम्भवत: देशाभिमान या अन्य किसी कारण से इन्हें संस्कृत के उच्च अध्ययन में बेहद दिलचस्पी थी। इन्होंने इस बारे में अपने बड़े भाई सरदार किशनसिंह से परामर्श किया। वे इनकी शिक्षा का प्रबन्ध करने गुप्त रूप से बनारस भी गये। किन्तु बात खुल गयी और इनका परिवार इस बात से सहमत नहीं हुआ और पिता ने कानून की पढ़ाई के लिए अजीतसिंह को बरेली कालिज भेज दिया। किन्तु वहाँ कुछ समय बाद ये बीमार हो गये और घर वापिस लौट आये। लाहौर के डी० ए० वी० कालिज में पढ़ने लगे। यहाँ इन्होंने खूब राजनैतिक साहित्य का अध्ययन किया और राष्ट्रीय गतिविधियों में दिलचस्पी लेनी शुरू की। इन्हीं दिनों जब नरम दल के नेता गोपालकृष्ण गोखले लाहौर आये तो इन्होंने उनकी व्याख्यान-सभाओं को संगठित करने में अपनी योग्यता का सुन्दर परिचय दिया, किन्तु गोखले की वक्तृताओं ने इन्हें तनिक भी प्रभावित नहीं किया। ये गरम दल के विचारों के व्यक्ति थे। इनका यह कहना था कि "ऐसे भाषणों से स्वतन्त्रता कभी नहीं मिल सकती है। इसके लिए कठिन लड़ाइयाँ लड़नी पड़ेंगी।"

१८९६ ई० में उन्होंने इण्टर की परीक्षा पास की और स्कूल में अध्यापक बन गये। उन्होंने इस समय इस कार्य के साथ अंग्रेज अफसरों को हिन्दी, उर्दू, फारसी, पंजाबी भाषायें सिखाने का भी कार्य शुरू किया। ऐसा प्रतीत होता है कि बचपन से ही इन्हें विभिन्न भाषाओं के सीखने की और सिखाने की कला अच्छी आती थी। बाद में विभिन्न देशों में रहकर इन्होंने इटालियन, फ्रेंच, स्पेनिश आदि लगभग चालीस भाषाओं में बोलने की क्षमता प्राप्त की और चार-पाँच भाषाओं में लिख भी सकते थे। अंग्रेज अफसरों को इस प्रकार भाषाएँ सिखाने का उनका एक उद्देश्य यह भी था कि वे अंग्रेजों की मनोवृत्ति और जीवन-पद्धति का अध्ययन करें और यह पता लगायें कि अंग्रेजों के मन पर किस कार्य की क्या प्रतिक्रिया होती है ताकि "उसके हिसाब से हम पहले से ही अपनी ऐसी कार्य-पद्धति बनाएँ जो हमें उनके विरुद्ध क्रान्ति सफल बनाने में सहायक सिद्ध हो सकें।"

१९०३ में वायसराय लार्ड कर्जन ने दिल्ली में एक शानदार दरबार का आयोजन किया। इसमें देश-भर के प्राय: सभी प्रमुख राजा-रईस और नवाब आये और उन्होंने वायसराय को उसी अदब से सिर झुकाया जैसे वे पहले दिल्ली के मुगल सम्राटों के आगे सिज्दा किया करते थे। यह कहा जाता है कि इस अवसर पर अजीतसिंह दिल्ली आये और उन्होंने राजा-महाराजाओं से इस उद्देश्य से मिलने का प्रयास किया कि वे ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध क्रान्ति में उनके सहायक हो सकें। उस समय यह कठिन कार्य राजपण्डितों

के माध्यम से किया गया। सरकार को जब इसकी भनक पड़ी तो लार्ड कर्जन के उत्तराधिकारी लार्ड मिण्टो ने प्रमुख राजाओं को एक पत्र में यह निर्देश दिया कि वे अपने राज्यों में बढ़ती हुई अशान्ति और विद्रोह को दबायें। राजद्रोही अध्यापकों, समाचारपत्रों और दूसरे प्रचारकों को भीषण दण्ड दें।

राजनैतिक क्षेत्र में काम करते हुए भी अजीतसिंह ने आर्यसमाज के लिए बहुत-से ट्रैक्ट और पैम्फलेट लिखे। इनमें एक ट्रैक्ट—**विधवा की पुकार** बड़ा प्रसिद्ध हुआ। इनके बड़े भाई सरदार किशनसिंह हिन्दू अनाथालय के व्यवस्थापक थे। सरदार अजीतसिंह की भी अनाथों में राजनैतिक कारणों से गहरी दिलचस्पी थी। वे चाहते थे कि उन्हें इस ढंग से पाला-पोसा जाए कि ये देश की क्रान्तिकारी सेना के उपयोगी सैनिक सिद्ध हो सकें। एक बार जब सरदार किशनसिंह को मध्यप्रदेश के दुर्भिक्ष-पीड़ित अनाथ बच्चों को लेने वहाँ जाना था तो वे बीमार पड़ गये। उनके स्थान पर सरदार अजीतसिंह को यह कार्य सौंपा गया। इसी काम से वे बंगाल भी गये और वहाँ उनका सम्पर्क कुछ क्रान्तिकारियों से हुआ।

उन दिनों आर्यसमाज प्राचीन अन्धविश्वासों और सामाजिक दृष्टि से हानिकर कुरीतियों और रूढ़ियों को तोड़ने पर बड़ा बल दे रहा था। अजीतसिंह पर आर्यसमाज के क्रान्तिकारी विचारों का बड़ा प्रभाव था। इसका सर्वोत्तम प्रदर्शन उनके विवाह में हुआ, जब उन्होंने श्री धनपतराय की पाली हुई कन्या हरनामकौर से विवाह किया जिसकी वंशावली अज्ञात थी। उस युग में यह बड़ा क्रान्तिकारी कदम था। वे आर्यसमाज के प्रभाव से अस्पृश्यता और जात-पाँत के कट्टर विरोधी थे।

१९०५ ई० में लार्ड कर्जन द्वारा किये गये बंग-भंग से देश में राष्ट्रीय आन्दोलन प्रबल हुआ। स्वदेशी के प्रचार और विदेशी माल के बहिष्कार पर बल दिया जाने लगा। कलकत्ता में दादाभाई नौरोजी की अध्यक्षता में कलकत्ता कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, उसमें सरदार अजीतसिंह अपने भाई सरदार किशनसिंह के साथ सम्मिलित हुए। इसमें कांग्रेस नरम और गरम दल के रूप में स्पष्ट रूप से बँट गयी। गरम दल का नेतृत्व लोकमान्य तिलक कर रहे थे और सरदार अजीतसिंह इनके विचारों और नीति से पूर्ण रूप से सहमत थे।

कलकत्ता कांग्रेस से सरदार अजीतसिंह यह निश्चय करके लौटे थे कि पंजाब में भी किसानों को संगठित करना है और एक बड़ा राष्ट्रीय आन्दोलन चलाना है। इस कार्य के लिए उन्होंने महान् क्रान्तिकारी सूफी अम्बाप्रसाद के सहयोग से **भारत माता सोसायटी** की स्थापना की। इसके अन्य प्रमुख कार्यकर्त्ता थे—सरदार किशनसिंह, सरदार स्वर्णसिंह, लाला हरदयाल, लाला लालचन्द फलक, मेहता नन्दकिशोर, महाशय घसीटाराम और केदारनाथ सहगल। इनमें अधिकांश आर्यसमाजी थे या आर्यसमाज की विचारधारा से प्रभावित थे।

'भारत माता सोसायटी' प्रधान रूप से प्रकाशन व भाषण के दो बड़े कार्य करती थी। प्रकाशन के लिए भारतमाता की एक गुप्त एजेन्सी स्थापित की गयी। यह राजद्रोही साहित्य का प्रकाशन और प्रचार करती थी। इसके प्रधान प्रेरक और संचालक सूफी अम्बाप्रसाद थे। इसकी ओर से अनेक पत्र निकाले गये। इनमें उल्लेखनीय थे—**भारत-माता** (पहले मासिक, बाद में साप्ताहिक), इण्डिया (अंग्रेजी), पेशवा (उर्दू)। इन सबमें

क्रान्ति का सन्देश होता था। इस सोसायटी के प्रमुख प्रकाशन थे—**'बागी मसीहा'**, '१८५७ ई० की बगावत', 'उंगली पकड़ते पौंचा पकड़ा', 'देशी फौज', 'बन्दर बाँट', 'जफर सेना'। 'बागी मसीहा' सूफी अम्बाप्रसाद द्वारा लिखी गयी थी। सरकार सरदार अजीतसिंह को विद्रोही कहती थी। सूफी साहब ने उन्हें बागी मसीहा कहा। मसीहा का अर्थ है बीमारियों को दूर करने वाला। सूफी साहब ने सरदार को जनता के सामने ऐसे चिकित्सक के रूप में प्रस्तुत किया, जो अपने विद्रोह की औषधि से उसकी सब बीमारियों को दूर कर सकता है। इससे अजीतसिंह को बेहद लोकप्रियता मिली। उपर्युक्त सभी पुस्तकों का वितरण बड़े पैमाने पर किया जाता था और इन प्रकाशनों को सैनिक छावनियों में भी भेजा जाता था।

'भारतमाता सोसायटी' का दूसरा कार्य भाषणों द्वारा जनता में राष्ट्रीय जागृति पैदा करना था। यह प्रधान रूप से सरदार अजीतसिंह करते थे। वे बड़े प्रभावशाली वक्ता थे। घण्टों बोलते थे और इस तरह बोलते थे जैसे ज्वालामुखी फट पड़ा हो। अंग्रेजों के अत्याचारों का वर्णन करते हुए वे आग बन जाते थे, और देश की दुर्दशा का हृदयद्रावक वर्णन करते तो श्रोताओं की आँखों से अश्रु-प्रवाह होने लगता। उनमें श्रोताओं को मन्त्र-मुग्ध बनाये रखने की विलक्षण क्षमता थी। वे यह चाहते थे कि किसान भी उनके भाषणों को बड़ी संख्या में सुनें और उनमें राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने का उत्साह उत्पन्न हो। किन्तु यह कार्य बड़ा कठिन था। उस समय तक किसानों को ऐसे भाषणों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। किन्तु शीघ्र ही सरकार ने भूमि-कर, सिंचाई-कर बढ़ाकर ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दीं कि किसान' भारतमाता सोसायटी' की ओर बड़ी संख्या में आकृष्ट होने लगे।

इसका वर्णन करते हुए सरदार भगतसिंह ने लिखा है—"एक दिन लाहौर और अमृतसर क्षेत्र में जाट कृषकों ने लगान बढ़ाये जाने के विरुद्ध एक सभा करने का निश्चय किया। शाहआलमी दरवाजे के बाहर रतनचन्द की सराय में यह सभा आयोजित की गयी थी। किन्तु जब जाट लोग जमा हो गये तो डिप्टी कमिश्नर ने रतनचन्द के लड़के को बुलाकर जायदाद जब्त कर लेने की धमकी दी। इस पर रतनचन्द के लड़के ने वहाँ एकत्रित किसानों को अपनी सराय से बाहर निकाल दिया। तब किसानों ने नगर के नेता माने जाने वाले सज्जनों से सम्पर्क स्थापित किया। किन्तु वहाँ से भी उन्हें कोरा जवाब मिला। हर तरफ से निराश होकर वे बेचारे म्युनिसिपल गार्डन में जा बैठे। इसी बीच भारतमाता सोसायटी के कुछ सदस्यों को इसकी सूचना मिली और वे इन लोगों को अपने स्थान पर ले आये। सोसायटी के पास एक कमरे के अतिरिक्त एक विशाल मैदान भी था। इस मैदान में दरियाँ बिछाकर शामियाना लगा दिया गया और एक तरफ उन किसानों के भोजन हेतु लंगर का प्रबन्ध कर दिया गया। इससे किसानों का उत्साह अत्यधिक बढ़ गया और फिर पूरे एक सप्ताह वहीं प्रतिदिन सभायें हुईं जिनमें बड़े निर्भीक भाषण दिये गये। इन सभाओं में जाट किसानों का उत्साह देखकर 'भारतमाता सोसायटी' के सदस्यों का हौसला और भी बढ़ गया।

इसके बाद देहातों के दौरों का कार्यक्रम बनाया गया जिससे किसानों को लगान-बन्दी के लिए तैयार किया जा सके। यह सरकार के विरुद्ध युद्ध-घोषणा थी। जनता में इस समय इतना जोश था कि इस संघर्ष में वह अपना सर्वस्व दाँव पर लगा देने के लिए तत्पर

मालूम होती थी।

इसी समय पंजाब में बंग-भंग के बाद स्वदेशी का आन्दोलन प्रबल हुआ और पंजाब में लोग खाँड तैयार करने के उद्योग की ओर विशेष ध्यान देने लगे। यहाँ चीनी बनाने की दो-तीन मिलें भी खुल गयीं। सरकार ने स्वदेशी आन्दोलन को कुचलने के लिए गन्ने की खेती का लगान तीन गुना कर दिया। पहले एक बीघे का लगान ढाई रुपये था, वह अब साढ़े सात रुपये कर दिया गया। इससे किसानों पर भारी बोझ आ पड़ा। इसके साथ ही इस समय नया 'नहरी आबादी कानून' (Colonization Act) बनाया गया। इसके अनुसार नहरी आबादियों में सरकार द्वारा जो भूमि किसानों को दी गयी थी, उसके बारे में यह कानून बना दिया गया कि उसका उत्तराधिकारी केवल बड़ा लड़का ही हो सकता है। छोटे बेटों को उसमें कोई हिस्सा नहीं दिया गया था। बड़े लड़के की मृत्यु की दशा में वह जमीन छोटे लड़के को नहीं मिल सकती थी, अपितु उस पर सरकार का कब्जा हो जाता था। इन जमीनों पर किसान किसी प्रकार का मकान, झोंपड़ा नहीं बना सकते थे। यहाँ की जमीन पर खड़े वृक्षों को नहीं काट सकते थे। उनसे एक दातून भी नहीं तोड़ी जा सकती थी। किसानों ने कड़ी मेहनत से बंजर भूमियाँ उपजाऊ बनायी थीं और अब इस कानून से इन्हें किसानों से छीन लेने की व्यवस्था की गयी।

नये कानून के विरुद्ध सरदार अजीतसिंह ने प्रबल आन्दोलन चलाया। चौदह और सत्रह मार्च १९०७ ई० को लाहौर में इस कानून की आलोचना के लिए भूमिकर और आबियाना बढ़ाने के विरोध में विशाल जनसभायें तथा उनके प्रबल भाषण हुए। इसका एक नमूना आर्य-सेवक होटल के मैदान में दिये सरदार अजीतसिंह के भाषण के इन शब्दों से लगाया जा सकता है—"भाइयो, जानते हो हम यहाँ क्यों इकट्ठे हुए हैं? इसलिए कि फिरंगी को बता दें कि हमारी पहली तहरीके-आजादी को पूरे पचास साल गुजर गये हैं। बेशक कुछ गद्दारों की गद्दारी की वजह से सत्तावन में हम असफल हुए, मगर आपको यहाँ से जाना होगा। हमने पहली जंगे-आजादी की असफलता से जो सीखा, वह यह है कि हम तलवार नहीं उठायेंगे।...हमने फिरंगी को आज ही इस प्लेटफार्म से चैलेंज देना है। इसके लिए माझा और मालवा के ताकतवर सरदारों की मंजूरी हमारे पास है। आपकी मर्जी और इजाजत से हम फिरंगी को यह चेतावनी दे रहे हैं कि वह अपना रास्ता देखे। हमारी पहली माँग यह है कि वह फौरन यह काला कानून—न्यू कोलोनी लायलपुर और मिन्टगुमरी खत्म कर दें। दो माह के अन्दर ऐसा न हुआ तो हम कोई टैक्स नहीं देंगे। इस देश की लूट-खसोट को अब बर्दाश्त नहीं किया जायेगा। हममें से हर एक सिर पर कफन बाँधे तैयार खड़ा है।"

इसके बाद सरकार को यह भी नोटिस दिया गया कि—"वह अपनी नहरों को बन्द कर दें वरना हम आबियाना (जल-कर) नहीं देंगे।" इस किसान-आन्दोलन का झण्डा तीन रंगों वाला एक डण्डा बनाया गया जो हर किसान के हाथ में रहता था और अजीतसिंह ने यह घोषणा की कि हम इन डण्डों से ही अंग्रेजों को मार-मारकर भगा देंगे।

देश-निर्वासन—२२ मार्च १९०७ ई० को लायलपुर में पशुमेले के अवसर पर भारतमाता सोसायटी की ओर से एक विशाल सम्मेलन और जलसा किया गया। इसके संयोजक चौधरी शहाबुद्दीन थे जो बाद में पंजाब कौन्सिल के अध्यक्ष बने। इसमें आठ हजार से भी अधिक व्यक्ति उपस्थित थे। लाला लाजपतराय को विशेष रूप से इसमें

बुलाया गया था और उनके अध्याय में पहले इसका वर्णन दिया जा चुका है। यह बैठक बड़ी सफलतापूर्वक सम्पन्न हुई। इसमें लाला जी और अजीतसिंह के भाषण बड़े प्रभाव-उत्पादक थे। ये घटनायें १८५७ ई० के ठीक ५० वर्ष बाद हो रही थीं और १० मई का वह दिन दूर नहीं था जब आधी शताब्दी पहले भारतीय सैनिकों ने स्वतन्त्रता का संघर्ष प्रारम्भ किया था। सरदार अजीतसिंह बार-बार जनता को इस बात की याद दिला रहे थे और यह प्रेरित कर रहे थे कि अब हमें स्वाधीनता-संग्राम को नये सिरे से छेड़ना है और ब्रिटिश शासन का भारत से अन्त कर देना है। एंग्लो-इण्डियन पत्रों ने इस आन्दोलन का जिस ढंग से प्रचार किया, उससे अंग्रेजों में बड़ी घबराहट फैल गयी। मई शुरू होते ही सम्भावित विद्रोह के आतंक से बचने के लिए उन्होंने अपने बाल-बच्चों को स्कूलों से लाहौर के किले में भेज दिया। वायसराय मिण्टो के कथनानुसार वे रात को सोते समय अपने सिरहाने पिस्तौल रखने लगे। पंजाब सरकार इस आन्दोलन का मूल कारण लाला लाजपतराय और अजीतसिंह को समझती थी और उन्हें मई के दूसरे सप्ताह में गिरफ्तार करके बिना मुकद्दमा चलाये बर्मा निर्वासित कर दिया गया।

लाला लाजपराय की गिरफ्तारी पर देश-भर में बड़ा आन्दोलन हुआ। पार्लियामेंट में भी सदस्यों ने अपने प्रश्नों से भारत-मन्त्री को परेशान कर दिया। पहले यह बताया जा चुका है कि किस प्रकार भारत-मन्त्री के दबाव से भारत सरकार ने नवम्बर १९०७ में लाला लाजपतराय और अजीतसिंह को मुक्त कर दिया। माण्डले में रहते हुए अजीतसिंह ने अपना अधिकांश समय संसार की क्रान्तियों का नेतृत्व करने वाले वीरों का जीवन-चरित्र पढ़ने में बिताया। इससे उनके मन में यह विचार आया कि इन जीवनियों को सरल भाषा में लिखकर देश की जनता तक पहुँचाना चाहिए जिससे वे यह समझ सकें कि स्वतन्त्रता पाने के लिए क्या-क्या बलिदान करने पड़ते हैं। जेल से छूटने पर उन्होंने 'मुहिब्बाने-वतन' (देशभक्त वीर) नामक पुस्तक में इन जीवनियों को प्रकाशित किया। इसकी भूमिका सूफी अम्बाप्रसाद ने लिखी थी। यह पुस्तक बड़ी लोकप्रिय हुई और सरकार ने इसे शीघ्र ही जब्त कर लिया।

सूरत कांग्रेस— सरदार अजीतसिंह की माण्डले से रिहाई के लगभग डेढ़ महीने बाद दिसम्बर १९०७ ईसवी के अन्त में सूरत में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इसमें गरम दल और नरम दल में उग्र संघर्ष हुआ। जब सभापति का चुनाव होने लगा तो बड़ा हंगामा मच गया। डाक्टर पट्टाभि सीतारमैया के शब्दों में —"प्रतिनिधियों में से किसी ने एक जूता उठाकर फेंका जो सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को छूता हुआ सर फिरोजशाह मेहता को लगा। तब मानो एक लड़ाई शुरू हो गयी। कुर्सियाँ फेंकी गयीं और डण्डे चलने लगे।" इस विषय में स्मरणीय है कि सरदार अजीतसिंह लोकमान्य तिलक के विशेष निमन्त्रण पर सरदार किशनसिंह के साथ सूरत गये थे और उन्होंने इस अवसर पर तिलक की बड़ी सहायता की थी। एक लेखिका ने यह सम्भावना प्रकट की है कि उस दिन सूरत में जो डण्डे चले क्या वे भारतमाता की सोसायटी वाले डण्डे तो नहीं थे? इस समय अजीतसिंह तिलक के व्यक्तित्व से बेहद प्रभावित हुए। अगले वर्ष जब ब्रिटिश सरकार ने उन पर राजद्रोह का मुकद्दमा चलाकर उन्हें माण्डले भेज दिया तो सरदार अजीतसिंह ने सूफी अम्बाप्रसाद के साथ साधुओं जैसे वस्त्र पहन लिये और यह प्रतिज्ञा की कि जबतक तिलक नहीं छूटेंगे तब तक वे इसी वेश में घर-घर आजादी की अलख जगाते रहेंगे।

स्वतन्त्रता की योजना—अपने इस उद्देश्य को कार्यान्वित करने के लिए उन्होंने भारतमाता सोसायटी की बुक एजेन्सी की ओर से धड़ाधड़ क्रान्तिकारी साहित्य प्रकाशित करना शुरू किया। **पेशवा** नामक दैनिक उर्दू पत्र चलाया जिसकी उन दिनों १५०० प्रतियाँ छपती थीं, जो उस युग के लिहाज से बहुत अधिक थीं। सरदार अजीतसिंह ने लाला हरदयाल, सूफी अम्बाप्रसाद आदि के साथ परामर्श करके भारत की स्वतन्त्रता की एक व्यापक योजना बनायी। इसका मूल तत्त्व यह भी विश्वास था कि अब भविष्य में विश्वयुद्ध होने वाला है। भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए वही सर्वोत्तम समय होगा जब अंग्रेज इसमें बुरी तरह से उलझे हुए हों तो देश-भर में क्रान्ति कर दी जाए। विदेशों में अंग्रेजों के शत्रुओं से मदद भी ली जाए। इसके लिए लाला हरदयाल अमरीका जाएँ। सूफी अम्बाप्रसाद अफगानिस्तान व ईरान का चक्कर काटें। निरंजनसिंह दक्षिण अमरीका के ब्राजील में जाकर वहाँ से सहायता प्राप्त करें।

विदेशों में भारतीय स्वतन्त्रता के लिए प्रयास—ब्रिटिश सरकार ने इस योजना को कुचलने के लिए सरदार अजीतसिंह तथा उनके प्रमुख सहयोगियों को तुरन्त बन्दी बनाने का निश्चय किया। सरदार किशनसिंह को किसी प्रकार इसकी भनक पड़ गयी और उन्होंने अपने भाई को सूफी अम्बाप्रसाद के साथ ब्रिटिश गुप्तचरों की कड़ी दृष्टि होते हुए भी कराची बन्दरगाह से पानी के जहाज द्वारा ईरान भिजवा दिया। सरदार अजीतसिंह अब मिर्जा हसनखाँ बन गये। वे फारसी के विद्वान् थे और बड़े फर्राटे से बढ़िया फारसी बोल सकते थे। उनका यह गुण बड़ा काम आया। वे अगले कई वर्ष ईरान में रहे। ईरान से टर्की होते हुए वे जर्मनी पहुँचे। उस समय प्रथम विश्वयुद्ध के लिए अनुकूल वातावरण तैयार हो रहा था। जर्मनी से पेरिस और वहाँ से स्विट्जरलैण्ड गये। यहाँ लूसेन का नगर उन्हें बहुत पसन्द आया और १९१२ ई० तक वे वहीं रहे। १९१४ ई० में जब पहला विश्वयुद्ध आरम्भ हो गया, तब सरदार अजीतसिंह अपनी भारतीय क्रान्ति की योजना पूरी करने में लग गये। इसके अनुसार वे अंग्रेजों की ओर से यूरोप के मोर्चों पर लड़ने वाली भारतीय सेनाओं में विद्रोह का प्रचार करते रहे। इसी समय काबुल में राजा महेन्द्रप्रताप के राष्ट्रपतित्व में 'आजाद हिन्द सरकार' स्थापित हो चुकी थी। सरदार अजीतसिंह अंग्रेजों से विद्रोह करने वाले भारतीय सैनिकों से एक 'आजाद हिन्द सेना' का संगठन बना रहे थे। उन्हें आशा थी कि वे टर्की के रास्ते अपनी सेना लेकर काबुल की भारतीय सरकार से जा मिलेंगे। इस हालत में अंग्रेजों के छक्के छूट जायेंगे और हिन्दुस्तान स्वतन्त्र हो जायेगा।

किन्तु १९१६ के आरम्भ में यह प्रतीत होने लगा था कि अमरीका मित्र-राष्ट्रों की ओर से युद्ध में सम्मिलित होने वाला है। सरदार अजीतसिंह समझ गये कि अब वाशिंगटन के लड़ाई में आ जाने से पासा पलट जायेगा और जर्मनी की पराजय होगी। अतः वे यूरोप से ब्राजील पहुँच गये और वहीं जाकर बस गये। अगले १६ वर्ष उन्होंने ब्राजील में बिताये। १९३२ ईसवी में वे पुनः फ्रांस आये जहाँ कुछ दिन रहकर पहले स्विट्जरलैण्ड, फिर जर्मनी चले गये। उस समय तक हिटलर का उत्कर्ष हो चुका था। इसी समय सुभाषचन्द्र बोस से भी यूरोप में उनकी भेंट हुई। उन्हें मुसोलिनी और इटली ने आकर्षित किया। वे रोम में रहने लगे और बाद में नेपल्स में फारसी के प्रोफेसर के रूप में काम करने लगे।

सितम्बर १९३९ ई० में जब दूसरा विश्वयुद्ध आरम्भ हुआ तो अजीतसिंह इटली में थे। उन्होंने मुसोलिनी के आगे प्रस्ताव रखा कि रोम रेडियो से प्रतिदिन हिन्दुस्तानी में एक प्रोग्राम प्रसारित किया जाय। मुसोलिनी ने भारत में प्रचार की महत्त्व के दृष्टि से इस प्रस्ताव को तुरन्त स्वीकार कर लिया और उन्हें इस कार्यक्रम का मुख्य प्रवक्ता और संचालक बना दिया। वे प्रतिदिन रोम रेडियो से गर्जने लगे और भारतीयों को द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भिक वर्षों में हिटलर की विजयों और अंग्रेजों की दुर्दशा के समाचार बड़ी जोशीली भाषा में सुनाने लगे। इस समय पुनः उन्होंने अपनी पुरानी योजना कार्यान्वित करने का प्रयास किया। यह थी अंग्रेजों की ओर से लड़ने वाली भारतीय सेना में विद्रोह उत्पन्न करना तथा उसकी सहायता से भारत से अंग्रेजों को भगाना। जब सुभाषचन्द्र बोस कलकत्ता से काबुल होते हुए यूरोप आये तो उनका सरदार अजीतसिंह से सम्पर्क हुआ। इटली द्वारा उत्तरी अफ्रीका में लड़े जाने वाले युद्धों में भी अजीतसिंह ने अपनी 'आजाद हिन्द सेना' का निर्माण किया, नेताजी को उनके कार्य में सहायता दी और जर्मनी द्वारा बन्दी बनाये भारतीय सैनिकों को भी 'आजाद हिन्द सेना' के रूप में संगठित किया।

किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध में भी अंग्रेज जीते और २ मई १९४५ ई० को ब्रिटिश सेना ने उन्हें बन्दी बना लिया। युद्ध की समाप्ति पर पण्डित जवाहरलाल नेहरू पर इस बात का बड़ा जोर डाला गया कि वे सरदार अजीतसिंह की अंग्रेजों से रिहाई के लिए पूरा प्रयास करें। पेरिस में जब विदेशी मन्त्रियों का सम्मेलन हो रहा था, उसमें श्री वी०के०-कृष्ण मेनन भारत का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। वहाँ उन्हें यह पता चला कि सरदार अजीतसिंह को नजरबन्दी में कितने घोर कष्ट उठाने पड़ रहे है। उन्होंने भी उनकी रिहाई का प्रयास किया। अन्त में भारत सरकार के प्रयत्नों से वे मुक्त हुए तथा मार्च १९४७ ई० में कराची के उस बन्दरगाह में पहुँचे जहाँ से लगभग चालीस वर्ष पहले उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए अपनी विदेश-यात्रा आरम्भ की थी। वे नई दिल्ली में आयोजित एशियाई देशों के सम्मेलन में सम्मिलित हुए। देशवासियों ने स्वदेश आने पर सर्वत्र उनका भव्य स्वागत किया। अन्त में वह शुभ दिन आया जब भारत ने स्वतन्त्रता का वह स्वर्ण-विहान देखा जिसके लिए सरदार अजीतसिंह आजीवन संघर्ष करते रहे थे। १५ अगस्त के ब्राह्ममुहूर्त्त में जब अभी चार भी नहीं बजे थे, उन्होंने घरवालों को जगाकर कहा—"मेरी जिन्दगी का मकसद पूरा हो गया। अब मैं जा रहा हूँ और इसके बाद उन्होंने अपनी आँखें मूँद लीं।" इस प्रकार आर्यसमाज से प्रेरणा प्राप्त करके लगभग आधी शताब्दी तक भारतीय स्वतन्त्रता के लिए अनथक प्रयास करने वाले एक महान् क्रान्तिकारी योद्धा का अवसान हो गया।

चौबीसवाँ अध्याय

स्वामी श्रद्धानन्द (महात्मा मुंशीराम) का राजनीति में प्रवेश

(१) महात्मा मुंशीराम की राजनैतिक विचारधारा (१९०१-१९१९)

वर्तमान शताब्दी के पहले चरण में स्वामी श्रद्धानन्द न केवल गुरुकुल पार्टी के, अपितु सम्पूर्ण आर्यसमाज के सर्वमान्य मूर्धन्य नेता थे। महात्मा मुंशीराम से स्वामी श्रद्धानन्द बनने पर उन्होंने रॉलट एक्ट विरोधी आन्दोलन में व्यक्तिगत रूप से भारतीय राजनीति में प्रमुख भाग लिया और अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। १९१९ की अमृतसर की राष्ट्रीय महासभा के वे न केवल स्वागताध्यक्ष थे, अपितु उसे सफल बनाने वालों में सर्वोपरि स्थान रखते थे। दिल्ली में राष्ट्रीय आन्दोलन और जन-जागरण में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है; चाँदनी चौक में उनकी प्रतिमा आज भी राजनैतिक आन्दोलन में उनकी निर्भीकता, धीरता और वीरता की साक्षी है। महात्मा गांधी के साथ उन्होंने असहयोग आन्दोलन में बड़ा भाग लिया। इस अध्याय में उनके महात्मा मुंशीराम के रूप में आरम्भिक राजनैतिक विचारों का संक्षिप्त परिचय दिया जायेगा; अगले अध्यायों में स्वामी श्रद्धानन्द के रूप में देश के राजनैतिक आन्दोलनों में भाग लेने तथा नवीन राजनैतिक चिन्तन पर विचार किया जायेगा।

(१) ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति के कारण—९ एप्रिल १९१७ ईसवी को संन्यासाश्रम में प्रवेश से पहले वे महात्मा मुंशीराम थे। इस समय उन्होंने अपना सारा समय आर्यसमाज की सेवा तथा गुरुकुल काँगड़ी के निर्माण में लगाया। उनका कार्यक्षेत्र धार्मिक, सामाजिक और शिक्षा-विषयक था। इस अवधि में प्रत्यक्ष रूप से उन्होंने राजनीति में कोई भाग नहीं लिया, किन्तु भारतीय राजनीति के वे सूक्ष्मद्रष्टा और गम्भीर आलोचक थे। गुरुकुल काँगड़ी के एकान्त-शान्त वातावरण में वे 'सद्धर्म प्रचारक' के माध्यम से राजनैतिक विषयों पर बड़ी सारगर्भित टिप्पणियाँ किया करते थे। इनमें वे न केवल तत्कालीन कांग्रेसी नेताओं की, अपितु ब्रिटिश शासकों की भी कड़ी आलोचना किया करते थे। उनकी राजनीति कांग्रेस के नरमदली नेताओं की भाँति राजभक्ति-प्रधान थी। वे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की सत्ता को देश के लिए लाभकर समझते थे और इसे काफी समय तक बनाये रखना चाहते थे। वे राजनीति में महामना गोपालकृष्ण गोखले के अनुयायी थे। उन्हें ब्रिटेन की न्यायपरायणता में अगाध विश्वास था। १९०६ के बाद जब आर्यसमाज पर राजद्रोह का सन्देह किया जाने लगा, उस समय आत्मरक्षा की दृष्टि से उनके लेखों में राजभक्ति का स्वर अधिक मुखर होने लगा। घंटाघर में गोरे सैनिकों

की बन्दूकों के आगे छाती फैलाने वाले स्वामी श्रद्धानन्द का राजद्रोही और ब्रिटिश सत्ता-विरोधी रूप इतना अधिक लोकप्रिय है और लोक-प्रचलित है कि उसने पुराने राज-भक्त के रूप को बिलकुल मिटा दिया है। यहाँ पहले उनके पुराने रूप और कार्यों पर तथा उसके बाद नवीन सत्याग्रही और अंग्रेजी राजविरोधी रूप पर प्रकाश डाला जायगा।

महात्मा मुंशीराम तथा अन्य आर्यसमाजी दो कारणों से भारत में अंग्रेजी राज के प्रबल समर्थक थे। **पहला कारण** अंग्रेजों की धार्मिक स्वतन्त्रता की नीति थी। यह अंग्रेजों ने १८५७ ई० के प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम के बाद अपनाई थी। उस समय भारतीय सैनिकों द्वारा कम्पनी की सत्ता के विरुद्ध विद्रोह का एक बड़ा कारण उनके धर्म में हस्त-क्षेप अर्थात् मुँह से काटे जाने वाले कारतूसों में गाय तथा सूअर की चर्बी का मिला होना बताया जाता था, अतः इस विद्रोह के शमन के बाद ईस्ट इंडिया कम्पनी से शासन-भार लेते हुए ब्रिटिश सम्राज्ञी विक्टोरिया ने अपने साम्राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से यह घोषणा की थी कि ब्रिटिश सरकार भारत में शासन के मामले में सभी धर्मों, सम्प्रदायों, वर्गों के प्रति समानता की नीति का बर्ताव करेगी। धर्म के आधार पर किसी जाति के साथ न तो कोई विशेष पक्षपात किया जायेगा और न ही किसी को अपने धार्मिक विश्वासों के कारण कोई हानि उठानी पड़ेगी। सरकार सब धर्मों को समान रूप से अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने की सुविधा देगी और किसी धर्म के मामले में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगी।

इस घोषणा ने भारतवासियों पर जादू का-सा असर किया और उन्हें यह विश्वास हो गया कि भारत के लिए यह सर्वथा नई बात है। मध्य युग में कट्टर मुस्लिम शासकों के समय में हिन्दुओं को अपने धर्म का पालन करने की स्वतन्त्रता नहीं थी। उन्हें हिन्दू धर्म छोड़कर राजकीय इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए विवश किया जाता था और ऐसा न करने पर आरे से चिरवाने आदि की भीषण यातनायें दी जाती थीं। अनेक शताब्दियों के बाद पहली बार ब्रिटिश सम्राज्ञी विक्टोरिया के शासन में भारत के हिन्दुओं को न केवल अपने धर्म का पालन करने की, अपितु उसका प्रचार करने की पूरी स्वतन्त्रता उपलब्ध हुई और विधर्मी बने हिन्दुओं को पुनः हिन्दू बनाने का बहुमूल्य अवसर मिला। इसके लिए वे ब्रिटिश सरकार के अत्यन्त आभारी थे और अपने धर्म-प्रचार की धुन के पीछे पागल होकर उन्होंने राजनैतिक स्वतन्त्रता को नगण्य समझते हुए ब्रिटिश सरकार के प्रति वफादारी की भावना रखी और इस कारण के आधार पर सरकार का समर्थन किया।

इस विषय में भी सत्यदेव विद्यालंकार ने लिखा है—"इस समय आर्यसमाजी धर्म-प्रचार की स्वतन्त्रता के व्यामोह से इतने अभिभूत हो गये थे कि इसने उनके मस्तिष्क को मूर्छित कर दिया, विचार और बुद्धि को कुण्ठित कर दिया। आश्चर्य तो यह है कि सन् १९०१ से १९१२ ई० तक सरकार द्वारा इतने (अधिक बार) लांछित, अपमानित और पददलित होने पर भी आर्यसमाजियों की यह मूर्छा भंग नहीं हुई। आर्य-समाजियों का यह आन्तरिक विश्वास था कि देश का कल्याण अंग्रेजों का राज से है। अंग्रेजों ने भारतीयों के दिमाग में मुसलमानी युग के धार्मिक अत्याचारों का अत्युक्तिपूर्ण इतिहास ऐसा ठूंस-ठूंसकर भर दिया था कि उनके सामने अंग्रेज राज्य रामराज्य ही प्रतीत होता था। वे समझते थे कि जिस स्वच्छंदता के साथ इस राज्य में धर्म-प्रचार का काम होता है वैसा किसी और राज्य में होना सम्भव नहीं है। अंग्रेजों की धार्मिक स्वतन्त्रता पर

आर्यसमाजी मुग्ध थे। आर्यसमाज के प्रति सरकार के दमन का अर्थ यह किया जाता था कि सरकारी अधिकारियों को आर्यसमाज के प्रति कुछ स्वार्थियों ने बरगलाया है, जान-बूझकर आर्यसमाज के लिए उनमें झूठा सन्देह पैदा किया है, इसलिए आर्यसमाजी इतने दमन के बाद भी सरकार से कभी रुष्ट न हुए। सरकारी अधिकारियों के प्रति भी उन्होंने कभी रोष प्रकट नहीं किया।"

इस समय आर्यसमाजी और महात्मा मुंशीराम कितने अधिक राजभक्त थे, यह इस बात से स्पष्ट हो जायेगा कि १९०७ ई० में सम्राट् एडवर्ड के जन्म-दिन को आर्य-समाजों ने बड़े समारोह से मनाया, भगवान् से उनके दीर्घायुष्य की प्रार्थनायें की गईं और मिष्टान्न-वितरण द्वारा प्रसन्नता प्रकट की गई। यह स्वाभाविक था कि राष्ट्रीय भावना रखने वाले स्वाभिमानी भारतीय आर्यसमाजियों के इस कार्य की आलोचना करते। कुछ राष्ट्रीय पत्रों ने आर्यसमाज के इस कार्य को अनुचित ठहराया था। किन्तु 'सद्धर्म प्रचारक' में इसे ठीक बताते हुए महात्मा मुंशीराम ने इसका औचित्य सिद्ध करते हुए एक लेख लिखा। इसमें आर्यसमाज की राजभक्ति का समर्थन करते हुए कहा गया था—"आर्य-समाज का प्रचार ब्रिटिश गवर्नमेंट के राज्य में ही सम्भव हुआ है, अन्य राज्य में कठिन होता। हिन्दुओं तथा मुसलमानों की रियासतों में जो बर्ताव आर्य उपदेशकों के साथ होता है, वह छिपा नहीं है। हम ब्रिटिश गवर्नमेंट की रक्षा का लाभ उठाते हैं, उसके लिए साल-भर में एक बार (जन्म-दिन के अवसर पर) धन्यवाद अवश्य देना चाहिए। यदि ब्रिटिश प्रजा होने के कारण हमारे कुछ अधिकार हैं तो कुछ कर्तव्य भी हैं। भारतवर्ष-मात्र के आर्यसमाजों को एकमत होकर गवर्नमेण्ट के धन्यवाद के लिए एक दिन नियत करना चाहिए।"

अंग्रेजी सरकार की सदाशयता और नेकनीयती पर महात्मा मुंशीराम को अगाध विश्वास था। यह 'आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स (आर्यसमाज और उसके निन्दक) की भूमिका से स्पष्ट है। इसमें यह कहा गया था कि—"मुझे अपने शासकों की न्याय-परायणता की स्वाभाविक भावना में अविचल निष्ठा और अगाध विश्वास है।" इस विश्वास के कारण इस समय उनमें ऐसी प्रबल राजभक्ति की भावना थी कि १९११ में जार्ज पंचम के राज्याभिषेक के अवसर पर दिल्ली में जब शाही दरबार हुआ, तो उन्होंने **सद्धर्म प्रचारक** का एक मुख्य सम्पादकीय लेख सम्राट् जार्ज को लक्ष्य करके लिखा था। इसका शीर्षक था—"सम्राट्, तुम यहीं रहो।" इसमें ब्रिटिश शासन की सराहना करते हुए सम्राट् के प्रति अगाध राजभक्ति प्रकट की गई थी।

अगले वर्ष जब २३ दिसम्बर, १९१२ को भारत के वायसराय लार्ड हार्डिंग ने नई राजधानी दिल्ली में बड़ी धूमधाम से राजा के प्रतिनिधि के रूप में विधिवत् प्रवेश करना था तो आर्य सार्वदेशिक सभा की ओर से सम्राट् के स्वागत का विशेष प्रबन्ध किया गया। सभा के कार्यालय ज्योतिः पाठशाला के ठीक सामने मैदान में बड़ा शामियाना सजाया गया था। इसमें ढाई-तीन सौ आर्यसमाजी बैठे थे। शामियाने के सामने दो चौकियाँ थीं, जिनपर आर्यसमाज के प्रमुख नेता स्वामी अच्युतानन्द महाराज, सर्वश्री महात्मा मुंशीराम, पूर्णानन्द, रायसाहब रोशन लाल बैरिस्टर, ब्रजनाथ बी० ए० आदि विराजमान थे। जैसे ही वायसराय का हाथी शामियाने के सामने आया, सबने खड़े होकर शान्ति-पाठ पढ़ा और 'नमस्ते भगवन्' के ऊँचे नाद से गगन-मण्डल को गुंजा

दिया। राजद्रोही ठहराये जाकर गहरे दमन की चक्की में पीसे जाने वाले आर्यसमाज और उनके नेताओं की गहरी राजभक्ति का इससे बढ़िया चित्र और नहीं खींचा जा सकता है। वायसराय के स्वागत-समारोह की योजना राजभक्त मुंशीराम के दिमाग की उपज थी।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि सरकार को महात्मा मुंशीराम की राजभक्ति पर शनैः-शनैः इतना अधिक विश्वास हो गया कि सन् १९१६ ई० में लखनऊ कांग्रेस के अवसर पर संयुक्त प्रान्त के उस समय के लेफ्टिनैण्ट गवर्नर सर जेम्स मेस्टन ने आपको अपने यहाँ बुलाकर यह काम सौंपा था कि आप मिस्टर कर्टिस को महात्मा गांधी से मिला दें और भारतीय नेताओं के सामने भावी शासन-सुधार के सम्बन्ध में उन योजनाओं को पेश करें जिसकी रूपरेखा मारिस कर्टिस के परिपत्र में अंकित की गई थी।

(२) **भारतीय चरित्र के दोष**—राजभक्ति का दूसरा कारण भारतीयों में प्रचलित सामाजिक कुरीतियाँ तथा चारित्रिक दोष थे। अंग्रेजों ने इस देश के शिक्षित वर्ग में यह भ्रान्तिपूर्ण भावना उत्पन्न की थी कि भारतीय कुछ नैतिक दोषों एवं कमियों के कारण पराधीन हुए हैं और जब तक इन दोषों का सुधार नहीं हो जाता है तब तक भारतीय अपना शासन करने में समर्थ नहीं हैं, यदि वे स्वतन्त्र हो जायँ तो भी वे इन दोषों से ग्रस्त होने के कारण अपनी स्वाधीनता की रक्षा नहीं कर सकते हैं। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ-प्रकाश में भारत की दुर्दशा पर दुःख प्रकट करते हुए उसकी पराधीनता का कारण भारतीयों के कुछ दोष माने हैं—"विदेशियों के आर्यावर्त में राज्य होने का कारण आपस की फूट, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या का न पढ़ना-पढ़ाना, बाल्यावस्था में अस्वयंवर-विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या भाषण व वेद-विद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं।" उन्होंने इन दोषों के दूर करने पर बड़ा बल दिया। अतः आर्यसमाजियों का तथा महात्मा मुंशीराम का यह विश्वास था कि जबतक भारतीयों का नैतिक, धार्मिक और सामाजिक सुधार नहीं हो जाता है तबतक वे न तो उन्नति कर सकते हैं और न ही स्वाधीनता प्राप्त कर सकते हैं। ब्रिटिश शासन की छत्रछाया भारत पर तबतक बनी रहनी चाहिए, जब तक ये दोष न दूर हो जायँ। स्वाधीनता-प्राप्ति से पहले दोषों का निवारण करना अनिवार्य है।

महात्मा मुंशीराम उपर्युक्त विचारधारा में पूरा विश्वास रखते थे। वे पहले यह मानते थे कि भारत का नैतिक अधःपतन दूर करने में १०० वर्ष लगेंगे, अतः तब तक भारत में ब्रिटिश शासन बना रहना चाहिये। बाद में उन्हें यह प्रतीत हुआ कि भारतीयों में चारित्रिक दोष इतने अधिक बद्धमूल हैं कि इन्हें दूर करने के लिए यहाँ ३०० वर्ष तक अंग्रेजी शासन बना रहना चाहिए। बच्छोवाली आर्यसमाज के ३२वें वार्षिकोत्सव के अवसर पर भाषण देते हुए उन्होंने बड़े बलपूर्वक इस बात का प्रतिपादन किया था कि हम भारतीय स्वराज्य पाने के अधिकारी नहीं हैं। इस विषय में उनके निम्नलिखित शब्द उल्लेखनीय थे—

"सज्जनो, मुझे आपको यह विश्वास दिलाने के लिए अधिक तथ्य देने की आवश्यकता नहीं है कि हमारे राष्ट्र का कितना अधिक नैतिक पतन हो गया है। इसकी थाह पाना बड़ा कठिन है। इस समय हम स्वराज्य पाने योग्य बिलकुल नहीं हैं। मेरे पिता ने गदर को दबाये जाने के बाद शासन में सुव्यवस्था लाने का बड़ा प्रयास किया था।

वे इस विषय में मुझे अपने अनुभव प्रायः बताया करते थे। उन्होंने मुझे जो बातें बताई थीं, उनके आधार पर मैं इस परिणाम पर पहुँचा था कि देश की शान्तिपूर्ण प्रगति तथा सुव्यवस्थित विकास के लिए यह आवश्यक है कि यहाँ कम-से-कम एक शताब्दी तक ब्रिटिश शासन अवश्य बना रहना चाहिये। हाल की घटनाओं ने देश के उन दुर्गुणों और दोषों (Plaguespots) को तथा राष्ट्र के उन कोढ़भरे घावों (Leperous sores) को उजागर किया है, जिनकी मैं पहले कभी आशा नहीं करता था। अब मुझे यह विश्वास हो गया है कि मैं बड़ा आशावादी था, इसलिये मेरी भविष्यवाणी ठीक नहीं थी। अब मेरा विश्वास है कि अगली तीन शताब्दियों तक इस देश में बनी रहने वाली ब्रिटिश प्रभुसत्ता से ही यहाँ शांति बनी रह सकती है और यदि शांति न बनी रहे तो विकासवादी पद्धति के अनुसार देश की उन्नति के सब अवसर समाप्त हो जायेंगे। मैं जानता हूँ कि आपमें कुछ व्यक्ति मेरे दृष्टिकोण से सहमत नहीं होंगे, किन्तु ऐसा होते हुए भी बिना किसी प्रतिवाद के भय से आप मुझे यह दावा करने से रोक नहीं सकते हैं कि १०० वर्ष तक ब्रिटिश राज बने रहने की मेरी पुरानी सम्मति गलत प्रमाण-सामग्री पर आधारित थी।"

महात्मा मुंशीराम की राजभक्ति की एक बड़ी विशेषता यह थी कि वह बिलकुल सच्ची ईमानदारी से भरी हुई थी, उसमें चापलूसी या अवसरवादिता नहीं थी। वह देश के हित की दृष्टि पर आधारित थी। उसमें ऐसी चाटुकारिता या इस दृष्टि से खुशामदीपन नहीं था कि जिससे कोई वैयक्तिक लाभ और स्वार्थसिद्धि सम्पन्न की जाय, जैसे उस समय के राजा, महाराजा, जागीरदार और सम्पन्न व्यक्ति किया करते थे। महात्मा मुंशीराम बड़ी निर्भीकता से चाटुकार राजाओं की आलोचना किया करते थे और उन्हें अपने कर्तव्य का बोध कराते थे। खुशामद और चापलूसी के भाव आपमें वंश-परम्परा से नहीं थे; यदि वे थोड़ी-सी भी मात्रा में होते तो नायब तहसीलदारी में पड़ने के बाद वे सरकारी सेवा में बड़ी उन्नति कर सकते थे। वे चापलूसी और अन्धी राजभक्ति के कितने विरोधी थे, यह सद्धर्म प्रचारक के कुछ लेखों तथा पत्रों से स्पष्ट हो जायगा।

एडवर्ड सप्तम के राज्यारोहण, १९०३ ई० के दिल्ली-दरबार तथा प्रिन्स आफ वेल्स की भारत-यात्रा ने राजाओं को चापलूसी के बढ़िया अवसर प्रदान किये। इस समय उन्होंने अपनी राजभक्ति के प्रदर्शन में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। इसका एक रूप यह भी था कि दिवंगता सम्राज्ञी विक्टोरिया की समाधि पर हिन्दू राजाओं ने पुष्पमालायें चढ़ाईं। महात्मा मुंशीराम की दृष्टि में प्रजा के सम्मुख उदात्त नैतिक जीवन का आदर्श स्थापित करने वाले राजाओं के लिए यह अतीव अपमानजनक था और उनके भीषण नैतिक अधःपतन को सूचित करता था। जब उनका यह हाल था तो प्रजा के पतन की पराकाष्ठा की कल्पना सहज में ही की जा सकती है। इसके सुधार के लिए कई सौ वर्ष की अवधि अनिवार्य प्रतीत होती थी, अतः इस दशा में वे इस परिणाम पर पहुँचे कि कई शताब्दियों बाद ही भारत स्वतन्त्र होने की आशा कर सकता है।[1] उन दिनों राजा अपनी रियासतों की निर्धन प्रजा के लाखों व्यक्तियों का प्रतिनिधि होने का दावा करते थे। किन्तु महात्मा जी का यह कहना था कि जब उन्हें अपनी प्रजा के हित के लिए कोई

१. सिलेक्शन्स फ्राम वर्नाकुलर न्यूजपेपर्स (पंजाब) १९०२, पृ० ४२९

भी काम करने का अधिकार नहीं है तो वे उसके प्रतिनिधि होने का दावा कैसे कर सकते हैं ?[1] उनका यह विचार था कि "रियासतों के बदसूरत, मोटे, निकम्मे राजा भारत की असहाय और अधःपतित परिस्थिति का सच्चा चित्रण करते हैं।"[2] जब लन्दन में एडवर्ड सप्तम के राजाभिषेक और दिल्ली-दरबार के बाद जार्ज पंचम के प्रिन्स आफ वेल्स के रूप में भारत आने का समाचार छपा तो महात्मा मुंशीराम ने इस पर चुटीला व्यंग्य करते हुए लिखा कि पहले दो अवसरों पर अपना राजकोष लुटा देने के बाद "अब राजा अपनी राजभक्ति प्रदर्शित करने के लिए उसके स्वागत-समारोह कर्ज लेकर करेंगे।"[3]

राजाओं के अतिरिक्त महात्मा मुंशीराम ने इस समय कांग्रेस के नेताओं की भी कड़ी आलोचना की। ये भी राजाओं की भाँति भारत की निर्धन जनता का सच्चा प्रतिनिधि होने का दावा करते थे और ब्रिटिश सरकार की आलोचना करते थे। महात्मा मुंशीराम इनका सबसे बड़ा दोष उदात्त चरित्र के लिए आवश्यक गुणों की कमी समझते थे। उनका कहना था कि उन्हें पहले अपने दोष दूर करने चाहिएँ, फिर ब्रिटिश सरकार के दोषों को दिखाना चाहिए। सन् १९०७ ई० में जब लाला लाजपतराय, गोखले तथा सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी कांग्रेस का डेपूटेशन लेकर विलायत गये तब आपने लिखा था—"इन डेपूटेशनों से तरक्की की आशा रखना हानिकारक है। मेरी अपनी राय यही है। इस समय धन और समय को व्यर्थ न खोकर हिन्दुस्तान के एक-एक व्यक्ति को अपना चरित्र और आगामी सन्तति के चरित्र को सुधारने में लग जाना चाहिए।" स्वदेशी की आड़ में कांग्रेसी नेताओं द्वारा पाप करने से बचने के लिए अपील करते हुए आपने लिखा था—"मुकाबला स्वदेशी पाप और विदेशी पाप का नहीं होना चाहिए, प्रत्युत पाप का सर्वथा त्याग करना ही सच्ची स्वदेशी स्पिरिट है। दो कांग्रेसी वकीलों के विलायती शराब पीकर वेश्याओं के यहाँ जाने की घटना का विवरण देते हुए महात्माजी ने लिखा था—"उनसे किसी भले आदमी ने कहा—'लालाजी, आप तो कांग्रेस के भूषण हो, यह निन्दनीय कर्म क्या कर रहे हो ?' पोलिटिकल पहलवान ने लड़खड़ाती जबान में गालियाँ देते हुए कहा—'अरे खड़े तो हम स्वदेशी वेश्या के दर पर हैं।' यदि स्वदेश से मतलब पवित्र आर्यावर्त भूमि है तो पोलिटिकल लोगों के प्रेम से उसकी सुरक्षा करने की आवश्यकता है। **इस भूमि में इन्द्रियों पर विजय पाकर आत्मा के स्वतन्त्र होने का नाम स्वराज्य-प्राप्ति था।** आज अपने वृद्धों की पगड़ियाँ उछालना ही स्वराज्य का अर्थ समझा जाता है।"[4]

सूरत में कांग्रेस में जो फूट पैदा हुई थी, उसके लिए आँसू बहाते हुए आपने लिखा था[5]—"आज तुम्हारी अपनी इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं, जब अपने मन पर तुम्हारा कुछ अधिकार नहीं, तब तुम दूसरों से क्या अधिकार प्राप्त कर सकते हो ? अधिकार ! अधिकार !! अधिकार !!! हा ! तुमने किस गिरे हुए शिक्षणालय में शिक्षा प्राप्त की थी ? क्या तुमने कर्तव्य शब्द कभी नहीं सुना ? क्या तुम धर्म शब्द से अनभिज्ञ हो ?

---

१. वही, पृ० ५१
२. वही, १९०३, पृ० ४३-४४
३. वही १९०५, पृ० ३५
४. सत्यदेव विद्यालंकार—स्वामी श्रद्धानन्द, पृ० ४७१
५. वही, पृ० ४७२

मातृभूमि में अधिकार का क्या काम ? यहाँ धर्म ही आश्रय दे सकता है। अधिकार शब्द से कामना की गन्ध आती है, विषय-वासना का दृश्य दृष्टिगोचर होता है। इस अधिकार की वासना को अपने हृदय से नोचकर फेंक दो। निष्काम भाव से धर्म का सेवन करो। माता पर जब चारों ओर से प्रहार हो रहे हों, जब उसके केश पकड़कर दुष्ट दुःशासन उसको भूमि पर घसीट रहा हो, क्या वह समय अधिकार की पुकार मचाने का है ? शब्दों पर क्या झगड़ा करते हो ? क्यों न स्वराज्य-प्राप्ति के साधनों को सिद्ध करने में लगो ? स्वराज्य के प्रकार का झगड़ा आने वाली सन्तानों के लिए छोड़ो। उनकी स्वतन्त्रता पर इस समय जंजीरें डालना अधर्म है। इस समय दोनों छलकपट से काम ले रहे हैं। जिस कांग्रेस का आधार अधर्म पर है, उसका प्राप्त कराया स्वराज्य कभी भी फलदायक न होगा, कभी भी सुख-शान्ति का राज्य फैलाने वाला न होगा।—एक ऐसे धार्मिक दल की आवश्यकता है, जो विरोधी को धोखा देना भी वैसा ही पाप समझता हो, जैसा अपने भाई को। जो सरकारी अत्याचारों को प्रकट करते हुए अपने भाइयों की दुष्टता तथा उनके अत्याचारों को भी न छिपाने वाला हो। जो मौत के भय से भी न्याय के पथ को छोड़ने का विचार तक न लाने वाला हो। पोलिटिकल जगत् में ऐसे ही अग्रणी की आवश्यकता है। क्या कोई महात्मा आगे आने का साहस करेगा ? और क्या उसके पीछे चलने वाले पाँच पुरुष भी निकलेंगे ? यदि इतना भी नहीं हो सकता तो स्वराज्य-प्राप्ति के प्रोग्राम को पचास वर्षों के लिए तह करके रख दो।" इसी प्रकार के एक अन्य लेख में उन्होंने लिखा था—"यदि अग्नि और खड्ग की धार पर चलने वाले दस पागल आर्य भी निकल आयें तो राजा-प्रजा दोनों को होश में ला सकते हैं। भगवन्, आर्यसमाजियों की आँखें कब खुलेंगी ?"[1] इसी दृष्टि से महात्माजी नरम दल वालों के लिए भिक्षार्थी, गरम दल वालों के लिए सुखार्थी और सरकार के लिए गोराशाही शब्दों का प्रयोग करते थे।

(३) **क्रांतिकारियों की निन्दा**—भारतीय राजनीति में वर्तमान शताब्दी के आरंभ में क्रान्तिकारी आन्दोलन प्रबल होने लगा था। अन्यत्र इसकी चर्चा करते हुए बताया जा चुका है कि सर्वप्रथम इसका आविर्भाव महाराष्ट्र में हुआ, इसके बाद बंगभंग के पश्चात् बंगाल में इस आन्दोलन का विकास हुआ। इसका तीसरा बड़ा केन्द्र भारत से बाहर श्यामजी कृष्ण वर्मा द्वारा लन्दन में बनाया गया। उन्होंने वहाँ इण्डिया हाउस तथा इंडियन होमरूल लीग सोसायटी की स्थापना की। एक पृथक् अध्याय में इनका वर्णन किया गया है। महात्मा मुंशीराम अजमेर में श्यामजी कृष्ण वर्मा द्वारा भक्त रैमलदास के साथ किये मनमाने व्यवहार से रुष्ट थे। यह कहना कठिन है कि इस कारण से या अन्य किसी कारण से महात्मा मुंशीराम ने १९०५ ई० में इण्डियन होमरूल सोसायटी की स्थापना करने के लिए श्यामजी का उपहास करते हुए लिखा था—"उन्हें ऐसे भारतीय कहाँ से मिलेंगे, जो अपने देश के लिए सहर्ष जेल की यातना सहने के लिए तैयार हों ?" इसके साथ ही महात्माजी ने यह भी टिप्पणी की थी कि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि दो-तीन शताब्दियों के बाद ऐसा समय अवश्य आयेगा जब अंग्रेजों को भारत छोड़ना पड़ेगा।[2]

महात्मा मुंशीराम की उपर्युक्त टिप्पणी की दोनों बातें समय ने शीघ्र ही झुठला

---

१. सत्यदेव विद्यालंकार—स्वामी श्रद्धानन्द, पृ० ४७२-३

२. सिलेक्शन्स फ्राम वर्नाकुलर प्रेस (पंजाब) १९०५ ई०, पृ० २१७

दीं। श्यामजी कृष्ण वर्मा ने २-३ वर्ष के भीतर ही मातृभूमि पर प्राणों का उत्सर्ग करने वाले क्रान्तिकारी वीर युवकों की टोली लन्दन में एकत्र कर ली। इसके उल्लेखनीय सदस्य विनायक दामोदर सावरकर और मदनलाल ढींगरा जैसे व्यक्ति थे जो देश के लिए हर प्रकार के कष्ट को—आजन्म कारावास तथा प्राणदण्ड की सजा को सहर्ष सहने के लिए उद्यत थे। भारत को उपर्युक्त लेख के ४२ वर्ष बाद ही स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी जब अंग्रेजों को द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से बाधित होकर भारत छोड़ना पड़ा।

मुंशीरामजी समाजविरोधी हिंसक तत्त्वों के दमन में दृढ़ विश्वास रखते थे और देशभक्ति से प्रेरित होकर हिंसा का कार्य करने वाले क्रान्तिकारियों के उग्र विरोधी थे। ज्यों-ज्यों आर्यसमाज के बारे में सरकार की राजद्रोह की आशंका प्रबल हुई और उसने आर्यसमाज के प्रति कड़ा रख अपनाया, त्यों-त्यों स्वामीजी क्रान्तिकारियों और अराजकतावादियों के दमन में यहाँ तक उग्र हो गये कि उन्होंने आर्यसमाजियों को यह परामर्श दिया कि वे सरकार को इनके दमन में पूरी सहायता करें। ९ फरवरी १९१० ई० के **सद्धर्म प्रचारक** के अंक में उन्होंने 'सरकार के प्रति आर्यसमाज का कर्तव्य' शीर्षक लेख में लिखा था कि "कुछ गुमराह, गरम दिमाग वाले युवकों द्वारा की जाने वाली हत्याओं की कड़ी निन्दा की जानी चाहिए। वे नहीं जानते हैं कि वे देश को कितना भारी नुकसान पहुँचा रहे हैं और देश की उन्नति में कितनी बाधा डाल रहे हैं। नवीन विचारों से प्रभावित ये नवयुवक भूल जाते हैं कि उनके पूर्वजों ने निर्दोष व्यक्तियों की हत्या करने की कितनी घोर निन्दा की है। यदि वे देश का भला करना चाहते हैं तो सद्गुणों का विकास करना चाहिए। कोई विचारशील व्यक्ति सरकार द्वारा अपनाये गये कठोर दमन के उपायों के लिए उसे दोष नहीं दे सकता है। किन्तु ऐसे उपायों का स्थायी प्रभाव नहीं होगा। वे कायरों के दिल से डर निकाल देंगे और उन्हें इसके लिए दुस्साहसी बना देंगे। आर्यसमाज के लिए यह अच्छा अवसर है कि वह राजद्रोह के दमन में सरकार को पूरी सहायता दे, प्रत्येक कस्बे और गाँव में नवयुवकों को सत्परामर्श देकर उनका पथ-प्रदर्शन करे और नौजवानों को पथ-भ्रष्ट होने से बचाये। यह देश एवं देशवासियों के प्रति उनकी उच्चतम सेवा होगी।"[1]

इस अवधि में महात्माजी अंग्रेजों के प्रशंसक और समर्थक थे और यह समझते थे कि "अंग्रेज भारतीयों की तुलना में अधिक सद्गुण रखते हैं और केवल वही एकमात्र आर्य होने का दावा कर सकते हैं और इसलिये वे विश्व पर शासन कर रहे हैं।"[2] अंग्रेजों के प्रशंसक होते हुए भी महात्माजी कई बार अंग्रेजों को कुछ सत्परामर्श भी देते रहते थे। जब एंग्लो-इण्डियन पत्रों ने आर्यसमाज के विरुद्ध विषैला प्रचार करके सरकार के दिल में आर्यसमाज के प्रति सन्देह उत्पन्न करने का प्रयास किया तो उन्होंने 'सद्धर्म प्रचारक' में इसका विवेचन करते हुए लिखा कि—"अब भारतवासी बच्चे नहीं हैं और ब्रिटिश सरकार के सर्वोत्तम हितों की सिद्धि इसी प्रकार हो सकती है कि वह भारतीय जनता को मित्र

---

१. सद्धर्म प्रचारक, ९ फरवरी १९१० ई०, सिलेक्शन्स (संयुक्त प्रान्त) १९१० ई०, पृ० १६३

२. सिलेक्शन्स (पंजाब) १९०२ ई०, पृ० १५

समझे, उनकी बातों पर ध्यान दे और एंग्लो-इण्डियन पत्रों के बहकावे में न आये।"[1]

जब ब्रिटिश सरकार आर्यसमाज के उपदेशकों को राजद्रोही प्रचारक समझने लगी और उसके गुप्तचर इनका पीछा करने लगे तो एक व्यक्ति ने 'सद्धर्म प्रचारक' में प्रकाशित किये गये एक पत्र में लिखा था कि "पुलिस आर्यसमाज के उपदेशकों का पीछा कर रही है, उनके कार्यक्रमों की सूचना अधिकारियों को दे रही है। यह कहना कठिन है कि पुलिस आर्यसमाज से क्या चाहती है। किन्तु यह देखने में आया है कि जहाँ आर्यसमाज का सरकारी अधिकारियों से घनिष्ठ सम्बन्ध है, वहाँ पुलिस उपदेशकों का पीछा नहीं करती है। किन्तु जहाँ आर्यसमाज के विरोधी प्रबल हैं और समाज के अधिकारी सरकारी अधिकारियों से अलग रहते हैं वहाँ समाज पर अत्याचार अवश्य होता है।" लाला मुंशीराम ने पत्र-लेखक के विचारों से सहमति प्रकट करते हुए यह लिखा था कि "आर्यसमाज को सरकार के साथ सम्पर्क अधिक बढ़ाना चाहिए और उत्तरप्रदेश के छोटे लाट को भी इस विषय में आवश्यक कार्यवाही करनी चाहिए।"[2]

(४) ब्रिटिश सरकार की आलोचना—१९०५ ई० के बंगभंग-आन्दोलन का सारे देश पर प्रबल प्रभाव पड़ा। महात्मा मुंशीराम भी इससे अछूते नहीं रहे और उन्होंने बंगाल सरकार द्वारा किये जाने वाले भीषण दमन की निन्दा करते हुए कहा कि इससे न केवल बंगाल, अपितु समूचा भारतवर्ष शोकग्रस्त हो गया है।[3] बंग-भंग के बाद पूर्वी बंगाल के गवर्नर सर बैम्पफील्ड फुलर बनाये गये थे। उनकी सरकार ने वहाँ वन्देमातरम् का नारा लगाने वालों को बेंतों की सजा देना शुरू किया। इस राष्ट्रीय गीत को गाने वालों को गिरफ्तार किया जाने लगा। इसकी निन्दा करते हुए महात्मा मुंशीराम ने लिखा था—"फुलर ने नये प्रान्त में आतंक का राज्य स्थापित कर दिया है और यदि उनमें कुछ भी स्वाभिमान हो तो उन्हें त्यागपत्र दे देना चाहिए।"[4] वे भारत में ब्रिटिश शासन की आलोचना करने लगे थे। उनका कहना था कि भारत सरकार महारानी विक्टोरिया की घोषणा के अनुसार शासन नहीं कर रही है। भारतवासियों को अब सरकार से न्याय पाने की आशा नहीं रही है।[5] अपने एक लेख में उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि ऐसी सरकार को अपनी जनता से ऐसी आशा रखने का कोई अधिकार नहीं है कि वह उसे शासनकार्य में सहायता प्रदान करे।[6] एक अन्य लेख में उन्होंने लिखा था कि—"प्रिन्स आफ वेल्स के सम्मुख हाथियों की परेड करवाने के स्थान पर उन करोड़ों भूखे-नंगे निराश्रय भारतीयों का जुलूस निकाला जाना चाहिए जिन्हें दुर्भिक्षों ने अपने जन्म-स्थानों से निकलने और भीख माँगने के लिए विवश कर दिया है।"[7] इस समय तक वे इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि "भारत में कुशासन की जड़ नौकरशाही है, वह उच्च अधिकारियों

---

१. वही
२. सद्धर्म प्रचारक, २५ मई १९१० ई०, सिलेक्शन्स (संयुक्त प्रान्त), पृ० ५१४
३. सिलेक्शन्स (पंजाब) १९०५ ई०, पृ० २६३
४. सिलेक्शन्स (पंजाब) १९०५ ई०, पृ० ३८९; १९०६ ई०, पृ० १७२
५. सिलेक्शन्स (पंजाब) १९०६ ई०, पृ० १९, १३०
६. सिलेक्शन्स (पंजाब) १९०६ ई०, पृ० १०९
७. सिलेक्शन्स (पंजाब) १९०६ ई०, पृ० १९०

को अपने नियन्त्रण में रखती है और उनसे बिना पूछे कोई कार्य नहीं करती है।"[1] यदि प्रिंस आफ वेल्स भारत के साथ सहानुभूति भी रखें तो भी ब्रिटिश सम्राट् केवल कुछ शब्द कहने के सिवाय कुछ नहीं कर सकते हैं। वे वही शब्द बोलते हैं जो सत्तारूढ़ दल द्वारा उनके भाषण में रखे जाते हैं।" फिर भी महात्मा मुंशीराम को ब्रिटिश शासन में पूरा विश्वास था—"यदि राजा और ब्रिटिश पार्लियामेण्ट चाहे तो वह भारत के शासन में सुधार कर सकती है और उससे भारत की जनता को बड़ा लाभ पहुँच सकता है।" उन्होंने १९०६ ई० में एक लेख में लिखा था—"सम्राट् और पार्लियामेण्ट का यह कर्तव्य है कि वह सच्चे अर्थों में इस देश की सरकार को अपने नियंत्रण में रखे ताकि वह भारत में ब्रिटिश शासन के आधार को सुदृढ़ बनाये और मूक भारतीयों के साधुवाद का पात्र बने।"[2]

महात्मा मुंशीराम कांग्रेस से प्रायः असहमत रहते थे, किन्तु उसके स्वदेशी के कार्यक्रम से उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। इसकी सराहना करते हुए उन्होंने लिखा—"स्वदेशी का आन्दोलन न केवल देश को लाभ पहुँचा सकता है, अपितु यह जनता को (आर्थिक शोषण के) अत्याचार का बदला लेने में भी समर्थ बना सकता है।"[3] उन्हें यह इस दृष्टि से भी उपयोगी प्रतीत होता था कि इसमें कांग्रेस को जन-आन्दोलन बनाने की पूरी सम्भावना थी।[4] वे कांग्रेस की सफलता के लिए इसे आवश्यक समझते थे। इसी दृष्टि से उन्होंने १९०६ ई० की राष्ट्रीय महासभा में दादाभाई नौरोजी द्वारा दिये गये भाषण की सराहना की थी। इसमें अध्यक्ष-पद से बोलते हुए उन्होंने कहा था कि कांग्रेस को चाहिए कि वह अनपढ़ गाँववासियों को इनके राजनैतिक अधिकारों से अवगत कराये। इसका समर्थन करते हुए उन्होंने 'सद्धर्म प्रचारक' में लिखा था—"जब तक कांग्रेस-आन्दोलन के नेता प्रत्येक गाँव में जाकर वहाँ रहने वालों को उनके अधिकारों से अवगत नहीं कराते हैं, तब तक भारतीयों के लिए स्वशासन जैसे नारे बिलकुल बेकार हैं। यह ऐसा काम है कि इसे पूरा करने के लिए अपने जीवन का बलिदान करने में भी संकोच नहीं करना चाहिए।"[5]

चापलूसी से महात्मा मुंशीराम को बड़ी चिढ़ थी। वे ब्रिटिश सरकार के खुशामदियों की कड़ी निन्दा 'सद्धर्म प्रचारक' में किया करते थे। पंजाब के लेफ्टिनैण्ट गवर्नर इब्बटसन ने आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था मानते हुए कहा था कि "जहाँ-जहाँ आर्यसमाज है, वहाँ-वहाँ बगावत है।" लाला लाजपतराय तथा सरदार अजीतसिंह को देश-निर्वासन का दण्ड दिलाने में उनका प्रमुख भाग था। उनके सेवानिवृत्त होने के बाद जब कुछ चापलूसों ने उनका स्मारक बनाने का आन्दोलन शुरू किया तब महात्मा मुंशीराम ने रायबहादुर लालचन्द, मोहनलाल तथा ईश्वरदास के नाम देते हुए लिखा था[6]—"क्या ये रायबहादुरान इब्बटसन साहब के इसलिए कृतज्ञ हैं कि उन्होंने उनके आर्य भाई लाला लाजपतराय को बिना अपराध देश-निकाला दिया था? सम्भव है, रायबहादुर

---

१. सिलेक्शन्स (पंजाब) १९०६ ई०, पृ० ६७
२. वही (पंजाब) १९०६ ई०, पृ० १९
३. सिलेक्शन्स १९०६ ई०, पृ० १९
४. वही (पं०) १९०५ ई०, पृ० २५०
५. वही (पं०) १९०७ ई०, पृ० ४०
६. सत्यदेव विद्यालंकार—स्वामी श्रद्धानन्द, पृ० ४६९

भक्त नारायण दास एम० ए० भी इस शुभ कार्य में दिल खोलकर चन्दा दें। मैं उनसे पूछूंगा कि क्या यह ठीक नहीं है कि आप गुजरांवाला की डिप्टी कमिश्नरी करते हुए डब्बटसन के धमकाने पर ही आर्यसमाजों के अधिवेशनों में न जाते थे ? यह सच है कि वर्तमान अवस्था में रायबहादुरों को लाट साहबों की खुशामद करनी पड़ती है, किन्तु खुशामद की भी कहीं हद होनी चाहिए।"

ऐसा प्रतीत होता है कि कई बार स्वामीजी के साथी सम्भवतः आर्यसमाज के हित को दृष्टि में रखते हुए उन्हें ब्रिटिश शासकों को प्रसन्न करने के लिए किये जाने वाले भव्य प्रदर्शनों में सम्मिलित होने के लिए बड़ा आग्रह करते थे और स्वामीजी को विवश होकर इनमें शामिल होना पड़ता था। उनकी स्वाभिमानी अन्तरात्मा नहीं चाहती थी कि वे ऐसे अवसरों पर उपस्थित हों, किन्तु समाज के कल्याण की दृष्टि से उन्हें ऐसा करना पड़ता था। ऐसा ही एक अवसर ब्रिटिश सम्राट् जार्ज पंचम के राज्यारोहण के अवसर पर दिल्ली में आयोजित शाही दरबार का था। इसमें आर्यसमाज द्वारा राज-भक्ति प्रदर्शित करने के लिए एक समारोह की व्यवस्था की गई। स्वामीजी इसमें सम्मिलित नहीं होना चाहते थे, उन्होंने शाही दरबार को 'तमाशागाह' का व्यंग्यपूर्ण नाम दिया था। वे सम्भवतः इसमें जाने को देर तक टालते रहे, किन्तु जब उन्हें अन्त में साथियों के आग्रह से बाधित होकर इसके लिए दिल्ली जाना पड़ा तो उन्होंने १२ दिसम्बर १९११ ई० के पत्र में अपने पुत्र इन्द्र को लिखा था—

"१३ के लिए तमाशागाह में मुझे भी जाना पड़ेगा। बहुत-से खुशामदियों ने बड़ी मट्टी पलीत कर दी है। इसके रोकने का कुछ उपाय सोचना ही पड़ेगा।"

इससे स्पष्ट है कि वे ब्रिटिश अधिकारियों की चापलूसी करने वाले अधिकारियों को आर्यसमाज की कीर्ति को कलंकित करने वाला समझते थे और उनके प्रतिकार का उपाय करना चाहते थे। उन्होंने इसके लिए क्या किया, इसका कोई प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं है। किन्तु यह पत्र इस बात को बड़े स्पष्ट शब्दों में प्रकट करता है कि इस विषय में उनके हार्दिक मनोभाव क्या थे और चापलूसी को वे समाज के लिए कितना घातक समझते थे।

इसी प्रकार वे राजनीति में नैतिकता को तिलांजलि देने वाले व्यक्तियों के भी कड़े आलोचक थे। अमरावती से प्रकाशित होने वाला 'कर्तव्य' नामक पत्र सरकार की कड़ी आलोचना किया करता था। जब उसे ऐसे गरम लेख लिखने के लिए चेतावनी दी गयी तो उसने लिखा—"हम कर्तव्यपालन से कभी विमुख नहीं होंगे।" दिसम्बर १९०७ में जब उस पर राजद्रोह का मुकद्दमा चला तो उसने क्षमा माँग ली। इस पर महात्मा जी ने लिखा—"ऐसे गिरे हुए लफंगे यदि स्वराज्य प्राप्त करते हों तो यह विचारणीय है कि वह स्वराज्य कहीं रसातल ले जाने वाला तो नहीं सिद्ध होगा ?"

१९०७ से १९१० ई० के तीन वर्षों में 'सद्धर्म प्रचारक' तथा अन्य पत्रों में लिखे गये लेखों तथा भाषणों में उन्होंने तीन विषयों पर बार-बार बल दिया है[1]—(१) आर्य-समाज विशुद्ध रूप से धार्मिक संस्था है, इसका राजनीति से अथवा राजनैतिक दल से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस समय आर्यसमाज के विरोधी कहा करते थे कि स्वामी दयानन्द

१. सिलेक्शन्स (पंजाब) १९०८, पृ० ६१, ६७०१; ९०९, पृ० २८९

ने अपने ग्रन्थों में राजद्रोही सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इस विषय में उन्होंने 'सिविल एण्ड मिलिटरी गजट' में तथा 'आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स' में विस्तारपूर्वक यह प्रतिपादित किया कि विरोधियों द्वारा स्वामीजी के राजनीति-विषयक सन्दर्भों तथा अवतरणों की जो व्याख्या की जाती है वह सही नहीं है, उन्होंने स्वामीजी के अभिप्राय को ठीक तरह नहीं समझा है। इस विषय का पिछले अध्यायों में विवेचन किया गया है।

(२) दूसरा विषय था आतंकवाद की कड़े शब्दों में निन्दा करना। वे बम और हिंसा की राजनीति के उग्र विरोधी थे। बंगाल के 'युगान्तर' जैसे क्रान्तिकारी पत्रों को फौरन जला देने के पक्ष में थे, क्योंकि उनका विचार था कि ये पत्र युवकों को पथभ्रष्ट करने वाले थे। "यदि कोई आर्य राजनैतिक हिंसा और हत्या के विचारों का प्रचार करता है तो वह आर्य कहलाने योग्य नहीं है, उसको प्राणदण्ड दिया जाना चाहिए। आतंकवादियों ने बम, पिस्तौल आदि के साधनों का प्रयोग आर्य सभ्यता से नहीं सीखा, किन्तु इसका पाठ इंग्लैण्ड से पढ़ा है।" कांग्रेस के गरम दल वालों को भी वे आतंकवादियों का साथ देने वाला और उतना ही निन्दनीय और त्याज्य समझते थे। उनका विचार था कि—"धर्म और नैतिकता का विध्वंस करने वाले सिद्धान्तों का अनुसरण करने वाले गरम दल से कोई व्यक्ति सहानुभूति नहीं रख सकता है।" महात्माजी ने सूरत कांग्रेस में फूट डालने के लिए गरमदल को ही उत्तरदायी ठहराया था। वे इन्हें शासन करने के लिए सर्वथा अयोग्य समझते थे। इस प्रकार इनकी तीव्र निन्दा के द्वारा महात्मा मुंशीराम यह स्पष्ट रूप से सिद्ध करना चाहते थे कि सरकार द्वारा राजद्रोही समझे जाने वाले किसी भी राजनैतिक दल से आर्यसमाज की तनिक भी सहानुभूति नहीं है।

(३) इस समय का तीसरा विषय सरकार तथा सैनिक अधिकारियों द्वारा आर्य-समाजियों को सताए जाने की घटनाओं का प्रचार करना था ताकि आर्यसमाजियों पर किये जाने वाले अत्याचार बन्द हों। वच्छोवाली आर्यसमाज के १९०७ तथा १९०८ ई० के वार्षिकोत्सवों पर दिये भाषणों में तथा 'आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स' में इस विषय का उन्होंने विस्तार से प्रतिपादन किया था। अन्य अध्यायों में इसकी चर्चा की गयी है। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि सरकारी अधिकारी इस प्रकार का व्यवहार करके जनता की दृष्टि में ब्रिटिश सरकार की प्रतिष्ठा कम कर रहे हैं।

(२) दिल्ली के राष्ट्रीय जागरण में स्वामी श्रद्धानन्द की भूमिका

महात्मा मुंशीराम ने १९१९ ई० के आरम्भ तक राजनीति में कोई भाग न लिया था। वे सदैव इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते रहे थे कि आर्यसमाज धार्मिक संस्था है; उसका राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है और उसे अपना कार्यक्षेत्र धार्मिक और सामाजिक सुधार के क्षेत्रों तक मर्यादित रखना चाहिये; राजनैतिक मामलों से पृथक् रहना चाहिए। इसके अनुसार उन्होंने देश के किसी राजनैतिक आन्दोलन में कोई भाग नहीं लिया था। केवल इसकी विभिन्न घटनाओं और पार्टियों पर वे तटस्थ आलोचक की भाँति सद्धर्म-प्रचारक में टिप्पणियाँ तथा लेख लिखते रहे थे। इन दिनों उनका राजनैतिक चिन्तन, राज-भक्ति से ओतप्रोत तथा ब्रिटिश सरकार के प्रति गहरी निष्ठा की भावना से अनुप्राणित था। वे आर्यसमाज के धर्म-प्रचार तथा भारतीयों की नैतिक निर्बलताओं को दूर करने के लिए दो-तीन शताब्दियों तक भारत में ब्रिटिश शासन का बना रहना

आवश्यक समझते थे। जिस समय स्वामीजी ने १९१७ ई०में संन्यासाश्रम में प्रवेश किया वे महात्मा मुंशीराम से स्वामी श्रद्धानन्द बने, उस समय सम्भवतः कोई भी व्यक्ति यह कल्पना नहीं कर सकता था कि वे इतनी जल्दी और इतने बड़े पैमाने पर देश के राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेंगे और जन-जागरण में इतनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करेंगे। इसका प्रधान कारण उनकी तथा देश की परिस्थितियों में मौलिक परिवर्तन आना था। इससे वे राजभक्त मुंशीराम से राजद्रोही स्वामी श्रद्धानन्द बने। राजनैतिक क्षेत्र में उनका पहला महत्त्वपूर्ण कार्य दिल्ली में अद्भुत राष्ट्रीय जन-जागृति उत्पन्न करना तथा देश की एक प्रमुख समस्या हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का समाधान करना था। इस प्रसंग में उनके इस कार्य की समीक्षा करने से पहले तत्कालीन परिस्थिति और विचारों में परिवर्तन लाने वाले कारणों का संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है।

(क) **संन्यासी की स्थिति**—संन्यासाश्रम में प्रवेश करते ही स्वामीजी की स्थिति में मौलिक परिवर्तन हो गया। गृहस्थाश्रम के सभी बन्धनों से मुक्त होकर व्यक्ति संन्यासी बनता है; इस आश्रम में वह सर्वथा निःस्वार्थ एवं वीतराग होकर निष्काम दृष्टि से समूचे संसार का कल्याण करता है; परोपकार एवं परमार्थ की भावना से अपने सभी काम करता है। स्वामीजी यद्यपि संन्यास लेने से पहले भी वीतरागी यति का जीवन व्यतीत कर रहे थे, किन्तु वे आर्यसमाज और उनकी संस्थाओं—गुरुकुल आर्य-प्रतिनिधि सभा आदि से बँधे हुए थे। संन्यासी बनने के बाद उनका क्षेत्र विशाल हो गया। वे देश एवं संसार के उपकार की दृष्टि से सब काम करने लगे। अब आर्यसमाज के नियम देश के सार्वजनिक कल्याण और जनहित की दृष्टि से राजनैतिक क्षेत्र में काम करने में उनके लिए बाधक नहीं थे। लोककल्याण की दृष्टि से वे इस क्षेत्र में काम करने के लिए पूर्णरूप से स्वतन्त्र थे।

स्वामीजी के संन्यासी बनने के बाद उनके मित्रों को इस बात पर बड़ा आश्चर्य होना स्वाभाविक था कि वे राजनैतिक क्षेत्र में क्यों काम करने लगे हैं, जबकि पहले वे धार्मिक क्षेत्र में ही काम करते थे? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने अमृतसर कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष-पद से दिये गये अपने भाषण में कहा था—"इस राष्ट्रीय महासभा के इतिहास में शायद यह पहला अवसर है जब संन्यासी इस शानदार वेदी पर खड़ा दिखाई देता है। जिस दिन से मैं स्वागतकारिणी सभा का सभापति चुना गया, उसी दिन से यह प्रश्न हो रहा है कि क्या संन्यासी को राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेना चाहिए? मेरा उत्तर बहुत सीधा है। जिस दिन से मैंने पवित्र संन्यासाश्रम में प्रवेश किया, उसी दिन मे सारे संसार को एक परिवार, सारे संसार के धन को एक आँख से देखने और लोक-लज्जा को छोड़कर लोकसेवा में दत्तचित्त होने का व्रत धारण कर लिया। सनातन वैदिक धर्म की रक्षा के लिए जो सम्प्रदाय (सनातन धर्म समाज, आर्यसमाज और अन्य समाजें) भारतवर्ष में स्थापित हैं, उनका प्रश्न है कि संन्यासी का राजनीति से क्या सम्बन्ध है? मेरा उत्तर है—वेद मुझे आज्ञा देता है कि सौ बरस की उम्र तक जीने की आशा कर्म करते हुए करूँ। परन्तु शर्त यह है कि उन कर्मों में फँसूँ नहीं।"

(३) रॉलट एक्ट का निर्माण

प्रथम विश्वयुद्ध में भारत ने ब्रिटेन को विजयी बनाने के लिए धन-जन की अपार

सहायता की थी और ब्रिटिश राजनेताओं ने भारतीयों की सद्भावना एवं विश्वास प्राप्त करने के लिए यह आश्वासन दिया था कि लड़ाई के बाद भारत को शनैः-शनैः उत्तरदायी शासन दिया जायेगा। किन्तु ऊपर से यह आश्वासन देते हुए भी, भारत सरकार ने प्रथम विश्वयुद्ध में ही देश को स्वतन्त्र कराने के क्रान्तिकारी प्रयत्नों को रोकने के लिए आवश्यक कानून बनाने का निश्चय किया। इसके लिए उसने एक ब्रिटिश न्यायाधीश रॉलट की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। इसे अध्यक्ष के नाम से रॉलट कमेटी कहते हैं। इसकी सब बैठकें गुप्त रूप से की गयीं और उनमें सरकार ने क्रान्तिकारियों की गतिविधियों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। इस पर विचार करने के बाद रॉलट कमेटी ने १५ अप्रैल १९१८ ई० को सरकार को अपनी रिपोर्ट दी। इसमें समिति ने क्रान्तिकारी आन्दोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विस्तार से प्रकाश डाला और भविष्य में ऐसी गतिविधियों की रोकथाम के लिए विशेष कानून बनाने की सिफारिशें कीं।

इन सिफारिशों के आधार पर भारत सरकार ने दो बिलों का मस्विदा तैयार किया। इनमें से एक विधेयक भारतीयों के तीव्र विरोध के बावजूद पास करके कानून बना दिया था। इसे रॉलट कमेटी के अध्यक्ष के नाम से रॉलट एक्ट कहा जाता है। इस कानून में क्रान्तिकारी अपराधों के शीघ्र निपटारे के लिए विशेष अदालतें बनाने की व्यवस्था की। इन अदालतों के निर्णयों के विरुद्ध कोई अपील नहीं की जा सकती थी। प्रान्तीय सरकारों को बिना वारण्ट के किसी भी स्थान की और किसी भी व्यक्ति की तलाशी और संदिग्ध व्यक्ति को गिरफ्तार करके कहीं भी बन्दी बनाकर रखने का अधिकार था। अमृतसर के एक अखबार 'वक्त' ने इस कानून के विषय में भारतीयों की प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए एक कार्टून छापा था। इसमें रॉलट एक्ट को काले जहरीले नाग के रूप में चित्रित किया गया था जो किसी भी समय किसी भी भारतीय को डस सकता था और उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण कर सकता था। इस कानून से भारत में ऐसे स्वेच्छापूर्ण शासन का दौर शुरू हुआ जिस पर 'न अपील, न दलील, न वकील' की उक्ति पूरी तरह चरितार्थ होती थी।

महात्मा गांधी का राजनीति में प्रवेश—तीसरा कारण धार्मिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों को असाधारण महत्त्व देने वाले महात्मा गांधी का भारतीय राजनीति में प्रवेश था। महात्मा मुंशीराम चिरकाल से कांग्रेसी नेताओं को नैतिकता का स्तर उठाने के लिए कह रहे थे; वे भारत की पराधीनता का मूल कारण नैतिक गुणों की कमी मानते थे, उन्हें धर्मशून्य चरित्रहीन राजनीति में कोई दिलचस्पी नहीं थी। किन्तु जब गांधीजी ने इसका अध्यात्मीकरण किया तो इसने उन्हें चुम्बक की तरह अपनी ओर खींच लिया। गांधीजी की राजनीति में आत्मशुद्धि, पूरी निष्ठा के साथ देश के लिए समर्पण, त्याग और बलिदान की भावना ने उन्हें बहुत प्रभावित किया। इससे पहले कांग्रेस के नेताओं में इन सब भावनाओं का शोचनीय अभाव था। महात्मा गांधी उन्हें समानधर्मा प्रतीत हुए। वे अन्य कांग्रेसी नेताओं की भाँति शासन में कुछ सुविधाएँ और अधिकार पाने के लिए अथवा वायसराय की परिषद् में या धारा सभा में सीट पाने के वैयक्तिक प्रलोभन के लिए नहीं, अपितु समूचे भारत की स्वतन्त्रता तथा मानवीय अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे थे। यह बात महान् उद्देश्यों के लिए जीवन अर्पण करने वाले स्वामी श्रद्धानन्द के लिए अधिक रुचिकर थी।

इस समय संयोग से स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा दिल्ली की राजनीति में भाग लेने का एक अन्य कारण यह भी था कि वे अपने पुत्र इन्द्र विद्यावाचस्पति के साथ दिल्ली में रह रहे थे। श्री इन्द्र १९१८ ई० के अन्त में दिल्ली आ गये थे और अपने पिता के तत्त्वावधान में निर्भीक राष्ट्रीय दैनिक पत्र 'विजय' का सम्पादन कर रहे थे। वे राष्ट्रीय क्षेत्र में कार्य करने को उत्सुक थे और राजनीति में क्रान्तिकारी विचारों के अनुयायी थे। उनके कारण स्वामी श्रद्धानन्द भी राजनीति में गहरी दिलचस्पी ले रहे थे और मार्च १९१९ ई० की घटनाओं ने थोड़े समय में ही उन्हें दिल्ली का सर्वमान्य मूर्धन्य नेता बना दिया। दिल्ली में उन्होंने जनसाधारण में जो राष्ट्रीय जागृति और हिन्दू-मुस्लिम एकता उत्पन्न की, वह अभूतपूर्व थी। यहाँ इसकी प्रमुख घटनाओं का उल्लेख किया जाएगा।

प्रथम विश्वयुद्ध में भारत ने धन और जन-बल से अंग्रेजों की बहुत अधिक सहायता की थी। युद्धकाल में लड़ाई जीतने के लिए सरकार ने भारत-रक्षा कानून के अन्तर्गत नागरिकों की स्वतन्त्रता पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये थे; लोकमान्य तिलक तथा एनी बीसेण्ट जैसे राष्ट्रीय नेताओं को पकड़ लिया था। जनता को यह आशा थी कि लड़ाई के बाद नागरिक स्वतन्त्रता पर लगाये गये प्रतिबन्ध हटा लिये जायेंगे। किन्तु इसी समय सरकार ने राजद्रोह के निवारण के उपायों पर विचार करने के लिए इंग्लैण्ड के न्यायाधीश सर सिडनी रॉलट की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्ति की और इसने अपनी रिपोर्ट में भारत में राजद्रोह के प्रयासों का विवरण देते हुए इसे रोकने के लिए ऐसे कठोर कानून बनाने की सिफारिश की जिससे युद्धकाल में नागरिकों पर लगाये अल्पकालीन प्रतिबन्धों को स्थायी रूप से बनाने की व्यवस्था थी। इससे नागरिकों की मौलिक स्वतन्त्रताओं का हनन होता था। गांधीजी का यह विचार था कि रॉलट कमेटी की सिफारिशों को कोई भी स्वाभिमानी व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता है। जब यह बिल विचार के लिए वायसराय की व्यवस्थापिका परिषद् में पेश किया गया तो परिषद् के सभी सदस्यों ने इसका विरोध करने का निश्चय किया और परिषद् की बैठक से उठ जाने तक का भी निर्णय किया। माननीय श्रीनिवास शास्त्री ने इसके विरोध में जबरदस्त भाषण दिया, किन्तु वे विरोध में परिषद् से बाहर आने को तैयार नहीं थे। अन्य कांग्रेसी नेताओं का भी यही हाल था। विरोधी होते हुए भी इसके विरुद्ध कोई प्रभावशाली कार्यवाही करने का उपाय उन्हें नहीं सूझ रहा था। किंकर्त्तव्यविमूढ़ होने से वे इस विषय में देश का पथ-प्रदर्शन और नेतृत्व करने में समर्थ नहीं थे। वायसराय की व्यवस्थापिक परिषद् में सरकारी सदस्यों का बहुमत था। भारतीय सदस्यों का विरोध अरण्यरोदन मात्र था। यह बिल परिषद् द्वारा पास कर दिया गया। १८ मार्च १९१९ ई० को यह सारे देश में लागू हो गया।

रॉलट एक्ट विरोधी सत्याग्रह—इस समय गांधीजी ने इसके विरुद्ध सत्याग्रह और धर्मयुद्ध करने का निश्चय किया। उन्होंने अपनी आत्म-कथा में लिखा है कि १८ मार्च १९१९ ई० की रात को वे देर तक यह सोचते रहे कि इसका प्रतिरोध किस प्रकार किया जाए। प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उनके मन में यह विचार आया कि यह हमारा पावन संघर्ष है। इसे आत्मशुद्धि के साथ करना अधिक उपयुक्त होगा। अतः जिस दिन यह कानून बने, उस दिन सब व्यक्तियों को अपना काम बन्द रखना चाहिए और उन्हें अपना सारा समय २४ घण्टे तक उपवास रखते हुए प्रार्थना में व्यतीत करना चाहिये। इस कानून के

विरुद्ध एक सत्याग्रह आन्दोलन चलाना चाहिए। प्रत्येक सत्याग्रही को अहिंसक रहने के के लिए एक प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करने होते थे। इन पर हस्ताक्षर करने वाले ही सरकारी नियमों की अवज्ञा करके सत्याग्रह-आन्दोलन में भाग ले सकते थे। बम्बई में गांधीजी ने इस प्रतिज्ञापत्र को तैयार कर लिया था।

तत्कालीन कांग्रेसी नेताओं के लिए यह अनोखी बात थी। वे केवल लच्छेदार अंग्रेजी में भाषण करना और प्रस्ताव पास करना ही राजनीति समझते थे। उन्हें सत्याग्रह या राजनीति में धर्म को घुसेड़ने तथा सरकार के कानून तोड़ने की बात असह्य थी, किन्तु स्वामी श्रद्धानन्द के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक था। अतः जब श्रीनिवास शास्त्री ने स्वामी श्रद्धानन्द से महात्मा गांधी की सत्याग्रह की प्रतिज्ञा की ओर संकेत करते हुए कहा कि—"क्या आपने महात्मा का नया रंग देखा? लीजिये, इसको पढ़िये। मुझे इसका जरूर विरोध करना होगा।" स्वामीजी ने केवल उसके ऊपर का ही हिस्सा पढ़कर कहा कि—"मानवीय अधिकारों की रक्षा का यह पहला सिद्धान्त है, मैं स्वयं इस पर हस्ताक्षर करने को तैयार हूँ। क्या इसको प्रकाशित करने से पहले उन्होंने आपमें से किसी से सलाह नहीं ली?" उन्होंने शास्त्रीजी को गांधीजी का विरोध करने से मना करते हुए यह भी कहा कि—'क्यों आप ऐसे कार्य का व्यर्थ में विरोध करते हैं जिसकी जिम्मेवारी आप पर नहीं है? यदि आप गांधीजी से सहमत नहीं हैं तो आन्दोलन में इनका साथ मत दीजिए।" शास्त्रीजी अपनी बात पर अड़े रहे और इन्होंने कहा कि—"मैं तो विरोध करूँगा ही।" इस पर स्वामीजी ने वहाँ से उठते हुए कहा कि—"तो फिर मैं भी तुरन्त महात्माजी को तार देता हूँ कि रॉलट एक्ट के प्रतिकूल प्रतिज्ञा पर मैंने हस्ताक्षर कर दिये हैं।" इसके बाद निवास-स्थान पर आकर आपने तुरन्त महात्मा गांधी को तार दिया —"अभी-अभी सत्याग्रह की प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर कर दिये हैं। **इस धर्मयुद्ध में सम्मिलित होने में मैं बहुत प्रसन्न हूँ।**" इस तार का धर्म-युद्ध शब्द यह सूचित करता है कि स्वामीजी सत्याग्रह को पावन धार्मिक कर्तव्य समझकर इसमें भाग ले रहे थे। जब यह तार बम्बई जा रहा था तो गांधीजी दिल्ली आ रहे थे।

गांधीजी के दिल्ली आने पर दोनों महात्माओं में दिल खोलकर बातें हुईं। स्वामी जी ने महात्माजी के सामने अपना यह कार्यक्रम प्रस्तुत किया कि पंचायती अदालतें स्थापित करके सरकारी अदालतों का बहिष्कार किया जाय। अक्तूबर सन् १९१९ ई० तक भारत में दस ऐसे जिले तैयार किये जायँ जो एकसाथ भूमि का लगान देना बन्द कर दें। स्वामीजी ने पंजाब के पाँच जिलों को तैयार करने का भार स्वीकार करते हुए गुजरात के पाँच जिलों को तैयार करने का काम गांधीजी को स्वयं करने को कहा। इससे यह सूचित होता है कि इस समय स्वामीजी अंग्रेजों के प्रति निष्ठा और राजभक्ति से कितना दूर चले गये थे और ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध कार्यवाही के लिए न्यायालयों के बहिष्कार और लगानबन्दी के आन्दोलन को चलाने के लिये कितने उत्सुक एवं आतुर थे। इसी समय दोनों नेताओं में कुछ मतभेद भी प्रकट होने लगे थे। महात्मा गांधी देशभर के सत्याग्रह का संचालन बम्बई की केन्द्रीय कमेटी के अधीन रखना चाहते थे। स्वामीजी का विचार था कि स्थानीय कमेटियों को भी कुछ स्वाधीनता दी जानी चाहिए। महात्मा-गांधी ने इस पर हँसते हुए एक ही बात कही—"भाई साहब, आप देखेंगे कि सत्याग्रह के संचालन में मैं पूर्णतया दक्ष हूँ और मैं जानता हूँ कि मुझे क्या करना चाहिए।" स्वामी

जी ने महात्माजी की बात को मान लिया।

दिल्ली में ७ मार्च १९१९ ई० को सत्याग्रह के लिए जनता को तैयार करने के लिए पहली सार्वजनिक सभा हुई। १८ हजार की भीड़ की इस बैठक में स्वामी श्रद्धानन्द पहली बार राजनैतिक मंच पर खड़े हुए। उन्होंने सत्याग्रह की व्याख्या करते हुए लोगों को यह बताया कि यह आन्दोलन राजनैतिक की अपेक्षा धार्मिक अधिक है। दिल्ली के कट्टर आर्यसमाजी पण्डित रामचन्द्र महोपदेशक जैसे व्यक्ति स्वामीजी के प्रभाव से राजनीति की ओर खिंच आये। प्रायः समस्त देश के आर्यसमाजियों पर स्वामीजी के राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश करने का बड़ा प्रभाव पड़ा। इन दिनों स्वामीजी ने गुरुकुल काँगड़ी में शिल्पशिक्षा-सम्बन्धी योजना बनाने का काम अपने हाथ में पहले से ही ले रखा था। इसके लिए वे बड़ौदा और बम्बई गये। किन्तु बम्बई की सत्याग्रह कमेटी ने वहाँ स्वामीजी से अपने आन्दोलन का काम करा लिया। इसीलिए आप बंगलौर, मद्रास और बंगाल की यात्रा पर नहीं जा सके। बम्बई में स्वामीजी ने जनता को सत्याग्रह के सिद्धान्त समझाने के लिए पाँच व्याख्यान दिये। सूरत में १७-१८ को दो व्याख्यान हुए, १९ को भड़ोच में इसके लिए ठहरना पड़ा। २० को अहमदाबाद में वहाँ के मजदूरों-मालिकों के समझौते के वार्षिक समारोह में पचास हजार व्यक्तियों की उपस्थिति में स्वामीजी का भाषण हुआ। शाम को पुनः आपने एक विशाल जन-सभा में दूसरा भाषण दिया। स्वामीजी के व्याख्यानों का जनता पर बड़ा गहरा चमत्कारपूर्ण प्रभाव पड़ रहा था।

इन भाषणों के प्रभाव से तीन वर्ष पूर्व गुरुकुल काँगड़ी आने वाले वायसराय चेम्सफोर्ड बड़े चिन्तित हो उठे। उन्होंने भारत-सचिव मिस्टर माण्टेग्यू को एक विशेष तार भेजकर स्वामीजी के गांधीजी के साथ मिल जाने की शिकायत की। इस तार का आशय इस प्रकार था कि —"आन्दोलन तेजी पर है। महात्मा मुंशीराम—जिसने अब स्वामी श्रद्धानन्द का नाम रख लिया है—गांधी के साथ इस आन्दोलन में एक हो गया है। वह पुराना धार्मिक नेता है और समाज-सुधार के नाते भी उसने बहुत नाम कमाया है। अब मालूम होता है कि राजनैतिक आन्दोलनों के रूप में भी वह नाम पैदा करना चाहता है। कष्ट सहन करने का जब समय आएगा तब मालूम होगा कि उसमें सहन करने की कितनी शक्ति है। उसका बड़ा पुत्र ब्यूनो एयर्स (अर्जेण्टायना की राजधानी) में कभी एक सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी का मेहमान था। उसका छोटा लड़का देहली से सरकार-विरोधी देशी भाषा का गरम दैनिक पत्र निकाल रहा है। देखें क्या होता है।"[1]

२२ मार्च को जब स्वामीजी पश्चिमी भारत की यात्रा से दिल्ली लौटे तो उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उनके पीछे सत्याग्रह की तैयारी का काम ढीला पड़ गया है। न कोई सभा हुई, न सत्याग्रह के प्रतिज्ञा-पत्रों पर हस्ताक्षर कराये गये। स्वामीजी ने आते ही आन्दोलन में नई जान फूंक दी। ३० मार्च को रॉलट एक्ट के विरुद्ध हड़ताल सारे भारत में की जानी थी। इसके बारे में जनता को सब बातें बताने के लिए २४, २६ तथा २९ मार्च को दिल्ली के विभिन्न स्थानों पर विशाल जनसभाओं का आयोजन किया गया; तीनों में स्वामीजी के प्रभावशाली भाषण हुए। २९ तारीख की सभा में ३० मार्च की हड़ताल वाला सारा कार्यक्रम समझाते हुए स्वामीजी ने सब लोगों से कहा कि—"आप

---

१. सत्यदेव विद्यालंकार—स्वामी श्रद्धानन्द, पृ० ४१७-१८

में से प्रत्येक आध घण्टा भगवान् से प्रार्थना करे कि वे शासकों के हृदय बदल दें। अपनी प्रार्थना से हम सात समुद्र पार बैठे हुए सम्राट्, महामन्त्री और भारतमन्त्री का दिल भी पिघला सकते हैं।" इससे स्पष्ट है कि स्वामीजी रॉलट कानून रद्द कराने का राजनैतिक आन्दोलन धार्मिक भावना से चलाना चाहते थे।

चाँदनी चौक की घटना—३० मार्च की हड़ताल दिल्ली में अभूतपूर्व थी। उस दिन सड़क पर एक भी ताँगा और ट्राम नहीं चली। स्वामी श्रद्धानन्द ने दोपहर १२ बजे शहर का चक्कर लगाया। सब दुकानें बन्द थीं। सर्वत्र शान्ति थी। वे घर पर आकर आराम करने के लिए लेटे ही थे कि स्टेशन पर गड़बड़ी और गोली चलने का समाचार मिला। इसे सुनते ही वे स्टेशन पहुँचे। वहाँ जमा हुई तीन-चार हजार की भीड़ को वे कम्पनी बाग से चाँदनी चौक पर ले आये। यहाँ सेना तैनात थी। हाथ के इशारे से उन्होंने सैनिकों को रोका। उन्होंने किरचें तान लीं। लगभग तीन मिनट तक यह तनावपूर्ण स्थिति बनी रही। किरचें स्वामीजी की छाती पर ओढ़ी हुई चादर को पार कर कुर्ते तक पहुँच चुकी थीं कि एक घुड़सवार अंग्रेज सैनिक अधिकारी के उधर आ निकलने से "दिल्ली के इतिहास में लाल अक्षरों से लिखी जाने वाली रक्तरञ्जित घटना टल गयी और उसके बाद होने वाला सब कल्पनातीत अनर्थ भी टल गया। स्वामीजी कुछ ही आगे बढ़े कि एक गुरखा अपनी खुखरी घुमाता और चमकाता हुआ आपके पास आया; किन्तु न मालूम क्यों वह वार किये बिना पीछे लौट गया। इस समय कुछ मशीनगनें जनता की ओर निशाना साधे हुए पीछे-पीछे आ रही थीं। परन्तु जनता में से न तो कोई व्यक्ति भयभीत हुआ और न ही किसी ने दिल्ली के नाम को कलंकित करने वाला कोई हिंसात्मक कार्य किया।"

चाँदनी चौक में प्रदर्शित निर्भीकता, वीरता और साहस ने एक ही दिन में स्वामीजी को न केवल दिल्ली का, अपितु सारे भारत का अतीव लोकप्रिय राजनैतिक नेता बना दिया। इससे स्वामीजी के मन में भी यह विश्वास दृढ़ हुआ कि वे उत्तेजित और उत्पात करने वाली भीड़ को नियंत्रित कर सकते हैं। बाद में उन्होंने इस घटना के बारे में 'लिबरेटर' में लिखा था कि—"उस समय भीड़ नियन्त्रण में नहीं थी। वह उत्तेजित होकर दौड़ना चाहती थी। उसी समय मैंने उन्हें अपने हाथ का इशारा किया। एक छोटी-सी अपील में उन्हें अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण कराया और वे शान्त हो गये।"[1] इस समय उनमें जनता को अपने प्रभाव से मन्त्रमुग्ध करने की अपूर्व शक्ति थी।

३० मार्च को चाँदनी चौक के गोलीकाण्ड में पाँच व्यक्ति मरे और १४ घायल हुए। यह दिल्ली का शहीद-दिवस था। ३१ मार्च को पचास हजार व्यक्ति मुसलमान शहीद के जनाजे में सम्मिलित हुए। इस अवसर पर स्वामीजी की दिल्ली के नामी हकीम अजमल खाँ से क्या मुलाकात हुई कि दिल्ली के हिन्दू-मुसलमान पहली बार गले-से-गले मिले और एक हो गये। शहीदों में हिन्दू-मुसलमान दोनों थे। मुसलमान हिन्दुओं की शवयात्रा में तथा हिन्दू-मुसलमानों के जनाजों में शामिल हुए। स्वामीजी इनमें भाषण देते रहे। शहीदों के खून से हिन्दू-मुस्लिम एक हो गये।

जामा मस्जिद में आर्य संन्यासी का उपदेश—४ एप्रिल को दिल्ली में एक अभूत-

---

१. स्वामी श्रद्धानन्द—इन्साइड कांग्रेस, पृ० ६०

पूर्व घटना हुई। जामा मस्जिद में मुस्लिम शहीदों की सद्गति के लिए प्रार्थना की जानी थी। मुसलमान मौलवी तथा उलेमा स्वामीजी के पास गये, उन्हें अपने साथ जामा मस्जिद लाये और उत्तरी भारत की सबसे बड़ी और प्रसिद्ध मस्जिद के मिम्बर (वेदी) से उपदेश करने को कहा। स्वामीजी का भाषण 'न भूतो न भविष्यति' था। इससे पहले कभी हिन्दू-संन्यासी ने वेदवाणी में इस मस्जिद में मुसलमानों को सम्बोधित नहीं किया था और न इसके बाद यहाँ से प्रवचन करने का सौभाग्य किसी हिन्दू को मिला। स्वामी श्रद्धानन्द ने मस्जिद में अपना भाषण इस वेद-मन्त्र से आरम्भ किया—'त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधाते सुम्नमीमहे।' इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने ईश्वर का माता-पिता के रूप में वर्णन किया। 'ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः' के साथ अपना भाषण समाप्त किया। इसके बाद स्वामीजी ने फतहपुरी की मस्जिद में भी भाषण दिया। हिन्दू-मुस्लिम एकता के उस युग में मस्जिदों में हिन्दुओं के तथा मन्दिरों में मुसलमान-मौलवियों के भाषण पहली बार हुए। शुद्धि तथा तबलीग के १९२६ ई० के हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के दिनों में स्वामीजी ने इन दिनों का स्मरण करते हुए लिखा था कि—"परस्पर मनोमालिन्य की इतनी दुर्घटनाएँ घट जाने के बाद भी वह अद्भुत दृश्य मेरी आँखों के सामने आज भी वैसा ही बना हुआ है और मैं इसी आशा पर जिन्दा हूँ कि आपस के सन्देह की सब घटायें शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो जायेंगी, धर्म तथा सत्य का सूर्य अपने पूर्ण प्रकाश के साथ फिर उदय होगा और फिर वैसे ही स्वर्णिम दृश्य देखने में आयेंगे।"

४ एप्रिल की जामा मस्जिद की घटना ने स्वामी श्रद्धानन्द को हिन्दू-मुस्लिम एकता का जीवन्त प्रतीक बना दिया। ३० मार्च को चाँदनी चौक में गुरखा सिपाहियों के आगे अपनी छाती गोली चलाने के लिए प्रस्तुत करने से उन्हें जो लोकप्रियता मिली थी, ४ एप्रिल की घटना ने उसमें चार चाँद लगाये। इन दोनों घटनाओं ने स्वामीजी को दिल्ली का बेताज बादशाह बना दिया। इस समय उन्होंने राजनैतिक क्षेत्र के नेतृत्व में निर्भीकता, वीरता, साहस, धैर्य और लोकसेवा का अनुपम कीर्तिमान स्थापित किया। ३० मार्च से १८ एप्रिल तक के बीस दिन दिल्ली में आज तक रामराज के नाम से याद किये जाते हैं—"शहर में एक भी ताला नहीं टूटा, एक भी मारपीट नहीं हुई, एक भी जेब नहीं कतरी गयी—और तो क्या, जुएखाने और शराबखाने भी बन्द रहे और सबने देवियों को माँ, बहन और बेटी समझकर उनका आदर किया। (इनसाइड कांग्रेस, पृ० ६५, ६७)इस रामराज में पुलिस व फौज की कहीं छाया तक देखने में न आती थी। शहर का सब प्रबन्ध जनता के अपने हाथों में था। सरकारी अदालतों में पाँच-पाँच वर्ष तक फैसला न होनेवाले मामले भी स्वामीजी तथा हकीमजी द्वारा खड़े-खड़े निबटा दिये गये।"

महात्मा गांधी ने पहले ३० मार्च को तथा बाद में ६ अप्रैल को सारे भारत में रॉलट कानून के विरुद्ध हड़ताल करने को कहा था। दिल्ली में पहली तिथि के स्थान पर दूसरी तिथि को हड़ताल करने की सूचना नहीं मिल सकी थी। अतः वहाँ ३० मार्च को हड़ताल हुई और उसमें उपर्युक्त स्मरणीय घटनायें घटीं। ६ अप्रैल को यहाँ समूचे देश के साथ दूसरी बार हड़ताल हुई। इसमें प्रातःकाल स्वामीजी ने फतहपुरी की मस्जिद में तथा सायंकाल एडवर्ड पार्क में भाषण दिये। ९ अप्रैल को गांधीजी दिल्ली आने वाले थे, किन्तु सरकार ने उन्हें यहाँ पहुँचने से पहले पलवल में ही रेलगाड़ी से उतार लिया। इससे जनता में और उत्तेजना फैली तथा दिल्ली में १८ अप्रैल तक पूर्ण हड़ताल रही।

१४ अप्रैल को गुप्तचर विभाग के कुछ अधिकारियों पर हमला किया गया। अगले दिन टाउन हाल के सामने जब सत्याग्रही नेता दिल्ली के अधिकारियों से बात कर रहे थे तो यह अफवाह फैल गयी कि सरकार नेताओं को गिरफ्तार कर रही है। इससे जनता में बड़ी उत्तेजना उत्पन्न हुई। किन्तु इसी समय अधिकारियों ने जनता को आश्वासन दिया कि नेता बन्दी नहीं बनाये जायेंगे। इससे उत्तेजना शान्त हो गयी। फिर भी अफवाहों से उत्तेजना फैलती रही। १७ अप्रैल को पुलिस की चौकी पर हमले के बाद गोलीकाण्ड में दो व्यक्ति मारे गये तथा १८ घायल हुए। १८ अप्रैल को इन शहीदों की शव-यात्रा के साथ दिल्ली में हड़ताल समाप्त हो गयी और २ मई को स्वामी श्रद्धानन्द ने सत्याग्रह-समिति से त्यागपत्र दे दिया।

राजनीति में भाग लेने के कारण—स्वामीजी द्वारा राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेने का यह पहला अवसर था। अतः इसमें भाग लेने के उनके उद्देश्यों के सम्बन्ध में कुछ विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है। यह स्पष्ट है कि वे इस आन्दोलन में किसी राजनैतिक नहीं, अपितु धार्मिक उद्देश्य से सम्मिलित हुए थे। पहले यह बताया जा चुका है कि सत्याग्रह की प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर करने की सूचना तार द्वारा गांधीजी को देते हुए उन्होंने इसमें लिखा था कि इस धर्मयुद्ध में सम्मिलित होने में उन्हें बड़ी प्रसन्नता है। उन्होंने इस सत्याग्रह को धार्मिक स्वरूप देने के लिए गांधीजी द्वारा तैयार की गयी प्रतिज्ञा तथा घोषणा-पत्र में सत्याग्रहियों के लिए यह नियम अपनी ओर से जोड़ दिया था कि वे प्रतिदिन आधा घण्टा भगवान् से यह प्रार्थना करेंगे कि उनके विरोधियों का हृदय-परिवर्तन हो जाय। सत्याग्रह के दिनों में वे सदैव राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए जनता में बलिदान की भावना तथा उत्साह पैदा करने के लिए धार्मिक दृष्टान्त दिया करते थे। कहा जाता है कि जब एक बार गोलीकाण्ड में शहीद हुए व्यक्ति की शवयात्रा का जुलूस चाँदनी चौक में सीसगंज गुरुद्वारे के सामने से गुजरा तो उन्होंने इसे रोक लिया और शव-यात्रियों को सम्बोधित करते हुए शहीद हुए व्यक्ति की तुलना गुरु तेगबहादुर से की और अपने श्रोताओं को इस बात का स्मरण कराया कि स्वतन्त्रता पाने के लिए ऐसे बलिदान करना आवश्यक है।[1] उन्होंने जामा मस्जिद में इस बात पर बल दिया था और फतहपुरी की मस्जिद में अपने वाज (प्रवचन) में भगवान् से प्रार्थना करते हुए कहा—हे हिन्दू-मुसलमानों के ईश्वर, हिन्दुओं तथा मुसलमानों का खून व्यर्थ में नहीं बहना चाहिए। हमें शक्ति दीजिये कि हम अपने देश की स्वतन्त्रता और प्रगति के लिए बलिदान देने को तैयार हों। हम भारतीयों को ऐसी शक्ति दीजिये कि ३२ करोड़ भारतीयों को ६४ करोड़ का बल मिले, ताकि हम सब भौतिकवादियों की शक्ति का विरोध कर सकें तथा भूमण्डल में शान्ति का राज्य ला सकें।[2] पहले बताया जा चुका है कि "३० मार्च से १८ अप्रैल की अवधि को वे रामराज्य"[3] समझते थे।

किन्तु सरकारी अधिकारियों का इस रामराज्य के बारे में दूसरा ही विचार था।

---

१. भारत सरकार गृह विभाग पोलिटिकल बी मई १९१९ ई० नं० २६८-७३ की पत्रावली, पृ० ४

२. वही

३. वही फाइल, पृ० ४

उनका कहना था कि स्वामीजी ऊपर से तो जनता को शान्त करने की बातें करते हैं, किन्तु अन्दर से आन्दोलन को भड़काने की पूरी कोशिश करते हैं। जोर्डन के शब्दों में अधिकारियों को यह सन्देह इसलिए था कि उन्हें यह विश्वास नहीं था कि स्वामीजी को अपने पुत्र द्वारा इस आन्दोलन के भड़काने के कार्यकलापों का कोई ज्ञान नहीं था। इन दिनों दिल्ली शहर में जनता को भड़काने वाले गुमनाम पोस्टर लगाये जा रहे थे। ब्रिटिश अधिकारी यह समझते थे कि ये पोस्टर इन्द्र के दैनिक पत्र 'विजय' कार्यालय के कर्मचारियों द्वारा लगाये जाते थे।[1] किन्तु स्वामीजी का विचार था कि ये गुप्तचर विभाग के कर्मचारियों द्वारा ही जनता को उकसाने तथा भड़काने के लिए लगाये जाते हैं। इस आन्दोलन के दिनों में सरकारी अधिकारी स्वामीजी को इस आधार पर बन्दी बनाना चाहते थे कि वे जनता को हिंसक कार्यों के लिए भड़का रहे हैं। ८ अप्रैल से सरकार के गुप्तचर विभाग द्वारा स्वामीजी की गतिविधियों तथा भाषणों की रिपोर्टों की फाइल नियमित रूप से रखी जाने लगी। इसके देखने से यह प्रतीत होता है कि यद्यपि गुप्तचर-विभाग के विभिन्न व्यक्तियों ने स्वामीजी के विरुद्ध ऐसा सन्देह उत्पन्न करने वाली अनेक रिपोर्टें दी थीं, किन्तु इनमें कुछ सामान्य बातें ही कही गयी थीं, उनको पुष्ट करने वाले ठोस प्रमाण नहीं दिये गये थे। स्वामीजी बार-बार खुफिया पुलिस पर यह आरोप लगाते थे कि वह जनता को भड़काने वाले एजेण्टों का काम कर रही है। गुप्तचर विभाग इस बात से रुष्ट था। उसने बिना पुष्ट प्रमाण दिये स्वामीजी के विरुद्ध ऐसी शिकायतें करना शुरू किया कि वे सरकार के विरुद्ध दिल्ली के आर्यों को उकसा रहे हैं; दिल्ली के आस-पास के जिलों से आर्यमतावलम्बी जाट लाठियाँ लेकर राजधानी में आ रहे हैं। गुप्तचर-विभाग के श्री मारिस ने इन खुफिया पुलिस की रिपोर्टों का मूल्यांकन करते हुए लिखा था—

"इन दस्तावेजों में मुंशीराम के विरुद्ध सबसे अधिक निश्चित प्रमाण ४,६,७, तथा ३ अप्रैल के भाषण हैं। इनके आधार पर नियम-सं० ३ के अन्तर्गत कार्यवाही करने का औचित्य था। किन्तु १५ अप्रैल से स्थिति बदलने लगी और यह बात अवश्य स्वीकार की जानी चाहिये कि इस प्रकार के प्रत्यक्ष रूप से किये जाने वाले कार्यों (जनत को उपद्रवों के लिए भड़काने) की साक्षी बहुत कम है, इस मामले के प्रमुख प्रमाण हैं — रॉलट एक्ट, सी० आई० डी० तथा सरकार के दमनकारी कार्यों के प्रति मुंशीराम का सुपरिचित रवैया, भाषा में संयम का अभाव, आर्यसमाज का प्रमुख नेता होने के रूप में उसका प्रभाव, दिल्ली का ऐसा केन्द्र होना जहाँ जानबूझकर जनता को सरकार के विरुद्ध उकसाया और भड़काया जा रहा है। इस बात का प्रबल सन्देह है कि आर्यसमाज को इस काम के लिए माध्यम बनाया जा रहा है। किन्तु कोई ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, जिसके आधार पर आसपास के जिलों में होने वाले सरकार-विरोधी कार्यों से मुंशीराम को प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध किया जा सके।[2]

इससे स्पष्ट है कि सरकार के पास स्वामीजी के विरुद्ध कोई ठोस प्रमाण नहीं थे। फिर भी वह स्वामीजी को पंजाब अथवा संयुक्त प्रान्त के किसी स्थान में नजरबन्द

---

१. जोर्डन—स्वामी श्रद्धानन्द, पृ० ११२

२. वही फाइल, जोर्डन द्वारा उद्धृत, पृष्ठ ११३

रखना चाहती थी; किन्तु स्वामीजी इन प्रान्तों में इतने लोकप्रिय थे कि कोई भी प्रान्तीय सरकार ऐसा प्रस्ताव स्वीकार करने को तैयार नहीं थी। इसके बाद इन्हें मध्य प्रान्त में नजरबन्द करने के प्रश्न पर विचार किया जाने लगा। अन्त में सरकार ने स्वामीजी की नजरबन्दी को अनुपयुक्त (Inexpedient) समझा और इन्हें बन्दी नहीं बनाया गया।

स्वामीजी के रॉलट एक्ट-विरोधी आन्दोलन में भाग लेने से शुरू में अधिकांश आर्यसमाजी आश्चर्यचकित और स्तब्ध रह गये। उन्हें यह नहीं समझ आता था कि रॉलट एक्ट से आर्यसमाज का क्या सम्बन्ध है और एक आर्य संन्यासी धर्म-प्रचार को छोड़कर सत्याग्रह में क्यों भाग ले रहा है। स्वामीजी का कहना था कि वे संन्यासी होने के कारण स्वतन्त्र रूप से कार्य कर सकते हैं। आर्यसमाज के संगठन में वे कोई पदाधिकारी नहीं हैं, अतः वे इस विषय में आर्यसमाज के नियमों से बँधे हुए नहीं हैं। उनका यह स्पष्टीकरण सम्भवतः आर्य सज्जनों को पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं कर सका। यह बात १५ मार्च को श्री पण्डित इन्द्र को लिखे स्वामीजी के पत्र के निम्नलिखित अवतरण से स्पष्ट होती है—

"आर्य बन्धु बहुत अधिक परेशान हैं। 'सद्धर्म प्रचारक' में यह लिखो कि स्वामी श्रद्धानन्द संन्यासी है। उसका विशेष सम्बन्ध किसी आर्य संगठन से नहीं है। सत्याग्रह में उसके भाग लेने का यह अर्थ नहीं है कि आर्यसमाज एक संगठन के रूप में इसमें भाग ले रहा है। आर्यों में ऐसे व्यक्ति हो सकते हैं जो सत्याग्रह को ठीक न समझते हों। समाज के सदस्यों में जो उसे उचित समझते हैं, वे अपने व्यक्तिगत विश्वास के अनुसार इस पर कार्यवाही कर सकते हैं। कायर तथा ईर्ष्यालु व्यक्ति इस विषय में अखबारों में अपनी सम्मति प्रकट करेंगे, अतः इस बारे में तुम जैसा उचित समझो वैसी टिप्पणी लिखनी चाहिये।"[1] इससे स्पष्ट है कि उस समय आर्यसमाजियों का एक बड़ा वर्ग रॉलट एक्ट के विरुद्ध सत्याग्रह में उनके भाग लेने को उचित नहीं समझता था; स्वामीजी का राजनैतिक क्षेत्र में कार्य करना उनकी समझ से बाहर था। किन्तु स्वामीजी के समझाने से वे शनैः-शनैः उनके दृष्टिकोण को समझ गये और उनका अनुसरण करते हुए ऐसे व्यक्ति भी राजनैतिक आन्दोलन में कूद पड़े जो पहले धार्मिक क्षेत्र में प्रमुख भाग ले रहे थे।

(४) महात्माजी से मतभेद

रॉलट एक्ट आन्दोलन में स्वामीजी देर तक नहीं रह सके। सत्याग्रह-विषयक कुछ मामलों में महात्मा गांधी से उनका शुरू से ही मतभेद था। किन्तु जब महात्माजी ने इसे स्थगित किया तो यह मतभेद अधिक प्रबल हो गया। स्वामीजी ने २ मई १९१९ के पत्र में इन पर प्रकाश डालते हुए महात्माजी को अपना त्याग-पत्र भेज दिया। मतभेद का एक बड़ा कारण यह था कि महात्माजी ने सत्याग्रह स्थगित करते हुए पुलिस तथा फौज द्वारा गोली चलाये जाने का सारा दोष लोगों पर ही डाला था। स्वामी श्रद्धानन्द का कहना था कि सरकारी अधिकारियों ने दिल्ली में तथा अन्य स्थानों पर जनता को हिंसक कार्य करने के लिए जानबूझकर भड़काया था; पंजाब में कानून और व्यवस्था बनाये रखने के नाम पर जनता पर भीषण अत्याचार किये गये हैं। गांधीजी इनके बारे

१. सत्यकाम विद्यालंकार—इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृ० १४७

में सर्वथा मौन रहे थे। इसके विपरीत दिल्ली के सत्याग्रह में पुलिस तथा फौज की गोलियों से शहीद होने वालों की सारी जिम्मेवारी उन्होंने दिल्ली के सत्याग्रहियों पर डाली थी। इनके सर्वमान्य स्वामी श्रद्धानन्द थे, अतः यह सारा दोष उन पर आता था। स्वामीजी इसके लिए पुलिस को उत्तरदायी समझते थे। दिल्ली के लोगों द्वारा प्रतिवाद करने पर भी महात्माजी ने अपनी भूल नहीं स्वीकार की। लाला शंकरलाल पर खुफिया-पुलिस के फकीर मुहम्मद को पीटने का झूठा मुकद्दमा चलाया गया था। महात्माजी ने सब मामला जाने बिना ही उनको मुकद्दमा न लड़ने के लिए तार दे दिया। बम्बई से छपकर पोस्टरों के रूप में आने वाले सन्देशों में स्थानीय परिस्थितियों का कुछ भी ध्यान नहीं रखा जाता था। दिल्ली में ये पोस्टर कहीं भी न चिपकाकर स्वामीजी द्वारा नष्ट कर दिये जाते थे। महात्माजी का आदेश था कि पुलिस के माँगने पर सत्याग्रह कमेटी के सदस्यों की सूची उसे दे दी जाय। स्वामीजी इससे सहमत नहीं थे। स्वामीजी ने अपने त्याग-पत्र में इन सब बातों का निर्देश करते हुए लिखा था—

"मेरी सम्मति है कि रॉलट एक्ट मानवीय स्वतन्त्रता तथा न्याय के मूलभूत सिद्धांत पर ही कुठाराघात करता है। आप मेरी दृष्टि में अपने देश की प्राचीन आध्यात्मिक संस्कृति के प्रतिनिधि हैं। इसलिए राजनीति से कोई सीधा सम्बन्ध न रखते हुए भी आपकी पुकार पर अपने तन-मन से आपका साथ देना मैंने अपना कर्तव्य समझा। परन्तु दिल्ली तथा अन्य स्थानों पर अधिकारियों के जानबूझकर जनता को भड़काने तथा पंजाब में कानून और व्यवस्था के नाम पर किये जाने वाले अत्याचारों के बारे में आपने मौन साधा है, उसमें मैं आपका साथ नहीं दे सकता हूँ। इस समय भी आपके तथा आपके उच्च चरित्र के लिए मेरे हृदय में बहुत अधिक सम्मान है और आपसे मतभेद होने का मुझे हार्दिक खेद है। अन्तरात्मा में मतभेद रखते हुए भी, यदि मैं उसको प्रकट नहीं करता और उसके परिणाम को सहन नहीं करता तो मैं अपने प्रति ही मिथ्या व्यवहार करूँगा। संन्यासी की हैसियत से मैं सत्य, अहिंसा तथा ब्रह्मचर्यरूपी धर्म के प्रचार में लगा रहूँगा। रॉलट एक्ट के सम्बन्ध में मेरी अब भी वही धारणा है और समय आने पर मैं उसका विरोध करना अपना कर्तव्य समझूँगा। इस समय मैं विशेष रूप में अपने को देश में हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने, पंचायतों द्वारा आपस के झगड़े-निबटाने, स्वदेशी तथा राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी के प्रचार करने और सरकारी यूनिवर्सिटी से स्वतन्त्र राष्ट्रीय शिक्षा को विकसित करने में लगाना चाहता हूँ। अन्त में मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि मेरे दिल में आपके लिए प्रेम तथा आदर के भाव वैसे ही विद्यमान हैं, जैसे पहले थे और जब आपकी ओर से किसी ऐसे **धार्मिक काम के लिए फिर बुलाया जाऊँगा,** जिसमें आपसे सहमत हो सकूँ तो आपके पीछे चलकर क्रिया द्वारा साथ देने में जरा भी आगा-पीछा न करूँगा।"[1]

उपर्युक्त पत्र के अन्तिम वाक्य इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं कि ये स्वामीजी के रॉलट एक्ट विरोधी सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेने के प्रधान उद्देश्य पर प्रकाश डालते हैं। पत्र में स्वामीजी ने महात्माजी को आश्वासन दिया है कि भविष्य में भी वे उन्हें किसी भी धार्मिक काम में सहयोग देने को तैयार हैं। उनकी राजनीति का मूल स्रोत धार्मिक था।

---

१. सत्यदेव विद्यालंकार—स्वामी श्रद्धानन्द, पृ० ४८५-८७

हम आगे चलकर यह देखेंगे कि वे शीघ्र ही जलियाँवाला बाग के हत्या-काण्ड के बाद अमृतसर में होने वाले राष्ट्रीय महासभा के वार्षिक अधिवेशन को इसी भावना से सफल बनाने में प्राणपण से जुट गये।

आर्यसमाज पर प्रभाव—स्वामीजी द्वारा रॉलट कानून-विरोधी सत्याग्रह के राजनैतिक आन्दोलन में प्रमुख भाग लेना आर्यसमाज के इतिहास की एक प्रमुख घटना है। अब तक आर्यसमाजी राजनैतिक आन्दोलनों से सर्वथा पृथक् रहते थे। इनमें सामूहिक रूप से कोई भाग नहीं लेते थे। वैयक्तिक रूप से भाग लेने वाले लाला लाजपतराय जैसे व्यक्तियों की संख्या बहुत कम थी, किन्तु अब इस स्थिति में मौलिक परिवर्तन आ गया। स्वामीजी आर्यसमाज के मान्य नेता थे। अब आर्यसमाजियों ने उनके उदाहरण का अनुसरण करते हुए वैयक्तिक रूप से राजनैतिक आन्दोलनों में बड़े पैमाने पर भाग लेना शुरू कर दिया। इसका सुन्दर वर्णन करते हुए श्री पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति ने लिखा है—

"आर्यसमाज के सर्वसम्मानित नेता के (रॉलट एक्ट विरोधी) सत्याग्रह-संग्राम में कूदने का परिणाम यह हुआ कि आर्यसमाजियों में एक बिजली-सी दौड़ गयी। जो आर्य-समाजी तब तक राजनीति के प्रति उपेक्षा के भाव रखते थे, वे उसके सबसे अगले मोर्चे पर आकर खड़े हो गये। अगले एक मास के अन्दर-अन्दर सहस्रों नर-नारियों ने सत्याग्रह के प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। इतना ही नहीं, यदि शहरों और ग्रामों के सत्याग्रह-आन्दोलन का विस्तृत इतिहास तैयार किया जाय तो मालूम होगा कि देश के उत्तरीय प्रान्तों में आर्यसमाजी लोग युद्ध की सबसे अगली पंक्ति में लड़ते रहे। प्रारम्भिक वर्षों में जिन महिलाओं ने राजनीति में भाग लिया, उनकी आधे से अधिक संख्या आर्यसमाज से आयी थी।

"सत्याग्रह की घोषणा के दो दिन पश्चात् दिल्ली में सत्याग्रह कमेटी बना दी गयी। कमेटी में लगभग एक-तिहाई मुसलमान, एक-तिहाई आर्यसमाजी तथा एक-तिहाई अन्य कांग्रेसी थे। खिलाफत सम्बन्धी नाराजगी के कारण उस समय मुसलमान राष्ट्र की राजनीति की ओर झुकने लगे थे। सत्याग्रह कमेटी के दो मन्त्री थे—इन्द्र विद्यावाचस्पति और डा० अब्दुल रहमान। सत्याग्रह आन्दोलन के उस प्रारम्भिक युग में दिल्ली ने जो महत्त्वपूर्ण भाग लिया, वह राष्ट्रीय इतिहास का विषय है। यह सर्वसम्मत सत्य है कि दिल्ली में उस चमत्कारपूर्ण कार्य का एक मुख्य कारण स्वामी श्रद्धानन्दजी का तेजस्वी नेतृत्व था। उनके नेतृत्व में जो कार्यकर्ता युद्ध को चला रहे थे उनमें बड़ी संख्या आर्य-जनों की थी, जिनमें आर्य देवियाँ भी सम्मिलित थीं। स्वामीजी द्वारा जामा मस्जिद और फतेहपुरी मस्जिद के मिम्बरों पर से वेद-मन्त्र की व्याख्या के साथ सत्याग्रह के सिद्धान्तों पर भाषण उस युग की महत्त्वपूर्ण घटना है।

"दिल्ली की रोमांच पैदा करने वाली घटना की प्रतिक्रिया देश-भर में हुई। जनसंख्या के अनुपात की दृष्टि से बहुत कम होते हुए भी आर्यसमाजियों ने न केवल प्रारम्भिक वर्षों में, अपितु अन्तिम सफलता तक स्वाधीनता के संग्राम में आगे बढ़कर महत्त्वपूर्ण भाग लिया। ऐसे समय आये जब कांग्रेस के नेताओं में आर्यसमाज और आर्य-समाजियों के बारे में सर्वथा निर्मूल भ्रमात्मक विचार फैल गये। परन्तु जिन आर्यजनों ने वेदों से अदीनता का पाठ पढ़ा था और महर्षि दयानन्द से यह शिक्षा प्राप्त की थी कि

अच्छे से अच्छा विदेशी राज्य स्वराज्य की बराबरी नहीं कर सकता। वे अन्त तक स्वाधीनता के क्षेत्र में डटे रहे। न उन्हें अंग्रेजी सरकार का दमन बेदिल कर सका और न कुछ भ्रान्त राजनैतिक नेताओं की विरोधी भावना लक्ष्य से च्युत कर सकी। वे अन्त तक सत्याग्रह-संग्राम की अगली पंक्ति में जान जोखिम में डालकर चढ़ते रहे।"

(५) अमृतसर कांग्रेस (१९१९ ई०)

न केवल भारत के स्वाधीनता-संग्राम के आन्दोलन के विकास में, अपितु आर्य-समाज के इतिहास में भी अमृतसर में हुआ राष्ट्रीय महासभा का ३४वाँ अधिवेशन विशेष महत्त्व रखता है। इसने जहाँ एक ओर देश को महात्मा गांधी का नवीन शक्तिशाली नेतृत्व प्रदान किया, वहाँ दूसरी ओर यह अधिवेशन इस दृष्टि से निराला था कि इसमें पहली बार भगवे वस्त्रों के परिधान में एक आर्य संन्यासी ने स्वागतकारिणी सभा के सभापति होने के नाते अपना आरम्भिक स्वागत-भाषण २७ दिसम्बर १९१९ ईसवी तदनुसार ११ पौष १९७६ संवत् को राष्ट्रीय महासभा में पहली बार राष्ट्रभाषा हिन्दी में पढ़ा। इससे पहले इसके सभी अध्यक्षों और स्वागताध्यक्षों ने विदेशी भाषा में ही भाषण दिये थे और इसकी सारी कार्यवाही अंग्रेजी में हुआ करती थी। इस भाषण की एक अन्य विशेषता यह भी थी कि इसे स्वामी श्रद्धानन्द ने ऋग्वेद के मन्त्र "ओ३म् त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधाते सुम्नमीमहे" की वैदिक प्रार्थना के साथ आरम्भ किया था।

अमृतसर में यह अधिवेशन प्रधान रूप से स्वामी श्रद्धानन्द के निर्भीक नेतृत्व, अद्भुत संगठन-शक्ति और विलक्षण कर्मठता से एवं उनके साथी आर्यसमाजी बन्धुओं के प्रेमपूर्ण सहयोग से सम्पन्न हुआ और इसने आर्यसमाजियों को बड़ी संख्या में इसमें भाग लेने तथा इसके राष्ट्रीय रूप को निखारने में बड़ी सहायता प्रदान की। राष्ट्रीय रंगमंच से पहली बार वैदिक आदर्शों के अनुसार भारत की राजनीति को आध्यात्मिक आधार पर सुप्रतिष्ठित करने के लिए प्रबल आह्वान किया गया और देश की एक प्रमुख समस्या—अछूतोद्धार के समाधान के लिए क्रान्तिकारी सुझाव दिये गये। इस अधिवेशन का महत्त्व समझने के लिए इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को जान लेना आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना हम इस बात की कल्पना ही नहीं कर सकते हैं कि स्वामी श्रद्धानन्द ने तथा उनके आर्यसमाजी सहयोगियों ने किन विकट परिस्थितियों से जूझते हुए अमृतसर में कांग्रेस-अधिवेशन के अप्रत्याशित और असम्भव कार्य को सम्भव कर दिखाया।

कांग्रेस का यह अधिवेशन १३ अप्रैल १९१९ को वैशाखी के पुण्य पर्व पर अमृतसर में हुए जालयाँवाला बाग हत्याकाण्ड व निर्दोष भारतीयों के रक्त-स्नान के बाद हुआ। जनरल डायर ने निहत्थे भारतीयों की भीड़ पर बिना चेतावनी के गोलियाँ चलवाकर ऐसा नृशंस नरमेध किया था, जो महात्मा गांधी के शब्दों में—"आधुनिक युग में मनमानी क्रूरता और अमानुषिकता का अद्वितीय उदाहरण था।" ब्रिटेन के युद्ध मन्त्री विस्टन चर्चिल ने इसे राक्षसी कृत्य बताते हुए ब्रिटिश लोकसभा में इसकी तीव्र भर्त्सना की थी। इस हत्या-काण्ड ने हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में नवयुग का सूत्रपात किया।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान और उसके बाद सारे देश की जनता में भीषण रोष

और असन्तोष उत्पन्न हो गया था। पंजाब में इसका प्रधान कारण था सर माइकेल ओडवायर का दमनकारी एवं अत्याचारपूर्ण शासन और युद्ध के दौरान जनता से वार-फण्ड के नाम पर अधिक से अधिक पैसा वसूल किया जाना। नवयुवकों को फौज में भर्ती करने के लिए न केवल प्रलोभन दिये गये थे, अपितु हर तरह की जोरजबर्दस्ती भी की गयी थी। परन्तु उस समय भारत रक्षा कानून के कारण कोई भी भारतीय इन अत्याचारों के विरुद्ध चूँ तक नहीं कर सकता था। सन् १९१८ ई० में अनावृष्टि से फसल मारी गयी, बड़े पैमाने पर इन्फ्लुऐंजा की महामारी फैली, इससे जनता को अपार कष्ट भोगना पड़ा। गेहूँ तथा अन्य वस्तुओं के दाम तेजी से बढ़े। १९१७ ई० में रुपये में १० सेर बिकने वाला गेहूँ जनवरी १९१९ ई० में एक रुपये में ६ सेर से भी कम मिल रहा था।

इससे जनता में त्राहि-त्राहि मच गयी। प्रथम विश्वयुद्ध में भारत ने ब्रिटेन को विजयी बनाने के लिए धन-जन की अपार सहायता की थी और ब्रिटिश राजनेताओं ने भारतीयों की सद्भावना एवं विश्वास प्राप्त करने के लिए यह आश्वासन दिया था कि लड़ाई के बाद भारत को शनैः-शनैः उत्तरदायी शासन दिया जायेगा। किन्तु इसके बदले में उसे जब रॉलट एक्ट के रूप में जनता की स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाला काला कानून दिया गया तो महात्मा गांधी ने जनता से इस काले कानून के विरुद्ध सत्याग्रह करने की अपील की। इसके विरोध में उपवास और हड़ताल करने के लिए पहले ३० मार्च १९१९ ई० का और बाद में ६ अप्रैल १९१९ ई० का दिन निश्चित किया गया। अमृतसर में ३० मार्च और ६ अप्रैल को दोनों दिन बड़ी सफलतापूर्वक शान्तिपूर्ण हड़ताल हुई। पंजाब के अंग्रेज शासक और छोटे लाट सर माइकेल ओडवायर इस हड़ताल से स्तब्ध रह गये। अमृतसर में इस आन्दोलन के प्रमुख नेता आर्यसमाजी डा० सत्यपाल और डा० किचलू थे। सर माइकेल ओडवायर ने इस आन्दोलन को समाप्त करने की दृष्टि से इन दोनों नेताओं को गिरफ्तार करके निर्वासित कर देने का निश्चय किया। इसके अनुसार १० अप्रैल को दोनों नेताओं को डिप्टी कमिश्नर के बंगले में बुलाकर मोटर में बिठाकर धर्मशाला नामक पहाड़ी स्थान को रवाना कर दिया गया। इससे जनता में बड़ा असन्तोष उत्पन्न हुआ। वह अपने नेताओं की रिहाई की प्रार्थना करने डिप्टी कमिश्नर के बंगले की ओर बढ़ने लगी। रेलवे स्टेशन के पास भीड़ बहुत बढ़ गई। उस समय यह बिल्कुल शान्त थी और शान्तिपूर्वक अपना विनम्र निवेदन करने जा रही थी। इसके पास लाठियाँ या किसी प्रकार के कोई हथियार नहीं थे। फिर भी पुलिस ने इसे रोकने तथा तितर-बितर करने के लिए ७३ गोलियाँ चलायीं जिससे १२ आदमी मारे गये। इस कार्यवाही से जनता भड़क उठी। उसने ईंट, पत्थर, लाठियों से पुलिस का प्रतिरोध किया और पंजाब नेशनल बैंक के गोरे मैनेजर एवं उसके सहायक को मार डाला। भीड़ ने टाउन हाल तथा डाकखाने में आग लगा दी और तारघर में भी तोड़-फोड़ की। जैसा कि बाद में जाँच से पूरी तरह सिद्ध हो गया कि यदि भीड़ पर गोली न चलायी गयी होती तो जनता में इतना रोष न उत्पन्न हुआ होता। स्वामी श्रद्धानन्द ने अपने स्वागत-भाषण में इसका सुन्दर चित्र प्रस्तुत करते हुए कहा था—

"प्रजा अपनी पैतृक प्रथा के अनुसार सिर और पैर से नंगी, अपने माँ-बाप हाकिम के पास फरियाद को दौड़ी। परन्तु हाकिम को उसके अन्दर का भय कँपा रहा था। वह मानता है कि उसने पहले से ही फौज इकट्ठी कर रखी थी और उनको हुक्म दिया था

कि यदि भूलकर उसे माँ-बाप समझने वाली प्रजा उसके मन्दिर की ओर चलने का प्रयत्न करे तो जैसे भी हो सके, उन्हें आगे बढ़ने से रोका जाय। भोली निहत्थी प्रजा ने रूठे हुए बालक की तरह मार-पीट कर, आगे बढ़ने का यत्न किया और सम्राट् जार्ज पंचम के प्रतिनिधियों ने उसकी प्रजा को गोलियों से भून डाला। अपने निरपराधी सम्बन्धियों को घायल होते हुए और उनमें से बहुतों को रंगभूमि में बेजान पड़े हुए देखकर जनता में आसुरी भाव का विकास हुआ।"

उस समय अमृतसर का डिप्टी कमिश्नर एक २० वर्षीय नौजवान अंग्रेज था। वह इन घटनाओं से इतना घबरा गया कि उसने लाहौर के कमिश्नर से फौरन सेना की सहायता भिजवाने को कहा। लाहौर से आदेश पाकर जालन्धर से जनरल डायर और उसके सैनिक ११ अप्रैल की रात को अमृतसर पहुँचे। डायर ने स्थानीय अधिकारियों से परामर्श करने के बाद १३ अप्रैल के पूर्वाह्न में शहर में फौजी शासन लागू करने तथा सभाओं और जुलूसों पर पाबन्दी की घोषणा कर दी और रात ८ बजे के बाद घर से बाहर न निकलने और चार से अधिक व्यक्ति एक स्थान पर एकत्र न होने के भी आदेश प्रसारित किये। किन्तु इन आदेशों की सूचना मुनादी द्वारा जनता को पूरी तरह से नहीं मिल सकी।

१३ अप्रैल रविवार को वैशाखी का पावन पर्व था। इस अवसर पर स्वर्णमन्दिर के सरोवर में स्नान करने के लिए आसपास के देहातों से बड़ी संख्या में नर-नारी अमृतसर आते हैं। इसी समय शहर में रॉलट एक्ट तथा नेताओं की गिरफ्तारी के प्रति विरोध प्रकट करने के उद्देश्य से जलियाँवाला बाग में एक सभा करने की सूचना जनता को दी गयी।

जलियाँवाला बाग वस्तुतः कोई बगीचा नहीं था, अपितु वह अमृतसर की गुंजान आबादी में चारों ओर मकानों से घिरा हुआ एक खुला स्थान था। शायद पहले वहाँ कभी बगीचा रहा हो, मगर १९१९ ई० में वहाँ गिनती के कुल छः पेड़ थे। तीन तो एक कुएँ के पास थे और तीन वहाँ बनी एक समाधि के निकट। १९वीं शताब्दी के मध्य में नाभा के राजा जसवन्तसिंह के एक भाई हमीत सिंह इसके मालिक थे। इनका जाति-सूचक नाम जल्ल था। उनका यहाँ बाग होने के कारण यह स्थान जल्लवालिया बाग या जलियाँवाला बाग कहलाने लगा। इसमें पहुँचने के लिए केवल एक ही चौड़ा रास्ता था। बाकी सब ओर सकरी गलियाँ थीं, इतनी संकरी कि उनमें एकसाथ दो आदमी मुश्किल से गुजर सकते थे। सभा की सूचना पाकर ३ बजे से ही लोग जलियाँवाला बाग में एकत्र होने लगे थे। साढ़े ४ बजे तक वहाँ लगभग ५ हजार आदमी इकट्ठे हो गये।

जनरल डायर को जब इसकी खबर मिली तो वह अपने सैनिकों के साथ शहर की ओर चल पड़ा। उस समय उसके साथ ४०७ ब्रिटिश और ७३९ भारतीय सैनिक थे। रास्ते में वह इनको विभिन्न स्थानों की रक्षा के लिए तैनात करता चला गया। जलियाँ-वाला बाग में प्रवेश करते समय उसके साथ केवल ९० भारतीय सिपाही थे—५० राइफल-धारी बलूची और ४० खुखरियों से सुसज्जित गोरखे। जरनल डायर ने बाग के अन्दर आकर फौरन सिपाहियों को नीचे झुककर गोली चलाने का आदेश दिया। पूरे १० मिनट तक निरन्तर गोलियों की बौछार होती रही। कुल मिलाकर ६५० गोलियाँ चलीं जिनसे ३७९ भारतीय वहीं मर गये और १२०० घायल हो गये। भीड़ में भगदड़ मच गयी।

बाग रणक्षेत्र के रूप में बदल गया। उसकी जमीन शवों से पट गयी। उसकी मिट्टी घायलों के रक्त से तर हो गयी। जनसमुदाय पर गोली चलवाने से पहले जनरल डायर ने न तो तितर-बितर होने के लिए कोई चेतावनी दी, न हवाई फायर किये, बल्कि भीड़ के भागने पर उसने तब तक गोली चलाना बन्द नहीं कराया जब तक सैनिकों की गोलियों का भण्डार खत्म नहीं हो गया। यदि उसके पास अधिक गोला-बारूद होता तो वह उसका प्रयोग करने में कतई संकोच नहीं करता। बाद में स्वयं उसने यह बात इस गोलीकाण्ड की जाँच करने वाले हण्टर कमेटी के सामने बहुत स्पष्ट शब्दों में कही थी।

इसके बाद पंजाब के लाहौर, अमृतसर, गुजरांवाला आदि जिलों में फौजी शासन (मार्शल लॉ) लागू कर दिया गया। इसमें सैनिक अधिकारियों ने पंजाब की जनता पर जो अत्याचार किये, वे किसी भी सभ्य शासन के लिए कलंक थे। अमृतसर की संकरी गली में कुमारी शेरवुड नामक अंग्रेज मिशनरी डाक्टर पर हमला किया गया था। जनरल डायर ने इसका बदला लेने के लिए अपना यह आदेश जारी किया कि उस १५० फुट लम्बी-गन्दी गली में से गुजरने वाले सभी भारतीय पेट के बल रेंगकर जायें। रेंगने का यह आदेश (Crawling order) इतना जघन्य था कि लेफ्टीनैण्ट गवर्नर माइकेल ओडवायर ने भी इस पर अपनी नापसन्दगी प्रकट की और ५ दिन बाद इसे वापिस ले लिया गया। जनरल डायर इसका कोई भी औचित्य इस मामले की जाँच करने वाली हण्टर कमेटी के सामने सिद्ध नहीं कर सका। जनरल डायर के उदाहरण का अनुसरण करके अन्य सैनिक और नागरिक अधिकारियों ने भी लाहौर, गुजरांवाला, कसूर आदि में जनता पर घोर अत्याचार किये, इनका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। कसूर के निकट एक गाँव में एक बरात जा रही थी। कर्फ्यू का आदेश भंग करने के अपराध में उसे गिरफ्तार कर लिया गया और बरातियों को कोड़े लगाने की सजा दी गयी। सबसे ज्यादा कोड़े दूल्हे को लगाये गये क्योंकि वह नौजवान था। जलियाँवाला बाग के गोली-काण्ड की सफाई देते हुए जनरल डायर ने यह कहा था कि उसका यह कार्य अतीव दयालुतापूर्ण था। उसकी दलील यह थी कि यदि वह ऐसी सख्त कार्यवाही करके विद्रोह पर आमादा भारतीयों को राजभक्त बने रहने को विवश न करता तो भारत में विद्यमान अंग्रेज नर-नारियों का कत्लेआम हो जाता।

जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड से और पंजाब के सभी नगरों में ब्रिटिश शासकों के फौजी शासन के भीषण अत्याचारों से इस समय पंजाब में आतंक-राज्य की-सी स्थिति थी। सब लोग इतना अधिक डरे हुए थे कि वे चूं तक नहीं कर सकते थे। इन अत्याचारों के विरुद्ध अपनी आवाज नहीं उठा सकते थे। ऐसे समय में अमृतसर में कांग्रेस के अधिवेशन की व्यवस्था करना अद्वितीय साहस का कार्य था। इस समय पंजाब में मार्शल लॉ की जो स्थिति थी उसका स्वामीजी ने अमृतसर कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष के पद से भाषण करते हुए रोमांचकारी चित्र निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया था—"जिस हुकूमत के नशे में चूर मनुष्यों का जीवन ही स्वार्थ का स्वरूप हो, उनकी समझ में न सत्य का गौरव आ सकता है और न ही वे सत्याग्रह की शान समझ सकते हैं। स्वार्थ का इन्द्रासन डाँवाडोल हो गया। इस दुबले, बीमार, मुनहनी जिस्म के अन्दर वाले तेज को दुनियादार स्वार्थ न सहन कर सका। जिन बहादुर ब्रिटिश जनरलों तथा गम्भीर नीतिमान ब्रिटिश शासकों ने दुनिया को जीतकर जर्मन साम्राज्य की शक्ति खाक में मिला दी थी, उसके योद्धा इस

इस आरोप का बेहूदापन स्पष्ट हो जायेगा। आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध दस नियम हैं। समाज सर्वत्र इनका व्यापक रूप से प्रचार और प्रसार करता है। ये नियम प्रत्येक भारतीय को भली भाँति सुविदित हैं और आर्यसमाजी बनने के लिए इन पर विश्वास रखना और आचरण करना आवश्यक समझा जाता है। इन दस नियमों में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध बगावत करने की कोई बात कहीं नहीं कही गयी है। इस विषय में प्रोफेसर गोकुलचन्द ने अपने पत्र में ठीक ही लिखा था—"मैं आपके पत्रलेखक को चुनौती देता हूँ कि वे समाज के दस नियमों में से कोई एक भी ऐसा नियम दिखा दे जो विदेशियों के निष्कासन अथवा बहिष्कार को प्रोत्साहन देने वाला हो अथवा आर्यसमाजियों के मनों में विद्रोह के भावों को पैदा करने वाला हो। आपके संवाददाता ने केवल विद्वेष की भावना से प्रेरित होकर ही यह वाक्य लिखा है—"आर्यसमाजियों के नये दावे उनके पुराने सिद्धान्तों के प्रतिकूल हैं।" मैं उसे यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि इस समय आर्य जिन बातों का दावा कर रहे हैं, वही उनके सिद्धान्त हैं और यदि मैंने उन्हें अच्छी तरह से समझा है और पढ़ा है तो मैं यह कह सकता हूँ कि भले ही उनके नेताओं को तोपों से उड़ा दिया जाय या तलवार के घाट उतार दिया जाय, फिर भी वे इन सिद्धान्तों का पालन करते रहेंगे।"[1]

सिविल एण्ड मिलिटरी गजट के पत्रलेखक ने आर्यसमाज को राजद्रोही सिद्ध करने के लिए स्वामी दयानन्द द्वारा लिखित सत्यार्थप्रकाश के दस प्रमाण दिये हैं। ये डॉक्टर भारद्वाज कृत अंग्रेजी अनुवाद के सन् १९०६ ईसवी में प्रकाशित संस्करण से उद्धृत किये गये हैं। इनमें अधिकांश छठे समुल्लास के हैं, जिनमें स्वामी जी ने राजधर्म के सार्वभौम सिद्धान्तों का और राजनीति के मौलिक मन्तव्यों का प्रतिपादन किया है। इस अध्याय में विदेशियों का कोई वर्णन नहीं है; उनको भारत से बाहर निकाले जाने की कोई बात नहीं कही गयी है। केवल उन आदर्शों, सिद्धान्तों और मन्तव्यों का वर्णन किया गया है जिनके आधार पर न केवल भारत के, अपितु समस्त विश्व के राज्यों के शासन-प्रबन्ध का संचालन किया जाना चाहिए। इनका विवेचन प्रधान रूप से 'मनुस्मृति' के आधार पर किया गया है। ये नियम तथा आदर्श सार्वभौम हैं, सब देशों के लिए समान रूप से लागू किये जाने वाले हैं और इनमें अंग्रेजों, विदेशियों, विधर्मियों के विरुद्ध कोई बात नहीं कही गयी है। ब्रिटिश साम्राज्य का तख्ता पलटने के लिए कोई प्रेरणा नहीं दी गयी है।

फिर भी, पत्रलेखक ने छठे समुल्लास के यथार्थ स्वरूप, प्रयोजन तथा आशय को न समझते हुए इसमें अंग्रेजों के विरुद्ध बगावत को भड़काने वाले दस सन्दर्भ ढूँढ लिये हैं। वह आर्यसमाज के विरुद्ध अपने पूर्वाग्रहों और पक्षपातों से ग्रस्त है, इनके वशीभूत होकर उसने इन अवतरणों को प्रस्तुत करते हुए उसने तीन बड़ी गलतियाँ की हैं—(१) स्वामी दयानन्द के मूलग्रन्थ को न पढ़कर अंग्रेजी अनुवाद से कुछ वाक्य उठा लिये हैं। (२) इनमें परिवर्तन किया है और डॉ० चिरंजीव भारद्वाज के अनुवाद के कुछ महत्त्वपूर्ण शब्दों को छोड़ दिया है, इससे मूल अर्थ बिल्कुल बदल गया है। (३) अवतरणों के प्रकरण और पूर्वा-पर-प्रसंग का कोई विचार नहीं किया है। मनुस्मृति के श्लोकों के अभिप्राय को पूरी तरह न समझते हुए इन संदर्भों से गलत परिणाम निकाले हैं। ये सभी अवतरण विरोधियों द्वारा आर्यसमाज को राजद्रोही सिद्ध करने के लिए प्रायः प्रस्तुत किये जाते रहे हैं। अन्य

१. मुंशीराम जिज्ञासु—वही पुस्तक, पृष्ठ २/८३

पत्र, चोरी से लिये चित्रादि की बहुमूल्य सामग्री स्वामीजी को प्रदान की। कमेटी को जहाँ से साक्षियाँ मिलने में कठिनाई होती थी, आप वहाँ पहुँच जाते थे। आपके आगमन-मात्र से लोग निर्भय हो जाते थे और कमेटी को सब प्रकार की साक्षी दे देते थे। आप पंजाब प्रदेश के पुराने सपूत थे, वहाँ सब लोगों से परिचित थे, जनता को आपके प्रेम, सचाई, सहृदयता पर अगाध विश्वास था। वह आपको सर्वत्र सब प्रकार का सहयोग देने के लिए तैयार थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कांग्रेसी जाँच कमेटी को आपका सहयोग मिलने से मार्शल लॉ के समय हुए अत्याचारों का सच्चा और विस्तृत विवरण भारत के अन्य प्रान्तों की जनता को मिल सका।

स्वामीजी की यह इच्छा थी कि उस वर्ष कांग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में ही हो ताकि सारे देश को पंजाब की वास्तविक स्थिति का यथार्थ रूप में परिचय मिल सके और समूचा भारत पंजाब में मार्शल लॉ के दिनों में जनता के साथ किये भीषण अत्याचारों की प्रामाणिक जानकारी प्राप्त कर सके। किन्तु कांग्रेसी नेता इसके लिए तैयार नहीं थे। वे समझते थे कि इसका सरकारी विरोध होगा, अतः वे अमृतसर में कांग्रेस-अधिवेशन की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। स्वामी श्रद्धानन्द ने शनैः-शनैः अन्य कांग्रेसी नेताओं को इसके लिए तैयार कर लिया, किन्तु आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी के प्रधान महामना मालवीय अपनी बात पर इस दृढ़ता के साथ अड़े हुए थे कि स्वामीजी ने एण्ड्रयूज को मालवीयजी के पास केवल इसलिये भेजा कि वे उन्हें अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन करने के लिए सहमत कर सकें, किन्तु वे नहीं माने। इस पर स्वामीजी स्वयं मालवीयजी से मिले। वे इस शर्त पर कांग्रेस का अधिवेशन स्वर्णमन्दिर की नगरी में करने को सहमत हुए कि इसे करने में अन्य नेताओं तथा प्रान्तों से किसी प्रकार की सहायता की अपेक्षा नहीं करनी होगी। वस्तुतः उस समय मार्शल लॉ की घटनाओं का इतना अधिक आतंक था कि कोई भी व्यक्ति सरकार की इच्छा के विपरीत अमृतसर में कांग्रेस की सहायता करके सरकारी कोप का भाजन बनने का साहस नहीं रखता था। स्वामीजी ने यह सब जानते हुए भी सारी जिम्मेदारी अपने पर ले ली।

अब प्रश्न यह था कि स्वागत-समिति का अध्यक्ष कौन बने? यह जिम्मेवारी भी स्वामीजी को उठानी पड़ी। इसे उठाने के कारणों का स्पष्टीकरण करते हुए स्वामीजी ने अपने स्वागत-भाषण में कहा था—"पहला कारण मेरे लिये इस वेदी पर आने का यह है कि पंजाब में जिन रत्नों ने भारत माता के उज्ज्वल माथे को दाग से बचाने के लिए फाँसी तथा जन्म-कैद को तुच्छ समझा और निरपराध होते हुए भी रहम की दरख्वास्त को पाप समझकर कैदखाने को काशी और काबे का रुतबा दिलाया—हर किशन लाल, दुनीचन्द, रामभजदत्त, किचलू, सत्यपाल ने मुझको आज्ञा भेजी कि मैं स्वागत-कारिणी का सभापति बनूं। फिर मैंने जेल के खूनी पिंजरों में (बन्द) श्रद्धासम्पन्न चौधरी बुग्गा और वीर महाशय रत्तो से सिंहपुरुषों की भी यही ध्वनि सुनी। परन्तु जब इनमें से कुछ धर्मवीरों की धर्मपत्नियों ने कहा—'बन्दीगृहों में घिरे हुए हमारे पति महाशयों की आत्मा तभी शान्त होगी जब कांग्रेस का महोत्सव कभी न टले' और भिक्षु से उल्टी भिक्षा माँगी तो उसे मातृशक्ति के आगे सिर झुकाना पड़ा। यह पहला कारण मेरा इस वेदी पर आने का है।"

"दूसरा कारण मेरा आश्रम और उसका कर्तव्य है। वैदिक धर्म की रक्षा के

लिए जो सम्प्रदाय भारतवर्ष में स्थापित हैं, उनका यह प्रश्न है कि संन्यासी का राजनीति से क्या सम्बन्ध है ? मेरा उत्तर है—"वेद मुझे आज्ञा देता है कि सौ वर्षों की उम्र तक तक जीने की आशा कर्म करते हुए ही करूँ, परन्तु शर्त यह है कि उन कर्मों में फँसूँ नहीं।"

उपर्युक्त दोनों कारणों के अतिरिक्त एक तीसरा कारण राजनीति के अध्यात्मीकरण का उदात्त उद्देश्य था। वे कांग्रेस में इस भावना से काम करना चाहते थे कि देश की राजनीति में कोरे स्वार्थ को नहीं, अपितु नैतिक मूल्यों को अधिक महत्त्व दिया जाय और कांग्रेस की नीति को धार्मिक भावों से अनुप्राणित किया जाय। स्वामी श्रद्धानन्द ने इस विषय में जब महात्मा गांधी से परामर्श माँगा था तो उन्होंने साबरमती से भाद्रपद शुक्ला १० संवत् १९७५ को स्वामीजी को इस आशय का पत्र लिखा था—"भाईसाहब, आपका पत्र मिला। मेरा यह विश्वास है कि जब तक हम लोग धार्मिक भावना से राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश नहीं करते, तब तक भारत का सच्चा और वास्तविक अभ्युदय नहीं हो सकता है। यदि आप स्वागत-समिति के सभापति हो जायेंगे तो आप कांग्रेस में धार्मिक भाव पैदा करने में समर्थ हो सकेंगे। इसलिए आपको स्वागत-समिति का सभापति होना ही चाहिये। यही सलाह मैं आपको दे सकता हूँ।"[1]

गांधीजी के इस पत्र और परामर्श ने स्वामीजी को स्वागत-समिति के अध्यक्ष का पद स्वीकार करने के लिए विवश कर दिया। यह इस बात को सूचित करता है कि स्वामी श्रद्धानंद ने धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर ही, दिल्ली के बाद दूसरी बार राजनीति में प्रवेश किया। स्वागताध्यक्ष होने के नाते अमृतसर कांग्रेस की संपूर्ण व्यवस्था करने तथा उसे सफल बनाने की पूरी जिम्मेवारी उन पर थी और इसे पूरा करने के लिए उत्साह और जोश के साथ वे इस कार्य में जुट गये। गुरुकुल के वार्षिकोत्सवों को सफलतापूर्वक सम्पन्न कराते हुए उन्हें विशाल जनसभाओं के आयोजन का बहुमूल्य अनुभव प्राप्त हो चुका था। इसकी सहायता से उन्होंने कांग्रेस अधिवेशन के लिए आवश्यक संगठन और व्यवस्था का कार्य शीघ्र ही सम्पन्न कर लिया। किन्तु जब अधिवेशन की तैयारियाँ पूरी हो गयीं तो मूसलाधार पानी बरसना शुरू हो गया। मानवीय बाधाओं को पार करने के बाद प्राकृतिक बाधायें उपस्थित होने लगीं। वर्षा से चारों ओर जलप्रलय का दृश्य नजर आने लगा और एक नया कल्पनातीत संकट उत्पन्न हो गया। २४ दिसम्बर को जब कांग्रेस के प्रतिनिधियों की १२ विशेष रेलगाड़ियाँ आने को थीं, उस समय बड़ा पैसा और मेहनत लगाकर अधिवेशन का विशाल पण्डाल खड़ा करने के उपरान्त ऐसी वर्षा हुई जैसी पिछले ४० वर्षों में अमृतसर में कभी नहीं हुई थी। शहर की गलियों में घुटनों तक पानी चलने लगा। प्रतिनिधियों के रहने के लिए लगायी गयी छोलदारियाँ पानी में तैरने लगीं। शहर में भीषण बाढ़ की-सी स्थिति उत्पन्न हो गयी।

किन्तु स्वामीजी ने अपने अदम्य साहस तथा विलक्षण सूझबूझ से इस कठिनाई पर भी विजय पायी। वे शहर के हर हिस्से में घूमे, एक-एक मुहल्ले में जाकर उन्होंने लोगों से अपील की कि कांग्रेस के अधिवेशन में आने वाले प्रतिनिधियों के लिए वे अपने घरों में स्थान खाली करें, और अतिथि-सेवा के धर्म का पालन करते हुए अपने शहर की लाज बचायें। इस अपील का नगर-निवासियों पर जादू जैसा असर हुआ। लोग स्वयमेव

---

१. सत्यदेव विद्यालंकार—स्वामी श्रद्धानन्द, पृ० ४९३-९४

रेलवे स्टेशन और बाहर से आने वाली सड़कों पर जाकर खड़े हो गये। जिसके सामने जो प्रतिनिधि आया, उसको वह अपने घर ले गया। घरों में केवल प्रतिनिधियों के ठहराने का ही प्रबन्ध नहीं किया गया, अपितु भोजन आदि की भी अत्युत्तम व्यवस्था की गयी। अमृतसर कांग्रेस में जाने वाले प्रतिनिधि बहुत वर्षों तक पंजाबियों की अतिथि-सेवा को याद करते रहे। इस प्रकार मानवीय और प्राकृतिक बाधाओं का दृढ़ता एवं सफलता से सामना करते हुए और उन पर विजय प्राप्त करते हुए स्वामी श्रद्धानन्द ने अमृतसर-कांग्रेस के अधिवेशन को सफल बनाने में कोई कसर बाकी नहीं रखी।

इस सम्मेलन का आरम्भ स्वागताध्यक्ष के ऐतिहासिक भाषण से हुआ। इसमें पहली बार राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रतिनिधियों का स्वागत करते हुए स्वामी श्रद्धानन्द ने राजनीति में आध्यात्मिक और धार्मिक तत्त्वों पर बल दिया। देशवासियों के चरित्र-निर्माण के स्तर को ऊँचा उठाने का तथा राजनीति में आदर्शवाद और अहिंसा की नीति अपनाने का प्रतिपादन किया। हरिजन-समस्या के समाधान के लिए आवश्यक कार्यक्रम को तुरन्त शुरू करने को कहा और ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत के लिए प्रस्तावित सुधार-योजना के बारे में अपने ऐसे बहुमूल्य सुझाव दिये जिनसे इस बारे में नरम और गरम दलों के दृष्टिकोण में समन्वय स्थापित हुआ और इस प्रश्न पर जिस उग्र मतभेद और फूट की सम्भावना प्रकट की जा रही थी, वह टल गयी। इस भाषण ने कांग्रेस के इतिहास में एक निराला रिकार्ड स्थापित किया। अतः यहाँ इस भाषण के महत्त्वपूर्ण अंशों पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

(६) स्वागताध्यक्ष का भाषण

(क) **नैतिकता का उद्बोधन**—इस भाषण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें भारतीय राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय आन्दोलन को धार्मिक आधार पर सुप्रतिष्ठित करने के लिए बड़ा बल दिया गया था। स्वामीजी का यह विचार था कि जब तक राजनीति आध्यात्मिकता से ओतप्रोत नहीं होगी, तब तक भारत की उन्नति नहीं हो सकती है। हमें राजनैतिक स्वतन्त्रता कठोर धार्मिक तपस्या से ही प्राप्त हो सकती है। इसका विवेचन करते हुए उन्होंने अपने भाषण के आरम्भ में कहा था—"आज तक यह भारत की जातीय महासभा(कांग्रेस) साधारण पोलिटिकल काम करती रही है, परन्तु आज इसे धर्म के शिखर पर उठाना पड़ेगा और उसके साथ ही बहनो और भाइयो, हम सबको भी अपनी दृष्टि ऊँची करनी पड़ेगी। पंजाब का तप सहस्र मुख से यही उपदेश दे रहा है कि मानवीय मूल अधिकारों की प्राप्ति के लिए बड़े गम्भीर तप की आवश्यकता है। अब नीतियों और राजीनामों और सौदा-सुलफ का जमाना नहीं रहा, अब निर्भयता से सत्य पर दृढ़ होने का समय आ रहा है···मार्शल लॉ के दिनों में पता लगा कि पोलिटिकल अधिकारों का शोर मचाने वाले यदि चरित्रहीन हों तो वे देश को रसातल में ले जाते हैं, इसलिए सबसे बढ़कर काम चरित्र-संगठन का कार्य है जो जाति को अपने हाथ में लेना चाहिए।"—"यदि जाति को स्वतन्त्र देखना चाहते हों तो स्वयं सदाचार की मूर्ति बनकर अपनी सन्तान के सदाचार की बुनियाद रख दो।"

(ख) **नवीन शिक्षा-पद्धति**—भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए इस भाषण में इस बात पर बल दिया गया था कि वर्तमान पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति के स्थान पर एक

ऐसी नई शिक्षा-पद्धति स्थापित की जानी चाहिए जिससे देश को ऐसे नवयुवक प्राप्त हो सकें जो सच्चे अर्थों में देश के लिए अपने तन-मन-धन का अर्पण करने वाले हों और सच्चे अर्थों में स्वराज्य-प्राप्ति के लिए संघर्ष कर सकें। स्वराज्य शब्द की व्याख्या स्वामी जी के मतानुसार राजनैतिक नहीं, अपितु आध्यात्मिक थी। वे स्वराज्य का अर्थ अपना शासन ही नहीं, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति का अपनी इन्द्रियों, मनोभावों और मन पर पूरा नियन्त्रण समझते थे। इस प्रकार आध्यात्मिक स्वराज्य की शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति ही राजनैतिक स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं। उनका यह विचार था कि नयी पीढ़ी को शिक्षित करने का कार्य राजनैतिक कार्यों से अधिक महत्त्वपूर्ण है और इसे कांग्रेस को अपने हाथ में लेना चाहिए। इस सम्बन्ध में उन्होंने निम्नलिखित विचार प्रकट किये थे—

"इस जातीय महासभा का प्रधान काम अब तक यह रहा है कि स्वदेश के पोलिटिकल अधिकारों को विदेशी गवर्नमेंट से प्राप्त करने के लिए रिजोल्यूशनमात्र पास करे। परन्तु जहाँ एक ओर उन पास किये हुए प्रस्तावों को अमली जामा पहनाने के लिए बहुत कम यत्न हुआ है, वहाँ कौम की असली बुनियाद डालने और उस कौम को मिलने वाले अधिकारों को पचाने के योग्य बनाने का बहुत कम यत्न हुआ है। इस जातीय महासभा की तरफ से कुछ भी यत्न नहीं हुआ। स्वराज्य प्राप्त करके उसे पचाने के लिए पहली जरूरत यह है कि कौम का एक-एक बच्चा ऐसी तालीम हासिल कर सके जिससे उसकी आत्मा दृढ़ होकर उसके अपने शरीर, इन्द्रियों और मन का मालिक, उनको वश में करने वाला बन सके। यह तब हो सकेगा जब एक ओर जातीय शिक्षा-पद्धति बनाकर कौम की तालीम कौम के हाथों में हो जाय और दूसरी ओर जाति के माता-पिता अपने शरीरों, इन्द्रियों और मनों को शुद्ध करके अपनी सन्तान के सामने पैरवी करने के लिए उत्तम मिसाल रखें।

"मैंने देश की आचार तथा समाज-सम्बन्धी सेवा करते हुए गत २६ वर्षों में अनुभव किया है कि प्रत्येक शिक्षित सदस्य कॉलिज से निकलते समय देश और धर्म की सेवा का मानसिक व्रत धारण करके निकलता है; वहाँ परीक्षा के समय एक हजार में से शायद ही एक साबितकदम रहता हो। ऐसे हिन्द के देशभक्त उँगलियों पर गिने जा सकते हैं, जो विदेशी शासकों से प्रलोभित किये जाने पर भी देश के हित के लिए उपाधि-रूपी सुनहरी जंजीरों को तोड़कर फेंक दें। वायसराय की अनुचित धमकी के उत्तर में सर की उपाधि को सिर से उतारकर फेंकने वाले डॉक्टर सुब्रह्मण्यम-से ब्राह्मण देश में कितने हैं? अपनी जाति पर अत्याचार करने वाले पिशाचभाव का जिस गवर्नमेण्ट की तरफ से इजहार हुआ, जिस गवर्नमेण्ट के चाकरों ने स्वजाति के गौरव को नष्ट करने में कुछ कसर नहीं छोड़ी, उसकी दी हुई उपाधि को एक दिन के लिए भी धारण किये रखना पाप समझने वाले भारत के सूर्य, कवि रवीन्द्रनाथ-से कितने देवता हैं और सच्चे राज-धर्म का पालन करने वाले मनुष्य और पशु के भय से मुक्त वैदिक निर्भयता के उपदेश पर अमल करने वाले स्वदेश को पद-दलित करने वाले शासकों की श्रेणी को छोड़ देने वाले वीर शंकर-नायर जैसे सिंहपुरुष कितने हैं···जब सदाचारी, ब्रह्मचारी, शिक्षक और कौमी शिक्षा-पद्धति (नेशनल स्कीम ऑफ एजुकेशन) होगी, तब ही देश की जरूरतों को पूरा करने वाले नौजवान निकलेंगे, नहीं तो इसी तरह आपकी सन्तान विदेशी विचारों और विदेशी सभ्यता की गुलाम निकलती रहेगी।"

(ग) **राजनैतिक आदर्शवाद**—राजनीति को प्रायः कूटनीति व कपटनीति का पर्याय समझा जाता है और यह माना जाता है कि जिस भी साधन से उद्देश्य पूरा हो, भले ही वह कितना ही अनुचित, अवैध एवं नैतिक दृष्टि से जघन्य क्यों न हो, उसको अपनाने में कोई संकोच नहीं करना चाहिए। भारत में उन दिनों नरम दल की तुलना में गरम दल जोर पकड़ रहा था और क्रान्तिकारी भारत की स्वतन्त्रता पाने के लिए सभी सभी प्रकार के हिंसापूर्ण साधन—बम, बारूद, पिस्तौल और रायफल का उपयोग समीचीन और वैध समझते थे। आतंकवादी ब्रिटिश अधिकारियों की हत्या पर बल देते थे। जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड और मार्शला-लॉ के दिनों में पंजाब के विभिन्न प्रदेशों में फौजी शासन के दिनों में जनता पर अत्याचार करने वाले अंग्रेजों से घोर घृणा करने लगे थे। उस समय जातीय विद्वेष और वैमनस्य की भावनाएँ प्रबल हो रही थीं।

ऐसे विकट समय में जातीय विद्वेष के दावानल पर शीतल जल की धारा बहाते हुए स्वामी श्रद्धानन्द ने जातीय घृणा के भाव को तिलांजलि देने पर बदल दिया। उनका यह कहना था कि—"हमें अंग्रेजों की समूची जाति से घृणा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उनमें भारतीयों की आकांक्षाओं से सहानुभूति रखने वाले और भारतवासियों के कल्याण के लिए प्रयत्न करने वाले लार्ड रिपन जैसे अनेक व्यक्ति हैं। यह ठीक है कि उनमें जनरल डायर जैसे व्यक्ति भी हैं, किन्तु हमें उनको प्रेम की शक्ति से जीतना चाहिए। इस विषय में उन्होंने भगवान् बुद्ध का एक सुप्रसिद्ध श्लोक उद्धृत करते हुए क्रोध को शान्ति से जीतने का उपदेश निम्नलिखित स्मरणीय शब्दों में दिया था—

"(मैंने) जलियाँवाला बाग की घटनाओं का स्मरण आपके हृदयों में शोक और घृणा का भाव उभारने के लिए नहीं दिलाया। घृणा किससे दिलाऊँ? क्या ब्रिटिश जाति से? जिसने रिपन, ब्राइट, फासेट ब्रैडला, वेडरबर्न, इस कांग्रेस के पिता ह्यूम, काटन और उनके बीसियों सहकारियों को उत्पन्न किया और इस गिरी हुई जाति को उठाने में सहायता देते हुए ही समाप्त हुए? क्या उस जाति से (घृणा दिलाऊँ) जिसने हार्डिंग और मार्ले और माण्टेग्यू को जन्म दिया जिनसे आगे भी बहुत-सी सहायता मिलने की आशा है? परन्तु स्वार्थ के सौदे को छोड़कर मैं पूछता हूँ कि जिस जाति ने देवी बसन्ती (एनी बीसेंट) और हार्निमैन, और बुडरफ और इनके बीसियों साथियों को उत्पन्न किया और जिसने श्रद्धा-सम्पन्न सरलहृदय एण्ड्रयूज को भारतमाता की गोद में दे दिया—उस ब्रिटिश जाति से घृणा दिलाने के लिए मैंने आपकी स्मरणशक्ति को नहीं प्रेरित किया है; न मैं आपको व्यक्तियों से घृणा दिलाना चाहता हूँ। व्यक्ति सब हमारे भाई हैं। उनमें जो दोष घुस जाते हैं, वे ही हमारे शत्रु हैं। ओडवायर और डायर, जॉनसन और ओब्रायन ये सब हमारे ही तो भाई हैं। एक पिता की तो सब सन्तान हैं। उनके अन्दर जो क्रोध और असाधुता के भाव हैं, वे ही हमारे शत्रु हैं। परन्तु क्या उन शत्रुओं पर घृणा और क्रोध की सहायता से हम विजय पा सकेंगे? इसका एक कवि ने ठीक उत्तर दिया है—

"अक्रोधेन जयेत्क्रोधं, असाधुं साधुना जयेत्।
जयेत्कदर्यं दानेन, जयेत्सत्येन चानृतम्॥"

क्रोध को हम शान्ति से जीतें, असाधुता को साधुभाव से, कंजूसी को दान से और झूठ को सचाई से जीतने की आशा रखें।"

भारतीय राजनीति में यह प्रवृत्ति सर्वथा नवीन थी। इसी समय महात्मा गांधी

भी इन्हीं सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे थे। विचारों की समानता के कारण इन दोनों महापुरुषों में बड़ा प्रेमभाव और सहयोग था।

अछूतोद्धार की समस्या—सम्भवतः स्वामी श्रद्धानन्द पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने कांग्रेस के मंच पर पहली बार अछूतों की समस्या उठायी थी। सदियों से सवर्ण हिन्दुओं के अत्याचारों से पीड़ित, बहुमूल्य मानवीय एवं सामाजिक अधिकारों से वंचित करोड़ों अछूत नारकीय जीवन बिता रहे थे। उन्हें कुओं से पानी भरने का, स्कूलों में शिक्षा पाने का और दक्षिण के कुछ प्रदेशों में दिन में सड़कों पर चलने तक का भी अधिकार नहीं था, क्योंकि उनकी परछाईं के स्पर्श से ब्राह्मणों के अपवित्र होने की आशंका थी। ईसाई मिशनरियों का यह प्रयत्न था कि उन्हें ईसाई बनाकर ब्रिटिश साम्राज्य का प्रबल पृष्ठ-पोषक बना लिया जाय। इस दृष्टिकोण की कड़ी आलोचना करते हुए स्वामी श्रद्धानन्द ने उनके साथ अपने भाई-बहनों जैसा व्यवहार करने पर बल देते हुए अपने भाषण में यह कहा था—

"लन्दन नगर में भारत की रिफार्म स्कीम कमेटी के सामने 'ईसाई मुक्ति फौज' (क्रिश्चियन साल्वेशन आर्मी)के जनरल बूथ टकर साहब ने कहा था कि भारत में ६·५ करोड़ अछूतों को विशेष अधिकार मिलने चाहिएँ और इसके लिए हेतु दिया था—'क्योंकि वे भारत में ब्रिटिश गवर्नमेण्ट-रूपी जहाज के लंगर हैं'—इन शब्दों पर भी गहरा विचार कीजिए और सोचिए कि किस प्रकार आपके साढ़े छः करोड़ भाई, आपके जिगर के टुकड़े जिन्हें आपने काटकर फेंक दिया है, किस प्रकार भारत माता के साढ़े छः करोड़ पुत्र एक विदेशी गवर्नमेण्ट के लंगर बन सकते हैं। मैं आप सब बहिनों और भाइयों से एक याचना करूँगा। इस पवित्र जातीय मन्दिर में बैठे हुए अपने हृदयों को मातृभूमि के प्रेमजल से शुद्ध करके प्रतिज्ञा करो कि—'आपके वे साढ़े छः करोड़ हमारे लिए अछूत नहीं रहे, बल्कि हमारे बहिन और भाई हैं, उनकी पुत्रियाँ और पुत्र हमारी पाठशालाओं में पढ़ेंगे, उनके गृहस्थ नर-नारी हमारी सभाओं में सम्मिलित होंगे, हमारी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के युद्ध में वे हमारे कन्धे-से-कन्धा जोड़ेंगे और हम सब एक-दूसरे का हाथ पकड़े हुए ही अपने जातीय उद्देश्य को पूरा करेंगे'।"

इस अवतरण से यह स्पष्ट है कि स्वामी श्रद्धानन्द अस्पृश्यता का मूल कारण उच्चजातियों के हिन्दुओं द्वारा अछूतों के साथ किया जाने वाला दुर्व्यवहार समझते थे। इस समस्या का सर्वोत्तम स्थायी समाधान हिन्दुओं की मनोवृत्ति में ऐसा मौलिक परिवर्तन लाना था कि वे दलित वर्ग के व्यक्तियों को अपना भाई-बहिन समझें और उनके साथ दुर्व्यवहार के बदले में समानता का व्यवहार करें। उन्हें यह आशंका थी कि यदि शीघ्र ही ऐसा न हुआ तो अछूत ईसाई बन जायेंगे और ब्रिटिश साम्राज्य का समर्थन करने लगेंगे।

सुधार-योजना का समर्थन—इस कांग्रेस के अवसर पर नरम तथा गरम दल में ब्रिटिश सरकार द्वारा घोषित माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड-सुधार योजना को स्वीकार करने तथा इसके लिए ब्रिटिश सरकार को धन्यवाद देने के प्रस्ताव के बारे में इतना अधिक गम्भीर मतभेद था कि इस पर दोनों दलों में फूट पड़ जाने की तथा सूरत कांग्रेस के दृश्य की पुनरावृत्ति होने की आशंका प्रकट की जा रही थी। स्वामीजी ने इस प्रश्न पर दोनों दलों में समझौता कराने का सराहनीय प्रयास किया। वे इस विषय में लोकमान्य तिलक के

अनुयायी थे कि जो सुधार मिल रहे हैं, उन्हें स्वीकार कर लेना चाहिए और अधिक अधिकारों के लिए संघर्ष करना चाहिए। उनके बुद्धिमत्तापूर्ण नेतृत्व और समुचित पथ-प्रदर्शन के कारण इस अधिवेशन में दोनों दलों ने इस योजना को स्वीकार कर लिया। यह स्वामीजी की बड़ी सफलता थी। कांग्रेस का अधिवेशन शुरू होने पर सुधार-योजना के के बारे में स्वामीजी ने अपने भाषण में निष्पक्ष दर्शक के रूप में अपने निम्नलिखित विचार प्रकट किये थे—"इस समय में मतभेद का कारण भारत-सचिव मिस्टर मांटेग्यू द्वारा पेश की हुई सुधार-स्कीम समझी जाती है। नरम दल के महानुभाव कहते थे कि इसे स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाओ···अब तिलक महाराज भी यही कहते हैं कि जितना मिलता है, उसे ग्रहण करो और शेष के लिए आन्दोलन जारी रखो। फिर मतभेद क्यों? बात सीधी है कि दोनों में से कोई भी हार मानने को तैयार नहीं है। दोनों ही अपने स्थान पर डटे हुए हैं। नरम दल वाले कहते हैं कि भारत-सचिव हमारी बुद्धिमत्ता पर मोहित हुए और हमारी माकूल महदूद तजवीजों से सहमत होकर उन्होंने भारतवर्ष को कुछ अच्छे अधिकार दिये हैं। इसके उत्तर में गरम दल वाले कह सकते हैं कि यदि वे पूरे स्वराज्य की याचना एकदम न करते तो देश को इतना भी न मिलता जो अब मिला है···जब यह हाल है तो लड़ाई काहे की? पुराने पठानों की तरह दोनों मूँछों पर ताव दे रहे हैं और मातृभूमि के विरोधी उनकी खिल्ली उड़ा रहे हैं। यह घरू युद्ध कैसे दूर हो? सुधार-स्कीम अब विवादास्पद विषय नहीं रहा। नरमों का उसे स्वीकार करना और गरमों का उसे अस्वीकार करना दोनों निरर्थक डींगें हैं। बुरी है या भली, पूर्ण है या अपूर्ण, —सुधार-स्कीम हम पर लागू हो चुकी है···नरम और गरम दोनों मिले अधिकारों को लेने पर सहमत हैं। मतभेद इतना ही है कि इतना भी किसकी कृपा से मिला है?" इस-के बाद स्वामीजी ने दोनों पक्षों के विचारों का विश्लेषण करते हुए मतभेद भुलाकर सुधारों को कार्यान्वित करने का सुझाव दिया। वस्तुतः दोनों पक्षों ने अपने मत को प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया था और वे इसे जग-हँसाई या लोकापवाद के डर से छोड़ने को तैयार नहीं थे। स्वामीजी ने इस विषय में पंजाब की सुप्रसिद्ध लोककथा को उद्धृत करते हुए कहा कि—"झगड़ा एक पल में निबटता है यदि एक संन्यासी का कहना मान लो, तुम ही मूँछ नीची कर लो और जो कुछ मिला है उसे सम्भालने में लग जाओ।"

सौभाग्यवश अमृतसर में नरम और गरम दल के कांग्रेसी नेताओं पर स्वामीजी की अपील का बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने अपने मतभेद भुलाकर सुधारों को स्वीकार करने का प्रस्ताव पास किया।

भारत-मन्त्री को धन्यवाद का प्रस्ताव—इस समय कांग्रेसी नेताओं में दूसरा उग्र मतभेद इस प्रश्न पर था कि भारत-मन्त्री माण्टेग्यू को सुधार प्रदान करने के लिए धन्यवाद दिया जाय या नहीं। गरम दल वाले इसके विपक्ष में थे और वे इस प्रस्ताव का डटकर विरोध कर रहे थे। दूसरी ओर गांधीजी तथा नरम दल के नेता शालीनता और शिष्टता की दृष्टि से भारत-मन्त्री के प्रति सुधार के लिए आभार प्रकट करना आवश्यक समझते थे। इस विषय में नेताओं में इतना उग्र मतभेद था कि गांधीजी ने यह धमकी दी थी कि यदि इंग्लैण्ड को धन्यवाद देने का प्रस्ताव नहीं स्वीकार किया गया तो वे अमृतसर से दो बजे की गाड़ी का टिकट लेकर लौट जायेंगे।[1] इस विषय में स्वामीजी का दृष्टिकोण

१. धर्मवीर—भाई परमानन्द और उनका युग, पृ० २६८

महात्मा गांधी से मिलता था। उन्होंने इसका समर्थन करते हुए अपने भाषण में कहा था—

"मिस्टर माण्टेग्यू ने इस समय वह काम किया है जो संसार के इतिहास में सदा के लिए यादगार रहेगा। यह कहा जा रहा है कि मिस्टर माण्टेग्यू ने क्या किया? किसी हद तक उन्होंने अपना कर्तव्यपालन किया है और जो कुछ भी किया है, अपने साम्राज्य की भलाई के खयाल से किया है, अब उनका धन्यवाद करने की क्या जरूरत है? मैं पूछता हूँ कि संसार में कितने व्यक्ति हैं जो अपना कर्तव्यपालन करते हैं? क्या यह सच नहीं है कि आपमें से जितने पोलिटिकल अधिकार पाने के लिए अधिक शोर मचाते हैं, वे भारत के साढ़े छः करोड़ अन्याय से पीड़ित अपने भाइयों को अछूत समझकर उनसे घृणा का भाव दूर नहीं कर रहे हैं और कितने हैं जो अपने उन दीन भाइयों को अपनाते हैं? यदि अपनी जाति के अन्त्यज को अपनाने के लिए आप मोहनदास कर्मचन्द गांधी को देवता मान सकते हो तो घोर विरोधों का मुकाबला करते हुए एक स्वतन्त्र हुई जाति को किसी अंश तक उसके अधिकार दिलाने की कृतकार्यता प्राप्त करने के उपलक्ष्य में क्या आप मिस्टर माण्टेग्यू का वाणी से भी धन्यवाद न करेंगे? और जिस ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने अपने कर्तव्य को (चाहे वह किसी स्वार्थ के विचार से क्यों न हो) समझा है, क्या हम उसे साधुवाद न कहेंगे? बहिनो और भाइयो! भारत की प्राचीन सभ्यता के नाम पर मैं आप सबसे अपील करता हूँ कि इस अपूर्व अवसर को हाथ से न जाने दें और कृतघ्नता का दाग माथे पर न आने दें।"

कांग्रेसी नेता और प्रतिनिधि स्वामीजी की अपील से प्रभावित हुए और उन्होंने सुधारों के लिए मांण्टेग्यू को धन्यवाद देने का प्रस्ताव पास किया।

डायर का धन्यवाद—स्वामीजी ने अपने भाषण में न केवल भारत-मन्त्री का, अपितु १३ एप्रिल को जलियांवाला बाग में निहत्थी भीड़ को बिना चेतावनी दिये गोली चलाने का आदेश देने वाले जनरल डायर को, मार्शल-लॉ के दिनों में पंजाब के छोटे लाट सर माइकेल ओडवायर आदि ब्रिटिश अधिकारियों को भी धन्यवाद दिया और मार्शल-लॉ की जय के नारे को उचित बताया, क्योंकि इसने पंजाब में देश-भक्ति की भावना उद्दीप्त की थी और उसमें असाधारण राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न की थी। इसका वर्णन करते हुए उन्होंने अपने अभिभाषण में कहा था—

"इस नगर (अमृतसर) को धनहीन, सम्पत्तिहीन, बलहीन और उत्साहहीन बनाने में मार्शल-लॉ ने कुछ कसर न छोड़ी। परन्तु एक भाव है जिसे मार्शल-लॉ का भयानक अत्याचार भी नहीं दबा सका। वह है मातृभूमि का प्रेम और माता की सन्तान के साथ सच्चा अनुराग, और वही भाव मैं आपको भेंट करता हूँ। इस भाव में ऐसी वृद्धि हुई कि यदि हम उसके लिए मार्शल-लॉ के संचालक श्रीमान सर माइकेल ओडवायर और उनके साथ के दोनों हथियारों अर्थात् जनरल डायर और कर्नल फ्रैंक जॉनसन का हार्दिक धन्यवाद करें तो अनुचित नहीं है और शायद कुछ व्यक्तियों ने इसी भाव को लक्ष्य में रख-कर कर्नल फ्रैंक जॉनसन के सामने मार्शल-लॉ की जय गुँजाई हो। निष्कपट कर्नल फ्रैंक और मातृभूमि के प्रेम के रंग में प्रजा को रंग देने वाले जनरल डायर ने मार्शल-लॉ की जो घुट्टियाँ पंजाब को पिलाई हैं, उनसे पंजाब का जातीय जीवन ५० वर्षों के लिए मर तो क्या जाता, उल्टा आधी शताब्दी का उल्लंघन करके पंजाब अपने आगे बढ़े हुए

बंगाली, मराठी, गुजराती, मद्रासी भाइयों के साथ कन्धे-से-कन्धा भिड़ाने को तैयार है। गत १५ दिनों के अन्दर मेरे पास ग्रामों से जो पत्र आये हैं और २४ जून १९१९ ई० से अब तक जिन ग्रामीण बहिनों और भाइयों से मेरी भेंट हुई है, उनकी कायापलट देखकर मुझे विश्वास हो गया कि जाति में अब पूरी जागृति हो गयी है। इस समय जातिरूपी वीणा की सम्प्रदाय-रूपी विविधताएँ एक-दूसरी से मिली हुई हैं और उनमें से एक ही स्वर निकल रहा है।"

अपने भाषण के अन्त में स्वामीजी ने भारतीय जनता से बड़े मार्मिक शब्दों में अपील की थी कि वह विदेशी खानपान, विदेशी पहरावे तथा विदेशी ढंग के भोगमय जीवन (लाइफ ऑफ लक्जरी) को तिलांजलि दे तथा छुआछूत की भावना का परित्याग करे। वे इसे देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए आवश्यक मानते थे।

आध्यात्मिकता, नैतिकता और धार्मिक भावनाओं से परिपूर्ण ऐसा स्वागत-भाषण इससे पहले कांग्रेस के मंच से शायद कभी नहीं दिया गया था। महात्मा गांधी ने इस ऐतिहासिक भाषण की सराहना करते हुए 'यंग इण्डिया' में लिखा था—"स्वागत-समिति के अध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्द का भाषण उच्चता, पवित्रता, गम्भीरता और सचाई का नमूना था। वक्ता के व्यक्तित्व की छाप उसमें आदि से अन्ततक लगी हुई थी। मनुष्य-मात्र के प्रति उसमें सद्भावना प्रकट की गयी थी। उन्होंने ठीक ही कहा था कि अंग्रेजों को प्रेम से जीतना चाहिए।" बम्बई के सुप्रसिद्ध पत्र 'इण्डियन सोशल रिफार्मर' ने लिखा था—"अमृतसर कांग्रेस के अधिवेशन में सहसा ही सबको अपनी ओर आकर्षित और अपने व्यक्तित्व से हर किसी को प्रभावित करने वाले महान् व्यक्ति स्वामी श्रद्धानन्द थे, जिन्होंने अपने देशवासियों के लिए भयानक संकटापन्न अवस्था में उस पवित्र कर्तव्य का भार स्वयं ही अपने कन्धों पर उठा लिया था। भारत की पवित्रता के द्योतक काषाय-वस्त्रों के वेश में वह विशाल, ओजस्वी तथा प्रतिभाशाली मूर्ति, जिसके चेहरे पर शक्ति तथा तेज चमक रहा था, साधारण-से-साधारण दर्शक की भी स्वयं सेवा करते हुए और महान् संगठन के छोटे-से-छोटे कार्य का भी स्वयं निरीक्षण करते हुए यहाँ-वहाँ सभी जगह व्याप्त दीख पड़ती है।"

अमृतसर कांग्रेस समाप्त होने के बाद स्वामी श्रद्धानन्द ने 'वृक्ष-पुष्प-पत्र हीन' जलियाँवाला बाग को शहीदों के स्मारक "अमर वाटिका" का रूप देने का आन्दोलन किया। दिल्ली के पाटौदी हाउस की भाँति जलियाँवाला बाग की सब भूमि खरीदने का प्रस्ताव पास कराया और इसे पूरा करने के लिए धन-संग्रह के काम में अन्य नेताओं की बहुमूल्य सहायता की। जब तक सारी भूमि नहीं खरीद ली गयी तब तक स्वामीजी को सन्तोष न हुआ। जब तक इस भूमि की समुचित व्यवस्था नहीं की गयी, तब तक स्वामी जी महात्माजी आदि कांग्रेसी नेताओं के साथ निरन्तर पत्र-व्यवहार करते रहे। जलियाँ-वाला बाग को शहीदों का अमर स्मारक बनाने, उसे वर्तमान रूप देने में स्वामी श्रद्धानन्द का बहुमूल्य योगदान है।

अमृतसर कांग्रेस की सफलता स्वामी श्रद्धानन्द और आर्यसमाज की सफलता थी। दिल्ली के रॉलट एक्ट-विरोधी सत्याग्रह में स्वामी श्रद्धानन्द ने राजनीति के क्षेत्र

---

१. सत्यदेव विद्यालंकार—स्वामी श्रद्धानन्द, पृ० ४९९ से उद्धृत।

में प्रवेश किया और प्रवेश करते ही वे न केवल दिल्ली के अपितु राष्ट्रीय स्तर के सर्व-मान्य लोकप्रिय नेता बन गये। कांग्रेस के प्रमुख नेता महात्मा गांधी, मोतीलाल नेहरू, महामना मदनमोहन मालवीय उनसे सभी राष्ट्रीय मामलों में परामर्श लेने लग गये। अमृतसर कांग्रेस ने उन्हें आर्यसमाज के सर्वोच्च धार्मिक नेता के साथ-साथ समूचे देश का एक मूर्धन्य राजनैतिक नेता भी बना दिया। उनके प्रभाव से आर्यसमाजी बड़ी संख्या में राजनैतिक क्षेत्र की गतिविधियों में प्रमुख भाग लेने लगे, और उनके उदाहरण का अनुसरण करते हुए आर्यसमाजी बन्धु देश के स्वतन्त्रता-संग्राम-आन्दोलन में अग्रसर हुए।

पच्चीसवाँ अध्याय

पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल

आर्यसमाज की विचारधारा से प्रभावित और उसकी प्रेरणा से क्रान्तिकारी आन्दोलन में भाग लेकर शहीद होने वालों में पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल का नाम अग्रगण्य है। वे अन्तिम समय तक कट्टर आर्यसमाजी बने रहे। उन्होंने 'विश्वानि देव' के वैदिक मन्त्र के उच्चारण के साथ फाँसी के फन्दे को अपने गले में डाला और अपनी मृत्यु से कुछ दिन पहले जेल की काल-कोठरी में लिखी गयी आत्मकथा में अगले जन्मों में 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के आदर्श की पूर्ति का संकल्प प्रकट किया। उनके शब्दों में "वर्तमान समय में भारतवर्ष की अवस्था बड़ी शोचनीय है, अतएव लगातार कई जन्म इसी देश में तब तक ग्रहण करने होंगे, जब तक भारतवर्ष के नर-नारी पूर्णरूपेण स्वतन्त्र न हो जायँ; परमात्मा से मेरी यह प्रार्थना होगी कि वह मुझे इसी देश में जन्म दे, ताकि उसकी पवित्र वाणी वेदवाणी का अनुपम घोष मनुष्यमात्र के कानों तक पहुँचाने में समर्थ हो सकूँ।"[1] गोरखपुर में फाँसी की काल-कोठरी से उन्होंने तत्कालीन उत्तरप्रदेश के गवर्नर को चिट्ठी लिखकर यह अनुरोध किया था कि उन्हें अन्य धर्मावलम्बियों के समान अपने धर्म के विधि-विधानों का पालन करते हुए दैनिक अग्निहोत्र करने की सुविधा प्रदान की जाय।

पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल के जीवन पर प्रकाश डालने वाली प्रामाणिक सामग्री उनकी आत्मकथा है। वह उन्होंने प्राणदण्ड से चार दिन पहले अधिकारियों से नजर बचाकर रजिस्टर के आकार के कागजों पर पेंसिल से लिखी थी और जेल के वार्डर के हाथ बाहर गोरखपुर के प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता श्री दशरथप्रसाद द्विवेदी के पास भेजी थी। यह मूल प्रति तीन अंशों में प्रतिदिन शनैः-शनैः जेल से बाहर भेजी जाती रही। श्री द्विवेदी ने ये सब कागज सुरक्षित रूप से 'प्रताप' के सम्पादक कानपुर के प्रसिद्ध पत्रकार एवं अमीर शहीद श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के पास प्रकाशन के लिए भिजवा दिये। उन्होंने यह सामग्री भली-भाँति सम्पादित करवा के प्रताप प्रेस कानपुर से प्रकाशित करवाई थी। ब्रिटिश सरकार ने इस पुस्तक के छपते ही इसे जब्त कर लिया था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद इस जब्त पुस्तक का प्रामाणिक संस्करण पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा अमर शहीद ग्रन्थ माला में अमर शहीद पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल के नाम से प्रकाशित हुआ है।

इसके आरम्भ में श्री बिस्मिल ने लिखा है कि "आज १५ दिसम्बर १९२७ ई० को निम्नलिखित पंक्तियों का उल्लेख कर रहा हूँ जबकि १९ दिसम्बर १९२७ ई० को सोमवार पौष कृष्ण ११, सम्वत् १९८४ वि० सवेरे इस शरीर को फाँसी पर लटका देने

---

१. डा० ईश्वरप्रसाद वर्मा—पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल, पृ० ८७

की तिथि निश्चित हुई है। अतएव नियत समय पर इहलीला संवरण करनी ही होगी।" इस कथन से मृत्यु के समय उनके अद्वितीय साहस, साधना और अद्वितीय निर्भयता का सुन्दर परिचय मिलता है। सामान्य रूप से मनुष्य मृत्यु से भयभीत होते हैं, किन्तु उन्होंने इसका स्वेच्छापूर्वक वरण और प्रसन्नतापूर्वक आलिंगन किया था। वे वस्तुतः मृत्युजञ्य महापुरुष थे।

पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल के पूर्वज ग्वालियर के राज्य में चम्बल नदी तट के पर तोमर घाट नामक स्थान के रहने वाले थे। यह वीरप्रसविनी भूमि थी। यहाँ के निवासी दुर्गम बीहड़ प्रदेशों में रहने के कारण स्वतन्त्र प्रकृति के होते थे। ये बड़े निर्भीक, साहसी और ग्वालियर राज्य एवं ब्रिटिश सरकार दोनों की उपेक्षा तथा अवज्ञा करने वाले थे। इन विद्रोही पूर्वजों से सम्भवतः श्री बिस्मिल ने स्वतन्त्रता की प्रेरणा प्राप्त की होगी। इनके दादा श्री नारायणलाल को पारिवारिक झगड़ों के कारण विवश होकर अपनी जन्म-भूमि छोड़नी पड़ी और वे एक भीषण दुर्भिक्ष के दिनों में अपने पुत्र मुरलीधर और कल्याणमल को लेकर शाहजहाँपुर आ बसे। यहाँ श्री मुरलीधर नगरपालिका में १५ रुपये मासिक पर नौकरी करने लगे। कुछ समय बाद नौकरी से ऊबकर उन्होंने इसे छोड़ दिया और स्वतन्त्र रूप से कचहरी में सरकारी स्टाम्प बेचने और लेन-देन का काम शुरू कर दिया। उन्हें व्यायाम का बड़ा शौक था, प्रतिदिन अखाड़े में कुश्ती लड़ने जाया करते थे। इसका उनके पुत्र पर गहरा प्रभाव पड़ा।

रामप्रसाद बिस्मिल का जन्म १८९७ ई० में हुआ। उनकी माता शुरू से ही धर्म-निष्ठ और उदार विचारों वाली थी। अब तक उनके कुल में कन्यावध की कुप्रथा प्रचलित थी। अतः बिस्मिल की बहन उत्पन्न होने पर दादी ने वैसा करने का आग्रह किया, किन्तु रामप्रसाद की माता के उग्र विरोध के कारण यह सफल नहीं हो पाया और इस परिवार में कन्याओं के पालन-पोषण की नवीन परम्परा शुरू हुई।

पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल का पालन बड़े कठोर सनातनी वातावरण में हुआ। सात वर्ष की आयु में रामप्रसाद का विद्यारम्भ हुआ। पिताजी उनके साथ इस मामले में बड़ी सख्ती बरतते थे, क्योंकि उनका विश्वास था कि बिना उच्च शिक्षा पाये व्यक्ति की उन्नति सम्भव नहीं है। किन्तु रामप्रसाद बचपन से अतीव उद्दण्ड और शरारती थे और उनकी पढ़ाई अच्छी नहीं चली। १३-१४ वर्ष की आयु तक उन्होंने चौथी कक्षा ही पास की। कुछ बुरी आदतों—भंग, सिगरेट का सेवन, चोरी आदि में फँस जाने से उनका पढ़ाई की ओर बहुत कम ध्यान था। वे दो वर्ष तक उर्दू मिडिल कक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सके। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' जैसी कोई बात उनमें नहीं थी।

किन्तु आर्यसमाज के प्रभाव एवं एक आर्यसमाजी संन्यासी के सम्पर्क में आने पर उनके जीवन में अद्भुत परिवर्तन हुआ। इनका नाम स्वामी सोमदेव था। उन्हें वे गुरुदेव कहा करते थे। अपनी आत्मकथा में उन्होंने इनका विस्तृत परिचय देते हुए लिखा है —

"माताजी के अतिरिक्त जो कुछ जीवन तथा शिक्षा मैंने प्राप्त की है, वह पूज्य-पाद श्री १०८ स्वामी सोमदेव जी की कृपा का परिणाम है। आपका संन्यासी होने से पहले पुराना नाम श्रीयुत ब्रजराज चोपड़ा था। पंजाब के लाहौर शहर में आपका जन्म हुआ था। आपका कुटुम्ब बड़ा प्रसिद्ध था, क्योंकि आपके दादा महाराजा रणजीतसिंह के

मन्त्रियों में से एक थे। आप बड़े प्रतिभाशाली थे। पंजाब विश्वविद्यालय की ऐण्ट्रेंस की परीक्षा में प्रथम आये थे। किन्तु पारिवारिक कलह और घरेलू दुर्व्यवहार से दुःखी होकर आपने घर छोड़ दिया और हरिद्वार में एक सिद्ध योगी से दीक्षा लेकर आप संन्यासी बन गये। उनसे योगाभ्यास सीखने लगे। किन्तु वैराग्य और निवृत्ति की प्रवृत्ति देर तक नहीं रही। १९०७ ई० की पंजाब की घटनायें आपको राजनीति में ले आयीं। आप एक समाचारपत्र के सम्पादक बने। अंग्रेजों के विरुद्ध उग्र लेख लिखने लगे। पत्र बन्द होने पर आपने आर्यसमाज का प्रचार आरम्भ किया। आप इतने प्रभावशाली वक्ता थे कि आगरा आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर स्वामीजी के व्याख्यान सुनकर प्रसिद्ध क्रांतिकारी राजा महेन्द्रप्रताप इनपर मुग्ध हो गये, इन्हें अपना गुरु मानने लगे। पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल ने १९१३ में शाहजहाँपुर आर्यसमाज में आपका पहला व्याख्यान सुना और उनके शिष्य बन गये। १९१५ ई० से ये स्थायी रूप से कई सज्जनों की प्रार्थना पर आर्य-समाज मन्दिर शाहजहाँपुर में निवास करने लगे और श्री बिस्मिल को इनके घनिष्ठ सम्पर्क में आने और सेवा करने का मौका मिला।

आर्यसमाज में प्रवेश—स्वामीजी के सत्संग से इन्हें आर्यसमाज और देशभक्ति की नई प्रेरणा मिली। इससे इनकी जीवनधारा की दिशा बदल गई। उस समय आर्य-समाज धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह का प्रतीक था; सामाजिक एवं राष्ट्रीय कार्यों में अग्रणी था; चरित्र की शुद्धता पर बड़ा बल देता था। महर्षि दयानन्द के ब्रह्मचर्य के आदर्श ने श्री बिस्मिल पर गहरा प्रभाव डाला, इससे उन्हें भंग आदि मादक द्रव्यों के सेवन तथा दुर्व्यसनों से मुक्ति मिली। उनके स्वास्थ्य में विलक्षण सुधार हुआ। वे आर्यसमाज के सभी कार्यों में बड़े उत्साह से भाग लेने लगे। उन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत धारण किया और देश-सेवा करने का निश्चय किया।

इससे परिवार में एक नवीन संकट उत्पन्न हुआ। उनके पिता कट्टर सनातनी थे, पुत्र आर्यसमाज का परमभक्त बना। दोनों में टकराव अनिवार्य था। इन्हीं दिनों एक बार शाहजहाँपुर में आर्यसमाजी तथा सनातनी पण्डितों में प्रबल शास्त्रार्थ हुआ। यह उस नगर की असाधारण घटना थी; इसे दोनों पक्षों ने अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया; इससे वातावरण में बड़ा तनाव और कटुता आ गई। ऐसे समय में किसी ने पण्डित रामप्रसाद के पिता के कान भर दिये कि आप जैसे उत्कृष्ट एवं प्रमुख सनातनधर्मी का पुत्र पथभ्रष्ट होकर आर्यसमाजियों से मिल गया है। आप उसे आर्यसमाज के कार्य करने से क्यों नहीं रोकते ?

पण्डित मुरलीधर को यह सुनकर न केवल आश्चर्य हुआ, अपितु अपमान की तीव्र अनुभूति हुई। उन्हें अब तक यह ज्ञान नहीं था कि उनका पुत्र महर्षि दयानन्द का शिष्य बन चुका है और आर्यसमाज के सिद्धान्तों में प्रबल आस्था रखने लगा है। घर आते ही उन्होंने पुत्र से आर्यसमाज को तुरन्त छोड़ देने की प्रेरणा एवं आग्रह किया। उसे हर प्रकार से समझाने का प्रयास किया, किन्तु रामप्रसाद पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा; अपितु वे स्वयं पिता को आर्यसमाजी बनने के लिये कहने लगे। इस पर उनके पिता इतने क्रुद्ध हुए कि उन्होंने पुत्र को स्पष्ट शब्दों में अल्टीमेटम दे दिया—"या तो आर्य-समाज छोड़ दो या मेरा घर छोड़ दो।" पुत्र ने घर की तुलना में सिद्धान्तों को अधिक महत्व दिया; गृह-त्याग का संकल्प प्रकट किया; पिताजी का चरणस्पर्श किया और तुरन्त

घर से बाहर चले गये। उस रात वे घर नहीं लौटे। अन्त में पुत्रप्रेम ने धार्मिक कट्टरता पर विजय पाई। पिता को अपने क्रोध पर पश्चात्ताप हुआ। वे समझा-बुझाकर रामप्रसाद को घर ले आये। इसके बाद उन्होंने पुत्र को आर्यसमाज के काम के लिए पूरी स्वतन्त्रता दे दी।

देशसेवा की प्रतिज्ञा—स्वामी सोमदेव रामप्रसाद को निरन्तर धार्मिक और राजनैतिक उपदेश देते रहते थे और ऐसी पुस्तकें पढ़ते रहने की प्रेरणा करते थे। श्री बिस्मिल ने अंग्रेजी के नवे दर्जे में आते ही स्वदेशी-आन्दोलन सम्बन्धी कुछ पुस्तकें पढ़ीं। इनसे उन्हें पता लगा कि देशवासियों की हालत कितनी बुरी है। इसके लिए एकमात्र जिम्मेदार अंग्रेजी सरकार है जिसे बदलने की सख्त जरूरत है। इसी समय आर्यसमाज से सम्बद्ध एक अन्य नेता की घटना का रामप्रसाद के युवा मानस पर गहरा प्रभाव पड़ा और उन्होंने ब्रिटिश शासन का उन्मूलन अपने जीवन का उद्देश्य बना लिया। यह घटना भाई परमानन्द के प्राणदण्ड की थी। अपनी आत्मकथा में इसका वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

"सन् १९१५ ई० में लाहौर षड्यन्त्र का मामला चला। मैं समाचारपत्रों में उसका वृत्तान्त बड़े चाव से पढ़ा करता था। श्रीयुत परमानन्दजी में मेरी बड़ी श्रद्धा थी, क्योंकि उनकी लिखी हुई **तवारीखे हिन्द** (भारत का इतिहास) पढ़कर मेरे हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। लाहौर षड्यन्त्र केस का फैसला अखबारों में छपा। भाई परमानन्दजी को फाँसी की सजा का समाचार पढ़कर मेरे शरीर में आग लग गई। मैंने विचारा कि अंग्रेज बड़े अत्याचारी हैं, इनके राज्य में न्याय नहीं है, जो इतने बड़े महानुभाव को फाँसी की सजा का हुक्म दे दिया। मैंने प्रतिज्ञा की कि इसका बदला अवश्य लूँगा; जीवन-भर अंग्रेजी राज को विध्वंस करने का प्रयत्न करता रहूँगा। इस प्रकार की प्रतिज्ञा करने के बाद मैं स्वामीजी के पास आया। सब समाचार सुनाये और अखबार दिया। अखबार पढ़कर स्वामीजी बड़े दुःखी हुए। तब मैंने अपनी प्रतिज्ञा के सम्बन्ध में कहा। स्वामीजी कहने लगे कि प्रतिज्ञा करना सरल है, किन्तु उसपर दृढ़ रहना कठिन है। मैंने स्वामीजी को प्रणाम कर उत्तर दिया कि यदि श्रीचरणों की कृपा बनी रही तो प्रतिज्ञा-पूर्ति में किसी प्रकार की त्रुटि न करूँगा। उसी दिन से मेरे क्रान्तिकारी जीवन का सूत्रपात हुआ।"[1]

इसके बाद श्री बिस्मिल एक क्रान्तिकारी गुप्त समिति के सदस्य बन गये। समिति में धन और शस्त्रों की बड़ी कमी थी। इसे दूर करने के लिए उन्हें पुस्तक-प्रकाशन की बात सूझी। माताजी से २०० रुपये उधार लिये और "अमेरिका को स्वाधीनता कैसे मिली" नामक पहले लिखी पुस्तक छपवायी। "देशवासियों के नाम सन्देश" नामक एक परचा प्रकाशित किया। इसमें क्रान्तिकारी आन्दोलन की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला गया था। उनका विश्वास था कि वे इनकी बिक्री से अपना ऋण चुका देंगे, किन्तु सरकार द्वारा ये पुस्तकें जब्त कर लेने पर उनकी यह आशा धूमिल हो गई। फिर भी उन्होंने पुस्तक-लेखन और प्रकाशन का कार्य जारी रखा।

हिंसा का विरोध—आर्यसमाज के प्रभाव के कारण क्रान्तिकारी कार्यक्रम के स्वरूप के बारे में शीघ्र ही श्री बिस्मिल के अपने सहयोगियों से कुछ गम्भीर मतभेद हो

---

१. डा० ईश्वरप्रसाद वर्मा—क्रान्तिकारी रामप्रसाद, पृ० १२३

गये और इस कारण कई बार इन्हें न केवल अपने साथियों का कोपभाजन बनना पड़ा, अपितु इनकी हत्या के भी प्रयत्न किये गये। १९१६ के बाद इनकी कर्मठता के कारण कुछ समय के लिए शाहजहाँपुर का मिशन हाईस्कूल क्रान्तिकारियों का प्रमुख केन्द्र बन गया। सर्वश्री गंगासिंह, राजाराम, देवनारायण उस समय इनके प्रमुख सहयोगी थे। उनकी योजना वायसराय को कलकत्ता में मारने की थी, किन्तु रामप्रसाद का मत था कि अकेले वायसराय की हत्या से आजादी नहीं मिलेगी। देश में सब ओर ऐसा वातावरण बना दिया जाय कि यहाँ अंग्रेजों का रहना दूभर हो जाय; नरहत्या कम-से-कम की जाय। बहुमत इनके विरोध में था। तीनों साथियों ने इन्हें डरपोक तथा अपने रास्ते का रोड़ा समझकर इलाहाबाद में एक रात को मारने का निष्फल प्रयास किया। गोली चलाने पर ये बचकर भाग निकलने में सफल हुए। मतभेद का दूसरा कारण यह था कि ये समिति के धन को पवित्र सार्वजनिक सम्पत्ति समझते हुए उसे निजी कार्यों में व्यय नहीं करना चाहते थे। इनके शब्दों में "समिति के धन के व्यक्तिगत खर्च के लिए उपयोग के सिद्धान्त का मैं विरोधी था। ऐसे व्यय को मैं पाप समझता था। मेरी इस विचारधारा से क्षुब्ध होकर मेरे ही कुछ साथियों ने मेरे पास से शस्त्र हस्तगत करके मेरी हत्या करने का षड्यन्त्र रचा था, लेकिन उनकी चाल का रहस्योद्घाटन एक सदस्य ने किया। तब मैंने सदा के लिए इस प्रकार की गतिविधियों से अपना पीछा छुड़ाया।"

मैनपुरी षड्यन्त्र केस में पं० गेंदालाल दीक्षित का सहयोगी होने पर जब इनके नाम वारण्ट निकला तो ये भूमिगत हो गये और प्रथम विश्वयुद्ध (१९१४-१८) की समाप्ति के बाद जब सरकार द्वारा आम माफी की घोषणा की गई तो २० फरवरी १९२०ई० को ये सार्वजनिक रूप से जनता के सामने प्रकट हुए। अपनी फरारी के अज्ञात-वास में इन्हें बड़े कष्ट झेलने पड़े। महीनों चना-चबेना खाकर समय काटते रहे। इनके साथ आगरा में 'आर्यमित्र' कार्यालय में रहने वाले श्री नारायण गोस्वामी ने बताया है कि इन दिनों कई बार भोजन न मिलने पर ये आधा सेर चना तथा १ पाव गुड़ खाकर ही उदरपूर्ति करते थे। यह उन दिनों दो पैसे में आ जाता था। फिर भी ये व्यायाम नियमित रूप से करते थे, प्रतिदिन पाँच सौ दण्ड तथा बैठकें लगाते थे।

अपनी फरारी के समय में इन्हें पुनः पुस्तक-प्रकाशन का व्यवसाय करने की सूझी। इसका रोचक वर्णन करते हुए उन्होंने आत्मकथा में लिखा है—

"जब मैंने (आर्थिक दृष्टि से) इतनी बुरी हालत देखी तो मैंने व्यवसाय करने का निर्णय किया। मैंने अपने सहपाठी तथा मित्र श्री सुशीलचन्द्र सेन की स्मृति में जिनका देहान्त हो चुका था—बंगला भाषा का अध्ययन किया था। जब मेरे छोटे भाई का जन्म हुआ तो मैंने उसका नाम भी सुशीलचन्द्र रखा। मैंने विचारा कि मैं एक पुस्तकमाला निकालूँ। इससे लाभ भी होगा और कार्य भी सरल है। बंगला से हिन्दी में पुस्तकों का अनुवाद करके प्रकाशित कराऊँगा। अनुभव कुछ भी नहीं था। बंगला पुस्तक **'निहिलिस्ट रहस्य'**[1] का अनुवाद आरम्भ कर दिया। जिस प्रकार अनुवाद किया, उसका स्मरण

---

१. १९वीं शती के उत्तरार्द्ध में रूसी क्रान्तिकारियों की एक विचारधारा तत्कालीन शासकों तथा कानूनों को पूरी तरह नकारने तथा सरकारी कर्मचारियों और जार की हत्या करके शासन का तख्ता पलटने में विश्वास रखती थी। ये आतंकवादी सरकार को कुछ नहीं (लैटिन—निहिल) समझते थे, अतः इन्हें निहिलिस्ट (नाश-

करके हँसी भी आ जाती है। (उन दिनों) फरारी की दशा में उदरपूर्ति के लिए मैं कई बैल, गाय तथा भैंसें लेकर चराने के लिए जाया करता था। खाली बैठे रहना पड़ता था, अतएव कापी-पेंसिल साथ ले जाता और पुस्तक का अनुवाद किया करता था। पशु जब कहीं दूर निकल जाते, तब अनुवाद छोड़कर लाठी लेकर उन्हें हाँकने जाया करता था। कुछ समय के लिए एक साधु की कुटिया पर रहा। यहाँ अधिक समय अनुवाद करने में व्यतीत करता था···जब पुस्तक पूरी हो गई तो सुशीलमाला के नाम से ग्रन्थमाला निकाली। पुस्तक का नाम "बोल्शेविकों की करतूत" रखा। दूसरी पुस्तक "मन की लहर" भजनों तथा गानों का संग्रह छपवाई। इस व्यवसाय में लाभ की बजाय पाँच सौ की हानि हुई।"[1]

उन्होंने ये पुस्तकें आगरा में आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के प्रमुख पत्र 'आर्य-मित्र' को छापने वाले प्रेस में छपवाई थीं। उन दिनों वे 'आर्यमित्र' के वर्तमान सम्पादक पं० नारायणप्रिय गोस्वामी के पास रहा करते थे, जो प्रायः उनका भोजन बना देते थे। भोजन न मिलने पर वे गुड़-चने से निर्वाह करते और प्रतिदिन पाँच सौ दण्ड बैठक लगाते थे।

काकोरी काण्ड—कुछ समय तक आजीविका कमाने के लिए वे रेशमी वस्त्र बुनने का कारखाना सफलतापूर्वक चलाते रहे। इसी समय उन्हें यह सूचना मिली कि उत्तर-प्रदेश क्रान्तिकारी दल का पुनः संगठन किया जा रहा है। उन्हें इसमें काम करने के लिए आमन्त्रित किया गया। उनके लिए इसकी उपेक्षा करना सम्भव न था। उनके हृदय में क्रान्तिकारी कार्य करने तथा ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त करने की आकांक्षा बड़ी प्रबल थी। वे इसके लिये प्रतिज्ञाबद्ध थे। इस समय गांधीजी ने चौरी-चौराकाण्ड के बाद अपना असहयोग-आन्दोलन स्थगित कर दिया था। देश के राजनैतिक जीवन में बड़ी जड़ता और निष्क्रियता आ गई थी। क्रान्तिकारी इसमें पुनः नूतन प्राण-संचार करना चाहते थे। किन्तु इस समय क्रान्तिकारियों की आर्थिक स्थिति अतीव शोचनीय थी। हथियार खरीदने की बात तो दूर रही, उन्हें खाने के लाले पड़ रहे थे।

बिस्मिल के शब्दों में—"कार्यकर्ताओं की फकीरी देखकर मैंने एक समय का दूध पीना छोड़ दिया। उनको खाना-कपड़ा देने की समस्या से मैं चिन्तित रहने लगा। अन्त में विवश होकर ही रेल-डकैती की योजना तैयार की गयी। ९ अगस्त १९२५ की शाम थी। ८ नम्बर डाउन पैसेंजर गाड़ी काकोरी रेलवे स्टेशन से जैसे ही लखनऊ की ओर कुछ दूर आगे बढ़ी कि जंजीर खींचकर उसे रोका और दनादन गोलियाँ चलने की आवाज हवा में गूँज गई। केवल दस आदमियों ने रेल का लगभग दस हजार रुपये का खजाना लूट लिया।"

यह योजना पं० रामप्रसाद बिस्मिल के नेतृत्व में सफलतापूर्वक संचालित की गई। कुछ साथियों के विश्वासघात और सरकारी गवाह बनने के कारण पुलिस ने कुछ समय बाद मामले का पता लगा लिया। इससे सम्बद्ध क्रान्तिकारियों को पकड़ लिया।

वादी)कहा जाता था। वर्तमान शताब्दी के पहले चरण में रूसी उग्रवादियों की यह विचारधारा भारतीय क्रान्तिकारियों में बड़ी लोकप्रिय थी। उस समय बंगाल में इस विषय में कई पुस्तकें छप चुकी थीं।

१. डा० ईश्वरप्रसाद वर्मा—क्रान्तिकारी रामप्रसाद बिस्मिल, पृ० ६६

लखनऊ में इन पर अभियोग चलाया गया। डेढ़ वर्ष तक मुकद्दमा चलने के बाद ६ अप्रैल १९२७ को सेशन जज हैमिल्टन द्वारा सर्वश्री पं० रामप्रसाद बिस्मिल को राजेन्द्र-लाहिड़ी, रोशन सिंह, अशफाकुल्ला खाँ के साथ फाँसी की सजा दी गई। अन्य अभियुक्तों को आजन्म कारावास से पाँच साल की सख्त कैद तक की विभिन्न सजायें दी गयीं। लखनऊ जेल में मुकद्दमा चलने के समय तक की कुछ बातें उल्लेखनीय हैं। उन दिनों पं० चम्पालाल जेलर की कृपा से अभियुक्तों के साथ बहुत अच्छा बर्ताव हुआ। इसकी चर्चा करते हुए बिस्मिल ने लिखा है—"उनकी कृपा से हम कभी न समझ सके कि हम जेल में हैं या किसी रिश्तेदार के यहाँ मेहमानी कर रहे हैं। जैसे माता-पिता से छोटे लड़के बात-बात पर बिगड़ जाते हैं, यही हाल हमारा था।" यहाँ श्री बिस्मिल का दैनिक संध्या-हवन का कार्य नियमित रूप से चलता रहा और जेल-कर्मचारी उनकी धर्म-परायणता, सद्व्यवहार और उच्च चरित्र के कारण उनका बड़ा मान करते थे। उनके शब्दों में "मेरी दिनचर्या तथा नियमों का पालन देखकर पहरे के सिपाही अपने गुरु से भी अधिक मेरा सम्मान करते थे। मैं यथानियम जाड़े, गर्मी, बरसात में प्रातःकाल तीन बजे उठकर संध्यादि से निवृत्त हो नित्य हवन भी करता था। प्रत्येक पहरे का सिपाही देवता के समान मेरा पूजन करता था। यदि किसी के बाल-बच्चे को कष्ट होता था तो वह हवन की भभूत ले जाता था, कोई जन्त्र माँगता था। उनके विश्वास के कारण उन्हें आराम भी होता था और उनकी श्रद्धा और भी बढ़ जाती थी।"

जेल से पलायन के विचार का त्याग—इस समय सरदार भगतसिंह आदि क्रान्तिकारियों ने उनको जेल से बाहर निकालने की योजना बनाई। लखनऊ जेल में बंदियों को जेलर की कृपा से सब प्रकार की सुविधा थी, अतः उनके जेल से निकल जाने का पूरा प्रबन्ध कर लिया गया। भागकर निकल जाने के लिए चुने गये जेल के दरवाजे की सलाखें चार महीने पहले काटकर पुनः ऐसे ढंग से जमा दी गयी थीं कि उनके बारे में किसी अधिकारी को कभी कोई सन्देह नहीं हुआ। श्री बिस्मिल को केवल उन्हें हटाकर बाहर चला जाना था। वे इस प्रकार बाहर निकलकर फाँसी के दण्ड से बच सकते थे। उनके साथी यह चाहते थे कि वे बाहर आकर क्रान्तिकारी कार्यों को दूने वेग और जोश से चलायें। भागने का दिन और समय निश्चित हो गया। श्री बिस्मिल के लिए फाँसी के फन्दे से बच निकलने का यह स्वर्ण अवसर था। कोई भी सामान्य व्यक्ति इस अवसर से पूरा लाभ उठाता, किन्तु वे असाधारण मानव थे। आर्यसमाज के सम्पर्क से प्राप्त धार्मिक वृत्तियों के कारण वे अपनी ही नहीं, सब व्यक्तियों की भलाई चाहते थे। अपने स्वार्थ के लिए किसी दूसरे के प्राण संकट में नहीं डालना चाहते थे। यह उनके लिए महापाप था। अतः ज्योंही भागने का समय निकट आया तो उनके मन में देवासुर-संग्राम छिड़ गया। अपने मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का रोचक चित्रण करते हुए उन्होंने लिखा है—

"एक रात्रि को (भागने के लिए) तैयार होकर उठ खड़ा हुआ। बैरक के नम्बरदार तो मेरे सहारे पहरा देते थे। जब जी में आता सोते, जब इच्छा होती उठकर बैठ जाते, क्योंकि वे जानते थे कि यदि वे सिपाही या जमादार को सुपरिण्टेंडेंट जेल के सामने पेश करना चाहेंगे तो मैं बचा लूँगा। सिपाही तो कोई चिन्ता ही नहीं करते थे। चारों ओर शान्ति थी। केवल इतना प्रबन्ध करना था कि लोहे की कटी हुई सलाखों को उठाकर बाहर हो जाऊँ। चार महीने पहले सलाखें काट ली थीं। काटकर वे ऐसे ढंग

से जमा दी थीं कि सलाखें धोई गईं, रंगत लगवाई गई, तीसरे दिन झाड़ी जातीं, आठवें दिन हथौड़े से ठोकी जातीं और जेल के अधिकारी प्रतिदिन सायंकाल घूमकर चारों ओर दृष्टि डाल जाते, पर किसी को कोई पता न चला। जैसे ही मैं जेल से भागने का विचार करके उठा था, ध्यान आया कि जिन पं० चम्पालाल की कृपा से सब प्रकार के आनन्द भोगने की स्वतन्त्रता जेल में प्राप्त हुई, उनके बुढ़ापे में जबकि थोड़ा-सा समय ही पेंशन के लिए बाकी है, क्या उन्हीं के साथ विश्वासघात करके निकल भागूँ? सोचा, जीवन-भर किसी के साथ विश्वासघात न करूँगा। उस समय मुझे यह भली-भाँति मालूम हो चुका था कि मुझे फाँसी की सजा होगी। पर उपर्युक्त बात सोचकर भागना स्थगित कर दिया।"

हवन करने की सुविधा की माँग--६ अप्रैल १९२७ ई० को काकोरी केस का फैसला सुनाया जाने के बाद श्री बिस्मिल को लखनऊ से गोरखपुर जेल भेज दिया गया। अगले आठ महीने तक अवध चीफ कोर्ट में अपील, प्रान्तीय गवर्नर और वायसराय से दया-प्रार्थना के प्रयासों द्वारा उनके प्राणदण्ड की सजा कम करवाने के प्रयत्न चलते रहे। इस समय की एक उल्लेखनीय घटना श्री बिस्मिल द्वारा जेल में हवन करने की सुविधा देने के लिए प्रयास करना था। जबतक वे लखनऊ जेल में थे और उनपर अभियोग चल रहा था, तबतक उन्हें अपनी इच्छानुसार प्रतिदिन अग्निहोत्र करने की पूरी सुविधा थी, किन्तु गोरखपुर पहुँचते ही वहाँ की जेल के अधिकारियों ने उनसे यह सुविधा इस तर्क के आधार पर छीन ली कि हवन की अग्नि से वे आत्मदाह का प्रयास कर सकते हैं या जेल में अग्निकाण्ड द्वारा सरकार को हानि पहुँचा सकते हैं।

इस आशंका को दूर करने के लिए श्री बिस्मिल ने यह प्रस्ताव रखा कि उनकी कोठरी में ताला लगा दिया जाय, हवनकुण्ड कोठरी से बाहर रखा जाय तथा उन्हें लोहे की सलाखों से बाहर रखे हवनकुण्ड में आहुति डालकर हवन करने की अनुमति दी जाय। यह कार्य १० मिनट के भीतर समाप्त कर दिया जायगा। उसके बाद हवनकुण्ड हटा लिया जाय। श्री बिस्मिल का यह कहना था कि हवन की अग्नि इतनी कम होती है कि उससे भीषण आत्मदाह या अग्निकाण्ड की कोई सम्भावना नहीं हो सकती है, अतः उन्हें अपनी कोठरी में हवन करने का अधिकार वैसे ही दिया जाना चाहिये, जैसा अन्य धर्मावलम्बियों को मृत्युपर्यन्त अपने धार्मिक कर्मकाण्ड को पालन करने की अनुमति एवं सुविधा दी जाती है। मुसलमानों को दैनिक नमाज पढ़ने के लिए कोठरी में भूमि पर बिछाया जाने वाला एक कपड़ा दिया जाता है, यद्यपि इसकी रस्सी बनाकर अपराधी फाँसी भी लगा सकता है। सरकार को जेल में सब धर्मों के अनुयायियों को उनके मतानुसार धर्म-कर्म की स्वतन्त्रता और सुविधा समान रूप से दी जानी चाहिये। इसमें हिन्दुओं तथा मुसलमानों में कोई भेदभाव नहीं किया जाना चाहिये।

जब गोरखपुर जेल के अधिकारी उन्हें हवन करने की तथा बंगाल की जेलों में राजनैतिक बन्दियों को दी जाने वाली अन्य सुविधायें देने को तैयार नहीं हुए तो उन्होंने इस विषय में जेल-अधिकारियों के माध्यम से संयुक्त प्रान्त के गवर्नर को एक आवेदनपत्र भेजा। यह ऐतिहासिक पत्र ३ मई १९२७ ई० को लिखा गया था।[1] उसमें इस बात पर

---

१. जुडिशियल क्रिमिनल डिपार्टमैण्ट, फाइल नं० १५७० (I) १९२७, काकोरी डकैती केस, बाक्स नं० १३, राजकीय अभिलेखागार, लखनऊ, पृ० ४१-४८

बल दिया गया था कि "दण्डित किये जाने से पहले उन्हें जो सुविधाएँ दी गयी थीं, वे सब उनसे छीन ली गयी हैं। इससे पहले उन्हें दस आने प्रतिदिन प्रति व्यक्ति के हिसाब से भोजन-व्यय दिया जाता था, क्योंकि कैदियों का सामान्य भोजन उनके लिए उपयुक्त नहीं समझा जाता था। जेल का सामान्य भोजन दिये जाने से एक पखवाड़े में ही उनका भार १५ पाउण्ड (साढ़े सात सेर) कम हो गया है। संयुक्त प्रान्त की धारा-सभा की पिछली बैठक में जब जेल के बजट पर बहस हुई थी तो माननीय गृहमन्त्री ने इसकी खुली बैठक में यह घोषणा की थी कि जेल का सामान्य भोजन उन बन्दियों को नहीं दिया जाता है जिन्हें यह अनुकूल नहीं पड़ता है। उनका अभियोग सुनने वाले विद्वान् न्यायाधीश ने यह सिफारिश करने की कृपा की थी कि स्थानीय सरकार काकोरी के कैदियों के साथ जेल में विशेष व्यवहार करे। उन्होंने यह बात अपना फैसला सुनाते समय कही थी। विनम्र आवेदनकर्ता को प्राणदण्ड देने के कारण इस जेल की कालकोठरी में रखा गया है और वह यह अनुभव करता है कि यदि कहीं नरक है तो वह इस कोठरी में ही है (The Cell is hell) क्योंकि जब रात को वह सोने लगता है तो उसको मच्छर घेरलेते हैं, यदि वह इनसे बचने के लिए (शाम के समय दिया जाने वाला एकमात्र कम्बल ओढ़ता है तो सारा शरीर) मई की गर्मी में पसीने से तर हो जाता है। अतः वह तीन-चौथाई रात बिल्कुल नहीं सो सकता है। इस कोठरी में केवल एक २′×६′ का दरवाजा है और जमीन से ९ फीट की ऊँचाई पर १′×२′ का छोटा-सा रोशनदान है। अतः गर्मियों के इस मौसम में वह इस कोठरी में गर्मी में भुन रहा है।"

इसके बाद हवन की माँग करते हुए श्री बिस्मिल ने लिखा था—"विनम्र आवेदनकर्ता को अपनी उस धार्मिक विधि—हवन को करने की भी अनुमति नहीं दी गयी है, जिसे वह पिछले १६ वर्ष से लगातार कर रहा है, क्योंकि जेल के अधिकारियों को भय है कि कहीं वह उसकी अग्नि में अपने को भस्मसात् न कर ले। आपके विनम्र आवेदनकर्त्ता ने उन (जेल-अधिकारियों) से विनम्र प्रार्थना की थी कि वे उसे हवन करने की अनुमति इस शर्त पर दें कि हवनकुण्ड में अग्नि कोठरी से बाहर रखी जाय, उसे कोठरी के अन्दर बन्द कर दिया जाय, वह सलाखों से हाथ निकालकर हवन कर लेगा। ज्यों ही वह दस मिनट में इसे खत्म कर ले तो हवनकुण्ड को हटा लिया जाय। इस प्रकार किसी प्रकार की हानि की सम्भावना नहीं है। हवनकुण्ड की अग्नि बहुत कम होती है। उसकी यह प्रार्थना स्वीकार नहीं की गयी। वेदों के आदेश के अनुसार वैदिक धर्म के प्रत्येक अनुयायी को प्रतिदिन अग्निहोत्र करना चाहिए, अतः इस पर लगायी जाने वाली पाबन्दी ब्रिटिश सरकार की उस नीति के विरुद्ध है, जिसके अनुसार धार्मिक मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए तथा प्रत्येक व्यक्ति के धार्मिक विश्वास का संरक्षण किया जाना चाहिए। इसी कारण इसके आधार पर प्रत्येक मुसलमान को नमाज पढ़ने के लिए एक लुंगी (४′×८′) का वस्त्र प्राणदण्ड वाली कालकोठरी में भी दिया जाता है, जबकि इन कोठरियों में इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता है कि किसी बन्दी को ऐसा कोई अतिरिक्त वस्त्र न दिया जाय जिससे वह अपने को (फाँसी लगाकर) हानि पहुँचा सके।"[1]

---

१. पूर्वोक्त पत्र का पैरा ५,

5. That your humble petitioner is not even allowed to perform his

ब्रिटिश सरकार ने उनको हवन करने की अनुमति देने की प्रार्थना स्वीकार नहीं की और वे जिस कार्य को विधिवत् १६ वर्ष से कर रहे थे, उसे अन्तिम समय में करने से वंचित हो गये। किन्तु उन्होंने संध्या, प्रार्थना, उपासना के वैदिक मन्त्रों का पाठ पूर्ववत् जारी रखा। अन्तिम समय तक वे आर्यसमाज की राष्ट्रीय विचारधारा में और उसके प्रचार और प्रसार में अगाध विश्वास रखते रहे, यह बात उनकी आत्मकथा से स्पष्ट हो जाती है।

पहले यह बताया जा चुका है कि उन्होंने प्राणदण्ड से चार दिन पहले फाँसी की कालकोठरी में आत्मकथा लिखनी शुरू की थी, प्रतिदिन पेंसिल से लिखे जाने वाले पृष्ठों को वार्डर के हाथ जेल से बाहर भिजवा दिया जाता था। इस समय तक उनके क्रान्तिविषयक विचारों में कुछ परिवर्तन हो गया था, किन्तु आर्यसमाज के विचार और विश्वास अटल थे। उन्होंने अपने सन्देश में नवयुवकों को सच्चे देशसेवक बनने की प्रेरणा देते हुए कहा था—"भारत की भावी सन्तान तथा नवयुवक-वृन्द क्रान्तिकारी (गुप्त सशस्त्र संघ) संगठन बनाने की अपेक्षा जनता की प्रवृत्ति को देशसेवा की ओर लगाने का प्रयत्न करें। श्रमजीवी तथा कृषकों के संगठन करके उनको जमींदारों तथा पूँजीपतियों के अत्याचारों से बचायें।"[1]

ब्रह्मचर्य की महिमा—इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे नवयुवकों द्वारा ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करना तथा आचरण को उच्चकोटि का बनाना आवश्यक समझते थे। उनके शब्दों में "सबसे आवश्यक बात चरित्र को सुधारना ही होती है। विद्यार्थियों तथा अध्यापकों को उचित है कि वे देश की दुर्दशा पर दया करके अपने चरित्र को सुधारने का प्रयत्न करें। संसार में ब्रह्मचर्य ही सब शक्तियों का मूल है। बिना ब्रह्मचर्य-व्रत पालन किये मनुष्य-जीवन नितान्त शुष्क तथा नीरस प्रतीत होता है। विद्या, बल तथा बुद्धि सब ब्रह्मचर्य के प्रताप से ही प्राप्त होते हैं। संसार में जितने आदमी बढ़े, उनमें से अधिकतम

---

religious rite the 'Havan' which he was performing everyday from last sixteen years. Because the jail authorities are afraid that the prisoner might not burn himself. Your humble petitioner requested them to allow him to perform the 'Havan' by putting the fire outside the cell and locking him inside it; when he would do it through the openings of the iron bars of the doors. As soon as he would finish i.e. utmost in ten minutes, it must be removed. In this way, no harm could be done. After sometime, the fire of the Havan is very small. This request was also not complied with Every follower of the Vedic religion must perform the 'Havan' daily according to the injunotion of the 'Vedas', so the restriction is against the well-known policy of the British Government's non-interference with religious matters and preservation of everybody's religious faith. For this very reason every Mohammadan who performs the Namaz is allowed a piece of loongi (a piece of cloth 4′ × 8′)even in the condemned cells, where every possible care is taken not to give any spare piece of cloth by which the prisoner could do any harm to himself.

१. डॉ० ईश्वरप्रसाद वर्मा—वही पृ० ९७-८

ब्रह्मचर्य-व्रत के प्रताप से ही बढ़े और सैकड़ों-हजारों वर्ष बाद भी उनका यशगान करके मनुष्य अपने-आपको कृतार्थ करते हैं। ब्रह्मचर्य की महिमा यदि जाननी हो तो परशुराम, राम, लक्ष्मण, कृष्ण, भीम, ईसा, मैजिनी, बन्दा वैरागी, रामकृष्ण, विवेकानन्द, दयानन्द, राममूर्ति आदि की जीवनियों का अध्ययन करें।"[1]

फाँसी की जो कालकोठरी अन्य व्यक्तियों के लिए भीषण भय और संत्रास का कारण होती है, अपनी देशभक्ति तथा धार्मिक धारणा के कारण वह उनके लिए ब्रह्मानंद पाने की साधना-स्थली बनी। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था—"मुझे इस कोठरी में बड़ा आनन्द आ रहा है। मेरी इच्छा थी कि किसी साधु की गुफा में कुछ दिन निवास करके योगाभ्यास करूँ। अन्तिम समय वह इच्छा भी पूरा हो गयी।"[1]

१९ दिसम्बर १९२७ ई० की सोमवार को उन्होंने प्रातःकाल नित्यकर्म पूरा करने के बाद संध्या तथा उपासना की। महाप्रयाण के पथ पर चलते समय उन्होंने "मालिक तेरी रजा रहे और तू ही तू रहे" के कुछ प्रिय उर्दू शे'र पढ़े और जोर से अंग्रेजी नारा लगाया—I wish the downfall of the British Empire अर्थात् 'मैं ब्रिटिश साम्राज्य का विनाश चाहता हूँ'—इतना कहकर वे फाँसी के तख्ते पर चढ़े। उन्होंने उस समय दो मिनट शान्त होकर 'ओ३म् विश्वानि देवसवितुर्दुरितानि' के वैदिक मन्त्र का पाठ किया और स्वरचित शेर कहा—

मरते बिस्मिल रोशन लाहिड़ी अशफाक अत्याचार से
होंगे पैदा सैकड़ों इनके रुधिर की धार से।

इसके साथ ही मातृभूमि को अन्तिम प्रणाम कर उसकी धूलि मस्तक पर चन्दन की तरह लगाते हुए बन्देमातरम् के उद्घोष के साथ वे फाँसी के फंदे पर झूल गये। फाँसी से पहले आपकी यह अन्तिम इच्छा थी कि मेरा शव आर्यसमाज को दे दिया जाय और मेरा दाहसंस्कार वैदिक रीति से किया जाय। इसके अनुसार गोरखपुर आर्यसमाज ने उनके शव की अभूतपूर्व शोभायात्रा निकाली और वैदिक रीति से संस्कार किया।[2]

आर्यसमाज के तथा देश के स्वाधीनता-संग्राम में उनका योगदान कई दृष्टियों से अनूठा है। उन्होंने क्रान्तिकारी आन्दोलन को नई दिशा तथा नया आयाम दिया। उनसे पहले यह छिटपुट स्वतन्त्रता-प्रेमी, मातृभूमि के लिए प्राणोत्सर्ग करने वाले व्यक्तियों के प्रयास मात्र थे। ये प्रयत्न सामान्य जनता में लोकप्रिय नहीं थे। उन्होंने इसे जनप्रिय आन्दोलन बनाने का प्रयास किया, अनावश्यक हिंसा कम की, विभिन्न धनी व्यक्तियों को लूटने के स्थान पर सरकारी खजाने लूटने की पद्धति चलायी। अभियोग के समय अदालत में आते-जाते समय "सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है" आदि राष्ट्रीय गीत गाकर जन-जागरण का कार्य आरम्भ किया, अपनी प्रतिभा से 'मेरा रंग दे बसन्ती चोला' आदि नये राष्ट्रीय गानों का सृजन किया, अपनी चिरसंचित अभिलाषा के अनुरूप उत्तरप्रदेश (तत्कालीन संयुक्त प्रदेश) में १८५७ ई० के शहीदों के बाद वे फाँसी के तख्ते पर झूलने वाले पहले अमर वीर योद्धा थे।

---

१. वही, पृ० १०९

२. शिवदयालु—आर्य प्रतिनिधिसभा उत्तरप्रदेश का ७५ वर्षीय इतिहास, लखनऊ, पृ० १७१

छब्बीसवाँ अध्याय

स्वाधीनता संग्राम में राजस्थान के आर्यसमाज का योगदान

(१) महर्षि दयानन्द सरस्वती और राजस्थान

भारत के अन्य प्रान्तों की अपेक्षा देशी राज्यों में राजनैतिक चेतना का विकास मन्थर गति से ही हुआ। जिस समय बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब आदि प्रान्तों में सार्वजनिक जीवन का विकास हो रहा था और वहाँ की जनता विदेशी सत्ता को समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील थी, उस समय भी राजस्थान तथा मध्य भारत की देशी रियासतों में सामन्ती शासन-व्यवस्था का ही बोलबाला था।

ऐसे समय में उन्नीसवीं शताब्दी में सर्वतोमुखी नवजागरण के सूत्रधार महर्षि दयानन्द सरस्वती ने राजस्थान के देशी रजवाड़ों में घूमकर वहाँ के शासकों एवं शासितों में नवीन चेतना उत्पन्न करने का कार्यक्रम बनाया। यों तो १८७७ ई० के दिल्ली दरबार के समय ही महर्षि दयानन्द ने इन्दौर के होल्कर-नरेश से सम्पर्क साधकर उनके माध्यम से अन्य राजन्यवर्ग से मिलने और उन्हें देशोन्नति की योजना समझाने का प्रयत्न किया था किन्तु इसमें उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। इसके पश्चात् उनकी राजस्थान-यात्रा तीन बार हुई। १८७८, १८८१ ई० तथा अन्तिम बार जून १८८२ ई० में वे राजस्थान आये और उनकी यह अन्तिम राजस्थान-यात्रा उनके महाप्रस्थान का कारण भी बनी। राजस्थान की इन यात्राओं के पीछे उनका निश्चित उद्देश्य था। इन यात्रा-प्रसंगों में वे अजमेर के निकटवर्ती मसूदा, बनेडा आदि के ठाकुरों, शाहपुरा तथा मेवाड़ के नरेशों और कविराजा श्यामलदास, पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या तथा कृष्णसिंह बारहट आदि मेवाड़ के प्रमुख राजकर्मियों से मिले। इन लोगों से परिचय प्राप्त कर पाने के पश्चात् देशी राज्यों के प्रति उनकी आस्था बढ़ गयी। इतिहासकार पृथ्वीसिंह मेहता के शब्दों में—"वे सोचने लगे थे कि यदि राजस्थान के ये राजा-महाराजा अपने यहाँ शासन-सुधार और संशोधन करें, अपने लोगों में धर्म, भाषा और भावों की एकता स्थापित कर दें तो भारत का उद्धार होना बड़ा आसान हो सकता है।"

इसी उद्देश्य को पूरा करने की दृष्टि से वे जीवन में अन्तिम बार राजस्थान में ही आये। उदयपुर के युवक महाराणा सज्जनसिंह प्रगतिशील विचारों के नरेश थे। स्वामीजी ने उदयपुर-प्रवास की अवधि में महाराणा को जो मनुस्मृति के राजधर्म-प्रतिपादक अध्याय, महाभारत के अन्तर्गत उद्योगपर्व एवं वनपर्व के उपयोगी अंश तथा विदुरनीति के प्रकरण पढ़ाये, उनका विशिष्ट हेतु था। वे चाहते थे कि आर्यों की

राजनीति के मूलाधार-रूप इन शास्त्रों का अध्ययन कर उदयपुर के नरेश व्यावहारिक राजनीति तथा शासनप्रबन्ध-कौशल को भी सीखें, जिससे कि वे लोकहित के व्यापक कार्यों को पूरा कर सकें। निश्चय ही दयानन्द की प्रेरणा से उदयपुर की शासन-व्यवस्था में अनेक उपयोगी सुधार हुए। पृथ्वीसिंह मेहता की सम्मति में "दयानन्द ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश का दूसरा संशोधित और परिवर्धित संस्करण भी उदयपुर रहकर ही पूरा किया। उसके छठे राजधर्म-सम्बन्धी समुल्लास में निबद्ध विचारों का चिन्तन सम्भवतः महाराणा सज्जनसिंह को दिये राजनीति और धर्म संबंधी पाठों के सिलसिले में ही हुआ।"

राजकार्यों तथा शासन-व्यवस्था में उदयपुर-नरेश ने महर्षि की सम्मति से अनेक प्रकार के सुधार किये। सरदारगढ़ के ठाकुर मनोहरसिंह की एक शंका का उत्तर देते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि सेवक को स्वामी की उन्हीं आज्ञाओं का पालन करना चाहिए जो न्याय एवं धर्म के अनुकूल हों। ऐसा कहकर प्रकारान्तर से उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि शासक या स्वामी भी धर्मविरुद्ध तथा अन्यायपूर्वक आचरण करने लगे तो शासितों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे उसका प्रतिकार करें। दयानन्द राजस्थान के सामन्तवर्ग को देशोद्धार के महान् कार्यक्रम में संलग्न करना चाहते थे, इसका एक बड़ा प्रमाण यह भी है कि उन्होंने अपने निधन के पश्चात् स्वकार्यों के संचालनार्थ जिस परोपकारिणी सभा का गठन किया, उसमें उदयपुर-नरेश, शाहपुरा के राजाधिराज तथा मसूदा के राव के अतिरिक्त मेवाड़ राज्य के चार सामन्तों को सदस्य के रूप में मनोनीत किया था। इनके अतिरिक्त उदयपुर के ही कविराजा श्यामलदास तथा मोहनलाल पण्ड्या जैसे राज्याधिकारियों को इस सभा में सम्मिलित करना यह सूचित करता है कि वे इस सभा की बागडोर मुख्यतः मेवाड़ के राजपुरुषों को ही सौंपना चाहते थे और उनके माध्यम से देशहित के कार्य कराना ही उन्हें इष्ट था।

यह ठीक है कि महर्षि दयानन्द की मृत्यु के एक वर्ष पश्चात् ही युवक महाराणा सज्जनसिंह का निधन हो जाने के कारण उनकी सोची हुई योजनाओं को क्रियान्विति नहीं हो पाई, किन्तु महाराणा सज्जनसिंह के पश्चात् महाराणा फतहसिंह की आर्यसमाज के ही एक अन्य क्रान्तिकारी पुरुष श्यामजी कृष्ण वर्मा से निकटता यह सूचित करती है कि 'हिन्दुआं सूरज' का विरुद धारण करने वाले इन महाराणाओं ने अपनी स्वाधीनता तथा स्वाभिमान की रक्षा करने हेतु जो नीति अपनाई थी, उसमें आर्यसमाज की राष्ट्रीय अस्मिता को जीवित रखने की विचारधारा ही कहीं न कहीं प्रेरणा का कार्य कर रही थी। श्यामजी कृष्ण वर्मा से महाराणा फतहसिंह का परिचय परोपकारिणी सभा के मन्त्री और सुप्रसिद्ध इतिहासविद् कविराजा श्यामलदास के माध्यम से हुआ था। २१ दिसम्बर, १८९२ ई० को उन्हें उदयपुर की मन्त्रि-परिषद् का एक सदस्य नियुक्त किया गया। यह भी स्मरण रखना होगा कि राज्यसेवा को छोड़कर जब श्यामजी १८९४ ई० में जूनागढ़ के दीवान होकर चले गये और वहाँ की राजनैतिक दुरभिसन्धियों के शिकार बने, तो मेवाड़ के तत्कालीन रेजिडेण्ट सर विलियम कर्जन वायली के विरोध के उपरान्त भी महाराणा फतहसिंह ने उन्हें पुनः राज्यसेवा में लेने में किसी प्रकार का संकोच नहीं किया। निश्चय ही महाराणा फतहसिंह के निर्भीकतापूर्ण राजनैतिक आचरण के पीछे दयानन्द के तेजस्वी शिष्य श्यामजी कृष्ण वर्मा का क्रान्तिकारी व्यक्तित्व ही प्रेरणा-स्रोत बनकर आया था।

और हम यह भी कैसे भूल सकते हैं कि जिस समय लार्ड कर्जन के अत्यधिक आग्रह करने पर महाराणा फतहसिंह १९०३ ई० के दिल्ली दरबार में जाने के लिए तैयार हो गये थे, तो स्वामी दयानन्द के ही एक अन्य शिष्य कृष्णसिंह बारहट के पुत्र केसरीसिंह ने एक चुभती हुई कविता —'चेतावणी रा चूंगर्‌या' शीर्षक लिखकर महाराणा के पास भिजवाई, जिसे पढ़कर और उसमें निहित व्यंग्य को हृदयंगम कर महाराणा को दिल्ली जाने का पश्चात्ताप तो हुआ ही, दिल्ली पहुँचकर भी वे शाही दरबार में सम्मिलित नहीं हुए और बीमारी का बहाना बनाकर उदयपुर लौट आये।

दिल्ली दरबार से महाराणा का इस प्रकार लौट आना राजस्थान के उन स्वाभिमानी सामन्त-वर्ग के लिए तो निश्चय ही गौरव का विषय था जो नहीं चाहते थे कि आर्यकुलकमल-दिवाकर मेवाड़-नरेश फिरंगियों के फरमान का सम्मान करें। जोबनेर के रावल कर्णसिंह, ने जो अपनी छात्रावस्था में ही महर्षि दयानन्द की देशभक्ति-पूर्ण शिक्षाओं से प्रेरणा ले चुके थे, इस अवसर पर महाराणा फतहसिंह को बधाईरूप में अपनी एक डिंगल कविता भेजी जिसमें यह स्पष्ट कहा गया था कि गुरुवर दयानन्द की जिस प्रेरणा ने महाराणा सज्जनसिंह को स्वदेशभक्ति का पाठ पढ़ाया, उसी प्रेरणा ने उन्हें भी दिल्ली दरबार से विमुख किया है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि महर्षि दयानन्द के प्रिय शिष्य बारहट कृष्णसिंह के पुत्र बारहट केसरीसिंह और जोरावरसिंह तथा केसरीसिंह के पुत्र प्रतापसिंह ने राजस्थान में सशस्त्र क्रान्ति-चेष्टाओं का जिस प्रकार प्रवर्त्तन तथा संचालन किया था, वह हमारे स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास का ज्वलन्त पृष्ठ ही बन गया है।

स्व० सुमनेश जोशी ने अपने ग्रन्थ 'राजस्थान का भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम को योगदान' शीर्षक ग्रन्थ में डूंगरपुर-निवासी एक भील युवक गोविन्द गुरु की चर्चा की है। यह आदिवासी युवक महर्षि दयानन्द के उदयपुर-निवासकाल में उनके सम्पर्क में आया था। आगे चलकर इसने राजस्थान के दक्षिणी भाग की भील, मीणा आदि वनवासी जातियों का संगठन कर उनमें सुधार एवं स्वाधीनता के विचारों का बीजारोपण किया। इसी गोविन्द गुरु ने १९०५ में सभ्यसभा नामक एक संगठन खड़ा किया जिसने आदिवासी जातियों में मादक द्रव्य-निषेध, स्वदेशी वस्तुओं के ग्रहण तथा पारस्परिक एकता के प्रसार जैसे प्रगतिशील सुधार किये। कालान्तर में जब उदयपुर में प्रजामण्डल के द्वारा उत्तरदायी शासन की स्थापना पर जोर दिया गया तो इस आन्दोलन के पुरस्कर्ता स्वर्गीय माणिकलाल वर्मा तथा स्वर्गीय मोहनलाल सुखाड़िया आदि नेता भी महर्षि दयानन्द तथा आर्यसमाज की राष्ट्रीय विचारधारा से ही प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में प्रभावित हुए थे।

शाहपुरा की छोटी-सी रियासत के स्वामी नाहरसिंह भी महर्षि दयानन्द की शिक्षाओं से प्रभावित हुए थे। इस राज्य के सर्वांगीण विकास तथा उन्नति का श्रेय भी शाहपुरा के शासकों की उन प्रगतिशील नीतियों को है जो उन्होंने आर्यसमाज की शिक्षाओं के कारण अपनाई थीं। शाहपुर राज्य का वर्तमानकालीन इतिहास इस तथ्य की पुष्टि करता है कि रियासत में कृषि, सिंचाई, राजस्व तथा प्रशासन के विभिन्न विभागों में जो कुछ उन्नति और प्रगति हुई, उसके लिए शासकों का वह उदार दृष्टिकोण ही उत्तरदायी था जिसका निर्माण महर्षि दयानन्द के सान्निध्य एवं सम्पर्क के कारण हो सका था। इस रियासत के शासकों ने प्रजातान्त्रिक मूल्यों को सदा ही स्वीकार किया।

इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण राजाधिराज उम्मेदसिंह के शासनकाल में मिलता है जबकि अपनी वृद्धावस्था को देखकर उक्त नरेश ने स्वेच्छापूर्वक शासनाधिकार त्याग दिये और स्वयं वानप्रस्थ का जीवन व्यतीत करने लगे। उन्होंने स्वजीवनकाल में ही अपने पुत्र युवराज सुदर्शनदेव को शासन सौंप दिया था। यहाँ यह भी स्मर्तव्य है कि राजाधिराज सुदर्शनदेव ने भी देश के स्वाधीन होने के पूर्व ही अपनी प्रजा की उत्तरदायी शासन की माँग को स्वीकार करते हुए इस छोटे-से राज्य की शासन-व्यवस्था को प्रजा के उन प्रतिनिधियों को सौंप दिया था जो प्रजामण्डल के माध्यम से यह माँग कर रहे थे। वे स्वयं राज्य के वैधानिक मुखियामात्र ही रहे।

महर्षि दयानन्द ने अपने जीवन के अन्तिम दिन जोधपुर में व्यतीत किये थे। यहाँ के नरेश तथा सामन्त-मण्डल को अपनी प्रजा को सुखी बनाने तथा उनके अभावों एवं अभियोगों की ओर अधिक ध्यान देने के लिए उन्होंने बार-बार अपने पत्रों में प्रेरणा दी। जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह के नीति-निपुण अनुज तथा मारवाड़ राज्य के मुख्य प्रशासक (मुसाहिब आला) महाराज प्रतापसिंह ने महर्षि दयानन्द की शिक्षा एवं प्रेरणा से ही शासन-सुधार की अनेक योजनाओं को क्रियान्वित किया था। इनमें सरकारी कार्यालयों में हिन्दी का प्रयोग, सैनिक वर्दियों में खादी का प्रयोग आदि प्रमुख हैं। जोधपुर में राजनैतिक चेतना लोक-परिषद् के माध्यम से जागृत हुई। इस संस्था के संस्थापकों में लोकनायक जयनारायण व्यास का नाम सर्वप्रमुख है। व्यासजी को देश की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा स्वामी श्रद्धानन्द के तेजस्वी व्यक्तित्व से मिली थी। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया था कि सन् १९१९ ई० में जब रॉलेट एक्ट के विरोध में दिल्ली की जनता का नेतृत्व करते हुए उन्होंने स्वामी श्रद्धानन्द को चाँदनी चौक में घण्टाघर के निकट देखा, तो उनके हृदय में भी विदेशी सत्ता को उन्मूलित करने का भाव प्रबलता से प्रविष्ट हो गया। वे उस महान् संन्यासी की उस तेजस्वी आकृति को जीवन-भर नहीं भुला सके थे जो गोरे सार्जेण्टों की नंगी संगीनों के सामने छाती खोलकर खड़ा हो गया था। कालान्तर में जब लोक-परिषद् ने उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए आन्दोलन चलाया तो उसमें भी बाल दिवाकर हंस जैसे आर्यसमाजी कार्यकर्त्ताओं ने बढ़-चढ़कर भाग लिया। स्मरणीय है कि आर्यवीर-दल के प्रमुख संचालक श्री हंस उस समय जोधपुर की सरदारपुरा आर्यसमाज में ही रहते थे।

जोधपुर राज्य के शासक आर्यसमाज को किस दृष्टि से देखते थे, इसका एक उदाहरण इस बात से भी मिलता है कि वहाँ के अंग्रेज प्रधानमन्त्री सर डोनाल्ड फील्ड ने आर्यसमाज को अन्य रजिस्टर्ड संस्थाओं की ही भाँति राजकीय नियमानुसार पंजीकृत कराने पर जोर दिया था। तब उन्हें बताया गया कि एक धार्मिक संस्था होने के कारण पंजीकरण के नियम आर्यसमाज पर लागू नहीं किये जा सकते।

राजस्थान का मध्यवर्त्ती अजमेर जिला ब्रिटिश सत्ता के अधीन रहा है। महर्षि दयानन्द का निधन इसी नगर में हुआ था, अतः उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में ही यह आर्यसामाजिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया था। भारत को स्वतन्त्र कराने में सशस्त्र क्रान्तिकारी चेष्टाओं के आद्य प्रवर्त्तक पण्डित श्यामजी कृष्ण वर्मा का इस नगर से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। यहाँ रहकर उन्होंने वकालत आरम्भ की, किन्तु उनकी राजनैतिक गतिविधियाँ भी धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगीं। ब्यावर के सेठ दामोदरदास

राठी उनके सम्पर्क में आये। आगे चलकर सेठ दामोदरदास ने राजस्थान में क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने वाले लोगों को सहयोग एवं प्रोत्साहन प्रदान करने के सम्बन्ध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

(२) रियासतों के स्वाधीनता-संघर्ष में आर्यसमाजी नेताओं का कर्तृत्व

अजमेर के आर्यसमाजी नेता चाँदकरण शारदा ने श्री गणेशशंकर विद्यार्थी, सेठ जमनालाल बजाज तथा विजयसिंह पथिक जैसे स्वाधीनता-प्रेमी व्यक्तियों के सहयोग से दिल्ली के चाँदनी चौक स्थित मारवाड़ी पुस्तकालय में २८ दिसम्बर १९१८ ई० के दिन 'राजपूताना मध्यभारत सभा' की स्थापना की। इसका लक्ष्य था राजस्थान और मध्यभारत की रियासतों की प्रजा में स्व-अधिकारों और कर्त्तव्यों की भावना जागृत करना तथा इसके लिए न्यायोचित संघर्ष करना। देशी राज्यों की राजनैतिक आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु स्थापित की जाने वाली यह प्रथम संस्था थी।

इस सभा का द्वितीय अधिवेशन ३१ दिसम्बर १९१९ ई० को अमृतसर के कटरा अहलूवालिया में हुआ। इसमें चाँदकरण शारदा ने देशी रियासतों को उत्तरदायी शासन देने का प्रस्ताव स्वीकृत कराया। सभा का कार्यालय अजमेर में रखने का निश्चय हुआ। शारदाजी १९३१ ई० तक इस सभा के महामन्त्री तथा कालान्तर में अध्यक्ष निर्वाचित हुए। कुछ समय पश्चात् राजपुताना मध्य-भारत सभा के अनुकरण पर ही राजस्थान की विभिन्न रियासतों में प्रजामण्डलों की स्थापना हुई। १९३६ में इस सभा का वार्षिक अधिवेशन अजमेर के निकटवर्ती पुष्कर में हुआ। चाँदकरण शारदा इसके स्वागताध्यक्ष थे। अध्यक्ष-पद जोधपुर राज्य के फलोदी कस्बे के निवासी कन्हैयालाल कलयंत्री को दिया गया जो स्वतन्त्रता सेनानी होने के साथ-साथ आर्यसमाज के प्रमुख कार्यकर्त्ता भी थे। स्वागताध्यक्ष के पद से अपना भाषण देते हुए शारदाजी ने राजस्थान की रियासतों में राजनैतिक सुधारों की आवश्यकता प्रतिपादित की तथा रजवाड़ों में किसानों पर किये जाने वाले अत्याचारों को समाप्त करने और लागबाग तथा बेगार जैसी अमानुषी प्रथाओं को बन्द करने की अपील की।

अब तक देशी रियासतों के राजनैतिक आन्दोलन कांग्रेस के अनुवर्ती बने हुए थे। रियासती नेताओं में इतना आत्मबल नहीं था कि वे अपनी आवाज स्वतन्त्र रूप से बुलंद कर पाते। फलतः देशी रियासतों को स्वतन्त्र राजनैतिक मंच बनाने की आवश्यकता अनुभव हुई और १९२० ई० में नागपुर कांग्रेस के अवसर पर अखिल भारतीय देशी राज्य प्रजा परिषद् की स्थापना की गयी। पण्डित जवाहरलाल नेहरू जैसे वरिष्ठ कांग्रेसी नेता का वरद हस्त इस संस्था पर सदा रहा। चाँदकरण शारदा वर्षों तक देशी राज्य प्रजा-परिषद् के महामन्त्री रहे। जब जोधपुर में राजनैतिक गतिविधियों के संचालनार्थ मारवाड़ प्रजा परिषद् की स्थापना हुई तो शारदाजी को उसका अध्यक्ष बनाया गया।

देश के स्वाधीनता-संग्राम में चाँदकरण शारदा का योगदान एक अन्य दृष्टि से भी विचारणीय है। वे सर्वप्रथम १९११ ई० में इलाहाबाद कांग्रेस में सम्मिलित हुए जिसकी अध्यक्षता सर विलियम वेडरबर्न ने की थी। श्रीमती एनी बेसेण्ट द्वारा होमरूल लीग की स्थापना किये जाने पर शारदाजी ने लीग में रुचि लेना आरम्भ किया और १९१७ से १९२० ई० तक इस संस्था का कार्य करते रहे। महात्मा गांधी द्वारा असहयोग

आन्दोलन चलाये जाने पर शारदाजी ने कांग्रेस के एक अनुशासित सिपाही की भाँति अपनी वकालत छोड़ दी और एक कट्टर कांग्रेस कर्मी के रूप में असहयोग में कूद पड़े। इनके भाषणों मे पायी जाने वाली राजद्रोह की गन्ध के कारण इन्हें ६ मास का कठोर कारावास-दण्ड दिया गया। स्मरण रहे कि असहयोग के साथ-साथ उस समय कांग्रेसी लोग मुसलमानों द्वारा चलाये जाने वाले खिलाफत-आन्दोलन में भी भाग ले रहे थे। शारदाजी ने खिलाफत का कार्य किया और मुस्लिम समुदाय में लोकप्रियता अर्जित की। इनकी पत्नी श्रीमती सुखदा देवी ने भी अपने पति के आदर्शों का अनुकरण करते हुए विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार, शराब-बन्दी आदि आन्दोलनों में भाग लिया।

१९२१ ई० में चाँदकरण शारदा अहमदाबाद कांग्रेस में सम्मिलित हुए और तिलक स्वराज्य फण्ड के लिए प्रचुर धन एकत्र किया। १९२०, २१ तथा २२ ई० में उनकी राजनैतिक सरगर्मियाँ सर्वोच्च शिखर पर थीं। यहाँ तक कि उन्होंने असहयोग के प्रसंग में अपनी बी० ए० और एल० एल० बी० की डिग्रियाँ भी विश्वविद्यालय को यह कहते हुए लौटा दीं कि इन्हें रखना राष्ट्रीय स्वाभिमान के प्रतिकूल है। देश के प्रायः सभी राष्ट्रीय नेताओं से उनका निजी सम्पर्क था। कालान्तर में कांग्रेस की मुस्लिम-तुष्टीकरण की नीति के कारण शारदाजी इस संस्था के प्रति अन्यमनस्क हो गये और हिन्दू सभा में प्रविष्ट हुए। इस संस्था के माध्यम से भी उन्होंने देशसेवा की। देश के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् जब जनसंघ का गठन हुआ तो इस संस्था की विचारधारा को अधिक अनुकूल समझकर वे जनसंघ में सम्मिलित हो गये।

शारदाजी ने किसानों और मजदूरों के संगठन का भी कार्य किया था। १९२१ ई० में ब्यावर में हुए किसान सम्मेलन की उन्होंने अध्यक्षता की। बी० बी० एण्ड सी०-आई० रेलवे के श्रमिक संगठन के भी वे अध्यक्ष रहे। समकालीन क्रान्तिकारियों से उनका निकट का सम्पर्क और सहयोग रहा। दामोदर दास राठी, खरवा के राव गोपालसिंह, अर्जुनलाल सेठी, केसरीसिंह बारहट, विजयसिंह पथिक आदि राजस्थान के क्रान्तिकारी उनके निकट के साथी तथा विश्वासपात्र थे। निश्चय ही अजमेर जिले को राजनैतिक चेतना प्रदान करने वालों में चाँदकरण शारदा का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

नीम का थाना (शेखावाटी) निवासी रामनारायण चौधरी भी स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज की देशभक्तिपूर्ण विचारधारा का प्रभाव लेकर ही स्वतन्त्रता-संग्राम में कूद पड़े। प्रारम्भ में उनका सम्पर्क क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों से रहा, किन्तु बाद में वे महात्मा गांधी द्वारा प्रवर्तित अहिंसा, असहयोग आदि की नीतियों को स्वीकार कर कांग्रेस के सक्रिय कार्यकर्ता बने। रामनारायण चौधरी ने अपने राजनैतिक जीवन तथा स्वतन्त्रता हेतु किये गये क्रियाकलापों में आर्यसमाज की प्रेरणा को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है।

आर्यसमाज के प्रसिद्ध गायक, कवि और संगीतज्ञ प्रकाशचन्द्र कविरत्न भी अजमेर के ही निवासी थे। उन्होंने असहयोग-आन्दोलन में भाग लिया और १९३० ई० के नमक-सत्याग्रह के समय कारावास का दण्ड झेला। कारावास में इन्हें हरिभाऊ उपाध्याय, कृष्णगोपाल गर्ग, रामनारायण चौधरी तथा जयनारायण व्यास आदि अनेक सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। प्रकाशचन्द्र कविरत्न के शिष्य तथा आर्यसमाज के विख्यात भजनोपदेशक श्री पन्नालाल पीयूष ने १९४२ ई० में मेवाड़ राज्य

प्रजामण्डल के कार्यकर्त्ता के रूप में एक विशाल जुलूस का नेतृत्व किया। इस पर उन्हें गिरफ्तार कर जेल भेज दिया गया। पीयूष जी के जेल के साथियों में सर्वश्री माणिक्यलाल वर्मा, भूरेलाल बया तथा मोहनलाल सुखाड़िया आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

बीकानेर में महाराजा गंगासिंह का निरंकुश शासन स्वराज्य तथा स्वाधीनता के भावों को पनपाने की दृष्टि से अनुकूल नहीं था। आर्यसमाज जैसी राष्ट्रीय भावों को प्रदीप्त करने वाली संस्था के पनपने तथा प्रगति करने के लिए महाराजा गंगासिंह के शासनकाल में अनुकूल परिस्थितियाँ नहीं थीं। तथापि श्रीगंगानगर-निवासी चौधरी हरिश्चन्द्र नैण ने स्वामी दयानन्द के विचारों से ही प्रेरणा ग्रहण की और बीकानेर राज्य में सार्वजनिक जागृति का सूत्रपात किया। वे दीर्घकाल तक बीकानेर स्टेट असेम्बली के सदस्य रहे और सदा जनहित की बातों को विधान सभा में विचारार्थ उठाते रहे। देश के स्वतंत्र हो जाने के पश्चात् आपने कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण की। देशहित के कार्यों में चौधरी हरिश्चन्द्र का नाम अग्रगण्य है। बीकानेर के अन्य स्वतन्त्रता सेनानियों में चौधरी जीवनराम तथा चौधरी कुम्भाराम आर्य के नाम उल्लेखनीय हैं। चौधरी कुम्भाराम बीकानेर राज्य प्रजामण्डल के कर्मठ कार्यकर्त्ता रहे। राजस्थान की देशी रियासतों के एकीकरण के पश्चात् वह राज्य के मन्त्रिमण्डल में भी रहे हैं।

चूरू (बीकानेर राज्य की एक तहसील) के प्रमुख सार्वजनिक कार्यकर्त्ता स्वामी गोपालदास यद्यपि निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी तथा वैष्णव मन्दिर के महन्त थे किन्तु आर्यसमाज की शिक्षाओं से प्रभावित होने के कारण वे अपने नगर और प्रदेश की सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक गतिविधियों में रुचि लेने लगे थे। उन्होंने १९०७ ई० में चूरू नगर में सर्वहितकारिणी सभा की स्थापना की और इसके माध्यम से अनेक प्रकार के सामाजिक हित के कार्य किये। तथापि चूरू नगर में उत्पन्न जागृति का मूल कारण उक्त स्वामीजी को समझने के कारण तत्कालीन राज्य सरकार ने उन पर राजद्रोह व षड्यन्त्र का अभियोग चलाया। इसी अभियोग की सुनवायी के प्रसंग में २४ दिसम्बर १९३३ ई० को न्यायालय में अपना बयान देते हुए स्वामी गोपालदास ने आर्यसमाज से अपने सम्बन्धों की चर्चा इस प्रकार की—"पण्डित कन्हैयालाल ढंढ संस्कृत विद्या के नामी पण्डित हो गये हैं। उन्हीं से संस्कृत विद्या का कुछ अध्ययन मैंने किया था। उनके विचार आर्यसमाज के साथ प्रेम रखने वाले थे और वे आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वतीकृत ग्रन्थों को पास रखते थे। इसी कारण मेरे विचार भी आर्यसमाज के साथ प्रेम रखने वाले हुए और उपर्युक्त स्वामीजी कृत ग्रन्थों को देखने के कारण उनके बहुत-से सिद्धान्तों से कई अंशों में मेरी सहानुभूति हुई। आर्यसमाज की प्रसिद्ध संस्थाएँ गुरुकुल काँगड़ी, ज्वालापुर महाविद्यालय आदि के उत्सवों में भी मैं सम्मिलित हुआ और आर्यसामाजिक पुरुषों के विचार सुनने का मौका मिला। उपर्युक्त स्वामीजी (दयानन्द) के सिद्धान्त देश की भलाई में बड़े लाभदायक हैं। भारतवर्ष की तमाम धार्मिक संस्थाओं में आर्यसमाज एक जीती-जागती और निर्भय काम करने वाली संस्था है।" आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान के उपदेशक पण्डित नृसिंहदेव जी (बाद में स्वामी नृसिंहदेव) तथा अजमेर के आर्यसमाजी नेता श्री चाँदकरण शारदा से स्वामी गोपालदास के आत्मीय सम्बन्ध थे। अतः चूरू जिले के इस प्रमुख कार्यकर्त्ता पर आर्यसमाज का निश्चित प्रभाव पड़ा था।

जयपुर राज्य के अन्तर्गत जोबनेर एक बड़ा ठिकाना है। इसके शासक रावल कर्णसिंह की अवस्था उस समय १६ वर्ष की ही थी, जब महर्षि दयानन्द का महाप्रयाण हुआ। युवक कर्णसिंह ने महर्षि के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए निम्न दोहा कहा था—

राज त्रिलोकी को हमें मिलणो छै आसान।
गुरु दयानन्द सारखे मिलणो कठिन जहान ॥

अर्थात् त्रिलोकी का राज्य मिलना भले ही सुगम हो, किन्तु दयानन्द जैसे गुरु को संसार में प्राप्त करना कठिन है। इन्हीं रावल कर्णसिंह ने राजस्थान के शासक क्षत्रिय वर्ग में प्रचलित कुरीतियों का मार्मिक विश्लेषण करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला था कि राजस्थान की देशी रियासतों की शासन-व्यवस्था में स्वदेशी लोगों का अधिकार नगण्य है और विदेशी लोग ही देशी राज्यों के सूत्रधार बने हुए हैं। ब्रिटिश शासनसत्ता के युग में इस प्रकार का निष्कर्ष निकालना अत्यन्त साहस का कार्य था। क्षत्रियों में प्रचलित मदिरापान, वेश्यागमन, बहुविवाह, अविद्या आदि दुर्व्यसनों को उनके पतन का कारण सिद्ध करने के पश्चात् रावलजी ने स्पष्ट घोषणा की थी कि इन बुराइयों से छुटकारा पाकर ही राजस्थान का राजन्यवर्ग सच्चे स्वराज्य का अधिकारी हो सकता है।

रावल कर्णसिंह ने जोबनेर को आर्यसमाज की नाना गतिविधियों का केन्द्र बनाया। यहाँ की आर्यसमाज पाठशाला में पण्डित गणपति शर्मा ने अध्यापन-कार्य किया तथा पण्डित लेखराम, पण्डित भोजदत्त शर्मा, पण्डित मुरारीलाल शर्मा जैसे आर्य विद्वानों ने अपने व्याख्यानों के द्वारा इस नगर में नव-जागरण का शंख फूंका। जोबनेर के इस आर्यसामाजिक वातावरण में पले तथा बढ़े स्वर्गीय पण्डित हीरालाल शास्त्री ने जयपुर राज्य में उत्तरदायी शासन के लिए प्रजामण्डल के माध्यम से दीर्घकाल तक संघर्ष किया और अन्ततः अपने लक्ष्य में सफल हुए। वे संयुक्त एवं एकीकृत राजस्थान के प्रथम मुख्य-मन्त्री रहे। जयपुर के ही डाक्टर युद्धवीरसिंह ने आगे चलकर आर्यकुमार आन्दोलन में भाग लिया। कालान्तर में उनका कार्यक्षेत्र देश की राजधानी दिल्ली रहा। यहाँ रहकर वे आजादी की लड़ाई में बढ़-चढ़कर भाग लेते रहे। 'सी' वर्ग के दिल्ली राज्य में वे स्वास्थ्य मन्त्री भी रहे थे।

जयपुर-निवासी स्वतन्त्रता-संग्राम के कर्मियों में स्वामी नृसिंहदेव सरस्वती का नाम अग्रगण्य है। इनकी शिक्षा गुरुकुल सिकन्दराबाद में हुई और १९२० ई०में इन्होंने स्वामी सर्वदानन्दजी से संन्यास की दीक्षा ली। आर्यसमाज जयपुर तथा आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान से आपका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। आपने असहयोग आन्दोलन में बढ़-चढ़-कर भाग लिया। १९२१ ई० में देहरादून में विदेशी कपड़ों की होली जलाई। १९३१ ई० में जयपुर में प्रजामण्डल की स्थापना करने वालों में आप भी थे। स्वाधीनता-संग्राम में उन्होंने कारावास-यात्रायें कीं, और प्रान्त की क्रान्तिकारी गतिविधियों से भी उनका सक्रिय सम्पर्क रहा।

सत्ताइसवाँ अध्याय

स्वराज्य-आन्दोलन और आर्यसमाज

(१) आर्यसमाज के नेताओं का स्वराज्य-आन्दोलन के प्रति रुख

प्रथम महायुद्ध (सन् १९१४-१८ ई०) का प्रारम्भ होने से पूर्व ही भारत में स्वराज्य आन्दोलन पर्याप्त प्रबल रूप से शुरू हो गया था। कांग्रेस में एक ऐसे दल का प्रादुर्भाव हो गया था, जो उग्र राष्ट्रीय आन्दोलन में विश्वास रखता था। लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय और विपिनचन्द्र पाल इसके प्रधान नेता थे। कांग्रेस का झुकाव उग्र राष्ट्रीय दल की ओर होने लग गया था। सन् १९०६ ई० का कांग्रेस का अधिवेशन श्री दादाभाई नौरोजी के सभापतित्व में कलकत्ता में हुआ था जिसमें सभापति-पद से अपना भाषण देते हुए श्री नौरोजी ने 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया था। यह पहला अवसर था, जबकि कांग्रेस में यह शब्द प्रयुक्त हुआ था। कलकत्ता कांग्रेस में जो अनेक प्रस्ताव स्वीकृत हुए, उनमें एक निम्नलिखित था—"यह देखते हुए कि शासन में यहाँ के लोगों का कुछ भी हाथ नहीं है और वे सरकार से जो प्रार्थनाएँ करते हैं, उन पर समुचित रूप से ध्यान नहीं दिया जाता, इस कांग्रेस की यह सम्मति है कि बंग-भंग के विरोध में बंगाल में बहिष्कार का जो आन्दोलन चलाया गया है वह न्याय-संगत है।" साथ ही, अन्य प्रस्तावों द्वारा कांग्रेस ने स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा का समर्थन किया। कांग्रेस के इतिहास में यह नयी बात थी। इसी के कारण सन् १९०७ ई० में सूरत कांग्रेस में नरम और गरम दलों के लोगों के लिए एकसाथ काम कर सकना सम्भव नहीं हुआ, और कांग्रेस में फूट पड़ गयी। गरम दल के लोग कांग्रेस से पृथक् रहकर उग्र राष्ट्रीय आन्दोलन में तत्पर रहे, और स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा तथा स्वराज्य के लिए लोकमत तैयार करने में लगे रहे। श्री विपिनचन्द्र पाल के इस कथन से गरम दल की मनोभावना भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है—"यदि सरकार मेरे पास आकर कहे कि तुम स्वराज्य ले लो, तो मैं इस उपहार के लिए धन्यवाद देते हुए उससे कहूँगा कि मैं उस वस्तु को स्वीकार नहीं कर सकता, जिसे प्राप्त करने की सामर्थ्य मेरे हाथों में नहीं है।" कांग्रेस में गरम दल के नेताओं के आन्दोलन के साथ-साथ अनेक क्रान्तिकारी पार्टियाँ शस्त्र-शक्ति के प्रयोग व हिंसात्मक साधनों से विदेशी शासन का अन्त करने के लिए प्रयत्नशील हो गयी थीं। सावरकर बन्धुओं का 'अभिनव भारत समाज' और बंगाल के क्रान्तिकारियों की 'अनुशीलन समिति' इस युग के प्रमुख क्रान्तिकारी संगठन थे, जो देश के विभिन्न भागों में विदेशी शासकों की हत्या करने और उनके शासन को असम्भव बना देने के लिए जी-जान से प्रयत्न कर रहे थे। महायुद्ध को क्रान्तिकारी नेताओं ने भारत की स्वतन्त्रता के लिए एक अनुपम अवसर माना और उन्होंने दुगुने उत्साह से अंग्रेजों के विरुद्ध कार्य

प्रारम्भ कर दिया। १९०७ ई० की सूरत कांग्रेस में गरम दल के जो लोग कांग्रेस से पृथक् हो गये थे, उनके अनेक नेताओं को सरकार ने गिरफ्तार कर लिया था या देश से निर्वासित कर दिया था। सर्वसाधारण जनता में लोकमान्य तिलक और लाला लाजपतराय सदृश नेताओं की गतिविधि तथा क्रान्तिकारियों के वीर कृत्यों के समाचारों से उत्साह का संचार होता और वह विदेशी शासन से मुक्ति पाकर स्वराज्य के सपने देखने लगती।

स्वराज्य-आन्दोलन के इन नेताओं में अनेक आर्यसमाजी थे, और महर्षि दयानन्द सरस्वती से ही उन्होंने देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता की शिक्षा प्राप्त की थी। लाला लाजपतराय पंजाब के आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता थे, और लाला हरदयाल, श्री मदनलाल ढींगरा, भाई परमानन्द तथा राजा महेन्द्रप्रताप सदृश क्रान्तिकारी नेता आर्यसमाज के वातावरण में रहकर ही बड़े हुए थे। यद्यपि देश के स्वराज्य-आन्दोलन में आर्यसमाजियों का कर्तृत्त्व अत्यन्त महत्त्व का था, पर एक संस्था व संगठन के रूप में इस आन्दोलन के प्रति आर्यसमाज की उदासीन वृत्ति थी। यही कारण है कि २ पौष, सम्वत् १९७३ (सन् १९१६ ई०) के 'सद्धर्म प्रचारक' में 'सच्चा स्वराज्य' शीर्षक से एक मुख्य लेख प्रकाशित हुआ था, जिसमें निम्नलिखित पंक्तियाँ थीं—"आज भारत के कोने-कोने में स्वराज्य का शब्द गूँज रहा है। जो लोग इस शब्द के महत्त्व को समझते हैं और जो नहीं समझते, उन सबको यह अत्यन्त प्रिय है। इसमें न जाने क्या आकर्षण भरा पड़ा है···जो शब्द ऐसा आकर्षणशील है, उसका असली अर्थ क्या है?" यह प्रश्न उठाकर 'सद्धर्म-प्रचारक' में चार प्रकार के स्वराज्यों का उल्लेख किया गया है—आत्मिक स्वराज्य, धार्मिक स्वराज्य, साहित्यिक स्वराज्य और सामाजिक या नैतिक स्वराज्य। 'सद्धर्म-प्रचारक' के अगले अंक(९ पौष) में इन चारों प्रकार के स्वराज्यों के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है—"अपनी इन्द्रियों का संयम प्रथम और मूलभूत स्वराज्य है। यही आत्मिक स्वराज्य कहाता है।" "मैं परमात्मा की अपनी अभीष्ट रीति से स्तुति, प्रार्थना, उपासना करूँ और उसे यथेष्ट नाम से पुकारूँ, दूसरा कोई व्यक्ति मुझे मेरे धार्मिक विचार में बाधित नहीं कर सकता—यह धार्मिक स्वराज्य है।" "मनुष्य को अपने आत्मा के अनुकूल वाणी के प्रयोग का अधिकार हो, किसी दूसरे के बलात्कार से वह अपनी वाणी को न बदले, यह व्यक्तिगत साहित्यिक स्वराज्य है।" "एक देश में एक राज्य के नीचे रहने वाले समाज का नाम राष्ट्र है। राष्ट्र के लिए आवश्यक है कि वह अपनी भूमि या मातृभूमि के स्वराज्य की भी रक्षा करे। यह रक्षा राज्य द्वारा ही हो सकती है।" यह तो सही है कि अपने क्षेत्र में निवास करने वाले जनसमूह या समाज तथा अपनी भूमि या मातृभूमि की रक्षा राज्य द्वारा ही हो सकती है, पर यदि राज्य किसी विदेशी शक्ति के हाथों में हो, तो उसके प्रति क्या रुख होना चाहिये—इस सम्बन्ध में 'सद्धर्म-प्रचारक' के मुख्य लेख से कुछ भी स्पष्ट नहीं होता। सन् १९१६ ई० में भारत-भर में स्वराज्य की जो लहर जोर पकड़ रही थी, और जिसके कारण लखनऊ कांग्रेस (१९१६ ई०) में न केवल नरम और गरम दलों में फिर से ऐक्य स्थापित हो गया था, अपितु मुस्लिम लीग के साथ भी कांग्रेस ने समझौता कर लिया था। 'सद्धर्म-प्रचारक' सदृश प्रमुख आर्यसमाजी पत्र का उसके प्रति जो रुख था, ऊपर दिये गये उद्धरणों से उसका आभास मिल जाता है। उसकी दृष्टि में आत्मिक और धार्मिक स्वराज्य उतने ही महत्त्व के थे, जितना कि सामाजिक स्वराज्य। सामाजिक स्वराज्य का स्वरूप भी उसके अनुसार वह नहीं था, जो लोकमान्य तिलक सदृश कांग्रेसी नेताओं

और लाला हरदयाल सदृश क्रान्तिकारी नेताओं को अभिप्रेत था।

यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि 'सद्धर्म-प्रचारक' के संचालक व सम्पादक महात्मा मुंशीराम थे और यह पत्र गुरुकुल काँगड़ी से प्रकाशित होता था। महात्माजी उस समय तक पूर्ण रूप से राजभक्त थे, और न केवल उनका ही, अपितु अन्य आर्यसमाजी नेताओं का भी यह विचार था कि देश का कल्याण अंग्रेजी राज्य में ही है। मुस्लिम शासन में हिन्दुओं के प्रति जिस नीति का अनुकरण किया जाता था, उसे स्मरण कर आर्यसमाजी नेता अंग्रेजों के शासन को अपने लिये हितकर मानने लगे थे और यह समझते थे कि जिस स्वतन्त्रता के साथ इस राज्य में वे अपने धर्म का प्रचार कर सकते हैं, वह किसी अन्य शासन में सम्भव नहीं है। इसीलिये महात्मा मुंशीराम ने सन् १९०७ ई० में 'सद्धर्म-प्रचारक' में लिखा था कि—"आर्यसमाज का प्रचार ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के राज्य में ही सम्भव हुआ है, अन्य राज्य में कठिन होता। हिन्दुओं तथा मुसलमानों की रियासतों में जो बर्ताव आर्य उपदेशकों के साथ होता है, वह छिपा नहीं है। हम ब्रिटिश गवर्नमैण्ट की रक्षा का लाभ उठाते हैं। उसके लिए साल में एक बार धन्यवाद अवश्य देना चाहिए। यदि ब्रिटिश प्रजा होने के कारण कुछ अधिकार हैं, तो कुछ कर्त्तव्य भी हैं।...भारतवर्ष-मात्र के आर्यसमाजों को एकमत होकर गवर्नमैण्ट के धन्यवाद के लिए एक दिन नियत करना चाहिए।" सन् १९११ ई० में जब ब्रिटेन के सम्राट् जार्ज पंचम भारत आये, और दिल्ली में एक विशाल दरबार करके उन्होंने बंग-भंग रद्द करने की घोषणा की, तो उस अवसर पर महात्माजी ने 'सद्धर्म-प्रचारक' में एक मुख्य लेख लिखा था, जिसका शीर्षक 'सम्राट् ! तुम यहीं रहो' था। अगले वर्ष जब भारत के गवर्नर-जनरल व वायसराय लार्ड हार्डिंग का दिल्ली में जुलूस निकाला गया, तो आर्यसमाज द्वारा उनके स्वागत का विशेष प्रबन्ध किया गया था। उस समय सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का कार्यालय ज्योति पाठशाला में था। उसके ठीक सामने मैदान में एक बड़ा शामियाना लगाया गया था, जिसमें तीन सौ के लगभग आर्यसमाजी एकत्र थे। शामियाने के सामने चौकियों पर स्वामी अच्युतानन्द, महात्मा मुंशीराम, पण्डित पूर्णानन्द, राय रोशनलाल बैरिस्टर और श्री बृजनाथ आदि आर्यसमाजी नेता विराजमान थे। ज्योंही वायसराय का हाथी शामियाने के सामने आया, सबने खड़े होकर शान्ति-पाठ किया और 'नमस्ते भगवन्' कहकर लार्ड हार्डिंग का अभिवादन किया। इसमें सन्देह नहीं कि इस काल में कांग्रेस के नेताओं के समान आर्यसमाज के प्रमुख नेता भी अंग्रेजी शासन को देश के लिए वरदान मानते थे, यद्यपि महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं के कारण उनमें स्वदेश-प्रेम तथा राष्ट्रीयता की भावना भी उद्बुद्ध हो गयी थी। पर महात्मा मुंशीराम सदृश आर्यसमाजी नेता महायुद्ध के काल में भी स्वराज्य के आन्दोलन की तुलना में धर्म-प्रचार तथा चरित्र-निर्माण को अधिक महत्त्व देते थे। सन् १९०७ ई० में सूरत कांग्रेस के बाद महात्माजी ने 'सद्धर्म-प्रचारक' में लिखा था—"यदि स्वदेश से मतलब पवित्र आर्यावर्त भूमि से है... तो इस भूमि में इन्द्रियों पर विजय पाकर आत्मा के स्वतन्त्र होने का नाम स्वराज्य-प्राप्ति था। आज अपने वृद्धों की पगड़ियाँ उछालना ही स्वराज्य का आदर्श समझा जाता है।" "आज तुम्हारी अपनी इन्द्रियाँ तुम्हारे वश में नहीं। जब अपने मन पर तुम्हारा कुछ अधिकार नहीं, तब तुम दूसरों से क्या अधिकार प्राप्त कर सकते हो ? अधिकार ! अधिकार ! अधिकार ! हाँ ! तुमने किस गिरे हुए शिक्षणालय में शिक्षा प्राप्त की थी ?

क्या तुमने 'कर्त्तव्य' कभी नहीं सुना ? क्या तुम धर्म शब्द से अनभिज्ञ हो ? मातृभूमि में अधिकार का क्या काम ? यहाँ धर्म ही आश्रय दे सकता है। अधिकार शब्द से 'सकामता' की गन्ध आती है। विषयवासना का दृश्य दृष्टिगोचर होता है। इस 'अधिकार' की वासना को अपने हृदय से नोचकर फेंक दो। निष्काम भाव से धर्म का सेवन करो। माता पर जब चारों ओर से प्रहार हो रहे हों, जब उसके केश पकड़कर दुष्ट दुःशासन उसको भूमि पर घसीट रहा हो, क्या वह समय अधिकार की पुकार मचाने का है ? ···शब्दों पर क्यों झगड़ा करते हो ? क्यों न स्वराज्य-प्राप्ति के साधनों को सिद्ध करने में लगो ? स्वराज्य के प्रकार का झगड़ा आगे आने वाली सन्तानों के लिए छोड़ो। उनकी स्वतन्त्रता पर इस समय इन झगड़ों से जंजीरें डालना अधर्म है। इस समय दोनों छल-कपट से काम ले रहे हैं। जिस कांग्रेस का आधार अधर्म पर है, उसका प्राप्त कराया हुआ स्वराज्य कभी भी लाभदायक न होगा, कभी भी सुख तथा शान्ति का राज्य फैलाने वाला न होगा। ···एक ऐसे धार्मिक दल की आवश्यकता है जो विरोधी को धोखा देना भी वैसा ही पाप समझता हो जैसा कि अपने भाई को, जो सरकारी अत्याचारों को प्रकट करते हुए अपने भाइयों की दुष्टता तथा उनके अत्याचारों को भी न छिपाने वाला हो, जो मौत के भय से भी न्याय के पथ को छोड़ने का विचार तक मन में न लाने वाला हो। पुलिटिकल जगत् में ऐसे ही अग्रणी की आवश्यकता है। क्या कोई महात्मा आगे आने का साहस करेगा और क्या उसके पीछे चलने वाले पाँच पुरुष भी निकलेंगे ? यदि इतना भी नहीं हो सकता, तो स्वराज्य-प्राप्ति के प्रोग्राम को पचास वर्ष के लिए तह करके रख दो।" बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में स्वराज्य-आन्दोलन के प्रति आर्यसमाजी नेताओं का रुख 'सद्धर्म-प्रचारक' के इन उद्धरणों से भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। इसी का यह परिणाम था कि जब सन् १९१६ ई० तक भारत में स्वराज्य-आन्दोलन ने बहुत प्रबल रूप प्राप्त कर लिया था, और सर्वत्र स्वराज्य की गूँज सुनायी देने लगी थी, 'सद्धर्म-प्रचारक' ने आत्मिक तथा धार्मिक स्वराज्य के स्वरूप का प्रतिपादन कर आर्य पाठकों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट किया था।

पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इस काल में आर्यसमाज राजभक्तों की संस्था थी या आर्यसमाज देश की स्वाधीनता के प्रति उदासीन था। जैसा कि इस 'इतिहास' के चौथे अध्याय में प्रतिपादित किया जा चुका है, आर्यसमाज द्वारा ही सबसे पहले स्वदेशी, देश-प्रेम, स्वदेशी (राष्ट्रीय) शिक्षा और राष्ट्रीय भावना का प्रचार किया गया था और इनके लिए क्रियात्मक व ठोस कदम भी उठाये गये थे। यदि महात्मा मुंशीराम को कांग्रेस का आन्दोलन पसन्द नहीं था, तो इसका कारण यह था कि उस समय के राजनैतिक नेताओं के क्रिया-कलाप में धर्म व उच्च नैतिक मूल्यों का समावेश नहीं था। महात्माजी कांग्रेस के नरम दल वालों को 'भिक्षार्थी' कहा करते थे, और गरम दल वालों को 'सुखार्थी'। अंग्रेजी सरकार के लिए वह 'गोराशाही' शब्द का प्रयोग किया करते थे। उनका विचार था कि देश के स्वातन्त्र्य संघर्ष में सफलता तभी प्राप्त हो सकती है, जब कि उसके नागरिक धार्मिक व सदाचारी हों, और उसका नेतृत्व भी किन्हीं धर्म-प्राण महापुरुषों के हाथों में हो। वह चाहते थे कि आर्यसमाजी धर्म-प्रचार के कार्य पर ध्यान दें, और लोगों को सच्चे अर्थों में धार्मिक तथा चरित्रवान् बनाने के प्रयत्न में किसी भी प्रकार की शिथिलता न आने दें। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्यावर्त की पराधीनता

तथा दुर्दशा के जो कारण बताये थे, उनको दूर कर देने पर ही स्वराज्य प्राप्त किया जा सकता है, यह महात्मा मुंशीराम का मत था। इसीलिये वह कांग्रेस के स्वराज्य-आन्दोलन तथा क्रान्तिकारियों के हिंसात्मक संघर्ष से अपने को पृथक् रखते रहे। हरिद्वार के समीप काँगड़ी ग्राम में गुरुकुल के रूप में जिस नये ढंग के शिक्षणालय की उन्होंने स्थापना की थी, उनका सब ध्यान उस पर केन्द्रित था। उनको विश्वास था कि इस संस्था में जो विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करेंगे, धार्मिक, तपस्वी एवं सदाचारी होने के कारण वे देश में सच्चे स्वराज्य की स्थापना में समर्थ हो सकेंगे।

यद्यपि महात्मा मुंशीराम सदृश प्रमुख नेता आर्यसमाज को राजनीति से पृथक् रखने में विश्वास रखते थे, पर समाज में ऐसे व्यक्तियों की भी कमी नहीं थी, जो महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं से प्रेरणा प्राप्त कर देश की स्वाधीनता के सब आन्दोलनों में सक्रिय रूप से भाग ले रहे थे। इनका उल्लेख पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। जो आर्यसमाजी प्रत्यक्ष रूप से राजनैतिक क्रियाकलाप में तटस्थ थे, वे भी स्वदेश-प्रेम और राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत थे, और भारत को फिर से संसार के शिरोमणि देश के रूप में देखने के लिए उत्सुक थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने न केवल स्वराज्य का विचार ही जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया था, अपितु अपना 'साम्राज्य' और 'चक्रवर्ती राज्य' स्थापित करने का आदर्श भी आर्यों के सम्मुख रखा था। आर्यसमाज द्वारा जहाँ वैदिक धर्म के सत्य स्वरूप का प्रचार किया जाता था, वहाँ साथ ही देश की दुर्दशा की ओर भी जनता का ध्यान आकृष्ट किया जाता था। आर्यसमाज का धर्म देशभक्ति और मातृभूमि के प्रति प्रेम की भावनाओं से ओतप्रोत था। यही कारण है कि अंग्रेजी सरकार उसकी गतिविधि को आशंका की दृष्टि से देखती थी और आर्यसमाज को सरकार के कोप का भाजन बनना पड़ा था। बीसवीं सदी के प्रथम दशक में किस प्रकार सरकार द्वारा आर्य नेताओं को गिरफ्तार कर उन पर मुकद्दमे चलाये गये, इसका विवरण पिछले अध्यायों में दिया जा चुका है। महात्मा मुंशीराम ने इन मुकद्दमों में अभियुक्तों की पैरवी की, और यह प्रतिपादित किया कि आर्यसमाज कोई राजनैतिक संगठन नहीं है। लाला लाजपतराय की उग्र राजनैतिक गतिविधि को दृष्टि में रखकर आर्यसमाज पर राजद्रोही होने का जो आरोप सरकार द्वारा लगाया जा रहा था, उसका निराकरण करते हुए उन्होंने 'सद्धर्म प्रचारक' में लिखा था—"यदि एक पल के लिए कल्पना कर लें कि लाला लाजपतराय राजद्रोही हैं, तो क्या फिर आर्यसमाज उनके कामों के लिए उत्तरदायी हो सकता है? कौन नहीं जानता कि बाबू विपिनचन्द्र पाल से बढ़कर शोर मचाने वाला कोई भी एक्स्ट्रीमिस्ट नहीं है? यदि पंजाब के कर्मचारियों की दलील ठीक है, तो जिस ब्राह्मसमाज के विपिन बाबू मेम्बर हैं, उसको भी आर्यसमाज की तरह दूषित ठहराना चाहिए। सैय्यद हैदर रजा से बढ़कर गवर्नमैण्ट के विरुद्ध किसने हाँकी है? फिर सब मुसलमानों को या कम-से-कम देहली के मुसलमानों को बागी क्यों न समझा जाए? सनातन धर्म के रक्षक तिलक महाराज से बढ़कर एक्स्ट्रीमिस्ट कौन है जिसके सब चेले कहे जाते हैं? फिर क्यूँ नहीं सारे हिन्दू-समाज को अत्याचारी समझा जाता?" महात्माजी का मत था कि यदि कतिपय आर्यसमाजी अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर हैं, तो उसके कारण आर्यसमाज को राजद्रोही नहीं समझा जा सकता। यथार्थ में आर्यसमाज एक वेद-प्रचारिणी सभा है, पोलिटिकल सोसायटी नहीं। महात्मा मुंशीराम सदृश प्रमुख

आर्यसमाजी नेताओं के इस मन्तव्य का ही यह परिणाम था कि प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८ ई०) के समय तक स्वराज्य के आन्दोलनों में आर्यसमाज प्रायः उदासीन रहा, चाहे वे कांग्रेस के नरम व गरम दलों के नेतृत्व में चलाये जा रहे हों, और या क्रान्तिकारियों द्वारा। पर महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं से प्रभावित होकर बहुत-से आर्यसमाजी व्यक्तिगत स्थिति में देश की स्वाधीनता के लिए सक्रिय रूप से प्रयत्न करते रहे, और कांग्रेस के आन्दोलनों तथा क्रान्तिकारी संगठनों में हाथ बँटाते रहे।

(२) असहयोग और सत्याग्रह के आन्दोलन तथा आर्यसमाज

सन् १९१९ ई० में भारत के स्वाधीनता-संघर्ष के इतिहास में एक नये अध्याय का प्रारम्भ हुआ। महायुद्ध के समय में ब्रिटिश राजनीतिज्ञों द्वारा जो अनेक घोषणाएँ की गयी थीं, उनसे सूचित होता था कि वे लोकतन्त्रवाद, राष्ट्रीयता और स्वभाग्य-निर्णय के सिद्धान्तों के समर्थक हैं, और उन्हीं के लिए जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में तत्पर हुए हैं। भारतीय जनता को भी उन्होंने आश्वासन दिया था कि युद्ध के समाप्त होते ही वे भारत में उत्तरदायी शासन की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम उठायेंगे। पर १९१९ ई० में गवर्नमैण्ट आफ इण्डिया एक्ट द्वारा जिन शासन-सुधारों का उन्होंने सूत्रपात किया, वे जनता को सन्तुष्ट नहीं कर सके। इस समय भारत में एक नये नेतृत्व का उदय हुआ, जो महात्मा गांधी का था। अंग्रेजों के वायदों पर पहले उन्हें विश्वास था। इसीलिये उन्होंने युद्ध के समय अंग्रेजी सेना के लिए रंगरूट भी भरती किये थे। पर जब सरकार ने अपने वायदों को पूरा नहीं किया, और दमनकारी कानून बनाकर भारत की राष्ट्रीय चेतना तथा स्वराज्य की आकांक्षा को दबाने का प्रयत्न किया, तो गांधीजी ने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व ग्रहण कर उसे एक नयी दिशा प्रदान की। रॉलेट एक्ट के रूप में जिस दमनकारी कानून को अंग्रेजी सरकार ने लागू किया था, महात्मा गांधी ने उसके विरोध में सत्याग्रह करने का निश्चय किया। इस समय तक महात्मा मुंशीराम संन्यास आश्रम में प्रवेश कर चुके थे, और गुरुकुल काँगड़ी से विदा लेकर दिल्ली में रहने लगे थे। संन्यासी के रूप में उनका नया नाम स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती था। महात्मा गांधी के नेतृत्व में रॉलेट एक्ट के विरुद्ध जिस सत्याग्रह का प्रारम्भ किया गया था, स्वामी श्रद्धानन्द उससे पृथक् नहीं रह सके। उन्होंने तार द्वारा गांधीजी को सूचना दी—"अभी-अभी मैंने सत्याग्रह की प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर कर दिये हैं। इस धर्मयुद्ध में सम्मिलित होने में मैं बहुत प्रसन्न हूँ।" सत्याग्रह-आन्दोलन में स्वामीजी ने उत्साहपूर्वक भाग लिया। उनकी दृष्टि में यह आन्दोलन राजनैतिक होने की अपेक्षा धार्मिक अधिक था। जैसा कि इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है, वह एक ऐसे धार्मिक 'अग्रणी' के राजनैतिक मैदान में अवतरित होने की प्रतीक्षा कर रहे थे, जो धर्म पर आधारित राजनीति में विश्वास रखता हो। महात्मा गांधी के रूप में उन्हें ऐसा अग्रणी मिल गया था, और इसी कारण वह राजनैतिक क्षेत्र में कूद पड़ने के लिए तैयार हो गये थे। स्वामीजी के साथ-साथ कितने ही अन्य आर्यसमाजी भी राजनीति में कूद पड़े। दिल्ली में सत्याग्रह के संचालन के लिए जिस कमेटी का गठन किया गया था, उसके एक-तिहाई से भी अधिक सदस्य आर्यसभासद् थे, और उसके दो मन्त्रियों में से एक (पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति) आर्यसमाजी थे। इस काल में दिल्ली में जो राजनैतिक चेतना उत्पन्न हुई, और सत्याग्रह

आन्दोलन ने वहाँ जो जोर पकड़ा, उसका प्रधान श्रेय स्वामी श्रद्धानन्द और उनके आर्य-समाजी साथियों को ही प्राप्त है। दिल्ली के सत्याग्रह-आन्दोलन में स्वामी श्रद्धानन्द और आर्यसमाजियों का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान था कि मुसलमानों ने स्वामीजी को जामा मस्जिद और फतहपुरी मस्जिद में प्रवचन के लिए आमन्त्रित किया, और उन्होंने वहाँ वेदमंत्रों की व्याख्या के साथ सत्याग्रह के आदर्श एवं स्वरूप का प्रतिपादन किया।

रॉलेट एक्ट के विरोध में देश-भर में जो आन्दोलन हुआ, उसके कारण जनता बहुत उत्तेजित हो गयी थी, और सर्वत्र शान्ति कायम नहीं रह सकी। अनेक स्थानों पर दंगे हो गये, जिनके कारण पुलिस को मनमाने अत्याचार करने का अवसर प्राप्त हो गया। उन दिनों पंजाब के गवर्नर सर माइकेल ओडवायर थे, जो बड़े सख्त शासक थे। उन्हें यह सहन नहीं था कि उनके प्रदेश में जनता सिर उठाये। उन्होंने कठोर दमननीति का आश्रय लिया। पंजाब के बहुत-से नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। १३ एप्रिल को वैशाखी का त्यौहार था। उस दिन अमृतसर के जलियाँवाला बाग में एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया। यह बाग शहर की घनी बस्ती के बीच में है, और इसके चारों ओर एक दीवार थी, जिसके कारण बाग में जाने-आने का केवल एक रास्ता था। जलियाँवाला बाग की सार्वजनिक सभा में हजारों नर-नारी शान्तिपूर्वक एकत्र थे। सभा का कार्य शान्ति से चल रहा था कि डायर नामक एक अंग्रेज सैनिक अफसर ने २०० देसी और ५० गोरे सिपाहियों को साथ लेकर उस एकमात्र रास्ते को रोक लिया और निहत्थी जनता पर गोलियों की बौछार शुरू करा दी। इससे ४०० व्यक्ति जान से मारे गये, और २००० से भी अधिक बुरी तरह से घायल हुए। १४ एप्रिल को पंजाब में मार्शल लॉ घोषित कर दिया गया, और जनता पर घोर अत्याचार प्रारम्भ किये गये। मार्शल लॉ के कारण पंजाब में सर्वत्र आतंक का राज्य कायम हो गया था, और सरकार के अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठा सकना सुगम नहीं रहा था। दिसम्बर १९१९ ई० में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन अमृतसर में हुआ। इसके लिए गठित स्वागतकारिणी समिति के अध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्द चुने गये, और उन्होंने कांग्रेस के अधिवेशन की सफलता के लिये कोई कसर उठा न रखी। इस समय तक वह पूर्ण रूप से राजनैतिक क्षेत्र में अवतीर्ण हो गये थे, और उनके साथ-साथ आर्यसमाजी भी बहुत बड़ी संख्या में कांग्रेस में सक्रिय रूप से भाग लेने लग गये थे।

स्वागत-समिति के अध्यक्ष-पद से जो भाषण स्वामी श्रद्धानन्द ने दिया था, उस पर आर्यसमाज की पूरी-पूरी छाप थी। उनका भाषण हिन्दी में था, जो कांग्रेस के लिए एक नयी बात थी। उन्होंने अपने भाषण में अछूतोद्धार पर बहुत जोर दिया था, और उन्हीं के प्रयत्न का यह परिणाम हुआ था कि कांग्रेस ने रचनात्मक कार्यक्रम के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव स्वीकृत किया, अछूतोद्धार को उसमें महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। आर्यसमाज का यह मन्तव्य था कि देश की स्वतन्त्रता के लिए उन बुराइयों को दूर करना आवश्यक है, जिनके कारण भारत को विदेशियों का गुलाम होना पड़ा है। ऐसी एक बुराई छूत-अछूत के भेद की थी, जिसके निवारण पर आर्यसमाज विशेष बल देता था। अतः अस्पृश्यता-निवारण को कांग्रेस के कार्यक्रम में सम्मिलित कराके स्वामी श्रद्धानन्द ने आर्यसमाज की दृष्टि से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। यही बात हिन्दी के सम्बन्ध में भी थी। जिस कांग्रेस की सब कार्यवाही अंग्रेजी भाषा में हुआ करती थी, उसमें

स्वागत-समिति के अध्यक्ष-पद से हिन्दी में भाषण देकर स्वामीजी ने एक क्रान्तिकारी पग उठाया था। रॉलेट एक्ट के विरोध में प्रारम्भ किये गये सत्याग्रह-आन्दोलन, पंजाब में मार्शल लॉ, जलियाँवाला बाग का नृशंस हत्याकाण्ड तथा अमृतसर कांग्रेस आदि में स्वामी श्रद्धानन्द और आर्यसमाज के कर्तृत्व पर इस ग्रन्थ में पहले विशद रूप से प्रकाश डाला जा चुका है। उसका पुनः उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है।

सितम्बर, १९२० ई० में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन कलकत्ता में हुआ, जिसमें गांधी जी ने असहयोग का प्रस्ताव उपस्थित किया। इस प्रस्ताव की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) क्योंकि खिलाफत के प्रश्न पर सरकार मुसलमानों के प्रति अपने फर्ज को अदा करने में असमर्थ रही है और क्योंकि प्रत्येक गैर-मुस्लिम भारतीय का यह कर्तव्य है कि वह अपने मुसलमान भाई पर आयी विपत्ति को दूर करने में सब उचित उपायों से सहायता करे, (२) और क्योंकि १९१९ ई० में हुई घटनाओं में सरकार ने पंजाब की बेकुसूर जनता के प्रति असभ्य व नृशंस व्यवहार करने वाले अफसरों को दण्ड देने में लापरवाही की है, और क्योंकि खिलाफत व पंजाब के काण्ड के लिए सरकार को जरा भी पछतावा नहीं है, अतः (३) कांग्रेस की यह सम्मति है कि जब तक उक्त दोनों भूलों का सुधार और स्वराज्य की स्थापना न हो जाय, देश के सम्मुख सिवाय इसके अन्य कोई मार्ग नहीं है कि गांधीजी के नेतृत्व में संचालित अहिंसात्मक असहयोग की नीति को स्वीकार करे। असहयोग की इस नीति के मुख्य अंग निम्नलिखित थे—(१) सरकारी व सरकार से सहायता पाने वाले स्कूलों और कालिजों का बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षणालयों की स्थापना। (२) सरकारी अदालतों का बहिष्कार और पंचायतों द्वारा मुकद्दमों का निर्णय। (३) विदेशी माल का बहिष्कार। (४) मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड-सुधारों के अनुसार स्थापित कौन्सिलों के चुनाव में भाग न लेना। (५) सरकारी उपाधियों व पदों का परित्याग। कलकत्ता कांग्रेस के असहयोग के प्रस्ताव की पुष्टि नागपुर में हुए कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन (१९२० ई०) द्वारा भी कर दी गयी और शीघ्र ही इस आन्दोलन ने व्यापक रूप धारण कर लिया। महात्मा गांधी ने इस समय 'तिलक स्वराज्य फण्ड' नाम से कांग्रेस की एक नयी निधि कायम की, और उसके लिए एक करोड़ रुपयों की अपील की। इस आन्दोलन में आर्यसमाज के लोगों ने कांग्रेस काउत्साहपूर्वक साथ दिया। गुरुकुल काँगड़ी के विद्यार्थी 'तिलक स्वराज्य फण्ड' के लिए चन्दा एकत्र करने के लिये निकल पड़े, और उन्होंने गाँव-गाँव घूमकर स्वराज्य का प्रचार किया। असहयोग-आन्दोलन के परिणामस्वरूप जो अनेक राष्ट्रीय शिक्षणालय इस समय कायम किये गये, उन्होंने अपनी पद्धति आदि के सम्बन्ध में गुरुकुल काँगड़ी का अनेक अंशों में अनुकरण किया था। डी० ए० वी० कालिज लाहौर के बहुत-से विद्यार्थियों ने भी तब बहिष्कार की नीति अपनायी थी, और लाला लाजपतराय ने यह यत्न भी किया था कि डी०ए०वी० शिक्षण-संस्थाएँ सरकार से असहयोग कर राष्ट्रीय रूप प्राप्त कर लें। इस 'इतिहास' के तृतीय भाग में इस विषय पर प्रकाश डाला जा चुका है। स्वामी श्रद्धानन्द ने भी असहयोग-आन्दोलन में उत्साहपूर्वक भाग लिया। इस नये आन्दोलन को वह किस दृष्टि से देखते थे, यह उनके उस पत्र से स्पष्ट है जो उन्होंने उस समय आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान लाला रामकृष्ण को लिखा था—"इस समय मेरी सम्मति में असहयोग की व्यवस्था के क्रियात्मक प्रचार पर ही मातृभूमि के भविष्य का निर्भर है। यदि यह

आन्दोलन अकृतकार्य हुआ, और महात्माजी को सहायता न मिली, तो देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न ५० वर्ष पीछे जा पड़ेगा।" महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने जिस असहयोग-आन्दोलन का प्रारम्भ किया था, स्वामी श्रद्धानन्द व अन्य आर्य नेता उसे महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रदर्शित मार्ग के अनुरूप मानते थे। सरकारी शिक्षण-संस्थाओं के बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षणालयों की स्थापना, विदेशी वस्तुओं का परित्याग कर स्वदेशी को अपनाना और सरकारी अदालतों के बजाय पंचायतों द्वारा पारस्परिक मुकद्दमों का निर्णय सदृश ऐसी बातें थीं, महर्षि के ग्रन्थों में जिनका प्रतिपादन है। आर्यसमाजियों को महात्मा गांधी का असहयोग आन्दोलन महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा आर्यसमाज के कार्यक्रम तथा आदर्शों के अनुरूप प्रतीत होता था। इसीलिए वे बहुत बड़ी संख्या में इस आन्दोलन में सम्मिलित हुए, और उन्होंने अपनी शक्ति इसकी सफलता में लगा दी। श्री चाँदकरण शारदा आदि जिन बहुत-से आर्यसमाजियों ने बाद में कांग्रेस के स्वराज्य-आन्दोलन का भी नेतृत्व किया, वे इसी काल में स्वामी श्रद्धानन्द का अनुकरण कर असहयोग-आन्दोलन में सम्मिलित हुए थे। इस काल में उत्तरी भारत के जिन नर-नारियों ने स्वराज्य-आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया, उनमें आर्यसमाजियों की संख्या सबसे अधिक थी।

अट्ठाइसवाँ अध्याय

महात्मा गांधी और कांग्रेस की नीति से आर्य नेताओं का मतभेद

(१) हिन्दू आन्दोलन और आर्यसमाज

भारत के राजनैतिक जीवन में साम्प्रदायिक समस्या का बहुत महत्त्व है। इस देश के सब निवासी किसी एक ही धर्म के अनुयायी नहीं हैं। जिस देश के प्रायः सब नागरिक एक ही धर्म के अनुयायी हों, वहाँ साम्प्रदायिक समस्या का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। अतः वहाँ राष्ट्रीय भावना का विकास सुगमता से हो जाता है। भारत में यद्यपि हिन्दू बहुसंख्या में हैं, पर मुसलमानों और ईसाइयों की संख्या भी कम नहीं है। इसी कारण यहाँ साम्प्रदायिक विद्वेष बहुधा उभरता रहा है, और एक भारतीय राष्ट्रीयता के विकास में भी बाधाएँ उपस्थित होती रही हैं। उन्नीसवीं सदी में भारत में नवजागरण के जो आन्दोलन चले, उनके कारण हिन्दुओं और मुसलमानों में अपनी पृथक् सत्ता की अनुभूति को बल मिला। इन आन्दोलनों के परिणामस्वरूप विविध सम्प्रदायों ने अपनी पृथक् शिक्षण-संस्थाएँ स्थापित करनी प्रारम्भ कीं, जिनमें नवीन आधुनिक शिक्षा के साथ-साथ अपने धर्म व सम्प्रदाय की शिक्षा की भी व्यवस्था की जाती थी। इस्लामिया कालेजों के विद्यार्थी जैसे उर्दू को अपनी भाषा समझते थे, वैसे ही डी० ए० वी० तथा आर्य कालिजों व स्कूलों के विद्यार्थी हिन्दी को अपनी भाषा मानते थे। साथ ही, अपने धर्म के पुनरुत्थान व प्रचार को भी वे बहुत महत्त्व देते थे। बीसवीं सदी का प्रारम्भ होते-होते हिन्दुओं ने गुरुकुलों और ऋषिकुलों की स्थापना शुरू कर दी थी, जिनका उद्देश्य वैदिक व सत्य सनातन धर्म का पुनरुत्थान करना और हिन्दू वातावरण में बालकों को शिक्षा देना था। इसी समय के लगभग देवबन्द आदि अनेक स्थानों पर मुसलमानों ने भी ऐसे मदरसे कायम किये जिनमें इस्लाम की उच्च धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था थी, और जिनका वातावरण मुस्लिम धर्म के अनुसार था। ये सब संस्थाएँ भारत के नवजागरण में सहायक अवश्य हुईं, पर साथ ही इनके कारण हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की खाई भी अधिक गहरी होती गयी। देहात के रहने वाले हिन्दू और मुसलमान एक भाषा बोलते थे, उनके विचार करने का ढंग एक था और उनके रहन-सहन में भी विशेष अन्तर नहीं था। पर जब इन देहातों के बालक गुरुकुल काँगड़ी या देवबन्द के दारुल-उलूम से पढ़कर निकलते थे, तो वे एक-दूसरे से भिन्न दो पृथक् संस्कृतियों के मूर्त रूप बन जाते थे। अलीगढ़ के एंग्लो-ओरियण्टल कालिज और लाहौर के डी० ए० वी० कालिज के विद्यार्थियों की भाषा, रहन-सहन तथा संस्कृति में भी इसी प्रकार का भेद आ जाता था। शिक्षा का प्रसार

हिन्दुओं और मुसलमानों के भेद को घटाने के बजाय उसे बढ़ाने में सहायक हो रहा था। यदि भारत के नेता देश के नवजागरण की कोई ऐसी योजना बना सकते, जो हिन्दुओं और मुसलमानों को समान रूप से प्रभावित करती, तो शायद इस देश में साम्प्रदायिक समस्या उत्पन्न न होती। पर इस प्रकार का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। उन्नीसवीं सदी में भारत के नवजागरण के अनेक आन्दोलन अवश्य चले, पर वे आन्दोलन हिन्दुओं के अलग थे, और मुसलमानों के अलग।

इसी का यह परिणाम हुआ कि जब भारतीय जनता में राजनैतिक जागृति का प्रादुर्भाव हुआ, और वह ब्रिटिश आधिपत्य से मुक्त होने के लिए संघर्ष में तत्पर हुई, तो स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि स्वतन्त्र भारत में मुसलमानों की क्या स्थिति होगी? आधुनिक युग में राज्यों का शासन लोकतन्त्रवाद पर आधारित होता है, और शासन-शक्ति के प्रयोग का अधिकार किन व्यक्तियों के हाथ में दिया जाए, इस बात का निर्णय नागरिकों के द्वारा किया जाता है। विधान-मण्डलों के सदस्यों की नियुक्ति भी चुनाव द्वारा की जाती है, और सब वयस्क नागरिकों को वोट का अधिकार प्राप्त रहता है। ज्यों-ज्यों भारत में स्वशासन के लिए आन्दोलन प्रबल होता गया, और शासकीय सर्विसों में भारतीयों की संख्या में वृद्धि होती गयी, मुसलमानों में यह विचार जोर पकड़ने लगा कि स्वतन्त्र भारत के शासन में वे अपने लिए समुचित स्थान प्राप्त नहीं कर सकेंगे। क्योंकि हिन्दू बहुसंख्या में हैं, अतः विधान-मण्डलों में मुसलमानों के लिये निर्वाचित हो सकना सुगम नहीं होगा, और सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करने में भी उन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही ब्रिटिश आधिपत्य से छुटकारा चाहते थे, पर उनकी राजनैतिक आकांक्षाओं में भेद था। हिन्दू लोग स्वराज्य चाहते थे, देश में लोकतन्त्री शासन की स्थापना के इच्छुक थे, तो मुसलमान इस चिन्ता में थे कि विधान-मण्डलों में उनके लिये स्थान सुरक्षित रखे जाएँ, उनके प्रतिनिधि पृथक् रूप से चुने जाएँ, और सरकारी नौकरियों में उन्हें विशेषता दी जाय। स्वाभाविक रूप से अंग्रेजों ने मुसलमानों की इस प्रवृत्ति से लाभ उठाया। 'जनता में फूट पैदा करो, और शासन करो' (Divide and rule) की नीति का अनुसरण कर उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों में मतभेद व वैमनस्य की वृद्धि के लिये प्रयत्न किया, और इसमें वे सफल भी हुए। उन्हीं से प्रेरणा प्राप्त कर सन् १९०६ ई० में सर आगा खाँ एक मुस्लिम डेपुटेशन को साथ लेकर वायसराय से मिले और उनसे यह प्रार्थना की कि मुसलमानों के लिये पृथक् प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की जाय। वायसराय महोदय ने इस माँग से सहानुभूति प्रकट की, और इसे भारतीय इतिहास की एक युगप्रवर्तक घटना समझा। वस्तुतः, यह एक नये युग की प्रवर्तक घटना ही थी, क्योंकि इसी के कारण आगे चलकर भारत में मुसलमानों के लिए पृथक् प्रतिनिधित्व की परिपाटी का प्रारम्भ किया गया और हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच की खाई अधिक गहरी होती चली गयी।

२० दिसम्बर, १९०६ ई० के दिन ढाका में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। कांग्रेस के समान यह भी एक एक राजनैतिक संगठन थी, पर इसकी सदस्यता का क्षेत्र केवल मुसलमानों तक सीमित था। इसका मुख्य उद्देश्य मुसलमानों के राजनैतिक व अन्य अधिकारों की रक्षा करना और उनकी माँगों को सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करना था। लीग की दृष्टि में मुसलमानों की राजनैतिक स्थिति भारत में तभी सुरक्षित रह सकती

थी, जब उन्हें पृथक् प्रतिनिधित्व का अधिकार प्राप्त हो। लीग मुसलमानों को इस बात के लिए भी प्रेरित करती थी कि वे कांग्रेस से पृथक् रहें, और उस द्वारा संचालित राष्ट्रीय स्वाधीनता के आन्दोलन में सम्मिलित न हों। भारत में निरन्तर बढ़ती हुई राजनैतिक चेतना को दृष्टि में रखकर जब ब्रिटिश सरकार ने सन् १९०९ ई० में मिण्टो-मार्ले-सुधारों की श्रीगणेश किया, तो उनमें मुस्लिम लीग की पृथक् प्रतिनिधित्व की माँग को स्वीकृत कर लिया गया और सभी निर्वाचित सभाओं में मुसलमानों के लिए पृथक् प्रतिनिधित्व की व्यवस्था कर दी गयी। मुस्लिम लीग के रूप में मुसलमानों के एक पृथक् राजनैतिक संगठन का निर्माण हो जाने पर भी अनेक प्रभावशाली मुसलमान नेता कांग्रेस में सम्मिलित रहे। इनमें श्री मुहम्मद अली जिन्ना और मौलाना अब्बुल कलाम आजाद प्रमुख थे। ये नेता मुस्लिम लीग की नीति को पसन्द नहीं करते थे, और मुसलमानों को राष्ट्रीय स्वाधीनता के आन्दोलन में कांग्रेस से सहयोग करने की प्रेरणा देते थे। इनके प्रयत्न से लीग की नीति में परिवर्तन होने लगा, और सन् १९१६ ई० में कांग्रेस और लीग दोनों के वार्षिक अधिवेशन एक ही समय में लखनऊ में हुए। वहाँ इन दोनों राजनैतिक संस्थाओं में समझौता हो गया, जो लीग-कांग्रेस पैक्ट के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते द्वारा मुस्लिम लीग ने भी भारत में स्वशासन की स्थापना को अपना ध्येय स्वीकार किया, और साथ ही कांग्रेस ने मुसलमानों के लिए पृथक् प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को मान लिया। १९१६-१८ ई० के काल में लीग और कांग्रेस में सहयोग की वृद्धि हुई, और दोनों वैधानिक उपायों द्वारा स्वतन्त्रता तथा राजनैतिक अधिकारों के संघर्ष के लिए तत्पर रहीं।

सन् १९०६ ई० में मुस्लिम लीग की स्थापना के कारण जब मुसलमानों में अपने पृथक् अस्तित्व की भावना जोर पकड़ने लगी, तो कतिपय हिन्दू नेताओं के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि उन्हें भी हिन्दूहितों की रक्षा के लिए अपना पृथक् संगठन बनाना चाहिये। इन नेताओं में श्री विनायक दामोदर सावरकर, लाला लाजपतराय और पण्डित मदनमोहन मालवीय प्रमुख थे। उन्होंने 'हिन्दू महासभा' के नाम से एक पृथक् संगठन बनाया, शुरू में जिसका उद्देश्य राजनैतिक नहीं था। स्वराज्य-आन्दोलन में प्रायः सभी हिन्दू नेता कांग्रेस के साथ थे। लाला लाजपतराय और पण्डित मदनमोहन मालवीय जैसे नेता जहाँ स्वराज्य के संघर्ष के लिए कांग्रेस के अधिवेशनों में सम्मिलित होते थे, वहाँ हिन्दुओं की उन्नति और उनमें सामाजिक सुधार के लिए वे हिन्दू महासभा में भी भाग लेते थे। महासभा के अधिवेशनों में इस बात पर जोर दिया जाता था कि हिन्दुओं में जागृति उत्पन्न होनी चाहिए, उन्हें अपनी सामाजिक कुरीतियों को दूर करना चाहिए, अछूतों के उद्धार पर ध्यान देना चाहिए और विशेष दशाओं में धर्मभ्रष्ट लोगों को भी शुद्धि द्वारा पुनः हिन्दू धर्म में शामिल कर लेना चाहिए। प्रारम्भ के समय में हिन्दू महासभा राजनैतिक संस्था न होकर हिन्दुओं की सामाजिक व जातिगत संस्था ही थी, पर ज्यों-ज्यों मुसलमानों में साम्प्रदायिकता और पृथक्त्व की भावना का विकास होता गया, हिन्दुओं को भी इस बात की आवश्यकता अनुभव होने लगी कि उनका भी एक ऐसा संगठन होना चाहिए, जो उनके जातिगत व साम्प्रदायिक हितों की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो। हिन्दू महासभा ने यह कार्य भी अपने हाथों में लिया। इसी कारण उसे हिन्दुओं की प्रतिनिधि-संस्था माना जाने लगा। कांग्रेस ने मुस्लिम लीग से समझौते करने के जो

प्रयत्न किये, हिन्दू महासभा ने उनका विरोध किया। महासभा के अनेक नेताओं का कहना था कि कांग्रेस मुसलमानों के प्रति पक्षपात करती है और उन्हें संतुष्ट रखने के लिए ऐसे विशेष अधिकार उन्हें प्रदान करने को तैयार हो जाती है जो न केवल हिन्दू-हितों की दृष्टि से अनुचित हैं, अपितु राष्ट्रीयता के विकास में भी बाधक हैं।

यद्यपि हिन्दू महासभा की स्थापना के कारण हिन्दुओं का भी एक पृथक् संगठन हो गया था, और उस द्वारा हिन्दुओं का राजनैतिक दृष्टिकोण भी प्रकट होने लगा था, पर सन् १९२४ ई० तक भी उसका स्वरूप संकीर्ण व साम्प्रदायिक नहीं था। सन् १९२४ में महासभा का वार्षिक अधिवेशन बेलगाँव में हुआ था। पण्डित मदनमोहन मालवीय इसके सभापति थे। कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन भी उस साल बेलगाँव में ही हुआ था। सभापति-पद से भाषण करते हुए मालवीयजी ने हिन्दू महासभा और कांग्रेस के पारस्परिक सम्बन्धों के प्रश्न पर इस प्रकार प्रकाश डाला था—"कुछ लोगों का विचार है कि क्योंकि हिन्दू महासभा एक साम्प्रदायिक संगठन है, अतः यह सर्वथा सम्भव है कि कांग्रेस, जो एक राष्ट्रीय संगठन है, के साथ उसका टकराव हो जाए। यह सचमुच शर्म की बात होगी, यदि कोई हिन्दू कांग्रेस का विरोध करे। उनका उद्देश्य तो कांग्रेस को शक्तिशाली बनाना है। महासभा के संगठन की आवश्यकता तो इस कारण हुई, क्योंकि एक राजनैतिक संस्था होने के कारण कांग्रेस के लिए यह सम्भव नहीं था कि वह विभिन्न समुदायों के सामाजिक तथा अराजनैतिक क्षेत्रों के साथ सम्बन्ध रखने वाली समस्याओं पर ध्यान दे सके। इस देश में एक से अधिक संस्कृतियों की सत्ता है। मुसलमान अपनी संस्कृति से प्रेम रखते हैं। हिन्दुओं को भी अपनी संस्कृति से प्रेम होना चाहिए, उन्हें उसकी रक्षा तथा प्रसार के लिए यत्न करना चाहिए। जैसे कि मुसलमान अपनी संस्कृति के संरक्षण तथा प्रसार के लिए प्रयत्नशील हैं, वैसे ही हिन्दुओं को भी करना चाहिए।" अपने भाषण में मालवीयजी ने बालविवाह और छुआछूत सदृश सामाजिक बुराइयों को दूर करने तथा जातपांत के झगड़ों को निपटाने के सम्बन्ध में महासभा के कार्यों का उल्लेख कर उन बातों की ओर श्रोताओं का ध्यान आकृष्ट किया, जिनके कारण हिन्दू महासभा पर मुस्लिम लीग की प्रतिद्वन्द्वी संस्था होने का आरोप लगाया जाता था। ये बातें शुद्धि तथा संगठन के साथ सम्बन्ध रखती थीं। खिलाफत-आन्दोलन के कारण मुसलमानों में जिस साम्प्रदायिक भावना का विकास हो गया था, और जिसके कारण देश में अनेक स्थानों पर साम्प्रदायिक दंगों का विस्फोट होने लग गया था, उनके परिणामस्वरूप हिन्दुओं ने भी शुद्धि और संगठन के आन्दोलन शुरू कर दिये थे। उनके सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए मालवीयजी ने कहा था—"सदियों से मुसलमान हिन्दुओं को मुस्लिम धर्म में दीक्षित कर रहे हैं। भारत के मुसलमानों में बहुसंख्या उनकी है, जो हिन्दू से मुसलमान बने हैं। मुस्लिम और क्रिश्चियन मिशन भी धर्मान्तरण के प्रयत्न में संलग्न हैं। मुस्लिम और क्रिश्चियन मिशनों द्वारा हिन्दुओं को अपने-अपने धर्म का अनुयायी बनाने के लिए जो कार्य किया जा रहा है, उससे उत्पन्न परिस्थिति में हिन्दुओं के लिए भी यह आवश्यक हो गया है कि वे भी धर्मान्तरण के लिए एक हिन्दू मिशन का संगठन करें।"

पण्डित मदनमोहन मालवीय भारत के मान्य राष्ट्रीय नेता थे। कांग्रेस के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। सन् १९०९ ई० में कांग्रेस का जो वार्षिक अधिवेशन लाहौर में हुआ था, उसकी अध्यक्षता उन्होंने ही की थी। दिल्ली में हुए कांग्रेस के पैंतीसवें वार्षिक

अधिवेशन (१९१८) के भी वही सभापति थे। पर साम्प्रदायिक समस्या की गम्भीरता और उग्रता को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने भी शुद्धि और हिन्दू संगठन की आवश्यकता स्वीकार की थी और सन् १९२४ ई० में हिन्दू महासभा के सभापति-पद से उन्होंने इसका युक्ति-पूर्वक समर्थन भी किया था। वस्तुतः, इस समय तक भारत के राष्ट्रीय व राजनैतिक स्वाधीनता के आन्दोलन के स्वरूप में एक ऐसा मौलिक परिवर्तन आने लग गया था, जिसमें हिन्दू राष्ट्रीयता और मुस्लिम राष्ट्रीयता स्पष्ट रूप से पृथक् दिखायी देने लगी थीं।

यह स्वाभाविक था कि आर्यसमाजी नेता और कार्यकर्त्ता राष्ट्रीयता के हिन्दू स्वरूप की ओर आकृष्ट हों और वे हिन्दू महासभा में सम्मिलित होकर या उससे पृथक् रहते हुए शुद्धि और संगठन के आन्दोलनों में सक्रिय रूप से भाग लेने लगें। सत्य तो यह है कि हिन्दू महासभा में जो शक्ति का संचार हुआ, उसका प्रधान श्रेय स्वामी श्रद्धानन्द और लाला लाजपतराय सदृश आर्यसमाजी नेताओं को ही प्राप्त है। सन् १९०६ ई० में मुस्लिम लीग की स्थापना के पश्चात् कतिपय हिन्दू नेताओं ने भी महासभा के रूप में हिन्दुओं का पृथक् संगठन बनाने का निश्चय किया, और इसी प्रयोजन से वे दिसम्बर १९१० ई० में इलाहाबाद में एकत्र हुए। उन्होंने निश्चय किया कि हिन्दू महासभा का केन्द्रीय कार्यालय इलाहाबाद में रहे। हिन्दू महासभा का पहला अधिवेशन (जिसे अखिल भारतीय हिन्दू कान्फरेन्स कहा जाता था) सन् १९११ ई० में अमृतसर में हुआ। उसके बाद हरिद्वार में महासभा के वार्षिक अधिवेशन होते रहे, और उसका कार्यालय भी वहीं ले जाया गया। महासभा का पाँचवाँ अधिवेशन बहुत महत्त्वपूर्ण था। इसकी अध्यक्षता राजा सर रामपालसिंह ने की थी और इसका आयोजन दिसम्बर १९१८ ई० के अन्तिम सप्ताह में दिल्ली में किया गया था। इस समय तक भारत के अनेक स्थानों पर हिन्दू-मुस्लिम दंगे होने लग गये थे, और उनमें मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं पर भीषण अत्याचार किये गये थे। कांग्रेस का पैंतीसवाँ वार्षिक अधिवेशन भी दिसम्बर १९१८ ई० के अन्तिम सप्ताह में दिल्ली में हुआ था, और पण्डित मदनमोहन मालवीय उसके सभापति थे। मालवीयजी हिन्दू महासभा के वार्षिक अधिवेशन में भी सम्मिलित हुए थे, और उन्हीं के द्वारा वहाँ हिन्दू संगठन का प्रस्ताव पेश किया गया था। कांग्रेस और हिन्दू महासभा में इस समय तक कोई विरोध नहीं था, यह इसी से स्पष्ट है। पर खिलाफत आन्दोलन के कारण उत्पन्न हुई साम्प्रदायिक उत्तेजना के परिणामस्वरूप देश में जो परिस्थिति उत्पन्न हो गयी थी, उसमें अनेक हिन्दू नेताओं के लिए कांग्रेस में रह सकना सम्भव नहीं रहा। स्वामी श्रद्धानन्द इन नेताओं में प्रमुख थे। अब उनका ध्यान हिन्दू महासभा की ओर गया, और उसमें सम्मिलित होकर उन्होंने हिन्दू संगठन, शुद्धि तथा अछूतोद्धार के लिए अपनी शक्ति लगा दी।

(२) कांग्रेस से मतभेद का प्रारम्भ

महात्मा गांधी द्वारा संचालित स्वराज्य-आन्दोलन में स्वामी श्रद्धानन्द सदृश आर्य नेता देर तक सहयोग नहीं दे सके और उन्होंने कांग्रेस से पृथक् हो जाने में ही देश का कल्याण माना। इसका एक मुख्य कारण खिलाफत के सम्बन्ध में उनका गांधीजी व कांग्रेस से मतभेद था। महायुद्ध (१९१४-१८ ई०) में तुर्की जर्मन-पक्ष में था। उस समय

तुर्की का एक विशाल साम्राज्य था और इराक, सीरिया, जोर्डन आदि अरब प्रदेश उसके अन्तर्गत थे। तुर्की के सुलतान को सम्पूर्ण मुस्लिम जगत् का खलीफा भी माना जाता था। जर्मन-पक्ष के महायुद्ध में पराजित हो जाने के कारण तुर्क साम्राज्य का अन्त हो गया था, और तुर्की से भिन्न अन्य सब प्रदेश इसकी अधीनता से स्वतन्त्र हो गये थे। साथ ही, इस काल में तुर्की में भी लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्ति प्रबल होने लग गयी थी और वहाँ के तरुण तुर्क नेता अपने देश में लोकतन्त्र गणराज्य स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील थे। पर भारत के मुसलमान तुर्की के सुलतान (खलीफा) के गौरव व उच्च स्थिति को यथापूर्व बनाये रखने के पक्ष में थे। खलीफत का आन्दोलन उन्होंने इसी प्रयोजन से प्रारम्भ किया था। खलीफत के प्रश्न पर मुसलमानों में अंग्रेजों के विरुद्ध जो भावना थी, महात्मा गांधी ने उसका स्वराज्य के लिए उपयोग करने का निश्चय किया, और साथ ही यह भी समझा कि यदि हिन्दू भी इस आन्दोलन में मुसलमानों के साथ सहयोग करें, तो इससे हिन्दू-मुस्लिम एकता में भी सहायता मिल सकती है। पर सब कांग्रेसी महात्माजी के इस विचार से सहमत नहीं थे। उनका कहना था कि खिलाफत जैसी साम्प्रदायिक बात को भारत के स्वराज्य-आन्दोलन के साथ नहीं मिलाना चाहिए। मुसलमान जो गांधीजी का साथ दे रहे हैं, उसका कारण राष्ट्रीय न होकर साम्प्रदायिक है। यह बात देश के भविष्य के लिए हानिकारक हो सकती है। इस आन्दोलन के कारण मुसलमानों में जो साम्प्रदायिक उद्वेग उत्पन्न हो रहा है, वह उन्हें भारत की राष्ट्रीय धारा से पृथक् करने में ही सहायक होगा, राष्ट्रीय एकता में नहीं। न केवल स्वामी श्रद्धानन्द अपितु अन्य आर्यसमाजी नेताओं का भी यही मत था। यद्यपि वे उत्साहपूर्वक खिलाफत-आन्दोलन के साथ सहयोग कर रहे थे, पर उन्हें यह आशंका बनी हुई थी कि यह आन्दोलन कभी भी साम्प्रदायिक विस्फोट का रूप प्राप्त कर सकता है। जब तक खिलाफत का प्रश्न जिन्दा रहा, कांग्रेस और खिलाफत-कमेटी परस्पर सहयोग से कार्य करती रहीं। पर इस सहयोग में भी दोनों संगठनों में भारी अन्तर था। कांग्रेस और खिलाफत कमेटी के अधिवेशन साथ-साथ हुआ करते थे। इनमें कांग्रेसी हिन्दू स्वयंसेवक गांधी टोपी पहनते थे, और खिलाफत के स्वयं-सेवक अरबों की पोशाक। कांग्रेसी लोग यदि 'वन्देमातरम्' और 'भारत माता की जय' के नारे लगाते थे, तो खिलाफत के लोग 'अल्लाहो अकबर' के नारे बुलन्द करते थे। दोनों संगठनों के उद्देश्यों तथा विचारधारा में स्पष्ट भेद था। पर फिर भी वे परस्पर सहयोग से साथ-साथ कार्य करते रहे, क्योंकि दोनों ही अंग्रेजी शासन के विरोध में संघर्ष कर रहे थे। पर उनका यह सहयोग देर तक कायम नहीं रह सका। इसका कारण तुर्की और अरब राज्यों द्वारा खलीफा की सत्ता का ही अन्त कर देना था। सन् १९२२ ई० का अन्त होने से पूर्व ही तुर्की का सुलतान (खलीफा) अपना देश छोड़कर चला गया था और उस देश का शासन मुस्तफा कमाल पाशा के नेतृत्व में तरुण तुर्क दल के हाथों में आ गया था। विविध अरब राज्य भी तुर्की की अधीनता से स्वतन्त्र हो गये थे। जब तुर्की की जनता ही सुलतान (खलीफा) के शासन को नहीं चाहती थी, तो भारत के मुसलमानों के लिए उसके पक्ष में आन्दोलन करना सर्वथा निरर्थक था। कुछ समय तक भारतीय मुसलमान इस प्रयत्न में रहे कि शरीयत के अनुसार धार्मिक मुखिया के रूप में खलीफा की स्थिति को अक्षुण्ण रखा जाए। पर अरब, तुर्की और अन्य मुस्लिम राज्यों ने उनका

साथ नहीं दिया। परिणाम यह हुआ कि खिलाफत के आन्दोलन का स्वयमेव अन्त हो गया।

खिलाफत-आन्दोलन द्वारा भारतीय मुसलमानों की साम्प्रदायिक व जातिगत भावनाओं को अंग्रेजी शासन के विरुद्ध उभारने का प्रयत्न किया गया था। जब साम्प्रदायिक भावना एक बार उभर जाती है, तो उसे नियन्त्रण में रख सकना सुगम नहीं होता और उसका दुरुपयोग किया जा सकता है। अंग्रेजों ने मुसलमानों की साम्प्रदायिक भावना का राष्ट्रीय आन्दोलन के विरुद्ध उपयोग किया, और इसमें उन्हें सफलता प्राप्त हुई। अब यह भावना हिन्दुओं के विरुद्ध प्रकट होने लगी, और स्थान-स्थान पर हिन्दू-मुस्लिम दंगे शुरू हो गये। सन् १९२१ ई० में मलाबार में मोपला लोगों ने विद्रोह कर दिया। प्रारंभ से ही इस विद्रोह का स्वरूप साम्प्रदायिक था। 'हिन्दुओं को जबर्दस्ती मुसलमान बनाना और जो इसका प्रतिरोध करे उसे जान से मार डालना मोपलों ने अपना कार्यक्रम बना लिया। १९२२ ई० में मुलतान में दंगा हुआ और बाद में यह सिलसिला व्यापक रूप से शुरू हो गया। मुसलमानों द्वारा इसी समय तबलीग़ और तन्ज़ीम का आन्दोलन प्रारम्भ किया गया, जिनका उद्देश्य मुसलमानों को संगठित करना और गैर-मुस्लिमों को अपने धर्म का अनुयायी बनाना था। स्वामी श्रद्धानन्द को मुसलमानों का यह रुख पसन्द नहीं था। इसके जवाब में उन्होंने शुद्धि और संगठन के आन्दोलन प्रारम्भ किये, और कांग्रेस से उनका मतभेद हो गया। उनका यह अभिमत नहीं था कि खिलाफत को स्वराज्य के बराबर स्थान दिया जाए, और मुसलमान प्रधानतया इसी कारण कांग्रेस में शामिल हों, क्योंकि वे खलीफा की सत्ता व शक्ति को पुनःस्थापित करना चाहते थे। स्वामीजी के कांग्रेस से मतभेद का एक अन्य कारण भी था। सन् १९२० ई० की नागपुर कांग्रेस में असहयोग का जो कार्यक्रम स्वीकार किया गया था, उसमें अस्पृश्यता-निवारण को भी स्थान दिया गया था। स्वामीजी ने इसका हृदय से स्वागत किया, और कांग्रेस की कार्य-कारिणी समिति को यह प्रस्ताव भेजा कि अस्पृश्यता-निवारण के निश्चय को क्रियान्वित करने के प्रयोजन से एक उपसमिति नियुक्त की जाए और उसे पाँच लाख रुपये तक व्यय करने का अधिकार दिया जाए। यह प्रस्ताव कुछ परिवर्तनों के साथ कार्यकारिणी समिति ने स्वीकार तो कर लिया, पर इसके लिए समुचित धनराशि प्रदान करने में आनाकानी शुरू कर दी। स्वामीजी अछूतोद्धार को बहुत महत्त्व देते थे। उन्होंने देखा कि अंग्रेजी सरकार अछूतों को हिन्दुओं से पृथक् करने के लिए प्रयत्नशील है और डॉक्टर अम्बेदकर आदि अनेक नेता भी अछूतों की पृथक् सत्ता की स्वीकृति के लिए आन्दोलन में तत्पर हैं। इस दशा में स्वामीजी ने अस्पृश्यता-निवारण के कार्य को कांग्रेस से स्वतन्त्र रहकर करने का निश्चय किया और दलितोद्धार सभा की स्थापना की। मुसलमानों के तन्ज़ीम तथा तबलीग़ के आन्दोलनों और अस्पृश्यता-निवारण की समस्या के प्रति कांग्रेस का जो रुख था, उसके कारण स्वामीजी ने कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया। परिणाम यह हुआ कि बहुत-से आर्यसमाजी भी कांग्रेस के प्रति असन्तोष अनुभव करने लग गये।

सन् १९२३ में कोकनाडा में कांग्रेस का अड़तीसवाँ वार्षिक अधिवेशन मौलाना मुहम्मद अली की अध्यक्षता में हुआ। कांग्रेस के रचनात्मक कार्य पर इस अधिवेशन में विशेष जोर दिया गया। अस्पृश्यता-निवारण के सम्बन्ध में अपने अध्यक्षीय भाषण में मौलाना मुहम्मद अली ने यह सुझाव पेश किया कि देशभर के अछूतों को दो बराबर-

बराबर भागों में बाँट दिया जाए। एक भाग में हिन्दू प्रचारक काम करें और दूसरे में मुसलमान मौलवी। दोनों अपने-अपने ढंग से अछूतोद्धार के लिए प्रयत्न करें। यदि कांग्रेस के नेता मौलाना के इस सुझाव का कांग्रेस के अधिवेशन में खुलकर विरोध करते, तो इसका विशेष दुष्परिणाम न होता। पर क्योंकि किसी भी जिम्मेदार कांग्रेसी नेता ने मौलाना के विचार का प्रतिवाद नहीं किया, अतः स्वामी श्रद्धानन्द तथा उनके अनुयायी आर्यसमाजियों ने यही समझा कि कांग्रेस अछूतोद्धार की उस पद्धति के पक्ष में नहीं है, जिसका कि समाज द्वारा चिरकाल से अनुसरण किया जाता रहा है। इस दशा में उनके लिये केवल यही मार्ग शेष रह गया कि वे कांग्रेस से पृथक् होकर अपने ढंग से अस्पृश्यता-निवारण के प्रयत्नों को जारी रखें।

कांग्रेस से पृथक् होकर स्वामी श्रद्धानन्द ने अपनी सब शक्ति हिन्दू संगठन, शुद्धि और अछूतोद्धार पर लगा दी। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किये, उन पर इस 'इतिहास' के दूसरे भाग में प्रकाश डाला जा चुका है।

(३) महात्मा गांधी और आर्यसमाज

खिलाफत आन्दोलन के विफल होने के पश्चात् भारत में हिन्दू-मुस्लिम समस्या ने जो गम्भीर रूप धारण कर लिया था, उसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। मलाबार और मुलतान के बाद दिल्ली, गुलबर्गा, नागपुर, लखनऊ, जबलपुर, इलाहाबाद और कोहाट आदि कितने ही स्थानों पर हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। इनके कारण सर्वत्र हिन्दुओं और मुसलमानों में तनाव रहने लगा। गोकुशी, मस्जिद के सामने बाजा आदि बातों को लेकर कहीं भी साम्प्रदायिक विद्वेष उभर जाता और हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो जाता। कांग्रेस इस दशा से परेशान थी। उसकी ओर से सन् १९२४ में दंगों के कारणों पर विचार करने के लिए एक कमेटी की नियुक्ति की गई, जिसके सदस्य महात्मा गांधी और मौलाना शौकत अली थे। ये दोनों नेता दंगों के कारणों पर किसी एक निर्णय पर नहीं पहुँच सके, पर गांधीजी ने हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष की विवेचना करते हुए अंग्रेजी भाषा के अपने पत्र 'यंग इण्डिया' के २८ मई १९२४ ई० के अंक में एक लेख लिखा, जिसमें आर्यसमाज पर अनेक आक्षेप किये गये और उसी को साम्प्रदायिक विद्वेष के लिये मुख्य रूप से उत्तरदायी ठहराया गया। इस लेख के कतिपय अंश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

"स्वामी श्रद्धानन्द जी पर भी अविश्वास किया जाता है। मैं जानता हूँ कि उनकी वक्तृतायें बहुधा असन्तोष पैदा करने वाली होती हैं। परन्तु वे भी हिन्दू मुस्लिम मेल के इच्छुक हैं। दुर्भाग्य से उन्हें इस बात की सम्भावना पर विश्वास है कि वे प्रत्येक मुसलमान को आर्य बना सकेंगे, ठीक उसी तरह जैसा बहुधा मुसलमान समझते हैं कि एक दिन समस्त मुसलिमेतर मुसलमान हो जावेंगे।

"श्रद्धानन्द जी निडर और बहादुर हैं। उन्होंने अकेले ही पवित्र गंगा तट पर एक शानदार रिहाइशी कालिज (गुरुकुल कांगड़ी) बना दिया था। उन्हें अपने-आप पर और अपने मिशन पर विश्वास है। परन्तु वे उतावले हैं और अपने इसी उतावलेपन से शीघ्र नाराज हो जाते हैं। उन्होंने आर्यसमाज की रवायात (रंग-ढंग) विरासत में प्राप्त की है।

"मेरे हृदय में, स्वामी दयानन्द सरस्वती के लिए बड़ा मान है। मैं समझता हूँ

कि उन्होंने हिन्दू-धर्म की भारी सेवा की है। उनकी वीरता में सन्देह करने की गुंजाइश नहीं है। परन्तु उन्होंने अपने धर्म को संकुचित बना दिया है। मैंने आर्यसमाजियों की बाइबिल 'सत्यार्थ प्रकाश' को पढ़ा है। जब मैं यरवदा जेल में आराम कर रहा था तो कुछेक मित्रों ने उसकी तीन कापियाँ मेरे पास भेजी थीं। मैंने इतने बड़े सुधारक के रचे ऐसे निराशाजनक किसी ग्रन्थ को नहीं पढ़ा। स्वामी दयानन्द ने सत्य और केवल सत्य पर खड़े होने का दावा किया है। परन्तु उन्होंने अनजान से जैन धर्म, इस्लाम, ईसाइयत और स्वयं हिन्दू धर्म को अशुद्ध रूप में प्रकट किया है। जिन व्यक्तियों को इन मतों का सरसरी ज्ञान भी है, वे सुगमता से इन अशुद्धियों को, मालूम कर सकते हैं, जिनमें इस महान सुधारक को डाला गया है। उन्होंने पृथ्वी तल पर, अत्यन्त सहिष्णु और स्वतन्त्र सम्प्रदायों में से एक (हिन्दू सम्प्रदाय) को संकुचित बनाने का प्रयत्न किया है। यद्यपि वे मूर्तिपूजा के विरुद्ध थे परन्तु एक अत्यन्त सूक्ष्म रूप में मूर्तिपूजा का बोलबाला करने में सफल हुए हैं। उन्होंने वेदों के शब्दों की मूर्ति बना दी है और वेदों में विज्ञान-प्रतिपादित प्रत्येक विद्या के होने के प्रमाणित करने का यत्न किया है। मेरी सम्मति में, आर्यसमाज सत्यार्थप्रकाश की शिक्षाओं की उत्तमताओं से उन्नत नहीं हो रहा है अपितु उसकी उन्नति का कारण उसके संस्थापक का विशुद्ध चरित्र है। आप जहाँ कहीं भी आर्यसमाजियों को पावेंगे वहाँ जीवन और जागृति मिलेगी। परन्तु संकुचित विचार और लड़ाई-झगड़े की आदत से वे अन्य सम्प्रदाय वालों से लड़ते रहते हैं और जहाँ ऐसा नहीं वहाँ स्वयं आपस में लड़ते हैं। स्वामी श्रद्धानन्दजी को भी इस अभ्यास का अधिकांश मिला हुआ है, परन्तु इन सब त्रुटियों के होते हुए भी मैं उन्हें (स्वामी श्रद्धानन्द को) ऐसा नहीं समझता जिसके लिये (सुधार की) प्रार्थना न की जा सके। सम्भव है कि आर्य-समाज और स्वामी (श्रद्धानन्द) जी इस लेख से अप्रसन्न हों परन्तु यह कहने की आव-श्यकता नहीं कि मेरा उद्देश्य किसी को अप्रसन्न करना नहीं। मैं आर्यसमाजियों के साथ प्रेम रखता हूँ क्योंकि उनमें से कई मेरे सहकारी हैं। और मैंने स्वामी (श्रद्धानन्द) जी से उस समय प्रेम करना सीखा था, जब मैं दक्षिण अफ्रीका में था। यद्यपि अब मैं उन्हें भली-भाँति जानता हूँ तो भी उनसे कम प्रेम नहीं करता हूँ। यह मेरा प्रेम ही है जिससे ये बातें मैंने कही हैं।"

इस लेख के प्रकाशित होते ही आर्यसमाजी क्षेत्रों में एक तूफान-सा आ गया। सर्वत्र इसका प्रतिवाद किया जाने लगा। आर्यसमाजियों की मुख्य शिकायत यह थी कि गांधीजी ने पूरी जाँच-पड़ताल किये बिना ही एकतरफा फैसला दे दिया है, और स्वामी दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थप्रकाश तथा आर्यसमाज पर निराधार आक्षेप किये हैं। सार्व-देशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से गांधीजी के लेख के उत्तर में एक घोषणा-पत्र हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में प्रकाशित किया गया (१८ जून, १९२४)। हिन्दी में यह घोषणापत्र इस प्रकार था—

"सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा ने महात्मा गांधीजी के उन नितान्त अप्रासंगिक और अवांछनीय वचनों को जो उन्होंने हिन्दू-मुसलिम तनाव से सम्बन्धित विज्ञप्ति द्वारा ता० २९ मई १९२४ ई० के "यंग इण्डिया" में प्रकाशित किये हैं, अत्यन्त दुःख और आश्चर्य के साथ पढ़ा है। आर्यसमाजी भारतवर्ष के अन्य समुदायों के साथ-साथ महात्मा गांधी को देश का सबसे माननीय राजनैतिक नेता समझता है। अतः आर्यसमाज के लिए

यह बहुत ही अप्रिय है कि वह उनके विनाशात्मक प्रोग्राम में एक नई बात के विरुद्ध आवाज उठाये। महात्मा जी ने उस लेख में, जो निरा राजनैतिक है, आर्यसमाज के धर्म पर आघात किया है। सभा यह कहने का साहस करती है कि राजनैतिक लेखों द्वारा धर्मों पर इस प्रकार का आघात एक राजनैतिक नेता के लिए धारण करने का, एक अनोखा ढंग और भयानक उदाहरण है, जिसके ऊपर यदि अमल किया गया तो वह समस्त देश को उत्तेजित कर देगा और उसे विरोधी दलों में विभाजित कर एक-दूसरे को लड़ा देगा। महात्मा जी के इन वचनों ने परिस्थिति को सुधारने के बजाय नई उलझनों का समावेश कर दिया है।

"इस अभागे विचार के प्रभावों को छोड़कर, जिसे महात्मा जी ने सर्वथा अनुचित रूप से आरम्भ किया है, तमाम समझदार लोग अवश्य स्वीकार करेंगे कि आर्यसमाजी राजनैतिक कार्यकर्ता अपने नायक के प्रति निश्चल भक्ति को,उस समय तक निरन्तर खतरे में पायेंगे, जब तक कि उनके (महात्मा जी के) राजनैतिक प्रोग्राम में से आर्यसमाजियों के कुछेक धार्मिक सिद्धान्तों का विरोध और उनके धार्मिक आन्दोलन को बदनाम करना बन्द न हो जावेगा। यह बात नोट कर लेनी चाहिये कि महात्मा जी ने स्पष्ट रूप से कहा है कि उन्होंने आर्यसमाजियों के हृदय को चोट पहुँचाने वाले वाक्यों का जान-बूझकर प्रयोग किया है क्योंकि उनकी सम्मति में वे देश की परिस्थिति से सम्बन्धित हैं। दूसरे शब्दों में(महात्मा जी के लिये) हिन्दू मुसलिम एकता उस समय तक असम्भव है, जब तक कि आर्यसमाज वेदों के शब्दों के अनादित्व में विश्वास रखता है और सत्यार्थप्रकाश की शिक्षाओं को मानता है। अध्यात्मविद्या से सम्बन्धित जिन धार्मिक प्रश्नों को महात्मा जी ने उठाया है, उन्हें, उन्होंने प्रमाणों से पुष्ट किये बिना ही रूढ़िवाद के ढंग से बयान किया है। ऐसी दशा में सभा यही कर सकती है कि वह इस बात को दोहराये कि वेदों के अनादित्व के विश्वास का जन्म ऋषि दयानन्द से नहीं हुआ। यह युक्तियुक्त विश्वास तो समस्त उपनिषद्कारों, समस्त दर्शनों के रचयिताओं और शंकर, रामानुज, माधव, तमाम मध्यकालीन आचार्यों का रहा है (कि वेद अनादि है)। महात्मा गांधी का बयान कि यह (वेद के अनादित्व का) सिद्धान्त ऋषि दयानन्द के मस्तिष्क की उपज है, इस बात को साफ तौर से प्रकट करता है कि वे न तो हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थों का ज्ञान रखते हैं और न उनके इतिहास की जानकारी रखते हैं। महात्मा गांधी का यह विचार भी गलत है कि सिद्धान्तों में दृढ़ होना किसी सम्प्रदाय को संकुचित बनाता है और सिद्धान्तों में अस्थिर और अनिश्चित होना उदार बनाता है। महात्मा गांधी कदाचित् ऐसा समझते हैं कि हिन्दुओं के परिमित सिद्धान्त न होते और जिसका जी चाहे उसे मानकर हिन्दू कहलाने से वह हिन्दू मत की उदारता का रूप था। इस पर इस सभा का कहना यह है कि परिमित न होने से हिन्दू सम्प्रदाय के सिद्धान्त क्या हैं किसी पर प्रकट नहीं किया जा सकता था और इसलिये क्रियात्मक रूप देने के लिए वह (हिन्दू सम्प्रदाय) सर्वथा अयोग्य था।

"शुद्धि करना वैदिक धर्म का सदैव से एक आवश्यक अंग रहा है। पुराण और भारतीय इतिहास इस बात का समर्थन करते हैं कि बहुत-से अवसरों पर लाखों गैर-हिन्दू वैदिक धर्म में सम्मिलित कर लिये गये। वैदिक धर्म अवश्य ही मौलिक रूप से एक समय विश्वभर का मिशनरी धर्म था। आर्यसमाज ने अनुचित ढंग से शुद्धि का कभी

समर्थन नहीं किया। शुद्धि के जिस ढंग को महात्मा गांधी ईसाइयों की नकल समझते हैं असल में वह वैसा नहीं है। जब कभी और जहाँ कहीं शुद्धि की गई, सभ्यता और पवित्रता के साथ की है। यदि कहीं किसी ने इसके विरुद्ध अमल किया है तो उसने अपने को उत्कृष्ट आचार्य दयानन्द की शिक्षाओं से पतित किया है। सत्यार्थप्रकाश के अन्तिम चार समुल्लास सत्य के पक्ष को आगे बढ़ाने के लिये ही लिखे गये थे और ऋषि का मुख्य उद्देश्य उनके लिखने से तमाम मतमतान्तरों के मनुष्यों के लिये प्रेम प्रकट करना ही था। उनकी यह इच्छा थी कि वे लोग असत्य को त्याग कर सार्वभौमिक धर्म को अपने जीवन में अपना पथप्रदर्शक बनावें क्योंकि इन मतमतान्तरों के अनेक सिद्धान्त सार्वभौमिक धर्म के नियमों के विरुद्ध थे। इससे यह परिणाम निकालना ठीक नहीं कि ऋषि दयानन्द ने जो आलोचना की वह अनुचित और समयानुकूल नहीं थी। ऋषि के महान् व्यक्तित्व के लिये उस समय के हिन्दू, मुसलमान और ईसाई सभी पुरुष इस बात को भली प्रकार जानते थे और स्वीकार करते थे कि महर्षि का हृदय केवल अपने जैसे विचार वालों के लिए प्रेम से परिपूर्ण नहीं था अपितु उनका प्रेम प्राणिमात्र के लिये था और उनके हृदय में परमात्मा की सन्तान में से किसी भी व्यक्ति के प्रति द्वेष नहीं था। ऋषि संसार के सब से महान् उदार धार्मिक सुधारकों में से एक थे। सभा को इस बात पर अत्यन्त खेद है कि महात्मा गांधी ने अपमानसूचक, द्वेषपूर्ण और अपने सर्वथा मिथ्या बयान द्वारा यह फैलाया है कि आर्यसमाजी धर्म-परिवर्तन के उद्देश्य से स्त्रियों को भगाते हैं। महात्मा जी जैसे जिम्मेदार नेता को बिना तहकीकात किये इस प्रकार का झूठा बयान प्रकाशित कर देने से पूर्व यह सब कुछ अच्छी तरह से जान लेना चाहिये था कि इसमें कहाँ तक सत्यता है।

"यह सभा इस बात को रिकार्ड पर रखना चाहती है कि महात्मा गांधी के ऋषि दयानन्द के सम्बन्ध में निम्न वाक्यों ने बड़ा रोष फैला दिया है—"ऋषि दयानन्द का दावा था कि वह सच्चाई के लिए खड़े हुए हैं परन्तु उन्होंने अनजान से जैन, इसलाम, ईसाइयत और हिन्दुत्व को गलत तरीके से पेश किया है। इन मतों से एक सरसरी जानकारी प्राप्त करने के बाद यह त्रुटि आसानी से मालूम हो सकती थी जिसमें इतना बड़ा सुधारक धोखे में पड़ गया।" यह शब्द ऋषि के मान को घटाने के उद्देश्य से लिखे गये हैं और अपने समय के सबसे बड़े वैदिक विद्वान् पर, जिनका गहरा पाण्डित्य, अगाध विद्या, विशाल स्वाध्याय, तेज विश्लेषण शक्ति, अतुल बुद्धि पर सन्देह नहीं हो सकता, यह अनुचित आक्षेप है।

"यह सभा आर्यसमाजियों से यह आशा रखती है कि जिस समय वे महात्मा गांधी के उनके धर्म पर किये गये अप्रासंगिक और अनुचित प्रहारों का विरोध करें उनके व्यक्तित्व का जिस आदर का वह पात्र है ध्यान में रक्खें।"

उस समय सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान महात्मा नारायण स्वामी थे, और उन्हीं के हस्ताक्षर से यह घोषणा-पत्र जारी किया गया था। इसे तैयार करने के लिए सभा की अन्तरंग सभा की बैठक मसूरी में हुई थी। आर्यसमाजी क्षेत्रों के अतिरिक्त अन्यत्र भी गांधीजी के लेख के प्रतिवाद में आवाज उठाई गई, और देश के बहुसंख्यक विचारकों ने यह मत अभिव्यक्त किया कि गांधीजी ने अपने लेख में आर्यसमाज के प्रति न्याय नहीं किया है। आर्यसमाज के एक डेपुटेशन ने महात्मा गांधी से इस प्रयोजन

से भेंट की कि महर्षि दयानन्द सरस्वती, स्वामी श्रद्धानन्द, सत्यार्थप्रकाश और आर्य-समाज के विषय में उन्हें जो भ्रम हैं, उनको दूर करने का प्रयत्न किया जाए। इस डेपुटेशन के मुख्य सदस्य निम्नलिखित आर्य सज्जन थे—पण्डित आर्यमुनि, पण्डित रामचन्द्र देहलवी, पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति और लाला ज्ञानचन्द ठेकेदार। पर उन्हें अपने उद्देश्य में विशेष सफलता नहीं हुई। वस्तुतः, इस समय में महात्मा गांधी मुसलमानों की सद्भावना प्राप्त करने और उन्हें कांग्रेस में शामिल रखने को बहुत महत्त्व देते थे। खिलाफत-आन्दोलन के समय जिन अनेक मौलानाओं ने कांग्रेस के साथ सहयोग किया था, वे बाद में भी महात्माजी के साथ सम्पर्क में रहे और उनके विचारों को प्रभावित करते रहे। इस्लाम के प्रति उनकी तत्कालीन भावना को स्पष्ट करने के लिये 'यंग इण्डिया' के ये उद्धरण पर्याप्त हैं—

"जब पश्चिम अन्धकार के गर्त में पड़ा था, पूर्वी क्षितिज पर एक तारा चमका और समस्त संसार को उसने प्रकाश और सुख पहुँचाया। इस्लाम कोई झूठा मजहब नहीं है। अगर हिन्दू इसे सच्चे दिल से शान्तिपूर्वक पढ़ें तो वे इसका उतना ही आदर करेंगे, जितना कि मैं करता हूँ।"

"मुझे तो इस्लाम में गुण दिखाई दिये। इसलिये मैंने कहा कि यह झूठा धर्म नहीं है। यह कहने की जरूरत इस लिये हुई कि इस्लाम पर आक्रमण होते हैं और मुसलमान भाइयों से मैं मैत्री रखना चाहता हूँ। इसीलिये मैंने उनके धर्म का पक्ष लिया। सबको अपना धर्म औरों से श्रेष्ठ मालूम होता है। इसी कारण हिन्दू धर्म मुझे झूठा नहीं लगता, अपितु सबसे श्रेष्ठ प्रतीत होता है।"

इस्लाम के धार्मिक नेता उस समय शुद्धि और हिन्दू संगठन के विरुद्ध जहर उगल रहे थे, पर महात्मा गांधी ने उनके इस कृत्य को भी आपत्तिजनक नहीं समझा। लखनऊ के मौलाना अब्दुल बारी ने यह घोषणा की थी कि "शुद्धि के आन्दोलन को कुचलने के लिए हम प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करेंगे, और इसे हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं।...मैं स्पष्ट रूप से कह देना चाहता हूँ कि प्रत्येक विपक्षी व शत्रु से यहाँ तक कि अंग्रेजों से भी सुलह हो सकती है, परन्तु इस्लाम का परित्याग करने वालों के साथ सुलह असम्भव है।" एक अन्य स्थान पर मौलाना अब्दुल बारी ने पुनः कहा था—"साँप और बिच्छुओं से हमारी सुलह हो सकती है, पर इस्लाम छोड़ने वालों और छुड़ाने वालों से नहीं।" इस कथन में मौलाना साहब का संकेत शुद्धि आन्दोलन के उन नेताओं की ओर था, जो मुस्लिम राजपूतों को पुनः हिन्दू धर्म में ले आने का प्रयत्न कर रहे थे। जब गांधीजी का ध्यान मौलाना अब्दुल बारी के इन कथनों की ओर आकृष्ट किया गया, तो अपने पत्र 'नवजीवन' में उन्होंने लिखा—"मौलाना अब्दुल बारी साहब को मेरे सामने एक मजहबी दीवाने के रूप में रखा गया है और हिन्दुओं का सबसे बड़ा शत्रु बताया गया है। आपके कई लेख भी मेरी दृष्टि के सामने हैं, परन्तु मैं उनका अभिप्राय समझने में अशक्त हूँ। मैंने उनके सम्बन्ध में मौलाना से आग्रह भी नहीं किया, क्योंकि मैं उन्हें ईश्वर का निरपराध बालक समझता हूँ।"

महात्मा गांधी के लेख के कारण आर्यसमाजी जगत् में जो तूफान उठ खड़ा हुआ था, और उसके प्रतिवाद में जो पत्र व तार बहुत बड़ी संख्या में उनके पास पहुँच रहे थे, उन्होंने उन्हें अपने लेख पर पुनर्विचार के लिए विवश किया। महात्माजी सत्य के ग्रहण

में संकोच नहीं करते थे। उन्होंने यह अनुभव कर लिया कि महर्षि दयानन्द सरस्वती, स्वामी श्रद्धानन्द और आर्यसमाज के विषय में जो कुछ वह २८ मई के लेख में लिख गये थे, उसमें कुछ भूलें भी थीं। बाद में अनेक नोट आदि लिखकर उन्होंने अपने विचारों को नया परिमार्जित रूप देने का प्रयत्न भी किया; पर जो भूल वह कर बैठे थे, उसका पूर्णतया निराकरण कर सकना सम्भव नहीं था। इसी का यह परिणाम हुआ कि जहाँ मुसलमानों में आर्यसमाज के प्रति कटुता की भावना में वृद्धि हुई, वहाँ साथ ही देश के अनेक राजनैतिक नेता व विचारक भी साम्प्रदायिक वैमनस्य के लिए आर्यसमाज को दोष देने लगे।

तन्ज़ीम और तबलीग़ तथा शुद्धि और हिन्दू संगठन के आन्दोलनों के कारण हिन्दू-मुस्लिम समस्या निरन्तर विकट रूप धारण करती जा रही थी। स्थान-स्थान पर साम्प्रदायिक दंगे हो रहे थे। स्थिति इतनी बिगड़ गई थी कि सितम्बर, सन् १९२४ में गांधीजी ने इक्कीस दिन का उपवास इस प्रयोजन से किया कि जनता का ध्यान इस महत्त्वपूर्ण समस्या की ओर आकृष्ट हो, और वह हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए जागरूक व प्रयत्नशील हो जाए। गांधीजी के इक्कीस दिन के उपवास ने भारत को आमूल चूल हिला दिया। २६ सितम्बर से २ अक्टूबर (१९२४ ई०) तक एक एकता सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें विविध धर्मों के नेताओं ने भाग लिया। आर्यसमाज का प्रतिनिधित्व स्वामी श्रद्धानन्द और लाला लाजपतराय द्वारा किया गया। सम्मेलन में भाषण देते हुए स्वामी श्रद्धानन्द ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि अपने मन्तव्यों का प्रचार करने और धर्म-परिवर्तन का सबको समान रूप से अधिकार है। स्वामीजी ने यह भी घोषणा की कि यदि समय की आवश्यकता व परिस्थिति को दृष्टि में रखकर मुसलमान तबलीग को बन्द करने को तैयार हो जाएँ, तो शुद्धि-आन्दोलन को भी रोका जा सकता है। पर किसी भी मुस्लिम नेता व धर्माचार्य ने तबलीग को सामयिक रूप से भी बन्द करने के लिए सहमति प्रकट नहीं की। परिणाम यह हुआ कि एकता सम्मेलन कोई ऐसा कार्यक्रम निर्धारित नहीं कर सका, जिस द्वारा हिन्दू-मुस्लिम समस्या का समाधान हो सके। सम्मेलन ने एक केन्द्रीय पंचायत अवश्य कायम कर दी, और उसमें सब धर्मों के नेताओं को सदस्यरूप में सम्मिलित भी कर लिया गया। पर ये सब प्रयत्न साम्प्रदायिक विद्वेष को शान्त कर सकने में असफल रहे। हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष इस समय इतना अधिक बढ़ गया था कि २३ दिसम्बर १९२६ में एक धर्मान्ध मुसलमान ने स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या कर दी। इस हत्या से साम्प्रदायिक समस्या और भी अधिक उग्र हो गयी। कांग्रेस ने इसे हल करने के जो भी प्रयत्न किये, वे सब असफल हो गये।

शुद्धि के आन्दोलन को रोकने के लिए मुसलमान केवल स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या करके ही शान्त नहीं हो गये, उन्होंने अन्य आर्यजनों की हत्या के सिलसिले को बाद में भी जारी रखा। प्रथम आर्य महासम्मेलन (१९२७ ई०) के अध्यक्ष-पद से भाषण देते हुए महात्मा हंसराज ने इस सम्बन्ध में कहा था—"श्री स्वामी श्रद्धानन्द को बलिदान हुए आज ११ मास बीत रहे हैं और इन ११ मासों में न्यूनाधिक एक दर्जन ऐसी दुर्घटनाएँ हो चुकी हैं, जिनमें मुसलमानों ने शुद्धि या हिन्दू संगठन के कार्य करने वालों पर हत्याकारी आक्रमण किये हैं। श्री स्वामी श्रद्धानन्द के बाद बहराइच के महाशय बदरीशाह की और आबू रोड के महाशय भैरोंसिंह जी की हत्या की गयी और यह क्रम जारी रहा, यहाँ तक कि अब महाशय राजपाल और स्वामी सत्यानन्द पर प्राणनाशक प्रहार किये गये। महाशय

राजपाल के विषय में सम्भव है कहा जाए कि मुसलमान उनसे इसलिये रुष्ट थे क्योंकि उन्होंने हजरत मुहम्मद के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी, किन्तु मुसलमानों के पास इस बात का बहाना क्या है कि एक मुसलमान ने स्वामी श्रद्धानन्दजी की हत्या कर दी जिनके लेक्चर और उपदेश खुद मुसलमान पसन्द करते थे और एक बार तो उन्हें दिल्ली की जामा मस्जिद के मिम्बर पर खड़ा करके उनका उपदेश सुना गया ? फिर देवतास्वरूप स्वामी सत्यानन्दजी ने मुसलमानों का क्या बिगाड़ा था जो उन पर भी खूनी हमला किया गया ? वे तो सदा मधुर बोलने और लिखने में प्रसिद्ध हैं। उन्होंने तो कभी किसी का हृदय नहीं दुखाया।···निस्सन्देह यह अत्यन्त शोक और घृणा की बात है कि कुछ मुसलमानों की ओर से लगातार हिन्दुओं और आर्यों पर हत्याकारी आक्रमण हो रहे हैं।···ऐसे बलिदान तो धर्म-प्रचार के मार्ग को परिष्कृत करने में बड़े सहायक सिद्ध होते हैं। वह उन पहाड़ों को डायनामाइट की तरह उड़ा देते हैं जो धर्म-प्रचार के मार्ग में बाधक होकर खड़े होते हैं। इसलिये मैं ऐसे हत्याकाण्डों से निराश नहीं होता, प्रत्युत संसार में वैदिक धर्म के प्रचार की कामना को बहुत शीघ्र पूरा होने का चिह्न समझता हूँ। परन्तु किसी सभ्य गवर्नमैण्ट के लिए यह बहुत लज्जाजनक बात है कि उसकी छत्रछाया में रहने वाली प्रजा का केवल इसलिये वध होता रहे कि वह अपने धर्म का प्रचार करती है। इसलिये गवर्नमैण्ट का कर्त्तव्य है कि वह बहुत शीघ्र ऐसा प्रबन्ध करे जिससे ऐसी दुर्घटनाएँ सदा के लिए बन्द हो जाएँ। इसके लिए सबसे प्रथम इस बात की आवश्यकता है कि जो लोग इस प्रकार की धार्मिक हत्या में भाग लें, उनको कानून के अनुसार कठिन-से-कठिन दण्ड दिये जावें और ऐसे अभियोगों का निबटारा भी शीघ्र हुआ करे। दूसरी बात यह आवश्यक है कि गवर्नमैण्ट देखे कि इन लगातार होने वाली हत्याओं की जड़ में क्या बात काम कर रही है ? क्या यह केवल व्यक्तिगत धार्मिक उन्माद का फल है या किसी षड्यन्त्र का परिणाम ? गवर्नमैण्ट में इतनी शक्ति है कि वह षड्यन्त्र का पता लगा सके और उसे जड़-मूल से उखाड़कर इस हत्याकाण्ड को बन्द कर सके। तीसरी बात गवर्नमैण्ट से नहीं वरन् आर्य हिन्दुओं से सम्बन्ध रखती है और वह यह है कि हमें कदापि यह सहन नहीं करना चाहिए कि हम सुगमता से मारे और आहत किये जाते रहें, वरन् प्रत्येक आर्य हिन्दू को अपनी आत्मरक्षा के लिए तैयार रहना चाहिए ताकि कोई उस पर आक्रमण न कर सके और हत्याकारी भागकर न्याय और दण्ड के चंगुल से अपने को न बचा सके।"

महात्मा हंसराज के ये शब्द आर्यसमाजियों के उस समय के मनोभावों को भली-भाँति स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। मुसलमानों द्वारा आर्य नेताओं व कार्यकर्त्ताओं पर निरन्तर किये जाने वाले हिंसात्मक आक्रमणों से आर्यसमाज का विक्षुब्ध व आक्रुष्ट होना सर्वथा स्वाभाविक था। महात्माजी ने जहाँ इन हत्याकाण्डों को रोकने के लिए सरकार को अपने कर्त्तव्यों का बोध कराया, वहाँ साथ ही आर्य हिन्दुओं को आत्मरक्षा के लिए सन्नद्ध रहने की भी प्रेरणा दी। वस्तुतः, मुसलमानों के इन आक्रमणों के कारण हिन्दुओं में संगठन के आन्दोलन ने बहुत जोर पकड़ लिया था, और वे अपने संकीर्ण संस्कारों को भुलाकर शुद्धि द्वारा विधर्मियों को अपने समाज का अंग बनाने के लिए भी उद्यत हो गये थे। सन् १९२३ ई० से १९२८ ई० तक के काल का इस दृष्टि से महत्त्व है कि इसमें स्वराज्य-संघर्ष मन्द पड़ गया था, और हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के कारण साम्प्रदायिक समस्या विकट रूप ग्रहण करती जा रही थी।

सन् १९२३ से १९२८ तक के काल में भारत में स्वराज्य के लिए असहयोग व सत्याग्रह के समान कोई उग्र आन्दोलन नहीं हुआ। इस काल में कांग्रेस के सम्मुख यही प्रमुख कार्य रह गया था कि उसके कार्यकर्ता रचनात्मक कार्यों में संलग्न रहें। इस कार्य-क्रम के मुख्य अंग निम्नलिखित थे—खादी का प्रचार, अस्पृश्यता का निवारण, मादक वस्तुओं का बहिष्कार तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता। आर्यसमाज के अनेक नेता तथा कार्य-कर्ता इस काल में हिन्दू संगठन तथा शुद्धि के आन्दोलनों में सक्रिय रूप से भाग लेने लगे थे, और कांग्रेस के साथ उनका विशेष सम्बन्ध नहीं रह गया था। पर यह स्थिति देर तक नहीं रही। फरवरी, सन् १९२८ में जब साइमन कमीशन ने भारत में पदार्पण किया, तो स्वाधीनता-संघर्ष ने फिर उग्ररूप धारण करना प्रारम्भ कर दिया। साइमन कमीशन का सर्वत्र बहिष्कार किया गया, और आर्यसमाजी नेताओं व कार्यकर्ताओं ने भी इस बहिष्कार में उत्साहपूर्वक भाग लिया। कमीशन के लाहौर आने पर उसके विरुद्ध जो प्रदर्शन किया गया, उनका नेतृत्व लाला लाजपतराय कर रहे थे। बहुत-से अन्य आर्यसमाजी भी इस प्रदर्शन में शामिल थे। पुलिस ने प्रदर्शनकारियों पर लाठियों की वर्षा की, जिससे लालाजी भी सख्त घायल हो गये। दिल्ली, लखनऊ, पटना आदि जहाँ कहीं भी साइमन कमीशन गया, उसके विरुद्ध आयोजित प्रदर्शनों में आर्य नर-नारियों का प्रमुख कर्तृत्व था।

सन् १९३० में महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस द्वारा सत्याग्रह-आन्दोलन का पुनः प्रारम्भ किया गया। इस समय तक साम्प्रदायिक विद्वेष में कुछ कमी आ गई थी। तुर्क साम्राज्य और खलीफा के अभाव में भारत के खलीफत-आन्दोलन में कोई दम नहीं रह गया था। साइमन कमीशन के बहिष्कार के कारण जनता में नई चेतना का प्रादुर्भाव हो गया था, और लोग स्वराज्य-संघर्ष के लिए पुनः कटिबद्ध हो गये थे। परिणाम यह हुआ कि १९३० के सत्याग्रह-आन्दोलन में आर्यसमाजियों ने भी बहुत उत्साह से भाग लिया, और उत्तर भारत में इस संघर्ष में आर्यसमाजियों का कर्तृत्व सर्वप्रधान रहा।

उनतीसवाँ अध्याय

भारत की राजनैतिक प्रगति और आर्यसमाज

(१) आर्य स्वराज्य सम्मेलन, मथुरा

महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस द्वारा स्वराज्य के लिए जो संघर्ष शुरू किया गया था, उसमें बहुत-से आर्यसमाजी सक्रिय रूप से भाग ले रहे थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं ने उनके हृदय में देशभक्ति तथा राष्ट्रीय स्वाधीनता की जो भावना प्रबल रूप से उत्पन्न कर दी थी, गांधीजी के आन्दोलन के कारण उन्हें स्वराज्य-प्राप्ति के लिए संघर्ष करने का सुवर्णावसर प्राप्त हो गया था। स्वाभाविक रूप से इन आर्यजनों की इच्छा थी कि भारत विदेशी शासन से मुक्त होकर शीघ्र स्वाधीनता प्राप्त कर ले और स्वतन्त्र भारत का शासन वैदिक आदर्शों के अनुरूप हो और उसमें आर्य-संस्कृति एवं परम्पराएँ सुरक्षित रहें। इस प्रयोजन से लाहौर में आर्य स्वराज्य सभा की स्थापना की गयी थी। डाक्टर सत्यपाल इस सभा के प्रधान थे। कांग्रेस और आर्यसमाज दोनों में उन्हें समान रूप से प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त था। फरवरी १९२५ ई० में महर्षि दयानन्द जन्म-शताब्दी महोत्सव बड़ी धूमधाम के साथ मथुरा में आयोजित किया गया था। इस अवसर पर न केवल भारत से ही, अपितु विदेशों से भी हजारों नर-नारी मथुरा में एकत्र हुए थे। स्वराज्य-आन्दोलन उन दिनों जोरों पर था। अतः स्वराज्य सभा लाहौर ने निश्चय किया कि इस अवसर पर एक 'आर्य स्वराज्य सम्मेलन' का भी आयोजन किया जाए जिससे कि भारत में सर्वत्र स्वराज्य सभाओं का संगठन किया जा सके। सम्मेलन की बैठकें १९ और २० फरवरी को हुईं।

सम्मेलन के प्रधान-पद के लिए आचार्य टी० एल० वास्वानी को निमन्त्रित किया गया था, और उन्होंने अपनी स्वीकृति भी दे दी थी। परन्तु अस्वस्थ होने के कारण वह मथुरा नहीं आ सके। उनके स्थान पर स्वामी श्रद्धानन्द को सम्मेलन का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। सम्मेलन की नियत तिथि से दो दिन पूर्व राष्ट्रीय विचारों के आर्यसमाजियों की एक सभा साधु-संन्यासियों के कैम्प में की गयी। इस सभा का उद्देश्य 'आर्य स्वराज्य सभा' की आवश्यकता के सम्बन्ध में लोकमत तैयार करना और साथ ही उसके नियमों व संगठन आदि के विषय में विचार-विमर्श करना था। कानपुर के प्रतिष्ठित देशभक्त नेता डाक्टर जवाहरलाल ने इस सभा की अध्यक्षता की और प्रायः सभी प्रान्तों से राष्ट्रीय विचारों के आर्य बड़ी संख्या में इसमें सम्मिलित हुए। जनता ने बड़े उत्साह के साथ सभा के कार्यों में भाग लिया। परिणाम यह हुआ कि ९०० के लगभग सज्जनों ने स्वराज्य सभा के उद्देश्यों से सहमत होकर प्रतिनिधि-रूप से आर्य स्वराज्य सम्मेलन में भाग लेना स्वीकार कर लिया। सम्मेलन का अधिवेशन बड़ी धूमधाम के साथ १९ फरवरी को प्रारम्भ हुआ।

सबसे पूर्व डाक्टर सत्यपाल ने प्रतिनिधियों का स्वागत करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती की राष्ट्रीय व राजनैतिक शिक्षाओं का उल्लेख किया, और आर्य स्वराज्य सभा के उद्देश्यों व प्रयोजनों पर प्रकाश डाला। प्रधान-पद से स्वामी श्रद्धानन्द ने जो भाषण दिया, वह अत्यन्त प्रभावशाली था। भाषण का प्रारम्भ उन्होंने स्वराज्य के लिए प्रार्थना के साथ किया, और यह बताया कि वेदों में स्वदेश को भी माता कहा गया है। अपने भाषण में उन्होंने कहा कि महर्षि दयानन्द की देशभक्ति किसी से छिपी नहीं है। वह एक अनुभवी सेनापति थे। उनके अनुयायी भी अपने में वीर सैनिकों का-सा जोश रखते हैं। जब तक वे कांग्रेस में काम करते रहे, तब तक उसमें जीवन रहा। आर्य जन्म से ही स्वराज्यप्रिय देशभक्त होता है। वह आर्य आर्य नहीं, जिसके हृदय में स्वराज्य के लिए प्रेम न हो। स्वामीजी ने महर्षि के राष्ट्रीय कार्यकलाप तथा राजनैतिक मन्तव्यों का विवेचन करते हुए आर्य स्वराज्य सभा के उद्देश्यों का वर्णन किया। उन्होंने यह विचार भी व्यक्त किया कि स्वराज्य-प्राप्ति के लिए सहनशीलता, परस्पर विश्वास, प्राणिमात्र से प्रेम, हृदय की शुद्धि और मातृभूमि से अगाध प्रेम की आवश्यकता है। स्वामी श्रद्धानन्द का शुरू से ही यह मन्तव्य रहा था कि राजनीति को धर्म व उच्च नैतिक आदर्शों पर आधारित होना चाहिए। आर्य स्वराज्य सम्मेलन के प्रधान-पद से भी उन्होंने इसी मन्तव्य की पुष्टि की थी।

प्रधान जी के भाषण के पश्चात् ११ सज्जनों की एक उपसमिति आर्य स्वराज्य सभा की नियमावली तैयार करने के लिए बनायी गयी, और इस उपसमिति को ही सम्मेलन में प्रस्तुत किए जाने वाले प्रस्तावों का प्रारूप तैयार करने का कार्य भी सुपुर्द कर दिया गया। उपसमिति के सदस्य निम्नलिखित सज्जन थे—स्वामी श्रद्धानन्द, पं० शान्ति स्वरूप, डाक्टर जवाहरलाल, श्री के० सी० भल्ला, श्री अमीरचन्द, स्वामी शिवानन्द, श्री ज्योतिस्वरूप, पण्डित बिहारीलाल, श्री अजितसिंह विद्यार्थी, पण्डित रामगोपाल और श्री रामचरण विद्यार्थी।

आर्य स्वराज्य सम्मेलन के २० फरवरी के अधिवेशन में जो प्रस्ताव स्वीकृत किए गये, उनमें निम्नलिखित महत्त्व के थे—(१) स्वराज्य-प्राप्ति और आर्य जगत् की आर्थिक स्थिति उन्नत करने के लिए यह सम्मेलन निश्चय करता है कि प्रत्येक आर्य खद्दर का व्यवहार करे तथा अन्य स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग करे। (२) यह सम्मेलन निश्चय करता है कि १०१ सभासदों की अखिल भारतीय स्वराज्य सभा बनायी जाए। (३) स्वराज्य-प्राप्ति के लिए दलितोद्धार अनिवार्य है, अतः यह सम्मेलन आर्य जनता से प्रार्थी है कि वह शीघ्र से शीघ्र दलित भाइयों की दशा को उन्नत करे और उनसे क्रियात्मक समानता का व्यवहार करे। (४) यह सम्मेलन अनुरोध करता है कि प्रत्येक आर्य-संस्था में धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ राजनीति का भी समुचित समावेश हो। (५) इस सम्मेलन की सम्मति में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त, जिससे भिन्न-भिन्न जातियों को म्युनिसिपैलिटियों तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्डों में और शिक्षा-संस्थाओं में पृथक् अधिकार दिए जाएँ, राष्ट्रीय उन्नति के मार्ग में अत्यंत बाधक और हानिकारक है, अतः यह सम्मेलन कांग्रेस आदि राजनैतिक संस्थाओं से आग्रहपूर्वक निवेदन करता है कि ऐसा समझौता न करें। (६) यह सम्मेलन निश्चय करता है कि हरेक आर्य राष्ट्र-निर्माण के लिए हिन्दी भाषा का प्रचार करे और आर्य-संस्थाओं से अनुरोध करता है कि वे अपने सारे कार्य आर्य-

भाषा और नागरी लिपि में करें। (७) यह सम्मेलन निश्चय करता है कि आर्य स्वराज्य सभा का प्रत्येक सभासद् नित्य व्यायाम करना अपना कर्त्तव्य समझे। (८) इस सभा का उद्देश्य आर्य सभ्यता की रक्षा करते हुए स्वराज्य स्थापित करना व कराना है। (९) यह सम्मेलन कोहाट की भीषण दुर्घटना के लिए अत्यन्त दुःख प्रकट करता हुआ वहाँ के पीड़ित हिन्दू भ्राताओं के साथ सहानुभूति प्रकट करता है और उन पर अत्याचार करने वालों के प्रति घृणा प्रकाश करता है। इस सम्मेलन की यह स्पष्ट सम्मति है कि सरकार ने हिन्दुओं की जान और प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए अपने को अयोग्य सिद्ध किया है। आर्य (हिन्दू) मात्र से निवेदन है कि वे इन दुःखित भाइयों की पूर्ण सहायता और उनके प्रति व्यावहारिक संवेदना करें।

एक अन्य प्रस्ताव द्वारा यह निश्चय किया गया था कि सम्मेलन का आगामी अधिवेशन दिसम्बर १९२५ ई० में कानपुर में कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन के साथ हो। एक प्रस्ताव में शताब्दी पर आयोजित आर्य-परिषद् द्वारा राजार्य सभा की स्थापना पर हार्दिक प्रसन्नता प्रकट की गयी थी। गो-रक्षा के सम्बन्ध में भी एक प्रस्ताव सम्मेलन में स्वीकृत किया गया था—"भारतीयों के स्वास्थ्य, सम्पत्ति और ऐश्वर्य-वृद्धि के लिए यह सम्मेलन निश्चय करता है कि प्रत्येक आर्य गौओं की उचित उपाय से रक्षा करे।" यह बात ध्यान देने योग्य है कि सरकारी आदेश या कानून द्वारा गौ-वध को पूर्णतया रोक दिये जाने की माँग इस प्रस्ताव में नहीं की गयी थी, जैसा कि बाद में आर्यसमाज द्वारा किया जाने लगा।

यह पहला अवसर था, जबकि आर्यसमाज ने एक संस्था या संगठन के रूप में देश की राजनीति को प्रभावित करने और स्वराज्य की प्राप्ति के लिए क्रियात्मक उपायों को अपनाने के मार्ग पर कदम बढ़ाने शुरू किये थे। इस समय कांग्रेस साम्प्रदायिक व जातिगत प्रतिनिधित्व को स्वीकार कर चुकी थी, पर आर्य स्वराज्य सम्मेलन ने उसके विरोध में आवाज उठाई। उस द्वारा यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया गया कि आर्यसमाज का उद्देश्य "आर्य-सभ्यता की रक्षा करते हुए स्वराज्य स्थापित करना या कराना है।" आर्यसमाज को वह स्वराज्य स्वीकार्य नहीं था, जिसमें आर्य-सभ्यता सुरक्षित न हो, या जो आर्य मान्यताओं व परम्पराओं के अनुकूल न हो।

(२) राजार्य सभा

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने राज्य के संचालन के लिए तीन सभाओं का प्रतिपादन किया है—विद्यार्य सभा, धर्मार्य सभा और राजार्य सभा। विद्यार्य सभा का कार्य विद्या का प्रचार तथा शिक्षा की व्यवस्था करना है। राज्य की रक्षा, स्थिति तथा समृद्धि उसके नागरिकों के चरित्र पर ही निर्भर करती हैं। अतः यह आवश्यक है कि उनमें सद्-गुणों के विकास का प्रयत्न किया जाए। धर्मार्य सभा का कार्य जनता को सच्चरित्र एवं कर्तव्यनिष्ठ बनाना है। कानून बनाना तथा सरकारी आदेशों को जारी करना राजार्य सभा के कार्य हैं। राज्य का संचालन इसी सभा द्वारा किया जाता है। किसी भी स्वतन्त्र व सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य के शासन को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए इन सभाओं की स्थापना की ही जानी चाहिए। आर्यसमाज के लिए इन मन्तव्यों को मानना सर्वथा स्वाभाविक था कि जब भारत स्वतन्त्र हो जाये, और उसके शासन के स्वरूप का

निर्धारण जनता द्वारा किया जाये, तो उसके संविधान की रूपरेखा इन तीन सभाओं पर आधारित हो। पर प्रश्न यह था कि जब भारत अंग्रेजों के अधीन है, तब भी क्या आर्य-समाज के लिए इन तीन सभाओं की कोई प्रासंगिकता है? महर्षि दयानन्द सरस्वती जन्म-शताब्दी महोत्सव (मथुरा) के अवसर पर आर्य विद्वानों ने इस प्रश्न पर विचार किया, और निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत किया—"यह परिषद् निश्चय करती है कि विद्या, धर्म और राज्यसभाएँ बनायी जाएँ। सम्प्रति इनके कर्तव्य इस प्रकार स्थिर किये जायें कि (१) विद्यार्य सभा—(क) संस्कृत और आर्य भाषाओं सम्बन्धी पाठशालाओं की, चाहे वे पुत्रों के लिए हों या पुत्रियों के लिए, पाठ-विधि बनाना, उनकी परीक्षा लेना और सनद देना; (ख) शिक्षा-सम्बन्धी समाज-संस्थाओं में संगठित करना; (२) धर्मार्य सभा—(क) समय-समय पर अपनी बैठकें करके उनके मतभेदों पर विचार करना जो इस समय उत्पन्न हो गये हैं अथवा भविष्यत् में उत्पन्न हों और इस प्रकार के सब मतभेदों को दूर करने में यत्नवान् होना, (ख) उन सन्देहों और शंकाओं को दूर करते रहना जो समय-समय पर आर्यों में उत्पन्न हों, (ग) विवादास्पद विषयों पर व्यवस्था देना; (३) राजार्य सभा—आर्यों के राजनैतिक अधिकारों की रक्षा करना और कौन्सिलों से आवश्यक कानून भी बनवाना।

जहाँ तक विद्यार्य सभा और धर्मार्य सभा का सम्बन्ध है, उनके कार्यों व स्वरूप को निर्धारित करने में आर्य विद्वानों को कठिनाई नहीं हुई। आर्यसमाज द्वारा बहुत-सी शिक्षण-संस्थाएँ संचालित की जा रही थीं और संस्कृत तथा हिन्दी की शिक्षा पर भी इन संस्थाओं द्वारा विशेष ध्यान दिया जा रहा था। आर्यसमाज विद्या के प्रचार में तत्पर था ही। विद्यार्य सभा का कार्य विद्या तथा शिक्षा का प्रसार ही था। धार्मिक मतभेदों को दूर करने तथा धर्म-विषयक सन्देहों का निराकरण करने के लिए धर्मार्य सभा की स्थापना में भी कोई कठिनाई नहीं थी। पर जब राजशक्ति अपने हाथों में न हो और देश के शासन का संचालन विदेशियों द्वारा किया जा रहा हो, तो राजार्य सभा की प्रासंगिकता पर मतभेद होना सर्वथा स्वाभाविक था। शासक वर्ग और सर्वसाधारण जनता के लिए सुखकारक और धर्मयुक्त कानून बनाना और 'सभाध्यक्ष राजा' की नियुक्ति करना महर्षि के अनुसार राजार्य सभा के कार्य थे। पराधीन देश में इन्हें कर सकना न आर्यसमाज के लिए सम्भव था, और न किसी अन्य संस्था व समुदाय के लिए। इस तथ्य को दृष्टि में रख-कर अनेक आर्य विद्वानों का विचार था कि राजार्य सभा का निर्माण अभी न किया जाए, पर बहुमत इसके विरोध में था। विवादग्रस्त होने के कारण इस मामले को एक उपसमिति के सुपुर्द कर दिया गया। उपसमिति ने जो रिपोर्ट दी, उसमें यह लिखा था कि यद्यपि वैदिक सिद्धान्त के अनुसार राजार्य सभा का काम प्रजा का शासन करना है परन्तु देश की वर्तमान अवस्थाओं में इस पर कार्य नहीं हो सकता। इसलिए इसका कार्य आर्यों के राजनैतिक अधिकारों की रक्षा करना तथा वैदिक राज-प्रणाली के सिद्धान्तों का प्रचार करना है।" साथ ही, उपसमिति द्वारा यह भी प्रस्ताव किया गया कि "प्रान्तिक प्रति-निधि सभाओं, सार्वदेशिक सभा और स्थानिक आर्यसमाजों के अधीन भिन्न-भिन्न राजार्य-सभाएँ बनायी जाएँ।" उपसमिति द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट की पहली बात पर अधिक मत-भेद नहीं था, पर विभिन्न स्तर के आर्यसामाजिक संगठनों के अधीन भिन्न-भिन्न राजार्य-सभाओं के निर्माण के प्रस्ताव का इस आधार पर उग्र विरोध किया गया कि ऐसा होने

पर अंग्रेजी सरकार तथा रियासतों की सर्विस के लोगों के लिए आर्यसमाज का सदस्य हो सकना सम्भव नहीं रहेगा। इस आशंका को युक्तियुक्त मानकर अन्त में यह निश्चय हुआ कि राजार्य सभा का निर्माण तो किया जाय, पर वह आर्यसमाज से सर्वथा स्वतन्त्र हो।

विचार-विमर्श के अनन्तर राजार्य सभा के नियम इस प्रकार निर्धारित किये गये—

नाम—इस सभा का नाम राजार्य सभा होगा।

उद्देश्य—यद्यपि राजार्य सभा का वास्तविक उद्देश्य वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार प्रजा का शासन करना है, तथापि देश की वर्तमान राजनैतिक दशा को देखते हुए इस समय इस सभा के निम्नलिखित परिमित उद्देश्य रखे जाएँ—(१) संसार के सम्मुख वैदिक राजनैतिक आदर्शों को रखना। (२) समय तथा आवश्यकतानुसार आर्यों के राजनैतिक हितों के संरक्षणार्थ यत्न करना। (३) स्वदेश के हित आर्यों को राष्ट्रीय कर्तव्यों का आदेश करना। (४) देश, काल और अवस्था के अनुसार यथासम्भव आर्यों के लिए न्याय विभाग (Arbitration Board) की स्थापना करना।

संगठन—इस समाज का संगठन (Constitution) निम्न प्रकार होगा—(१) यह राजार्य सभा आर्यसमाज से स्वतन्त्र होगी। (२) इस राजार्य सभा के सभासद् तीन प्रकार के होंगे—(क) आर्यसमाज के सभासद्, (ख) आर्य संन्यासी, (ग) वे आर्य वैदिक धर्मी जो आर्यसमाज के सिद्धान्तों और राजार्य सभा के उद्देश्यों से सहानुभूति रखते हों, परन्तु ऐसे सभासदों की संख्या 'क' और 'ख' श्रेणी के स्तम्भों के दशांश से ज्यादा न होगी।

इसमें सन्देह नहीं कि महर्षि जन्म-शताब्दी महोत्सव के अवसर पर आर्य विद्वानों ने राजार्य सभा के संबंध में जो निश्चय किया था, वह पूर्णतया उपयोगी तथा व्यावहारिक था। उसे क्रियान्वित कर आर्यसमाज देश की राजनैतिक गतिविधि व प्रगति को महर्षि के मन्तव्यों द्वारा प्रभावित तो कर सकता था, पर आर्यसमाज का स्वरूप एक राजनैतिक संस्था का नहीं बनता था। राजार्य सभा आर्यसमाज से सर्वथा स्वतन्त्र रहती, यद्यपि उसके बहुसंख्यक सदस्य आर्यसमाजी ही होते। सन् १९२५ ई० तक महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वराज्य-आन्दोलन ने जो व्यापक व गम्भीर रूप धारण कर लिया था, उसके कारण देश की स्वतन्त्रता के दिन दूर नहीं रह गये थे। अंग्रेजी प्रभुत्व से मुक्त हो जाने पर स्वतन्त्र भारत के शासन का क्या स्वरूप हो, इस प्रश्न पर भी देश के नेताओं ने विचार करना प्रारम्भ कर दिया था। आर्यसमाजी लोग स्वराज्य के संघर्ष में अपना तन-मन-धन अर्पित कर रहे थे। इस दशा में यदि राजार्य सभा का सुचारु रूप से संगठन हो जाता, और वह वैदिक राजनैतिक आदर्शों के अनुसार स्वतन्त्र भारत के निर्माण के लिए मार्ग-प्रदर्शन में तत्पर हो जाती, तो शायद अंग्रेजी शासन से मुक्त स्वतन्त्र भारत का स्वरूप ही दूसरा होता।

पर खेद है कि मथुरा में आर्य विद्वानों द्वारा किये गये निर्णय के अनुसार राजार्य सभा का संगठन नहीं हो सका। सन् १९२५ ई० के बाद भी अनेक राजनैतिक समस्याएँ आर्यसमाज के सम्मुख प्रस्तुत होती रहीं, उसके नगर-कीर्तनों पर सरकार द्वारा प्रतिबन्ध लगाये गये, पुलिस तथा सैनिकों ने समाज-मन्दिरों में प्रवेश कर यज्ञ-वेदियों को भ्रष्ट

किया और सत्यार्थप्रकाश पर प्रतिबन्ध लगाने का भी प्रयत्न किया गया। आर्यसमाज ने इनका प्रतिरोध करने के लिए सफल संघर्ष भी किये, पर राजार्य सभा का संगठन बनाने का कार्य उपेक्षित ही रहा। पर राजार्य सभा की स्थापना के विचार का अन्त नहीं हो गया। सन् १९३१ ई० में आर्य महासम्मेलन का जो अधिवेशन महात्मा नारायण स्वामी जी के सभापतित्व में बरेली में हुआ था, उसमें राजार्य सभा के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत किया गया था—"आर्य-संस्कृति की रक्षा और स्थिरता, आर्यसमाजियों की आये दिन बढ़ती हुई राजनैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा अन्य सम्प्रदायों की राजनैतिक प्रगतियों पर दृष्टि रखने तथा आवश्यकता और औचित्य के अनुसार उन्हें सहयोग देने के अभिप्राय से यह सम्मेलन निश्चय करता है कि एक राजार्य सभा की स्थापना की जाए तथा सार्वदेशिक सभा से प्रार्थना की जाए कि वह इस सभा को संगठित कर देवे। विचार के बाद निश्चय हुआ कि निम्न सज्जनों की उपसमिति बना दी जाए कि वह अपनी स्कीम बनाकर पेश करें—श्री महात्मा नारायण स्वामी जी, बाबू पूर्णचन्द जी, बाबू श्याम सुन्दरलाल जी, महाशय कृष्ण जी, पण्डित देव शर्मा जी (संयोजक), कुँवर चाँदकरण जी शारदा और प्रोफेसर ताराचन्द। पर इस प्रस्ताव के बाद भी राजार्य सभा का गठन नहीं हो सका, यद्यपि इस सभा के निर्माण का विचार आर्यजगत् में कायम रहा और अनेक आर्य नेता समय-समय पर इसे प्रबल रूप से प्रस्तुत करते रहे। राजार्य सभा के गठन के प्रश्न पर बाद में भी सार्वदेशिक आर्य महासम्मेलनों में विचार होता रहा और सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने भी इस सम्बन्ध में निर्णय लिये, जिनका उल्लेख अगले प्रकरण में यथास्थान किया जाएगा। बाद में इसी विचार-परम्परा को सम्मुख रखकर कतिपय आर्यसमाजियों ने 'आर्य सभा' नाम से एक ऐसे संगठन का निर्माण किया, जिसका मुख्य उद्देश्य आर्य प्रतिनिधि सभाओं तथा सार्वदेशिक सभा से पूर्णतया पृथक् व स्वतन्त्र रहकर महर्षि दयानन्द सरस्वती के राजधर्म-विषयक मन्तव्यों के अनुसार देश की राजनीति को प्रभावित करना था।

(३) राजनीति में आर्यसमाज के भाग लेने के विषय में आर्य नेताओं के विचार

महर्षि दयानन्द जन्म शताब्दी के दो वर्ष पश्चात् सन् १९२७ ई० में दिल्ली में प्रथम आर्य महासम्मेलन हुआ था। उसके प्रधान महात्मा हंसराज थे। राजार्य सभा के गठन का विचार उस समय प्रबल रूप से विद्यमान था, और स्वामी श्रद्धानन्द की नृशंस हत्या के कारण आर्य जनता में यह विचार निरन्तर जोर पकड़ रहा था कि आर्यसमाज के लिए देश की राजनैतिक गतिविधि से उदासीन रह सकना सम्भव नहीं है। सरकारी अफसरों द्वारा आर्यसमाज के कार्यकलाप में अनेक प्रकार से जो बाधाएँ डाली जा रही थीं, आर्य लोग उनसे भी चिन्तित थे। कांग्रेस के नेतृत्व में देश की राजनीति जो मोड़ ले रही थी, आर्यसमाज का उसके प्रति भी ध्यान था। पर आर्यसमाज को राजार्य सभा के रूप में अपना राजनैतिक संगठन बनाना चाहिये या नहीं—इस विषय पर दिल्ली के प्रथम आर्य महासम्मेलन द्वारा कोई मार्गप्रदर्शन नहीं किया गया। महात्मा हंसराज ने सम्मेलन के प्रधानपद से दिये अपने भाषण में भी इस प्रश्न पर कोई प्रकाश नहीं डाला। राजार्य सभा सम्बन्धी जो प्रस्ताव मथुरा की जन्म शताब्दी के अवसर पर आर्य-परिषद्

ने स्वीकार किया था, उसको क्रियान्वित करने के लिए उठाये गये पगों पर विचार-विमर्श करने का कोई विवरण इस सम्मेलन के वृत्तान्त में उपलब्ध नहीं है। सम्भवतः, राजार्य सभा की बात इस सम्मेलन में प्रस्तुत ही नहीं हुई। पर आर्य जनता इस सम्बन्ध में पूर्णतया उदासीन नहीं थी। इसी का यह परिणाम था कि चार वर्ष पश्चात् आर्य महासम्मेलन के बरेली में हुए द्वितीय अधिवेशन में न केवल राजार्य सभा के सम्बन्ध में पुनः एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, अपितु उसके प्रधान-पद से महात्मा नारायण स्वामी ने जो भाषण दिया, उसमें 'आर्यसमाज और राजनीति' के प्रश्न पर विशद रूप से विवेचन किया गया था। महात्माजी के भाषण को इस विषय पर आर्यसमाज का अधिकृत मन्तव्य माना जा सकता है। यह समुचित होगा कि इस सम्बन्ध में महात्माजी ने जो विचार प्रकट किये थे, उन्हें अविकल रूप से यहाँ उद्धृत कर दिया जाए—

"एक बात का और जो समय-समय पर आर्यसमाज पर इल्जाम लगाया जाता है कि आर्यसमाज समष्टि रूप से प्रचलित राजनीति (Current Politics) में भाग नहीं लेता, इस प्रकार के इल्जाम लगाने वालों ने गम्भीरता के साथ प्रतीत होता है कि इस विषय पर विचार नहीं किया। इस सम्बन्ध में सबसे पहली बात जो समझ लेने की है, वह यह है कि वेद जिस धर्म का प्रतिपादन करते हैं अथवा आर्यसमाज जिस (वैदिक) धर्म का प्रचार करता है, उसमें अभ्युदय (लोकोन्नति) और श्रेयस् (परलोकोन्नति) दोनों के अन्तर्गत होने से, राजनीति भी सम्मिलित है और पूर्ण रीति से सम्मिलित है। इसलिए राजनीति को धर्म से बाहर नहीं कह सकते। आर्यसमाज ने व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक नर-नारी को स्वतन्त्रता दी है कि प्रचलित कतिपय राजनैतिक स्कूलों में से जिसमें वे चाहें अपने अन्तःकरण की प्रेरणानुसार भाग लेवें। अर्थात् वे चाहें तो कांग्रेस के कार्य में भाग लेवें अथवा लिबरलों के साथ मिलकर काम करें अथवा जिस प्रकार से भी उनको अन्तरात्मा प्रेरित करे, काम करें, आर्यसमाज उनकी इस स्वतन्त्रता में बाधक नहीं होगा। अब यह बात कि आर्यसमाज समष्टि रूप से स्वयं क्यों इस मामले में भाग नहीं लेता, समझ लेने के योग्य है। आर्यसमाज में सम्मिलित होकर उसकी प्रार्थना आदि धार्मिक कृत्यों में भाग लेने का अधिकार मनुष्यमात्र को है और इसी अधिकार से लाभ उठाकर प्रशंसित समाज में, प्रत्येक प्रकार के व्यक्ति चाहे वे नरम-दल वाले हों, चाहे गरम-दल से सम्बन्धित हों, चाहे दोनों दलों से उदासीन रहकर राजनीति से भिन्न उपकार्यों का करना अपना उद्देश्य बनाने वाले हों, शरीक हुए हैं। आर्यसमाज इन सबसे मिलकर बना हुआ समाज है। अब विचारणीय यह है कि यदि आर्यसमाज समष्टि रूप से किसी एक राजनैतिक स्कूल का, कल्पना कर लो कि कांग्रेस ही सही, अनुयायी बन जावे, तो इस भाग (कांग्रेस के अनुकरण करने वालों) से भिन्न लोगों को, जो किसी प्रकार से भी कांग्रेस के साथ नहीं हो सकते, क्या उत्तर देवें? क्या यह कह देवें कि वे आर्यसमाज को छोड़ देवें? यदि आर्यसमाज ऐसा करे तो समझ लो कि वह अपने उद्देश्य से च्युत हो गया। आर्यसमाज को कांग्रेस की एक उपसभा बनाने की सलाह देने वालों ने, प्रतीत होता है कि आर्य-समाज के गौरव को समझा नहीं। कांग्रेस आदि अस्थिर और सामयिक संस्थायें हैं, स्वराज्य मिलने पर बाकी न रहेंगी, परन्तु आर्यसमाज स्थिर संस्था है, स्वराज्य मिलने के बाद उसकी आवश्यकता और भी बढ़ जायेगी। आर्यसमाज की इस नीति को स्वीकार कर लेने के बाद भी कुछेक भाई, बड़ी सहृदयता से इस त्रुटि को आर्यसमाज के सम्मुख उपस्थित

करते हैं कि आर्य बहनें और भाई जब देश के स्वतन्त्रता-संग्राम में सभी भाग लेने वालों से अधिक पुरुषार्थ करते हैं, लाठियाँ खाते हैं, जेलों में जाते हैं, मृत्यु का ग्रास बनते हैं, परन्तु इसका यश आर्यसमाज को नहीं मिलता। इसके सम्बन्ध में दो बातें कही जाने के योग्य हैं। पहली बात तो यह है कि जब देश-निवासियों ने, जिनमें सभी नसल और मतों के नर-नारी सम्मिलित हैं, एक-दो राजनैतिक संस्थायें बनाई हैं, तो वे (संस्थायें कांग्रेस आदि) जो भी काम करती हैं, वह देश का सम्मिलित काम है, किसी एक या दो फिरकों का नहीं। फिर उस काम के बदले में जो उन संस्थाओं को यश मिलता है, वह यश भी सम्मिलित यश है। आर्य बहनें और भाई भी उस यश में सम्मिलित हैं, इसलिए अपनी बनाई हुई (कांग्रेस आदि) संस्थाओं के यश को उनसे छीनने की इच्छा करके क्यों उन्हें संकीर्णता से काम लेना चाहिये? दूसरी बात यह है कि यदि इस राजनैतिक कार्य को जो आर्य बहनें और भाई करते हैं, पृथक् दिखलाना ही इष्ट हो, तो इसके लिए आर्यसमाज से पृथक् एक विभाग 'राजार्य सभा' के नाम से बनाया जा सकता है और उसके अधीन यह तथा और भी आवश्यक कार्य किये जा सकते हैं, और उस सभा की ओर से प्रतिवर्ष उसका कार्य-विवरण प्रकाशित हो सकता है। यह प्रश्न है जिस पर गम्भीरता के साथ आर्य बहनों और भाइयों को विचार करना चाहिए। इस विभाग के बनाने की आवश्यकता इसलिए इस समय और भी बढ़ गयी है कि हमारे देश-भाई मुसलमानों में से कुछेक अदूरदर्शी मुसलमानों ने राजनैतिक पर्दे की आड़ में आर्य-संस्कृति को नष्ट करने का विशेष यत्न शुरू कर दिया है। कश्मीर का आन्दोलन उसी की एक शाखा है। इसलिए आर्यसमाज के लिए आवश्यक है कि ऐसे उपायों को काम में लावे जिससे आर्य-संस्कृति के नष्ट करने का यह कुयत्न निष्फल हो सके। आर्यसमाज के ये उपाय भी राजनैतिक रंग लिये हुए होंगे, इसलिए यह काम भी इसी राजार्य सभा के अधीन रखा जा सकता है। आर्यसमाज के विस्तार के साथ आर्यों की संख्या नित्यप्रति बढ़ती जा रही है। इसलिए स्वाभाविक है कि उनकी राजनैतिक आवश्यकतायें भी ऐसी हों जिनके पूरा करने के लिए यत्न की जरूरत हो। इस काम के करने के लिए भी आर्यसमाज के लिए आवश्यक है कि उसका अपना एक राजनैतिक विभाग हो। यह जरूरत भी इसी राजार्य सभा वाले विभाग से पूरी हो सकेगी। अस्तु, प्रत्येक प्रकार के विचार करने के बाद इस विभाग को खोलना अनिवार्य-सा प्रतीत होता है।

आर्यसमाज को समष्टि रूप से, एक पृथक् संस्था व संगठन की स्थिति में प्रचलित या सामयिक राजनीति में क्यों भाग नहीं लेना चाहिए, इसके लिए महात्माजी ने जो कारण बताये थे, उनमें पर्याप्त बल है। पर उन्होंने राजार्य सभा की आवश्यकता को भी युक्तियुक्त रूप से प्रतिपादित किया था।

सार्वदेशिक आर्य महासम्मेलन का तीसरा अधिवेशन सन् १९३३ ई० में अजमेर में हुआ था। आचार्य रामदेव उसके प्रधान थे। अपने भाषण में उन्होंने भी 'आर्यसमाज और राजनीति' पर अपने विचार प्रकट किये थे। उन्होंने प्रायः महात्मा नारायण स्वामी जी के विचारों का ही समर्थन किया था। इस सम्बन्ध में आचार्य जी के भाषण के कुछ संदर्भ उद्धरण के योग्य हैं—

"आर्य धर्म के विशाल स्वरूप में राष्ट्र धर्म समाया हुआ है। वर्तमान राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) के कार्यक्रम के रचनात्मक भाग ऋषि की बुद्धि की उपज हैं। खद्दर-

प्रचार, राष्ट्रीय शिक्षा तथा विदेशीय न्यायालयों का बहिष्कार आर्ष ग्रन्थों तथा आर्य-समाज के उपनियमों के अंग हैं। ऋषि के प्रथम सत्यार्थप्रकाश में मद्यनिवारण, नमक-कर तथा जंगल-कानून के अत्याचारों के विरोध में सबसे पहले आवाज उठायी गई है। कोई भी इतिहासवेत्ता ऐसा नहीं है, जो कि भारत की राष्ट्रीय जागृति का श्रेय ऋषि को न देता हो। स्वराज्य शब्द वेद का शब्द है, और आर्यसमाज स्वराज्य दिलाने वाला चर्च है। स्वराज्य हर प्रकार का, मन का, आत्मा का और देश का। राष्ट्रीय जागृति का आर्यसमाज से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध समझा जाता है कि जो लोग भारत की स्वाधीनता के विरोधी थे, वे आर्यसमाज को सबसे अधिक बुरा-भला कहते थे।

"आज आर्यसमाज और राजनीति एक मनोरंजक विषय हो चला है, परन्तु वास्तविक अर्थों में देखा जाये तो राजनीति आर्यसमाज का भी एक अंग है। वैदिक धर्म के अन्य अनेक कार्यक्रमों में राजनैतिक स्वाधीनता भी एक है। धर्म एक स्थिर वस्तु है। यह देश और काल की सीमा से नितान्त ऊपर है। राजनीति सामयिक चीज है, अतः इसके उपाय सामयिक होते हैं। धार्मिक उपाय सार्वत्रिक तथा सार्वकालिक होने से राजनीति के उपायों से कहीं बढ़कर होते हैं। धर्म किसी समय ब्राह्म उपाय का उपदेश कर सकता है तो दूसरे समय क्षात्र धर्म की तलवार भी पकड़ा सकता है।

'ऐसी वेद की भी शिक्षा है। इसलिये विश्वधर्म का चर्च होने से आर्यसमाज राजनैतिक क्षेत्र में सामूहिक रूप से हरगिज नहीं जा सकता है। हाँ, उसके व्यक्ति इस कार्य को करने के लिए स्वतन्त्र हैं और ८० प्रतिशत आर्यसमाजियों ने जेलों को भरकर यह बात प्रमाणित भी कर दी है। आर्यसमाज को न तो सरकार से भय है, न उसको राजनैतिक आन्दोलनों से विशेष प्रीति है। उसका उद्देश्य सबको प्रेम सिखाना है। इस उद्देश्य में समाज को जो संस्था जितनी भी सहायता पहुँचायेगी, आर्यसमाज उसको स्वीकार करेगा। समाज ईसाइयों तथा मुसलमानों की भाँति एक Community का प्रतिनिधि नहीं है। यह एक धर्म-संस्था है। इसलिये इसका सत्य धर्म से सम्बन्ध है। वैदिक धर्म ईसामसीह की तरह न केवल (Peace on Earth) पृथिवी पर ही शान्ति फैलाना चाहता है, प्रत्युत "द्यौः शान्तिरन्तरिक्षँ शान्तिः पृथिवी शान्तिः" के अनुसार द्यौ, अन्तरिक्ष, पृथिवी, जल, ओषधि तथा प्राणिमात्र में भी शान्ति का प्रसार करना चाहता है। राजनैतिक स्वतन्त्रता (यतो अभ्युदयनिश्रेयससिद्धिस्स धर्मः) तो धर्म के दूसरे अभ्युदय-विधायक लक्षण का एक अंगभूत विषय है। इसलिये समाज के कार्यक्रम के रचनात्मक कार्यक्रम में इसका भी स्थान है। वर्तमान स्वराज्य-आन्दोलन का रचनात्मक प्रोग्राम आर्यसमाज का नहीं था, तो किसका था? यह प्रोग्राम सदा से चला आया है और इसकी सदा ही आवश्यकता रहेगी। इसलिये इसे धार्मिक प्रोग्राम समझना चाहिये और सबको कटिबद्ध होकर इसमें लग जाना चाहिए।"

आचार्य रामदेव ने यद्यपि समष्टि रूप से आर्यसमाज के राजनीति में भाग लेने का समर्थन नहीं किया, पर यह अवश्य प्रतिपादित किया कि "राजनीति आर्यसमाज का भी एक अंग है, और वैदिक धर्म के अन्य अनेक कार्यक्रमों में स्वाधीनता भी एक है।" उनका विचार था कि आर्यसमाजियों को व्यक्तिगत रूप से स्वराज्य-आन्दोलन में अवश्य सम्मिलित होना चाहिये। इस बात पर उन्होंने संतोष भी प्रकट किया था कि स्वराज्य-संग्राम में जेल जाने वाले देशभक्तों में ८० प्रतिशत आर्यसमाजी थे। स्वराज्य-आन्दोलन

के रचनात्मक प्रोग्राम को आर्यसमाजी अपना मानते थे, और उनका मत था कि खादी, स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा, मद्यनिषेध आदि कांग्रेस के कार्यक्रम को धार्मिक प्रोग्राम समझकर "सबको कटिबद्ध होकर उसमें लग जाना चाहिये।"

सार्वदेशिक आर्य महासम्मेलन के अगले दो अधिवेशन सन् १९३८ तथा सन् १९४४ में क्रमशः शोलापुर और दिल्ली में हुए। १९३८ के चौथे महासम्मेलन के प्रधान श्री लोकनायक अणे थे और १९४४ के पाँचवें महासम्मेलन का प्रधान-पद डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने ग्रहण किया था। ये दोनों महानुभाव उन अर्थों में आर्यसमाजी या आर्य नेता नहीं थे, जिनमें कि पहले तीन महासम्मेलनों के (महात्मा हंसराज, महात्मा नारायण स्वामी और आचार्य रामदेव) थे। इन्हें आर्य नेता की अपेक्षा हिन्दू नेता या राष्ट्रीय नेता कहना अधिक उपयुक्त होगा। अपने क्षेत्र के बाहर से महासम्मेलन के प्रधान चुने जाना यह संकेत करता है कि इस काल में आर्यसमाज को कतिपय विशेष व विकट परिस्थितियों का सामना करना पड़ रहा था। सन् १९३८ में आर्यसमाज हैदराबाद रियासत में सत्याग्रह के रूप में धर्मयुद्ध में व्याप्त था। प्रगतिशील व सुधारक धार्मिक आन्दोलनों को इतिहास में प्रायः राजशक्ति के विरोध का सामना करना पड़ा है। प्राचीन काल में क्रिश्चियन लोगों को रोमन सम्राटों के अत्याचारों का सामना करना पड़ा और मध्यकाल में प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदायों को यूरोप के रोमन कैथोलिक सम्राटों का। मध्यकालीन भारत में भी कितने ही धार्मिक आन्दोलन तुर्क, अफगान और मुगल बादशाहों के कोपभाजन बने। १९३२-३९ ई० में यही हैदराबाद रियासत में आर्यसमाज के सम्बन्ध में हुआ। हैदराबाद के इस धर्मयुद्ध पर इस 'इतिहास' के दूसरे भाग में प्रकाश डाला जा चुका है। चतुर्थ सार्वदेशिक आर्य महासम्मेलन के समय (१९३८ ई०) में आर्यसमाज इस धर्मयुद्ध में संलग्न था, अतः स्वाभाविक रूप से महासम्मेलन का प्रधान एक ऐसे प्रतिष्ठित महानुभाव को चुना गया, जो हिन्दुओं और कांग्रेस का मान्य नेता था, और जिन्हें महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं तथा आर्यसमाज के कार्यकलाप के प्रति सच्ची आस्था थी। जिन परिस्थितियों और जिस वातावरण में शोलापुर का आर्य महासम्मेलन हुआ, उसमें यह सर्वथा स्वाभाविक व समुचित था कि उसके प्रधान श्री अणे अपने भाषण में तत्कालीन राजनैतिक समस्याओं का विवेचन करें। इसीलिये उन्होंने प्रजा के प्रति राज्य की जिम्मेदारी का विशद रूप से प्रतिपादन किया, और हैदराबाद की निजामशाही द्वारा आर्यसमाज के प्रति जिस नीति का अनुसरण किया जा रहा था, उसका प्रबल रूप से विरोध किया। श्री अणे के भाषण में धार्मिक व आध्यात्मिक बातों की तुलना में राजनैतिक विषय बहुत अधिक थे। समय की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर इस काल में आर्यसमाज राजनीति से अपने को पृथक् नहीं रख सका था।

पाँचवाँ आर्य महासम्मेलन उस समय दिल्ली में हुआ, जब स्वराज्य-आन्दोलन पूरे जोरों पर था। द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५ ई०) का तब अन्त होने वाला था, और अंग्रेजी सरकार ने यह भलीभाँति अनुभव कर लिया था कि भारत को अब अपने अधीन नहीं रखा जा सकता। स्वतन्त्र भारत के संविधान का क्या स्वरूप हो, इस प्रश्न पर राष्ट्रीय नेताओं और सरकार में बातचीत शुरू हो गयी थी, और मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान का आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया था। यह सर्वथा स्वाभाविक था कि समय व परिस्थितियों का आर्य महासम्मेलन के विचार-विमर्श पर भी प्रभाव पड़े। प्रधान-पद

से भाषण देते हुए डा० मुकर्जी ने ठीक ही कहा था कि यह अधिवेशन विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि यह हमारे देश के जीवन की बहुत ही पेचीदा घड़ी में हो रहा है। एक ओर विनाशकारी युद्ध मानवी सभ्यता की जड़ों को खोखला कर रहा है, और दूसरी ओर भारतवर्ष की आन्तरिक दशा को ऐसी अव्यवस्था में डाल दिया है कि देश के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक अधिकार खतरे में पड़ गये हैं।" आर्य महासम्मेलन के मंच से डा० मुकर्जी ने इस प्रश्न पर भी विशद रूप से विचार किया कि पाकिस्तान की माँग कहाँ तक युक्तियुक्त है, और स्वतन्त्र भारत के संविधान में हिन्दुओं की क्या स्थिति होनी चाहिये। इस विषय पर उनके भाषण के कुछ अंश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

"नये विधान में भारत की एकता और अखण्डता का कायम रहना बड़ी आवश्यक बात होगी। पाकिस्तान-योजना के आविष्कर्ता ही यह बात सबसे अधिक अच्छी तरह समझते हैं कि उनकी योजना तर्क और व्यवहार से कोसों दूर है। हिन्दुओं को, जो कि भारत की आबादी का तीन-चौथाई भाग है, मुस्लिम लीग देश का विधान तैयार करने का हक देने को तैयार नहीं। वह तो यह भी नहीं चाहती कि भारतभर के हिन्दू और मुसलमान देश के विधान का संयुक्त रूप से निश्चय करें। दोनों ही अवस्थाओं में उसका कहना है कि इस प्रकार अल्पसंख्यकों पर बहुसंख्यकों का अत्याचारपूर्ण शासन हो जायेगा। इसके साथ ही उसका दावा है कि जिन प्रान्तों में मुसलमानों का प्रबल बहुमत है वहाँ वे स्वयं करोड़ों अल्पसंख्यक हिन्दुओं के भाग्य-विधायक बन जायेंगे और वहाँ हिन्दू आत्म-निर्णय के अधिकार की माँग न करने पावेंगे। उस अवस्था में यह अल्पसंख्यकों पर बहु-संख्यकों का अन्यायपूर्ण शासन नहीं होगा, अपितु यह मुसलमानों द्वारा पृथक् 'मातृभूमि' पाने के सिद्धान्तभूत अधिकार का प्रयोग होगा। भारतवर्ष राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टियों से एक है और वह अखण्ड रहेगा। यदि कोई इस एकता में बाधा डालना या भेद डालना चाहेगा तो वह देश-द्रोह के महा अपराध का दोषी होगा और उसका कितनी भी कीमत चुकाकर मुकाबला किया जायेगा। मुस्लिम लीग देशभक्त सन्तानों के बहुमत के संगठित प्रतिरोध के विरुद्ध अकेले ही भारत-भूमि को खण्ड-खण्ड करने में सफल नहीं हो सकती। ब्रिटेन भी अपनी तलवार से भारतमाता का अंग-भंग करके उसके टुकड़े, देश का विभाजन करने के इच्छुकों के आगे, डालने की गारण्टी नहीं दे सकता।

"किन्तु आज जिन प्रान्तों में हिन्दू अल्पसंख्या में हैं और ब्रिटिश नीति प्रत्यक्षतः पाकिस्तानी राज को बढ़ावा देने की है, उन प्रान्तों में हिन्दुओं के अधिकार और हित तुच्छ साम्प्रदायिक अवसरवादिता की बलिवेदी पर चढ़ाये जा रहे हैं।

"भारतीय जनता की, और मुसलमानों की ही, भलाई के प्रति मुस्लिम लीग की चिन्ता-विषयक संजीदगी और निष्कपटता की परख के लिए हमने मतभेद भुला डालने, भावी विधान-सम्बन्धी सब विवादास्पद प्रश्नों को युद्ध के बाद तक स्थगित कर देने और भारतीय राष्ट्र की रक्षा तथा उसके पुनरुद्धार के लिए उसके अमित प्राकृतिक साधनों का उपयोग करने के हेतु तत्काल शासनसत्ता के सौंपे जाने के लिए संयुक्त माँग करने के प्रस्ताव पेश किये। बातचीत का वह मार्ग अब भी खुला है, पर हमारे शासकों द्वारा प्रति-क्रियावादियों को अपनी राष्ट्रविघाती और स्वार्थपूर्ण माँगों को प्रस्तुत करने में प्रोत्साहन देने के निर्लज्जतापूर्ण रवैये को देखते हुए ऐसे किसी मेलमिलाप की आशा बालू में से तेल निकालने के समान ही है।

"आज इसका इलाज यह है कि भारत की आजादी की माँग से सहमत सब दलों और वर्गों का देशव्यापी प्रतिरोध संगठित किया जाय। हमें उन लोगों या पार्टियों की खुशामद करने या उनके आगे-पीछे फिरने से कोई फायदा न होगा, जो कि भारत की प्रगति व स्वाधीनता की परवाह नहीं करते और देश को गुलाम बनाये रखने के लिए अपने शासकों के हाथों की कठपुतली बन रहे हैं। कुछ ऐसे भी दल और वर्ग हैं जो स्वतः छोटे व नगण्य होते हुए भी संयुक्त हो जाने पर मजबूत और ताकतवर हो सकेंगे। ये स्वतन्त्र भारत का विधान तैयार करने के आधारभूत सिद्धान्त के लिए देशव्यापी विरोधी मोर्चे में सम्मिलित होकर अच्छा काम कर सकेंगे। ऐसे संगठन का कर्त्तव्य होगा कि वह राष्ट्र के पुनर्निर्माण-विषयक अधिकतम सहमति के प्रश्नों को महत्त्व दिलाये, सहिष्णुता व पारस्परिक सौहार्द्र-भावना पर बल दे तथा हमारे नागरिक, आर्थिक व राजनैतिक अधिकारों के अपहरण करने के प्रयत्नों का निर्भीकतापूर्वक मुकाबला करे।"

सन् १९४७ में भारत अंग्रेजों की अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्र हो गया था। यद्यपि आर्यसमाज का कोई पृथक् राजनैतिक संगठन नहीं था, पर स्वराज्य सरकार की नीतियों व गतिविधि के सम्बन्ध में आर्यसमाजी नेताओं ने अपने विचार प्रकट करने में कभी संकोच नहीं किया। स्वाधीन भारत में भी आर्य महासम्मेलनों की परम्परा जारी रही, और उनके अध्यक्ष-पदों से श्री घनश्यामसिंह गुप्त तथा पण्डित विनायकराव विद्यालंकार सदृश नेताओं ने जो भाषण दिये, उनमें कांग्रेस सरकार की हिन्दी भाषा के प्रति नीति, असाम्प्रदायिक या धर्मनिरपेक्ष राज्य का आदर्श, कश्मीर-समस्या, भाषावार प्रदेश, हिन्दू कोड बिल और पाकिस्तान-अमेरिका सैनिक गठबन्धन सदृश विषयों का भी विशद रूप से विवेचन किया गया। अनेक बार तो सरकार की किसी नीति व कार्यक्रम का विरोध करने के लिए आर्यसमाज ने संघर्ष के मार्ग का भी आश्रय लिया। पंजाब का हिन्दी सत्याग्रह इसका उदाहरण है। भारत की राजनीति को प्रभावित करने के लिये कतिपय आर्य नेताओं एवं कर्मठ कार्यकर्त्ताओं ने 'आर्यसभा' के रूप में एक पृथक् आर्य-राजनैतिक मंच को संगठित करने का भी प्रयत्न किया, और इस मंच की ओर से विधान-मण्डलों के चुनाव में अपने प्रत्याशी भी खड़े किये।

वस्तुतः, सन् १९२६ ई० के बाद भी आर्यसमाज देश की राजनैतिक गतिविधि को परोक्ष रूप से प्रभावित करता रहा है। गत साठ वर्षों में राजनैतिक क्षेत्र में आर्यसमाज तथा आर्य नर-नारियों के कार्यकलाप पर इस 'इतिहास' के अगले एक भाग में प्रकाश डाला जायेगा।

सहायक ग्रन्थ-सूची

(१) मूल स्रोत

(क) केन्द्रीय सरकार के आर्यसमाज विषयक गुप्त सरकारी अभिलेख

Home Public Department Proceedings, March, 1903, Part-A, No. 4932—On the activities of the Arya Samaj in India.

Home Public Department Proceedings, Deposit, April, 1904, No. 13—On Membership of the Arya Samaj.

Home Public Department Proceedings, August, 1905, No. 185—On the Prosecution of certain members of the Arya Samaj.

Home Political Department Proceedings, June, 1905, No. 37—On Deputation of certain Delegates to England to carry on Political Agitation in that Country.

Home Public Department Proceedings, December, 1906, Nos. 246-247—On addition of the Aryas to the list of Newspapers and Institutions to which official information is supplied.

Home Public Department Proceedings, December, 1906, Nos. 310-311, 2839-41—On Bengal Partition and Swadeshi Movement.

Home Public Department Proceedings, February, 1906, Nos. 21-22, 129—On Prosecution of the Punjabee.

Home Political Deparment Proceedings, Deposit, September, 1907, No. 44—On Arya Samaj & Deportation of Dhani Ram, President of the Arya Samaj of Abbottabad.

Home Political Department Proceedings, Part-B, August, 1907, No. 252—On Parliamentary Questions and Answers on Lala Lajpat Rai.

Home Political Department Proceedings, Part-B, October, 1907, Nos. 62-65—On Complaints of Lajpat Rai at Mandalay.

Home Political Department Proceedings, Deposit (Printed), October, 1907, No. 18—On Notes by the D.C.I. on the Origin and Character of the Swadeshi Movement.

Home Political Department Proceedings, Deposit, November, 1908, No. 7—On (i) History of Doings of Lajpat Rai since his return from Mandalay; (ii) Distribution of Famine Relief in U.P. by Emissaries sent by Lajpat Rai.

Home Political Department Proceedings, part A, August, 1907, Nos. 148-235—On the Deportation of Lala Lajpat Rai and Ajit Singh.

Home Political Deptartment Proceedings, Deposit, November, 1908, No. 7—Note on the story of my deportation by Lala Lajpat Rai.

Home Political Department Proceedings, Part-B, April, 1909, Nos. 69-79—On Resolutions passed by the Arya Pradeshik Sabha, Meerut, disclaiming any connection of Arya Samaj with the seditious movement.

Home Political Department Proceedings, Deposit, April, 1909, No. 16—On anonymous letters recieved by the officer of the 10th Jats, Regiment.

Home Political Department Proceedings, Part-B, May, 1909, Nos. 160-161 and January 1909 Nos. 2-26—On Prosecution of Bhai Parmananda—Professor of History in the D.A.V. College, Lahore.

Home Political Department Proceedings, Deposit, August, 1909, No. 7—On Inadvisability of enlisting Arya Samajists for the Indian Army.

Home Political Department Proceedings, Part-B, October, 1909, Nos. 154-156—On the Political Situation in the Punjab.

Home Political Department Proceedings, Part-A, May, 1910, Nos. 127-131—On Prosecution of the Author of the Pamphlet : Hindustan Men Angeraji Hukumat.

Home Political Department Proceedings, part-A, May, 1910, Nos. 108-111—On Punjab Sedition.

Home Political Department Proceedings, Part-B, February, 1910, Nos. 120-127—On the activities of the Emissaries of the Arya Samaj.

Home Political Department Proceedings, Part-B, April, 1911, Nos. 101-104—On the influence of the Arya Samaj in the Punjab.

Home Political Department Proceedings, May, 1910, Nos. 160-161—On Bhai Parmananda.

Home Political Department Proceedings, Part-B, July, 1911, Nos. 55-58—On Book entitled The Arya Samaj and its Detractors : A Vindication by Munshi Ram and Ram Deva.

Home Political Department Proceedings, Deposit, July, 1912, No. 16—On Questions asked by the Arya Samajists in India Committee.

Home Political Department Proceedings, Part-A, April, 1912, No. 4—On Book by Munshi Ram and Ram Deva mentioned in proceedings Nos. 55-58 of July, 1911.

Home Political Department Proceedings, Part-B, July, 1915, Nos. 549-552—On Political Situation of the Punjab.

Home Political Department Proceeding, Part-B, September, 1915, Nos. 205-207—On Forfeitures of Security of Rs. 2,000 deposited by the Keeper of the Punjab National Steam Press together with all copies of the Arya Musafir—For June, 1915.

Home Political Department Proceedings, Part-A, Deposit, January, 1915, No. 8—On proposed Deportation under Regulation-III of 1818 of Bhai Parmananda, Kedarnath, Jagannath and Zia-ul-Hak from Punjab.

Home Political Department Proceedings, Deposit, March, 1915, No. 37—On History Sheet of Bhai Parmananda.

Home Political Department Proceedings, Part-B, May, 1919, Nos. 266-273—On Activities of Swami Shraddhananda.

Home Political Department Proceedings, Deposit, July, 1919, No. 29

—On the Statement of Hans Raj given in Amritsar Case.
Home Political Department Proceedings, Deposit, April, 1920, No. 32 & Part-B, No. 144—On Bhai Parmananda.
Home Political Department Proceedings, Part-B, September, 1920, Nos. 2606-807 in 28—On Arya Samaj and Slaughter.
Home Political Department Proceedings, Part-B, March, 1920, Nos. 306-307—on Shraddhananda alias Munshi Ram.
Home Political Department Proceedings, Part-B, February, 1921, Nos. 74-79—On Reign of Terror in Amritsar.
Weekly Report of the Director of Criminal Intelligence Department, Government of India—On political situation in Punjab. Home Political Department Proceedings from 1907 to 1918.
Gokhle's secret Letters, 1905-1906, File No. 203-1.
Selections from the Vernacular Newspapers, Published in the Punjab 1892-1919.
Selections from the Newspapers Published in the United Provinces 1901-1919.

(ख) समाचारपत्र

सद्धर्म प्रचारक (जालन्धर, काँगड़ी, दिल्ली) उर्दू १८८८-१९०६, हिन्दी १९०७-१५; ट्रिब्यून, लाहौर १८८१-१९१९; लीडर, पंजाबी

(२) सहायक पुस्तकें

(क) अंग्रेजी ग्रन्थ

Ahluwalia, M.M. ; Freedom Struggle in India (1858-1909), Delhi.
Andrews, C.F. : The Indian Renaissance, London, 1912.
Argov, Daniel : Moderates & Extremists in the Indian Nationalist Movement (1813-1920) with special reference to S.N.Banerjee & Lala Lajpat Rai, London.
Banerjee, S.N. : A Nation in Making, Oxford, 1927.
Speeches of (Ed. by R. C. Palit) 1896.
Barrier N.S. : The Arya Samaj and Congress Politics in the Punjab, 1894-1908; Journal of Asian Studies 26 (1967), pp. 363-79.
The Punjab Government and Communal Politics 1870-1908, J.A.S. 27 (1968) pp. 523-39.
Brown, E.C. : Har Dayal, Hindu Revolutionary and Rationalist, Delhi, 1975.
Besant, Annie : How India wrought for Freedom, Madras, 1915.
Bose Nemai Sadhan : The Indian National Movement, An Outline, 1945.
Buck, M.A. : Rise and Growth of Indian Militant Nationalism, Baroda, 1940.
Chaturvedi, Banarsi Das and Marjorie Sykes : Charles Freer Andrews, A Narrative, London, 1949.

Chirol, Valentine : Indian Unrest, London, 1910.
Chintamani, C.Y. : Indian Politics since the Mutiny, London, 1940.
Dharmvira : Lala Har Dayal and Revolutionary Movements of His Times New Delhi, 1970.
Dayananda Commemoration Volume (Ed. by Har Bilas Sarda), Ajmer, 1933.
Dua R.P. : Social Factors in the Birth and Growth of the Indian National Congress Movement, Delhi, 1968.
Encyclopaedia of Religion and Ethics (Ed. by James Hastings).
Farquhar, J.N. : Modern Religious Movements in India, reprint, Delhi 1967 (first ed. 1914).
Ferrel, D.W. : Delhi 1911-1922; Society and Politics in the New Imperial Capital of India, Ph. D. thesis, A.N.U. 1967
The Rowlatt Satyagraha of 1919 : O.U.P., 1971, pp. 189-235.
Forman, H. : The Arya Samaj, Allahabad, 1902.
Ghose, Aurobindo : Bankim, Tilak, Dayananda. Calcutta, 1940.
Griswold, H.D. The Problems of the Arya Samaj, Lahore, 1901.
Jones, K.W. : Arya Dharma, Hindu Consciousness in the 19th Century Punjab, Univ. of Calif., Press, Berkeley, 1976.
The Arya Samaj in the Punjab a study of social reform and religious revivalism, 1877-1902, ubpubl. Ph.D. thesis, Univ. of Calif., Berkeley, 1966.
Sources of Arya Samaj History, The Indian Archives, 18 (1969). pp. 20-36.
Jordens, J.T.F., Dayananda Sarasvati, His Life and Ideas O.U.P., Delhi, 1978.
Joshi, V.C., ed. : Lajpat Rai, Autobiographical Writings, Delhi, 1965.
Joshi, V.C. : Lala Lajpat Rai : A Biographical Essay, Delhi, 1967.
Kumar, R., ed. : Essays on Gandhian Politics; the Rowlatt Satyagraha of 1919, O.U.P., 1971.
Karunakaran, K.P. : Religion and Political Awakening in India, Meerut, 1965.
Kohn, Hans : History of Nationalism in the East, New York, 1929.
Lyall, Alfred, G. Asiatic Studies, Religious and Social, London 1899.
Lovett V. : History of the Indian Nationalist Movement, London, 1921.
Majumdar, R.C., ed. : History and Culture of the Indian People, Vo., XI, Struggle for Freedom, Bombay, 1969.
History of the Freedom Movement in India, Vol. I, II and III Calcutta, 1963.
Mittal S.C., Freedom Movement in Punjab (1905-1929), Delhi, 1977.
Mitra, H.N. : Punjab Unrest, Before and After, Calcutta, 1920.
Mul Raj, R.B. : Beginnings of Punjab Nationalism, Autobiography of R.B.Mul Raj, Hoshiarpur, 1975.

MacDonold, Ramsay : The awakening of India, London, 1910,

Masani, R.P. : Dadabhai Naoroji : The Grand Old Man of India, London, 1939.

Morrison, John; New Ideas in India during the 19th Century, London, 1907.

Nevinson, H.W. : The New Spirit in India, London, 1908.

Natarajan, S.A. : Century of Social Reform in India, London, 1959.

Nurullah, S. & Naik J.P. : History of Education in India, 1960.

O'Dwyer, Sir Michael : India as I Knew it (1885-1925), London, 1928.

O'Malley : Modern India and the West, London, 1910.

Pandey, Dhanpati : The Arya Samaj and Indian Nationalism(1875-1920), New Delhi, 1972.

Prakash, Indu : Hindu Mahasabha, its Contribution to India's Politics, New Delhi, 1966.

Pal, B. C. Memoirs of my life and times, 2 Volumes, Calcutta 1932, 1951.

Pal, B.C. : Beginning of the Freedom Movement in India, 1954.

Parvate, T.V. : Makers of Modern India, Jullundur, 1964.

Rai, Lala Lajpat : The Arya Samaj, an account of its origin, doctrines, and activities, with a biographical sketoh of the founder, Lahore, 1932(First ed. London, 1915).

Rai, Lala Lajpat : India's will to Freedom, Madras, 1921.

Rai, Lala Lajpat : Autobiographical Writings and Speeches, ed. by V.C. Joshi, Delhi, 1965.

Rai, Lala Lajpat : The Arya Samaj, London, 1915.

.....A History of the Arya Samaj (ed. by Shree Ram Sharma, Calcutta), 1966.

.....Young India, New York, 1917.

.....The Call to Young India, Madras, 1918.

.....The Problem of National Education in India, New York, 1918.

.....The Story of my Deportation, Lahore, 1908.

.....Unhappy India, Calcutta, 1928.

Ram Munshi & Deva, Ram : The Arya Samaj and Its Detractors : A Vindication, Lahore, 1910.

Rolland, Romain : The Prophets of the New India, London, 1930.

Seth, M.M. : The Araya Smaj, A Political Body, open letters to Viscount Morley of Blackburn, Gurukul Kangri, 1909.

High Govt. Officials on Arya Samaj and its work, Allahabad, 1917.

Sharma, Shri Ram : Mahatma Hansraj, Maker of the Modern Punjab, 2nd ed; 1965 (first ed. 1941).

Sitaramayya, Pattabhi : The History of the Indian National Congress (1925-1935), n.p. 1935.

Tinker, Hugh : The Ordeal of Love, C.F. Andrews and India, O.U.P. Delhi, 1979.
Singh, Sita Ram : Nationalism and Social Reform in India, (1885-1920), Delhi, 1968.
Sharma, D.C. : Makers of the Arya Samaj, London, 1935.
Sharma Shri Ram : Mahatma Hans Raj, Maker of the Modern Punjab, Jullundur, 1965.
Swami Shraddhananda : Inside Congress, Bombay, 1946.
The Father of Modern India—Ram Mohan Rai Centenary Commemoration Volumes, I & II.
The Indian Nation Builders, Madras, 1921.
Thompson, E. & Garrett : G. Rise and Fulfilment of British Rule in India, 1934.
Verma, V.P. : Modern Indian Political Thought, Agra, 1961.
Vyas, K.C. : Social Renaissance in India, Bombay, 1957.
Zacharias, H.C.E. : Renascent India : From Ram Mohan Rai to Mohan Das Gandhi, London, 1933.

(ख) हिन्दी ग्रन्थ

अलगूराय शास्त्री—लाला लाजपतराय, दिल्ली, १९५७
इन्द्र विद्यावाचस्पति—आर्यसमाज का इतिहास, द्वितीय भाग, दिल्ली, १९५७
इन्द्र विद्यावाचस्पति—मेरे पिता : संस्मरण, दिल्ली, १९५७
इन्द्र विद्यावाचस्पति—जीवन की झाँकियाँ, प्रथम खण्ड, दिल्ली के स्मरणीय बीस दिन
गुप्त, मन्मथनाथ—भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास
गुप्त, मन्मथनाथ—क्रान्तिकारी आन्दोलन का वैचारिक इतिहास, दिल्ली, १९८०
चाँदीवाला, ब्रजकृष्ण— गांधीजी की दिल्ली डायरी, ४ खण्ड, पृ० १, १९६९
जोशी, रतनलाल—क्रान्तिकारी प्रेरणा के स्रोत, नई दिल्ली, १९७१
धर्मवीर—भाई परमानन्द और उनका युग, दिल्ली, १९८१
धर्मवीर—लाला हरदयाल, दिल्ली, १९७०
नरदेव शास्त्री—आर्यसमाज का इतिहास, खण्ड २, इलाहाबाद, १९१८-१९१९
पंछी, प्रीतमसिंह—गदर की गूँज और कामागाटामारू का रोमांच, दिल्ली, १९७७
प्रभाकर, कन्हैयालाल मिश्र—उत्तरप्रदेश स्वाधीनता-संग्राम की एक झाँकी, लखनऊ, १९८३
भीमसेन विद्यालंकार—आर्य प्रतिनिधि सभा का सचित्र इतिहास, लाहौर, १९३५
यशपाल—सिंहावलोकन, भाग तीन, इलाहाबाद, १९८२
वर्मा, ईश्वरप्रसाद—क्रान्तिकारी रामप्रसाद बिस्मिल, दिल्ली १९७३
वेदालंकार, क्षितीश—सातवलेकर अभिनन्दन ग्रन्थ, दिल्ली, १९६८
वीरेन्द्र सिन्धु—युगद्रष्टा भगतसिंह और उनके मृत्युंजय पुरखे, कलकत्ता, १९६८
शिवदयालु—आर्यसमाज की प्रगतियाँ एवं आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश का ७५ वर्षीय इतिहास, लखनऊ, १९६३
सत्यदेव विद्यालंकार—स्वामी श्रद्धानन्द : शहीद स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज की पूर्ण प्रामाणिक और विस्तृत जीवनी, सम्पादक इन्द्र विद्यावाचस्पति, दिल्ली, १९२३
सिंह, डा० विजेन्द्रपाल—भारतीय राष्ट्रवाद एवं आर्यसमाज आन्दोलन, साहिबाबाद, १९७७

शब्दानुक्रमणिका

अजीतसिंह १०८-९, १६७, ६२३-३०
अणे ७२१
अभिनव भारत समाज ११६
अमीरचन्द, मास्टर ५८७-९
अमृतबाज़ार पत्रिका ३९६-७
अमृतसर कांग्रेस ६५५-९
अर्जुनलाल सेठी ६८६
अर्जुनसिंह, सरदार ६१६-२०
अलबशीर १३२, १८२-३
आगाखाँ ६९९
आचारसुधारणी सभा ३७८
आर्यपत्रिका ११३, १२२-३, ३९५-६
आर्यप्रकाश ३९४-५
आर्य महासम्मेलन ७१८-२०, ७२२
आर्यमित्र १३३, ४२०-१
आर्यमुनि ७०९
आर्य मैगज़ीन १६१
आर्यसभा ७२४
आर्यसमाचार ४१८
आर्यसमाज इन दी युनाइटिड प्रोविन्सेज़ २६८-३०२—एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स ३९९, ४४४—उत्पीड़न ३२९-५४—पर सरकारी प्रकोप १६०
आर्य स्वराज्य सभा ७१२
आर्य स्वराज्य सम्मेलन ७१२-४
आर्याभिविनय ६७, ७२, ३७१
आर्यावर्त ६३-६६
इटावा की गप्प २००-१
इण्डियन अनरैस्ट २४५
इण्डियन सोशियोलोजिस्ट २७९
इण्डिया होमरूल सोसायटी ११६
इन्द्रजित आर्य ३४८-५१
इन्द्र विद्यावाचस्पति २०५, २३२, २३५-६, २४३, ७०९
इब्बटसन ११०, १२५-७, १३७, १६०, १९९
इंगलिशमैन २४७
ईसाई पादरी १७५-७
उम्मेदसिंह ६८४
एग्न्यू १०९
एडवर्ड १२३
एडवोकेट ३३९-४०, ३९४
एण्ड्रयूज सी० एफ० १९२, २१५-२०, २४४, ५५६
एनी बीसेण्ट ६८५
ओडवायर, माइकेल १६१, २३७
औरंगजेब २७-९, ५३६
करतारसिंह ५६१
कर्जन, लार्ड ९७, १२३-४, १५६, ५९४, ६०५
कर्जन, वायली ५१४, ६८२
काकोरी काण्ड ६७५-६
कॉलिज पार्टी १३७
कांग्रेस १००, १०६, ११३-५
किरानी-पुरानी गठबन्धन १७३
किशनसिंह ५४४, ६२०-३
कुम्भाराम आर्य ६८७
कूका आन्दोलन ४०-१
कृष्णसिंह बारहठ ५९२, ६९३
केयर हार्डी ४९१

केशवराम कोरटकर ५२१
केसरीसिंह बारहठ ५९२-८
कैल्विन ४५०
कोल ४९९
कौमी विद्यालय ५५७-९
क्रान्तिकारी आन्दोलन ११६
क्लीवलैण्ड २९८-३००, ४५५
क्षितीश वेदालंकार २४४, ५०९, ५१८
खिलाफत आन्दोलन ७०१
गदर ५७२
गदर आन्दोलन ५५०-२
गदर पार्टी ५७१
गांधी ५०७, ५३८, ६४४-६, ७०५
गुरुकुल काँगड़ी १०४, २०४-४१, २८०-२, ३७४-५
गुरुकुल पार्टी १४१, ३२२
गुरुकुल वृन्दावन ४६२-५
गुरुदत्त विद्यार्थी ४७६
गुलाबचन्द ३३५-७
गुलाम अहमद २८१
गेन्दालाल दीक्षित ६०७-१४
गेरीबाल्डी ४८३-५
गोखले, गोपालकृष्ण १००, १२०, १५६, ४९२, ५४२
गोपालदास स्वामी ६८७
गोरक्षा आन्दोलन १६८-७३, २५३, ४३५-७
गोविन्द गुरु ६८३
गोबिन्दसिंह ५३६
गोस्वामी, नारायणप्रिय ६७५
ग्रिफिथ ५२०
ग्रे, आर्थर ३५९-८६, ४५०, ४८५
ग्रेग ४५३
घनश्यामसिंह गुप्त ७२३
घासपार्टी १४१, ३२२
चम्पालाल जेलर ६७६-७
चर्चिल ५१६
चान्दकरण शारदा ६८५
चाँदनी चौक की घटना ६४८
चिन्तामणि, सी० वाई० ४९५
चेम्सफोर्ड २२७-३३, ४६६-७
जकालियट ७१
जयनारायण व्यास ६८४
जाट रैजिमैण्ट ३०५-७
जाट सभा ३३४-५
जापान की विजय के प्रभाव १५४-६
जामा मस्जिद में श्रद्धानन्द ६४९
जोधपुर की घटना ३४४
जोन्स, केनेथ १४२
जोरावरसिंह बारहठ ६०२-४
जोर्डन्स, जे० टी० एफ० ७७
टाड ४८६
ट्रिब्यून ३९२-३
ट्रेवेलियन ८४
डेली न्यूज़ ५१५
ढींगरा काण्ड ५१३-६
ढींगरा, मदनलाल ५१३, ५४२
डायर ६५७, ६६७
डेन, लुईस ३४-६, १३१-२,
तारीखे हिन्द ५४६, ६७३
तिलक ४८६, ५२३
तिलक विद्यालय ४९४
तुलसीराम ४६२
तेगबहादुर २९, ५३६
दयानन्द, ४५-६, ७६
दशनामी २७
दामोदरदास ६८४
दिल्ली दरबार ६८३
दुखी भारत ४९६
दुर्गाप्रसाद १३०-१
देकार्त ५१
दौलतराम ३३७-४४, ३७५
धार्मिक समुदाय २६-९
नरदेव वेदालंकार ५३९
नहरी बस्तियों का कानून १९३-४, १९७ ६२७

नाहरसिंह ६८३
निष्क्रिय प्रतिरोध ५११
निहिलिस्ट रहस्य ६७४
नेविन्सन २८६, ४५९-६०, ४७०
पटियाला अभियोग ३५४-९७
पट्टाभिसीतारमैया ८७
परमानन्द पण्डित ५७७-८५
परमानन्द, भाई ५३६-६२, ६७३
परोपकारिणी सभा १२०
पवित्र रोमन सम्राट् २२
पीपल ४९४
पृथ्वीसिंह मेहता ६८१-२
पेन, थॉमस ४५१-२
पोप-फ्रेडरिक संघर्ष २३
पंजाब के उपद्रव १८८
पंजाब भूमि हस्तान्तरण कानून १०५-१०
पंजाबी १५५, १८४, १९०, १९२-३, १९७, ३३९, ३४७, ३८५-७
प्रकाशचन्द्र कविरत्न ६८६
प्रतापसिंह बारहठ ५९८-६०२
प्रेसी काण्ड ३०५-१०
फतहसिंह ६८२-३
फूट ७१-२
फैजुल्ला खाँ बनाम चन्द्रभान ४२९-३०
फोर्ड४ ५८-९
वटलर, हारकोर्ट ४५६
बनारस कांग्रेस १५६-७
बहिष्कार १५८
बहुसमुदायवाद २६
बाइबल इन इण्डिया ७१
बान्धव समाज २१४, २४२-४
बारबर्टन ३५६-७, ३९४
बालमुकुन्द भाई ५८९-९१
बाँकेदयाल १९४
बिपिनचन्द्रपाल ८७
बेकन ५४
बेन्थम ४८०
बैरियर नार्मन १३९, १५९
बोअर युद्ध ५०७
बंगभंग ९६-७
ब्लाण्ट ४७०
ब्लैवेट्स्की १२१
भारतमाता सोसायटी ६२५
भारत सुदशा प्रवर्तक १६३, ४२०
भारत सेवक समिति ५४२
भूमिहस्तान्तरण कानून ११४, १४६, १५६
भोजदत्त २८७, ५९३, ६०२
मजूमदार, रमेशचन्द्र ८८, ५९३, ६०२
मतिदास ५३६
मदनमोहन मालवीय ७००-१
मदनमोहन सेठ ४६२
महात्मा पार्टी १४१
माण्टेग्यू ६६७
मातृवेदी संस्था ६०९
मार्ले १९७-८, ४१८
मांस पार्टी १४१, ३२२
मुकन्दीलाल ४८८
मुरलीधर ९५, १०६
मुल्तान छावनी समाज ३४५
मुसाफिर ४२१
मुहम्मद अली ७०४
मुस्लिम लीग ६९९, ७२३
मुंशीराम १०२, ११५, १२६, १२८, १५३, १५५, १६१, १६४, २३४, ३४०, ४५४-५, ४७५, ४१०-१४, ६३१-४२
मूलराज ९५, १४४-५६, ४८१
मेस्टन जॉन २२३-७, ४६१-७
मेजिनी ४८२-५
मैकडानल्ड रैम्ज २२०-३
मैनपुरी षड्यन्त्र केस ६७४
यशपाल १३७, २३७, २४०
याज्ञिक इन्दुलाल ५१८
युगान्तर ५२२
युगान्तर सर्कुलर ५७०-१
यंग इण्डिया ७०६, ७०९
रहबर १६४

राजद्रोह ३६३
राजद्रोही गतिविधियाँ संयुक्त प्रान्त में २९०-४
राजनीति धर्मानुप्राणित ८०-४
राजार्य सभा ७१४-७, ७१९
राज्य तथा धार्मिक समुदाय १६-९
रामचन्द्र देहलवी ७०९
रामदेव २३९, ४२४-५
रामप्रसाद बिस्मिल ६७०-८०
रामसिंह कूका ४०-१
रावल कर्मसिंह ६८८
रावलपिण्डी के दंगे १८३
राष्ट्र ४६
राष्ट्रीयता ४६, ६९-७०, ८७
रासबिहारी बोस ५५२
रिजली ८९
रिजेनेरेटर ऑफ आर्यावर्त ४७८
रैण्ड ५०५
रोमन कैथोलिक चर्च २०-२
रोशनलाल ३५८
रौलट एक्ट ६४४-६
लक्ष्मणराव ३३१-३
लाजपतराय, लाला १०१, १४१, १९८, २०२, ३३०, ३५२, ३७२-४, ४७३-५०३, ७१०
लायड जार्ज ५१६
लायल ३३१
लाहौर कांग्रेस १४८-५२
लाहौर षड्यन्त्र केस ५५३-७
लूथर ४४९-५०
वच्छोवाली आर्यसमाज के व्याख्यान ४००
वन्देमातरम् ५६७-८
वली उल्लाह ३९
वाल्तेयर ५५
वास्वानी, टी० एल० ७१२
विक्टोरिया १२२, ४१७
विनायक दामोदर सावरकर ७००
विपिनचन्द्रपाल १००, ७८९
विवेकवर्धिनी ५२२
विश्ववृत ५२४, ५२६, ५३३
वैडरबर्न, विलियम २१५-६
वैदिक मैगजीन १२८, १३३
वैदिक राष्ट्रगीत ५२४, ५३०-३
शा, बर्नाड ४९९
शार्लमेगन २२
शिवाजी ४८४
शिवाजी समिति ६०८
शिरोल वेलेण्टाइन २४५-५४
शंकराचार्य २७
श्यामजी कृष्णवर्मा ११६, २४८-९, २८६, ३७१, ५०५-१८, ५४२, ६८२, ६८४
श्यामाप्रसाद मुकर्जी ७२२-३
श्रद्धानन्द ५०१, ६९४-५, ७०५, ७१०, ७१२
श्रमी संघ २४-५, ३०
श्रेणियाँ २४
सज्जनसिंह ६८१-२
सतनामी २८
समाजवाद ४९९
सत्तावन का संग्राम ५११-२
सत्यार्थप्रकाश १६९, २७३-७, ३६९-७०, ४३०-४७,
सद्धर्म प्रचारक १०२, १५३, १६४, २३३, २६४, ६९०-१
सय्यद अहमद ४५१-२, ४७९-८०
साइमन कमीशन ४७३, ४९४-५
साईंदास ११३, ४७६-७
सावरकर, विनायक दामोदर ५१३, ५१८, ५४२
सिक्ख सम्प्रदाय २८-९
सिडनी वैब ४९९
सिन्हा, महेशचरण २४३
सिविल एण्ड मिलिटरी गजट २५४-६४, ३५२
सुदर्शनदेव ६८४
सुन्दरलाल ४८९

सेठ मदनमोहन १२१, ३४१, ४१४-८
सेना तथा आर्यसमाज २८९, ३०२-२८
सैण्ड्स १२१, १६७-८, २०५, २०८-३०२
सैयद अहमदशाह ३९
सैयद हैदररज़ा ६९३
सोमदेव स्वामी ६७१, ६७३
संन्यासी विद्रोह २८
संयुक्त प्रान्त की सरकार व आर्यसमाज २६८-३०२
स्वदेशी ७३-४, ९२-६, १५८
स्वराज्य ६७, ७४-५, ८३, ४३७-८
स्वाधीनता संग्राम (१८५७) ३७-९
स्वाध्याय मण्डल ५२८-९
स्पिनोज़ा ५५
स्पेन्सर ५०८
हरदयाल ११७, २३३, ५४७-९, ५६३-७७
हरिसिंह नलवा ५६१
हवन करने की माँग ६७७-९
हार्डिंग २१७, २१९, ४५९
हार्डिंग बमकाण्ड ५८५-७
हिवेट, जॉन ४५६
हिन्दी ७७-९
हिन्दी सत्याग्रह ७२३
हिन्दू महासभा ७००-३
हिन्दू मुस्लिम एकता ५००
हेनरी अष्टम ४४९
हैरिसन १७७-८०, २९६, ४३२
होतीलाल वर्मा २८५
होमरूल लीग ५०९-१०
ह्यूम ११०, ११२
हंसराज ५३८, ७१०-११, ७१७